साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ११ | रविवार, ६ जनवरी, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४७ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

डी. ए. वी. शिक्षण संस्थानों का आर्यकरण हो

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अवसर पर स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के उद्गार

DUPLICAT

नई दिल्ली २६ दिसम्बर। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन आज समारोह पूर्वक रामलीला मैदान में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन मे अमेरिका, लन्दन, दक्षिण अफ्रीका, मारीशस, सूरीनाम, हालैण्ड नेपाल आदि अनेक देशों के प्रतिनिधियों सहित भारत के विभिन्न राज्यो के लाखो नर नारियो ने श्रद्धा पूर्वक भाग लिया।

आज शिक्षा एव संस्कृति (गुरुकुलो का एकीकरण एवं आर्य संस्थाओ का आर्यकरण) सम्मेलन का सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उप प्रधान पं० वन्देमातरम् रामचन्द्र की अध्यक्षता मे आयोजन किया गया। इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा कि स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगडी की स्थापना जिन आदर्शों को पूरा करने के लिए की थी, यदि आज हम उन कार्यों को पूरा करने का जो बीडा उठावे तो आने वाली पीढ़ियां हमारी कृतज्ञ होगी। स्वामी जी ने कहा यह मैं आपको अपने मन की पीड़ा बता रहा हू। डी०ए०वी० शिक्षण संस्थानों के सम्बन्ध मे स्वामी जी ने कहा कि इनका आर्यकरण किया जाना चाहिए। प्रत्येक शिक्षण सस्थान के ऊपर कम से कम नाम तो हिन्दी में लिखवाया ही जाना चाहिए। आज हमें यह विचार करना है कि किस प्रकार यह दोनों सस्थान मिलकर कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं।

ससद सदस्य डा० कपिलदेव शास्त्री ने कहा कि डी०ए०वी० शिक्षण सस्थानो मे गुडमार्निग के स्थान पर नमस्ते प्रारम्भ कराया जाना चाहिए तथा नेक टाई का प्रयोग बन्द किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे डी०ए०वी० सस्थान के श्री दरबारीलाल एवं श्री रामनाथ सहगल ने बताया कि अब टाई का प्रयोग बन्द कर दिया गया है और स्कूलो मे बच्चे नमस्ते ही कहते है।

आर्य जगत् के सपादक प० क्षितीशकुमार वेदालंकार ने कहा कि गुरुकुल एवं डी०ए०वी० शिक्षण सस्थान दो भुजाओ के समान है। इस अवसर पर डा० ज्वलन्त, श्रीयुत डा० उमाकान्त उपाध्याय सच्चिदानन्द शास्त्री गुरुकुल कांगड़ी के कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार आदि ने भी प्रेरक विचार रखे। सम्मेलन मे गुरुकुलो का एकीकरण एव आर्य सस्थाओ का आर्यकरण करने के लिए एक समिति गठित करने का भी निर्णय लिया गया।

—विमलकान्त शर्मा

आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा का चुनाव सम्पन्न

१-प्रो० शेरसिंह-प्रधान, २-श्री सूबेसिंह-मन्त्री, ३-श्री रामानन्द सिंगला-कोषाध्यक्ष तथा श्री हरिराम आर्य-पुस्तकाध्यक्ष सर्वसम्मति से निर्वाचित

आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा की साधारण सभा की बैठक २५ नवम्बर को दयानन्दमठ रोहतक में सम्पन्न हुई। इसमे प्रो० शेरसिंह पूर्व रक्षा राज्य मन्त्री को छठी बार सभा का प्रधान सर्वसम्मति से चुना गया। इस प्रकार आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा का आगामी तीन वर्षों के लिए चुनाव निम्न प्रकार सम्पन्न हुआ।

१—प्रो० शेरसिंह-प्रधान
२—म० भरतसिंह-उपप्रधान
३—बहन सुभाषिणी देवी—उपप्रधान
४—ला० लक्ष्मनदास—उपप्रधान तथा डा० रणधीरसिंह सांगवान सिरसा उपप्रधान
५—चौ० सूबेसिंह सेवानिवृत्त उपमण्डल अधिकारी रोहतक-मन्त्री
६—डा० सोमवीर सेवानिवृत्त आयुर्वेदिक चिकित्सा अधिकारी—उपमन्त्री
७—श्री सत्यवीर शास्त्री मदीनोहर—उपमन्त्री
८—ला० रामानन्द सिंगला पानीपत—कोषाध्यक्ष
९—श्री हरिराम आर्य कारोली रेवाडी—पुस्तकाध्यक्ष

इस अवसर पर निम्नलिखित महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पास किये गये।

१—हरयाणा के आर्य प्रतिनिधियो ने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा विभाजन के समय का ३५ प्रतिशत भाग न दिये जाने पर क्षोभ व्यक्त किया क्योंकि सार्वदेशिक सभा के आदेश तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के संस्कृत अधिवेशन के अवसर पर १९७५ में यह निश्चय किया गया था कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के त्रिशाखन होने पर सांझे कोष जो कि उस समय १८ लाख के लगभग था, का ३५ प्रतिशत पंजाब, ३५ प्रतिशत हरयाणा तथा ३० प्रतिशत दिल्ली को दिया जायेगा। इसके अनुसार हरयाणा सभा का लगभग ६ लाख रुपया १९७५ मे बनता था और अब विभाजन हुए १५ वर्ष से ऊपर हो गये उसके अनुसार सावधि राशि बैंक में जमा के आधार पर यह राशि लाख के लगभग बन चुकी है। और हरयाणा सभा द्वारा इस राशि को लेने के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

(शेष पृष्ठ ७ पर)

सह सम्पादक—सूर्यदेव

सम्पादक—मूलचन्द गुप्त

दुष्ट-दलन

नमस्ते रुद्रमन्यवे उतो त इषवे नमः । यजु० १६-१

हे रुद्र आपके योधागण, ले उठे हाथ में शस्त्र सघन।
हे रुद्र तुम्हे है नित्य नमन, कर दो दुष्टों का देव दमन ।।
ये दुष्ट नीच अति नंगे है,
सज्जन से करते दंगे हैं,
तेरे क्रोधावेशी सैनिक ही
इनको कर सकते चंगे हैं।
ये मन्युरथी तव वीर वरन, ले हस्त वज्र हो दुष्ट दलन।
हे रुद्र तुम्हें हैं नित्य नमन, कर दो दुष्टों का देव दमन ।।
ये क्रोधवन्त तव वीर सन्त
कर ग्रहण बाण हो शत्रु अन्त
हे रुद्र दुष्ट के संहारक
नित अन्न पोष पाये अनन्त ।
आतंक मचाता जो क्षण-क्षण, अति उग्रवाद हो शीघ्र शमन।
हे रुद्र तुम्हे है नित्य नमन, कर दो दुष्टों का देव दमन ।।
रुद्र तुम्हारे योधाओ से,
हो वज्र प्रहार भुजाओ से,
कर उठे शत्रु सब चीत्कार
हो मुक्त सुजन विपदाओं से।
हे रुद्र वीर लें मन्यु गहन, कर दुष्ट वे शान्ति शमन।
हे रुद्र तुम्हें हैं नित्य नमन, कर दो दुष्टों का देव दमन ।।

—देवनारायण भारद्वाज

नव वर्षाभिनन्दन

(१)

नववर्ष की यह अरुण-आभा
विश्व को नवज्योति दे ।
कीर्ति-प्रीति-विभूति-गौरव
सौख्य की अभिवृद्धि दे ।
तापत्रय हर सकल जन की
शान्ति का सन्देश दे ।
श्रीवृद्धि-शुचिता-शौर्य-संयम
सद्‌गुणो की वृद्धि दे ।।

(२)

राष्ट्र-उन्नति, देश-वैभव,
स्नेह-हास-विलास दे ।
दीन-हीन-अनाथ-निर्धन
मानवो को त्राण दे ।
प्रान्त-धर्म-विभेद हर कर
ऐक्य भाव प्रसार हो ।
आर्य संस्कृति सभ्यता का
विश्व में विस्तार हो ।।

डा० कपिलदेव द्विवेदी
निदेशक, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (वाराणसी)

श्री महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट

टंकारा, जिला-राजकोट-३६३६५० (गुजरात)

दिल्ली कार्यालय : आर्य समाज, 'अनारकली' मंदिर मार्ग, नई-११०००१

ऋषि बोधोत्सव का निमन्त्रण एवं

आर्थिक सहायता की अपील

मान्यवर, सादर नमस्ते ।

इस वर्ष ऋषि बोधोत्सव १२, १३, १४ फरवरी, १९९१ तदनुसार मंगल, बुध, गुरुवार को ऋषि जन्म स्थली टंकारा में भव्य समारोह के साथ मनाया जा रहा है। इस अवसर पर एक सप्ताह तक यजुर्वेद पारायण यज्ञ होगा। देश-देशान्तर से पधारे ऋषि भक्त आर्य विद्वान तथा कलाकार इस सुअवसर पर ऋषि के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे। कन्या गुरुकुल बडौदा, पोरबन्दर तथा जामनगर की कन्याए, टंकारा उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थी, आर्यवीर दल धांगध्रा एवं अन्य संस्थाओ के युवक, समारोह मे कार्यक्रम प्रस्तुत करेंगे। अभ्यागतो के आवास, भोजन का पूर्ण प्रबन्ध टंकारा ट्रस्ट की ओर से निःशुल्क होगा, किन्तु बाहर से पधारने वाले सज्जन ऋतु अनुकूल अपने-अपने बिस्तर अवश्य साथ लायें।

सम्प्रति टंकारा ट्रस्ट के अधीन निम्न कार्य चल रहे हैं :

१ ऋषि जन्म गृह प्रबन्ध	२ अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय	३ गौ-संवर्धन केन्द्र (गोशाला)	४ दिव्य दयानन्द दर्शन चित्र गृह
५ अतिथि गृह	६ आर्य साहित्य प्रचार केन्द्र	७ वेद प्रचार	८ पुस्तकालय तथा सार्वजनिक वाचनालय

ऋषि जन्म स्थली टंकारा में अभी और भी अनेक विशेष करणीय कार्य हैं जैसे-ऋषि जन्म गृह के मुख्य भाग को अपने अधिकार में लेना, टंकारा की संस्थाओं का विकास तथा जन्म स्थली को विश्वदर्शनीय बनाना। टंकारा ट्रस्ट के अधिकारी जनता जनार्दन के सहयोग से टंकारा उत्सव की सफलता, टंकारा की संस्थाओं का विकास तथा अन्याय कठिनाईयो को दूर करने का प्रबल प्रयत्न कर रहे हैं। इन सब कार्यों के लिए कम से कम छः सात लाख रुपये की और आवश्यकता है।

टंकारा की गौशाला मे आजकल २६ से अधिक गायें है। इस गोशाला से विद्यार्थियो को शुद्ध दूध मिलता है। परन्तु हर वर्ष इस गौशाला में घाटा हो जाता है। यह घाटा ऋषि-भक्तों और गौभक्तों के दान से ही पूरा होता है।

अतः आपसे विनम्र निवेदन है कि आप इष्ट मित्रो सहित ऋषि बोधोत्सव पर टंकारा पधारिये और इस सारे कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए अधिकाधिक आर्थिक सहयोग देकर पुण्य के भागी बनिये। यह दान राशि आप क्रास चैक-ड्राफ्ट अथवा मनिआर्डर से टंकारा सहायक समिति अथवा महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा के नाम से इसके दिल्ली कार्यालय, आर्य समाज, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-११०००१ के पते पर भिजवाने की कृपा करें।

आपसे सानुरोध प्रार्थना है कि आप अपनी ओर से अपनी आर्यसमाज, अपनी शिक्षण संस्था तथा अन्य सम्बन्धित संस्थाओं की ओर से अधिकाधिक राशि भेजकर ऋषि-ऋण से उऋण होकर पुण्य के भागी बनिये।

विशेष सूचना : टंकारा ट्रस्ट को दी जाने वाली राशि पर आय-कर की छूट है।

निवेदक :

ओंकारनाथ — मैनेजिंग ट्रस्टी
शान्ति प्रकाश बहल — कार्यकारी प्रधान
रामनाथ सहगल — मन्त्री

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन

सम्पादकीय

दिल्ली के रामलीला मैदान मे २३ से २६ दिसम्बर १९९० तक अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का भव्य समारोह हुआ। यह सम्मेलन आशातीत रूप मे सफल हुआ। देश विदेश के हजारों-लाखो नर-नारियो, बालकों और वृद्धों ने इस अन्तर्राष्ट्रीय समारोह मे भाग लिया। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित आर्य समाज के मानव मूल्यों पर आधारित सुनिश्चित सिद्धान्त है। इस सम्मेलन में इन सिद्धान्तो की प्रासगिकता तथा व्यावहारिकता पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया। इस सम्मेलन में आर्यसमाज के सगठन को और अधिक सुदृढ करने तथा इसके भावी कार्यक्रम को सुनिश्चित रूप रेखा देने के लिए भी विचार किया गया। इस अवसर पर आर्यसमाज के द्वारा विभिन्न क्षेत्रो में किए गए कार्य की समीक्षा भी की गई। सुधी विद्वानो ने कहा कि हमे आत्म निरीक्षण एव आत्म विश्लेषण करने के पश्चात् आत्म निर्णय की अगली सीढ़ी पर चढना होगा। यह तो निर्भ्रान्त सत्य है कि वेद आदि सृष्टि में परमात्मा द्वारा दिया गया ज्ञान है। वेदो मे किसी भी समुदाय के लाभ-हानि की बात प्राप्य नही है। यहां तो जड-चेतन सभी के कल्याण की बातो पर बल दिया गया है। डा० कर्णसिंह स्वनामधन्य विद्वान हैं। उन्होने वेद सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा कि वेदो पर आधारित शिक्षा एव जीवन चर्या ही मनुष्य के मार्ग को प्रशस्त कर सकती है। ससार का उपकार कर सकती है। आर्यसमाज का सम्पूर्ण चिन्तन इसी भावना पर आधारित है। अत आर्यसमाज आज भी प्रासगिक है। महिला सम्मेलन मे बालिका वर्ष एव महिला की अवधारणा पर गम्भीर चिन्तन हुआ। महिलाओं के लिए आर्यसमाज द्वारा किए गए कार्य सदैव स्वर्णाक्षरों में अ कित रहेंगे। आर्यसमाज आगामी पीढियो के कल्याण के लिए भी सतत प्रयत्नशील है। आर्य युवा संगोष्ठी मे युवाशक्ति को सही मार्ग पर ले जाने की सम्भावनाओ पर विचार किया गया। इस कार्यक्रम मे हमारे प्रवासी भारतीयो ने अपने-अपने स्थानो पर आर्यसमाज द्वारा किए जा रहे कार्यों का विवरण दिया।

दूसरे दिन अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का खुला अधिवेशन स्वामी आनन्दबोध सरस्वती, प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन मे भारत के प्रधानमंत्री श्री चन्द्रशेखर, पूर्व प्रधानमत्री, श्री राजीव गांधी, डॉ० बलराम जाखड, श्री के० सी० पन्त श्री एच० के० एल भगत और स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने अपने विचार व्यक्त किए। सभी ने आर्यसमाज के स्वस्थ चिन्तन एव कार्य पद्धति की प्रशसा की। सार्वदेशिक सभा के वरिष्ठ उपप्रधान प० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव ने आर्यसमाज का घोषणापत्र प्रस्तुत किया। पजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र, हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान प्रो० शेरसिंह, उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान प० इन्द्र राज तथा वैदिक विद्वान डा० राजगुरु शर्मा ने इसका अनुमोदन किया। सभी प्रान्तीय सभाओं तथा विदेशो के प्रतिनिधियो ने भी अपने विचार व्यक्त किए। इस अवसर पर प्रकाशित स्मारिका का विमोचन किया। दोपहर बाद आर्यों का आदि देश तथा आर्यसमाज का भावी कार्यक्रम, सगोष्ठिया हुई। रात्रि मे 'वेद की सार्वभौमिकता' विषय पर सामयिक व्याख्यान हुए।

तीसरे दिन स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस के अवसर पर विशाल शोभा यात्रा निकाली गई। लालकिला मैदान मे श्रद्धाञ्जलि सभा हुई। रात्रि मे आर्य कवि सम्मेलन हुआ।

चौथे दिन शिक्षा एव सस्कृति सम्मेलन तथा व्यायाम प्रदर्शन के कार्यक्रम सम्पन्न हुए।

इस सम्मेलन मे प्रतिदिन प्रात काल योग प्रशिक्षण शिविर एव बृहद् यज्ञ के आयोजन हुए।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती आय महामंत्री डॉ० सच्चिदानन्द शास्त्री का इस महान आयोजन के लिए समस्त आर्य जगत् की ओर से हार्दिक अभिनन्दन !

—डॉ० धर्मपाल

—डॉ० भवानीलाल भारतीय

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

(१२ सितम्बर ९० के अक से आगे)

आर्यसमाज से सक्रिय रूप से परिचित होने और वहा कार्य करने का अवसर तब मिला जब मैं जोधपुर के पूरबियो के बास स्थित अपने ही मकान मे रहने लगा। उन दिनो मुझे हाई स्कूल की परीक्षा देनी थी, किन्तु मेरी अभिरुचि पाठ्यक्रम की तैयारी मे उतनी नही थी जितनी पाठ्येतर पुस्तको के पढने मे। उधर समाचार पत्रो मे लिखने का नया नया शौक सवार हुआ था। मैं १९४५ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन में अपने कुछ मित्रो के साथ सम्मिलित हुआ था। इसमे महात्मा गाधी जी के सम्मेलन से त्यागपत्र देने के विषय पर महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई थी और पुरुषोत्तम दास टण्डन एव कन्हैयालाल मुन्शी जैसे हिन्दी समर्थको ने खुलकर महात्मा जी की हिन्दी विरोधी और हिन्दुस्तानी समर्थक नीति का विरोध किया था। सम्मेलन मे सर्व श्री टण्डन जी, चन्द्रबली पाण्डेय, जगदम्बाप्रसाद मिश्र हितैषी तथा रामधारीसिंह दिनकर के जो प्रभावशाली भाषण हुए, उनकी आलोचना करते हुए साम्यवादी दल के मासिक पत्र ने इसे 'हिन्दू सभाई अधिवेशन करार दिया था। मैंने जन साहित्य में छपे इसी लेख का एक करारा उत्तर तैयार किया। उदयपुर अधिवेशन मे ही मेरी भेंट प्रसिद्ध पत्रकार श्री फतहचन्द्र शर्मा आराधक से हुई। आराधक जी उस समय पहाडी धीरज से गोपाल नामक एक साप्ताहिक पत्र निकालते थे और प० मदनमोहन मालवीय की विचारधारा के पोषक थे। आराधक जी ने मेरा उक्त लेख अपने पत्र मे छापा, किन्तु जब इसे मैंने साप्ताहिक वीर अर्जुन को भेजा और हिन्दी के इस तत्कालीन सर्व श्रेष्ठ साप्ताहिक ने भी मेरे उक्त लेख को प्रकाशित कर दिया तो मैं अपने को एक सफल लेखक मानने लगा। अब पत्रो मे लिखने का जो भूत सवार हुआ उसके कारण हाई स्कूल की परीक्षा की तैयारी भी साधारण ही हो पाई। गणित और विज्ञान में वैसे भी मेरी अभिरुचि नहीं थी अत तृतीय श्रेणी मे ही हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने मे मैंने अपनी खैर समझी।

शहर वाले घर मे रहत समय ही मैं नगर आर्यसमाज गुलाब सागर की प्रवृत्तियो से परिचित हुआ और मेरे सक्रिय सामाजिक जीवन का आरम्भ हुआ। उन दिनो गुलाब सागर आर्यसमाज मे आर्यकुमार सभा अत्यन्त क्रियाशील थी। स्थानीय स्टेट आडिट आफिस मे कार्य करने वाले श्री गणेशीलाल जी गौड जिन्हे लोग मास्टर साहब' कह कर पुकारते थे, युवको और किशोरो को आर्यसमाज की ओर आकर्षित करने में रुचि लेते थे। वे ही स्थानीय कुमार सभा के मन्त्री जी भी थे।

यद्यपि वे आयु मे हम कुमारो से बहुत बडे थे, किन्तु व्यायामशालाओ और अखाडो मे जाकर युवको को सुगठित शरीर बनाने के लिये प्रेरित करने तथा आर्य कुमार सभा के माध्यम से विद्यार्थी वर्ग मे बौद्धिक और मानसिक जागृति उत्पन्न करना उनकी हाबी ही थी। उनके इर्द-गिर्द छात्रो का एक मण्डल सा एकत्र हो गया था। प्रति शनिवार सायकाल आर्यकुमार सभा का साप्ताहिक अधिवेशन होता, जिसमे मैं भी नियमित रूप से जाने लगा।

वस्तुत आर्यसमाज का कार्य उन दिनो अत्यन्त उत्साहवर्धक तथा प्राणवान् था। शिवरात्रि पर सप्ताह भर के लिए ऋषि बोध पर्व मनाया जाता और आर्यकुमार सभा तथा आर्यसमाज के सभासद सम्मिलित रूप से प्रभात फेरी निकालते। प्रभात फेरियो में गाये जाने वाले गीत मेरे किशोर हृदय को उद्वेलित और आनन्दित करते तथा शैय्या पर लेटा हुआ भी मै इनके बोलो को सुन कर रोमाञ्चित हो उठता। आर्यसमाज के सिद्धान्तो से जगाया गया आदर्शवाद मेरे मन और मस्तिष्क पर बुरी तरह से छाया हुआ था। प्रभात फेरी के ये स्वय सेवक गाते—

भारत का कर गया बेडा पार
वो मस्ताना योगी···
सोतो को कर गया फिर बेदार वो मस्ताना योगी ॥

इसी गीत मे ऋषि के आत्मत्याग तथा कष्ट सहिष्णुता को निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है—

ईटें और पत्थर खाये, गोली से ना घबराये।

क्रमश:

श्रद्धेय स्वामी सर्वानन्दजी महाराज की जीवन झांकी

—प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' वेद सदन, अबोहर १५२११६

'सर्वहितकारी' के सात नवम्बर के अंक मे 'मेरी सासरौली की यात्रा' छपी। १४ नवम्बर के अंक मे श्रीमान् डा० भवानीलाल जी भारतीय का श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज पर एक लेख छपा है।

मेरे लेख मे मुद्रण दोष से एक भ्रम सा पैदा होता है। यद्यपि लेख ध्यानपूर्वक पढने से वह भ्रम दूर हो जाता है। श्री डा० भवानीलाल जी भारतीय के लेख मे दो बाते ठीक नही छपी। इन भूलो का दायित्व उन पर नही किसी और पर है। पाठको मे तथ्यो के बारे कोई भ्रम न रहे इसलिए श्री महाराज पर एक लेख देना आवश्यक समझा। पूज्य स्वामी जी का जीवन अत्यन्त घटना पूर्ण है। उनकी जीवन की घटनायें एक से एक बढकर प्रेरणाप्रद हैं। मैंने उनका विस्तृत जीवन चरित्र लिख दिया है। जब छपेगा तो आस्तिक लोग इस ग्रन्थ को पढकर इस महान् तपस्वी सन्यासी पर गर्व करेंगे। श्री स्वामी जी की आज्ञा से उसका प्रकाशन अभी रोका है। तथापि श्री महाराज की संक्षिप्त जीवन झांकी देने वाली एक पुस्तिका शीघ्र आर्य जनता तक पहुचाई जावेगी। महाराज के जीवन मे ऐसी-ऐसी घटनाएं घटी हैं, जिन पर पूर्वाग्रह रहित किसी भी देश, मत व पथ का व्यक्ति गौरव कर सकता है।

श्री स्वामी जी का पूर्वनाम रामचन्द्र था। यह नाम उन्हे माताजी ने दिया था। पूज्या माताजी का नाम फूला देवी था। पिताजी का नाम श्री हरदयाल सिंह था। दादाजी का नाम श्री रघुनाथ था। मेरे लेख मे स्वामीजी का पूर्व नाम रामचन्द्र तो छपा था परन्तु उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री रिछपाल सिंह के नाम के साथ कुछ शब्द छूट गये जिससे ऐसा आभास मिलता था कि रिछपालसिंह कभी स्वामी जी का नाम रहा। ऐसी बात नही है। इतना अवश्य है कि माताजी पुत्र को चन्दराम कहकर भी पुकारती थी। अब भी सासरौली मे कुछ वृद्ध श्री महाराज को 'चन्दराम' ही कहकर पुकारते है।

स्वामी जी का जन्म सन १९०९ ई० में नही हुआ। श्री डा० भारतीय जी की जानकारी का स्रोत ठीक नही है। ग्राम के कुछ वृद्धो के अनुसार स्वामीजी महाराज इस समय ८६ वर्ष के होगे। इस प्रकार आप का जन्म सन् १९०४ ई० मे हुआ। यह कथन भी ठीक नही है। हमारी खोज पडताल के अनुसार श्री प० रामचन्द्र जी का जन्म अप्रैल सन् १९०१ मे हुआ। इसके लिए हमारे पास क्या प्रमाण है?

कुछ वर्ष पूर्व सासरौली क्षेत्र के एक सैनिक मठ मे आये थे। उस वृद्ध ने आचार्य जगदीशजी प० रामचन्द्र जी (स्वामी सर्वानन्दजी) की कई पुरानी बाते बताई। उसने बताया कि राम का जन्म सन् १९०१ का है। दोनो एक दूसरे को बाल्यकाल से जानते हैं। हमारे पास इस बात की पुष्टि के लिए एक और प्रबल युक्ति हैं। हमे कई बार पूज्य स्वामी जी के मुख से महात्मा मुंशीराम जी की सन्यास दीक्षा का वृत्तान्त सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पूज्य स्वामी सर्वानन्द जी महाराज से अपने एक पूज्य नेता की सन्यास-दीक्षा का आखो देखा वृत्तान्त सुनकर हमें एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। श्री स्वामी जी एतद्विषयक अपने संस्मरणो का बडी सजीव भाषा मे वर्णन किया करते हैं।

हमने कुछ सप्ताह पूर्व ही यह पूछा कि क्या आप अपने परिवार वालो के साथ इस समारोह मे गये थे अथवा किसी और बड़े व्यक्ति के साथ वहां गये? आपने कहा, 'मैं किसी के साथ वहा नही गया था। मैं स्वय स्फूर्ति से गुरुकुल कागडी का उत्सव देखने गया था। वहा जाकर पता चला कि महात्मा मुशीराम जी सन्यास धारण करेंगे। वह शोभा यात्रा में सन्यास के स्थल पर पहुचे। मैं भी शोभा यात्रा मे सम्मिलित था।'

अब सुविज्ञ पाठक स्वय निर्णय कर ले कि जो लड़का अपने घर से अकेला गुरुकुल कागडी का उत्सव देखने जाता है वह क्या आठ वर्ष का होगा? क्या आठ वर्ष के बालक को इतना ज्ञान हो सकता है कि महात्मा मुशीराम का व्यक्तित्व इतना महान है और वहा उपस्थित सब विद्वानो की भी पूरी पूरी जानकारी हो। सासरौली जैसे पिछड़े ग्राम का लड़का इतनी छोटी आयु मे घर मे क्या निकलेगा? महात्मा मुशीराम जी ने सन् १९१७ मे सन्यास ग्रहण किया था। आज से १४-१५ वर्ष पूर्व जब प्रथम बार स्वामी श्रद्धानन्दजी की चर्चा चली तो हम श्री महाराज से उनके स्वामी जी सम्बन्धी संस्मरण सुनने की इच्छा प्रकट की। तब आपने सन्यास-दीक्षा का वृत्तान्त भी सुनाया। हमने तभी यह समझ लिया कि आपका जन्म सन् १९०० या १९०१ के आस-पास हुआ। आचार्य जगदीश जी ने पूर्व सैनिक से प्राप्त जानकारी देकर हमारी धारणा की पुष्टि कर दी। इस सम्बन्ध मे और विस्तार से चर्चा की आवश्यकता नही।

मान्यवर श्री डा० भारतीय जी ने लिखा है कि स्वामी जी ने प्रथम जून सन् १९५५ के दिन सन्यास धारण किया। यह भी ठीक नही है। किसी लेख मे हमने इस भूल का पहले भी प्रतिवाद किया था। यह भ्रान्ति डा० सत्यकेतुजी के इतिहास के साथ खण्डो मे फैली है। लेखक श्री महाराज की सन्यास दीक्षा में स्वय सोत्साह सम्मिलित हुआ था। प्रथम विद्वान् जिनकी सन्यास-दीक्षा का समारोह हमने देखा—वे पूज्य प० रामचन्द्रजी सिद्धान्त शिरोमणि है। स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी के जीवन चरित्र में इस दीक्षा समारोह का वर्णन है। तब हमने एक कविता लिखी थी। हमारी कापी मे अकित है। तिथि आदि सब लिख रखी थी। चौधरी रामसिंह जी भी तब मठ मे आए थे। उनकी डायरियो मे भी इसका वर्णन है। उनकी जीवनी मे भी कुछ वृत्तान्त दिया है।

तपोधन श्री स्वामी सर्वानन्दजी अपने स्वभाव व सेवा के कारण बहुत प्रसिद्ध है। सन्यासी बनकर ही आपके ऐसे भाव नहीं बने। आपका स्वभाव बाल्यकाल से ही ऐसा है। आचार्य प्रियव्रत जी आपके गुरु रहे है। उपदेशक विद्यालय मे गुरुजनो की स्वेच्छा मे बहुत सेवा करते थे। आचार्य जी को कहते, "आपके कपडे मैं धो दू?" सब्जी ला देते, गेहूं पिसवा लाते।

आचार्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी, स्वामी वेदानन्दजी, आचार्य प्रियव्रत जी, प० ईश्वरचन्द्र दर्शनाचार्य सरीखे गुरुओ से विद्या प्राप्त करने वाले इस सन्यासी का पाण्डित्य वही जानता है जिसने कभी आपसे शका समाधान किया है। वेद, उपनिषद्, दर्शन और ऋषि कृत ग्रन्थो की चर्चा तो छोडकर देखिए फिर पता चलेगा कि महाराज स्वभाव से सन्त ही नही है प्रत्युत पाण्डित्य में भी असाधारण है। नित्य स्वाध्याय करते है। उपदेशक के रूप मे भूखे, प्यासे रहकर, कन्धे पर बिस्तर उठा-उठाकर मीलो पैदल चलकर आपने प्रचार किया है। उपदेशक के रूप में ही रोगियो की सेवा कर पतितो का भी हृदय परिवर्तन कर के आपने कई चमत्कार कर दिखाये। प० शान्ति प्रकाश जी ने देश विभाजन से पूर्व 'रेफार्मर' उर्दू साप्ताहिक मे उपदेशक विद्यालय पर अपने एक लेख मे लिखा था कि इस विद्यालय ने महात्मा रामचन्द्र जैसी विभूतियो को जन्म दिया है। मुलतान जिला के एक ग्राम में एक मुसलमान दुष्ट आर्यसमाज का प्रचार ही न होने देता था। उसके रुग्ण होने की सूचना पाकर आप वहा गये। उसका मल मूत्र उठाया, सिर दबाया, औषधि देते रहे। उसको कोई पानी देने वाला न था। होश मे आकर उसने इस सेवक से पूछा, तुम कौन?"

आपने कहा, "मुझे आर्यों ने आपकी सेवा के लिए बुलाया है। मैं सेवक जानता हू।"

उसके पश्चाताप के आसू निकल आये। "आर्य फरिश्ता सरित होते हैं, मुझे यह पता ही न था।" उसी दुष्ट ने अब आर्यसमाज का उत्सव करवाया।

प० रामचन्द्र के रूप में ही आपमे कतई लोभ न था। इस बाल ब्रह्मचारी मे त्याग का जो भाव है उसे शब्दो मे कोई नही बता सकता। उनके त्याग व सेवा भाव को वही जानते है जिन्हे उनका सत्सग प्राप्त होता रहा है। भक्तबेली राम मठ मे एक श्रमिक थे। उन्होने अपनी दो एकड भूमि व बैंक का सब पैसा मठ को दानकर देने का निश्चय करके मठ मे शेष जीवन बिताने का विचार बनाया। स्वामी जी ने कहा आपको मठ मे ही रखेंगे परन्तु भूमि व राशि अपने पुत्रो में बाट दो। भक्तबेली राम नही माने। स्वामी जी ने उसके पुत्रों को बुलवा कर स्वय उनको पिता की सारी सम्पत्ति बाट दी। ऐसा त्यागी है कोई? मठ को मगराला ग्राम के एक सिक्ख भक्त ने चार एकड भूमिदान मे दे दी। वसीयतनामा मठ के नाम कर दिया। उसका निधन हो गया। कुछ समय के पश्चात उसकी पुत्री विधवा हो गई। श्री स्वामी जी ने वह भूमि उस विधवा पुत्री को लौटा दी। आज भी वह परिवार मठ का व स्वामी का बहुत-बहुत श्रद्धालु है।

भारत भर मे स्वामी जी आर्य साधुओं, विद्वानों को सहायता देते रहते हैं। सहस्रो रुपये की भेट भी आये तो कह देते हैं, आप इसे रखिये। आवश्यकता होगी तो ले लेंगे।" मोहपाश से आप सन्यास से पूर्व ही मुक्त गये थे। मैंने आज तक उनके मुख से एक बार भी उनके ग्राम का नाम नहीं सुना। कभी अपने जन्म

(शेष पृष्ठ ६ पर)

आर्यसमाज-युग सन्दर्भ

—डा० धर्मपाल प्रधान, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

आर्यसमाज कोई नया मत, सम्प्रदाय अथवा धर्म नही है। आर्यसमाज एक आन्दोलन है। आर्यसमाज के संस्थापक, युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्पष्ट कहा था कि—मैं अपना मन्तव्य उसी को मानता हू जो तीन काल मे सबको एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना का मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी उद्देश्य नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।' ऋषिवर ने प्राचीन वैदिक धर्म, वैदिक संस्कृति सभ्यता और परम्परा की पुन. स्थापना की है। समय के सुदीर्घ अन्तराल मे सत्य सनातन वैदिक धर्म और उसके अनुयायियो मे जो अवैदिक बातें, सामाजिक कुरीतिया तथा अन्धविश्वास आ गए थे, उनको दूर करने तथा शुद्ध वैदिक धर्म को जन साधारण के सम्मुख रखने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की थी।

आर्यसमाज मनुष्य मात्र के, अपितु प्राणीमात्र के कल्याण की कामना करता है। ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। आर्यसमाज चाहता है कि व्यक्ति और समष्टि के शरीर, आत्मा और मन सब स्वस्थ हो। इसीलिए आर्यसमाज ने धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक आदि सभी क्षेत्रो मे सुधार करने का प्रयास किया।

आर्यसमाज की आधारशिला वेद है। आर्यसमाज जन्मना जाति मे विश्वास नही करता। आर्यसमाज वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था का पक्षधर है। इसी व्यवस्था के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मे सम्यक् सन्तुलन रह सकता है। वर्तमान वर्ग सघर्ष का भी यही एक मात्र समाधान है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्म के आधार पर जाति मानने का विरोध किया था। इसी विचार-धारा को आगे चलकर अन्य महापुरुषो तथा राष्ट्र नियामको ने भी अपनाया। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास उन चार आश्रमो की व्यवस्था भी जीवन मे सम्यक् सन्तुलन स्थापित करती है। आज मण्डल कमीशन के विरोध मे जो जातीय सघर्ष उभर कर आया है, उसका एकमात्र समाधान वर्णाश्रम व्यवस्था है जिसमें दलितो असहायो के लिए समुचित सरक्षण देने का प्रावधान है।

आर्यसमाज राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का पोषक है। विघटनकारी एव आतकवादी शक्तियो के विरुद्ध सशक्त कार्यवाही का पक्षधर है। वेद का भी यही आदेश है कि जो तेरे असहाय लोगो की हत्या करते है, उसे तू शीशे से बींध दे। शीशे से तात्पर्य गोलियो से है। पजाब एवं काश्मीर का एकमात्र समाधान पाच मील चौडी सुरक्षा पट्टी का निर्माण है, जिस पर भूतपूर्व सैनिक परिवार बसाए जाए और उन्हे आधुनिकतम सुरक्षा साधन भी उपलब्ध कराए जाए। देश के किसी भी कोने से जो अलगाववाद की आवाज आती है, उसका कारण धर्मान्तरण है। धर्मान्तरण से सामाजिक एव राजनैतिक समीकरण बिगड़ जाते हैं और इससे राष्ट्रीय अखण्डता को चोट पहुचती है। आर्यसमाज इसीलिए धर्मान्तरण को रोकने तथा शुद्धि मे विश्वास करता है। आर्यसमाज का सर्वोपरि लक्ष्य राष्ट्रीय एकता एव अखण्डता तथा सभी का कल्याण है।

आर्यसमाज साम्प्रदायिकता का सबल विरोध करता है। आर्यसमाज एक आस्तिक संस्था है। आर्यसमाज ईश्वर को सम्पूर्ण जगत का मूल, सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान मानता है। आर्यसमाज धर्म का आदर करता है तथा सभी को धार्मिक होने की प्रेरणा देता है। रामजन्म भूमि और बाबरी मस्जिद के विषय में आर्यसमाज आपसी सद्भाव का पक्षधर है। आर्य-समाज रामजन्म भूमि को सरक्षण दिये जाने के पक्ष मे है। राम भारतीय धार्मिक आस्था एव अस्मिता के प्रतीक महापुरुष है। आर्यसमाज का धर्म मन्दिरो तक सीमित नही है। आर्यसमाज मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक स्थान और प्रत्येक दशा में धर्म का पालन करना चाहिए। सत्य का पालन उच्च आचरण का आधार है। सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोडने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

आर्यसमाज स्त्रियो एव शूद्रो को वेदाध्ययन का अधिकार देता है तथा स्त्री जाति को समानाधिकार देने, उन्हे शिक्षा देने तथा जीवन यात्रा मे सच्चे अर्थों मे सहधर्मिणी बनाने का पक्षधर है। आर्यसमाज दलितो निर्धनो एव असहायो तथा शूद्रो-हरिजनो को भी समान सुविधाए तथा योग्यता अर्जित करने के लिए विशेष सुविधाए देना चाहता है।

राजनैतिक क्षेत्र मे आर्यसमाज 'स्वराज्य' का पक्षधर हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कहा था—कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। महर्षि दयानन्द के चिन्तन मे स्थानीय स्वशासन, प्रान्तीय स्वशासन, केन्द्रीय गणराज्य तथा केवल राज्य की अवधारणा के बीज-बिन्दु विद्यमान है। आर्यसमाज धर्म, सभ्यता, संस्कृति, भाषा की एकता मे विश्वास करता है। वह स्वभाषा, स्वराज्य, स्वभूषा, का पक्षधर है।

आर्यसमाज पाश्चात्य चकाचौंध से दूर भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास करता है। आर्यसमाज ने उन सभी कार्यों की नीव डाली जो भारत को सुदृढ एव समृद्ध राष्ट्र बना सकते हैं। आर्यसमाज के ही कार्य को आगे चलकर महात्मा गाधी ने आगे बढाया था।

आर्यसमाज के प्रमुखतम कार्यक्रम निम्न हैं—एक परमात्मा की पूजा, वेदो की पुन. प्रतिष्ठा, वेदो की अपौरुषेयता, जन्मना जाति का विरोध और वर्णाश्रम व्यवस्था, समाज सेवा, स्वशासन, दलितोद्धार, नारी शिक्षा, देशभक्ति का प्रचार-प्रसार, मनुष्य के निजी और समष्टिगत गुणो का विकास।

आर्यसमाज गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली का पक्षधर है। इसमे वर्तमान एव वैदिक मानविकी, वैज्ञानिक, अभियान्त्रिकी तथा आरोग्य शिक्षाए भी सम्मिलित है।

आर्यसमाज संस्कृत, हिन्दी तथा भारतीय भाषाओ के विकास के लिए प्रयत्नशील हो आर्यसमाज अ ग्रेजी की दासता को छोडकर हिन्दी को राजकाज तथा व्यवहार को भाषा के रूप मे अपनाना चाहता है, आर्यसमाज सतीप्रथा, भ्रूण हत्या, बालविवाह आदि का विरोधी तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थक है। आर्यसमाज दूरदर्शन तथा फिल्मो द्वारा संस्कृति प्रसार के नाम पर अश्लीलता का घोर विरोध करता है। आर्यसमाज ब्रह्मचर्यादि आश्रमो के परिपालन को वरीयता देते हुए नैतिकता के विकास पर बल देता है। आर्यसमाज गौरक्षा का हिमायती है। आर्यसमाज खान-पान मे शुद्धता पर बल देता है। आर्यसमाज शाकाहार का समर्थन तथा मांसाहार का विरोध करता है आर्यसमाज हर प्रकार के नशे-मद्यपान, धूम्रपान, चरस, गाजा, अफीम, स्मैक आदि का विरोध करता है।

आर्यसमाज एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का पक्षधर है जिसमे कोई भी केवल अपनी उन्नति मे सन्तुष्ट नही रहता है बल्कि सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्यमहासम्मेलन के अवसर पर आर्यसमाज घोषणा करता है कि उपर्युक्त मन्तव्यो के प्रचार-प्रसार के लिए, वह सदैव देश-विदेश मे प्रयत्नशील रहेगा। [ए/एच-१६, शालीमार बाग, दिल्ली-५२]

'संकल्प ग्रन्थ-१९९०' का विमोचन

नई दिल्ली : भारत के महामहिम उपराष्ट्रपति डा० शकर दयाल शर्मा ने २९ नवम्बर को अपने निवास पर आयोजित एक समारोह मे हिन्दी अकादमी द्वारा प्रकाशित एक भव्य "सकल्प ग्रन्थ—१९९०" का विमोचन किया।

इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुये डा० शर्मा ने कहा कि राष्ट्रीय जन जागरण एव चेतना जागृति मे भारतीय भाषाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होने आगे कहा कि ऐसे उपयोगी ग्रन्थ को जन-जन तक पहुचाने के लिये अकादमी को विशेष प्रयास करने चाहिये।

स्वामी दयानन्द ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्ध किया

इस अवसर पर प्रख्यात पत्रकार श्री अक्षय कुमार जैन के ने कहा कि यह कहना गलत है कि आज हिन्दी लादी जा रही है। वस्तुत राष्ट्रभाषा हिन्दी को गैर हिन्दी भाषी स्वामी दयानन्द ने समृद्ध किया था। इसी प्रकार बगाल के सर्व श्री केशव चन्द सेन, रवीन्द्र नाथ टैगोर आदि अन्य अहिन्दी भाषियो ने भी हिन्दी के विकास मे योगदान दिया है। इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है कि युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत के प्रकाड पण्डित होते हुये भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के पत्र-लेखन, गद्य लेखन आदि अनेक विधाओ को विकसित करने मे जो अमूल्य योगदान दिया वह हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे अ कित रहेगा।

लब्ध प्रतिष्ठित समालोचक प्रो० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे इस सकल्प ग्रन्थ को अद्वितीय एव मील का पत्थर बताया।

इस कार्यक्रम को सुचारु सचालन करते हुये हिन्दी अकादमी के सचिव डा० नारायण दत्त पालीवाल ने अकादमी की महत्वपूर्ण योजनाओ की जानकारी देते हुये बताया कि ५६० पृष्ठ के इस ग्रन्थ मे हिन्दी व गैर हिन्दी भाषी विद्वान साहित्यकारो की लगभग १५० रचनायें सकलित है।

इस अवसर पर दिल्ली के उपराज्यपाल एयरचीफ मार्शल (सेवानिवृत्त) श्री अर्जुनसिंह सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री कन्हैयालाल नन्दन, साहित्यकार डा० कृष्णदत्त पालीवाल आदि ने भी विचार व्यक्त किये। सभी वक्ताओ ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार मे अकादमी के योगदान की भूरि-भूरि सराहना की।

कार्यक्रम का शुभारम्भ 'सगीतायन' द्वारा प्रस्तुत 'सरस्वती वन्दना' से हुआ। कार्यक्रम मे ग्रन्थ के अतिरिक्त अकादमी को सहा० सचिव श्रीमती स्नेह लता, कार्यक्रम अधिकारी श्री नरेन्द्र गुप्ता ने भी पुष्पगुच्छो द्वारा माननीय अति थियो का स्वागत किया।

काश्मीर विस्थापित सहायता शिविरों का विवरण

दिल्ली प्रान्तीय आर्य महिला सभा के अन्तर्गत स्त्री समाजो की बहिनो ने काश्मीर के विस्थापितो कैम्पो मे जाकर चावल, चीनी, चाय, नहाने एव कपडे धोने का साबुन, दालें मसाले, रसोई के बर्तन, प्लास्टिक की बाल्टिया, तौलिये, चादरें तथा पहनने के कपड़े एव चप्पले वितरित किये । आर्यसमाज मन्दिर मार्ग भी काफी सामग्री पहुंचाई गई, लगभग बीस हजार रुपये की राशि नकद भी दी गई ।

दक्षिण दिल्ली आर्य मण्डल की ओर से ऊपर वर्णित सामान के अतिरिक्त स्कूल के बच्चो को गणवेश जूते एव मौजे दिये गये । प्रत्येक परिवार को दो बार पचास-पचास रुपये की नगद राशि भी वितरित की गई । आर्यसमाज जगपुरा की ओर से तीन महीने तक कृष्णा मार्किट वाले कैम्प मे प्रातःकाल का नाश्ता एव दूध दिया जाता रहा ।

भारतीय लोक कल्याण न्यास के आदेशानुसार आर्यसमाज ग्रीन पार्क की श्रीमती कौशल्या देवी के सौजन्य से सौ कम्बल बेगमपुर, हौजरानी तथा अमर कालोनी मे दिये गये । श्रीमती शान्ति देवी अग्निहोत्री के सौजन्य से पचास कम्बल एव पचास रजाईया, प्रान्तीय आर्य महिला सभा की अधिकारी बहिनों के प्रयास से ८० कम्बल अलीगज, पालिका केन्द्र चाणक्यपुरी और कृष्ण मार्किट मे १३ नवम्बर को वितरित किये ।

३१०० रु की राशि आर्य समाज करौलबाग, २५ कम्बल, दो गर्म सूट मर्दाना पटेल नगर, १००० आर्य समाज साकेत, ५०० आर्य समाज जगपुरा से नकद राशि । १२०० रु के कम्बल आर्य समाज, लाजपत नगर, १२०० रु, अमर कालोनी २००० मालवीय नगर, चादरानी एक हजार कैलाश कालोनी, पाचहजार श्रीमती कमला सूद, दानवीर मलहोत्रा टैंट हाऊस, श्रीमती कृष्णाजी रहेजा दो सौ रु दस शाल कालका जी, ६ शाल माडल टाऊन एक हजार रजाईया ग्रेटर कैलाश पार्ट-२ ने तथा चालीस रजाईया आर्य समाज माडल टाउन ने काश्मीर विस्थापितो की सहायतार्थ श्रीमती ने केदारनाथ जी साहनी को भेंट की ।

महिला सभा की अधिकारी बहिने दिल्ली के ग्यारह कैम्पो में गई और अपने हाथो से सामान वितरित किया । सर्व श्रीमती शकुन्तला आर्य अध्यक्षा प्रान्तीय आर्य महिला सभा, उपाध्यक्षा सरलामेहता, प्रकाश आर्या शान्ति मलिक । मन्त्रिणी कृष्णा चड्ढा, सहायक मन्त्रिणी शकुन्तला दीक्षित, कृष्णा रसवन्त, रामचमेली, चादरानी एव कोषाध्यक्षा तारा जी वैद ने कश्मीर विस्थापित कैम्पो में जाकर कम्बल एव रजाइया वितरित की । दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल और काश्मीर महायता समिति के अध्यक्ष श्री विश्वम्भरनाथ भाटिया ने प्रान्तीय महिला सभा की बहनो के इस पुनीत कार्य मे सहयोग दिया ।

—श्रीमती कृष्णा चड्ढा (मंत्रिणी)

श्री रत्न सागर

श्रीमज्जगद् गुरु १००८ श्री आचार्य गरीबदास जी महाराज की सटिप्पणी सक्षिप्त अमृतमयी वाणी का सम्पादन महामण्डलेश्वर डा० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री, सख्या योग वेदान्ताचार्य, साहित्य आयुर्वेदाचार्य एम० ए० प्राचार्य श्री गरीबदासजी साधु सस्कृत महाविद्यालय मायापुर, हरिद्वार ने किया है । इसकी भूमिका के लेखक है—साहित्यवाचस्पति डा० विष्णुदत्त राकेश, एम०ए० पी-एच० डी०, डी० लिट, प्रोफेसर एव अध्यक्ष, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार । यह वस्तुतत्व तो विश्वविदित ही है कि भारतीय धर्म, सस्कृति एव अध्यात्मवाद के एकमात्र मूलाधार वेद एव दर्शनशास्त्र है । सन्त साहित्य एव सन्त परम्पराए इस तत्त्व की पोषक रही है । इस सनातन सत्य के प्रचार प्रसार मे धर्माचार्यों, सन्त महापुरुषो तथा प्रबुद्ध द्विज समाज का विशेष योगदान रहा है । इन्होने अपने ज्ञानालोक और जीवन की श्रेष्ठता साधनाओ से मानव समाज को शान्ति सद्भाव एव सौमनस्य के मार्ग पर चलने की प्रबल प्रेरणा दी है । "सगच्छध्व, सवदध्व सवोमनासि जानताम्,, का आदर्श हमे सदैव सगठित करता रहा है और इससे हमारी सामाजिक एकता को बल मिला है । इस पुस्तक मे ऐसे ही सन्त गरीबदास की वाणी को सकलित किया गया है ।

[श्री रत्न सागर--स० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री, प्रकाशक--श्रीगरीब दास सन्तसाहित्य शोध सस्थान--मायापुर, हरिद्वार, पृष्ठ ४७२, मूल्य ९५-००]

मूलचन्द गुप्त, सम्पादक

पुस्तक समीक्षा

स्वामिनी मीरां यति साहित्य माला

हम आर्यसन्देश के पिछले अंको में आदरणीय स्वामी मीरां यति के द्वारा वेदप्रचारार्थ किये गये कार्यो तथा उनके द्वारा प्रकाशित साहित्य का विवरण दे चुके हैं । पिछले दिनों श्रद्धेया माता जी से आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में भेंट हुई थी । उन्होने बताया कि पहले उन्हें अपना साहित्य डाक से भेजने मे कठिनाई होती थी परन्तु अब उन्होंने एक ब्रह्मचारी की व्यवस्था कर ली है । अब वे डाक से साहित्य भिजवा सकेंगी । वे अपनी पुस्तकें नि:शुल्क वितरित करती हैं । सुधी पाठकों को चाहिए कि जो पुस्तकें मगाए, डाक व्यय पहले भेज दे अथवा स्वयं जाकर उनसे पुस्तके प्राप्त कर लें । इस समय प्राप्त साहित्य निम्न प्रकार हैं :

१ .पावमानी—इसमे गृहस्थियो के लिए पांच मन्त्रो की सुललित व्याख्या दी गई है।

२. दिव्य ज्योति महर्षि दयानन्द—इसमे महर्षि के गुणो का वर्णन है ।

३. सुरत्ना नारी—यह पुस्तिका नारी के कर्त्तव्यो के विषय में है । इसमें सतीप्रथा की अप्रासगिकता पर भी प्रकाश डाला गया है ।

४. उद्यान ते पुरुष.—इसमें उन महापुरुषो के उन्नयन की कहानिया हैं जो हमारे प्रेरणा स्रोत हैं ।

५. आदर्श कहानिया—इसमे शिक्षाप्रद कहानिया सकलित की गयी है ।

६ स्वामी श्रद्धानन्द की अमर कहानी--इस काव्यात्मक पुस्तिका में स्वामी श्रद्धानन्द का प्रेरणादायक चरित्र वर्णित है ।

पुस्तक प्राप्ति स्थान : स्वामिनी मीरां यति, आर्यवानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर हरिद्वार

श्रद्धेय स्वामी सर्वानन्दजी महाराज की जीवन झांकी

(पृष्ठ ४ का शेष)

के परिवार कुल, जात बिरादरी का नाम नही सुना । अब पीछे कुल में कौन कौन है, यह कभी चर्चा नही की । वह कुल एक सम्पन्न मध्यवर्गीय परिवार है । सारा ग्राम इस बात पर इतराता है कि स्वामी सर्वानन्द नाम के एक महापुरुष ने यहा जन्म लिया है ।

श्री स्वामी जी महाराज के आयुर्वेद के सूक्ष्म ज्ञान की भी आर्य जगत् में बहुत चर्चा सुनी जाती है । स्वामी जी ने आयुर्वेद व यूनानी चिकित्सा पद्धति का गुरुमुख से अध्ययन किया है । आप जब उपदेशक विद्यालय मे पढ़ते थे, तभी पूज्य स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज से वैद्यक के ग्रन्थो का भी अध्ययन किया । स्वामी जी ने समय-समय पर आपको अमृतसर मे एक उदासी विद्वान महात्मा रामस्वरूप जी के पास चरक आदि ग्रन्थो के पठन-पाठन के लिये भेजा । वह प्रात: चार से पाच बजे तक पं० रामचन्द्र जी को पढाया करते थे ।

श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी के एक भक्त वैद्य तिलकराम जी अमृतसर मे एक प्रसिद्ध विद्वान वद्य थे । आपने उनसे भी वैद्यक ग्रन्थों का अध्ययन किया । औषधियो के निर्माण की विधि भी वहीं सीखी । श्री स्वामी महाराज ने आपको बटाला जिला लुधियाना मे भी वैद्यक के अध्ययन के लिए भेजा था । वहा आपने श्री महन्त विष्णुदासजी से बहुत कुछ सीखा । प० विष्णुदास जी उदासी महात्मा थे । आपके सत्सग से ही स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज आर्य समाजी बने थे । आप बहुत विख्यात वैद्य थे । आर्यसमाज मे भी उनका बड़ा सम्मान था ।

जब दयानन्द मठ की स्थापना हो गई तब बाद दोपहर पूज्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज से यूनानी के सब फारसी उर्दू के प्रामाणिक ग्रन्थो को पढ़ा । इस प्रकार श्री प० रामचन्द्र जी ने आयुर्वेद व यूनानी का गम्भीर व सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्षो साधना की है । स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी महाराज वैद्यक के बडे विद्वान थे । दीनानगर मे और भी कई वैद्य हकीम उनसे पढ़ते रहे । अपने प्रिय शिष्य प० रामचन्द्रजी को उन्होने आयुर्वेद व यूनानी का अधिकारी विद्वान बनाने के लिए कोई कमी न छोड़ी ।

यह स्मरण रहे कि एक घटना के घटित होने के कारण स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी कभी किसी रोगी को कोई परामर्श न देते थे । किसी को औषधि न देते थे और न बताते थे । ऐसा उन्होने व्रत ले रखा था परन्तु वैद्यो हकीमो को जो पढने आते थे, पढ़ा देते थे । मठ मे यदि कोई ऐसा रोगी आ गया जिसकी अवस्था बड़ी गम्भीर होती तो श्री पं० रामचन्द्र जी उनसे मार्ग दर्शन ले लेते थे । स्वामी जी स्वयं रोगी को कभी नही देखा करते थे । वह घटना क्या थी ? जिसके कारण महाराज ने वैद्यक छोड़ी—यह पाठको को उनकी जीवनी में पढ़नी चाहिए । तपोनिधि स्वामी सर्वानन्द अपने महान गुरु की एक अद्भुत देन है ।

वसन्त मेला

गत वर्षों की तरह गु०म० कण्वाश्रम का वसन्त मेला दिनाक २१-२२-२३ जनवरी १९९१ को सोल्लास मनाया जा रहा है इस वसन्त मेले को देखने के लिये सभी सादर आमन्त्रित हैं।

—विश्वपाल जयन्त, प्रधानाचार्य

स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस सम्पन्न

वेद प्रचार मडल, उत्तरी-पश्चिमी दिल्ली की ओर से रविवार १६ दिसम्बर १९९० को प्रात: ९ बजे आर्य समाज रानी बाग मे श्री विद्यारत्न जी सागर की अध्यक्षता मे बडे समारोह पूर्वक मनाया गया। श्रीमती स्वर्णाजी के मनोहर भजनों के बाद हालैण्ड वाली श्री आल्फास वालवेट ने भारत मे राष्ट्रभाषा हिन्दी की उपेक्षा पर दुःख प्रकट करते हुए कहा कि भारत ही ऐसा देश है जिसमें राष्ट्र भाषा का इतना निरादर किया जाता है। ब्र० राजसिह जी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी के अमर बलिदान की चर्चा करते हुए शुद्धि के कार्य को सशक्त बनाने की अपील की। उन्होने कहा कि देश को बचाने का एक मात्र उपाय यही है। श्री सत्यप्रकाश जी आर्य ने अपने आस पास की बस्तियो में वैदिक धर्म का प्रचार करने पर जोर दिया। श्री लाजपतराय जी आहूजा ने सभी आर्यों से अपनी सन्तानो को सत्संग में लाने का अनुरोध किया। श्री प्रभुदयाल जी भाटिया ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को अपनाने की अपील की। अध्यक्ष महोदय ने शायरी के माध्यम से स्वामी जी के जीवन पर प्रकाश डाला। अन्त मे मन्त्री जी ने वेद प्रचार के कार्य को गतिशील बनाने की अपील की।

—हरिदत्त मन्त्री

हरयाणा का चुनाव

(पृष्ठ १ का शेष)

और सार्वदेशिक सभा से बार-बार मागने पर भी हरयाणा सभा को यह भाग न मिल सका। आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा ने निश्चय किया है कि सार्वदेशिक सभा से अनुरोध किया जावे कि वह अपने आदेश के पालन के लिये हरयाणा सभा की उक्त राशि पजाब सभा से दिलवाये अन्यथा विवश होकर आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा को सार्वदेशिक सभा के कार्यालय के समक्ष धरना देना होगा।

२—यह सभा भारत सरकार के राष्ट्रपति से अनुरोध करती है कि दूरदर्शन पर अग्रेजी भाषा को बढावा देने और चित्रहार कार्यक्रम मे अश्लीलता गुण्डागर्दी और चोरी तथा डाका तथा बलात्कार आदि के प्रसारण दिखाने पर जो करोड़ों रुपया खर्च किया जाता है उस कार्यक्रम को तुरन्त बन्द किया जावे।

३—भारत सरकार से यह भी अनुरोध किया गया कि केन्द्रीय सेवाओ के चयन मे जो परीक्षाये आयोजित की जाती है उनमें राष्ट्र भाषा हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओ का प्रयोग किया जाये।

—केदारनाथ आर्य

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद दिल्ली का चुनाव संपंन

नई दिल्ली। केन्द्रीय आर्य युवक परिषद दिल्ली का चुनाव सुप्रसिद्ध पत्रकार व वैदिक विद्वान प० क्षितीश कुमार वेदालकार जी की अध्यक्षता मे आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग में सम्पन्न हुआ, जिसमें सन् १९९०-९१ के लिए निम्न अधिकारी चुने गये।

अध्यक्षता : श्री अनिल कुमार आर्य
कार्यकर्त्ता अध्यक्ष अजय सहगल
वरिष्ठ उपाध्यक्ष : श्री धर्म आर्य
उपाध्यक्ष : श्री विजय चौधरी
: श्री विश्वनाथ
महामन्त्री : श्री चन्द्र मोहन आय
मन्त्री . श्री सुशील आर्य
: श्री धर्मपाल आर्य
कोषाध्यक्ष : श्री वीरेन्द्र आहूजा







शोक प्रस्ताव

आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना की यह धार्मिक एवं साप्ताहिक सभा श्री प० आशुराम जी पुरोहित आर्य समाज सैक्टर २२ चण्डीगढ, तथा वेदो के प्रकाण्ड विद्वान एव कर्मठ आर्य परिवारों तथा समाज को प्रेरणा देने वाले, पिछले दिनों हृदयगति रुकने से इस ससार की यात्रा अपूर्ण छोडकर स्वर्ग सिधार गये। यह सभा उनकी दिवगत आत्मा की शान्ति तथा परम-पिता परमात्मा उनको अपने चरणो मे स्थान दे, और जन्म–मरण बन्धनो से छुटकारा दे, प्रार्थना करती है, और उनके सभी परिवारीजनो एव इष्टमित्रो तथा सम्बन्धियो को इस अकस्मात् कष्ट को सहने की शक्ति प्रदान करें।

—गुरदयाल सिंह आर्य—मन्त्री

अनुरोध

'श्री केशव आर्य' क्या सुन्दर नाम है। वह युवक अब १९वर्ष का है। तीन वर्ष हुये इसने स्वेच्छा से श्रद्धासहित हिन्दू धर्म स्वीकार किया था। एक वर्ष इसने सस्कृत विद्यालय मे हिन्दू धर्म की शिक्षा भी ग्रहण की। यह तीन वर्ष से ही अखिल भारत हिन्दू महासभा के संरक्षण में हैं। यह वस्त्र सिलाई का काम जानता है। अभी इसे एक सिलाई की नई मशीन लेकर दी गई हैं। इसका स्वाव-लम्बी अर्थात् अपने पैरों पर खड़ा होना आवश्यक है। इसको धन की आवश्यकता है। शुद्धि मे रुचि रखने वाले दानी महानुभावो से अनुरोध है कि केशव आर्य की सहायता के लिए अखिल भारत हिन्दू महासभा के कार्यालय मन्त्री के नाम पर चैक हुडी (ड्राफ्ट) एवम् डाक धनादेश द्वारा धन भेजें। इन्द्रसेन वर्मा, उपाध्यक्ष

वार्षिकोत्सव

आर्य समाज, मेस्टन रोड, कानपुर का १११ वा[illegible]वरात्रि के अवसर पर शनिवार, ९ फरवरी से मगलवार १२ फरवरी १९९१ तक श्रद्धानन्द पार्क मे मनाया जाना निश्चित हुआ है।

इस अवसर पर—श्रीयुत प्रो० रत्नसिंह जी, एम० ए०, 'श्रीयुत प्रो० उत्तम चन्द जी शरर एम० ए०, श्रीयुत प्रो० महेन्द्रपाल सिंह जी, एम० ए०, श्रीयुत बीरेन्द्र रत्नम् जी, एम० ए०, श्रीयुत कुंवर महीपाल सिंह जी, भजनोपदेशक, "सगीत रत्न' श्रीयुत नरेन्द्र मोहन जी श्रीयुत गुलाब सिंह जी "राघव" भजनोपदेशक, श्रीयुत प० देवीप्रसाद जी आर्य, भजनोपदेशक, श्रीयुत डा० वेदपाल सिंह जी, आर्य भजनोपदेशक, श्रीयुत जलेश्वर मुनि जी भजनोपदेशक, श्रीयुत ठा० जयराम जी "त्यागी" एम० ए०, आदि पधार रहे हैं।

डा० आनन्द सुमन का प्रचार कार्य

नई दिल्ली। आर्य समाज के महोपदेशक डा० आनन्द सुमन ने मध्य प्रदेश के मन्सौर जिले के सुवासरा, बसई तथा खेजड़िया राठौर में तीन दिन तक वैदिक धर्म का प्रचार किया और नौ जन सभाएं संबोधित की जिसका अच्छा प्रभाव पड़ा।

खेजड़िया राठोर मे डा० आनन्द सुमन की प्रेरणा पर आर्यसमाज की स्थापना की गई जिसको प्रधान श्री शंशीलाल शर्मा व मंत्री श्री गोवर्धनलाल ओका को मनोनीत किया गया तथा २६ सदस्य बनाए गए। एक सौ युवकों ने डा० आनन्द सुमन की प्रेरणा पर शराब, मास और तम्बाकू-बीड़ी आदि के सेवन के त्याग का व्रत लिया।

—सम्पादक



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८ 'अजर' '२०७१

सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष,
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ. प्र.)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

वर्ष १४, अक १२ | रविवार, १३ जनवरी, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४७ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष ३१०१५०

स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर अभूतपूर्व शोभा यात्रा

आर्य सेवक देश की एकता व अखण्डता बनाए रखने का प्रण लें

—स्वामी आन्दबोध सरस्वती

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के उपलक्ष्य मे तथा आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली द्वारा स्वामी श्रद्धानन्द के ६४वें बलिदान दिवस के अवसर पर राजधानी मे एक अभूतपूर्व शोभा यात्रा का आयोजन किया गया। जलूस का नेतृत्व सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द-बोध सरस्वती ने किया। जलूस मे देश की विभिन्न प्रतिनिधि सभाओ के पदाधिकारी, मारीशस, लन्दन, अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, नेपाल आदि देशो के भी आर्य नेताओ सहित, स्कूली बच्चो एवं लाखो आर्य नर-नारियों ने, कडाके की सर्दी व शीतलहर के बावजूद भी श्रद्धा व उत्साह पूर्वक भाग लिया। जलुस श्रद्धानन्द बलिदान भवन एव रामलीला मैदान से प्रारम्भ होकर चावडी बाजार, चांदनी चौक से होता हुआ, लालकिला मैदान मे श्रद्धांजलि सभा मे परिवर्तित हो गया।

सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध ने ऐतिहासिक लालकिला मैदान से आर्य जनो को सम्बोधित करते हुए कहा कि प्रत्येक आर्य सेवक को स्वामी श्रद्धानन्द का तेजस्वी रूप धारण कर दयानन्द के स्वप्न को पूरा करने मे तथा देश की एकता व अखण्डता को बनाये रखने मे अपना जीवन अर्पित करने का प्रण लेना चाहिए। स्वामी जी सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने देश विदेश से अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महा-सम्मेलन मे पधारे अतिथियो का अभिनन्दन किया।

समारोह के मुख्य अतिथि सासद श्री मदनलाल खुराना ने, स्वामी श्रद्धानन्द को एक ऐतिहासिक पुरुष बताते हुए कहा कि स्वामी जा ने समाज व राष्ट्र की सेवा के लिये अपने प्राणो का बलिदान दिया था। इस अवसर पर सासद श्री कपिलदेव शास्त्री, स्वामी विशुद्धानन्द शास्त्री, श्री उत्तमचन्द जी शरर, दक्षिण अफ्रीका के श्री एस० रामभरोसे, डा० शिव कुमार शास्त्री, श्रीमन मोहन तिवारी आदि ने भी बहुमुखी प्रतिभा के धनी स्वामी श्रद्धानन्द की सेवाओं का स्मरण कर उन्हे श्रद्धा सुमन अर्पित किए।

इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उप-प्रधान एवं महान स्वतन्त्रता सेनानी प० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव को स्वामी आनन्दबोध ने मेजर अश्विनी कुमार वैदिक विद्वान पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया। स्वामी जी ने प० जी को शाल उढाकर एव श्री खुराना ने सम्मान राशि भेंट की। इससे पूर्व श्रद्धानन्द बलिदान भवन पर तथा रामलीला मैदान मे दोनो स्थानो पर प्रात यज्ञ का आयोजन किया गया था।

(विमलकान्त शर्मा)
मन्त्री

"वेदों में सभी समस्याओ का निदान है"

—डा० कर्णसिंह

जाने-माने विद्वान और अमेरिका में भारतीय राजदूत रहे डा० कर्णसिंह ने कहा कि विश्व की सभी समस्याओ का हल वेदो में है। वह १४वे अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का उद्घाटन कर रहे थे। सम्मेलन आज रामलीला मैदान में शुरू हुआ।

डा० कर्णसिंह ने कहा कि चाहे युद्ध की धमकी हो, जातीय या धार्मिक तनाव हो या वातावरण में प्रदूषण की समस्या हो, वेदो की मदद से ऐसी समस्याओ का हल आसानी से निकाला जा सकता है। उन्होने कहा कि वेद किसी एक समु-दाय, जाति व धर्म से सम्बन्धित नही है। इनका रिश्ता तो पूरी मानवता से है।

डा० कर्णसिंह ने कहा कि हिमालय हमारी खुशहाली का प्रतीक है। ठीक उसी तरह वेद हमारी अध्यात्मिक व धार्मिक सस्कृति का मूलाधार भी हैं। उन्होने कहा कि वेदों मे पर्वत, नदी, नाले, वायु आदि की स्वच्छता पर विशेष बल दिया गया है। उन्होने कहा कि यदि आज प्रदूषण को न रोका गया तो मानव का अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जाएगा। इस अवसर पर प्रेम प्रभाकर द्वारा लिखित "कर्मवीर जयानन्द भारतीय" पुस्तक का विमोचन किया गया। पुस्तक का विमोचन डा० कर्णसिंह ने किया।

(शेष पृष्ठ ७ पर)

प्र० सम्पादक— सूर्यदेव
सम्पादक—मूलचन्द गुप्त

वेद को सम्भाल कर रखिए

--डा० सुरेशचन्द्र वेदालंकार,

आर्यसमाज गोरखपुर

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां

पावमानी द्विजानाम् । आयु प्राण प्रजां

पशु कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्वा

व्रजत ब्रह्मलोकम् ।। अ० १९।७१।१

भक्त कहता है (प्रचोदयन्ता) मन को उत्साह से प्रेरणा करने वाली (वरदा वेदमाता) श्रेष्ठ ज्ञान देने वाली वेद माता की (मया स्तुता) मैने स्तुति की है— मैने अध्ययन किया है। प्रभु आदेश करते हैं कि (आयु: प्राण, प्रजा पशु, कीर्ति, द्रविणम्) आयु, प्राण, प्रजा पशु, कीर्ति, ज्ञानतेज (मह्यं दत्वा) मुझे देकर (ब्रह्मलोके व्रजत) ब्रह्मलोक अर्थात् मुक्ति लोक को प्राप्त होओ। वेदाध्ययन से तत्वज्ञान होता है उसके बाद सर्वस्वत्याग द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

यस्माद् कोशादुद्भराम वेद तस्मिन्नन्तरवदध्म: एनम् ।

कृतमिष्ट ब्रह्मणो वीर्येण तेनमा देवास्तपसावतेह ।।

अ० १९।७२।२

(यस्मात् कोशात्) जिस कोश से (वेद उद्भराम) वेद को हमने उठाया था (तस्मिन अन्त:) उसके बीच में (एन अवदध्म) इसको रखते हैं। (ब्रह्मण. वीर्येण) वेद ज्ञान के बल से (इष्ट कृतम्) हमने इष्ट कर्म किया है। (तेन तपस्त) उस तप से (देव:) सब दिव्य शक्तिया (मा इह अवत) मेरी यहा रक्षा करे।

मैंने जब गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय से 'वेदालकार' की उपाधि प्राप्त करने के बाद अपने देवरिया जिले के गांव में पदार्पण किया तो मैं वहा एक विचित्र जानवर था। मुझ से पूर्व प्रकाश विद्या के अधिष्ठाता, मनस्वी श्री वीरेन्द्र जी विद्या वाचस्पति भी गुरुकुल से पढकर आ चुके थे। परन्तु मैं उनके ९ वर्ष बाद आया था। मुझे जो देखने आए उनमे एक वेदादि से कुछ परिचित वाराणसी से सस्कृत शिक्षा प्राप्त सज्जन भी थे। उन्होने आते ही एक प्रश्न पूछा "क्या आपने पूरे वेद पढे हैं?" मैंने कहा 'वेदो का पूरा पढना तो सम्भव नही था। वेद के अतिरिक्त ग्रन्थ भी विषय पढने होते हैं। हा, वेद की कुछ बाते पढी हैं' उन्होने कहा "आप वेदालकार हैं फिर भी वेद पूरे नही पढे?" मैं उन्हे इस विषय में क्या कहता मुझे उस समय कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण की एक कथा का ध्यान आया। उसमे कहा गया है, "ऋषि भारद्वाज ने जीवन भर तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र प्रकट हुए और भारद्वाज से पूछा कि 'यदि तुम्हे एक जन्म और मिल जाय तो तुम उस जन्म मे क्या करोगे?" भारद्वाज पहले तो सोचने लगे और बाद मे बोले "मैं इस जन्म की ही भाति तपस्या करूगा और उस जन्म मे भी वेदाध्ययन करूगा।" इन्द्र ने फिर पूछा "यदि तुम्हें पुन एक जन्म और मिले, तो क्या करोगे?" मैं जितने भी जन्म मिलेंगे सब मे तप करता हुआ वेदो का अध्ययन ही करता रहूगा।" इस उत्तर के साथ ही भारद्वाज के सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उन तीनो में से एक मुट्ठी भर कहा "भारद्वाज ! अब तक वेदों को पढकर जो कुछ ज्ञान तुमने प्राप्त किया है और दूसरे जन्मो मे जो ज्ञान तुम प्राप्त करोगे सो सब इन पर्वतो की तुलना मे इस मुट्ठी के समान है। वेद तो अनन्त हैं—अनन्ता वै वेदा.।"

सचमुच वेद अनन्त है। वेदो का ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है। वेद का प्रत्येक मन्त्र इतना निगूढ, इतना दुरूह और इतना सूक्ष्म भावापन्न है कि बड़े-बड़े विद्वान्, ऋषि महर्षियो ने एक-एक मन्त्र का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन किया है और फिर भी भन्त्र अगम्य रहे। ऋग्वेद के १-७१-१ मन्त्र का भाव है कि वेदार्थ ज्ञान अगम्य है। परन्तु जो मनुष्य सरस्वती—ज्ञान की देवी के प्रेम में मग्न होता है, जिसने वेद की पवित्रतम उपासना में अपने को अर्पित कर दिया है उसे आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक कुछ न कुछ अर्थ ज्ञात होगा ही। वेद के ज्ञान का मतलब है उसकी शिक्षा को समझना, उस पर चिन्तन करना और उसे जीवन मे उतारना। मनु महाराज कहते हैं—

प्रभु ! नमस्कार

नम: सायं नम: प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।

भवाय च शर्वाय चोमाभ्यामकर नम: ।।

अथर्व : ११। १, २, १६

सुख-दुःख के इस महासागर में, करके प्रभु हो तुम्हीं पार।

सन्ध्या प्रभात या दिवस रात, प्रभु तुमको मेरा नमस्कार।।

भव जन्म ज्योति के धारक हो,

नभ मे सुख के विस्तारक हो,

ये जन्म मिला इस जग में जो,

सचमुच सुख के सचारक हो।

सुख कारक तेरे गुण अपार, तेरे सद्गुण को नमस्कार।

सन्ध्या प्रभात या दिवस रात, प्रभु तुमको मेरा नमस्कार।।

दु:ख नाश तुम्ही तो करते हो,

आनन्द हृदय मे भरते हो,

सुख तभी हमे मिल पाता है,

जब कष्टो को तुम हरते हो।

शिव कष्ट निवारक सर्व सुमन, उपकारी गुण को नमस्कार।

सन्ध्या प्रभात या दिवस रात, प्रभु तुमको मेरा नमस्कार।।

नव प्रकाश जब छायेगा,

सुख सर्व तभी तो आयेगा,

कल्याण कली खिल जाने पर,

हर क्षण जीवन मुस्कायेगा।

परमेश तुम्हारे गुण गण को, प्रतिक्षण है मेरा नमस्कार।

सन्ध्या प्रभात या दिवस रात, प्रभु तुमको मेरा नमस्कार।।

—देवनारायण भारद्वाज

"भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति"

भूत, भविष्य, वर्तमान सब वेद से ही सिद्ध होता है।

ऋग्वेद में १०-९०-९ मन्त्र हैं—

तस्माद्यज्ञात् ऋच सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।

अर्थात् उस यज्ञ से ऋग्वेद, सामवेद उत्पन्न हुए अथर्ववेद उसी से उत्पन्न हुआ और यजुर्वेद भी उत्पन्न हुआ। मनु जी महाराज ने लिखा है—

अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रये ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञ सिद्धयर्थं ऋग्यजु: सामलक्षणम् ।।

अर्थात् ऋग्यजु साम रूप तीनो शाश्वत वेदो को यज्ञ की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से दुहा अर्थात् प्राप्त किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदो के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे उसे ईश्वरीय ज्ञान मानते थे और उन्होने वेद पढ़ने का अधिकार भी सबको दिया था। उनका विचार है कि अग्नि, वायु, सूर्य और अगिरा "प्राथमिक ऋषि" हैं। इनके द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ मे चार वेद ऋक्, यजु, साम और अथर्व प्रकट हुए। इसके बाद अनेक ऋषियों ने मन्त्रो को देखा—'ऋषयो मन्त्र द्रष्टार:' और उनके नामो पर सूक्तादि प्रसिद्ध हुए। स्वामी जी वेद मे नित्य इतिहास मानते हैं और अनित्य व्यक्तियों का वर्णन नही मानते। प्रकृति प्रत्यय पर चलने वाली यौगिक शैली द्वारा अर्थ निकालते हैं। उन्होंने वेदो में आए नदी, पर्वत और ऐतिहासिक और भौगोलिक नाम न मान कर उनका यौगिक अर्थ मानते हैं। उनके अनुसार वशिष्ठ, भारद्वाज और विश्वामित्र का अर्थ क्रमश: प्राण, मन और कान आदि किया है। इस प्रकार आर्यसमाज की दृष्टि से यौगिक अर्थ ही वेदो के माने गए हैं। यास्क भी यौगिक अर्थ में विश्वास करता है। सायण, महीधर, उवट आदि भी वेद को नित्य मानते हैं। प्रभु प्रदत्त मानते हैं।

(क्रमश:)

साप्ताहिक ओ३म् आर्यसन्देश कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

लोहड़ी और मकर संक्रान्ति



भारतीय विक्रमी अथवा शक संवत्सर और इस्वी वर्ष मे यही समानता है कि प्रति वर्ष लोहड़ी और मकर संक्रान्ति की तिथिया अपरिवर्तित रहती है। इसका स्पष्ट कारण है कि सवत्सरो की गणना मे सूर्य की गति का अपना विशिष्ट महत्व है।

ये दोनो पर्व उत्तर भारत में विशेष उल्लास मे मनाए जाते हैं। इन पर्वो का अपना विशिष्ट महत्व भी है। इन पर्वों पर विशेष प्रकार के व्यजन बनाए जाते हैं। पर्वों का उद्देश्य आत्मनिरीक्षण, आत्मालोचन तथा आत्मोत्थान होता है। क्या इस उद्देश्य को वैयक्तिक जीवन तक ही सीमित करें। नहीं, पर्व का तो आयोजन ही सामाजिकता के लिए होता है। अत: ये पर्व सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे भी अपना महत्व रखते है? पर्व का अर्थ ही है कि पवित्रता और पूर्ति की ओर ले जाने वाला।

आर्य पर्व पद्धति में मकर संक्रान्ति की महत्ता तथा आयोजन विधि विस्तार से समझाई गई है। यहां उसे दुहराने की आवश्यकता नही है। हा, यह कहना आवश्यक है कि आर्यसमाजी केवल अपने को यज्ञ तक सीमित न रखें, बल्कि जो पक्वान्न आदि की व्यवस्था है, उसे भी अपनाए। पक्वान्न की परम्परा को पौराणिकता बताकर समाप्त न करें। अच्छे पकवान खाने मे पौराणिकता कहा से आ गई। वयस प्राप्त व्यक्ति तो शास्त्रीय बातो को, वेद मन्त्रो को उनकी उपयोगिता को समझ सकते हैं। पर अल्पमति बालक तो इस बात के महत्ता को तभी समझेंगे और तभी याद रखेंगे जब उन्हे इसमे कुछ नवीनता लगे। मुझे स्मरण है कि दिल्ली मे बालक स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस को इसलिए याद रखते हैं कि पूरे मार्ग में उन्हें प्रसाद, फल, मिष्ठान्न आदि मिलते है और वे लालकिला मैदान मे बैठकर सामूहिक रूप से भोजन करते हैं। छोटे बच्चो के मन मे यह सस्कार पक्का हो जाता है कि वे इस शोभा यात्रा मे अवश्य सम्मिलित हो।

पौष-माघ में जब शीत अपनी चरम सीमा पर होती है, तब लोहड़ी मनाई जाती है। इसके पीछे कोई पौराणिक आख्यान भी नही है। वस इसे तो इसीलिए मनाया जाता है कि आग सेंक सकें, गुड़, तिल व मूगफली, गजक आदि गर्म वस्तुओं का सेवन कर सकें। हम तो तर्क की तुला पर हर बात को तौलते है। हमारी पाठ्यपुस्तको मे लिखा है कि किसान रवी की बुवाई के बाद खाली होता है, इसलिए वह इस त्यौहार को मनाता है। चलो यही सही, पर यह निश्चय है कि इसमें भी सामाजिकता और सामूहिकता की भावना जुड़ी हैं।

सक्रान्ति मे एक का विसर्जन होता है और दूसरे का आगमन। जाने वाले के प्रभाव का ह्रास होता है और आने वाले के प्रभाव का अभ्युदय। मकर संक्रान्ति के दिन सूर्य की राशि बदलती है। सूर्य उत्तरायण होने लगता है। दिन बढ़ना शुरू हो जाता है। शिशिर की हवाओ मे एक ऊष्मा आ जाती है। सूर्य तो हमारे लिए जीवनदायी देवता है जिसके प्रकाश मे हम अग्नि-जल और अन्य औषधियां पाते हैं। सूर्य न होता तो हमे निरन्तरता, परिवर्तन व उत्सर्ग और उदात्तता का बोध हो न हो। मकर सक्रान्ति का भारतीय जीवन मे विशिष्ट महत्व है। दक्षिण भारत में यह पोंगल के रूप में मनाया जाता है।

हमारा कर्तव्य है कि हम जिस प्रकार मकर सक्रान्ति पर शीत और शीतोष्ण के बीच व्यावहारिक उन्तुलन अपनाते हैं, उसी प्रकार अपने जीवन को भी संतुलित, नियमित और पूर्ण करें।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य समाजिक जीवन की विकास यात्रा

(६ जनवरी ९१ के अक से आगे)

घातक मे कर गया अपना प्यार, वो मस्ताना योगी॥

विष दाता को भी क्षमादान करने वाले परमदयालु ऋषि का यह गुणगान मेरे हृदय मे दयानन्द भक्ति की हिलोरे उठा देता। प्रभात फेरी के स्वय सेवक पुन: गाते—

दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे।
दयानन्द का काम पूरा करेंगे।
गु जायेंगे वेदो को हम गीत गाकर।
दिखायेंगे दुनिया पुरानी बना कर॥

दुनिया को पुरानी बनाने की बात स्वामी दयानन्द के 'वेदो' की ओर लौटो' के आवाहन को देखते हुए कितनी सटीक थी, यह कहने की आवश्यकता नही है।

गीत के आगे के बोल थे—
वही पुण्य गगा यहा फिर वहेगी,
जो ससार की तापमाला हरेगी।

निश्चय ही दुनिया यह आशा सजोये बैठी थी कि आर्यसमाज की शिक्षाओ से ससार का ताप और पीडा दूर होगी। अब यदि हमने इस आशा को पूरा नही किया तो इसमे किसी अन्य का क्या दोष है।

गीत की समाप्ति निम्न पक्तियो से होती है—
कहेगा जगत् फिर से इक स्वर से सारा,
यही वृद्ध भारत गुरु है हमारा॥

'वृद्ध भारत' शब्द की अपनी सार्थकता थी क्योंकि इससे देश का गौरवपूर्ण अतीत लक्षित होता था।

एक अन्य गीत भी अभी तक मेरे कानो मे गूंज रहा है।

प्रभो वेद विद्या का विस्तार कर दो।
दुखी देश भारत का उद्धार कर दो।
तपो बल के पौधे भी मुरझा गये है।
इन्हें ज्ञान अमृत से गुलजार कर दो।
भुजाओ में दो भीम सा बल हमारे'
रगो में ऋषि खू का सचार कर दो।

प्रभात फेरियो के ये भावपूर्ण गीत तथा उनका उत्साहपूर्ण वातावरण आज तो स्वप्नतुल्य ही हो गया है। अब न वे भावनाए है और न लोगो मे वैसा उत्साह।

अब मैं विधिवत् आर्य कुमार सभा का सदस्य बन गया। एक शिवरात्रि पर रात को नगर आर्यसमाज मन्दिर मे ऋषि बोधोत्सव मनाया जा रहा था। मन्दिर ठसाठस भरा था। उपस्थिति इतनी अधिक थी कि लोग जीने तक बैठे थे। मुझे पूरा विश्वास था कि यदि मैं इस अवसर पर बोलू तो कई अन्य वक्ताओ से कही अच्छा बोल सकूंगा, किन्तु शुरू से ही सकोची स्वभाव का होने के कारण मेरा इतना साहस भी नही हो रहा था कि मै मन्त्री को वक्ताओ की सूची मे अपना नाम अकित करने की प्रार्थना करता। अन्तत: मैने कुमार सभा के मन्त्री मास्टर साहब गणेशीलाल जी के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की उन्होने झट मन्त्री जी को मेरा नाम दे दिया और मुझे बोलने का अवसर मिल गया। मेरा यह प्रथम भाषण ही आर्यसमाज तथा कुमार सभा के सदस्यो के लिये विस्मय कारक था, क्योंकि वे कल्पना नहीं कर सकते थे कि मेरे जैसा सकोची व्यक्ति भी इतना अच्छा भाषण दे सकता है।

इसके बाद इस सप्ताह का आर्य कुमार सभा का अधिवेशन हुआ तो मास्टर साहब ने मुझे ही बोलने के लिए कहा। इसके बाद तो प्रत्येक अधिवेशन मे आर्यसमाज से सम्बन्धित नाना विषयो पर मैं निस्सकोच बोलने लगा। दूसरे ही वर्ष मुझे आर्य कुमार सभा का उपमन्त्री चुन लिया गया। यह पद प्राप्त कर

(क्रमश)

वर्ण जन्म से नहीं, गुण-कर्म से

—स्वामी वेदमुनि परिव्राजक,

वर्ण व्यवस्था और गीता

प्रिय पाठकगण !

विचारणीय प्रश्न यह है कि यह वर्ण-व्यवस्था है अथवा जन्म–व्यवस्था ? जन्म से तो जन्म-व्यवस्था हो सकती है, वर्ण व्यवस्था नही। वर्ण शब्द का अर्थ है—वरण किया हुआ, चुना हुआ—यह जन्म से कैसे लागू होगी ? जन्म के समय नवजात शिशु में वरण करने, चुनने की योग्यता ही कहां होती है ? विद्याध्ययन काल में जिस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर ली जाती है, उसी प्रकार का वर्ण हो जाता है। इस नियम मे गीता का मत है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।" (गीता अ० ४।३)

अर्थात् मेरे द्वारा चारों वर्णों का निर्माण गुण-कर्म के विभाग के रूप मे हुआ है। मनुष्य मे जो योग्यताये होती हैं जिस प्रकार के गुण होते है, वह वैसे ही कर्म करता है। गीता ने गुण के अनुसार कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देकर वर्ण-व्यवस्था को गुण अर्थात् योग्यतानुसार कर्म करने के लिए विभाजन कर प्रस्तुत कर दिया है। गीता के १८ वे अध्याय में तो इसे "गुण कर्म विभागश." का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पाठको की जानकारी के लिये उसे यहा दिया जा रहा है।

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ॥ १८।४१॥

अर्थात् हे परतप अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो के स्वभाव और गुणों से उत्पन्न हुए "कर्माणि प्रविभक्तानि" कर्म विभाग किए गये हैं। कैसे किये गये हैं ? यह भी गीता के शब्दो में पाठकगण पढ़ें।

शमो दमस्तपः शौच क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ १८।४२॥

मनोविचारो का शमन, इन्द्रियो का दमन, वेदादि शास्त्रों के अध्ययन मे पुरुषार्थ, पवित्रता, निन्दास्तुति, सुख-दुख-हानि-लाभ-मानापमान आदि की चिन्ता से रहित, सरल स्वभाव रहना, वेदादि शास्त्रो और पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करके उससे तदनुसार लाभ लेना, परमेश्वर के अस्तित्व पर जैसा वह है, उसे वैसा ही समझ कर विश्वास करना—ब्राह्मण के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। "स्वभावजम्" के साथ "गुण-कर्ण विभागशः" ही लागू हो रहा है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरे भावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम् ॥ १८-४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध मे चपलता, मैदान छोड़कर न भागना, दान करना तथा ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास रखना, यह सब क्षत्रीय के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। यहां भी "स्वभावजम्" शब्द दर्शनीय है, जिसका अर्थ स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं—अन्य से कदापि नहीं।

कृषि गौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि कर्म स्वभावजम् ॥ १८-४४॥

कृषि गौरक्षा और व्यापार वैश्य के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म है तथा सेवा करना कर्म शूद्र का भी स्वभाव से ही उत्पन्न हैं 'स्वभावजम्" शब्द सभी श्लोको मे और सभी वर्णो के लिए प्रयुक्त होकर जन्मानुसार नहीं अपितु रुचि-अनुसार कर्मो का विवेचन कर रहा है। यह सक्षेप मे गीता का मत है। शूद्र के विषय मे इतना कह देना अनुचित न होगा कि जिसमें वह गुण न आ सके, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो के लिये बताये गये अर्थात् जो किसी कार्य विशेष की योग्यता नही प्राप्त कर पाता, वह अन्य वर्णो के यहां सेवा-कार्य व श्रम आदि करके जीविका प्राप्त कर जीवन यापन करता है। अभिप्राय यह है कि विद्या-शिक्षा आदि के कार्यो से रहित, रक्षा कार्यों में असमर्थ, उत्पादन द्वारा सम्पत्ति की वृद्धि करने मे अयोग्य व्यक्ति शूद्र कहलाता है।

शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १०-६५॥

शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण शूद्रता को। वैसे ही विद्या आदि की प्राप्ति के द्वारा क्षत्रिय व वैश्य भी ब्राह्मणत्व को और सद्गुणों तथा उच्च कर्मों के कर्तव्य-कर्मों को छोड़कर शूद्रत्व को प्राप्त होते हैं।

वर्ण-व्यवस्था और मनुस्मृति

सृष्टि के प्रारम्भ में ही महर्षि मनु द्वारा मानव-धर्म का विधान और उपदेश किया गया। यही उपदेश मानव-धर्म-शास्त्र और बाद को मनुस्मृति कहलाया। ग्रन्थाकार रूप में यह आज भी उपलब्ध है। यद्यपि इसमें समय-समय पर स्वार्थी और भ्रष्ट व्यक्तियो द्वारा अनर्गल तथा भ्रष्ट बातें भी भरी गयी हैं, जो ध्यानपूर्वक पढ़ने से समझी जा सकती है। किन्तु फिर भी मनु का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है।

इस ग्रन्थ में मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू पर—चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा पारिवारिक और या चाहे सास्कृतिक, आध्यात्मिक, शैक्षिणिक व प्रशासनिक कोई भी पहलू हो—पर्याप्त विवेचना की गई है। यह विवेचना ही उनके द्वारा निर्मित विधान है। इस विधान को उन्होने जहां सामाजिक ढांचे मे ढालने की व्यवस्था दी है, उसी स्थल को लक्ष्य करके यह पंक्तियां लिखी गई हैं।

यह सामाजिक ढाचा वर्ण-व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। वास्तव में तो यह आर्थिक ढांचा है, क्योकि अर्थ सम्पादन के प्रकारों के आधार पर ही इसका विवेचन किया गया है। जिसका जो जीविकोपार्जन का साधन—उसी के अनुसार उसका वर्ण। कहना यह चाहिये कि वर्ण-व्यवस्था एक प्रकार से श्रम-व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। वर्ण-व्यवस्था क्योकि थोपी हुई अथवा जन्म सिद्ध नहीं अपितु रूची व इच्छानुसार वर्णी अर्थात् वरण की हुई, चुनी हुई होती है अतः नाम वर्ण-व्यवस्था रखा गया है।

अर्थ सम्पादन के प्रकार मनुष्य वही अपनाता है, जिनकी रुचि और जिन्हें कर सकने की योग्यतायें उसमें होती हैं। रुचि और योग्यता के विपरीत यदि व्यक्ति को कार्य मिलता है तो वह उसमे वास्तविक रूप में सफल नहीं होता। इस प्रकार व्यक्ति की यह असफलता समाज की असफलता बन जाती है। समाज की असफलता से राष्ट्र की आर्थिक प्रगति व समृद्धि को धक्का लगता है। राष्ट्र धन के अभाव से ग्रसित हो जाता और धनाभाव से प्रत्येक क्षेत्र मे पिछड़ जाता है।

मनु ने अपनी ऋषि दृष्टि से इसे भली-भांति समझ लिया था और उपयोगितानुसार उसकी व्यवस्था बना दी थी। कालान्तर में एक ऐसा समय आया कि यह व्यवस्था गड़बड़ा गयी और वर्तमानकाल मे तो इसका नाम ही शेष रह गया है। वर्ण व्यवस्था तो कहीं भी दिखाई नही देती। हां, जन्म-व्यवस्था अवश्य चमचमा रही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार तो महाभारत से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही स्थिति बिगड़ चली थी, किन्तु महाभारत युद्ध के उपरान्त से अब तक इन पाच सहस्र वर्षों मे तो सम्पूर्ण ढांचा ही भ्रष्ट हो गया है—नितान्त भ्रष्ट।

गुण–कर्मो का स्थान जन्म ने ले लिया हैं। जन्म-आत्माभि-मान पराकाष्ठा पर है। कहना यह चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था अब जन्म-व्यवस्था बनकर रह गई है। कुछ वर्गों ने इस विकृत अवस्था का अनुचित लाभ उठानें में कोई कसर उठा नहीं रखी और कुछ वर्गों की प्रगति के द्वार सहस्राब्दियों से इस प्रकार बन्द रहे हैं, जैसे वह मानव ही नही है। परिणाम इसका यह है कि जन्म-आत्माभिमानियों द्वारा सताये हुए वर्गों को अब कुछ बोलने का अवसर मिला है, तो वह उसी प्रकार पुकार उठे हैं, जैसे फन छूटने पर सांप फुफ्कार उठता है। कुछ वर्ष पहले उत्तर प्रदेश विधानसभा में मनुस्मृति के पृष्ठ फाडे गये। उसके कुछ दिन पश्चात् मनुस्मृति और तुलसीकृत रामचरितमानस को जलाया। किन्तु मनुस्मृति को ध्यान पूर्वक पढ़ना अलग बात है और किसी सुनी सुनाई बात पर अथवा अधूरी जानकारी से भड़क उठना अलग बात। आगे हम मनु के विचारों को प्रस्तुत करते हैं। अपनी ओर से आवश्यक टिप्पणी ही करेंगे और हम यह चाहेंगे कि जन्म-आत्माभि-मानी उच्च वर्गों के लोग और पिछड़े वर्गों के शूद्र कहाये जाने वाले सभी ठण्डे

वर्ण जन्म से......

मन और मस्तिष्क से विचार कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। मनु का विधान इस प्रकार है—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ।। अध्याय १-११

लोकों अर्थात् मनुष्यों की उन्नति के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इस प्रकार उत्पन्न किये गये हैं, जैसे मानव के शरीर में मुख, बाहू, उरू और पाद बनाये हैं। इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि जैसे शरीर की गतिविधियों के सही प्रकार संचालन के लिये मुंह, हाथ, जंघा, पांव होने आवश्यक हैं। इसी प्रकार मानव समाज का कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए भी चार प्रकार के मानव परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं। ब्राह्मण अर्थात् विद्या-शिक्षा अनुसन्धान कार्य करने तथा न्याय व्यवस्था देने वाले, क्षत्रिय अर्थात् प्रबन्ध-व्यवस्था तथा रक्षा करने वाले, वैश्य अर्थात् उत्पादन-व्यापार आदि के द्वारा सम्पत्ति अर्जित कर समाज की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाले तथा उपयुक्त सब प्रकार की योग्यताओं से रहित शूद्र अर्थात् जो सेवा तथा शारीरिक श्रमों के द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करें और इस प्रकार अपने लिए जीविका भी प्राप्त कर लें। महर्षि मनु इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

अध्ययनं अध्यापनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। अध्याय १-८८

अध्ययन करें और अध्यापन करें, यज्ञ करें और यज्ञ करायें। दान करें और दान लें—यह छः कर्म ब्राह्मण के हैं।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।। अध्याय १-८९

प्रजा की रक्षा, दान करना, यज्ञ करना, अध्ययन और विषय वासनाओं में न फसना—यह पांच क्षत्रियों के कर्म हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।। अध्याय १-९०

पशुओं का पोषण, दान करना, यज्ञ करना, अध्ययन, व्यापार, लेने-देने और कृषि यह सात वैश्यों के कर्म हैं।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। अध्याय १-९१

प्रभु ने शूद्र का एक ही कर्म बताया है—इन वर्णों की निन्दा रहित सेवा करना अर्थात् जिस व्यक्ति में उपर्युक्त तीनों वर्णों में से किसी की भी योग्यता न हो, वह इन वर्णों की सेवा द्वारा अपनी जीविका सम्पादन कर ले। परन्तु किसी के लिए निन्दित कर्म करके जीविका सम्पादन न करे। केवल किसी वर्ग विशेष में जन्म लेने के कारण ही कोई सम्मान अथवा घृणा का पात्र नहीं होता, यह अगले श्लोक में पढ़िये—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ।।

ब्राह्मणों का बड़प्पन ज्ञान से होता है और क्षत्रियों का पराक्रम से। वैश्यों का धन-धान्य की समृद्धि से और शूद्रों का जन्म से। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि आवश्यक गुणों को प्राप्त हुए बिना कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य धर्म के बड़प्पन को प्राप्त नहीं होता। केवल जन्म के कारण यदि कोई बड़प्पन मानता है तो वह तो उसे शूद्रत्व का ही प्राप्त हो सकता है द्विज वर्णों का नहीं। ठीक उसी प्रकार—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।। अध्याय २-१५७

जैसे लकड़ी का बना हुआ हाथी—नाम का ही हाथी है। हाथी से लिया जाने वाला कोई काम उससे नहीं लिया जा सकता जैसे चमड़े का मृग, अर्थात् मरे हुए मृग के चर्म को लेकर और उसमें भूसा आदि भरकर बनाया हुआ मृग—नाम मात्र को ही मृग होता है किन्तु उसमें मृग की आकृति, रंग और चर्म को छोड़कर और कोई अन्य कोई बात तो क्या? जीवन तक भी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार बिना पढ़ा ब्राह्मण का पुत्र भी नाम मात्र को ही ब्राह्मण है, किन्तु वास्तव में तो उसका ब्राह्मणत्व से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणत्व विद्या और ज्ञान में निहित है—जन्म से नहीं।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। अध्याय २-१६८

जो व्यक्ति द्विज अर्थात् ब्राह्मण होकर भी वेद को छोड़कर अन्यत्र श्रम करता है अर्थात वेद-विद्या के पढ़ने और पढ़ाने में श्रम न करके अपना समय अन्य कार्यों में लगाता है, वह जीवित रहते ही शीघ्र वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त होता है। जब अपने विद्या और ज्ञान के कार्यों को छोड़ देगा, तब स्वयं तो अविद्या में फंसकर शूद्रत्व को प्राप्त हो ही जायेगा—आगे चलने वाली वंश-परम्परा के लोग भी विद्या क्षेत्र से दूर हो जाने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त होते रहेंगे। इससे आगे तो महर्षि मनु ने वर्ण-परिवर्तन के विषय में यहाँ तक कहा है कि—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।। अध्याय ९-३३५

स्वच्छ रहने वाला, उत्तम परिश्रमी, मधुर भाषी, अहंकार रहित तथा नित्य ब्राह्मणादि के आश्रम में रहने वाला (शूद्र) उच्च जाति को प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणादि सवर्ण जन के सम्पर्क में रहने से वर्णों के गुण-कर्मों को धारण कर लेने पर शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों में से किसी एक वर्ण का अपने प्राप्त गुण-कर्मों के अनुसार बन जाता है। आगे मनुजी कहते हैं—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। १०-६५।।

शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण शूद्रता को वैसे ही विद्या आदि प्राप्ति के द्वारा क्षत्रिय व वैश्य भी ब्राह्मणत्व को और सद्गुणों तथा उच्च वर्णों के कर्त्तव्य-कर्मों को छोड़कर शूद्रत्व को प्राप्त होते हैं।

मनुस्मृति के इतने उद्धरणों को देने के पश्चात् अब किसी अन्य टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। यह उद्धरण इस बात की प्रबल साक्षी है कि महर्षि मनु पर किसी को भी किसी वंश विशेष में जन्म धारण कर लेने से सम्मान का पात्र बताने का लांछन मिथ्या है वर्तमान समय की जन्म-जाति प्रथा मनु की मान्यता के विरुद्ध है। तथा वास्तव में यह वर्ण-व्यवस्था नहीं है। वर्ण-व्यवस्था तो वरण किये जाने की ही व्यवस्था है। जन्म से गले पड़ने वाली तो जन्म-व्यवस्था ही कही जा सकती है, वर्ण-व्यवस्था नहीं।

(क्रमश)

"लुधियाना में आर्य युवक सभा की गतिविधियां"

पारिवारिक सत्संग

१. ३० नवम्बर को श्री रमेश जी अग्रवाल के निवास स्थान रेलवे कालोनी में उनके जन्म दिवस के उपलक्ष्य में पारिवारिक सत्संग का आयोजन किया गया। प० राजेश्वर शास्त्री, पुरोहित आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना ने यज्ञ सम्पन्न कराया एवं प्रवचन दिया।

२. ५ दिसम्बर, ९० को जिला लुधियाना के पुलिस अधीक्षक श्री सिद्धार्थ चट्टोपाध्याय के निवास स्थान पर उनके सुपुत्र आयुष्मान् सिद्धान्त चट्टोपाध्याय के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में पारिवारिक सत्संग किया गया, जिसमें यज्ञ के उपरान्त श्रीमती सुधा जी शास्त्री ने बधाई गीत प्रस्तुत किया। आर्य युवक सभा पंजाब के प्रधान श्री रोशन लाल आर्य ने सभा की ओर से श्री चट्टोपाध्याय जी को महर्षि दयानन्द जी का फ्रेम किया हुआ चित्र भेंट किया। श्री रोशन लाल शर्मा ने यज्ञ के महत्व पर प्रकाश डाला।

३. १० दिसम्बर, ९० सोमवार को श्री आत्मप्रकाश जी के निवास स्थान पर उनकी सुपुत्री आयुष्मती रचना के विवाह के उपलक्ष्य में ३ बजे से ५ बजे तक पारिवारिक सत्संग का आयोजन किया गया। प० राजेश्वर शास्त्री ने यज्ञ के उपरान्त एक भजन रखा। श्री रोशनलाल आर्य प्रधान युवक सभा पंजाब ने वेद मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा कि हमें मानव चोला मिला है हमें परमात्मा को याद करना चाहिए। ईश्वर सर्वव्यापक है तथा हमारे कर्मों के अनुसार हमें फल देता है। इसलिए हमें अच्छे कार्यों एवं परोपकार के कार्यों में अपने जीवन को लगाना चाहिए। उन्होंने कहा कि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए महिलाओं को अपनी भूमिका निभानी चाहिए।

४. १४ दिसम्बर को श्री संजय मल्होत्रा के निवास स्थान है बोवाल में उनके विवाह के उपलक्ष्य में सत्संग का आयोजन किया गया, जिसमें यज्ञ एवं प्रवचन हुआ।]

विघटनकारी व साम्प्रदायिक तत्वों को सख्ती से कुचलने की मांग

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

नई दिल्ली—दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा के तत्वावधान मे श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय गौतम नगर मे आयोजित आर्य सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने विघटनकारी तत्वो की बढती गतिविधियों व साम्प्रदायिक दगो पर गहरी चिन्ता प्रकट करते हुए केन्द्र सरकार से इन्हें सख्ती से कुचलने की माग की। स्वामीजी ने आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए इसे पुन. गति प्रदान करने का आह्वान किया। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री सच्चिदानन्द शास्त्री ने २३ से २६ दिसम्बर तक आयोजित आर्य सम्मेलन के उद्देश्यो का उल्लेख किया। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने आर्यसमाज को अधिक गतिशील बनाने के लिए दो ठोस सुझाव प्रस्तुत किए। आप ने हर आर्यसमाज मे प्रात: ६ बजे से रात्रि ६ बजे तक कार्यालय खोलने व अवकाश प्राप्त आर्य सज्जनों को आर्यसमाज के लिए अपना जीवन समर्पित करने की प्रार्थना की। समस्त गुरुकुलो के उत्थान के लिए एक राष्ट्रीय स्तर पर समिति गठन करने का प्रस्ताव रखा। अध्यक्ष पद पर बोलते हुए स्वामी दीक्षानन्द जी ने युगद्रष्टा महर्षि दयानन्द के चिन्तन की वर्तमान युग में प्रासगिकता की तर्क सगत प्रस्तुत करते हुए उस पर चलने की, वेद मार्ग अपनाने की अपील।

सम्मेलन मे सर्वश्री डा० रामप्रसाद विद्यालकार, डा० धर्मपाल, यशपाल सुधांशु, पुरुषोत्तम शास्त्री, कृष्णलाल सिक्का, हरिदेव आचार्य आदि ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये।

नरेन्द्र अवस्थी
प्रचार मन्त्री

आचार्य आर्य नरेश द्वारा वेद प्रचार

राष्ट्र संस्कृति व युवाशक्ति के उत्थान हेतु उद्‌गीथ साधाना स्थली ओमवन हिमाचल के संस्थापक आचार्य आर्य नरेश द्वारा निम्न स्थानों पर प्रचार किया गया।

पिंजौर, चण्डीगढ, दिल्ली, फरीदाबाद आर्यसमाज सै० ४, मुरादाबाद, आर्यसमाज मण्डी बांस, आर्यसमाज बरेली, शाहजहांपुर जनपद ग्राम प्रचार, आर्य समाज बागरमऊ व जनपद उन्नाव के ग्रामों में, आर्यसमाज शिगारनगर तथा आदर्शनगर लखनऊ, आर्यसमाज स्वरूपनगर, पारिवारिक सत्सग, आर्यसमाज विद्यालय, आर्यपुर-प्रयाग चौक आर्य समाज, आर्य समाज कृष्णनगर, काशी, आर्य समाज ग्राम बसोला गाजीपुर, ग्रामप्रचार जनपद गोरखपुर, गोण्डा इकौना, गिलौला आदि।

इस यात्रा मे जातिगत आरक्षण को हटा गरीबी से लगाने व भारतीय संस्कृति पर बल दिया विदेशी लुटेरो के भवनो को हटाया जाये।

श्री भैरव सिंह हमें छोड़ गए

आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता, वेदो के अनन्य उपासक एव इतिहास के मर्मज्ञ श्री भैरवसिंह आर्य ३० नवम्बर १६६० को भौतिक शरीर को त्याग, महा-प्रयाण कर गए।

आपका जन्म २० दिसम्बर १६०० को हुआ था। आर्यसमाज के संस्कार उनमे जन्म से ही थे। जो कि उन्हे अपने पितामह एव पिताश्री से विरासत मे मिले थे। आर्यसमाज के प्रत्येक कार्यक्रम मे सक्रिय भाग लेकर तन–मन-धनसे सफलबनाते रहे। समाज के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा एव निष्ठा थी। स्वामी दयानन्द के सदेश को जन-जन तक पहुचाने हेतु "आर्य साहित्य" सभी को आजीवन सुलभ कराते रहे।

आप अनेक वर्षों तक नगर आर्य समाज जोधपुर के अन्तरग सभासद् एव मन्त्री भी रहे। आर्यसमाज का इतिहास एव महर्षि दयानन्द सरस्वती से सम्बन्धित साहित्य सृजन मे "नीव का पत्थर" बनकर आपने अपने ज्ञान व सकलित दस्तावेजो से विद्वानो एवं जिज्ञासुओ को उपकृत किया।

ईश्वर उनकी आत्मा को सद्‌गति प्रदान करे। एवं परिवार जनो तथा इष्ट मित्रो को धैर्य एव सहनशीलता प्रदान करे। आर्य श्रेष्ठ को हमारी श्रद्धा-वनत श्रद्धांजलि।

ब्रजेश कुमार सिंह आर्य मन्त्री
आर्यसमाज, जोधपुर, रातानाडा



श्री मणि सान्याल उपमेयर कलकत्ता कार्पोरेशन दीप प्रज्वलित कर शिविर का उद्‌घाटन करते हुए

षष्ठ नि:शुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर

आर्य समाज कलकत्ता १६ विधान सरणी कलकत्ता-६ की युवा शाखा आर्य युवा जन द्वारा आयोजित षष्ठ नि.शुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर का उद्‌घाटन दिनाक २१-१०–६० को प्रात. १० बजे कलकत्ता कारपोरेशन के डिप्टी मेयर श्री मणि सान्याल ने किया और प्रसिद्ध उद्योगपति श्री फूलचन्द जी आर्य ने इस समारोह की अध्यक्षता की। प्रधान अतिथि के पद को सुशोभित किया समाज सेवी श्री पुस्कर लाल की केडिया ने। प्रसिद्ध सर्जन श्री अतुल नारायण जी, डा० पी० के० डाडावाला एव अन्य कुशल डाक्टरों की देख रेख में इस शिविर मे ६० नेत्र रोगियो के मोतिया बिन्द का आपरेशन किया गया।

आर्य युवा जन के इस कार्य की प्रशसा करते हुए और भी व्यापक कार्यक्रमो की युवको से अपेक्षा की गई। इस कार्यकम का संचालन आर्यसमाज कलकत्ता के उपमन्त्री श्री अशोक कुमार सिंह ने किया एव धन्यवाद ज्ञापन शिविर सचिव श्री सतीश जायसवाल ने किया।

सतीश जायसवाल
शिविर सचिव

आर्यसमाज का नेत्र चिकित्सा शिविर सम्पन्न

आर्यसमाज रोहतास नगर, शाहरा मे सुप्रसिद्ध ६० वर्षीय आर्योपदेशक प० आशानन्द भजनीक की सत्प्रेरणा से "साप्ताहिक नेत्र चिकित्सा शिविर" भारत के राष्ट्रपति के आनरेरी सर्जन डा० पी०एन० सेठ की देखरेख में लगाया गया।

शिविर मे मोतिया, पडवाल, फोला, नासूर आदि नेत्र रोगो के प्रसिद्ध डा० कुमारी सुनिता गोयल, डा० जीवन दास जेतली, श्री गोपाल कृष्ण ने लगभग २०० रोगियो की चिकित्सा व जाच की तथा ४२ लोगों के सफल आपरेशन किये गये। डा० शिव दयाल वर्मा ने जरूरतमन्दो को नि शुल्क चश्में दिये।

नेत्र रोगियो मे सभी सम्प्रदायो के लोग शामिल थे। रामायण भवन, मेहरा बिरादरी, व सस्थाओ ने रोगियों के नाश्ते, भोजन व आवास के प्रबन्ध मे सहयोग दिया।

आर्य नेता श्री रामनाथ सहगल की अध्यक्षता में "नेत्र चिकित्सा समापन शिविर" के उपलक्ष्य में यज्ञ, व विशाल लगर का भी आयोजन हुआ। प० आशानन्द भजनीक ने परोपकारी कार्यों के लिए आर्यसमाज को भारी राशि भेंट की।

ऋषि उवाच

मुक्ति' अर्थात सर्व दु:खो से छूटकर बन्ध रहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचारना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुन: संसार में आना।

"वेदों में सभी समस्याओं का निदान है"

(पृष्ठ १ का शेष)

इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कहा कि ज्ञान-विज्ञान का भण्डार वेद मानव जाति की अनमोल धरोहर है।

गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार) के कुलपति डा० कपिलदेव द्विवेदी ने कहा कि वेदों की ज्योति से सारी दुनिया का कल्याण सम्भव है। उन्होंने कहा कि यही कारण है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के दस नियमों में वेदों को पढ़ना पढ़ाना परम धर्म बताया।

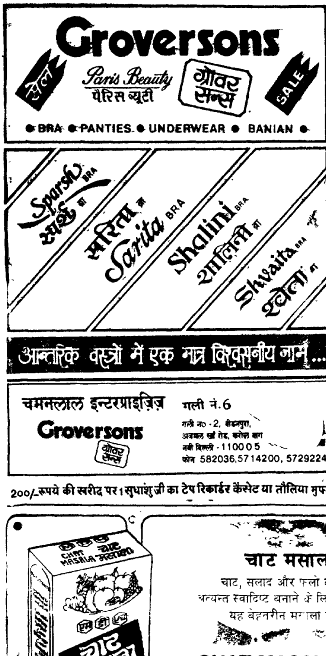
इस अवसर पर स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती, डा० गणेशदत्त, डा० सत्यप्रिय ने भी वेदों की प्रासंगिकता पर भाषण दिया। इस अवसर पर स्वामी सत्यपति ने चार दिवसीय योग प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया।

अमर शहीद पं० राम प्रसाद बिस्मिल बलिदान दिवस सम्पन्न

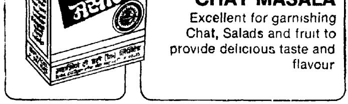
आर्य युवक सभा लुधियाना की ओर से प्रेम माडल हाईस्कूल गली न० १०, अमरपुरी लुधियाना में अमर शहीद प० राम प्रसाद बिस्मिल बलिदान दिवस मनाया गया।

श्रद्धांजलि समारोह श्री रोशनलाल आर्य, प्रधान आर्य युवक सभा पंजाब की अध्यक्षता में आरम्भ हुआ। समारोह को श्री सुखदर्शन मदहोश, चेयरमैन पंजाब पब्लिक कल्याण समिति लुधियाना, श्री वेदप्रकाश तिवारी, प० राजेश्वर शास्त्री पुरोहित आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना ने प० रामप्रसाद बिस्मिल के जीवन पर प्रकाश डालते हुए अपनी श्रद्धांजलि भेंट की। प्रेम माडल हाई स्कूल के बच्चों ने देशभक्ति के गीत प्रस्तुत किये।

श्री रोशन लाल आर्य ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के आह्वान पर अनेकों वीरों ने अपने प्राणों की आहुति देकर इस देश को आजाद कराया। युवा वर्ग को देश की आजादी, एकता और अखण्डता कायम रखने के लिए हर प्रकार का बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्हें राष्ट्र निर्माण में रचनात्मक भूमिका निभानी चाहिए।









R. N. No. 32387/77 [Post in N.D.P.S.O. on10,11-1-1991 'Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५९ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३९

१५ दिसम्बर को कराटे शिविरों का उद्घाटन समारोह सम्पन्न

आर्यसमाज, स्वामी श्रद्धानन्द बाजार लुधियाना में १५ दिसम्बर से २२ दिसबर तक एक सप्ताह का कराटे शिविर का आयोजन के उपलक्ष्य मे १५ दिसम्बर शनिवार को साय ३ ०० बजे से ५-०० बजे तक उद्घाटन समारोह का आयोजन किया गया। यज्ञ की अग्नि श्री सुरेन्द्र नाथ अरोड़ा, प्रबधक सैण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, माधोपुरी लुधियाना ने की। श्री आत्मप्रकाश जी एवं श्रीवीरेन्द्र ढींगरा सपरिवार यजमान बने तथा प० राजेश्वर शास्त्री, पुरोहित आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना यज्ञ के ब्रह्मा थे।

समारोह की अध्यक्षता आर्यसमाज, स्वामी श्रद्धानन्द बाजार लुधियाना के प्रधान श्री हरबस लाल सेठी ने की। स्वामी सुमना यति, श्री प्रकाश चन्द्र शास्त्री महमदगढ, श्री सुरेन्द्रनाथ अरोडा, श्री ज्ञान प्रकाश वर्मा ने युवकों को सम्बोधित करते हुए बुराईयो से बचने वैदिक धर्म का प्रचार, देश की रक्षा के लिए आवाहन किया। श्री राजेन्द्र महेकन्द्रू ने कराटे शिविर की रूपरेखा का विवरण दिया। मंच संचालन आर्य युवक सभा पजाब के प्रधान श्री रोशनलाल आर्य ने किया।

समारोह अध्यक्ष श्री सेठी ने यजमानों को महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का चित्र एव सत्यार्थ प्रकाश भेंट किया। श्री महेन्द्र प्रताप आर्य ने सम्माननीय अतिथियो स्वामी सुमना यति जी, श्री हरबस लाल सेठी जी को भी सम्मानित किया।

रामभक्तों को श्रद्धाञ्जलि

बिस्मिल स्मारक यज्ञशाला, लालडिग्गी में आयोजित श्रद्धाञ्जलि सभा में अयोध्या में शहीद रामभक्तो को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने हेतु जिला आर्योप प्रतिनिधि सभा गोरखपुर के अध्यक्ष प० द्विजराज शर्मा पुरोहित की अध्यक्षता मे एक हजार मन्त्र के द्वारा यज्ञानुष्ठान का आयोजन किया गया।

नगर विधायक माननीय श्री शिवप्रताप शुक्ल के द्वारा यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। तत्पश्चात् सभा को सम्बोधित करते हुए प० द्विजराज शर्मा ने अपने वक्तव्य में कहा कि आर्यसमाज अपने जन्म काल से ही प्रत्येक हिन्दू हित कार्यों का समर्थन किया है। हर सम्भव सकट से जूझने का अदम्य साहस का कार्य किया है। उदाहरणत: हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के इतिहास को स्मरण कराया। सभा मन्त्री श्री रमेश प्रसाद गुप्ता ने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए मन्दिर निर्माण कार्य में सभी सदस्यो द्वारा एक-एक ईंट अपने हाथो से लगाने का आश्वासन दिया। साथ ही नगर आर्यसमाज के २९ सदस्यों द्वारा उपरोक्त आन्दोलन में गिरफ्तारी में योगदान, अपने आत्मबल की आहुति देकर अपना परिचय प्रस्तुत किया।

अन्त में माननीय विधायक शिवप्रताप द्वारा सभी गिरफ्तार रामभक्तों का रोली व अक्षत का टीका लगाकर स्वागत किया। तत्पश्चात दो मिनट का मौन रखकर सभी श्रद्धालुओ ने रामभक्त शहीदो को श्रद्धाञ्जलि दी। शान्ति पाठ के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

रमेश प्रसाद गुप्त, मन्त्री



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४६८

सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष,
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ. प्र.)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

'प्रकर' '१०७३'

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५९)

साप्ताहिक ओ३म् आर्य सन्देश
कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वर्ष १४, अं० १० | रविवार, १० जनवरी, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४७ | दयानन्दाब्द १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

हमारी शिक्षा प्रणाली में उदात्त वैदिक आदर्शों तथा उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों का समावेश होना चाहिए

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महिला सम्मेलन सम्पन्न

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अन्तर्गत दिनाक २३-१२ ९० को अपराह्न २ बजे से ४ बजे तक महिला सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का आयोजन प्रान्तीय आर्य महिला सभा, दिल्ली ने किया। आर्यजगत की विख्यात विदुषी श्रीमती प्रभात शोभा जी पण्डित ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की एव सरला महत्ता ने इसका अत्यन्त कौशलपूर्ण सयोजन किया। इस सम्मेलन मे देश-विदेश से पधारी आर्य महिलाओ ने भाग लिया एव इसे विचार दान देकर सफल बनाया।

सर्वप्रथम आर्य कन्या गुरुकुल न्यू राजेन्द नगर की छात्राओ द्वारा वेदगायन एवं पाणिनि कन्या विद्यालय-वाराणसी की कन्याओ द्वारा स्वागत गान प्रस्तुत किया गया। इसके अनन्तर डा० उषा जी शास्त्री, डा० मनीषामलहोत्रा दिल्ली एव श्रीमती शिवराजवती आर्या (बम्बई) ने सुमधुर सगीत द्वारा वातावरण मे आनन्द सरिता प्रवाहित की।

स्वागत भाषण श्रीमती शकुन्तला जी दीक्षित ने बडी ओजस्वी वाणी मे पढकर सुनाया और प्रकाशित प्रतिया वितरित की गई। सयोजिका (सरला जी महत्ता) ने आज के सम्मेलन का महत्व बताते हुए कि "आर्य सम्मेलनो के द्वारा जन जागृति, वैदिक प्रचार धारा को प्रचारित एव प्रसारित किया जाता है" अध्यक्षा जी से प्रार्थना की कि वे अध्यक्ष पद को सुशोभित करे। वैदिक साहित्य के द्वारा अध्यक्षाजी का अभिनन्दन किया गया। अन्य देश देशान्तरो मे पधारी मुख्य अतिथियो का वैदिक साहित्य द्वारा ससत्कार किया गया। मान्या अध्यक्षाजी ने आसन ग्रहण करने के अनन्तर सम्मेलन में पारित होने वाले प्रस्तावो के उद्देश्यो का विश्लेषण किया। जिनके विषय निम्नलिखित हैं।

१. हिन्दी व सस्कृत की शिक्षा अनिवार्य हो।

उक्त विषय पर श्रीमती प्रकाश जी आर्या ने प्रस्ताव रक्खा एव प्रतिपादित किया कि हमारी शिक्षा-प्रणाली मे उदात्त वैदिक आदर्शों तथा उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों का समावेश हो इसके लिए पाठ्यक्रम मे हिन्दी व सस्कृत की शिक्षा अनिवार्य घोषित की जानी चाहिए।

इस प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए पण्डिता प्रज्ञादेवी जी (आचार्या, पाणिनि सस्कृत विद्यालय, वाराणसी) ने कहा कि काशमीर से लेकर कन्याकुमारी तक सभी सस्कृत शब्दो का ही प्रयोग करते हैं। सस्कृत को निकालना ऐसा है जैसे शरीर से प्राण।

श्रीमती शकुन्तला जी आर्या ने न० २ प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

२. विषय—आतकवाद क्यो ?

आज भारतीय समाज आतकवाद की विभीषिका से ग्रस्त है, अत: उसके निराकरण हेतु आर्य महिलाओ को भी सलग्न होना चाहिए, जिस का समर्थन श्रीमती माण्डवीचन्द्रा जी एव सन्तोषकुमारी जी उ०प्र० ने किया।

३. नारी जागरण

आर्यसमाज एव इसके सस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने नारी जागरण की दिशा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। किन्तु आज स्वाधीन भारत मे नारी को सविधान मे पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त होने पर भी दहेज, मद्यपान एव अश्लील विज्ञापनो मे नारी-देह का भोडा प्रदर्शन आदि कुछ ऐसी समस्याये है जिनके प्रति आर्य महिलाओ की जागृति एव सक्रियता अनिवार्य है इसी दृष्टि से प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत प्रमुख रूप से तीन समस्याओ पर विचार किया गया—

(क) दहेज उन्मूलन (ख) मद्यनिषेध (ग) अश्लील विज्ञापनो पर प्रतिबन्ध

श्रीमती प्रेमशील जी ने उक्त प्रस्ताव पढकर सुनाया तथा उक्त समस्याओ की ओर आर्य महिलाओ का ध्यान आकृष्ट किया। प्रमुख वक्ता डा० शशिप्रभा जी कुमार (प्रवक्ता मैत्रेयी कालेज, दिल्ली) ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया एव उद्बोधक भाषण मे कहा हमे अपने अन्दर निहित शक्ति को पहचानना व जाग्रत करना है, तभी दहेज, मद्यपान तथा नारी देह के अश्लील विज्ञापन रूपी दानवो का सहार हो सकेगा। आज की शिक्षित प्रबुद्ध नारी के दायित्व दोहरे है उसे अपनी अस्मिता की रक्षा करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास तो करना ही है—साथ ही समाज व राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यो को ध्यान मे रखते हुए सस्कारी सन्तति एव मर्यादित परम्पराओ का निर्माण भी करना है—तभी सच्चा नारी जागरण सम्भव होगा।

श्रीमती चन्द्रावती शर्मा हिमाचल प्रदेश ने मद्यपान के दोषो की चर्चा करते हुए बताया कि आर्य महिलाओ को मद्य-निषेध के लिए व्यापक सक्रिय अभियान चलाने चाहिए।

श्रीमती मनोरमा रजन जी (लखनऊ) ने अश्लील विज्ञापनो पर रोक लगाने की माग करते हुए इस दिशा में नारी जागरण को आवश्यक बताया।

उक्त तीनो प्रस्ताव सर्वसम्पति से पारित किये गये एव अध्यक्षीय भाषण मे आर्य महिलाओ को उद्बोधित करते हुए अपने अतीत के गौरव का स्मरण कराया गया और भावी पीढियो के लिए प्रशस्त दायित्व छेडने का आवाहन किया गया।

(शेष पृष्ठ ७ पर)

वेद को सम्भाल कर रखिए

--डा० सुरेशचन्द्र वेदालंकार, आर्यसमाज गोरखपुर

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द वेदो के परमभक्त थे। आर्यसमाज की स्थापना और विकास वेदो के आधार पर किया था और उन्होंने युग के विपरीत "वेद की ओर लौटो" का नाद किया था। वे केवल भारत वर्ष मे ही नही, सम्पूर्ण ससार मे वेदो का मेघ-मन्द्र निनाद सुनाना चाहते थे। सचमुच वेद के विषय मे उनका मत था कि "वेद आर्य सभ्यता और वैदिक सस्कृति का मूलाधारा है। वेद आर्य ज्ञान-विज्ञान का उज्जवल धाम है। वेद सम्पूर्ण आर्य वाङ्मय का प्राण है। वह भक्ति रस की मन्दाकिनी और उच्च गम्भीर विचारो का सुखद आवास है। वेद मे ओज, तेज और वर्चस्व की राशि है। वेद ब्रह्मगवि का भारत और रणाड्य का विहाण है। वेद मे दिग्दिगन्त को पावन करने वाले उदात्त उपदेश है। वेद मे मानवता विद्रोहियो मे हडकम्प मचाने वाले अनुपम आदेश है। वेद अत्याचारियो और अनाचारियो को ध्वस्त विध्वस करने वाला ब्रह्मास्त्र है। वेद मानव के समस्त उच्च गुणो की क्रीडास्थली है। वेद में आधिभौतिक उन्नति की चरम सीमा है, आधिदैविक अभ्युदय की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक उन्नयन का वृत्तान्त रूप है।

वेद को आर्यसमाज ईश्वर की विमल वाणी मानता है। विश्व के उद्धार के लिए ही पारिजात से भी अधिक सुगन्धमय और स्फुटिक मणि से भी अधिक उज्जवल है। वेद के किसी मन्त्र मे कुरुक्षेत्र का भैरवत्व है, किसी में वीरो को भयकर हुंकार है, किसी मे रणचण्डी का प्रचण्ड अट्टहास है, समर भूमिका विकट चमत्कार है, किसी मे लक्ष्मी का मधुर हास्य है, किसी मे वृन्दावन का प्रेम प्रवाह है, किसी मे दिव्य शक्ति का नवल उत्साह है और किसी में ब्रह्मद्रव का ललित विलास है। श्रुति भगवती जिसे छू देती है वह अमृत से भी अधिक प्रिय बन जाता है, जिसे देख लेती है वह चन्द्रिका से भी अधिक निर्मल हो जाता है और जिस पर अपने पादपद्म रख देती है वह पद्मराग मणि से भी अधिक मूल्यवान् हो रहता है।"

इसीलिए महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के दस नियमो मे तीसरा रखा है "वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है, वेद का पढना पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

वेद मे साम्राज्य, स्वराज्य, राज्य आदि शब्द आते है परन्तु उसकी सबसे बडी देन 'राष्ट्र' शब्द है। राष्ट्र शब्द मे देश, राज्य, जाति और सस्कृति का समावेश है। नागरिक शास्त्र मे राष्ट्र की परिभाषा के अन्तर्गत धर्म, जाति, भौगोलिक सीमा, इतिहास आदि की गणना राष्ट्र शब्द मे होती है। वेद मे राष्ट्र के लिए बढना और सर्वस्व न्यौछावर करने का निर्देश दिया गया है। प्रार्थना की गई है—

ध्रुव ते राजा वरुणो ध्रुव देवो बृहस्पति।
ध्रुव त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्र धारयता ध्रुवम्॥
ऋ० १०-१७३ ५

इसका भाव है "वरुण राष्ट्र को अविचल करे बृहस्पति राष्ट्र को स्थिर करे, इन्द्र राष्ट्र को दृढ करे और अग्निदेव भी राष्ट्र को निश्चल रूप से धारण करे। वेद मे राष्ट्र के लिए जागृत रहने की उत्कण्ठा बतलाई गई है। वहा आया है—

वय राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता यजुर्वेद ९-२३

राष्ट्र मे राष्ट्र के लिए हम सदा सतर्क और जागृत रहे और राष्ट्र के लिये ही आगे बढे। वेद कहता है—

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे
तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय॥
ऋ० १-२९-१

हे (ब्रह्मणस्पत) ज्ञानपते (येन) जिस (अभीवर्तेन मणिना) विजयी मणि से (इन्द्र) शत्रु नाशक वीर (अभिवावृधे) बढा था। (तेन) उससे (अस्मात्) हम सबको (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिए (अभिवर्धय) तू बढा।

इस मन्त्र मे विजयी विशेषण के साथ मणि शब्द का प्रयोग हुआ है। मणि रत्नवाचक शब्द है ब्राह्मण या ज्ञानी के पास ज्ञान, क्षत्रिय वीर के पास शौर्य, वैश्य के पास धन तथा शूद्रो के पास कारीगरी के रत्न होते हैं। इस रत्न से प्रत्येक पुरुष अपने कर्म से राष्ट्र का अगुआ होता है। ज्ञानी ज्ञान के द्वारा, क्षत्रिय, वीरता, वैश्य धन और शूद्र अपनी कारीगरी से राष्ट्र को उन्नत करे।

यजुर्वेद के २२-२२ मन्त्र मे कहा है —

आ राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।

अर्थात् हमारे राष्ट्र मे क्षत्रिय वीर, धनुर्धर, लक्ष्यवेधी और महारथी हो। राष्ट्र की रक्षा का उपाय बताते हुए वेद कहता है—

ब्रह्मचर्येणतपसा राजा राष्ट्र विरक्षति। अथर्व० ५ १-७

ब्रह्मचर्य रूपी तप के द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। यदि किसी राष्ट्र मे ब्रह्मचर्य का महत्व समाप्त हो जाएगा तो भोग विलास मे फसा राष्ट्र समाप्त हो जाएगा। अभी १९३९ ई० की लडाई मे भोग विलास ने फ्रांस का एक दिन में पतन करवा दिया। युद्ध के लिए शत्रु से लडने के लिए आर्य तन मन धन से राष्ट्र रक्षा करते थे और अपने प्राण भी समर्पित करने को तैयार रहते थे। वेद कहता है—

अभिवृत्य सपत्नान् अभियानो अरातय:।
अभिपृतन्यत तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ अथर्व० १-२९-२

हे वीर! (सपत्नान्) प्रतिपक्षियो को तथा (या न.) जो हमारे (अरातय) शत्रु हैं उनको (अभिवृत्य) जीतकर (पृतन्यत:) सेना के साथ चढाई करने वालो को तथा जो हम सबसे (दुरस्यति) बुरा व्यवहार करता है, उसको (अभिनिष्ठ) दबाकर रख।

वीर पुरुषो को उचित है कि वे प्रति पक्षियो शत्रुओ, सेना से आक्रमण करने वाला तथा अनुदार पुरुषो को वीरता के साथ प्रतिबन्ध करे और उनको बुरा व्यवहार न करने दें।

अहमस्मि सहमान उत्तरोनाम भूम्याम्।
अभिषाऽस्मि विश्वाषाडाशामाशा विषासहि:॥
अथर्व० वेद १२-१-५४

मैं साहसी हू, वीर हू, भूमि भर मे उत्कृष्ट हू। अपने राष्ट्र के दुश्मनो का मुकाबला पडने पर छक्का छुडाने वाला हू। सब शत्रुओ का सामना करने वालो को परास्त करने की मुझमें क्षमता है। जिस दिशा मे कदम बढाऊगा। दुष्टो को पकड पकडकर मसल डालूगा।

यद्वदामि मधुमत् तद् वदामि।
यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमात्।
अवान्यान् हन्मि दोधत:॥ अथर्व० १२-१-५८

जिससे अपनी मातृभूमि की बात करता हू मीठी बात करता हू, जिसकी ओर दृष्टि करता हू वह मुझसे स्नेह करने लगता है। एक ओर मैं ज्योतिपूर्ण, वर्चस्व शाली, और बुद्धि युक्त होकर मातृभूमि का दाहन करने वाले शत्रुओ का विनाश कर डालता है। वेद की रक्षा जनता को करनी चाहिए, वेद की रक्षा राष्ट्र के राजा, अधिकारी, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति को करनी चाहिए। वेद राजा, प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति मे प्रतिज्ञा कराता है। "यदि मैं प्रजा का द्रोह करू तो अपने जीवन, अपने पुण्यफल, अपनी सन्तान आदि सबसे वचित हो जाऊ।"

राजा या राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्री के लिए वेद कहता है—

राजा राष्ट्राना पेशोनदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रविश्वायु।
ऋ० ७-३४-११

अर्थात् राजा (नदीना राष्ट्राना) गमनशील राष्ट्रो को (पेश) रूप है। इसलिए (अस्मै) इसके पास विश्वायु सब प्रकार का (अनु ते क्षात्र) उत्तम क्षात्र तेज होवे। राजा ही राष्ट्रो की उन्नति करने के कारण राष्ट्रो को रूप देने वाला है। इसलिए उसके पास उत्तम तेज होना चाहिए। इन सब बातो के ज्ञान के लिए, राष्ट्रनिर्माण, राष्ट्र रक्षा और शत्रुओ के विनाश की प्रेरणा के कारण वेदो की रक्षा अत्यधिक आवश्यक हैं। (क्रमश:)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

वैदिक शासन व्यवस्था



वेदो मे शासन पद्धति का एक बहुत ही विकसित रूप प्राप्त होता है। राजा को पूर्णत. निरकुश नही माना गया। सभाओ व समितियो द्वारा राजा के ऊपर नियन्त्रण होता था। ये सभाए समितिया प्रजा द्वारा नियन्त्रित थी। प्रजा इनके अधीन थी। वैदिक साहित्य मे राज्य के लिए साम्राज्य शब्द का अनेक स्थानो पर प्रयोग हुआ है।

(ऋग्वेद १-२५-१०) वैदिक साहित्य का अध्ययन करने पर पता लगता है कि राजा का चुनाव होता था, सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु (अथर्व० ३ ४-१) हे राजन्! राष्ट्र की सभी दिशाओ मे रहने वाली प्रजाए राज्य करने के लिए तुम्हारा आवाहन करे, २- त्वा विशो वृणता राज्याय (अथर्व० ३-४-२) -- हे राजन्! सब प्रजाए राज्य करने के लिए तुम्हारा चुनाव करे, ३ सर्वा सगत्य वरीयस्ते अक्रन् (अथर्व० ३-४-७)—सारी प्रजाए मिलकर हे राजन् तुम्हारा चुनाव करें, ४- त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे (यजु० २७-३)—हे अग्नि जैसे तेजस्वी राजन्! राष्ट्र के ये सारे ब्राह्मण लोग तुम्हारा चुनाव कर रहे है। ५ ये धीवानो, रथकारा कर्मारा ये मनीषिण सूता ग्रामण्यश्च ये (अथर्व० ३-५-६-७)—हे राजन् राष्ट्र के जो धीवर लोग हैं, जो रथकार लोग है, जो लोहे का काम करने वाले कारीगर है, जो बुद्धि जीवी लोग है, जो रथ और गाडिया चलाने वाले लोग हैं और जो गावो के किसान और उनके मुखिया लोग है, वे सब तुम्हारे चुनाव के लिए अपना मत दे रहे हैं। वेद मे इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जहा राजा के चुनाव का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। वैदिक राज्य व्यवस्था प्रजातन्त्र पद्धति को मानती है। वशानुक्रम एकतन्त्र राजा की पद्धति को स्वीकार नही किया गया। यदि राजा वंश परम्परा में भी उत्तराधिकारी बनने योग्य है तो भी महासभा का अनुमोदन आवश्यक है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अमर ग्रथ सत्यार्थ प्रकाश म और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे राज्यधर्म व्यवस्था का विशद विवरण दिया है। यद्यपि यह विवरण सक्षिप्त है, परन्तु उन्होने कुछ ग्रथो—ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति, महाभारत, नीति का नाम गिनाया है तथा तदनुसार राज-काज चलाने की व्यवस्था दी है। इन ग्रन्थो का अध्ययन करने पर तो सम्पूर्ण राजतन्त्र का सुन्दर चित्र सामने आ जाता है।

राजा को राज्य कार्य मे सहायता देने के लिए दो सभाओ का विधान है—सभा और समिति। ये दोनो सभाए राज्य के लिए कानून और व्यवस्थाए बनाए गी। राजा को तदनुरूप ही शासन करना होगा। राजा मनमानी नही कर सकता। पथभ्रष्ट राजा को पदच्युत भी किया जा सकता है। राजा का कार्य वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन कराना भी है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे अनेक सविधानो का वर्णन मिलता है—साम्राज्य भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ट्य, महाराज्य, आधिपत्य आदि। इनका विस्तार से अध्ययन आवश्यक है। राजा के कर्त्तव्यो एव उत्तरदायित्वो का सम्यक विवेचन ऋग्वेद के वरुण और इन्द्र सूक्तो मे किया गया है। वरुण को आदर्श का राजा घरेलू नीतियो का आदर्श माना जा सकता है और इन्द्र को वैदेशिकनीतियो का। वेदो मे राज्य के विकास के लिए यज्ञादि धार्मिक कृत्यो का भी विधान है। राजसूय, वाजपेय, अश्वमेघ, सर्वमेघ आदि यज्ञो द्वारा राजा अपनी वीरता, त्याग व तपस्या का परिचय देता है। तभी वह राजा पद का अधिकारी बनता है। चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिए तो उसे और अधिक तेजस्विता का परिचय देना होता है।

वेदो मे सेनापति तथा सेनाओ के निर्माण चयन तथा उत्तरदायित्वो का भी उल्लेख मिलता है। युद्ध के लिए अस्त्रशस्त्रादि, विमान और पोत का भी उल्लेख है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त मे राष्ट्र की परिकल्पना तथा उसकी सुरक्षा एव सवर्धन का वर्णन मिलता है। समस्त विश्व का मानव समाज एकसूत्र मे बध कर रहे। इसे उच्च आदर्श माना गया है। यही इस शासन व्यवस्था की प्रासगिकता है।

मेरे आर्य समाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(१३ जनवरी ९१ के अक से आगे)

आर्यसमाज के प्रचार मे भजनोपदेशको का निर्विवाद योगदान रहा है। हमारी कुमार सभा मे भी सर्व श्री गनपतसिह, अभयसिह तथा जगदीशचन्द्र गुप्त नामक तीन छात्र अच्छे गायक थे। इन्होने प्रसिद्ध भजनोपदेशको के अनुकरण पर ही अपनी गायन एव उपदेशक कला का विकास किया था। जगदीशचन्द्र गुप्त तो कालेज मे मेरे सहपाठी ही थे और उनको प्राय आर्यसमाज के मच से सुन्दर शैली मे बोलने देखकर मुझे ईर्ष्या मिश्रित विस्मय भी होता था। काश मैं भी इस प्रकार बोल पाता। आगे चलकर जब यही जगदीश गुप्त कुछ वैयक्तिक कारणो से आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध तोड बैठे तो मैने अनुभव किया कि आर्यसमाज से सम्पर्क का टूट जाना कभी-कभी सामाजिक जीवन की इति श्री का कारण बन जाता है। श्री गनपतसिह को रेलवे मे खानपान व्यवस्था का ठेका मिल गया और उनका भी आर्यसमाज से सम्पर्क टूट गया। श्री अभयसिह राजस्थानी लोक गायको की मण्डली मे सम्मिलित होकर व्यावसायिक सगीतज्ञ बन गये। इस प्रकार यह किशोर भजनीक युगल भी आर्यसमाज से दूर चला गया।

आर्यकुमारसभा के अधिवेशनो को प्रौढवय के आर्य सभासदो का भी मार्गदर्शन और आशीर्वाद प्राप्त होता था। सर्व श्री टाकनाथरामजी, राधाकृष्ण जी तथा मास्टर रामनारायण सिह प्राय शनिवासरीय आय कुमार सभाओ मे आने और हमारा उत्साह वर्धन करने। मेरे एक भाषण से प्रसन्न होकर मास्टर रामनारायण सिह जी ने मुझे सवा रुपया पुरस्कार रूप म देने की घोषणा की।

इण्टरमीडियेट के मेरे पाठ्यक्रम मे प० सोहनलाल द्विवेदी का कुणाल काव्य लगा हुआ था। मैंने पुरस्कार रूप मे प्राप्त सवा रुपया का सदुपयोग इस पुस्तक को खरीदकर ही किया। आर्यकुमार सभा के तत्कालीन मन्त्री श्री जगदीश चन्द्र गुप्त ने इस पुस्तक पर एक वाक्य लिख दिया था।

यह पुस्तक आज भी मेरे पुस्तकालय मे विद्यमान है।

आर्यसमाज के कार्यक्रमो मे हमारी निष्ठा अविचलित, अनन्य तथा पराकोटि की थी। शायद ही कोई शनिवार रहा होगा, जिस दिन हम कुमारसभा के अधिवेशन मे अनुपस्थित रहे हो। सध्या और हवन स लेकर शान्तिपाठ तक के सम्पूर्ण कार्यक्रम में उपस्थित रहना हमारा अनिवार्य नियम था। कालान्तर मे अपने साथियो सर्व श्री दाऊलाल टाक, चादमल, वसन्तलाल और शिवप्रसाद के साथ हम लोग आर्यसमाज गुलाब सागर के सदस्य बने और वहा के कार्य को अपने हाथो मे लिया।

आर्यकुमार सभा के सम्बन्ध मे कुछ अन्य बाते लिखना भी आवश्यक है। उन दिनो देश विदेश की आर्यकुमार सभाये भारत वर्षीय आर्यकुमार परिषद् के सगठन से सम्बन्ध थी चौधरी चरणसिह, प० अलगूरायशास्त्री तथा प० धर्मदेव विद्यावाचस्पति जैसे मूर्धन्य नेता और विद्वान् कुमार परिषद के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते थे। यह परिषद धार्मिक परीक्षाओ का भी सचालन करती थी जिनमे प्रति वर्ष विभिन्न स्थानो से सहस्रो छात्र-छात्राये सम्मिलित होते थे। अजमेर के डा० सूर्यदेव शर्मा परीक्षा मन्त्री थे। मैंने नगर आर्यसमाज के मन्त्री श्री राधाकृष्ण जी को प्रेरणा दी कि वे इन परीक्षाओ का केन्द्र गुलाबसागर आर्य समाज मे स्थापित करे तथा स्वय परीक्षा सचालक का कार्य सभाले। मेरा विचार तो पहले ही साल में सर्वोच्च परीक्षा सिद्धान्तशास्त्री मे ही प्रविष्ट होने का था, किन्तु पूरी तैयारी न होने के कारण मैने इन चारो धार्मिक परीक्षाओ को क्रमश ही उत्तीर्ण किया। (क्रमश)

स्वामी समर्पण शोध सस्थान गुरुकुल प्रभात आश्रम मेरठ मे इस विषय पर एक राष्ट्रीय सगोष्ठी १३ जनवरी १९९० को हुई। इस गोष्ठी मे अनेक विश्वविद्यालयो से पधारे विद्वानो ने अपने शोध-पत्र पढे। पूज्य श्री स्वामी विवेकानन्द जी महाराज ने समय-समय पर ऐसी गोष्ठियो की परम्परा डालकर सुधी विद्वानो मे वैदिक विचार धाराओ का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति को जन्म देकर एक सराहनीय कार्य किया है। निदेशक डा० निरूपण विद्यालकार प्रतिवर्ष यह आयोजन करते है। हमे अन्य सस्थानो मे भी ऐसी राष्ट्रीय गोष्ठिया आयोजित करनी चाहिए।

—डा० धर्मपाल

वर्ण जन्म से नहीं, गुण-कर्म से

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक,

वर्ण-व्यवस्था और वेद

यजुर्वेद के ३१वे अध्याय मे वर्ण-व्यवस्था की रूपरेखा का वर्णन है। यजुर्वेद "कर्म-काण्ड" का वेद है। आजकल "कर्म-काण्ड" का अर्थ केवल यज्ञ-मात्र आदि ही अधिक प्रचलित है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है "कर्म विभाग"। यजुर्वेद का एक अर्थ कर्म भी है इस प्रकार यजुर्वेद कर्म का वेद है। यह भी कहा जा सकता है कि वेद के कर्म-व्यवस्था विभाग का नाम ही यजुर्वेद है। वर्ण-व्यवस्था क्योंकि श्रम-व्यवस्था का ही दूसरा नाम है और श्रम-व्यवस्था की दृष्टि से कर्मानुसार समाज का वर्गीकरण ही कर्म-व्यवस्था है अत कर्मकाण्ड (कर्म-विभाजन) होने के कारण इसे यजुर्वेद मे आना चाहिए था। एतदर्थमेव जैसा कि हमने लिखा है, यजुर्वेद के ३१वे अध्याय मे इसकी रूपरेखा दी गई है और समझने मे भ्रान्ति न रह जाय, इस कारण से उसे उपमा देकर प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्याय का ऋषि नारायण है अर्थात् नरो का अयन सम्वहन, धारण करने वाला। अध्याय का दृष्टिकोण भी नरो को अयन, सम्वहन, धारण करने वाले परमात्मा तथा सामाजिक विषय का है। वर्णव्यवस्था की रूपरेखा जिन मन्त्रो मे दी गई है, उनका देवता है 'पुरुष'। पुरुष का अर्थ है पूर्ण तथा पुरुषार्थमय। परमात्मा पूर्ण है और समस्त पुरुषार्थो से युक्त है। समाज भी अपने वर्णीकरण मे पूर्ण और अपने लियेआवश्यक समस्त पुरुषार्थों से युक्त होता है। इस प्रकार उक्त दो मन्त्रो को समाज के सभी अगो, समस्त नरो और (नर-समूह) परिवारो को अयन, सम्वहन, धारण करने की दृष्टि और समाज के वहन करने के विषयो (देवताओ) को दृष्टिगत रखकर ही समझ जाना चाहिए। जो लोग मन्त्र के ऋषि और देवता का विचार किये बिना वेद-मन्त्रो के अर्थ करते हैं, वह उनसे भले ही कुछ अच्छे विचारो को ले ले, किन्तु मन्त्र का वास्तविक उद्देश्य—जो उसके ऋषि और देवता को समझकर प्रकट हो सकता है—अन्य प्रकार सम्भव नही।

मन्त्र इस प्रकार है—

यत्पुरुषं व्यदध कतिधा व्यकल्पयन्।

मुख किमस्यासीत्किं बाहू किमुरु पादा उच्येते ।। यजु० ३१-१०

अर्थ—(यत्) जो (पुरुषम्) पुरुष को अर्थात् पूर्ण को और पुरुषार्थ-युक्त को (वि-अदधु) विविध प्रकार (कतिधा) कितने (ही) प्रकार (वि-अकल्पयन्) विशेष कर कहते है। (मुखम्) मुह (किम्-अस्य आसीत्) क्या इसका था (किम् बाहू) क्या भुजा (किम्-उरु) क्या नाभि से जघाओ तक का भाग और क्या (पादा उच्येते) पैर कहे जाते हैं?

अभिप्राय यह है कि यदि मानव समाज का उसकी अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, उसके अपने भीतर के सामर्थ्य के अनुसार, जो उसकी अपनी आवश्यकताओ के लिए उसमे पूर्ण है—वर्गीकरण किया जाय तो जिस प्रकार शरीर मे मुख, हाथ, जघाये और पैर अपने-अपने कर्त्तव्यो की पूर्ति करके इसे पुरुष अर्थात् पुरुषार्थयुक्त कहलाने का अधिकारी बनाये रखते हैं। इसी प्रकार इस समाज मे वह कौन तत्व अर्थात कौन-कौन वर्ग हैं, जो इसे पुरुष कहलाने का अधिकारी सिद्ध कर सके। इसका उत्तर इससे आगे के मन्त्र मे इस प्रकार दिया, गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत:।

उरु तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्या शूद्रो अजायत ।। यजु० ३१-११

अर्थ—(ब्राह्मण:) ब्राह्मण (अस्य) इसका (मुखम् आसीत्) मुह (बनाया) था। (बाहू) भुजाये (राजन्य) राजपुत्र, क्षत्रिय (कृत) की गई बनाई गई। (उरु) नाभि से जघा पर्यन्त भाग (तत्) वह (अस्य) इसका (यत्) जो (वैश्य) वैश्य (है)। (पद्भ्याम्) पैरो (के स्थान) के लिए (शूद्र) शूद्र (अजायत) जन्मा है।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर की शक्तियां शरीर के ही विविध अगो मुख आदि के रूप मे अपने-अपने कर्त्तव्यो को पूरा करके मानव-जीवन का पूर्ण अयन, सम्वहन, धारण कर लेती है। ठीक इसी प्रकार समाज मे भी पूरी शक्तियाँ विद्यमान है, जो सम्पूर्ण समाज का वहन ठीक प्रकार कर सकती है, यदि उनका वर्गीकरण ठीक प्रकार से हो। जैसे शरीर मे मुख-ज्ञानादि कार्य करने [?]ला है, इसी प्रकार समाज मे भी विद्या विज्ञान के कार्यो को सम्पादन करने वाले लोग अर्थात् ब्राह्मण पैदा कर दिये गये है। जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिए शरीर में भुजायें उत्पन्न की गई है, उसी प्रकार समाज की रक्षा-व्यवस्था के लिए समाज मे पराक्रमी लोग क्षत्रिय उत्पन्न कर दिये गये है जैसे खाये हुए भोजन को सभाल, पचा और रस बनाकर पेट सम्पूर्ण शरीर को बाट देता है और जघाये शरीर को गति मे योग देती है, इसी प्रकार अर्थ सम्पादन कर समस्त समाज मे दान व करो के द्वारा बाट देने वाला और देश-विदेश जाकर व्यापार द्वारा राष्ट्र की समृद्धि में लगा रहने वाला वर्ग अर्थात् वैश्य-वर्ग उत्पादन किया गया है। इन तीनो वर्गों के कार्यो मे सेवा व परिश्रम द्वारा योग-दान करने वाला शूद्र भी उत्पन्न हुआ हैं, जैसे पैर सम्पूर्ण शरीर का भार वहन कर उसे सब स्थानो पर लिये फिरते है।

सत्यासत्य के निश्चय के लिये यदि निष्पक्षता से पूर्वाग्रह रहित होकर विचार किया जाय तो मुख, हस्त, उरू, पाद आदि उदाहरण ही यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि प्रधानता गुण कर्मों की है, जन्म की नही। यदि वास्तविक रूप मे यह व्यवस्था वर्तमान काल मे भी लागू हो जाय तो कोई राष्ट्रीय और सामाजिक समस्या ऐसी नही है, जो बिना किसी उलझन के स्वाभाविक रूप से हल होती न चली जाय।

वर्ण-व्यवस्था और महाभारत पुराण व धर्म-सूत्र

अभागे भारत मे जन्म-जातीयता ने अपनी जडे इतनी गहरी जमा ली हैं कि इससे उत्पन्न भेदभाव तथा छुआ-छूत के कारण एक सहस्र वर्ष पराधीनता मे विदेशियो द्वारा पादाक्रान्त रहकर भी भारतवासी नेत्र खोलने को तैयार नही। निकृष्ट से निकृष्ट कर्म करके भी कुछ लोग तो अपनी उच्चता का ढोल पीटने मे गौरव की न केवल अनुभूति ही अपितु अभि-व्यक्ति भी करते हैं। इन लोगो को इतना तक भी पता नही कि इनके अपने धर्म-शास्त्र इस विषय मे क्या कहते है?

इस लेख मे हम कतिपय धर्म-शास्त्रो की सम्मति उद्धृत कर रहे हैं। पाठकगण देखेंगे कि शास्त्रो के नीचे दिये वचनो से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वर्ण का सम्बन्ध जन्म से नही अपितु गुण-कर्म से है। साथ ही यह भी कि गुण-कर्मो के परिवर्तित हो जाने से वर्ण भी परिवर्तित हो जाते हैं। इस विषय मे पहले भारत के महान इतिहास ग्रन्थ महाभारत से उद्धरण प्रस्तुत है। पाठकगण ध्यानपूर्वक पढे।

इन्द्रो ब्राह्मण पुत्र क्षत्रिया कर्मस्य कारणम्।

महाभारत शान्ति पर्व । ४३। ११ ।।

अर्थ—इन्द्र ब्राह्मण का पुत्र था, कर्म द्वारा क्षत्रिय हो गया। अब पुराणों के प्रमाण देखिये—

श्वपाकी गर्भ सम्भूत पिता व्यासस्य पार्थिव।

तपसा ब्राह्मणो जात: सस्कारतेन कारणम् ।।

भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व ।। ४३-२७ ।।

अर्थ—चाण्डाली के गर्भ से उत्पन्न व्यास जी के पिता क्षत्रिय थे। तप के द्वारा ब्राह्मण हो गये इसका कारण सस्कार हैं। इस श्लोक से स्पष्ट है कि चाण्डाली माता और क्षत्रिय पिता के सयोग मे जन्म लेकर भी पुरुषार्थ पूर्वक विद्याध्ययन करके अपने सस्कारो को परिवर्तित कर व्यास जी ब्राह्मण बने तथा महर्षि वेद व्यास कहलाये।

गणिका गर्भ सम्भूतो वशिष्ठश्च महामुनि।

तपसा ब्राह्मणो जात सस्कारस्तेन कारणम् ।।

भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व ४३-२८।

अर्थ—गणिका अर्थात् वैश्या के गर्भ से उत्पन्न महामुनि वशिष्ठ तपस्या अर्थात् पुरुषार्थ पूर्वक विद्याध्ययन करके ब्राह्मण बने, इसका कारण यह है कि उन्होने विद्या तथा आचरण द्वारा उत्तम सस्कार निर्माण किये और इस प्रकार से उत्तम आचार-विचार अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव ब्राह्मणत्व का उपलब्ध हुआ, जिसके कारण समाज मे ब्राह्मण पद प्राप्त हुआ।

वर्ण जन्म से......

इससे यह तो स्पष्ट ही है कि जिसके सस्कार, आचार-विचार गुण, कर्म, स्वभाव उत्तम हो, वही ब्राह्मण होता है फिर चाहे वह किसी शूद्र घर मे जन्मा हो अथवा अति शूद्र घर में। बिना उत्तम सस्कारों की प्राप्ति के कोई ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नही हो सकता, चाहे वह ब्राह्मण परिवार मे ही जन्मा हो। उत्तम सस्कारो की प्राप्ति के लिये विद्या प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है ब्रह्म पुराण ५१-२२३ मे कहा भी है—

शूद्रो आगतसम्पन्नो द्विजो भवति सस्कृत:।

अर्थ—शूद्र भी शास्त्र सम्पन्न अर्थात् शास्त्रो का ज्ञाता और सस्कारित होकर द्विज हो जाता है।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र का विधान भी पठनीय और मननीय है, जो नीचे उद्धृत है।

धर्मचर्यया जघन्यो वर्ण पूर्व पूर्व वर्णमापजते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्य जघन्य वर्णमापजते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥

(आपस्तम्ब सूत्र)

अर्थ—धर्म के आचरण से निकृष्ट वर्ण के लोग भी स्व-स्व कर्मानुसार पूर्व अर्थात् अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त होते है और इस प्रकार उनका जाति परिवर्तन हो जाता है। इस का अभिप्राय यह है कि शूद्र जिस वर्ण के गुण-कर्म स्वभाव को पुरुषार्थ पूर्वक विद्या-विज्ञान प्राप्त करके धारण कर लेगा, उसी वर्ण का अर्थात् वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण हो जायगा। इसी प्रकार वैश्य भी परिश्रम करके क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुषार्थ द्वारा ब्राह्मण बन सकता है, जिस प्रकार विश्वामित्र और वेद व्यास क्षत्रिय से ब्राह्मण बने थे।

इसी प्रकार अधर्म का आचरण करने के कारण अर्थात् स्व वर्ग के आचरण से निम्न स्तर के आचरण करके उच्च वर्ण का व्यक्ति भी अपने से जघन्त अर्थात् निम्न वर्ण को प्राप्त होता है। इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि ब्राह्मण ब्राह्मणत्व के कर्म को न करके ब्राह्मण के गुण-कर्म-स्वभाव के विपरीत कर्म करने लगता है तो उन कर्मों के द्वारा जिस वर्ण के अनुसार वह कर्म होते हैं उसी वर्ण को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण से क्षत्रिय वैश्य तथा और अधिक पतित होकर शूद्र बन जाता है। इस प्रकार क्षत्रिय भी वैश्य और शूद्रत्व को तथा वैश्य शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी का यह कथन भी उक्त शास्त्रीय प्रमाणो की पुष्टि करता है—

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।

जो जस कीन्ह तो तस फल चाखा॥

अर्थ—विश्व मे कर्म की प्रधानता स्वीकार की जाती है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। जैसे आचरण अर्थात् कर्म होंगे, वैसा ही पद (स्थान) समाज मे मिलेगा। इन प्रमाणो के होते हुए भी जो लोग जन्म जातिवाद के समर्थक है, शास्त्र का निम्न वचन भी उन्हे ध्यान मे रखना चाहिये।

जन्मना जायते शूद्र: सस्काराद् द्विज उच्यते।

अर्थ—जन्म से सब शूद्र अर्थात् अशुद्ध, गन्दगी में लिपटे हुए तथा मूर्ख ही उत्पन्न होते है। शुद्ध किये जाने पर विद्या की प्राप्ति और शुभ-सस्कारो के द्वारा ही स्व-स्व गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र हो जाते हैं।

द्विज का अर्थ है द्विजन्मा—जिसके दो जन्म हुए हो। एक माता-पिता के सयोग से तथा दूसरा विद्या प्राप्ति द्वारा गुरुजनो से। किसी भी प्रकार की विद्या प्राप्त न कर पाने वाला अर्थात् माता-पिता से जन्म प्राप्त करने मात्र से तो मनुष्य शूद्र ही रह जाता है। सृष्टि-उत्पत्ति-काल मे मानव समाज की स्थिति और उसके वर्णो मे परिवर्तन हो जाने अर्थात् वर्ण विभाजन का वर्णन करते हुए ब्रह्मर्षि भगवान् भृगु के शब्दो को जो उन्होने बृहस्पति के पुत्र भारद्वाज से कहे है—हम यहाँ उद्धृत करते हैं। श्लोक इस प्रकार है—

न विशेषोस्त वर्णाना सर्व ब्राह्मिद जगत्।

ब्रह्मण: पूर्व सृष्टा ही कर्मणामि वर्णता गता ॥

पिशाचा. राक्षसा प्रेता विविधा म्लेच्छजात ।

नष्ट ज्ञान-विज्ञाना स्वच्छन्दाचार चेष्टिता ॥

[महाभारत शान्तिपर्व। १८६।१।१६

अर्थ – वर्णों की कोई विशेषता नहीं सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। पहले सब ब्राह्मण थे, कर्मों द्वारा वर्णो को प्राप्त पिशाच, राक्षस, प्रेत आदि विविध जातिया हो गयी।

प्रिय पाठकवृन्द ! आपने ध्यानपूर्वक इस सम्पूर्ण लेख को पढा ही है। यह आपको स्पष्ट हो गया होगा कि जो लोग जन्म जातीयता के आधार पर स्वय को उच्च और अन्यो को नीच मानते उनसे घृणा और छुआछूत करते है, वह इन सभी ग्रथो को अपने धर्मग्रन्थ और शास्त्र मानते है, जिनके प्रमाण हमने इस लेख मे दिये हैं। ऐसी स्थिति में उन भाइयो को ऊच-नीच की भावना और मान्यता तथा अपने ही धर्मबन्धुओ से घृणा अनुचित है। हमारा आप सब से विनम्र निवेदन है कि इस प्रकार के विचारो और व्यवहार को त्याग अपने धर्म बन्धुओ के साथ समानता और प्रेम का व्यवहार करे।

जो कोई जन्म से वर्ण-व्यवस्था माने और गुण-कर्म के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड नीच अथवा क्रिश्चियन, मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यो नही मानते ? तब यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म को छोड दिया इसलिये वह ब्राह्मण नही है इससे यह सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हो, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण, कर्म, स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण मे और उत्तम वर्णस्थ ही के नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण मे गिनना अवश्य चाहिए।

कौमी एकता व सद्भावना कैसे हो ?

मान्यवर !

समाचार पत्रो मे श्री हरिदेव जोशी पूर्व मुख्य मन्त्री राजस्थान की सद्भावना बनाये रखने की जो अपील प्रकाशित हुई है उसमे जामामस्जिद देहली के नायब इमाम के नाम से जो पर्चे प्रकाशित हुए हैं वे झूठे बताये गये है। सद्भावना बनाये रखने की अपीलतो आवश्यक व उचित ही प्रतीत होती है, परन्तु क्या इसपर्चे को झूठा बताने के लिए वे उक्त इमाम की ओर से अधिकृत हैं ? जबकि उक्त इमाम की ओर से पर्चे को झूठा बताने का कोई वक्तव्य प्रकाशित नही हुआ है। इस पर्चे मे हिन्दुओ को कत्ल कर देने आदि की आयाते--सूरा-, सू-१९१, सूरा-८ तथा सूरा-९ भी क्या झूठी है ? क्या शाही इमाम अब्दुला बुखारी, सैयद शहाबुदीन तथा उत्तर प्रदेश के मन्त्री आजमखा के यह वक्तव्य भी झूठे हैं कि—"महमूद गजनवी, गौरी तथा बाबर की औलादो जागो, जो काम इन्होंने पूरा नही किया वो तुम्हे करना है। पूरे भारत मे इस्लाम का झण्डा फहराना है। बाबरी मस्जिद के लिए खून बहाना है।

उक्त वक्तव्यो तथा इमाम व कुरान के पैगाम से क्या परस्पर सद्भावना कौमी एकता व देश की अखडता रह सकेगी ? इसी भावना के कारण पाकिस्तान बना, काश्मीर मे आतकवाद व हिंसा फैल रही है, पाकिस्तान जिन्दाबाद भारत मुर्दाबाद के नारे लगाये जा रहे हैं, तिरगा झडा जलाया जा रहा है, हिन्दू मन्दिर तोड़ जा रहे हैं। भारत के अन्य स्थानो मे दगे हो रहे है, मजिस्द व घरो मे घातक हथियार मिल रहे हैं। "हस के लिया है पाकिस्तान, अब लडकर लेंगे हिन्दुस्तान" के नारे लगाये जा रहे है। परन्तु वोटो के लिए कांग्रेस इनके लिए तुष्टिकरण की तथा बहुसख्यक देश भक्त हिन्दुओ की भावना के दमन की नीति अपना रही है जैसा कि अयोध्या में हुआ। जिसका विरोध करने वाले हिन्दुओ तथा भारतीय जनता पार्टी को कांग्रेस कम्युनिस्ट पार्टी व जनता दल की ओर से साम्प्रदायिक व विघटनकारी बताया जा रहा है। जबकि उक्त दलो का देश का विभाजन करने वाली साम्प्रदयिक मुस्लिम लीग, नागालैण्ड आदि की क्रिश्चियन लीग आदि से भागीदारी है। अयोध्या में श्रीराम मन्दिर बनाने के लिये न्यायालय का निर्णय मानने की बात कही जा रही है, परन्तु शाहबानो को गुजारा भत्ता देने का, गत अक्टूबर मे आडवानी की रथ यात्रा तथा अयोध्या मे सप्तकोसी परिक्रमा न रोकने का न्यायालय का निर्णय नही माना गया।

उक्त पार्टिया तथा मुस्लिम यह सत्य क्यो नही मानते कि वे जिस भारत मे जन्मे, जिसके अन्न, जल से पले हैं, वे उसके प्रति ही वफादार व ईमानदार रहे। इस देश के श्रीराम, कृष्ण आदि महापुरुषो तथा इस देश की सभ्यता, सस्कृति का सम्मान करे। वे इनकी ही सन्तानें है, मजहब बदल गया तो क्या उनके शरीर मे इनका ही खून होने से सच्चे भाई-भाई का नाता नही है। उनकी माग पर जब देश का बटवारा हो चुका तो वे वहा रहने के अधिकारी है, अब उनका यहा केवल यही अधिकार व कर्तव्य है कि वे उपरोक्त बातो को मानकर अपने हिन्दू भाइयो के साथ प्रेमपूर्वक रहे। इस प्रकार के आचरण से ही स्थाई सच्ची कौमी एकता परस्पर सद्भावना, देश की अखडता व सुख शान्ति रह सकती है, केवल एकता के निरर्थक नारेबाजी तथा रेलियो से नही।

भगवतीप्रसाद सिद्धान्त भास्कर प्रधान,
१४३०, प० शिवदीनमार्ग, कृष्णपोल, जयपुर (राज०)

सम्पादक के नाम पत्र

आपका नवीन विशेषाक प्राप्त हुआ । आपने यह अक पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी की पावन स्मृति में श्री प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी के चित्र के साथ मनमोहक पढ़नीय सामग्री के साथ प्रकाशित किया है : अत. आपको बहुत-बहुत धन्यवाद ।

वेदपथिक धर्मवीर आर्य "झडाधारी"
क्रातिकारी स्वतन्त्रता सेनानी

—आपकी पत्रिका द्वारा जो विशेषांक प्रस्तुत किये जा रहे हैं यह आर्य सामाजियो मे नई चेतना और अपनी सस्कृति मे नई जीवन दायी योजना है । आप को मैं पुन: धन्यवाद देता हू और परमात्मा से प्रार्थना करता हू कि आपका स्वास्थ्य व शुभ कार्य मे आपकी आस्था व्याप्त रहे ।

सुभाषचन्द्र सिंह मन्त्री आर्यसमाज
नीलोखेड़ी हरियाणा

—आर्य सन्देश का आर्यसमाज स्थापना दिवस पर प्रकाशित "समग्र क्रान्ति अक" प्राप्त हुआ । विशेषाक वास्तव मे काफी सुन्दर एव आकर्षक था । इसमे सभी लेख काफी शिक्षाप्रद एव प्रेरणादायक थे । आर्यसमाज के सम्बन्ध मे काफी ठोस एव महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई ।

आर्यसन्देश का हैदराबाद सत्याग्रह स्मृति अक प्राप्त हुआ । यह विशेषाक भी काफी सुन्दर एव आकर्षक निकला है । हैदराबाद सत्याग्रह के सम्बन्ध मे ढेर सारी सामग्री पढने को मिली ।

आर्यसन्देश का ऋषि निर्वाण दिवस एव पण्डित शिवकुमार शास्त्री अक प्राप्त हुआ । यह अपने पूर्व विशेषाको की भाति काफी सुन्दर एव आकर्षक था । इसमे महर्षि दयानन्द सरस्वती एव शास्त्री जी के सम्बन्ध मे ढेर सारी सामग्री पढने को मिली ।

आर्यसन्देश का स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान एव पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति अक प्राप्त हुआ । इसमे स्वामी इन्द्र विद्यावाचस्पति के सम्बन्ध मे ढेर सारी सामग्री पढने को मिली ।

अत: पत्रिका के ये चारो विशेषाक सभी दृष्टियो से उत्तम तथा सग्रहणीय हैं । विशेषाको की सफलता के लिए बधाई ।

रामकुमार आर्य
जलगर जोशी चौहान (सोनीपत)

—श्रीमान डा० धर्मपाल जी, सादर नमस्ते । दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा कई वर्ष सुप्त अवस्था मे पडी रही । आपके अध्यक्ष बनने पर, आपने सभा मे चेतना भरकर उसे जागृत अवस्था मे कर दिया । आप सराहनीय कार्य कर रहे हैं । आर्य जगत आपका आभारी है । हर कार्य सन्तोषजनक व सक्रिय रूप से कर रहे है, इसकी हमे बहुत खुशी हैं ।

स्वर्गीय प० शिवकुमार शास्त्री जी के सम्बन्ध मे आपका पत्र मुझे मिला था । शास्त्री जी से मेरा सम्बन्ध ४३ वर्ष से चला आ रहा था । ३० वर्ष हुए मुझे शास्त्री जी ने एक काम करने को कहा था । मैंने उनका वह काम कर दिया था । वे बहुत खुश हुए और इसमे हमारे सम्बन्धो मे और घनिष्ठता हो गयी थी । आर्य समाज, गाधीनगर मैं एक सप्ताह की कथा के लिए प्रार्थना किया करता था तो वहा वे आते थे और मेरी प्रार्थना पर वे मेरे निवास पर ही सहर्ष रहते थे । उनके मेरे पास रहने का वैदिक गोष्ठी के रूप मे भी लाभ उठा लिया करता था । मेरे से परिवार की तथा निजी कोई भी बात छुपा कर नहीं रखते थे । बातो-बातो मे उन्होने कहा कि साकेत मे मकान तो बना लिया है परन्तु सिर पर ऋण हो गया है । ऋण चुक्ता नही हो रहा, तो मैंने तुच्छ आर्थिक सेवा भी कर दी थी ।

शास्त्री जी से फोन पर बात होती रहती थी । कोई लम्बी बात हो तो पत्र-व्यवहार भी होता रहता था । पिछले दिनो आर्य समाज दीवान हाल मे उनका सम्मान किया गया था तो मुझे भी दो शब्द कहने का अवसर मिला था ।

आयु मे मै उनसे पाच वर्ष बडा हू किन्तु उनके गुणो के कारण मैं उन आगे नत-मस्तक होता था । कट्टर आर्य सिद्धान्तवादी होने के कारण वे मुझसे बहुत प्रेम-स्नेह करते थे, सम्मान करते थे । जिस दिन शास्त्री जी का देहान्त हुआ उससे तीन दिन पहले उनका लिखा हुआ पत्र मुझे मिला था । आर्यसमाज के तत्वाज्ञान और गूढ वैदिक सिद्धान्त का ज्ञान अपार था । अब मुझे कोई दिखाई नहीं देता । किस आर्य विद्वान से किसी शका का समाधान कराया जाए ।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा ने शास्त्री जी का स्मृति अक प्रकाशित किया है । यह भी एक सराहनीय कार्य किया है । मैं क्या सेवा करूं ? यह भी लिखने का कष्ट करे । आर्यसन्देश का वार्षिक शुल्क रु० ११) मैं दे चुका हू ।

आर्यसमाज के कार्यों मे धन देने के लिए मन मे उदारता का भण्डार भरा पडा है परन्तु आर्थिक स्थिति इच्छा पूरी नही करने देती तो मन दुखी होता है । आर्यसमाज मन्दिर प्रीत विहार का निर्माण कार्य हो रहा है । यहा बहुत देना पड रहा है । आर्य समाज निर्माण विहार की यज्ञशाला बन रही है । यहा भी देना पड रहा है । आर्य महासम्मेलन के लिए भी दे रहा हू । आर्यसमाज के कार्यों मे देने मे असमर्थ रहता हू ।

(जगतराम आर्य)
बी-१०८, प्रीत विहार, दिल्ली-९२

—आर्य सन्देश का विशेषाक "महर्षि दयानन्द निर्वाण दिवस एव प० शिवकुमार शास्त्री अमृत महोत्सव सयुक्ताक" प्राप्त हुआ । पढकर उन महापुरुषो के बारे मे विशेष जानकारी मिली । उत्तम प्रकार से इसका प्रकाशन किया है । एतदर्थ आपको बहुत-बहुत बधाई । आपका कार्य अति सराहनीय है, ईश्वर आपको और अधिक सामर्थ्यवान् बनावे ।

विनीत कुमार बल्लभ जी जगडा
मन्त्री, आर्यसमाज, गोडल (गुजरात)

—आपके आर्यसन्देश में प्रकाशिक विशेषांक मे अच्छे स्तर की सामग्री होती है । समस्त आर्यजगत मे आपने विशेषाको की धूम मचा दी है । इतने विशेषाक मेरी दृष्टि मे किसी भी पत्रिका ने अद्यावधि नहीं दिए है । आप अपने स्तर को इसी प्रकार बनाए रखे ।

राजवीर सिंह आर्य
के० बी० ५७ कवि नगर

—श्री प० इन्द्र जन्म शताब्दी विशेषांक प्राप्त करके बढ़ी प्रसन्नता हुई । मैंने धर्मपाल जी से कहा था कि आपके विशेषाको की साज सज्जा सब आर्य पत्रो से बढिया व आकर्षक होती है । अन्य आर्य पत्र पत्रिकाए भी आपका इस दिशा मे अनुकरण करे तो बडा लाभ होगा । इस अक मे कई लेखो मे बड़ी ठोस, रोचक व प्रेरणाप्रद सामग्री है । श्री सुमनजी, श्रीमान चिरजीत जी, श्री डा० वेदव्रत जी श्री फूलचन्द जैन, श्रद्धेय डा० रामनाथ आदि के लेख तथा श्रीमान राधेश्याम जी की कविता बहुत अच्छी लगी ।

मेरा विनम्र सुझाव है कि इस बार आप एक उच्चस्तरीय प० लेखराम बलिदान अक निकाले । आर्यसमाज रक्त साक्षी प० लेखराम को भूल रहा है, यह घोरपाप है । कोई भी पत्रिका प० लेखराम विशेषाक नही निकालती । यह मुझे चुभता है । यदि आप ऐसा अक निकाले तो मैं ३०-३५ पृष्ठ की खोजपूर्ण, रोचक व प्रेरणाप्रद सामग्री एक लेख के रूप में भेज दूंगा । पत्रिका के लिए घाटे का यह सौदा, आर्यसमाज व आर्यजाति के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा ।

राजेन्द्र जिज्ञासु'
वेदसदन अबोहर-१५२११६

मिला आर्यसंदेश, हुआ मेरा मन यह आमोदित,
स्वामी श्रद्धानन्द अमर, सत्कर्मो से हैं शोभित ।
विद्यावाचस्पति पण्डित जी इन्द्रदेव महिमामय,
उनका जीवन सदा रहेगा प्रेरक और गरिमामय ।
सयुक्ताक सुपाठ्य सुसामग्री से रहा सुपोषित
साधुवाद सम्पादन के हित करती मैं सम्प्रेषित ।।

—डा० महाश्वेता चतुर्वेदी, बरेली

जोधपुर में आश्रम

"महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मृति भवन" रातनाडा, जोधपुर मे स्थित है । यह भवन स्वामी दयानन्द के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक स्थल है । इस भवन मे आर्य वानप्रस्थो एव सन्यासियो के आवास एव भोजन की नि:शुल्क व्यवस्था है । निवास के इच्छुक वानप्रस्थी एवं सन्यासी महानुभाव कृपया मन्त्री, महर्षि दयानन्द स्मृति भवन न्यास, जोधपुर से सम्पर्क करें ।

जगदीश सिंह आर्य (मन्त्री)

आर्य महिला सम्मेलन

(पृष्ठ १ का शेष)

इस सम्मेलन की विशेष उपलब्धि

प्रान्तीय आर्य महिला सभा की अधिकारी बहनो ने अपने नाम की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए आर्यत्व का परिचय दिया, क्योकि यज्ञ से लेकर जितने भी सम्मेलन के कार्यक्रम थे सभी मे भरपूर सहयोग देकर सम्मेलनों को सफल बनाने का भरसक प्रयास किया यथा शक्ति सभी ने तन-मन-धन से योगदान दिया, विशेष कर सभा मन्त्रिणी कृष्णा चड्ढा ने स्मारिका के विज्ञापनो हेतु १५००० की राशि प्रदान की तथा ऋषि लगर मे भी भरपूर सहयोग दिया। सम्मेलन सयोजिका ने तन-मन-धन से योगदान देकर सम्मेलन को सफल बनाया।

इस भाति, अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महिला सम्मेलन एक महत्वपूर्ण, सराहनीय प्रयास रहा जो नारी शक्ति के संकल्प, सगठन एव सम्बल का परिचायक अभूतपूर्व आयोजन कहा जा सकता है। उस परम पिता से प्रार्थना है कि हम ऋषि ऋण चुकता करने मे दृढ सकल्प ले।

सयोजिका सरला महत्ता

आर्य वीरदल सागरपुर

आर्य वीरदल सागरपुर का गठन श्री ओमवीर शास्त्री हरिसिह जी व्यायाम शिक्षक की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। जिसमे निम्न पदाधिकारी नियुक्त किये गये।

अधिष्ठाता : डा० दयानन्द
शाखा सचालक विनोद कुमार
शाखा नायक . दिनेश कुमार
मन्त्री : अनुराग
उपमन्त्री : प्रमोद कुमार
,, ,, : मनोज कुमार
कोषाध्यक्ष . मुकेश कुमार शर्मा

मथुरा जनपद का तीसरा आर्य सत्याग्रही जत्था

जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा मथुरा की ओर से (प्रान्तीय सभा के निर्देशानुसार) यह आर्य सत्याग्रही जत्था जिला सभा के सरक्षक एव तपोभूमि मासिक के प्रधान सम्पादक श्री आचार्य प्रेमभिक्षु जी के सान्निध्य मे दिनांक ३ जनवरी ६१ को रात्रि गगा जमुना एक्सप्रेस से गया। ५ जनवरी को प्रान्तीय सभा के प्रधान प० इन्द्रराज जी के नेतृत्व मे विश्व हिन्दू परिषद की व्यवस्थानुसार अयोध्या मे सत्याग्रह किया। श्री आचार्य प्रेम भिक्षु जी के साथ इस जत्थे मे पूर्व जत्था नायक स्वामी नित्यानन्द जी, जिला सभा के मन्त्री श्री भुल्ल सिह जीरावत, उपप्रधान महा० श्री गेदालाल जी आर्य श्री खुशीलाल जी 'विजय' पूर्व मन्त्री डा० श्री द्वारिका प्रसाद जी आर्य प्रचार मन्त्री श्री मुकुन्दसिह जी भाटिया, उपमन्त्री श्री वीरेन्द्र जी, श्री विपिन जी, कोषाध्यक्ष, श्री सुरेशचन्द्र जी आर्य, वैदिक मिशनरी श्री वेद प्रिय जी वानप्रस्थ, नायक श्री देवेन्द्र जी आर्य, श्री धर्मदेव जी आर्य, श्री बुधप्रकाश जी आर्य व्यवस्थापक श्री नरोत्तम जी वानप्रस्थ एव प्रिय शिवराज आर्य सुपुत्र श्री चरन सिह जी आर्य व्यवस्थापक सत्य प्रकाशन मथुरा तथा कोसीकला, अकबरपुर, कोकेरा बभेरा, सिहोरा, सरना, खुर्द, माधुरीकुण्ड, साखबाद, धाना तेजा, दखौला, मथुरा नगर की तीनो आर्य समाजो तिलकद्वार चौक कृष्णानगर, नसीवा, बिसावर, दघेटा, खोडा, धाधऊ गढ उमराव, मानागढी,, बाजना, ऊचा गाव, रामा, सेलखेडा, बेरी, ओल, गडीरामबल तथा अन्य भी कुछ आर्यसमाजो के पदाधिकारी एव वरिष्ठ कार्यकर्त्ता गये। वैदिक मिशनरी आर्य गुरुकुल मथुरा के कुछ ब्रह्मचारियो ने भी भाग लिया। आर्य महिलाओ ने भी भाग लिया।

वार्षिक चनाव

आर्यसमाज श्रीनिवासपुरी के वार्षिक चुनाव १६६० ६१ में निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए।

प्रधान : श्री मोहनलाल
मन्त्री : श्री दीनानाथ छाबडा
कोषाध्यक्ष : श्री दयालदास वर्मा







आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on17,18-1-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३६

आर्यसमाज मायापुरी में वेद प्रचार

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा की ओर से आर्यसमाज प्रैस कालोनी मायापुरी मे दिनाक २०-१२-९० से २२-१२-९० तक वैदिक धर्म का प्रचार उत्साह पूर्वक सम्पन्न हुआ।

२०–१२-९० को मध्याह्न १२-०० बजे प्रचार मडल के स्वागतोपरान्त मन्त्री श्रीठाकुर सुरेन्द्र सिंह ने आर्यसमाज मायापुरी की पृष्ठभूमि से अवगत कराया। वर्ष १९७९ चैत्र शुक्ल की रामनवमी के दिन आचार्य विक्रम के सानिध्य में आर्यसमाज का गठन हुआ था।

इस अवसर पर आर्य विद्वान आचार्य नरेन्द्र जी द्वारा वेद कथा व सर्व श्रेष्ठ भजनोपदेशक चुन्नीलाल आर्य आदि के सुमधुर भजन हुए। वेद शिरोमणि श्री सत्यदेव स्नातक ने वेदों की महत्ता को बताते हुए कहा कि वेद का ज्ञान सभी मनुष्यों के लिए है। वेद पठन–पाठन में लिंग, वर्ण के लिए यजुर्वेद संहिता के निम्न मन्त्र को उल्लेख किया—

"यथेमा वाच कल्याणिम् आवदानि जनेभ्य.।

ब्रह्म राजन्याभ्या शूद्राय चर्याय च स्वचारणाय च ॥ यजुर्वेद ॥

प० सत्यदेव जी के प्रेरणादायी प्रवचन के उपरान्त श्रद्धेय स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती अधिष्ठाता, दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा ने विषय को आगे बढाते हुए कहा कि वेद ज्ञान से वंचित रहने पर ही भारतीय समाज मे अनेक प्रकार की कुरीतियों ने जन्म लिया तथा समूचे मानव समाज का आचार विचार, आहार-विहार आदि अप्राकृतिक हुआ। स्वामी जी ने प्रतिनिधि सभा की ओर से निरन्तर प्रचार कार्य मे सहयोग का आश्वासन दिया।

अन्तिम दिन २२-१२-९० को अयोध्या के अमर शहीद, प० रामप्रसाद बिस्मिल स्वामी श्रद्धानन्द एव प० धर्मपाल जी पूर्व अधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी। उपप्रधान श्री डालचन्द जी ने सभी आगन्तुकों का आभार व्यक्त किया और प्रसाद वितरण के उपरान्त शान्ति पाठ के साथ वेद प्रचार कार्य सम्पन्न हुआ।

सुरेन्द्र सिंह —मन्त्री

संस्कृत में प्रथम

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) द्वारा स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस २४ दिसम्बर ९० को आयोजित अखिल भारतीय त्रिभाषा भाषण प्रतियोगिता में गुरुकुल प्रभात आश्रम मेरठ के ब्र० योगेन्द्र कुमार नेसंस्कृत भाषण प्रतियोगितामे प्रथम स्थान तथा हिन्दी मे ब्र० पुनीत कुमार ने तृतीय स्थान प्राप्त किए। २५ दिसम्बर को इन दोनो विजेता ब्रह्मचारियो का आश्रम मे भव्य स्वागत किया गया तथा अपने साथियो के विजय पर उन्हे हार्दिक बधाई दी।



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली, राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

'ब्रह्म' '१०४१'

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)।

साप्ताहिक ओ३म कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अक १४ रविवार, ५७ जनवरी, १९९१ विक्रमी सम्वत् २०४७ दयानन्दाब्द : १६६ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष : ३१०१५०

वैदिक साहित्य प्रकाशन वैदिक धर्म और आर्य समाज के प्रचार-प्रसार का सशक्त माध्यम है—

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

दिल्ली के रामलीला मैदान मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का आयोजन २३ दिसम्बर से २६ दिस० १९९० तक समारोह पूर्वक आयोजित किया गया। इस आर्य महासम्मेलन के अवसर पर भारतवर्ष के कौन-कौन से हजारो आर्य भाई-बहन आए। वे दिल्ली की सर्दी की असुविधाओं को झेलते हुए भी, महासम्मेलन की सफलता से अभिभूत एवं प्रसन्न थे। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता में यह आर्य महासम्मेलन सुचारू रूप से सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर अनेक सम्मेलन एवं सगोष्ठियो का आयोजन हुआ। वेद सम्मेलन, आर्य महिला सम्मेलन, आर्य युवक सगोष्ठी, विदेशो मे आर्य समाज, अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन, आर्यों का आदिदेश, आर्य समाज का भावी कार्यक्रम, वेदों की सार्वभौमिकता, शिक्षा सम्मेलन, आर्यवीर दल सम्मेलन, स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान श्रद्धाञ्जलि सभा आदि-आदि का आयोजन किया गया। इन सभी सम्मेलनों, सगोष्ठियों एवं शोभायात्रा का वर्णन पाठक पिछले अंको में पढ़ चुके हैं।

वेद प्रचार का सशक्त माध्यम बृहत् यज्ञो का आयोजन है। इस अवसर पर स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती के ब्रह्मत्व में बृहद् यज्ञ का भी आयोजन हुआ। प. राजगुरु शर्मा इस यज्ञ के अधिष्ठाता एव युवा विद्वान प० यशपाल सुधांशु इस यज्ञ के सयोजक थे। वेद पाठ गुरुकल गौतम नगर तथा पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी के ब्रह्मचारियो तथा ब्रह्मचारिणयो ने सुचारू रूप से किया।

इस अवसर पर योग प्रशिक्षण शिविर का भी आयोजन स्वामी सत्यपति जी महाराज तथा आचार्य प्रेमभिक्षु जी के सौजन्य से हुआ। भजनोपदेशकों ने भी वेद प्रचार के दायित्व का निर्वाह सुचारू रूप से किया।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त, एक और कार्य है, जिसे मैं वेद प्रचार तथा आर्य समाज के मन्तव्यों के प्रचार-प्रसार मे बहुत महत्वपूर्ण मानता हूं, वह है वैदिक साहित्य का प्रकाशन। मुझे यह कहने मे संकोच नहीं है कि आज वैदिक साहित्य के प्रकाशन में, अनेक स्वतत्र प्रकाशक, सार्वदेशिक सभा, प्रान्तीय सभाए आर्यसमाज ट्रस्ट, तथा लेखक स्वय भी लगे हुए हैं और वे अच्छा साहित्य दे रहे हैं। इस बात की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन प्रकाशनो मे आवश्यकतानुसार सशोधन एव परिवर्तन का कार्य धर्मार्य सभाओ को करना चाहिए। वैदिक विद्वानो एवं स्थापित प्रकाशको के ग्रथ तो स्तरीय होते हैं, पर कुछ ऐसे नवोदित लेखक भी हैं जिनके लेखन निर्भ्रान्त नही है। हमे ऐसे नवोदित लेखको का भी उत्साह वर्धन करना चाहिए। उनके लेखन का सुयोग्य विद्वानों द्वारा सम्पादन अपेक्षित हैं। इस अवसर पर पुस्तको के लगभग ४० स्टाल लगे थे और एक स्टाल से मुझे जानकारी मिली कि इन चार दिनो में ३६ हजार रुपये की बिक्री हुई। सभव है कि इतनी बिक्री सभी स्टालो पर न हुई हो, पर यह तो निश्चित है कि वैदिक पुस्तको का प्रकाशन बढ़ा है और आर्य भाई बहन भी पुस्तके पढते है। यह वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का सशक्त माध्यम है। हमे इस ओर ध्यान देना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्यमहासम्मेलन के अवसर पर अनेक मानक ग्रंथो का लोकार्पण हुआ। ग्रन्थो का परिचय देना तो यहा सभव न होगा, पर कुछ विशेष ग्रन्थो का संक्षिप्त परिचय, पाठकों की जानकारी के लिए यहां दिया जा रहा है।

कश्मीर, झुलसता स्वर्ग

आर्यसमाज के सशक्त प्रवक्ता, आर्य जगत् के स्वनामधन्य सम्पादक प० क्षतीश वेदालकार की लेखनी से काश्मीर की समस्या बेबाक विश्लेषक इस ग्रथ में हुआ है। प० जी राष्ट्रीय एकता एव अखण्डता के विभिन्न पहलुओ पर समय-समय पर लिखते रहे है। पिछले दिनो पाठको ने पंजाब पर लिखी उनकी पुस्तक मे कश्मीर की ऐतिहासिक परम्पराओं का सुन्दर विवरण पढ़ेगे। उन्होने प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ मे संस्कृत के ग्रन्थों से या अन्य ग्रथो से उस विषय से सबन्धित श्लोक अथवा वक्तव्य दिए हैं जो उस अध्याय की पूर्वपीठिका पाठक के मस्तिष्क मे प्रस्तुत कर देते हैं। यह पुस्तक इतिहास हैं, पर इसकी शैली साहित्य की है। यही कारण है कि पाठक इसे हाथ मे लेने बाद पूरी पढकर ही उठ सकता है। उसे न भूख-प्यास लगती है और न ही नींद आती है। यदि यह कहू कि हमारे नेताओ की ऐतिहासिक भूलो को पढकर उसकी नीद उड जाती है तो कोई अतिशयोक्तिन होगी। काश्मीर जो पूर्णत: हिन्दू संस्कृति का केन्द्र था, वहा पर इस्लाम का आगमन कैसे हुआ। आगे चलकर यह किस प्रकार आतकवाद में बदल गया। आज हिन्दू किस प्रकार दर दर भटक रहे है। उनकी समस्याए क्या हैं। प० जो की लेखनी से यह सब पढकर रोगटे हो खडे जाते है नेहरू, पटेल, जिन्ना, शेख अब्दुल्ला, गाधी के चौकाने वाले चित्र इस ग्रन्थ मे है। अन्त मे उन्होने काश्मीर समस्या को सुलझाने के लिए कुछ समाधान भी दिए है। ये पठनीय है तथा आचरणीय है। यह देश दया का पात्र हैं जो टुकड़ो-२ में बटा है और हर टुकडा अपने आपको राष्ट्र कहता है। यह दयनीय दशा, भारत की हो रही है। हमे समलने की आवश्यकता है। प० क्षितीशकुमार जी वेदालकार इस सुन्दर पुस्तक के लिए बधाई के पात्र हैं।

(कश्मीर झुलसता स्वर्ग—प० क्षतीशकुमार वेदालकार दि वर्ड पब्लिकेशन्स, ८०७/९५ नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-१९, पृष्ठ १४४ मूल्य-३० रुपये)

(शेष पृष्ठ ७ पर)

वेद को सम्भाल कर रखिए

—डा० सुरेशचन्द्र वेदालंकार, आर्यसमाज गोरखपुर

वेदो ने राष्ट्र की रक्षा के जो युद्ध एव राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने के लिये उपाय बताए हैं। उनमें मनुष्य को सदाचारी और दूसरे अन्यों में आर्य बनने का उपदेश दिया है।

इन्द्र वर्धन्तो अप्तुर: कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
अपघ्नन्तो अराव्ण: ॥ ऋ० ९-६३-५

अर्थात् क्रियाशील बनो, प्रभु महिमा का प्रसार करो, विश्व को आर्य बनाओ, राक्षसों का संहार करो।

मरुतो यद्ध वो बल, जनां अचुच्यवीतन।
गिरीरचुच्यवीतन ॥ ऋ० १-३७ १२

अर्थात् हे आर्यवीरो! जो तुम्हारे अन्दर बल है, उससे तुम राक्षस जनों को डिगा दो, पहाड़ों तक को हिला दो। आर्यवीर कौन है—

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषा
समुद्रस्येव महिमा गम्भीर:।
वातस्येव प्रजवो नान्येन
स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे व: ॥

अर्थात् आदित्य मण्डल के समान तुम्हारी महिमा है, वायु के समान तुम्हारा वेग है, हे आर्यवीरो तुम्हारे इन भुजो का कौन पार पा सकता है? आर्यत्व के लिए क्या करें। वेद कहता है—

इदमिन्द्रशृणुहि सोमप,
यत् त्वया हृदय शोचता जोहवीमि।

हे मेरे आत्मन्! सुन, जो कि मैं देदीप्त हृदय के साथ पुकार पुकार कर कह रहा हूं। काट डालूंगा उसे, जैसे कुल्हाड़े से वृक्ष को, जो मेरे मन की हिंसा या कलुषित करने आयेगा। बताइये वह कौन अनार्य विचार है जो एक सच्चे उग्र मनस्वी आर्य की हिंसा कर सके, उसमें कलुषित और पापमय विचार कहां से आ सकते हैं? वह आर्यवीर फटकारकर कहता है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि
शंससि परेहि न त्वा कामये,
वृक्षां वनानि सचर, गृहेषु गोषु
मे मन: ॥ अथर्व० ६-४५-१

ओ मन के पाप! चल दूर हट मेरे पास से, क्यों निन्दित सलाहे दे रहा है? चल लम्बा बन यहा से, वृक्षो से जाकर टकरा जंगलो में भटकता फिर। मुझे फुरसत कहां है जो तेरा स्वागत करूं? मेरा मन तो गृह कार्यों में और गो सेवा आदि शुभ कर्मों मे लगा हुआ है। कैसी आत्मविश्वास भरी वीरता पूर्ण और सजीव उक्ति ऐसे सतर्क और साहसी व्यक्ति के मन में पाप कभी डेरा डाल सकता है?

सकल्प बल को जागृत करने के लिये एक मन्त्र आया है—

जहि्स्व काम मम ये सपत्ना
अन्धा तमांस्येव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसा: सन्तु सर्वे
माते जी (विषु:) कतमच्चनाह: ॥ अथर्व० ९-२-१०

जाग! जाग ओ मेरे सकल्प बल, तू उठ जाग राक्षसो और बुरी भावनाओं तथा विचारो को मार गिरा, उन्हें घोर अन्धकार में धकेल दे। वे आततायी निरीन्द्रिय और निर्जीव हो जाय एक दिन को भी जीवित न बचने पावें।

इन मन्त्रो मे बताया गया है कि आर्य बनने के लिए निष्कलुष होना आवश्यक है। निष्कलुष होने के लिए मन को खाली नही रहने देना चाहिए उसे घर के कामो में, पशुओ, पेड़ो, पौधो, तरकारियो के काम में मन को लगाना चाहिए। गुरुकुल कांगड़ी और कुरुक्षेत्र के ब्रह्मचारियो को भी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज उपदेश दिया करते थे "बेटे कभी मन को खाली न रहने दिया करो। याद रखो, खाली मन शैतान का घर हुआ करता है। यदि तुम्हारे पास कोई काम न हो तो अपनी धोती को फाड़ो और फिर सीने लगो।" मुझे याद नहीं कि स्वामी जी द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति ने एक बार एक कहानी सुनाई थी। एक बार एक सेठ ने कठोर तपस्या द्वारा एक वर प्राप्त किया कि उसे एक काम करने के लिए नौकर मिल जाय। प्रजापति ने नौकर को बुलाया नौकर बोला महाराज "मैं काम करने को तैयार हूं पर मेरी एक शर्त है कि जब काम नही बचेगा तब मैं मालिक को मार डालूंगा। मालिक काम करवाना शुरू किया। उसके मुख से जो भी काम निकलता वह पूरा कर देता। अन्त मे वह दिन भी आ गया कि काम समाप्त होने लगे। मालिक घबराया और उसने प्रजापति को फिर याद किया। उसने अपनी समस्या रखी और सुनते ही प्रजापति बोले सेठ! तुम भी मूर्ख हो। यह भी कोई समस्या है। तुम उसे कहो कि एक खम्भा गाड़ो और जब गाड़ ले तब उसे कहो कि इसके ऊपर चढो और उतरो। मालिक ने वैसा ही किया और उसकी समस्या हल हो गई। इसलिये मन्त्र कहता है कि मन तू अपने को पशुपालन और घर के काम मे लगा। जब तू खाली नहीं रहेगा तो पाप आयेगे कहा से?

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मन: ॥
ऋ० १० १६४-१

हे मन को पतित करने वाले कुविचार। हटो (अपकाम) दूर भागो! परे चलो। दूर के विनाश को देखो। जीवित मनुष्य का मन बहुत सामर्थ्य से युक्त है।

मन्त्रो का भाव है कि मन मे पाप का विचार आ जाय, तो उसको उसी क्षण दूर हटाना चाहिए। अपनी प्रबल इच्छा शक्ति से उसे दूर हटाना चाहिए। और कभी पाप का प्रभाव मन पर होने नहीं देना चाहिये। मन को शुभ विचार से युक्त करके अपने घर की उन्नति में, दूसरो को दोष न देते हुये अपनी शुद्धता करने का निश्चय करना चाहिये। बुरे विचार से जो भविष्य मे होने वाली हानि होगी; उसका विचार करके, मन की शक्तियो को इकट्ठा करके कभी गिरावट का विचार पास नहीं फटकने देना चाहिए। वेद के अनुसार कहा गया है—

भद्रं वैवस्वते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्र जीवतो मन: ॥ ऋ० १०-१६४-२

तेजस्वीमान् तू जो निश्चय से श्रेष्ठ विचार पसन्द करता है उससे कल्याण प्राप्ति करता है अपनी आंख को कल्याण कारी बनाओ। याद रखो जीवित मनुष्य का बहुत सामर्थ्य होता है। कल्याण करके विचार करना, दक्षता के साथ सब कर्तव्य करना और चक्षु आदि सब इन्द्रियो को भलाई के मार्ग से चलाना चाहिए।

इस प्रकार वेद की शिक्षायें कितनी उच्चकोटि की हैं। "ज्योतिषां ज्योति" ज्योतियो की ज्योति है। प्रकाशो का एक मात्र प्रकाशक है। विषय की प्रकाशिका इन्द्रियो का स्वामी यह मन है। हमारा शरीर एक छोटा सा विश्व है, एक छोटा सा ब्रह्माण्ड है। शरीर रूपी राज्य का राजा आत्मा है हमारे आत्मा को अपने शुभ अशुभ, पुण्य-पाप, सुख-दुःख बोध कराता है। वेद इस मन को शिव संकल्प से भरने का उपदेश करता है। कैसे? अगले अंक मे देखिए। क्या ऐसे ज्ञान के प्रकाशक वेद को सभाल के रखना ठीक नहीं। आइये वेद पढ़ें।

(क्रमश:)

हकीकत राय बलिदान दिवस-बसन्त मेला

अखिल भारतीय हकीकत राय सेवा समिति आर्यसमाज, सरोजनीनगर नई दिल्ली के तत्वावधान में धर्मवीर हकीकत राय बलिदान दिवस रविवार २७ जनवरी को बड़े समारोहपूर्वक निम्नलिखित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जायेगा।

कार्यक्रम

प्रात:	८-३० से ९३०	यज्ञ
प्रात:	९-३० से १० बजे	मनोहर भजन (श्री गुलाबसिंह राघव
प्रात:	१० से १२ बजे	स्कूल के बच्चो द्वारा गायनएवं भाषण प्रतियोगिता हकीकतराय बलिदान सम्बन्धी
दोपहर	१२ से १-३० बजे	श्रद्धांजलि सभा। जिसमें आर्य नेता, सन्यासी विद्वान पधारेंगे।
दोपहर	१-३० से २-३० बजे	प्रीतिभोज

रोशन लाल गुप्ता मन्त्री

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

आदर्श गणतन्त्र

सम्पादकीय

वैदिक संहिताओ मे आध्यात्म, नैतिकता, समाजशास्त्र, मानववाद के साथ साथ राजव्यवस्था के भी सुव्यवस्थित सूत्र प्राप्त होते हैं। गणतन्त्र के अधिपति का ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दो मे आवाहन किया गया हैं—'तुभ गणतन्त्र के अधिपति का हम आवाहन करते हैं। तू मेधावियो मे अतिशय मेधावी है। तू ज्येष्ट राजा हैं। तू ब्राह्मणस्पति है। तू हमारे आवाहन को सुनकर अपनी रक्षाओ के साथ राष्ट्र सदन में आकर बैठे। (ऋ० २-२३-१) वैदिक राजा या प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र नहीं हैं। वह सभा और समिति के अधीन है। आधुनिक परिभाषा मे ये लोक सभा एव राज्यसभा हैं।

वेदो में सेना और युद्ध का सम्यक चित्र उपलब्ध है। हमारा राष्ट्र कभी शत्रु से पराजित न हो, इस विषय की प्रार्थनाए और उद्बोधन गीत वेदो मे अनेक स्थानो पर मिलते हैं—हमारे राष्ट्र का अधिनायक सदा विजयी रहे, कभी पराजित न हो। राजाओ मे अधिराज होकर शोभा पाए। वह कार्यकुशल, प्रशसनीय वन्दनीय तथा प्रजा की पहुंच मे रहने वाला हो। (अथर्व ०६-९८-१)

प्रयास ऐसा होना चाहिए कि युद्ध कभी उपस्थिति ही न हो। सभी राष्ट्रो मे पारस्परिक सद्भावना रहे। युद्धो मे पुरुष और जगत का सहार होता है। इसे रोकने की इच्छा करते हुए वेद मे कहा गया है—'मा हिंसी पुरुष जगत' (यजुर्वेद १६-२१), किन्तु यदि विवशता मे युद्ध करना पडे तो फिर युद्ध के रोमाचक चित्र भी वेद प्रस्तुत करता है। सैनिको को उद्बोधन देता हुआ वेद कहता है—आगे बढ आक्रमण कर, शत्रुओ को परास्त कर। (ऋ० १-८०-३-१२)

वेदो मे ब्रह्म और छत्र के समन्वय पर जोर दिया गया है। 'जिस राष्ट्र मे ये दोनो बल परस्पर समन्वय के साथ विद्यमान हैं, वह राष्ट्र पुण्यशाली हैं'—(यजु० २०-२५) अथर्ववेद का भूमिसूक्त राष्ट्रभक्ति राष्ट्रसमृद्धि और राष्ट्रगौरव का अमर गीत है राष्ट्रीय प्रार्थना राष्ट्र का एक अति सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है—हे ब्रह्मन्, हमारे राष्ट्र मे ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हो। सूर शस्त्रास्त्र चलाने मे निपुण, शत्रु वेद्धा, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हो। दुधारू गौए हो। शीघ्रगामी घोडे हों। गृह कार्यकुशल बुद्धिमती नारिया हो। विजयशील रथारोही, सभ्य युवा पुत्र हो। इच्छानुसार बादल बरसें औषधिया फलफूलो से लदी रहे। हम सभी का योग-क्षेम होता रहे।" (यजु० २२-२२)

हम प्रतिवर्ष २६ जनवरी को गणतन्त्र दिवस समारोह पूर्वक मनाते है। इस दिन भारतवर्ष का अपना सविधान लागू हुआ था। हम वास्तव में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते है। और कामना करते है कि कोई हमारे गणतन्त्र की ओर आख उठाकर न देख सके। इस दिन हम सेना की इलैक्ट्रोनिक युद्ध क्षमता, लडाकू-वायुयानो टैंको, युद्ध पोतो तथा अपनी सैनिक टुकडियो का प्रदर्शन करते हैं। साथ ही हम भारत वर्ष के विभिन्न प्रान्तो की सास्कृतिक गतिविधियो का भी भाकियों के माध्यम से परिचय देते हैं। वास्तव मे यह हमारे उल्लासमय वातावरण का प्रतीक है।

इस वर्ष खाडी देशो मे युद्ध हो रहा है और भारत अपने विजयोल्लास मे डूबा हुआ भी वहा की परिस्थितियो से असपृक्त नही रह सकता। भारतवर्ष का चिन्तन वेदो पर आधारित हैं। जहा पारस्परिक सद्भाव, शान्ति और विश्वबन्धुत्व के अनेक सन्देश प्राप्त हैं। भारत वर्ष इस अवसर पर भी विश्व को सह-अस्तित्व का सन्देश देगा, ऐसी हमें आशा है।

परमपिता परमात्मा से हम कामना करते है कि सभी को सद्बुद्धि दे और हम युद्धो से दूर रहें।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२० जनवरी ९१ के अंक से आगे)

राजस्थान आर्यकुमार परिषद के साथ हमारी जोधपुर आर्यकुमार सभा ने अपना सम्बन्ध जोड रखा था। सुजानगढ़ के श्री जीवानन्द आनन्द हमारे प्रान्तीय मन्त्री थे। उन्होंने अपने नगर मे हो प्रान्तीय सम्मेलन का आयोजन किया। ग्रीष्मावकाश मे हम लोग सुजानगढ़ गये। मैं, दाऊलाल टाक और चांद मल के यहां प्रथम बार पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति के दर्शन हुए, यद्यपि सार्वदेशिक मासिक के सम्पादक के रूप मे उनकी टिप्पणिया और लेख आदि तो मैं पर्याप्त समय से पढ़ ही रहा था। प० धर्मदेव जी ने यहा यजुर्वेद पारायण यज्ञ का आचार्यत्व ग्रहण किया। मैंने प्रथम बार पारायण यज्ञ की शैली को देखा। मन्त्रो के आधार पर आहुतिया और बीच-बीच मे उपयोगी मन्त्रो की व्याख्या। प० धर्मदेव जी ने आर्यकुमार परिषद के अध्यक्ष के नाते हमे प्रेरणा दी कि हम अपने नाम के आगे जाति सूचक शब्द का प्रयोग न करें। मैं अब तक अपने को 'भवानीलाल माथुर' या 'भवानीलाल माथुर भारतीय' के रूप मे प्रकट करता था। किन्तु अब प्रान्तीय कुमार सम्मेलन में स्वीकृत इस प्रस्ताव के अनुसार मैंने अपने आपको सामाजिक जीवन में स्वय को 'भवानीलाल भारतीय' के नाम से ही परिचित कराया 'यद्यपि राजकीय दस्तावेजो और सेवा पजिकाओ मे १९८० तक मेरा नाम 'भवानीलाल माथुर के रूप मे ही अकित रहा।

सिद्धान्त रत्न सिद्धान्त भास्कर तथा सिद्धान्त शास्त्री उत्तीर्ण करने के पश्चात् परिषद द्वारा १९५२ मे ही सर्वप्रथम स्थापित सिद्धान्त वाचस्पति की परीक्षा भी मैंने सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण की। इसके पश्चात तो केन्द्र सचालन का कार्य मैंने स्वय सम्भाल लिया और उम्मेद हाई स्कूल तथा सरप्रताप हाईस्कूल (जहाँ मैं १९४९ मे अध्यापक बन गया था) के छात्रो को परीक्षाओ मे सम्मिलित होने की प्रेरणा करता रहा। सायकाल आर्यसमाज मन्दिर मे इन परीक्षाओ के अध्ययन के लिए भी व्यवस्था हमने की थी और छात्रो को धर्म शिक्षा का अध्ययन कराते थे। जब मैं १९५४ ई० मे सरदारपुरा मे रहने लगा तो आर्यसमाज सरदार पुरा मे भी इन परीक्षाओ मे सम्मिलित होने के लिए छात्रो को प्रेरणा दी। यहा की आर्य कन्या पाठशाला की अनेक अध्यापिकाओ ने भी इन परीक्षाओ को उत्तीर्ण किया। इस कार्य मे हमे सार्वजनिक स्कूल के प्रधानाध्यापक स्व० विश्वम्भर दयाल गर्ग का सहयोग मिलता रहा। परीक्षा मन्त्री के पद पर जब तक डा० सूर्यदेव शर्मा रहे तब तक यह कार्य बहुत बडे पैमाने पर सुव्यवस्थित ढग से चलता रहा। इसके पश्चात मुरादाबाद के प्रिंसिपल जगदीशप्रसाद अग्रवाल परीक्षा मन्त्री बने। इनके कार्यकाल मे परीक्षा कार्य कुछ शिथिल तो हुआ किन्तु उसकी अवनति के दिन तब आये जब अलीगढ़ के डा० प्रेमदत्त शास्त्री परीक्षा मन्त्री बने। इसके पश्चात् तो न तो परीक्षायें ही चली और न उनकी सचालक सस्था भारत वर्षीय आर्यकुमार परिषद ही अपना अस्तित्व कायम रख सकी। इसके बाद आर्यवीर दल और आर्ययुवक परिषद आदि के अनेक आन्दोलन जन्मे और बढे। किन्तु जो कार्य कुमार परिषद ने किया उसकी कोई मिसाल नही बन सका।

मैंने प्रान्तीय परिषद् का अगला अधिवेशन जोधपुर मे आमन्त्रित किया। जब इस अधिवेशन की तिथिया निकट आई तो मै बडा चक्कर मे पडा। मैने स्वय ही तो प्रान्तीय सम्मेलन जोधपुर मे आमन्त्रित किया था, किन्तु प्रतिनिधियो के निवास, भोजन तथा अन्य व्यवस्थाओ की गुरुता से मै सर्वथा अनजान था। हमारे नेता श्री गणेशीलाल जी राजस्थान आडिट आफिस मे स्थानान्तरित होकर जयपुर चले गये थे। मेरी सकोची वृत्ति ने मुझ मे इतना साहस भी नही रखा कि मै अपनी कठिनाई आर्यसमाज के अधिकारियो के समक्ष रखकर उनसे इस सम्मेलन के लिये सहायता लेता। मैंने तो एक बार यह निश्चय भी कर लिया कि मैं प्रान्तीय मन्त्री श्री जीवानन्द आनन्द को लिख दू कि जोधपुर मे सम्मेलन आयोजित किया जाना सम्भव नही है।' किन्तु हमारी सभा मे एक अन्य युवक श्री शम्भूदत्त सारस्वत का उन्ही दिनो प्रवेश हुआ था। उन्होने मुझे आश्वासन दिया कि मैं सम्मेलन को लेकर थोडा भी चिन्ता न करूं। वे स्वय ही प्रतिनिधियो के भोजन, निवास आदि की व्यवस्था करेंगे। हमने इस आश्वासन को एक दैवी वरदान माना।

(क्रमश)

वासन्ती बयार बह रहा

—श्री चमनलाल गुप्ता, अशोक विहार

भारतवर्ष त्यौहारों पर्वों का एक अनन्त विशाल समुद्र के समान है, जिसमें अनेक मंगलमय पर्वों, त्यौहारो की नदियो का पावन संगम निरन्तर होता रहता है। इन्ही पर्वों मे हमारे विशाल देश की महानता इन्द्र धनुष की आभा और अखण्डता परिलक्षित होती है। कहां तक गिनायें, जितने त्यौहार, पर्व इस देश में मनाये जाते हैं, शायद ही विश्व के किसी और देश मे मनाये जाते हो। सच तो यह है कि ये पर्व ही हमारी संस्कृति के प्राण हैं जो भारतीय प्राचीन संस्कृति की समृद्धि को उज्जागरित करते हैं। शताब्दियों से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का जीवन इन्हीं त्यौहारो से प्रेरित होता आ रहा है। हमारे सभी त्यौहार प्रसिद्ध महापुरुषो के जन्म उनके उदात्त विशद जीवन की प्रेरणादायक घटनाओ से जुडे हैं प्रकृति की सुन्दर महामाया से।

संसार मे पांच प्रकार की सभ्यताएं फैल चुकी हैं—मिश्र, यूनान, बेबीलोन चीन और भारतवर्ष। परन्तु भारत को छोडकर शेष चार प्रकार की सभ्यताओ का आज जरा भी कोई चिन्ह दिखाई नही पड़ता। लेकिन लाखो वर्ष बीतने पर भी आज भारतीय सभ्यता वैसी ही तरो ताजा है। इस आश्चर्य जनक स्थिति को कवि शिरोमणि डा० इकबाल ने अपने बडे मौलिक एवं सुन्दर शब्दो मे इस तरह व्यक्त किया है।

यूनान मिस्र रोमा मिट गये जहा से कुछ बात है कि हस्ती मिटती नही हमारी।
वर्षों रहा जमाना जुलमो सिता हमारा फिर भी बाकी है अबतकनामो निशा हमारा।।

अत. इसका रहस्य पर्व त्यौहार ही हैं जो हमारी सभ्यता का परिचायक है। दर्पण है और प्राण है।

इन्ही त्यौहारो की एक लम्बी श्रृंखला मे एक महा पर्व बसन्त का भी है। यह शुद्ध प्राकृतिक ऋतु पर पर्व है जो प्रतिवर्ष माघ शुदी पञ्चमी को आता है। परन्तु हिन्दुओं आर्यों के पंचाग के अनुसार बसन्त ऋतु के दो महीने चैत्र और वैशाख होते है। अत: मानो जो प्रकृति चालीस दिन पहिल से ही बसन्त ऋतु के भव्य स्वागत की तैयारी माघ शुदी पंचमी से आरम्भ कर देती हैं। ऐसा प्रतीत काल से चला आ रहा यह महापर्व उल्लास और आनन्द प्रमोददायक त्यौहार माना जाता है। यह शीत ऋतु की समाप्ति पर मकर संक्रान्ति के आठ दस दिन बाद और होली से चालीस दिन पूर्व आता है। इसीलिए सम्भवत: यह कहावत प्रचलित है—

"बसन्त आया जाडा डोला आया बसन्त पाला उदन्त ज्योतिष शास्त्रो के अनुसार यह आठ सहस्र मील चौडी पृथ्वी अपनी चौबीस सहस्र मील परिधि का एक चक्कर चौबीस घण्टे मे पूरा करते हैं, तो इससे यह दिन और रात्रि का निर्माण करती है जो प्राणी मात्र के लिये सुख का साधन हो जाता है। दिन काम करने के लिये और रात्रि दिन की थकान को दूर करने के लिये। जब यही पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमकर एक चक्कर ३६५ दिन और कुछ घण्टो मे पूरा करती है तो इससे बारह मास और छ: ऋतुओ का निर्माण होता है। वैदिक साहित्य मे इन्हे बारह आदित्यो के नाम से भी जाना गया है। यजुर्वेद (२२-३१) मे उनके इस प्रकार है—

मधु माधव, शुक्तशिशुद्धि, नभ नभस्य, इष-ऊर्जा, सह-सहस्य, तप-तपस्या। ये दो-दो मासो के जोड़ ही छ: ऋतुओ के द्योतक हैं। सामवेद (मन्त्र ६१३) मे प्रकार गिनाया गया है—

वसन्त इन्न रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्य। वर्षाण्यनु शर दो हेमन्त:इन्न रन्त्य: कवि शिरोमणि कालीदास ने इन ऋतुओ का अपने ग्रन्थो मे बडा सुन्दर वर्णन किया है। छ ऋतुएं प्रभु ने मानव के मन: प्रसाद के लिये बड़ी रमामयिता युक्त बनाई है। इनमे सर्वश्रेष्ठ वसन्त को ही माना गया है। इसका ही सब ऋतुओ में प्रधान स्थान देने के कारण इसे 'ऋतुराज' कहा गया है।

जैसे सूर्यभगवान के उदय होने पर रात्रि का अन्धकार भग जाता है और जन साधारण अपने जीवन मे नई स्फूर्ति अनुभव करके अपने-अपने काम-धन्धों मे लग जाते हैं और पशु-पक्षी भी अपने खाने-पीने की खोज मे इधर उधर निकल जाते हैं। ठीक इसी प्रकार से वसन्त के आगमन पर प्रकृति मे नई चेतना पैदा हो जाती है। प्रकृति देवी मानो एक रंग बिरंगी सुन्दर चुनरी धारण कर एक सुन्दर युवती की भांति उल्लास भरी, नाच करती प्रकट होती है। पतझड़ ने आकर जो पौधो और पेडो के पत्ते-पत्तियो को सुखाकर नीचे गिरा दिया था और मानो उनको निर्वस्त्र कर दिया था, वसन्त आकर उनको नये-नये कोमल, सुन्दर नन्ही-नन्ही मोहक पत्तियो से लाद दिया है। शीतल समीर मन्द-मन्द सुगन्ध बरसाता हुआ बड़ा जीवन दायक प्रतीत होता है और जब वह शरीर को छूता है तो सारे शरीर मे एक नई स्फूर्ति और नव जीवन का संचार हो जाता है इस समय प्रकृति अपने पूरे यौवन मे होतीहै। जितने रंग-बिरंगेफूल इस मौसम मे होते है उतने अन्य किसी ऋतु मे नही होते। इसीलिये कहा जाता है कि हंसती हुई पृथ्वी को चित्रित करने हेतु बसन्त फूलों का पिटारा खोल देता है। इसी कारण इसे फूलो का त्यौहार भी कहा जाता है। इस समय सारी पृथ्वी बसन्ती बाना धारण किये हुए दिखाई देती है। खेतों में सरसो के पीले-पीले फूल शोभायमान होते है और वनोमे ढाक के फूलो की सुन्दरता मन को लुभाने वाली लाल-लाल आभा छा जाती है उद्यानो मे गेन्दे के फूल अपनी शोभा का विहलूर करते नही थकते। सूरजमुखी अपने आराध्य देव सूर्य के ध्यान मे मग्न रहती हैं। गुलाब यदि अपनी गुलाबी बहार दिखाता है तो कमल अपने पुष्प नेत्रो से प्रकृति की सुन्दरता को देखता रहता है। आम के वृक्षो पर बोर आने लगते है और उनपर मण्डराते हुए भौरो की गूंजे और लताओपर बैठी कोयल की मधुर सुरीली कूक उसकी शोभा की और भी चार चाद लगा देता है। मधु मक्खियां फूलो से रस लेने और मधु (शहद) तैयार करने मे लगी हुई इधर उधर उडती दिखाई देती है। कोयल मानो ऋतुराज वसत के स्वागत मे सुरीले गीत गा रही होती है, इसीलिये पाश्चात्य कवियो ने कमल को वसन्त का दूत (Harbinger of spring) की संज्ञा दी है।

शीत के कारण छोटे-छोटे पक्षी जो किसी अज्ञात स्थान पर चले गये थे। वे भी वसन्त के आने पर मानो उसका स्वागत करने के लिये फिर से वृक्षो पर बैठ प्रकृति की शोभा बढ़ाने मे लगे हैं। सारांश यह कि इससमय सारा वायु मण्डल मद से परिपूर्ण हो जाता है। सभी दिशाएं सुरीली, मीठी-मीठी, आवाजो वाले नाना प्रकार के पक्षियो के कलरव से गूंज उठती है। इस प्रकार सारा प्राकृतिक जगत जड चेतन नये जीवन का संकेत करता है। सारा वातावरण मधुमय आकर्षक और मनोहर लगने लगता है। ऐसे उल्लासमय और मद भरे वातावरण मे मानव मन की स्थिति भी कुछ और ही हो जाती है। अत: अपने चहूं ओर मोहक प्राकृतिक दृश्यो की अद्भुत सौन्दर्य को देखकर मस्त हो झूमने लगता है। और अपने अन्दर एक नये जीवन का संचार अनुभव करने लगता है। नगरो विशेष कर ग्रामो में सभी नर-नारी औरबाल वृद्ध बसन्ती परिधान मे दीख पडते हैं। मानस प्रसाद के लिये विविध प्रकार के मनोरजनो का आयोजन भी करते हैं।

स्वास्थ्य के लिये भी यह ऋतु बहुत ही उपयोगी और लाभदायक है। इस लिये इसमे उद्यानो मे भ्रमण करना और व्यायाम आदि करना अत्यन्त लाभप्रद है। महर्षि चरक ने 'वसन्त भ्रमण पथ्यम्' कहा है। इन्ही भावो को यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय के कुछ मन्त्रो को बडी कला पूर्ण ढंग से वर्णन किया है। सम्भवत: इन्ही गुण के कारण विद्वानो ने इस ऋतु को स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग न देकर पुल्लिंग में माना है यही इस ऋतु का महत्व है) परन्तु इस ऋतु के साथ धर्मवीर नायक हकीकत की बलिदान की गाथा जुडने से इसकी महत्व और भी बढ़ जाता है। मुगल सम्राट अकबर महान के पुत्र जहांगीर के शासन काल में स्यालकोट निवासी (वर्तमान पाकिस्तान मे) लाला भागमल और माता कौरा के एक मात्र छोटी आयु मे विवाहित वीर बालक हकीकत को उसके सहपाठी मुसलमान बच्चों के साथ किसी तुच्छ सी बात पर वादविवाद होने के कारण, मुल्लाओ के फतवे फल स्वरूप शालीमार बाग लाहौर मे इसी वसन्त के दिन कत्ल कर दिया गया था। आर्य वीर बालक ने प्रलोभनो की लेशमात्र भी परवाह न की धर्म पर आरूढ़ रहा और जीवन बचाने के हेतु मुसलमान बनना स्वीकार न करके, बलिदान होना ही श्रेष्ठ समझा और कातिलो को यह शब्द कहते हुए निर्भीकता से अपना सिर तलवार के नीचे कर दिया—

(शेष पृष्ठ ५ पर)

धर्मवीर हकीकत राय

—नरेन्द्र अवस्थी

महापुरुष, देश और धर्म पर बलिदान होने वाले क्रान्ति वीर समाज सुधारक किसी जाति या धर्म के लिए प्रेरणा स्रोत होते हैं। वो धर्म या समाज व इतिहास में नव उत्साह का सचार करते हैं जो जातिया अपने युगपुरुषो—शहीदो क्रान्तिकारी वीरो को भूल जाती है वो इतिहास के पन्नो से मिट जाती है। ऐसा ही एक धर्मवीर था बालक हकीकत राय ! जिसने अपने अदम्य साहस व तर्कसगत विचारो से पूरे इस्लाम साम्राज्य को हिला दिया। उस अमर बलिदानी की अमर प्रेरणा का ही परिणाम है कि १९४७ मे देश विभाजन पर हम लाखो हिन्दुओ ने धर्मवीर हकीकत राय के पथ पर चल कर करोड़ो रुपयो की सम्पत्ति कारोबार, घरबार को ठोकर मारकर पुण्यभूमि भारत मे आये। धर्मवीर हकीकत राय यदि मुसलमान बन जाते तो उन्हे सभी प्रकार के ऐश्वर्य विलासिता के साधन उपलब्ध होते मगर उन्होने धर्म को सर्वोपरि माना। ऐसे ही देश विभाजन पर लाखो हिन्दुओ की अग्नि परीक्षा हुई। पाप स्थान अर्थात पाकिस्तान से आने वाला हर हिन्दू परिवार भी हकीकत राय के पथ का अनुसरण करने वाला लगता है।

वीर हकीकत राय का जन्म १७१९ मे स्यालकोट मे लाला भागमल के घर हुआ। पिता उसे किसी महत्वपूर्ण पद पर देखने के इच्छुक थे इसी अभिलाषा से उसे 'मदरसे' मे शिक्षा ग्रहण के लिये भेजा। वहा ज्यादातर मुसलमान सहपाठी थे। बालक हकीकत राय कुशाग्र बुद्धि का होने के कारण मौलवी साहब का विशेष कृपापात्र बन गया। परन्तु हकीकत राय की माता उसे हिन्दू धर्म के इतिहास व विशेषताओ का बोध कराती रहती थी। जिससे वीर हकीकत को धर्म और अपनी सस्कृति की हककीत का ज्ञान हुआ। मदरसे में सभी मुस्लिम छात्र उसकी प्रतिभा से ईर्ष्या करते थे। एक दिन जबकि मौलवी साहब बाहर गये हुये थे। सभी सहपाठियों ने वीरहकीकत को खेलने के लिए मजबूर किया। उसने दृढ़ता पूर्वक कहा "मैं मदरसे मे पढने को आया हूं मेरी खेलने की बिल्कुल इच्छा नही है। इसपर गुस्से मे आकर उसके दो सहपाठियो ने हकीकतराय को चिढाने को 'मा दुर्गा भवानी' को गाली दे डाली। वीर हकीकत राय का चेहरा तमतमा गया यह उन की सहनशीलता से बाहर था। उस वीर ने कहा यदि ऐसे ही अपशब्द मैं तुम्हारी फातिमा बीबी के लिये प्रयोग करूं। इस बात पर सभी मुसलमान छात्र बौखला उठे। सभी छात्रो ने मौलवी के आने पर इसकी शिकायत उससे की। मौलवी भी रसूलादजादी के बारे में अपशब्द कहने पर बौखला उठे। मौलवी ने इस पूरे इस्लाम मजहब का अपमान बताते हुए मामला काजी साहब तक पहुचाया। काजी साहब ने यह फतवा दिया या तो हकीकत राय मुसलमान हो जाए या इसे मृत्युदण्ड दिया जायेगा।" वीरहकीकत राय ने निडरता की मूर्ति बनकर कहा 'यह कहा का न्याय है जो अपराध मैंने किया है वही मेरे से पहले इन मुस्लिम लडको ने किया है। मैं हिन्दू धर्म को बिल्कुल नही छोड सकता चाहे मुझे मृत्यु के फन्दे को क्यो न चूमना पड़े। हमारे धर्म मे कहा है आत्मा अमर हैं—शरीर नश्वर है इसीलिये—

काट सकते हो तो अन्दर का हकीकत काटो।
काट सकती जिसे यह तुम्हारी तलवार नही॥

काजी और मौलवी हकीकत राय के तर्कों को सुनकर और क्रोधित हुये। हकीकत राय के पिता ने बडा समझाया कि बेटा मुसलमान हो जाओ—तुम्हारी जान तो बच जायेगी। मगर चट्टान से भी ज्यादा मजबूत इरादे वाले वीर ने कहा।

सब झुके सब कुछ झुके
झुके गर काल भी।
यह हरगिज नही मुमकिन
धर्महेतु झुके मेरे सिर का बाल भी॥

उसे मुसलमान बनाने के लिए अनेको प्रलोभन दिये गये मगर उनकी एक भी बस न चली। लाहौर के हाकिम शाह नाजिर ने काजी के निर्णय की पुष्टि की और उसको जल्लाद के हवाले करके कतल करने की आज्ञा दी। हकीकत राय ने कतल की सजा सुनकर मुस्कराते हुए पिता श्री को कहा 'पिता जी हमे तो भगवान कृष्ण के गीता मे बताया कि शरीर मरता है—आत्मा कभी नही मरती। आत्मा केवल दूसरा चोला धारण करता है वसन्त पंचमी के ऐतिहासिक व धार्मिक दिवस पर जब जल्लाद ने तलवार उठाई तो मासूम व खूबसूरत बालक को देखकर उसका दिल भी दहल गया—उसकी जमीर भी उसे धिक्कारने लगी। वीर हकीकत राय ने उसे भी उपदेश देते हुये कहा 'भाई मैं जब अपना कर्तव्य निभा रहा हूं तुम भी अपना कर्तव्य निभाओ वीर हकीकत राय ने मरते दम यह सिद्ध कर दिया धर्म की बलिवेदी पर हम प्राण देते हैं तो हमारे-चेहरे पर मुस्कान खेलती है।

जब तक खून की लाली
हमारे एक भी कतरे में है।
कौन कहता है कि हमारे
धर्म या वतन की आबरू खतरे मे हैं॥

१—आर्यसमाज मार्केट श्रीनिवासपुरी, नई दिल्ली-११००६५

(पृष्ठ ४ का शेष)

काट सकते हो तो अदन्र के हकीकत को काटो।
काट सकती असल हकीकत को यह तलवार नही।

इस वीर बालक की एक सगमरमर की सुन्दर प्रतिमा, हिन्दु महासभा भवन नई दिल्ली के प्रांगण में स्थित है, जहा प्रतिवर्ष इस धर्म की वीर बालक की की याद मे वसन्त पचमी के दिन का बडा सुन्दर प्रेरणादायक कार्यक्रम आयोजित होता है।

देश मे निराशा का वातावरण है, तो प्रकृति मे तो वसन्त आ हीगया, पर देश मे तो निराशा के बादल छाये हुए हैं। अभाव दुख कष्ट, कमर तोड महगाई, भ्रष्टाचार, दुराचाकर अनैतिकता का बोलवाला है। भाषावाद प्रदेशवाद जलवटवारा वाद अराष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता के राष्ट्र विरोधी तत्व उभर कर आ रहे हैं और सगठन का स्थान विघटन ने ले लिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अशान्ति और अराजकता का साम्राज्य है। कोई भी सुरक्षित नही है, निर्दोष व्यक्तियो का खून बहाया जा रहा है, सब की आखो में आसू हैं। ऐसी चिन्ता जनक स्थिति मे क्या कोई वसन्त ऋतु को आनन्द ले। इस अन्धकारमय स्थिति को आर्यजगत के सुप्रसिद्ध ओजस्वी कवि श्री शरर जी ने किसी प्रसग मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

खिजा के दौर मे अपना चमन हुआ बर्बाद बहार में भी कली कोई मुस्करा न सकती गुलाब ये तो गुलामो का भाप सताता रहा रिहा हुए तो रिहाई भी रास आ न सका नवीन आज भी हूण वही अन्धेरा है। कही भी नूर की नन्ही किरण नही मिलती देश की ऐसी अन्धकारमय और दैनीय दशा को ध्यान मे रख कर एक देशभक्त ने अपने मन की वेदना इस प्रकार व्यक्त की है—

"न चल ए महकते वादे बाहरी राह लग अपनी।
तुझे अठखेलियां सूझे हैं हम बेजार बैठे हैं॥"

अत इस वर्ष वसन्त पर्व का यही एक मात्र पावन सदेश है कि सभी देश भक्त, विशेषकर युवा वर्ग अपने आपसी सब भेदभावो को भुलाकर केवल देश हितो को ध्यान मे रखकर उभरते हुए अराष्ट्रीय तत्वो का सामना करके मातृभूमि की रक्षा कार्य मे जुट जाए। और देशवासियो के जीवनो मे इस विषैले भ्रष्टाचार से मुक्ति पाने की लहर पैदा करें सभी कामना करें या रब इस वर्ष वसन्त ऐसा खिले। शान्ति का वातावरण देश मे फिर से जगे" अत आने वाले दिनो को सुख और शान्तिमय, मगलमय बनाने हेतु जगत नियन्ता प्रभु से कामना करें।

हमारे गये दिन फिर से फेरदे ऐ कादरे मुलक।
सुना है तेरी दरगाह से गये दिन फिर आते हैं॥

आर्य बस यात्रा

दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मंडल के तत्वावधान में दिल्ली से टंकारा तक

दिनांक ७-२-९१ वीरवार से २०-२-९१ बुद्धवार तक

प्रस्थान तिथि	समय व स्थान	पहुंच
७-२-९१	प्रात: ठीक ७ बजे आर्यसमाज मन्दिर ग्रीन पार्क नई दिल्ली	सायं २ बजे जयपुर
८-२-९१	प्रात: ७ बजे जयपुर से	साय १२ बजे पुष्कर
		सायं ४ बजे अजमेर
९-२-९१	दोपहर १ बजे अजमेर से	सायं ६ बजे जोधपुर
१०-२-९१	प्रात: ११ बजे जोधपुर से	साय ६ बजे माऊंट आबू
११-२-९१	प्रात: १२ बजे माऊंट आबू से	साय ८ बजे राजकोट
१२-२-९१	प्रात: १० बजे रोजकोट से	दोपहर १२-३० टंकारा
१३-२-९१	टकारा सारा दिन समारोह में	
१४-२-९१	प्रात: ७ टंकारा से	साय ५ बजे द्वारका
१५-२-९१	प्रात: ७ बजे द्वारका से	प्रात: ११ बजे सोमनाथमंदिर
१५-२-९१	दोपहर १ बजे सोमनाथ से	साय ६ बजे पोरबन्दर
१६-२-९१	१ बजे पोरबन्दर से	साय ८ बजे अहमदाबाद
१७-२-९१	दोपहर अहमदाबाद से	साय ८ बजे नाथ द्वारा
१८-२-९१	प्रात: १० बजे नाथद्वारा से	दोपहर १२ बजे उदयपुर
१९-२-९१	दोपहर १२ बजे उदयपुर से	सायं ३ बजे चितौगढ गुरुकुल
२०-२-९१	प्रात: ७ बजे चितोड गढ	रात्रि १० बजे

आप ९००) प्रति सवारी के हिसाब से धन जमा कराकर शीघ्र सीटे बुक करा लें। ७-२-९१ वीरवार को प्रात: ७ बजे के पश्चात किसी यात्री की प्रतीक्षा नही की जायेगी।

१-श्री रामसरनदास आर्य, महामन्त्री, ओ-१७, जगपुरा विस्तार,
नई दिल्ली-११००१४ फोन. ६९९४०८

२- श्री गणेशदास ग्रोवर, कोषाध्यक्ष एस-२२९, ग्रेटर कैलाश-I-आर्य समाज मन्दिर ग्रेटर कैलाश-1

श्रद्धानन्द बलिदान दिवस

यहां आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द बाजार (वाल बाजार) लुधियाना मे स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर एक श्रद्धांजलि समारोह का आयोजन किया गया। समारोह की अध्यक्षता स्वामी सुमना यति जी ने की।

समारोह का उद्घाटन करते हुए श्री रोशन लाल आर्य ने कहा कि देश को स्वतन्त्र कराने, धार्मिक अन्ध विश्वास मिटाने, दलितोद्धार, छुआ-छूत की समाप्ति, स्त्री शिक्षा, महर्षि दयानन्द के स्वप्न को साकार करने के लिए गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की स्थापना साम्प्रदायिकता एकीकरण के लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने प्राणो का बलिदान दिया। स्वामी जी ने शुद्धि आन्दोलन चलाकर वैदिक धर्मियो की रक्षा की। उन्होने मांग की कि आज शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता है। नैतिक शिक्षा आरम्भ से ही बच्चो को दी जानी चाहिए ताकि आने वाली पीढी को देशभक्त, राष्ट्र निर्माण मे रचनात्मक भूमिका निभाने वाला बनाया जा सके।

इस समारोह मे प० वेद प्रकाश शास्त्री, प० राजेश्वर शास्त्री, पुरोहित आर्यसमाज महर्षि दयानन्द बाजार, ज्ञानी गुरदयाल सिह आर्य एव अन्य आर्य नेताओं ने अपनी श्रद्धांजलि भेंट की।



स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस

दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मण्डल के तत्वाधान मे ३०-१२-९० को आर्यसमाज मस्जिद मोठ मे बडे समारोहपूर्वक मनाया गया। जिस की अध्यक्षता लाला इन्द्र नारायण जी ने की। इस उत्सव मे स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती,,प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा अध्यक्ष थे। इसके अतिरिक्त श्री सच्चिदानन्द शास्त्री, महामन्त्री सार्वदेशिक प्रतिनिधिसभा, श्रीरामनाथ सहगल, मन्त्री प्रादेशिक सभा, चौ० दलीप सिंह पूर्व सासद, आचार्या सुनीता आर्या, श्री इन्द्रसेन विश्व प्रेमी सगीताचार्य चुन्नीलाल भजनोपदेशक भी पधारे। डी०ए०वी० पब्लिक स्कूल मस्जिद मोठ के बच्चों का सास्कृतिक कार्यक्रम भी हुआ। मौरीशस देश का प्रतिनिधि मण्डल भी इस उत्सव में सम्मिलित हुआ। सब महानुभावो ने स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी तथा उनकी सहादत पर अपने ओजस्वी विचार रखे। मौरिशस की बहनो ने प्रभावशाली गीत सुनाये।

रामसरनदास आर्य

वार्षिक चनाव

आर्यसमाज श्री निवासपुरी का वार्षिक चुनाव १९९०-९१ मे निम्न लिखित पदाधिकारी चुने गये। १ प्रधान श्री मोहनलाल २ उपप्रधान श्री लाजपतराय ३ मन्त्री श्री दीना नाथ छाबड़ा ४ उपमन्त्री, श्री हस राज ५ कोषाध्यक्ष श्री दयाल दास शर्मा।

वैदिक साहित्य प्रकाशन

(पृष्ठ १ का शेष)

युग निर्माता सत्यार्थ प्रकाश

प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, आचार्य आर्यसमाज कलकत्ता ने यह अमूल्य ग्रन्थ आर्य भाई-बहनों को अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अवसर पर भेंट किया है। इस ग्रन्थ में सत्यार्थ प्रकाश का परिचय तो दिया ही है, बल्कि सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार मे जो कठिनाईयां आई है, उनका भी विवरण दिया है। सत्यार्थ प्रकाश के ऊपर समय समय पर प्रशासनिक और साम्प्रदायिक आक्रमण हुए, परन्तु यह अमरग्रन्थ, इन आक्रमणों का सामना करके और भी ज्यादा निखरे रूप मे सामने आया। विरोधियों ने लेखनी उठाई, पर ऋषि भक्तो की प्रकाण्ड विद्वत्ता के सामने सभी ने अपने हथियार डाल दिए। प्रो० उमाकांत उपाध्याय ने सभी प्रसगों को प्रारम्भिक रूप में सुरुचिपूर्ण शैली मे इस ग्रथ में प्रस्तुत किया है। आपने युगनिर्माता सत्यार्थ प्रकाश लिखकर साहित्य सेवा का एक नूतन आयाम विस्तीर्ण किया है।

समय-समय पर सत्यार्थ प्रकाश के छोटे-छोटे सरल, सुगम, रूपान्तर प्रस्तुत किए, उनका भी विवरण इस ग्रन्थ मे उपलब्ध है। सत्यार्थ प्रकाश के उपर आर्य जगत में इतना कार्य हुआ है कि सभी का विवरण देना पं० जी के लिए सभव नहीं था। सत्यार्थ प्रकाश के अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषाओ में अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके है। उन सभी का विवरण देना प० जी लिए श्रमसाध्य कार्य न था पर उन्होने यह कार्य बहुत ही दक्षता पूर्वक किया है। प्रो० उमाकान्त जी का साधुवाद।

(युगनिर्माता सत्यार्थ प्रकाश- प्रो० उमकान्त उपाध्याय,

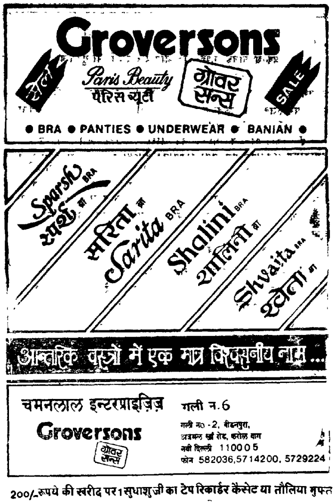
प्रकाशक—आर्यसमाज कलकत्ता, १९, विधान सरणी, कलकत्ता-७

सूचना

प्रिय पाठको

यह सूचित करते हर्ष का अनुभव करते है कि १०-२-९१ को हम ऋषि बोध विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं।

अत: अगला ३-२-९१ का अंक आपको उपलब्ध नही हो सकेगा।









आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No 32387/77 Post in N D P S O on 24 25 1-1991
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६

'Licenced to post without prepayment, Licence No U 139
पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३६

"दिशाहीन समाज व राष्ट्र"

ओमप्रकाश कालडा मण्डलपति आर्य वीर दल जिला गुडगावा

"साम्प्रदायिकता का विष मानव समाज को डस रहा है। धर्म व जाति के नाम पर साम्प्रदायिक दंगे निर्दोष व्यक्तियो की हत्याए आदि मानव सभ्य समाज पर कलक तथा पशुता के प्रतीक हैं। शान्ति प्रेम अहिंसा तथा सदभावना का वातावरण ही मानव समाज को सुखी, खुशहाल प्रगतिशील बना सकते हैं। राम और रहीम तो मानव समाज को जोडते हैं तोडते नही। विडम्बना है कि तथाकथित राजनैतिक नेता तथा राजनैतिक पार्टिया उत्तरप्रदेश के अलीगढ मेरठ कानपुर वाराणसी, खुरजा, आगरा आदि हैदराबाद व अहमदाबाद जैसे बडे नगरो मे वोटो की राजनीत की आड मे मौत का व्यापार कर रहे हैं। धार्मिक व सामाजिक कार्यकर्त्ताओ को अविलम्ब मैत्री भाईचारा, सद्भाव शान्ति तथा मानवता का वातावरण बनाये रखना चाहिये। ईश्वर व खुदा इन नेताओ और लोगो को सुमति व सदबुद्धी दे।

भाषा विवाद व पजाब

पजाब में चण्डीगढ़ तथा जालन्धर रेडियो स्टेशन से हिन्दी बुलेटिन को अकस्मात व अकारण बन्द कर देना तथा कार्यालयो मे दैनिक हिन्दी समाचार पत्रो पर रोक लगाना अनैतिक व असवैधानिक है। ४५ प्रतिशत हिन्दी भाषियो के साथ अन्याय है। केवल मात्र हिन्दी ही सारे भारत को काशमीर से कन्या- कुमारी तक एक सूत्र मे पिरो सकती हैं। हमे हिन्दी अपनाओ व अग्रेजी हटाओ' पर पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये। भारत सरकार को इस अन्याय सगत निर्णय के आगे नहीं झुकना चाहिये, अपितु कठोर कदम उठाने चाहिये। असम व अन्य दगा ग्रस्त नगरा म सना भेजी जा सकती है। तो पजाब मे क्या नही। पश्चिमी पजाब सीमा सुरक्षा पटटी बनाना नितान्त अनिवार्य है।

अश्लीलता

अर्द्ध नग्न चित्र व अश्लील मुद्रा मे विज्ञापन चित्रहार चित्रमाला की विभिन्न मुद्राए व हावभाव समाज का दूषित बना रहे हैं सिनेमा पत्रिकाए अश्लील नाबल, बल्यू फिल्मे युवक व युवतियो को चरित्रहीन तथा दिशाहीन बना रहे हैं। अत युवक-युवतियो को निर्माण कार्यों तथा समाज सेवा कार्यों मे अपना समय व शक्ति लगानी चाहिये।

आज भारत के प्रत्येक नगर व शहर मे अश्लीलता अर्थात् जिस्म फिरोशी तथा स्मैक आदि ड्रगज आदि का बोलबाला है श्रद्धानन्द नगर व श्रद्धानगर बाजार देहली मे तथा बडे-बड होटलो मे नग्न नृत्य, अश्लील मुद्राए, पोशकालोनी मे एश्वर्यमय रगीन जीवन बिताने वाले युवक युवतिया, जिस्म फिरोख्त का चरित्र हीन, अनैतिक धन्धा करते हैं। आये दिन समाचारपत्रों में शीर्षक पढ़ने को मिलते हैं। न० २ की कमाई करने वाले व्यापारी, अधिकारी कर्मचारी इस अनैतिक व्यापार व व्यभिचार को बढ़ावा देते हैं।

नशा

स्मैक, हशीश, ब्राउन शूगर, अफीम, गाजा, चरस आदि नशे देश के बडे-बडे नगरो शहरो मे बल पकडते जा रहे हैं ढाई अक्षरो का शब्द स्मैक ढाई वर्षों मे जान ले लेता है जीवन लीला समाप्त करने वाले भयानक नशें ड्रगज आदि तथा बढ़ती हुई अश्लीलता के विरुद्ध आर्यों की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा प्रान्तीय सभाओ आर्य समाजो एवं आर्य वीर दल को जन जागरण, जन-आन्दोलन चलाने आदि कार्यक्रम चालू करने चाहिये।

विडम्बना है कि भारत की राजधानी श्रद्धानन्द बाजार देहली में नत्य की आड मे अनैतिक कार्य व धन्धे सदा के लिये बन्द होने चाहिये। 'मण्डलपतिआर्यवीर'



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन। २६१४६८

सेवा मे—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगडा विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार दिल्ली-६ फोन २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ . फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक १६ | रविवार, १७ फरवरी, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४७ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

वैदिक साहित्य प्रकाशन वैदिक धर्म और आर्य समाज के प्रचार-प्रसार का सशक्त माध्यम है—

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

(२७ जनवरी ९१ से आगे)

वेदोद्यान के चुने हुए फूल

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अवसर पर गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली-६ द्वारा वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति द्वारा लिखित 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' प्रकाशित किया गया। आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति वेदों के प्रकाण्ड विद्वान हैं। उन्होंने कुछ दिन पहले 'वेदो कि राजनैतिक सिद्धात' नामक ग्रंथ तीन खण्डो में लिखा था। यह एक अनुपम ग्रन्थ है। वेदों से चुने हुए पुष्प, प्रस्तुत ग्रन्थ मे सजाकर प्रस्तुत किए गए हैं। इस ग्रन्थ में वेद, ईश्वर, सृष्टि-प्रलय उपासना, स्वास्थ्य और जीवन शक्ति, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, राष्ट्रनिर्माण आदि से सम्बन्धित वेदमन्त्रों एवं सूक्तों का सुन्दर संकलन किया गया है। इन सूक्तो की विशद व्याख्या, आचार्य जी के मौलिक चिंतन का परिणाम है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाठको को उदात्त वैदिक सस्कृति की अद्भुत झांकी मिलेगी।

गोविन्दराम हासानन्द के सचालक श्री विजयकुमार जी अद्भुत कर्त्तव्य-निष्ठा के धनी हैं। वे निरन्तर वैदिक साहित्य को आर्य जगत् तक पहुंचाने में संलग्न है लेखक और प्रकाशक, दोनों ही हमारे धन्यवाद के पात्र है।

वेदोद्यान के चुने हुए फूल—आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति,

(गोविन्दराम हासानन्द ४४०५ नई सड़क दिल्ली-६, पृष्ठ-२४८, मूल्य-५० रु०)

वैदिक मधुवृष्टि

'आचार्य रामनाथ वेदालकार का "वैदिक मधुवृष्टि" गवेषणापूर्ण लेखों का सकलन है। आचार्य जी गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार मे सम्कृत विभाग के अध्यक्ष एव आचार्य तथा उपकुलपति रह चुके हैं। वे पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।

आचार्य जी ने इन अनुसधान पूर्ण लेखो मे विभिन्न विषयो को समाहित किया है। आदर्श गणतन्त्र, विश्वबन्धुत्व की भावना, शिक्षा शास्त्र के कतिपय सूत्र, वैदिक यज्ञ-चिकित्सा, वैदिक अर्थ व्यवस्था, वेदो में मानवता की प्रेरणा, वैदिक संस्कृति मे जीवन का स्वरूप, मानव शरीर की महत्ता आदि विषयों का उन्होने सुमधुर सुललित शैली मे विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

वेद विविध बहुमूल्य विचार रूप रत्नों के आकार हैं। इन्ही विचार रत्नो को पाठक इन लेखों में पायेंगे। आचार्य जी की लेखनी से आशा है कि भविष्य में भी हमें ऐसे अमूल्य लेख मिलते रहेंगे। आचार्य जी के स्वास्थ्य एव नीरोग जीवन के लिये शुभ कामनाएं।

[वैदिक मधु वृष्टि—डा० रामनाथ वेदालकार
गोविन्दराम हासानन्द, नई सडक, दिल्ली-६ पृष्ठ २५६। मूल्य ६०-००]

इस अवसर पर अन्य अनेक ग्रन्थो का लोकार्पण किया गया, उनका विश्लेषण सभव हुआ तो भविष्य मे किया जाएगा।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली को देश की शिक्षा नीति का अभिन्न अंग बनाया जाए

दिनांक २३ दिसम्बर, १९९० को आयोजित आर्य महासम्मेलन के पारित प्रस्ताव

—श्री सुभाष विद्यालंकार, कुलपति-गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भारत की गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ससार की सबसे प्राचीन शिक्षा पद्धति है। देश की वर्तमान परिस्थितियों में गुरुकुल शिक्षा पद्धति सर्वथा उपयोगी है। आर्यसमाज के सस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती से प्रेरणा ग्रहण कर १९वीं शती के उत्तरार्ध में स्वामी श्रद्धानन्दजी ने गुरुकुल आन्दोलन प्रारम्भ किया था और हरिद्वार में गंगा तट पर हिमालय की उपत्यका में कांगड़ी ग्राम के पास पहला गुरुकुल स्थापित किया। गुरुकुल कांगड़ी की सफलता से प्रभावित होकर पजाब, उत्तरप्रदेश, हरयाणा, राजस्थान, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा आदि अनेक राज्यों में गुरुकुल स्थापित किये गये।

खेद है कि देश की स्वाधीनता के पश्चात् शासन के कर्णधारों ने गुरुकुल शिक्षा पद्धति की ओर उचित ध्यान नहीं दिया।

अनेक शिक्षा आयोगों और शिक्षा समितियो की सिफारिशो के बावजूद आज भी देश की कोई सुविचारित और स्पष्ट शिक्षा नीति नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का निश्चित मत है कि गुरुकुल शिक्षा पद्धति देश के युवको का चारित्रिक, मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक, आत्मिक और भौतिक विकास करने में समर्थ है, अत. यह सम्मेलन भारत सरकार से आग्रह पूर्वक अनुरोध करता है कि :

१-सरकार गुरुकुल शिक्षा पद्धति को मान्यता और सरक्षण प्रदान कर इसे देश की शिक्षा नीति का अभिन्न अंग बनाए।

२-यह सम्मेलन देश के समस्त आर्य स्कूलो से अनुरोध करता है कि वे समान पाठ विधि अपनाकर गुरुकुल पद्धति और गुरुकुलो के एकीकरण मे सक्रिय सहयोग प्रदान करें।

३-सम्मेलन का निश्चित विचार है कि आर्यसमाज की समस्त शिक्षा सस्थाओं मे वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा, नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा और भारतीय सस्कृति के शिक्षण पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

प्र० सम्पादक—सूर्यदेव
सम्पादक—मूलचन्द गुप्त

सत्य का वृत लें

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

यजु० १९-३०

व्रत (सकल्प) से दीक्षा (कर्तव्यनिष्ठा) को प्राप्त होता है। दीक्षा से दक्षिणा या दाक्षिण्य (चतुरता) को प्राप्त होता है। दक्षिणा (दाक्षिण्य) से श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) को प्राप्त करता है। श्रद्धा से सत्य (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है।

—डा० कपिलदेव द्विवेदी

आर्य समाज और पुरोहित

क्या आप से ऐसे कार्यकर्ता पुरोहित विद्वान हमें मिल सकते हैं? हमें आवश्यकता है।

आर्य समाजो में नवजीवन के सचार हेतु इसी प्रणाली के कार्यकर्ता-पुरोहितो की आर्य समाज मे नियुक्ति, स्थानान्तरण व मासिक निर्देशन कक्षा, व शिविरों आदि की व्यवस्था करना, "प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाओ की जिम्मेदारी व अधिकार बनाया जाए, वर्तमान में आर्य समाजो मे कहीं कहीं जो "पुरोहित" कार्य कर रहे विद्वान हैं वे अधिकाशतः आर्य समाज के व्यापक उद्देश्यो के प्रति उदासीन व तप, साधना से रिक्त होते हैं व अर्थोपार्जन हेतु पण्डा-पुरोहितवाद मे सीमित हो गए हैं, फलतः आर्य सदस्यो व परिवारो मे आर्यत्व की श्रद्धा नही पनपी है व शेष समाज की श्रद्धा तो बाद की बात है। इसीलिए कई आर्य समाजो के अधिकारी तक अनार्य मिलते हैं। अतः आर्य समाज की प्रतिष्ठा हेतु योग्य पुरोहित की सेवा व समर्पण आज की प्रथम आवश्यकता मानते हुए हमारा प्रस्ताव है कि :—

१—(अ) परोपकारिणी सभा-अजमेर के तत्वावधान में अथवा समुचित नेतृत्व मे प्रत्येक प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत-आदर्श एव मान्यता प्राप्त पुरोहितो के लिए नियुक्ति कार्यशालाए सचालित की जाएं।

(ब) प्रत्येक "आर्य पुरोहित" हेतु क्रमश. मासिक निर्देशन कक्षा व प्रत्येक तीन वर्ष मे दक्षता-प्रमाण पत्र का नवीकरण अनिवार्य बनाया जाए।

(स) अप्रमाणिक (अयोग्य) विद्वानो की "पुरोहित कार्य" पर नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

२— आर्य प्रतिनिधि सभाएं ही प्रत्येक आर्य समाज हेतु क्रमशः व प्रमाणिक पुरोहितो की नियुक्ति, स्थानान्तरण आदि का अधिकार व कर्तव्य निर्वाह करे।

पं भूदेव जी शास्त्री एम. ए ने अपने एक लेख मे बड़े महत्वपूर्ण सुझाव दिए है। यहां संक्षेप से उन्ही का उल्लेख करके लेख समाप्त करता हूं।

पुरोहित के कर्तव्य.—

१. समस्त सदस्यो के साथ नियमित सम्पर्क रखना।

२. सदस्यो की सन्तानो का रजिस्टर रखना तथा समय-समय पर उनका समुचित सस्कार कराने की माता-पिताओं को प्रेरणा करना और संस्कार सम्पन्न कराना।

३ साप्ताहिक अधिवेशनों की उपस्थिति बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहना तथा अधिवेशन को उपयोगी बनाना।

४. सदस्यो को पारस्परिक सुख-दुःख में सहयोगी बनाते रहना।

५ महिलाओं, युवकों तथा बालको के लिए आर्य स्त्री समाज, आर्य युवक समाज, आर्य कुमार सभा तथा आर्य बाल सभा आदि का संयोजन करना कराना।

७. आर्य समाज द्वारा सयोजित अन्य व्यायामशाला, आर्य वीर दल आदि की गतिविधियों पर भा दृष्टि रखना तथा उन्हें पुष्ट करना।

८. आर्य बालको की आर्य क्रीड़ा की व्यवस्था करना तथा क्रीड़ा के पश्चात् सम्मिलित सन्ध्या, एक भक्ति गीत का सम्मिलित गायन।

इन कार्यों में पुरोहित की सतर्कता से आर्य समाज में नवजीवन का संचार होगा।

सम्पादक के नाम पत्र

माननीय प्रो०वेद व्यास जी (प्रधान डी०ए०वी० कमेटी) ने जो आपत्ति जनक, मिथ्या एवं अनरगल विचार अपने लेख डी०ए०वी० द्वारा प्रकाशित अपनी पत्रिका "यग मैन" में व्यक्त किये हैं, क्या उनपर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सकता? सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा जैसी संस्थायें भी मौन हैं, क्या कारण है?

एक ओर तो रुशदी के जरा से भाष्य पर मुस्लिम धार्मिक नेता उसे फांसी से कम की सजा को मान्य ही नही समझते और दूसरी ओर हमारे धर्म के ठेकेदार जो, स्वय को अग्रगण्य एवं मार्ग प्रशस्त मानते हैं वे उनपर लट्टू और फिदा हुये दिखाई देते हैं। ऐसा क्या है उन वेद व्यास जी में? जरा स्पष्ट तो करे हमारे गण्य मान्य नेता ताकि हम भी उनपर चवर डुलाएं। मेरे ये विचार अपनी मासिक पत्रिका में प्रकाशित करें। यह निर्णय वेद प्रचार मण्डल पश्चिमी क्षेत्र की बैठक दिनाक २५-११-९० आर्यसमाज मन्दिर विकासपुरी बाहरी रिंग रोड में लिया गया था।

हमारी शिरोमणि सभाओं ने कई स्थानों से आपत्तियां आने पर कुछ प्रभावी कार्य नही किया है, इसपर आर्य जनो का चिन्तित होना निश्चित ही है। ऐसे वातावरण मे वेद व्यास जी के साथ-साथ शिरोमणि सस्थाओ के प्रति चिन्तित होना भी स्वाभाविक ही हैं। मेरा यह लेख एक प्रार्थना के रूप मे स्वीकार कर ज्यों का त्यो ही प्रकाशित करने का कष्ट करे। शिरोमणि संस्थाओ से प्रार्थना है कि वे मिलकर इसका शीघ्र निराकरण करे अन्यथा मेरे अग्रिम लेखों का संग्रह आपको शीघ्र ही आर्यसमाज के पत्रो और भारत के सभी प्रमुख समाचार पत्रों मे पढने को मिलेगा। यह मेरी उद्घोषणा है।

रामचन्द आर्य महामन्त्री
वेद प्रचार मण्डल पश्चिमी क्षेत्र, दिल्ली आर्यसमाज मन्दिर
टैगोर गार्डन विस्तार, नई दिल्ली—२७

माझी से

कविवर "प्रणव" शास्त्री एम. ए. महोपदेशक

प्रियवर माझी राष्ट्र पोत को गलत दिशा मे मत ले जाओ।
पक्षपात पतवार प्यार से झञ्झाओं को नहीं जुटाओ ॥१॥

शान्त महासागर में तुमने आरक्षण का फेंका पत्थर,
लहरो से लहरें टकराईं उठा भयानक बड़ा बवण्डर।
सोच-समझ के बिना विनाशक कदम न कोई कभी उठाओ ॥२॥

लोग कह रहे जनता दल पर बुखार सा चढा बुखारी
'लाख पचास' भलेदे डाले किन्तु न टूटी अभी खुमारी।
देश-अस्मिता की समता को मत मजहब की भेंट चढाओ ॥३॥

रोती सतलुज-व्यास, उठी हैं अमृतसर में विष ज्वालाएं
केसर-क्यारी रक्त-रञ्जित लुटी पिटी हैं सुर-बालाएं,
असुरो के आतङ्क-लङ्क को पवन पुत्र बन तुम दहकाओ ॥४॥

जान बूझ कर तूफानो को देते हो बन्धु बुलावा
उबल पड़ा है चतुर्दिशा में विषम विखण्डन का भय-लावा
अन्त कहां पर इसका होगा तुम ही जनता को समझाओ ॥५॥

कही तुम्हारी भावुकता से जनता प्यारे, ऊब न जाये
दिशा-भूल से राष्ट्र ज्योत यह अम्बर में ही डूब न जायें।
अपने चिन्तन सहयोगी को ध्रुव तारे का मित्र बनाओ ॥६॥

शून्य सदन मे ले जावेग ना-समझी के नित्य नमूने
तुष्टिकरण से हावी होगे सिंहो पर शठ स्यार-चमूनें।
प्रतिमा पिकी सुहागिनी को मत वैधव्य व्यथा पहुंचाओ ॥७॥

दयानन्द के दिग्दर्शन की किरण सुनहरी राहत देगी
निष्पक्षी दृढ़ता की शुचिता, राष्ट्रवाद को चाहत देगी।
प्रबल प्रशिक्षण की सस्कृति से अरिदल का दिल दहलाओ ॥८॥

जहां ब्रह्म प्रिय क्षात्र शक्ति का समीकरण का सूर्य उदय हो
उसी राष्ट्र का इतिहासों मे अनुपम अविचल सत्य विजय हो।
इस सिद्धान्त स्वर्ण को कसकर कर्म कसौटी पर दिखलाओ ॥९॥

निश्चित समझो कर्म कला से हो जावेगी अमर कहानी
कीर्ति किन्नरी नाच उठेगी राजनीति में नीति सुहानी।
परामर्श का पुष्प उपायन "प्रणव" न इसको तुम ठुकराओ ॥१०॥

शास्त्री सदन, रामनगर (कटरा)
आगरा-(उ० प्र०)—२८२००६

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

आर्यसमाज एक आन्दोलन



आर्यसमाज एक आन्दोलन है। कुछ आन्दोलन अभीष्ट की प्राप्ति के साथ समाप्त हो जाते हैं, पर जो आन्दोलन । सम्पूर्णता' की प्राप्ति के उद्देश्य में सलग्न हो, उसकी उपादेयता तथा प्रासगिता सदैव बनी रहती है। आर्यसमाज के दस नियम हैं। इन नियमो पर यदि गभीरता पूर्वक विचार किया जाए तो, मनुष्य के जीवन में जो कुछ संभाव्य है, वह सभी कुछ इनमे समाहित है। ऐसे महान उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील आर्यसमाज के सामने आज भी सामयिक चुनौतियां प्रश्न चिन्ह बनी खडी हैं।

आज सम्पूर्ण विश्व खाडी युद्ध की ओर उत्सुकता की दृष्टि से देख रहा है। कुछ देश राजनैतिकता के वशीभूत इस युद्ध में भाग ले रहे हैं तथा कुछ देश आर्थिक समस्याओ के कारण। यह भी सभव हैं कि कुछ देश नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए इस युद्ध मे भाग ले रहे हो। सयुक्त राष्ट्र संघ की परिकल्पना, विश्व साम्राज्य अथवा चक्रवर्ती साम्राज्य का एक रूप है। सयुक्त राष्ट्र सघ का दायित्व है कि कोई किसी का कुछ न छीने, कोई किसी को न सताए, कोई किसी पर धौंस न जमाए। पर क्या संयुक्त राष्ट्र सघ के पास इतनी शक्ति है कि वह अपने इन रक्षात्मक उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। क्या संयुक्त राष्ट्र संघ किसी शक्तिशाली शक्ति के दबाव में तो कोई निर्णय लेने मे अनुशासित नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि मानवता की रक्षार्थ नैतिक मूल्यो को वरीयता दी जाए। सयुक्त राष्ट्र सघ की इस सम्बन्ध में एक बैठक शीघ्र हो रही है।

भारत गुट निरपेक्ष संघ का सदस्य है और प्रभावी सदस्य है। फिलिस्तीन का नाम भी इस खाडी युद्ध मे जोडा जाने लगा है। अब भारत की भूमिका और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है भारत अपना दृष्टिकोण किसी सीमा तक स्पष्ट भी कर दिया है भारत के वर्तमान और पूर्व विदेश मन्त्रियो की पिछले दिनो बैठक भी हुई। आवश्यकता यह समझने की है कि यह विश्व राजनीति आर्य सामाजिक मान्यताओं से, विश्व जनीन मान्यताओं से मानव धर्म की मान्यताओ से कितना प्रभावित होती है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय आर्य सम्मेलन आयोजित किया गया। वैदिक धर्म की मान्यताओ, आर्य समाज के कार्य कलापो तथा भविष्य की योजनाओं पर विस्तार से विचार किया गया। राष्ट्रीय समाचार पत्रो तथा आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि प्रेस माध्यमो ने भी इसे विशेष महत्व प्रदान किया। भारत के प्रधान मन्त्री श्री चन्द्रशेखर, श्री राजीव गाधी, श्री हरिकृष्णलाल भगत, श्री बलराम जाखड, श्री कृष्णचन्द्र पन्त, श्री माखनलाल फोतेदार, श्री सजय सिह, श्री रामचन्द्र विकल, श्री राजमगल पाण्डेय, डा० कर्णसिह, श्री मदनलाल खुराना आदि राष्ट्रीय नेताओ का इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे सम्मिलित होना आर्य समाज के महत्व को दर्शाता है।

आर्य समाज के अनेक कार्यक्रम भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिए हैं। राष्ट्रीय नीतिया आर्य समाज से प्रभावित रही है। राष्ट्रीय एकता एव अखण्डता की स्थापना साम्प्रदायिक सकीर्णता का उन्मूलन वर्णाश्रम व्यवस्था का जातीय आधार न होना अपितु कर्म आधार होना तथा विश्व शान्ति आदि विषयों पर आर्य समाज की अपनी विस्तृत एवं व्यापक तथा सर्वहितकारी सोच है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम समय-समय पर सरकार को तथा राष्ट्रीय नेताओं को विभिन्न विषयों पर संगोष्ठियों के द्वारा, जिनमें राष्ट्रीय नेता भी सम्मिलित हो, अपने विचारों से हमें अवगत कराते रहें तथा इनके क्रियान्वयन मे अपनी सक्रिय भूमिका भी निभायें।

डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२७ जनवरी, ९१ के अंक से आगे)

व्यवस्था करने मे श्री सारस्वत को अधिक कठिनाई नही हुई। प्रतिनिधियो के निवास की व्यवस्था आर्यसमाज में तथा भोजन की निकटवर्ती गोपाल होटल मे की गई। उन दिनो जोधपुर मे परिवारो मे आर्य अतिथियों को भोजन कराने का प्रचलन नही था। अधिकांश आर्यसमाजी मारवाडी समाज के अग थे अत. उनमे पर्याप्त पिछडापन था। सौभाग्य से प्रतिनिधि भी बहुत कम आये और हमने उम्मेद हाईस्कूल के प्रांगण मे सम्मेलन की २–३ बैठकें सम्पन्न कर ली। इस प्रकार यह अधिवेशन पूरा हुआ। आर्य कुमार सभा की ओर से अलग अलग मोहल्लो मे प्रचार कार्यक्रम आयोजित किये जाते। आर्य व्यायाम-शाला भी हमारे कुमार आन्दोलन का एक अभिन्न अंग थी। शनिवासरीय सामूहिक अधिवेशन धूम धाम से होते। यज्ञ भजन-गान व्याख्यान तथा वाद-विवाद प्रतियोगितायें रक्खी जाती।

अपनी आयु के १८ वर्ष पूरे कर लेने पर मैं आषाढ कृ० ३-२००३ वि० (१९४६ ई०) मे विधिवत् आर्यसमाज की सदस्यता का प्रार्थनापत्र भरकर आर्यसमाज गुलाब सागर का सभासद बना। आर्यसमाज के सदस्यो और अधिकारियो के सम्पर्क मे तो मैं बहुत पहले से ही था। मैंने आर्यसमाज गुलाब सागर के मन्त्री के रूप मे सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री जगदीशसिह गहलोत को सर्वप्रथम देखा। उनके पश्चात् क्रमश: श्री सदानन्द अवस्थी तथा श्री भैरवसिह मन्त्री बने। श्री भजनसिह भाटी तथा श्री रावत सिह चौहान प्रधान रहे। बाद में श्री नेकी राम गुप्ता भी प्रधान निर्वाचित हुये। एक वर्ष सभासद रहने के पश्चात् अगले वर्ष के निर्वाचन में मुझे पुस्तकाध्क्ष निर्वाचित किया गया। यह मेरी अभिरुचि का पद था। आर्य समाज गुलाब सागर के पुस्तकालय मे पर्याप्त पुस्तकें थी। मुझे याद है कि अगले कई वर्षो मे मैंने इस पुस्तकालय की लगभग सारी पुस्तकें पढ डाली। आर्यसमाज से सम्बन्धित तो शायद ही कोई पुस्तक बची हो जिसे मैंने आद्योपान्त न पढ़ा हो। पुस्तक को समाप्त कर उसके अन्तिम पृष्ठ पर मैं अपने अंग्रेजी में हस्ताक्षर तथा पुस्तक को खत्म करने की तारीख डाल देता था। हालाकि समाज के पुस्तकालय की पुस्तको पर इस प्रकार दस्तखत करना मेरी हिमाकत ही थी, किन्तु हुआ कुछ ऐसा ही। अध्ययन के इस दौर मे मैंने ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य, स्वामी दर्शनानन्द द्वारा प्रणीत उपनिषद् और दर्शन भाष्य, विभिन्न शास्त्र ग्रन्थ मनुस्मृति, गीता, रामायण, महाभारत आदि के अनेक सस्करण तथा आर्य सिद्धान्त विषयक सैकड़ो छोटे बड़े ग्रन्थ पढ डाले। यह दावा करना तो गलत ही होगा कि केवल एक बार पढ़ जाने मात्र से ही इन ग्रन्थो के सारे रहस्य मुझे स्पष्ट हो गये, किन्तु इतना तो लाभ हुआ ही कि मैं शास्त्र और सिद्धान्त विषयक बहुत सी बातें जान गया। स्वामी दयानन्द के जीवन चरित्र तथा आर्यसमाज के इतिहास को पढ़ने मे मेरी रुचि भी उसी समय बनी जो आगे चलकर बढती गई और अब तो मैंने इसे अपने अध्ययन का विशेष विषय ही बना लिया है।

आर्य समाज (नगर) जोधपुर मे मैं विभिन्न पदो पर रहा। प्रथम पुस्तक-अध्यक्ष रहा। यह मेरी रूचि का पद था क्योकि मैं शुरू से ही किताबो का कीडा था। नित्य नियम से सध्या को आर्य समाज में जाना और वाचनालय मे बैठना हमारा दैनिक कार्य था। एक या दो वर्ष पश्चात ही मुझे नगर आर्यसमाज का मन्त्री चुन लिया गया। मैं अकेला ही नहीं अपने अन्य युवक साथियों के साथ आर्य समाज के इस उत्तरदायित्व पद पर प्रतिष्ठित हुआ। हमारी पूरी टीम ने नगर आर्यसमाज के सभी महत्वपूर्ण पदो पर निरतर तीन वर्ष तक कार्य किया। उप-मन्त्री बने भी बसन्तलाल मेरे घनिष्ठ मित्र और अन्तरग दाऊलाल टाक को कोषाध्यक्ष चुना गया और चांदमल पुस्तकाध्यक्ष बने। हम चारो नियम पूर्वक नित्य सायकाल समाज मन्दिर में इकट्ठे होते और विभिन्न प्रकार की चर्चाए, विचार विमर्श तथा बातें चीत होती। यह निरतर वर्षों तक बिना किसी नागा के चलता रहा। रात्रि को वाचनालय का समय समाप्त होने पर सड़क पर पान की दूकान पर लगे रेडियो से समाचार सुन कर ही हम लोग घर लौटते। उन दिनो न तो घरों पर अखबार आते थे और न रेड़िओ सैट ही थे। (क्रमश:)

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आचार्य गोवर्धनशास्त्री पुरस्कार—१९९१

बी सी/एच-१/

मान्यवर,

ज्ञातव्य है कि सघड़ विद्या सभा ट्रस्ट जयपुर द्वारा निर्धारित २१०० रु० का आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार प्रतिवर्ष गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा दिया जाता है। विगत वर्षों में यह पुरस्कार उनके गण्य मान्य शिक्षाविदों तथा समाज सेवकों को उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए दिया गया है।

चयन सम्बन्धी नियम :

१— आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार उन्ही सज्जनो एवं समाओं को दिया जा सकेगा जो वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र आदि आर्य साहित्य का प्रचार एवं प्रसार जनसामान्य तक करे।

२— उक्त विषय पर शोध करने वाले व्यक्ति/सस्थान भी उक्त पुरस्कार पाने के अधिकारी हो सकते हैं।

३— उक्त विषयों पर संगीत काव्य तथा नाटक रचकर अथवा नाटक को रंगमंच पर दिखलाने वाले व्यक्ति या नाटक मण्डली भी इस पुरस्कार के लिए आमन्त्रित किए जा सकते हैं।

४— उक्त विषयों पर आकाशवाणी या दूरदर्शन पर प्रचार एवं नाटक आदि के माध्यम से जनसामान्य को उदात्त वैदिक भावना से आप्लावित करने वाले व्यक्ति या सस्था को उक्त पुरस्कार पाने हेतु सम्मिलित किया जा सकेगा।

५— उक्त विषयों का ग्राम-ग्राम मे जाकर मैजिक लालटेन, पुतली प्रदर्शन अथवा भजनो द्वारा प्रचार करने वाले व्यक्ति या मण्डली/समा भी उक्त पुरस्कार पाने हेतु प्रार्थी हो सकते हैं/सकती है।

— आधुनिक युग मे विज्ञान और आध्यात्मिकता का समन्वय करने हेतु अथवा सतुलित व्यक्तित्व के विकास हेतु योग की उपयोगिता सम्बन्धी सरल साहित्य जो सामान्य जनमानस को प्रभावित कर सके, लिखने अथवा प्रकाशित करने वाले व्यक्ति सभा और प्रकाशक आदि को भी पुरस्कार पाने वालों मे सम्मिलित किया जा सकता है।

७— उक्त पुरस्कार चयन नियम को परिवर्तित एवं परिवर्धित करने का अधिकार सघड़ विद्या समा ट्रस्ट, जयपुर को होगा।

आपसे निवेदन है कि यदि आपकी दृष्टि में कोई महानुभाव अथवा संस्था आगामी वर्ष के लिए इस पुरस्कार के योग्य हो तो उसका पूर्ण विवरण संलग्न पत्र मे निम्न पतों पर भेजने की कृपा करे।

१— श्री जी०बी०के० हूजा, अध्यक्ष, संघड़ विद्या सभा ट्रस्ट, ए-१५-ए, विजयपथ, तिलक नगर, जयपुर-३०२००४

२— श्री वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार—१९९१

विवरण पत्र

१— नाम

२— पता

३— आयु

४— योग्यता

५— प्रकाशित कृतियां

६— पुस्तकों की विधा

७— पुस्तको का प्रतिपाद्य

८— प्रकाशन वर्ष
प्रकाशक का नाम तथा पता

९— वेद प्रचार में किए गए कार्यों का विवरण

१०— आर्यसमाज के प्रचार प्रसार मे की गई सेवाएँ

११— यदि किसी अन्य सस्था द्वारा सम्मानित किए गए हों तो उसका विवरण

१२— प्रस्तावित कृति पूर्व पुरस्कृत हुई है या नहीं, यदि हुई है तो उसका विवरण

कृपया चुनी हुई पुस्तको की एक प्रति श्री जी०बी०के० हूजा तथा ३ प्रतियां श्री वीरेन्द्र अरोड़ा कुलसचिव, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को प्रेषित करने का कष्ट करें।

श्री इन्द्रराज जी कारसेवा सत्याग्रह से साथियों सहित वापस

अयोध्या दि १।१।९१ को प्रदेश के हजारों आर्य सत्याग्रहियों एवं गुरुकुल प्रभात आश्रम के सत्याग्रही ब्रह्मचारियों के साथ सत्याग्रह करने के पश्चात् वापिस मेरठ पहुंचने पर मेरठ मे उनका हार्दिक स्वागत किया गया। अयोध्या मे विशाल जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा था कि आर्य समाज और सनातन धर्म एक कैंची के दो फलके हैं जो परस्पर, वेद की कील से जुडे हुए हैं। वे फलके हर समय आपस में टकराते रहते हैं परन्तु एक दूसरे की हानि कदापि नहीं करते परन्तु जब कोई तीसरा इन दोनों के बीज में आ जाता है तो उसे काट से काट देते हैं, चाहे वह बाबरी मस्जिद का ढांचा हो या शासन या प्रशासन की तानाशाही। उन्होने आगे कहा कि राम जन्म भूमि स्थल पर जो ढांचा खड़ा है वह गुलामी की निशानी है। जब तक यह दूर नहीं हो जाता तब तक आर्य समाज की ओर से सत्याग्रह मे बराबर सहयोग मिलता रहेगा। सभा प्रधान जी ने सन्त महात्माओ का धन्यवाद किया कि उन्होने सारी हिन्दू जाति को छुआछूत, जातिवाद तथा घृणा एवं ऊंच नीच की बुराईयो को दूर करते हुए, इस विशाल राष्ट्रवादी समाज को मर्यादा पुरुषोत्तम् भगवान् राम के चरणों में एकत्र कर दिया है। हमारा सब का सकल्प है कि राष्ट्र पुरुष, युग पुरुष, एव महामानव मर्यादा पुरुषोत्तम की जन्म स्थली से बाबरी मस्जिद के ढाचे को हटा कर इस वन्दनीय जन्म स्थली को अवश्य-मेव सुरक्षित किया जाएगा। चाहे हमें कितना ही बलिदान क्यों न करना पड़े। सभा स्थल पर विधायक श्री लक्ष्मी कान्त जी बाजपेयी एवं श्रीमती शशि मित्तल ने भी अपने ओजस्वी भाषणो मे सन्तजनों को मेरठ की ओर से आश्वासन दिया कि मेरठवासी उनके इंगित मात्र से बलिदान के लिए सदैव तत्पर रहेंगे।

बाद में सन्त प्रवर श्री वाम देव जी महाराज राम कार सेवा समिति ने मेरठ वासियों के स्वागत के साथ साथ आर्य समाज के इस कार सेवा सत्याग्रह में कूदने का हार्दिक स्वागत करते हुए बड़े सम्मान भरे शब्दो में कहा कि यदि स्वामी दयानन्द जी न आते तो सारा समाज मुसलमान और इसाई बन गया होता और भारत पाकिस्तान और इसाईस्तान के रूप में दिखाई देता। आज हम महर्षि दयानन्द के ऋणी है जिन्होंने इस हिन्दू जाति को विनाश से बचाया। मेरठ में सभा प्रधान श्री इन्द्रराज जी ने प्रदेश के कोने कोने से आए हुए वीर सेवक आर्य सत्याग्रहियों का धन्यवाद किया एवं सब आर्य बन्धुओं को निर्देश दिया कि वे सत्याग्रह मे बराबर अधिक से अधिक संख्या में भाग लेते रहें।

वार्षिक निर्वाचन

दिनांक ८-१-९१ को आर्य समाज बोट क्लब का वार्षिक चुनाव हुआ, जिसमें सर्व सम्मति से निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये।

१, प्रधान—श्री राजेन्द्रपाल गुप्त
२. मन्त्री—श्री बलेश कुमार खारी
३. कोषाध्यक्ष—श्री सुरेन्द्र कुमार गुप्ता

शुद्ध वायु में सांस लीजिये
प्रदूषण नियंत्रण में सहायता करें

आज दिल्ली में १६ लाख से भी ज्यादा वाहन हैं। सड़क पर वाहनों की बढ़ती संख्या को देखते हुए यह जरूरी है कि इन वाहनों से निकलने वाले धुएं से होने वाले वायु-प्रदूषण के खतरे का डटकर सामना किया जाए।

दिल्ली प्रशासन ने इस खतरे पर नियंत्रण पाने के लिए दिसम्बर, १९८७ से कई कारगर कदम उठाये हैं।

- परिवहन विभाग के सात निरीक्षण स्थानों ; राजपुर रोड, तिलक मार्ग, जनकपुरी, शेख सराय, बुराड़ी, माल रोड, लोनी रोड पर निःशुल्क प्रदूषण--जांच की सुविधा उपलब्ध है।
- इस उद्देश्य के लिए लगभग १०० वर्कशाप तथा पैट्रोल पम्प भी अधिकृत किये गये हैं। जहां १० रुपये में प्रदूषण-जांच तथा ५ रुपये में ट्यूनिंग के लिए साधारण मरम्मत की जाती है।
- अब तक लगभग १० लाख वाहनों की प्रदूषण-जांच की जा चुकी है। प्रदूषण-जांच तथा समुचित ट्यूनिंग के बाद वाहन प्रति लिटर अधिक दूरी तय करते हैं, जिससे पैसे की तथा बहुमूल्य तेल की बचत होती है।
- नये मोटर वाहन अधिनियम की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत डेढ़ हजार से अधिक वाहनों पर जुर्माना किया जा चुका है।

अपने वाहन की जांच करवाएं
और
सही होने का प्रमाणपत्र लें

सूचना एवं प्रचार निदेशालय दिल्ली प्रशासन द्वारा जनहित मे प्रचारित।

आर्य समाज ग्रीन पार्क का वार्षिक चुनाव सम्पन्न

आर्य समाज ग्रीन पार्क नई दिल्ली-१६ का वार्षिक चुनाव रविवार दिनांक ६-१-१९९१ को श्री हरिचन्द जी थापर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये।

प्रधान—लाला इन्द्र नारायण जी (हाथी दांत वाले)

मन्त्री—श्री बलबीर सिंह जी सूद

कोषाध्यक्ष—श्री कुलदीप लाल जी कोहली

दान के लिए प्रार्थना

लगभग १५ वर्षों से यह समाज निस्वार्थ भाव से कार्य कर रहा है। इस समाज ने यहां पर प्रचार कार्य सुचारू रूप से नियमित रखने के लिए ध्वनि विस्तारक यन्त्र एवं छोटी-छोटी पुस्तकों द्वारा कार्य करने का निश्चय किया है। ध्वनि विस्तारक यन्त्र खरीदने के लिए कम से कम २५०० रुपये की आवश्यकता है। इस कार्य में यथायोग्य सामर्थ्य अनुसार यह समाज सभी दानी सज्जनों एवं समाजों से इस व्यय भार मे सहयोग हेतु प्रार्थना करता है। जो भी सहयोग करना चाहे वह दक्षिणी दिल्ली वेद प्रचार मण्डल व दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के माध्यम से हमें आर्थिक सहयोग कर सकते है। अथवा हमारे घर के पते पर चैक आदि द्वारा आर्य समाज बोट क्लब के नाम से भेज सकते है।

प्रचार वाहन द्वारा वेद प्रचार में योगदान

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रचार वाहन द्वारा निम्न स्थानो पर प्रचार कार्य सम्पन्न हुए—

२ जनवरी, बुधवार, आर्य समाज बोट कलब पर दोपहर १ बजे से २ बजे तक वेद प्रचार कार्यक्रम हुआ। जिसमे सहस्रो आर्य बन्धुओं ने भाग लेकर धर्म लाभ लिया।

प० सत्यदेव स्नातक प० चुन्नीलाल आर्य आदि प्रसिद्ध भजनोपदेशको ने सभा को प्रभावशाली रूप दिया।

१६ जनवरी को आर्य समाज वोटक्लब पर दो दिवसीय वेद प्रचार कार्य सम्पन्न हुआ।

१८ जनवरी, शुक्रवार को निजामुद्दीन वेस्ट दफ्तर के समीप पार्क मे प० तिलकराज शर्मा ने वेद प्रचार कार्य मे अपूर्व सहयोग दिया। नगरवासियो द्वारा प्रचार कार्य को सराहा गया। तथा पुन: प्रचार हेतु आमन्त्रित किया गया। हजारो नर-नारियो ने आर्य समाज के प्रचार मे रूचि प्रदर्शित किया। स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी ने सभा के अन्त मे आशीर्वचन कहे।

शोक समाचार

१. केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् की अभिन्न सहयोगी व कुलाची हंसराज मॉडल स्कूल अशोक विहार की कर्मठ प्राचार्या श्रीमती सन्तोष तनेजा का दिनांक १६-१-९१ को निधन हो गया।

परिषद् उनके निधन पर गहरा शोक प्रकट करती है, परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

२. आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्ता बाल ब्रह्मचारी वैद्य देवेन्द्र आर्य जिनका सारा जीवन आर्य समाज को समर्पित था। दिनांक ९-१-९१ को उनका देहावसान हो गया।

उनकी स्मृति मे शान्ति यज्ञ तथा आध्यात्मिक प्रवचन पूज्य स्वामी मुनीश्वरानन्द त्रिवेद तीर्थ द्वारा हुआ। शान्ति यज्ञ श्री भारत मित्र शास्त्री जी की ब्रह्मत्व में सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर आर्य समाज जी ब्लाक कर्मपुरा नई दिल्ली में शोक सभा का आयोजन किया गया। श्री प० सत्यपाल मधुर व ज्योति प्रसाद द्वारा भजन हुए। स्वामी स्वरूपानन्द जी भी शोक सभा में शामिल हुए।

ईश्वर उनकी आत्मा को सद्गति व शान्ति प्रदान करे तथा परिवार जन व इष्ट मित्रो को धैर्य प्रदान करे।

कार्यकारी परिषद् का गठन

आर्य समाज मन्दिर बुराड़ी दिल्ली-९ में दिनाक २०-१ ९१ को कार्यकारी परिषद् का गठन किया गया, जिसके निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित किए गए—

१. प्रधान—श्री राधेश्याम त्यागी

२. सचालक—डा० धर्मपाल जी

३. कोषाध्यक्ष—बाबू रामकिशन त्यागी

४. महामन्त्री—श्री रामकिशन पहलवान

पंचम अन्तर्राष्ट्रीय पुरोहित प्रशिक्षण शिविर सिलिगुड़ी में

अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान, हैदराबाद की ओर से प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी ग्रीष्मावकाश में पचम अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक पुरोहित प्रशिक्षण शिविर का आयोजन आर्य समाज, सिलिगुड़ी के तत्वावधान मे सिलिगुडी में किया जा रहा है।

यह शिविर इस वर्ष १५ मई से १५ जून ९१ तक आर्य समाज भवन, सिलिगुड़ी में लगाया जा रहा है। इस शिविर में १६ वर्ष से अधिक आयु वाले स्त्री पुरुष जिनकी योग्यता कम से कम मैट्रिक के समकक्ष हो समान रूप से भाग ले सकते हैं। महिलाओ के निवास की पृथक व्यवस्था की जाती है।

विगत वर्षो में इस प्रकार का प्रशिक्षण मौरीशस (विदेश) मे हैदराबाद एवं तपोवन आश्रम देहरादून मैं सफलतापूर्वक किया जा चुका है। जिसमें सैंकड़ो पुरोहितो को सफल प्रशिक्षण दिया जा चुका है। एक मास के इस शिविर मे भाग लेने के इच्छुक जन तीन रुपये के पोस्ट के टिकट भेज कर पूर्ण विवरण एव आवेदन पत्र निम्नलिखित पते पर प्राप्त कर सकते हैं।

शिविर की समाप्ति के बाद दार्जिलिंग एव नेपाल यात्रा की भी विशेष व्यवस्था रहेगी।

विशेष रूप से सभी आर्य समाजो और आर्य सस्थाओ से निवेदन है कि वे प्रतिभाशाली एवं सेवा निवृत्त सज्जनो को समुचित प्रशिक्षण दिला कर मानव निर्माण की पवित्र योजना मे महत्वपूर्ण योगदान करें। अपने क्षेत्र के अध्यापकों एवं प्रोफेसरो को विशेष रूप से प्रेरणा प्रदान कर भिजवाने का यत्न करें प्रशिक्षण देश-विदेश मे ख्याति प्राप्त कर्मकाण्ड के महारथी आचार्य वेदभूषण जी स्वय देंगे।

पुण्यमयी सेवा का अवसर

मुफ्त में निवास भोजन एवं सत्संग

आर्य समाज, सिलिगुडी के तत्वावधान मे अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान हैदराबाद की ओर से सिलिगुड़ी मे १५ मई से १५ जून ९१ तक एक पुरोहित प्रशिक्षण शिविर लगाया जा रहा है। इस शिविर मे लगभग अस्सी प्रशिक्षणार्थी भाग लेंगे।

हमें ऐसे सेवा भावी दम्पतियो या ६ स्त्री-पुरुषो की आवश्यकता है जो बत्तीस दिनों तक शिविर मे भोजन तथा नाश्ता आदि तैयार करने की सेवा कर सकते हो।

ऐसे सेवा भावी सज्जनो को निवास व भोजनादि की नि:शुल्क सुविधा मात्र प्रदान की जायेगी।

आचार्य, अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान हैदराबाद-२७

वेद प्रचार विभाग

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार विभाग को सुदृढ़ करने के लिए महोपदेशको, उपदेशको, भजनोपदेशकों तथा ढोलक वादकों की आवश्यकता है। वेद प्रचारको को १०० रुपये ७० रुपये, ५० रुपये, ३० रुपये, प्रतिकार्यक्रम की दर से दक्षिणा दी जाएगी। तुरन्त सम्पर्क करें—

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती,
व्यवस्थापक, वेद प्रचार विभाग
१५-हनुमान रोड, नई दिल्ली-१
दूरभाष : ३१०१५०

धर्म निरपेक्षता की आड़ में तुष्टीकरण । श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर सभा

कानपुर—आर्य समाज गोविन्द नगर मे अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस केन्द्रीय आर्य सभा के अध्यक्ष एवं आर्य नेता श्री देवीदास आर्य की अध्यक्षता में मनाया गया ।

समारोह में वक्ताओं ने कहा कि गणेश शकर विद्यार्थी की तरह स्वामी श्रद्धानन्द भी सन् १९२६ में साम्प्रदायिकता के शिकार हुए थे । पाकिस्तान बन जाने के बाद आज भी यही साम्प्रदायिकता हमारे देश को खोखला कर रही है । स्वतन्त्रता से पहले अग्रेज सरकार मुस्लिम तुष्टीकरण करती थी । स्वतन्त्रता के बाद आने वाली सभी सरकारे उसी नीति को अपना कर देश को तबाही की तरफ ले जा रही है । धर्म निरपेक्षता की आड़ में यह तुष्टीकरण किया जा रहा है ।

समारोह में सर्व श्री जाति भूषण, बाल गोविन्द अवस्थी, जगन्नाथ शास्त्री शुभकुमार बोहरा, श्रीमती दर्शना कपूर ने भाषण दिए । समाररोह की अध्यक्षता आर्य समाजी नेता श्री देवीदास आर्य ने की तथा सचालन शुभकुमार बोहरा ने किया ।

आर्य समाज मयूर विहार में वेद प्रचार

वेद शिरोमणि प० पृथ्वीराज ने दो दिवसीय वेद प्रचार में, जो बुद्धिमान हैं नेता हैं, विद्वान हैं उनको धर्म घातक कार्यो से पृथक रहना चाहिए, उनको सर्वदा धर्म रक्षा और धर्म पालन का ध्यान रखना चाहिए । आर्य समाज के नवें नियम को सुस्पष्ट करते हुए बताया कि मनुष्य आज अपनी उन्नति के लिए हर प्रकार से अधर्म में प्रवृत्त है और उसी में सन्तुष्ट है । जबकि आर्य समाज हमे आदेश देता है कि सबको अपनी ही उन्नति मे सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए बल्कि सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना चाहिए ।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वाहन द्वारा पूज्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती ने प्रचार कार्य किया । भजनोपदेशक प० सत्यदेव स्नातक, जोती प्रसाद चन्द्रपाल आदि के मधुर भजन हुए ।

—मन्त्री

आर्य वन में योग शिविर

आर्य वन विकास फार्म मे ७ से १६ मार्च १९९१ तक दस दिवसीय योग प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया है । १७ मार्च को उत्सव मनाया जायेगा । शिविर में क्रियात्मक योग प्रशिक्षण के साथ योगादि दर्शनो का अध्यापन भी किया जायेगा । शिविर शुल्क २०० रुपये रखा गया है । जो आर्थिक दृष्टि से असमर्थ होगे, उनको योग्य जान कर शुल्क मे छूट दी जा सकेगी । शिविरार्थी २५ फरवरी से पूर्व ही अपनी योग्यता, व्यवसाय आयु सहित आवेदन पत्र निम्न पते पर लिख कर स्वीकृति ले लेवें तथा मन्त्री, आर्यवन के पास शुल्क जमा करवा देवे ।

पता—दर्शन योग महाविद्यालय, आर्य वन विकास,
रोजड़, पो० सागपुर, जिला साबरकांठा गुजरात-७

घन जी वाल जी पटेल (प्रधान, आर्य वन)

स्वामी सत्यपति (शिविराध्यक्ष)

आर्य युवक सभा लुधियाना द्वारा पारिवारिक सत्संग का आयोजन

आर्य युवक सभा लुधियाना द्वारा श्रीमती चरणजीत धीर, हैबोवाल कलां लुधियाना के निवास स्थान पर उनके पति स्व० श्री एल० आर० धीर की पांचवी पुण्य तिथि के उपलक्ष मे ८-१-९१ मंगलवार को प्रातः ७।० बजे से ९.१५ बजे तक विशाल पारिवारिक सत्संग का आयोजन किया गया ।

यह सत्सग मन्त्र से आरम्भ हुआ, जो कि प० राजेश्वर जी शास्त्री पुरोहित आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना ने सम्पन्न कराया तथा उनका मधुर एव सार गर्भित प्रवचन हुआ । आर्य युवक सभा पजाब के प्रधान श्री रोशन लाल आर्य ने कहा कि मानव चोला बहुत ही कठिनता से मिला है इसलिए हमें इसे व्यर्थ नहीं गवाना चाहिये । आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाने के लिए श्रेष्ठ कर्म प्रभु भक्ति, दीन दुःखियो की सेवा करनी चाहिए तथा वेदो मे बताये मार्ग का अनुसरण करना चाहिए । स्व० श्री धीर को यही सच्ची श्रद्धाजली होगी कि हम दूसरो के लिए जीना सीखे । शान्ति पाठ के साथ कार्यवाही समाप्त हुई ।

सयोजक— सुरेश कुमार चढ्ढा







आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on14-15-2-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५९ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेंस नं० यू० १३९

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १७ फरवरी, १९९१

"यजुर्वेद-परायण—यज्ञ सम्पन्न"

आर्य समाज फतुहा (पटना) के ७२वे वार्षिकोत्सव के शुभ अवसर पर यजुर्वेद-परायण यज्ञ का आयोजन किया गया। दिनांक ९, १०, ११ एवं १२ जनवरी को होने वाले इस उत्सव मे यज्ञ के पश्चात् विभिन्न सम्मेलन होते रहे। अवसर पर आर्य जगत के साधक मनीषी स्वामी ब्रह्मानन्द नैष्टिक देहरादून, प० सत्यदेव शास्त्री वाराणसी, प० गगाधर जी शास्त्री पटना, चौधरी वेगराज आर्य गाजियाबाद, श्री आशाराम जी आर्य (उ० प्र०) डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी नालन्दा, श्रीमती राजबाला आर्या हरयाणा एवं श्री महावीर सिंह पटना ने जन समुदाय को सम्बोधित किया ४ दिनो तक नगर का वातावरण ही वेद मन्त्रो से गू जता रहा।

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज तिमारपुर, अन्तरग सभा का निर्वाचन श्री वेदव्रत शर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। जिसमें सर्वसम्मति से निम्नलिखित अधिकारीगण चुने गये।

प्रधान—पं० श्री कलीराम शर्मा

मन्त्री—श्री तेजपाल सिंह मलिक

पुरोहित प्रशिक्षण शिविर

श्रीमद् दयानन्द गुरुकुल विद्यापीठ मदपुरी त० पलवल जिला फरीदाबाद के ५४वें वार्षिकोत्सव पर पुरोहित प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया जा रहा है। इसमें कम से कम दसवीं तक की योग्यता रखने वाले व्यक्ति भाग ले सकते हैं। १८ फरवरी प्रातः से २४ फरवरी तक सोलह संस्कार वैदिक रीति से कराने का प्रशिक्षण दिया जायेगा। भोजन एवं आवास की व्यवस्था गुरुकुल की ओर से की जाएगी। ऋतु अनुकूल बिस्तर साथ लाये। प्रशिक्षण के अन्त में प्रमाण पत्र भी दिया जायेगा। जिसके लिए ५० रुपये का प्रावधान है।

अतः स्थान सुरक्षित करा लें। —प्रधान

सर्व धर्म समभाव एकता कमेटी

हरिनगर घण्टा घर नई दिल्ली का दिनांक २०-१-९१ को निर्वाचित श्री ओ० पी० पुरी की अध्यक्षा मे सम्पन्न हुआ जिसके पदाधिकारी गण निम्न प्रकार हैं।

१. प्रधान—श्री ओ० पी० खन्ना
२ उपप्रधान—श्री स० इन्द्रसिंह
३. मन्त्री—श्री जगदीश नागपाल
४. कोषाध्यक्ष—श्री डी० पी० गुप्ता



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष,
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ. प्र.)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५९)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक १७ रविवार, २४ फरवरी, १९९१ विक्रमी सम्वत् २०४७ दयानन्दाब्द : १६६ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष : ३१०१५०

भारतीय संविधान के निरूपण में महर्षि दयानन्द का व्यापक प्रभाव था

आर्यसमाज ने सामाजिक क्रान्ति द्वारा देश को सामाजिक दासता से मुक्त कराया

ऋषि बोधोत्सव पर—लाल कृष्ण आडवाणी के विचार

दिल्ली १२ फरवरी १९९१,

दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में ऋषि बोधोत्सव समारोह मे मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए भारतीय जनता पार्टी के पूर्व अध्यक्ष श्री लालकृष्ण आडवाणी ने कहा—महर्षि दयानन्द राष्ट्रीय सामाजिक जागरण के अग्रदूत थे। स्वराज्य, स्वसंस्कृति और स्वभाषा की कल्पना सर्वप्रथम दयानन्द ने ही की थी। राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी। सामाजिक जागरण में महर्षि दयानन्द द्वारा निर्मित 'आर्यसमाज ने जो क्रान्ति पदा की है, वह अन्य किसी दूसरी संस्था ने नहीं की। हम कानून बनाकर सामाजिक सुधार की बात करते हैं, किन्तु जो सामाजिक क्रान्ति दयानन्द व आर्य समाज ने की है, वह सरकार के कानूनों से नहीं हो सकती है। दयानन्द के व्यापक दृष्टिकोण ने देश को सामाजिक दासता से मुक्त कराया।

श्री आडवाणी ने दृढ़ता पूर्वक कहा १९४७ से १९५० के काल में हमारे संविधान निर्माताओं ने जिस संविधान की संरचना की है, उससे अच्छा संविधान और नहीं बन सकता है। क्योंकि उस समय के संविधान निर्माताओं पर स्वामी दयानन्द और अन्य समाज सुधारकों की विचारधारा का व्यापक प्रभाव था। गोरक्षा, राष्ट्रभाषा और स्त्री शिक्षा के विषय में उनकी विचारधाराओं का पूरा आदर हुआ है और यह भी सत्य है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिलाने के लिए अहिन्दी भाषी नेताओं ने ही जोरदार आवाज लगाई थी, जिनमें महर्षि दयानन्द मुख्य थे।

इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आर्य जनता का आह्वान किया कि महर्षि दयानन्द ने जिन सिद्धांतो की परिकल्पना में अपना जीवन लगाया था, हम उसके लिए प्रयत्नशील रहें। १८७५ मे स्वामी दयानन्द ने सामाजिक जागरण का सूत्रपात किया था, आज आवश्यकता है कि सब मिलकर हिन्दू समाज की बुराईया, रूढ़िवाद तथा दहेज प्रथा के खिलाफ क्रान्ति करें।

स्वामी जी ने वर्तमान जनगणना में समस्त आर्यजनो से अपील की कि सब लोग जाति के आगे आर्य (हिन्दू), धर्म के आगे वैदिक धर्म और भाषा के खाने मे हिन्दी (संस्कृत) लिखवाये।

समारोह की अध्यक्षता श्री बालदिवाकर हंस ने की। उन्होंने स्वाध्याय गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली और संस्कृत के पठन-पाठन के लिए युवा शक्ति का आह्वान किया।

आर्य समाज के विद्वान पं० जयदेव, डा० धर्मशि जी तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री डा० सच्चिदानन्द शास्त्री ने भी अपने-अपने विचार व्यक्त किये। इस अवसर पर आर्य समाज के प्रसिद्ध युवाविद्वान आचार्य यशपाल सुधांशु का सम्मान और श्री रूपचन्द जी की पुस्तक का विमोचन श्री आडवाणी जी द्वारा किया गया।

समारोह का आयोजन आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली द्वारा किया गया। केन्द्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल, आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान डा० धर्मपाल, महामन्त्री श्री सूर्यदेव, प्रान्तीय आर्य महिला सभा की प्रधाना श्रीमती सरला मेहता, श्रीमती प्रकाशआर्या, श्रीमती कृष्णा चड्ढा और अन्य अनेक विद्वान इस अवसर पर उपस्थित थे। समारोह का संयोजन आर्य केन्द्रीय सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने किया। ●

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का आयोजन

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय मे आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का उद्घाटन १६ नवम्बर, १९९० को देश के प्रसिद्ध परमाणु वैज्ञानिक और भूतपूर्व केन्द्रीय रक्षा उत्पादन मंत्री डा० राजा रमन्ना ने किया। यह सम्मेलन हर दो वर्ष बाद आयोजित किया जाता है और इसमें भारत के सभी विश्वविद्यालयों, संस्कृत महाविद्यालयो तथा प्राच्य विद्याओं से सम्बद्ध अनुसधान करने वाली और शिक्षा देने वाली संस्थाओं के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। १६-१७-१८ नवम्बर १९९० को गुरुकुल में आयोजित इस सम्मेलन में लगभग १००० से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इनमें से अनेक प्रतिनिधि सपरिवार सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त लगभग १०० स्थानीय प्रतिनिधियो ने भी इसमें भाग लिया। इस अवसर पर अनेक विद्वानो से लगभग १५०० शोध पत्र प्राप्त हुए। ये शोध पत्र हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी मे हैं। इन शोध पत्रों का सारांश गुरुकुल पत्रिका ने अपने विशेषांक के रूप मे प्रकाशित किया है। इस उपयोगी सन्दर्भग्रन्थ की सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी प्रतिनिधियो ने मुक्तकंठ से सराहना की।

(शेष पृष्ठ ४ पर)

प्र० सम्पादक—सूर्यदेव सम्पादक—मूलचन्द गुप्त

प्राचीन शिवरात्रि : आज का बोधोत्सव

श्रीमती प्रभात शोभा पण्डित

आर्य समाज प्रतिवर्ष 'महाशिवरात्रि व्रत' के पर्व को 'ऋषि बोधोत्सव' के रूप मे मनाता है। मूलशंकर से शुद्ध चैतन्य व अन्ततः शुद्ध चैतन्य से ऋषि दयानन्द सरस्वती बनने वाले युगान्तरकारी महामानव के निर्माण की कहानी 'महाशिवरात्रि' के प्रसग से घटी एक साधारण सी घटना के साथ इस तरह जुड़ गई कि यह पर्व आर्यजनों के लिये एक ऐतिहासिक प्रेरणा का विषय बन गया। घटना क्या थी ! मूर्ति पूजक परिवारो मे प्रचलित पौराणिक प्रथा अनुसार 'महाशिवरात्रि व्रत' के अनुष्ठान मे उपवास रख कर बालक मूलशंकर 'जागरण' कर रहा था। घर के छोटे बडे अन्य सभी सदस्य अवश होकर नीद की गोद में समा चुके थे; लेकिन गहरी निष्ठा का धनी मूलशंकर अकेला बडे यत्न से नीद पर काबू पाकर सजग बैठा था। तभी अचानक जो कुछ घटित हुआ उससे मूल शंकर ऐसा चौंका कि उसकी नीद न केवल उस रात के लिये बल्कि सदा के लिए उड़ गई वह आदित्य ब्रह्मचारी महायोगी ऋषि दयानन्द उस रात के बाद ऐसा जागा कि सदियो से सोए अपने पूरे देश व समाज को जगा कर रख दिया। सच तो यह है कि उसने समूची मानव जाति और मानवता को जगा दिया। न स्वयं सोया न जग को सोने दिया। मूलशकर ने देखा कि शिवलिंग पर चढ़ाये गये भोग को— अर्थात् फल व मिष्ठान को एक चूहे ने खाकर जूठा कर दिया और विष्ठा से अपवित्र भी। लेकिन महाशक्ति के रूप में पूजित वह 'शिव' मौन रहे, पत्थर के जो थे। 'शिव' की मौन जड़ता भरी वह रात भारत के आध्याकाश मे एक अत्यन्त सुखर प्रभात की जननी सिद्ध हुई। एक अभूतपूर्व संयोग है कि इस वर्ष 'मूलशंकर' और 'दयानन्द' दोनो का जन्म पर्व साथ-साथ पड़ रहा है।

इस निमित्त से 'महाशिव-रात्रि' के अनुष्ठान का वास्तविक स्वरूप बता देना बहुत उपयुक्त होगा। पौराणिक आख्यानों में गगावतरण की कथा से पहले 'महाशिव रात्रि' व्रत का कहीं उल्लेख नहीं। वैदिक ऋचाओं में 'शिव' का उल्लेख आया है और वह प्रायः 'शम्' के साथ आया है। प्रतिदिन सन्ध्या मे मन्त्र-पाठ किया जाता है।

> 'ओम् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
>
> नमः शकराय च मयस्कराय च।
>
> नम शिवाय च शिवतराय च।

इस मन्त्र के साथ शान्ति प्रकरण के छः 'शिव सकल्प' मन्त्रो को (तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु') मिलाकर यदि पढे तो 'महाशिव रात्रि' का स्वरूप समझना कुछ भी कठिन नहीं। पहले उद्धृत मन्त्र मे 'कल्याण को सम्भाव्य (Possible) बनाने वाली 'ज्ञान शक्ति' के स्वरूप मे प्रभु को याद किया गया है और किसी भी कल्याणकारी कार्य को सिद्ध करने के लिए सुविधाकारक उपकरणों की सम्भावना को प्रणाम किया गया है। महाभारत-कथा का प्रसिद्ध इन्जिनियर शिल्पी 'मय था' किसी भी कार्य सिद्धि के लिये जो शिल्प और यन्त्र-निर्माण कला है वही 'मयस्कर' है। कल्याणकारी कार्यों के सम्पूर्ण होने का जो परिणाम है वही 'शिव' है देश का सर्वतोप्रसिद्ध शिव तीर्थ 'केदारनाथ' है पहले सूर्यवंशी राजा सगर और बाद मे महाराजा भगीरथ ने देश की खेती-बाड़ी की व्यवस्था को पुष्ट करने के लिए हिमालय की अनेक छोटी बड़ी की धाराओं को दिशा देकर गगा का निर्माण किया। गंगा का नाम 'भागीरथी' इसी लिए पड़ा। 'केदार' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है कृषि क्षेत्र। 'केदारनाथ' के अन्दर में जो 'शिवलिंग' है वास्तव मे उसकी रचना दीपक मे जलती हुई एक लौ के जैसी है। गीता मे योगियो के हृदय में जलने वाली भक्ति व सकल्प की 'दीपशिखा' का वर्णन करते हुए योगीराज श्रीकृष्ण लिखते हैं—

> 'यथा दीपो निवातस्थो नेगते सोपमा स्मृता'

'हवा के झोको से कम्पित न होने वाली लौ के समान व संकल्प ज्योति होती है। शिवलिंग वास्तव में उसी पत्थर जैसी कठोर सकल्प शक्ति का प्रतीक है। भगीरथ के हृदय मे यह वज्र-सकल्प यदि न होता तो कठोर तप करके भी

होलिकोत्सव हम मनाते ही रहे

यह परस्पर की विषमता बढ़ रही,
होलिकोत्सव हम मनाते ही रहे।

यज्ञमय वह भावना मिलती नहीं,
ज्योति भी संकल्प की जलती नहीं।
व्यस्त हैं उपलब्धियों के ही लिये,
किन्तु आकृति जो वरद, हंसती नहीं।

भ्रान्ति का है जाल जब उलझा रहा,
बन अलक्षित पग बढ़ाते ही रहे।

कुप्रथायें कर रही जर्जर सतत,
पशु-मनुज में अब नही अन्तर रहा।
है मनन के नाम पर क्या शेष अब,
बुझ गये विश्वास दीपक ने दहा।

हारते आये सभी संग्राम जब,
किस विजय के गीत को गाते रहे?

पंगु और अन्धे सभी हैं दीखते,
आज बेघर से बने सब भींगते।
अब सरे बाजार प्रहरी लूटते,
मौन होकर हम सभी हैं खीझते।

स्नेहमय वे रंग सब विस्मृत हुए,
द्वेषमय पिचकारियाँ भरते रहे।

छल रही आतंकवादी होलिका,
जल रहा प्रह्लाद सब के सामने।
रक्त देकर के खिलाया जो चमन,
चल रहे बन अन्ध उसको बांटने।

घोर उत्पीड़न निजी घर में पला,
आग बाहर की बुझाते ही रहे।

साध पाये हित नहीं निज का अभी,
देश हित का ध्यान कैसे हो कभी।
ऊर्जा का विश्व सकट छा गया,
किन्तु ईंधन दाह करते हम सभी।

प्रेरणा शिव की अपरिचित ही रही,
पाठ शुक के बस यहां चलते रहे।

—डा० श्रीमती महाश्वेता चतुर्वेदी,
प्रोफेसर्स कालोनी, श्यामगंज बरेली–२४३००५

गगावतरण का अपना स्वप्न कभी पूरा न कर पाते। समाज के कल्याण के लि हर छोटा सकल्प एक 'शिवरात्रि' के समान है, और प्रत्येक महा विराट संक जैसा कि भगीरथ ने लिया था' महाशिवरात्रि पर्व' है। अब जो चमत्कारिक स 'रात्रि' शब्द का प्रयोग करने के पीछे है उसे समझ लें तो और भी आनन्द होगा। कोई भी सकल्प पूर्ण होने से पहले मनुष्य को घोर कष्टों और नाना प्रकार की कठिन समस्याओ को झेलने के दौर से गुजरना पड़ता है। और साधक द्वारा इन समस्याओ को धैर्य पूर्वक झेलने की शक्ति पर ही निर्भर करता है कि कोई बत सफल होगा या नहीं। यह कष्ट का सारा काल साधक इसी आशा मे बिताता है कि एक दिन आएगा जब साधना सफल होगी और सुफलदायिनी सुबह के दर्शन होगे। साधना का यह सारा काल एक लम्बी रात है लेकिन क्योंकि यह कष्ट किसी भावी लोक-कल्याण की भावना से स्वेच्छा से उठाया जाता है अतः हम इसे 'महाशिवरात्रि' नाम से याद करते हैं। वास्तव मे सूर्यवंशी राजाओ ने 'गगा' को लोकोपयोगी बनाने के लिए जो तप किया उनकी ही याद मे यह पर्व मनाया जाने लगा। इस पर्व की प्राचीन लोक जीवन में वही प्रतिष्ठा है जो भारतीयों के जीवन में आज १५ अगस्त तथा २६ जनवरी की है।

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

पंथिक आदेश



आज पंजाब प्रान्त में प्रशासन का कोई अस्तित्व ही नही है। वहाँ पर लाहौर से जारी पंथिक आदेशो के सहारे सरकार चल रही है। किसी भी सरकारी अधिकारी की सामर्थ्य नहीं है कि वह इन आदेशो का पालन न करे। पिछले दिनों चण्डीगढ़ और जालधर के सरकारी प्रेस माध्यमों से हिन्दी मे समाचारों तथा अन्य कार्यक्रमों का प्रसारण बन्द हो गया और सरकार को उग्रवादियो की मांग के सामने झुकना पड़ा। वहां पर एक आदेश जारी कर दिया गया कि स्कूलों और कालेजों की लड़कियों को सलवार कमीज और केशरिया दुपट्टा पहनना होगा तथा लड़कों को पगड़ी बांधनी पडेगी। यह सब हो रहा है। अच्छे काम हों तो कोई बुराई नही है। परन्तु यदि धौंस दिखा कर किए जाये तो यह विघटन की प्रवृत्ति का द्योतक है। सोमवार १८ फरवरी को दूरदर्शन पर एक कार्यक्रम दिखाया गया कि पजाब के सीमावर्ती इलाको के किसान कितने भयभीत है उनकी बहू बेटियो के साथ बदसलूकी की जाती है। अपने ही गाव में रहने की इजाजत के लिए फिरोती मांगी जाती है। सरकारी दूरदर्शन यह सब दिखा रहा है। इसका इलाज सरकार के पास क्या है? कुछ दिन पहले पजाब केसरी के सम्पादक श्री विजय कुमार जी ने ये सब बाते बताई थी। रविवार की सार्वदेशिक सभा की बैठक में श्री वीरेन्द्र जी ने इन आदेशो को पढ़ कर सुनाया। क्या इस तरह देश चल पायेगा। काश्मीर में भी इतनी ही बुरी हालत है। वहां से हिन्दू दूसरे प्रांतो मे सुरक्षित स्थानों पर जा रहे है। उनकी सारी सम्पत्ति और इज्जत दिन दहाडे लुट रही है। सारा प्रशासन ठप्प है। अलगाववाद के नारे लगाये जाते है अथवा पाकिस्तान में विलय के नारे लगाए जाते हैं। दिल्ली के ऊपर इस सब का सीधा असर पड़ता है। दिल्लीवासी आर्थिक सहायता दे सकते हैं आंसू पोछ सकते है पर जो लुट गया उसे तो लौटा नही सक्ते। यह सब काम सरकार का है। पर सरकार मे हमारे नेताओ को सरकार बनाने और तोडने से ही फुरसत नही है। आसाम और तमिलनाडू मे भी ऐसे ही हालात बन गए हैं।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने सरकार से मांग की है कि पाकिस्तान की सीमा के साथ-साथ एक सुरक्षा पट्टी बनाई जाए, जम्मू और कश्मीर को सेना के हवाले कर दिया जाए तथा सरकार ऐसे सख्त कदम उठाए, जिनसे अलगाववादियों की आंखें खुल जाए। सरकार कब करेगी, जब उसके ऊपर भी दबाव पड़ेगा। दबाव के लिये आवश्यक है कि हम आर्य समाज के सगठन को दृढ़तर बनाए। सभी आर्य भाई बहनो का कर्तव्य है कि वे आर्य सिद्धान्तो का पालन करे तथा संगठन को शक्तिशाली बनावे।

—डा० धर्मपाल

जनगणना के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने देश मे हो रही जनगणना के सम्बन्ध मे समस्त आर्य प्रतिनिधि सभाओ आर्य समाजो, शिक्षण सस्थाओं तथा आर्य समाज से सम्बद्ध सभी सस्थाओ से अपील की है कि जनगणना के समय सभी आर्य जनों को विशेष रूप से सक्रिय होकर काम करना चाहिए और जाति के खाने में आर्य (हिन्दू), धर्म के खाने मे वैदिक धर्म और भाषा के खाने में हिन्दी (संस्कृत) लिखाना चाहिए।

स्वामी जी ने कहा देश की वर्तमान परिस्थितियों मे आर्यजनों का यह परम कर्तव्य है इसलिए उन्हें इस दिशा में विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिये।

डा० सच्चिदानन्द शास्त्री

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(१७ फरवरी, ९१ के अंक से आगे)

मेरे मन्त्रित्व काल में क्रमश: समाज के प्रधान श्री ठाकुरदत्त बाली, श्री च्यवन जी आर्य तथा श्री कन्हैयालाल गुप्त रहे। बाली जी और गुप्त जी स्थानीय सुमेर तथा उम्मेद हाई स्कूल के मुख्याध्यापक थे। दोनो सौम्य प्रकृति के तथा साधु स्वभाव पुरुष थे। श्री च्यवन आर्य मारवाड के पुराने आर्य समाजियो की पीढ़ी मे अन्यमत थे। हमारी युवा मण्डली की हमारे अग्रजो से खूब पटती थी और उन्होने हमें कार्य करने के पूरे अधिकार दे रखे थे। नगर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष दीपावली पर होना था। हमने वर्षों तक अपने घरो में दिवाली का त्योहर नहीं मनाया। कारण कि ठीक दिवाली के दिन से ही उत्सव आरम्भ होता था और हम लोग जलसे को सफल बनाने के लिये दिवाली के कई दिन पहले ही लग जाते थे। त्योहार के दिन भी सवेरे के निकले देर रात तक उत्सव की कार्यवाही समाप्त कर घर लौटते। पहले तो कई वर्षों तक हमारी समाज का वार्षिकोत्सव सोजती गेट के बाहर वैदिक कन्या पाठशाला मे होता था। वहा पन्डाल खडा करने, उपदेशको के भोजन निवास की व्यवस्था, यज्ञ की व्यवस्था और कीर्तन की व्यवस्था नित्य के कार्यक्रम का सचालन उपदेशको की दक्षिणा आदि के सभी कार्य हमारे ही जिम्मे थे। उत्सव के लिये धन सग्रह करना सब से दुरुह कार्य था। हमारे नगर मे अनेक सम्पन्न ठेकेदार और व्यवसायी लोग थे। सरकारी अधिकारी भी आर्यसमाज से सहानुभूति रखते थे। ठेकेदारो से चन्दा एकत्र करने का कार्य माली वर्ग के सदस्यो के जिम्मे रहता था। क्योकि इस नगर मे इस जाति के लोगो की आर्यसमाज मे अधिक आस्था थी। सरकारी वर्ग से अन्य प्रतिष्ठित लोगो से चदा लाने का काम श्री च्यवन जी आर्य के जिम्मे था। किन्तु नगर के मुख्य बाजार मे विभिन्न दूकानो पर जाकर एक-एक रुपया चन्दा एकत्र करने का कार्य हमें मिल कर करना होता था। हम मेडती गेट से चल कर जालोरी गेट तक के मुख्य बाजार में प्राय: सभी प्रमुख दूकानदारों से उत्सव के लिए चंदा लेते। जब तक मन्त्री के पद पर रहा तब तक तो उत्सव को सफल बनाने की प्राय समस्त जिम्मेदारी ही हम पर रहती थी किन्तु उसके पूर्व भी आर्यकुमार सभा में सक्रिय रहते समय हम स्वय सेवक के रूप मे अपना फर्ज अन्जाम देते। उत्सव की रात्रीकालीन सभा को सुरक्षा देने की दृष्टि से मैं और मेरे साथी लाठी हाथ मे लेकर इधर उधर घूमते तो उस समय मन मे एक विचित्र प्रकार का उत्साह और दायित्व बोध हो उभरता था। नगर कीर्तन का अपना महत्व और आकर्षण था व्यायामशाला के युवकों का शारीरिक कौशल प्रदर्शन भजनोपदेशकों का तागो मे बैठ कर नगर के मुख्य बाजार मे यत्र-तत्र रुक कर प्रभावशाली प्रचार सभी कुछ शानदार होता था। ओम् की ध्वजा हाथ मे लेकर जुलूस के सारे रास्ते चलने मे थकान होना तो दूर हम मे एक विचित्र स्फूर्ति, गौरव तथा आत्म विश्वास का भाव रहता था।

नगर आर्यसमाज मन्दिर मे वैदिक कन्या पाठशाला थी। अत: बाद मे हमारा उत्सव निकटवर्ती उम्मेद हाई स्कूल के मुख्याध्यापक श्री नेकीराम जो गुप्त तथा उनके दिल्ली चले जाने पर इस पद को पद ग्रहण करने वाले श्री कन्हैया लाल गुप्त का हमारी समाज से प्रगाढ सम्बन्ध था। ये दोनो महानुभाव इस समाज के प्रधान भी रहे थे अत इस विद्यालय मे उत्सव आयोजित करने मे हमे कोई कठिनाई नहीं आती थी।

आर्य समाज का मन्त्री पद संभालने के पश्चात् हमे अनेक सस्कार भी कराने पड़ते थे। कारण कि हमारे समाज मे कोई वैतनिक पुरोहित नही था। एक बार श्री भैरवसिंह जी के मन्त्रित्व काल मे १०० रुपये मासिक पर पडित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति की सस्तुति पर पडित शान्तिस्वरूप वेदालकार को पुरोहित नियुक्त किया था। किन्तु वे महाशय भी लगभग १ वर्ष तक इस कार्य को कर चले गये थे। नामकरण मुण्डन आदि संस्कार कराने मे अधिक कठिनाई नहीं होती थी।

(क्रमश:)

प्राच्य विद्या सम्मेलन...

(पृष्ठ १ का शेष)

इस सम्मेलन मे कई विश्वविद्यालयो के भूतपूर्व एव वर्तमान कुलपतियो ने भी भाग लिया इनमें सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो० वेंकटाचलम्, डा० रामदेव मिश्र, कामेश्वरसिंह दरभगा विश्वविद्यालय के डा० रामकरण शर्मा, डा० जयमन्त मिश्र, डा० विधाता मिश्र, डा० सतीश झा, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के डा० पी० एन० कोठेकर, लाल बहादुरशास्त्री सस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली के डा० मण्डन मिश्र, रविन्द्रभारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता के डा० रमारजन मुखर्जी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

डा० राजारमन्ना ने अपने उद्घाटन भाषण में वैदिक गणित के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध दार्शनिक शकराचार्य के विचारों की विशद् व्याख्या की, डा. रमारजन मुखर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे आधुनिक सन्दर्भ मे सस्कृत के महत्व की चर्चा की। सम्मेलन मे निश्चय किया गया कि अखिल भारतीय प्राच्य विद्या का अगला सम्मेलन भण्डारकर रिसर्च इन्सटिच्यूट पूना में सन् १९९२ में किया जाएगा। तब भण्डारकर इन्स्टिच्यूट के जयन्ती समारोह भी आयोजित किए जाए गे।

सम्मेलन के ३ दिनो मे १५ सत्र आयोजित किए गए जिनमें ४०० से भी अधिक विद्वानों ने वैदिक साहित्य, सस्कृत साहित्य, बौद्ध एव जैन धर्म से सम्बद्ध साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति, भारतीय दर्शन, विज्ञान एवं ललित कलाओ, दक्षिण भारतीय भाषाओं, भाषा विज्ञान, ज्योतिष, व्याकरण, नाट्य शास्त्र, अष्टाग योग, उपनिषद्, धर्म, अध्यात्म आदि अनेक विषयों पर शोध पत्र प्रस्तुत किए गए। समयाभाव के कारण अनेक विद्वान अपने शोध पत्र प्रस्तुत नहीं कर पाए। इन सभी प्रबन्धो को प्रकाशित किए जाने की योजना है। आशा है स्वामी श्रद्धानन्द शोध ग्रन्थावली के अधीन उक्त शोध पत्र इस विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित कर दिए जायेंगे।

इस सम्मेलन के अवसर पर प्रतिनिधियों के मनोरजन के लिए सस्कृत कवि सम्मेलन और कालीदास के विश्वप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् का प्रस्तुतिकरण विद्यालय निर्धन निकेतन, भीमगोडा, हरिद्वार के छात्र छात्राओं द्वारा किया गया जिसे अतिथियो ने और गणमान्य नागरिको ने बहुत पसन्द किया।

सम्मेलन के अवसर पर विश्वविद्यालय मे पुस्तक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया। इस प्रदर्शनी मे गुरुकुल के स्नातकों के ग्रन्थो, हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथो, गुरुकुल के ब्रह्मचारियो द्वारा हस्तलिखित पत्रिकाएं आदि प्रदर्शित की गयीं। भारत के हिन्दी साहित्य तथा प्राच्य विद्याओ के सात प्रकाशक भी अपने नवीनतम प्रकाशनो के साथ इस प्रदर्शनी मे उपस्थित हुए। इस अवसर पर इस विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा विद्यामार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति की पुस्तक "वेदो की वैज्ञानिकता (भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य मे) तथा डा० जयदेव वेदालकार, अध्यक्ष, दर्शन विभाग की पुस्तक "वैदिक दर्शन" का विमोचन डा० राजा रमन्ना द्वारा किया गया।

१७ नवम्बर, १९९० को भारतीय विश्वविद्यालय संघ का निरीक्षक दल भी विश्वविद्यालय की शैक्षणिक गतिविधियो को देखने के लिए पधारा। इस दल में सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति डा० विद्या निवास मिश्र, तथा दयालबाग एजूकेशनल इन्सटिट्यूट के निदेशक डा० एस० पी० वर्मा थे। उन्होने विज्ञान महाविद्यालय और इसके विभिन्न विभागो की प्रयोगशालाएं, वेद महाविद्यालय, मानविकी महाविद्यालय, पुस्तकालय, पुरातत्व सग्रहालय आदि का निरीक्षण कर प्रसन्नता प्रकट की और विश्वास दिलाया कि वे गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय को भारतीय विश्वविद्यालय सघ का स्थायी सदस्य बनाने की संस्तुति करेंगे। डा० विद्या निवास मिश्र, तथा डा० एस० पी० वर्मा ने विश्वविद्यालय के अधिकारियो को यह भी आश्वासन दिया कि वे इस विश्वविद्यालय की चहुंमुखी प्रगति के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से अतिरिक्त अनुदान देने का अनुरोध करेंगे।

भारतीय दर्शन, कला, सस्कृति और आध्यात्म के प्रमुख चिन्तक डा० आनन्द कुमार स्वामी के सुपुत्र डा० रामकुमार स्वामी अपनी धर्मपत्नी के साथ २७ नवम्बर को गुरुकुल पधारे। डा० रामकुमार स्वामी अमेरिका में प्रमुख हृदय शल्य चिकित्सक हैं और उनकी धर्मपत्नी न्यायाधीश के पद पर कार्यरत है। डा० कुमार स्वामी अपने बचपन से ही गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से घनिष्ट रूप से सम्बद्धित रहे हैं। ५ वर्ष की आयु मे सन् १९३५-३६ में अपनी माताजी के साथ वे गुरुकुल आए थे। तब उनकी माताजी गुरुकुल के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० बागीश्वर विद्यालकार से सस्कृत अध्ययन के लिए २ वर्ष गुरुकुल मे रहीं थी। डा० रामकुमार स्वामी ११ वर्ष बाद सन् १९४७ में प्रो० बागीश्वर जी से सस्कृत अध्ययन के लिए फिर गुरुकुल आए थे। १९४७ मे गुरुकुल प्रवास के दौरान उन्होंने गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के साथ हिमालय की लम्बी पैदल यात्रा भी की थी। उनकी इस यात्रा का उद्देश्य अपने पूज्य पिताजी के सन्यास आश्रम में प्रवेश के बाद हिमालय मे उनके लिये उपयुक्त स्थान की तलाश थी किन्तु विधि को यह स्वीकार नहीं था। डा० स्वामी के हिमालय से लौटने पर उन्हें अपने पिताजी की असामयिक मृत्यु का समाचार मिला।

४३ वर्ष बाद अब वे पुन: गुरुकुल पधारे। उन्हें यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि उनकी हिमालय यात्रा के साथी श्री सुभाष विद्यालकार इस समय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति हैं। प्रातःकाल दैनिक यज्ञ के बाद डा० राम कुमार स्वामी की गुरुकुलवासियो से परिचय कराया गया। इस अवसर पर डा० कुमार स्वामी ने वैदिक साहित्य और शास्त्रों के महत्व की चर्चा करते हुए कहा कि आधुनिक युग मे भी भारत की वैदिक विचारधारा और शास्त्रीय ज्ञान का अत्यधिक महत्व है। उन्होने कहा कि यह बात मैं भावनाओं के वशीभूत होकर नहीं कह रहा हू बल्कि अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर कह रहा हू। आज के युग में डाक्टरो, वैज्ञानिकों तथा अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले सभी व्यक्तियो को परिवार के पालन पोषण के लिए वैदिक विचारधारा ही उपादेय है।

पिछले कुछ वर्षो से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विश्वविद्यालय में शिक्षकों के स्वीकृत पदों और रिक्त पदो की नियुक्तियो पर रोक लगा दी गई थी। यह प्रतिबन्ध पिछले दिनों हटा लिया गया था। इसके परिणामस्वरूप विज्ञान, कम्प्यूटर वेद, सस्कृत, हिन्दी, मनोविज्ञान आदि विषयो के रिक्त पदो पर नियुक्तियाँ चयनसमितियो द्वारा की गई है और अधिकांश नव-नियुक्त प्राध्यापकों ने विश्वविद्यालय में शिक्षण कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

उल्लेखनीय है कि भारत सरकार द्वारा मंडल आयोग की सिफारिशो के अधीन २७ प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिए जाने के परिणामस्वरूप देश के अधिकांश विश्वविद्यालय और शिक्षण सस्थाएं दो मास से भी अधिक समय तक के लिए बन्द रहीं। लेकिन इस विश्वविद्यालय के शिक्षको ने अपने उत्तरदायित्वो का परिचय देते हुए सूझबूझ से काम लिया और एक दिन के लिए भी अध्ययन अध्यापन में विघ्न नहीं पड़ने दिया।

मार्च १९९१ के प्रथम सप्ताह में संस्कृत एव भारतीय विद्याओं में कम्प्यूटर का उपयोग विषय पर अखिल भारतीय विचार गोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इस प्रकार की गोष्ठी का आयोजन पहली बार किया गया है। इस गोष्ठी में रुड़की विश्वविद्यालय तथा भारत सरकार के कम्प्यूटर एवं इलैक्ट्रानिक विभाग से पूरी सहायता प्राप्त की जा रही है। ●

ऋषि बोधोत्सव सम्पन्न

वेद प्रचार मण्डल उत्तरी पश्चिमी दिल्ली की ओर से रविवार १७ फरवरी १९९१ को प्रात: १० बजे से आर्य समाज रोहणी सैक्टर ७ (मानव स्थली पब्लिक स्कूल के पास) बड़े समारोह के साथ मनाया गया। बृहद यज्ञ के उपरान्त विशाल शोभा यात्रा निकाली गई जो सैक्टर ८ से होती हुई समारोह स्थल पर पहुंची। वहा आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान डा० धर्मपाल जी की अध्यक्षता मे सार्वजनिक सभा हुई, अपने अध्यक्षीय भाषण मे डा० धर्मपाल जी ने विघ्न बाधाओं की परवाह न करते हुये ऋषि के कार्य को पूरा करने की आर्यों से जोरदार अपील की। डा० महेश जी विद्यालकार ने अपने ओजस्वी भाषण में वेद प्रचार के कार्य मे पूर्ण सहायता एव सहयोग देने का आश्वासन दिया। श्री भगवान दास जी आर्य ने ऋषि के प्रति श्रद्धा प्रकट करते सच्चे शिव के सम्बन्ध में की उनकी खोज से अवगत कराया। श्री विद्यारत्न जी सागर ने अपनी कविताओं द्वारा श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। वेद प्रचार मंडल के मन्त्री श्री हरिदत्त ने वक्ताओ एव श्रोताओ का धन्यवाद करते हुए वेद प्रचार के लिये भरपूर सहयोग देने की अपील की। समारोह के प्रारम्भ मे श्रीमती स्वर्णा जी तथा श्रीमती संतोष जी गुप्ता ने मनोहर व मधुर भजन प्रस्तुत किये। मंडल के प्रधान श्री विद्याप्रकाश जी वर्मा के आभार प्रकट करने के उपरान्त सभा विसर्जित हुई।

महर्षि दयानन्द के बोध पर्व पर विचारणीय

— प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

ऋषि दयानन्द जी महाराज ने वेद वेत्ता विद्वान को अनगिनत अज्ञ जनों पर भारी माना है। अविद्वान गिनती में प्रबल बहुसंख्या में हो और एक परोपकारी वैदिक विद्वान अकेला भी हो तो अकेले विद्वान का मत माननीय है। बोध पर्व आत्म निरीक्षण का पर्व है। आर्य समाजी कहलाने वाले भाई बहन भी इस पर्व पर कुछ आत्म निरीक्षण करें। पदलोलुप, धनलोलुप व राजनैतिक खिलाडियों के कारण आज आर्य समाज व आर्य समाज की संस्थाओं में कई प्रकार के झगड़े व विवाद हैं। क्या आज के दिन सब आर्य सभासद, नेता व अन्य कार्यकर्त्ता यह निर्णय लेंगे कि एक परोपकारी विद्वान संयमी जब संकेत करेगा तो उसके एक ही वाक्य पर सब प्रकार के मतभेद व विवाद समाप्त होंगे। क्या सत्यार्थ प्रकाश से इतनी अध्यात्मिक ज्योति आपके मनों को जगमगा देगी? क्या आपको आर्य-समाज में कोई परोपकारी विद्वान महात्मा दिखाई भी देता है या नहीं?

आज तो यह स्थिति हो गई है कि कई आर्यसमाजों के निर्वाचन ही नहीं करवाए जाते हैं। जिनका अधिकार है, वे कहते हैं करलो जो करना है।

ऋषि दयानन्द ने कुरान का एक हिन्दी अनुवाद तैयार करवाया। इससे पूर्व भी भारत में कई मुस्लिम विद्वानों ने कुरान के कई अनुवाद किए जो बड़े लोकप्रिय हुए परन्तु ये सब अनुवाद ऐसे थे कि अरबी के शब्दों के नीचे उनका अर्थ दिया जाता था। इससे भाव अस्पष्ट से रहते थे। ऋषि ने नये ढंग से अनुवाद करवाया। इसी शैली में बाद में उर्दू के जाने माने साहित्यकार मौलाना नजीर अहमद (डिप्टी साहेब) ने एक अनुवाद किया जो बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसके बाद जालधर के मौलाना फतह मुहम्मद का अनुवाद छपा जो डिप्टी साहेब से श्रेष्ठ माना गया। फिर तो यह शैली चल पड़ी।

ऋषि के सत्यार्थ प्रकाश के प्रकाशन के पश्चात् ही सर सय्यद अहमद खां, मौलाना सनाउल्ला, डा० बशारत अहमद मौलाना मुहम्मद अली आदि के कुरान के अनुवाद छपे। इन सब पर ऋषि की समीक्षाओं की स्पष्ट छाप हैं। आज के दिन क्या कोई आर्य युवक विद्वान् यह संकल्प करेगा कि ऋषि के आगमन के समय कुरान के प्रचलित पांच दस लोकप्रिय भाष्यों का वह संग्रह करेगा और सत्यार्थ प्रकाश की छाओं में रचे गये बीस तीस भाष्यों को भी संग्रहीत किया जायेगा। इससे वैदिक धर्म के प्रचार में लाभ होगा। ऋषि की महत्ता का पता चलेगा और राष्ट्रीय एकता को भी इससे बल मिलेगा।

आज कई सज्जन यह कहते सुने जाते हैं कि मैं पहले इमाम रहा। मैं यह था, मैं वह था। मुझे यह आता है, वह आता है परन्तु क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी है जिसने पुराने आर्य विद्वानों की भांति तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा अध्ययन किया हो। श्री स्वामी वेदानन्द जी वेद आदि शास्त्रों के मर्मज्ञ थे परन्तु आश्चर्य होता है कि आपने कुरान के दो चार नहीं दर्जनों भाष्यों को पढ़ कर स्थूल अक्षरी सत्यार्थ प्रकाश में चौदहवें समुल्लास की टिप्पणियां लिखीं। स्वामी जी के अथाह ज्ञान, परिश्रम व चिन्तन को देख कर पाठक चकित हो जाता है।

आज हम में बी० ए०, एम० ए०, शास्त्री आचार्य व पीएच० डी० तो बहुत हो गये परन्तु, स्वामी दर्शनानन्द सरीखे विद्वान कहां है? वक्ता तो बहुत बढ़िया मिल जावेंगे परन्तु विद्वान पण्डित कहां खो गये? आज के दिन तनिक विचारिये कि वेद के आविर्भाव, ईश्वरीय ज्ञान, त्रैतवाद, पुनर्जन्म, कर्मफल, आर्यों का आदि देश, भाषा की उत्पत्ति, संस्कृत भाषाओं की जननी आदि विषयों पर पाण्डित्यपूर्ण व मौलिक चिन्तन वाले कितने वक्ता व लेखक हम तैयार कर पाये हैं?

प्रदर्शनी के लिये तो बहुत प्रोफैसर वक्ता, प्रवक्ता इकट्ठे किये जा सकते हैं परन्तु क्या इनमें दो चार भी धार्मिक प्रवृत्ति के हैं? नित्य सन्ध्या वन्दन करते हैं — वैदिक धर्म परिवार हों तो क्या ये लोग कुछ लिखते व बोलते हैं?

ऋषि बोध पर्व पर आज यह लिखते हुए तो हमें गर्व होता है कि कुरान के अब जिन्न व भूत नहीं रहे। जिन भूतों को सर सय्यद अहमद भी नहीं मानते थे। डा० अब्दुल रहमान बिजनौरी जैसे विद्वान् वेद को ईश्वरीय ज्ञान भी घोषित करते हैं। विकासवाद और साम्यवाद की मान्यतायें विश्व से विदा कर दी गई हैं। यह सब ऋषि दयानन्द के विचारों की विजय है।

राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ के भाई स्वामी विवेकानन्द जी को बहुत मानते है। स्वामी विवेकानन्द मायावादी थे परन्तु राष्ट्रीय संघ के संस्थापक मायावाद को झुठलाते हैं। वह इसे हिन्दू समाज की अवनति का एक कारण मानते हैं।

राम जन्म भूमि आन्दोलन में सब प्रमुख हिन्दू नेताओं ने रामचन्द्र जी को भारत में जन्मी एक विभूति, एक आदर्श पुरुष ही कहा। एक ने भी यह नहीं कहा कि राम अजन्मा अमर अविनाशी सृष्टि कर्त्ता परमेश्वर थे या अवतार थे। यह ऋषि के विचारों की विजय है।

आवश्यकता है कि मांसाहार आदि विषयों पर बहुत खोजपूर्ण व प्रभावशाली ढंग से बोलने वाले विद्वान आगे आयें। गऊ की महिमा व उपयोगिता पर पाण्डित्यपूर्ण बोलने वाले व्यक्ति चाहिए। ऐसे व्यक्ति आगे आए जो वर्ष में पाच छः बार दस-दस दिन के लिए टोलियां बना कर ऐसे स्थानों में प्रचार के लिए निकलें जहां आर्य समाजें न हो। नई-नई संस्थाओं व भवनों के बनाने में धनित व समय नष्ट न करो। संस्थाओं के कारण तो आर्य समाज का अनार्यकरण हो रहा है। पंजाब व हरियाणा सभा का क्या झगडा है? सम्पति का यह झगडा किन के मध्य है जो सदैव कहते हैं यह धन किसका? मृत्यु के तट पर खड़े हमारे वृद्ध लड़ते हैं। इन्हें बोध कब होगा? अपने बच्चों को वेद भक्त बनाओ। आप उन्हें आर्य नहीं बनाना चाहते आर्यसमाज का नेता बनाना चाहते है।

यज्ञशाला निर्माणार्थ अपील

धर्मनिष्ठ महानुभाव,

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से "गुरुकुल महाविद्यालय रुद्रपुर" तिलहर जिला शाहजहांपुर की चिरकाल से अपूर्ण यज्ञशाला को पूर्ण करने का शुभ संकल्प आपके पवित्र सहयोग की प्रत्याशा में प्रबन्ध समिति ने लिया है। जिसमें कि ढांचा (आकार प्रकार) निर्मित हो चुका है मंगल कलश सीमेन्ट लेप, दरवाजा, खिडकी आदि का कार्य शेष है। जिस पर पचास हजार रुपये अनुमानित व्यय होगा।

ज्ञातव्य है कि यहां प्रथमा (छठी) से आचार्य (एम ए.) पर्यन्त प्राचीन एवं सभी आधुनिक विषयों (अंग्रेजी, गणित, विज्ञान आदि) के उत्तम शिक्षा का सुप्रबन्ध है। यही कारण है कि सुदूरवर्ती अञ्चलों (बिहार, उड़ीसा, नेपाल आदि) के छात्रों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

अतः सभी धर्मप्रेमी सज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त पवित्र कार्य में अधिकाधिक आर्थिक सहायता देकर पुण्य व यश के भागी बने।

—सूर्यदेव आचार्य

वार्षिकोत्सव

आर्य समाज बाकनेर का ४०वां वार्षिकोत्सव २ व ३ मार्च १९९१ शनिवार तथा रविवार हर्षोल्लास के साथ मनाया जा रहा है,

शनिवार २ मार्च प्रातः ८ से १० यज्ञोपदेश १०-११ निबन्ध प्रतियोगिता। (विषय—स्वामी दयानन्द सरस्वती)

११ से ५ खेल प्रतियोगिताए—(कबड्डी, राष्ट्रीय कुश्ती, दौड़, वालीबाल)

रात्रि ८ से १० भजनोपदेश व भाषण प्रतियोगिता (विषय—आर्य समाज की देन)

रविवार ३ मार्च प्रातः ८ से १० यज्ञोपदेश

१० से ३ खेल प्रतियोगिता (निर्णायक)

३ से ५ आर्य युवक सम्मेलन तथा पुरस्कार वितरण समारोह एवं अभिनन्दन : पद्म श्री भारत केसरी सतपाल पहलवान

प्रधान—मांगेराम आर्य

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

सन् १९९१ तदनुसार सवत् २०४७-४८

आर्य पर्वों की सूची

क० स०	नाम पर्व	अंग्रेजी तिथि	चन्द्र तिथि		संवत्	वार
१	मकर सक्रान्ति	१४-१-१९९१	माघ बदी	१४	२०४७	सोमवार
२	बसन्त पचमी	२१-१-१९९१	माघ शुदी	५	,,	सोमवार
३	सीता अष्टमी	६-२-१९९१	फा० बदी	८	,	बुधवार
४	दयानन्द बोध रात्रि	१३-२-१९९१	फा० बदी	१४	,,	बुधवार
५	लेखराम तृतीया	१७-२-१९९१	फा० शुदी	३	,,	रविवार
६	नव संस्येष्टि	२८-२-१९९१	फा० शुदी	१५	,,	गुरुवार
७	आर्य समाज स्थापना दिवस	१७-३-१९९१	चैत्र शुदी	१	२०४८	रविवार
८	राम नवमी	२४-३-१९९१	चैत्र शुदी	९	,,	रविवार
९	हरि तृतीया	१४-७-१९९१	श्रावण शुदी	३	,,	रविवार
१०	श्रावणी उपाकर्म	२५-८-१९९१	श्रावण शुदी	१५	,,	रविवार
११	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	२-९-१९९१	भाद्र बदी	८	,,	सोमवार
१२	विजयादशमी	१८-१०-१९९१	अश्विनी शुदी	१०	,,	शुक्रवार
१३	गुरु विरजानन्द दिवस	२१-१०-१९९१	अश्विनी शुदी	१३	,,	सोमवार
१४	म० दयानन्द निर्वाण दिवस	५-११-१९९१	कार्तिक बदी	१४	,,	मंगलवार
१५	स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस	२३-१२-१९९१	पौष बदी	३	,,	सोमवार

नोट :—सभी आर्य समाजें इन पर्वों को सोत्साह मनावें। देशी तिथियो में घटबढ़ के कारण पर्व दिवस मे परिवर्तन हो सकता है।

—सूर्यदेव, महामन्त्री

धर्मवीर हकीकत राय बलिदान समारोह

बसन्त मेला

अखिल भारतीय हकीकत राय सेवा समिति और आर्य समाज सरोजनी नगर नई दिल्ली के तत्वावधान में गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी धर्मवीर हकीकत राय बलिदान दिवस बाल मेला रविवार २७ जनवरी १९९१ को आर्य समाज मदिर सरोजिनी नगर मे बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। स्कूलो के बच्चों ने धर्मवीर हकीकत राय के जीवन पर बहुत प्रभावशाली भाषण व कविता प्रस्तुत की। सभी बच्चों को पारितोषिक दिए गये। रतनचन्द आर्य जी ब्लाक स्कूल सरोजनी नगर के बच्चो ने हकीकत राय का ड्रामा और नर्सरी के बच्चों ने बसन्त के उपलक्ष्य मे बहुत सुन्दर कार्यक्रम प्रस्तुत किया। दोपहर १२ बजे श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। जिसमे श्री ओमप्रकाश कोहली अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी दिल्ली प्रदेश श्री प्रेमचन्द श्रीधर श्री यशपाल शास्त्री श्री राममज जी (भूतपूर्व महानगर पार्षद) श्रीमती शकुन्तला आर्य (प्रधाना महिला सभा) श्री दीक्षित वेदालकार ने सारगर्भित विचार रखे। श्री गुलाब सिह राघवन के मनोहर भजन हुए। और स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती ने पधार कर आशीर्वाद दिया। अन्त में ऋषि लगर का आयोजन किया।

—रोशनलाल मन्त्री

वेद वेदांग पुरस्कार-१९९१

देश, जाति, धर्म आदि के नाम पर विभाजित संसार को भारतीय सस्कृति का स्पष्ट सन्देश है—"अयं निज. परो वेति गणना लघु चेतसाम्। उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। हमारी वैदिक विचार-धारा इतनी सशक्त है कि हम केवल मानव के लिए ही नहीं समस्त जीव-जन्तुओ के कल्याण के लिए भी प्रार्थना करते हैं—"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्" ऐसी वैदिक सस्कृति और वेद का सन्देश देने वाले स्वामी विद्यानन्द सरस्वती और महात्मा प्रेम भिक्षु जी को मैं श्रद्धाजलि अर्पित कर सका यह मेरा सौभाग्य है।" ये उद्गार हैं देश के प्रसिद्ध राजनेता तथा संस्कृतज्ञ डॉ० कर्णसिह के जो उन्होंने वेद वेदांग पुरस्कार समारोह के अवसर पर प्रकट किये। वेदो के प्रकाण्ड विद्वान, वेद मीमासा, चत्वारो वै वेदाः, भूमिका भास्कर, तत्वमसि, आर्यों का आदि देश, जैसे मौलिक ग्रन्थो के प्रणेता स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को आर्य समाज सान्ताक्रुज की ओर से इक्कीस हजार रुपये का वेद-वेदाग पुरस्कार स्थानीय आर्य विद्या मन्दिर जुहू के सभागार मे १९-१-९१ को आयोजित एक भव्य समारोह मे अर्पित किया गया।

इसी अवसर पर प्रसिद्ध वैदिक विद्वान, धर्म प्रचारक महात्मा प्रेम भिक्षु जी को ग्यारह हजार रुपये का वेदोपदेशक पुरस्कार अर्पित किया गया। स्वामी विद्यानन्द जी ने अपने सक्षिप्त भाषण मे कहा कि वेद साक्षात् नारायण हैं। पाश्चात्य लेखकों ने उनको विकृत रूप मे ससार के सामने उपस्थित किया है। हमें वेद के वास्तविक रूप को समझना चाहिए। महात्मा प्रेम भिक्षु जी ने वेदानुकूल आचरण पर जोर देते हुए कहा कि हमे वेद के उदात्त, दिव्य सन्देश के अनुसार अपनी दिनचर्या तथा जीवनचर्या बनानी चाहिए। नगर के प्रमुख कांग्रेसी नेता तथा सुकवि श्री राममनोहर त्रिपाठी ने खेद व्यक्त करते हुए कहा कि वेद हमारी पुरानी पीढ़ी तक ही रह जाने का खतरा उपस्थित है। हमें उसके मर्म से नई पीढी को प्रभावित कराना होगा। इस पर आर्य समाज को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। आपने कहा कि सस्कृत का अध्ययन संस्कृत के द्वारा ही होना चाहिए या फिर मातृभाषाओं के द्वारा किया जाए। अंग्रेजी के द्वारा संस्कृत की पढाई बन्द होनी चाहिए।

समारोह के अध्यक्ष महाराष्ट्र के भू. पू. मुख्यमन्त्री श्री शिवाजीराव निलगेकर ने कहा कि स्वतन्त्रता के बाद लोगों की राजनीति की ओर आकर्षण बहुत बढ़ गया है। धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्रो मे लोग अधिक काम करते थे। पर आज ये क्षेत्र पूर्ण रूप से उपेक्षित से हो गये हैं। इसीलिए समाज तीव्रगति से पतन की ओर जा रहा है। वेदोद्धारक दयानन्द ने हमे अधिक से अधिक मनुष्य-धर्म पालन करने की प्रेरणा दी है। आज की पीढी धर्म से बहुत दूर जा रही है। यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो नयी पीढी नष्ट हो जायगी।

प्रारम्भ में वेद वेदांग पुरस्कार निर्णायक समिति के अध्यक्ष श्री कैप्टिन देवरत्न आर्य ने पुरस्कार के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए सान्ताक्रुज आर्य समाज की गतिविधियो का परिचय कराया। आर्य समाज सान्ताक्रुज के प्रधान श्री चमनलाल महाशय ने अतिथियो का स्वागत किया। श्री ओंकारनाथ जी आर्य तथा महामन्त्री श्री नरेन्द्र पटेल ने अभिनन्दन पत्रों का वाचन किया। इस अवसर पर स्थानीय आर्य समाजो तथा अन्य सस्थाओं के प्रतिनिधियो की ओर से पुरस्कृत महानुभावों का पुष्प मालाओ द्वारा सत्कार किया गया। आर्य विद्या मन्दिर के छात्रों द्वारा महाभारत पर आधारित एक प्रसग भी अभिनीत किया गया। इस अवसर पर स्वामी सच्चिदानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द जैसे विद्वान सन्यासी, विविध धर्मों तथा सस्कृत सस्थानों के प्रतिनिधि उपस्थित थे।

सभा का संचालन कैप्टिन देवरत्न आर्य ने किया।

—प्रकाशचन्द्र शास्त्री

शोक प्रस्ताव

यह समाचार बड़े दुःख के साथ आर्य जगत में सुना जायेगा कि आदरणीय आनन्द प्रिय जी (भ्राता जी) का स्वर्गवास दि० १६-१-९१ को उनके निवास स्थान बड़ौदा मे हो गया है। आपने अपने जीवन काल में आर्य जगत व शिक्षा संस्थाओं की तन-मन धन व लगन से जो सेवा की है। वह अपूरणीय क्षति है। स्वामी दयानन्द जी महाराज की जन्म भूमि मे स्मारक बनवाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट टकारा के वे प्राण थे।

ग्रामीण दंगाग्रस्त क्षेत्र में वेद प्रचार

१. बिहार के भागलपुर जिले में दंगाग्रस्त ग्रामीणक्षेत्र में वैदिक धर्म-प्रचार

दिनांक ३०, ३१ जनवरी एवं १ फरवरी को बिहार स्थित भागलपुर जिले के दंगाग्रस्त क्षेत्र में एक गांव मलोडिया में वैदिक धर्म का प्रचार एव आर्य समाज की स्थापना डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी नालन्दा एवं पं० वीरेन्द्र जी आर्य गाजीपुर, उत्तर प्रदेश के तत्वावधान में किया गया। सयोजन का कार्य आर्य समाज नाथ नगर के द्वारा सम्पन्न हुआ। नव स्थापित आर्य समाज मलोडिया (भागलपुर) के प्रधान श्री नारायण मण्डल तथा मन्त्री श्री कैलाश भारती चुने गये।

२. नाथ नगर में यज्ञ एवं कथा—

पुलिस प्रशिक्षण केन्द्र (सी० टी० एम०) नाथ नगर के सार्जेन्ट श्री रविन्द्र कुमार की पुत्री सुश्री स्विषि के सातवे जन्म दिवस पर डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी नालन्दा के आचार्यत्व में पुलिस कैम्प मे यज्ञ एव कथा का आयोजन हुआ।

वार्षिक निर्वाचन

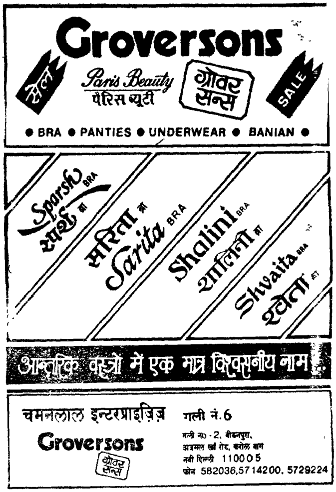
—आर्य समाज नजफगढ का वार्षिक चुनाव स्वामी मनीषानन्द की अध्यक्षता में सर्व सम्मति से सम्पन्न हुआ।

प्रधान—श्री रघुनाथ सिह आर्य
मन्त्री—अभयराम आर्य
कोषाध्यक्ष—रामकवर दहिया

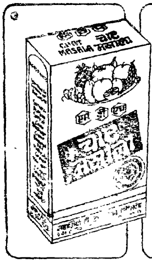
—आर्य समाज नागदा का वार्षिकी चुनाव सर्व सम्मति से सम्पन्न हुआ। जिनमें निम्न पदाधिकारी चुने गये—

प्रधान—श्री सेवाराम जी आर्य
मन्त्री—श्री मोहनलाल जी आर्य
कोषाध्यक्ष—श्री रमेश चन्द्र जी आर्य

—वैद्य रामसेवक पाण्डेय



200/-रूपये की खरीद पर 1 सुधांशु जी का टेप रिकार्डर कैंसेट या तौलिया मुफ्त



चाट मसाला

चाट, सलाद और फलों को अत्यन्त स्वादिष्ट बनाने के लिये यह बेहतरीन मसाला है।

CHAT MASALA

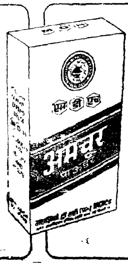
Excellent for garnishing Chat, Salads and fruit to provide delicious taste and flavour

अमचूर

अपनी क्वालिटी तथा शुद्धता के कारण यह खाने में विशेष स्वाद और लज्जत पैदा करता है।

AMCHOOR (Mango Powder)

It adds special tangy taste and flavour to your dishes with its quality and purity.





आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 21-22-2-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३६
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" २४ फरवरी, १९९१

ऋषिबोधोत्सव तथा सोताष्टमी पर्व

करोलबाग आर्य महिला मण्डल के तत्वावधान में ऋषि बोधोत्सव तथा सीताष्टमी का पर्व दिनाक २६ फरवरी १९९१ दिन मगलवार को आर्य स्त्री समाज, राजेन्द्र नगर मे मान्य बहन श्रीमती विद्यावती मरवाह की अध्यक्षता मे बडे समारोह पूर्वक मनाया जायेगा।

कार्यक्रम :

यज्ञ प्रार्थना ब्रह्मा—श्रीमती शान्ति देवी अग्निहोत्री तथा कृष्णा बडेरा
ध्वजारोहण—श्रीमती उमा बजाज
ध्वज गीत—राजेन्द्र नगर की बहनो द्वारा
वेद गान—आर्य कन्या गुरुकुल राजेन्द्र नगर की छात्राओ द्वारा
मुख्य अतिथि—मान्य बहन ईश्वर देवी धवन
उद्घाटन भाषण—श्रीमती सरला महता, उप-प्रधाना, आर्य महिला सभा
मुख्य वक्ता—श्रीमती शशि प्रभा कुमार, श्रीमती प्रकाश शास्त्री, श्रीमती तारादेव, श्रीमती शकुन्तला आर्या, प्रधाना-प्रांतीय आर्य महिला सभा।
साहित्य वितरण श्रीमती विद्यावती मरवाह।
शुभकामनाए—श्रीमती शान्ति देवी मलिक।
आशीर्वाद—वेद प्रिया सुशीला आनन्द।

—श्रीमती कृष्णा रसवत (मन्त्रिणी)

महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार
—१९९१—

वैदिक धर्म, वैदिक साहित्य एव आर्य समाज के प्रति समर्पित भाव से की गई, श्लाघनीय सेवाओ के फलस्वरूप महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार निधि न्यास, आर्य समाज फुलेरा जिला-जयपुर, राजस्थान की ओर से ५,०००/-(पांच हजार रुपये) नकद, दयानन्द स्वर्ण/रजत पदक, उतरीय, प्रशस्ति-पत्र तथा अभिनन्दन-पत्र, महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार, स्वरूप प्रति वर्ष ऋषि निर्वाण दिवस पर प्रदान किया जाता है। सन् १९९१ के महर्षि दयानन्द सरस्वती पुरस्कार के लिये कोई भी आर्य विद्वान स्वय अपना या अन्य आर्य विद्वान का नाम पूर्ण विवरण तथा कृतियो सहित दिनांक ३१-०७-१९९१ तक प्रस्तुत कर सकता है।

कविराज भंवरलाल शर्मा आचार्य
अध्यक्ष
निधि न्यास, आर्य समाज—फुलेरा,
जिला-जयपुर (राजस्थान)



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६
टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष,
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ. प्र.)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक १८ | रविवार, ३ मार्च, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४७ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

पंजाब में हिन्दी का अपमान सहन नहीं होगा

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग का प्रस्ताव

दिल्ली १७ फरवरी । सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की १७-२-९१ की अन्तरग बैठक आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली मे सम्पन्न हुई, जिसमे भारत के सभी प्रान्तो के वरिष्ठ आर्य नेताओ ने भाग लिया । बैठक सभा प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई । इसमे अनेक प्रस्ताव पारित किए गए ।

पंजाब में हिन्दी की अवमानना के विरोध मे प० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव द्वारा प्रस्तुत निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ:—

प्रस्ताव

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा ही नही है, अपितु हिन्दी राष्ट्रीय एकता, संगठन एवं सांस्कृतिक अस्मिता की प्रतीक है । इसी कारण भारतीय गणतन्त्र के नियामको ने भारत के विभिन्न प्रान्तों के बीच राजकीय एवं प्रशासकीय सम्पर्क के लिये सम्पर्क भाषा के रूप मे इसे स्वीकार किया । यह भी उल्लेखनीय है कि किसी देश की राजभाषा ही जनता के विभिन्न वर्गो के बीच सम्प्रेषण का प्रमुख माध्यम होती है ।

अत: यह बहुत ही चिन्ता एवं अपमान की बात है कि देश के कुछ भागों मे, हिन्दी के महत्व को कम करने के प्रयास ही नही किए जा रहे हैं, बल्कि उसके अस्तित्व को प्रशासकीय एवं राजकीय क्षेत्रों से पूरी तरह से मिटाया जा रहा है । विशेष रूप से पंजाब मे उग्रवादियो के दबाव मे, पंजाब सरकार हिन्दी को पूरी तरह समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है ।

आर्य समाज किसी भी भाषा का विरोध नही करता । आर्य समाज यथासम्भव अधिकाधिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन एवं प्रयोग करने का पक्षधर है । परन्तु आर्य समाज राष्ट्रभाषा हिन्दी के महत्व को कम करने के प्रयास का पूरी ताकत से विरोध करने के लिए प्रतिबद्ध है ।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा सरकार से मांग करती है कि वह पंजाब सरकार को पजाब में हिन्दी भाषा के सम्मान को ठेस पहुचाने के प्रयत्न करने से रोके । हिन्दी की अवमानना सम्पूर्ण राष्ट्र का अपमान है । सरकार को चाहिए कि वह हिन्दी समर्थकों को इस विषय पर आन्दोलन करने के लिए बाध्य न करे ।

आर्य समाज राष्ट्र भाषा हिन्दी के साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय भाषाओ को प्रोत्साहित करने के लिए किये गये प्रयासो का सदैव स्वागत करता है । —मन्त्री

पंजाब कश्मीर के मामले में सरकार कड़ा कदम उठाये

दूरदर्शन से चित्रहार द्वारा अश्लील प्रसारणों पर रोक आवश्यक

दिल्ली, १८ फरवरी । सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का त्रैमासिक अन्तरंग अधिवेशन कल आर्य समाज दीवानहाल, दिल्ली में सभा प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ । इस अवसर पर देश की वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ मे गम्भीरता से विचार किया गया और सर्वसम्मति से निम्न प्रस्ताव पारित हुए—

१—सार्वदेशिक सभा पंजाब मे सरकार की गिरती हुई साख पर गहरी चिन्ता प्रकट करती है । पजाब सरकार लाहौर से जारी पंथिक आदेशों को मानने के लिए बाध्य है । आदेशों में कहा जाता है कि सरकार एवं गैर सरकारी स्तरों पर गुरुमुखी का प्रयोग किया जाय तथा हिन्दी का प्रयोग न किया जाय । स्कूलो और कालेजों की छात्राओं को सलवार, कमीज तथा विशेष रग का दुपट्टा पहनना होगा । आकाशवाणी और दूरदर्शन पर भी हिन्दी भाषा के प्रसारण नही होंगे । ऐसे आदेशों का पंजाब के राजकीय प्रशासन द्वारा पालन करना भारत राष्ट्र का सरासर अपमान है । ऐसा प्रतीत होता है कि वहा पर राजकीय प्रशासन का कोई अस्तित्व ही नही रह गया है । सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, इस प्रकार के राष्ट्र विरोधी पथिक आदेशो का कडा विरोध करती है और सरकार से माग करती है कि वह पजाब के विषय में दृढता पूर्वक कार्यवाही करे ।

पंजाब के उग्रवादियों के साथ बिना शर्त बातचीत के प्रस्ताव से ऐसा प्रतीत होता है कि उग्रवादियों के सम्मुख सरकार ने समर्पण कर दिया हो । इस अस्थिरता के वातावरण को समाप्त करने के लिए सरकार को दृढ कार्यवाही करके अपने अस्तित्व का परिचय देना पड़ेगा ।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

प्र० सम्पादक—सूर्यदेव

सम्पादक—मूलचन्द गुप्त

वैदिक वर्ण व्यवस्था

(ॐ) मनोज कुमार शास्त्री

यदि हम वर्ण व्यवस्था का आदि स्रोत ढूंढते हैं तो हमें ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ९० वें पुरुष सूक्त में प्राचीनकाल मे समाज चार वर्णों में विभक्त था, ऐसा मिलता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरुतदस्य यद्वैश्य पद्ऽयां शूद्रोऽजायत् ॥" ऋग्वेद ९०वें १० मण्डल

अतः निष्कर्ष के रूप में यह कथनीय है कि प्राचीन काल की वर्ण-व्यवस्था भी केवल मात्र गुण कर्म के आधार पर है।

प्राचीन काल मे वैदिक मनीषियों द्वारा की गई वर्ण-व्यवस्था का आधार वैज्ञानिक था। समाज की आर्थिक एव बौद्धिक उन्नति मे वह व्यवस्था सहायक थी। गुणो एव कर्मों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्रो का विभाजन कर दिया गया था। लोग अपनी रुचि एव क्षमता के आधार पर जो कार्य करते थे, वे उसी वर्ण के माने जाते थे। किन्तु वैदिक युग के पश्चात् इस व्यवस्था मे विकार उत्पन्न होने लगे, क्योंकि वर्ण एव जाति का निश्चय जन्म के आधार पर माना जाने लगा। इस प्रकार जाति वर्ण आदि व्यवस्था में दोष दृष्टिगोचर होने लगे थे।

"न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्व ब्रह्ममिद जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम् ॥'

कालान्तर मे वैदिक कर्मकाण्ड व्यवस्थित होने लगे, उनका विस्तार होने लगा। जन्म एव विकास के विषय मे यदि मनन किया जाए तो उनके आधार एव सिद्धान्त सामने आते हैं। वर्ण शब्द 'वृ' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। वृ का अर्थ है वरण करना अर्थात् चुनना। जिस व्यक्ति ने अपनी रुचि एव क्षमता के अनुसार जो कार्य चुन लिया उसके आधार पर उसका वर्ण भी निर्धारित हो गया। जिनकी वृत्तिया एव कार्य ब्राह्मणोचित थे उन्हे ब्राह्मण कहा जाने लगा। ब्रह्म अर्थात् 'सत्य की खोज' करने वाले ब्राह्मण विद्वान् होते थे अतः सर्वदा सत्य की खोज में लगे रहने से उन्हे 'ब्राह्मण' वर्ण की सज्ञा दी गयी है। जो साहसी एवं शक्ति सम्पन्न होते थे वे क्षत्रिय कहलाए। क्षत्र अर्थात् रक्षा करने का कार्य प्रमुख होने के कारण इस वर्ण क्षत्रिय कहा गया। क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्द भुवनेषु रुढः। महाकवि कालिदास रघुवंश मे दिलीप द्वारा क्षत्रिय शब्द का अर्थ इस प्रकार कराते हैं। जिन मनुष्यों की रुचि व्यापार, कृषि, धनोपार्जन आदि व्यवसायो मे होती थी उन्हे वैश्य कहा गया। वे आर्थिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते हुए समाज का भार वहन करते थे। कुछ लोग ऐसे भी होते थे जिनकी रुचि एव क्षमता उपर्युक्त किसी भी कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होती थी, वे अन्य लोगों की सेवा का कार्य करके अपना जीवन यापन करते थे।

गीता मे श्री कृष्ण ने कहा है —

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागश. ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विदध्यकर्तारमव्ययम् ॥"

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि प्राचीन वैदिककाल मे कर्म प्रधान चार वर्णों का उल्लेख है। कालान्तर मे वर्णों मे ऊच-नीच का भेद भाव जब बढने लगा तब असख्य जातियो का आविर्भाव हमारे भारत मे होने लगा। अनेक ऋषि मुनियों के नाम पर विभिन्न गोत्र और जातियो का विकास होता गया। इस प्रकार वर्णों से ही अनेक जातियों की उत्पत्ति हुई।

तत्कालीन समाज मे प्रत्येक जाति के लिए कुछ न कुछ आचार-विचार, रीति-रिवाज खान-पान, रहन-सहन आदि के निश्चित नियम बने हुए थे। जिनका पालन प्रत्येक जाति के लोग प्रतिष्ठा हेतु करते थे। इसका उल्लघन करने पर उन्हें समाज व जाति-च्युत कर दिया जाता था। हमारी वर्ण व्यवस्था के अनुसार एक शूद्र परिवार मे जन्म लेकर भी व्यक्ति केवल मात्र अपनी विद्वत्ता से गौरवान्वित हो सकता था। इसी तथ्य को साकार रूप दिया डा० भीमराव अम्बेडकर ने —

डा० भीमराव अम्बेडकर व सन्त रविदास जैसे अनेक विद्वान् हुए जो पिछड़ी जाति में होते हुए भी विश्व मे अग्रणी रहे। एक मिसाल है पिछड़े वर्ग के लिए। आर्य समाज के सस्थापक युग प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्द ने भी अपनी रचना सत्यार्थ प्रकाश व सस्कार विधि मे कर्म प्रधान वर्ण-व्यवस्था की ही स्थापना की है। उनकी यह अभिव्यक्ति महर्षि मनु द्वारा लिखित 'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणाद्विज उच्यते' को ही स्वीकार करते हैं।

दुनियां से अन्याय मिटाओ

पं० नन्दलाल "निर्भय" भजनोपदेशक

समय नहीं सोने का प्यारों, आर्य वीरो कदम बढ़ाओ।
वेद-सभ्यता, सदाचार का, सकल विश्व को पाठ पढ़ाओ ॥
भौतिकता की चकाचौंध ने, अन्धा बना दिया है ये जग।
स्वार्थ भरा है हर हृदय में, भूल गये हैं नर-नारी मग ॥
भगत राम से नहीं रहे अब, युवक गये बन रावण से ठग ॥
बन कर के मारीच धरा पर, घूम रहे है लीडर लगभग ॥
बजरगी हनुमत बन जाओ, असुरों की तुम लक जलाओ।
वेद-सभ्यता, सदाचार का, सकल विश्व को पाठ पढ़ाओ ॥१॥
ऋषियो के प्यारे भारत में, पनप गये खल-अत्याचारी।
मानव, मानवता तज बैठे, हाय गये बन मांसाहारी।
श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मे, गऊ मात जाती हैं मारी।
नित्य नाचती हैं नेताओं, के आगे कन्याए क्वारी ॥
"नारी पूजनीय होती है" मूढ़ लीडरो को समझाओ।
वेद-सभ्यता सदाचार का, सकल विश्व को पाठ पढाओ ॥२॥
ईश्वर में विश्वास नही है, जड़ पूजा का जोर यहाँ है।
खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, का भारी अब शोर यहाँ है ॥
सज्जन छुप कर घर बैठे हैं, गर्ज रहा हर चोर यहाँ है।
उल्लू, काक, मान पाते हैं, दुखी कोकिला, मोर यहाँ है ॥
दयानन्द के वीर सैनिकों, दुनियां से अन्याय मिटाओ।
वेद-सभ्यता सदाचार का, सकल विश्व को पाठ पढ़ाओ ॥३॥
बिना तुम्हारे दुखी जगत का, और कौन कल्याण करेगा।
अबला, दीन, अनाथ जनो का, कष्ट बताओ कौन हरेगा ॥
वेदो का सदेश सुनाता, देश, विदेश कौन विचरेगा।
वही अमर होगा जग में तो, जो जग हित के लिए मरेगा ॥
स्वामी श्रद्धानन्द, लाजपत, "निर्भय" लेख राम बन जाओ।
वेद-सभ्यता, सदाचार का, सकल विश्व को पाठ पढ़ाओ ॥४॥

ग्राम व पोस्ट—बहीन, जिला—फरीदाबाद
(हरियाणा)

मिल करके होलिका जलाओ

—ले० स्वरूपानन्द सरस्वती

बड़े प्रेम श्रद्धा से मिलकर होली का त्यौहार मनाओ।
भेदभाव का भूत भयकर भारत देश से दूर भगाओ ॥
मद्य पियक्कर बन करके इज्जत धूल मे नहीं मिलाओ।
बको न गाली पीकर प्याली चण्डू चरस अफीम न खाओ ॥
पाखण्ड अविद्या रूढीवाद सब नाशकारी कुप्रथा मिटाओ।
निज बुद्धि विवेक तपोबल से देश का ऊचा भाल कराओ ॥
यज्ञादि शुभ श्रेष्ठ कर्म कर वेदामृत पीयूष पिलाओ।
सद् विवेक से जन गण मन के सारे संसय शूल मिटाओ ॥
द्वेष घृणा अभिमान ईर्ष्या छल कपट का ढेर लगाओ।
भारत माता की जय बोलो मिल करके होलिका जलाओ ॥

अधिष्ठाता, वेद प्रचार विभाग
१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

महात्मा हंसराज दिवस समारोह

प्रतिवर्ष की भांति आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा तथा डी. ए. वी. संस्थाओं के संयुक्त तत्वावधान में महात्मा हंसराज दिवस समारोह इस वर्ष रविवार २१ अप्रैल १९९१ को प्रातः ९ बजे से १ बजे तक तालकटोरा गार्डन, इन्डोर स्टेडियम (नजदीक बिरला मन्दिर) नई दिल्ली में समारोहपूर्वक मनाया जायेगा।

समस्त आर्य समाजों, स्त्री आर्य समाजों, डी. ए वी. संस्थाओं, आर्य शिक्षण संस्थाओं एवं समस्त आर्य जगत् से प्रार्थना है कि यह तिथि अभी से अपनी डायरी में अंकित कर लेवें और उस दिन कोई कार्यक्रम न रखकर इस समारोह में उपस्थित होने की कृपा करें।

—रामनाथ सहगल, मन्त्री

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्यसन्देश

हमारे शाश्वत मूल्यों की भाषा संस्कृत



भारत वर्ष में पिछले कई वर्ष से एक वर्ग उभर कर आ रहा है जो राष्ट्रीय गौरव को मिटाने पर तुला हुआ है। पाठको को स्मरण होगा कि १६ मार्च ८९ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से एक ज्ञापन तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष डा० बलराम जाखड़ को दिया गया था। इस ज्ञापन के माध्यम से सरकार से प्रार्थना की गई थी कि केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड अधिकारी निरन्तर संस्कृत की अवहेलना कर रहे हैं उनको आदेश दिए जाए कि वे संस्कृत को समाप्त न करें। संस्कृत किसी वर्ग विशेष की भाषा नहीं है। सस्कृत तो सबकी भाषा है। इसका चरित्र सार्वदेशिक एव सार्वभौमिक है। भाषा शास्त्री जानते हैं कि संस्कृत भारत वर्ष की सभी भाषाओ का स्रोत है। यूरोप की भी अनेक भाषाए संस्कृत से ही उद्भूत हैं। भाषा शास्त्र मे एक विशेष अध्याय भारोपीय भाषाए नाम से होता है। इससे तात्पर्य स्पष्ट है कि संस्कृत का विश्व के सन्दर्भ मे महत्व विशेष है।

यह ज्ञापन दिया गया था और सरकारी पाठ्यक्रम समिति ने उस समय यह निर्णय ले लिया था कि संस्कृत की स्थिति यथा पूर्व बनी रहेगी। कुछ समय पश्चात् पुनः इन सरकारी अधिकारियो के मस्तिष्क में सस्कृत विरोधी कीड़े ने जन्म लिया और फिर से सस्कृत का विरोध होना प्रारम्भ हो गया। संस्कृत प्रेमियो ने उच्च न्यायालय एव सर्वोच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की और एक बार फिर से यथा स्थिति आदेश मिल गए। वर्ष १९९१ से पुनः प्रयास किए जा रहे हैं कि संस्कृत को पाठ्यक्रमो से निकाल दिया जाए।

हमें आश्चर्य होता है कि हमारे राष्ट्रीय नेता जो संस्कृत के महत्व मे बोलते हुए नहीं थकते वे इस सरकारी तत्र के सामने क्यो असफल हो जाते हैं। जो भारतीय संस्कृति के गौरव को बनाए रखना चाहते हैं वे सस्कृत को महत्व देते है, जो विज्ञान और टेक्नोलॉजी को बढावा देना चाहते हैं वे भी सस्कृत को महत्व देते हैं। क्योकि यह सिद्ध हो चुका है कि कम्प्यूटर के लिए सर्वश्रेष्ठ ग्राह्य भाषा सस्कृत ही है, जो अपनी भाषाओ को समृद्ध करना चाहते हैं वे भी सस्कृत को ही महत्व देते हैं। जब सभी सस्कृत को इतना महत्व देते हैं तो सस्कृत भाषा की इतनी अवमानना क्यों ?

हमारे सविधान मे राजभाषा हिन्दी के सम्बन्ध मे लिखा है कि वह अपनी शब्द सम्पदा को सस्कृत से लेकर समृद्ध करेगी।

दिल्ली में शनिवार २३ फरवरी को राष्ट्रपति रामास्वामी वेंकटरामन ने लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ का मानित विश्वविद्यालय के रूप मे उद्घाटन किया। उनके अंग्रेजी भाषण में सस्कृत भाषा के श्लोक, सस्कृत के महत्व को रुपायित करते हैं। उन्होने शहजादा दारा शिकोह द्वारा उपनिषदो के फारसी अनुवाद का जिक्र किया। और बनारस के सस्कृत विद्वानों के सहयोग का भी। राष्ट्रपति ने कहा कि सस्कृत हमारे शाश्वत मूल्यो की भाषा है। जिस प्रकार हिमालय अचल्य है उसी प्रकार संस्कृत भी। जिस प्रकार हिमालय अनेक नदियो का उद्गम स्थल उसी प्रकार सस्कृत भी अनेक भाषाओ की जननी है। राष्ट्रीय एकता का स्वप्न भी उन्होने संस्कृत के माध्यम से देखने का प्रयास किया। अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना करने के लिए उन्होने सस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करने की प्रेरणा दी। राष्ट्रपति जी बधाई के पात्र हैं।

एक और विडम्बना है। शंकराचार्य तो शूद्रो और महिलाओं के लिए वेद और संस्कृत के अध्ययन की अनुमति नही देते थे, पर लालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ में अनेक शंकराचार्यों और सनातन धर्म के अधिष्ठाताओं की उपस्थिति में वेद गायन किया। यह दयानन्द की जीत है? यह आर्य समाज की जीत है। आओ हम विपरीत परिस्थितियां होते हुए भी संस्कृत के अध्ययन का सकल्प लें।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२४ फरवरी, ९१ के अंक से आगे)

किन्तु एक बार हमें विवाह सस्कार कराने के लिए कहा गया। विवाह विधियो की जटिलता तथा दुरुहता को देखते हुए मैंने उचित समझा कि सस्कार सम्पन्न कराने के पहले इसकी कार्य विधियों को पूर्णतया समझ लिया जाय। तब मैं सर प्रताप हाई स्कूल मे सहायक अध्यापक था। मैं अपने खाली पीरियडो में सस्कार विधि के विवाह प्रकरण को परायण करता रहा और सायकाल आर्य समाज में प्रथम बार विवाह संस्कार सम्पन्न कराया। इसके पश्चात् तो विवाह मे पौरोहित्य कर्म करने के अनेक अवसर आये।

आर्य समाज के सत्सगो मे मैं सदा नियमित रूप से जाता रहा। शायद ही कोई ऐसा रविवार रहा हो जब मैं आर्य समाज के संत्सग में नही गया होऊ। यह अनन्य निष्ठा सहज, स्वाभाविक और श्रद्धोपेय थी। मुझे स्मरण है कि जब बी० ए० फाइनल की परीक्षा दे रहा था और मुझे अंग्रेजी साहित्य का परचा देना था तो उसकी तैयारी के लिए आर्य कुमार सभा के रात्रिकालीन अधिवेशन से अनुपस्थित रहने की मैंने विधिवत सूचना मास्टर साहब गणेशीलाल जी को लिखित रूप मे दे दी थी।

सत्सग मे यज्ञ, प्रार्थना, कथा (सत्यार्थ प्रकाश, उपनिषदादि) प्रवचन और शका समाधान आदि के कार्यक्रम मैं ही सम्पन्न कराता था। कर्म काण्ड को पूर्ण विधि विधान से कराना तथा तत्सम्बन्धी उपकरणो की शुद्धता तथा प्रामाणिकता का ध्यान रखना मैंने आवश्यक समझा। सौभाग्य से आर्य समाज का सेवक परशुराम भी दोनो समय यज्ञ करने का व्रत लिए हुए था।

आर्य समाज के किन-किन उपदेशको को वार्षिकोत्सवों में प्रवचनार्थ आमन्त्रित किया जाय, इसके लिए हमारी आर्य समाज के मंत्री मुझ से प्रायः परामर्श लेते थे। मैंने एक बार प० गंगाप्रसाद उपाध्याय और मौलवी महेशप्रसाद जी को उत्सव मे आमन्त्रित करवाया। दुर्भाग्यवश दोनों ही महानुभाव नही आ सके। प० धर्मदेव विद्यावाचस्पति को भी मैंने उत्सव में आमंत्रण भिजवाया। वे उच्च कोटि के विद्वान और लेखक तो थे किन्तु मच के वक्ता नही थे, अतः जब वे व्याख्यान देते-देते पुस्तक निकाल कर कोई महत्वपूर्ण उद्धरण पढने लगते तो श्रोतागण ऊबने लग जाते। मैंने जिन प्रधानो के साथ मन्त्री पद पर कार्य किया, उनसे मेरे सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण ही रहे। पं० ठाकुरदत्त बाली मूलत जालधर जिले के थे, जिनकी शिक्षा डी० ए० वी० कालेज होशियारपुर मे हुई थी। वे स्वाध्यायशील तथा निष्ठावान आर्य समाजी थे। श्री च्यवन आर्य मारवाड के सभी आर्यों के भीष्म पितामह ही थे उन्होने होली के त्योहार पर गाने योग्य मारवाडी लोक धुनों मे आर्य फाग लिखा और प्रकाशित कराया। हमारी मण्डली च्यवन जी के नेतृत्व मे इस सुधारवादी आर्य फाग को बडे चाव से गाती हुई घूमती। आर्य समाज के पत्रो मे लिखने से पहले ही मैं साप्ताहिक वीर अर्जुन मे नियमित रूप से साहित्यिक लेख लिखने लगा था। यदा कदा इन लेखो का स्वल्प पारिश्रमिक भी मुझे मिलता जिससे मुझे इस बात का सतोष हुआ कि मेरा लेखन भी कम से कम इस कोटि का तो है जिसे पुरस्कृत किया जा सकता है। हमारी समाज मे प्रादेशिक सभा के उपदेशक प० राजपाल जी और प० मदन मोहन जी आये। ये दोनो युग्म रूप में ही प्रचार करते थे। मैं उन दिनो नगर आर्य समाज जोधपुर का मन्त्री था। जैसा कि मैं लिख चुका हू उन दिनो बाहर से आने वाले उपदेशको को किसी परिवार मे भोजनार्थ भेजने मे भी कठिनाई होती थी। मारवाडी घरो मे इस प्रकार के अतिथि सत्कार का प्रचलन ही नहीं था। अतः मैंने भी इन दोनो के भोजन की व्यवस्था स्थानीय गोपाल होटल मे कर दी। पजाबी घरो मे सत्कार पूर्वक भोजन कराने वाले हमारे उपर्युक्त उपदेशको को यहाँ होटल मे भोजन करना अखरा और उन्होने अपने व्याख्यानो में इसे बुरा बताया। मेरे द्वारा की गई भोजन की व्यवस्था की यह सार्वजनिक आलोचना मुझे बुरी लगी और मैंने भी उन्हे इसके लिए कुछ बुरा भला कहा। खैर यह बात तो जैसे तैसे शान्त हुई। इसी प्रसग मे मेरे आर्य सामाजिक लेखन की बात चल पडी। प० राजपाल और प० मदन मोहन प्रादेशिक सभा से सम्बद्ध थे इस सभा का साप्ताहिक मुख पत्र आर्य जगत उन दिनों जालधर से निकलता था उन्होंने मुझे कहा कि मैं अपने लेख प्रकाशनार्थ आर्य जगत में भेजा करू।

(क्रमशः)

डा० कपिलदेव द्विवेदी को पद्मश्री



वाराणसी। संस्कृत साहित्य में विशिष्ट और उल्लेखनीय योगदान के लिए गुरुकुल महाविद्यालय हरिद्वार के कुलपति एवं विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (वाराणसी) के निदेशक डा० कपिलदेव द्विवेदी को भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री' अलंकरण से विभूषित किया गया है। ७२ वर्षीय डा० द्विवेदी ५० वर्ष से संस्कृत भाषा, साहित्य, संस्कृति की सेवा में प्रवृत्त रहे हैं। आपके ७० से भी अधिक ग्रन्थ वेद, संस्कृत साहित्य, व्याकरण, भाषा विज्ञान पर हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। समीक्षात्मक ग्रन्थों के साथ-साथ आपने तीन मौलिक काव्य ग्रन्थ राष्ट्रगीतांजलि, भक्ति कुसुमांजलि: शर्मण्यः प्राच्यविदः हैं। आपका प्रथम मौलिक ग्रन्थ अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन का १९५१ में प्रकाशन हुआ। आपके प्रमुख ग्रन्थों में अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, एसेन्स आफ वेदाज, वेदामृतम् ग्रन्थमाला के १२ भाग—इसके अतिरिक्त संस्कृत अनुवाद पर संस्कृत शिक्षा, संस्कृत व्याकरण आदि ग्रन्थ सरल माध्यम से संस्कृत पठन पाठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आपके पुरस्कृत ग्रन्थ-संस्कृत निबन्ध शतकम् राष्ट्रगीतांजलिः, भक्ति कुसुमांजलिः प्रमुख हैं।

आपका हाल ही में एसेन्स आफ वेदाज ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है जो विदेशों में काफी लोकप्रिय हो रहा है। इस ग्रन्थ को लिखने का उद्देश्य विदेशों में वेदों का सन्देश पहुंचाना है। डा० कपिलदेव द्विवेदी अनेक भारतीय भाषाओं के साथ-साथ विदेशी भाषाओं जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी भाषाओं के मान्य विद्वान हैं। सूरीनाम में आपका अभिनन्दन तत्कालीन राष्ट्रपति श्री राम सेवक शंकर ने किया।

निर्भीक और स्वाभिमानी डा० द्विवेदी युवावस्था में स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रहे और जेल यात्राएं भी कीं। आपका सरल और आडम्बर हीन जीवन साधना तपस्या का मूर्तिमान है। साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में उनका प्रदेय मूल्यवान और स्मरणीय है।

डा० कपिलदेव द्विवेदी का जन्म गहमर (गाजीपुर) में सुसंस्कृत स्वतन्त्रता सेनानी परिवार में सन् १९१९ में हुआ। आपने अपनी शिक्षा हरिद्वार, पंजाब, वाराणसी और इलाहाबाद में की। राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय नैनीताल, ज्ञानपुर (वाराणसी), गोपेश्वर चमोली में संस्कृत प्रोफेसर एवं प्राचार्य पद पर कार्य किया। सम्प्रति गुरुकुल महाविद्यालय हरिद्वार के कुलपति हैं। वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में आप सुप्रतिष्ठित विद्वान हैं।

क्या गारंटी है कश्मीरी आतंकवादियों के भारत भक्त बने रहने की ?

—ब्रजभूषण दुबे

भारतीय गणतंत्र की ४२ वीं वर्ष गांठ के अवसर पर दिल्ली-दूरदर्शन से प्रसारित रात्रि के समाचारों में बताया गया कि पाकिस्तान में प्रशिक्षण पाये सैकड़ों कश्मीरी आतंकवादियों ने कश्मीर की जेलों में राष्ट्रीय तिरंगा फहराया और पिछले साल श्रीनगर में जलाये गए राष्ट्रीय तिरंगे की घिनौनी हरकत पर दु:ख प्रकट किया। गुमराह हुये नौजवानों को पाकिस्तान में आतंकवाद का प्रशिक्षण पाने के बाद भी भागने की कोशिश करते समय पाकिस्तानी फौजियों द्वारा बेरहमी से पीटे जाने की खबरें अखबारों में पिछले दिनों छपी थीं। खाड़ी में छिड़ गये जंग से भारत सरकार द्वारा और भी सख्ती दिखाने की आशंका से घबराकर यदि कश्मीर के अलगाववादी-आतंकवादियों ने इस तरह का रुख अपना लिया हो तो उसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए? बर्फ जमने से भी २-३ महीनों के लिए उस इलाके में आजादी से घूमना फिरना बंद हो जाता है। इस कुदरती पाबन्दी को मद्देनजर रखते हुए भी कश्मीरी आतंकवादियों द्वारा राष्ट्रीय तिरंगे के प्रति आदर भाव दर्शाया जा सकता है।

कश्मीर के आतंकवादियों ने वहां के हिन्दुओं को कश्मीर छोड़कर भागने को विवश कर दिया था। वहां से भागकर आये लाखों हिन्दू दिल्ली के आसपास अस्थाई ढंग से शरणार्थी शिविरों में रह रहे हैं। आर्य समाज अनारकली, मन्दिर मार्ग नई दिल्ली में भी कश्मीर के शरणार्थी गैंगे अक्टूबर-नवम्बर में ठेके थे। जब तक कश्मीर से भागकर आये हिन्दू शरणार्थियों को पुन: कश्मीर में नहीं बसाया जाता और जब तक कश्मीर घाटी में शांति स्थापित नहीं हो जाती तब तक कश्मीर के आतंकवादियों की किसी भी घोषणा पर विश्वास करना सम्भव नहीं है? जिन्होंने आतंकवाद के कारण जान माल का नुकसान उठाया है और जिनके दिलों पर खौफनाक कारनामों की यादें अभी भी कायम हैं उन्हें ऐसी बातों से बहकाना संभव नहीं है? सरकार को सोच समझकर ही कोई नया कदम उठाना चाहिए।

आर्य समाज स्थापना दिवस के अवसर पर

अमर शहीद पं० लेखराम स्मृति अंक

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र 'आर्य सन्देश' अपनी परम्परा के अनुरूप इस अवसर पर पं० लेखराम की स्मृति में एक विशेषांक का प्रकाशन कर रहा है। इसमें विद्वान लेखकों के खोजपूर्ण लेख होंगे।

सूचनार्थ निवेदन है कि १० मार्च का 'आर्य सन्देश' का अङ्क प्रकाशित नहीं होगा।

—प्रधान सम्पादक

श्री रामनाथ सहगल अभिनन्दन समारोह

कर्मठ आर्य नेता, निष्ठावान कार्यकर्ता श्री रामनाथ सहगल जी के ६६वें जन्म दिवस पर उनकी सामाजिक सेवाओं के लिए सोमवार ११ मार्च १९९१ को सायं ५ बजे फिक्की सभागार, मण्डी हाउस, नई दिल्ली में भव्य अभिनन्दन समारोह मनाया जा रहा है।

समारोह में आप इष्टमित्रों व परिवार सहित आमन्त्रित हैं

—अनिल आर्य
संयोजक

खाड़ी युद्ध और धर्मनिरपेक्षता

— ब्रजभूषण दुबे

युद्ध इन्सानियत नहीं बर्बरता और हैवानियत का प्रतीक है, युद्ध सभ्यता नहीं असभ्यता और जंगलीपन का द्योतक है. युद्ध सृजन नहीं संहार और विनाश का प्रतीक है, युद्ध सद्भाव और सह-अस्तित्व नहीं तानाशाही और निरंकुशता का द्योतक है, अत: विनाशकारी युद्ध का शांतिप्रिय भारतवासी भी विरोध करते हैं। हम न राष्ट्रपति सद्दाम के कारनामों के समर्थक हैं और न बहुराष्ट्रीय सेनाओं के हिमायती ही। हम युद्ध रत दोनों पक्षों का उसी तरह विरोध करते हैं जैसा कि पिछले दिनों इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी आदि देशों में शांति प्रिय लोगों ने किया है।

१८ जनवरी १९९१ को राजधानी दिल्ली में वामपंथी दलों ने अमेरिकन राष्ट्रपति जार्ज बुश के विरोध में प्रदर्शन किया तथा जुलूस निकाला। उसी दिन सद्दाम समर्थक उन्मादी भीड़ ने चांदनी चौक इलाके में तैनात दो पुलिस वालों को छुरेबाजी का शिकार बनाया था। १९-२० जनवरी को कलकत्ता में सद्दाम समर्थक कट्टरपंथी लोगों ने सरस्वती पूजा आयोजित करने वालों के साथ झगड़ा करके साम्प्रदायिक सद्भाव को नष्ट करने की कुचेष्टा भी की थी। २६ जनवरी को गाजियाबाद में गणतन्त्र दिवस समारोह आयोजित करने वाले शांतिप्रिय लोगों के खिलाफ सद्दाम समर्थकों ने खुलकर हमला बोल दिया और उस सांप्रदायिक दंगे में लगभग एक दर्जन लोगों की जानें गईं और आगजनी से लाखों रुपयों का नुकसान हो गया। खुर्जा में भी ऐसे ही अराष्ट्रीय तत्वों ने निर्दोष लोगों की हत्याएं करने में जरा भी संकोच नहीं किया।

भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है और इस कारण सरकार की नजर में सभी धर्म और धर्मों के अनुयायी बराबर हैं। इराक के युद्धरत राष्ट्रपति जनाब सद्दाम हुसैन ने युद्ध शुरू होने से पहिले भारत सहित अनेक राष्ट्रों के शांति प्रस्ताव सख्ती से ठुकरा दिये थे। उन्होंने युद्ध के लिए अपनी पूरी तैयारी का इजहार भी किया था। पड़ोसी पाकिस्तान तथा बांगला देश ने तो सद्दाम के खिलाफ अपनी सेना भी सऊदी अरेबिया भेजी है। ईरान सहित अनेक मुस्लिम देश मजहब के नाम पर सद्दाम हुसैन का साथ देने को तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में धर्मनिरपेक्ष भारत सरकार किसी व्यक्ति या वर्ग के मजहबी जुनून का समर्थन कैसे कर सकती है? सद्दाम सही हैं या गलत यह फैसला आने वाले दिनों में होगा? सांप्रदायिक तत्व देश में बदअमनी फैलाना चाहते हैं, अत: केन्द्र की सरकार के साथ ही प्रत्येक शांति प्रिय नागरिक का कर्तव्य है कि ऐसे कट्टरपंथी लोगों से सावधान रहें।

३०, गोराचन्द रोड, कलकत्ता-७०००१४

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

१९९० का आखरी महीना गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में कुलपिता पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी की स्मृति को समर्पित रहा। श्रद्धानन्द सप्ताह २३ दिसम्बर से ३० दिसम्बर के बीच गुरुकुल परिवार में सभी कुलवासियों ब्रह्मचारियों, प्राध्यापकों सहित अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा अत्यन्त निष्ठा और उल्लास के साथ मनाया गया। २३ दिसम्बर को श्रद्धानन्द बलिदान दिवस प्रभातफेरी के बाद लहराते "ओ३म्' ध्वजो की शोभा यात्रा के साथ प्रारम्भ हुआ। दयानन्द द्वार से यज्ञ मडप की इस शोभा यात्रा में कुलपति सहित सभी प्राध्यापक, अधिकारी, कर्मचारी और विद्यालय के उल्लसित ब्रह्मचारी शामिल थे।

यज्ञ मडप के रूप में बड़े परिवार के यज्ञ-मन्दिर का उपयोग कई वर्षों के बाद किया गया। आचार्य श्री रामप्रसाद वेदालंकार ने कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार, कुलसचिव डा० वीरेन्द्र अरोड़ा और मुख्य अतिथि श्री रामनाथ वेदालंकार को यजमान बना कर यज्ञ सम्पन्न कराया। इसके बाद विद्यालय विभाग के ब्रह्मचारियों ने कुलपिता की स्मृति में गीत प्रस्तुत किए। इस अवसर पर हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० विष्णुदत्त राकेश, संस्कृत विभाग के नवागत रीडर डा० सोमदेव शतांशु, डा० हरिप्रकाश एवं संस्कृत के प्रोफेसर श्री वेदप्रकाश शास्त्री के अलावा कुलपति एवं मुख्य अतिथि ने स्वामी श्रद्धानन्द के प्रेरक जीवन की घटनायें सुना कर उस विराट् व्यक्तित्व से प्रेरणा लेने की बात कही।

उसी दोपहर अखिल भारतीय श्रद्धानन्द हाकी टूर्नामेन्ट विश्वविद्यालय के नवागत क्रीड़ाध्यक्ष श्री आर० के० एस० डागर के संयोजन में देश भर से आई तेरह टीमों के बीच प्रारम्भ हुआ। वर्षा जैसे प्राकृतिक अवरोधों के बावजूद टूर्नामेंट आठ दिन तक सफलतापूर्वक चला। कुलपति ने जहां पहले दिन खिलाड़ी टीमों के मार्चपास्ट की सलामी ली वहीं अन्तिम दिन रुड़की विजेता टीम—बी० ई० जी० तथा जालंधर की उपविजेता टीम यंग फार्म क्लब को पुरस्कृत किया। इस टूर्नामेंट में दर्शकों के रूप में हरिद्वार नगर-परिसर के सैकड़ो लोग सम्मिलित हुए।

दिसम्बर १९९० और जनवरी, १९९१ के महिने विश्वविद्यालय परिवार में कुछ नये सदस्यों के आगमन की दृष्टि से भी उल्लेखनीय रहे। विश्वविद्यालय परिवार के विज्ञान संकाय में वनस्पतिशास्त्र विभाग में डा० डी० के० माहेश्वरी प्रोफेसर पद पर, भौतिक शास्त्र में डा० यशपाल, प्राणिशास्त्र मे डा० देवराज खन्ना, रसायन विभाग में डा० श्रीकृष्ण और कम्प्यूटर विभाग मे सर्वश्री दिनेश विश्नोई, कर्मजीत भाटिया, अचल कुमार गोयल, रमन कुमार तथा विनीत कुमार ने कार्यभार संभाला।

मानविकी संकाय में संस्कृत विभाग मे डा० सोमदेव शतांशु ने रीडर पद पर, मनोविज्ञान विभाग में डा० चन्द्रपाल खोखर, वेद विभाग में डा० तेजोमित्र प्रौढ़ शिक्षा मे डा० जसबीरसिंह मलिक तथा क्रीडा विभाग में श्री आर. के. एस. डागर ने कार्य भार ग्रहण किया।

विश्वविद्यालय में १९९१-९२ के सत्र मे हिन्दी विभाग मे हिन्दी पत्रकारिता डिप्लोमा आरम्भ करने का निश्चय है। इसके लिए हिन्दी विभाग में लब्धप्रतिष्ठित पत्रकार, नवभारत टाइम्स के संवाददाता तथा अनेक वर्षों से हिन्दी साहित्य का अध्यापन करा रहे श्री कमलकान्त बुधकर को प्रवक्ता के रूप में विश्वविद्यालय परिवार में सम्मिलित किया गया।

६ जनवरी को विश्वविद्यालय के मान्य कुलाधिपति तथा केन्द्रीय योजना आयोग के सदस्य प्रो. शेरसिंह ने पुस्तकालय के विस्तारित कक्ष के रूप मे "संदर्भ एवं शोध पुस्तकालय" के लिए नये पुस्तकालय भवन की आधारशिला रखी। इस भवन के निर्माण के लिए उ० प्र० सरकार ने ७ लाख रुपया प्रदान किया है। जबकि केन्द्रीय सरकार ने सातवीं पचवर्षीय योजना में इसके लिए ५ लाख तथा आठवीं योजना में पन्द्रह लाख रुपये का प्रावधान किया है। इस तरह से २७ लाख की लागत से भविष्य में पुस्तकालय भवन का विस्तार कार्य संभव हो सकेगा। प्रसन्नता की बात है कि पुस्तकालय भवन का निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गया है। आशा है कि मानविकी संकाय के भवन का भी निर्माण कार्य जल्दी ही शुरू हो जाएगा।

इसी बीच विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद (सीनेट) की बैठक भी ६ जनवरी को अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वातावरण में विश्वविद्यालय मे ही कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस बैठक मे विभिन्न आर्य प्रतिनिधि सभाओं के अनेक प्रमुख महानुभाव सम्मिलित हुए।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र ने कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार को पुण्यभूमि और विश्वविद्यालय के कार्यों के लिए पांच लाख रुपया उपलब्ध कराने की घोषणा की। विश्वविद्यालय अपने स्तर पर तथा जिला प्रशासन के परामर्श एवं सहयोग से गगा पार कागड़ी ग्राम की पुण्यभूमि के भवनो और गंगा नदी के कारण कट रही भूमि की सुरक्षा के लिए शीघ्र ही प्रयास प्रारम्भ करेगा।

श्री वीरेन्द्र ने विश्वविद्यालय के दैनिक यज्ञ के अवसर पर प्राध्यापकों को सम्बोधित करते हुये कहा कि वर्षों बाद वे गुरुकुल की गतिविधियो में जीवन्तता का अनुभव कर रहे हैं। उन्होने कहा कि वर्तमान कुलपति के नेतृत्व मे जो परम्परायें गुरुकुल मे पड़ रही हैं वे इसे उसके पुराने गौरव तक जरूर ले जायेगी।

फरवरी के प्रथम सप्ताह में गुरुकुल मे वर्जीनिया विश्वविद्यालय के २० छात्र-छात्राए भ्रमण पर आए। उन्होंने पुस्तकालय का निरीक्षण किया, गुरुकुल पद्धति तथा यज्ञ परम्परा के बारे में रुचि पूर्वक जानकारी प्राप्त की। इन अमेरिकी छात्रो ने गुरुकुल फार्मेसी में आयुर्वेदिक औषध निर्माण को अत्यन्त उत्सुकता के साथ देखा। इन छात्रो ने गुरुकुल के पुरातत्व संग्रहालय और इसमें गगोत्री के योगी और पर्वतारोही स्वामी सुन्दरानन्द द्वारा स्थापित की जा रही हिमालय दर्शन वीथि देख कर भी विस्मय और प्रसन्ता प्रकट की। वर्जीनिया विश्वविद्यालय के ये छात्र योग की क्रियात्मक शिक्षा के लिए निकट भविष्य मे ही फिर गुरुकुल आयेंगे।

६ फरवरी को प्रौढ़ शिक्षा विभाग मे तीस प्रशिक्षुओं के विशेष प्रशिक्षण शिविर का कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार ने उद्घाटन किया।

वर्षों बाद संकाय अधिष्ठाता (डीन) की नियुक्ति की परम्परा भी इन्हीं दिनों विश्वविद्यालय मे आरम्भ की गई। मनोविज्ञान विभाग के प्रोफेसर ओमप्रकाश मिश्रा को मानविकी संकाय के डीन के रूप मे नियुक्त करके विश्वविद्यालय को नई शैक्षिक गतिविधियो की ओर उन्मुख किया गया। इस दिशा में विभिन्न विभागों के प्राध्यापको द्वारा अपने शोध कार्य पर शोध पत्र पढ़ने के लिए सप्ताह मे शनिवार का दिन सुनिश्चित किया गया। इसी सिलसिले मे पहला व्याख्यान हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० विष्णुदत्त राकेश का "साहित्य और संस्कृति" पर ९ फरवरी को सम्पन्न हुआ। कुलपति इस अवसर पर अध्यक्ष के रूप मे उपस्थित रहे।

त्रैवार्षिक निर्वाचन

श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट करतारपुर जिला जालंधर की प्रबन्ध समिति का वर्ष १९९१-९३ के लिए निर्वाचन सम्पन्न हुआ। निम्न अधिकारी चुने गए—

प्रधान—प० हरवन्शलाल शर्मा, जालंधर

मन्त्री—श्री चतुर्भुज मित्तल, जालधर

कोषाध्यक्ष—श्री यशफूल चन्द अग्रवाल, करतारपुर

प्रबन्ध समिति में वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार मे संलग्न ५१ सदस्यो को लिया गया।

वार्षिक चुनाव

आर्य समाज कोण्डा दिल्ली ५३ का वार्षिक चुनाव दिनाक २६-१-९१ को धर्माचार्य श्री दिनेश चन्द्र शास्त्री जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ।

प्रधान—श्री लक्ष्मण दास गुप्त,

मन्त्री—श्री खिल्लुराम आर्य

कोषाध्यक्ष—श्री श्याम सुन्दर आर्य चुने गए।

युवा आर्य नेता डा० आनन्द सुमन के विरुद्ध एक समुदाय द्वारा अभियान

नई दिल्ली ६ फरवरी। आर्य समाज के युवा नेता एवं प्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० आनन्द सुमन के विरुद्ध सहारनपुर जनपद में मुस्लिम सम्प्रदाय के हजारो व्यक्तियो ने एक जलूस निकाला और जिला मजिस्ट्रेट डा० हरिकिशन पालीवाल को एक ज्ञापन दिया, जिसमें मांग की गई है कि डा० आनन्द सुमन द्वारा लिखित प्रसिद्ध पुस्तक मैंने इस्लाम क्यों छोड़ा—को तुरन्त जब्त किया जाय और डा० आनन्द सुमन के विरुद्ध शीघ्र कार्यवाही की जाय। ज्ञातव्य है कि नगर में लगी धारा १४४ को तोड कर हजारो मुसलमानों की भीड़ जिला मजिस्ट्रेट कार्यालय पहुंची। भीड डा० आनन्द सुमन के विरुद्ध कार्यवाही करने के नारे लगा रही थी।

डा० आनन्द सुमन ११ वर्ष पूर्व वैदिक धर्म में दीक्षित हुए थे तथा तभी उन्होंने "मैंने इस्लाम क्यो छोडा" नामक पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक अभी तक विश्व की १३ भाषाओं में तथा लगभग ४ करोड़ प्रतियो में प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक के माध्यम से देश विदेश के अनेक मुस्लिम या इसाई वैदिक धर्म को स्वीकार करने पर बाध्य हुए हैं।

सहारनपुर तथा उत्तर प्रदेश के अनेक हिन्दू सगठनो तथा आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री सहित, अनेक बुद्धि जीवियो एवं पत्रकारों ने इस आंदोलन को लोकतन्त्र तथा वैचारिक स्वतन्त्रता पर आतकवाद का हमला बताते हुए प्रदेश के मुख्यमन्त्री से आग्रह किया है कि वह इस प्रकार तत्वों के किसी भी आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक न ले। लेखक का कर्तव्य अपनी शोध को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना है, आवश्यक नहीं कि प्रत्येक पाठक लेखक के विचारो से सहमत हो ही।

आर्य समाज की यह सभा समस्त बुद्धि जीवियों से आग्रह करती है कि वह डा० आनन्द सुमन जैसे क्रांतिकारी एव ओजस्वी लेखक तथा वक्ता के साहित्य को अधिक से अधिक पढ़ें तथा लाभ उठावें।

प्रचार विभाग--आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश
५ मीराबाई मार्ग, लखनऊ

पंजाब-कश्मीर का मामला

(पृष्ठ १ का शेष)

कश्मीर की दिन प्रतिदिन बिगड़ती हुई परिस्थितियों पर नियन्त्रण न किया गया तो वह दिन दूर नही है जब हमारे देश का एक हिस्सा अलग हो जाएगा। कश्मीरी हिन्दुओ के भारत के अन्य भागों में पलायन को हमारी सरकार रोक नही पाई है, कश्मीर के उग्रवादी पाकिस्तान मे विलय की मांग करते हैं। वे इसे अलग राष्ट्र घोषित करने का स्वर भी बार-बार उठाते हैं। हमारी सरकार को इस दिशा मे भी ठोस एव मजबूत कदम उठाने होगे।

आर्य समाज आग्रह पूर्वक सरकार से माग करता है कि—

(१) पजाब और कश्मीर को सेना के हवाले कर दिया जाये।

(२) साम्प्रदायिकता और विघटनकारी प्रवृत्तियो को समाप्त करने के लिए सख्त कदम उठाये जावे।

(३) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारे अपने कार्यों से यह सिद्ध करें कि वे शासन करना चाहती हैं तथा किसी भी प्रकार की विघटनकारी शक्तियो को वे अवरोध पैदा नही करने देगी।

२—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा सरकारी सचार माध्यमो, आकाशवाणी तथा दूरदर्शन द्वारा सगीत तथा चित्रहार आदि के माध्यम से अश्लील प्रसारणो तथा दृश्यो का कड़ा विरोध करती है। यह सभा सरकार से मांग करती है कि इनके स्थान पर राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रीय एकता अथवा नवयुवकों के चरित्र निर्माण सम्बन्धी विषयों को प्रोत्साहन दिया जावे।

यदि इन पर प्रतिबन्ध न लगाया गया तो आर्य समाज इनके विरुद्ध राष्ट्र व्यापी आंदोलन छेड़ने के लिए बाध्य होगा।

आर्यवीर दल द्वारा गणतन्त्र दिवस पर नगर समिति का विस्तार

आपको यह जान कर अत्यन्त हर्ष होगा कि आर्यवीर दल (नगर) आर्यमगढ़ द्वारा २६ जनवरी १९९१ के पावन पवित्र राष्ट्रीय पर्व पर नगर के प्रमुख मार्गों पर शोभा यात्रा तथा शाखा स्थल (डी० ए० वी० कालेज के प्रांगण) में ध्वजारोहण के पश्चात् राष्ट्रीय पर्व के सम्बन्ध में आर्यवीरो द्वारा सभा की गई।

आर्यवीरों द्वारा राष्ट्रीय पर्व की महत्ता पर भाषण व भजन एवं पुरस्कार वितरित किया गया। सभा का सचालन आर्यवीर दल के कोषाध्यक्ष श्री राजीव कुमार आर्य कर रहे थे। इस अवसर पर लगभग १०० आर्यवीरो ने भाग लिया। अन्त मे ध्वजारोहण के पश्चात् मिष्ठान वितरण के साथ सभा समाप्त की गई।

दूसरे दिन २७ जनवरी १९९१ को पूरे उत्साह के साथ नगर समिति का गठन किया गया। नगर नायक श्री राजकुमार जी, श्री रविन्द्रन नाथ जी नगर सरक्षक, नगर मन्त्री श्री विजय कुमार आर्य (मातबरगंज) तथा शेष कार्यों के संपादन के लिए एक १० सदस्यो की अंतरंग समिति का निर्माण किया गया। इस अवसर पर आर्यवीर दल की उन्नति के सम्बन्ध में कई आर्यवीरों ने अपने विचार व्यक्त किए। इस कार्यक्रम के अध्यक्ष मण्डल संचालक आर्यवीर दल श्री रविन्द्र नाथ आर्य थे तथा सभा का सचालन श्री राजीव कुमार आर्य कर रहे थे। इस अवसर पर लगभग ७५ आर्यवीरो ने भाग लिया। सभी आर्यवीरों व अधिकारियों को प्रतिज्ञा दिलाई गई।

--राजीव कुमार आर्य

महर्षि दयानन्द बोधोत्सव

आर्य समाज मन्दिर भटिण्डा में दि० ८ फरवरी से १३ फरवरी १९९१ तक सोत्साहपूर्व विद्वान पं० श्री विश्वामित्र जी शास्त्री के ब्रह्मत्व में अथर्ववेद परायण यज्ञ सम्पन्न हुआ। जिसमें श्री दयानन्द ब्रह्म महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों ने वेदपाठ किया।

दिनांक १३-२-९१ को पूर्णाहुति से पूर्व माननीय श्री वेदप्रकाश जी एडवोकेट ने 'ओ३म्' ध्वजारोहण किया। तत्पश्चात् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। ऋषि लंगर में सैकड़ों धर्म प्रेमियों ने शान्ति पूर्वक सौहार्दपूर्ण वातावरण में भोजन किया।

●११-१२ फरवरी १९९१ ई० को आर्य समाज कालावाली द्वारा शिवरात्रि का कार्यक्रम आयोजित किया गया। जिसमें श्री ओमप्रकाश जी वानप्रस्थी के अनमोल व सारगर्भित प्रवचन हुए।

इस अवसर पर दयानन्द महिला महाविद्यालय, कालावाली मण्डी, जिला सिरसा मे भी वृहद यज्ञ का आयोजन हुआ। जिसमे चार श्रद्धालु दम्पतियो ने श्रद्धापूर्वक आहुतियां दीं। सभी आगन्तुकों को प्रसाद वितरण के साथ धन्यवाद ज्ञापन किया गया।

—ओमप्रकाश वानप्रस्थी

शोक समाचार

बडे दुख के साथ लिखना पडता है कि आर्य समाज के प्रसिद्ध कवि श्री कस्तूरचन्द जी 'घनसार' की धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी का निधन दिनांक ३-२-९१ को हृदय गति रुक जाने के कारण हो गया। आर्य समाज पीपाड नगर जोधपुर राजस्थान में श्रीमती लक्ष्मी देवी जी को सब आर्यों ने दो मिनट का मौन रख कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

श्रद्धांजलि

गत मास दिनांक ७-२-९१ को विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (वाराणसी) मे, त्यागमूर्ति श्री उदयवीर शास्त्री व मिश्रीलाल को, हुई शोक सभा में श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

पद्म श्री डा० कपिलदेव द्विवेदी ने श्री उदयवीर शास्त्री को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि श्री शास्त्री जी वेद तथा दर्शन मूर्धन्य व प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने दर्शनों का वेदोदय भाष्य करके अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की थी तथा उन्होने स्वाधीनता सग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उनकी शिष्य परम्परा में सरदार भगतसिंह जैसे शहीद हुए।

इस अवसर पर अन्य कई गणमान्य व्यक्तियों ने दोनों विभूतियों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। अन्त मे सभा अध्यक्ष डा० भारतेन्दु द्विवेदी ने दोनों की सामाजिक सेवाओं का उल्लेख करते हुए कहा कि आर्य जगत की अपूरणीय क्षति हुई है।

आर्येन्दु द्विवेदी (प्रचारमन्त्री)

आर्य महासम्मेलन को बधाई

मैं वेद पीठ के अधिकारियों की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के आयोजन करने और उसके भव्य रूप से सफल होने पर बहुत बहुत बधाई देता हूं। हमारा देश आज बड़ी विस्टसंकटमय परिस्थितियों से गुजर रहा है। ऐसे अवसर पर यह आवश्यक था कि विश्व भर के आर्य समाजियों और, वेद के अनुयाइयों को अपने कर्तव्य से अवगत कराया जाए। और बहुत तेजी से बढ़ते हुए सामाजिक और नैतिक पतन की बाढ़ को रोका जाए। इस अवसर पर जारी किए गए घोषणा पत्र में आज की सभी समस्याओं की समीक्षा की गई और उनके हल के लिए सुझाव दिये गये हैं। हमें आशा है कि इस सम्मेलन में लिये गये निर्णयों पर बड़ी शीघ्रता और तत्परता एवं संयोजित रूपरेखा के अनुसार कार्य किया जाएगा।

जैसा कि आपको विदित है अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेद पीठ के संस्थापक और प्रेरक श्री मोहन लाल मोहित मोरीशस वाले हमारे प्रधान प्रो० शेरसिंह जी आदि ने इस सम्मेलन की कार्यविधि में यथा सम्भव योगदान दिया। इसी प्रकार इस सम्मेलन के लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए जो भी कार्यभार अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेद पीठ और इसके अधिकारियो को आप देना चाहें इसे हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। हमारी ओर से आदरणीय स्वामी आनन्द बोध सरस्वती जी को इस विशाल सम्मेलन की सफलता के लिए हार्दिक बधाई।

—के० एल० भाटिया
सगठन मन्त्री

ऋषि बोधोत्सव

आर्यसमाज बोटक्लब की ओर से १६ फरवरी १९९१ को ऋषि बोधोत्सव मनाया गया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती के ब्रह्मत्व मे यज्ञ हुआ। श्री जयप्रकाश आर्य, प्रमुख यजमान थे। श्री चुन्नीलाल आर्य तथा श्री तुलसीराम आर्य के भजनोपदेश हुए। प. यश-पाल सुधांशु का आध्यात्मिक प्रवचन हुआ।

—बलेशकुमार खारी, मत्री

वेद प्रचार

आर्य समाज गारुलिया, २४ परगना (पं. बंगाल) के तत्वावधान मे २४ जनवरी ९१ से १२ फरवरी ९१ तक वेद प्रचार का आयोजन किया गया। जिसमे विभिन्न विद्वान् आर्य भजनोपदेशक पहुंच कर आयोजन को सफल बनाने में सहयोग दिये।

● २७ जनवरी ९१ से ३१ जनवरी ९१ तक—आर्य समाज गारुलिया २४ परगना (पं. बंगाल) का २२ वां वार्षिकोत्सव बड़े घूमधाम से ऋग्वेद के मन्त्रों से यज्ञ द्वारा प्रारम्भ होकर भजन एवं वेदोपदेश से सम्पन्न हुआ। जिसका प्रभाव स्थानीय जनता पर उत्तम रहा। इस उत्सव को सफल बनाने मे स्वामी सत्यव्रत वानप्रस्थ, प गोविन्द प्रसाद आर्य "विद्यावारिधि" एव प दयानन्द सत्यार्थी आर्य भजनोपदेशक ने अपने सुन्दर विचारो एव उपदेशो से जनता को कृतार्थ किए।

● १ फरवरी ९१ से ४ फरवरी ९१ तक– गारुलिया के विभिन्न क्षेत्रो मे भजन एव वेदोपदेश का कार्यक्रम उपरोक्त तीनो विद्वानो द्वारा सम्पन्न हुआ।

● ५ फरवरी ९१ से ७ फरवरी ९१ तक– आर्य समाज तेलनी पाड़ा में वेद प्रचार ऋग्वेद के मन्त्रो द्वारा यज्ञ से प्रारम्भ होकर विद्वानो के वेदोपदेश, आर्य भजनोपदेशक के भजन द्वारा कार्यक्रम बडा ही उत्तम ढग से सम्पन्न हुआ। जिसमे स्वामी सत्यव्रत वानप्रस्थ (समस्तीपुर) प गोविंद प्रसाद आर्य "विद्यावारिधि" छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा रांची, प. दयानन्द सत्यार्थी (समस्तीपुर) भाग लेकर कृतार्थ किए।

● ८ फरवरी ९१ से ९ फरवरी ९१ तक– काकीनारा मे वेद प्रचार सम्पन्न हुआ।

● १० फरवरी ९१ से १२ फरवरी ९१ तक– खड़दह मे वेद प्रचार के कार्यक्रम मे स्वामी सत्यव्रत वानप्रस्थ, प गोविन्द प्रसाद आर्य "विद्यावारिधि" प. दयानन्द सत्यार्थी के भजन एव उपदेशको को आध्यात्मिक प्रवचन आर्य समाज गारुलिया २४ परगना (पं बगाल) के तत्वाधान में बड़े धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

—राजेन्द्र प्रसाद आर्य, मत्री







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 28-2-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेंस नं० यू १३९

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन नई दिल्ली में मथुरा को गुरुधाम विश्व तीर्थ घोषित किया गया

समीक्षा चक्रवर्ती स्वामी वेदर्षि व्यास योगी पूर्व आश्रम नाम महामहोपाध्याय आचार्य विश्वश्रवा व्यास वेदाचार्य ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन नई दिल्ली में अपने भाषण में एक योजना प्रस्तुत की कि इस समय समस्त विश्व के देश देशान्तर के आर्य लोग यहा उपस्थित हैं यह चमत्कार गुरुवर विरजानन्द दण्डी का है जिसने स्वामी दयानन्द को विद्या दान दिया । स्वामी दयानन्द ने मथुरा की जिस कुटी मे बैठकर विद्या ग्रहण करके दीक्षा ली थी वह स्थान भारत वर्ष के उत्तर प्रदेश प्रान्त के मथुरा नगर मे गुरुधाम नाम से प्रसिद्ध है । प्रति वर्ष विश्व के आर्यों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुये इसे विश्व तीर्थ घोषित करना चाहिये। हम इसकी दीक्षा शताब्दी मथुरा में मना चुके हैं । जिस दिन स्वामी दयानन्द ने गुरु विरजानन्द दण्डी से विद्या ग्रहण करके दीक्षा ली थी उस तिथि को निश्चित करके दीक्षा महोत्सव नाम का एक त्यौहार आर्य पर्व पद्धति में बढाना चाहिये। इस पर्व की पद्धति को सार्वदेशिक धर्मार्य सभा बनाये । वह त्यौहार समस्त विश्व मे मनाया जाए । और उस दिन गुरु दक्षिणा के रूप में समस्त विश्व का आर्य जगत् गुरुधाम को धनराशि भेजा करें । उस धन से शब्द शास्त्र की एक गद्दी गुरुधाम मथुरा में चलायी जाये । आर्य महासम्मेलन में उपस्थित विश्व के आर्यों ने आचार्य जी की इस योजना पर अति हर्ष प्रकट किया । सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने गुरु धाम के इतिहास पर प्रकाश डाला कि यह भूमि सरकार से किस प्रकार ली गयी और बम्बई के प्रताप भाई सूर जी वल्लभ दासजी ने छः मंजिल इमारत का निर्माण कराया । आर्य जगत के वर्तमान नेता सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती जी ने अन्तर्राष्ट्रीय महासम्मेलन में गुरुधाम मथुरा को विश्व तीर्थ घोषित कर दिया । और समस्त विश्व के आर्यों ने इस घोषणा का स्वागत और अभिनन्दन किया ।

—डा० रूप किशोर शास्त्री

निर्वाचन

आर्य केन्द्रीय सभा, गुड़गांव के कार्य संचालन हेतु वर्ष १९९१-९२ के लिये निम्नलिखित पदाधिकारियों का चुनाव किया गया ।

—श्री किशनचन्द थोरानी, प्रधान

—ओम प्रकाश कालड़ा, महामन्त्री

—शाम सुन्दर आर्य, कोषाध्यक्ष



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४१८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें ।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित । रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २० | रविवार, २४ मार्च, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

आर्य समाज स्थापना दिवस समारोह सम्पन्न

आर्यजन समाज व राष्ट्र सेवा का व्रत लें

—स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

नई दिल्ली १६ मार्च। दिल्ली की समस्त आर्य समाजों, आर्य संस्थाओं की ओर से आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य के तत्वावधान मे आर्य समाज का ११६वां स्थापना दिवस १६ मार्च को सप्रू हाऊस, नई दिल्ली में समारोहपूर्वक मनाया गया।

इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने अध्यक्षीय भाषण में अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि आर्य समाज ने सदैव सभी वर्गों की निस्वार्थ भाव से सेवा की है। स्वामी जी ने कहा कि मैंने तन, मन, धन से अन्तिम क्षण तक आर्य समाज की सेवा का व्रत लिया हुआ है। उन्होंने आगे कहा कि सभी आर्यजनो को इस पवित्र दिन समाज व राष्ट्र की उन्नति का संकल्प लेना चाहिए।

समारोह का उद्घाटन करते हुये सार्वदेशिक आर्य वीर दल के प्रधान संचालक प० बाल दिवाकर जी हंस ने कहा कि आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द ने मनुष्यता से आर्यत्व की ओर बढ़ने के लिए ही की थी। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के स्वाध्याय पर भी बल दिया।

इस कार्यक्रम मे भारत साधु समाज के महामन्त्री स्वामी हरिनारायणानन्द ने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा कि सामाजिक व धार्मिक कुरीतियो के उन्मूलन के लिए ब्रह्मलीन महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस पावन दिन जिस आर्य समाज की स्थापना की थी उसकी आज पहले से अधिक आवश्यकता है क्योकि आज देश मे संकीर्ण मनोवृत्तियां बढ़ रही हैं और जगह-जगह नये-नये भगवान पैदा हो रहे हैं।

सुप्रसिद्ध जैन मुनि आचार्य सुशील कुमार ने कहा कि सच्चा आर्य वही है जो अपने आचरण की पवित्रता से संसार मे प्रकाश फैलाता है। इन्हीं अर्थों में भगवान राम, भगवान कृष्ण, भगवान महावीर एवं स्वामी दयानन्द सच्चे आर्य थे और हमे भी सच्चा आर्य बनना चाहिये।

इससे पूर्व समारोह मे प्रख्यात वैदिक विद्वान् डा० वाचस्पति उपाध्याय को श्री लालमन आर्य वैदिक विद्वान् पुरस्कार से सम्मानित किया गया। स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने उन्हे शाल ओढ़ा कर, स्वामी हरिनारायणानन्द ने स्मृति चिह्न तथा आचार्य जैन मुनि सुशील कुमार ने सम्मान राशि भेंट कर सम्मानित किया। अपने सम्मान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुये डा० वाचस्पति ने कहा कि संस्कृत का प्रचार व प्रसार करना आर्य समाज का राष्ट्रीय कार्यक्रम होना चाहिए। आर्य समाज से सम्बद्ध सभी स्कूलो मे संस्कृत अनिवार्यत. पढ़ाई जानी चाहिए अन्यथा उन स्कूलो के नाम के आगे से दयानन्द' का शब्द हटा देना चाहिये।

डा० आनन्द सुमन ने कहा कि आर्यों को प्रतिदिन यज्ञ करना चाहिये तथा भोजन से पूर्व एक वेद मन्त्र का अर्थ सहित पाठ अवश्य करना चाहिए। कार्यक्रम का सुचारु संचालन करते हुये सभा मन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने स्वामी दयानन्द व आर्य समाज द्वारा समाज व राष्ट्र की बहुमूल्य सेवाओं का स्मरण किया।

इससे पूर्व आर्य केन्द्रीय सभा के वरिष्ठ उपप्रधान श्री सूर्य देव, आर्य प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल, आर्य श्रेष्ठी श्री सत्यानन्द, आर्य प्रान्तीय सभा की श्रीमती सरला मेहता, श्रीमती कृष्णा चड्ढा आदि ने अतिथियों का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। संगीताचार्य श्री गुलाब सिंह राघव ने ईश्वर-भक्ति एवं 'नादान लोगों ने उस योगी का भेद न पाया' भजनों द्वारा भारी संख्या में उपस्थित गणमान्य महानुभाव व आर्य जनों को मन्त्र मुग्ध कर दिया।

—विमल कान्त शर्मा मन्त्री

डा० श्यामसिंह शशि सम्मानित

दिल्ली के उपराज्यपाल श्री मार्कण्डेय सिंह ने हिन्दी अकादमी द्वारा १३ मार्च को राजनिवास पर आयोजित "सम्मान अर्पण" समारोह में प्रख्यात साहित्यकार डा० श्यामसिंह शशि को उत्कृष्ट साहित्य सेवा के लिए २१ हजार रुपये का चैक, शाल, स्मृति-चिन्ह व प्रशस्ति पत्र भेंट कर अलंकृत किया।

डा० शशि एक जाने माने कवि व लेखक हैं। डा० शशि का हिन्दी व अंग्रेजी पर समान अधिकार है। विद्वान लेखक डा० शशि ने १०० से अधिक पुस्तकें हिन्दी और अंग्रेजी में लिखी हैं। डा० शशि एक सुप्रसिद्ध नृविज्ञानी भी हैं। आजकल आप प्रकाशन विभाग, सूचना व प्रसारण मन्त्रालय में निदेशक व अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डा० शशि को वर्ष १९९० में भारत सरकार ने पद्मश्री सम्मान से अलंकृत किया था। उनके इस साहित्य सम्मान से आर्य जगत अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है।

इस समारोह मे शलाका सम्मान से अलंकृत श्री गिरिजा कुमार माथुर को ५१ हजार रुपये शाल, स्मृति चिन्ह व प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। इस अवसर पर प्रख्यात प्रगतिशील आलोचक शिवदान सिंह चौहान, श्रीमती मृदुला गर्ग, डा० कमल किशोर गोयनका, प्रो० सूरजभान सिंह, श्री बांके बिहारी भटनागर व श्री राजेन्द्र माथुर प्रत्येक सम्मानित व्यक्तित्व को २१ हजार रुपये का चैक, शाल, स्मृति चिन्ह व प्रशस्ति पत्र भेंट कर अभिनन्दित किया गया। प्रो० अनिल विद्यालंकार की अनुपस्थिति मे उनकी धर्म पत्नी ने पुरस्कार ग्रहण किया।

मुख्य अतिथि श्री मार्कण्डेयसिंह ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि समाज के आभूषण साहित्यकार द्वारा रचा गया साहित्य समाज का दर्पण होता है और इन जाने माने साहित्य सेवियो ने अकादमी का सम्मान स्वीकार कर हमें गौरवान्वित किया है।

इस अवसर पर सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर, श्री अक्षय कुमार जैन, श्री गिरिजा कुमार माथुर ने भी प्रेरक विचार रखे। अकादमी के सचिव डा० नारायण दत्त पालीवाल ने सभी का अभिनन्दन करते हुए अकादमी की गतिविधियों पर प्रकाश डाला। लब्ध प्रतिष्ठ समालोचक प्रो० विजयेन्द्र स्नातक ने कार्यक्रम में उपस्थित सभी गणमान्य महानुभावो के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया।

—विमल कान्त शर्मा

जल के आचमन मन्त्रों का तात्पर्य

—धर्माचार्य दिनेश चन्द्र शास्त्री

ओ भू र्भुवः स्वः।

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।

तस्यास्ते पृथिवि देव यजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

यजु० अ० ३ म० ५॥

महर्षि देव दयानन्द सरस्वती स्व-कर्म काण्ड के महान् ग्रन्थ संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण में इन दोनों मन्त्रों से पूर्व, जल का आचमन एवं जल से अंगो का स्पर्श करना लिखा है जो कि इस प्रकार श्री महाराज संस्कार विधि में लिखते है—"अपने-अपने जल पात्र से सब जने जो कि यज्ञ करने को बैठे हों, वे इन मन्त्रों से तीन-तीन आचमन करें अर्थात् एक-एक से एक-एक बार आचमन करें। वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥१॥ इससे एक आचमन।

अर्थ :—हे सर्वरक्षक भगवन्! अविनाशी अमृत स्वरूप प्रभो! तू मेरे नीचे का बिछौना है अर्थात् अपने भीतर से प्राप्त होने वाले रोगों एवं दुःखों के रक्षक हो, आच्छादक हो। यह मैं यथार्थ रूप से जानता हूं।

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥२॥ इससे दूसरा आचमन।

अर्थः—हे अमृत-अविनाशि स्वरूप परमात्मन्...! तू मेरे ऊपर का ओढना-ढक्कन है अर्थात् बाहर से होने वाले दुःखों के ढकने वाला परम रक्षक है। स्वाहा-यह मैं उचित रूप से जान रहा हूं।

ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥ ३॥ इससे तीसरा आचमन।

भावार्थ:—हे रक्षक परमेश्वर! सत्य ज्ञान, सत्य भाषण, सत्य व्यवहार, यश-कीर्ति-'कीर्तिर्यस्य स जीवति, कान्ति, धन-सम्पत्ति, आरोग्यता, ऐश्वर्य, शोभा, तेजस्विता मुझमें आश्रय पावें या मुझे प्राप्त होवें। यह मैं आपसे सत्य कहता हूं, सत्य प्रार्थना करता हूं कि इनको पाने का प्रयत्न करता रहूगा। ऐसी मेरी शुभ कामना है। इससे तीसरा आचमन करने के पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रो से जल ले करके अंगो का स्पर्श करे।

ओम् वाङ् मेआस्येऽस्तु॥ इस मन्त्र से मुख,

ओम् नसो मे प्राणोऽस्तु॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनो छिद्र,

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,

ओम् कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओम् बाह्वोर्मे बलमस्तु॥ इस मन्त्र से दोनो बाहु,

ओम् ऊर्व्वोर्मे ओजोऽस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु॥ पारस्कर गृ०॥ इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना।

आर्य जगत् के वैदिक विद्वानो पुरोहित लोगों एवं उपदेशक मान्य लोगों को लाभ हो। ऐसा मेरा विचार है कि जिससे इस क्रम मे एक विधि हो। ध्यान दीजिए-यहा मैं कुछ आर्य ग्रन्थो का जो कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैदिक सन्यासी एव आर्य नेता तथा उत्तम लेखक रहे हैं वे महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज थे। उनकी 'भूमिका' आर्य पर्व पद्धति पुस्तक पर है तथा तत्काल आर्य नेता श्री राम गोपाल शाल वाले यशस्वी प्रधान सार्वदेशिक आर्य सभा नई दिल्ली का 'निवेदन' रूप लेख 'आर्य पर्व पद्धति' पर है जिसके महान् लेखक वैदिक विद्वान् श्री प० भवानी प्रसाद जी हल्दौर (जि० बिजनौर निवासी) थे। इस पुस्तक का प्रकाशन सार्वदेशिक आर्य सभा ने किया है। सामान्य पर्व पद्धति' लेख मे लिखा है "महर्षि दयानन्द प्रोक्त संस्कार विधि ग्रन्थ के निम्नलिखित विधानानुसार ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, का पाठ करके सामान्य होम करें।" इस पुस्तक के पृष्ठ उनसठ पर लिखा है "'आचमन—यज्ञ मे उपस्थित यजमान और पुरोहित अपने-अपने जल मन्त्रो से उन मन्त्रो से तीन आचमन करें' इस प्रकार आचमन मन्त्रो का एव अंग स्पर्श मन्त्रों से जल द्वारा स्पर्श करने का—'ओ भूर्भुवःस्वः। तथा ओ भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना०' 'अग्न्याधान इन दो मन्त्रो से पूर्व लिखा हुआ क्रम है। ऐसे ही 'आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित 'आर्य पर्व पद्धति' में

(शेष पृष्ठ ४ पर)

स्वामी श्रद्धानन्द वीर महान्

—पंडित नन्दलाल निर्भय सिद्धान्त शास्त्री

भारत माता के तप: पूत, स्वामी श्रद्धानन्द वीर महान्।
भूलेगा न जगत् आपका, देश भक्त नेता बलिदान॥
वैदिक मर्यादा के पालक, धर्म रीति के थे संचालक।
देश भक्त बलवान बनाए, थे तुमने जो लाखों बालक॥
गुरुकुलों का जाल बिछाया, किया अचम्भित सर्व जहान।
भूलेगा ना जगत आपका, देश भक्त नेता बलिदान (१)
तुम जो कहते थे करते थे, दुखियों के संकट हरते थे।
ईश्वर विश्वासी पक्के थे, नहीं पापियों से डरते थे॥
सुनकर नाम आपका थर्राते थे, गुन्डे और बेईमान।
भूलेगा ना जगत आपका, देश भक्त नेता बलिदान (२)
ऋषिवर दयानन्द के चेले, देश धर्म हित संकट झेले।
अत्याचारी अंग्रेजो के, शोणित से होली खेले॥
स्वतन्त्रता का नाद बजाया, विकट वीरता की थे खान।
भूलेगा ना जगत आपका, देश भक्त नेता बलिदान (३)
तुम तो थे सचमुच सच्चे नेता, अद्भुत त्यागी, वीर विजेता।
परम तपस्वी, महा साहसी, नाम विश्व श्रद्धा से लेता॥
मानवता के आप पुंज थे, भारत माता की थे शान।
भूलेगा ना जगत आपका, देश भक्त नेता बलिदान (४)
जाति-पांति का भेद मिटाया, छुआ-छात कलंक बताया।
मनुष्य मात्र की जाति एक है, पावन वैदिक पथ दर्शाया॥
"कर्म प्रधान आपने माना" दिये हजारों थे व्याख्यान।
भूलेगा ना जगत आपका, देश भक्त नेता बलिदान (५)
शुद्धि की तलवार चलाई, मिटती हिन्दु कौम बचाई।
देख वीरता विकट तुम्हारी, दुष्टो की सेना थर्राई॥
धर्म की रक्षा में हे स्वामी, हस कर हुए आप कुर्बान।
भूलेगा ना जगत आपका, देश भक्त नेता बलिदान (६)

ग्राम पोस्ट—बहीन जिला फरीदाबाद (हरियाणा)

रोमांचक दृश्य

—श्री सत्य भूषण 'शान्त'

बाईस मार्च को स्वामी श्रद्धानन्द स्वय दिल्ली आए।
देखा जनता है सुप्त सभी आतंकवाद से घबराए॥
आतंकवाद हा नौकरशाही के प्रमाण का परिचायक।
आतंकवाद दिल औ दिमाग पर छाया हुआ घोर घातक।
चहुं ओर आग थी लगी हुई, पर मुख सबका था बन्द हुआ।
स्वामी जी का आगमन जान, नैराश्य कि किंचित् मद हुआ।
था तीस मार्च का दिवस, कि जब चांदनी चौक के घटाघर।
पर खड़ा हुआ एक सन्यासी निर्भीकमना प्रबुद्ध पल पल॥
गुरखों ने किरचें तानी ज्यो सम्मुख निर्भय वह बोल उठा।
छेदो छाती सामने खड़ा यों निज वक्षःस्थल खोल उठा॥
आया उस क्षण सर्जेण्ट वहां इंगित से किंचित् समझाया।
गुरखों को लो यह तुरन्त हटा, होगा अनर्थ यह बतलाया॥
उस क्षण दिल्ली का सिंहासन चरणो पर यति के नत बोल गया।
अविचल सन्यासी प्राण हथेली पर रखकर यूं बोल गया॥
साक्षी दिल्ली के लोग और साक्षी सुप्रसिद्ध इतिहास अहो।
जन जन मानस जीता जिसने श्रद्धायुत श्रद्धानन्द सुनो॥
कह "शान्त" न वर्णन कर सकता, रोमांचक था वह दृश्य अहा।
गौरांगों का उर कांप गया लख सन्यासी का तेज महा॥

१२, मुनिरका विहार नई दिल्ली-६७

अमर शहीद सरदार भगत सिंह



आज भारत स्वतन्त्र है। भारत स्वाधीन है। यहां पर हमारा अपना स्वराज्य है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सम्भवत स्वराज्य तो चाहा है, पर उसने सुराज्य भी चाहा होगा। महात्मा गांधी ने स्वाधीनता के लिए लम्बा संघर्ष किया। उनके नेतृत्व में अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने कार्य किया। लाला लाजपत राय, प० मोतीलाल नेहरू, सरदार पटेल, सुभाष चन्द्र बोस, पं० जवाहर लाल नेहरू और अन्य अनेक नाम जैसे मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, सरहदी गांधी, सरदार बलदेव सिंह, सरोजिनी नायडू के नाम इस पंक्ति में लिए जा सकते हैं। पर कुछ ऐसे भी नाम हैं जिन्होंने ब्रिटिश हुकूमत को हिला कर रख दिया था। उनके नाम से ही बरतानिया हुकूमत कांप उठती थी और वे नाम हैं—मगल पाण्डे श्याम जी कृष्ण वर्मा, लक्ष्मी बाई, नाना साहब, विनायक दामोदर सावरकर लाला हरदयाल, मदन लाल धींगड़ा, तिलक, सरदार भगतसिंह, अरविन्द घोष, खुदीराम बोस, जितेन्द्र सान्याल, सुभाष चन्द्र बोस, भाई परमानन्द, गणेश शकर विद्यार्थी रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्लाह खां, मान्मथनाथ गुप्त, हेमू कलानी और अनेक अन्य नाम जो स्मरणीय है।

इन वीर नौजवानों ने देश की आजादी के लिए अपना लहू दिया था। उन्होंने कभी न सोचा था कि देश के रहनुमा अपने निजी स्वार्थों के लिए रोज सरकारें बनाएंगे और रोज सरकारें तोड़ेंगे। वे देश और जनता की फिक्र कम करेंगे, अपनी खुद की फिक्र ज्यादा करेंगे। राजा का कर्त्तव्य है कि अपनी जनता की फिक्र करे, पर यहां तो भोली जनता को ठुकराया जाता है, चारों और स्मगलरों को सिर पर बिठाया जाता है। न जाने कितने एम० पी०, एम० एल० ए० हैं जिनके खिलाफ न्यायालय में केस चल रहे हैं। उन्हे माफिया सरगनाओं की सहायता लेने में कोई एतराज नहीं है।

उन वीरों की कुरबानी एक दिन तो रग अवश्य ही लाएगी। सरदार भगत सिंह के खानदान में देश भक्ति कोई नई बात न थी। उनके पिता सरदार किशन सिंह बड़े वीर गम्भीर और ज्ञानी व्यक्ति थे, पर एक बार उन्हे भी पुलिस से बच कर नेपाल भागना पड़ा था। उनके चाचा अजीत सिंह लम्बे समय तक नजरबन्द रहे थे। एक दूसरे चाचा सुवर्णसिंह भी क्रान्तिकारी आन्दोलनों से जुड़े थे। सरदार भगत सिंह का तो जन्म ही ऐसे क्रान्तिकारी माहौल में हुआ था।

सरदार भगतसिंह ने डी ए. वी. स्कूल से मैट्रीकुलेशन पास किया था। आर्य समाजी संस्कारों ने उनके देश भक्ति के संस्कारों को और पक्का कर दिया था। आगे चल कर उनका परिचय सुखदेव, भगवती चरण, यशपाल, जयचन्द्र विद्यालकार और राजगुरु से हुआ। जयचन्द्र शचीन्द्र नाथ सान्याल के सम्पर्क में आ चुके। जयचन्द्र भगत सिंह के अध्यापक थे। एक कहावत है—गुरु गुड़ ही रह गये और चेले चीनी हो गए। यह कहावत भगत सिंह के जीवन पर खरी उतरती है।

एफ ए. करने के बाद भगत सिंह के विवाह की बात चली, पर उनके मन में तो कुछ और ही था। वे एक युवती का जीवन बरबाद न करना चाहते थे। वे घर से भाग निकले और दिल्ली जाकर 'अर्जुन' पत्र मे काम करने लगे। एक बार डा० सत्यकेतु विद्यालकार ने बताया था कि भगत सिंह एक बार पूरा एक महीना उनकी कोठरी में रहे थे। घर वालो को उनके दिल्ली प्रवास का पता चला तो वे कानपुर चले गये और वहा पर गणेश शकर विद्यार्थी के 'प्रताप' मे काम करना शुरू कर दिया। शहीद भगत सिंह हिन्दी जानते थे और हिन्दी में लिखते भी थे। वहां पर उन्होंने अपना नाम बलवन्त सिंह रख लिया था। इस जगह का पता भी घर वालों को लग गया। उन्हे सन्देशा मिला कि उनकी मा बीमार है। वे अपनी मां को बहुत प्यार करते थे। मा से मिलने वे पंजाब पहुचे। उन दिनों सारे पंजाब में 'गुरु का बाग' वाला आन्दोलन चल रहा था। इसका उद्देश्य बहुत ही पवित्र था। कुछ सिख महन्तो बड़ी-बड़ी जायदादों पर कब्जा कर

(शेष पृष्ठ ५ पर)

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(३ मार्च, ९१ के अंक से आगे)

यह बात १९५० की है। मैंने अपना एक लेख जो षट्दर्शन की किसी समस्या पर था, आर्य जगत में भेजा, वह तुरन्त छप गया और तब से आर्य सामाजिक पत्रों में लेख छपाने का मेरा मार्ग ही खुल गया। वह दिन और आज का दिन अब तक मेरे हजारों लेख आर्य सामाजिक पत्रों मे छप चुके हैं। किन्तु मेरी प्रथम रचना आर्य जगत में छपी, इसका मैं ऐतिहासिक महत्त्व मानता हूं। इस पत्र के अनेक सम्पादकों के कार्य काल में मेरी सैंकड़ो रचनायें छपी। सर्वश्री राम कृष्ण शास्त्री, रामचन्द्र शर्मा, अजीत सिंह सत्यार्थी, प० त्रिलोकचन्द शास्त्री और अब पं० क्षितीश वेदालंकार इन सभी के सम्पादन काल मे मैंने आर्य जगत में अपने लेख प्रकाशनार्थ भेजे हैं।

नगर की तीनो प्रमुख आर्य समाजों ने आर्य पर्वों को सामुहिक रूप से मनाने तथा पारिवारिक सत्संगों का आयोजन करने के विचार से केन्द्रीय आर्य समिति का गठन किया। श्री भजन सिंह भाटी इसके प्रधान चुने गये। मुझे उसका सयोजक चुना गया। कुछ वर्षों तक केन्द्रीय आर्य समिति ने अच्छा कार्य किया, किन्तु धीरे धीरे इसका कार्य शिथिल होता गया। केन्द्रीय समिति के उत्साही सदस्यो मे सेना की एम. ई. एस के. एस. डी. ओ. श्री ओंकारनाथ सूद का उल्लेख आवश्यक है। वे आर्य समाज रातानाडा के प्रतिनिधि के रूप मे केन्द्रीय समिति मे हमारे सहयोगी थे।

नगर आर्य समाज की ओर से श्रावणी उपाकर्म का पर्व श्रावण पूर्णिमा को विशेष समारोह से मनाया जाता था। इस दिन प्रातः समीपवर्ती मारवाड़ की पुरानी राजधानी मंडोर के उद्यान में हरी घास के लान पर पर्व यज्ञ पूरी श्रद्धा तथा विधि के साथ किया जाता। मैं ही इस यज्ञ का ब्रह्मा रहता था। यज्ञोपवीत परिवर्तन, वेद पाठ आदि सभी कृत्य अत्यन्त अलोपेन वातावरण मे सम्पन्न होते थे। इस अवसर पर जो यज्ञ होता उसमें यजुर्वेद के रुद्राध्याय तथा पुरुष सूक्त का विशेष रूप से पाठ किया जाता। मेरे मन मे श्रावणी को लेकर जो श्रद्धा और आस्था उन दिनो मे उत्पन्न हुई वह आज भी यथावत है, किन्तु अब इस अवसर पर किए जाने वाले यज्ञादि कर्मकाण्ड वैसे श्रद्धायुत वातावरण में सम्पन्न नही होते। केवल औपचारिकता ही पूरी की जाती है।

रातानाडा आर्य समाज की भी अपनी पृथक कहानी है। यह समाज मंदिर गत शताब्दी के अन्तिम दशक में महाराज कर्नल प्रतापसिंह जी की प्रेरणा तथा उनके द्वारा एकत्र धन राशि के निर्मित हुआ था। किन्तु जिस ठेकेदार ने समाज मन्दिर बनाया उसको कुछ रुपया देना बाकी रह गया। कालान्तर मे परिस्थितिया बदल गई तो इस मन्दिर की आर्य समाज के तत्कालीन अधिकारियो ने एक जागीरदार गुढा के राणा को बेच दिया और ठेकेदार की बकाया रकम को भुगतान कर दिया। १९२८ ई० मे जोधपुर में नगर आर्य समाज का गठन नये सिरे से किया गया क्योंकि पुराना समाज मन्दिर बिक जाने के कारण वहा तो आर्य समाज को किसी गति विधि के लिए अवकाश ही नही रह गया था। नगर आर्य समाज के सदस्यो को उस समय के शहर कोतवाल, पाल ठिकाने के ठाकुर रणजीत सिंह जी ने गुलाब सागर तालाब के एक घाट पर बना एक बरामदा आर्य समाज के कार्य के लिए दे दिया। इस बरामदे मे इससे पहले आवारा मुसलमान फकीर बैठे रहते थे जो घाट पर पानी भरने के लिए आने वाली स्त्रियों से छेड़-छाड़ करते। अब आर्य समाज नगर का निर्माण होने पर इसके कुछ प्रमुख सदस्यो ने आर्य समाज जोधपुर के भूतपूर्व मन्त्री श्री लक्ष्मण आर्य को प्रतिवादी बना कर एक दीवानी मुकद्दमा दायर किया। श्री आर्य पर यह अभियोग लगाया गया कि उन्होंने आर्य-समाज के धर्म मन्दिर को, जो पूजा स्थल की श्रेणी मे आता है, एक व्यक्ति को बेच कर कानून का उल्लघन किया है। कोई भी व्यक्ति किसी पूजा स्थल को निजी हैसियत से नहीं बेच सकता। (क्रमशः)

जल के आचमन मन्त्रों का तात्पर्य

(पृष्ठ २ का शेष)

क्रम छपा है। इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के लेखक, पद वाक्य प्रमाणज्ञ सर्व तन्त्र स्वतन्त्र श्री प० युधिष्ठिर मीमासक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् जो कि 'श्रौत तथा स्मार्त ग्रन्थो एवं प्राचीन नवीन सस्कृत व्याकरण एव मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित हैं। स्वरचित 'वैदिक नित्य कर्म विधि' पुस्तक मे बृहद् यज्ञ विधि में लिखते हैं यज्ञ का क्रम इस प्रकार होना चाहिए—'ईश्वर स्तुति-प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, आचमन, अग स्पर्श, अग्न्याधान, इत्यादि। दैनिक अग्निहोत्र विधि में लिखते हैं—'क्योकि यज्ञीय कर्म आचमन के बिना आरम्भ नहीं होता। अतः महर्षि दयानन्द के मन्तव्यानुसारेण अग्न्याधान से पूर्व ही आचमन आदि करे। वैदिक कर्मकाण्ड के महान् विद्वान् यति-सन्यासी-पूज्य श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज इसी प्रकार स्वरचित 'शंका-समाधान' लेख माला ग्रन्थ के प्रश्नोत्तर में लिखते हैं। इन श्रौत और स्मार्त वैदिक ग्रन्थों के एव ब्राह्मण ग्रन्थो के प्रख्यात आर्य जगत् के वैदिक विद्वान् इन यतिवर श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द जी सरस्वती की भूरि-भूरि प्रशसा श्री स्वामी दीक्षानन्द जी महाराज भी करते रहते हैं। श्री महाराज 'शंका-समाधान' पुस्तक में इस प्रकार लिखते हैं—'परम वैदिक, वेद मय महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज वेद पाठ की इस परम्परा को पुनर्जीवित करने का ध्यान न रखते यह कभी सम्भव न था। वेद की रक्षा का यह उत्तम उपाय उनकी दृष्टि में अवश्य था। इसलिए उन्होने समस्त शुभ कार्यों के आरम्भ में सर्व साधारण के लिए वेद पाठ के रूप मे ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना, स्वास्ति वाचन, शान्ति करण के पाठ का विधान किया। सर्वत्र एकरूपता के लिए निश्चित मन्त्रो का पाठ महर्षि ने सस्कार विधि के आरम्भ मे देकर सर्वदा के लिए हमें वेद पाठ के सुपथ पर डाल दिया। भूल यह हो रही है कि यज्ञ कर्म करने वाले लोग ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना के आरम्भ से ही यज्ञ का शुभारम्भ समझ लेते हैं। जबकि वास्तव मे ऐसा नहीं है अपितु...वेद पाठ के ये तीन अलग-अलग स्वतन्त्र कर्म हैं [जबकि स वि के सामान्य प्रकरण मे ऐसा नही है] प्रत्येक सस्कार मे जहा-जहां महर्षि ने आवश्यक समझा वहा-वहा इनका विधान कर दिया है। क्योंकि वेद पाठ के आरम्भ मे कही भी आचमन तथा अंग स्पर्श का विधान पूर्वोक्त मन्त्रों से (स.वि) में नही है। अतः हमारे महर्षि आचार्य ने इनसे पहले आचमन करने का विधान नहीं किया। देखिए श्री महाराज सस्कार विधि का शुभारम्भ करते हुए लिखते है कि 'सब सस्कारो के आदि मे निम्नलिखित मन्त्रो का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् व बुद्धिमान ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना स्थिर चित्त होकर परमात्मा मे ध्यान लगा के करें और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें'। पवित्रता की दृष्टि से इस वेदपाठ से पूर्व सब आर्यजनो को मुख हाथ और पाव प्रक्षालन अवश्य कर लेना चाहिए। ध्यान रहे वेद पाठ के आरम्भ मे कहीं भी आचमन तथा अग स्पर्श का विधान नही है। इसलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज ने भी इनके आरम्भ मे आचमन करने का विधान नहीं किया। अत वेद पाठ रूप इन तीनों कर्मों के आरम्भ में आचमन तथा अग स्पर्श करना विधि का अग न होने से उचित नही। सब लोग अपने आसनों पर बैठ कर आचमन तथा अग स्पर्श करके यज्ञ का शुभारम्भ करें। यज्ञानुष्ठान का आरम्भ यहीं से होता है न कि ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना के मन्त्रो के आरम्भ से। इसलिए संस्कार विधि के सामान्य प्रकरणानुसार आचमन यही पर करना उचित है इससे पहले नही करे। आचमनादि की विधि को सस्कारविधि के विपरीत महर्षि के विरुद्ध अपनी ओर से अप्रसग न करे। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति सस्कार विधि की प्रक्रिया के अनुसार ही आचमनादि के पश्चात् यज्ञानुष्ठान करे अपनी बात न चलावें और न बुद्धिमान स्वाध्याय चलने दे, व अपनी विधि को उद्देश्य न रखें। अतः प्रत्येक पुरोहित, विद्वान् उपदेशक को चाहिए श्री महाराज के सामान्य प्रकरण सस्कार विधि के मन्तव्यानुसार ही आचमनादि करें। अन्यथा न करें। सर्वत्र यज्ञ मे एक रूपता करें। यज्ञ मन्त्रो पर आगे विचार करेंगे। मेरे पास अनेकों प्रमाण हैं, विस्तार भय से नही लिखा है। बुद्धिमान जन इस यथार्थ को ग्रहण करें। किमधिकम्।

आर्य समाज दीवान हाल,
दिल्ली-११०००६

आर्य और अपेक्षाएं

संग्रहकर्ता—मनोज कुमार शास्त्री

"एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नत्तियों का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहां भाषा, भाव औ भावना मे एकता आ जाए, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लगते हैं।

(सत्यार्थ प्रकाश)

आज देश विषम परिस्थितियों से गुजर रहा है। अनेक सकट के बादल मंडरा रहे हैं। इसका मूल कारण है वेद-विरुद्ध शासन व्यवस्था। जिससे आज देश में गृह-युद्ध जैसी विषम स्थिति पैदा हो गई है। अतः देशवासियों (आर्यों) का यह परम कर्त्तव्य है कि देश को अवनति से बचाए अपने जिम्मेदारियों से परिचित हों। तथा उन्हें ईश्वर-आज्ञा मान उनका धर्मयुक्त पालन भी करें। आज का नवयुवक वर्तमान राजनीति, राजतन्त्र तथा दूषित शिक्षा नीति से त्रस्त है। वह परित्राण चाहता है, हल चाहता है।

आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥

क्या हम स्वयं को 'आर्य' कह गर्व अनुभव करते हैं—यदि करते हैं, वास्तव में आर्य राष्ट्र बनाना चाहते हैं, तो आत्मनिरीक्षण करें कि क्या हम—

— वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं ?
— क्या हमारे पास चारों वेद हैं ?
— गौ पालन/सवर्धन, गौ रक्षा, व गौ दुग्ध प्रयोग करते हैं ?
— नियमित वेद पाठ तथा दोनों समय संध्या करते हैं ?
— वैदिक पद्धति से सभी सस्कार करते/करवाते हैं ?
— वेदानुकूल आचरण करते हैं। हमारी दिनचर्या, आचार-विचार आहार-विहार आदि वेदानुकूल है ?
— गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में सहायक हैं ?
— शाकाहार के स्वास्थ्यप्रद, आध्यात्मिक प्रभावो का प्रचार-प्रसार करते हैं ?
— पंच महायज्ञ का पालन करते हुए अपनी सन्तान को भी इसकी शिक्षा देते हैं ?
— अपने लड़के-लड़की का विवाह सस्कार गुण, कर्म, स्वभाव को ही मुख्य मानकर करते हैं। अन्तर्जातीय विवाह के समर्थक हैं ?
— विवाह के अवसर पर दहेज-प्रथा की उपेक्षा करते हैं ?
— स्वय व अपनी सतान को सस्कृत पढ़ने-पढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं ?
— अपने परिवार के सभी सदस्यो (१८ वर्ष से ऊपर) की आर्य समाज की सदस्यता प्राप्त की है व नियमित आर्य समाज मंदिर जाते हैं।
— आर्य समाज के सभी सम्मेलन, उत्सव, सत्संग, मे बिना किसी द्वेष भावना के परिवार सहित व इष्ट मित्रो सहित भाग लेते हैं ?
— आर्य समाज के नियमों का पालन करते हैं ?
— पुरोहित, आचार्य कर्मकाण्ड कर्त्ता का यथायोग्य सम्मान करते हैं ?
— उन्हें सेवकादि की हीन दृष्टि से तो नहीं देखते हैं ?
— वेद प्रचार हेतु अपनी पवित्र आय का दशमांश स्वेच्छा से देते हैं, तथा अपनी सन्तान को भी प्रोत्साहित करते हैं ?
— वैदिक पत्र-पत्रिकाओं मे नियमित अध्ययन की रुचि रखते हैं ?
— वैदिक मान्यताओ के विरुद्ध छपे लेख आदि पर लिखित विरोध प्रतिक्रिया व्यक्त करते हे ?
— अनार्ष ग्रंथों का अध्ययन वर्जित मानते हैं ?
— निर्दोष, विद्वान् साधु, दीन जनों का सहयोग तन-मन व धन से करते हैं ?

यदि हम इन सभी आचरणो के प्रति उत्तरदायी हैं सजग हैं, तो आर्य हैं, अन्यथा आज ही संकल्प लें, उक्त सभी बातों पर विशेष ध्यान देंगे।

—शेखपुरा, मुंगेर (बिहार)

आर्य वीर दल, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली

शहीद दिवस

दिनांक	: रविवार, २४ मार्च, १६६१ प्रातः ११-०० बजे
स्थान	: आर्य समाज मन्दिर हनुमान रोड, नई दिल्ली-१
आशीर्वाद	: श्री स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती
अध्यक्षता	: श्री महाशय धर्मपाल जी
ध्वजारोहण	: श्री बंसीलाल पाहुजा
मुख्य अतिथि	: श्री ओ३म् प्रकाश आहूजा
पारितोषिक वितरण	: श्री चमन लाल ग्रोवर
मुख्य वक्ता	: डा० धर्मपाल, श्री सूर्यदेव, प. बाल दिवाकर हंस
	: श्री राम नाथ सहगल, डा० शिव कुमार शास्त्री,
	: श्रीमती सरला मेहता, श्री खुशी राम शर्मा,
	: डा० ओ३म् वीर शास्त्री, प० प्रेम चन्द श्रीधर

आपकी उपस्थिति सादर प्रार्थनीय है।

—: निवेदक :—

प्रियतम दास रसवन्त	डा० ज्ञान प्रकाश शर्मा	ईश कुमार नारंग
अधिष्ठाता	संचालक	महामंत्री

(पृष्ठ ३ का शेष)

रखा था आन्दोलन का उद्देश्य था कि उनसे ये जायदादें लेकर सिख समाज को सौंप दी जाए। सरदार भगतसिंह ने भी इस आन्दोलन मे मदद की थी।

इन्हीं दिनों बंगाल में गोपी मोहन शाहा एक अंग्रेज को मार कर शहीद हो गये। गांधी जी ने उनकी बड़ी निन्दा की, पर देशबन्धु चित्तरंजनदास ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। भगत सिंह उस समय लायलपुर में थे। उन्होंने क्रान्तिकारी पक्ष का समर्थन किया था। इस पर पुलिस ने भगत सिंह पर राजद्रोह का मुकदमा चलाना चाहा था। काकोरी केस में लाहौर के उपदेशक नाम से जिस व्यक्ति का उल्लेख आया था, वह भगत सिंह ही थे। इस केस मे रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, अशफाकउल्लाह को फासी की सजा दी गई थी तभी से भगतसिंह और ज्यादा सक्रिय हो गए।

कांग्रेस के नेतृत्व में साईमन कमीशन का बायकाट चल रहा था। ३० अक्तूबर १६२८ को यह कमीशन लाहोर पहुचा। लाला लाजपत राय पर लाठिया पड़ी और वे शहीद हो गये। आन्दोलन ने और पकड़ा। राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने के लिए भगत सिंह, राजगुरु आजाद और जयपाल को नियत किया गया। सैण्डर्स नामक पुलिस अधिकारी पर हमला किया गया। वह मारा गया और क्रान्तिकारी भाग निकले। भगत सिंह दुर्गादेवी के सहारे बाहर निकल पाये थे। उन्होंने देश को 'वन्देमातरम्' का नारा देने के लिए कमर कस ली। कानपुर के बटुकेश्वरदत्त को लेकर ८ अप्रैल १६२६ को दिल्ली में असेम्बली हाल मे बम डाला। भगतसिंह के साथ उनके कई साथियो पर मुकदमा चला। भगत सिंह राजगुरु और सुखदेव को फांसी की सजा हुई और कुछ साथियों को काले पानी की सजा मिली।

२३ मार्च १६३१ को तीनों रहनुमाओ को फांसी दे दी गई। अन्त समय मे भगतसिंह ने लिखा था—

कोई दम का मेहमां हूं, ऐ अहले महफिल।
चिरागे सहर हूं, बुझा चाहता हूं॥

इन वीरों के बलिदानों को भारत के इतिहास में सदैव याद किया जाएगा। आज जरूरत इस बात की है कि जिस राष्ट्र की स्थापना के लिए इन्होंने कुरबानियां दी थी, उन्हीं के अनुरूप ऐसे राष्ट्र का निर्माण किया जाए, जो जनहित में हों, जो स्वार्थों से परे हो, जो भाई चारा और सहयोग बढ़ाने वाला हो।

—डा० धर्मपाल



नई दिल्ली मे अमेरिकी दूतावास के प्रथम सचिव डा० वाल्टर अन्डरसेन गुरु हनुमान की उपस्थिति मे चौधरी मांगेराम आर्य द्वारा यज्ञोपवीत धारण करते हुए।

सामूहिक यज्ञोपवीत संस्कार

केन्द्रीय आर्य समिति मेरठ द्वारा आयोजित वैदिक धर्म दीक्षा समारोह में आज लगभग २६० युवक-युवतियों तथा आर्य नर-नारियो ने यज्ञोपवीत धारण किये। तथा वैदिक धर्म, आर्यसमाज, अपने राष्ट्र की समस्त मानवता की उन्नति के लिए प्रतिज्ञायें कीं। समारोह आर्य धर्मशाला लालकुर्ती मेरठ में ठीक ६ बजे प्रातः यज्ञ से आरम्भ हुआ। इस समारोह में १० वर्ष से अधिक आयु के सैकड़ो नवयुवको ने वैदिक धर्म स्वीकार किया। आर्य समाज शास्त्री नगर के पुरोहित श्री रणधीर कुमार शास्त्री ने यज्ञ कराया एवम् सभी को यज्ञोपवीत धारण कराया। डा० वेदप्रकाश (आर्य विद्वान एवम् प्राध्यापक हिन्दी विभाग मेरठ कालिज) ने यज्ञोपवीत धारण कराने वालो को ११ सकल्प कराये तथा यज्ञोपवीत की रचना और महत्व पर वैज्ञानिक प्रकाश डालते हुए इसकी आवश्यकता बताई।

डा० भवानीलाल भारतीय की प्रचार यात्रा

दि. १४ फरवरी से १८ फरवरी तक आर्यसमाज रायबरेली के सभागार मे डा० भारतीय ने ऋषि दयानन्द के जीवन पर सरस तथा सुन्दर कथा का प्रवचन किया। फिरोज गांधी कालेज, रायबरेली के सस्कृत विभाग मे उनका एक व्याख्यान भारतीय नव जागरण और सस्कृत विषय पर हुआ।

—चण्डीगढ की समस्त आर्य समाजो की ओर से ऋषि बोधोत्सव १२ फरवरी को मनाया गया। डा० भवानीलाल भारतीय ने इस अवसर पर बोध रात्रि के महत्व पर प्रकाश डाला। दि० १३ फरवरी को आर्यसमाज माडल-टाउन लुधियाना मे डा० भारतीय की अध्यक्षता में ऋषि बोध पर्व मनाया गया।

—आर्य समाज के सैद्धान्तिक विद्वान्, तेजस्वी वक्ता आचार्य आर्य नरेश सस्थापक उद्गीथ साधना स्थली ओमवन हिमाचल ने गत जनवरी व फरवरी मास मे राष्ट्र संस्कृति व युवा शक्ति के उत्थान हेतु भारत के अनेक प्रान्तो मे प्रभु की पावन वाणी मानव धर्म वेद के प्रचार से मानव शान्ति हेतु यज्ञ, वेद प्रचार शंका-समाधान पारिवारिक गोष्ठियो का आयोजन कर वेद प्रचार का सराहनीय कार्य किया।

अनेक लोगो को सध्या हवन, व्यायाम, शाकाहारी भोजन, आर्य समाज स्थापना, वेद स्वाध्याय, आर्य समाज मे आने तथा ईश्वर की सत्ता को मानने की प्रेरणा दी। आर्य राष्ट्र की स्थापना से ही भारत की सब समस्याओं यथा राष्ट्र द्रोहियों द्वारा होने वाले दगे, अनाडी राजनेताओ द्वारा वोट हेतु पनपाया गया जातिवाद गरीबी की आड़ मे पनपने वाले राष्ट्र हत्यारों का उन्मूलन युवा जनो मे पनपती नास्तिकता व उच्छृंखलता का समाधान सम्भव है।

—कल्याण जी भाई आर्य

वार्षिकोत्सव सम्पन्न

—श्रीमद् दयानन्द गुरुकुल विद्यापीठ गदपुरी त० पलवल जिला फरीदाबाद का १४वां वार्षिकोत्सव २२-२३-२४ फरवरी १९९१ को बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। इस शुभ अवसर पर आर्य जगत के सर्वमान्य वीतराग सन्यासी श्री स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती, श्री स्वामी स्वरूपानन्द जी के अतिरिक्त हरियाणा के पंचायत व विकास मन्त्री श्री चौ० सुभाष कत्याल जी विशेष रूप में पधारे।

इस अवसर पर श्री सन्तराम संस्कृत भाषण-प्रतियोगिता और श्लोकोच्चारण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसमे अनेक गुरुकुल, महाविद्यालय और वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय की टीमो ने भाग लिया। चल विजयोपहार श्री लाल बहादुर विद्यापीठ दिल्ली की टीम ने प्राप्त किया।

यह गुरुकुल गत ५४ वर्ष से संस्कृत शिक्षा का निःशुल्क प्रचार एवं प्रसार कर रहा है। अद्यावधि अनेक स्नातक देश के विभिन्न क्षेत्र में सेवारत है। कोई ऐसा विभाग नहीं है जहां यहां के स्नातक न हो। इस अवसर पर एक पुरोहित प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया जिसमें बाहर से आए हुए प्रतिभागियो को एक सप्ताह तक प्रशिक्षण देकर संस्कार कराने में पारंगत किया गया। उन्हें प्रमाण पत्र देते हुए उद्योगपति श्री रामकिशन सजय कालोनी फरीदाबाद ने अपने सन्देश में कहा कि पुरोहित संस्कार के माध्यम से आज को भावी पीढ़ी को आगे बढ़ा सकते हैं।

—आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना की ओर से पैंसठवें (६५) वें वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में १० फरवरी से १७ फरवरी तक आठ दिवसीय कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। प्रचुर जन सम्पर्क कार्यक्रम के अन्तर्गत पारिवारिक सत्संगों का आयोजन किया गया।

१२ फरवरी को बोधोत्सव का कार्यक्रम श्री रणबीर भाटिया, उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ।

आर्य समाज की गतिविधियो का विवरण करते हुए आर्य समाज के मन्त्री श्री बालकृष्ण सूद ने कहा कि जनता की भलाई के लिए आर्य समाज ने असहाय लोगो की सहायता के लिए निर्धन सहायता निधि, निःशुल्क औषधालय, पुस्तकालय तथा अन्य कार्यक्रम चलाये हुए हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा से पधारे हुए प० चिरंजीलाल और उनके साथियो ने लगातार आठ दिन भजनो के माध्यम से जनता को मन्त्र मुग्ध कर दिया। प्रिंसीपल श्री सुरेश जी शर्मा ने अपने वक्तव्य मे कहा कि आज वेदो की राह पर चल कर सुख और शान्ति का अनुभव किया जा सकता है।

—राजेश्वर शास्त्री

—आर्य समाज बरबीघा (बिहार) का ६३वां वार्षिकोत्सव सम्पन्न—

२४, २५, २६ एवं २७ फरवरी को आर्य समाज बरबिघा (मुंगेर) का ६३वा वार्षिक उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर आर्य जगत के विद्वान् सर्व श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी नैष्टिक देहरादून प० सत्यदेव जी शास्त्री वाराणसी, आचार्य सुकिर्ति मित्र दरभंगा, डा० देवेन्द्रकुमार सत्यार्थी नालन्दा, चौधरी वेगराज जी गाजियाबाद श्रीमती विजयावती जी आर्या मुंगेर एवं श्री मोहनलाल आर्य गाजियाबाद ने भाग लिया।

इस अवसर पर यजुर्वेद परायण यज्ञ का भी आयोजन किया गया। हजारो हजार ग्रामीणो ने भाग लेकर लाभ उठाया।

—शिवनन्दन प्रसाद आर्य मन्त्री

—बिहार राज्य के गोड्डा जिले के अन्तर्गत मड़पा ग्राम मे स्थानीय आर्य समाज का आठवां वार्षिक उत्सव बड़े ही धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। प्रतिदिन श्री वीर प्रकाश आर्य अभियन्ता द्वारा निर्मित यज्ञशाला मे वेद मन्त्रों से हवन यज्ञ होता रहा इस अवसर पर स्वामी ब्रह्मानन्द नैष्टिक तपोवन आश्रम देहरादून, डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी नालन्दा, श्री सियाराम निर्भय कवितोपदेशक आरा, श्री दयानन्द सत्यार्थी समस्तीपुर एवं श्रीमती विजयावती आर्या मुंगेर के पुरोगम होते रहे हजारों ग्रामीण जनता ने इसमे भाग लेकर लाभ उठाया।

नवल किशोर मन्त्री

—आर्य समाज बांकनेर का ४०वां वार्षिकोत्सव २, ३ मार्च १९९१ को हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। हजारों की सख्या में आर्य युवकों ने कुश्ती, बालीबाल, कबड्डी तथा दौड़ प्रतियोगिताओ में भाग लिया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती विषयक निबन्ध प्रतियोगिता में हीरालाल, प्रदीप पंवार तथा स्नेहलता आर्या क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय के विजेता रहे।

२ मार्च शनिवार को रात्रि पं० आशानन्द भजनीक का मैजिक लालटेन कार्यक्रम आर्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने मे पूर्णतः सफल रहा। स्वामी अग्निदेव 'भीष्म' ग्रामवासियों की भाषा में प्रभावकारी ढंग से आर्यों के कर्तव्य समझा पाये।

३ मार्च रविवार को आर्य युवक सम्मेलन तथा पुरस्कार वितरण समारोह २ बजे से हुआ। इसकी अध्यक्षता दिल्ली के प्रख्यात् विद्वान डा० प्रशांत वेदालंकार ने की। आपने आर्य समाज बांकनेर के युवा निर्माण कार्यक्रम की भूरि-भूरि प्रशसा की तथा अन्य आर्य समाजों को इनसे प्रेरणा लेने को कहा।

आर्य जगत के जाने माने विद्वान् स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने आर्य युवकों को विश्व मे भारत का नाम चमकाने की प्रेरणा दी। उत्सव के समापन पर प्रधान श्री बांगेराम आर्य आगन्तुकों तथा आर्य युवको को भरपूर सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया।

—मेहरलाल पवार मन्त्री

—आर्यसमाज शान्ताक्रुज (बम्बई) का ४७वां वार्षिकोत्सव सोत्साह सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर २०-१-९१ से २७-१-९१ तक यजुर्वेद महायज्ञ आचार्य अखिलेश्वर जी ब्रह्मचारी के ब्रह्मत्व मे नित्य प्रातः ७ से ९:३० बजे तक हुआ। २७-१-९१ को प्रातः १० बजे पूर्णाहुति का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर दिल्ली की समस्त आर्य समाजो के तथा स्थानीय जनता ने उत्साह से भाग लिया। दिनांक २१-१-९१ से २५-१-९१ तक प्रतिदिन साय ८ बजे से ९.३० बजे तक श्री सत्यपाल जी पथिक तथा श्रीमती शिवराजवती आर्या एवं कुमारी आदिति के भजन तथा आचार्य अखिलेश्वर जी ब्रह्मचारी के सारगर्भित उपदेश हुए। आपने वैदिक जीवन की व्याख्या करते हुए सूर्य और चन्द्र का हमारे जीवन में क्या महत्व है इस पर प्रकाश डाला। जनता उनके उपदेशो से लाभान्वित हुई।

२२-१-९१ को महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमती लज्जारानी गोयल ने की। श्रीमती ईश्वरदेवी विद्यालंकार, डा० आनन्द सुमन तथा स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, के व्याख्यान हुए।

२६-१-९१ को प्रातः ९.३० बजे यज्ञ के उपरान्त गणतन्त्र दिवस समारोह राष्ट्रीय ध्वजारोहण के साथ प्रारम्भ हुआ। ध्वजारोहण आर्यसमाज शान्ताक्रुज के प्रधान श्री चमनलाल महाशय ने किया। आर्य विद्या मंदिर के छात्र-छात्राओं ने सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए।

२७-१-९१ को प्रातः १० बजे यजुर्वेद महायज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात् आर्य जगत के प्रख्यात विद्वानो ने भी अपने विचार प्रकट किए।

आर्य समाज के महामन्त्री श्री नरेन्द्र कुमार पटेल ने उपस्थित जन समुदाय का धन्यवाद किया। प्रीति भोज के साथ बड़े सौहार्दपूर्ण वातावरण मे उत्सव का कार्य सम्पन्न हुआ।

नरेन्द्र कुमार पटेल—महामन्त्री

'आदर्श होली'

आर्य समाज, आदर्श नगर दिल्ली-३३ के तत्वावधान मे 'आदर्श होली' मनाई गई। प्रातःकाल हवन यज्ञ से यह कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। चन्दन और गुलाल के तिलक से होली मंगल मिलन रस्मी किया हुई। हजारो की सख्या में बच्चे, बूढे और बाल नर-नारी इस कार्यक्रम मे सम्मलित हुए और एक दूसरे को चन्दन और गुलाल का तिलक किया और गले मिले। आर्य आदर्श विद्यालय के छात्र छात्राओ ने रंगारंग सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। डा० शिवकुमार जी शास्त्री, श्री प्रेम जी श्रीधर, प० जैमिनि जी शास्त्री ने पर्व की वास्तविकता का बोध कराया। कार्यक्रम का आयोजन धर्मचन्द बत्रा, मन्त्री, आर्य समाज, आदर्श नगर, की देख-रेख में हुआ। "आज बृज में होली रे रसिया" बच्चो द्वारा प्रस्तुत गीत को सभी ने सराहना की। विद्यालय की प्रधानाचार्य श्रीमती पुष्पलता ने अभिभावकों का धन्यवाद किया तथा बच्चों को पुरस्कार वितरित किया। गन्दे रंगों के बिना खेली गई होली की सभी ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

—मंत्री धर्मचन्द बत्रा

शान्ति यज्ञ सम्पन्न

आर्य समाज भागलपुर (बिहार) के उपप्रधान श्री वचनेश्वर सिंह की पूज्या माताश्री का देहावसान विगत दि० १०-२-९१ को होगया। दिनाक १२-२ से १८-२-९१ तक दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए 'शान्ति यज्ञ' श्री प० ब्रह्मचारी व्यास नन्दन शास्त्री वैदिक के आचार्यत्व मे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आर्य जगत् के डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी, ब्रह्मानन्द जी नैष्टिक एव श्री दयानन्द सत्यार्थी के भजन-प्रवचन भी हुए। यहां की जनता पर स्थाई प्रभाव पड़ा।

—एशिया के सबसे बड़े कोलियरी क्षेत्र महगामा (गोड्डा) में वैदिक धर्म प्रचार।

दिनाक १७-२-९१ को महगामा (गोड्डा) के दुर्गा स्थान में वैदिक धर्म प्रचार का आयोजन श्रीमती विजयावती आर्य महिला समाज, मुंगेर के तत्वावधान में किया गया। इस अवसर पर स्वामी ब्रह्मानन्द जी नैष्टिक (तपोवन आश्रम) देहरादून), डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी (नालन्दा) एवं श्री दयानन्द सत्यार्थी (समस्तीपुर) के द्वारा प्रचार कार्य किया गया। स्थानीय व्यवस्था युवा कार्यकर्ता श्री शंकर ठाकुर ने संभाला। —पोपल चौधरी

ऋषि बोधोत्सव तथा सीताष्टमी पर्व सम्पन्न

करोलबाग आर्य महिला मण्डल के तत्वावधान में आर्य स्त्री समाज राजेन्द्र नगर मे २६-२-९१ को १२ बजे से ५ बजे तक श्रीमती विद्यावती जी मदवाह की अध्यक्षता में ऋषि बोधोत्सव तथा सीताष्टमी का पर्व बड़े हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। ध्वजारोहण श्रीमती उमा जी कक्कड़ ने किया। मुख्य अतिथि श्रीमती ईश्वरी देवी जी धवन ने बताया कि बोध का अर्थ है ज्ञान। शिवरात्री हमें ज्ञान देती है कि हम भी कुप्रथाओं और कुसंस्कारों को छोड़ें तथा ऋषि के बताए हुए मार्ग पर चलें।

कन्या गुरुकुल की छात्राओं ने बहुत ही सुन्दर वेद पाठ किया श्रीमती प्रकाश जी आर्या ने स्वर्गीय माता मेलादेवी तथा स्वर्गीय डा० सूरज प्रकाश का शोक प्रस्ताव रखा तथा एक मिनट का मौन भी किया गया। —कृष्णा रसवन्त

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के तूफानी दौरे

भारत का नाम आर्यावर्त करने की मांग

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती पिछले एक महीने से आर्य समाज के घोषणा पत्र के प्रचार प्रसार के सन्दर्भ में देश के विभिन्न क्षेत्रो के व्यापक दौरे पर जा रहे हैं। राजस्थान के जूरेहारा क्षेत्र मे जहा चारो ओर मेवों के गाव हैं, स्वामी जी ने एक सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए युवक और युवतियों को प्रेरणा की कि सत्यार्थ प्रकाश और महर्षि दयानन्द कृत साहित्य का अध्ययन करें और राष्ट्र निर्माण में महर्षि दयानन्द की विचारधारा का अवलोकन करें। स्वामी जी ने विशाल जलूस के साथ पूरे गाव का दौरा किया। तत्पश्चात् रामलीला मैदान मे जन सभा में उन्होने आर्य जनो से अपील की कि वह अपनी सन्तानो को धार्मिक बनाने की प्रेरणा करे।

इस अवसर पर स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती अधिष्ठाता, वेद प्रचार मण्डल दिल्ली ने अन्धविश्वास रूढिवाद एव सामाजिक कुरुतियो पर प्रकाश डालते हुए अनेक दुर्व्यसनो मादक द्रव्यो का निषेध करना बताया तथा ८०० रुपये का साहित्य निःशुल्क वितरण किया। जिसमें सत्यार्थ प्रकाश प्रमुख था। २४ फरवरी को गुरुकुल मटिण्डू के समारोह में स्वामी जी ने आर्य समाज की ओर से मांग की कि भारत का नाम 'आर्यावृत रखा जावे—और हमारी परम्परा के प्रतीक-आर्यावर्त भारत खण्डे-को मूर्त रूप दिया जावे। स्वामी जी ने वहां उपस्थित लोगो को प्रेरणा की कि गोहत्याबन्दी और शराबबन्दी के लिए जोरदार ढग से काम करे और आपस में मिल कर काम करें। —सम्पादक

वार्षिक निर्वाचन

दिनांक २७-१-९१ रविवार को आर्य समाज गीता कालोनी का वार्षिक चुनाव श्री प्रणव प्रकाश शास्त्री विद्यावाचस्पति की अध्यक्षता मे निर्विवाद सम्पन्न हुआ जिसमें निम्न पदाधिकारी सर्व सम्मति से चुने गये—

१. प्रधान—श्री लोकनाथ मेहता
२. मन्त्री—श्री सुनील भाटिया
३. कोषाध्यक्ष—श्री केशव दास







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 21-22-3-1991 Licenced to post without prepayment Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६

पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३६

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" २४ मार्च, १९९१

श्री रामजन्मोत्सव

नई दिल्ली क्षेत्र की समस्त आर्य समाजों की ओर से आर्य संस्कृति के प्रतीक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र का पवित्र जन्मोत्सव रविवार २४ मार्च ९१ को प्रातः ९.०० बजे से ११.३० बजे तक सामूहिक रूप में आर्य समाज मन्दिर हनुमान रोड में समारोह पूर्वक मनाया जायेगा। जिसकी अध्यक्षता वीतराग सन्यासी स्वामी वेदमुनि परिव्राजक करेंगे एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मान्य प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, राष्ट्रीय नेता श्री लाल कृष्ण आडवाणी सांसद नई दिल्ली क्षेत्र, श्री केदारनाथ साहनी, प्रसिद्ध वैदिक विद्वान प्रो० शिवा कान्त उपाध्याय, वैद्य रामकिशोर वानप्रस्थ, आचार्य यशपाल सुधान्शु, डा० धर्मपाल आर्य, प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा भगवान राम के जीवन पर प्रकाश डालेंगे एवं स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती व श्री गुलाब सिंह राघव के भजन होंगे।

इससे पूर्व सोमवार १८ मार्च से शनिवार २३ मार्च तक प्रतिदिन पवित्र गायत्री पारायण महायज्ञ, उपदेश एवं संगीत और रात्रि को स्वामी वेद मुनि परिव्राजक द्वारा वाल्मीकि रामायण की कथा एवं श्री गुलाब सिंह राघव के भजन हुआ करेंगे। पारायण महायज्ञ की पूर्णाहुति रविवार २४ मार्च को प्रातः ९.०० बजे होगी।

आपसे अनुरोध है कि उन तिथियों में कृपया अपने यहां किसी विशेष कार्यक्रम का आयोजन न कर इस सम्मिलित आयोजन में इष्ट मित्रों सहित पधार कर उत्सव सफल बनाने में अपना सहयोग प्रदान कर अनुगृहीत करें एवं धर्म लाभ उठावें।

नोट—रविवार २४ मार्च को प्रातः ११-३० बजे से १-०० बजे तक दिल्ली प्रान्तीय आर्य वीर दल के तत्वावधान में राष्ट्रीय बलिदानी सरदार भगतसिंह व रामप्रसाद बिस्मिल दिवस सम्मेलन होगा। प्रधान—सरदारीलाल वर्मा

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज भुसावर (भरतपुर) के वार्षिक चुनाव सम्पन्न हुए जिसमें निम्न अधिकारी चुने गये—

१. प्रधान—श्री बृजेन्द्र कुमार जी आर्य

२. मन्त्री—श्री दिनेशचन्द्र जी वैद्य आर्य

३. कोषाध्यक्ष—श्री भगवत प्रसाद जी आर्य

—आर्य समाज मन्दिर बिहारीपुर, तुकमीरपुर, दिल्ली का गठन वि० संवत् २०४७ फाल्गुन शुक्ल एकादशी रविवार तदनुसार २४ फरवरी १९९१ ई० को हुआ है, जिसमें निम्न पदाधिकारी सर्वसम्मति से चुने गये—

१. प्रधान—श्री धर्मपाल

२. मन्त्री—श्री बलेश कुमार

३. कोषाध्यक्ष—श्री डा० रामवीर सिंह आर्य



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन। २६१४३८ 'प्रभर' '२०४५'

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २१ | रविवार, ३१ मार्च, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष . ३१०१५०

शहीदों के पदचिन्हों पर चलने का आह्वान

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

नई दिल्ली। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने कहा कि अमर शहीद भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव, पं० राम प्रसाद बिस्मिल आदि ने अपने प्राणों की आहुति देकर हमें आजादी दिलाई है। अतः राष्ट्र की स्वतन्त्रता व एकता को हर कीमत पर बनाये रखने का हमें व्रत लेना चाहिये। स्वामी आनन्द बोध सरस्वती आर्य वीर दल, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा २४ मार्च को आर्य समाज मन्दिर हनुमान रोड, नई दिल्ली में आयोजित 'शहीद दिवस' समारोह में बोल रहे थे।

स्वामी आनन्द बोध ने स्व० ओम प्रकाश त्यागी द्वारा आर्य वीर दल को सुदृढ़ करने के लिए की गयी बहुमूल्य सेवाओं का स्मरण किया। स्वामी जी ने बताया कि श्री त्यागी जान पर खेल कर बंगला देश की सीमा से पाकिस्तान का जो ध्वज उतार कर लाये थे, उसे उन्होंने लौह पुरुष सरदार पटेल को भेंट किया था और आज भी वह सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान संचालक पं० बाल दिवाकर हंस जी के पास सुरक्षित पड़ा है।

स्वामी आनन्द बोध ने कहा कि महर्षि दयानन्द ने भी जवानी में सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में अद्वितीय कार्य किये थे। आर्य वीर भी युवा शक्ति के प्रतीक हैं। अत. आज उन्हें आत्म निरीक्षण कर समाज राष्ट्र सेवा का संकल्प लेना चाहिए। अन्त में स्वामी जी ने दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित शहीदी दिवस पर सभी अधिकारियों को साधुवाद दिया।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने दिल्ली आर्यवीर दल व प्रतिनिधि सभा की श्रेष्ठ गतिविधियों का विवरण दिया। डा० धर्मपाल ने देश व धर्म पर हंसते-हंसते शहीद होने वाले वीरों का स्मरण कर उन्हें श्रद्धासुमन अर्पित किये एवं उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा लेने का आह्वान किया।

डा० धर्मपाल ने, स्वामी आनन्द बोध सरस्वती द्वारा अस्वस्थता के बावजूद समारोह मे पधार आर्य वीरो को आशीर्वाद देने व मार्गदर्शन के लिए उनका आभार व्यक्त किया एवं उनकी शतायु की कामना की, ताकि उनका कुशल नेतृत्व व मार्गदर्शन हमें निरन्तर मिलता रहे।

श्री ओमप्रकाश आहूजा ने समारोह की अध्यक्षता की, उन्होंने कहा कि २३ मार्च सन् १९३१ को लाहौर की सेन्ट्रल जेल मे भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव ने देश की आजादी के लिए कुर्बानी दी थी और यह आजादी उन्हीं वीरों की देन है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री सूर्यदेव ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि देश की स्वतन्त्रता के लिए वीरों ने अद्वितीय कुर्बानियां दी हैं और हमें अपने श्रेष्ठ परम्परा के लिए देश की आजादी व अखण्डता को बचाए रखना है। श्री सूर्यदेव ने कहा कि आज के पवित्र दिन आर्य समाज के शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्र देहलवी की भी जयन्ती है और हमें शास्त्रार्थ समर के महायोद्धा के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए।

इससे पूर्व श्री बंसी लाल पाहूजा ने ओ३म् ध्वजारोहण किया। उन्होंने आर्यवीरों को सम्बोधित करते हुए कहा कि आर्य वीर हिन्दुओं के चौकीदार हैं उन्हें सजग होकर समाज व राष्ट्र के लिए कार्य करते रहना चाहिए।

वैदिक विद्वान् पं० प्रेमचन्द्र श्रीधर ने "सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।" पं० बिस्मिल के इस अमर गीत का जिक्र करते हुए अमर शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित किए। श्री ओ३म्वीर शास्त्री जी ने भी अपने विचार रखे। श्री रतन लाल सहदेव ने कहा कि आज हमें भक्ति के साथ-२ शक्ति की आवश्यकता पर भी बल देना चाहिए।

दिल्ली आर्य वीर दल के अधिष्ठाता श्री प्रियतम दास रसवन्त ने इस अवसर पर उपस्थित सभाओं व आर्य समाजो के गणमान्य पदाधिकारियो व सदस्यो के प्रति आभार व्यक्त किया।

समारोह में दिल्ली आर्य वीर दल के आर्य वीरों ने लाठी, भाला, जूडो-कराटे आदि का भव्य प्रदर्शन किया। श्री चमन लाल ग्रोवर पुरस्कृत आर्यवीरो को सम्मानित स्मृति चिन्ह प्रदान किया।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं और हमे आज उनके गुण, कर्म स्वभाव और पवित्र आचरण से प्रेरणा लेकर राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को सुदृढ़ करना चाहिए। यह उद्गार प्रख्यात पत्रकार एवं सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री रमाकान्त गोस्वामी ने आज आर्यसमाज मन्दिर में आयोजित श्री राम जन्म महोत्सव के अवसर पर व्यक्त किए। समारोह की अध्यक्षता आचार्य सत्यानन्द जी ने की।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने भगवान राम के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेने का आह्वान किया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के यशस्वी प्रधान डा० धर्मपाल ने इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि भगवान राम भारतीय संस्कृति के मूलाधार है और उन्होंने उत्तर से दक्षिण व पूरब से पश्चिम तक सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में पिरोया था। उन्होंने राम के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेने का आग्रह किया। इस अवसर पर श्री केदार नाथ साहनी, प्रो० शिवा कान्त उपाध्याय, श्री सरदारी लाल वर्मा प्रधान, हनुमान रोड नई दिल्ली महात्मा राम किशोर वैद्य आदि ने भी राम के पावन जीवन पर प्रकाश डाला।

इससे पूर्व १८ मार्च से २३ मार्च तक आचार्य भारद्वाज पाण्डेय के ब्रह्मत्व में सामवेद पारायण यज्ञ हुआ जिसकी आज प्रातः पूर्णाहुति में हजारों श्रद्धालु आर्य नर-नारियो ने भाग लिया। एक सप्ताह तक डा० रविदत्त गौतम द्वारा बाल्मीकि रामायण की कथा एवं स्वामी स्वरूपानन्द व श्री गुलाब सिंह राघव जी के मनोहर भजन होते रहे। —विमल कान्त शर्मा

गुरुकुल कांगड़ी का ९१वां वार्षिकोत्सव

समस्त आर्यबन्धुओं को यह जान कर परम प्रसन्नता होगी कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार का ९१वां वार्षिकोत्सव एवं दीक्षान्त ७ अप्रैल १९९१ से समरोह पूर्वक मनाया जा रहा है। इस अवसर पर ७ से १४ अप्रैल तक श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर के ब्रह्मत्व में यजुर्वेद पारायण यज्ञ होगा। वैदिक प्रदर्शनी गुरुकुल जन्मोत्सव, कवि सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, राष्ट्रीय पत्र और उनकी समस्याए आदि पर विविध सम्मेलन होंगे। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा सांस्कृतिक एवं विविध शारीरिक व्यायाम के कार्यक्रम भी प्रस्तुत होंगे। इस

(शेष पृष्ठ पांच पर)

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

सम्पादक के नाम पत्र

आदरणीय सम्पादक जी,

सादर नमस्ते। आर्य सन्देश श्रेष्ठ, अनुपम एवं अपने आप मे एक अनूठा पत्र है। मुझे आर्य सन्देश के पढने से परम असीम आनन्द का अनुभव होता है।

—बाबूरामसिंह, मारोली बाजार, बलसाड़, गुजरात

सम्पादक महोदय,

बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल अंग्रेजी को बढावा दे रहे हैं और संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति को भुला रहे रहे हैं। पश्चात्य सभ्यता के आधार पर लोभ-लालच, के वशीभूत हो गए हैं। जबकि गुरुकुल ही संस्कृत भाषा और भारतीय परम्परा के केन्द्र हैं जो गरीबी रेखा के नीचे हैं। भारत सरकार को भारतीय संस्कृति बचाने के लिए उनकी आर्थिक सहायता करनी चाहिए।

केन्द्रीय आर्य शिरोमणि संस्था द्वारा राष्ट्रपति को ज्ञापन देना चाहिए कि मातृभाषा हिन्दी प्रथम कक्षा से, संस्कृत तीसरी कक्षा से तथा पांचवी कक्षा से सातवीं तक अंग्रेजी पढाई जाए। तथा दसवीं से आगे अंग्रेजी विषय अनिवार्य नहीं रहनी चाहिए।

—मगल राम बंसल

आदरणीय सम्पादक जी,

सादर नमस्ते। स्वामी श्रद्धानन्द व इन्द्र विद्या वाचस्पति पर २३ दिसम्बर १९९० को प्रकाशित आर्य सन्देश का स्मृति विशेषांक आद्योपान्त पढकर हृदय प्रसन्न हो उठा।

आपने अपने आठ विशेषांकों के अनुष्ठान को वर्षान्त में सफल पूर्णाहुति कर, अपने संकल्प को भगीरथ की भांति पूर्ण किया है। एतदर्थ कोटिशः धन्यवाद स्वीकार करें। विशेष सहयोगी डा० धर्मपाल जी का कोटिशः वन्दन है। आशा है इस वर्ष भी पाठकों को वही स्नेह प्राप्त होगा।

—रामाज्ञा आर्यपुत्र बौद्धिकाध्यक्ष
आर्यवीर दल, पूर्वी उत्तर प्रदेश

प्रिय महोदय, सादर नमस्ते।

आर्य सम्मेलन, दिल्ली (२३-२६ दिस० ९०) से लौटकर आर्य सन्देश का 'स्वामी श्रद्धानन्द एवं प० इन्द्र विद्यावाचस्पति' विशेषांक मिला। आद्योपान्त पढा। २३-८-६० को जब प० इन्द्र जी की मृत्यु हुई, मेरी वय मात्र ८ वर्ष की थी। वर्ष १९७४ मे मैं आर्य समाज के सम्पर्क में आया। अत. प० इन्द्रजी से मेरा परिचय इस विशेषांक ने ही कराया। पण्डित जी के सभी पक्ष, यथा...पत्रकार, स्वतन्त्रता सेनानी, इतिहासकार, साहित्यकार, कवि, सासद, शिक्षा-शास्त्री इस विशेषांक मे वर्णित हुई हैं। पण्डित जी विभिन्न रूपो मे जो देश सेवा की उसको आर्यसमाजी होने अथवा तुष्टिकरण की नीति का विरोध करने के कारण सरकारी सम्मान व मान्यता नही मिल सकी।

आर्यसमाज के सभी बड़े सम्मेलनो मे शासक दल के शीर्षस्थ नेताओं का पदार्पण होता है। हमारे अपने बन्धु इसके लिए हमारी आलोचना भी करते हैं जो कि एक सीमा तक उचित है। इसके बावजूद हम अपनी उचित बातें भी सरकार से मनवा नही सकते। आर्य इस देश के आदि-निवासी, संस्कृत मे शिक्षा का उचित स्थान विश्वविद्यालयो मे महर्षि दयानन्द जी के वेद भाष्य को मान्यता, प्रदूषण निवारण मे यज्ञों की भूमिका आदि अनेक विषय ऐसे हैं जहा सच्चाई को अनदेखा कर सत्य से खिलवाड़ किया जाता रहा है। ऐसे समय यह विशेषांक प्रकाशित करना, सभा एवं आपकी दिवंगत आर्य श्रेष्ठियो के प्रति अथक निष्ठा, श्रद्धा का प्रमाण है। बधाई एव धन्यवाद।

—मनमोहन कुमार आर्य

आदरणीय प्रधान जी, मंत्री जी

सादर नमस्ते। प्रभु का कोटि-कोटि धन्यवाद है कि जिसकी दया और आप सबके पुरुषार्थ से आर्य महा सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया है इसके माध्यम से देश और विदेश के आर्य बहन-भाईयों को आर्य समाज की सगठन शक्ति का परिचय हो गया है! मैं तो प्रभु की व्यवस्था और कर्मों के भोग के कारण इस शोभा को न देख और न ही सुन सका हूं। मेरी तरफ से आपको और समस्त कार्यकर्त्ताओं को बहुत-बहुत बधाई होवे।

—डा० जगन्नाथ
एफ १/१७ कृष्ण नगर, दिल्ली-११००५१

सम्मान्य बन्धु,

सादर सस्नेह नमस्ते।

कृपया नव-वर्ष की शुभकामनाएं स्वीकार करें। आपके एव समस्त परिवार के लिए आगामी वर्ष मंगल दायक तथा सुख-समृद्धि दायक हो।

अपरं चः—आर्य महासम्मेलन की आशातीत सफलता के लिए भी मेरी तथा मेरे परिवार की ओर से हार्दिक बधाई स्वीकारें।

आपका श्रद्धानन्द-बलिदान दिवस पर दूरदर्शन पर सन्देश का प्रसारण भी प्रेरणास्पद तथा स्फूर्ति दायक था। बधाई!

प्रभु आपको सर्वाधिक आयु प्रदान करें, जिससे आप इसी प्रकार जन-चेतना को जागृत, प्रेरित एव उत्साहित करते हुए महर्षि के सन्देश को जन-जन की भावनाओं में ओत प्रोत कर सकें। पुनः हार्दिक बधाई!!

—सहदेव वर्मा, ८७ ग्रीन पार्क, पानीपत

आदरणीय डा० धर्मपाल जी,

सादर नमस्ते। आशा है आप सानन्द होंगे। किसी भी समाचार पत्र आर्य समाज से सम्बन्धित चिट्ठी, टिप्पणी, आरोप आदि कुछ प्रकाशित हो तो उसके उत्तर में स्पष्टीकरण 'दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा' की ओर से उसी समाचार पत्र मे प्रकाशित होना चाहिये। जिससे भारतीय जनता को भ्रान्ति न रहे, आर्य समाज महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों उद्देयों, नियमों पर और आर्य समाज के सिद्धान्तों पर चलने के लिये कटिबद्ध है और चल रहा है। मेरे विचार में वैदिक वर्ण व्यवस्था पर एक लेख नव भारत टाइम्स और दैनिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित होना चाहिये। और साथ यह भी उल्लेख किया जाए कि यदि भारतीय जनता महर्षि दयानन्द अथवा आर्य समाज के सिद्धान्तों पर चलती तो आरक्षण की समस्या, पंजाब, काश्मीर, राममंदिर-बाबरी मस्जिद आदि की कोई भी गम्भीर समस्या पैदा न होती, आर्य समाज के बताए हुए रास्ते पर न चलने से ही यह सब कुछ हो रहा है। अच्छे-२ लेख भी आर्य सन्देश और आर्य जगत में छपते हैं परन्तु खेद है कि इन वर्गों को भारतीय जनता तो क्या पढ़ेगी—आर्य समाजी भी नहीं पढते, इसलिये नव भारत और हिन्दुस्तान में ऐसे लेख प्रकाशित होने चाहिये।

गत १-२ वर्ष से दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा ने अद्वितीय, सराहनीय और बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं जिसका उदाहरण है आर्य सत्याग्रह - हैदराबाद अर्द्ध शताब्दी विशेषांक, मनीषी प० गुरुदत्त विद्यार्थी विशेषांक, पं० सत्यकेतु स्मृति अंक (पं० क्षितीश वेदालंकार जी का उसमें आर्य समाज का इतिहास अति संक्षिप्त, सार रूप में देना उसकी विशेषता है) तथा स्मारिका का प्रकाशन आदि।

आशा है आगामी अंक भी इसी तरह ज्ञान वर्धन में, अग्रसर रहेंगे।

—जगन्नाथ, बी० १०१ प्रीत विहार, दिल्ली-९२

प्रिय आत्मीय डा० धर्मपालजी,

सादर सप्रेम नमस्ते।

प्रभु-कृपा से आप सपरिवार स्वस्थ व मंगलपूर्वक होंगे।

नव-वर्ष के आगमन से पूर्व जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्य सम्मेलन किया, उसके आपने बड़ी कुशलता, दक्षता, आकर्षक ढंग से मंच का संचालन किया।

आपके लेख भी जो यदा-कदा पढ़ने को मिलते हैं, राष्ट्र परक समस्याओं का वैदिक विचार-धारा परक सुन्दर रूप मे समाधान प्रस्तुत करते हैं।

कुछ दिन पूर्व सन्ध्या को स्वामी श्रद्धानन्द के ऊपर जो टेलीविजन पर आप डा० वाचस्पति उपाध्याय तथा रामचन्द्र राव जी वन्दे मातरम् द्वारा विचार दिए गए, प्रश्नों के उत्तर सटीक व समुचित रूप से जनता को प्रभावित करने वाले थे।

शेष कुशल—सहस्रशः शुभ-कामनाओं सहित। इसी प्रकार तथा इससे भी द्रुत गति से उन्नति की डगर पर बढ़ते रहो—आशीर्वाद सहित।

—देवेशमित्र, २७, नर्मदा एपार्टमेंट, अलकनन्दा, नई दिल्ली

परमादरणीय डा० साहब,

सादर कर बद्ध प्रणाम। २१-१२-९० को श्रद्धानन्द बलिदान के उपलक्ष्य में दूरदर्शन पर प्रसारित परिचर्चा का अंश सुना। आपका प्रस्तुतीकरण सशक्त एवं प्रभावी रहा। हार्दिक प्रसन्नता हुई। नये वर्ष की शुभकामनाएं।

—डा० [illegible], [illegible], [illegible], [illegible]

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

रामनवमी महोत्सव



भारतीय संस्कृति के दो पुरोधा हैं—भगवान राम और भगवान श्रीकृष्ण। भगवान राम के जीवन पर प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिपात करके देखें तो यह पता लगेगा कि वह महानुभाव कहीं पर भी अपने स्वार्थ के लिए नहीं सोचता, वह सर्वत्र लोकहित की ही बात करता है। कोई भी व्यक्ति धन-दौलत, राज-पाट को नहीं छोड़ना चाहेगा, परन्तु उसने इसकी रत्ती भर भी परवाह नहीं की और सारे राज-पाट को एक राहगीर की तरह छोड़ कर माता कैकेयी की आज्ञा को शिरोधार्य करके, राजमहल से निकल पड़ा। पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण उसके साथ अवश्य गए, परन्तु यदि वे न भी जाते तो उसे कोई कष्ट न होता। वह उनकी रक्षार्थ भी सतत प्रयत्नशील रहा।

परहित की बात कही जा रही है। वह अपने भ्रमण काल में अनेक ऋषि मुनियों, भील-कोल-किरातों, रीछों-बन्दरों, असुरों-राक्षसों, केवट-शबरी से मिला। उसका आचरण सभी के प्रति समभावी रहा। उसने सभी को अपना बना लिया और स्वयं उन्हीं का बन गया। ऐसा संगठनकर्त्ता सदैव वन्दनीय है।

परिस्थितियों ने ऐसा मोड़ लिया कि पत्नी का वियोग उसका अपना व्यक्तिगत कष्ट हो सकता था, परन्तु वह भी लोकमंगल का ही साधन बन गया। सीता हरण रावण ने किया था। रावण दुष्ट और अत्याचारी था। सभी भले लोग उससे त्रस्त थे। रावण का संहार करके उसने सभी को आराम पहुंचाया। यह भी एक परहित का ही कार्य किया।

उसने विभीषण को सारा जीता हुआ राज-पाट सौंप दिया। कितना विशाल हृदय था राम का, यह विचारणीय एवं स्तुत्य है।

राम मर्यादा पुरुषोत्तम है। राम से बड़ा राम का नाम। यह लोकोक्ति न जाने समय के कितने लम्बे अन्तराल को लांघ कर बनी है। यह हमारे लिए प्रेरक है कि हम भले ही राम की पूजा अराधना न करें, पर रामत्व को अवश्य धारण करें। यही तो आदर्श चरित्र की महत्ता है। राम ने सामान्य धर्म का पालन किया था। सीता की रक्षा में उन्होंने यही किया और आगे चल कर सीता त्याग में भी। राम धैर्य में हिमवान है। धैर्य की उपमा धरित्री से दी जाती है, परन्तु वाल्मीकि ने धरित्री को भी हिमवान की श्रेणी तक ऊंचा उठाया है। राम का धैर्य पसीजता है, द्रवित होता है, पर हिमालय की भांति टूटता नहीं है।

रामत्व क्षमा में है। आओ हम इस गुण को धारण करें। राम एक व्रतधारी है। राम एक बोलते हैं, एक बाण उठाते हैं, एक निर्णय लेते हैं। वह एक है। एक की सख्या अपने में पूर्ण होती है।

रामत्व उसके शील में व्यक्त होता है। राम के शील का अनुमान पिता से, माता से, भाई से सुग्रीव से, रावण से बात-चीत के बीच लगाया जा सकता है। राम और हनुमान के संवाद कितने मार्मिक हैं। राम की भाषा, राम का भाव, राम का राग, सब कुछ शीलमय है। वह कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित कर सकते हैं।

राम का यही लोकरंजनकारी रामत्व स्पृहणीय एवं अनुकरणीय है।

—डॉ० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२४ मार्च, ९१ के अंक से आगे)

यह मुकदमा काफी लम्बा चला। सर्वश्री ठाकुरदत्त बाली तथा पं० सोहन लाल आदि नगर आर्य समाज की ओर से इस अभियोग में वादी (मुद्दई) थे। किन्तु अभियोग को पूरे जोश खरोश से चलाने की जिम्मेदारी श्री आत्माराम जी परिहार ने ली। मुझे स्मरण है कि जब जोधपुर राज्य की सत्र अदालत मे यह मुकद्दमा चल रहा था तो आर्य समाज के पक्ष की पैरवी करने के लिए दिल्ली से प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री चरणदास पुरी हवाई मार्ग से जोधपुर आये थे। उस दिन बैरिस्टर पुरी का हवाई अड्डे पर स्वागत करने के लिये हम लोग भी वहा पहुंचे थे। जब सत्र न्यायाधीश श्री सूरजकरण मनिहार की अदालत मे श्री चरणदास पुरी ने आर्य समाज का पक्ष प्रस्तुत किया तो अपनी बहस आरम्भ करते हुए उन्होंने संस्कार विधि से ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना के दो तीन मन्त्र अर्थ सहित पढ़े और अदालत से कहा कि आर्य समाज की पूजा पद्धति निराकारोपसना की है। अतः आर्य समाज मन्दिरो में चाहे देव मूर्तियां न रक्खी जाती हो, किन्तु उन्हे धार्मिक दृष्टि से वही दर्जा प्राप्त है जो किसी मन्दिर, मस्जिद, चर्च या गुरुद्वारे का होता है और आर्य समाज मन्दिर को कोई भी व्यक्ति बेच नही सकता। अन्ततः इस मुकद्दमे का फैसला आर्य समाज के ही पक्ष में हुआ और कोई आधी सदी तक पूर्ण उपेक्षित रहने के पश्चात् इस विशाल मन्दिर का अधिकार हमें पुनः प्राप्त हुआ। श्री परिहार इस अभियोग में कानूनी सलाह लेने के लिए कई बार बख्शी टेकचन्द तथा दीवान बद्रीदास जैसे आर्य समाजी न्यायविदो के पास लाहौर तथा जालंधर भी गये थे। आर्य समाज मन्दिर रातानाडा का भवन हमे जब कानूनन प्राप्त हो गया तो उसका उद्घाटनोत्सव भारत के प्रथम गणतन्त्र दिवस २६ जनवरी १९५० को मनाया गया। उस समय मैं सर प्रताप हाई स्कूल में अध्यापक था। हमारे स्कूल के सारे विद्यार्थी पंक्ति बद्ध होकर रातानाडा आर्य समाज मन्दिर में पहुंचे। यहा ध्वजारोहण की रस्म अदा की गई। तिरंगे राष्ट्रीय ध्वज के साथ-साथ आर्य समाज का मान्य ओ३म् ध्वज भी फहराया गया। इस समाज को चलाने के लिये एक अन्तरिम व्यवस्था की गई। जब तक इस आर्य समाज के विधिवत निर्वाचन नहीं हो जाते, तब तक नगर आर्य समाज को ही इस समाज को सचालित करने का अधिकार दिया गया। तदनुसार हम लोगों का युवा दल प्रति शनिवार साय आर्य समाज में जाता और सत्संग का आयोजन करता। उन दिनो आर्य समाज मन्दिर रातानाडा के पास आबादी कम थी तथा इस मोहल्ले में आर्य परिवार तो नगण्य ही थे। केवल पं० सोहनलाल जी ही मन्दिर के पास रहते थे। हम लोगो को उन्ही के निर्देशन मे कार्य करना था। शनिवार को रातानाडा आर्य समाज में साप्ताहिक सत्संग करना हमारे लिए उद्यान भोज पिकनिक के तुल्य आनन्ददायी होती थी। हमारे साथी श्री बसन्तलाल जी टेलीफोन विभाग मे कर्मचारी थे, अपने घर से आलू के पराठे बना कर लाते और हम लोग सत्संग आरम्भ करने से पूर्व इस दावत का मजा लेते। हमारे समाज मे नव सवत्सरोत्सव, आर्य समाज स्थापना दिवस, श्रावणी जन्माष्टमी विजयदशमी, ऋषि निर्वाण, श्रद्धानन्द बलिदान दिवस, मकर सक्रान्ति, बसन्त पचमी, लेखराम तृतीया, ऋषि बोध रात्रि आदि सभी आर्य पर्व समारोह पूर्वक मनाये जाते। इन पर्वों पर मेरे वक्तृता ऐतिहासिक जानकारी से भरपूर होती थी। जोधपुर के सीमावर्ती गांवों में भी हम प्रचारार्थ जाते। विशेषतः पूंजला और चैनपुरा ग्रामों के आर्य समाजो मे जाने का प्रायः अवसर मिलता।

मैंने नगर आर्य समाज में मन्त्री पद पर तीन वर्ष तक निरन्तर कार्य किया। यो मेरा मन तो इस पद से एक वर्ष बाद ही भर गया था, किन्तु आर्य समाज के लोग भी कब छोड़ने वाले थे। मैंने नगर समाज में दैनिक सत्संग को भी आरम्भ कराया और स्वयं उसमें नियमित रूप से जाने लगा।

(क्रमशः)

वेदों को धर्मग्रन्थ न मानने वालों की शंकाओं का उन्मूलन

—श्री पं० राजवीर शास्त्री

४ मार्च १९९१ के "नवभारत टाइम्स" नामक हिन्दी के दैनिक पत्र मे भारतीय इतिहास से अनभिज्ञ पाश्चात्य विद्वानों के उच्छिष्ट भोजी तथा पक्षपात का चश्मा लगाये श्री सूर्यकान्त बाली ने भारतीय वाङ्मय एव धर्म के मूल स्रोत वेदों के विषय मे जो विष वमन किया है, वह अत्यन्त ही घृणास्पद व निन्दनीय है। जिसे पढकर समस्त वेद भक्तो की अस्मिता को महान् आघात पहुंचा है। समस्त वेद भक्त इस कुकृत्य की एक स्वर से निन्दा करते हुए लेखक व सम्पादक दोनों को ही चेतावनी देते है कि वे वेदों के प्रति ऐसा भविष्य मे विष-वमन करने का दुस्साहस न करे अन्यथा इसके भयकर परिणाम हो सकते है।

लेखक ने कुरान, बाईबिल व गुरुग्रन्थ साहिब को तो धर्मग्रन्थ माना है किन्तु वेदो को नही। उसे यह लेख लिखते हुए भय भी लग रहा होगा कि यदि इनके विषय में कुछ लिख दिया तो जीवन से भी हाथ धोना पड़ सकता है। किन्तु इन वेद-भक्तों की अस्मिता को लात मारते हुए लेशमात्र भी सकोच नहीं किया। परन्तु बाली जी ! याद रखिये ये वेद भक्त (विशेष रूप से आर्यवीर) जहा अत्यन्त सहिष्णु व धैर्यवान् हैं, वहा इनका भयकर रूप भी है। उनकी अस्मिता को ठेस पहुंचाकर सुखी नही रह सकोगे। लेख के आपत्तिजनक स्थल कतिपय इस प्रकार हैं —

१—आर्य समाज ने भी वेदों को ईश्वर की रचना माना, तो उसका रचनाकाल भी करीब दो करोड़ वर्ष पहले का माना। इससे बड़ी हास्यास्पद बात और क्या होगी ?

समीक्षा : लेखक यदि किसी बात से अनभिज्ञ है तो प्रथम उसे जानने का ही प्रयास करता तो अच्छा रहता। वेदो को भारत ही नही, प्रत्युत विश्व के विद्वान् ससार के पुस्तकालय की पहली पुस्तक मानते हैं। उसकी रचना तथा आविर्भाव के विषय मे महर्षि-दयानन्द ने ज्योतिष के आधार पर एक-एक वर्ष व दिनों की गिनती कराकर वेद सवत् लिखा है, किन्तु आपको यह ऐतिहासिक सवत् उपहास्यास्पद कैसे लगा ? क्या आपके पितामह के पितामह के होने में भी आपको भ्रान्ति हुई ? यदि नहीं तो इस ऐतिहासिक वेद-सवत् के विषय मे क्यो हुई ? यदि आप कालगणना से अनभिज्ञ हैं, तो प्रथम जानने का प्रयास कीजिये। लेखक को कुमारी से ईसा की उत्पत्ति, भूमि को चपटी बताने वाली इत्यादि सृष्टिक्रम विरुद्ध बातो एव काल्पनिक उड़ानों से पूर्ण होने पर भी ईश्वरीय ग्रन्थ मानी गई बाईबिल पर तो आश्चर्य नहीं हुआ और इसी प्रकार मुसलमानों के अनुसार खुदा का पैगाम रूप कुरान पर हंसी नहीं आई जिसमें अटपटी बातो की भरमार है, किन्तु सत्य व निर्भ्रान्त वेदों को उपहासनीय कहकर अपने कलुषित हृदय की कालिमा को प्रकट करने लगे। यदि उल्लू को दिन में भी दिखाई न देवे, तो इसमे सूर्य का क्या दोष हो सकता है। इसी प्रकार यदि आपने वेदों को पढ़ा ही नही, और उनके विषय में भ्रान्त व्यक्तियो में भटककर लेख लिखने लगे तो इसमें वेदो का तो दोष नहीं है।

२— इस देश में वेदों का सिर्फ नाम लिया गया, अपना पक्ष सही सिद्ध करने के लिये बिना पढ़े ही वेदों की दुहाई दी गई और वेदों को स्वतः प्रमाण कह दिया गया तो जाहिर है कि न केवल वेद पढ़े गये बल्कि उन्हे न पढ़ने का माहौल भी बना दिया गया।

समीक्षा :—महर्षि-दयानन्द से पूर्व वेदो की क्या स्थिति थी, यह हम चर्चा नहीं करते, किन्तु उसके पश्चात् तो आर्य समाज एक शताब्दी से भी अधिक वर्षों से वेदो के पठन-पाठन, अनुसन्धान, सबको वेद पढने का अधिकार, ईश्वरीय पुस्तक वेद ही क्यो ? वेद स्वतः प्रमाण पुस्तक है, इत्यादि विषयों पर निरन्तर प्रचार कर रहा है, पुनरपि लेखक पता नही किस पाताल के कोने में घोर अन्धकार मे बैठकर ऐसी बेतुकी बाते लिख रहा है, यह महान् आश्चर्य की बात है।

३—धर्म-ग्रन्थ सिर्फ पूजे या रटे जाते हैं, पढे या समझे नहीं जाते। पर वेदो के साथ तो दोहरी दुरभिसन्धि हो गई।

समीक्षा :—लेखक ने धर्मग्रन्थ की जो परिभाषा लिखी है, वह तो सम्भव है कि किसी भी धर्मग्रन्थ पर लागू नहीं होती। क्योकि सभी धर्मग्रन्थों को पढा भी जाता है और उनके आधार पर ही प्रवचन भी होते रहते हैं। अतः उन्हें पूजा या रटने की पुस्तक मानना लेखक की सर्वथा मिथ्या धारणा है। धर्मोधारयते प्रजाः, धारणाद् धर्म इत्याहुः इत्यादि निर्वचनो से भी यही स्पष्ट होता है कि धर्म धारण करने वाले गुणों का नाम है, जो प्रजा को मर्यादित रखते हैं। धर्म कोई पूजा व रटने की वस्तु नहीं है। इसलिये धर्मग्रन्थों की परिभाषा जो लेखक ने ही की है वह सर्वथा निराधार है।

४—वेदों पर पहला पर्दा तब पड़ा, जब उन्हें यज्ञो का उपकरण बना दिया गया, पर असली नुकसान वेदों को तब झेलना पड़ा, जब उन्हें ईश्वरीय रचना कह दिया गया, स्वतः प्रमाण मान लिया गया और सृष्टि के समय लिखा प्रचारित किया गया।

समीक्षा :—अरबों वर्षों से वेदों को ईश्वरीय, स्वतःप्रमाण और सब सत्य विद्याओ की पुस्तक माना जाता रहा है। समस्त वैदिक वाङ्मय में इस तथ्य को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है। महाभारत के पश्चात् कुछ व्यक्तियों ने वेदों को यज्ञ का ही विषय अथवा संस्कारो का विषय बनाकर वेदों का क्षेत्र सीमित कर दिया, इसमें वेदो का क्या दोष, यह तो उन व्यक्तियों का ही दोष है, जिन्होंने वेदों को ठीक से नहीं समझा है। ठीक ही कहा है—

नैव स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ॥

अर्थात् यदि कोई अन्धा व्यक्ति जाता हुआ किसी स्थाणु-वृक्ष या खम्बे से टकरा जाता है तो इसमे स्थाणु का दोष नहीं हैं। और वेद ससार के पुस्तकालय की पहली पुस्तक है, यह विश्व के सभी विद्वान् एकमत से मान रहे हैं तथा वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है यह भी अब निर्विरोध बात हो गई है। अब रही बात ईश्वरीय रचना की, इस विषय में प्रथम तो लेखक को कुरान व बाईबिल को धर्मग्रन्थ मानते हुए विचार करनी चाहिए थी यदि खुदा का पैगाम या ईसामसीह का सन्देश होने पर भी यदि बाईबिल व कुरान धर्मग्रन्थ रह सकते हैं, तो लेखक को वेदों पर आपत्ति क्यो हो रही है। और आज भी ज्ञान-विज्ञान का क्या कितना भी विकास हो चुका है, तो भी बिना पढाये कोई विद्वान् नहीं बन सकता, फिर सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के ज्ञान न देने पर ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता था ? जो ईश्वर सृष्टि को बनाता है, रक्षादि कार्य करता है, और सब को कर्मानुरूप सुखःदुःख की व्यवस्था भी करता है, क्या वह अपने सविधान रूप ज्ञान का प्रकाश बिना किये ही पाप-पुण्य की व्यवस्था कर सकता था ? क्या कोई लौकिक राजा या न्यायाधीश बिना सविधान के ही दण्ड की व्यवस्था कर सकते हैं ? फिर परमेश्वर के विषय में आशंका क्यों ? और इससे वेदों का क्या नुकसान हो गया, वह तो लेखक भी नहीं लिख सका। इससे प्रतीत होता है कि लेखक का आशय दुरभिसन्धि पूर्ण होने से कलुषित हृदय की कालिमा को ही प्रकट कर रहा है जो वह निराधार, तथ्यविहीन मिथ्या दोषारोपण करने का साहस करने लगा है।

५— इसमे भला वेदों का क्या कसूर ? वे तो खुद को संहिता या संकलन मानते हैं और संकलन जाहिर है बिखरी हुई चीजों को समेटने का नाम है।

समीक्षा :—यहां तो लेखक ने पाश्चात्य विद्वानों के बौद्धिक प्रभाव को ही स्पष्ट रूप में प्रकट कर दिया है। जिससे स्पष्ट है लेखक का वेद-विषय में प्राथमिक स्तर का भी ज्ञान नहीं है, पुनरपि वेदों को धर्मग्रन्थ न होने का दावा प्रस्तुत कर दिया है। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाये कि वेद एक संकलन ही है तो भी धर्मग्रन्थ है या नही, इससे क्या अभिप्राय निकला, यह तो लेखक ही जा, परन्तु इससे उनके पूर्वाग्रह ग्रस्तता का पता लगता है। अन्यथा यदि सिखों के धर्मग्रन्थ को, जिसमें विभिन्न सन्तो की वाणियों का ही सग्रह हैं, धर्मग्रन्थ मान सकता है, तो वेदों पर आक्षेप क्यों ?

और वेदो को सकलन मानना भी अज्ञान ग्रस्तता ही है। लेखक ने पता नहीं किस कोष में पढ़कर "सहिता" शब्द का संकलन अर्थ किया है। यथार्थ में पाश्चात्य विद्वानों की महाभ्रान्ति का प्रभाव लेखक पर हुआ है। वेद में स्थान-स्थान पर विभिन्न ऋषियों के नामों का उल्लेख मिलता है जिनसे उन्हे भ्रम हुआ है वे ऋषि मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार करने वाले थे, न कि रचना करने वाले। वेद की पुस्तकों पर "संहिता" शब्द लिखा मिलता है, जिसका अर्थ यह है—

परः सन्निकर्षः संहिता ॥ (महर्षि पाणिनि)

पद प्रकृतिः संहिता ॥ (महर्षि यास्क)

अर्थात् संहिता सन्धि को कहते हैं और वैदिक वाङ्मय में जो पद-पाठ

(शेष पृष्ठ ९ पर)



समाज सेवी श्री सहगल का अभिनन्दन

नई दिल्ली, वयोवृद्ध आर्य नेता श्री रामनाथ सहगल का उनके ९६वें जन्म दिवस के अवसर पर केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् द्वारा ११ मार्च को फिक्की सभागार में आयोजित एक समारोह में सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। समारोह की अध्यक्षता प्रख्यात न्यायविद् व ब्रिटेन में भारत के नव-नियुक्त उच्चायुक्त श्री लक्ष्मीमल सिंघवी ने की।

श्री सिंघवी ने श्री सहगल को सेवा, त्याग व निष्ठ का प्रतीक बताया। उन्होंने कहा कि आज हम श्री सहगल का अभिनन्दन कर स्वय गौरवान्वित हो रहे हैं। और श्री सहगल आर्य जगत के आभूषण हैं, रत्न हैं।

पूर्व सांसद श्री विजय कुमार मल्होत्रा, श्री रामचन्द्र विकल, भाजपा महामन्त्री श्री केदारनाथ साहनी, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री सूर्यदेव, लब्ध प्रतिष्ठि पत्रकार प० क्षितीश वेदालकार, दिल्ली आर्य महिला सभा की श्रीमती मंत्राणी कृष्णा चड्ढा, एव डी.ए.वी. शिक्षण सस्थानों के प्राचार्यों ने माल्यार्पण द्वारा श्री सहगल का अभिनन्दन किया एवं उनके शतायु होने की कामना की।

समारोह में सेवाव्रती श्री सहगल को परिषद अध्यक्ष श्री अनिल आर्य व प्राचार्य आर्य वीर मल्ला ने २ लाख ११ हजार की थैली भेंट की और उन्होंने ११ हजार, १११ रुपये अपनी ओर से मिला कर सारी राशि युवक निर्माण के लिए दे दी।

अपने अभिनन्दन के प्रति आभार व्यक्त करते हुए श्री सहगल ने भविष्य में ८-१० घण्टे के स्थान पर १०-१२ घण्टे प्रति दिन समाज सेवा का व्रत लिया।

कार्यक्रम सत्यप्रकाश जी के आशीर्वचन, शान्ति पाठ से सम्पन्न हुआ।

आर्य सन्देश साप्ताहिक के स्वामित्व के सम्बन्ध में विवरण

फार्म-४

(प्रपत्र नियम ८)

१. प्रकाशन का स्थान	१५, हनुमान रोड नई दिल्ली-१
२. प्रकाशन अवधि	साप्ताहिक
३. मुद्रक का नाम	सूर्यदेव
राष्ट्रीयता	भारतीय
४. प्रकाशक का नाम	सूर्यदेव
५. पता	दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-१
६ सम्पादक का नाम	सूर्यदेव
राष्ट्रीयता	भारतीय
७. पत्र का स्वामित्व किसके पास है	दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

मैं सूर्यदेव घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

—सूर्यदेव

गुरुकुल वार्षिकोत्सव...

(पृष्ठ एक का शेष)

अवसर पर आर्य विद्वानों व सन्यासियो के विविध प्रवचन और भाषण सुनने को मिलेंगे। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्द बोध जी, स्वामी ओमानन्द जी श्री वन्दे मातरम् जी तथा ओजस्वी वक्ता श्री क्षितीश वेदालकार, आचार्य प्रियव्रत वाचस्पति, प्रो० शेर सिंह, श्री वीरेन्द्र, डा० धर्मपाल, श्री सूर्यदेव, डा० प्रशान्त कुमार वेदालकार, डा० श्याम सिंह शशि, श्री रमानाथ अवस्थी, विनय चन्द्र मुद्गल आदि आर्य नेता पधार रहे हैं। आशा है आर्य जन अधिक से अधिक सख्या मे पधार कर पुण्य के भागी बनेंगे। और कुलवासियों के उत्साह को बढ़ायेंगे।

इस वर्ष गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री सुभाष चन्द जी विद्यालकार ने गुरुकुल के पाठ्यक्रम के एकीकरण पर विचार करने के लिए एक संगोष्ठी का भी आयोजन किया है। स्वामी श्रद्धानन्द ने आज से ९१ वर्ष पूर्व जिस स्थान पर गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय को स्थापित किया था उस स्थान का भी पुनरुद्धार कर दिया गया है। गंगा की दो धारायें पार करने के पश्चात् उस स्थान तक पहुचा जा सकता है। पर अब इस वर्ष ऐसी व्यवस्था हो गई है कि कारों और जीपों से मुख्य भवन तक पहुच सकते हैं। सभी आर्य भाई-बहनों से निवेदन है कि स्वामी श्रद्धानन्द के इस भव्य स्मारक को देखने अवश्य आए।

—डा० दीनानाथ शर्मा (मुख्याधिष्ठाता)

वेदों को धर्मग्रन्थ...

(पृष्ठ चार का शेष)

किये हैं उनकी मूल प्रकृति ये संहिता पाठ (सन्धिकृत पाठ) हैं। संहिता शब्द का बिखरे हुए का संकलन अर्थ कदापि नहीं हो सकता।

६—श्रेष्ठ कविताओ का साम्प्रदायिक धर्म से क्या वास्ता। इसलिये वैदिक सूक्तों का विषय भी धर्म नहीं है।

समीक्षा :—कोई भी भाषा हो वह मानव के भावो की अभिव्यक्ति ही होती है। और भाषा के गद्य और पद्य दो रूप होते है। जैसे व्यक्ति गद्य मे अपने भावो की अभिव्यक्ति कर सकता है उसी प्रकार (पद्य) कविता में भी कर सकता है वेद क्योंकि काव्यरूप है इसलिये उन्हें धार्मिक न मानना लेखक की महाभ्रान्ति है। हां, यह तो लेखक ने भी सत्य को स्वीकार किया परोक्षरूप मे कि वेद धार्मिक पुस्तक तो हैं, किन्तु साम्प्रदायिक धर्म रूप नहीं। क्योंकि "सम्प्रदाय" उसे कहते हैं जो गुरुडम होता है, जो किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा चलाया जाता है। क्योंकि वेदों में ऐसा नहीं है वेद तो सार्वभौम ईश्वरीय ज्ञान है, अत वह साम्प्रदायिक पुस्तक तो नहीं है, किन्तु शाश्वत, निर्भ्रान्त सत्यधर्म की पुस्तक अवश्य है।

इत्यादि बातों के अतिरिक्त भी लेखक ने वेदो पर कीचड़ फेंकने की कुचेष्टा की है, जो कि कदापि क्षम्य नहीं है। महर्षि दयानन्द आधुनिक युग में महान् वेदों के उद्धारक हुए हैं, उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अन्ध-भक्त समस्त भारतीय विद्वानों के द्वारा वेदो पर लगाये दोषो का समूल उन्मूलन करके विमल वेद विद्या का प्रकाश हमें देकर महान उपकार किया है। उनके भक्त वैदिक विद्वान् आप सदृश पाश्चात्य विद्वानो के उच्छिष्ट भोगियो की समस्त शंकाओं का उन्मूलन करने में समर्थ रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। ये कीचड़ आप ने ही नहीं कितने विद्या द्रोहियो ने वेदों पर फेंकी है। किन्तु सदा यह स्मरण रखिये-सूर्य की तरफ मुंह करके थूकने वाले की भ्रान्ति जो सत्य-प्रकाश का भी विरोध करता है उसको बुद्धिजीवी तो क्या, मनुष्य कहने मे भी सकोच ही होता है। अत: आप प्रथम स्वय वेदों का आग्रह रहित होकर स्वाध्याय करें और फिर सत्यासत्य का विवेक कर मनुष्यता का परिचय देंगे ऐसी हमे आशा है। आप तो सूर्यकान्त सूर्यरूप प्रभा वाले होकर भी कहां घोर अन्धकार गुफा के कोने में बैठे हुए हो।

—राजवीर शास्त्री

सम्पादक—'दयानन्द सन्देश'

सीताष्टमी पर्व सम्पन्न

दक्षिणी दिल्ली आर्य महिला मण्डल के तत्वावधान में सीताष्टमी का पावन पर्व, आर्य समाज लाजपत नगर मे बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। स्त्री आर्य समाजो की प्रतिनिधि बहनों ने माता सीता की विरुदावली का गायन करते हुए कविताओ एव गीतो द्वारा उन्हें श्रद्धाजलि दी। उनके आदर्श चरित्र के कारण आज भारतीय सस्कृति गौरवान्वित है। श्रीमती शकुन्तला आर्या ने आज की ज्वलन्त समस्याओ पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आज देश साम्प्रदायिकता और अलगाववाद की चक्की में बुरी तरह से पिस रहा है। जिस प्रकार माता सीता ने "माता निर्माता भवति" की उक्ति को चरितार्थ करते हुए लव-कुश का निर्माण किया था, जिन्होने अश्वमेध यज्ञ के घोडे को पकड़ने कि सदर्भ में अपने पौरुष का परिचय देकर लक्ष्मण को छठी का दूध याद कराया था, उसी प्रकार आज भी नारी वर्ग अपने इसी उत्तरदायित्व का वहन करते हुए संतानो को योग्य और पराक्रमी बना कर देश द्रोहियो के सपनो को धूमिल करने में योगदान दें। यही राष्ट्र की बहुत बड़ी समयानुकूल सेवा है। —कृष्ण ठुकराल

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज सीसामऊ (कानपुर) का वार्षिक निर्वाचन सर्व सम्मति से सम्पन्न हुआ। निम्न अधिकारी चुने गये—

प्रधान—श्री लक्ष्मण कुमार जी शास्त्री

मन्त्री—श्री सुधीन्द्र कुमार जी शास्त्री

कोषाध्यक्ष—श्री वेदपाल जी

आर्य समाज सोहसराय (नालन्दा) में कान्तिकारी-प्रवचन

दिनांक १०, ११ एव १२ मार्च ९१ को बिहार के नालन्दा जिलान्तर्गत सोहसराय नगर में स्थानीय आर्य समाज के तत्वावधान मे तीन दिनो का "क्रान्तिकारी-प्रवचन" स्वामी अग्निव्रत (डा० देवेन्द्र सत्यार्थी) का आयोजित किया गया महर्षि स्वामी दयानन्द का ऐतिहासिक मूल्यांकन एव आर्य समाज द्वारा स्वाधीनता सग्राम में योगदान की चर्चा हजारों लोगों ने सभा मे उपस्थित होकर सुनी। उपस्थित जनता पर इस प्रेरणादायी प्रवचन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। आर्य समाज मन्दिर के प्रांगण में यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

—हरिहर प्रसाद, मन्त्री

स्वामी आनन्द बोध के आह्वान पर पांच व्यक्तियों ने वानप्रस्थ ग्रहण किया

—बिहार राज्य अन्तर्गत नालन्दा जिले के मुसाढी ग्राम के स्थानीय आर्य समाज के ३४वें वार्षिकोत्सव के शुभावसर पर (जो दिनांक १, २ एव ३ मार्च १९९१ को आयोजित हुआ,) पाच आर्य पुरुषों ने वानप्रस्थ की दीक्षा ली। इनका नाम निम्न प्रकार से रखा गया —

१ डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी	अग्निव्रत वानप्रस्थ
२. राम वृक्ष 'आर्य पथिक'	सदानन्द वानप्रस्थ
३ रामवृत सिंह आर्य	ज्ञानव्रत वानप्रस्थ
४. राम लखन गिरी	म० राम लखन गिरी
५. शिवबालक पण्डित	शिवव्रत वानप्रस्थ

—बिहार राज्य आर्य प्र० सभा के नवनिर्मित भवन के उद्घाटन समारोह में सार्वदेशिक आर्य प्र० सभा के पूज्य प्रधान स्वामी आनन्द बोध जी ने लोगो से वानप्रस्थ लेने को अपील की थी। यह उत्सव होली एव नवसवत्सरोत्सव के अवसर पर मनाया गया। इसमें स्वामी ब्रह्मानन्द नैष्ठिक तपोवन आश्रम देहरादून, पं० महावीर सिंह आर्य भजनोपदेशक पटना सिटी एव श्रीमती विजयावती आर्या (मुगेर) ने भाग लिया।

जहाँ होली के अवसर पर शराब का दौर चलता था, वहां सत्सग की धारा बह गयी, २१ बच्चो ने यज्ञोपवीत पहना और सात्विक जीवन बिताने का सकल्प लिया।

—शिव बालक सिंह आर्य मन्त्री

शोक समाचार

वयोवृद्ध वैदिक विद्वान पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय नहीं रहे

पण्डित विश्वनाथ वेदोपाध्याय जी नहीं रहे। दिनांक ११ मार्च १९९१ को प्रात ९.४० बजे उन्होने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। पिछले एक सप्ताह से वह रुग्ण थे। इस समय उनकी आयु १०३ वर्ष थी।

मृत्यु से एक सप्ताह पूर्व तक पण्डित जी ने लेखन कार्य किया। वह अथर्ववेद के पहले काण्ड का भाष्य प्रारम्भ करने वाले थे, उन्हें आशा थी कि वह छः माह में इसे पूर्ण कर लेंगे। २७ जनवरी, ९१ को इन पंक्तियों के लेखक से हुई भेंट में उन्होंने इच्छा व्यक्त की थी कि अथर्ववेद भाष्य उनके जीवन काल में पूर्ण होकर प्रकाशित हो जाये। काण्ड २ व ३ की पाण्डुलिपि तैयार है एवं शेष ४ से २० काण्ड तक का अथर्ववेद भाष्य कई खण्डों में रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत हरियाणा) से प्रकाशित एव प्राप्य है।

पण्डित जी गुरुकुल कांगड़ी (विश्वविद्यालय) के सुप्रसिद्ध स्नातक थे। आप यहाँ कि "विद्यालंकार" एव 'विद्यामार्तण्ड" मानोपाधि से सुभूषित थे। सन् १९१४ के दीक्षान्त - समारोह में प्रथम विभाग में सर्वप्रथम रहे। वैदिक साहित्य, सस्कृत-साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्व-योग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ सुवर्ण पदक और एक रजत पदक प्राप्त हुआ। आप सन् १९१४ में ही गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शन तथा वेद-विषय पढाते रहे, और सन् १९४२ मे वहा से सेवा मुक्त हुए। आपकी कृतियों का विवरण निम्न प्रकार है—

१— सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य
२— सन्ध्या-रहस्य
३ — वैदिक पशु-यज्ञ मीमांसा
४— वैदिक-जीवन
५— वैदिक गृहस्थाश्रम
६ — बाल सत्यार्थप्रकाश
७ — बाल ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका
८— अथर्ववेद-परिचय
९ — अथर्ववेद भाष्य (काण्ड ४ से २०)

इस अवसर पर हम ऋषि भक्तों का ध्यान शिरोमणि विद्वानों के जीवन में हमसे होने वाली उपेक्षा की ओर दिलाना चाहते हैं। हमने अनुभव किया है कि यदि पण्डित जी को वह सुविधायें जो विज्ञान ने आज प्रदान कर रखी हैं, सुलभ कराई गई होती तो अथर्ववेद का भाष्य अवश्य ही पूरा हो गया होता और अन्य कुछ ग्रन्थ और भी पण्डित जी लिख सकते थे। १०३ वर्ष की आयु में देहरादून जैसे शीत-प्रधान स्थान पर वह पिछले लगभग छः माह से लेखन कार्य नहीं कर सके थे। आवश्यकता थी कि उन्हें वातानुकूल एव सेवकों की सेवाएं सुलभ कराई जातीं। आर्य समाज मे वेद पूजा का जो स्वरूप बन गया है वह ऋषि प्रतिपादित विचारों से सर्व विपरित हैं। यह भी एक कारण है, आर्य समाज की प्रगति, प्रचार व प्रसार मे बाधक होने का। आशा है आर्य जन इस विद्वान की मृत्यु से शिक्षा ग्रहण कर भविष्य मे अपनी शिथिलताओ को दूर करेंगे। अन्त में हम ईश्वर से पण्डित जी की आत्मा को शान्ति व सद्गति प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं एवं उनके परिवार के सदस्यों को इस दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

मनमोहन कुमार आर्य

१७९-ब्लाक दो, चुक्खू वाला, देहरादून-२४८००१

सम्पादक के नाम पत्र

आदरणीय डा० धर्मपाल जी,

सादर नमस्ते। आशा है आप सभी स्वस्थ होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन की सफलता पर आपको हार्दिक बधाई। इस अवसर पर आपके आयोजन द्वारा अनेक महानुभावों के प्रवचन सुनने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। उसके लिए हार्दिक धन्यवाद। आपके द्वारा भेजे गए आर्य सन्देश के विशेषांक और स्मारिका प्राप्त हुए, पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई।

आशा है कि भविष्य में भी प्रचार हेतु, ऐसे भव्य सम्मेलन का आयोजन किया जाएगा।

—नीलम मिश्र, प्रिंसिपल, महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल राजौरी गार्डन, नई दिल्ली

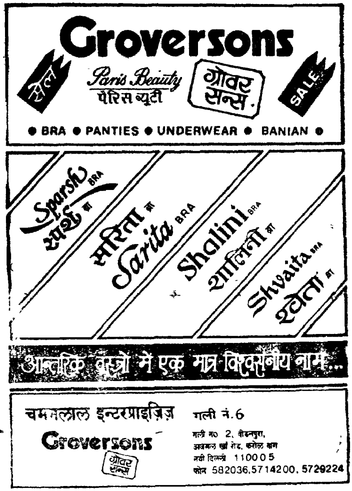
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित
वैदिक साहित्य

१.	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१.५०
२.	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२.००
३.	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३.००
४.	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४.००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६.	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५.००
७.	फ्लैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यप्रकाश वर्मा)	२ ००
८.	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२.००
९.	एनाटोमी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०.	आर्यों का आदि देश	,, ,,	२ ००
११.	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५.००
१२.	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	२ ००
१३.	चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
[illegible].	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५.००
१५.	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ में	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२०.००
१६.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(पं० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७.	हंसता चल, हंसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२०.	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२१.	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२२.	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकड़ा

नोट : उपरोक्त सभी पुस्तकों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नहीं लिया जाएगा।

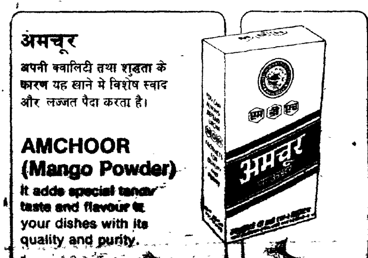
पुस्तक प्राप्ति स्थान : **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१









आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R N No 32387/77 Post in N D P.S.O on 28-29-3-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५१ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेंस नं० यू १३९

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ३१ मार्च, १९९१

पुरोहित की आवश्यकता

आर्य समाज राजनगर पालम कालोनी नई दिल्ली को एक वानप्रस्थ अथवा परिवार वाले (जिसमें दो या तीन सदस्य हों) पुरोहित की आवश्यकता है। आवास आर्य समाज में ही होगा। दक्षिणा हवन आदि से भी [illegible] किया जायेगा तुरन्त सम्पर्क करें।

लेफ्टीनेन्ट [illegible] सिंह [illegible]

आर जेड ३६ /आई-२२ राजनगर पार्ट १ पालम कालोनी नई दिल्ली-४५

आर्ष साहित्य

पूज्या मीरा यति जी वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर हरिद्वार निरन्तर वाणी और लेखनी से वैदिक धर्म की सेवा कर रही हैं। वे अपना साहित्य निःशुल्क वितरित करती हैं। इस वर्ष निम्न पुस्तकें तैयार हुई हैं—

संस्कार मणि—मनुष्य का निर्माण कैसे होता है।

साधना पथ—कैसे साधना करें।

ब्रह्म यज्ञ—काव्यात्मक रूप

[illegible]

पाठकों से विनम्र निवेदन है कि डाक से मंगाने वाले १० रुपये मनीआर्डर द्वारा डाक व्यय के लिए भेज दें। जो व्यक्तिगत रूप से लेना चाहें, वे आश्रम में आकर ले जायें।

—वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर, हरिद्वार

विश्व शान्ति सामवेद यज्ञ सम्पन्न

डा० बलदेव कोशल बाल ज्योति आर्य [illegible] स्कूल, पश्चिम विहार, नई दिल्ली में १५ मार्च १९९१ को श्रीमती प्रकाश आर्या जी के जन्मदिवस के उपलक्ष में विश्व शान्ति [illegible] का आयोजन डा० धर्मपाल द्वारा समारोह पूर्वक किया गया। सार्वदेशिक [illegible] प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने आशीर्वाद देते हुए विद्यालय की प्रगति की सराहना की और कहा कि विद्या दान के इस महायज्ञ में श्रीमती प्रकाश आर्या का रात-दिन का परिश्रम सदैव याद किया जायेगा। आचार्य यशपाल सुधांशु यज्ञ के ब्रह्मा थे। आचार्य जी ने श्रीमती प्रकाश आर्या की दीर्घायु के लिए शुभकामनायें व्यक्त की तथा आशीर्वाद दिया। इस अवसर पर अन्य अनेक भाई बहनों ने भी अपनी शुभकामनाएं दीं। इस अवसर पर नन्हें मुन्ने बच्चों के सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किए गये।

—प्रकाश आर्या [illegible]

महर्षि दयानन्द शिला निर्माण

[illegible] (प्रोक्षा सागर) पर महर्षि दयानन्द शिला निर्माण हेतु शिलान्यास मकर संक्रांति के दिन १४ जनवरी १९९१ को पूर्ण [illegible] की [illegible] गुड़िया के हाथों सम्पन्न हुआ।

—[illegible] वर्मा चौहान



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन: २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन: [illegible]

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५१)

साप्ताहिक ओ३म्

आर्य सन्देश

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वर्ष १४, अंक २२ | रविवार, ७ अप्रैल, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

दीन हीन जनों के कल्याण में संलग्न दानवीर महाशय धर्मपाल

—स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

सरल सहज स्वभाव के धनी महाशय धर्मपाल का जन्म ६८ वर्ष पूर्व २७ मार्च को स्याल कोट पाकिस्तान में हुआ था। उनके पिताजी उनकी उंगली पकड़ कर उन्हें आर्य समाज मंदिर ले जाते थे। आर्यसमाज के संस्कार उन्हें घुट्टी मे मिले इसीलिए वे महर्षि दयानन्द सरस्वती को अपना गुरू व प्रेरक मानते हैं। महाशय जी अपने माता-पिता को श्रद्धा एव सम्मान से स्मरण करते हैं। अथक परिश्रम के बल पर उन्होंने एक बहुत बड़ा व्यापार दिल्ली में खड़ा किया। इस विशाल व्यापारिक संस्थान को खड़ा करने मे उन्होने न जाने कितनी कठिनाईयां भी झेली होंगी। परन्तु उनका मुस्कराता हुआ चेहरा बताता है कि वे कभी न घबराए और न ही थके।



(महाशय धर्मपाल जी)

महाशय धर्मपाल लम्बे समय से आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के प्रधान हैं। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपप्रधान हैं। गुरुकुल,कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार के प्रबन्ध निदेशक हैं। समर्थ शिक्षा समिति के कोषाध्यक्ष हैं। महाशय चुन्नीलाल ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं। इस प्रकार की संस्थाओं की सूची बहुत लम्बी है। निर्धन असहायों की सेवा के लिए जनकपुरी मे बनाया गया करोड़ों की लागत से अभी भी बनता आ रहा माता चन्ननदेवी आर्य नेत्र चिकित्सालय उनकी उदारता एव दानी स्वभाव का कीर्तिमान है। ऐसी ही संस्था आर्यसमाज सुभाष नगर में भी चलती रही। एक चलते फिरते अस्पताल की भी स्थापना स्कूली छात्रों और ग्रामीण जनता के लिए उन्होने प्रारम्भ की हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में भी महाशय जी का योगदान अप्रतिम है। पिताजी के नाम पर हरि नगर में एक सीनियर सैकेण्डरी स्कूल चल रहा हैं। धर्मपत्नी श्रीमती लीलावती के नाम से टैगोर गार्डन मे एक सीनियर सैकेण्डरी स्कूल चल रहा है। उनके स्वय के नाम पर जनकपुरी और सुभाष नगर में स्कूल चल रहे हैं। ऐसे स्कूलो की संख्या-४८ है।

महाशय धर्मपाल शाकाहारी, प्रतिदिन यज्ञ हवन करने वाले तथा ईश्वर भक्ति मे संलग्न अपने नाम को सार्थक करने हैं। उनकी फैक्टरी में प्रातःकाल और सायकाल यज्ञ एव कथा का आयोजन होता है। वे स्वय भी प्रभु गीत गाते हुए आनन्द मग्न हो जाते हैं। ये उद्गार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती जी ने २७ मार्च १९९१ को आयोजित उनके जन्म दिवस समारोह मे व्यक्त किये। इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, महामन्त्री श्री सूर्यदेव, आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री, आर्य विद्या सभा गुरुकुल कांगड़ी के मन्त्री प्रो० प्रकाशवीर शास्त्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महोपदेशक आचार्य रामकिशोर वैद्य अन्तर्राष्ट्रीय कथाकार पं० यशपाल सुधांशु एव प० प्रेमचन्द श्रीधर, समर्थ शिक्षा समिति के श्री लक्ष्मीचद और दिल्ली की आर्यसमाजो एव अन्य समाजसेवी संस्थाओ के अधिकारियो ने महाशय जी के जन्मदिन पर उनका अभिनन्दन किया।

स्वामी आनन्द बोध सरस्वती द्वारा पंजाब और काश्मीर में चुनाव का विरोध

—सच्चिदानन्द शास्त्री

दिल्ली ३० मार्च। आगामी लोक सभा के चुनाव के साथ-साथ पजाब काश्मीर तथा असम मे प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव कराये जाने सम्बन्धी समाचारों पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा—पंजाब और काश्मीर में पाकिस्तान खुले रूप में आतकवादियों और अलगाव वादियो की सहायता कर रहा है, पंजाब के राज्यपाल की हत्या की कई बार चेष्टायें हो चुकी हैं, बेगुनाह हिन्दुओ की सामूहिक हत्यायें बराबर जारी हैं। इन हालातों में भी यदि कोई राजनेता पजाब, काश्मीर आदि में चुनाव कराने की बात करता है तो पूरे देश मे गृहयुद्ध की स्थिति पैदा हो जायेगी, इसकी जिम्मेदारी उन लोगों पर पड़ेगी जो वहां चुनाव का समर्थन कर रहे हैं।

स्वामी जी ने कहा वोटों की खातिर उग्रवादियों को खुश करने का परिणाम सर्वप्रथम पंजाब, विधान सभा बनते ही खालिस्तान का प्रस्ताव होगा।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कहा देश के प्रमुख राजनीतिक दल-कांग्रेस भारतीय जनता पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी भी पंजाब काश्मीर आदि में चुनाव के पक्ष मे नहीं है।

उन्होने कहा आर्य समाज, जो कभी भी सत्ता अथवा राजनीति का लोलु नहीं रहा है, और जिसने राष्ट्र की सेवा निःस्वार्थ भाव से करते हुए बड़े-बडे बलिदान दिए हैं, वह पंजाब-काश्मीर ने चुनाव का कड़ा विरोध करता है।

स्वामी जी भारत के राष्ट्रपति जी से अपील की कि वे अपने विवेक से इन गम्भीर परिस्थितियों मे राष्ट्र को बचावे। पजाब मे चुनाव कराने के विषय मे वह पंजाब के राष्ट्रवादी सिक्खों, पजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, सनातन धर्म सभा, सत निरंकारी मिशन, राधा स्वामी मिशन, जैन समाज तथा पजाब की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओ की बैठक बुलाकर उसका कोई सर्वसम्मत समाधान निकालें अन्यथा पजाब में इस समय चुनाव कराना देश को गृह युद्ध के कगार पर खड़ा कर देगा।

प्रचार विभाग सार्वदेशिक सभा, दिल्ली

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

जगन्नाथ की वास्तविक आराधना

—श्री भैरव दत्त शुक्ल

प्राक्कथन—नील गगन का चमकीला नक्षत्र-मंडल, हरित शस्य श्यामला वसुंधरा के वक्षस्थल पर किलोल करते कृमि-कीट वर्ग से लेकर मानव तक समस्त प्राणि-समूह, प्रकृति नटी का प्रतिपल परिवर्तित कण-कण और अनन्त गतिशील प्रत्येक क्षण विशिष्ट नियमो की परिधि में सिमटा है। यही नहीं, बड़ पाषाण-खण्डों से लेकर चेतना के सारे रूप-स्वरूप तक सहज सुरक्षा की भावना का परिपालन हो रहा है। इन सब का स्वामी ही तो जगन्नाथ है, परब्रह्म परमेश्वर है। उसकी नियमिका शक्ति, संचालिका सामर्थ्य और न्याय-परिपालिका विवेक-संवलित क्षमता के प्रति प्रज्ञाशील सभ्य सुसंस्कृत मानव का कृतज्ञता-ज्ञापन करना, परमपिता ज्ञान-स्वरूप, आनन्द-सिंधु करुणाकर के प्रति श्रद्धा-विगलित स्वर में सन्त-गृहस्थ का आराधना-रत होना और शांति के संस्थापक एकमेव स्रष्टा के प्रति आर्य-सन्तानो का विनत-विनम्र बने रहना आवश्यक-अनिवार्य कर्त्तव्य है। इसे छोड़ या तोड़ देने से और चाहे कुछ न हो परन्तु संस्कार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, पारस्परिक सम-भाव के स्थान पर कलह-कुचालों का बुरा क्रम हावी हो जाता है और परोपकार के स्थान पर स्वार्थों की आंधियां उठने-उमड़ने लगती हैं।

इसीलिए हमें प्रातः और सायं सन्ध्या करने की आवश्यकता पड़ती है, प्राणायाम-आसन का सहारा लेकर यम-नियमों का पालन करना पड़ता है और योग-मार्ग के माध्यम से मोक्ष के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की साधना पालनी पड़ती है। हमारी उपासना मंत्रो के सहारे चलती है; मनन शील होती है। उसमें अनर्गल आलाप के लिए कोई स्थान नहीं होता, व्याकुल-विह्वल कर देने वाले करुण विलाप के निराशावाद की रंच मात्र भी अपेक्षा नहीं होती और स्वस्थ आशावाद का अमृत प्रवाहित होता रहता है।

वेदो मे परमेश्वर की उपासना के प्रकार बतलाये गये हैं। उसी की बानगी के लिए प्रस्तुत है एक ऋचा—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—ऋग्वेद, १०।१२१।२३

इसे हम सरल शब्दों मे यों प्रकट कर सकते हैं—(यः आत्मदा) जो प्राणि-हित के लिए स्वयं को प्रदान किये हुए है, (बलदा) जो शक्ति-दाता है, (विश्वे) संसार की परिधि में सम्मिलित समस्त जीव (यस्य उपासते) जिसको उपासना करते हैं, लेकिन (देवाः) विबुध-विद्वज्जन (यस्य प्रशिषं) जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, (यस्यच्छाया) जिसके द्वारा सपादित छेदन-भेदन अथवा दण्ड और (यस्य मृत्युः) जिससे उपलब्ध मृत्यु भी (अमृतम्) जीव की अमरता के लिए है; (कस्मै देवाय) उस सुख-स्वरूप, आनन्द-निधान, सर्व सुविधा प्रदायक प्रभु की हम (हविषा विधेम) आत्म-दान द्वारा पूजा करें, उपासना करें।

(१) आत्मदा—मन्त्र के प्रारम्भ मे ही सूचित कर दिया गया है कि वह प्रभु 'आत्मदा' है वह पर ब्रह्म जगदीश्वर पूरी तौर से निःस्वार्थ भाव से प्राणि-समूह के उपकार के हितार्थ सृष्टि की सर्जना करता है, परिचालना मे तत्पर रहता है, उसे संभाले रहता है और अन्ततः विश्राम के लिए प्रलय की सुमधुर रजनी की अवतारणा भी करता है। कर्म और योग्यता के आधार पर विश्व के समस्त प्राणियो में समुचित साधनो की वर्षा करता है, सुविधाओं के अम्बार लगाता है, विकास और उत्थान के असंख्य अवसर प्रदान करता है। यही नहीं, जो प्रारम्भ में अशक्त-अक्षम प्रतीत होते हैं, उन्हीं को उन्नति की ओर गतिशील होने के लिए प्रबल प्रेरणा देता है।

उस प्रभु का कोई भी कार्य अपने लिए नहीं है। उसकी तो एक-एक क्रिया, एक एक व्यापार सर्वोपकार के समष्टिपरक अनुष्ठान पर न्यौछावर है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने-प्राणि-परिपालन और एकमेव सर्वहित के लिए अपने को सर्वतो-भावेन समर्पित कर रखा है।

इसीलिए जो भी उस परमेश्वर के सच्चे भक्त होते हैं, जिन्हें उसकी आराधना करनी होती है, वे अपने प्रभु के ही समान अपने को जन-हित पर अर्पित कर देते हैं। अपने आप बिना किसी विवशता या निमन्त्रण के तरह-तरह के कष्ट-कटकों का वरण करते हुए और आपत्ति-आधियों के निर्मम प्रहार झेलते हुए अपने-हृदय का एक-एक स्पन्दन प्राजापत्य याग में सहर्ष आहुत करते रहते हैं। ऐसे ही महामानव 'नर'—स्वार्थ में न रमने वाले और जन-समूह को सतत प्रगति गामी बनाने वाले (नृनि-से चलना) होते हैं। उनमें शोषण-उत्पीड़न की तो गंध तक नहीं मिल सकती।

(२) बलदा—वह ईश्वर अपने अनुचर जीवात्मा के साहाय्य के रूप में उसे पराश्रित नहीं बनने देता। वह उसे बल उपलब्ध करा देता है। उसमें आन्तरिक शक्ति-तत्त्व प्रविष्ट कराकर, वह उसे बाह्य शक्ति-सम्पन्न भी करता है। वह उसका हाथ नहीं पकड़ता, उसे गोद में भी नहीं लेता, वरन् उसे प्रगति-पथ पर चलने का आत्मनिर्भर अभ्यासी बना देता है, अकर्मण्यता की संकीर्णता से निकाल कर, उत्थान के सोपानों के माध्यम से अभ्युदय और निःश्रेयस् का पथिक बना डालता है और तरह-तरह के अवरोधों से भिड़ने-निपटने और उन्हें विनष्ट करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। प्रभु की करुणा और दया यदि जीवात्मा को अपने पैरों पर खड़ा होना न सिखा पाये तो उसे निष्ठुरता ही माना जायगा। यदि वह उसे पतन, अधोगति या अभाव से सर्वथा दूर ही रक्खे तो अनुभव-विभव से सदैव रिक्त बने रहने की आशंका हो सकती है।

इसीलिए परमेश्वर के साहाय्य की यही सही विधि है कि वह जीवात्मा को बल प्रदान करता है, हर समस्या से निपटने की क्षमता देता है। और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर खोजने के मनन, चिन्तन, धारणा, मेधा प्रभृति उपकरण उपलब्ध कराता है। हो सकता है कि उन्नति-कामी जीव पदे-पदे बाधाओं के व्यूह में खो जाये-दायित्व-भारों की दुर्बलता से व्यग्रवंह-बेचैन हो जाये, वीथि-पथ कटकका कीर्ण और जटिल-विषम बन कर उसे पलायनोन्मुखता की ओर मोड़ने के प्रयास करें, तरह-तरह के आघात-प्रहार आहत कर डालें परन्तु वह अपना उत्साह नहीं खोता, विवेक नहीं गवाता और मनन-चिन्तन की सुरापगा में तैरते हुए, व्यवहार के ठोस धरातल पर पैर टिका कर अपने परम साध्य की ओर देखना विस्तृत नहीं कर पाता।

इस दृष्टि से जो आस्तिक हैं, उन्हें औरों की सहायता करने में यही प्रयत्न रखना चाहिए कि जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की सहायता की जा रही है, वह औरों पर निर्भर न होने पाये और अपने पैरों पर खड़ा हो जावे। 'दान' वृत्ति कितनी सुन्दर और कल्याणकारिणी होती है। परन्तु सहायता के खोटे प्रकार के कारण उसका सही प्रयोग नहीं किया जाता। इसी कारण से भारत—जो सारे संसार के पालन-पोषण की अकूत क्षमता और प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा से पूर्ण है, भिक्षा-वृत्ति का भयावह अड्डा बना हुआ है और अपने से छोटे देशों के आगे हाथ फैलाता दिखायी देता है। दान की कुत्सित परम्परा से ही बनवाये गये कुए कूड़ों से भरे जाते हैं, छोड़े गये सांड भूखे-प्यासे रह कर सड़कों पर डंडे खाते फिरते हैं, धर्मशालाएं या तो अनाचार के केन्द्रों मे बदल जाती हैं या स्वार्थी लोगों की जीविका या कर-वंचना की सहायिका बनती हैं और सम्मानास्पद सचेतन सुयोग्य कन्या-रत्नो का वस्तु या पशु के समान दान किया जाता है जिसका और भी गर्हित रूप कन्या-विक्रय की घृणा प्रथा बनता है।

हम यदि ईश्वर-भक्त बनने का दम भरते हैं तो हमे चाहिए कि राष्ट्र मे भिक्षा-वृत्ति की विघातिनी परम्परा का उन्मूलन करें, सुदृढ़ पैरो, सबल भुजाओं और उन्नत-उर्वर मस्तिष्कों को योग्यता के अनुसार कार्य दें, लोक-चेतना में श्रम के प्रति आदर की भावना का समावेश करें, पगु-विपन्न व्यक्तियों को भी उन्नति के माध्यम दें, विद्या को निरर्थक न बनने दें और सम्पत्ति को शोषण-उत्पीड़न का साधन न होने दें।

प्रभु की आराधना का तात्पर्य ही है प्रभु-भक्तों में भाई-चारे की अनुभूति होना, समष्टि परक विकास का अनुगामी बनना और लोक-कल्याण की कलित पीठिका पर स्वार्थ का कलुष न फैलने देना। जब तक मानव अपने को हिन्दू-मुसलमान या ईसाई मानता है, स्पृश्य-अस्पृश्य के विभेद में उलझाता है, सवर्ण-अन्त्यज की अ-मना धारणा में फसाये हुए है, वर्ग-युद्ध, सम्प्रदाय-संघर्ष, जाति-विद्वेष और शोषण-उत्पीड़न का माध्यम मात्र बनाये हुए हैं; तब तक उसे प्रभु-भक्त नहीं माना जा सकता। (क्रमशः)

महाराजा अग्रसेन इन्टर कालेज
पो०—पिलखुवा, कोसी (उ० प्र०)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

वैशाखी

सम्पादकीय

वैशाखी पर्व का भारतवर्ष के इतिहास मे विशेष महत्व है। यह राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का प्रतीक पर्व है। यह सामाजिक एव धार्मिक समरसता को आत्मसात किए हुए है। यह पर्व चैत्र के उत्तरार्ध मे एव वैशाख के पूर्वार्ध में उस दिन मनाया जाता है, जिस दिन सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है। अंग्रेजी तिथि के अनुसार यह प्रतिवर्ष १३ अप्रैल को पड़ता है। शक संवत, ईसवी ईसवत्, अथवा अन्य कोई भी कलैण्डर जो सूर्य एवं पृथ्वी की गति से नियमित होता है, उसके अनुसार इसकी तिथि एवं दिन १३ अप्रैल को ही पडते हैं।

इस दिन का भारत वर्ष के स्वाधीनता सग्राम में भी विशेष महत्व रखता है। १९१९ में वैशाखी के दिन ही जलियांवाला बाग मे जनरल डायर के आदेश पर सैकड़ो, हजारों निरपराध भारतियों को मौत के घाट उतार दिया गया। वे सरकार के विरोध में एक जनसभा कर रहे थे। इसका प्रभाव भारतीय जनमानस मे एक नई ऊर्जा प्रदान करने वाला हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए भारतियों का उत्साह और अधिक बढ़ गया। जलियांवाला काण्ड के पश्चात् अमृतसर मे जब कांग्रेस का महाअधिवेशन होना था, उसके स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती बनाये गये। स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती ने अपने भाषण के द्वारा भारतीय लोगों से ओजस्वी वाणी में कहा था कि यदि अब सोते रहे तो भारत कभी स्वाधीन नही हो पायेगा और अंग्रेजो के अत्याचार इसी प्रकार हम लोगो पर होते रहेगे। यह भी उल्लेखनीय है कि स्वामी जी ने जिनका पूर्व नाम महात्मा मुंशी राम था, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना वैशाखी के अवसर पर ही की थी।

१३ अप्रैल १७४९ को सरदार जस्सासिंह अहलूवालिया ने अहमद शाह अब्दाली का विरोध किया था और पजाब को अफगान, साम्राज्य के अधीन होने से बचा लिया था। सन् १७७५ मे सिखो ने मुगलो से सघर्ष करके इसे मुस्लिम साम्राज्य होने से बचाया था। शेरे पजाब महाराजा रणजीत सिह का राजतिलक भी १८०१ में इसी दिन हुआ था। सन् १६९९ में गुरू गोबिन्द सिह ने आनन्दपुर मे खालसा पथ की शुरूआत भी इसी दिन की थी। यह बताते हैं कि बोद्ध गया में भगवान बुद्ध को बोध भी इसी दिन प्राप्त हुआ था। पजाब और पश्चिम भारत में यह दिन बड़े धूमधाम से, मनाया जाता है। लोग गंगा स्नान करते हैं। यद्यपि यह त्योहार किसी विशेष देवता से नही जुडा हुआ फिर भी इसे उल्लास पूर्वक मनाया जाता है। इसका कारण यही है कि इस समय रबि की फसल पक कर तैयार होती है और किसान मस्ती में झूम उठते हैं। भारत का कोई कोना ऐसा नहीं है, जहा पर यह पर्व उल्लास पूर्वक न मनाया जाता हो। चाहे महाराष्ट्र हो अथवा मालाबार, तमिलनाडु हो या उत्तर प्रदेश—सर्वत्र यह दिन मस्ती का दिन होता है। यह दिन राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का दिन है। हमारा कर्त्तव्य है है कि राष्ट्रीय एकता के समर्थन हेतु इस दिन को धूमधाम से मनाये।

—डा० धर्मपाल

माता मीरां यति द्वारा वेदप्रचार

माता मीरां यति वाणी और लेखनी दोनो माध्यमों से वेदप्रचार कार्य में अहर्निश सलग्न हैं। पिछले दिनों उन्होने दिल्ली की आर्यसमाजो, परिवारो और आश्रमों में वेद प्रचार किया। उनके प्रवचन रूप नगर, जवाहर नगर, जनकपुरी, न्यू राजेन्द्र नगर, पुरानी राजेन्द्र नगर, बहावलपुर, करोलबाग, ग्रेटर कैलाश और महिला आश्रम राजेन्द्र नगर में उनके ३५ प्रवचन हुए। —सम्पादक

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(३१ मार्च, ९१ के अक से आगे)

मेरा द्वितीय आश्रम प्रवेश

मेरा विवाह २४ अप्रैल १९५१ में हुआ। मैं चाहता था कि सस्कार वैदिक विधि से सम्पन्न हो। उस समय हमारे प्रान्त में प० रामसहाय जी शर्मा तथा प भद्रसेन जी ही पौरोहित्य कर्म में कुशल माने जाते थे। सयोग ऐसा हुआ कि प० रामसहाय जी तो उन दिनो इन्दौर चले गये और पं० भद्रसेन जी किसी अन्य विवाह में सम्मिलित होने का वचन दे चुके थे। अन्ततः मैंने प० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति से पत्राचार किया। उनसे मैंने निवेदन तो इतना ही किया था कि वे किसी उपयुक्त व्यक्ति का सुझाव दें जो विवाह सस्कार करा सके। उनका उत्तर आया कि वे स्वय ही इसके लिए जोधपुर आयेंगे। मेरी प्रसन्नता का क्या कहना। दिल्ली से राष्ट्रीय ख्याति का एक विद्वान् मेरा विवाह सम्पन्न कराने आये, इससे अधिक खुशी और क्या हो सकती थी। प० धर्मदेव जी निश्चित दिन जोधपुर आये। उनके निवास की व्यवस्था नगर आर्य समाज में ही हमने की। जब वे संस्कार कराने मेरे श्वसुर गृह पर आये तो ससुराल पक्ष के पुरोहित प० पुखराज भी उपस्थित थे। इधर तो प० धर्मदेव जी संस्कारोपयोगी सामग्री को देख रहे थे, उधर पौराणिक पुरोहित ने नव दम्पती को गृह देवता के समक्ष बिठाया और पाणिग्रहण करा कर दोनो के हाथो के बीच मे गीली मेहदी रख कर एक रूमाल से पाणिद्वय को बांध दिया। मुझे तो इस बात का ज्ञान भी नही था कि इस प्रकार पाणिबधन की कोई व्यवस्था वैदिक विधि मे नही है क्योंकि दयानन्द प्रोक्त विवाह विधि मे तो वर वधु को स्वय अपने हाथो से यज्ञ में आहुति देनी होती है। यदि दोनो के हाथ ही वस्त्र से बांध दिए जावेंगे तो क्या वे बायें हाथ से आहुतियां देंगे। किन्तु पौराणिक सस्कारो में यज्ञाहुति पण्डित जी ही देते है। वर वधू तो मात्र दर्शक की तरह बैठे रहते हैं। खैर, हम गृह देवता के स्थान से उठ कर यज्ञ वेदी पर आये। स्मरण रहे कि मैं गृह देवता के सम्मुख बैठा अवश्य था, किन्तु मैंने वहा कोई मूर्ति पूजा जैसा कृत्य नही किया था। अब जब प० धर्मदेव जी ने वैवाहिक कृत्य कराने आरम्भ किए और आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क आदि विधियो के पश्चात् होम विधि आरम्भ हुई तो प० जी को मैंने बताया कि हमारे हाथ तो रूमाल मे बधे हैं, मैं आहुति कैसे डालूंगा। इस पर उन्होंने पूछा कि यह आवश्यक पाणि बधन किसने किया। मैंने प० पुखराज का नाम लिया तो पण्डितजी ने कहा कि यह गलत कार्य हुआ है। इस पर मैंने झटका देकर रूमाल हटा दिया और स्वपाणि को उन्मुक्त कर आहुतिया देने लगा। महिला मण्डल मे मेरे इस कृत्य को देख कर कानाफूसी होने लगी स्त्रियो को इस प्रकार 'हथलेवा' तोडना अनिष्टकारक और अमगल सूचक लगा। परन्तु मेरे श्वसुर (श्री मोहनलाल जी माथुर मेरी पत्नी के चाचा) को इसमे कुछ भी गलत नही लगा। सस्कार मे सारी वैदिक विधिया सम्यक् रूपेण सम्पन्न की गई। १९५२ मे मेरे बड़े पुत्र विनय का जन्म हुआ। उसके नामकरण, मुण्डन आदि सभी सस्कार वैदिक विधि से सम्पन्न कराये गये। यहां यह लिख देना आवश्यक है कि यद्यपि मेरे माता पिता तथा परिवार के अन्य लोग आर्य समाजी नही थे, किन्तु उनकी यह धारणा अवश्य थी कि आर्य समाज एक अच्छी सस्था है और उसे सब प्रकार से प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। आर्य समाज से सम्बद्ध व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत और अग्रगामी ही बनाता है।

मेरा संस्कृत अध्ययन

मैंने अपने बी० ए० और एम० ए० तक अध्ययन में हिन्दी, अंग्रेजी तथा दर्शन जैसे विषय ही ले रक्खे थे। सस्कृत के अध्ययन की मेरी कोई पृष्ठ भूमि नही थी। केवल शास्त्रीय साहित्य को हिन्दी अनुवादों और टीकाओ के माध्यम से ही मैं अब तक पढता रहा था। अब विस्तृत और गम्भीर शास्त्राध्ययन के लिए यह आवश्यक था कि मैं सस्कृत का उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करूं। अध्ययन समाप्त हो जाने तथा जीविका मे लग जाने के कारण सस्कृत पढने का एक ही तरीका बचा था और वह था स्वयपाठी छात्र के रूप में संस्कृत का अध्ययन। मुझे पता चला कि प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने सस्कृत स्वय शिक्षक ५ भागो मे लिखा है। पहले तो मैंने इस ग्रन्थ को ही मगाया। किन्तु इससे सुगम प्रणाली थी प० सातवलेकर रचित २४ भागो वाली सस्कृत पाठशाला की। (क्रमशः)

छः अप्रैल को जिनका बलिदान पर्व है

अमर धर्मवीर महाशय धर्मपाल

—प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु

जब तक लौह लेखनी के धनी पत्रकार शिरोमणि श्री महाशय कृष्ण जीवित रहे, वह प्रति वर्ष महाशय राजपाल जी के बलिदान पर्व पर अपना सम्पादकीय लिखते रहे। आर्य समाज के रक्त रंजित इतिहास में महाशय राजपाल जी का बलिदान एक गौरवपूर्ण घटना है। आर्य समाज अपने वीरों हुतात्माओ के बलिदान पर्व नही मनायेगा तो जड़ता को प्राप्त होकर निष्प्राण होकर मिट जावेगा। प्रभु की अमर वाणी वेद का प्रचार करने के लिए तो कोई न कोई युक्त आत्मा जन्म लेता ही रहेगा। कोई सगठन भी वेद प्रचार के लिए आगे आ जावेगा परन्तु, आर्यसमाज यदि अपने भवनो, ईंटो, पत्थरो व स्कूलो की उपासना मे लगा रहा तो आर्य जाति का बड़ा अहित होगा।

महाशय राजपाल का स्थान आर्य समाज में बहुत ऊंचा हैं। उनका जीवन प्रत्येक असहाय, साधनहीन व विपत्ति ग्रस्त बालक के लिए एक उदाहरण है। महाशय जी एक अनाथ बालक थे। पिता जी न जाने विरक्त हो गये या किसी अन्य कारण से घर-बार छोड़ कर चले गये। अपने तपोबल से महाशय राजपाल जीवन मे धार्मिक, सामाजिक व सांसारिक दृष्टि से इतने ऊचे उठे कि दूसरे के लिए एक आदर्श बन गये। वह स्वनिर्मित जीवन के [Self made man] व्यक्ति थे। वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

वह एक साहसी कुरीति निवारक आर्य पुरुष थे। उनका नाम घसीटा राम था आर्य बने तो यह निरर्थक नाम तज कर सार्थक नाम रखा। पंजाब में हरियाणा, जम्मू काश्मीर व हिमाचल तथा देहली मे सहस्त्रो बच्चो का नाम उनके नाम पर राजपाल रखा गया। तभी तो प्रसिद्ध पत्रकार व कवि श्री नानक चन्द नाज' ने लिखा था—

मैंने देखा सैकड़ो ही पैदा हो गये राजपाल।
जब तेरी अर्थी उठाई गई थी ऐ राजपाल॥

यह १९६४ की घटना होगी कि सोलपूर दयानन्द कालेज [अब दयानन्द कालेज नहीं धामानी दयानन्द कालेज है। महर्षि के नाम से पूर्व एक सेठ का नाम आ गया है] में कोई पुस्तक विक्रेता इतिहास की सैकड़ों पुस्तकें ले आया। श्री प्राचार्य भगवान दास जी ने कहा हमारा एक प्राध्यापक इन्हें देखेगा तब क्रय करेंगे। यह कार्य मुझे सौपा गया। मैंने देखा कि भारत सम्बन्धी सभी इतिहास पुस्तको में महाशय राजपाल व रगीला रसूल पर एक ही पैरा छपा था। सभी पुस्तकों मे अकाली नेताओ के चित्र एक योजना के अनुसार दिए गये थे। किसी भी पुस्तक में यह नही छपा था कि रंगीला रसूल पुस्तक मुसलमानों की ऋषि पर लिखी गई पुस्तको के उत्तर में लिखी गई। किसी भी पुस्तक मे यह नहीं छपा था कि हाई कोर्ट से महाशय राजपाल निर्दोष सिद्ध हुए।

किसी भी पुस्तक मे यह नहीं छपा था कि गाधी जी ने सर्व प्रथम रगीला रसूल के विरुद्ध लिखा था। किसी भी मुसलमान ने इसके बारे में पहले नहीं लिखा था।

इससे सिद्ध हुआ कि विदेशियो ने एक षड्यन्त्र रच कर ऐसी पुस्तकें छपवाई जिससे भारत के अन्तर्राष्ट्रीय तत्वो को उकसाहट हो। आर्य समाज के विरुद्ध विष-वमन करके देश मे राष्ट्रीय शक्तियो को निर्बल करना इसका प्रयोजन था। मैंने तभी 'सार्वदेशिक' मे इस सम्बन्ध मे एक लेख दिया था। देश के शत्रुओं को तो महाशय राजपाल याद रहे, हम ही उन्हे भूल गये।

गांधीजी ने लिखा था राजपाल धर्मवीर नही प्रत्युत एक पुस्तक विक्रेता था तब वीर सावरकर ने इसका कडा प्रतिवाद करते हुए लिखा था कि प्रत्येक आर्य समाजी एक जन्म जात धर्मवीर होता है। महाशय राजपाल एक पुस्तक विक्रेता नही थे, वह धार्मिक पुस्तको के प्रकाशक व विक्रेता थे। ऐसा वीर सावरकर ने लिखा है।

महाशय जी से बहुत पूछा गया कि रगीला रसूल का लेखक कौन है? आपने यह रहस्य न खोला। श्री प० मदनमोहन जी मालवीय ने शिमला मे श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी से पूछा क्या महाशय जी ने लेखक का नाम नही बताया? स्वामी जी ने कहा, "न अभियोग में, न प्रथम आक्रमण के समय और न ही मरते दम तक लेखक का नाम बताया।" पुस्तक पर लेखक का नाम छपा ही नहीं था।

इस दृढ़ता पर लौह पुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने प्रसिद्ध पजाबी कवि वारिस शाह का यह पद्य लिखा है—

वारिस शाह न भेद सन्दूक खुले।
भावें जान दा जन्दरा टूट जावे॥

भले ही जान रूपी ताला टूट जावे परन्तु, रहस्य रूपी सन्दूक कदापि नहीं खुलेगा। ऐसे थे महान आत्मा राजपाल।

उन्होने पत्रकार के रूप में आर्य समाज की सेवा की। प्रकाशक के रूप में आर्य समाज व भारत राष्ट्र की बड़ी सेवा की। जाति की ठण्डी रगों में गर्म रक्त का संचार करने वाला राष्ट्रीय साहित्य छाप-छाप कर सोए हुए देश को जगाया।

महाशय जी ने आर्य नेताओं, विद्वानों व साधु महात्माओं के व्याख्यानों व प्रवचनों के नोट लेकर सग्रह छापने की एक अद्भुत परम्परा चलाई। उनके प्रयास से पूर्व केवल एक 'उपदेश मञ्जरी' ही ऐसा संकलन था। महाशय जी की यह बहुत बडी देन है। इस पर हम यहा विस्तार से अभी कुछ नहीं लिखते। कभी फिर सविस्तार लिखा जावेगा।

महाशय जी के जीवन काल में उनका प्रकाशन संस्थान देश-विदेश में विख्यात हो गया। क्या यह कोई साधारण सी बात है। उनके एक सुपुत्र विरक्त होकर प्राण वानप्रस्थी के रूप मे सारा जीवन (कोई चालीस वर्ष) वैदिक धर्म की ठोस सेवा की। ऐसे महान धर्मवीर को हमारा प्रणाम।

—वेद सदन अबोहर (पंजाब)

उपयोगी घरेलू नुस्खे

—श्री नेतराम शर्मा

नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए—

—प्रात: मुह में पानी भर कर पन्द्रह बीस बार ताजा पानी के छींटे देना।

—त्रिफला को रात्रि में पानी में भिगो प्रात: छान कर छींटे देना।

—स्नान करते समय आंखों को पानी में डुबो कर ऊपर नीचे दायें बायें क्लोक वाइज एन्टी क्लोक वाइज घुमाना (आखें खोल कर)।

—गुलाब जल की एक छोटी शीशी में मटर के बराबर फिटकिरी डाल फ्रीज में रख लें, आंखो में डालने से आंखो की लाली तथा दर्द बन्द। जिस आंख में दर्द हो उसी ओर के कान मे रूई ठूसने से आराम।

—मोतिया बिन्द (शुरू की अवस्था में)। दस ग्राम प्याज का रस, दस ग्राम शहद, दो ग्राम भीमसैनी कपूर, इन्हें मिला कर शीशी में रखना, सलाई से रात में सोने से पहले लगाना। चश्मे उतारने के लिए (विशेषकर बच्चों के लिए) पांच बादाम गिरी, पाच ग्राम मोटी सौंफ, पांच ग्राम मिश्री डली वाली चूर्ण बना कर सोते समय मात्रा दस ग्राम दूध के साथ लें।

—गाजर को कद्दू कस से कस कर दूध मे उबाल कर देशी शक्कर डाल छत पर ढक कर रख सुबह नाश्ते में ४० दिन तक खाइये चश्मा उतर जायेगा, गाजर खाइये गाजर का रस शहद के साथ लीजिए, नेत्रों की ज्योती बढ़ेगी।

—आंखों मे लाली हो तो विशखपरा की जड़ माता के दूध में पीस कर लगाइये।

—आंखो में फूला हो तो बारहसिंहे का सींग माता के दूध में घिस कर लगाइये।

—आंखो में फूला के लिए विशखपरा की जड़ गाय के दूध मे लगाइए।

—आंखों मे पानी बहता हो तो विशखपरा की जड़ घिस कर शहद के साथ चाटिये।

—यदि रात रौंध आता हो तो विशखपरा की जड़ ओस में घिस कर लगाइये।

—आंखों मे असली शहद लगाने से भी आंखों की धुंध जाला तक दूर हो जाता है।

विश्व हिन्दू परिषद् के महासचिव श्री अशोक सिंघल के वक्तव्य से महर्षि दयानन्द के विषय में फैली भ्रान्ति का सुखद समाधान

श्रीयुत अशोक सिंघल जी,

सादर नमस्ते !

आपने २० फरवरी को मेरठ नगर में पत्रकारों से वार्तालाप में प्रकट किया था कि अगर कोई यह कहे कि कुरान, बाइबिल और दयानन्द की पुस्तक के आधार पर सरकार चलाओ तो अब यह नहीं हो सकता।

आपके इस वक्तव्य पर बहुत सारे आर्य जनों के रोषपूर्ण पत्र मुझे मिल रहे हैं। मुझे बहुत ही आश्चर्य के साथ कहना पड़ रहा है कि आपका यह वक्तव्य हिन्दू समाज में विघटन पैदा कर सकता है। क्योंकि आर्य समाज ने सदैव हिन्दू जाति की रक्षा के लिए आगे आकर कार्य ही नहीं किया अपितु बलिदान भी दिए हैं। अभी पिछले महीनो रामजन्म भूमि और मंदिर निर्माण के मामले में आपके संगठन द्वारा संचालित कार सेवा में हजारों आर्य समाजी कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया था। उनमें कई लोग शहीद हुए, जेलों में गए और यातनाएं सहीं। आपने इसका मूल्यांकन नही किया। इतिहास इसका प्रमाण है कि आज तक जो भी आन्दोलन हुए हैं उनमें पूरी हिन्दू जाति संगठित होकर आगे बढ़ी है तभी सफलता मिली है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती—जिन्होंने हमारी प्राचीन वैदिक सभ्यता और संस्कृति को पुनर्जीवित करने का कार्य किया और देशवासियो को जागरूक करके हिन्दू जाति को नाना प्रकार की कुरीतियो, अन्धविश्वासो के जाल से बाहर निकालने का भगीरथ प्रयास किया, आपने उनके ग्रन्थ जो वेद-वेदांग और प्राचीन सिद्धांतों से परिपूर्ण हैं, को बाइबिल और कुरान के समकक्ष करके आर्य समाज के साथ द्वेष भाव को ही नहीं बढ़ाया अपितु महर्षि दयानन्द जैसे उच्चकोटि के राष्ट्रीय पुरोधा को समझने में भयावह भूल की है, और उस महान आत्मा का भारी अपमान किया है।

आर्य समाज ने हमेशा हिन्दुओं के हितों व उनके अधिकारों की रक्षा के लिए कार्य किया है। इसमें कभी भी और कहीं भी मूर्ति पूजा को आड़े नहीं आने दिया। काश्मीर मे मुसलमान उग्रवादियों द्वारा तोड़े गए १०५ मन्दिरों का पुनर्निर्माण मैंने स्वयं वहां जाकर सरकार से उसी के खर्चे से करवाया। मध्य प्रदेश के सीतापुर और रायगढ़ के अनेक क्षेत्रो में गत वर्ष कई हजार ईसाईयों की शुद्धि हमने कराई थी, मैं समारोह में स्वयं उपस्थित था। आपके संगठन के सांसद श्री भूदेव जी भी वहां पधारे थे। इसी प्रकार रांची में पोपपाल के भारत आगमन के दिन १९८६-८७ में हमने २५०० ईसाइयों को शुद्ध करके यह जता दिया था कि पोपपाल भारत में १ लाख हिन्दुओ (आदिवासियों) को ईसाई बनाने का जो संकल्प लेकर यहां आये हैं, उसे भूल जायें। हमारे प्रयत्नों से पोपपाल एक भी हिन्दू को ईसाई बनाए बगैर लौटे थे।

इसी तरह तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम गांव को पैट्रो डालर के बल पर मुसलमान बना दिया गया था। हमने वहां विशाल आर्य महासम्मेलन करके मुसलमान बनाए गये पूरे गांव को पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित किया था। दक्षिण भारत में आर्य समाज के इस महासम्मेलन से पूरी हिन्दू जाति मे एक नया स्वाभिमान जागृत हुआ है और वहां सामूहिक धर्मान्तरण की घटनाएं काफी कम हो चुकी हैं। लगभग २ वर्ष पहले रामकुमार भारद्वाज को सऊदी अरब सरकार द्वारा गीता और सत्यार्थ प्रकाश के जुर्म मे हुई फांसी की सजा को हमने किस प्रकार रुकवाया। इस सम्बन्ध में आपको सूचनार्थ लिख रहा हूं कि समस्त पत्र आदि श्री विजय कुमार मल्होत्रा को किसी संसदीय कार्यवाही के लिए उनके द्वारा मांगे जाने पर हमने उन्हें भेज दिये थे। आप चाहें तो इसकी भी जांच करवा सकते हैं।

आर्य समाज ने अपने ११५ साल की लम्बी कालावधि में देश, धर्म और जाति की रक्षा के लिए क्या-क्या नहीं किया ? उसका उल्लेख करके पत्र को और अधिक लम्बा नहीं करना चाहता हू। आर्य समाज के प्रयत्नो से ही अनेक विद्वान, मौलवी शुद्ध होकर आज हिन्दू जाति की सेवा में लगे हुए हैं।

सिंघल जी, आपका उक्त वक्तव्य तथ्यो के विपरीत ही नहीं अपितु अशोभनीय और अविवेकपूर्ण भी हैं, इससे हिन्दू जाति मे फूट के बीज आपने बोये हैं। यदि आप इसमें सुधार नहीं करेंगे तो हिन्दू जाति को ही नहीं अपितु राष्ट्र को जो अपार क्षति होगी, उसके लिए कौन जिम्मेदार होगा ? आप स्वयं निर्णय करें।

आशा है आप मेरे पत्र को गम्भीरता से लेकर पत्रोत्तर से अनुगृहीत करेंगे।

माननीय श्री सिंघल जी
महासचिव, विश्व हिन्दू परिषद्
दीनदयाल भवन, झण्डेवालान
नई दिल्ली-५५

भवदीय
स्वामी आनन्दबोध सरस्वती
प्रधान

श्री सिंघल जी का उत्तर

परमादरणीय श्री स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती

सादर नमस्ते।

आपका पत्र संख्या ३३५८ दिनांक २० मार्च, १९९१ प्राप्त हुआ। इसे पढ़कर आश्चर्य ही नहीं अपितु अत्यन्त दुःख भी हुआ।

हमारे देश में समय-समय पर जो महान विभूतियां पैदा हुई हैं उनमे महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम उच्चकोटि के महापुरुषों में है। स्वामी जी ने हिन्दू जाति पर जो उपकार किए हैं वह अद्वितीय है। छुआछूत को मिटाना, स्त्री शिक्षा एवं बाल विधवा का पुनः विवाह की पद्धति चलाना उनका ही साहसपूर्ण कार्य था, जब हमारा समाज अनेक प्रकार की कुरीतियों से ग्रस्त था। जबकि वेदो का प्रचार प्रायः देश मे लुप्त सा हो चला था तो उन्होंने जर्मनी से वेद की पुस्तको को मंगवाकर वेदो के पढ़ने पढाने पर बल दिया। स्वामी जी के इन सभी उपकारो को यह हिन्दू समाज कैसे भूल सकता है।

मेरा जन्म एक आर्य समाजी परिवार मे हुआ है। नवी कक्षा में स्वामी जी का चरित्र पढने के बाद वही मेरे आदर्श और प्रेरणा के केन्द्र बन गये। स्वामी जी के बारे में या उनके द्वारा लिखित पुस्तको के बारे मे कुछ अपशब्द कहना तो दूर की बात है, इस प्रकार का सोचना भी मैं एक प्रकार का पाप समझता हूं। मैंने मेरऽ नगर मे पत्रकारो के वार्तालाप मे स्वामी जी के बारे में या उन द्वारा लिखित पुस्तकों के बारे में कोई भी बात नही कही, यह बिल्कुल झूठा प्रचार है। आपने अपने पत्र मे जो मेरे प्रति रोष व्यक्त किया है वह सही नहीं है। मुझे आशा है कि आप अपने मन से इस प्रकार की बात बिल्कुल निकाल देंगे कि मैं कोई ऐसा कार्य करूंगा जिससे हिन्दू समाज में विघटन उत्पन्न हो। आपके लिखे अनुसार यदि जनता मे कोई गलत भ्रम फैल गया है तो उसे दूर करने के लिए मैं आज ही एक प्रेस वक्तव्य दे रहा हू।

आदर सहित।

धर्म और समाज की सेवा में संलग्न
अशोक सिंघल

सम्पादक के नाम पत्र

संग्रहणीय-विशेषांक

आर्य सन्देश का "ऋषि बोधांक" प्राप्त हुआ। विशेषांक वास्तव में काफी सुन्दर एवं आकर्षक था। इसके सभी लेख शिक्षाप्रद एवं प्रेरणादायक थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में ढेर सारी सामग्री पढ़ने को मिली। अतः पत्रिका का यह अंक सभी दृष्टियों से उत्तम तथा संग्रहणीय रहा है। विशेषांक की सफलता के लिए बधाई स्वीकार करें।

—राम कुमार आर्य, गोहाना (रोहतक)

बन्धुवर,

सादर नमस्ते। अस्वस्थता एवं अभावग्रस्तता में 'आर्य सन्देश' का आर्यसमाज स्थापना दिवस व प० लेखराम सयुक्तांक सशक्त सम्बल सिद्ध हुआ।

—भैरवदत्त शुक्ल, तिकुनिया जिला खीरी (उ० प्र०)

शराब पर रोक

गत मास के पत्रो में श्रीमती सुमन लता जी ने माग की थी कि महिलाओ पर अत्याचार बन्द होने चाहिए, जैसे—दहेज-प्रथा, नारी-दहन, आदि।

यह तभी समव है जब मदिरा पान पर सामाजिक व कानूनी रोक लगे। शराब की सभी दुकानें, ठेके आदि बन्द हो इस ओर केवल मात्र श्री मोरार जी देसाई ने प्रयत्न किया था। अन्य किसी प्रधान मंत्री ने इस ओर ध्यान नही दिया। अतः हमारे शासक वर्ग को इस ओर ध्यान देना चाहिए। तभी स्त्रियों के अत्याचार पर रोक लगाई जा सकती है। अन्यथा नही।

—मंगल राम बंसल

आर्य सन्देश का हैदराबाद सत्याग्रह अर्धशताब्दी विशेषांक (अगस्त ९०) प्रकाशन पर मैंने, आपको बधाई इसलिये भी भेजी थी कि शिरोमणि सभा द्वारा, आर्य पर्व पद्धति मे से इस पर्व को हटा देने के बाद आ. प्र. सभा के इस पत्र ने मार्ग दर्शन किया था। समारोह भी किया अब छः मास के बाद प्रकाशित इस इस आ स. स्थापना दिवस के विशेषांक में हैदराबाद के सत्याग्रहियो के सस्मरण प्रकाशित कर उस परम्परा को शानदार तरीके से निभाया है। इससे समाज में तपस्या व प्रेरणा को, विशेषतः युवाओ को, बल मिलेगा। कृपया मेरी बधाई स्वीकार करें, और समय-समय पर उद्बोधन इसी प्रकार देते रहे।

—ब्रह्मदत्त स्नातक

आदरणीय सम्पादक जी,

आर्य सन्देश का बोधाक मिला, धन्यवाद। लेख अच्छे हैं।

—वीरेन्द्र सरस्वती, उपाध्यक्ष, विश्व वेद परिषद्
सी–८१७ महानगर, लखनऊ

श्रीयुत सम्पादक जी,

सादर सप्रेम नमस्ते। अत्र कुशलम् तत्रास्तु। आशा है कि आप परमात्मा की कृपा से स्वस्थ एव सानन्द होंगे। आर्य सन्देश का स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान एवं प० इन्द्र विद्यावाचस्पति सयुक्तांक प्राप्त हुआ। सयुक्तका को पढकर हृदय में बहुत अधिक प्रसन्नता हुई। आर्य सन्देश के विशेषाको की जितनी भी प्रशसा की जाए, कम है। नए वर्ष के लिए शुभकामनाएं—

—जोरावरसिंह आर्य, बलिया उत्तर प्रदेश

मान्यवर सम्पादक जी,

सादर नमस्ते। आर्य सन्देश का 'बोधांक' प्राप्त हुआ। प्रेरणादायी सामग्री से यह अक ओतप्रोत है। वीर सावरकर का वह ऐतिहासिक कथन भी उद्धृत किया जाना चाहिए था जिसमें उन्होने सत्यार्थ प्रकाश के चौदहवे समुल्लास के बने रहने का समर्थन किया था।

सलग्न पत्र 'आर्य सदेश' मे प्रकाशित कर सके तो नेताओं के सामने यह स्पष्ट होगा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का इच्छित विकास क्यों नही हो रहा है?"

पुनः अभिवादन सहित।

—व्रजभूषण दूबे, ३०, गोराचंद रोड कलकत्ता ७०००१४

धर्मवीर लेखराम विशेषांक

आर्य सन्देश साप्ताहिक का पूर्व परम्परानुसार धर्मवीर लेखराम व आर्यसमाज स्थापना दिवस विशेषांक भी बेजोड़-ऐतिहासिक दस्तावेज, दुर्लभ लेखों से ओतप्रोत होने के कारण बहुत पसन्द आया। तहरीर व तकरीर (लेख व भाषण) के क्रम में पत्र की भूमिका सराहनीय लगी-मेरी हार्दिक बधाई स्वीकारें।

—प्रचार मन्त्री, दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार सभा

मान्य सम्पादक जी,

सादर नमस्ते। ऋषि बोधांक मिल गया जो कि पूर्ण है। धन्यवाद। आपका अक काफी रोचक है व बारंबार पढ़ने को मन करता है। ऋषि के जीवन सम्बन्धी लेखराम खोजपूर्ण हैं तथा सराहनीय हैं।

—तुलसीराम आर्य, तिलक नगर, नई दिल्ली

श्रद्धेय सम्पादक जी,

सादर नमस्ते। अत्रकुशलं तत्रास्तु। आशा है आप स्वस्थ सानन्द होगे। आप द्वारा प्रेषित आर्य सन्देश का ऋषि बोध विशेषांक प्राप्त हुआ। ऋषि के कार्यों की जितनी भी प्रशसा की जाए, कम है। आर्य सन्देश पत्रिका आर्य जगत की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। यह आर्य सन्देश के पाठकों के लिए उत्तम स्वाध्याय है। आर्यसन्देश आपके श्रेष्ठ सम्पादकत्व में निरन्तर प्रगति करे। यही प्रभु से विनय है। आपसे अनुरोध है कि इस वर्ष आर्य सन्देश के विशेषाकों की परम्परा में एक विशेषांक क्रांतिकारी वीर सावरकर की पुण्यतिथि पर निकालें जिससे उस बहादुर अमर सेनानी के जीवन से नवयुवक वर्ग शिक्षा ले सके। शेष ईश्वराधीन है।

—लालमणि शर्मा

मान्यवर सम्पादक महोदय जी,

सादर नमस्ते। आप बधाई के पात्र हैं विशेषांक के लिए जो आपने पिछले डेढ़ वर्ष में दिए हैं। वास्तव में आपने एक सराहनीय कार्य किया है, जो इतनी जानकारी एक एक महापुरुष एव आर्यसमाज के प्रति दी है और दे रहे हैं। अभी एक विशेषांक की आवश्यकता है 'स्वतन्त्रता के लिए आर्यसमाज को देन' क्योंकि आर्यसमाज ने स्वतन्त्रता सग्राम में उल्लेखनीय योगदान दिया है। आज राष्ट्रीयता, कर्त्तव्यपरायणता, दायित्व, शिक्षा, स्वास्थ्य और अनुशासन जागृत करने की आवश्यकता है। धन्यवाद।

—रामप्रकाश, के डी. ७८ ए. अशोक विहार–११००५२

आदरणीय सम्पादक जी,

सादर नमस्ते। वय जयेत्, त्वया युजा (ऋक्)। आर्यसन्देश का ऋषि बोधांक यथासमय प्राप्त हुआ। अपनी परम्परानुसार यह विशेषांक भी अत्युत्तम बना है। लेखों का चयन अत्यन्त सावधानी पूर्वक किए जाने के कारण विशेषांक प्रेरक बना है। श्री सोहनलाल शारदा का लेख हृदय को द्रवित कर गया। अन्य सबके सतत पुरुषार्थ को कोटिशः नमन्—

—रामाज्ञा आर्य पुत्र, पूर्वी उत्तर प्रदेश

आदरणीय डा० धर्मपाल जी,

परम पिता आपको परिवार सहित एवं आर्यजगत सहित सदैव स्वस्थ सुखी एवं प्रसन्नचित्त रखे। शिवरात्रि पर दूरदर्शन पर आपके दर्शन करके एवं आपके सुन्दर विचार सुनकर मनप्रसन्नता से झूम उठा। आपके समय में दिल्ली आर्यसमाज मे एव आर्यजगत में अनेक उल्लेखनीय कार्य हुए है। अति सफल अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन, और अब अति सुन्दर ऋषि बोधांक। इस अक के लेखन केवल आर्यसमाज के विद्वानों की स्वाध्याय एवं खोजपूर्ण रुचि दर्शाते हैं, प्रत्युत राष्ट्र के इस कठिन दौर में सुन्दर मार्गदर्शन करते हैं किस प्रकार हम महर्षि के जीवन तथा उनके दर्शन 'सत्यार्थ प्रकाश' के उपदेशों द्वारा देश को सन्मार्ग प्रदान करसकते हैं। आपको इन सभी सुन्दर कार्यों के लिए विशेष बधाई।

—रूपचन्द कपूरिया, उपनिदेशक, जनगणना, इम्फाल

नेपाल में आर्य समाज के बढ़ते कदम

प्रजातंत्रिय प्रशासन की घोषणा के बाद से नेपाल के आर्यसमाजो में भी नवचेतना जागृत हुई है। गत मास पूर्वान्चल क्षेत्रीय कार्यालय विराट नगर के तत्वावधान में अमर शहीद शुक्रराज शास्त्री बलिदान अर्द्ध शताब्दी समारोह दिनांक १२ मार्च से १६ मार्च तक बड़े धूम-धाम के साथ सम्पन्न हुआ। स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती जी के आचार्यत्व में पांच दिवसीय "राष्ट्रभृत महायज्ञ" विधिवत सम्पन्न हुआ।

सन्त शिरोमणि स्वामी ओमानन्द सरस्वती संस्थापक गुरुकुल झज्जर तथा ज्वालापुर वानप्रस्थ आश्रम के वानप्रस्थ महिला मंडल की उपस्थिति काफी संख्या में थी। समारोह में प० वेदप्रकाश (दिल्ली) ओमप्रकाश वर्मा (यमुनानगर) आदि विद्वानों के प्रवचन हुए। साथ ही इस अवसर पर गुरुकुल विराट् नगर का वार्षिकोत्सव भी सोल्लासपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर गुरुकुल में 'यज्ञशाला' का शिलान्यास पूज्य स्वामी दीक्षानन्द जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

—वी. के. शास्त्री मन्त्री

आर्य वीर दल की गतिविधि

आर्यवीर दल की शाखाओ के विस्तार व आर्य युवको मे प्रेरणा भरने के उद्देश्य से श्री आर्य मुनि जी वानप्रस्थ कार्यवाहक सचालक पूर्वी उ० प्र० व ब्रह्मचारी श्री नरेन्द्र लाल आर्य उप-प्रबन्धक पूर्वी उ० प्र० ने देवरिया मण्डलान्तर्गत भागलपुर व लार बाजार की यात्राएं गत ११ मार्च को सम्पन्न की। पारिवारिक सत्संगों व व्याख्यानों द्वारा दोनों अधिकारियों द्वारा मार्ग दर्शन किया गया। यात्रा के अन्तर्गत मडल संचालक श्री कस्तूरीलाल आर्य व आर्यवीर ब्र० रजनीश आर्य भी उपस्थित रहे।

—रामाज्ञा 'आर्यपुत्र'

ब्रिटेन में भारत के नव-नियुक्त उच्चायुक्त

डा० एल. एम. सिंघवी को डी. ए. वी. की भावभीनी विदाई

नई दिल्ली १८-३-९१ दिल्ली की समस्त डी० ए० वी० संस्थाओं की ओर से ब्रिटेन में भारत के नव-नियुक्त उच्चायुक्त डा० एल एम० सिंघवी को नई दिल्ली के तालकटोरा इनडोर स्टेडियम में भावभीनी विदाई दी गई। समारोह की अध्यक्षता डा० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने की। डी० ए० वी० के संगठन सचिव श्री दरबारी लाल ने अपने स्वागत भाषण मे श्री सिंघवी द्वारा डी० ए० वी० को दिए गए अमूल्य सहयोग का उल्लेख किया। तदन्तर प्रि० तिलकराज गुप्ता, दिल्ली के पूर्व उप-राज्यपाल एव सांसद श्री रमेश भण्डारी भारत में मोरीशस के उच्चायुक्त डा० निबूष न्यायमूर्ति हसराज खन्ना, पूर्व सासद एवं पत्रकार इन्द्रजीत, प्रि० ज्ञानप्रकाश चोपडा, पूर्व सांसद श्री रामचन्द्र विकल, विधिवेत्ता तथा डी० ए० वी० के अध्यक्ष प्रो० वेद व्यास ने एक स्वर से कहा कि डा० सिंघवी का इस पद के लिए चयन नितांत उपयुक्त है। उनसे अपेक्षा की जाती है कि ब्रिटेन मे रह कर जहां एक ओर वे भारत की गरिमा प्रस्थापित करते हुए भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों को और मैत्री पूर्ण बनायेंगे वहां दूसरी ओर लन्दन को केन्द्र बना कर वे समस्त यूरोप और अन्यान्य पश्चिमी देशो में डी० ए० वी० आन्दोलन को गतिशील बनाएगे।

स्वामी जी के आशीर्वादोपरान्त डा० सिंघवी ने अपने प्रति व्यक्त किए गये स्नेहपूर्ण विचारो और विश्वास के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा मैं डी० ए० वी० परिवार का अग हू, पारिवारिक प्रशस्ति का उत्तर न तो दिया जा सकता है और न कोई उस ऋण से उऋण हो सकता है। महात्मा हसराज ने जो एंग्लो-वैदिक सेतु निर्माण किया था उसी सेतु का आश्रय लेकर ब्रिटेन जा रहा हूं। मैं भारत के महापुरुषों एव मनीषियों का आभारी हूं। जिन्होने शाश्वत सत्य प्रतिपादन कर हमारा मार्गदर्शन किया है, वही मेरा सम्बल है।

अन्त में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा एवं डी० ए० वी० के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने स्वामी जी, डा० एल० एम० सिंघवी व प्रतिष्ठित वक्ताओ और समागत आर्यजनो का धन्यवाद किया।

—अजय सहगल







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Post in N D P.S.O on 4-5-4-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३९
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ७ अप्रैल, १९९१

आचार्य वेदभूषण को भ्रातृ वियोग

महाराष्ट्र के एक जनपद धुलिया नगर के जयहिन्द कालेज में डा० सत्यव्रत एम ए० पी० एच० डा० प्राध्यापक के रूप में सेवारत थे। आयु अभी चौवन वर्ष थी। ७ मार्च की रात्रि में साढ़े दस बजे हृदय मे भयकर शूल उठा और कुल पैंतालिस मिनट में ही लीला समाप्त हो गई।

गुरुकुल झज्जर हरियाणा से आर्य विद्या मे पारगत निरुक्ताचार्य किया। आयुर्वेद के तीन वर्ष पूरे किए और अन्तत उस्मानिया विश्वविद्यालय से एम० ए० हिन्दी मे न केवल सर्व प्रथम रहे अपितु विश्वविद्यालय के अपनी बहन डा० सुनीति के कीर्तिमान को तोड़ कर नया कीर्तिमान स्थापित किया।

भाषा विज्ञान मे डाक्टरेट की स्नातकोत्तर छात्रों को पढ़ाने के उद्देश्य से हैदराबाद की सेवा छोड़ कर महाराष्ट्र के ओढनगर के बलभीम कालेज में सेवा की। बाद मे महाविद्यालय के प्रिन्सिपल बने। पर कार्यालयीन व्यवस्था को शिक्षादान के कार्य मे बाधा मान प्रिन्सिपल का पद त्याग कर जनपद धूलिया मे जयहिन्द कालेज मे प्राध्यापन कार्य आरम्भ किया। महाराष्ट्र की अनेक शैक्षणिक, सास्कृतिक एव सामाजिक सस्थाओ से सम्बद्ध रहे।

कुशल वक्ता लेखक एव कवि के रूप मे समूचे क्षेत्र मे कीर्ति अर्जित की। श्रवण सी मातृभक्ति एव लक्ष्मण सी भ्रातृभक्ति का समन्वय उनके जीवन मे था। प्रान्तीय भाषा मराठी सीख कर हिन्दी के साथ साथ मराठी साहित्य की भी वृद्धि की। सस्कृत हिन्दी और मराठी तीनो भाषाओ मे गद्य और पद्य रचना मे कुशलता अर्जित कर समूचे क्षेत्र मे मौन साधक के रूप मे कार्य करते रहे।

शोक श्रद्धांजलि

भागलपुर, देवरिया (उ० प्र०), १९ मार्च। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान व पत्रकार श्री सत्यकाम जी विद्यालकार के निधन का समाचार गत दिनों रात के आकाशवाणी समाचार द्वारा सुनकर स्थानीय आर्यवीरों में शोक की लहर छा गई।

आहूत शोक-सभा की अध्यक्षता करते हुए युवा हृदय सम्राट श्री रामाज्ञा आर्यपुत्र बौद्धिकाध्यक्ष आर्यवीर दल पूर्वी उ० प्र० ने श्री विद्यालकार जी के व्यक्तित्व व कृतित्व पर प्रकाश डाला।

सभा मे दो मिनट का मौन रख कर दिवगत आत्मा को शान्ति हेतु सर्वज्ञ प्रभु से प्रार्थना की गई। —रामाज्ञा आर्यपुत्र'

डा० सत्यव्रत अपने पीछे विधवा पत्नी मधूलिका एम० ए० एव तीन पुत्रियों को छोड़ गये हैं। एक विवाहिता है और दूसरी का विवाह आगामी १२ मई १९९१ के दिन पूना नगर में होना निश्चित था।

आचार्य वेद भूषण का कथन है कि वैदिक जीवन पद्धति मे शोक के लिए कोई स्थान नही है।

ईश्वर उन्हे तथा उनके परिवार एव इष्ट मित्रो को धैर्य एव शान्ति प्रदान करें।

समूचे आर्य जगत को सात्वना एव धैर्य कामना के लिए आपने हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की है और धन्यवाद दिया है।

—सवाददाता प्रतिष्ठान "आर्यभारती के सौजन्य से



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४६८

सेवा मे—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ प्र)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार दिल्ली-६ फोन २२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २४ | रविवार, २१ अप्रैल, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का दीक्षान्त समारोह सम्पन्न

शिक्षा के लिए संदीपनी ऋषि आश्रमों की परम्परा, द्रोणाचार्य की परम्परा की अपेक्षा श्रेयस्कर है

—प्रधान मंत्री श्री चन्द्रशेखर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने शिक्षा जगत में अभूत पूर्व क्रान्ति की है। यहां के स्नातकों ने राष्ट्रोत्थान के विभिन्न आन्दोलनों में सराहनीय योगदान दिया है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों में इस गुरुकुल का विशेष महत्त्व है। यह वह स्थान है, जहां पर बड़े-छोटे, अमीर गरीब, ब्राह्मण और हरिजन एक साथ पढ़ते हैं। उनके साथ समानता का व्यवहार होता है। हमें ऐसे ही संदीपनी ऋषि के आश्रमों की आवश्यकता है जहां पर कृष्ण और सुदामा एक साथ पढ़ते हों। हमें द्रोणाचार्य के आश्रम नहीं चाहिए जहां पर केवल राजकुमारों को ही प्रशिक्षित किया जाता हो, जहां पर एकलव्य को अपना अंगूठा देना पड़ता हो। ये उद्गार प्रधानमंत्री श्री चन्द्रशेखर ने गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव एवं दीक्षान्त समारोह में व्यक्त किए। समारोह की अध्यक्षता कुलाधिपति प्रो० शेरसिंह जी ने की। मुख्य अतिथि का स्वागत श्री वीरेन्द्र अरोड़ा और श्रीमती प्रभातशोभा ने पुष्पहारों एवं पुष्पगुच्छ से किया।

प्रधानमन्त्री ने हवन में भाग लिया। कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार ने अपने स्वागत भाषण मे गुरुकुल की उपलब्धियों, प्राचीन परम्पराओं एवं तात्कालिक आवश्यकताओं तथा सरकार से अपेक्षाओं का उल्लेख किया।

इस अवसर पर विभिन्न विषयों में पी० एच० डी०, एम० ए०, विद्यालंकार वेदालंकार, बी० एस० सी० आदि की उपाधियां कुलपति जी ने प्रदान की। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि से प्रधानमन्त्री श्री चन्द्रशेखर, पं० मदनमोहन विद्यासागर और प० हरिशरण जी को अलंकृत किया गया। सचदे सभा जयपुर द्वारा आयोजित पुरस्कार से आचार्य रामनाथ वेदालंकार को सम्मानित किया। आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब की ओर से आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति और पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को सम्मानित किया गया।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय मे ७ अप्रैल से १४ अप्रैल तक पं० मदन मोहन विद्यासागर की अध्यक्षता मे यजुर्वेद पारायण यज्ञ हुआ। ११ अप्रैल को ध्वजारोहण और आचार्य रामनाथ वेदालकार की अध्यक्षता में वेद सम्मेलन तथा रात्रि में श्री सूर्यदेव और डा० प्रशान्त कुमार वेदालकार के विशेष व्याख्यान हुए।

१२ अप्रैल को गुरुकुल कांगड़ी की पुण्य भूमि में गुरुकुल जन्मोत्सव पूज्य श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती की अध्यक्षता में मनाया गया। आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र ने ध्वजारोहण किया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, महामंत्री श्री सूर्यदेव आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान प्रो० शेर सिंह, वैदिक विद्वान प० मदनमोहन विद्यासागर। दक्षिण अफ्रीका से शिशुपाल तथा अन्य अनेक महानुभावों ने गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति की विशेषताओं तथा आर्यसमाज के योगदान को रेखांकित किया। प्रारम्भ में आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के प्रधान श्री महाशय धर्मपाल, श्रीमती प्रभात शोभा पथिक तथा श्रीमती रंजन ने सुमधुर गीतों एवं भजनों से वातावरण को भक्तिमय बना दिया।

१२ अप्रैल को रात्रि में डा० श्यामसिंह शशि, निदेशक प्रकाशन विभाग भारत सरकार की अध्यक्षता में कवि सम्मेलन आयोजित किया गया। १३ अप्रैल को रात्रि में संगीत सम्मेलन आयोजित किया गया। १६ अप्रैल को पूर्णाहुति और वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न हुए। अपराह्न में पत्रकारिता सम्मेलन आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। रात्रि में श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में व्यायाम सम्मेलन हुआ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय एक राष्ट्रीय संस्था है जिसका संचालन आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब, हरियाणा और दिल्ली सम्मिलित रूप से करती है।

डा० हरिप्रकाश और श्री सुभाष विद्यालंकार ने अथक परिश्रम करके समारोह को सफल बनाया।

महात्मा हंसराज दिवस समारोह

रविवार २१ अप्रैल प्रातः ९.०० से १.०० बजे तक
ताल कटोरा इन्डोर स्टेडियम नई दिल्ली

मुख्य अतिथि—श्री चन्द्रशेखर, प्रधानमन्त्री

अध्यक्षता —श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती

सभी आर्यजनो से निवेदन है कि वे अपने साप्ताहिक सत्सगो को यथा शीघ्र सम्पन्न करके ताल कटोरा स्टेडियम पहुंच कर उस महान शिक्षा शास्त्री महात्मा हंसराज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

—निवेदक—

डा० धर्मपाल—प्रधान
सूर्य देव—महामंत्री
आर्य प्रतिनिधि सभा

महाशय धर्मपाल—प्रधान
डा० शिवकुमार शास्त्री—महामन्त्री
आर्य केन्द्रीय सभा

आर्य समाज केशवपुरम में वेद प्रचार

आर्य समाज केशवपुरम मे वेद प्रचार का भव्य आयोजन किया गया। श्री प्रेमसिंह शर्मा के सौजन्य से आयोजित इस कार्यक्रम मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल आर्य केन्द्रीय सभा के महामन्त्री श्री डा० शिवकुमार शास्त्री, श्री गोपाल गोडसे, श्री अयोध्यानाथ सिब्बल, ब्र० राजसिंह आर्य, ब्र० ब्रजेश आर्य, श्री अनिल आर्य, श्री कर्मसिंह चौहान, लाला सुमेरचन्द आर्य, श्री धर्मवीर कन्धारी आदि महानुभावों ने अपने विचार व्यक्त किए।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

जगन्नाथ की वास्तविक आराधना

—भैरवदत्त शुक्ल—

(गतांक से आगे)

प्रभु-भक्ति की आड़ में गैलीलियो को प्रताड़ना दी गयी, सुकरात को ज़हर पिलाया गया। और 'जान आफ आर्क' को जीवित ही आग की लपटों में डाल दिया गया। वे ईश्वर के भक्त ही थे जिन्होने मध्यकालीन जड़ता के पशु परिसर में घोषणा की थी कि वेद-मन्त्र का पढ़ना तो दूर है, शूद्र और नारी के कानो मे प्रविष्ट हो जाना तक महापातक है जिसका प्रायश्चित कानो मे पिघला गर्म रांगा डालने के अलावा दूसरा हो ही नही सकता। ऐसी जड भक्ति के ही नाम पर रोमन कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट, शिया-सुन्नी-द्वंद्व की ऐसी आंधियां उमड़ी, जिनमें मानव-विवेक के सभी पक्ष उड़ से गये।

इस तरह की जड़-भक्ति के बीभत्स रूप से ही ऊब कर आधुनिक विचारक कार्ल मार्क्स ने धर्म को मानव-समाज के लिए अफीम से भी अधिक विघातक माना है। विश्व के सैद्धांतिक कम्युनिज्म के ठोस अनुयायी इसी कोरी भक्ति से चिढ कर ईश्वर के अस्तित्व पर भी प्रश्न-चिन्ह लगा रहे हैं (भले ही सफल न हो सके हों) और सम्पूर्ण विश्व में लगभग तीस करोड़ नास्तिक पाये जाते हैं।

इसी बात को ध्यान मे रखकर हमे जड़-पूजा का खंडन करना है, नास्तिकता की बखिया उधेड़नी है और भक्ति की खाल ओढ़ कर पनपने वाली अन्ध-साम्प्रदायिकता से संघर्ष करना है। यह खंडन, विरोध या संघर्ष हथियारो के बल-पर नही किया जा सकता। इसके लिए ज्ञान का आश्रय लेना होगा। कर्म की अट्टालिका विनिर्मित करनी होगी और रूढि एव वाह्याडम्बर में खोये लोक मानस के सस्कार परिवर्तित करने पड़ेंगे। इसमें सफलता पाने के लिए सत्य, निष्ठा, लगन और कर्त्तव्य-परायणता का सबल अपेक्षित है।

(४) प्रशिष यस्य देवा :— उपासना के नाम पर संसार मे जो लोग जड़ प्रतिमाओ का श्रृंगार करके उन्हें साक्षात् ईश्वर के रूप मे पूजते हैं, जो भूत-प्रेतो-जिनो की साधना-सेवा में लीन रहते हैं; जो वृक्षों और पाषाणो पर पत्ती और फूल अर्पित करते हैं, जो 'हरे रामा हरे रामा' जैसे कीर्तनो का मगन तक विस्तार करते हुए रात्रि-जागरण करते हैं, वे सब के सब ऊपर से प्रतीत होता है कि परमेश्वर की आराधना कर रहे हैं। परन्तु सच्चाई यह है कि उपर्युक्त बातो का आराधना से तनिक भी सम्बन्ध नही है और न इनसे भव-सिंधु तैरकर पार उतरने या मोक्ष पाने में सहायता ही मिल पाती है।

जगदीश्वर की उपासना की उत्तम विधि तो केवल यह है कि परमेश्वर द्वारा दिये गये आदेशों का सहर्ष पालन किया जाये और उसके द्वारा सुनिश्चित कार्य-व्यवहारो के करने मे काया और मेधा का उपयोग किया जाये। यही बुद्धिमानी है। जो विद्वान् हैं, समझदार हैं, वे अपने सहज नियत कर्मों में तत्पर-सलग्न रह कर ही समझ लेते हैं कि उन्होने ईश्वर की उपासना की, अविनाशी की आराधना की सही विधि जान ली। ऐसे ही लोग भव-सागर से पार हो जाते हैं और भव-सागर में डूबते हुए लोगो को भी सहारा देते हैं। कितनी बड़ी विडम्बना है कि ज्ञान के अक्षय कोष से परिपूर्ण, बल, सामर्थ्य और क्षमता से समृद्ध और बुद्धि की असीम सम्पत्ति से युक्त होकर भी हम भारतीय कोरे आदर्शवादी बने हुए है, अत्यधिक सिद्धान्तवादी बनने का दम भरते है लेकिन यथार्थ के धरातल पर विफल सिद्ध होते हैं। प्रति वर्ष श्राद्ध के पुण्य का प्रदर्शन करने वाले पुत्र अपने जीवित बाप को भूखो मरने और प्यासे तडपने के लिए छोड देते हैं; व्यंग्योक्तियो से उनके मानस के तार-तार को घुन डालते हैं और अपमान प्रताडना की बौछार करते देखे जाते हैं। गोदान-गोव्रत की परम्परा पर अधिक से अधिक धन-राशि लुटाने वाली हिन्दू जाति गायो-बछडो को अर्द्ध बुभुक्षित, निर्बल और पगु बनाती है, कुछ नोटो की सरसराहट पाने के लिए कसाई के हाथो बेच देती है और विधि-विधानो मे निश्चित आयु-सीमा के बाद बूचड़खानो मे कट जाने के लिए अधिकृत कर देती है। हम तो उस जघन्य भावी युग की भी परिकल्पना करते झिझकना पसन्द नही करते जब इन्द्रियो से थके, मन व मस्तिष्क से चुके, पगु-अपाहिज वृद्ध पुरुषो और स्त्रियों को, माताओ और पिताओ को, भाईयो और बहनो को एक पक्ति में खड़े करके गोली से मार दिया जाया करेगा। कितना बर्बर होगा वह युग? कैसी निष्ठुरता होगी उस समय के मनुष्य में? इस कल्पना से रोम-रोम कांप उठता है।

मगर हमारे संस्कार बदल रहे हैं। वैज्ञानिकता की झिलमिलाहट में खोकर और भौतिक चका-चौंध के परिवार के आकर्षण में आकंठ निमग्न रह कर आँखों से अंधी और बुद्धि भ्रम में उलझी मानवता देर-सबेर दानवता में बदल सकती है। ऐसा युग न आने पाये, संस्कारों के अभाव में कर्मनाशा का कलुष न बहने पाये और मानव की मननशीलता पर आंच न आने पाये, इसके लिए अपेक्षित है कि हम प्रत्येक क्षण यह ध्यान में रक्खें, व्यवहार में परिणत करें और प्रत्येक व्यक्ति, समाज एव देश में प्रचारित-प्रसारित कर दें कि प्रभु के नाम-स्मरण की सर्वोत्तम विधि यह है कि जिस प्रकार ईश्वर न्यायकारी है, उसी प्रकार स्वय न्यायकारी बना जाये, जिस प्रकार ईश्वर को बुराई पसन्द नही है, उसी प्रकार बुराइयां नापसद की जायें और जिससे समाज बिखरता है, मानवता खंडित होती है, आस्तिकता कलुषित हो जाती है, उस तत्व या क्रिया से पृथक् रहा जाये क्योंकि ईश्वर समता-प्रिय है, निष्पक्ष है और है आनन्द का भण्डार। केवल ईश्वर के गुण-बोधक हजारों नाम बार-बार धीरे व जोर से अपने भर से आराधना पूरी नही हो जाती।

संसार में जो साधारण लोग हैं, वे परेशान होने पर, विपत्तियों से घिर जाने पर या अभावो की कटुता में डूब जाने पर ही ईश्वर का स्मरण करते हैं लेकिन ज्ञानी, बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति प्रकृति के प्रत्येक कण, समय के प्रत्येक क्षण और विश्व के प्रत्येक कर्म या अनुष्ठान मे उसका स्मरण करते हैं, उसी के समान बनने का प्रयास करते हैं, और उसकी आज्ञा का सर्वतो भावेन पालन करते हैं। इस क्रम से ही जीव-आत्मा महात्मा बनता है और साधनाशील होकर उस प्रभु की आत्मावत् या उसका अत्यन्त प्रिय बन बैठता है। विश्व वस्तुतः प्रभु का आर्त्त भक्त है, जबकि देव अर्थात् विद्वान् ज्ञानी भक्त है। विश्व की भक्ति कोरी प्रदर्शनात्मक है जबकि देवो की भक्ति अन्तरंग या यथार्थ है।

(५) यस्यच्छाया, यस्य मृत्युः, अमृतम्—सांसारिकता की सीमा में बद्ध विवश मानव-समुदाय थोड़ी-सी हलचल से ही उद्विग्न हो उठता है, विपत्तियों की छाया पड़ते ही धैर्य के साज-सामान का आसरा छोड़ देता है और अभावों के प्रारम्भिक प्रहारो से ही कर्त्तव्य-पराङ्मुख बन जाता है। दूसरी ओर जो देव हैं, जिसने परोपकार का व्रत ले रक्खा है, जो लोक-कल्याण, व्यष्टि-समष्टि-समन्वय, प्राणि-परिपालन प्रभृति लक्ष्यो की परिपूर्ति पर सर्वस्वार्पण करने के लिए उतावला है, वह विवेकशील मेधा-बुद्धि से युक्त सज्जनो का समूह आपत्तियों की आंधी से तनिक भी विचलित नहीं होता, विघ्न-व्यवधान से दायित्व-परिसर और कर्त्तव्य-सीमा का लेशमात्र भी परित्याग नही करता और थोड़ी-सी हलचल तो दूर की बात है, युगान्तर या प्रलय के विषम-ज्वरों में भी मुस्कुराना छोड़ नहीं पाता।

कारण यह है कि कदम-कदम पर मिलने वाले अभाव उसे परमेश्वर की ओर से ली जा रही परीक्षा के मोड़ या रुझान प्रतीत होते हैं। चूंकि उसने परीक्षा में आये हुए प्रत्येक प्रश्न का उत्तर खोज लेने की साधना कर ली है, समुपस्थित समस्याओ के समाधान खोजने का सतत अभ्यास किया है और सैद्धांतिक एव व्यावहारिक सम्पत्ति का संचय करने में प्रमाद नहीं प्रदर्शित किया है, इसीलिए उसे भय की तनिक भी अनुभूति नही होती।

वैभव-विनाश को वह प्रारम्भिक परीक्षा के रूप में ग्रहण करता है। नव-युवक सुन्दर-सुशिक्षित सन्तान का अकाल काल-कवलित हो जाना उसके लिए माध्यमिक परीक्षा प्रतीत होती है। शरीर पर रोगों के आक्रमण को वह प्रयोगात्मक परीक्षा समझ लेता है। परमेश्वर प्रतिपल निष्पक्षता की कसौटी पर कसकर इस बात का पता लगाता है कि जो सचमुच मानव है, वे वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा के व्यूहों मे घूम-फिर कर उनसे ऊपर उठने में सफल हो पाये हैं अथवा विफल। वैसे परमेश्वर तो सर्वज्ञ ठहरा। उसे प्रत्येक स्थिति की ही भांति मानव के स्वभाव-वैविध्य का भी राई-रत्ती पता होता है। फिर भी वह लोक-कल्याण के लिए, सामान्य जन-समूह को प्रभावित करने की दृष्टि से धैर्य, सहिष्णुता, सत्य-निष्ठा, अहिंसा, अक्रोध आदि गुणो के आधार पर परीक्षा के आयोजन करता रहता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगीराज श्रीकृष्ण, अहिंसा परायण बुद्ध, ज़हर पीते सुकरात जैसे महापुरुष स्वय तो परीक्षा में सफल हुए ही और उन्होंने संस्कृति

(शेष पृष्ठ ६ पर)

साप्ताहिक ओ३म् आर्य सन्देश कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

२६ अप्रैल पंडित जी का जन्म दिवस है

सम्पादकीय

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

जीवन मे पूर्णता पाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति दीर्घायु हो। वैदिक प्रार्थना तो यही है कि हम दीर्घायु हो, हम दीर्घायु होने के लिए प्रयत्नशील हों, हम सौ साल तक देखते, सुनते और बोलते रहे तथा कार्यक्षम बने रहें, बल्कि हम तो वर्ष से भी अधिक समय तक जीवित रहें, ऐसी हम कामना करते रहें। तथापि जीवन में पूर्णता पाने के लिए दीर्घायु होना आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति लम्बी आयु तक जीवित रहता है, फिर भी वह कुछ कर नहीं पाता, दूसरी ओर कुछ व्यक्ति बहुत कम आयु तक इस ससार में रहते है और वे संसार को एक नई दिशा दे जाते हैं—जगद्गुरु शकराचार्य 'महात्मा ईसा, महावीर बुद्ध' विवेकानन्द, दयानन्द—इन सभी की आयु बहुत लम्बी तो नही थी, फिर भी इन्होंने विश्व के मानव को नई दिशा दी। उन्होने विश्व को नया प्रकाश दिया। उन्होंने लोगो को अमरता का सन्देश दिया। ये सभी नाम धर्म, दर्शन, अध्यात्म और मानवता के लिए कार्य करने वालों के हैं। अन्य क्षेत्रो मे भी कम आयु मे पूर्णता पाने वालो के नाम हैं। उनकी चर्चा यहां पर अभीष्ट नही है, यद्यपि उनकी चर्चा करने से उपर्युक्त कथ्य को पुष्ट करने में सहायता ही मिलती। एक लिली का फूल केवल एक दिन के लिए खिलता है, पर उसकी सुरभि से सम्पूर्ण प्राणी जगत् सुरभित हो उठता है, जबकि "ओक" वृक्ष की आयु तीन सो वर्ष होती है, पर बाद में वह मात्र ईंधन है और अधिक हुआ तो ईमारती लकड़ी। इसी प्रकार श्रेष्ठता के लिए बड़ा आकार और लम्बी आयु आवश्यक नहीं है। जीवन में पूर्णता, श्रेष्ठता के लिए छोटा आकार और कम आयु से काम चलाया जा सकता है।

विश्व की सस्कृतियों, मे ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनका मानव मूल्यो की वृद्धि मे योगदान स्मरणीय है। ऐसे ही महामानव ऋषि दयानन्द थे। उन्होने विश्व को वैदिक पथ पर चलने की प्रेरणा दी। वैदिक शिक्षाए सर्वकालिक और सर्वव्यापक हैं। ये सभी का कल्याण चाहने वाली हैं। "स्वस्ति पन्थामनुचरेम" हम कल्याण मार्ग के पथिक हो। उस ऋषिवर के कार्य को उनके बाद आगे बढाने वाले थे—स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हसराज, प० लेखराम, प० गुरुदत्त और स्वामी दर्शनानन्द आदि। प० गुरुदत्त का नाम इस सूची मे उल्लेख्य है। वह प्रतिभाशाली युवक मात्र २६ वर्ष जिया, पर २६ वर्ष आर्य समाज के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगे।

उस ऋषि दीवाने पं० गुरुदत्त विद्यार्थी पर वैदिक धर्म तथा ऋषि का रग ऐसा चढा कि, वह चढ़ता ही गया। वह रग और गाढा होता गया। विज्ञान का विद्यार्थी, पाश्चात्य दर्शन का अध्येता जब ऋषि के सम्पर्क मे आया, तो उसके मन में पड़ी सन्देह की परतें, दूर होती चली गयी। उसका मन शिवसकल्पमय हो गया। उसे लाहौर की आर्य समाजो, ने लाला जीवनदास के साथ अपना प्रतिनिधि बना कर, अजमेर में रोग शैय्या पर पड़े ऋषि दयानन्द की सेवा करने के लिए भेजा था। उसने अपने गुरु की भक्ति भाव से सेवा सुश्रुषा की। अन्तिम दिनों मे ऋषिवर के चेहरे पर शान्त और सौम्य भावो को देखकर वह चकित रह गए। इस असह्य पीड़ा के क्षणों में भी ऋषिवर अविचलित थे। उनके मुख से अन्तिम क्षणों में जो शब्द निकले—"हे प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। तूने अच्छी लीला की।" इन्होंने तो युवा गुरुदत्त की काया ही पलट दी। उसके मन का सारा अन्धकार, प्रकाशमान हो उठा।

अजमेर से लौट कर गुरुदत्त ने वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार अपने जीवन का ध्येय बना लिया उसने दो कपड़े बनवाये—आर्य समाज के पाच-पाच नियम दोनों कपड़ो पर लिखवाये और आगे पीछे लटका लिए। जब उनकी श्रीमती जी ने पूछा कि यह क्या हुलिया बनाया है, तो वे बोले बस देवी, अब यह शरीर अपना नहीं रहा। यह तो उस ऋषि का हो गया और वह दीवाना घर से बाहर निकल पड़ा। रात दिन उसने अपने आपको ऋषि कार्य मे झोंक दिया। कुछ लोग पूछते कि क्या कर रहे हो। वे कहते कि ऋषि का जीवन चरित्र लिख रहा हूं। वे पूछते कि कहां लिख रहे हो तो उत्तर मिलता कि "अपने जीवन मे उसे क्रियात्मक रूप में लिख रहा हू।" ऐसा था वह दीवाना। वैदिक धर्म के प्रचार और ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिए, उसने वाणी और लेखनी से अनवरत परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके साथ रहने वालो का कहना है कि जब वे "वैदिक मैगजीन" लिखने बैठते थे तो वे कई-कई दिन बाद घर से निकलते थे। जब वे पढने लगते थे तो बिना विश्राम किए कई-कई दिन तक पढते रहते थे। वे कई दिन तक सोते भी नहीं थे। लाला लाजपतराय ने लिखा था—एक असाधारण व्यक्ति था वह। अन्त समय में वे भी वेदमन्त्रों का उच्चारण करते रहे और मृत्यु के क्षण तक उनके मन की शान्ति भंग नहीं हुई। कुछ क्षणों मे ही उनका देहान्त हो गया। इस प्रकार असह्य पीडा भोग कर १९ मार्च १८९० को प्रात: ७.०० बजे उसका प्राणान्त हुआ।" उस ऋषिभगत के चेहरे पर भी वही सौम्यता तथा शान्ति थी जिसके दर्शन उसने सात वर्ष पहले अजमेर में किए थे।

एक असाधारण व्यक्ति, एक सच्चा गम्भीर तथा परगामी सस्कृत विद्वान और पुरातन ऋषियों का उत्तराधिकारी इस ससार से उठ गया। आर्य समाज जिन पर गर्व करता था, जो समाज के रत्न थे, जिन्हे हम देश के भूषण समझते हैं, जिन पर हम सबको गर्व था तथा जो सत्य और ज्ञान को ही सर्वोपरि समझते थे, ऐसे प० गुरुदत्त विद्यार्थी आज हमारे बीच मे नही हैं। उनका भौतिक शरीर हमारे बीच मे नही है, पर उनका कर्त्तव्य हमारे बीच में हैं, उनका युवापन हमारे बीच मे है, उनका ज्ञान- विज्ञान-विश्लेषण हमारे बीच है, उनका आदर्श हमारे सन्मुख है जो आने वाली पीढियो को इसी भांति प्रेरणा देता रहेगा।

उस अमर सेनानी पं० गुरुदत्त विद्यार्थी को हमारी श्रद्धांजलि।

—डा० धर्मपाल

पुस्तक समीक्षा :

आर्यों का त्रैतवाद

आर्य समाज की विभिन्न सस्थाओ के माध्यम से वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार हेतु अनेक ग्रन्थो का प्रणयन एव प्रकाशन किया जाता है। भारतवर्ष की तथा विदेश की अनेक प्रान्तीय सभाए, सार्वदेशिक सभा तथा अनेक प्रकाशक इस दिशा में सराहनीय योगदान कर रहे हैं। कुछ व्यक्ति अकेले भी रात-दिन वेद माता की सेवा में लगे हैं। वे अकेले भी सस्था है। ऐसे ही महानुभाव हैं—डा० रामेश्वर दयाल गुप्त, सिद्धान्त शास्त्री एम० ए० पी० एच० डी०। वास्तव मे सस्थाओ में भी चाहे वे सरकारी हो या गैर सरकारी एक या दो व्यक्ति ही कार्य करते हैं, बाकी तो केवल टी-ए-डी-ए सीधा करते हैं। उन्ही कर्त्तव्य परायण व्यक्तियो का शोषण होता रहता है। यह ठीक है कि उन्हे भी उस कार्य को करते रहने में आनन्द आता रहता है, नही तो वे काम से अलग क्यो नही हो जाते। संस्थाए उन्ही के त्याग और तपस्या के बल पर चलती है। वे अकेले दीपक हैं जो सर्वत्र प्रकाश भले ही न फैला पाए, पर अपनी शक्ति भर जलते तो हैं।

आर्यों का त्रैतवाद-अक ११, मूल्य ५-०० में आपने वेद, ब्राह्मण, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता और सत्यार्थ प्रकाश पर आधृत शोध लेखो का सक्षेप सार दिया है। यह ग्रन्थ पठनीय है।

—डा० धर्मपाल

तपोवन आश्रम देहरादून

आर्य समाज मन्दिर चूना मण्डी पहाडगंज से तपोवन आश्रम देहरादून के लिए बस दिनांक २४-४-९१ की रात्रि को जायेगी और २८-४-९१ की रात को वापिस आयेगी। आने जाने का मार्ग व्यय १४० रुपये प्रति सवारी होगा। सीट बुक कराने के लिए आर्य समाज चूना मण्डी में श्री खगेन्द्र द्वारा पैसे देकर बुक करा सकते हैं अथवा टेलीफोन पर बुक करा सकते हैं।

दर्शनीय स्थान : हरिद्वार, भारत मन्दिर, ऋषिकेश, सहस्त्रधारा तपोवन आश्रम आदि हैं।

—प्रधान प्रितमदास रसवन्त

फोन : ७७९९१४, ७३८५०४।

आर्य रत्न श्री अजय कुमारजी सेण्डो दिवंगत

—राजगुरु शर्मा उपप्रधान सार्वदेशिक सभा दिल्ली



आर्य जगत को यह जान कर मार्मिक दुःख होगा कि, आर्य समाज राऊ म० प्र० के प्रधान, रिटायर्ड रेलवे स्टेशन अधीक्षक, वेस्टर्न रेलवे मजदूर संघ (रतलाम) के वाइज चेयरमेन, पाटीदार समाज (म०प्र०) के प्रमुख अनेको सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं के प्रबन्ध एवं कार्यकर्त्ता, "आधुनिक अर्जुन" भाई अजय कुमार जी सेण्डो दिनांक २५-३ ९१ को दिवगत हो गए।

दिनाक २६-३ ९१ को इनके ज्येष्ठ पुत्र अरुणकुमार आर्य ने हजारो इष्ट मित्रो एव परिजनों की उपस्थिति मे सम्पूर्ण वैदिक विधि से उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया। सार्वदेशिक सभा देहली के उपप्रधान श्री प० राजगुरु शर्मा जिनके साथ सेण्डो साहब ने सतत ४० वर्षों तक वैदिक धर्म का प्रचार किया था। उनकी उपस्थिति में, आर्य समाज महू, संयोगितागंज, मल्हारगज, सिंधी कालोनी, दयानन्दगज, नगर समाज इन्दौर, ग्रामीण समाजो में बालसमुन्द, कसरावद, पलासिया रणवासा आदि से आये आर्य नेताओं ने तथा पाटीदार समाज, पांचाल समाज, पंजाबी समाज, कृषक समाज व्यापारिक प्रतिष्ठान, शैक्षणिक संस्थान, श्रमिक कालोनी, रेलवे मजदूर संघ एव अनेको सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक संस्थाओ के प्रमुखों ने श्री अजय कुमार जी सेण्डो को विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की तथा उनके जीवन की अनेकों घटनाओं तथा संस्मरणों को सुना कर लगभग दो घन्टों की यह शोक सभा अश्रु-पूरितो की सभा हो गई। श्री अजयकुमार जी सेण्डो का जन्म दिनांक २-१-१९२७ को ग्राम राऊ के एक सामान्य किन्तु अत्यन्त धार्मिक पाटीदार (पटेल) परिवार में हुआ था।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा राऊ मे ही हुई उस समय राऊ मे ही एक गुरुकुल भी था। इसमें विश्व विख्यात आचार्य राममूर्ति जी सेण्डो एव श्री पं० चिरजीलाल जी सहयोगी कार्य करते थे। आचार्य राममूर्ति जी सेण्डो का सम्बन्ध तत्कालीन क्रांतिकारी पार्टी से था बाल्यकाल से ही अजयकुमार जी का सम्पर्क आचार्य जी से था। अतः आचार्य राममूर्ति जी ने इन्हें व्यायाम व तीरदाजी व शस्त्र चलाने की शिक्षा प्रदान की एव स्वातंत्र्य आन्दोलन मे इन्हें अपने साथ रखा व लम्बे समय तक भूमिगत रहते हुए क्रान्तिकारियों का साथ दिया व सन् १९४५ में वापस राऊ आ गये व पुनः पढना प्रारम्भ किया। अत्यन्त ही प्रतिभावन छात्र होने से आपने क्रमश माध्यमिक परीक्षा पास कर साहित्यरत्न की परीक्षा पास की।

सन् १९४९ में बीजलपुर (इन्दौर) मे नार्मल हाई स्कूल (विद्यापीठ) में व्यायाम शिक्षक के पद पर कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही अध्ययन कार्य भी करते रहे। सन् १९५१ मे हनुमान व्यायाम मन्दिर अमरावती से व्यायाम विशारद किया व सन् १९५४ मे रेलवे की सेवा में चले गये। सेवा करते हुए सन् १९६४ मे इन्टर व १९६६ मे बी० ए० किया। सन् १९५३ मे बीजलपुर अध्यापन विद्यापीठ ने आपको विशेष सम्मान प्रदान कर "आधुनिक अर्जुन" की उपाधि प्रदान की।

बाल्यकाल से ही आप आचार्य राममूर्ति जी सेण्डों के सम्पर्क मे आने से महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्त, क्रान्तिकारी एव बलिष्ठ शरीर के स्वामी तथा वैदिक धर्म प्रचार की उत्कठा लिए रहते थे।

सन् १९६० मे प० राजगुरु जी शर्मा के साथ ग्रामीण प्रचार कार्य पश्चिमी निवाड एवं आदिवासी क्षेत्र, जोबट, झाबुआ-थांदला, मेघनगर, उज्जैन, रतलाम मन्दसौर नारायणगढ़-बूठा, नीमच, राजस्थान, गुजरात मे महाराष्ट्र के नगरों व ग्रामों मे किया। इस प्रकार अभियान में स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती, लक्ष्मीनारायण जी आर्य, मास्टर मांगीलाल जी वर्मा, रामेश्वर जी मामा, नन्दराम जी सुमार्क, स्व० बाबूलाल जी मुकाती, सुपुत्र अरुणकुमार जी आर्य, हुकमचन्द जी आर्य, सोमप्रकाश जी आर्य, नारायणचन्द्र, रामचन्द्र जी हॉर्मोनियम वाले, जगदीश प्रसाद जी वैदिक, नाथुलाल जी वर्मा आदि की यात्रा एक काफिले के रूप में होती थी। सभी लोग मोटर सायकिलों पर ओ३म् के झण्डे लगा कर चलते थे—नारे लगाते थे व लगभग १०० मील की यात्रा तय करते थे वह दृश्य देख कर लोग अनायास ही कह उठते थे कि ये आर्य समाज के दीवाने आ गये। रात्रि को आठ बजे से पहले भजनो का कार्यक्रम व प्रवचन बाद मे ९ बजे से रात्रि के १२ व १ बजे तक अजय कुमार जी सेण्डो अपने शारीरिक प्रदर्शन-योगासन प्राणायाम, तीरंदाजी, रायफल शूटिंग आदि के करतब दिखाते व बीच-बीच में महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तो का स्थानीय बोली में प्रचार करते जाते थे।

आप अत्यन्त ही हसमुख, विनम्र, सेवा-भावी, गरीबों के सहायक व महर्षि के अनन्य भक्त थे।

आपने अथक परिश्रम करके आर्य समाज राऊ का समाज मन्दिर बनाया। आप आदर्श सद्गृहस्थ थे।

आपने वर्ष १९८६ में अपनी पूज्य माता श्री चम्पादेवी की जन्म शताब्दी समारोह का तीन दिवसीय विशाल समारोह सामवेद पारायण यज्ञ के साथ राऊ में किया। पूर्णाहुति के दिन पूज्य माता जी को हजारों नर-नारियों ने विशाल शोभा यात्रा के साथ नगर मे घुमाया। हजारों लोगो ने माता जी का शुभाशीर्वाद प्राप्त किया व माता जी ने १०० वर्षो की आयु में सभी को शुभाशीर्वाद ही प्रदान नहीं किया अपितु अपनी बेटियों, बहुओ, नातियों, पोतियों पड़पोतों, पोतियों, ब्राह्मणों धर्मोपदेशकों व गरीबों को अन्न, वस्त्र, दक्षिणा आदि प्रदान किया। ऐसा लगता था जैसे कोई विशाल प्रान्तीय आर्य महासम्मेलन हो रहा हो।

आपको दिनांक ३१-७-८७ को रेलवे के स्टेशन अधीक्षक पद से निवृत्ति प्राप्त हुई उसी दिन आपने रेलवे की अन्तिम दिवस ड्यूटी पूरी की, तत्काल वस्त्र बदले व वहीं रेलवे स्टेशन के बाहर विशाल पंडाल में विधिवत् सपत्नीक यज्ञ करके वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया था। ऐसा अनोखा आर्यत्व का धनी जिसने ३३ वर्षों तक रेलवे के उच्च पद पर कार्य करते हुए अनेकों बार रेलवे के सतर्कता, सुरक्षा व कर्त्तव्यपालन हेतु पुरस्कार व प्रशंसा-पत्र प्राप्त किए, वही व्यक्ति भाग्य की विडम्बना स्वरूप दि० १८-३-९१ को को रेलवे स्टेसन राऊ पर हवन सामग्री व आर्य साहित्य की बिल्टी छुड़ाने गए थे। रेलवे लाइन पार करते समय रेल की आती हुई गाड़ी के इन्जन से टक्कर लगने के कारण गिर पड़े किन्तु अत्यन्त ही बलिष्ठ शरीर के स्वामी होने से दोनों ओर की पसलियों के टूटने के बाद भी दि० २५-३-९१ की प्रातः तक मृत्यु से संघर्ष करते रहे। लोगों से चर्चा भी कर लेते थे। इन्दौर के सुप्रसिद्ध चोइथराम अस्पताल मे एक सप्ताह तक सैकड़ों लोग आप की कुशल क्षेम पूछने आते रहे। लोग आश्चर्य करते थे कि यह कौन भाग्यवान पुरुष है जिसे देखने लोगों का मेला लगा रहता है।

डाक्टरो को आशा हो गई थी कि अब सेण्डो साहब खतरे से बाहर है किन्तु २५-३-९१ की साय यह महर्षि का दीवाना भक्त चिर निद्रा मे सो गया। आपके सुपुत्र, भाई, बहिन, पोते पोतियो का विशाल परिवार है। आपका पूरा परिवार वैदिक धर्मी है। सुसम्पन्न है। भाई अजयकुमार सेण्डो का बिछोह असह्य है। उसे आसानी से भुलाया नहीं जा सकेगा।

ऐसे महान आर्यरत्न को शत् शत् नमन। ओ३म् शम्।

—वेद सदन—महू (म० प्र०)

शोक प्रस्ताव

आर्यसमाज, मेस्टन रोड कानपुर की यह शोक सभा आर्य जगत् के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्रो० रत्न सिंह जी एम ए. गाजियाबाद के छोटे भाई का अचानक एक्सीडेन्ट अलवर में हो जाने से देहावसान हो गया, परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवंगत उनके छोटे भाई की आत्मा को सद्गति दे तथा उनके परिवार को धैर्य व शक्ति देवे। जिससे असह्य वेदना को सह सकने में समर्थ हों। उनका छोटा भाई एक कृषि विभाग में सरकारी अधिकारी के रूप में कार्य कर रहे थे।

—शिवप्रसाद शास्त्री, मन्त्री

धर्मनिरपेक्षता-सभी समस्याओं की जननी

—आर्य बन्धु जयप्रकाश—

समस्याओं के महाजाल मे भारत की साधारण जनता तो रोदन को विवश है ही किन्तु विस्मय है कि नेतागण भी किंकर्त्तव्यविमूढता में रोदन कर रहे हैं। भूतकाल में तो विदेशी आक्रान्ता शासक हमारी समस्याओं के लिए जिम्मेदार थे, तत्कालीन राष्ट्रीय व सामाजिक नेताओं ने महान संघर्षों से अर्जित स्वतन्त्रता का उपहार हमें प्रदान किया था। हमने भारत को जनतन्त्र व धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया। फिर जनतन्त्र की जडो में कौन सा घुन लग गया है ? कि सर्वत्र राजसत्तातंत्र हावी हो गया है। रोटी, कपड़ा, आवास, शिक्षा और चिकित्सा के लिए ४४ वर्ष बाद भी तड़प रहे भारत के जन बहुमत को हमने भाषा, जाति, उत्तर-दक्षिण, दलित, श्रमिक अल्पसंख्यक, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, व्यापारी, कर्मचारी या छात्र दलित आदि के झण्डो मे बांटा हुआ है ताकि ये राजनीति नहीं, नही ! राजसत्ता के भेड़िये अपनी निर्बाध लूट जारी रख सकें। भारत का जनमत तब तक एक होकर इस लूट के खिलाफ खड़ा नहीं होगा जब तक कि इनको सही दिशा देने वाले विचारक और समाज सेवी आगे नहीं आयेंगे, किन्तु वे विचारक कहा से आयेंगे ? अधिकांश विचारकों ने अपने आपको सत्ता से जोड़ लिया है वे बधुआ चारणो के रूप में निज सत्ता-सूत्र की स्तुति करने में ही लीन है। शासक प्रसन्न है व उसका जन्मदाता उदास, कारण केवल एक ही है दूसरा नही, वास्तविक धर्म की उपेक्षा।

धर्म बनाम सम्प्रदाय:—धर्म की व्याख्या अपनी स्वार्थसिद्धि के अनुरूप बना ली गई है, जिसे मत-मतान्तर सम्प्रदाय समझना चाहिए था उसी को विभिन्न पूजा पद्धतियो व चित्र एव नाम पूजा के आधार पर धर्मों की संज्ञा दे दी गई है, यह भुला दिया गया कि पिता की सेवा, आज्ञापालन को पितृ-धर्म, देश के प्रति कर्त्तव्यों को देश धर्म व क्रमशः राजधर्म, समाज धर्म पतिव्रत धर्म आदि में किसी पूजा पद्धति का वर्णन नहीं है। धर्म पूजा पद्धति नहीं अपितु कर्त्तव्य का ही पर्याय है। कर्त्तव्य धर्म व्यक्ति में उत्तरदायित्व, संयम, निष्ठा, कर्मठता का आत्मिक बल उत्पन्न करता है, लेकिन नास्तिक शासकों को कर्त्तव्य का कर्कश उपदेश नही अधिकारो का मधुर स्वर चाहिए।

धर्म निरपेक्षता से नास्तिकता:—कर्त्तव्य पालन में कमजोर शासकों ने राज्य को भी धर्म निरपेक्ष माना। परिणामतः जैसा बोया गया वही फल सबके सामने है, यथा राजा तथा प्रजा। शासकों की तरह अपने पद, सामर्थ्य, सुविधा व साधनो का दुरुपयोग फिर अन्य लोग भी धर्मविहीन होकर करने लगे तो उनका क्या दोष है ? ऐसे हालात में चुनावों द्वारा फिर वही धर्मविहीन शासक बना कर न्याय, शान्ति व समृद्धि की कामना करना मृगतृष्णा नही तो क्या है ?

सही अर्थों में अब यह स्वीकार करना ही होगा कि सभ्य लोगो का शासन तो धर्म निरपेक्ष हो ही नहीं सकता है। धर्म निरपेक्ष/नास्तिक शासन तो असभ्य एवं बर्बर राक्षस जातियों का ही हुआ करता है।

किसी सच्चे धर्म में नाम, चित्र, पुस्तक व प्रतिमा आदि की मत-मतान्तर के अनुसार पूजा-पद्धति से कोई वास्ता नहीं है, धर्म के दस लक्षण जो आदि शासक मनु ने वर्णन किए हैं—वे केवल चरित्र की पूजा सिखाते हैं। (धीरज रखना, सहनशीलता, सयम रखना, चोरी न करना, आन्तरिक एव बाह्य पवित्रता, इन्द्रियो पर काबू रखना, विवेक बुद्धि, ज्ञान, सत्य, क्रोध न करना) इन लक्षणो व चरित्र के बिना अच्छे मनुष्य व समाज की कल्पना असम्भव है।

धर्मसापेक्षता द्वारा चरित्रोत्थान:—अतः राष्ट्रीय सकटो से मुक्ति हेतु सभी धर्म प्रेमी विचारकों, बुद्धि जीवियों, साहित्यकारो तथा साधु-सन्तो का प्रथम कर्त्तव्य है कि धर्मनिरपेक्षता के बोगस नारे में फसी भारतीय अस्मिता को चरित्र-हनन की स्थिति से उबारने के लिए अविलम्ब एडी से चोटी तक का जोर लगाए, और भविष्य को सुन्दर बनाएँ।

आप क्या करें ? आपके द्वारा भारत में धर्मसापेक्ष राज्य की स्थापना हेतु किए जा रहे सभी प्रयत्नों (इस तरह के लेखो का सामर्थ्यानुसार प्रकाशन, फोटोस्टेट कापी वितरण, शासकों को प्रतिवेदन, अन्य संगठनों मे स्वप्रभाव से अनुकूल प्रस्ताव पास करना/कराना आदि) से आर्य समाज बिड़ला लाईन्स, कमला नगर, दिल्ली-७ को क्रमशः पोस्टकार्ड आदि लिख कर अवगत कराते रहें ताकि इसे सशक्त जन-आन्दोलन का रूप दिया जा सके।

स्मरण रखें आर्य समाज कोई सम्प्रदाय नही अपितु शारीरिक, आत्मिक एव सामाजिक उन्नति हेतु विश्व कल्याण का पवित्र व प्रबल आन्दोलन है। हमारी मांग—

१—धर्मनिरपेक्षता को त्यागकर भारतीय संविधान मे "धर्म सापेक्षता (असाम्प्रदायिक)" को स्वीकार किया जाए।

२—प्रत्येक छात्र-छात्रा को शिक्षा व गुण-विकास के समान अवसर उपलब्ध कराये जायें।

३—गणतन्त्र व गुणतन्त्र की सामानान्तर व्यवस्था अपनायी जाए।

इसके उपरान्त ही हम "रामराज्य" की स्थापना का चिरस्वप्न पूरा कर सकेंगे।

—प्रधान आर्य समाज बिड़ला लाइन्स

जनसेवियों की पेंशन

—ब्रजभूषण दूबे

स्वर्गीय श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किसी समझौते के अन्तर्गत निर्धारित रियासती राजाओ की 'प्रिवीपर्स' को राष्ट्र पर अनावश्यक बोझ मान कर उसे खत्म कर दिया था, किन्तु नौवी लोक सभा के जन सेवी सांसदो ने लोक सभा भग होने से पूर्व अपने लिए पेंशन राशि में ७५० प्रतिशत की वृद्धि कर ली। इस वृद्धि के आधार पर केवल एक वर्ष सासद रहे जनसेवी १२५० रुपये प्रतिमाह की पेंशन राशि प्राप्त करेंगे। अपनी सुविधा के लिए ४ वर्ष १० माह सांसद रहने के स्थान पर केवल एक साल सांसद रहने पर भी पेंशन पाने का हक प्राप्त कर लिया गया। इस नई योजना से सरकार पर प्रति वर्ष ५ करोड़ रुपयों का अतिरिक्त भार पड़ेगा।

देशवासियो को स्मरण दिलाना चाहता हूं कि काकोरी केस के अमर शहीद प० रामप्रसाद 'बिस्मिल' की श्रद्धेया बहिन स्व० शास्त्री देवी को स्व० इन्दिरा गांधी के कार्यकाल में केन्द्रीय सरकार ने यह कहकर उनकी पेंशन बढाने से इन्कार कर दिया था कि शहीद 'बिस्मिल' की पेंशन पर बहिन का नही पत्नी का अधिकार बनता है। बाद में साहसी बहिन शास्त्री देवी ने सरकार की ५० रुपये प्रतिमाह की पेंशन ठुकरा दी थी। उस समय किसी मन्त्री या नेता ने पेंशन की शर्तों के संशोधन की जरूरत न समझी थी, किन्तु अपने लिए एक वर्ष की सेवा के आधार पर ही पेंशन मजूर कर ली।" राष्ट्र पर प्रिवीपर्स से भी बड़ा खर्च लाद दिया गया।

आज भी अनेक परीक्षाओ में अच्छे नम्बरो से उत्तीर्ण होने वाले छात्रों के अभिभावको की वार्षिक आय २५ हजार रुपयो से अधिक होने पर उन्हे छात्रवृत्ति से वंचित कर दिया जाता है। लोकतन्त्र का तकाजा है कि इन सासदो को भी उनकी आमदनी के आधार पर पेंशन की स्वीकृति दी जाय। इस दिशा मे महामहिम राष्ट्रपति महोदय से निवेदन है "कि जब सांसदो की पेशन वाला बिल उनके समक्ष अनुमोदनार्थ प्रस्तुत किया जाये तो लोकतन्त्र की रक्षा के लिए उस पर स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करके अपना निर्णय देंगे।"

२०, गोराचन्द रोड कलकत्ता-१४

आर्य समाज गया (बिहार)

विगत २८ मार्च ९१ से ३१ मार्च ९१ तक आर्य समाज चौक गया (बिहार) का ६८ वां वार्षिकोत्सव सोत्साह मनाया गया। तथा २९ से ३१ मार्च तक आर्य समाज चाकन्द (गया) में भी ४० वां वार्षिकोत्सव मनाया गया।

उक्त कार्यक्रम में सर्वश्री स्वामी डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी 'अग्निव्रत' नालन्दा, नवल किशोर शास्त्री, इन्द्रदेव सिंह 'इन्द्र' तथा दयानन्द सत्यार्थी ने हजारों ग्रामीणों को धर्मोपदेश द्वारा वैदिक धर्म का सन्देश दिया।

—सोममित्र शास्त्री (मंत्री)

सम्पादक के नाम पत्र

श्रीमान जी, सादर नमस्ते।

आपके आर्य सन्देश विशेषांको सहित प्राप्त होते रहे हैं। इससे आर्यसमाज लखनऊ वासियो को भी महापुरुषों की तपस्यामयी जीवनियों का ज्ञान प्राप्त हुआ।

—डा० कमलाप्रधान, स्वास्तिका, नया हैदराबाद, लखनऊ

बन्धुवर,

सादर नमस्ते। आर्यसन्देश का बोधांक मिला। जहां दयानन्द स्तव: राष्ट्र-भक्त दयानन्द, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे उत्कृष्ट रत्न हृदय को उल्लासित और मस्तिष्क को मथित करते हैं, वहीं समाजोद्धारक महर्षि दयानन्द तुम तो कर गए कमाल, देव दयानन्द जैसी रचनाओं में कथ्य सही होने पर भी अभिव्यंजना की शिथिलता आर्यसन्देश की गरिमा पर ठेस लगाकर स्पष्ट करती है कि शायद अब हिन्दी मे अच्छी कविताएं नहीं लिखी जाती। फिर भी आर्यसन्देश के इन विशेषांको की परम्परा स्तुत्य है।

—डा० भैरवदत्त शुक्ल, तिकुनिया खीरी, (उ० प्र०)

प्रिय सम्पादक जी,

आपने गुरुकुल कांगड़ी का जो समाचार छापा है, वह अत्यन्त उपयोगी है।

—आचार्य विश्वश्रवा:, व्यास बरेली

आदरणीय सम्पादक जी,

सादर नमस्ते।

आप द्वारा सम्पादित आर्यसन्देश का मार्च अंक प० लेखराम एव आर्य समाज स्थापना दिवस संयुक्तांक पढ़ा, सराहनीय कार्य है।

—ज्ञानचन्द शास्त्री
राजकीय मा० विद्यालय, कुसुम्भी
जि० भिवानी, हरियाणा—१२०५२१

आदरणीय सम्पादक जी,

सादर नमस्ते।

अत्र कुशल तत्रास्तु। आर्य सन्देश मे प्रकाशित लेखो से जहां आपसे (मैं) परिचय हुआ था। वही अब आप का नाम सम्पादक के रूप मे पढ़कर हर्ष हो रहा है। उत्तम् विचार के मनुष्यो की विचार तरगें कही न कहीं किसी रूप मे अपना प्रभाव छोडती ही है, सो आपका इस पत्र के माध्यम हो रहा उपयोग अवश्यमेव दूरगामी आध्यात्मिक परिणाम देकर, मां-मानवता की रक्षा करने मे समर्थ हो सकेगी। ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

श्री सत्यकेतु स्मृति अंक का विज्ञापन सार्वदेशिक में पढ़कर उसे मंगवाने के बाद, मैंने लगभग (अब तक) १० ग्राहक बनाए हैं और प्रयासरत हूं कि ग्राहक बढ़ें कारण यह है कि साप्ताहिक पत्र अपनी उत्तमता में कोई कमी किए बगैर अपने ध्येय-पथ पर सतत् सलग्न हैं। आपकी छाया पाकर यह पत्र उत्तरोत्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो यही मेरे और सहयोगियो की कामना है।

—रामाज्ञा आर्य पुत्र

सम्पादक महोदय,

मुझे यह पत्रिका प्रिय है। मुझे अपने साथियो के यहां से जिन्हें सदस्य बनवाए थे प० लेखराम विशेषांक पढने को मिला था जिसमें लेख बड़े उच्च कोटी के थे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि आपकी देख-रेख में यह पत्रिका दिनों दिन उन्नति करती रहेगी और आप अन्य आर्य पत्र पत्रिकाओं में अपना उच्च स्थान बनाए रखेंगे।

—रघुनाथ आर्य, रिकल रोड,
पो० गारुलिया जी० २४ परगना (प० बंगाल)

जगन्नाथ की वास्तविक आराधना

(पृष्ठ २ का शेष)

का भी काया-कल्प कर दिया।

महर्षि दयानन्द ने जीवन के अन्तिम समय कष्ट सहने में जिस आनन्द-मयी वृत्ति का परिचय दिया। उसी से पं० गुरुदत्त सरीखे व्यक्ति भावाभिभूत हो हो उठे और आज भी आर्यसमाज वज्र-सा अविचल है, महात्मा गांधी ने जिस शांति के साथ सीने पर सांप्रदायिकता की गोलियां झेली, वही आज के सम्पूर्ण संसार का परम लक्ष्य बनी हुई है और जिस अहिंसा का आजीवन पालन किया, उसी का सबल लेकर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्र सुषुप्ति के बन्धन तोड़कर अंगड़ाने लगी है।

जो देव है, परोपकार, समता और एकता का नैष्ठिक पुजारी है, जिसने सर्वस्व आहुत करने का व्रत ले रक्खा है, वह विवेक का अवलम्ब लेकर अनायास समझ लेता है कि चाहे छेदन-भेदन हो, दु:ख, कष्ट, रोग, अभाव हों बाधा-अवरोध हों, विपत्ति के जटिलतम व्यूह हों, आपत्ति के बीहड़-भयावह वन हों,—यहां तक कि मृत्यु ही क्यों न हो—सब के सब प्रगति के सोपान हैं, विकास के निम्न-उच्च अधिष्ठान हैं और मानव के अमृत-पान में सहायता पहुंचाने वाले हैं। इनके माध्यम से ही जीव अमर हो सकता है।

ये कष्ट और रोग कर्म-फल के परिचायक हैं। इन्हें देकर परमेश्वर यही चाहा करता है कि लोक-चेतना, व्यक्ति की चित्त-वृत्ति और संसृति की संस्कार-साधना-सुरापगा के पवित्र-प्रवाह मे नियन्त्रित होकर कुन्दन सी दमकने लगे। उसकी अभिलाषा रहती है कि व्यक्ति की प्रकृति सुसभ्य-सुसंकृत बन जाये।

स्थूल रूप से यह मालूम पड़ता है कि इन कष्टों या तापों से परमेश्वर मनमानी या स्वैराचार का परिचय दे रहा है। जो पापी, शोषक, उत्पीड़क या बेईमान हैं, उनके पास सुखो की बारातें सजी हुई हैं और सुविधाओं की कमी नहीं है लेकिन जो सत्यवादी, अहिंसक, धीर-वीर और लोकोपकारक हैं, उन्हें पदे-पदे अपमान का हलाहल पीना पड़ता है, अभावों की क्रूर कारा में बद्ध-विवश होकर जीना पड़ता है और सामाजिक प्रताड़ना झेलनी होती है।

परन्तु सूक्ष्म रूप से ध्यान देने पर जान पड़ता है कि इन कष्टों में भी उपा-देयता है। इनसे मानव की क्षमता एव सामर्थ्य में अभिवृद्धि होती है। वह इनमें ही पल-पनप कर अभ्युदय और नि:श्रेयस्—दोनों की उपलब्धि में सफल होता है। जिसने पिपासाकुल बेचैनी का अहसास नहीं किया, वह शीतल जल की मधुरिमा से परिचित नहीं हो सकता, जिसे बभुक्षा की चरम सीमा में जाने का अवसर नहीं मिला, वह नमक-रोटी के स्वाद से वंचित रहता है और जिसे अपमान या प्रताड़ना के कुलिश प्रहार नहीं झेलने पड़ें, वह लोक-प्रतिष्ठा के सिंहासन पर कदम नहीं रख सकता।

(६) कस्मै देवाय हविषा विधेम— ईश्वर निष्पाप है, शुद्ध-बुद्ध, निष्कलुष, अविकारी है और इसीलिए अक्षय आनन्द का निधान भी है। वह तो अहर्निश जीवात्मा को भी आनन्दमय बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। तभी तो वह देव या महादेव कहलाता है।

हमें भी उसी की आराधना करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए। उसकी वास्तविक आराधना यही है कि वह आत्म-दा है, हम भी लोक-हित पर अपना तन-मन-धन सब कुछ न्योछावर कर दें। वह बल-दा है, हम भी विश्व में किसी भी व्यक्ति को हीन-दीन या आशक्त-निर्बल न बना रहने दें। वह 'क:-स्वरूप' है, (आनन्द मय है) हम भी अग-जग में पूर्ण आनन्द की रस-धारा प्रवाहित करने के प्रयास करें।

जो टेढ़े-मेढ़े कद्दू का दान करके पुत्र-प्राप्ति में सफल होना चाहते हैं, डेढ़-दो रुपये के प्रसाद द्वारा लाखों की लाटरी निकल आने की प्रतीक्षा करते हैं और अपनी क्षुद्र वासना की पूर्ति के लिए औरों के अहित में लीन हैं, उन्हें कभी आनन्द नहीं मिल सकता। यही अनुभूति जब तक सम्पूर्ण विश्व के मानस-परिसर में व्याप्त नही हो जाती, तब तक हमारी आराधना अधूरी है, हमारा आजापत्य यज्ञ अपूर्ण है और हम सर्वस्वाहुत करने की समीहा का समायोजन करने में विफल रहेंगे।

महाराजा अग्रसेन इन्टर कालेज
पो०—तिकुनिया खीरी (उ० प्र०)

आर्य समाज मायापुरी का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

—रविवार दिनांक १७.३.१९९१ से रविवार २४.३.९१ तक आयोजित आठ दिवसीय कार्यक्रम का शुभारम्भ ब्रह्मचारी विष्णुमित्र जी व्याकरणाचार्य जी द्वारा यज्ञ से हुआ।

सोमवार १८.३.९१ से २३.३.९१ तक महात्मा राम किशोर जी वैद्य द्वारा रामायण-कथा हुई। भजनोपदेशक प० सत्यदेव जी स्नातक सभा प्रचारक एवं साथ में पं० ज्योति प्रसाद जी उपस्थित थे।

रविवार दि० २४.३.९१ को रामनवमी को यज्ञ मे ब्रह्मा श्री राज सिंह जी ब्रह्मचारी मुख्य अतिथि श्री हरचरण सिंह जी बख्शी एव मुख्य वक्ता आचार्या सुनीति आर्या थीं। श्री गोपाल कृष्ण जी भसीजा भी अतिथि एवं वक्ता थे।

इसी अवसर पर आर्य समाज मायापुरी की अन्तरंग सभा का निर्वाचन निम्न प्रकार सम्पन्न हुआ :—

प्रधान—श्री विजय कुमार शर्मा, मंत्री—ठाकुर सुरेन्द्र सिंह, कोषाध्यक्ष—श्री मनीष महर्षि।

प्रबन्ध समिति का गठन

आत्म शुद्धि आश्रम, बहादुरगढ़ की प्रबन्ध समिति का गठन निम्न प्रकार किया गया :—

अध्यक्ष—स्वामी धर्ममुनि जी महाराज, मंत्री—डा० शिवकुमार शास्त्री, सदस्य—डा० धर्मपाल, श्री सत्यानन्द आर्य, श्री कबूलसिंह आर्य।

पीपाड़ शहर आर्य वीर दल का चुनाव सम्पन्न

आर्य समाज पीपाड़ शहर के आर्य वीर दल का चुनाव श्री मदनपाल जी राठी शिक्षक सार्वदेशिक आर्यवीर दल की अध्यक्षता में दिनाक ३०-३-९१ को सर्वसम्मति से सम्पन्न हुआ जिसमें निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये।

१—मन्त्री श्री जगदीश आर्य २—नगरनायक श्री घनश्याम सोनी, ३—अधिष्ठाता श्री सत्यनारायण सोनी ४—कोषाध्यक्ष श्री श्यामलाल आर्य।

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज रघुवीर नगर में वर्ष १९९१-९२ हेतु सर्वसम्मति से वार्षिक निर्वाचन में निम्न पदाधिकारी चुने गए—

१. प्रधान—श्री सुखदेव जी महाशय
२. मंत्री—श्री रामचन्द्र जी आर्य
३. कोषाध्यक्ष—श्री धर्मदेव जी

—आर्य समाज गोविन्दपुरी मे रविवार दिनांक ३१-३-९१ को चुनाव हुआ जिसमे निम्नलिखित पदाधिकारी सर्व-सम्मति से चुने गये :—

१. श्री राम दुलारे मिश्रा (प्रधान)
२. श्री सोमदेव मल्होत्रा (मंत्री)
३ श्री गंगा शरण शर्मा (कोषाध्यक्ष)

—आर्य समाज रावतमाटा का वार्षिक चुनाव दिनाक २४-३-९१ को सम्पन्न हुआ। वर्ष १९९१-९२ के लिए निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये :—

१—प्रधान—श्री देव प्रसाद पाण्डेय, २—मंत्री—श्री देवेन्द्र कुमार,
३—कोषाध्यक्ष—श्री ओमप्रकाश आर्य ४—सदस्य श्री धर्मेन्द्र सिंह लोधी

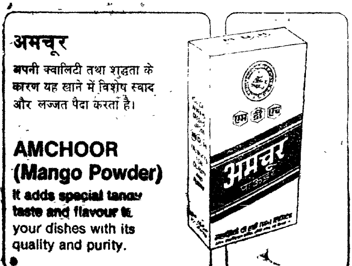
—आर्य समाज दुर्गा पुरी का परिवर्तित नाम पूर्वी बाबरपुर शाहदरा का वार्षिक चुनाव सर्वसम्मति से निम्न प्रकार हुआ।

१ प्रधान—श्री विजयपाल सिंह (एडवोकेट)
२. सचिव—श्री रामनारायण शर्मा
३. कोषाध्यक्ष—श्री चन्द्रभानु "सुमन"

—आर्य समाज हैवी इलेक्ट्रीकल्स पिपलानी का वर्ष १९९१-९२ के लिये दिनांक १७ मार्च १९९१ को प्रातः ९.३० बजे साधारण सभा में निम्न अधिकारी चुने गए।

१. अध्यक्ष—श्री धर्मवीर वधवा
२. मन्त्री—श्री जगदेव बैंठा
३—कोषाध्यक्ष—श्री विनोद कुमार आर्य







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 18-19-4-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५९ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

शहीद दिवस सम्पन्न

नई दिल्ली। केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली द्वारा आर्य समाज लाजपतनगर (द्वितीय) मे गत मास शहीद दिवस सोल्लासपूर्वक मनाया गया। समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रि० आर्यवीर भल्ला ने युवाओं व देश के नागरिकों को शहीदों के पदचिह्नों पर चलने का आह्वान किया। उन्होंने कहा—आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कांग्रेस की स्थापना से १० वर्ष पूर्व ही 'स्वदेश व स्वराज्य' का नारा राष्ट्र को दिया था। यही कारण है कि वैदिक विचारधारा के इस आन्दोलन में सर्वाधिक क्रान्तिकारी व सत्याग्रही प्रभावित रहे। "शहीद" किसी राष्ट्र या संस्था के संकीर्ण दायरे में शामिल नहीं किये जा सकते, वे समस्त विश्व के लिए प्रेरणाप्रद हैं।

इस अवसर पर पूर्व सांसद श्री रामचन्द्र विकल ने कहा वर्तमान राजनीति में अच्छे लोगों को आगे लाना चाहिए। शहीद भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव के जीवन से हम प्रेरणा लें तथा राष्ट्रहित सर्वोपरि मानकर प्रत्येक कार्य करें।

प्रान्तीय आर्य महिला सभा की प्रधाना श्रीमती शकुन्तला आर्या, आर्य प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल, पत्रकार श्री नरेन्द्र अवस्थी, परिषद् अध्यक्ष श्री अनिल आर्य, श्री ओमप्रकाश कपूर, पं० ..., ... विजय चौधरी आदि ने अमर शहीदों को श्रद्धांजलि दी।

—अजय कपूर
मन्त्री लाजपत नगर

शान्ति यज्ञ सम्पन्न

बिहार राज्य के पटना मण्डलान्तर्गत आर्य समाज ... के पूर्व मंत्री श्री योगेन्द्र प्रसाद आर्य के पूज्य पिता का देहावसान हो गया। दिनांक २०.३-९१ को उनके निवास स्थान पर स्वामी अमितव्रत (डा० देवेन्द्र सत्यार्थी) के द्वारा शान्ति यज्ञ सम्पन्न हुआ। इस शान्ति यज्ञ में सर्वश्री स्वामी दयानन्द, श्री विनोद कुमार आर्य एवं श्री भगवान सहाय (मुजफ्फरपुर) आदि ने श्री योगेन्द्र प्रसाद जी को धैर्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना की।

प्रवेश प्रारम्भ

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ फरीदाबाद क्षेत्र हरियाणा पो०-नई दिल्ली-४४ में पहली कक्षा से दसवीं कक्षा तक प्रवेश प्रारम्भ है। प्रवेश योग्यता छात्र कम से कम ८ वर्ष की आयु का होना चाहिए। यहां प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रन्थों के साथ-साथ आधुनिक विषयों का भी अध्ययन कराया जाता है। पाठ्यक्रम हरियाणा शिक्षा विभाग से सम्बद्ध है। यहां छात्रावास की सुविधा उपलब्ध है। अपने बच्चों को ... ... मिलें या पत्र व्यवहार द्वारा सम्पर्क स्थापित करें।

—आचार्य ...
गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ फरीदाबाद (हरियाणा)



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन: २६१४५८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन: ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५९)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २१ | रविवार, १४ अप्रैल, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

राष्ट्र के सामने आई चुनौतियों का समाधान आर्य समाज ही कर सकता है

—स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

आज राष्ट्र के सामने अनेक कठिन समस्याए हैं। सबसे बडी समस्या राष्ट्रीय अखण्डता को सम्भाल कर रखना है। आज पजाब एव कश्मीर की अलगाववादी प्रवृत्तियां जोरो पर हैं। इनके लिए सुरक्षा पट्टी और सैनिक शासन ही एक मात्र समाधान है।

ये उद्‌गार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने आर्य समाज लक्ष्मी नगर के वार्षिकोत्सव पर व्यक्त किए। इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, महामन्त्री सूर्यदेव, एव आर्य केन्द्रीय सभा के महामन्त्री श्री शिवकुमार शास्त्री, प० प्रणव प्रकाश शास्त्री आदि ने भी अपने सामयिक विचार व्यक्त किए। आर्य समाज लक्ष्मी नगर के प्रधान श्री महेश्वरी ने सभी अभ्यागतो का स्वागत किया।

महर्षि दयानन्द काव्य का विमोचन

भारत के उपराष्ट्रपति डा० शकरदयाल शर्मा ने कविवर प० जगदेव शान्त द्वारा लिखित महाकाव्य 'महर्षि दयानन्द' का २५ मार्च १९९१ को लोकार्पण करते हुए कहा कि इस महाकाव्य के माध्यम से महर्षि दयानन्द सरस्वती का सदुपदेश जन-जन तक पहुंचेगा। इस अवसर पर स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, डा० धर्मपाल प्रो० विजयेन्द्र स्नातक और आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन ने भी अपने विचार व्यक्त किए। महाकाव्य के प्रकाशक भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ के स्वत्वाधिकारी श्री परमात्मा शरण जी ने सभी अभ्यागतो का धन्यवाद किया।

आर्य समाज नजफगढ़

आर्यसमाज नजफगढ, का वार्षिकोत्सव १५-१६-१७ मार्च को समारोह पूर्वक आयोजित किया गया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती, पं० सत्यदेव स्नातक, प० चुन्नीलाल और अन्य भजनमडलियो ने वेदप्रचार किया। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने चौ० रघुनाथ सिंह और उनके साथियों के कार्य की समीक्षा करते हुए कहा कि यह हमारा सौभाग्य है कि इस मच पर पन्द्रह सन्यासी विद्यमान हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उनका सम्मान करें और वे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए यथाशक्ति कार्य करे। आर्य केन्द्रीय सभा के महामत्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने आर्य समाज की महत्ता पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर शोभा यात्रा एव नगरकीर्तन का भी आयोजन किया गया।

कन्या गुरुकुल नरेला

कन्या गुरुकुल नरेला का वार्षिकोत्सव ३०-३१ मार्च १९९१ को समारोह पूर्वक आयोजित किया गया। स्वामी ओमानन्द सरस्वती, स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती, डा० धर्मपाल, भजनोपदेशक प० सत्यदेव स्नातक, पं० चुन्नीलाल आदि ने वेदोपदेश किया। इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने कन्या गुरुकुल की उपलब्धियों को रेखाकित करते हुए आशा व्यक्त की, कि ये बेटिया वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में आगे आएगी। वैद्य कर्मवीर जी ने सभी अभ्यागतो का स्वागत किया।

श्रीमती सुशीला गोयल का विदाई समारोह

रतनदेवी आर्य कन्या सीनियर सैकण्डरी स्कूल, कृष्ण नगर की प्रधानाचार्या श्रीमती सुशीला गोयल के सेवा निवृत्त होने पर, एक भव्य विदाई समारोह का आयोजन किया गया। अध्यापिकाओ अभिभावको, शिक्षा विभाग के अधिकारियो तथा प्रबन्ध समिति के सदस्यो ने उनके कार्य की भूरि-भूरि प्रशसा की। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने आशा व्यक्त की कि श्रीमती सुशीला जी का नेतृत्व एव परामर्श विद्यालय को प्रगति देने के लिए इसी प्रकार मिलता रहेगा। श्रीमती गोयल को इस अवसर पर ससम्मान एव सस्नेह उपहार भी भेट किए गए। श्रीमती ईश्वर देवी धवन, श्रीमती सावित्री धवन, श्री नेतराम शर्मा, श्री खन्ना, श्री वर्मा, श्री गोयल, श्रीमती ईश्वर देवी आदि ने उनके दीर्घ जीवन एव स्वास्थ्य की कामना की।

आर्यसमाज स्थापना दिवस

आर्यसमाज मन्दिर गीता कालोनी दिल्ली मे आर्यसमाज स्थापना दिवस दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल की अध्यक्षता मे समारोह पूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर आर्य केन्द्रीय सभा के महामत्री डा० शिवकुमार शास्त्री, स्वामी सत्यानन्द जी और प० प्रणव प्रकाश शास्त्री ने भी अपने विचार व्यक्त किए। प० आशानन्द आर्य के ओजस्वी भजनोपदेश हुए। पूर्वी दिल्ली आर्य उपप्रतिनिधि सभा की प्रधाना श्रीमती ईश्वरदेवी धवन ने अभ्यागतो का स्वागत किया तथा मत्री मास्टर मनोहर लाल ने कार्यक्रम का सयोजन किया। पूर्वी दिल्ली की सभी आर्यसमाजो के प्रतिनिधि इस समारोह मे सम्मिलित हुए।

वैदिक विद्वान का सम्मान

पिछले कई वर्षों से दिल्ली की विभिन्न आर्यसमाजो में वैदिक विद्वानो के सम्मान की परम्परा बन गई है। आर्यसमाज सदर बाजार मे लाला चन्दीमल जी ने ग्यारह हजार रुपये का सात्विक दान दिया। यह धनराशि स्थिर निधि मे रखी जाएगी। इससे वर्ष भर में प्राप्त ब्याज से प्रति वर्ष एक वैदिक विद्वान का सम्मान किया जाएगा। रविवार ११ मार्च को आर्यसमाज सदर बाजार में लाला जी का सम्मान किया गया। समारोह की अध्यक्षता दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने की। लाला जी का परिचय श्री चन्द्रदेव जी ने किया। लाला किशोरी लाल जी ने अभ्यागतो का स्वागत किया। मत्री वैद्य इन्द्रदेव जी ने कार्यक्रम का सयोजन किया।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

जगन्नाथ की वास्तविक आराधना

(गतांक से आगे)

—श्री भैरव दत्त शुक्ल

किसी व्यक्ति के पास करोड़ो-अरबो की सम्पत्ति है उसने कई मंदिर बनवाये हैं, प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करायी हैं और कई पुजारी और मन्त्र-पाठी पंडित निश्चित वेतन पर लगा रक्खे हैं लेकिन यदि उसके पड़ोसी भूख से व्याकुल हैं, नंगे बदन हैं और बेकारी या बेरोजगारी के जबरदस्त शिकंजे मे जकड़े हुए हैं तो वह सच्चा ईश्वर-भक्त नहीं हो सकता और उसकी भक्ति या आराधना न होकर कोरी रुढि है। प्रभु-भक्ति से संयुक्त प्रत्येक व्यक्ति का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह निर्बलो को बलवान बनाए और पतितो के उत्थान मे सहायक बने।

(३) यस्य विश्व उपासते—इसलिए चाहे कुछ हो, विश्व की परिधि मे जो व्यक्ति पहुंचते हैं; उन सभी को चाहे-अन चाहे रूप मे उसी परमेश्वर का पल्ला पकड़ना पड़ता है। जिस समय संसार के सारे सम्बन्ध अस्त-व्यस्त हो उठते हैं, नेकी का बदला बुराई मे मिलने लगता है, अभाव का शिकंजा खूब कस जाता है और चारो ओर लेशमात्र सहायता की आशा शेष नही रह जाती तो उस समय प्रभु का स्मरण आ ही जाता है। कट्टर से कट्टर नास्तिको को भी बुभुक्षितावस्था, रोग-जन्म पीडा और बेचैनी या मृत्यु के आक्रमण मे परमेश्वर का ध्यान करते देखा गया है। ऐसे भी व्यक्तियो की कमी नही है जो अवरोधो और अवनति व्यूहों की विकरालता के हाहाकार मे वीरो की मजारो पर सिर पटकते हैं, सन्तो की भस्म या चरण-रज शिरोधार्य करते हैं, कनफुका गुरु-सेवा का व्रत ग्रहण कर लेते हैं, अर्हतो या महन्तों के पीछे लगते फिरते हैं उनसे भी बढ़कर वे विद्वान और विवेचक भी थोड़े नही है, जो इन उपर्युक्त माध्यमो को भी ईश्वर की आराधना का ही एक रूप मान लेते हैं। उन्ही की यह घोषणा प्राय: सुनी जाती है कि उस प्रभु की पूजा के संसार में जो भी प्रचलित मार्ग है, वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी सब उस प्रभु की ओर ही जा रहे हैं। ऐसे लोग पुष्टि मे गीता के नवें अध्याय का तेईसवां श्लोक प्रस्तुत कर देते हैं।

परन्तु हमे सतर्क रहना है और संसार के सभी मनुष्यो को भी सावधान कर देना है कि सभी मार्ग भले ही ईश्वर की आराधना के ही मार्ग माने जाते हो, फिर भी वे प्रभु की आराधना के रूप मे स्वीकार नही किये जा सकते। अपनी कामना पूर्ति के लिए किसी देवता-विशेष पर निरीह भोले बकरे, भेड़े, भैंसे, बछड़े या बालक की बलि चढ़ाना, मजारो और दरगाहो पर चादर-रेवड़ी चढ़ाते फिरना, पाषाण प्रतिमाओ का नाना विधि-विधानो से पूजन करना आदि जितने भी कर्म प्रचलित हैं, उन्हें ईश्वर की आराधना का मार्ग समझना बुद्धि का दिवालियापन है। ये और ऐसे ही अन्य कर्म—जैसे पति के शव पर पत्नी का जीवित जल जाना, स्वर्ग के पितरो के लिए ब्राह्मण जिमा कर यह मान लेना कि भोजन उन तक पहुंच जायगा आदि-आदि जड़ता, रुढ़िवादिता असभ्यता और स्वार्थ-भावना के परिचायक हैं। हमें प्रभु-भक्त के नाते इनका जमकर विरोध करना है, इनकी पुष्टि मे गीता आदि के श्लोक रखने वालो की धज्जियां उड़ानी है और स्पष्ट बतला देना है कि जिस मार्ग से मानवता खंडित-विभाजित न होती हो, व्यक्ति और समाज के सौमनस्य मे विघ्न न पड़ते हो, प्रत्येक तृण पशु एवं प्राणी के प्रति ममता अक्षुण्ण बनी रहती हो, वही मार्ग ईश्वर की सच्ची आराधना का मार्ग है। ये जो भिन्न-भिन्न मार्ग गीता या ऐसे ही अन्य महान् ग्रंथो मे ईश्वर तक पहुंचने वाले बतलाये गये है, वे ज्ञान, योग, भक्ति, श्रम, व्यापार, रक्षा, प्रेम, कर्त्तव्य पालन, परोपकार आदि हैं। अर्थात्, यदि व्यक्ति अपने सारे कर्मो का फल अपने लिए न रखकर समाज-सापेक्ष या संसार-सापेक्ष बना दे तो भले ही वह अपने अनुशासित विधि-विधान की दृष्टि से ईश्वर की आराधना का क, ख, ग, तक न जानता हो, परन्तु उसका कर्म ही ईश्वर की आराधना जैसा हो जायगा। दूसरी ओर विधि-विधान से युक्त ईश्वर की आराधना का कोई भी मार्ग सर्वतो भावेन बाह्यत: शुद्ध होने पर भी यदि मानव-मानव मे विभेद पनपाता है, घृणा की कालिमा बढ़ा देता है, ईर्ष्या की भट्टी धधकाता है, युद्ध के बादल मंडराने मे सहायक बनता है, बेकारी-बेरोजगारी बढ़ाता है, घोरतम विषमता के हलाहल मे सारे समाज को डुबा देता है तो उसे कोई भी विवेकशील व्यक्ति ईश्वर की आराधना का मार्ग नही अंगीकार कर सकेगा।

(क्रमश.)

महाराजा अग्रसेन इन्टर कालेज
पो०-तिकुनिया खीरी (उ०प्र०)

महात्मा हंसराज का प्रादुर्भाव

—सत्यभूषण "शान्त" वेदालंकार एम. ए.

कैसे अनुपम और अलौकिक हंसराज थे महापुरुष।
त्याग दिया सर्वस्व जाति हित कभी न सोचा अपना सुख॥

दयानन्द के आदर्शों को निज जीवन मे ढाला था।
वैदिक धर्माचरण किया सबका उपकार विचारा था।

दयानन्द एंग्लो वैदिक विद्यालय उनकी थाती हैं।
मूर्तिमान उनका स्वरूप जो हम सबको प्रिय भाती है॥

अपनी संस्कृति गरिमा को हम भूले थे भारतवासी
छाई थी पाश्चात्य सभ्यता बने उसी के विश्वासी॥

लाखो लाल लुट रहे थे गोरांगो की प्रभुता छाई।
धर्म, कर्म सब भूल चुके थे हमको लाज नही आई॥

ऐसे विकट काल में प्रभु ने अपनी लीला दरशाई।
एक सुघड़ देवी पंजाब की घर से निज नीचे आई॥

पौ फटने से पहले ही वह देवी वहाँ विराजी थी।
गाय एक सुन्दर उससे इच्छा भोजन की रखती थी॥

देवी ने पुलकित नयनो से देखा और दुलारा था।
बड़े प्रेम से उसके आगे रखा रोज का चारा था।

उधर भुवन भास्कर जगती आलोकित करने को व्याकुल।
दिव्य विभूति इधर से आने को भी थी अतीव आतुर॥

नव मासो से जिसे गर्भ में आप पालती आई है।
उसे प्रकाशित होने की भी प्रबल लालसा छाई है॥

वैसे जैसे रवि रश्मि भूमण्डल पर आकर उतरी।
वैसे उस तेजस्वी बालक की मुस्कान मे छवि छितरी॥

मचल उठा शिशु तभी पड़ोसिन जानी मानी यो बोली।
भागवान गो मां की सेवा करते पाया रत्न भरी॥

बड़ा सुलच्छन बालक गाय दुग्ध सम इसका चरित विमल।
जैसे गाय शुष्क घास खा देती अपना क्षीर विमल।

ऐसे ही निष्काम भाव से पर सेवा पीड़ा हरने।
हुआ अवतरित है इस भू पर इस भव सागर को तरने॥

अठारह सौ चौसठ उन्नीस अप्रैल की यह घटना है।
कौन जानता था यह शिशु विभु की अति अद्भुत रचना है॥

बजवाड़ा मे आंखे खोली रूप लिये महात्मा का।
जगती को कर मंत्र मुग्ध था भक्त अटल परमात्मा का॥

भग्न भवन का उस शिशु ने था सर्वप्रथम श्रृंगार किया।
आगे चलकर ऋषिवर के सपनो को था साकार किया॥

युग निर्माता के आदर्शो पर डाली थी नींव अहो।
हंसराज ने सब कुछ तजकर रचा भव्य था भवन अहो॥

उस विभूति ने शत-सहस्र शिशुओ को था वरदान दिया।
विद्या सुधा पिलाकर उनको था चरित्र निर्माण किया॥

प्रभो ! महात्मा हंसराज सा हम अब कैसे पाएंगे।
"शान्त" चरण चिह्नो पर उसके क्या हम अब चल पाएंगे ?

१२, मुनिरका विहार,
नई दिल्ली—६७

भूल-सुधार

साप्ताहिक आर्य सन्देश मे ७ अप्रैल ९१ के अंक मे गलती से "अमर धर्मवीर महाशय धर्मपाल" छप गया है। कृपया पाठकगण 'महाशय धर्मपाल' की जगह 'महाशय राजपाल' पढ़े। धन्यवाद।

—सम्पादक

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश



महात्मा हंसराज

महात्मा हंसराज भारत की पवित्र धरा पर कार्यक्षेत्र मे उस समय अवतरित हुए थे, जब यहा पर जन-जन को ईसाममीह की भेडो में सम्मिलित करने का कुत्सित प्रयास त्वरित गति से चल रहा था। लार्ड मैकाले की शिक्षा नीति ऐसे क्लर्क तैयार करने की थी जिनका शरीर भारतीय हो, परन्तु जिनकी आत्मा अंग्रेजियत मे रची बसी हो। ऐसे विकराल षड्यन्त्र को चुनौती देने के लिए महात्मा हंसराज सीना तानकर खडे हो गए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षा नीति के प्रचार-प्रसार का सकल्प लेकर चलने वाले स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज के जीवन हमारे लिए प्रेरक हैं। इस महामना ने ससार को दिखला दिया कि वैदिक शिक्षा पद्धति से ही राष्ट्र और विश्व का कल्याण सभव है और उसने डी ए वी स्कूलो, कालेजों का ऐसा वट वृक्ष रोप दिया जो आज केवल भारत भूमि पर ही नहीं, अपितु विश्व के अन्य देशो मे आर्यसमाज और वैदिक धर्म को गति देने के लिए सतत छाया वितानित कर रहा है।

महात्मा हंसराज चाहते तो सरकारी नौकरी करके ऐशो-आराम की जिन्दगी बिता सकते थे, पर उन्होने तो चुना था समाज सुधार का कटकाकीर्ण मार्ग, त्याग, तपस्या और बलिदान का लम्बा जीवन। रास्ता ऊबड़-खाबड़ था, भयावना था और बलिदान मांगता था। इसी रास्ते पर महात्मा हंसराज चल पड़े थे।

महात्मा हंसराज केवल शिक्षा तक सीमित नही रहे। उन्होने बीकानेर, राजपूताना, सूरत, मध्यप्रदेश, बड़ौदा, अवध, गढवाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ के अकाल मे तथा कागड़ा के भूकम्प के महाविनाश मे देवता-तुल्य सेवा कार्य किया। यही कार्य उन्हें महात्मा के नाम से पुकारे जाने की सार्थकता को सिद्ध करता है। उनका कार्य युगों-युगो तक मानव के मार्ग को प्रशस्त एव आलोकित करता रहेगा। उनकी स्मृति मे श्रद्धांजलि।

—डा० धर्मपाल

महात्मा हंसराज दिवस

स्थान : तालकटोरा इण्डोर स्टेडियम

तिथि : २१ अप्रैल १६६१, रविवार

समय : प्रातः ६ से १ बजे तक

अध्यक्ष : डा० स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती

प्रिय बन्धुओ !

महात्मा हंसराज श्वेत वस्त्रों में सन्यासी, त्यागमूर्ति, प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एव डी० ए० वी० आन्दोलन के सूत्रधार थे। ऐसे युगपुरुष का जन्मोत्सव हमारे जीवन के लिए प्रेरणाप्रद होगा।

हमारी आप सबसे विनम्र प्रार्थना है कि इस शुभावसर पर सपरिवार एवं इष्ट मित्रों सहित अधिक संख्या में पधार कर अनुगृहीत करें।

—सूर्यदेव (महामन्त्री)
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा
१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(७ अप्रैल, ६१ के अक से आगे)

मैं स्वाध्याय मंडल पारडी से उक्त पाठमाला के भाग क्रमश मगाता गया और इन्ही के आधार पर मैंने सस्कृत का काम चलाऊ ज्ञान उपार्जित किया। सस्कृत पढने में मेरे साथी थे श्री चाँदमल जी। व्यवसाय तो उनका पीतल के बर्तन बनाने का था और दिन भर के शारीरिक काम के पश्चात् थक जाना स्वाभाविक ही था, किन्तु सस्कृत के प्रति निष्ठा तथा देववाणी को सीखने की उनकी लगन काम आई और वे भी मेरे सहाध्यायी बन गये। हमदोनों रात्रि को आर्यसमाज गुलाब सागर मे आकर पं० सातवलेकर प्रणीत पाठमालाओ के आधार पर अपना सस्कृत अभ्यास जारी रखते। कुछ दिनों तक तो यह क्रम चलता रहा किन्तु बाद मे चांदमल जी को अपनी व्यवसाय जन्य कठिनाइयों के कारण इस कार्यक्रम से पृथक होना पड़ा। मैंने अपना अध्ययन जारी रखा।

जोधपुर मे श्री जानकी वल्लभ जी माथुर गीता प्रचार मण्डल नामक एक धार्मिक और सास्कृतिक सस्था का सचालन करते थे। यद्यपि आयु मे वे हम से बहुत बड़े थे, किन्तु समानशील और व्यसन होने से उनका मेरे प्रति सौहार्द भाव था। उन्होने सस्कृत शिक्षण को बढ़ावा देने के लिए स्वाध्याय मंजुल पारडी द्वारा सचालित सस्कृत परीक्षाओ का केन्द्र गीता प्रचार मण्डल के अन्तर्गत चलाया। मैंने स्वाध्याय मण्डल की सभी परीक्षाए एक के बाद एक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि सस्कृत पाठमाला के १८ भागो को विधि पूर्वक पढ़ने और आत्मसात करने का अवसर मुझे मिल गया। इस परीक्षाक्रम की अन्तिम परीक्षा संस्कृत विशारद थी जिसे मैंने उत्तीर्ण किया। स्वाध्याय मण्डल गीता तथा उपनिषदो का अध्ययन तो मैंने किया ही था, इसलिए स्वाध्याय मण्डल का उपनिषदलंकार परीक्षा भी मैंने उत्तीर्ण की। सरदारपुरा में हमारे पड़ोसी स्व० हरिसिंह जी माथुर की पुत्री शान्ति माथुर ने भी मेरे साथ सस्कृत परीक्षाए दी थी। उनको सगीत एव गायन में नैपुण्य प्राप्त था। कालान्तर मे उनके कुछ गीत चित्रपट के माध्यम से भी आये।

मेरा शास्त्राध्ययन

जैसा कि मैं लिख चुका हू किसी भी शास्त्र या शास्त्रीय विद्या को विधिवत् गुरुमुख से पढने का सौभाग्य या अवसर मुझे प्राप्त नही हुआ। मेरा समस्त अध्ययन स्वकृत ही है। इसका तरीका भी मैंने ही आविष्कृत किया था। उदाहरणार्थ, मैंने महात्मा नारायण स्वामी लिखित आठ उपनिषदो की सुगम टीका तो उन्ही दिनो खरीद ली थी जब मैं कालेज मे प्रविष्ट हुआ था। इन्हें पढने मे और समझने में मुझे कोई कठिनाई नही हुई। अब जब आर्य समाज गुलाबसागर के पुस्तकालय का कार्य मेरे जिम्मे आया तो मैंने वहा उपलब्ध उपनिषदो की अन्य सभी टीकाए, जो भी मिली, पढ डाली। उदाहरणार्थ, स्वामी दर्शनानन्द, प० आर्य मुनि स्वामी ब्रह्ममुनि, प० राजाराम तथा अन्य आर्य विद्वानो द्वारा लिखित टीकाएं। इसका प्रत्यक्ष लाभ तो यही हुआ कि उपनिषदो मे प्रतिपादित विषय को हृदयगम करने में मुझे सहायता ही मिली।

इसी प्रकार मैंने दर्शन (मीमांसा को छोड़ कर) मनुस्मृति, गीता आदि दयानन्द भाष्य ग्रन्थों का अभ्यास भी कर लिया, बिना इस बात की चिन्ता किए कि इन शास्त्रों के कौन-कौन से अश टीका और भाष्य आदि पढ़ने पर भी स्पष्ट नही हो सके हैं। इस प्रसग में इतना कह देना और आवश्यक है गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को समझना तो कठिन था ही नहीं, न्याय और वैशेषिक के कुछ अश निश्चय ही दुर्बोध थे और वे तथैव रह भी गये। वेदो के विभिन्न अंशों के स्वामी वेदानन्द जी द्वारा लिखे गये व्याख्या ग्रन्थो और उसी कोटी के अन्य ग्रन्थों के स्वाध्याय ने वेदाध्ययन के प्रवेश द्वार को खोल दिया।

(क्रमशः)

आर्य सन्देश का पं० लेखराम बलिदान अंक और विद्वानों की सेवा में मेरा नम्र निवेदन

—प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु

'आर्य सन्देश' का आकर्षक प० लेखराम बलिदान विशेषांक देख कर मुझे अपार प्रसन्नता प्राप्त हुई। वर्षों के पश्चात् किसी पत्रिका के मुख पृष्ठ पर प्राणवीर प० लेखराम का सुन्दर चित्र देख कर मैं तृप्त हो गया। इस प्रयास पर मैं दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा को बधाई भेंट करता हूं। जिन माननीय लेखको ने वीरवर प० लेखराम पर लेख लिखे, वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। पहले ऐसे-ऐसे अंक निकलते थे तो आर्य कवि हमारे महापुरुषों पर नित्य नई कविताये रचा करते थे। कई वर्ष तक मेरा यह नियम रहा कि मैं प्रत्येक ऐसे पर्व पर नये-नये गीत व कवितायें लिखा करता था। अब समाजो के कर्णधारों की प्रवृत्ति बदल गई है, सम्पादक भी वैसे सजग व उत्साही नहीं रहे। लेखक, कवि व पाठक भी हिम्मत हार बैठे हैं इसी का प्रमाण इस अंक मे मिल गया कि इस अंक में श्री धर्मपाल जी आर्य नरवाना की एकमेव कविता प० लेखराम जी पर छपी है परन्तु श्री धर्मपाल जी ने भयानक रोग से ग्रस्त होते हुए भी कविता रच कर बड़ा उत्तम कर्म किया है। आर्य सन्देश के सम्पादक व देहली आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रयास प्रशंसा योग्य है।

अब विद्वानो की सेवा मे कुछ नम्र निवेदन करता हूं। आशा है लेखक व पाठक सभी मेरी विनती पर ध्यान देंगे। इन लेखो मे अनजाने से व कुछ लेखको के स्मृति दोष के कारण भ्रामक सामग्री छप गई है।

(१) प० लेखराम जी का कुल 'महता' नही था। यह भ्रान्ति श्री महात्मा मुन्शीराम जी के उस लेख से फैली जो आपने धर्मवीर प० लेखराम जी के बलिदान पर लिखा था। इसका एक उज्जवल पक्ष तो यह है कि प० लेखराम जी के घनिष्ठ साथी महात्मा मुन्शीराम जी को भी अपने परम प्यारे मित्र लेखराम की जन्म की जाति-पाति का अता पता न था। कैसा क्रान्तिकारी और सच्चा व पक्का ऋषि भक्त था प० लेखराम। मेरे कथन का आधार क्या है कि प० जी महता नही थे? पूज्य प० लेखराम जी के सगे चाचा पं० गण्डाराम जी ने पण्डित जी के जीवन चरित्र मे इसका प्रतिवाद किया है। वे सारस्वत ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे। मैंने प० लेखराम जी के जीवन चरित्र मे इस पर प्रकाश डाला है।

(२) श्री प० लेखराम जी पुत्र को रुग्न छोड कर यात्रा पर नही गये थे। पुत्र उनकी उपस्थिति मे ही चल बसा था। हां! पुत्र के निधन से पूर्व श्रीमती जी को भी एक कार्यक्रम मे ले गये थे और इकलौते बेटे की मृत्यु के झट बाद फिर प्रचार के लिए निकल गये। भाई के निधन पर भी घर न जा सके। दीनानगर आदि स्थानो पर धर्म रक्षा, जाति रक्षा के लिए चले गये।

(३) प० लेखराम जी को श्री कन्हैयालाल अलखधारी की पुस्तको से ऋषि के बारे मे जानकारी मिली। यह अतथ्य है। कन्हैयालाल जी की पुस्तके मेरे पास हैं। जो नहीं हैं, वे भी बहुत सी मैंने देखी हैं। उनकी पुस्तको मे तो ऋषि की चर्चा नही। उनके पत्र "नीति प्रकाश" मे ऋषि की चर्चा खूब होती थी। इसी से पण्डित जी को ऋषि का पता चला था। इसी मे छपी ऋषि सम्बन्धी सामग्री बाद में पृथक पुस्तिका के रूप मे छपी। बहुत प्रचारित हुई। इसी ऐतिहासिक पुस्तिका को मैंने अनुदित व सम्पादित करके फिर प्रसारित किया।

(४) यह कन्हैयालाल अलखधारी लुधियाना के थे। मूलतः उत्तर प्रदेश के थे। आगरा आदि कई नगरों मे रहे। यह देहादून वाले मुहम्मद उमर नही थे जिन्हे ऋषि ने अलखधारी नाम देकर शुद्ध किया। वह अलखधारी प० लेखराम के मित्र थे। लुधियाना वाले अलखधारी के कभी ला० लाजपतराय व प० लेखराम तथा प० गुरुदत्त चेले रहे।

(५) प० लेखराम जी की सब पुस्तके कुलियाते आर्य मुसाफिर मे ही नही हैं। इसका विवेचन मैं यहां नही करता। मेरे ग्रन्थ मे इस पर विस्तार से चर्चा है। मेरे पास प० लेखराम जी के और भी कई लेख हैं जिन्हें कभी अनुदित करके छपवाऊंगा।

(६) कुलियाते आर्य मुसाफिर का जो हिन्दी अनुवाद पजाब सभा ने छापा उसमे पूरी कुलियात नहीं है। हरियाणा साहित्य संस्थान ने कभी भी पं० लेखराम की कुलियात का हिन्दी अनुवाद नहीं छापा। पजाब सभा से कुछ प्रतियाँ लेकर उसकी जिल्द बदल कर अपना पता देकर बेची।

(७) प० लेखराम जी ने अरबी में कुछ भी नही लिखा। हां! वे इस भाषा के भी मर्मज्ञ विद्वान थे।

(८) श्री पंडित जी उर्दू, फारसी व हिन्दी के कवि भी थे, यह किसी ने भी चर्चा नहीं की। पहले आर्य समाज के वार्षिकोत्सवो के विज्ञापन पर यह पद्य छपा करता था :—

नगाड़ा धर्म का बजता है, आये जिसका जी चाहे।
सदाकत वेद अकदस, आजमाए जिसका जी चाहे॥

यह पद्य पण्डित जी की कविता का अंश है।

(९) प० लेखराम जी के पेशावर आर्य समाज के पुस्तकालय की भी किसी ने चर्चा की है। पण्डित जी के निजी पुस्तकालय की चर्चा किसी ने नहीं की। इसमें अंग्रेजी की भी बहुमूल्य पुस्तकें थीं। पण्डित जी अंग्रेजी नहीं जानते थे। यह तथ्य मैं चाचा गण्डाराम जी के आधार पर दे रहा हूं। प० लेखराम जी के सभी पुराने शिष्यो ने इसकी पुष्टि की है। मैंने उनके चेले श्री महता जैमिनी भूमण्डल प्रचारक के मुख से भी ऐसा ही सुना था। यह थी उनकी लगन व धर्मानुराग।

पं० लेखराम के परिवार के बारे में

(१०) मधुर लोक मे मेरा एक लेख आ रहा है। मुस्तफाबाद हरियाणा मे पण्डितजी की एक बहिन रहती थी। प० शान्ति प्रकाश जी व प० ओमप्रकाशजी वर्मा ने उनके दर्शन किए थे। वह अब नही हैं। मैं उनके परिवार की खोज करता रहा। पण्डित जी की वह सगी बहिन तो नही हो सकती, यह विचार करने से अब पता चला। वह चचेरी बहिन होगी। उसकी दो पुत्रियो का पता चला। एक अभी जीवित है। मैं उनके घर भी हो आया हूं। पं० लेखराम जी की भांजी तब घर पर न थी। देहरादून गई थीं। अब मैं फिर उनके दर्शनार्थ जाऊगा। उन्होंने अपनी माता जी से अपने महान मामा प० लेखराम जी के बारे मे क्या सुन रखा है, यह पाठकों को भेंट करूगा। पण्डित जी की भांजी की पुत्र-वधू की मातृभाषा फारसी है। वह मेरे मुख से पण्डित लेखराम जी की वह प्रसिद्ध व ओजस्वी फारसी कविता सुन कर भड़क उठी।

वह कविता जो मैं प्रायः अपने व्याख्यानो में सुनाया करता हू।

दो तीन मास के अदर मधुर प्रकाशन में भी पण्डित लेखरामजी पर मेरी एक नई पुस्तक छप रही है। इसमें मैं पर्याप्त नई व प्रामाणिक सामग्री दे रहा हूं। यह तो आर्य जनता पर निर्भर करता है कि वह अपने इस महान् ज्ञानी बलिदानी वीर नेता, जाति रक्षक, अद्भुत गवेषक के बारे मे ओजपूर्ण व वीर रस से ओत-प्रोत पुस्तक मे कितनी रूचि लेती है। वेद सदन अबोहर (पजाब)

उपयोगी घरेलू नुस्खे

—श्री नेतराम शर्मा

नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए—

—आंखो में सूजन हो तो गेरू घिस कर लेप कीजिए।

—सूत्रनेति, जल नेति करने से भी चश्मा उतर जाते हैं।

आंखो को धूल, धूप व धूंए से बचा कर रखने से आंखे खराब नहीं होती।

—बुखार—तुलसी के हरे पत्ते १० ग्राम, काली मिर्च १ ग्राम बारीक पीस कर काली मिर्च के बराबर गोली बना सुखा लें, दो गोली सुबह, दो दोपहर और दो शाम को गर्म पानी से खिलावे हर किस्म का बुखार दूर।

स्वप्नदोष तथा रुकावट—तुलसी के बीज ४ ग्राम दिन में एक बार ताजा पानी के साथ १५ दिन खावें, वीर्य जल्दी निकल जाने को रोकने का अचूक नुस्खा।

स्वामी दयानन्द व राजस्थान विषयक तथ्यों के अन्वेषक
श्री भैरव सिंह वर्मा

—प्राध्यापक कुशलदेव

सार्वदेशिक साप्ताहिक (१७ फरवरी १९९१) में प्रकाशित डा० भवानी लाल भारतीय लिखित 'एक अनोखा व्यक्तित्व श्री भैरवसिंह आर्य' नामक लेख से श्री आर्य जी के निधन का समाचार प्राप्त हुआ, श्री भैरव सिंह आर्य जोधपुर नगर आर्य समाज के भूतपूर्व मन्त्री, महर्षि के अनन्य भक्त, शास्त्रीय और व्यावहारिक स्तर पर कट्टर आर्य सिद्धांती, संयमी और सरल जिन्दगी व्यतीत करने वाले, आर्य समाज के सिद्धांत और इतिहास से सम्बद्ध बहुमूल्य दुर्लभ ग्रन्थों व चित्रों के संग्राहक थे। विशेष रूप से उन्होंने राजस्थान और जोधपुर से सबन्धित स्वामी दयानन्द विषयक पुरावृत्तों का संग्रह किया था, आर्य समाज के इतिहास का शौक तो उन्हें इतना अधिक था कि वह व्यसन की कोटि तक पहुंच गया था, इस संदर्भ में वे विद्याविलासी थे, विशेष आश्चर्य यह है कि उन्होंने इन सभी बहुमुखी कार्यों को जोधपुर नरेश और राजस्थान सरकार की प्रशासकीय सेवा में रहते हुए सम्पन्न किया था। श्री आर्य जी ८७ वर्ष के थे।

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को उद्घाटित करने में स्वयं उसके द्वारा लिखे गए बिना कटे-छटे यथावत् पत्र बहुत सहायक होते हैं, इसी प्रकार का आर्य जी का एक पत्र मैं अपने संग्रह से पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहा हू —

अत्यावश्यक ओ३म् जोधपुर

दि० X-७-८४

श्रीमान् प्रो० कुशलदेव शंकरदेव जी वडवलकर

सादर नमस्ते !

प० गोपाल हरि देशमुख लोकहितवादी कृत 'प० स्वामी दयानन्द सरस्वती' के भाषानुवाद और पांडित्यपूर्ण टिप्पणियों सहित वेदवाणी में लेख पढ़ कर उसे तथा अलग छपी पुस्तक को खरीदना पड़ा, लोकहितवादी के लेख का उत्तर लिखने पर धन्यवाद, अभी मेरा परिचय इतना ही है कि वेदवाणी मार्च १९८२ के पृष्ठ १०७ पर, टिप्पणी संख्या ६ की, संख्या ९ पर भैरवसिंह वर्मा आर्य नाम से जो उद्धरण छपा है वह मैं ही हूं।

मैं महर्षि दयानन्द का राजस्थान विशेषतः जोधपुर पर शोध कार्य कर रहा हू, राजस्थान ऋषि सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री-असली फोटुओं विवरणों, हस्तलिखित पत्रों का मैंने संग्रह किया है, जो अन्य के पास नहीं हैं।

मैं आप से पत्र व्यवहार करना चाहता था कुछ देरी हो गई आपका पूरा पता ज्ञात न होने से पहला भेजा गया पत्र लौट आया, अब पत्र मिलने पर अपना पूरा पता अवश्य लिखने की कृपा करें। ताकि पत्र व्यवहार कर सकू, उत्तर प्राप्त होने पर अन्य बातें सूचित की जावेंगी।

आशा है आप उत्तर शीघ्र दे कृतार्थ करेंगे, मैं आपके उत्तर के लिए बड़ा उत्सुक हू, विश्वास है आप मुझ ८२ वर्षीय वृद्ध को निराश न करेंगे।

उत्तर की प्रतीक्षा मे— भवदीय (ह०) भैरवसिंह

पता—भैरवसिंह वर्मा आर्य

जीवनदास का कुआ, नागोरी द्वार जोधपुर-६ (राजस्थान)

श्रद्धेय भैरवसिंह जी आर्य 'महर्षि दयानन्द और राजस्थान' पर शोध कार्य में तन्मय थे, तो मैं 'महर्षि दयानन्द और महाराष्ट्र' पर लगभग एक दशक से शोध कार्य मे लगा हुआ हूं, समान स्वभाव वाले मित्र तुल्य आर्य जी के निधन का सवाद पढ़ते ही एक आघात सा लगा और कुछ समय के लिए मैं एक सन्नाटे मे खो सा गया, व्यक्तिगत तौर पर और महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से उनके दुःखद निधन पर हार्दिक श्रद्धांजलि, परमपिता परमात्मा से यह प्रार्थना है कि उनके सुपुत्र श्री नरेन्द्रसिंह भैरवसिंह आर्य को वह धैर्य और बल प्रदान करे, जिससे कि वे अपने पिता जी के अवशिष्ट सपनों को साकार करते हुए उनकी आदर्श आर्य परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रख सकें।

अन्त में मैं आर्य जगत के लब्ध प्रतिष्ठ अनुसंधित्सु डा० भवानीलाल जी भारतीय के निवेदन को दोहराते हुए आत्मीय बधु श्री नरेन्द्रसिंह जी से यह अनुरोध भी करना चाहूंगा कि वे अपने यशस्वी पिता द्वारा एकत्रित 'स्वामी दयानन्द और राजस्थान' विषयक शोध सामग्री का यथोचित सदुपयोग करने के लिए आर्य समाज के शोध विद्वानों तथा सस्थाओं को समुपलब्ध करवाने की कृपा करे।

—हिन्दी विभाग, सुभाष महाविद्यालय, नेताजी नगर, नांदेड-४३१६०१

X हस्तलिखित पत्र में पंच से छिद्र किये जाने के कारण मूल दिनांक नष्ट हो गया है। मास और वर्ष यथावत हैं।

आर्य युवा विकास परिषद्

आर्य युवाओं के सर्वांगीण विकास तथा आर्य समाज की रक्षा जाति धर्म देश की सेवा के साथ युवाओं मे महर्षि दयानन्द सरस्वती मिशन की तरफ आकर्षित करने हेतु गत दिनों दिनांक २०-०७-९० को प्रसिद्ध सन्यासी स्वामी शकर मुनि जी गुरुकुल देवरिया वालो की अध्यक्षता में एक 'आर्य युवा विकास परिषद्' नामक युवा सगठन की स्थापना आर्यसमाज के मूर्धन्य श्री ओमप्रकाश आर्य वेलिंग्टन डा० ओम प्रकाश पालीवाल सोनीपत एवं स्वतन्त्रता सेनानी सह लाहौर आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक प० हरिश्चन्द्र जी जैसे आर्य विद्वानो के सरक्षण मे आर्य समाज राजनगर पालम कालोनी मे की गयी जिसमे निम्नांकित पदाधिकारी सर्वसम्मति से चुने गये।

१. डा० जसबीर आर्य—अध्यक्ष, २ सर्वश्री कृष्णमाधव प्रसाद आर्य—महासचिव ३. श्री विजयेन्द्र आर्य (वकील)—कोषाध्यक्ष ४ श्री अजीत सिंह—पुस्तकालयाध्यक्ष।

अन्त मे स्वामी शकर मुनि ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे आर्य युवाओ से देश की एकता व अखण्डता का आह्वान किया और आशा प्रकट करते हुए कहा कि परिषद् युवाओं मे नैतिक एव चारित्रिक विकास करेगी।

—राजेन्द्र आर्य प्रचार सचिव

आर्य समाज प्रताप नगर, दिल्ली

आर्य समाज मन्दिर मे दिनाक १८ ३ ९१ से २४ ३.९१ तक आर्य समाज स्थापना दिवस के उपलक्ष मे "चतुर्वेद शतक महायज्ञ" श्री प्रेम चन्द जी श्रीधर के ब्रह्मत्व मे बड़ी धूमधाम से मनाया गया और महायज्ञ की पूर्णाहुति दिनाक २४.३ ९१ रविवार प्रातः ९.१० बजे सम्पन्न हुई, जिसमें बड़ी सख्या मे बहने व भाई सम्मिलित हुये।

इस शुभ अवसर पर डा० धर्मपाल जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, डा० प्रशान्त कुमार वेदालकार के बड़े प्रभावशाली भाषण हुये जिसकी सबने प्रशसा की।

इसके अतिरिक्त डा० विजय कुमारजी मलहोत्रा ससद सदस्य ने भी आर्य समाज स्थापना दिवस तथा राम नवमी के उपलक्ष में अपने विचार रखे—सबने बड़े ध्यान पूर्वक सुना।

श्री लाजपतराय जी सरक्षक तथा श्री अमीर चन्द जी सब्भरवाल प्रधान आर्य समाज प्रताप नगर ने इस महायज्ञ की सफलता के लिए सबका धन्यवाद किया।

आर्य स्त्री समाज प्रताप नगर की प्रधाना तथा मन्त्राणी आदि तथा आर्य विद्या मन्दिर की अध्यापिकाओं ने बढ़चढ़ कर भाग लिया और नगर का प्रबन्ध सुचारू रूप से किया। मैं अपनी तरफ से तथा आर्य समाज की ओर से इस सफलता के लिए ऊपर लिखित सब का धन्यवाद करता हूं।

रामलाल खुराना, मन्त्री

सम्पादक के नाम पत्र

विशेषांक संग्रहणीय रहा

आर्य सन्देश का आर्य समाज स्थापना दिवस तथा पण्डित लेखराम विशेषांक प्राप्त हुआ। विशेषांक वास्तव में काफी सुन्दर एवं आकर्षक था। इसमें सभी लेख शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायक थे। आर्य समाज तथा पण्डित लेखराम जी के विषय में ढेर सारी सामग्री पढ़ने को मिली। अतः पत्रिका का यह अंक सभी दृष्टियों से उत्तम तथा संग्रहणीय रहा है। इस पत्र के विशेषांकों की बड़ी धूम रहती है। विशेषांक की सफलता के लिए बधाई।

—रामकुमार आर्य, गोहाना (रोहतक)

आदरणीय डा० धर्मपाल जी,

सादर नमस्ते। आर्य सन्देश का विशेषांक "धर्मवीर प० लेखराम स्मृति अंक' एवं "आर्य समाज स्थापना दिवस" (संयुक्तांक) प्राप्त हुआ। आभारी हूं।

३६ वर्ष की अल्पायु में लेखराम ने ३३ ग्रन्थ लिख डाले, यह उनकी ज्ञान पिपासा तथा स्वाध्याय शील होने का प्रमाण है। हमारे बन्धु बहुत कम स्वाध्याय कर पाते हैं, भला बिना पढ़े चिन्तन कैसे होगा? इस ओर हमें ध्यान देना है ताकि अज्ञानता दूर की जा सके।

—वीर मान 'वीर'

श्रद्धेय सम्पादक जी, सप्रेम नमस्ते।

वयं जयेम त्वया युजा (ऋक्)। आर्य समाज स्थापना दिवस एवं धर्मवीर पंडित लेखराम संयुक्तांक यथासमय पाकर हर्ष हुआ। श्री त्रिलोक चन्द्र विशारद ने बहुत ही उत्तम ढंग से प० लेखराम जी का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त संक्षेप में लिखकर गागर में सागर भर दिया है। श्री विशारद ने गत वर्ष के प्रकाशित विशेषांक (गुरुदत्त अंक) में अपने प्रकाशित लेख की परम्परा को आगे बढ़ाकर अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है। श्री प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु व डा० महेश विद्यालंकार की लेखनी प्रेरणादायक चली है।

श्री कपिलदेव द्विवेदी व श्री विद्यानन्द सरस्वती के हैदराबाद सत्याग्रह के संस्मरणों ने स्थान-२ पर नेत्रों को सजल कर दिया। श्री यशपाल आर्य बन्धु, श्री मनोज कुमार शास्त्री व डा० धर्मपाल जी सहित सभी लेखकों व रचनाकारों के प्रयास स्तुत्य हैं। श्री क्षितीश जी वेदालंकार का लेख तो प्रत्येक विशेषांकों में एक ज्ञानवृद्ध मनीषी साहित्यकार व पत्रकार का वर्तमान पीढ़ी के आर्यों के लिए आशीर्वाद का प्रतीक बनकर अपनी छटा बिखेरता रहता है। हम उनके शतायु जीवन की कामना करते हैं। लगातार विशेषांकों की श्रेष्ठ परम्परा के प्रति उत्साहित दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों व मुख-पत्र के समस्त कर्मचारियों के प्रति हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित हैं।

'नये वर्ष की कठिन परीक्षा, हम सब मिलकर पास करेंगे।
नये क्षितीज पर हंसते गाते, बाहों में सूरज भर लेंगे।।"

—रामाज्ञा 'आर्यपुत्र' बौद्धिकाध्यक्ष आर्यवीर दल पूर्वी (उ. प्र.)

आदरणीय प्रधान जी, सादर सप्रेम नमस्ते।

आपका कृपा पत्र तथा विशेषांक प्राप्त हुआ। धन्यवाद। पूर्व विशेषांकों की भांति ही यह विशेषांक भी बड़ा सुन्दर आकर्षक और महत्त्वपूर्ण बना है। आर्य-समाज और प० लेखराम जी दोनों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री हमें इसमें उपलब्ध होती है। ऐसे सुन्दर विशेषांक के लिए हमारी शतशः बधाई स्वीकार करें।

—यशपाल आर्यबन्धु आर्य निवास, चन्द्रनगर मुरादाबाद-३२

माननीय महोदय,

आर्य समाज स्थापना एवं प० लेखराम विषयक आर्य सन्देश संयुक्तांक की प्रति भी प्राप्त हो गई है। इस विशेषांक में मेरी कविता को स्थान देकर आपने जो मेरा सम्मान बढ़ाया है उसके लिए मैं आपका आभारी हूं।

'आर्य सन्देश' का यह विशेषांक हर पहलू से उत्तम है और ज्ञान वर्धक एवं लाभप्रद है। इसके लिए आप एवं सम्पादक मण्डल को बहुत-बहुत बधाई।

—धर्मपाल आर्य, नरवाना (हरियाणा)

परम श्रद्धेय डा० साहब, सादर सप्रेम नमस्ते।

आशा है आप भगवत कृपा से स्वस्थ व सानन्द होंगे। साथ ही सभी गुरुजन विद्वजन एवं भगवत प्रेमी सभा के सभी भक्त महानुभावों को हमारा यथोचित अभिवादन। आप द्वारा भेजा हुआ आर्यसन्देश वार्षिक शुल्क की रसीद, कृपापत्र और पृथक डाक से आर्य समाज स्थापना दिवस एवं प० लेखराम संयुक्तांक "विशेषांक" मिल गया है। मैं आपका सहयोग, स्नेह और प्यार पाकर आभारी हूं।

—बाबूराम सिंह "कवि" मारोली

आदरणीय डा० साहब, सादर नमस्ते।

सर्वत्र कुशलं वितरतु देव। कल सायं ५.४० बजे दूरदर्शन से महर्षि दयानन्द बोधोत्सव और शिवरात्रि पर आप लोगों का कार्यक्रम बड़े ध्यान से देखा व सुना। अत्यन्त हर्ष हुआ। आप सभी बधाई के पात्र हैं और विशेषकर आपने जो श्रेष्ठ भूमिका का निर्वाह किया। पुनः विशेष बधाई।

—आचार्य दयानन्द-एम० ए० शास्त्री, साहित्य व्याकरणाचार्य
प्राध्यापक, दयानन्द ब्रह्म महाविद्यालय
हिसार-१२५००१ (हरियाणा)

प्रचार वाहन द्वारा वेद प्रचार

गत मास दिनांक २ मार्च १९९१ को आर्य समाज बुराड़ी में वेद प्रचार हुआ। ३ मार्च को दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मण्डल की ओर से आर्य समाज मोगल में बड़े सोत्साहपूर्ण वार्षिकोत्सव मनाया गया। यह कार्यक्रम स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इसमें सर्वश्री डा० धर्मपाल प्रधान, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, डा० छविकृष्ण शास्त्री, प० सत्यदेव स्नातक (भजनोपदेशक) आदि महानुभावों ने भी उपस्थित आर्य बन्धुओं को सम्बोधित कर आर्य राष्ट्र निर्माण का आह्वान किया। इस अवसर पर श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती ने अपने प्रवचन में कन्या-नृत्य पर विरोध प्रकट किया।

दिनांक १२, १३, १४ मार्च को बुराड़ी में त्रिदिवसीय प्रचार कार्य सम्पन्न हुआ। जिसमें भजनोपदेशक प० चुन्नीलाल, प० चन्द्रपाल आर्य व प० सत्यदेव स्नातक का सराहनीय योगदान रहा।

२१ मार्च को आर्य समाज नजफगढ़ के वार्षिकोत्सव के अवसर पर अपूर्व शोभायात्रा निकाली गई। जिसमें दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रचार वाहन व वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द जी सम्मिलित हुए।

इस अवसर पर दिनांक १७ मार्च रविवार को सभा प्रधान डा० धर्मपाल व डा० शिव कुमार शास्त्री मन्त्री केन्द्रीय सभा, दिल्ली एवं स्वामी स्वरूपानन्द जी ने सभी आर्य बन्धुओं को नव वर्ष की शुभकामनाएं व आर्य समाज स्थापना दिवस पर बधाई दी।

दिनांक १८ मार्च से २४ मार्च तक आर्य समाज मायापुरी में विशेष रामायण की कथा का आयोजन किया गया। महात्मा रामकिशोर वैद्य व प० सत्यदेव स्नातक तथा श्री जोती प्रसाद (भजन-मण्डली) का रोचक कार्यक्रम रहा। नगर-वासियों ने इस अवसर पर धर्म लाभ उठाया।

स्वामी धर्मानन्द सरस्वती सम्मानित

श्री स्वामी धर्मानन्द जी जिलाधीश द्वारा श्रेष्ठ समाज सेवक के रूप में सम्मानित उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश में शुद्धि आन्दोलन सूत्रधार आर्य प्रतिनिधि सभा उड़ीसा के प्रधान एवं गुरुकुल आमसेना से आर्य जगत परिचित है। समाज के साथ में प्रशासन भी उनकी सेवा एवं कार्य से प्रभावित है इसीलिये १७ मार्च को विकलांग दिवस के उपलक्ष्य में कालाहाण्डी के जिला कलेक्टर ने भवानी पटना में एक विशेष समारोह में जिले के सर्वश्रेष्ठ समाज सेवक के रूप में प्रशस्ति पत्र देकर सम्मानित किया है। यह गुरुकुल आश्रम आमसेना एवं आर्य समाज के लिये गौरव का विषय है।

आर्य समाज सरस्वती विहार

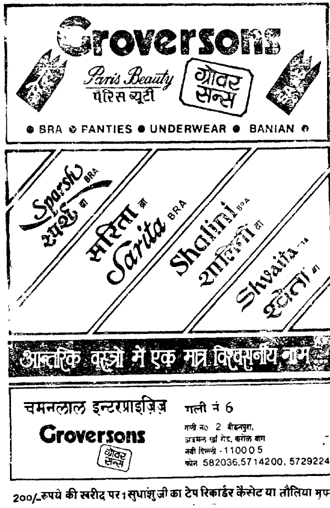
वेद प्रचार मडल उत्तरी-पश्चिमी दिल्ली के तत्वावधान में आर्यसमाज स्थापना दिवस समारोह आर्यसमाज सरस्वती विहार मे बडे समारोहपूर्वक मनाया गया। मार्ग को ओ३म् ध्वजो और तोरण द्वारो से सजाया गया था। मध्य मे निर्मित मच से उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित करते हुए आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के यशस्वी प्रधान डा० धर्मपाल जी ने वेद प्रचार मडल की एक वर्ष की गतिविधियो की भूरि भूरि प्रशसा की और आशा प्रकट की कि मडल भविष्य में और भी अधिक सक्रिय होगा और वेद का सन्देश घर-घर तक पहुचाने मे सफल होगा। श्री सत्यकाम जी विद्यालकार ने अपने भाषण मे वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक बताते हुए सभी सस्थाओं मे वेद के पठन-पाठन पर बल दिया। डा० रघुवीर जी वेदालकार ने अपने सक्षिप्त पर सारगर्भित भाषण मे मडल के कार्यों की सराहना करते हुए इसे और अधिक सक्रिय बनाने का आह्वान किया। दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० कृष्णलाल ने दिन प्रतिदिन हिन्दी और संस्कृत भाषाओ की अवमानना पर गहरा दु:ख व्यक्त किया और उपस्थित जन-समूह से अपने भवनो के नामपट्ट और विवाहादि के निमन्त्रण-पत्रो को हिन्दी और सस्कृत में लिखवाने और छपवाने की अपील की। श्री राजेन्द्र जी नटवर ने अपनी दर्द-भरी कविता द्वारा हिन्दी की दुर्दशा सुनाकर श्रोताओ को झकझोर दिया।

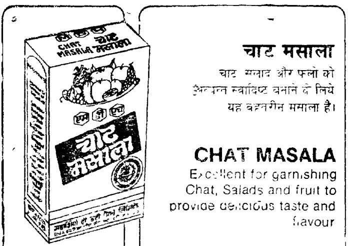
श्री मेहता जी ने नव सवत्सर के महत्त्व पर प्रकाश डाला और सभी से भारतीय सम्वत्सर को अपनाने की अपील की।

इसी अवसर पर हिन्दी साहित्य अकादमी दिल्ली की उपसचिव श्रीमती स्नेहलता जी ने आर्यसमाज सरस्वती विहार मे 'हिन्दी सेवा केन्द्र' का उद्घाटन करते हुए समाज के पिछड़े वर्गो मे शिक्षा का प्रसार करने पर बल दिया और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति से कम से कम एक व्यक्ति को साक्षर बनाने का आग्रह किया। इस कार्य मे प्रशासन के पूर्ण सहयोग का आश्वासन देते हुए कई सौ हिन्दी पुस्तके और पाच टकण मशीने देने की घोषणा की।

अन्त मे मडल के मन्त्री श्री हरिदत्त जी ने आभार प्रकट करते हुए सहयोग के लिए सभी आर्य समाजो और महानुभावो का धन्यवाद किया।

—हरिदत्त, मन्त्री









आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 11-12-4-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३६

आर्य समाज बोट क्लब ने

आर्य समाज स्थापना दिवस एवं रामजन्मोत्सव मनाया

२० मार्च बुधवार मध्याह्न स्थान उद्योग भवन मैदान के साथ उपरोक्त उत्सव प्रभु की कृपा से निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।

सर्वप्रथम प० प्रकाश वीर "व्याकुल" जी द्वारा यज्ञ हुआ। जिसके यजमान हमारे पूर्व सदस्य, उद्योग मंत्रालय से फरवरी में सेवा निवृत्त श्री रघुनाथ सहाय जी तथा श्रीमती कान्ता सिक्का जी जंगपुरा वाले थे। तत्पश्चात पं० सत्यदेव (स्नातक) जी ने मधुर भजनो का रसस्वादन दिया। पं० प्रकाश वीर व्याकुल जी ने कविता के माध्यम से श्रोतागणों को चेताया कि हमें अपने इस अवसर को व्यर्थ नहीं गवाना है। निस्वार्थ सोचकर अपना मतदान वैदिक संस्कृति के रक्षकों को ही करना है।

भारत वर्ष के अद्वितीय, वेदों के प्रकाण्ड पण्डित, विद्वान श्री यशपाल जी सुधांशु ने स्वमुखारबिन्द से आर्य समाज स्थापना, की आवश्यकता पर सूक्ष्म रूप मे प्रकाश डालते हुए कहा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज कोई नया मत सम्प्रदाय नही बनाया, अपितु १००० वर्ष से सुप्त आर्य जाति को जगाने हेतु इसके माध्यम से विशुद्ध सत्य सनातन वैदिक धर्म जो सृष्टि के आदि में ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त था। उसी का उपदेश करने हेतु आर्य समाज को स्थापित किया। श्री सुधांशु जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के आदर्श चरित्र पर बहुत अनूठे ढग से बताया कि आज अधिकतर मनुष्य अपने महापुरुषों में दोष लगाकर स्वय को भी उन दोषो से परिपूर्ण कर लेते हैं जबकि हमारे किसी भी महापुरुष मे कोई दोष नहीं था और न ही दोषी व्यक्ति महापुरुषों की शृ खला में आता है।

—बलेश कुमार

आवश्यकता

आर्य कन्या गुरुकुल महाविद्यालय नरेला (दिल्ली-४०) हेतु शास्त्री, आचार्य परीक्षोत्तीर्ण ट्रेंड-अट्रेंड अध्यापिकाओं की शीघ्र आवश्यकता है। आर्य पाठविधि से शिक्षित प्रार्थियों को वरीयता दी जाएगी। वेतन योग्यता-अनुसार। प्रार्थना-पत्र द्वारा अथवा स्वयम् सम्पर्क करें।

निवेदक

वैद्य कर्मवीर आर्य
महामन्त्री कन्या गुरुकुल
महाविद्यालय नरेला (दिल्ली-४०)



शाखा कार्यालय . ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

टेलीफोन : २६१४६० 'फ्रन्ट' '२०४१'

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म्

आर्य सन्देश

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वर्ष १४, अंक २५ | रविवार, २८ अप्रैल, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

महान शिक्षा-शास्त्री महात्मा हंसराजजी के प्रति प्रधानमंत्री श्री चन्द्रशेखर की भावभीनी श्रद्धांजलि

महान् शिक्षा शास्त्री महात्मा हसराज जी का जन्म दिवस तालकटोरा स्टेडियम में दि० २१ अप्रैल को सोल्लासपूर्वक मनाया गया। इसके मुख्य अतिथि प्रधानमंत्री श्री चन्द्रशेखर जी थे। समारोह का आयोजन आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली ने किया।

इस अवसर पर प्रधानमन्त्री ने अपने ओजस्वी वाणी से स्टेडियम में बैठे सभी गणमान्य विद्वानों सहित हजारों विद्यार्थियो को सम्बोधित करते हुए कहा—स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्रता से पूर्व ही स्वराज्य का मत्र फूका था। अपनी बाल्यावस्था की स्मृति को उजागर करते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा कि उन दिनों हर विद्या मंदिर, सामाजिक, राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र हुआ करता था। आज डी० ए० वी० पर हमें गर्व है। उन्होने बताया मैं भी बचपन मे शिक्षा पाने के लिए डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल मऊ में जाया करता था। अतः मेरी प्रारम्भिक शिक्षा डी० ए० वी० संस्था में ही हुई। आगे उन्होंने बताया कि स्वामी दयानन्द और महात्मा हंसराज का आन्दोलन महज धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन ही नही था अपितु राष्ट्रीय चेतना जागृत करने की पुरजोर कोशिश थी। यही वजह थी कि समाज ने लाला लाजपतराय सरीखे सेनानी देश को दिए। इससे पूर्व श्री चन्द्रशेखर ने डी० ए० वी० सस्थाओ एव अन्य शिक्षण सस्थाओ से जुड़े विशिष्ट विद्वानो को स्मृति चिन्ह एव शाल द्वारा सम्मानित किया।

अपने अभिभाषण के अन्त मे उन्होने यह इच्छा प्रकट की कि महात्मा हसराज जी को हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि यही होगी कि हम उनके द्वारा स्थापित डी० ए० वी० सस्था को सुचारू रूप से निर्धन एव असहायों के लिए साक्षरता का विकास करने मे आगे रखे। हर वर्ग को उचित शिक्षा मिल सके। आधुनिकता से दूर अपनी प्राचीन सभ्यता से जुड़ी शिक्षा ही दी जा सके।

इस अवसर पर अनेक गणमान्य व्यक्तियों में श्री रामचन्द्र विकल सासद, श्री के० साहनी एव श्री इन्द्र कुमार गुजराल तथा प्रो० वेदव्यास जी, श्री क्षितीश वेदालकार, प्रो० वाचस्पति उपाध्याय श्री रामनाथ सहगल आदि उपस्थित थे। समारोह की अध्यक्षता स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने की।

समारोह की समाप्ति से पूर्व डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल फरीदाबाद के बच्चो द्वारा मनमोहक सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ जो समारोह का मुख्य आकर्षण था। बच्चो ने महात्मा हसराज की बाल्यावस्था में आये सकटों का सजीव चित्रण किया तथा मचन कला मे पारगत विद्यार्थियो ने नृत्य एव अन्य झाकिया भी प्रस्तुत की।

पंजाब, काश्मीर और असम में चुनाव के परिणाम घातक होंगे

—स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

१—भारत के अन्य स्थानो के साथ-साथ पजाब, काश्मीर तथा असम में भी सरकार द्वारा चुनाव कराने के निर्णय की आर्य समाज द्वारा निन्दा।

२—निर्वाचन आयोग के अध्यक्ष श्री टी० एन० शेषन को पत्र प्रेषित।

३—सरकार द्वारा पजाब. काश्मीर तथा असम में चुनाव स्थगित न कराने की दशा में आर्य समाज नेताओ द्वारा आन्दोलन का निश्चय।

आर्य समाज की सर्वोच्च संस्था, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, ने निर्वाचन आयोग के अध्यक्ष तथा भारत के राष्ट्रपति को पत्र लिखकर भारत सरकार के पजाब, काश्मीर तथा असम मे भी चुनाव कराने के निर्णय की कड़ी आलोचना की है। सरकार का निर्णय है कि मई १९९१ में देश के अन्य भागो मे आयोजित चुनावों के साथ-साथ इन प्रान्तों मे भी चुनाव कराये जावें।

निर्वाचन आयोग द्वारा इन प्रान्तो में प्रस्तावित चुनावो को स्थगित न किए जाने की दशा में आर्य समाज ने अपने नेताओ को सरकार के इस निर्णय का प्रतिरोध करने के लिए आन्दोलन करने की अनुमति दे दी है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने इस आन्दोलन के लिए प्रथम सत्याग्रही के रूप में स्वेच्छा से अपने नाम का प्रस्ताव किया है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने अधीनस्थ सभी आर्य समाजों को इसी आशय का एक परिपत्र जारी किया है। यह परिपत्र उन सार्वजनिक नेताओ को भेजा गया है, जिनकी राय का देशवासी सम्मान करते है।

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने कहा कि "पजाब, काश्मीर तथा असम के उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्रों मे चुनाव कराने का सरकार ने जो निर्णय लिया है, वह बिना गहराई से सोच विचार के लिया गया है। प्रकारान्तर से यह उन देश-द्रोही शक्तियो के हाथो मे खेलना होगा, जिनका एकमात्र उद्देश्य भारत माता को छोटे-छोटे भागो में खण्डित करना है।"

श्री शेषन को लिखे गये पत्र मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अनुरोध किया है कि वे १८ अप्रैल १९९१ तक सभा को अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करावें। यदि आयोग द्वारा इन तीनो अशात घोषित प्रान्तो मे चुनाव स्थगित नही किए गए तो स्वामी आनन्दबोध सरस्वती सहित आर्य समाज के अन्य नेतागण अपना आन्दोलन शुरू कर देंगे। उनका नारा है, "देश को टुकड़े-टुकड़े होते देखने से मर जाना अच्छा है।" आर्य समाज को आशका है कि काश्मीर की तरह पजाब से भी सभी शान्तिप्रिय हिन्दुओं, सिक्खो आदि का पलायन शुरू हो जायेगा। निर्दोष लोगो की हत्या राजनैतिक उद्देश्यो के लिए उनका अपहरण, आय दिन की घटनाये हो जायेंगी, जैसा कि इस समय काश्मीर मे हो रहा है। यदि सरकार के निर्णय पर अमल करते हुए पजाब, काश्मीर तथा असम मे चुनाव कराये गए तो "रोम जल रहा था और नीरो बसी बजा रहा था" वाली कहावत चरितार्थ होगी।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

सुनो सबकी

—भूदेव साहित्याचार्य—

शास्त्रार्थ महारथी पूज्य स्व० श्री बिहारी लाल जी शास्त्री, बरेली निवासी अपने व्याख्यानो में कभी-कभी एक घटना सुनाया करते थे। वे कहते थे—'एक बार एक आर्य समाज के उत्सव मे हम गये। एक शाम वहां एक परिवार में सभी उपदेशको का भोजन था। भोजन किया। चलने लगे। धन्यवाद किया। स्वभाववश साथ ही परिवार की महिलाओ से उत्सव मे सम्मिलित होने और भजन-प्रवचन सुनने का निवेदन भी किया। इस हमारे निवेदन के प्रत्युत्तर में परिवार की एक लड़की बोली—पंडित जी, हम तो स्वय पढ लिखे है। सब जानते है। देखिए, मैं एम० ए० हू। लड़की के यह शब्द हमे लगे। मैंने तुरन्त पासा पलटा और उसके माथे की ओर देख कर बोला—बेटी, जरा अपना हाथ तो दिखाना। कुछ इधर-उधर की बात करने के बाद, मैंने कहा—तेरे ऊपर तो बहुत बड़ी मुसीबत आनी वाली है। उसके घर वाले माता-पिता आदि भी वही थे। मेरी बात सुन कर हड़बड़ाये। लड़की को तो जैसे साप ही सूंघ गया। अब वे सब अत्यन्त व्यग्र जिज्ञासा से बोले—पंडित जी क्या? मैंने कहा—इसके हाथ की रेखाये कहती हैं कि इस लड़की के पति बहुत भारी बीमार पड़ेंगे और फिर बचे या न बचे, यह कुछ नही कहा जा सकता। मेरी इस बात को सुनकर लडकी तो अत्यन्त बेचैन हो गई। उसकी मां ने कहा—महाराज बीमारी से बचने का उपाय क्या है? मैंने-कहा उपाय के करने से नही, इस लडकी के करने से ही होगा। वह तो जैसे तैयार ही बैठी थी, अत्यन्त भय, व्यग्रता और सब बलायें अपने सिर लेने जैसे भाव से बोली—पंडित जी आप बताइये तो! मैंने कहा—सात दिन तक यज्ञ होगा। उसमें सभी उपदेशक और पंडित शामिल होंगे। सब बढिया भोजन आदि करेगे। दक्षिणा मे एक-एक कम्बल और सौ-सौ रुपये प्रत्येक पंडित और उपदेशक को देने होंगे और सामान की एक लम्बी लिस्ट लिख दी—घी, सामग्री, समिधा आदि। उस समय हम वहां से चले आये। अभी आराम कर रहे थे। वही लड़की अपनी भाभी के साथ हमसे मिलने आयी और बोली—पंडित जी जैसा आपने बोला था हमने सब इन्तजाम कर लिया है। यज्ञ कब से करेंगे? उसे समय दे दिया। निर्धारित समय से यज्ञ हुआ। बड़ी धूम-धाम से। बड़ी सारी दक्षिणा राशि भी पंडितो को दी गई। आराम से जब इससे निपट कर बैठे, तो वही लडकी बोली—पंडित जी, अब तो सब ग्रह उतर गये न। मैने कहा—बेटी, तेरे ऊपर ग्रह थे भी कहा? इस पर बड़े आश्चय से उसने कहा—तो फिर यह हवन किस लिए हुआ? इसके उत्तर मे मैंने कहा—मैं तो यह देखना चाहता था, तू कैसी एम० ए० पास है! वह बोली—क्या मतलब? मैंने कहा—जब बेटी मैने तुम्हारे घर निवेदन किया था, तुम सबसे कि भजन-प्रवचनो मे चला करो, तब तुमने कहा था, कि मै तो एम० ए० पास हू। तुम्हारा भाव था कि सत्सग मे भजन- प्रवचनो का कोई लाभ नही है।

यह घटना जो उल्लेख की है। मेरे जैसे और भी अनेकों बन्धुओ ने सुनी होगी। महाराज भर्तृहरि को एक समस्या हर समय घेरे रहती थी। महाराज कहते थे—ज्ञान लव विदग्धजनो को मै कैसे अपनी बात समझाऊ। अज्ञानी लोग मेरी बात समझ लेते हैं। मुझे उन्हे अपनी बात समझाने मे दिक्कत नही होती। ज्ञानी जनों का तो कहना ही क्या? वे बहुत ही आसानी से समझ जाते हैं। किन्तु इन ज्ञानलवविदग्ध जनो को तो मुझे लगता है कि स्वय ब्रह्मा जी भी प्रसन्न न कर सकें। महर्षि दयानन्द जी ने लिखा—'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यो का परम धर्म है।' आर्य शब्द की प्रकृति है ज्ञान गमन और प्राप्ति। हेतुवाद के आचार्यों का कहना है—पढ़ना और पढाना तथा सुनाना यह कर्म जितने सरल सीधे और प्रतिवाद रहित हैं। सुनाना उतना ही कठिन-दुरुह और सशय भरा है। परन्तु यह कर्म मनुष्य को अत्यन्त मधुर फल देने वाला है। सुनाने की योग्यता का मूल आधार सुनना है। इसी तरह सुनने की योग्यता का मूल आधार पढ़ना और पढाना भी है।

पाठक, हम निवेदन करना चाहते हैं। हमारी योग्यता का परिचय इससे नही है कि हम सुन बहुत अच्छा लेते है। बल्कि इससे है कि हम पढने और पढ़ाने तथा सुनने मे कुशल हैं। भगवान राम के अनेको गुणो का वर्णन करते हुए महर्षि नारद कहते हैं कि हे महर्षि वाल्मीकि, राम बहुश्रुत हैं। अर्थात् राम सुनने में कुशल है। सुनना भी एक कला होती है। एक विवेकशील महाभाग कहते थे, कि यदि आप किसी महानतम शास्त्रार्थ पटु और वाग्मी का मुंह बन्द करना चाहते है, तो उससे कम बोलिये, उसकी बातो को ध्यान से सुनिये और उन्ही बातो मे से अपने मतलब के प्रश्न निकालिए और उससे पूछते रहिए। वह कुछ देर मे अपने आप चुप हो जायेगा।

थोड़ा इस लोकोक्ति पर ध्यान दीजिए—एक चुप सौ को हरावे। यहां चुप का अर्थ भोदू-बसन्त होना नहीं, बल्कि सावधानी पूर्वक सुन कर बडे धैर्य से कम से कम शब्दो में सटीक और समयानुकुल उत्तर देने वाला है। सुनने का सम्पूर्ण अर्थ है सुनना विचार करना और तुरन्त सत्यासत्य निर्णय करके अनुकूल का ग्रहण करना।

श्री भूदेव साहित्याचार्य

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के नियमित उपदेशक। अब तक आर्य मार्तण्ड, आर्यजगत् और मधुर लोक तथा परोपकारी आदि मे लगभग १५० महत्वपूर्ण विषयो पर-प्रकाशित लेख। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान मे डेढ वर्ष तक उपदेशक। कुशल कथाकार व्याख्याता। लगभग १० पारायण यज्ञो के सफल ब्रह्मा। सभी प्रकार के सस्कार कराने मे कुशल।

आवश्यकता हेतु सभा कार्यालय को लिखे।

आर्य समाज करोल बाग नई दिल्ली-५

स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती

के सानिध्य में

ध्यान योग शिविर

१. शारीरिक रोगो के निवारण के लिए
२ मानसिक तनाव व चिन्ता मुक्ति के लिए
३. धवल यश एव वैभव सम्पन्नता के लिए
४ सन्तान व परिवार कल्याण के लिए

आप सब सादर आमन्त्रित हैं।

समय प्रात: ५.३० बजे से ६.३० बजे तक योगी जी के सानिध्य का लाभ उठाइये।

६५ वां वार्षिकोत्सव सम्पन्न

बड़े हर्ष और उल्लास के साथ आर्य समाज पीपाड नगर का ६५वां वार्षिकोत्सव एव राम जन्मोत्सव २०-३-९१ से २६-३-९१ को सम्पन्न हुआ। दूसरे दिन विशाल शोभा यात्रा का आयोजन किया गया। जिसमें अनेक आर्य समाजो सहित मगरा पूंजला जोधपुर के आर्य वीरों तथा पीपाड़ नगर के आर्य वीरो ने अनुशासनबद्ध ढग से भाग लिया। पीपाड नगर के इतिहास में सबसे बडी शोभा यात्रा थी। जिसका सचालन सार्वदेशिक आर्य वीर दल के व्यायाम शिक्षक मदनपाल जी राठी आर्य ने कुशलता पूर्वक किया। अन्तिम दिन २६-३-९१ को आधुनिक भीम सत्यवीर जी आर्य द्वारा साय ५ बजे भव्य व्यायाम प्रदर्शन किया गया। जनता ने समस्त कार्यक्रमों मे विशेष रुचि ली। जिसकी विशेष मांग पर श्री सत्यवीर जी आर्य द्वारा दिसम्बर मे आर्य-वीर दल का शिविर भी तय कर दिया।

—चम्पालाल आर्य मन्त्री

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

पं० रामचन्द्र देहलवी

सम्पादकीय

किसी भी जाति और राष्ट्र के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने पूर्वजो के श्रेष्ठ कर्मों का स्मरण करें तथा अपनी सस्कृति और धर्म के प्रशस्त प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखे। पिछले दिनों महात्मा हसराज दिवस समारोह मे हमारे प्रधानमत्री ने कहा था कि किसी भी राष्ट्र को नई दिशा देने वाले राजा नही होते, बल्कि राजा वे होते हैं, जो साधु-सन्तो—महापुरुषो की परोपकार एव मानव कल्याण की भावना को अपने अन्दर समाहित कर लेते हैं। और यह कार्य ऋषियो का है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने और उनके अनुयायियों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। ऐसे ही हमारे विद्वान प्रचारक थे प० रामचन्द्र देहलवी।

प० रामचन्द्र देहलवी का जन्म मध्य प्रदेश के नीमच शहर मे १८८१ ईस्वी की रामनवमी के दिन हुआ था। इसीलिए उनका नाम रामचन्द्र रखा गया। जीविका निर्वाह के लिए रामचन्द्र दिल्ली आए। यहा पर पहले नौकरी की और फिर अपने श्वसुर की दुकान पर कार्य करने लगे। रामचन्द्र देहलवी की पत्नी का निधन उस समय हो गया था जब वे केवल ३६ वर्ष के थे। यद्यपि अनेक प्रस्ताव पुर्नविवाह के आए परन्तु वैदिक धर्म का प्रभाव उन्हें अकेले ही जीवन यात्रा के पथ पर साहस पूर्वक चलने की प्रेरणा देता रहा।

उन दिनो चादनी चौक के फव्वारे पर दो दिन मुसलमान और दो दिन ईसाई अपने अपने धर्म का प्रचार करते थे। पं० रामचन्द्र देहलवी ने हिन्दू धर्म के ऊपर किये गये इन कटाक्षो को सुना उसी दिन से उन्होने सोच लिया कि उन्हें भी वैदिक धर्म का इसी तरह प्रचार करना चाहिए। उन्होने भी उसी स्थान पर प्रचार पर प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। उनके व्याख्यानो मे इतनी भीड होती थी कि यातायात में बाधा पडने लगी और उनसे आग्रह किया गया कि वे अपने व्याख्यानो के लिए गाधी ग्राउण्ड को अपना लें। बस यहीं पर १९१० से १९२५ तक उनके व्याख्यानों का सिलसिला बिना व्यवधानो के चलता रहा। उन्होने विधिवत कुरान का अध्ययन किया और ईसाई धर्म शास्त्र का भी। वैदिक धर्म के उत्कर्ष प्रवक्ता तार्किक उच्चकोटि के शास्त्रार्थ महारथी प० रामचन्द्र देहलवी की ख्याति दिग्दिगन्त फैल गयी। हैदराबाद में उनके व्याख्यानो ने अभूतपूर्व जाग्रति फैलाई। और निजाम सरकार ने तो उन्हें अपने राज्य से निष्कासित कर दिया था। अत्यधिक वृद्ध होने पर भी उन्होंने धर्म प्रचार के कार्य से मोह नहीं मोडा। २ फरवरी १९६८ को दिल्ली मे उनका निधन हुआ। प० रामचन्द्र देहलवी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जो वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार में अपनी विशिष्ट भूमिका को रेखांकित करते हैं।

— डॉ० धर्मपाल

वेद सन्देश

घर को स्वर्ग बनावें

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति, विहाय रोग तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे, तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥
अथर्व० ६-१२०-३ ॥

हिन्दी अर्थ—जहां शुद्ध हृदय वाले और पवित्रात्मा लोग अपने शरीर के रोगो को छोड़कर आनन्द से रहते हैं, ऐसे स्वर्गतुल्य घर मे हम स्वय अगो से अविकृत और अकुटिल रहते हुए अपने माता-पिता और पुत्रों को देखें।

—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(१४ अप्रैल, ९१ के अंक से आगे)

प० गगाप्रसाद उपाध्याय के साहित्य के प्रति मेरा विशेष आकर्षण था। मैंने उनकी पुस्तक 'मैं और मेरा भगवान्' तो उस समय खरीदी थी, जब मैं नवी कक्षा का विद्यार्थी ही था और दार्शनिक अध्ययन की पहली सीढी पर अपने कदम रख ही रहा था। जब आर्य समाज के पुस्तकालय में आस्तिकवाद और जीवात्मा मिले तो उन्हे पढने का अवसर तो मिला ही। कालन्तर मे प्रकाशित उनके अन्य ग्रन्थ भी बराबर पढ़ता रहा। शाकर भाष्यालोचन और Philosophy or Dayanand का तो प्रकाशन भी बहुत बाद मे हुआ। उनके द्वारा रचित शकर रामानुज दयानन्द तथा राममोहन राय केशवचन्द्र सेन दयानन्द ने मुझे महापुरुषों के तुलनात्मक अध्यापन के लिए प्रेरित किया। आगे चल कर मैंने तुलनात्मक अध्ययन विषयक जो २-४ ग्रन्थ लिखे, उनके पीछे उपाध्याय जी के उपर्युक्त ग्रन्थों की ही प्रेरणा कार्य कर रह थी। प० धर्मदेव जी का तुलनात्मक लेखन भी मेरे लिए प्रेरणा स्रोत बना।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान में

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान भारत के प्राचीनतम आर्य सगठनो मे से एक है। इसकी स्थापना पजाब तथा उत्तर प्रदेश की प्रतिनिधि सभाओ के पश्चात् ही हुई थी। इस सभा की स्थापना मे सर्व श्री हरविलास शारदा, रामविलास शारदा आदि का योगदान प्रमुख था। १९४७ से पूर्व इस सगठन के अन्तर्गत मध्य भारत तथा मालवा प्रदेश की आर्य समाजे भी सम्मिलित थीं। अतः ग्वालियर, इन्दौर, रतलाम, मन्दसौर, गुना, आदि की प्रसिद्ध आर्य समाजे भी राजस्थान के सगठन से ही सम्बद्ध थी। वर्षों तक इस सभा का नेतृत्व देशभक्त कुवर चादकरण शारदा के हाथो मे रहा।

इस सभा के अधिवेशन मे मैं प्रथम बार १९५० मे आर्य समाज नगर, जोधपुर के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुआ। उस समय मेरी आयु मात्र २२ वर्ष की थी। यह अधिवेशन अजमेर आनासागर तट पर स्थित ऋषि उद्यान के सरस्वती भवन सभागार मे हुआ सरस्वती भवन का निर्माण एक आर्य सन्यासी स्वामी केवलानन्द जी ने कराया था। इस वर्ष मे सभा के प्रधान चादकरण जी शारदा ही थे। इस प्रकार मुझे प्रथम बार प्रान्त की अनेक समाजों के प्रतिनिधियो से मिलने तथा परिचित होने का अवसर मिला। उस समय मध्यभारत की आर्य समाजें भी राजस्थान की सभा से ही सम्बद्ध थी। और इस सभा का नाम आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा था। मन्दसौर' रतलाम। गुना, ग्वालियर, इन्दौर आदि के प्रतिनिधि इस अधिवेशन मे आये थे। बाद मे जब राजनैतिक दृष्टि से मध्यभारत पृथक् हो गया तो वहा की समाजो ने अपनी सभा का पृथक् सगठन कर लिया। यद्यपि श्री चाद करण शारदा अनेक वर्षो से प्रधान के पद पर चले आ रहे थे किन्तु प्रचार के कार्य मे गत्यवरोध आ जाने के कारण प्रान्त की समाजों मे असन्तोष के स्वर उभर रहे थे। परिणामतः जब १९५१ मे अलवर मे सभा का अधिवेशन हुआ तो सभा के प्रधान पद पर कर्मवीर प० जियालाल जी को चुना गया। प० जियालाल जी का कार्यकाल भी दो वर्ष से अधिक नही रहा। प० रमेशचन्द्र शास्त्री उनके समय में सभा के मन्त्री रहे। १९५२ मे भारत मे प्रथम सार्वजनिक चुनाव हुए। आर्य समाज यद्यपि सामाजिक राजनीति से सदा तटस्थ ही रहा है, किन्तु श्री रमेशचन्द्र शास्त्री ने यदा कदा ऐसा सकेत दिया कि आर्य समाज को आने वाले निर्वाचनो मे अपनी भूमिका अदा करनी है। प० जियालाल ने १९५१ मे जयपुर के रामलीला मैदान मे प्रान्तीय आर्य सम्मेलन धूम-धाम से आयोजित किया। प० इन्द्र विद्या-वाचस्पति ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। जब सभापति के लिए प० इन्द्र के नाम का प्रस्ताव रखा गया तो जोधपुर के प्रतिनिधियो की ओर सेमैंने उनके नाम का अनुमोदन करते हुए इन्द्र जी के हिन्दी पत्रकारिता मे योगदान की भी चर्चा की। प० इन्द्र जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे मेरे इस कथन का विशेष रूप से उल्लेख किया। प्रान्तीय आर्य सम्मेलन तथा सभा का वार्षिक अधिवेशन सम्भवत. १९४९ में जयपुर मे हुआ। मैं भी उसमे सम्मिलित हुआ था। इस सम्मेलन के अवसर पर स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी के प्रथम और अन्तिम बार दर्शन हुए।—क्रमशः

वेद वास्तव में धर्म ग्रन्थ हैं

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक,—
अध्यक्ष—वैदिक सस्थान, नजीबाबाद (उ० प्र०)

गत ४ मार्च के नवभारत टाइम्स मे "धर्मग्रन्थ हो जाने की सजा" शीर्षक से श्री सूर्यकान्त बाली का लेख प्रकाशित हुआ है। पूरे लेख को पढकर एक परिणाम तो स्पष्ट हो जाता है कि लेखक महोदय न तो धर्म को समझते हैं और न उन्हे वेदो के विषय मे ही कुछ ज्ञान है। इधर-उधर की सुनी-सुनायी बातो तथा अन्य धर्म और वेद विषयक भ्रान्त मान्यता पूर्ण लेखों के आधार पर उन्होने यह लेख लिखा है।

आप लिखते है कि "हमारे भोंदू व्यवस्थाकारो ने न्यायालयो मे गीता को बाइबिल या कुरान जैसा दर्जा देकर हिन्दुओ मे गीताकी कसम उठाने की परम्परा चला रक्खी है। पर क्या कोई भी हिन्दु गीता को बाइबिल या कुरान की तरह धर्मग्रन्थ मानता है ? हमे तो आज तक कोई ऐसा हिन्दु नही मिला।"

हमारा इस विषय में यह कहना है कि करोड़ों हिन्दू गीता को न केवल धर्मग्रन्थ अपितु धर्मशास्त्र मानते हैं, केवल कृष्ण के भक्त ही नही, गीता जिनकी कृति या उपदेश बतायी जाती है अपितु उन भगवान राम के भक्त भी—जो कृष्ण से युगो पहले हो चुके हैं और जिनका गीता से लेश भी सम्बन्ध नही है, गीता को धर्मग्रन्थ तथा धर्मशास्त्र मानते और नित्य नियम से इसी भावना से उसका प्रातःकाल पाठ भी करते हैं। यदि बाली जी को इसकी जानकारी नही तो यह उनकी अपनी जानकारी की कमी है। कुरान को तो सामान्यतया हिन्दु जानते ही है। किन्तु जिन हिन्दुओ ने अभी तक कभी भी बाइबिल का नाम नही सुना वह भी गीता को अपना धार्मिक ग्रन्थ मानते हैं।

इस लेख में उन्होने साहित्य शब्द का भी प्रयोग किया है। वह इसके लिये लिखते हैं "जैन और बौद्ध धर्मों में अनेक पुस्तके ऐसी हैं, जिन्हें हम धार्मिक ग्रन्थ कह सकते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे अब वेदो, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, गीता (जो महाभारत का ही एक हिस्सा है) पुराणो आदि को धार्मिक ग्रन्थ कह दिया जाता है। वे धार्मिक ग्रन्थ हैं या साहित्यिक रचनायें है, जो एक शैली मे जीवन का विवेचन करती हैं, जिन्हें आजकल भी कविता, नाटक, कहानी या उपन्यास जैसी विधाओ में नही रक्खा जा सकता या वे कुछ और ही हैं तय कर पाना कठिन हो गया है। पर इतना है कि बाइबिल, कुरान या गुरुग्रन्थ साहब जैसा धर्मग्रन्थ का पद नही दिया जा सकता।"

पहले तो बालीजी को यह समझ लेना चाहिये कि जो धर्मग्रन्थ नही है, वह साहित्यिक पुस्तक भी नहीं है। साहित्य शब्द का अर्थ है, जो हित सहित हो, हितसाधक हो तथा हित साधनार्थ जिसका प्रणयन किया गया हो। ऐसी किसी रचना जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा समग्र मानवता के हित साधन का कार्य न कर सके, साहित्य नही कही जानी चाहिये. चाहे वह गद्यात्मक, पद्यात्मक अथवा किसी विद्या विशेष मे लिखी गयी हो और जो मानव मन को भ्रान्ति मे डाले, कामुकतापूर्ण तथा अनैतिकता के मार्ग की ओर उन्मुख करे उसे साहित्य कहना नितान्त नासमझी है। जहा तक रामायण और महाभारत की बात है, उन्हे बाली जी और उन सरीखे लोग ही, जिनका तथ्यात्मक अध्ययन लेश भी नही अपितु जो उपन्यासो और कहानियो तक ही सीमित है तथा उन्ही की भाषा समझते है, अपनी दृष्टि के साहित्यिक ग्रन्थ समझते हैं तथा अन्य बहुत बड़ी सख्या मे न केवल भारतीय ही अपितु विदेशी भी ऐतिहासिक ग्रन्थ मानते है किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐतिहासिक घटनाओ तथा परिस्थितो का विवेचन करते हुए वह धर्मग्रन्थ ही है। कारण यह है कि वह लिखे ही उपदेश की परम्परा मे गये है। हेमचन्द्र जैन कृत "अभिज्ञान चिन्तामणि मे कहा गया "उपदेश पारम्पर्य वर्तते इतिह इत्येव ऐतिह्यम्" उपदेश की परम्परा मे वर्णन किया गया है, ऐसा था, ऐसा ही था एतदर्थ इतिहास है किन्तु है उपदेश की ही परम्परा मे। उपदेश का अर्थ ही सन्मार्ग दर्शन है और सन्मार्ग (सत्य मार्ग-सत्य व्यवहार) ही धर्म है।

वास्तविकता यह है कि प्राचीन आर्यों ने कभी व्यक्तियो के जीवनो तथा व्यक्तिगत बातो को, उनकी पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियो को लिखने की ओर ध्यान ही नही दिया। कारण यह है कि यह बात तो सदैव सबके अथवा समय-समय पर अनेक के साथ बीतती रहती है, इनकी चर्चा करने में समय और शक्ति की विनष्टि के अतिरिक्त कोई लाभ नही है। उन्होने तो केवल उन घटनाओ को और उन व्यक्तियो के जीवनो को ही लेखनी का विषय बनाया है, जो आने वाली सन्ततियो को शिक्षा दे सके, उनका मार्ग दर्शन कर सके अर्थात् युग-प्रवर्त्तक घटनाओं को ही महत्व प्रदान किया है। मानवों के मार्ग दर्शन करना उन्हे जीवनमें अच्छाई-बुराई को समझने का ज्ञान देना ही कर्म है और ज्ञान दान के लिये किये गये उपदेश की परम्परा मे लिखे गये होने से रामायण और महाभारत भी धर्म-ग्रन्थो की श्रेणी मे आते हैं। हम इनमे से किसी ग्रन्थ की बाईबिल और कुरान सेतुलना करना नही चाहते किन्तु यह कहने मे हमे लेश भी सकोच नही है कि कुरान और बाइबिल मजहबी तथा साम्प्रदायिक तो है किन्तु धार्मिक लेश भी नही है। बाली जी भी धर्म को मजहब ही समझते हैं, जैसे अन्य सामान्य जन समझते हैं, मजहब शब्द का अर्थ मार्ग है, यह पथ शब्द का स्थान तो ले सकता है, जो पथ का पर्याय है। मजहब अनेक हो सकते हैं किन्तु धर्म मानव मात्र के लिये एक ही होता है।

वेदों की जहा तक बात है, वह वास्तव मे ही धर्मग्रन्थ हैं। वेद शब्द का अर्थ-ज्ञान, विचार, लाभ आदि है। वेदो मे सलिला प्रकृति और उससे बनने वाले परम सूक्ष्म तत्व परमाणु से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, विश्व ब्रह्माण्ड तक तथा पृथिवी से लेकर परमात्मा तक का ज्ञान भरा हुआ है। प्रकृति से बनने वाले तत्वो के गुणों का ज्ञान भी सत, रज, तम आदि के रूप मे वर्णित है, जिन पर विचार करके मनुष्य अपने और ससार के हित और लाभ के लिये प्रकृति के परमाणु आदि तत्वों तथा उनसे बनने वाले सृष्टि के पदार्थो का वास्तविक रूप मे उपयोग कर लाभ उठा सके। वेदो मे मानवो के पारस्परिक व्यवहार विषयक विचार भी हैं। आत्मा परमात्मा विषयक वर्णन भी है और इनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन भी है।

आप लिखते हैं कि 'आधुनिक सदियो में यह कोशिश आर्य समाज ने की। जिसने बाइबिल और कुरान के समकक्ष वेदों को धर्मग्रन्थ मानने का खासा अभियान चलाया। ·····आर्य समाज ने ईसाइयो और मुसलमानो के समकक्ष आर्यों के धर्मग्रन्थ के रूप मे वेदो को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।" इन श्रीमान जी को यह भी पता नही है कि "धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाण परम श्रुति:" यह आर्य-द्वारा निर्मित नहीं है अपितु आदि सृष्टि की ग्यारहवीं पीढ़ी के महापुरुष महर्षि मनु का कथन है कि जो धर्म को जानने की इच्छा करे, उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है। मनुस्मृति के दूसरे अध्याय का यह तेरहवा श्लोक है, इसे बालीजी उक्त पते पर पढें और इससे पहले इसी सन्दर्भ मे श्लोक पांच मे "वेदो जीवतो धर्ममूलम्" वेद अखिल अर्थात् सर्वाङ्गपूर्ण धर्म का मूल है तथा सातवे श्लोक मे "वेद: स्मृति सदाचार. स्वस्य च प्रियमात्मनु.। एतच्चतुर्विध प्राहु: साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्" वेद, स्मृति, सदाचार और जो दूसरों के द्वारा अपने साथ किया गया स्वय को प्रिय लगे, वैसा ही व्यवहार दूसरो के साथ करना, यह धर्म के चार साक्षात् अर्थात् स्पष्ट लक्षण है। मनु के इन विचारो को पढकर बालीजी को यह पता लग जायगा कि यह विचार आर्य समाज की स्थापना नही है। आर्यसमाज को तो स्थापित हुए अभी केवल मात्र एक सौ सोलह वर्ष ही हुए है। मनुस्मृति भी वह किसी आर्य प्रकाशक की न पढे, जिससे उन्हे यह पता भी चल जायगा कि यह श्लोक मनुस्मृति मे आर्यसमाजियो का प्रक्षेप किया हुआ नही है अपितु मूल रूप से युगो पहले आदि स्मृतिकार की रचना है।

आपने वेद को सीधी-सवरी पुस्तक भी लिखा है, परन्तु उसे ईश्वरीय ग्रन्थ मानने पर आपको आपत्ति है। इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वरीय ग्रन्थ सीधा-सवरा नहीं हो सकता अपितु धूर्त्तता और मूर्खता, छल-प्रपच आदि से परिपूर्ण या फिर गप्पो और अनर्गल बुद्धि विरुद्ध विचारो से भरी हुयी पुस्तक ही धर्मग्रन्थ हो सकता है। बालीजी की इस तर्कपूर्ण और युक्तियुक्त खोज पर तो उन्हें डी. लिट. की उपाधि दी जानी चाहिये।

आपकी स्थापना यह भी है कि 'ईश्वरीय ग्रन्थ मानने से वेद विवेचना का नही श्रद्धा का विषय बन जायगा।" बाली जी जिस प्रकार ईश्वरीय सृष्टि और

(शेष पृष्ठ ८ पर)

वेद वास्तव में धर्म ग्रन्थ हैं

(पृष्ठ ४ का शेष)

उसका अवयव विवेचना और अनुसन्धान का विषय है तथा स्वयं परमात्मा भी विवेचना का विषय है। ठीक, इसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान वेद भी साङ्गोपाङ्ग रूपेण विवेचना और अनुसन्धान का विषय है। आवश्यकता केवल जिज्ञासा और बौद्धिक स्तर की है।

श्रत्-सत्य धा धारणे अर्थात् श्रद्धा नाम ही सत्य को धारण करने का है, आखें मूंदकर स्वीकार करने का नहीं। आखें मूंदकर स्वीकार करना तो अन्ध-विश्वास है। सत्य को धारण अर्थात् स्वीकार करना और तदनुसार आचरण करना और स्वीकार का आचरण करने के लिये विवेचना तथा अनुसन्धान परमावश्यक है। सत्य तो खोज का, पहचानने का तत्व है। पहचान के लिये निमीलित नहीं अपितु उन्मीलित नेत्रों तथा खुले मस्तिष्क की आवश्यकता है।

यह आपने अपने स्व और सघ निर्मित बाली पुराण में पढ लिया होगा या फिर वंश परम्परागत बाली पुराण होगा जिसमे आपको यह लिखा मिला होगा कि आर्यसमाज वेदों को दो करोड वर्ष का मानता है। यदि आर्यसमाजियो के किसी लेख को पढ लिया होता अथवा आर्यसमाज के संस्थापक ऋषिवर दयानन्द सरस्वती के ग्रंथो "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" तथा "सत्यार्थ प्रकाश को उन्मीलित नेत्रो से पढा होता तो आप यह बिना पते की गप्प न लिख मारते अपितु आपको ज्ञान हो जाता कि आर्यसमाज वेदो की उत्पत्ति को लगभग दो अरब वर्ष पुरानी तब की मानता है, जब मानवी सृष्टि का प्रारम्भ हुआ था और इसके लिये आर्यसमाज के पास प्रामाणिक काल गणना है।

आपने यह भी लिखा है कि "अपना पक्ष सही सिद्ध करने के लिये बिना पढे ही वेदो की दुहाई दी गयी और वेदो को स्वत: प्रमाण कह दिया गया तो जाहिर है कि वेद नही पढ़े गये बल्कि उन्हे न पढने का माहौल भी बना दिया दिया।" इससे तो यह पता चला कि वेद की बात हो क्या आपको आर्यसमाज के विषय में किञ्चितमात्र भी जानकारी नही है। आर्यसमाजका तो एक नियम ही है कि "वेद का पढना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" न केवल धर्म अपितु इस नियम मे पढना भी और पढाना भी तथा सुनना भी और सुनाना भी परम धर्म बताया गया है और आर्यसमाज ने गुरुकुल खोल कर न केवल पुरुषो को ही वेद पढाया अपितु महिलाओ को भी वेद पढ़ा-पढा कर वेद की विदुषी बना दिया, जो अब उन्ही गुरुकुलो मे बैठ कर स्वय वेद पढाने का कार्य कर रही हैं और स्थान-स्थान पर सभा समारोहो तथा गोष्ठियो मे भाग लेकर वेद का सन्देश जन जन तक पहुचाने का कार्य कर रही है।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदो को तर्कसम्मत, युक्तियुक्त और सृष्टिक्रम के अनुकूल स्वीकार किया है, ऐसा बिना पढ़े कदापि नहीं कहा जा सकता। उन्होने आर्यसमाज के उपर्युक्त नियम मे "वेद का पढना पढाना और सुनना-सुनाना" परम धर्म बताने से पहले 'वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है" यह घोषणा भी की है। आपके उपर्युक्त आरोप से तो यह सिद्ध होता है कि आपका उद्देश्य वेद का विरोध करना मात्र है और क्योकि आर्यसमाज वेद का प्रबल प्रचारक है अतएव आपने अपने लेख मे आर्यसमाज का भी विरोध करना प्रारम्भ कर दिया, जबकि आर्यसमाज के विषय मे अन्य कुछ जानकारी की बात तो रही दूर आपने कभी आर्यसमाज के नियम तक भी नही पढे और आप आर्यसमाज के सस्थापक और आर्य समाजियों को वेद बिना पढे तथा वेद न पढने का माहौल बनाने वाले लिख रहे हैं यद्यपि उपर्युक्त नियम का प्रारम्भिक भाग" वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है" आधुनिक युग मे वेद विषयक खोज का प्रेरणा स्रोत है। इसके अतिरिक्त भी महर्षि ने अपने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका नामक ग्रन्थ मे वेद-मन्त्रो से अनेक वैज्ञानिक विषयो का विवेचन प्रस्तुत किया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के पश्चात् भी आर्यसमाज ने अनेक विद्वान ऐसे तैयार किये, जिन्होने वेदो का आद्योपान्त अध्ययन ही नहीं किया अपितु वेदो में वर्णित अन्य विविध विषयों के अतिरिक्त भौतिक विज्ञान सम्बन्धी भी अनेक विषयो का प्रणयन किया। यह सब पढ़कर ही किया गया है, बिना पढे नही, बिना पढे तो आपने लेखनी उठाने का दुस्साहस किया है।

आर्यसमाज ने वेद के न पढने का माहौल नही बनाया अपितु पढने के माहौल के निर्माण में महद् प्रयत्न किया है और उसी का यह परिणाम है कि वेद की भ्रष्ट व्याख्यायें लिखकर भारत मे इसाई मत का मार्ग प्रशस्त करने के ब्रिटिश सरकार द्वारा बुलाये गये जर्मन प्रोफेसर मैक्समूलर को भी "भारत हमे क्या पढा सकता है ?" तथा 'भारतीय दर्शन के छ: सिद्धान्त" नामक पुस्तकें लिखकर महर्षि का समर्थन करना पडा तथा श्रीपाद दामोदर सातवलेकर को अपना सम्पूर्ण जीवन अपने जीविकोपार्जन के कार्य फोटोग्राफी को छोडकर वेद विषयक लेखो और ग्रथो मे ही लगा देने को समुद्यत होना पडा। योगीराज अरविन्द घोष जैसे क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ को भी अन्त में अपने जीवन को वेद के अर्पित करना पडा तथा उन्होने लिखा कि "स्वामी दयानन्द ने वेदों मे विज्ञान की चर्चा करके कोई अत्युक्ति नही की अपितु न्यूनोक्ति से ही काम लिया है। वेद के असंख्यों विज्ञानो का तो अभी ससार को पता ही नही है।" और 'वेद का अन्तिम भाष्य क्या होगा यह तो मैं नहीं कह सकता किन्तु वेदभाष्य की सर्वोत्तम कुजी (शैली) हमें दयानन्द से ही प्राप्त हुयी है।

आर्यसमाज ने जो वेद के विद्वान तैयार किये हैं, उनकी तो पृथक् से ही लम्बी सूची है। उन सबकी नामावली तथा उनके विषयवाद ग्रन्थो की सूची इस लेख मे देने से कोई लाभ नही। वह तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। यह स्पष्ट और अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि ऋषिवर दयानन्द सरस्वती के प्रादुर्भाव, उनके वेद और वैदिक धर्म प्रचार अभियान से पहले तो वेद को दर्शनो और पाठ मात्र का विषय ही समझा जाता था तथा अधिकाश लोगो की यह मान्यता थी कि वेद को तो शंकासुर लेकर पाताल लोक को चला गया। आज जैसे वेद विषय पर लेखनी उठाने वाले तो आर्यसमाज और ऋषिवर दयानन्द के निरन्तर एक सौ पचास वर्षो से वेद का प्रचार करने वाले और उसे वेद विज्ञानो (सत्य विद्याओ) का पुस्तक बताने पर भी यह आरोप लगा रहे हैं कि वेद को ईश्वरीय और धर्मग्रन्थ बताकर पाठ और श्रद्धा का विषय बना दिया। शखासुर वेद को पाताल ले गया है, यह कहने वाले मूर्ख तो अब भी यदा-कदा मिल ही जाते है।

अब तो न केवल भारतीय अपितु विदेशों भी वेद को खोज का विषय समझने लगे और वेद विषयक लिखे गये अनेक, ग्रन्थो पर उनके लेखकों को विश्व-विद्यालयो से पी०एच०डी० तथा डी० लिट तक की उपाधिया प्राप्त हो चुकी हैं। इन सबका भी श्रेय आर्यसमाज द्वारा बनाये गये वेदाध्ययन के वातावरण को जाता है। यह कार्य न होता यदि ऋषिवर दयानन्द सरस्वती ने वेद को ईश्वरीय ज्ञान, स्वत: प्रमाण, सृष्टिक्रम के अनुकूल तथा ज्ञान-विज्ञान का कोष न बताया होता और आर्यसमाज ने इस प्रकार का प्रचार न किया होता। जिसके कारण विश्व के उच्च शिक्षा प्राप्त जन और अनुसन्धानकर्त्ता वेद की ओर प्रवृत्त हुए, उनको वेद के न पढने का माहौल बनाने वाला लिखना अपनी निम्नस्तरीय क्षुद्र बुद्धि का परिचय देना है।

आपने यह भी लिखा है कि "धर्मग्रन्थ सिर्फ पूजे या रटे जाते है, पढे या समझे नही जाते।" इसका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि आपको अक्षर ज्ञान तो है इस-लिये आप पढ और लिख तो लेते हैं किन्तु सूझ-बूझ लेश-मात्र भी नही है। जबकि वास्तविकता यह है कि पढने का अभिप्राय यह जानना होता है कि इसमे क्या लिखा है, क्या बात कही या बतायी गयी है ? और जिस लिखी बात को पढा जायगा तो उसके विषय मे विचार तथा ऊहापोह भी की जायगी। किसी विषय को पढकर उस पर विचार और ऊहापोह की प्रवृत्ति जडबुद्धि व्यक्तियो मे नही हुआ करती। निरर्थक पाठ करना तो समय और शक्ति का दुरुपयोग और विनष्टि है तथा जडमति मूर्ख को छोड़कर कोई सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति अपने समय और शक्ति को निरर्थक विनष्ट नहीं किया करता। जिस पुस्तक को पढ़ा जाता है, पढने वाला मनोवैज्ञानिक रूपेण उसी के विचारो मे ढलने लगता है। यही कारण है कि अन्धविश्वासी मतवादी पुस्तको के पढने वाले अन्धविश्वासों मे ही फसे रहते हैं। इसी अन्ध परम्परा के कारण ही आर्य जाति और आर्यावर्त्त का पतन हुआ किन्तु जब तक वेद का पठन-पाठन विधिवत् तथा साङ्गोपाङ्ग होता रहा, आर्य जाति विश्व मे सिरमौर रही।

"भारतीय मानस तो धर्म को सम्प्रदाय नही मानता" यह तो ठीक किन्तु आप तो मानते हैं इसीलिये तो आप आर्यसमाज द्वारा वेदो को धर्मग्रन्थ कहने पर तिलमिला उठे हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है धर्म सम्प्रदाय का नाम है न मत्पन्थ और मजहब का। धर्म तो आचरण की वस्तु है और वेद मानव को मानवता धारण कराना चाहते हैं, दो हाथ दो पैर का पशु नही रहने देना चाहते इसी-लिये निर्देश करते हैं "मनुर्भव" अर्थात् मनुष्य बनो। मनुष्य बनना या मानवता को धारण करना धर्म है या पाप········निर्णय कर लीजिये और जो पुस्तक इस

(क्रमश:)

आर्य समाज शेखपुरा (बिहार)

बिहार राज्य के मुंगेर जिलान्तर्गत शेखपुरा के गिरहिन्डा नामक कस्बे में स्थानीय आर्य समाज का ३०वां तथा आर्य समाज शेखपुरा का ५४वां वार्षिकोत्सव ईश कृपा से सोल्लास पूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर स्वामी अग्निव्रत (डा० देवेन्द्र सत्यार्थी) ने देश की सामयिक स्थिति पर गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि आज देश और समाज को सम्प्रदायवाद और जातिवाद तथा नास्तिकता ने आस्तिकता को चुनौती दे रखा है। श्री वीरेन्द्र आर्य ने भजनो के माध्यम से ऋषि संदेश द्वारा समस्त जनता को आह्लादित कर दिया।

उपरोक्त कार्यक्रम मे कविराज डा० श्री दुर्गा प्रसाद शास्त्री प्रधान तथा कोषाध्यक्ष श्री दुःखहरणलाल आर्य का सराहनीय योगदान रहा।

—शंकरलाल आर्य मन्त्री

आर्य समाज स्थापना दिवस सम्पन्न

आर्य समाज फतुहा (पटना) के तत्वावधान में दिनांक १७-३-९१ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को स्थापना दिवस बड़े ही धूम-धाम से मनाया गया। इस अवसर पर डा० देवेन्द्र कुमार सत्यार्थी (स्वामी-अग्निव्रत) का प्रवचन का आयोजन किया गया। स्थानीय पुरुष एव महिला समाज ने समन्वित रूप से यह आयोजन मनाया।

मन्त्री—जयदेव कुमार

वैद्य गुरुदत्त जयन्ती पर आयोजित संगोष्ठी

नई दिल्ली ८ अप्रैल आर्य समाज पालम कालोनी मे समाज के मन्त्री श्री कैप्टन भागवत सिंह जी की अध्यक्षता मे महान साहित्य सर्जक वैद्य गुरुदत्त जी की पावन स्मृति पर समाज की अभिशीलता हेतु एक गोष्ठी का आयोजन किया गया।

सर्व प्रथम लाहौर महोपदेशक पंडित हरिश्चन्द्र जी का अभिभाषण हुआ। आर्य समाज के मूल तत्वो से अवगत कराते हुए उन्होने आर्य शब्द का व्याख्यान किया। उनके शब्दो मे आर्य का अर्थ श्रेष्ठ है और श्रेष्ठ वही मानव है जिनमे नैतिक गुण, आत्मिक शुद्धता, सदाचार अध्यात्मिक प्रेम, अभक्ष्य पदार्थ के सेवन से परे एव पाखण्ड से दूर हो। "आर्य" शब्द केवल आर्य समाजी के लिए सुशोभित नही है बल्कि उपरोक्त गुणों से युक्त सभी मानव के लिए है।

युवा सरक्षक श्री ओमप्रकाश आर्य जी के कथनानुसार सप्ताह मे एक बार हवन कर लेने से ही समाज का कल्याण नहीं हो सकता इसके लिए छोटे-छोटे लघु उद्योगो को भी प्रश्रय दिया जाय। आय के आधार पर छोटी-छोटी पुस्तके खरीद कर निःशुल्क लोगो को वितरण करे। क्योंकि पुस्तक ही क्रांति का दूत होता है। हमे वैदिक संस्कृति के ज्ञाता वैद्य गुरुदत्त जी से सीख लेनी चाहिए।

युवा नेता डा० जसबीर आर्य ने लोकप्रिय श्रेष्ठ रचनाकार की जीवनी पर प्रकाश डालते हुए युवाओ मे राष्ट्रवादी विचारधारा का बल प्रदान किया।

प्रचार मन्त्री श्री कृष्ण माधव प० ने कहा आज कल समाचार पत्रो मे चर्चित "उग्रवादी" शब्द को सदा के लिए हटा देना चाहिए क्योंकि बन्दुक से निकलने वाली गोली की अपेक्षा लेखनी से निकलने वाले उग्रवाद शब्द अधिक खतरनाक होते हैं।

अन्त मे अध्यक्षीय भाषण मे वैद्य गुरुदत्त जी के सराहनीय विचारो पर प्रकाश डालते हुए कैप्टन भगवत सिंह (अध्यक्ष) ने वैद्य जी के विचारो के पक्ष को लेकर बोले—"हमारे देश का आधार धर्मनिरपेक्ष बनाया गया है तो मेरा विश्वास है कि यह आधार सत्यमेव जयते की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि जहां तक मेरी समझ है, सत्य तो यह है कि अपने देश का आधार धर्म हैं। सदा से अपने देश का जन-जीवन धर्म से ओत-प्रोत रहा है। लाख चेष्टा करने पर इसे धर्मनिरपेक्ष नही बनाया जा सकता। हां राज्य को सम्प्रदाय निरपेक्ष होना चाहिए धर्म निरपेक्ष नहीं। क्योंकि राज्य का भी धर्म होता है प्रजा पालन। यदि राज्य अपने इस धर्म से ही निरपेक्ष हो जाय तो ऐसा अवांछनीय राज्य ठीक नही हो सकता।" इस तरह हम देखते है कि एक चिकित्सक होने के नाते राष्ट्रवाद एव धार्मिक लगन उनमे कूट-कूट कर भरी हुई थी। ऐसे महान वेत्ताओं को श्रद्धा का सुमन अर्पित है। —प्रचार मन्त्री, कृष्ण माधव आर्य

मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल वाराणसी

दिनांक १७-३-९१ को मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल में आर्य समाज दिवस, होली मिलन धूमधाम से मनाया गया। पद्म विभूषण काशी के गौरव श्री राजराम जी शास्त्री का अभिनन्दन किया गया। छात्राओं के प्रेरणापद कार्यक्रम हुए। मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए श्री शास्त्री ने कहा "कि मेरा सौभाग्य है कि मातृ मन्दिर का समय-समय पर सहयोग करने का अवसर मिलता रहा है। बालिकाओं के कार्यक्रम अति सुन्दर है। इससे सिद्ध होता है कि बालिकाओं के निर्माण पर यहां पूरा ध्यान दिया जाता है। आरक्षण पर बोलते हुए उन्होने बताया कि महर्षि दयानन्द ने दलित वर्ग की समस्या को पहले ही भांप लिया था, और उसके लिए सरल उपाय छुआछूत नाश के रूप में बताया था। यदि उस उपाय को अपनाया होता तो आरक्षण की समस्या न उत्पन्न होती। दयानन्द ने जाति का आधार जन्म से नही अपितु कर्म से बताया था। वास्तव मे यही सही भी है। पिछड़ेपन या गरीबी का आधार जन्मगत जाति नहीं, अपितु पेशे को बनाया जाय। जैसे किसान मजदूर चपरासी का पेशा गरीब है।

माननीय शास्त्री जी ने आर्य समाज का आह्वान किया कि श्री स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तानुसार गुण-कर्म-स्वभाव से जाति (वर्ण) का निर्धारण करने मे प्रयासरत हो देश को वर्तमान आरक्षण जन्य समस्याओ से बचाए। अन्त मे उन्होंने मातृ मन्दिर की भावी योजनाओं (वेद मन्दिर निर्माण योजना तथा प्रायोगिकी यज्ञशाला) आदि तथा कन्या गुरुकुल के बहुमुखी विकास के कार्य-का अनुमोदन किया। उन्होने काशी के बुद्धिजीवी तथा उदार दानी महानुभावों से मातृ मन्दिर जैसी परोपकारी तथा बाल हितकारी सस्था का पूर्ण सहयोग करने का भी आह्वान किया।

प्रारम्भ मे छात्राओं के वैदिक मंगलाचरण से समारोह का शुभारम्भ किया। डा० पुष्पावती आचार्या ने मुख्य अतिथि श्री राजाराम शास्त्री तथा समारोह के सम्मानित अध्यक्ष दानवीर रामकुमार रूंगटा जी का तथा पधारे हुए सभी महानुभावो का स्वागत किया। मंच सचालन श्री सुरेन्द्र कुमार सिंह ने किया। पधारे हुए अनेक सस्थाओं व विभिन्न स्थानो (नगरों) के प्रतिनिधियों ने माननीय शास्त्री जी का माल्यार्पण द्वारा अभिनन्दन किया।

—पुष्पावती अध्यक्षा

आगामी वार्षिकोत्सव

१. २६ अप्रैल से ५ मई १९९१ तक आर्यसमाज करोलबाग मे वार्षिकोत्सव मनाया जाएगा।

२. आर्य समाज शकरपुर का वार्षिकोत्सव दिनांक ९ मई से १२ मई तक मनाया जायेगा।

३. सराय काले खा का वार्षिकोत्सव दिनांक २३,२४ मई को मनाया जायेगा।

सभी आर्य बन्धुओ की उपस्थिति प्रार्थनीय हैं।

आर्य समाज लाजपत नगर

का

३६वां वार्षिकोत्सव

दिनांक २२ अप्रैल से २९ अप्रैल तक

आपको यह जान कर हर्ष होगा कि आर्य समाज लाजपत नगर के वार्षिकोत्सव पर यजुर्वेद यज्ञ, वेद कथा, सुन्दर भजन, शोभा यात्रा, आर्य युवक सम्मेलन, राष्ट्रीय एकता सम्मेलन, महिला सम्मेलन आदि विभिन्न कार्यक्रमो का आयोजन किया जा रहा है। जिसमें योग्य विद्वान वक्ताओं के विचार आपको सुनने को मिलेंगे।

विशेष—२७ अप्रैल शनिवार को प्रातः १० बजे से शोभा यात्रा निकाली जाएगी। आपकी उपस्थिति प्रार्थनीय है। —पुरुषोत्तम लाल शास्त्री

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित
वैदिक साहित्य

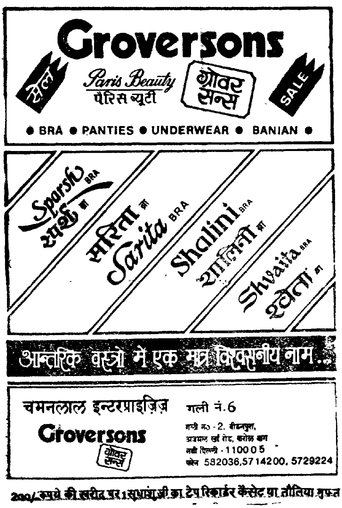
१. नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१.५०
२. नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२.००
३. नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३.००
४. नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५ नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५.००
६ धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७. फ्लैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यप्रकाश वर्मा)	२ ००
८. सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२.००
९. एटोनामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०. आर्यों का आदि देश	,, ,,	२ ००
११ प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२. दी ओरीजिन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	२.००
१३. चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
१४ द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५. आर्यसमाज आज के सन्दर्भ में	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२०.००
१६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(पं० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५.००
१७. हंसता चल, हंसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८ दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
१९ पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२० मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२१. योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२२ आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकड़ा

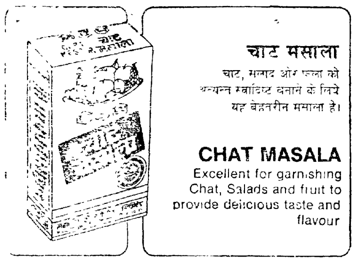
नोट · उपरोक्त सभी पुस्तकों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तकों की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नहीं लिया जाएगा।

पुस्तक प्राप्ति स्थान : **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१









आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 25-26-4-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५९ — पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेंस नं० यू १३९

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज दरियागंज का वार्षिक चुनाव दिनाक १७ मार्च ९१ को सम्पन्न हुआ उसमे निम्नलिखित अधिकारियों का चुनाव किया गया।

श्री बी० वी० सिंघल—प्रधान

श्री कृष्ण चन्द्र शर्मा—मन्त्री

श्री दयाकृष्ण सेठ—कोषाध्यक्ष

आर्य समाज टैगोर गार्डन, नई दिल्ली २७ का 'वार्षिक निर्वाचन' रविवार ३१ मार्च, १९९१ को सम्पन्न हुआ, वर्ष १९९१-९२ के लिए निम्नलिखित पदाधिकारियो का सर्व-सम्मति से चयन किया गया।

प्रधान—श्री कुंवर लाजपत राय

मन्त्री—श्री अमरनाथ बवचा

कोषाध्यक्ष—श्री प्रेमनाथ गोयल

अपील

आर्य शिक्षाविद उपदेशक एवं शारीरिक उत्थान हेतु खेल प्रशिक्षक से अपील है कि विभिन्न झुग्गी-झोंपड़ियों वाले क्षेत्र में निःशुल्क प्रशिक्षण एवं शिक्षण देकर कुंठित युवाओं में उत्साह एवं प्रेरणा दे सकें। कृपया निम्न पते पर सम्पर्क स्थापित करें। विभिन्न झुग्गी-झोंपड़ियों की तालिका परिषद कार्यालय में उपलब्ध है।

—डा० बलबीर आर्य

अध्यक्ष युवा विकास परिषद आर्य समाज राजनगर पालम कालोनी दिल्ली-४५

हिन्दी प्रोत्साहन प्रतियोगिताओं के विजेता पुरस्कृत

दिल्ली प्रशासन के भाषा विभाग द्वारा हिन्दी प्रोत्साहन योजनान्तर्गत आयोजित टिप्पण आलेखन, सुलेख, आशुलिपि, तथा निबन्ध आदि प्रतियोगिताओं में दिल्ली प्रशासन तथा स्थानीय निकायों के ४७१ प्रतियोगियों ने भाग लिया।

भाषा सचिव श्री नरेन्द्र प्रसाद ने ३७ विजेताओं को सचिवालय के सभागार मे, नकद राशि, पदक तथा प्रशस्ति पत्र प्रदान किए।

इस अवसर पर पुरस्कृत विजेताओं को सम्बोधित करते हुए श्री नरेन्द्र प्रसाद ने यह आशा प्रकट की कि वे भविष्य में अपना अधिकाधिक कार्य हिन्दी में करेंगे।

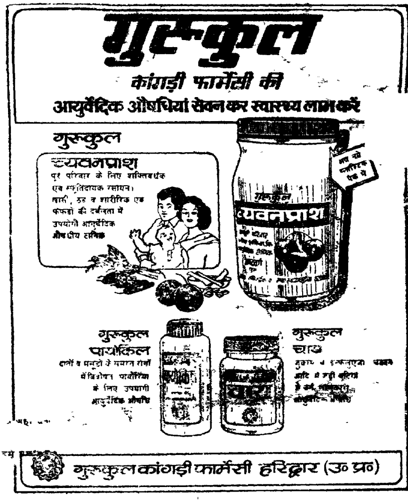
—अमरनाथ

राष्ट्र और धर्म रक्षा अभियान

श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक, अध्यक्ष वैदिक संस्थान नजीबाबाद गत वर्षों की भांति उत्तरांचल के पार्वत्य क्षेत्र में "राष्ट्र और धर्म-रक्षा अभियान यात्रा" के लिए प्रस्थान करेंगे। इस बार की यात्रा पर संस्थान के मन्त्री श्री मेघराज आर्य भी स्वामी जी के साथ रहेंगे।

[illegible] नजीबाबाद से चल कर [illegible] ज्वालापुर (हरिद्वार) में रहेंगे। वहां से अगले दिन देवप्रयाग में प्रवास रहेगा। देवप्रयाग से श्रीनगर, टिहरी, उत्तरकाशी, भटवाड़ी और गंगोत्री तक यात्रा करेंगे। वापसी में पुनः टिहरी, चम्बा होते हुए नरेन्द्र नगर प्रवास रहेगा। नरेन्द्र नगर से ऋषिकेश होकर हरिद्वार आर्य समाज मन्दिर में विश्राम करेंगे

—संजय आर्य



शाखा कार्यालय · ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८ 'प्रखर' '२०७२'

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५९)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २६ | रविवार, ५ मई, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

स्वामी दयानन्द और शिक्षा दर्शन

—श्रीकान्त शास्त्री व्याकरणाचार्य

समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिको में स्वामी दयानन्द उन दार्शनिको की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो शिक्षा के क्षेत्र मे प्राचीन भारतीय विचारों को प्रामाणिक समझ कर प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था को देश में फिर लागू करना चाहते थे।

स्वामी दयानन्द जी ने त्रैतवाद को मान्यता दी है। "ईश्वर, जीव, प्रकृति" स्वामी दयानन्द ने वेदों को प्रमाण मान कर उनके दार्शनिक सिद्धान्तो की व्याख्या की है, और वेदों के विरुद्ध सभी प्रकार के आक्षेपो का निराकरण किया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार वैदिक दर्शन समाज का प्राचीनतम दर्शन है जो वेदों के आधार पर आर्यों ने वैदिक सस्कृति का विशाल भवन खडा किया था। परमतत्त्व के विषय में वे अद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद से अधिक त्रैतवाद के मानने वाले हैं। त्रैतवाद के अनुसार परमतत्त्व तीन है—ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनो ही आदि और अनन्त हैं, न इनका कभी निर्माण हुआ है और न कभी इनका विनाश होगा। ईश्वर सर्वशक्तिमान और सृष्टि का रचने वाला है, वह सुख-दुःख की रचना करता है। किन्तु संसार में जीवों को सुख-दुख उनके कर्मो के अनुसार मिलता है। ईश्वर अति सूक्ष्म, सर्व शक्तिमान, सब उत्तम गुणो से युक्त एव न्यायाधीश है।

जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान है। इसलिए वह अविद्या के वशीभूत होकर बार-बार ससार चक्र में फसता है। सभी जीव समान हैं, अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार वे विभिन्न योनियो मे सुख-दुःख भोगते हैं। सत्य ज्ञान और शुभ कर्मो से जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणमयी है और सृष्टि का उपादान कारक है। प्रकृति परमात्मा के अधीन है। दृश्यमान जगत् सत और व्यवहारिक है। वह न तो मिथ्या है और न ईश्वर का लीलास्थल है। जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र और भोग मे ईश्वर के अधीन है। स्वर्ग नर्क की पौराणिक कल्पनायें व्यर्थ हैं।

शिक्षा दर्शन मानव प्रकृति की धारणा पर आधारित है। इसके अनुसार मन प्राणियो के शरीर में हृदय में निवास करता है और उसका काम शरीर और आत्मा मे सम्बन्ध स्थापित करना है। उसमे ज्ञान धारण करने की अद्भुत शक्तियां हैं, वही पांचो ज्ञानेन्द्रियो, पाचों कर्मेन्द्रियो और प्राण तथा बुद्धि पर नियन्त्रण करता है। उसे योग द्वारा संयमित किया जा सकता है। मन की शुद्धि के बिना ज्ञान नही मिल सकता है। मन, बुद्धि, चित् और अहंकार ये अन्तःकरण के चार विभाग है मन का कार्य सकल्प विकल्प करना है। यह पाचों ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा प्राप्त सूचना पर प्रत्युत्तर मे कर्मेन्द्रियो को कार्य करने का आदेश देता है। बाह्य शरीर के अन्तर्गत एक सूक्ष्म शरीर है, स्थूल शरीर वह है जो बाहर से दिखाई पड़ता है। सूक्ष्म शरीर मे पाच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिया, पाच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि में १७ तत्त्व हैं। यह सूक्ष्म शरीर जन्म मरण में जीव के साथ रहता है इसी से जीव मुक्ति मे सुख को भोगता है। तीसरा शरीर कारण शरीर है, जिसमें सुषुप्ति होती है। यह सब जीवों के लिए एक ही है। स्थूल शरीर के कार्य सूक्ष्म शरीर से नियन्त्रित होते हैं। सूक्ष्म शरीर सस्कार से प्रभावित होता है। सामाजिक और नैतिक प्रतिबन्धो से मनुष्य मे अनेक सस्कार बन जाते हैं। सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत पांच प्राण होते हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय, स्थूल शरीर मे त्वचा चक्षु, श्रोत, घ्राण और रसना मे निहित सूक्ष्म भूत, शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध है ये ही पाच तन्मात्र कहलाते है। इन्द्रियों को मन के द्वारा वश मे किया जा सकता है। सत्व, रज और तम का शरीर और मन दोनो पर प्रभाव पडता है। योग व सयम मन को नियन्त्रित करने के साधन हैं। पातजलि योग मे मन के निरोध के उपाय बतलाये गऐ हैं, पातञ्जलि योग मे अष्टाग योग को ईश्वर प्राप्ति का साधन बताते हैं। उनके अनुसार मोक्ष ही परम लक्ष्य है और यह मोक्ष आत्म-साक्षात्कार से प्राप्त होता है। भगवत् गीता के अनुसार कर्म और ज्ञान मे समन्वय है। मनु धर्म के दस लक्षणो मे अहिसा को जोडकर धर्म के ११ लक्षण हो जाते है, सदाचार सदाचरण पर अत्यधिक जोर देते हुए ब्रह्मचर्य को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है ब्रह्मचर्य ही नही बल्कि अहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह भी आदर्श मनुष्य के अनिवार्य गुण हैं।

—आर्य समाज श्री निवास पुरी नई दिल्ली-६५

स्वनामधन्य स्व० सेठ केदारनाथ गोयनका

संसार मे अनेक महापुरुष, सन्त और महात्मा अपने उज्वल कार्यों से अपना नाम छोड़ जाते है किन्तु ऐसे अज्ञात महापुरुषों की भी कमी नही है जिन्होंने अपना सपूर्ण जीवन जाति, धर्म और सस्कृति की रक्षा के लिए, अर्पित किया है। इसी श्रेणी के एक ज्वाजल्यमान रत्न थे स्व० केदारनाथ गोयनका।

स्व० केदारनाथ जी गोयनका सेठ कन्हैयालाल के दत्तक पुत्र थे। इनकी शिक्षा कलकत्ता में हुई थी। कलकत्ता मे ही स्व० केदारनाथ जी का प्रसिद्ध आर्य समाजी श्री देवीबक्श से सम्पर्क हुआ था। २१ वर्ष की अवस्था पूरी करने पर उन्हें अदालत से सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त हुआ। सम्पत्ति प्राप्त होने पर उन्होंने सर्वप्रथम चांदनी चौक मे कपडे की बड़ी भारी दुकान खोली। दुकान बहुत अच्छी चली स्व० गोयनका ने वहां से खूब धनोपार्जन किया था।

स्व० गोयनका १९११ मे आर्य समाज चावडी बाजार के सदस्य बने। १९१३ मे वह समाज के कोषाध्यक्ष और बाद मे उपमन्त्री बनाए गए। आर्य समाज के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा थी। उन दिनो आर्य समाज का सूर्य सारे देश मे चमक रहा था। अग्रेज और आर्य समाज विरोधी लोग यह नहीं चाहते थे कि आर्य समाज का सगठन अधिक भावी हो। इसलिए अंग्रेजी सरकार के इशारे पर शिमला के राय साहब गगाराम आर्य समाज चावड़ी बाजार के सदस्य बनें। उन्होंने एक साल के अन्दर ही आर्य समाज के वरिष्ठ नेताओ के विरुद्ध जिनमे लाला नारायणदत्त ठेकेदार और लाला दीवानचन्द आदि मुख्य थे, पोस्टरबाजी और पर्चेबाजी शुरू कर दी। जिसका दिल्ली में बड़ा शोर मचा। राय साहब गगाराम को आर्य समाज के सगठन को तोड़ने मे सफलता मिल गई। किन्तु लाला नारायणदत्त ठेकेदार

(शेष पृष्ठ ६ पर)

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेद वास्तव में धर्म ग्रन्थ हैं

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक,—
अध्यक्ष–वैदिक संस्थान, नजीबाबाद (उ० प्र०)

(गतांक से आगे)

प्रकार का निर्देश कर मानव को वास्तविक अर्थो मे मानव अर्थात् मननशील बनाकर उत्तम आचरण के लिये प्रेरित करे, वह धर्मग्रन्थ नही तो क्या है? यह भी ध्यान रहे कि धर्म का विलोम पाप ही होता है, और पाप नाम है बुराई का। मानवता धारण करना अच्छाई या बुराई? आपने कभी विचार किया है क्या? और फिर इसी प्रकार यदि वेद धर्मग्रन्थ नही तो क्या पापग्रन्थ है?

आप लिखते है कि "वेद तो खुद को सहिता या सकलन मानते हैं।" आपको वेद मे से वह स्थल भी उद्धरित करना चाहिये था, जिसमे वेद ने स्वय को सकलन कहा है। हां इससे यह पता अवश्य चल गया कि सहिता शब्द के अर्थ से भी सर्वथा अनभिज्ञ है। सहिता मूल ग्रन्थ को कहते हैं।

आगे आप लिखते हैं "इन सहिताओ मे सूक्त है।………… सूक्त यानी सु-उक्त अर्थात् सुभाषित अर्थात् श्रेष्ठ रचना।" इससे यह पता चलता है कि आपके मतानुसार श्रेष्ठ रचना मनुष्य ही कर सकता है परमेश्वर नही। लगता है आप परमात्मा को बुद्धिहीन अथवा नितान्त जडतत्त्व समझते है, बलिहारी इस बुद्धि की। जो व्यक्ति धर्मशब्द के अर्थ न समझ सकता हो, जो पाठ करने का अर्थ पाठ किये जाने वाले ग्रन्थ को समझना नही मानता हो अपितु उसमे निरर्थक समय और शक्ति की विनष्टि को धर्म समझता हो, उससे परमपिता परमेश्वर जैसे तत्त्व को समझने की आशा की भी नही जा सकती।

आपने यह भी लिखा है कि श्रेष्ठ कविताओं का साम्प्रदायिक धर्म से क्या वास्ता? इसलिये वैदिक सूक्तो का विषय धर्म नहीं है।" हमारा यह कहना है कि सूक्त अर्थात् सु-उक्त है ही वह जो धर्म का वर्णन और विवेचन करता हो, जो धर्म का वर्णन और विवेचन न करे, वह तो कु-उक्त हो सकता है अथवा निरर्थक बकवास। वेद साम्प्रदायिक नही अपितु मानव धर्म का प्रणेता है, जैसा कि हम ऋग्वेद के "मनुर्भव" शब्द को ऊपर उद्धृत कर वर्णन कर चुके है। यह भी ध्यान रखिये कि वेद का कवि क्रान्तदर्शी, वही क्रान्तदर्शी परमात्मा है। कोरा वाणीविलास के लिये शब्दो को तुकबन्दिया करने वाला व्यक्ति नही। "पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति" देख उस देव के काव्य को, जो न समाप्त होता है और न जीर्ण (जर्जर) होता है।

जिस सूक्त की चर्चा आपने की है, उसमे यह कह कर कि "पता नही सबसे शुरू मे क्या था?" अनुसन्धानार्थ वेदपाठी को प्रोत्साहन दिया गया है तथा यह प्रश्न उठाकर ऋग्वेद को नारदीय सूक्त मे प्रलयकाल का नितान्त वैज्ञानिक वर्णन किया गया है, जिससे सृष्टि के प्रारम्भ होने से पहले देखने वाला परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई था ही नही। इसी कारण मैक्समूलर ने अपने "भारतीय दर्शन के छः सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ मे लिखा है "कि मै अब तक वेदो को ऋषियो की खोज मानता था किन्तु ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में प्रलयकाल का आखो देखा जैसा वैज्ञानिक वर्णन पढकर इस परिणाम पर पहुचा कि यह ज्ञान तो परमेश्वर की ओर से ऋषियो की ओर आता प्रतीत होता है।" वर्तमान काल मे महर्षि दयानन्द ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होने यह घोषणा की कि वेदो का ज्ञान आदि सृष्टि मे परमात्मा ने चार ऋषियो अग्नि, वायु, आदित्य और अगिरा को प्रदान किया।

एक सूक्त मे विवाह सम्बन्धी रचनाये होने मे भी आपको आपत्ति है। क्या मानव को विवाह विषयक ज्ञान न देकर सृष्टिकर्ता इन्हे पशुवत् मौन सम्पर्क के लिये छोड देता? धन्य हो आपकी सूझ-बूझ को। इसी प्रकार से जुए की हानिया भी आदि सृष्टि में ही परमात्मा ने बता दी तो इससे आपको क्या कष्ट हुआ प्रत्येक पिता अपनी सन्तान को जहा कार्यविधि बताता है, बुराई से बचने का निषेध भी कर देता है। विधि और निषेध तो एक सिक्के के दो पहलू है। परमात्मा समस्त संसार का पिता है, उसने अपनी मानव सन्तान को प्रारम्भ मे ही चेतावनी देते हुए जुआरी के परिवारस्थ जनो के दुःखी होने और उसे घर तक से निकाल दिये जाने के रूप में दे दी और परिवारस्थजनो में भी निकटतम् माता और पत्नी तक को भी ऐसे गन्दे व्यक्ति को घर से निकाल देने का अधिकार प्रदान कर दिया तो इससे वेद का ईश्वर कृत न होकर मानव कृत होना किस प्रकार सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अन्य सूक्तो को भी समझिये। यह सब ज्ञान मानव को आदि सृष्टि मे दिया जाना परमावश्यक था क्योकि मानव बिना सिखाये-बताये कुछ भी नही सीख पाता है और न कर पाता है। हां, जाने हुए में विकास करने का सामर्थ्य तो मनुष्य मे होता है।

आपने शराब पिये हुए इन्द्र की भी चर्चा की है, वह शराब है ही नहीं। आप वेद के शब्दो के अर्थ तो जानते नही, आपने तो इधर-उधर से वेद के विरोधियो तथा वेद को न समझते हुए वेद विषय में टाग अडा कर अपने को महापण्डित सिद्ध करने की लालसा रखने वालो के लेखों को पढ लिया है। आपने न तो अष्टाध्यायी पढी, न महाभाष्य, न आपका निरुक्त से परिचय है और न निघन्टु से………इस कारण आप इन्द्र शब्द के अर्थों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वेद का इन्द्र कोई शराबी व्यक्ति नही है अपितु वह यौगिक अर्थों मे प्रयुक्त है। शराब का पर्याय वहा कोई शब्द है ही नही। लेख बहुत बडा हो गया है, इस कारण मै विस्तारपूर्वक नही लिख रहा! अच्छा हो कि आपने जो कुछ इस लेख मे लिखा है, इन सभी विषयो पर विस्तार से सार्वजनिक चर्चा को तैयार हो जायें और इसके लिये सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, ३/५-आसफ अली मार्ग, नयी दिल्ली के माध्यम से अथवा सीधे मुझसे पत्र-व्यवहार कर समय और स्थान का निश्चय कर लें और फिर वही सार्वजनिक चर्चा दोनो पक्षो के हस्ताक्षरो से युक्त नवभारत टाइम्स मे प्रकाशित हो जाय। यह भ्रान्ति भी आपकी निकल जायगी कि वेद आपके अनुसार लौकिक कवियो को स्फूर्त और जिन्दा जीवन पर लिखी भव्य रचनायें हैं और वह वेद को ईश्वरी वाणी बताने से अन्धेरे मे डूबी पडी है। हम तो इसके लिये आपके धन्यवादी हैं कि आप उन्हें भव्य रचनायें मानते हैं, अन्यथा यह भी लिख सकते थे कि वेद जैसी मूर्खतापूर्ण रचना परमात्मा जैसे परम पवित्र तत्त्व की नहीं हो सकती अपितु यह तो चरवाहो की अनर्गल बकवास है फिर भी आपके इस लेख से इतना तो निश्चित ही स्पष्ट हैं कि आप वेद को तो भव्य रचना मानते हैं किन्तु परमात्मा को यदि मानते है और उसे जड तत्त्व नही तो कम से कम वेद जैसी भव्य रचना का कर्त्ता नही अपितु इन रचनाओ के योग्य भी नहीं मानते।

पुराणो के विषय मे आपने लिखा है कि "आर्यसमाज ने गप्प कहकर ठुकरा दिया था।" यह भी आपने गप्प मारी है। पुराणो मे गप्पें भरी हैं अतएव वह विष सम्प्राक्त अन्नावत्-त्याज्य है, ऐसी ऋषिवर दयानन्द की घोषणा है और यह दो और दो चार की भांति नितान्त सत्य है। समग्र रूप से पुराणो को आर्यसमाज गप्प नही मानता उनमें अनेक अन्य उपयोगी बातो के अतिरिक्त आर्य जाति का इतिहास भी वर्णित है।

आपको आर्यसमाज द्वारा आर्यनस्ल तथा आर्य जाति की चर्चा भी खटकी है, जबकि हमारा सम्पूर्ण इतिहास आर्यो या आर्य जाति का ही इतिहास है। हिन्दू नाम तो मुसलमानो के भारत पर लगातार आक्रमणो द्वारा प्राप्त पराधीनता के समय की दौलत कहे या लानत (जो भी समझिये) है। जैन शास्त्रो और बौद्ध साहित्य में भी आर्य संज्ञा ही उपलब्ध है। किमधिकम् लेखेन अलमीतिविस्तरेण।

●

वैवाहिक विज्ञापन

२३ वर्षीया कद १५२ सैन्टीमीटर सरकारी सेवा मे अध्यापिका वेतन २२३०/रुपये मासिक पजाबी अरोडा स्नातक आर्यसमाजी कन्या हेतु अध्यापक। अथवा बैंक सेवारत सुयोग्य शाकाहारी वर की आवश्यकता है। निम्न पते पर सम्पर्क करें।

रामदास, २२/४ पंजाबी बाग विस्तार, नई दिल्ली-२६

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

आर्यसमाज और युवा शक्ति

सम्पादकीय

किसी भी संस्था के संचालन के लिए विवेक, कर्म और अर्थ इन त्रयी की आवश्यकता होती है। किसी भी एक पक्ष की कमी हो जाने से कार्य सिद्धि नहीं हो पाती। यही बात श्री जयशंकर प्रसाद ने भी कही थी–ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है क्यों इच्छा पूरी हो मन की। अतः साध्य को प्राप्त करने के लिए विद्वानों, कार्यकर्त्ताओं और धनवानों का सम्मिलित प्रयास होना चाहिए। यही बात आर्य समाज के लिए भी सही है। जहा पर तीनों समन्वय है, वहा पर अच्छा कार्य हो रहा है, जहा पर किसी एक तत्त्व का दूसरों पर अधिक प्रभाव हो गया, वहीं पर समस्या आ गई है। जिन आर्य समाजों के पास धन और पार्थिव सम्पत्ति ज्यादा हो गई, वे केवल उसी के सरक्षण तक सीमित हो गए, असली कार्य वे भूल गये। उनकी इच्छा यही रहती है कि कुछ भवन और बन जाये, कुछ दुकाने और बन जायें अथवा पैसा कमाने के लिए आर्य समाज मन्दिरों में स्कूल ही खोल दिए जाये। स्कूल खोलना अच्छा है। यदि इससे सामाजिक लाभ हो, अन्यथा नहीं।

आर्य समाज की जीवन्तता के लिए यह आवश्यक है कि लोकोपयोगी, जनोपयोगी कार्य हाथ में लिए जाये। दिल्ली मे अनेक आर्य समाजो मे ऐसे धर्मार्थ कार्य चलाए जा रहे है। इन कार्यों के सचालन के लिए ऐसे लोग चाहिए जो सक्रिय हो आलस्य से परे हों, जिनमे युवा भावनाए हो। जो दौड़ कर कार्य कर सकें। मुझे प्रसन्नता है कि यहा पर ऐसे युवा समाज कार्य कर रहे है। आर्य वीर दल इस दिशा मे सराहनीय कार्य कर रहा है। गाजियाबाद मे आर्य समाज राजनगर मे आर्य युवा सम्मेलन मनाया गया। युवाओं के हौसले बुलन्द थे और उनके विचार भी बहुत ही ओजस्वी। उनमे कुछ कर गुजरने की तमन्ना है। यह प्रसन्नता और सन्तोष की बात है। इसी प्रकार आर्य समाज लाजपत नगर में भी युवा सम्मेलन आयोजित किया गया।

युवा शक्ति सप्राण होती है। पर इनकी दिशा का अनुकूलन भी अनिवार्य है। देश की वर्तमान परिस्थितियों मे युवा शक्ति को सही मार्ग निर्देशन मिले, तो वे बहुत ही अच्छा कार्य कर सकेंगे उनकी क्षमताओं का ससाधन विकसित किया जाना चाहिए।

इन सबसे ऊपर संस्था के उद्देश्यो का महान होना भी अनिवार्य है। आर्य समाज वेदो के अनुसरण पर बल देता है। वेद सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। अतः इसके उद्देश्य, विचार निश्चय ही महान है। आओ हम सब इन विचारो को आगे बढाये।

—डा० धर्मपाल

डा० कपिलदेव द्विवेदी मारीशस आमन्त्रित

पद्म श्री डा० कपिलदेव द्विवेदी मारीशस आदि देशों की चार मास की यात्रा पर ३ मई ९१ को बम्बई से रवाना हो रहे हैं। उनकी विदेश यात्रा का उद्देश्य विश्व मे वेदों के सन्देश का प्रचार प्रसार करना है। वे मारीशस के साथ-साथ केन्या, तजानिया, मैडगास्कर आदि भी जाएगे।

—भार्वेन्दु द्विवेदी

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२८ अप्रैल, ९१ के अक से आगे)

राजाधिराज उम्मेदसिंह शाहपुराधीश ने सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। मैंने भी किसी प्रस्ताव के समर्थन मे अपना भाषण दिया था। सम्भवत. प्रान्तीय स्तर पर बोलने का यह मेरा प्रथम अवसर था। यह सम्मेलन महाराजा हाई स्कूल किशनपोल बाजार मे हुआ था। १९५३ मे प० जियालाल जी चुनाव हार गये और डा० मथुरालाल शर्मा सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। कोटा मे सम्पन्न यह अधिवेशन पर्याप्त रोमांचकारी था। सभा के उपदेशको ने, जिनमे प० रामसहाय जी प्रमुख थे सर्वत्र घूम-घूम कर पहले से ही डा० मथुरालाल शर्मा के पक्ष मे वातावरण बना दिया था, किन्तु प० जियालाल जी अपने नेतृत्व के प्रति इतने अधिक आश्वस्त थे कि उन्हे स्वप्न मे भी यह आभास नहीं हो सका कि वे चुनाव के दगल मे पराश्त हो जायेगे। उन दिनो जोधपुर से कोटा जाने के लिए सीधी बस की कोई व्यवस्था नहीं थी। रेल का मार्ग तो और भी जटिल था क्योंकि रेल से वहा पहुचने के लिए प्रथम जयपुर जाकर सवाई माधोपुर की गाडी और सवाई माधोपुर से बड़ी लाइन की गाडी लेकर कोटा पहुचना होता था। अजमेर से देवली और वहा से बूदी होकर कोटा तक के लिए प्राइवेट बसे अवश्य चलती थी। जोधपुर के प्रतिनिधि रेल मार्ग से अजमेर गये और आर्य समाज केसरगज मे ठहरे। यहां प० जियालाल जी से हमारी भेट हुई। उन्होने हमे अपने साथ डी० ए० वी० कालेज की बस मे कोटा ले चलने का आश्वासन दिया। इसमे अच्छी बात और क्या हो सकती थी? हम लोग प्रात: प० जियालाल जी के साथ उन्ही की बस मे कोटा के लिए रवाना हुए। मार्ग मे नसीराबाद के समाज मन्दिर को देखते हुए सरवाड़ पहुचे। वहां की समाज के मन्त्री श्री जगदीश चन्द्र जी आर्य ने प्रतिनिधियो के लिए भोजन की सुन्दर व्यवस्था कर रखी थी। सरवाड अपनी स्वादिष्ट पूरियो के लिए प्रसिद्ध है। अतः लड्डू और पूरी का स्वादिष्ट भोजन कर हम बूदी की ओर चले। बूदी में बस खराब हो गई और उसकी मरम्मत मे पर्याप्त समय लगा। इसी बीच पडित जियालाल जी ने सारे प्रतिनिधियो को अपने खर्च पर जलपान भी कराया। वे इसी सुखद भ्रम मे थे कि उनके साथ बस मे आये सारे प्रतिनिधि चुनाव मे उनका साथ देंगे। आधी रात के करीब बस कोटा पहुची और हम ने आर्य समाज कोटा जकशन में विश्राम किया।

दूसरे दिन अधिवेशन आरम्भ हुआ। सार्वदेशिक सभा के प्रधान प० घुरेन्द्र शास्त्री स्वय प० जियालाल जी के समर्थन हेतु सभा मे उपस्थित थे। किन्तु प्रान्त के प्रतिनिधि भी परिवर्तन का निश्चय करके आये थे अत: प्रबल बहुमत मे डा० मथुरालाल शर्मा प्रधान चुने गए। मन्त्री पद विजयबिहारी माथुर को मिला तथा उपमन्त्री पद पर प भगवती प्रसाद सिद्धान्तभास्कर चुने गए। मैं भी जोधपुर मण्डल से उपमन्त्री निर्वाचित हुआ। इससे पहले भी मैं अन्तरग सदस्य तो रह ही चुका था। श्री विजयबिहारी लाल एम० एड० की पढाई के लिए उदयपुर चले गए अत. उपमन्त्री श्री भगवती प्रसाद को ही मन्त्री पद पर कार्य करना पड़ा। आगे वे कई वर्षों तक सभा के मन्त्री रहे। इन दिनो मेरा छोटा भाई प्रो० नवल किशोर हर्बर्ट कालेज कोटा मे रसायन के प्रवक्ता पद पर अस्थाई रूप मे कार्यरत था। मेरी माता जी भी उसके पास ही थी। अधिवेशन समाप्त होने के बाद मैं कोटा रुका और उसके बाद सीधा जयपुर आ गया। मुझे १९५४ के दीक्षान्त समारोह मे एम० ए० हिन्दी की उपाधि ग्रहण करनी थी। इस वर्ष का दीक्षान्त भाषण सर सी० वी० रमन ने दिया था।

सभा के आगे के अधिवेशनो मे भी निरन्तर भाग लेता रहा। १९५५ मे भी कोटा में ही अधिवेशन हुआ और मैं पुनः उपमन्त्री निर्वाचित हुआ। उदयपुर अधिवेशन मे प० जियालाल ने किसी कौशल से डा० मथुरालाल जी को प्रधान पद से हटाने का प्रयास किया था जो असफल रहा क्योंकि उनके अध्यक्ष के प्रति किए गए दुर्व्यवहार को देख कर सभा का वातावरण बिगड़ गया और तत्कालीन प्रधान मा० मथुरालाल शर्मा ने अधिवेशन की कार्यवाही ही स्थगित कर दी।

(क्रमशः)

अपेक्षित शान्ति की उपेक्षा

—मनोज कुमार पाण्डेय 'पुष्पेश'

मनुष्य समूची सृष्टि में सबसे अधिक बुद्धिमान प्राणी है और देखा जाय तो इससे निकृष्ट प्राणी भी कोई नहीं। सर्वाधिक बुद्धिमान इस मायने में कि मनुष्य अपनी सुख-सुविधा के लिए आविष्कार कर सकता है तथा व्यवस्थित रहता है और अपनी बुद्धि के बल पर ही उस परम पिता को भी खोज निकालता है जिसे उसने आज तक देखा ही नहीं। और निकृष्ट इस मायने में कि तरह-तरह के समुदाय, जाति, पथ, धर्म, आदि बनाना और इसी को अपना सब कुछ मान कर आपस में लड़ना, ऊपर से शासन व्यवस्था द्वारा भी कुछ ऐसे कर्म करना जिससे खाई और गहरी हो और समाज और अधिक बटता चला जाए। इस मनुष्य नामक प्राणी की निकृष्टता के प्रमाण तो अगण्य हैं लेकिन उत्कृष्टता गिनती में आ जाती है।

मनुष्य अनादि काल से अलग-अलग संगठन बना कर रहता आ रहा है। प्रत्येक सगठन आपस में लड़ते भी रहे हैं, किन्तु वह असभ्य मनुष्यों का समाज माना जाता है, लेकिन आज का यह सभ्य मनुष्यों का सभ्य समाज जिस तरह के कार्य सम्पन्न कर रहा है, उसे देख कर ऐसा लगता है कि सभ्य समाज सिर्फ कहने के लिए है, इसके कर्म तो उन असभ्यो से भी निकृष्ट होते जा रहे हैं जो आदि काल मे थे। कहीं यह आधुनिक सभ्यता तो नही?

धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर लड़ना तो आज के मनुष्य का स्वाभाविक गुण होता जा रहा है। आज का मनुष्य इसे अपनी सभ्यता समझने लगा है और इसे ही अपना गौरव। और कुछ राजनैतिक स्वार्थी तत्त्व इसका लाभ उठा कर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। सच तो यह है कि ये खादी-धारी राजनैतिक लोग इसका नाजायज लाभ उठाने के लिए ऐसा खुद ही करवाने भी लगे हैं।

भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है, लेकिन यहां की परिस्थितियों को देख कर ऐसा लगता है कि धर्म निरपेक्षता सविधान तक ही सीमित है, क्योंकि सरकार द्वारा कुछ ऐसी नीतियां कायम करना जिससे सविधान की धर्म निरपेक्षता पर आंच आती है, अच्छा नहीं है। या तो शासन को चलाने वाले ये मुट्ठी भर लोग-निरपेक्षता का अर्थ नही जानते या इसकी परिभाषा अपने मन मुताबिक बना लेना चाहते हैं।

इस लोकतत्रीय शासन व्यवस्था मे स्वय सरकार द्वारा ही अलोकतान्त्रिक कार्य किए जा रहे हैं। सुरक्षा के नाम पर हर व्यक्ति को कैद करना क्या लोकतन्त्र है? यहां सत्ता की लोलुपता ने ही काम बिगाड़ा है। नेताओं को सत्ता मे आने के लिए वोट चाहिए, चाहे वह जैसे आए, क्योंकि सत्ता हाथ मे आने पर शासको के वारे-न्यारे हो जाते हैं, और रिश्वत कमीशन आदि भरपूर मिलता है जिससे पार्टी चलती है और पार्टी को चलाने के लिए समाज को बांटने वाले कार्यकर्ता खरीदे जाते है, जिससे सत्ता पर उन्ही का दबदबा बना रहे।

आए दिन सविधान की प्रतियां जलती हैं, राष्ट्र ध्वज (तिरगे) का अपमान होता है और धार्मिक ग्रन्थ जलाये जाते हैं। यही इस देश की धर्म निरपेक्षता और राष्ट्रवादिता है क्या? राष्ट्रवाद के नाम पर तो भारत मे हर व्यक्ति को गुमराह किया जा रहा है सरकारी तन्त्रो द्वारा। ये सत्ता-मद मे डूबे हुए लोग राष्ट्रवाद शब्द को भी अपने मुताबिक परिभाषित करना चाहते हैं। धर्म निरपेक्षता और राष्ट्रवाद के नाम पर समाज को तोड़ रहे हैं। अगर अपने सविधान पर गौर किया जाए तो वह दोष मुक्त नही। मुस्लिम पर्सनल ला और हिन्दू कोड बिल दोनों ही बातें आपस मे विरोधी हैं। ये दोनो बातें ऐसी हैं जो समाज मे भाई-चारा नही लाती। वह तो इस समाज का धन्यवाद कीजिए जो इतनी बड़ी खाई के होते हुए भी आपस मे प्रेम से रह रहा है। सविधान द्वारा तो समाज को बाट ही दिया गया है तो फिर भाई-चारे के लिए नेताओं का चिल्लाना तो मात्र अपना उल्लू सीधा करना है। या अपने आपको शांति दूत बनाना चाहते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे लिखा है कि जब भारत मे शकर का अद्वैतवाद आया तो बौद्ध धर्म विहारो-मठो तक सीमित होकर रह गया और समाज से वह दूर होता चला गया तथा समाज मे फिर पौराणिक धर्म फिर से चलने लगा लेकिन मुसलमानी धर्म के आक्रमण से बौद्ध और हिन्दू मन्दिर समान भाव से आक्रान्त हुए, मन्दिरों, मठों और विहारो को समान भाव से नष्ट किया गया। जिस अर्थ में मुसलमान या ईसाई धर्म हैं वह अर्थ हिन्दू धर्म के लिए लागू हो ही नहीं सकता।' क्या धर्म और मजहब शब्द के मौलिक अर्थ किसी ने जानने की कोशिश की? धर्म का अर्थ है जो स्वेच्छा से धारण किया जाए और मजहब का अर्थ है जो मान्यता जबरदस्ती मनवायी जाए। क्या इस बात से इन शब्दो को पर्यायवाची या समान धर्म शब्द करार दिया जा सकता है।

हमारे नेता, जो परोक्ष रूप से समाज को तोड़ने वाले ठेकेदार हैं। आम सभाओं में शांति के लिए चिल्लाते हैं तो भारत का बहुसख्यक समाज मान लेता है क्योंकि बहुसख्यक समाज के पूर्वज शांति प्रिय नीति और न्याय-प्रिय रहे हैं, परन्तु साथ में भेड़ा भी रहे हैं। यहा का बहुसंख्यक समाज जो हिन्दू नाम से अभिहित है शांति कायम कर लेगा तथा कर रहा है, लेकिन उन इसलाम के मानने वालों से शांति के लिए तुम किस मुंह से कहते हो जिनका कि इतिहास ही अशांति, आक्रमण और अमानवीय कृत्यो से भरा पड़ा है। जिनकी प्रकृति ही इस प्रकार की बन चुकी है। क्या वे शांति स्थापित होने देंगे?

आज के कुछ सिर-फिरे असभ्य और निकृष्ट स्वभाव के व्यक्ति जो नेता बन गए हैं वे हिन्दू को साम्प्रदायिक बताते हैं अर्थात् हिन्दू शब्द का पर्याय सम्प्रदाय हो गया है और उनके लिए मुसलमान शब्द धर्म निरपेक्षता का द्योतक बनता जा रहा है। यह बहुसख्यक समाज पर अत्याचार और अन्याय का षड्यन्त्र है। यहा पर हिन्दू बहुसख्यक हैं तभी धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दो की गूंज है अन्यथा यदि यहां मुसलमान बहुसख्यक होता तो यह देश एक मिनट से भी पहले इस्लामिक देश बन जाता। नेताओं के लिए तो मुसलमान नामक जाति सोने की मुर्गी है जो वोटो के रूप मे अण्डा देती है और जिससे शासन व्यवस्था बनती है। भला सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को कौन नहीं पसन्द करेगा। और यहां के मुसलमान जो हिन्दू से ही परिवर्तित हुए हैं अपना पूर्वज तक बदल देना चाहते है केवल उन कठमुल्लाओं के इशारे पर जो आज से ५०० वर्ष पहले विदेशों से आए हैं और यहाँ पर मुस्लिम व्यवस्थाओं को हाथ मे ले चुके हैं। वे तो ५०० वर्ष पहले विदेशी थे तो वे आज भी अपने आपको विदेशी मान सकते हैं और इस देश मे अशांति पैदा कर सकते हैं क्योंकि वे यहा के समाज को विघटित कर देना चाहते हैं और अपनी गाठ को और भारी करना चाहते हैं तथा सुर्खियो मे छाए रहना चाहते हैं और व्यवस्थाएं चलाते रहना चाहते है।

इण्डोनेशिया एक मुस्लिम देश है। वहा के सभी हिन्दू इस्लाम से आक्रान्त होकर भय से इस्लाम को अपना लिए, लेकिन राम-लीलाओं का आयोजन आज भी करते है क्यो? उनका कहना है 'हमने विश्वास बदला है पूर्वज नहीं।' क्या भारत का हिन्दू परिवर्तित होकर बनने वाला मुसलमान अपने विश्वास के साथ-साथ अपना पूर्वज भी बदल चुका है? अगर वह ऐसा मानता है कि वह अपना विश्वास और पूर्वज दोनो ही बदल चुका है तो वह इस देश के लिए यहा के समाज के लिए कभी भी विश्वास पात्र नहीं बन सकेगा। वह तो इस देश मे रहकर भी इस देश से गद्दारी कर सकता है, इसमे कोई सदेह नहीं। लेकिन जो मुसलमान ५०० वर्ष पहले बाहर से आए हैं वे तो यहा के मूल नहीं वे विदेशी थे और अगर आज भी वे अपने आपको विदेशी मान लें तो इसमें कोई चौंकने की बात नहीं। लेकिन अफसोस ऐसे ही व्यक्तियो के हाथो भारतीय मुसलमानो की सत्ता चल रही है और वे इस देश को इस समाज को बर्बाद नहीं करेंगे, तबाह नहीं करेंगे, क्या गारंटी है?

इस देश का शिक्षित समाज अधिकांशतः अपने गौरव को भूलता जा रहा है और पश्चिम की ओर मुह बाए देख रहा है। यह यहां की दूषित शिक्षा पद्धति का परिणाम है। जब तक शिक्षा के माध्यम से हर व्यक्ति को अपना गौरव तथा राष्ट्र भक्ति नहीं सिखाई जाती तथा प्रत्येक व्यक्ति को बुद्ध स्तर पर शिक्षित नहीं बनाया जाता तब तक यहाँ पर शांति कायम करना कठिन है। एक हमारी सरकार

(शेष पृष्ठ ५ पर)

सम्पादक के नाम पत्र

सम्पादक महोदय,

सादर नमस्ते।

'आर्य सन्देश' साप्ताहिक का आर्य समाज स्थापना दिवस एवम् धर्मवीर पंडित लेखराम संयुक्तांक विशेषांक ठीक समय पर प्राप्त हुआ। वास्तव मे आपने विशेषांक छापने का जो बीड़ा उठाया है। उसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं। अनेक प्रकार के विशेषांक निकालकर हमारे निजी पुस्तकालयों तथा समाजाधीन पुस्तकालयों में चार चांद लगा दिये हैं। जिन्हे साथ लेकर चलने मे भी बड़ा आनन्द आता है। । मैं सभी आर्य सन्देश विशेषांको को सम्भालकर रखता हूं। और आर्य सन्देश के नये नये ग्राहक बनाकर अपना शौक भी पूरा कर रहा हूं। आशा है आप इसी प्रकार के विशेषांक विशेष आकर्षण लिये सदैव प्रकाशित करते रहेंगे।

पुनश्च धन्यवाद

—मदनपाल राठी आर्य

सचालक आर्य वीर दल ग्राम इटावा (मु० नगर)

श्रीमान् व्यवस्थापक जी

सादर नमस्ते।

आशा है आप भगवत कृपा से स्वस्थ व सानन्द होंगे। मान्यवर आर्य समाज स्थापना दिवस एवं धर्मवीर प० लेखराम संयुक्तांक विशेषांक यथा समय उपलब्ध हुआ। आर्य सन्देश के विशेषांकों की अपनी एक अलग परम्परा है और उसी तारतम्य मे यह विशेषांक भी संग्रहणीय बन पडा है। धर्मवीर प० लेखराम जी के विचार जीवन-दर्शन सब एक ही स्थान पर उपलब्ध करा दी है। तथा तप: पूत, सन्त हृदय, अद्भुत व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनके जीवन दर्शन से जो, आत्मीय परिचय कराया है, इसकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है।

—बाबूराम सिंह "कवि"

सुगर मिल मारोली जि. बलसाड़ (गुजरात)

समादरणीय सम्पादक जी,

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र द्वारा आर्य सन्देश मासिक के सम्मेलनांक, ऋषि बोधांक तथा प० धर्मवीर लेखराम स्मृति एवं आर्य समाज स्थापना दिवस-संयुक्तांक वस्तुत: स्तुत्य एवं संग्रहणीय है स्थापना दिवसांक मे हैदराबाद आर्य सत्याग्रह सम्बन्धी अपूर्व एवं ऐतिहासिक सामग्री जोडकर अभिनन्दनीय कार्य किया है, आशा है आगे भी आर्य सन्देश रूपी शिलालेख पर इसी प्रकार की सामग्री यथा समय अंकित होती रहेगी।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने आर्य सन्देश का 'स्वामी श्रद्धानन्द और इन्द्र विद्यावाचस्पति का संयुक्त अंक भी निकाला है, कृपया इस विशेषांक की दो प्रतियां नमूने के रूप मे भिजवाने की कृपा करें और जब कभी भविष्य मे प० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी पर विशेषांक निकालने की योजना बने तो इन पंक्तियो के लेखक को अवश्य स्मरण करे, मेरे पास इन्द्र जी द्वारा लिखे गए और इन्द्र जी पर लिखे गये लेखों की सूची है। सभी सहयोगियो को यथायोग्य प्रणाम।

—प्रा० कुशलदेव, रामानन्द नगर पावडे वाडी

के पास नादेड़ ४३१६०२

आर्य वीर दल देवरिया

भागलपुर-देवरिया ९ अप्रैल। आर्यवीर दल पूर्वी उ. प्र. के देवरिया जनपदान्तर्गत वासुदेवपुरम् ग्राम में आगामी १ जून से ६ जून तक बालको मे वेदानुकूल सस्कारो के निर्माण हेतु एक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया जा रहा है, जिसमें बिहार प्रान्त के सीवान जनपद सहित उ. प्र. के बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, बलिया मऊ, आर्यमगढ़ व जौनपुर जनपदो के लगभग पचास आर्यवीरो के भाग लेने की सम्भावना है। शिविर-शुल्क १० रुपये मात्र रखा गया है।

इच्छुक जन निम्न पते पर पत्र-व्यवहार करें—

—रामाज्ञा 'आर्यपुत्र' ग्राम० डाक-भागलपुर

जनपद-देवरिया (उ. प्र.) पिन-२७४६०२

वेद संगोष्ठी प्रयाग

समय-समय पर वेद-प्रतिष्ठान के तत्वावधान में संगोष्ठियां सुविधानुसार दिल्ली, बम्बई, चण्डीगढ, अजमेर, एवं काशी आदि नगरो मे होती रही हैं। उसी शृंखला मे १९९१ में यह गोष्ठी प्रयाग (इलाहाबाद) में विज्ञान परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ एवं चन्द्रशेखर आजाद पार्क मे स्थित म्यूजियम, विभिन्न आर्य समाज और आर्य सस्थाओ के सौजन्य से शुक्रवार १० मई एवं शनिवार ११ मई १९९१ को होगी।

गोष्ठी का विषय है : वेद प्रतिपादित युद्ध और शान्ति

दिल्ली, हरिद्वार और उत्तर प्रदेश तथा बिहार के वैदिक विद्वानो को इस गोष्ठी मे भाग लेने के लिए हमारा विशेष आमन्त्रण है। यदि वे किसी संस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी सस्था उनका मार्ग व्यय वहन नही कर रही है तो हम लोग साधारणत: द्वितीय श्रेणी का मार्ग व्यय इस संगोष्ठी में भाग लेने के लिए और समय से सूचना मिलने पर उनके आवास और भोजन का प्रबन्ध भी करेंगे और हम चाहेंगे कि हमारे अतिथियों को प्रयाग में किसी प्रकार की असुविधा न हो। गोष्ठी के अन्तर्गत अंग्रेजी और संस्कृत व हिन्दी इन तीन भाषाओ का प्रयोग हो सकता है। हम चाहेंगे कि हमारे इन भाषणो का स्तर दयानन्द वेद पीठ की प्रतिष्ठा के अनुरूप हो ये भाषण कालान्तर में संग्रह के रूप मे वेद पीठ प्रकाशित भी करेगा और हो सकता है कि इनमे से कोई भाषण जनरल ऑव दा इन्टरनेशनल दयानन्द वेद पीठ की पत्रिका में प्रकाशित हो। अच्छा हो कि भाषण की एक प्रति गोष्ठी संयोजिका के पते पर गोष्ठी के एक सप्ताह पूर्व तक भेज दी जाय।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

(पृष्ठ ४ का शेष)

है कि जहां पर अशांति हुई वहीं बन्दूक की नोक तान दी। लेकिन बन्दूक की नोक पर कायम की जाने वाली शांति कितने दिनो तक चलेगी इसका अन्दाजा है? इसका सही नतीजा निकलने की बजाए कहीं विपरीत परिणाम निकला तब क्या होगा? बन्दूक की नोक कहां तक तानी जाएगी? आखिर उसकी भी एक सीमा है। लोकतन्त्र स्थापित करने के नाम पर सरकार स्वयं अलोकतांत्रिक कार्य करने शुरू कर देती है और मृतको की सख्या घटाकर बताई जाती है। तथा सरकार द्वारा इलेक्ट्रोनिक माध्यमो पर पूर्ण कब्जा भी इस बात का द्योतक है कि भारत मे लोकतन्त्र के नाम पर तानाशाही भी है।

जाति के नाम पर समाज को बांटा जाना क्या उचित है? आरक्षण के नाम पर वोट बटोरने का षड्यन्त्र क्या देश को बर्बादी की ओर नही ले जा रहा? आरक्षण के नाम पर सरकार किस-किस को नौकरी देगी। सरकार के पास ५० लाख पद से कम ही हैं और जनसख्या करोडो की है तो कितनो को आरक्षण की टॉफी मिलेगी, वह भी विशेष जातियो को और देश मे रिश्वत का मामला है कि जिन जातियो को आरक्षण मिल रहा है उस जाति के अमीर लोग ही पद हासिल कर पायेंगे। गरीब तो वहीं रह गया। देश की तरक्की कहां हुई। आरक्षण तो समाज को तोडकर वोट बटोरने की साजिश है। देश की तरक्की तो तब मानी जाएगी जब हर व्यक्ति के पास रोटी, कपडा और मकान होगा। और नेता ऐसे है कि पद पाते ही तानाशाह बन जाते है, साथ मे हमारे नौकर शाह भी इसी किस्म के होते जा रहे हैं।

कुल मिलाकर पूरे देश की स्थिति अशांतिपूर्ण है। इस देश मे शांति तब तक कायम नहीं होगी जब तक समाज को एक नहीं किया जाएगा। हर व्यक्ति शांति चाहता है जीवन चाहता है सुख चाहता है, परन्तु फिर अशांति, मौत और दुख आ कैसे जाते हैं? अगर इसे यूं कहा जाए कि ये आते नही लाए जाते है तो ज्यादा बेहतर होगा। शांति कायम करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पहल करनी होगी और यह तभी सम्भव है जब भड़काऊ भाषण बन्द हो, जनता को अपने गौरव का पता हो, भुखमरी समाप्त हो, समान शिक्षा तथा सभी शिक्षित हो, तुष्टीकरण बन्द हो, और प्रत्येक व्यक्ति सुरक्षित महसूस करे और लोकतन्त्र के नाम पर मौलिक अधिकारो का हनन बन्द हो। सरकार का निर्माण इन्हीं कार्यों के लिए होता है। लेकिन यहा तो कुर्सियो की ही मारामारी है। देश का ख्याल ही नही तो शांति कहा से कायम होगी। नही हो सकती, लोग मरते ही रहेंगे, हत्याए होती ही रहेंगी, तनाव बढता ही रहेगा, अशांति और असुरक्षा बढ़ती ही रहेगी, लोकतन्त्र का हनन होता ही रहेगा। ●

सर्वतोन्मुखी साहित्य द्रष्टा : स्व० गुरुदत्त

भारतीय लेखक मच की ओर से ७-४-९१ को आर्य समाज करोल बाग, नई दिल्ली मे, ऋषिकल्प साहित्यकार स्व० श्री गुरुदत्त की द्वितीय पुण्य तिथि पर आयोजित विचार गोष्ठी मे उपस्थित वक्ताओं ने एक स्वर से स्वीकार किया कि साहित्य मनीषि स्व० श्री गुरुदत्त उच्च कोटि के लेखक एव चिन्तक थे। साहित्य की प्रत्येक विधा मे उन्होने अपनी रचनाये प्रस्तुत की है। उनके द्वारा रचित साहित्य में उपन्यासों की संख्या अधिक होने पर भी वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास आदि पर लिखे गये उनके ग्रन्थ उतने ही उपादेय एव रोचक है जितने कि उनके उपन्यास। सोद्देश्य लेखन मे श्री गुरुदत्त अग्रणी रहे हैं और अनन्तकाल तक उनकी रचनाये भारतीय जनमानस को आन्दोलित करती हुई उसे दिशा निर्देश करती रहेगी। वे 'कला-कला के लिए' नही अपितु 'कला जीवन के लिए' सिद्वात के पोषक थे। भारतीय जीवन-दर्शन एव मूल्यो के उनके साहित्य मे पग-पग पर दर्शन होते हैं।

वक्ताओ ने एक स्वर से यह भी स्वीकार किया कि उनकी रचनाये सामयिक एव सीमाबद्ध नही अपितु असीम एव कालातीत हैं। उनकी मान्यताओ के आधार पर रचित समाज आदर्श, चिरस्थाई एव मानवता का पोषक प्रचारक प्रसारक समाज सिद्ध होगा। आज उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलने की असीम आवश्यकता अनुभव होने लगी है। वर्तमान ही नही अपितु भावी पीढी पर भी स्व० गुरुदत्त का महान ऋण है, जिसकी पूर्ति करना हमारा और भावी पीढ़ी का पुनीत कर्तव्य है। —नरेन्द्र अवस्थी

'मराठी सत्यार्थ प्रकाश

आर्य जगत् को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि मराठी भाषा के श्रेष्ठ विद्वान् श्री श्रीपाद जोशी जी ने महर्षि दयानन्द कृत अमरग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश का मराठी भाषानुवाद किया है, जो कि आर्य समाज पिम्परी-पुणे की ओर से प्रकाशित किया गया है। बढिया कागज पर ६४० पृष्ठो मे महर्षि चित्र सहित मुद्रित है।

विशिष्ट जानकारी हेतु निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार द्वारा सम्पर्क करें।

—मन्त्री, आर्य समाज, पिम्परी
महर्षि दयानन्द मार्ग, पिम्परी पुणे, महाराष्ट्र ४११०१७

(पृष्ठ १ का शेष)

अडिग रहे और राय साहब गगाराम के विरुद्ध मुकद्दमा करने का निर्णय किया। अन्त मे राय साहब गगाराम को इश्तहारी मुल्जिम करार दिया गया। इस विवाद के कारण आर्य समाज का पटौदी हाउस का दयानन्द नेशनल हाई स्कूल भी बन्द हो गया था। इस घटना से केदारनाथ गोयनका बहुत दुःखी हुए और उन्होने आर्य समाज से त्यागपत्र दे दिया।

स्व० केदारनाथ जी जहा व्यवसायी के रूप मे सफल रहे, वही धार्मिक साहित्यिक, शैक्षणिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सस्थाओ से बराबर सम्बद्ध रहे। १९१२ में उन्होने स्वामी श्रद्धानन्द जी के पुत्र श्री हरिश्चन्द्र तथा श्री इन्द्र जी के साथ मिलकर नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी। १९१४ मे ही देहली मे चादनी चौक मे फुव्हारा के पास मारवाडी पुस्तकालय की स्थापना उन्ही के प्रयास से हुई थी। उह पुस्तकालय आज भी उच्च श्रेणी के पुस्तकालयो मे शिक्षा प्रेमी जनता की सेवा मे सलग्न है।

राष्ट्रीय आन्दोलनो मे भी आपने प्रशसनीय कार्य किये थे। गाधी जी के स्वदेशी वस्त्र आन्दोलन में भी इन्होने जोरदार कार्य किया था। १९३० के आदोलन मे जब उन्हे सत्याग्रह का आठवा डिक्टेटर बनाया गया तो अग्रेज सरकार ने उन्हें पकड़ लिया और दो साल की सजा सुनाई। बाद में वह महात्मा गाधी जी के साथ ही जेल से रिहा हुए थे। उच्च चरित्र और व्यक्तित्व के धनी स्व० गोयनका की स्मृति को हम प्रणाम करते हैं।

—स्वामी आनन्दबोध सरस्वती
प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

योग शिविर सम्पन्न

आर्य समाज डी० ए० वी० पब्लिक सी० सै० स्कूल विकास पुरी नई दिल्ली मे सभी अध्यापक-अध्यापिकाओ एवं कर्मचारियो के लिए एक आध्यात्मिक ध्यान-योग शिविर का आयोजन दिनाक १८ मार्च से ४ अप्रैल १९९१ तक किया गया। इस शिविर के योग प्रशिक्षक आचार्य प० रामदेव शास्त्री तथा प० भगवानदेव वेदालकार जी थे। शिविर के निर्देशक डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी के प्रमुख अधिकारी तथा आर्य जगत् के प्रसिद्ध नेता श्री दरबारी लाल जी थे। इस शिविर का समापन समारोह विद्यालय के स्थापना दिवस ४ अप्रैल १९९१ को धूम-धाम के साथ सम्पन्न हुआ।

इस समारोह मे आर्य जगत् के प्रसिद्ध वैदिक दार्शनिक विद्वान प्रो० बलसिंह जी, आर्य केन्द्रीय महासभा दिल्ली के महामन्त्री डा० शिवकुमार जी शास्त्री, आर्य प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ जी सहगल, डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी चित्र गुप्त रोड, पहाड़गज, नई दिल्ली के प्रमुख अधिकारी प्रो० वेद व्यास जी, श्री बाबू दरबारी लाल जी, श्री हीरा लाल जी चावला, प्रसिद्ध उद्योगपति श्री बी०डी० बाली जी आदि महानुभावो ने अपने अपने भाषणो मे शिविर के दोनो सुयोग्य, कार्यकुशल विद्वान् धर्म-प्रशिक्षको के कार्य की भूरि-भूरि प्रशसा की।

इस अवसर पर विद्यालय के दस वर्ष पूर्ण हो जाने पर, आचार्य श्री राम-देव जी शास्त्री के सयोजन मे विद्यालय की कर्मठ, सुयोग्य प्रिंसिपल श्रीमती चित्रा नाकरा जी का, नई दिल्ली पश्चिमी क्षेत्र के आर्य समाजो, धार्मिक तथा सामाजिक सस्थाओ की ओर से पुष्प मालाओ द्वारा भव्य-स्वागत किया गया।

इस अवसर पर आर्य प्रादेशिक सभा के महामन्त्री, प्रसिद्ध आर्य नेता, आर्य जनता के कर्मठ सगठनकर्ता श्री रामनाथ जी सहगल ने विद्यालय के सभी शिक्षको तथा कर्मचारियों को एक-एक सजिल्द, अत्यन्त आकर्षक महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती का "अमर-ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश" देकर एक महान् आदर्श प्रस्तुत किया। इस कार्य की सभी आगन्तुक महानुभावो ने तथा आर्य जनता ने मुक्त कठ से प्रशसा की।

—प० भगवान देव वेदालकार

प्रवेश-सूचना

महर्षि दयानन्द अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय टकारा जि० राजकोट (सौराष्ट्र) मे नए सत्र १९९१-९२ हेतु १ जुलाई ९१ से प्रवेश प्रारम्भ है।

इस विद्यालय मे वैदिक सस्कृति के प्रचारार्थ उपदेशक एव पुरोहित तथा धर्मशिक्षक तैयार किए जाते हैं।

४ वर्ष के पाठ्यक्रम मे वेद, उपनिषद्, व्याकरण, साहित्य एव ऋषि दया-नन्द कृत ग्रन्थो का अध्ययन कराया जाता है।

छात्रो की आवास, भोजन, वस्त्र, पुस्तकें, लेखन सामग्री, साबुन व तेल आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था बिना किसी भेद भाव के विद्यालय की ओर से सर्वथा निःशुल्क होती है। छात्र को स्वय किसी भी प्रकार का आर्थिक बोझ नही उठाना पडता।

अतः दसवी (मैट्रिक) उत्तीर्ण सस्कृत सहित प्रवेश के इच्छुक छात्र विद्यालय की नियमावली एव प्रवेश-पत्र के लिए निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें।

—प्राचार्य
म० द० अन्तरराष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय टकारा,
जि० राजकोट गुजरात (सौराष्ट्र) पिन-३६३६५०

मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल, वाराणसी मे नया सत्र १९९१-९२ हेतु निम्न कक्षाओं मे बालिकाओं के शारीरिक, आत्मिक एव शैक्षिक विकास के लिए प्रवेश प्रारम्भ हैं।

१. नर्सरी तथा कक्षा १ से ५ तक (अंग्रेजी माध्यम)
२. शिशु से शास्त्री (बी० ए०) अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनो माध्यम।

यह विद्यालय उत्तर प्रदेश शासन से मान्यता एव सहायता प्राप्त है। छात्राओं को छात्रावास की सुविधा भी है। विस्तृत जानकारी हेतु पत्र व्यवहार द्वारा विद्यालय विवरणिका मगाए अथवा स्वयं सम्पर्क करें।

—श्रीमती पुष्पावती, मातृ मन्दिर गुरुकुल
डी० ४५/१२६, नई बस्ती रामपुरा, वाराणसी २२१००१

इतिहास के मूर्धन्य विद्वान् चौ० कबूल सिंह जी चले गये

यह सार्वजनिक दुखद सूचना देने में हमें बहुत हार्दिक दुख हो रहा है कि प्राचीन विशाल हरयाणा की सर्व खाप पंचायत के महामन्त्री चौधरी कबूलसिंह जी ९२ वर्ष की अवस्था में ४ अप्रैल १९९१ को साय सात बजे हमें छोड़ गये। आप गत ५-६ वर्ष से बुढ़ाना कस्बे मे रहते थे। १९२४ ई० से इस पचायत के प्रतिष्ठित मन्त्री थे। आपको उक्त हरियाणा का इतिहास कण्ठस्थ स्मरण था। आपने इतिहास के ५ शोधकर्त्ताओं को पी० एच० डी० की उपाधि दिलाई। सैकड़ों पचायतो मे सत्य न्याय पूर्ण फैसले कराये थे। सैकडो आर्य समाजो, गुरुकुलो मे देश धर्म उपदेश दिया था। १९५१ ई० में आपको चित्तौडगढ तथा मथुरा के किसान सम्मेलन मे ५०० रुपये एव दुशाले से आपका अभिनन्दन किया था। १९४२ में आर्य समाज हर्षोली मे अग्रेजी राज्य के विरुद्ध भाषण से ६ मास का निर्वासन दण्ड मिला था। आप देश धर्म, महर्षि दयानन्द, वेद के सुदृढ़ ईश्वर उपासक आर्य योगी थे। आपने स्वामी श्रद्धानन्द, दर्शनानन्द के दर्शन किए थे। आजीवन यज्ञोपवीत रखा।

आपके ग्राम सोरम मे ६ अप्रैल को वैदिक पद्धति से आपका दाह सस्कार किया गया। इस अवसर पर कई हजार लोग उपस्थित थे। १८ अप्रैल को उनके घर के सामने हजारों की जनसख्या मे अठारह गावो के प्रधानो द्वारा यज्ञ करके आपके बडे सुपुत्र फेरूसिह को ६१ सम्मान पगडियां बाधी गई और शोक श्रद्धाजलि सभा मे उनकी दिवगत आत्मा की शांति की प्रार्थना की गई। उनके दो सुपुत्र तथा एक सुपुत्री, छः पौत्र समर्थ है।

—निहालसिह आर्य अध्यापक,
ग्राम सोरम, त० बुढाना, जिला मुजफ्फरनगर।

आर्य वीर दल ग्राम इटावा द्वारा स्थापित नया तथा सर्वप्रथम

विश्व रिकार्ड

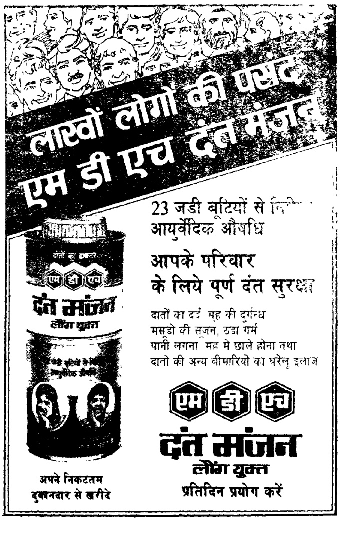
यह अपने आप में एक अद्वितीय बात है जो आर्य वीर दल के युवको द्वारा स्थापित किया गया। वह यह कि जनपद मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) अन्तर्गत ग्राम इटावा मे आर्य वीरों द्वारा होलिकोत्सव (पूर्णिमा फाल्गुन शुक्ल १५ सम्वत् २०४७ तदनुसार २९-२-१९९१ को प्रातः ७ बजे से साय ७ बजे तक निरन्तर १२ घटे तक भिन्न-भिन्न परिवारों में २६ यज्ञ (हवन) किए गये जिनमे आर्य वीरो के अतिरिक्त ५० परिवारो के लगभग ५०० धर्म प्रेमियो ने भाग लिया। एक अद्भुत बात यह थी कि किशोरावस्था के आर्य वीरो तथा छोटे-छोटे बच्चो ने तो उत्साह-वशात् पूरे दिन भोजन भी नही किया। १२ घण्टे मन्त्रोच्चारण करना सस्वर मे भजनादि तथा जयघोष करना असाधारण तथ्य है। यज्ञकर्त्ताओं मे प्रमुख मदनपाल राठी आर्य सचालक आर्य वीर दल, कु० अनीता आर्या कक्षा अष्टम्, ओमपालार्य एकादश श्रेणी तथा राधेश्याम आर्य रहे। संयोजन बौद्धिक नायक ब्र० देशपाल आर्य ने किया। स्थान-स्थान पर माताओ, बहनो तथा वृद्ध जनों ने आर्य वीरो के उत्साह को निहारा तथा प्रसाद वितरण किया। अनेक परिवारो ने प्रभावित होकर यज्ञ परम्परा तथा आर्य समाज से जुडने का सकल्प लिया जो पहले अनेक मत-मतान्तरो में बंटे पडे थे। उपरोक्त कार्यक्रम करके आर्य वीरो ने सिद्ध कर दिया कि मात्र क्षात्र शक्ति प्राप्त करना ही नही बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी आर्य वीर दल पीछे नही है। वैसे आर्य वीर दल ग्राम इटावा पहले से ही क्रियाशील है। ज्ञातव्य है आर्य समाज ग्राम इटावा छात्रो की समाज है। जिसमे दो तिहाई छात्र सदस्य हैं। जो सदैव अपनी पढाई के साथ साथ सामाजिक कार्यों मे भी आगे रहते है।

धन्य है ऐसे सपूत जिन्होने महर्षि दयानन्द सरस्वती और प० रामप्रसाद बिस्मिल (अमर शहीद) को आदर्श मान कर सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक अल्पवय मे ही १२ घण्टो तक अग्निहोत्रादि करके विश्व कीर्तिमान बनाया।

—मदनपाल राठी आर्य, व्यायाम शिक्षक सा० आर्य वीर दल







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 2-3-5-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ५ मई, १९९१

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली

के तत्वावधान में

जूडो कराटे प्रशिक्षण शिविर

बुधवार दिनाक १ मई से रविवार १२ मई तक

समय साय ५-३० बजे से साय ७ बजे तक

स्थान—आर्य समाज "अनारकली" मन्दिर मार्ग,
नई दिल्ली—११०००१

उपरोक्त शिविर मे १४ वर्ष की आयु के युवक भाग ले सकते हैं, शिविर का प्रवेश शुल्क रु० १०/- प्रति युवक है। प्रशिक्षणार्थियो को सुन्दर प्रमाण पत्र दिये जायेंगे। सम्पर्क करें।

१. आर्य समाज "अनारकली" मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
फोन न० ३४३७१८

२. आर्य समाज कबीर बस्ती, दिल्ली—११०००७

३ श्री धर्मपाल आर्य, डी० ए० वी० फार्मेसी, चित्र गुप्त रोड,
नई दिल्ली—५५ : फोन ७३४६१४

सेना क शिक्षाकोर में ग्रुप ए और बी में हवलदारों की नियुक्ति परीक्षा में हिन्दी का विकल्प हुआ

महोदय, साप्ताहिक "रोजगार समाचार" के २३ फरवरी, १९९१ के अंक में प्रकाशित विज्ञापन के अनुसार सेना की शिक्षा कोर में ग्रुप ए और बी में नियुक्ति हेतु एक प्रतियोगितात्मक परीक्षा अगस्त, १९९१ में ली जाएगी जिसमें विज्ञान गणित, सामान्य ज्ञान आदि पर आधारित एक प्रश्न पत्र होगा। इसके उत्तर अंग्रेजी अथवा हिन्दी अथवा क्षेत्रीय भाषा में दिये जा सकेंगे। किन्तु विज्ञापन से यह स्पष्ट नहीं है कि अंग्रेजी भाषा के प्रश्न पत्र के विकल्प में हिन्दी अथवा क्षेत्रीय भाषा का प्रश्न पत्र भी होगा अथवा नहीं। केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद् ने रक्षा मन्त्रालय को लिखा है कि यदि ऐसा विकल्प नहीं है तो उसकी व्यवस्था कराई जाये।

अनुरोध है कि अधिक से अधिक आवेदकों को हिन्दी माध्यम अपनाने के लिये प्रेरित किया जाये। (जगन्नाथ) संयोजक, राजभाषा कार्य
केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद्, एफ ब्लाई ६८, सरोजनी नगर दिल्ली-२३

आर्य समाज घोसी का वार्षिकोत्सव

शुद्ध वैशाख कृष्ण पक्ष अष्टमी, नवमी और दशमी तदनुसार ८, ९, १० अप्रैल १९९१ को आर्य समाज घोसी जिला (उ० प्र०) का वार्षिकोत्सव धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। जिसमें काशी के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् श्री प० सत्यदेव जी शास्त्री का ओजस्वी भाषण तथा प्रसिद्ध भजनोपदेशक श्री वीरेन्द्र जी का मधुर भजनोपदेश हुआ। अपार जन समूह पर बहुत अच्छा प्रभाव हुआ।

—डा० सुमेधामित्र वेदालंकार



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८ 'फ्लार' '१०७१

सेवा में—

पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २७ रविवार, १२ मई, १९९१ विक्रमी सम्वत् २०४८ दयानन्दाब्द : १६६ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष : ३१०१५०

पंजाब में चुनाव कराना राष्ट्रहित में नहीं है

—स्वामी आनन्द बोध सरस्वती

आज सारा भारत आतंकवाद, अलगाववाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद की चपेट मे है। ऐसी परिस्थितियां तो उस समय भी न थी जब भारत को आजादी मिली और देश का बटवारा हुआ था। आज भाई का भाई दुश्मन बना हुआ है और जिनके हाथ मे राजनैतिक सत्ता है, उन्हें भी राष्ट्र की समस्याओं का समाधान करने की फुरसत नहीं है क्योंकि वे भी किसी न किसी अपनी ही समस्या से ग्रस्त हैं। पंजाब मे आतंकवाद और अलगाववाद की समस्या कोई नई नहीं है। हमने बार बार कहा है कि यदि देश मे शान्ति चाहिए, यदि राष्ट्रीय एकता को अखण्ड रखना है तो पंजाब को पांच साल के लिए सेना के हवाले कर दिया जाए। स्थानीय लोगों को शासन सौंपने से विघटन की लहर को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि वहां के लोग नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। उनमें दूरदर्शिता बिल्कुल भी नहीं है। पाकिस्तान की सीमा के साथ साथ एक पांच मील चौड़ी सुरक्षा पट्टी का निर्माण किया जाए और उसमे भूतपूर्व सैनिकों को बसाया जाए।' ये उद्गार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आर्यसमाज करोल बाग के वार्षिकोत्सव पर व्यक्त किए। उन्होंने कहा कि यदि पंजाब मे चुनाव स्थगित न किए गए तो आर्यसमाज इसका विरोध करेगा। इस अवसर पर डा० धर्मपाल, प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, डा० प्रशान्त कुमार वेदालंकार, स्वामी ओमानन्द सरस्वती, डा० भाई महावीर जी, श्री केदारनाथ साहनी, प० यशपाल सुधांशु और स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

आर्यसमाज करोल बाग मे २९ अप्रैल से ५ मई १९९१ तक युवा योगी स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती के निर्देशन मे ध्यान योग शिविर का आयोजन किया गया। रात्रि मे पूज्य स्वामी जी महाराज के प्रवचन हुए। इस अवसर पर महिला सम्मेलन, आर्यसमाज बुद्धिजीवी सम्मेलन, श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री जन्म शताब्दी समारोह का भी आयोजन किया गया।

इस सुन्दर आयोजन के लिए श्री अजयकुमार भल्ला, श्री चेतनस्वरूप कपूर और उनके सहयोगियों के लिए शुभकामनाएं।

पुण्यभूमि गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार की स्थापना तप.पूत स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज ने गंगापार कांगड़ी ग्राम मे १९०२ मे की थी। पर्याप्त समय से वहां के भवन आदि अपेक्षित पड़े हुए थे। इस वर्ष आर्य विद्या सभा तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, हरियाणा और दिल्ली के अधिकारियों ने निर्णय लिया कि इस पुण्यभूमि का पुनरुद्धार किया जाना चाहिए। १२ अप्रैल १९९१ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्यपाद श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती महाराज की अध्यक्षता मे एक समारोह भी आयोजित किया गया। इस समारोह में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र, आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा के प्रधान श्री प्रो० शेर सिंह जी, आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान डा० धर्मपाल, आर्य विद्या सभा के प्रधान श्री सूर्य देव, आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान श्री महाशय धर्मपाल, स्नातकों के प्रतिनिधि श्री मदन मोहन विद्यासागर, कुलपति, श्री सुभाष विद्यालंकार, डा० हरिप्रकाश, श्रीमती प्रभात शोभा पंडिता ने आर्यजनों को सम्बोधित किया। इस अवसर पर काफी धनराशि भी दान में प्राप्त हुई। सभी दानदाताओं को रसीदें भी भेजी जा चुकी हैं।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यालय मे निम्न महानुभावों की रसीदें रखी हुई हैं। दान दाताओं से निवेदन है कि वे अपनी रसीदें श्री सत्यपाल आहूजा, एकाउन्टेन्ट दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५-हनुमान रोड, नई दिल्ली से प्राप्त कर लें :—

१.	श्री कमल चौधरी दिल्ली	५१/-
२.	दिल्ली से गुप्त दान	१०१/-
३	श्री रामजीदास मलिक, दिल्ली	१०१/-
४	श्री सुमेधा विद्यालंकार, दिल्ली	२५१/-
५.	श्रीमती कृष्णा—दिल्ली	१०१/-
६	श्रीमती विमला शाहदरा, दिल्ली	१०१/-
७	डा० भारद्वाज, दिल्ली	१०२/-
८	श्री ओम प्रकाश, दिल्ली	१००/-
९.	आर्यसमाज ग्रीनपार्क, नई दिल्ली	५००/-
१०	श्री सुमन खन्ना, दिल्ली	१०१/-
११.	श्रीमती सत्येन्द्र विद्यालंकार, दिल्ली	५०१/-
१२	श्री सोमभल्ला, दिल्ली	५०/-
१३	श्री विजय मधुश्री, दिल्ली	१५००/-
१४	श्री अमरदास जी, दिल्ली	५००/-

इस सूची मे वे नाम नहीं हैं जिनको रसीदें वहीं पर दे दी गयी थी। समाजों और संस्थाओं की रसीदें भेजी जा चुकी हैं।

आर्य जनता से विनम्र अनुरोध है कि वे इस महान यज्ञ मे अपनी आहुति यथाशक्ति अधिक से अधिक दें। अपनी धनराशि चैक अथवा बैंक ड्राफ्ट के द्वारा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के नाम श्री सुभाष विद्यालंकार, कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के पते पर भेजें। अपने पत्र मे "पुण्य भूमि सुरक्षा निधि" अवश्य लिखें।

जल-वायु प्रदूषण से भी बहुत अधिक बुरा सांस्कृतिक प्रदूषण है। इसे दूर करने के लिए हिन्दी का सर्वत्र प्रयोग बढ़ाएं।

परामर्श—डा० धर्मपाल प्र० सम्पादक—सूर्यदेव सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेदों के ऋषि

—हरिदत्त वि० प्र०—

महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती एवं उनके अनुयायी वेदो की उत्पत्ति का समय एक अरब छियानवे करोड आठ लाख बावन हजार वर्ष से अधिक मानते हैं। साथ ही यह भी मानते हैं कि परमात्मा ने अग्नि को ऋग्वेद, वायु को यजुर्वेद आदित्य को सामवेद और अंगिरा को अथर्ववेद का ज्ञान दिया, जो संहिता (मंत्र) रूप मे था। इसके साथ ही महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा अन्यत्र लिखा है कि वेद मन्त्रो के साथ ऋषियो के जो नाम लिखे हैं, उन-उन मन्त्रों का प्रकाश उस-उस ऋषि ने किया। अत. उनके स्मरणार्थ ऋषियोके नाम लिखे आ रहे हैं।

यहां पर कई प्रश्न उपस्थित होते हैं जो समाधान चाहते हैं। पहला प्रश्न यह है कि क्या अग्नि आदि चारो ऋषियों को मन्त्रों के अर्थ का प्रकाश परमात्मा ने किया था? यदि हां, तो उनके नाम प्रत्येक वेद के प्रत्येक मन्त्र के साथ क्यों नहीं लिखे जाते? पश्चात् में होने वाले ऋषियो ने जिन मन्त्रो के अर्थ का प्रकाश किया, उनसे पूर्व उन मन्त्रो के अर्थ का प्रकाश किसी ने नही किया? यदि किया तो उनके नाम क्यो नही लिखे जाते? यदि परमात्मा ने अग्नि आदि चार ऋषियो को मन्त्रो के अर्थ का प्रकाश नहीं किया तो क्या वे चारो ऋषि निरुक्त के अनुसार स्थापुरय 'भारहार: किलाभूत्' नहीं थे? और परमात्मा ने उनके साथ अन्याय नही किया, जबकि वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने मे यह हेतु दिया जाता है कि वह सब सबके लिए है—'यथेमां वाच कल्याणीम्' आदि मन्त्र निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं और परमात्मा को न्यायकारी नही कहा जा सकता। चारो ऋषियों से वेदो का ज्ञान ब्रह्मा ने प्राप्त किया, ऐसा उल्लेख भी मिलता है। ब्रह्मा का नाम भी मन्त्रों के साथ नही होता, ऐसा क्यो? क्या ब्रह्मा को भी केवल संहिता (मन्त्र) मात्र ही प्राप्त हुई थी और वह भी 'भारहार' ही थे? दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिन ऋषियों के नाम मन्त्रो के साथ लिखे जाते हैं उन सबका इतिहास वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की २८ वी चतुर्युगी मे मिलता है। क्या उससे पूर्व व्यतीत मन्वन्तरो और वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियो मे कोई भी ऋषि ऐसा नहीं हुआ, जिसे वेद मन्त्रों के अर्थ का प्रकाश हुआ हो? यदि जिन ऋषियो के नाम मन्त्रों के साथ लिखे मिलते हैं, वे ब्रह्मा के समकालीन थे अथवा उसके पश्चात काल में हुए और तब तक इन मन्त्रों के अर्थ का प्रकाश न होने के कारण केवल संहिता मात्र का ही अध्ययन-अध्यापन होता था। और तोता रटन्त ही होती थी। वर्तमान चतुर्युगीय पूर्व का इतिहास विस्मृति के गर्भ मे लग गया? केवल संकल्प 'ओ३म् तत्सत् अद्यश्री ब्राह्मणो' ही शेष रह गया, जिसे हम सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रमाण मानते हैं।

तीसरा प्रश्न है—यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण संहिता के रूप में उपलब्ध है। आर्य समाज शुक्ल यजुर्वेद को ही मानता है। कृष्ण यजुर्वेद के विषय मे क्या आर्य समाज भी पौराणिक जगत् मे प्रचलित आख्यान को मान्यता देता है।

चौथा प्रश्न—वेद के व्याख्यान अथवा भाष्य को भी वेद मन्त्रों के अर्थ का प्रकाश माना जाना चाहिए अथवा नही तथा उनके कर्त्ताओ को भी ऋषि संज्ञा देकर वेद मन्त्रो के साथ उनके नाम लिखे जाने चाहिए। कहा जाता है कि स्वामी दयानन्द वेद भाष्य लिखते समय जब किसी मन्त्र का अर्थ स्पष्ट नही होता था तो दूसरे स्थान पर जाकर समाधि लगाते थे और ईश्वर से अर्थ का प्रकाश प्राप्त कर पुन: भाष्य लिखवाते थे। इसीलिए उन्हें महर्षि के नाम से पुकारा जाता हैं। क्या वेद मन्त्रो के साथ ऋषि दयानन्द और अन्य विद्वानों के नाम भी लिखे जाने उपयुक्त हो सकते हैं?

पांचवा प्रश्न—ऋषियो ने जिन मन्त्रो के अर्थ का प्रकाश किया, उसका क्या हुआ? ब्राह्मण ग्रन्थ तो बहुत पश्चात् के हैं और वह भी अन्य ऋषियों के रचे हुए हैं, अत: समुचित अनुसंधान की आवश्यकता है।

बी यू-१६०, विशाखा एन्क्लेव, दिल्ली-११००३४

ईशोपनिषद्

—अनुवादिका—श्रीमती उषापुरी 'विद्यावाचस्पति'

जड़ चेतन जग के कण-कण में, रहता वह जिसको ओ३म् कहें।
फिर माया मोह भला किसके, जो हर पल उसके साथ रहे।।
काम करें आराम करें फिर भोग करें पर राग न पाले।
सौ बरसो तक जीकर भी यो दुष्कर्मों को काट ही डाले।।
भोगी, रोगी, धन का लोभी, काम में डूबा हो अज्ञानी।
मर कर भी वो चैन न पावे, युग युग तक भटके अभिमानी।।
ज्ञान रूप रति मति का भण्डार, वह स्थिर रहके भी गतिमान।
इन्द्र मुनि सुरासुर देव मनुज, करते नित्य उसी का ध्यान।।
भीतर बाहर दूर पास बस, एक वही दिखलाई पड़ता।
रुकना, चलना, चेतन-जडता, एक वही सब गुण हैं धरता।।
है चिंतन करता जब मानुस, मिलता उसको बस एक मर्म।
यह द्वेष छोड़ सब करें प्रेम, जीवन का सबसे बडा सुधर्म।।
जान लिया उस परम सत्य को, जिसका है यह अंश जगत।
फिर भेद भाव का जाल कहां, उस अंशो का ही वंश जगत।।
जब चाहे वह दर्शन दे दे, है ब्रह्म सूक्ष्म है निराकार।
घट घट वासी फिर भी अनजाना, जग नायक है सबका आधार।।
अविद्या माया मे रमते जो, अन्धकार मे डूबे रहते।
जो ज्ञानी पर है अभिमानी, वे भी तम का दु:ख ही सहते।।
पाता नित ही दुर्लभ फल है सच्चा ज्ञानी अविद्या नाशी।
जिज्ञासा उसकी मिटती सब, पाकर सत् चित् आनन्द राशी।।
विद्या माया की संगत से, कर्माकर्म को वो जब जाने।
मृत्यु के बंधन को तोडे, व्यापक एक ब्रह्म पहचाने।।
पुत्र पिता माया अनुरागी, धनधलीन कामातुर पापी।
ज्ञान विराग पास न फटके, काम क्रोध तम माया व्यापी।।
ब्रह्म रूप अनन्त गुण निर्गुण, समझे जाने पहचाने ज्ञानी।
नश्वर जग से दूर रहें जब, सुन कर समझे संतो की बानी।।
है जनम लिया इस जग मे तो, होगा परिचय नश्वर से।
भूल भुलैया जड चेतन की, छूटेगी मिल कर अक्षर से।।
है करते ज्ञानी नित पुकार, तू अनन्त विमल निराकार।
निरावरण मुख ज्योतिर्मय कर, दर्शन दे प्रभु! तू अपरम्पार।।
हे जग पालक ज्ञान स्वरूप, परम ओजस्वी तू अमृतमय।
ले समेट तू रश्मि व्यूह को, हैं अंश सब जो तू अंशमय।।
प्राणो से छूटी सब जलती काया, रह जाता यज्ञ स्वरूप एक।
वह याद करे कर्मों के सबके, सब कर्मों की बस यही टेक।।
धन रूप तुही, जगरूप तुही, रक्षक देव विधाता तू है।
मार्ग दिखा तू पाप मिटा दे, शत् शत् वन्दन! सुदाता तू है।।
कण कण वासी अनन्त ब्रह्म, उससे जन्मा जग सम्पूरण।
सबको माता, सबका पालक, कण कण बांटे फिर भी पूरण।।

—'उत्तरायण' बी-५४८, न्यू फ्रेंड्स कालोनी, नई दिल्ली-११००६५

आर्यों को एक बनाएंगे

—पं० गंगाप्रसाद विद्यार्थी

हम जाति-पाति मिटाएगे, सब आर्यों को एक बनाएगे।
हम सच्चा प्रेम जगाएगे, सब आर्यो को बन्धु बनाएगे।।
हम संध्या हवन सिखाएगे, मूर्ति पूजा हटवाएगे।
ब्रह्मोपासना सिखाएगे, जड पूजा मिटवाएगे।।
आपस मे द्वेष नही रक्खेगे, आपस मे भेद नही रक्खेगे।
दम्पति में प्रेम जगाएंगे. उनके सब भेद मिटाएगे।।
श्रद्धा भाव जगाएगे, वृद्धो को सम्मान दिलाएंगे।
पितरो की पूजा सिखलायेंगे पर मृतक श्राद्ध मिटवाएगे।।

१७५, जयनगर, जबलपुर सिटी

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्यसन्देश

धर्म का वास्तविक स्वरूप

सम्पादकीय

हमारी परम्परा मे धर्म का प्रयोग बहुत व्यापक परम्परा मे हुआ है। प्राय: लोग इसे अत्यन्त सीमित और संकुचित कर देते है। धर्म नही सिखाता आपस मे बैर रखना, फिर भी सब से ज्यादा बैर इसी के कारण होते हैं। धर्म आतंक नही सिखाता, अलगाव नही सिखाता, फिर भी इसी के नाम पर अलग होने की दुहाई दी जाती है। ऐसा लगता है कि यह लोगो का संकुचित धर्म और वास्तविक धर्म कोई अलग-अलग तत्व हैं। व्यापक विषद दृष्टि ही इस तेजी से बढ रहे विखंडन और अविश्वास के अन्धकार को समाप्त कर सकती है।

धर्म के साथ निम्न अर्थ मुख्य मुख्य रूप से जुडे हुए हैं—

१. जो जीवन को धारण करे वह धर्म है।

जो सम्पूर्ण जीवन को सम्भाल कर रखे, वह धर्म है। जीवन जीते हुए, जीवन को पूरे मन से स्वीकार करते हुए, उसकी सार्थकता पहचानते हुए ही धर्म को पाया जाता है। सार्थकता क्या है? सार्थकता मनुष्यत्व की भावना मे है। मनुष्यत्व सबके भाव को अपना भाव मानने की अपेक्षा करता है 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।' 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—साराजहां अपना है'—ये भाव मनुष्यत्व के हैं। सारे संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। यह जो सबके भाव को अपना भाव मानने की दृष्टि है, यही मनुष्यता है। इस भाव से दूर होना नृशंसता है। यही मनुष्यता की हत्या है। इस नकारात्मक भाव से मुक्त होना ही धर्म है। महाभारत मे तीन बार इस धर्म की परीक्षा हुई। युधिष्ठिर को धर्म का प्रतिमा न माना गया। ये तीन प्रसंग हैं—युधिष्ठिर यक्ष प्रसंग, चित्रसेन-दुर्योधन प्रसंग, कुत्ते के साथ स्वर्गारोहण। पहले में युधिष्ठिर ने माद्री पुत्र का जीवन मांगा, दूसरे मे उसने बैर भाव रखने वालो की सहायता की, तीसरे मे उसने अभिन्न सखा कुत्ते के बिना स्वर्ग को भी ठुकरा दिया। जो इन तीन परीक्षाओ मे खरे उतरे उसे इस जीवन संग्राम में स्थिर माना गया। आज तो जरा से स्वार्थ के लिए लोग साथी को भूल जाते हैं। अत: यह मनुष्यत्व ही धर्म है।

धर्म की अवधारणा का दूसरा पहलू है, उसका सहज होना। वह तो अन्दर रहता है। महाभारत की धर्मव्याध की कथा इसका उदाहरण है। वह व्याध होते हुए भी धार्मिक है, जबकि तपस्वी ब्राह्मण धार्मिक नही। उस व्याध के जीवन व्यापार में धर्म रचा बसा है।

धर्म का तीसरा पक्ष है—उसकी गतिशीलता। धर्म ऋत और सत्य का एकीकरण है। ऋत का अर्थ है गति, सत्य का अर्थ है सत्ता मे बने रहना। गति ऐसी न हो जो स्वरूप की पहचान नष्ट कर दे। बने रहने का यह अर्थ नही है कि ठहर जाए। इसीलिए दोनों के समन्वय की बात कही गई है।

यदि इन तीनों बातो का अध्ययन करे तो यह समझने मे कोई कठिनाई न होगी कि धर्म मानव मात्र का है।

—डा० धर्मपाल

कृपया पते में सुधार करें

आर्य समाज किरण गार्डन के पत्र व्यवहार का नवीन पता—

चौ० अमरजीत सिंह, प्रधान
आर्य समाज किरण गार्डन,
आर. जैड. ४, मटियाला रोड, नई दिल्ली—११००५९

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(५ मई, ९१ के अंक से आगे)

अगले वर्ष तक यथास्थिति बनी रही। मैं यथा सुविधा सभा की अन्तरंग की बैठकों मे भाग लेने के लिए भी विभिन्न स्थानो पर जाता था। १९५६-५७ मे जब पंजाब मे हिन्दी रक्षा आन्दोलन चला तब भी सभा के मन्त्री श्री भगवती प्रसाद ही थे। १९५९ मे सभा का वार्षिक अधिवेशन गुरुकुल चित्तौडगढ मे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर गुरुकुल का रजत जयन्ती उत्सव भी हुआ था और प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु आचार्य भगवान देव तथा अन्य अनेक विद्वान् इस समारोह मे सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर आयोजित आर्यकुमार सम्मेलन का उद्घाटन भाषण देने का अवसर मुझे मिला तथा प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु एवं आचार्य भगवान देव जी से व्यक्तिश: सम्पर्क और परिचय हुआ। कुछ मित्रो की सम्मति मे मैं सभा के मन्त्री पद के लिए खड़ा हुआ। यद्यपि जोधपुर मण्डल की समाजो का मुझे पूर्ण समर्थन प्राप्त था किन्तु प्रान्तीय स्तर पर कार्य करने के लिए सरकारी सेवा मे होने के कारण मेरी मजबूरियां भी थी। उधर सभा के तत्कालीन मन्त्री श्री भगवती प्रसाद विमल पांच वर्षों से सभा की बागडोर सम्भाले हुए थे अत बहुमत से विजयी होने मे उन्हे कोई कठिनाई नही हुई।

कालान्तर मे प० भगवती प्रसाद को भी सभा के मन्त्री पद से हटना पड़ा और अजमेर के श्री शिवचरणलाल मन्त्री बने। मेरा नगर आर्य समाज अजमेर के सदस्यों से भी पूर्ण सौहार्द भाव था जिनमे सर्व श्री प० भगवानस्वरूप न्याय-भूषण श्री शिवचरणलाल श्री चित्तरंजन वर्मा तथा श्री धर्मसिंह कोठारी आदि के नाम उल्लेखनीय है। प्रान्तीय सभा से मेरा सम्बन्ध जो १९४८ मे जुडा तो वह १९८२ तक चलता रहा। चण्डीगढ आने के पश्चात् मैं न तो राजस्थान की किसी समाज का सभासद ही रहा है और न प्रतिनिधि सभा की इन वर्षो की गति-विधियो मे मैने भाग ही लिया।

आर्य समाज सरदारपुरा जोधपुर में—

१९५४ मे मैं अपने जोधपुर शहर वाले मकान को छोड़ कर मोहल्ला सरदारपुरा मे आकर रहने लगा। मेरे माता-पिता तथा छोटे भाई व उनका परिवार भी हमारे ही साथ रहते थे। यहां आने पर मुझे आर्यसमाज सरदारपुरा की सदस्यता ग्रहण करनी पडी। यहां के अधिकांश सभासद भी मेरे परिचित ही थे क्योकि नगर की सभी आर्य समाजो द्वारा मिल कर मनाये जाने वाले पर्वो उत्सवो और समारोह मे प्राय: उनसे भेंट होती रहती थी। उस समय श्री घीसूलाल जी इस आर्य समाज के मन्त्री थे। वार्षिक निर्वाचन मे मुझे मन्त्री पद पर चुन लिया गया। श्री किशनदास भाटिया प्रधान निर्वाचित हुए। श्री भाटिया एक सम्पन्न व्यापारी तो थे ही, आर्य समाज के प्रति उनकी प्रगाढ आस्था भी थी। आर्यसमाज सरदारपुरा के अन्तर्गत एक कन्या पाठशाला माध्यमिक स्तर तक की चलती थी। पाठशाला के प्रबन्ध को लेकर स्थानीय सभासदो मे मतभेद थे और अधिकांश सभासद प्रधान श्री भाटिया का विरोध करते थे तथापि उनकी बुजुर्गियत तथा आर्य समाज के प्रति प्रेम के कारण लोग उन्हे सम्मान भी देते थे। मैंने आर्य समाज सरदारपुरा मे भी दैनिक सत्संग का क्रम जारी किया। यहां भी वार्षिक उत्सव के समय चन्दा एकत्र करने के लिए हमे मोहल्ले मे घर-घर जाकर धन इकट्ठा करना पडता था। श्री कुंवरपाल आर्य, जो अब रेलवे से निवृत्त होकर सन्यासी हो गये है, उस समय रेलवे कार्यालयो से चन्दा एकत्र करते थे। बिजली के महकमे मे कार्य करने वाले श्री रामनारायण आर्य भी सार्वजनिक अभिरुचि के व्यक्ति थे। वे आर्य समाज के मंच से किए जाने वाले खण्डन मण्डन को पसन्द नही करते थे और अवसर आने पर अन्य मत वालो के मंचो पर जाकर अवसरोचित बाते कहने मे भी उन्हे संकोच नही होता था। १९५४ से १९५६ तक मैं मन्त्री पद पर रहा। १९५६ मे जब मैं वरिष्ठ अध्यापक बन कर नागौर जिले के ग्राम छोटी खाटू चला गया तो मेरे स्थान पर उपमन्त्री श्री विश्वम्भरदयाल जी गर्ग ने मन्त्री पद पर कार्य किया।

(क्रमश:)

भारत केसरी पद्मश्री सतपाल सिंह का अभिनन्दन

श्री सतपाल सिंह का जन्म १० दिसम्बर १९५६ को दिल्ली के बवाना ग्राम मे एक किसान परिवार मे हुआ। इन्हे माता श्रीमती परमेश्वरी देवी तथा पिता श्री हुक्म सिंह पहलवान से धर्मपारायणता एवं कुश्ती का शौक विरासत मे मिला। इनके बड़े भाई श्री प्रताप सिंह व धारासिंह ने इन्हे कुश्ती जगत की गरिमा तक पहुंचाने में भरपूर सहयोग दिया। ग्राम मे ५ वीं कक्षा पास कर, बिरला स्कूल कमला नगर मे १२वी तक अध्ययन किया। अपने छात्र जीवन में आप सदा विनयी तथा परिश्रमी रहे।

राष्ट्रीय स्तर पर कुश्ती जगत मे उपलब्धियां—सर्वप्रथम दिल्ली मे ३५ किलो के वजन मे प्रथम तथा राष्ट्रीय स्कूल प्रतियोगिता में ४६ किलो वजन में १९६९ मे स्वर्ण पदक प्राप्त किया। १९७० में ककरौली जिला मुजफ्फरनगर में "हाथ मिलाओ दगल" मे एक ही लगोट से २१ कुश्तिया जीत. कर तहलका मचा दिया। १९७१ मे जामा मस्जिद एहतियादी दगल में लगातार ९ कुश्ती जीतने पर सर्वप्रथम "नौ शेरवां" खिताब जीतने का श्रेय श्री सतपाल को मिला। १९७३ मे दिल्ली दगल मे हरियाणा के मुरारीलाल को हराकर 'भारत कुमार' बने। १९७४ मे लुधियाना दगल मे 'रुस्तमे हिन्द' तथा १९७५ में दिल्ली मे महाराष्ट्र के दादू चोगले को हराकर 'भारत केसरी' बनने का गौरव प्राप्त किया। १९७५ मे ही भारत के सबसे बड़े दगल, जिसमे मा० चन्दगीराम आदि सभी बडे पहलवानो ने भाग लिया, साहू, महाराज की याद मे हुए दगल कोल्हापुर मे दादू चोगले को हराकर 'रुस्तमे हिन्द' का पद प्राप्त किया। १९७५ में ही रोहतक मे जगदीश मित्तर हरियाणा को ३ मिनट ५ सैकण्ड मे चित्त मारकर 'रुस्तमे हिन्द' पद प्राप्त किया। दादू चोगले के साथ पाच बार आर-पार कुश्ती मे विजय प्राप्त की। १९७५ में कर्नाटक केसरी एव एशिया रजत पदक विजेता चम्बा मुतनाले को चुनौती कुश्ती मे ४ मिनट मे हाथी चिंघाड़ दांव से आसमान दिखा दिया। १९७६ मे दिवान सिंह हरियाणा को ४६ सेकण्ड मे ही चित्त कर दिया। १९७६ के दिल्ली दगल मे दादू चोगले को हराकर 'महान भारत केसरी' बने। १९७६ में ही जयपुर दगल मे विजय कुमार पजाब को हराकर 'महाभारत केसरी' का पद प्राप्त किया। १९७६ मे फिर दिल्ली मे लीग की कुश्ती मे जगदीश मित्तर, विजय कुमार, आनन्दराय को हराकर १ लाख रुपये एव राष्ट्रपति स्वर्णपदक प्राप्त किया। १९७७ मे बम्बई में टोपन्ना गोजगे तथा १९७८ में तेजसिंह को हराकर दो वर्ष लगातार 'भारत भीम' का पद जीता। १९७८ मे कोल्हापुर में महाराष्ट्र के हीरालाल बकर को हराकर 'हिन्द केसरी' बने।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे उपलब्धिया—विदेशो मे भी आपने भारत का नाम ऊंचा किया। १९७२ मे ६२ किलो वजन मे म्यूनिक ओलम्पिक मे छठा स्थान, १९७३ मे तेहरान में विश्व चैम्पियनशिप मे ५ वा स्थान, १९७४ मे तेहरान मे ही 'एशियाड गेम्स' मे ८२ किलो मे रजत पदक, न्यूजीलैंड मे राष्ट्रमण्डल खेलों मे रजत पदक, १९७५ मे कुलनबटूर (मगोलिया) मे 'विश्व आमन्त्रित कुश्ती चैम्पियनशिप १०० किलो में रजत पदक, १९७८ मे बैंकाक मे एशियाड गेम्स मे १०० किलो मे रजत पदक, १९७८ मे ही एडमिंटन (कैनेडा) मे १०० किलो में रजत पदक, १९७८ मे ही कोलम्बो (श्रीलंका) मे द्वितीय विश्व आमन्त्रित कुश्ती चैम्पियनशिप मे १०० से ऊपर के वजन में स्वर्ण पदक प्राप्त कर भारत का नाम चमकाया। १९७९ मे जालन्धर में प्रथम एशिया कुश्ती चैम्पियनशिप मे १०० किलो से ऊपर वजन मे रजत पदक, १९७९ मे मगोलिया मे रजत पदक, १९८० मे मास्को ओलम्पिक में १०० किलो से ऊपर वजन में प्रथम कुश्ती जीतने पर आंख मे गम्भीर चोट लगने के कारण अगली कुश्तियां न लड सके। १९८२ में आस्ट्रेलिया मे राष्ट्रमण्डल खेलो मे १०० किलो से ऊपर वजन मे रजत पदक जीते। १९८२ मे नई दिल्ली मे 'एशियाड मे १०० से ऊपर वजन मे स्वर्ण पदक जीतकर भारतीय पहलवानो के मनोबल को चार चांद लगाए।

सतपाल जी की मान्यता है कि विदेशो में पर्याप्त शाकाहारी भोजन के अभाव में १० किलो तक वजन कम हो जाता था। इसी कारण अधिकतर रजत पदक जीते। वहां रह रहे भारतीयों के घर में पर्याप्त शाकाहारी भोजन मिलने पर उन्ही पहलवानों को 'फ्रैंडली मैच' में हराया।

१९७४ में कुश्ती जगत में सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए भारत सरकार ने आपको 'अर्जुन पुरस्कार' प्रदान किया, दिल्ली खेल परिषद ने १९७४ से १९८२ तक आपको "दिल्ली का सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी" पद से सम्मानित किया। १९८१ में आपको भारत के राष्ट्रपति ने पद्म श्री की उपाधि से अलंकृत किया।

आप १९७१ से १९८३ तक ६२, ७४, ८२, १०० और १०० से ऊपर वजन की राष्ट्रीय कुश्तियों में लगातार स्वर्णपदक जीतते रहे। आपने अपनी कुश्ती जीवन में लगभग ढाई हजार कुश्तियां लड़ीं। बचपन में इन्हे पिताश्री हुक्म सिंह ने एक स्वस्थ गाय का घी दूध उपलब्ध कराया। आपको जो भी भोजन मिला उसकी कभी शिकायत नही की। आप मानवता के पुजारी, जाति पांति के विरोधी, गुण ग्राहक ब्रह्मचर्य के प्रति निष्ठावान, गुरु भक्ति तथा लक्ष्य प्राप्ति में सदा लगनशील रहे हैं। गुरु हनुमान के प्रति आप विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। साथियों के कहने पर 'किंगकांग' नाम की फिल्म देखने के अपराध में गुरु हनुमान ने मेन बाजार में सैकड़ो जूतो की मार दी। जो बाद में इनके जीवन में फूलों का हार सिद्ध हुई। इनका कहना है कि मेरे पिताजी ने सदा अभिमान से दूर और बडो का आदर करने की सीख दी। 'भारत केसरी' बनने पर वे मुझे किसी साहूकार के पास न ले जाकर गाव के दो बुजुर्गों से आशीर्वाद प्राप्त कराने ले गए। पिता श्री ने भ्रातृ प्रेम पर विशेष बल दिया। भारत के इस गौरवशाली वीर पुत्र का आर्य समाज बांकनेर ने १९७५ में "भारत केसरी" बनने पर तथा १९८२ में "एशिया मल्ल सम्राट" बनने पर मीलों लम्बे जुलूस में स्वागत करने का गौरव प्राप्त किया।

आजकल आप दिल्ली के सहायक शिक्षा निदेशक (खेल) पद पर कार्यरत हैं तथा कुश्ती कला के प्रोत्साहन मे जुटे हैं। आपने राष्ट्रीय कुश्ती संस्थान प्रह्लादपुर (दिल्ली) की ६ करोड़ की परियोजना प्रशासन से स्वीकार करा ली है जिसमें लगभग २५० पहलवान आधुनिकतम कुश्ती तकनीक का लाभ उठा सकेंगे। इन पहलवानों को संस्थान से बाहर निकलते ही तुरन्त नौकरी मिल जाएगी। बवाना ग्राम में १७ एकड़ भूमि में 'खेल परिसर' स्थापना करने का भी आप निर्णय ले चुके हैं। आपकी देखरेख में दिल्ली में ८७ कुश्ती केन्द्र चल रहे हैं। कुश्ती के अतिरिक्त अन्य खेलो के संस्थान की भी स्थापना आपके योजनाधीन है।

युवकों को आपका सन्देश है कि ब्रह्मचर्य पालन, सादा जीवन, अच्छी पुस्तकों का पठन तथा बड़ों से गुणग्रहण पर विशेष बल दें। लगनशील युवक की सफलता सदा पैर चूमेगी। बाल्यकाल से ही इन्हें श्री मांगेराम जी आर्य सदृश लोगो की प्रभावकारी शिक्षा रही है कि कुसग से सदा दूर रहकर ही जीवन में सफलता मिलती है। भारत के इस वीर पुत्र एव आदर्श युवक की दीर्घायु एव स्वस्थ जीवन की कामना करते हैं। —आर्य समाज बांकनेर, दिल्ली

उपयोगी घरेलू नुस्खे

—श्री नेतराम शर्मा

शुक्राणु यदि कम हो तो बथुआ के बीजों का चूर्ण १० ग्राम छुहारे वाले दूध के साथ सुबह शाम ४० दिन सयम से लेते रहना।

नपुसकता दूर करने के लिए जंगली पालक के बीज चूर्ण ५ ग्राम छुआरे वाले दूध के साथ सुबह शाम ४० दिन।

बन्द गला खोलने के लिए एक ग्राम फिटकरी पीस कर फाकना ऊपर से १०० ग्राम दूध।

दाद—तुलसी के पत्तों को नीबू के रस में रगड़ कर लगाना।

कान दर्द—तुलसी के पत्तों का रस कान में डालने से कान दर्द ठीक।

माता का दूध कान में डालने से भी कान दर्द दूर।

हाजमा—मीठे आम का रस ५ ग्राम सोंठ २ ग्राम पीस कर मिला कर सुबह एक सप्ताह पीने से खाना हजम।

चुनाव में वोट किसको दें ?

—श्री चमन लाल—

भारत वर्ष जैसे प्रजातन्त्र प्रणाली से प्रशासित देशो के निवासियो के व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय जीवन में मत (वोट) का बड़ा महत्त्व होता है। लोकसभा व विधानसभाओं आदि के लिए विधायको के निर्वाचन हेतु मतदान का काम जनता का एक भारी दायित्व है। अपना मत (वोट) न देने अथवा देने, किसी अयोग्य आचारहीन व योग्य आचारवान व्यक्ति या पार्टी के पक्ष में मत देने से किसी भी राष्ट्र का कलेवर ही बदला जा सकता है। किसी आयोग्य प्रत्याशी (उम्मीदवार) या पार्टी को वोट देने से उनके बहुमत में आने के परिणामस्वरूप बड़े-बडे शक्तिशाली राष्ट्र भी नष्ट हो जाया करते हैं और ऐसी राजनीतिक दलों का नाम तक समाप्त हो जाता है। देश में अराजकता फैलने के कारण जनता का जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है और कोई भी कही सुरक्षित नहीं होता। दूसरी ओर योग्य आचारवान, लोकहित की भावना से भरे व्यक्तियो, पार्टी के पक्ष में वोट देकर और उनको सफल बनाकर सब प्रकार से गिरे अवोन्नत देश को भी सबल, समृद्ध, सम्पन्न एवं खुशहाल बनाया जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप जनता जनार्दन के जीवन का नक्शा ही बदल जाता है। राज्य व्यवस्था बड़े सुन्दर ढग से चल सकती है। लोग सुख की नींद सोने लगते है और प्रजाजन महाराजा अश्व पति तथा मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी जैसे रामराज्य में रहने के स्वप्न देखने लगते हैं।

वास्तव में योग्य, सदाचारी, नि:स्वार्थी लोगो को वोट देने से ही ऋषि कोटि के नेतागण तथा योग्य देश भक्त शासको का उपलब्ध होना सम्भव होता है जो अपनी योग्यता, शुद्ध आचरण, देश भक्ति तथा लोक सेवा की भावना से युक्त राष्ट्र मे बल (राष्ट्र की भौतिक शक्ति, देश निवासियों का शारीरिक बल, पुलिस व सैन्य शक्ति, शासन चक्र का तेज और सामर्थ्य) और ओज (राष्ट्र के लोगो का मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक बल, उनकी बुद्धिमता, नैतिकता, ज्ञान-विज्ञान) को पैदा कर दिया करते हैं। ऐसे ही बलशाली और ओजस्वी राष्ट्र की नीतियों और राज्य व्यवस्था को देखकर देश-विदेशो के ज्ञानी शासकगण तक उनको नतमस्तक होते हैं और बड़ी सराहना करने लगते हैं। यही तो वेद में कहा गया है—

भद्रमिच्छन्त ऋषय: स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जात तदस्मै देवा उपसनमन्तु॥
अथर्व १९/४१/१

भारत को छोड़कर विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र प्रणाली अपनाने वाले देश सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति इब्राहिमलिंकन ने वोट (मत) का महत्त्व जताते हुए एक प्रसग मे एक बार कहा था :—"एक मत पत्र एक गोली से कहीं अधिक बलशाली होता है, क्योंकि पिछले (गोली) से तो कुछ ही की हत्या होती है, परन्तु पहले (मत) से तो समूचे राष्ट्र का सर्वनाश हो सकता है"—

अत: सिद्ध हुआ कि एक-एक वोट (मत) भी सावधानी और विचारपूर्वक योग्य प्रत्याशी को न देने के कारण बडे बडे भयकर परिणाम हो जाया करते हैं। इसलिए वोट का सही और योग्य उम्मीदवार को देना ही देश की सच्ची सेवा है।

हमारे देश में भी प्रजातन्त्र प्रणाली की व्यवस्था है। सौभाग्यवश यही शासन पद्धति प्राचीन वैदिक काल से इस विशाल भारत देश में चली आ रही है। प्राप्त जानकारी के आधार पर यह कहना सही ही है कि यह लोकतन्त्र व्यवस्था मध्यकाल के लगभग एक सहस्त्र वर्षो (नन्द, मौर्य गुप्त, मुस्लिम और अंग्रेजो के शासनकाल) को छोड़कर प्राचीन वैदिक काल से लेकर चौथी, पांचवीं शताब्दी तक इस देश में प्रचलित रही है और वास्तव मे यही शासन पद्धति भारत में प्राचीनतम है। सम्भवत: इस तथ्य को दृष्टि में रखकर हमारे संविधान निर्माताओ ने इस प्रणाली को इस देश के लिए उपयोगी मानकर चुना हो। परन्तु यह कटु सत्य है कि वर्तमान में चल रही यह प्रजातन्त्र प्रणाली जनमत का मजाक बनकर रह गई है। भ्रष्टाचार, जात-पात, भाई-चारा, दल-बदल, आयाराम-गयाराम, सत्ता के लालच और पैसे के दुरुपयोग ने इस पवित्र शासन पद्धति को सारहीन, निरर्थक, भोंडी, भयंकर और लंगड़ी करके रख दिया है। मतदाताओं और प्रत्याशियों की योग्यता का कोई विशेष स्तर भी तो निश्चित नहीं है। पैसे के प्रचलन ने इसको बहुत दूषित कर दिया है। किन्हीं लोगों के लिए तो यह एक अच्छा लाभदायक व्यवसाय सा हो गया है। यद्यपि लगभग चार वर्ष पूर्व सरकार ने दल-बदल सम्बन्धी विधेयक पारित करके इस कुरीति पर कुछ अंकुश तो अवश्य लगाया है परन्तु हाल में ही समाचार पत्रों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि कुछ राजनीतिक दलो के नेता इस विधेयक के विरोध मे खुले आम बोल रहे है। उनका यह भी कहना है कि इसी विधेयक के कारण जनतादल की सरकार का पतन हुआ, लोकसभा भग हुई। अतः इसको संविधान से निकालने की सोच रहे हैं।

अकसर पिछले निर्वाचनो में यह देखने में आया है कि कुछ सत्ता के भूखे लोगो ने राजनीति को एक व्यवसायिक धन्धा बना लिया है, क्योंकि वे समझते हैं राजनीतिक सत्ता एक गुरु कुंजी (Master Key) है जिसके द्वारा सब प्रकार की आमदनी के ताले खुल जाते हैं। इस स्वार्थपूर्ति के लिए जाति बिरादरी, मजहब-मिल्लत, लोभ-लालच झूठे काल्पनिक आकर्षक वायदे और कहीं-कहीं तो तरह-तरह की धमकियों से अधिकतर बेचारे अशिक्षित, अभावग्रस्त ग्रामीण तथा झुग्गी-झोपड़ी वालों से वोट लेना एक साधारण सी बात बन गई थी। पिछड़े वर्गों के मतदाताओ को मूक पशुओं की तरह वोट देने पर बाध्य किया जाता रहा। इस प्रकार तथा-कथित जनता द्वारा चुने गए विधायक रुपये-पैसे और कुर्सी-पदों के लालच मे अपने स्वार्थ सिद्धी के वास्ते राष्ट्र हितो को एक ओर रख देते हैं और कुछ भी अनुचित करने से लेशमात्र भी नहीं डरते। और जनता के पास कोई ऐसा कारगर साधन भी तो नही है कि जिसके आधार पर ऐसे आचारहीन विधायकों को अपना पद छोडने पर बाधित किया जा सके। ऐसी दूषित परिस्थितियों में कोई भी विचार-शील, बुद्धिजीवी, आत्मसम्मान रखने वाला व्यक्ति अपने आप को सुरक्षित अनुभव नही करता। बेचारा सर्वदा असन्तुष्ट, पख कटे पक्षी की तरह तडप-तडप कर अन्दर ही अन्दर घुल रहा है। निस्सदेह राजनीति को जन-उपयोगी, स्वस्थ बनाने के लिए इसमें सुधार लाने की नितान्त आवश्यकता भी है।

सर्वप्रथम मतदाता और प्रत्याशी के लिए कुछ योग्यता का स्तर निश्चित होना चाहिए जिससे सही, आचारवान, योग्य व्यक्ति ही चुने जा सकें, रुपया-पैसा, देन-लेन वालों को दोषी घोषित करने वाले विधान को पूरी तरह से लागू किया जावे। समाज ऐसे लोगो को किसी प्रकार का सम्मान न दें। इनका सामाजिक बहिष्कार भी किया जावे, प्रचलित सरकारी नियमो के अनुसार जब कोई व्यक्ति सरकारी नौकरी में नियुक्त किया जाता है तो उसकी स्वास्थ परीक्षा और आचार सम्बन्धी पुलिस जांच रिपोर्ट आवश्यक होती है, इसके नियमानुसार सन्तोषजनक न होने पर कोई भी नियुक्ति सम्भव नहीं होती। परन्तु खेद का विषय है कि हमारे चुने जाने वाले विधायकों और उनमें से बनने वाले मिनिस्टरो के लिए इस प्रकार की जाच का कोई विधान नही है और इसीलिए इसके अभाव मे अस्वस्थ और सदिग्ध आचारवाले (Charge Sheeted) व्यक्ति भी चुने जाते हैं जो बाद मे बडे हानि-कारक सिद्ध होते हैं। अत इस प्रकार की जाच सम्बन्धी विधान और कुछ अन्य आचार सहिता को लागू करके ही राजनीति को स्वस्थ बनाया जा सकता है। वरना आज की राजनीति एक तमाशा हो गई है जो जनता का सरासर अपमान है। सक्षेप मे दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं कि आज की भारतीय राजनीति और भ्रष्टाचार एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं।

लो! भ्रष्टाचार ने एक और अगडाई ली और मात्र १८ मास की अल्प अवधि मे जनतादल की दो सरकारें अपने को सत्ता मे रखने के लोभ लालच मे नानाविध, उचित, अनुचित गठबन्धन करके राष्ट्र विरोधी सारहीन नीतियो के अपनाने के फलस्वरूप टूटी और अपनी ५ वर्ष की पूरी अवधि समाप्त होने से पूर्व ही लोकसभा भग हुई। और देश का शासन चलाने के निमित्त और कोई सविधा-निक विकल्प न होने के कारण बडे सोच-विचार के पश्चात् लोकसभा के चुनाव की घोषणा कर दी गई। इस मध्यावधि चुनाव से अरबो रुपये के खर्चीले चुनाव का भार जनता पर उस विकट समय मे पड़ा जबकि देश की आर्थिक स्थिति बड़ी गम्भीर और पतली है—गगनचुम्बी, कमरतोड़ महगाई ने साधारण व मध्यम श्रेणी के लोगो के जीवनो को अस्तव्यस्त कर दिया, तो बेचारे अभावग्रस्त लोगो की बात ही क्या ? परन्तु इन तथाकथित देश के कर्णधारी नेताओं के तो वही ठाठ-बाट

(शेष पृष्ठ ६ पर)

वेद प्रचार

२८,२९ मार्च १९९१ को शाहबाद दौलतपुर के स्थानीय आर्य समाज का वार्षिकोत्सव दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे सोल्लास सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी ने अपने विभाग के भजन मण्डली (श्री सत्यदेव स्नातक, प० श्री चुन्नीलाल आर्य) ने भजनो के माध्यम से वेद प्रचार किया।

३०, ३१ मार्च को कन्या गुरुकुल नरेला तथा ८ अप्रैल से १४ अप्रैल तक आर्य समाज रघुबीर नगर, ११ से १४ अप्रैल अवन्तिका, २०, २१ अप्रैल बिहारीपुर तुकमीरपुर मे स्थानीय आर्य समाज का शिलान्यास सम्पन्न हुआ। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार मण्डल अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सहित भजनोपदेशक श्री सत्यदेव स्नातक श्री ज्योति प्रसाद जी प० चुन्नीलाल जी आर्य आदि उपस्थित थे।

१५ से २१ अप्रैल आर्य समाज बाजार सीताराम का वार्षिकोत्सव धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर स्वामी आनन्द बोध सरस्वती प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महन्त अवैद्य नाथ जी, सुश्री उमा भारती तथा अनेक भारत विख्यात लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानो ने कार्यक्रम मे पधार अपने सारगर्भित उद्बोधन द्वारा राष्ट्र को नई चेतना का सन्देश प्रदान किया।

(पृष्ठ ५ का शेष)

और वैभव का जीवन चल रहा है, किसी प्रकार की कोई कमी दिखाई नही देती "कोई मरे, कोई जिए, सुथरा घोल पताशे पीए' यह कहावत पूरे तौर पर लागू होती है।

लोक सभा चुनाव इसी मई माह मे होने जा रहा है। सभी राजनीतिक दल अपने अपने तौर पर सत्ता को हस्तगत करने की होड मे लगे हैं। कोई स्थायित्व का राग अलापने और देश की अखडता और एक जुटता का ढोल पीटकर नानाविध तालमेल करके अपना वोट बैंक तैय्यार करने मे तल्लीन हैं; तो कोई पद-दलितो, पिछड़े वर्ग के लोगों को सामाजिक न्याय (Social Justice) दिलाने हेतु मण्डल आयोग की सिफारिशो के आधार पर आरक्षण का डमरू बजाकर वोट बटोरने मे लगे हैं; तो अन्य कोई ग्रामीण-किसानो के हितो की ढपली बजाकर वोट जुटाने मे व्यस्त हैं तो कोई और अन्य राजनीति मे नैतिकता लाने और शुद्ध राष्ट्रीयता के मधुर गीत गाने वाले रामनाम की बासुरी बजाकर मतदाताओ को मोह रहे हैं।

याद रहे कि ये सब राजनीतिक मदारी हैं, इन सबके वाद्य यन्त्रो की ध्वनि मे कोई सार नही हैं। इन सभी के घोषणापत्र भले ही आकर्षक हो परन्तु ये सब देश मे विघटन की आग और साम्प्रदाय का विष फैला रहे हैं। देश की अखण्डता की दुहाई देने वाले ही देश को अपनी गलत नीतियों के कारण खण्डित करने में लगे हुए हैं। और इस देश मे रहने वाले भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों मे वैमनस्य की भावना और मतभेद व घृणा की खाई पैदा करती है जो पहले देखने में कभी नहीं आई थी। शहरी और देहाती आदमी का चोली-दामन का सा सम्बन्ध रहा है। एक दूसरे के पूरक हैं। आजतक ये दोनों प्रकार के लोग अपने सद्भाव व प्रेम से रहते रहे परन्तु तथाकथित कुर्सी के भूखे नेताओ ने इन दोनो में भी ऐसी खाई पैदा करदी है कि जिस कारण एक दूसरे से कटने लगे हैं।

यह सब देश की अखडता व स्वतन्त्रता के घातक और विनाशकारी चिन्ह हैं। देश की ऐसी भयकर स्थिति मे सब देश भक्तो, विचारशील लोगों विशेषकर युवा वर्ग का एक भारी उत्तरदायित्व है कि इन सब के आकर्षक परन्तु विनाशकारी हथकडो से सावधान होकर अपने मत का प्रयोग करें और देश को अराष्ट्रीय तत्त्वो के हाथो में जाने से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करे।

अत: इस मास (मई मास) में लोकसभा तथा कुछ विधान सभाओ के चुनावों मे उम्मीदवारो को मत देते समय बडे सतर्क और सावधान होने की नितान्त आवश्यकता है। उन्हे गम्भीरतापूर्वक प्राचीन मूल्यो को ध्यान में रखते हुए किसी प्रकार के प्रलोभन में आए बिना स्वतन्त्रतापूर्वक अपने बहुमूल्य मत का सही प्रयोग करना चाहिए, यही देश की सेवा व सच्ची भक्ति है। देश के गौरव को बढ़ाने वाली नीतियो और जनता के हितो के कार्यक्रमो को दृष्टि में रखकर काम करने वाले आचारवान योग्य व्यक्ति को वोट देना ही सच्ची मानवता भी है।

—एच-६४, अशोक विहार दिल्ली ५२

सम्पादक के नाम पत्र

आदरणीय श्री सम्पादक जी महोदय,

सप्रेम नमस्ते। अत्र कुशलं तत्रास्तु। आशा है आप स्वस्थ एवं सानन्द होगे। आप द्वारा प्रेषित आर्य सन्देश का ऋषि बोध विशेषांक मिला। ऋषि की कार्यो की जितनी भी प्रशसा की जाये कम है। आर्य संदेश पत्रिका आर्य जगत की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। यह पत्रिका पाठको के लिए उत्तम स्वाध्याय है।

आर्य समाज, स्थापना दिवस एव धर्मवीर प० लेखराम सयुक्तांक प्राप्त हुआ है। यह अक भी बेजोड़ ऐतिहासिक दस्तावेज, दुर्लभ लेखो से ओत-प्रोत होने के कारण बहुत पसन्द आया।

विश्व के कल्याण का आपका कार्य सराहनीय है। बहुत-बहुत धन्यवाद। आर्य सदेश आपके श्रेष्ठ सपादकत्व मे निरतर प्रगति करे। यही प्रभु से प्रार्थना है।

—विनीत कुमार मन्त्री
आर्य समाज, गोडल—३६०३११

ढोंग, पाखंड समाप्त हो

महोदय,

आज के युग में गुरुडम का पाखण्ड जोर शोर से फैल रहा है। रजनीश, सत्य साई, प्रजापिता ब्रह्माकुमारी सस्था, युग निर्माण योजना आदि सभी अपनी अलग-अलग खिचडी पका रहे हैं। राष्ट्रवाद का इन संस्थाओ में सर्वथा अभाव है थोड़ी सी रूढ़िया पाल कर अपना कुनबा बढ़ाते जा रहे हैं।

अब समय है कि इस प्रकार का ढोंग पाखड समाप्त होकर वैदिक विचारधारा का प्रचार हो।

—वेदप्रकाश अग्रवाल
जी/५ लोक निर्माण आवास मंडला (म० प्र०)

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

निर्वाण शताब्दी-समारोह

(चण्डीगढ़ में २९, ३० जून १९९१)

मान्यवर! आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आर्य ऋषि मिशन के लिए समर्पित युवा मनीषी प गुरुदत्त विद्यार्थी का निर्वाण शताब्दी समारोह दिनाक २९, ३० जून को चण्डीगढ की समस्त आर्य समाजो एव आर्य शिक्षण संस्थाओं की ओर से डी० ए० वी० कालेज, सैक्टर १०, के परिसर में विशाल स्तर पर केन्द्रीय आर्य सभा चण्डीगढ के तत्त्वावधान में आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर देश के सर्वमान्य नेता, आर्य जगत् के मूर्धन्य सन्यासी, विद्वान वक्ता तथा गायक पधारेंगे। इस अवसर पर विद्वानो के भाषण, विचार गोष्ठियां, कवि सम्मेलन भाषण प्रतियोगितायें भी आयोजित की जायेंगी। अत: आपसे निवेदन है कि आप अपने आर्य समाज तथा शिक्षण सस्था से सम्बद्ध सभी महानुभावों को इस अपूर्व समारोह में सम्मिलित होने की प्रेरणा करें तथा दिवंगत प० गुरुदत्त विद्यार्थी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए चण्डीगढ़ जैसे प्राकृतिक सुषमा सम्पन्न आधुनिक नगर में पधारें।

इस अवसर पर प्रकाशित होने वाली स्मारिका के लिए अपना विद्वतापूर्ण लेख तथा अपने व्यावसायिक सस्थान का विज्ञापन हमें अवश्य भेजें।

नोट—आपको ज्ञात होगा कि ६, ७ अक्तूबर १९९० को यह शताब्दी कार्यक्रम होना था, किन्तु आरक्षण विरोधी आन्दोलन के अशान्त वातावरण एव कर्फ्यू के कारण स्थगित कर दिया गया था। अब २९, ३० जून १९९१ को अवश्य पधारें।

—डा० भवानीलाल भारतीय
(स्मारिका सम्पादक)

कुक्षी में आर्य समाज की स्थापना

भारतीय सस्कृति के पुनर्स्थापन, चरित्र निर्माण, शारीरिक सौष्ठव, आत्मोन्नति, सामाजिक उत्थान एवं वैदिक ज्ञान के प्रति जन-जागरण, विशेष कर युवा वर्ग में इनके प्रति चेतना जागृत करने के उद्देश्य से विगत दिवस धार जिले कि कुक्षी तहसील मुख्यालय पर आर्य समाज की स्थापना की गई।

श्री धन्नालाल चौधरी के निवास पर सम्पन्न हुई संभ्रात नागरिकों की बैठक मे आर्य समाज की स्थापना का निर्णय किया गया। इस बैठक मे मध्य भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा भोपाल प्रधान स्वामी सत्यानन्द जी, आर्य समाज धार के प्रधान पं० बालकृष्ण चतुर्वेदी एवं मन्त्री श्री भगवन्त राव जी तिवारी विशेष रूप से उपस्थित थे।

बैठक में लिए गये निर्णय के अनुसार नव गठित आर्य समाज के वर्ष १९९१ के लिए सर्व श्री शरद गुप्ता एडवोकेट प्रधान, धन्नालाल चौधरी उपप्रधान, नारायण प्रसाद मधुप मन्त्री, हरनरेश बामनिया उपमन्त्री, चिमनलाल वर्मा कोषाध्यक्ष, एवं श्री अम्बाराम जी पाठक, व श्री राजेन्द्र द्विवेदी अन्तरंग सभा के सदस्य सर्वसम्मति से निर्वाचित हुए।

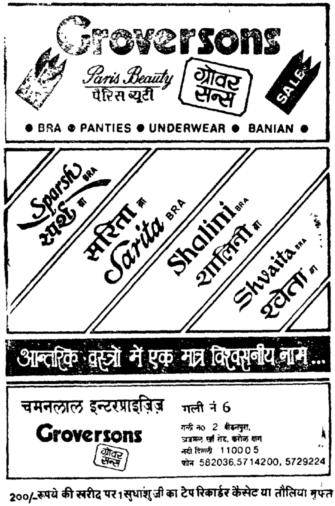
वार्षिक निर्वाचन

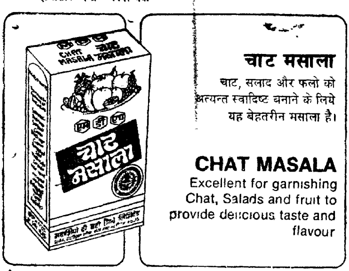
जिला आर्योपप्रतिनिधि सभा गोरखपुर की साधारण सभा की बैठक वार्षिक निर्वाचन हेतु चौरी चौरा स्थित प्रधान कार्यालय गिरधारी लाल प्रदत्त भवन पर आयोजित हुई जिसमें निम्नांकित पदाधिकारी निर्विरोध निर्वाचित हुए—

१. पं० श्री द्विजराज शर्मा पुरोहित—अध्यक्ष
२. रमेश प्रसाद शुक्ल—मन्त्री
३. श्री मारकन्डे आर्य—कोषाध्यक्ष

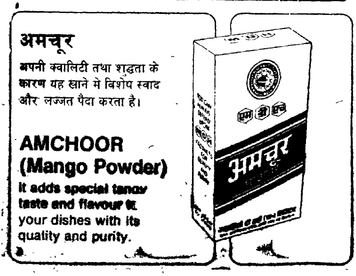
आर्य समाज नीलोखेड़ी का वार्षिक चुनाव २१-४-९१ को सम्पन्न हुआ। इसमे निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गए।

१ श्री एम० डी० तुली—प्रधान
२. श्री सुभाष चन्द्र सिंह—मन्त्री
३. प्रताप चन्द्र—कोषाध्यक्ष









आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 9-10-5-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५९ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

आर्य वीर दल, दिल्ली प्रदेश का ग्रीष्मकालीन चरित्र-निर्माण प्रशिक्षण शिविर

दिनाक : ३१ मई शुक्रवार से ९ जून १९९१ रविवार तक

स्थान . महाशय चुन्नीलाल बाल मन्दिर हायर सैकन्ड्री स्कूल, एल० ब्लाक हरिनगर, दिल्ली-६४

शिविर सरक्षक : भारत के प्रसिद्ध व्यामाचार्य डा० देवव्रत आचार्य

शिविराध्यक्ष . श्री बाल दिवाकर हस—प्रधान सचालक, सार्वदेशिक आर्य वीर दल ।

बन्धुवर, हमे गर्व है कि भारत माता की कोख सदा वीरो को जन्म देती रही है। ऐसे वीरो को उत्पन्न करने के साथ-साथ उनके निर्माण मे उत्तम सस्कारो की आवश्यकता होती है। इसके लिए आज की विषम परिस्थितियो में 'आर्य वीर दल' द्वारा देश मे श्रीराम जैसे आदर्श, श्रीकृष्ण जैसे नीतिज्ञ, महाराणा प्रताप व शिवाजी जैसे देश भक्त भगतसिंह व रामप्रसाद बिस्मल जैसे शहीद बाल हकीकतराय जैसे बलिदानी, स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे ईश्वरभक्त और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे सस्कृति रक्षको को उत्पन्न करने के लिए कुछ कर गुजरने की तमन्ना रखने वाले आर्यजनो की ओर से इस शिविर का आयोजन किया गया है। आपसे सानुरोध निवेदन है कि आप इस पुनीत यज्ञ मे भाग लेकर कार्यक्रम को सफल बनायें।

शिविर के मुख्य आकर्षण योगासन, दण्ड बैठक, लाठी, जूडो-कराटे, कुगफू, तलवार, छुरी, स्तूप आदि का प्रयोग युवकों को शारीरिक दृष्टि से पुष्ट करने के होगे।

उद्घाटन समारोह

शनिवार १ जून १९९१ . प्रात: ८ बजे से ९ बजे तक यज्ञ।

अध्यक्षता : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ।

ध्वजारोहण : श्री बाल दिवाकर हंस—प्रधान सचालक सार्वदेशिक आर्य वीर दल ।

उद्घाटन भाषण : श्री श्रीधर जी ।

मुख्य अतिथि : आर्य वीर महाशय राजीव जी—डायरेक्टर, एम० डी० एच० प्राइवेट लिमिटेड।

वक्ता : श्री सूर्यदेव मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली व श्री खुशीराम ।

समापन समारोह

रविवार ९ जून १९९१ . मध्याह्न ११ बजे से आरम्भ होगा ।

अध्यक्षता स्वामी आनन्द बोध सरस्वती (प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा) ।

मुख्य अतिथि : राष्ट्र-भक्त श्री सुरेन्द्र आर्य (डायरेक्टर, जय भारत मारुती लिमिटेड)।

उद्बोधन . डा० वाचस्पति उपाध्याय ।

वक्ता . डा० धर्मपाल जी (प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली)

श्री आर्यवीर भल्ला (प्रधानाचार्य, डी. ए. वी. स्कूल सेक्टर १४, फरीदाबाद)

महाशय धर्मपाल जी (प्रधान, आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली)

आचार्य हरिदेव जी (दयानन्द वेद विद्यालय, गुरुकुल, गौतम नगर)

शिविर मे सम्मलित होने वाले युवक इस पते पर सम्पर्क करे—

रणजीतसिंह राणा कार्यालय सचिव,
आर्य समाज दीवान हाल। फोन : २३७४४०

सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार

की औषधियों का सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४८७

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५९)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २८ | रविवार, १९ मई, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में आर्यसमाज को आगे आना चाहिए

—सूर्यदेव

आर्य समाज मन्दिर शकरपुर दिल्ली के वार्षिकोत्सव पर बोलते हुए आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री सूर्यदेव ने कहा कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम में आर्य समाज ने विशिष्ट योगदान दिया था। यह बात आर्य समाज नहीं कहता यह बात सीतारमि पट्टाभि रमैया ने कांग्रेस के इतिहास मे लिखी है। यही बात बाबू जगजीवन राम ने कांग्रेस की स्थापना शताब्दी पर कही थी। आज भी राष्ट्र की समस्याओं के समाधान के लिए आर्यसमाज को आगे आना चाहिए। यदि आप ध्यान से देखें तो आपको पता लगेगा कि राष्ट्रीय आन्दोलनों के पीछे सदा ही आर्य-समाज का हाथ रहा है। हैदराबाद में हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार पर जब रोक लगी थी तो कौन सामने आया था—आर्यसमाज। सिखों के गुरु का बाग आन्दोलन को नेतृत्व देने के लिए कौन आगे आया था—आर्यसमाज। मीनाक्षी पुरम् मे धर्मान्तरण की समस्या उत्पन्न हुई तो—आर्यसमाज सामने आया। पोप पाल द्वितीय के आगमन पर काला हाण्डी क्षेत्र में ईसाई धर्म परिवर्तन की समस्या आई तो आर्य समाज सामने आया। उस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामगोपाल शालवाले (स्वामी आनन्द बोध सरस्वती) और दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, हरियाणा प्रतिनिधि सभा के प्रधान प्रो० शेरसिंह तुरन्त उच्चाधिकारियों से मिले और ईसाई धर्मान्तरण को रोका। इस अवसर पर आर्यसमाज ने २५००० (ढाई हजार) ईसाईयों को हिन्दू धर्म में दीक्षित किया। पंजाब के विस्थापित भाई आए, आर्यसमाज ने सहायता की। कश्मीर के विस्थापित भाई आए आर्यसमाज ने सहायता की। सऊदी अरेबिया मे रामकुमार भारद्वाज को फांसी की सजा सुनाई गई थी। उसका अपराध यह था कि उसके थैले में सत्यार्थ प्रकाश और गीता मिले थे। रामकुमार भारद्वाज ने किसी प्रकार से आर्यसमाज को सूचना भेजी और आप देखिए रामकुमार भारद्वाज तीन दिन के अन्दर दिल्ली में था।

इस अवसर पर आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल मुख्य अतिथि थे। उन्होंने कहा कि सबसे बड़ी बात है—मानवता। मानवता ही सब समस्याओं का निदान है। मनुष्य स्वार्थी न बने वह सबकी सोचे। बस यही मानव धर्म है। और यही वैदिक धर्म है। आर्य केन्द्रीय सभा के महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने कहा कि राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान आर्यसमाज के मार्ग पर चल कर ही प्राप्त किया जा सकता है। इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वेद प्रचार अधिष्ठाता स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती ने ध्वजारोहण किया। श्री विशम्भर नाथ भाटिया, श्री रतनसिंह शाण्डिल्य, श्री चमन लाल ग्रोवर, श्री प्रसन्न कुमार श्री आदि ने अपने विचार व्यक्त किए। पं० इन्द्रदेव जी ने चतुर्वेद शतक यज्ञ कराया। तथा पं० सत्यदेव स्नातक ने रामायण कथा के माध्यम से वेद-प्रचार मे योगदान किया।

होम्योपैथिक डिस्पेन्सरी का उद्घाटन

आर्यसमाज नारायणा विहार मे होम्योपैथिक डिस्पेन्सरी का उद्घाटन आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान श्री महाशय धर्मपाल ने किया। उन्होंने डिस्पेंसरी के सचालन हेतु १०००/-रु० प्रति मास आर्थिक सहायता भी देने की घोषणा की। इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री सूर्यदेव और केन्द्रीय सभा दिल्ली के महामन्त्री डा० शिव कुमार शास्त्री ने भी आर्य जनता को सम्बोधित किया। आर्य समाज नारायण विहार के सभी अधिकारियो एवं कार्यकर्ताओ में विशेष उत्साह था। आर्य समाज के अधिकारियों ने जनसेवा के कई अन्य कार्यक्रम हाथ में लिए हुए हैं।

आर्यसमाज किरण गार्डन

आर्यसमाज किरण गार्डन के प्रधान चौ० अमरजीत सिंह के निवास स्थान पर प० अशोक कुमार विद्यालंकार के पौरोहित्य मे यज्ञ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आर्य भाईयो के लिए प्रीति-भोज की भी व्यवस्था की गई। जिसमे दूर-दूर से भाईयों-बहनो ने पधार कर भाग लिया।

चौ० अमरजीत सिंह भटियाला गाव के ग्राम सभा के भी प्रधान हैं। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अवसर पर भी आर्यसमाज को विशेष सहयोग दिया था। तथा भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग देने का आश्वासन दिया है। इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री सूर्यदेव ने परिवार की सुख समृद्धि की कामना की और अपना आशीर्वाद प्रदान किया।

कृपया ध्यान दें!

हमारी आर्य सन्देश के सभी पाठको/ग्राहकों से प्रार्थना है कि वह अपनी सदस्यता शुल्क शीघ्र से शीघ्र सभा कार्यालय मे भेजने का कष्ट करें। पाठको को पत्र द्वारा सूचित किया जा चुका है। कई पाठको को गत तीन-तीन वर्षों का शुल्क प्राप्त नही हुआ है। अतः हमें शीघ्र शुल्क भेज कर हमारा उत्साह बढ़ाए। नैतिकता के नाते पाठकों को स्वयं ही बिना लिखे प्रति वर्ष शुल्क समय पर भेज देना चाहिए। आपकी सुविधा के लिए शुल्क की प्रत्येक रसीद पर ही आपकी शुल्क की समाप्ति तिथि (कब से कब तक) लिख दी जाती है।

नए ग्राहक भी निम्न पते पर शुल्क भेज कर नियमित ग्राहक बन सकते हैं। आशा है हमें पूर्ण सहयोग देंगे। धन्यवाद।

पता:—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा
१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

जल-वायु प्रदूषण से भी बहुत अधिक बुरा सांस्कृतिक प्रदूषण है। इसे दूर करने के लिए हिन्दी का सर्वत्र प्रयोग बढ़ाएं।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

विजय हमारा जीवन हो

—राजेश प्रताप सिंह—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनजयो हिरण्यजित् ॥ (अथर्व० ६।५०।८)

अर्थात् मेरे दायें हाथ मे कर्म और बायें हाथ मे विजय है। मैं अपने साहस और बल से, परिश्रम और शक्ति से गौओ, इन्द्रियो या भूमि पर विजय प्राप्त कर लूगा। मैं घोडो को जीत लूगा। मैं ससार की सम्पत्तियों पर अपना अधिकार जमा लूगा और मैं विश्व की खानो में विद्यमान सोने और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं पर अधिकार कर लूंगा।

एक बार एक शेर का बच्चा जंगल में अकेला खेल रहा था। उसकी मां सो रही थी। बच्चा इधर-उधर भटक गया। वह रोने लगा। सामने से आती हुई भेड ने उसे देखा। उसके बच्चे मर चुके थे। उसके हृदय में ममता उमड़ी। भेड़ ने उसको पाला पोसा। वह भेड से भी बड़ा हो गया। एक दिन अचानक उस जगल मे एक बडा शेर आया, सामने की पहाडी पर खड़े होकर गरजा। उसकी आवाज ने उसके स्वभाव के उस वीरत्व को झझोड कर जगा दिया और उसने अनुभव किया कि उसमे एक ऐसी महान् शक्ति छिपी है जिसका आज तक उसे पता न था। वह एक ही छलाग में शेर के पास जा पहुंचा। शेर की दहाड ने उसके सोये वीरत्व को जगा दिया। वह भेड का जीवन छोड़कर सिंह बन गया। अब उसे चाहिए था—सिंह का जीवन, स्वच्छन्द विचरण और वन का विशाल राज्य।

ठीक इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य मे उसका पुरुषत्व छिपा रहता है। ससार मे विजय प्राप्त करने के लिए अपने भीतर के महान व्यक्तित्त्व को जाग्रित कीजिए, जीवन की योजना बनाइये और विजय की ओर बढिए। अवश्य विजय होगी।

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द का जीवन विपत्तियो एव अर्थाभाव की एक जीवित जागृत कहानी है। साहित्य के इस महान् पुजारी को धन की कठिनाइयो मे पडकर अपना नया कोट तक बेचना पड़ा। चार-चार मील पान्डेपुर तक पैदल आना-जाना पडा। परन्तु उस कर्मवीर ने हिम्मत न हारी, सघर्ष करता हुआ अपनी साधना मे लगा रहा। आज उसकी रचनाए विश्व साहित्य के शिखर पर है। उनका मन्त्र था, कार्य करो, आगे बढो और विजय प्राप्त करो।

जीवन में पराजय उनको मिलती है, जो निराश हो जाते है, और अपनी शक्ति की उपेक्षा करते हैं। इसीलिए कुछ विद्वानो ने हतोत्साह होने वाले को मानवजाति का सबसे बडा शत्रु कहा है। जब आप जीवन मे विजय प्राप्त करने के लिए बढ़ रहे हों तो दृढ सकल्प कीजिए कि उसे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर पूरा करेगे।

'शिकागो ग्रैंड ट्रक रेलवे' के प्लेटफार्म पर एक लडका सवेरे से शाम तक अपनी जीविका के लिए अखबार बेचा करता था। वह परिश्रमी, उत्साही और लगनशील था। उसने वर्णमाला सीखी। अखबार बेचने के बाद पढने लगा। पुस्तको मे उसकी अभिरुचि बढी और एक रसायनशाला मे जाकर उसने एक अविष्कार कर डाला। एक निर्जीव पदार्थ में आवाज भरकर उसे फिर से निकाल लेना ही उसका अविष्कार है। विज्ञान के ससार मे विजयी होने वालो मे उसका आविष्कार है। विज्ञान के ससार मे विजयी होने वालो मे उसका नाम अमर है—थामस अल्वा एडिसन।

सयुक्तराष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति अब्राहिम लिकन निर्धन लकड़हारे का बेटा था। निर्धनता के बीच भी इस लकडहारे के बेटे ने अपनी आन्तरिक शक्ति का विकास किया। दिन में मजदूरी और रात मे अध्ययन। उसने स्वय शिक्षा प्राप्त की, दासों को शिक्षित किया और अन्त मे दास प्रथा को समूल नष्ट कर दिया। इतना ही नही अपने जीवन मे बोझा ढोने वाला, मेज कुर्सियां साफ करने वाला, दासो के साथ भूखा रहने वाला, पेडो की छाया मे अध्ययन करने वाला यही व्यक्ति सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति अब्राहिम लिकन हुआ।

वेद मे एक मन्त्र आया है :—

'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये।'

अर्थात् मैं इन्द्र हू और मैं कभी पराजित नही हो सकता। आप अवश्य जीतेंगे, अवश्य विजयी बनेंगे। सफलता और असफलता मनुष्य के हाथ की वस्तु है। इससे न भाग्य का सम्बन्ध है, न ईश्वर का सम्बन्ध है। असफलता तो कर्म-हीनो के हाथ लगती है, कर्मवीरों के चरणों को सफलता चूमती है। योगी कवि ने कहा है :—

सन्मुख था तूफानी सागर, कूद गया मैं दृढ़ निश्चय कर,
मैं असफल हो लौटूं इससे अच्छा लहरो बीच समाऊ।

अथर्व वेद के ८।८।२४ के मन्त्र मे कहा गया है :—

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा।
इमे जयन्तु परामी जयन्ता स्वाहेभ्यो दुराहामीभ्यः ॥

अर्थात् हे वीर इधर जय प्राप्त कर। उधर जय प्राप्त कर, कमाल की विजय हासिल कर। जीत, जीत हर क्षेत्र में जीत, शाबाश ! विजयी बन, संसार मे तेरी कीर्ति का गान हो और तेरा यश फैले ! हमारे योद्धा विजयी हो ! शत्रु पराजित हों ! इन योद्धाओ को कीर्ति प्राप्त हो ! शत्रुओ का अपयश हो !

विजय हमारा चरम लक्ष्य हो !
विजय हमारा जीवन हो !
जिस पथ पर हम बढते जाये,
अर्पित अपना तन मन हो।

ग्रा० – हाटा, पो०—नदौली (देवरिया)

अनवरत चलता रहे

—भगवान देव "चैतन्य"

ओ३म् त्वामिद्धि त्वायवो अनुनोनुवतश्चरान।
सखाय इन्द्र कारव ॥ (ऋ० ८-९२-३३)

सखाओ के परम सखा मेरे प्रभु देव !
कण-कण सचालक अग-अग सवाहक देव !!
हम मे अपने से गुणों का सचार कर दो,
साधना व कर्मठता के अगार भर दो।

दिन रात आपका ही स्तुति गान करें,
जीवन मे सदा ही पवित्र भक्ति पान करें,
सखा कहलाने का गौरव प्राप्त करे
आप जैसा ही यश सौरभ, प्राप्त करें,

वाणी से ही नही कर्म से स्तोता बनें,
आत्मोपदेश सुनने वाले श्रोता बनें।
हमारी भक्ति कर्मशील सक्रिय रहे,
ताकि आपको सदा सर्वदा प्रिय रहे।

आपके भक्त सखाओ में प्रेम बना रहे,
परस्पर कल्याणभाव से मन सना रहे।
गुणभाव गाते संसार मे विचरते रहे,
पवित्र से पवित्रतम बन सब निखरते रहे।

सदा मिलकर तेरी ही परिचर्या करें,
नाम स्मरण से सुवासित दिनचर्या करे।
क्रियामय भजन अनवरत चलता रहे—
भक्ति का यह प्रवाह निरन्तर बहता रहे :

१९०/एसके सुन्दरनगर १७४४०२ (हि० प्र०)

सारस्वत साधना के प्रतीक

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के सर्वोच्च पद, परिद्रष्टा पद पर सुशोभित हैं। आपका जन्म सम्वत् १९५८ में हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती जी महाराज की गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति से प्रभावित होकर आपके माता पिता ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय मे अध्ययन के लिए भेज दिया। उस समय गुरुकुल कांगडी गगा पार कांगड़ी ग्राम के निकट गगा की दो विशाल धाराओं के बीच स्थिर था। उस प्राकृतिक वातावरण मे आपने ब्रह्मचर्य आश्रम की प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार तपस्या और सयम का जीवन व्यतीत करते हुए चौदह वर्षीय दीर्घ साधना के पश्चात् विद्यालकार उपाधि प्राप्त की। इस अध्ययन काल में संस्कृत व्याकरण साहित्य, दर्शन शास्त्र और वैदिक साहित्य का अध्ययन करने के साथ-साथ अग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य दर्शन का भी अध्ययन किया। आप मेधावी छात्र थे। आपने विश्वविद्यालय की सभी परिक्षाओ में प्रथम स्थान प्राप्त किया। विद्यालकार परीक्षा मे आपने चार स्वर्ण पदक प्राप्त किए। सस्कृत वाङ्मय के वैदिक साहित्य का विशेष एव अनुसंधान परक अध्ययन करने के लिए आपको 'वेद वाचस्पति' उपाधि से मंडित किया गया। सन् १९७६ मे आपको गुरुकुल कांगड़ी की सर्वोच्च उपाधि वेद मार्तण्ड से सम्मानित किया गया।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से सुशिक्षित एव दीक्षित होकर आप १९२८ दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर में मे चले गए। आपने वहा पर उपाध्याय के रूप में बाद मे प्रधानाचार्य के रूप मे १९४३ तक कार्य किया। १९४३ में आपको गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का प्रधानाचार्य बनाया गया। आपकी शिक्षा परम्परा दिक्-दिगन्त तक विस्तीर्ण है। आपके शिष्यो ने राष्ट्रीय जीवन-धारा के अनेक क्षेत्रों में प्रशंसनीय एवं सराहनीय कार्य किया। गुरुकुल कागड़ी को भारत सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो जाने पर आपने नए परिवेश में कुलपति (Vice Chanclor) के रूप में भी चार वर्ष तक कार्य किया। सन् ७१ में आपने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की २८ वर्ष की दीर्घकालीन सेवा से अवकाश ग्रहण किया।

आपने भारतीय सस्कृति की विचारधारा और संस्कृत वाङ्मय के वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार में विशेष सहयोग दिया। आपने समय समय पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन भी किया—वरुण की नौका (२ भाग), वेदोद्यान के चुने हुए फूल, वेद का राष्ट्रीय गीत, मेरा धर्म, समाज का कायाकल्प आदि।

आचार्य जी ने एक महान ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम है "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त"। अनेक वर्षों के अध्ययन, मनन, चिन्तन के पश्चात् उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। आचार्य जी ने वेद में सूत्र रूप मे वर्णित राजनीति ज्ञान को इस ग्रन्थ मे पल्लवित किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे राज्य संस्था का प्रादुर्भाव और विकास, राजा का चुनाव, राजा का राज्य-काल, राजा राज्य-च्युति, चुनाव पद्धति बैलट पेपर, छोटे मांडलिक राज्यों से लेकर चक्रवर्ती राज्य विश्व राज्य का निर्माण, राज्यों के ससद मन्त्रीमण्डल, प्रजातन्त्र का स्वरूप, न्याय-व्यवस्था, उदार राजनीति, स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार, राष्ट्र रक्षा आदि विषयों पर वेदों के आधार पर सम्यक् अनुसन्धानात्मक विवेचन किया है। ग्रन्थ के दूसरे भाग मे राष्ट्र को समृद्धशाली बनाने के उपायों पर विचार किया है। तीसरे भाग में राष्ट्र की प्रतिरक्षा के सम्बन्ध मे विचार किया है।

यह ग्रन्थ लिख कर आचार्य जी ने वेदों के आधार पर मौलिक, सर्वाङ्गपूर्ण स्वतन्त्र राजनीति शास्त्र की रचना की है।

आचार्य जी का एक और महान् ग्रन्थ "वेदों की वैज्ञानिकता" प्रकाशित हो चुका है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार की प्रह्लाद पत्रिका का आचार्य प्रियव्रत अभिनन्दन अंक प्रकाशित करने के लिए डा० विष्णुदत्त राकेश और उनके सहयोगियो का हार्दिक अभिनन्दन।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(१२ मई, ९१ के अंक से आगे)

१९५७ की जुलाई में मैं पुन: जोधपुर आ गया। अब मैं राजस्थान लोक सेवा आयोग से चयनित होकर न्यू गवर्नमेंट हायर सेकेण्डरी स्कूल में हिन्दी का वरिष्ठ अध्यापक बना। इस पद पर मैं लगभग ४ वर्ष रहा और १९६१ में मैंने स्थानीय श्री महाराज कुमार कालेज में हिन्दी के प्रवक्ता पद पर कार्य आरम्भ किया।

जब मैं छोटी खाटू से लौट कर आया तो आर्य समाज के वार्षिक निर्वाचन के समय डा० खेत लखानी तथा अन्यो ने मुझ से कहा कि यदि मेरी नियुक्ति जोधपुर मे ही होती है तो मुझे पुन: समाज का मन्त्री पद सम्भालना ही होगा। मैं पुन: मन्त्री बनने के लिए अधिक उत्सुक नही था। उधर श्रीमती प्रेमवती (जो माता जी के नाम से जानी जाती थी) की इच्छा अपने बडे पुत्र श्री सुबोध को मन्त्री बनाने की थी। उन्होने इसके लिए वातावरण भी बनाया था। अन्तत: श्री सुबोध मन्त्री बने और वे मेरे सहयोग के आकांक्षी भी रहे। किन्तु उनमें चांचल्य वृत्ति अधिक थी और वे आर्यसमाज के सिद्धान्तो तथा मर्यादाओ से भी अधिक परिचित नही थे।

प्रधान पद पर डा० गोविन्दराम जी थे। सर्व श्री मानमल जी, घीसूलाल जी, छोटमल जी, विश्वम्भरदयाल जी, माईलाल जी आदि का सहयोग मुझे प्राप्त था। जबकि कतिपय अन्य श्री सुबोध को समर्थन दे रहे थे। समाज के आगामी चुनाव मे हमने भी जोर आजमाइश की। हमारे उम्मीदवार श्री मानमल जी थे। यदि मुझे यह चुनाव लड़ना पडता तो मैं निश्चय ही विजयी होता किन्तु कतिपय कारणों से हमने भी मानमल जी को ही मन्त्री पद के लिए खडा कर दिया। यद्यपि वे चुने नही गये और मैंने अनुभव किया कि समाजो में चुनाव के समय जोड़ तोड़ की जो राजनीति चलती है, वह हर एक के बूते की नहीं होती। यही अनुभव मुझे आगे आर्यसमाज रातानाड़ा के चुनाव मे भी हुआ जब प्रधान पद के हमारे उम्मीदवार श्री रावतसिंह जी, श्री महावीर सिंह गहलोत के समक्ष पराजित हो गये किन्तु मन्त्री पद पर मैं अपने से बुजुर्ग श्री सोहनलाल जी को पराजित कर विजयी हुआ।

सरदारपुरा आर्यसमाज का वातावरण नगर आर्य समाज के वातावरण से भिन्न था। नगर समाज मे हमारा युवक मण्डल प्रभावी था, जो आर्यसमाज की सभी गतिविधियो का प्राण था। सरदारपुरा मे हमे जो साथी मिले वे आयु मे मुझ से बड़े थे। अपने सांसारिक दायित्वो से भी वे इतने दबे हुए थे कि हमारी युवा मण्डली की भांति घण्टो तक समाज मन्दिर में बैठ कर गपशप करने तथा जमीन आसमान के कुलाबे मिलाने की फुर्सत उन्हे नही थी। सरदारपुरा समाज मे भी वाचनालय था और मैं तथा मेरे साथी प्राय रात को वाचनालय की मेज पर इकट्ठे होते थे, किन्तु इस गोष्ठी में वैसी नियमितता नही थी, जिसका अनुभव मैंने नगर आर्य समाज मे किया था, जहां बिना नागा हम लोग निरन्तर कई वर्षों तक रात्रि को समाज मे आते और पारस्परिक विचार विमर्श करते। मेरे नगर आर्य समाज को छोड़ते समय वहां की आर्यकुमार सभा भी बहुत कुछ शिथिल हो गई थी, किन्तु श्री गणेशीलाल के कारण नये-नये विद्यार्थी कुमार सभा मे आते ही रहते। सरदारपुरा में आर्यकुमार का कोई सगठन ही नही था, हां आर्य वीरदल और महिला आर्य समाज की प्रवृत्तियां यहां विशेष रूप से दिखाई दीं।

हमारे नगर मे आर्य समाजियों का एक अभिजात्य वर्ग भी था। इन्होने अपना अलग पारिवारिक सत्संग चला रखा था। इसमें जोधपुर के कमिश्नर श्री दौलतसिंह जी, पजाब नेशनल बैंक के मैनेजर श्री एम्. के. एल. बेदी, सरकारी प्रेस के अधीक्षक स्व० धर्मेन्द्र शिवहरे, व्यवसायी स्व० श्री आनन्दसिंह कछवाहा तथा राजस्थान उच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ति डी. एस. दूबे आदि मुख्य थे।

(क्रमश:)

न रहे बांस न बजे बांसुरी

—डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—

भारत का संविधान बनाने वाले सब राजनीति के पंडित थे। उनके सामने यूरोप का इतिहास था जहां सामाजिक-विकास होते-होते मनुष्य 'डेमोक्रेसी' तक पहुंचा था। वे यहीं तक पहुंच पाये थे कि प्रत्येक मानव को वे सब अधिकार प्राप्त होने चाहिये जो देश के किसी भी मानव को प्राप्त हैं। मनुष्य मनुष्य में जो भेद है कोई ऊंचा कोई नीचा—इस भेद को मिटाने का उनके पास एक ही तरीका था—और वह तरीका सिर्फ यह था कि विधान में लिख दें कि सब मनुष्य एक-समान हैं, कोई ऊंचा नहीं, कोई नीचा नहीं। परन्तु सामाजिक रचना संविधान बना देने या उसे लिख देने से नहीं बनती। सामाजिक-रचना परिश्रम पूर्वक बनाने से बनती है, बिगाड़ने से बिगड़ती है। विधान में तो १९४७ में लिख दिया गया था कि संविधान की दृष्टि में सब एक-समान हैं, परन्तु वह कानून की पुस्तकों में लिखा ही रहा, क्रियात्मक रूप में मनुष्य मनुष्य में भेद बना ही रहा। यूरोप में गोरे-कालों के भेद को कोई न मिटा सका। भारत में छूत-अछूत के भेद को कोई न मिटा सका। यह भेद जन्म के आधार पर था जिसे अन्य देशों में 'रेस' के नाम से और भारत में 'जाति' के नाम से पुकारा जाता है। अन्य देशों का काले-गोरों का भेद जन्म के आधार पर टिका है। भारत में ऊंच-नीच जाति का भेद भी जन्म के आधार पर टिका है। इस भेद-भाव को इन-तरीकों से मिटाया जा सकता है—यह भेद-भाव राजनैतिक-क्रांति से मिट सकता है, या सामाजिक क्रांति से मिट सकता है। दोनों क्रांतियों से हल सम्भव नहीं, आर्यसमाज के पास ही इस समस्या का हल है। सामाजिक विषमता को मिटाने के लिये तीन हल हैं जो निम्न प्रकार कहे जा सकते हैं :

(क) सामाजिक क्रांति—सामाजिक-क्रांति का अर्थ है कि समाज के नेता अपने व्याख्यानों, उपदेशों या क्रियात्मक-जीवन से ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें जिससे समाज के हर वर्ग के लोग एक-दूसरे को भाई के समान समझने लगें और सब में समान-भाव से व्यवहार करें। इस प्रकार की सामाजिक-क्रांति में कुछ बातों में भेद-भाव के रहते हुए भी ग्लानि का भाव या अधिकार-हीनता का भाव नहीं रहता। उदाहरणार्थ, १९४७ से पूर्व हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई की तरह रहते थे यद्यपि उनमें अनेक बातों में भेद-भाव था। ऐसी क्रांति में उबाल तभी आता है जब कोई स्वार्थी वर्ग अधिकार-हीनों को भड़काने के लिये उठ खड़ा हो। अगर कोई न भड़काये तो समाज के सब लोग शान्ति से एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। मनुष्य का स्वभाव शान्तिपूर्वक जीवन बिताना है। फिर भी सामाजिक क्रांति से मानव-मानव में अन्तर्निहित भेद-भाव के उबल पड़ने का खतरा बना ही रहता है जैसा भारत-विभाजन के समय स्पष्ट हुआ।

(ख) राजनैतिक क्रांति—राजनैतिक-क्रांति का अर्थ है कि राज्य ऐसे कानून बना दे जिनके द्वारा ऊंच-नीच का भेद-भाव ही न रहे। यह रास्ता 'मंडल कमीशन' का है। इस रास्ते को हमारे भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने अपनाया था। इस रास्ते का जो परिणाम हो सकता था वह हमारे सामने रैलियों तथा उपद्रवों के रूप में है। कानून के दो काम हो सकते हैं। या तो जो लोग ऊंच-नीच को बढ़ावा देते हैं उन्हें 'सजा' दे ताकि मानव मानव में भेद-भाव न रहे, या जिन लोगों को समाज निचले दर्जे में रखता है उन्हें विशेष 'रियायतें' देकर उन्हें उच्च-जाति के समकक्ष बना दे। इसी को 'रिजर्वेशन' या 'संरक्षण' की नीति कहते हैं।

'संरक्षण' की नीति का क्या परिणाम है? 'संरक्षण' का अर्थ है–रियायत', 'रियायत' का अर्थ है—जो जिस काम के योग्य नहीं है उसे उस काम के लिये योग्य समझकर रियायत के तौर पर वह काम दे देना।

जिस रास्ते पर चलने से रियायत मिले, अयोग्यता के होते हुए भी योग्यता का प्रमाण-पत्र मिले, उस सहज मिलने वाले मार्ग को कौन छोड़ेगा? 'रिजर्वेशन' का परिणाम यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति 'रिजर्वेशन' चाहेगा, अगर दलित या 'भंगी' या 'चमार' कहे जाने वाले व्यक्ति को नौकरी में रियायत मिलेगी तो सभी लोग अपने को 'भंगी' या 'चमार' कहलाना पसन्द करेंगे। जैसे आज उच्च-जाति का होना एक गौरव की बात है, वैसे मंडल-कमीशन के मार्ग पर चलने से अपने को नीच-जाति का कहलाना फैशन हो जायगा, गौरव की बात हो जायगी और यह बात सदा के लिये पक्की हो जायगी। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जन्म की जाति पर रियायत के रास्ते पर चलने से देश का विभाजन बढ़ता चला जायगा। आज अछूत या दलित को रियायत दी जाय, कल जाटों को, किसानों को, अहीरों को—सभी को रियायतें देने का सिलसिला जारी हो जायगा। देखा जाय, तो सभी दलित दलित ही रह जायेंगे, उच्च वर्ग कहलाने वाला कोई नहीं रहेगा। 'उच्च-वर्ग' का अर्थ ही बदल जायगा, इसका अर्थ 'नीच-वर्ग' हो जायगा। देश में ३७४३ दलित कही जाने वाली जन्मजात जातियां हैं। इन सबको रियायतें देकर कौन सम्भाल सकेगा।

तो फिर इस पचड़े से कैसे निबटा जाय? इस धन्धे से निबटने का मार्ग अब कुछ-कुछ 'रिजर्वेशन' वादियों को सूझने भी लगा है। एक तरफ तो वे खम ठोक कर कहते हैं कि आरक्षण की नीति सोलहों आना चल कर रहेगी, दूसरी तरफ इस नीति के विरुद्ध इतना हो-हल्ला, रैलियां और मार-धाड़ देख कर वे पलटने लगे हैं, और कहने लगे हैं कि सैनिक सेवाओं में, शिक्षा के क्षेत्र में, भिन्न-भिन्न राज्यों में यह नीति चलना आवश्यक नहीं है। आवश्यक हो, या न हो, इतना तो स्पष्ट है कि इस नीति से जन्म की जात-पात की जड़ें मजबूत हो जावेंगी और ज्यों-ज्यों दवा करेंगे त्यों त्यों मर्ज बढ़ता जायगा।

हम पहले लिख आये हैं कि जन्म-जात भेद-भाव को मिटाने का इलाज रियायतें या रिजर्वेशन देने से न होगा, इससे सिर्फ जात-पात की जड़ें पक्की होकर पाताल तक पहुंच जायेंगी। इसका इलाज सिर्फ आर्यसमाज के पास है, और किसी के पास नहीं है। आर्यसमाज का कहना है कि सारे झगड़े की जड़ जन्म की जात-पात है। कानून से इसे पक्का करने के स्थान में इसे ही मिटा दो, न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।

(ग) आर्यसमाज का दृष्टिकोण—आर्य समाज का दृष्टिकोण यह है कि न कोई जन्म से ब्राह्मण होता है, न जन्म से शूद्र या दलित होता है। यह एक छोटी-सी, समझदारी की बात है। ऐसा लगता है कि पहले भी कभी इस देश में जन्म से ऊंच-नीच की समस्या उठी थी और उस समय यहां के विद्वान् समाज ने इसका हल करते हुए कहा था—'जन्मना जायते शूद्र, संस्कार द्विज उच्यते'—जन्म से कोई ऊंचा नहीं कोई नीचा नहीं। पैदा तो सब शूद्र ही होते हैं, कर्म से, अपनी योग्यता से कोई ब्राह्मण हो जाता है—'ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः'। उस समय आज की तरह उपद्रव हुए होंगे और विद्वानों ने उस समय जन्म की जात-पात को मिटा दिया होगा। समाज में समय-समय पर इस प्रकार की विसंगतियों का उत्पन्न होना तथा उनका विद्वानों द्वारा समझा-बुझा कर मिटा देना स्वाभाविक है। आज उन्नत देशों में क्या इस प्रकार की समस्याएं नहीं उत्पन्न होतीं? होती हैं मिटती भी हैं। भारत की कठिनाई यह है कि इस देश की वर्तमान स्थिति में यह समस्या राजनीति के साथ जुड़ गई है और क्योंकि इस देश में दलित-वर्ग के लोगों की संख्या बहुत अधिक हो गई है इसलिये चुनाव में उनका वोट लेने के लिये आरक्षण जैसी रिश्वत देकर उनके वोटों को खरीदने की कोशिश होना स्वाभाविक है। यद्यपि यह जरूरी नहीं कि आरक्षण मिल जाने के बाद दलित वर्ग के सब लोग अपना वोट उसी पार्टी के उम्मीदवारों को देंगे जिन्होंने वर्तमान-स्थिति में उनका साथ दिया है।

आर्यसमाज का कहना है कि जात-पात के झगड़े को ही समाप्त कर देना अत्युत्तम है। पहले भी कभी यही हल किया गया था, अब भी इस समस्या का यही हल है, अन्यथा यह समस्या सदा बनी रहेगी। समझदारी की बात भी यह है कि समाज की उन्नति में योग्य व्यक्तियों के हाथ में ही देश की बागडोर होनी चाहिये। 'संरक्षण' द्वारा उच्च-पदों पर आये व्यक्तियों के हाथ में नहीं। ऐसे व्यक्ति किसी भी जात में हो सकते हैं, ब्राह्मणों में भी, शूद्रों में भी। हर हालत में समाज की रचना रियायती लोगों के हाथ में होकर नहीं, योग्यता के आधार पर शिक्षित व्यक्तियों के हाथ में होनी चाहिये। यह आर्यसमाज का दृष्टिकोण है। तभी गीता में कहा है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'।

आर्य समाज साकेत

आर्य समाज साकेत मे २२-४-९१ से २८-४-९१ तक प्रति दिन सायं ७ बजे से ८ बजे तक श्री गुलाब सिंह राघव के भजन हुए और आर्य समाज साकेत के मन्त्री श्री राजेन्द्र पाल के वेद मन्त्रों पर आधारित प्रवचन हुए।

२७ अप्रैल १९९१ को २ बजे से ५ बजे तक स्त्री आर्य समाज का वार्षिक उत्सव हुआ जिसमें दक्षिण दिल्ली की महिलाओं ने अति उत्साह के साथ बड़ी संख्या में भाग लिया।

२८-४-९१ की आर्य समाज साकेत का बारहवा वार्षिकोत्सव तथा दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मण्डल के तत्वावधान मे ११६वा आर्य समाज स्थापना दिवस मनाया गया। इस मे बड़ी संख्या मे दक्षिण दिल्ली की आर्य समाजों तथा निवासियो ने भाग लिया। सभा की अध्यक्षता लाला इन्द्र नारायण जी हाथी दांत वाले ने की, तथा डा० धर्मपाल जी प्रधान दल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा श्री सूर्य देव जी, मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, प० यशपाल सुधांशु, श्री प्रेमचन्द्र श्रीधर, डा० श्रीमती प्रभा कुमार आदि ने सम्बोधित किया। श्री गुलाबसिंह राघव एव श्रीमती चारू शीला के मनोहर और सुन्दर भजन हुए। सभा मे अत्यन्त जोश व उत्साह था। आगामी युग मे आर्यों को उनके कर्तव्यो का बोध कराया गया। सभा का संचालन दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मडल के महामन्त्री श्री रामशरण दास आर्य ने किया।

इस अवसर पर लाला इन्द्र नारायण हाथी दांत वाले ने इगलिश भाषा मे एक पुस्तक वैदिक धर्म का सार (Essence of Vaidic Dharma) का विमोचन किया। पुस्तक के लेखक आर्य समाज साकेत के मन्त्री श्री राजेन्द्र पाल गुप्त हैं तथा आमुख स्वामी आनन्द बोध सरस्वती जी ने लिखा है। शुभ कामनाएं श्री लखीराम कटारिया प्रधान आर्य समाज साकेत ने लिखी है।

समारोह के पश्चात् विशाल संख्या मे नर-नारियो ने सहयोग पूर्वक प्रेम के साथ प्रीति भोज मे भाग लिया।

—लखीराम कटारिया

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार में सार्वदेशिक आर्य वीर दल व्यायाम शिविर

नई दिल्ली, सार्वदेशिक आर्य वीर दल के तत्वावधान में व्यायाम शिक्षक प्रशिक्षण शिविर दिनांक ९ जून से २३ जून १९९१ तक आयोजित किया जा रहा है।

इस शिविर में डा० वेदव्रत जी व्यायामाचार्य उप प्रधान सचालक सार्वदेशिक आर्य वीर दल शिक्षार्थियो को स्वय प्रशिक्षण देंगे। सार्वदेशिक आर्य वीर दल की सार्वभौमिकता और युवा शक्ति के चारित्रिक अभ्युत्थान हेतु प्रधान संचालक श्री बालदिवाकर जी इस शिविरार्थियो को सबोधित करेंगे। इसके अतिरिक्त सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्यपाद स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती तथा अन्यान्य वैदिक विद्वान समय-समय पर शिविरार्थियो को सदेश देंगे। स्मरण रहे इस शिविर मे वही शिविरार्थी भाग ले सकेंगे जिन्होने आर्य वीर दल के दो शिविर इससे पूर्व पूर्ण किए हों।

—हरिसिंह आर्य व्यायाम शिक्षक

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य वीर दल शिक्षक शिविर

आगामी १ जून से ९ जून तक आर्य वीर दल प्रशिक्षण शिविर नेहड़ा (मेरठ) मे लगाया जा रहा है। जिसमे उत्तर प्रदेश के प्रधान शिक्षक श्री समरसिंह जी, रामगोपाल आर्य (सचिव) सा० आर्य वीर दल, समरपाल जी एव धर्मवीर जी आदि व्यायाम शिक्षक प्रशिक्षण देंगे।

शिक्षकों के लिए विशेष सूचना

आर्य वीर दल के सभी शिक्षकों को सूचित किया जाता है कि सार्वदेशिक आर्य वीर दल के प्रमाण पत्र एव अक तालिका कार्यालय पलडी मे छपे रखे है। अत: अलग से कोई भी शिक्षक न छपवाये। ५ रुपये प्रति प्रमाण पत्र के हिसाब से कार्यालय मे जमा करके प्रमाण पत्र प्राप्त कर लें।

कार्यालय सचिव—सार्वदेशिक आर्य वीर दल पलडी २५०६२२ (मेरठ)

महाभारतम्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

पुनर्मुद्रण के लिए फिर प्रैस में

यदि आप इससे पूर्व 'महाभारतम्' नहीं खरीद सके हैं तो इस संस्करण के प्रकाशन से पूर्व ग्राहक बनकर दोहरा लाभ उठायें।

महाभारतम् तीनों खण्डों का मूल्य ६००.००

१. प्रकाशन से पूर्व ३० मई तक पूरा मूल्य भेजने पर ३७५.०० में प्राप्त करें।

२. ३० मई से पूर्व ग्राहक बनने वाले एक सौ ग्राहकों को **स्वामी जगदीश्वरानन्द** द्वारा अनुवादित **विदुर नीति** (पृष्ठ संख्या २८०) **बिलकुल मुफ्त।**

शीघ्रता करें।

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

राजनेता-गंगा गये तो गंगादास अजमेर गये तो मुल्लादास

या तो किसी सभा या पचायत में बैठो मत, बैठो तो वहां सत्य के विरुद्ध मत बोलो और न सत्य का हनन होने दो। दुर्योधन ने अपने भाईयों पर अत्याचार किया। उन्होने पांच गांव मांगे मगर दुर्योधन ने सुई के बराबर जमीन देने से भी इन्कार कर दिया, भगवान कृष्ण ने पांडवों का दूत बन कर दुर्योधन को समझाया, धर्म पर चलने की सलाह दी, मगर उसने कृष्ण जैसे राजनीतिज्ञ धर्मात्मा वीर पुरुष का निरादर किया तो योगीराज कृष्ण ने पांडवों का पक्ष लिया और दुर्योधन का विरोध

जो सत्य है निडर होकर कहो, डरने वाला कायर है।

इसे विद्वान आत्म हत्या कहते हैं ॥

किया, आज कल के राजनेता गंगा पर गए गंगादास और अजमेर गये तो मुल्ला दास और नागालैण्ड गये तो पोप महाराज, इस प्रकार धर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं। राष्ट्र को क्या से क्या बना दिया ? हिन्दी राष्ट्र भाषा है, मगर हिन्दी से घृणा. गऊ माता है, मगर माता का कत्ल हो रहा है। काश्मीर हमारा है, मगर वहां तिरंगा नही लहरा सकते, कोई बाहर का नागरिक वहाँ बस नही सकता। पजाब हमारा है, मगर दिन दहाड़े उग्रवादी हत्या कर रहे है। इनके पास कोई हल नही। अयोध्या हमारी है, मगर वहां राम मन्दिर नही बन सकता। हिन्दुस्तान हमारा है, मगर हिन्दू कहने मे शर्म आती है। ये राजनेता ऐसा ही करते रहे तो देश की क्या दुर्दशा होगी ? एक दिन इस देश का नौजवान अपने हाथ से इस बगीचे मे आग लगा देगा। ठीक ही कहा है—

वो चमन खाक मे मिल जाया करते हैं,

जहा बागवां की पाक नजर नही होती।

—कार्यालय सचिव, आर्य वीर दल आर्य समाज दीवान हाल, दिल्ली-६,

आर्यसमाजों के अधिकारियों से विनम्र अनुरोध

महोदय, आप चाहते हैं कि आर्यसमाज मे युवा शक्ति आये और आर्यसमाज का भविष्य उज्जवल हो तो दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का समस्त आर्यसमाजो के अधिकारियो से अनुरोध है कि वे अपनी अपनी आर्यसमाज से कम से कम दो युवक, आर्य वीर दल दिल्ली प्रदेश द्वारा ३१ मई से ९ जून १९९१ तक महाशय चून्नीलाल बाल मंदिर हायर सेकेण्डरी स्कूल, एल-ब्लाक, हरि नगर, नई दिल्ली-६४ मे आयोजित प्रशिक्षण शिविर में अवश्य भेजें। आर्य वीर दल के शिविर मे युवको को भेजने से निश्चय ही युवक संस्कारी, चरित्रवान बनेगे और आर्यसमाज के प्रचार प्रसार मे आगे आयेंगे। प्रत्येक आर्यसमाज कम से कम २५१/ रुपए की आर्थिक सहयोग राशि शिविर निमित्त नकद/मनिआर्डर/बैंक ड्राफ्ट/क्रास चैक द्वारा आर्य वीर दल दिल्ली अथवा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम का सभा कार्यालय १५-हनुमान रोड, नई दिल्ली के पते पर भेजें। सम्पन्न आर्यसमाजें उपरोक्त राशि से अधिक भी अपनी सामर्थ्य अनुसार भेजें। इस प्रशिक्षण शिविर में २५० आर्य वीरो को प्रशिक्षण दिया जायेगा तथा निःशुल्क आवास, भोजन, पारितोषिक देने की समुचित व्यवस्था की गयी है तथा समापन समारोह (अन्तिम दिन) सभी आर्य बहन भाईयो के लिए ऋषि लगर की व्यवस्था भी की गयी है। इसके लिए आप अपनी ओर से/अपनी आर्यसमाज/सस्था की ओर से खाद्य सामग्री, दूध, आटा, दाल, चावल आदि भी भेज सकते हैं। आपकी सूचना आने पर सामान आपके यहां से मगवाया भी जा सकता है।

आपका तन, मन, धन से सहयोग सादर अपेक्षित है। धन्यवाद।

डा० धर्मपाल प्रधान	निवेदक :	सूर्यदेव महामन्त्री

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली—११०००१

स्मृति यज्ञ

श्री रवीन्द्र आर्य और श्री मनीष आर्य ने माता शान्ति देवी आर्या की स्मृति में अपने निवास स्थान पर स्मृति यज्ञ कराया। इस अवसर पर ब० राजसिंह आर्य, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, आर्य समाज के प्रधान श्री ओमदत्त भारद्वाज तथा सोनीपत से आए हुए आर्य भाई-बहनों ने माता जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

माता जी एक निष्ठावान आर्यसमाजी थीं। उनका तथा उनके परिवार का जीवन वैदिक सिद्धान्त से ओत-प्रोत है। वे लम्बे समय तक स्त्री आर्य समाज शालीमार बाग की प्रधाना भी रहीं। उनको त्याग और तपस्या का यह फल है कि यहां पर विशाल भवन बना हुआ है तथा एक विशाल यज्ञ-शाला निर्माणाधीन है। यह प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि उनके बेटे और बेटिया भी रात दिन आर्यसमाज के कार्य में सलग्न हैं।

चक्षु-यज्ञ

आत्मशुद्धि आश्रम बहादुरगढ़ में निःशुल्क नेत्र चिकित्सा व्यवस्था

आप सभी को यह जान कर हर्ष होगा कि आपके प्रिय आत्मशुद्धि आश्रम मे वेणु नेत्र सस्थान, नई दिल्ली के प्रसिद्ध नेत्र विशेषज्ञों द्वारा प्रत्येक शनिवार को प्रातः १० बजे आंखो के हर प्रकार के रोगों की मुफ्त जांच-पड़ताल, आप्रेशन एवं ऐनकों के नम्बर देने की व्यवस्था की गई है। अतः नेत्र रोगी प्रति शनिवार प्रातः १० बजे आश्रम में पधार कर लाभ लें।

आश्रम द्वारा अन्य सेवा कार्य

१. निराश्रित बालको को शिक्षा, आवास, भोजन, वस्त्र, सरक्षण आदि की समुचित व्यवस्था।

२ विकलांग व्यक्तियों को सहयोग—सहायता एव उनके जीवन में उत्साह भरना।

३. दैनिक यज्ञ—सत्सग एव वाचनालय—पुस्तकालय की व्यवस्था।

४. सदैव चालू रहने वाली जल व्यवस्था और ऋषि लगर एव अतिथि निवासार्थ व्यवस्था।

५ समय-समय पर निःशुल्क नेत्र चिकित्सा, योग साधना, सस्कृत एवं पुरोहित प्रशिक्षण शिविरों के साथ असाध्य रोगों के चिकित्सा शिविरो का आयोजन किया जाता है।

६ मानव मात्र के कल्याणार्थ बृहद् यज्ञ-सत्सगों का आयोजन, साहित्य प्रकाशन, ग्रामों, शहरों स्कूल कालेजों में आश्रम की ओर से प्रचारार्थ एवं विवाह, नामकरण आदि सस्कारों, शुभ अवसरों पर परिवारों मे यज्ञ-सत्संगो के लिए उपदेशक पण्डितों की व्यवस्था भी रहती है।

७. आश्रम से वैदिक साहित्य, आर्य समाज के कैसेट, आश्रम की चाय, हवन कुण्ड, शुद्ध हवन सामग्री, यज्ञोपवीत आदि यज्ञ के साधन प्राप्त किए जा सकते हैं।

प्रभु भक्तों ! उपरोक्त सेवा कार्य परमपिता परमात्मा की असीम कृपा एवं आप सभी के स्नेह-प्यार एवं सहयोग से ही चल रहे हैं। शुभ कार्यों में दिया हुआ दान, दानी को सदैव तृप्त करता है।

सूचना—धर्मार्थ आयुर्वेद औषधालय योग्य वैद्य एवं अर्थाभाव के कारण कुछ समय से बन्द है, आशा है ईश कृपा एव आप सभी के सहयोग से शीघ्र पुनः प्रारम्भ हो जायेगा।

शुभ कामनाओं सहित :

जनता सेवक : स्वामी धर्ममुनि (मुख्याधिष्ठाता)

आत्मशुद्धि आश्रम (रजि० ट्रस्ट) बहादुरगढ़ (रोहतक) हरियाणा

प्रवेश सूचना

(सत्र-१९९१-९२)

डी० ए० वी० नैतिक शिक्षा संस्थान

(अन्तर्गत : आर्य विद्या सभा, डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धकर्तृ समिति)
नई दिल्ली

पद : धर्म शिक्षक

प्रवेश योग्यता : एम० ए०/आचार्य, हिन्दी, सस्कृत व अंग्रेजी भाषा, वैदिक सिद्धान्तो तथा कर्मकाण्ड का ज्ञान आवश्यक।

प्रशिक्षण अवधि : एक वर्ष

सुविधाएं : नि:शुल्क शिक्षा, विशाल पुस्तकालय उपलब्ध, छात्रावासियो को आवास, पानी, बिजली सर्वथा नि:शुल्क व भोजन नि:शुल्क।

प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद अभ्यार्थियो को डी० ए० वी० शिक्षण सस्थाओं मे "धर्म शिक्षक" पद पर उचित वेतन पर नियुक्त किया जाएगा।

गत पांच वर्षों में उत्तीर्ण सभी छात्रो को सर्विस मिल चुकी है। केवल निष्ठावान आर्य समाजी पूर्ण विवरण (नाम, आयु, शैक्षणिक योग्यता, अनुभव आदि) सहित आवेदन पत्र १५ जून, १९९१ तक निम्न पते पर भेजे :— 'प्रो० रत्न सिह,
प्राचार्य—डी०ए०वी० नैतिक शिक्षा संस्थान
आर्य समाज मन्दिर मार्ग
नई दिल्ली—११०००१
फोन : ३४३७१८"

स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती दिवंगत

स्वामी प्रज्ञानन्द जी सरस्वती का जन्म तेली के घर हुआ किन्तु आपको शुरु से ही आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थ प्रकाश ने आकर्षित किया और आपने अपनी कवित्व शक्ति के आधार पर कई भजनो की पुस्तकें लिखीं, जिन्हे ग्रामीण क्षेत्र के भजनोपदेशक भली प्रकार से आज भी गाते हैं। आपने सदैव अन्धविश्वास और पशु बली का भारी विरोध किया। और अनेक बार इस बुराई को हटाने हेतु आपको अनशन व्रत पर भी बैठना पड़ा निर्भीकता और वैदिक धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा ने आपको सदैव कर्म क्षेत्र मे सफलता दिलाई।

प्रज्ञा चक्षु होने और ८४ वर्ष की आयु प्राप्त करने पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने आपको २०० रुपये मासिक वृद्धत्व सहायता दी थी। क्योंकि स्वामी जी ने ग्रामीण क्षेत्रों मे प्रसिद्ध भजनोपदेशक के रूप में लम्बे समय तक सेवा की थी।

सभा स्वामी जी के अभाव को अनुभव करती हुई उनके सजग अनुयायी बन्धुओं से आशा करती है कि वे स्वामी जी द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करते हुए वेद धर्म का प्रचार कार्य उनके क्षेत्र मे जारी रखे।

बालदिवाकर हंस (प्रधान सचालक)

तपोवन में १६ मई से ३१ मई तक क्रियात्मक योग प्रशिक्षण तथा योग-दर्शन अध्यापन

वैदिक साधन आश्रम, तपोवन, देहरादून मे श्री स्वामी सत्यपति जी की अध्यक्षता मे १६ मई से ३१ मई १९९१ तक "क्रियात्मक योग प्रशिक्षण तथा योगदर्शन अध्यापन शिविर" आयोजित होगा जिसमें ऐसे सज्जन और देवियां भाग ले सकेंगे जिनकी आयु कम से कम १५ वर्ष, हिन्दी पढने लिखने की योग्यता तथा कम से कम कक्षा ८ तक की शैक्षिक योग्यता हो। जो नीरोग हों और धूम्र-पान आदि व्यसनो से रहित हो। अति वृद्ध या रोगी व्यक्ति नही लिए जावेंगे।

प्रवेश पाने के इच्छुक जन अपना आवेदन तुरन्त अपने नाम, पते, वय, योग्यता और व्यवसाय को लिखते हुए निम्न पर भेजे—

—मन्त्री, वैदिक साधन आश्रम, तपोवन, देहरादून-२४८००८







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 16-17-5-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३६

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १६ मई, १६६१

शोक-प्रस्ताव

रविवार १२ ५ ६१ को आर्य समाज दीवान हाल की यह महति सभा ऋषि भक्त स्व० ला० चतुरसैन गुप्त लेखक एव विचारक की धर्मपत्नी तथा आर्य-समाज दीवान हाल के पूर्व मन्त्री एव प्रतिष्ठित सदस्य श्री मूलचन्द गुप्त की माता के देहावसान पर हार्दिक शोक प्रकट करती है, तथा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करती है कि उनकी दिवगत आत्मा को सदगति तथा उनके संतप्त परिवार एव इष्ट मित्रो को इस महा शोक को सहन करने की शक्ति प्रदान करे।

—सूर्यदेव

प्रधान—आर्य समाज दीवान हाल, दिल्ली—६

शोक समाचार

आर्य समाज डिबाई (बुलन्दशहर) के भूतपूर्व प्रचार मन्त्री श्री नेत्रपाल सिंह आर्य 'कवि' का गत मास दिनांक २३ मार्च १६ ६१ को लम्बी बीमारी के बाद उनका शरीरान्त हो गया।

वे गत २२ वर्षो से पौराणिक मत को त्याग कर एक कट्टर आर्य समाजी बन कर दैनिक सध्या यज्ञ कर समाज के प्रचार कार्यों को बड़ी कुशलता से करते थे। 'आर्य सन्देश' शोक सतप्त परिवार के लिए ईश्वर से धैर्य एव शान्ति की कामना करता है।

आर्य समाज परमानन्द बस्ती रयखाना बीकानेर

चुनाव समाचार

आर्य समाज, परमानन्द बस्ती बीकानेर का वार्षिक निर्वाचन श्री लाला अमरनाथ चावना की अध्यक्षता मे सर्व सम्मति से सम्पन्न हुआ जिसमें निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए।

डा० जयकृष्ण जी—प्रधान

श्री रामनारायण जी—वरिष्ठ उप प्रधान

डा० शिवनारायण आर्य—मन्त्री

श्री सेठ छगनलाल जी आर्य—कोषाध्यक्ष

निर्वाचन सम्पन्न

आर्य समाज बार म० प्र० के वर्ष १९९१ के लिए निर्वाचन सम्पन्न हुए। निम्न पदाधिकारी निर्वाचित हुए।

१. प० बालकृष्ण चतुर्वेदी—प्रधान
२. श्री गजानन्द शर्मा—उपप्रधान
३. श्री भगवन्त राव तिवारी—मन्त्री
४ श्री रामचन्द्र जोशी—कोषाध्यक्ष

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ो फार्मेसो हरिद्वार

को औषधियों का सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन। २६१४३८

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक २६ | रविवार, २६ मई, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष . ३१०१५०

स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती

—डा० धर्मपाल, प्रधान, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

आर्यसमाज का गौरवपूर्ण इतिहास आन्दोलन का इतिहास है। आर्यसमाज ने राष्ट्रोत्थान के लिए तथा सामाजिक कल्याण के लिए अनेक कार्यक्रम हाथ में लिया। स्वाधीनता आन्दोलन मे आर्यसमाज की सराहनीय भूमिका से सभी सुपरिचित है। हम आज भी श्रद्धापूर्वक उस तेजस्वी स्वामी श्रद्धानन्द को याद करते हैं जिसने घंटाघर पर गोरे सिपाहियो की संगीनो के सामने छाती खोल दी थी, उसी प्रकार इतिहास मे स्वामी रामेश्वरानन्द जी को भी याद किया जाएगा, जिसने ७ नवम्बर १९६६ को गरजती हुई आवाज मे कहा था कि पार्लियामेंट को घेर लो और लोग उनकी आवाज पर पार्लियामेंट की ओर बढ चले थे। उनकी नेतृत्व शक्ति आर्यसमाज मे सदा प्राण फूंकती रहेगी।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान, निर्भीक सन्यासी और स्वतन्त्रता सेनानी स्वामी रामेश्वरानन्द जी सरस्वती १९६२ में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे। संसद में उनकी ओजस्वी वाणी, स्पष्टवादिता और क्रान्तिकारी राष्ट्रीय विचारों को आदरपूर्वक सुना जाता था। आपने संसद मे हिन्दी रक्षा, गोरक्षा, मद्यनिषेध, गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली आदि विषयों पर सदैव आर्यसमाज का सबल पक्ष प्रस्तुत किया।

स्वामी रामेश्वरानन्द जी महाराज वेदो के प्रकाण्ड विद्वान थे। वे गुरुकुल घरौंडा के संस्थापक थे और आर्ष पाठविधि के अनुसार वैदिक ज्ञान के प्रसार मे संलग्न थे। स्वामी जी महाराज ने आर्यसमाज द्वारा चलाए गए विभिन्न आन्दोलनो—हैदराबाद धर्मयुद्ध (१९३९), पंजाब हिन्दी सत्याग्रह (१९५७), दिल्ली गोरक्षा आन्दोलन (१९६६) आदि मे प्रथम पंक्ति मे रहकर सफल नेतृत्व किया था।

१९६१ मे जब पंजाबी सूबे की मांग को लेकर मास्टर तारासिंह ने आमरण अनशन शुरू किया, तो स्वामी रामेश्वरानन्द जी महाराज ने भाषा के आधार पर बनाए जाने वाले पंजाबी सूबे की मांग के विरोध मे आमरण अनशन करने की घोषणा कर दी थी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्देश पर स्वामीजी महाराज आर्यसमाज दीवान हाल मे १६ अगस्त १९६१ को प्रातःकाल यजुर्वेद पारायण यज्ञ के पश्चात् आमरण अनशन पर बैठ गए थे। अन्त मे मास्टर तारासिंह के अनशन टूट जाने के बाद ही आपने २४ अगस्त को अपना अनशन समाप्त किया था। अनशन के दिनों मे स्वामी जी को मारने के अनेक प्रयास किए गए। एक दिन किसी दुष्ट ने दीवानहाल मे एक शक्तिशाली बम फेंक दिया था, जिसे सावधानी से उठाकर श्री ओमप्रकाश त्यागी ने एक बाल्टी में रख दिया था और दुश्मनो की चाल को असफल कर दिया था। उस समय श्री लाला रामगोपाल शालवाले (वर्तमान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती) और उनके साथी चौबीस घण्टे दीवानहाल मे ही रहते थे। बम की घटना वाले दिन रात को १२ बजे सेठ जुगल किशोर बिडला दीवानहाल मे आए और पूछने लगे कि बम वाली घटना का आर्य भाइयो पर कोई विपरीत प्रभाव तो नही पड़ा, तो उस समय लाला रामगोपाल शालवाले ने कहा था कि इससे हमारा उत्साह और ज्यादा बढ गया है।

स्वामी जी महाराज का शताधिक वर्षो की आयु मे ८ मई १९९० को निधन हुआ था। उस वीर पुरुष को हमारी विनत श्रद्धांजलि।

राष्ट्रीय निर्वाचन महाकुम्भ



यह हमारी राष्ट्रीय अव्यवस्था का द्योतक है कि जो राष्ट्रीय निर्वाचन पांच वर्ष बाद होना चाहिए था, वह मात्र उन्नीस महीने बाद हो रहा है। यह तो सही है कि हमारे राष्ट्रीय नेता कोई स्थायी नेतृत्व प्रदान नही कर सके हैं, पर यह भी सही है कि जनता भी ऐसे प्रतिनिधियों को नहीं चुन सकी जो स्थायी नेतृत्व प्रदान कर सकें, जो जोड़-तोड़ से ऊपर उठकर राष्ट्रोत्थान एवं समाज कल्याण के कार्यों में भागीदार बन सकें, जो स्वार्थों से ऊपर उठकर परामर्श की बात कर सके। इस महाकुम्भ मे भाग लेना बहुत महंगा और अनावश्यक रूप से प्रदर्शन का तामझाम हो गया है। जो व्यक्ति इतना खर्च करके संसद तक पहुंचेगा, उससे क्या आशा की जा सकती है। ऐसा लगता है कि राजनैतिक जीवन भी राष्ट्रीय कल्याण हेतु समर्पण एवं निष्ठा का जीवन न होकर, कुछ लोगो के लिए व्यवसायिक कार्य व्यापार बन गया है।

कुछ भी हो इस निर्वाचन से कोई भी व्यक्ति अछूता तो रह नही सकता। यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है। जो उम्मीदवार है, उनके लिए भी और जो मतदाता है, उनके लिए भी यह कठिनाइयो से भरा मार्ग है। उम्मीदवार परेशान है कि वह किस प्रकार विजयश्री को प्राप्त करे, मतदाता परेशान है कि वह किसे अपना मत दे। संसद की सडक पर चलते-चलते सब एक से हो जाते हैं। हम चाहते हैं कि लोग निष्पक्ष हो, वे नैतिक हो, वे मानवमात्र को अपना समझें, वे जात पात क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता से ऊपर हो, पर ऐसा हो नही पाता। बडी पार्टिया उसे उम्मीदवार बनाती हैं जो जीत सकता हो, चाहे जैसे भी जीत सकता हो, चाहे बूथ पर कब्जा करके या भ्रष्टाचार पूर्ण हथकंडे अपना कर। यहां अनेक सम्प्रदाय हैं, असमानता है, अनेक जातियां हैं, कुछ लोग धन-सम्पन्न, कुछ गरीबी रेखा से भी नीचे के गरीब। धन सम्पन्न तो वोट डालने भी नही जाते। केवल गरीब जाते हैं, पर उनका अपने वोट पर कोई अधिकार नहीं है। उनका वोट उसके पास है जो उनका अन्नदाता है, जो उन्हे कर्ज देता है, जो उनका धर्मगुरु है, जिसके खेत या कारखाने मे वे काम करते है या जो उनकी कालोनी का दादा है। एक नया विचार आया है—पंचायती वोट पंचायत तय करती है कि वोट किसे देना है। सभी को वोट डालने जाने की जरूरत नही। कुछ ही लोग सबके वोट डाल देते हैं।

भाइयो, चिन्ता मत करो कि तुम्हारा नेता जीतेगा या नहीं। अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर वोट दो। उसे वोट दो जो सबका कल्याण करने वाले हो, जो राष्ट्र को घेरने वाले शत्रुओं का हनन करने वाले हो, जो आन्तरिक शत्रुओं को कुचलने वाले हो, जो अपनी इन्द्रियो को तथा प्रजा को वश मे करने वाले हो, जो बादलो के समान सुखो की वर्षा करने वाले हो, जो पापनाशक हो।

आओ, हम ऐसे ही लोगो को अपना नेता चुने। —डा० धर्मपाल

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेद के सार्वभौम प्रचार के लिये अनुसंधान कार्य आवश्यक

—स्व० पं० वीरसेन वेदश्रमी

वैदिक धर्म की जय हो–आर्य समाज अमर रहे, यदि इन जयघोषो को सफल करना है तो सफलता के मार्ग का अनुसधान करना होगा। अब आर्य समाज के लिये विद्वान, वक्ता, अन्वेषणकर्ता, शास्त्रार्थकर्त्ता, साहित्य रचने वाले, सम्पादक, कुरान, बाइबिल, जैनमत, पुराणमत के अध्ययनकर्ताओं का अभाव होता जा रहा है। आर्य समाजो मे कार्य एव प्रगति के अभाव से तथा नवीन सदस्यता के अभाव मे बैंक खुलने लगे क्योंकि हमारे पास कुछ कार्य करने को शेष नहीं रहा। हमने अपने आर्य मन्दिरो को शादी, विवाह गृह बना दिये। हमने जातीय सस्थाओ को राजनैतिक सस्थाओ को, उनके कार्यक्रमो को करने के लिये किराये पर कमरे दिये। कही पर छात्रावास के रूप मे छात्रो को रखकर केवल किराया लेना प्रारम्भ कर दिया और वे वहा अनैतिक कार्य करते हैं तो हम उन्हे पृथक भी नही कर सकते। आर्य समाज की इस दीन-हीन दशा पर विचारने का समय ही किसी को नही है।

वेद को विश्व व्यापी बनाने के लिये और आर्य समाज मे नवजीवन प्रदान करने के लिये नये चिन्तन के साथ कार्यक्रम बनाना होगा। आज विज्ञान का युग है। डेढ शताब्दी पूर्व विज्ञान का उदय हुआ व पृथ्वी पर व्याप्त हो गया। हमारे सारे व्यवहार और जीवन का अभिन्न सहयोगी बन गया। वह हममे छूट नहीं सकता। वह पृथ्वी के ऊपर, हमारे अन्तरिक्ष मण्डल मे भी मडरा रहा है। नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं। यह हमारे पठन-पाठन व्यवस्था में भी व्याप्त हो गया। आज हम विज्ञान के बिना जी नही सकते। कोई भी किसी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर का हो वह विज्ञान से, वैज्ञानिक सत्य से विमुख नही हो सकता। क्या वेद और वेद का विज्ञान विश्व मे जीवन के साथ इस प्रकार अभिन्न रूपता को प्राप्त हो सकता है? "उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः" प्रयत्न से, पुरुषार्थ से ही कर्म सिद्धि होता है। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् लक्ष्य घोषित करके अकर्मण्य बनने से कुछ नही होगा। अकर्मण्यता भी अविद्या है। अन्धतम प्रविशन्ति मन्त्र के अनुसार हमारी दशा महाअन्धकारमय है।

इस महान्धकारमयी स्थिति से निकलने का एक मात्र उपाय है–अनुसधान की दृष्टि, अनुसन्धान की वृत्ति और अनुसधान की सृष्टि। अनुसधान के बिना हम अपने लक्ष्यकृण्वन्तो विश्वमार्यम् को कभी भी प्राप्त नही कर सकते। वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है। यह आर्य समाज का प्रधान घोष है अन्य किसी का नही। अत: आर्य समाज को सर्वाधिक प्रयत्न इसको सिद्ध करने और वेद के विज्ञान को विश्व व्यापी बनाने को करना ही पडेगा। इस निमित्त वेदानुसार विद्याओ की सूची तैयार करनी चाहिये। उनमे से कौन-कौन सी विद्याए आज प्रचलित है और कौन कौन सी अभी प्रचलित नहीं है, यह भी विमर्श करना होगा। अप्रचलित विद्याओ के अनुसधान और विकास का प्रयत्न करना होगा। अर्थात् आर्य समाज को, आर्य समाज की शिक्षण सस्थाओ को अनुसधान कार्य को प्राथमिकता प्रदान करनी होगी और सैकडो ही नही हजारो विद्वानो को अनेक प्रकार से अनुसधान कार्य मे लगाना होगा। बडे-बडे जलूस, बडे-बडे मेले लगाना, करोडो रुपये के अस्पताल खोलने की योजनाए, सगमरमर की विशाल बिल्डिंग बनाने, शताधिक खम्भो की यज्ञशाला बनाने आदि कार्य अविद्यात्मक है, जब तक वेद विद्याओ के अनुसधान की आस्था को प्रतिष्ठा न हो।

किसी भी कार्य मे अनुसधान से ही प्रगति होती है। जहा अनुसधान कार्य नही वहा प्रगति का अभाव ही रहेगा। प्रगति का अभाव ह्रास का ही परिचायक है और कालान्तर मे वह सस्था काल कवलित ही हो जाती है। अत: आर्य समाज मे अनुसधान प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिये। आर्य समाज के प्रारम्भिक काल मे अनुसधान की कुछ प्रवृत्ति थी तब आर्य समाज जीवित, जाग्रत् परम तेजस्वी एव पूर्ण सस्था मानी जाती थी। केवल सिद्धान्तमात्र मे विश्वास रखने से उन्नति नही होती है। जब तक उन सिद्धान्तों के प्रति अनुसधान न किया जावे।

(शेष पृष्ठ ५ पर)

[illegible] के नाम

—श्री हरवंश लाल कोहली

भारत मा को खण्डित करने वालों को न करना माफ।
प्रयत्न करते रहना, यह दूर हो जाए अभिशाप॥
सच्चा उप सना प्रेम मे जिनकी नही श्रद्धा।
ऐसे झूठे लोगो का फट जाए परदा॥

जातिवाद में जो करते पीछे आगे।
वे ही आगे भागे, पीछे से कुत्ता भागे॥

वेद गीता पढने मे जिन्हें आए हैं शर्म।
फल तो मिलना दूर रहा उनके फूटे कर्म॥

सस्कृत की पढाई मे जो बनते घातक।
बन्द हो जाए उन पर समद का फाटक॥

ऐसे लोगो की न बने कभी सरकार।
क्या हम नही चाहते दूर हो भ्रष्टाचार?

हिन्दी भाषण मे जिन्हे नही स्वाभिमान।
अग्रेजो ही जिनकी हो दीनो-ईमान॥

दांत जिनके खाने के दिखाने के और।
क्या वह अपना मित्र, या है वह चोर॥

ऋषियो मुनियो के मन्तव्य जो जाने निशाना।
ऐ आर्यों तुम उनको ही गद्दी पर पहुचाना॥

भीम और अर्जुन बन कर, रण मे आ जाओ।
अधर्मी और विधर्मी को दूर भगाओ॥

सत्य और केवल सत्य का करो प्रचार
चाहे हो राजनीति या हो व्यापार॥

राजनीति से पाखड को कर दो दूर।
और कुछ करो या न करो, यह तो करो जरूर॥

शुद्ध चरित्र वालो को ही तुम बनाओ सरकार।
आर्यों! तभी इस देश का, हो सकेगा उद्धार॥

३/१ सर्वप्रिय विहार

सच्ची राह

—पं० गंगाप्रसाद विद्यार्थी

कीर्ति जगत मे उसने पाई, जिसने सच्ची राह दिखाई।
परम पिता के सभी है पुत्र, आपस मे है भाई॥

स्वार्थ छोड करके यदि देखें, आपस मे होवे नही लड़ाई।
जिसने यह आग लगाई जिससे मिटती नही बुराई॥

सभी आर्य यदि मिल जावे मिल कर एक मात्र हो जावे।
तो फिर एक शक्ति बन जावे, पृथ्वी डुलावें समुद्र करावे॥

दोष सभी मे होते है, दयानन्द से विरले हों।
अपने दोषो को दूर करो, पराए दोष नहीं तुम देखो॥

दूसरों की यदि करो बडाई, तुम भी पावो मान बडाई।
साहसी सबल से लोहा ले, न हो निबल पर हो प्रभुताई॥

आर्य बन्धु का पूछो हाल दुख विपत्ति में आवो काम।
सुख में दुख में रहना साथ, वक्त पडे पर देना साथ॥

पता—१७५, जयनगर, जबलपुर सिटी

वेद के सार्वभौम प्रचार के लिये अनुसंधान कार्य आवश्यक

(पृष्ठ २ का शेष)

महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे यह प्रयत्न किया कि वेद में विविध विद्याओं का अस्तित्व मूल रूप से है, उन्हीं विद्याओं का विकास और अनुसधान करने का प्रयत्न करना चाहिये। उसमे उन्होने बहुत प्रभावशाली रूप में युक्ति तथा प्रमाणपूर्वक दृष्टान्त सहित यज्ञ से वायुमण्डल की शुद्धि होती है और यह शुद्धि कार्य करना अनिवार्य है तथा यज्ञ द्वारा ही समुचित रूप से समव है यह प्रतिपादन किया है। एक समय था जब युक्ति, प्रमाण से ही सब निर्णय मान्यता को प्राप्त होते थे। परन्तु वर्तमान समय मे अनुसधान एव प्रयोग प्रदर्शनपूर्वक परिणाम प्रकट करने पर मान्यता प्राप्त होती है अन्यथा नही। अत: यज्ञ के द्वारा वायु मण्डल मे किस-किस द्रव्य से क्या-क्या परिणाम प्रकट होते हैं और उनसे किस प्रकार के प्रदूषणो का विनाश होता है एव कौन से गुणो की वृद्धि होती है तथा उनका शुभ प्रभाव प्राणी जगत् एव वनस्पति पर क्या होता है। इसके अनुसधान व प्रयोग के लिये वैदिक विज्ञान प्रयोगशालाये विविध स्थानो पर सक्षम स्थापित करनी होगी।

यज्ञ द्वारा अन्तरिक्षस्थलो की शुद्धि होती है और उससे वृष्टिजल की वृद्धि होती है। ऐसा महर्षि के वेदभाष्य मे अनेक स्थानो पर लिखा है अत. सामान्य वृष्टिजल और यज्ञ प्रभावित वृष्टि जलो का विश्लेषण करके दोनो की सामर्थ्य तथा उपयोगिता का प्रतिपादन करना होगा। यज्ञ प्रभावित वायु मण्डल, यज्ञ द्वारा सुसस्कृत भूप्रदेश, यज्ञ द्वारा सुसस्कृत जल का कृषि पर क्या-क्या प्रभाव पडता है तथा यज्ञ प्रभावहीन भूमि, जल, वायु का कृषि मे क्या-क्या अन्तर उत्पत्ति आदि पर होता और आर्थिक दृष्टि से भी लाभालाभ पर क्या अन्तर होता है, उसके परिणामो को, कृषि वैज्ञानिको को प्रकट करना होगा और क्रियात्मक रूप से प्रयोग प्रणाली का शिक्षण देना होगा।

महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने वेदो मे जल, विद्युत, अग्नि के द्वारा यन्त्र, कला कौशल विमानादि जो जल, स्थल और आकाश मे चलने वाले हो, बनाने का लिखा है। शिल्प विद्या के प्रचार से सुख प्राप्ति का बार बार उल्लेख किया। अत: विविध प्रकार के यन्त्रो से निर्माण का अनुसन्धानात्मक प्रयत्न करना चाहिये।

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है तो शिल्प यन्त्रादि मे अग्रसर होना चाहिये। भारद्वाज का विमान शास्त्र सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया। यह बहुत ही प्रशसनीय कार्य किया है। अत: इसके आधार पर यन्त्रादि का निर्माण विमान आदि तथा उनके यन्त्रों का निर्माण का प्रयत्न करने से ही विश्व के वैज्ञानिक वेद के विज्ञान की ओर आकृष्ट हो सकेगे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। अनेक वृक्ष, वनस्पति औषधियो के नाम व गुणो का वर्णन ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद मे आते हैं। अनेक नाम वर्तमान समय में अप्रचलित भी हैं। उनका अनुसन्धान, उनको विशेष प्रभावशाली करने का, उन वनस्पतियो का उद्यान निर्माण तथा औषधियो का विविध प्राणियों पर प्रयोग करके उनकी उपकारिता प्रकट करने का प्रयत्न होना चाहिये।

महर्षि ने गणित विद्या का मूल वेद है, यह ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तथा वेद भाष्य मे लिखा है। इतने मात्र से वेद की वर्तमान समय मे उपयोगिता नही हो जाती है। वेद की ओर सर्वसामान्यजनों प्रवृत्ति की करने के लिये वेद के आधार पर गणित के अध्ययन की परिपाटी का स्वरूप अन्वेषित करना चाहिये। जो सुगम भी हो। इस बारे में श्री प० अयोध्याप्रसादजी ने कुछ प्रदर्शन वैदिक गणित के किये थे, परन्तु वे अपर्याप्त थे। पुन: पुरी के पूर्व शकराचार्यजी ने वैदिक गणित के प्रशिक्षण केन्द्रो द्वारा कार्य किया था। उन्होने वैदिक मेथेमैटिक्स पुस्तक अग्रेजी में लिखी उस आधार पर आर्य सस्थाओ में, गुरुकुलों एव डी. ए वी. सस्थाओं मे प्रशिक्षण दिया जाना था तथा उसे व्यावहारिक बनाना था। उसे अमेरिका के शिक्षण सस्थाओं मे प्रधानता प्राप्त हुई। हमें भी उस आधार पर से सामान्य एव उच्च गणित का अनुसधान करना चाहिये। जिससे वेद का प्रचार प्रशिक्षण संस्थाओ में हो सके।

अनेक आर्य समाजो में होम्योपैथिक या अन्य चिकित्सा की व्यवस्था है। इससे तो यही प्रकट होता है कि हमारे भवन की उपयोगिता हमारे कार्यों के लिए नही है क्योकि हमारे पास अब कुछ कार्य करने की योजना नहीं है। इससे वेद विद्या की उन्नति या प्रचार का क्या प्रयोजन ? एक और यज्ञ से वायु मण्डल की शुद्धि, रोगो के विनाश का प्रतिपादन व्याख्यानों मे व लेखो से हम करें और दूसरी तरफ यज्ञ को विरोधी चिकित्सा प्रणालियो को प्रोत्साहन एव आश्रय दे ये परस्पर विरोधी कार्य नही होने चाहिए। हमे यज्ञ चिकित्सा प्रणाली से रोग निवारण के केन्द्र आर्य समाजो मे खोलने चाहियें और उसके लिए वानप्रस्थो को, पुरोहितो को प्रशिक्षित कर यज्ञ चिकित्सको को प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए। कुशल वैद्य पचकर्म द्वारा रोगी के शरीर को शोधन कर औषधि देकर आरोग्यता प्रदान करता है। ये पचकर्म स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि स्वाभाविक रूप से यज्ञ में होते है। शुद्ध भेषज वायु की प्राप्ति द्वारा अतिशीघ्र आरोग्यता प्राप्त होती है। इसमे वेद की चिकित्सा क्षेत्र मे प्रतिष्ठा होगी।

महर्षि ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका मे उपासना योग का प्रकरण बहुत सुन्दर लिखा है। इतने मात्र से उद्देश्य की पूर्ति नही होती। आज ससार योग के लिये लालायित है। योग विद्या वेद की एक प्रमुख विद्या है। उसी के आधार पर पातजल योगदर्शन है। आज अनेक अवैदिक, वेद-विहीन लोगो के योग शिक्षण व आश्रम देश और विदेशो मे खुले हुए हैं। परन्तु देश विदेशो मे स्थापित आर्यसमाजो मे उपासना एव योग की उपेक्षा है। यदि किसी आर्य समाज मे किसी योगासन का शिक्षण होता भी है तो वह महर्षि द्वारा प्रतिपादित उपासना योग के आधार पर नही है। अत योग विद्या के अनुसधान तथा प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना होनी चाहिए। उपासना योग का व्यावहारिक रूप वैदिक सध्या है। उसी के आधार पर मन्त्रो द्वारा अष्टाग योग की साधना का प्रयत्न करना चाहिये। तभी वेद का प्रचार होगा।

यजुर्वेद अ० १८ मे यज्ञेन कल्पन्ताम् के द्वारा ४०० से भी अधिक अनुसन्धान कार्यों की गणना है। यजुर्वेद अ० ३० मे ५० से अधिक प्रकार की विद्या व कार्यो की गणना है। उनके प्रशिक्षण या उन विद्याओ पर वैदिक दृष्टि से अनुसधान कार्य हो सकते हैं। यजुर्वेद अध्याय १६ मे ७८ प्रकार के कार्यक्रमो को सत्कार योग्य बताया है। उन कार्यो के अनुसधान कार्य हो सकते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय २४ मे अनेक पशु, पक्षी एव जलचरो के गुण कर्म उनके रगो के आधार पर एव अन्य प्रकार से लिखे हैं। वह भी अनुसन्धान के कार्य हैं। वेद के देवता तत्त्वों के आधार पर अनुसधान का महान क्षेत्र है। वेद मे विद्याओ का महान् सग्रह है। अनेक प्रकार के अनुसन्धान किये जा सकते हैं। अन्य कार्यो मे धन एव शक्ति का व्यय न करके वेद विद्याओ के अनुसन्धान मे अग्रसर होना चाहिए।

प्रवेश परीक्षाओं में हिन्दी का विकल्प

दैनिक नवभारत टाइम्स के १२-३-९१ के अक मे छपी सूचनानुसार पोत परिवहन महानिदेशालय, बम्बई द्वारा बम्बई मे ३ वर्षीय नेवीगेशन, पाठ्यक्रम (जिसके पश्चात् बी० एस० सी०) प्रेटिकल साइस (की डिग्री दी जाएगी) तथा चार वर्षीय मेरीन इन्जीनियरिंग पाठ्यक्रम, कलकत्ता में प्रवेश हेतु जून, १९९१ मे एक प्रतियोगात्मक परीक्षा ली जाएगी। परीक्षा मे ४ प्रश्न पत्र होगे। भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र और गणित के प्रश्न पत्रो के उत्तर हिन्दी में भी देने का विकल्प होगा। एक अग्रेजी का प्रश्न पत्र भी होगा जो केवल अर्हक प्रकार का (क्वालीफाइग) होगा और इसके अक शेष ३ प्रश्न पत्रो के जोड मे सम्मिलित नहीं होंगे। परीक्षा के बाद साक्षात्कार भी होगा। बम्बई के पाठ्यक्रम में लगभग ८३ और कलकत्ता के पाठ्यक्रम में लगभग १२० स्थान होगे।

पाठको से अनुरोध है कि हिन्दी विकल्प की जानकारी अधिक से अधिक व्यक्तियों को दी जाए जिससे कि वे हिन्दी माध्यम का विकल्प ले सके। उम्मीदवारो को हिन्दी मे प्रश्न पत्रो के उत्तर लिखे जाने मे सहायता देने के लिए सबधित साहित्य को हिन्दी मे भी प्रकाशित कराने का यत्न किया जाए। अन्य इसी प्रकार की जिन-जिन परीक्षाओ मे हिन्दी का विकल्प नही हुआ है, उनके लिए प्रयत्न किए जाए।

सार्वदेशिक आर्य वीर दल द्वारा स्वीकृत शिविरों की सूची

सन १९९१

१—२६ मई से २ जून १९९१ तक आर्यसमाज मकड़ौली (रोहतक) हरियाणा
२—२७ मई से २ जून १९९१ तक डी ए. वी स्कूल करनाल, हरियाणा
३—२७ मई से २ जून १९९१ तक दयानन्द महिला विद्यालय, सैक्टर एक, फरीदाबाद, हरियाणा
४—२९ मई से ७ जून १९९१ तक आर्यसमाज चनार्दना, सहारनपुर (उ.प्र.)
५—३१ मई से ९ जून १९९१ तक महाशय चुन्नीलाल सरस्वती उच्चतर विद्यालय, एल० ब्लाक हरिनगर, दिल्ली
६—१ जून से ८ जून १९९१ तक आर्य समाज दादो, अलीगढ (उ० प्र०)
७—१ जून से ९ जून १९९१ तक आर्य इण्टर कालेज तेहडा, मेरठ (उ प्र.)
८—१ जून से ९ जून १९९१ तक आर्य समाज बाराकोटा राजस्थान,
९—२ जून से ९ जून १९९१ तक आर्य समाज नरवाणा, जीन्द हरियाणा
१०—२ जून से ९ जून १९९१ तक गाव पाथोद (नारनौल) हरि०
११—३ जून से ९ जून १९९१ तक आर्य समाज भिवानी (हरि०)
१२—१२ जून से २१ जून १९९१ तक गुरुकुल पुष्पावती पूठ, गाजियाबाद (उ० प्र०)
१३—२१ जून से ३० जून १९९१ तक महर्षि दयानन्द स्मृति भवन, जोधपुर (राज०)
१४—२४ जून से २९ जून १९९१ तक आर्य समाज कैथल, हरि०
१५—२४ जून से २९ जून १९९१ तक आर्य समाज सोहना, गुड़गांवा (हरि०)
१६—२५ जून से ४ जुलाई १९९१ तक आर्यसमाज रामनगर, रोहतक रोड, जीन्द (हरि०)
१७—६ जून से २३ जून १९९१ तक सार्वदेशिक आर्य वीर दल शिक्षक शिविर, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार (उ०प्र०)

—बाल दिवाकर हस, प्रधान सचालक
सार्वदेशिक आर्य वीर दल, दिल्ली

चुनाव समाचार

—आर्य समाज अशोक नगर, दिल्ली का वर्ष १९९१-९२ का वार्षिक चुनाव निम्न प्रकार सर्व सम्मति से सम्पन्न हुआ।

श्री भगतराम आर्य-प्रधान, श्री चन्द्रभान सेतिया-महामन्त्री, श्री मिठन लाल जी-कोषाध्यक्ष।

—आर्य समाज पजाबी बाग, नई दिल्ली की साधारण सभा की बैठक मे १८-४-९१ को वर्ष १९९१-९२ के लिए निम्नलिखित अधिकारी चुने गए—

श्री बासदेव लाल धवन—प्रधान, श्री गिरधारी लाल गुलाटी—मन्त्री, तथा श्री टी० एन० महतानी—कोषाध्यक्ष

—आर्य समाज बड़ा बाजार कलकत्ता के साधारण अधिवेशन मे समाज के नवीन अधिकारियो का निर्वाचन अत्यन्त उल्लास पूर्ण वातावरण मे सम्पन्न हुआ, जिसमे सर्व सम्मति से परोपकारिणी सभा के मन्त्री श्री गजानन्द आर्य ने समाज के मन्त्री पद को सुशोभित किया। साथ ही श्री फूलचन्द आर्य—प्रधान तथा श्री दीनदयाल गुप्ता जी कोषाध्यक्ष चुने गये।

(पृष्ठ ४ का शेष)

महर्षि दयानन्द ने इस ग्रन्थ मे गाय को भारतीय अर्थ व्यवस्था का मूलाधार माना है। वे गाय के साथ बैल, भैस, ऊट-ऊटनी, बकरा-बकरी, भेड़-भेडी आदि की उपयोगिता पर भी विचार करते हैं। उनका कहना है कि ये पशु जीवन भर घास-फूस खाकर आदमी की सेवा करते हैं और मर कर भी आदमी के काम आते है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने रिवाडी मे स्वय गौशाला की स्थापना की थी। समवतः आधुनिक युग मे यह भारत की सबसे पहली गौशाला थी जिसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से स्थापित किया गया था।

महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यासजी प्रणीत

महाभारतम्

महाभारत धर्म का विश्वकोश है। व्यासजी महाराज की घोषणा है कि जो कुछ यहा है, वही अन्यत्र है, जो यहा नही है वह कहीं नहीं है। इसकी महत्ता और गुरुता के कारण इसे पञ्चम वेद कहा जाता है।

वेद को छोडकर सभी वैदिक ग्रन्थो में प्रक्षेप हुए हैं। महाभारत भी इस प्रक्षेप से बच नही सका। महाभारत की श्लोक सख्या बढकर एक लाख पहुंच गई। इसमे असम्भव गप्पो, अश्लील कथाओ, विचित्र उत्पत्तियों, अप्रासङ्गिक कथाओ को ठूंसा गया। इससे इस ग्रन्थ को पढना कठिन हो गया।

आर्यजगत् के ही नही भारत के प्रसिद्ध विद्वान्

परमहंस

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

ने महाभारत का एक विशिष्ट सस्करण तैयार किया है।

इस ग्रन्थ में असम्भव अश्लील और अप्रासंगिक कथाओ को निकाल दिया गया है। लगभग १९,००० श्लोकों में सम्पूर्ण महाभारत पूर्ण हुआ है। श्लोको का तार-तम्य इस प्रकार मिलाया गया है कि कथा का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। भाषा में प्रवाह है।

- यदि आप अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास की, सस्कृति और सभ्यता की, ज्ञान-विज्ञान की, आचार-व्यवहार की गौरवमयी झाकी देखना चाहते हैं,
- यदि योगिराज कृष्ण की नीतिमत्ता देखना चाहते है,
- यदि प्राचीन समय की राज्य-व्यवस्था की झलक देखना चाहते हैं,
- यदि आप जानना चाहते हैं कि द्रोपदी का चीर खींचा गया था, क्या एकलव्य का अगूठा काटा गया था, क्या युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष की थी, क्या कर्ण सूतपुत्र था, क्या जयद्रथ को धोखे से मारा गया था आदि।
- यदि आप भ्रातृप्रेम, नारी का आदर्श, सदाचार, धर्म का स्वरूप, गृहस्थ का आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, वर्ण और आश्रमो के धर्म प्राचीन राज्य का स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे जानना चाहते है,
- तो एक बार इस ग्रन्थ को पढ़ जाइए।

(वस्तुत) भूमिका, विषय-सूची, श्लोक-सूची, आदि से युक्त

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

पर्यावरण प्रदूषण समस्या का वैदिक समाधान

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ यजु: ३६/३

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ यजु.।३०/३

ये दोनों सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र सूर्य की महत्ता का वर्णन करते हैं। आराधक मानता है कि सूर्य के पास ऐसी शक्ति है जो हमें कुछ दे सकती है। एक अन्य वेद की ऋचा है—

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभि. ॥ अथर्व ४/३०/१५

अधिष्ठाता सूर्य अपनी प्रखर किरणों से तुम्हे मृत्यु से बचाए। एक अन्य मन्त्र का हम प्रतिदिन पाठ करते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने.। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा (यजु० ६/४२)

सूर्य इस संसार की आत्मा है। यह आध्यात्मिक रूप से तो सत्य स्वीकृत है ही, वैज्ञानिक रूप से भी सत्य है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र भी सूर्य की किरणों को महौषधि मानता है। सूर्य हमें ऊर्जा और स्वास्थ्य देने वाला है। पर यह कब तक हमें ऊर्जा और स्वास्थ्य देने वाला बना रहेगा, यह बात विचारणीय है। मनुष्य अपनी करतूतो से ऐसी परिस्थितिया पैदा करता जा रहा है कि सूर्य हमारा आराध्य देव नहीं बल्कि शत्रु बन जाएगा। वह मनुष्य की रोगो से रक्षा नही कर सकेगा, बल्कि मृत्यु की और ले जायेगा। सूर्य की किरणे कैंसर जैसे भयंकर रोग अपने साथ लाएगी। आदमी की रोग से लडने की क्षमता नष्ट हो जाएगी। गर्मी बेहद बढ़ जाएगी। पहाडो की बर्फ पिघल कर समुद्र तल को बढायेगी। रेत का साम्राज्य बढ जायेगा। कुए सूख जायेंगे। लोग शहर को छोड़ कर जगलों की ओर भागेंगे। यह कल्पना बहुत ही भयावह है। सूर्य तो हमारा रक्षक है, वह ऐसा क्यो करेगा? वह ऐसा करेगा क्योकि मानव अहंकार मे चूर है। वह प्रकृति और पर्यावरण से खिलवाड़ कर रहा है। हवा और पानी मे विषैली गैसें घोली जा रही है। हर कार्य का यन्त्रीकरण हो गया है। शहरो में बिना कूलर, हीटर बिजली, रेफ्रीजरेटर, एयर कंडीशनर जीवन की कल्पना करना असम्भव हो गया है। वृक्ष अन्धाधुंध काटे जा रहे हैं। वृक्ष लगाये नहीं जा रहे हैं। यज्ञों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। आधुनिकता और विकास के नाम पर जो बाध बनाये जा रहे हैं, वही जान लेवा हो गये हैं। ऋतुचक्र अव्यवस्थित हो गया है। हाइड्रोजन तथा अन्य एटमी बम सारे वातावरण को विषाक्त कर रहे हैं। वर्षा कभी भी हो सकती है या कभी भी नही हो सकती। धरती का तापमान बढ गया है। दक्षिणी ध्रुव के पास ओजोन मे छेद हो गया है। यह ओजोन हमारी सूर्य की अनिष्टकारी किरणों से रक्षा करता है।

इस भयावह चित्र का निदान सम्भव है। सम्पूर्ण संसार के मानवशास्त्री इस कार्य के लिए प्रयत्नशील हैं। ससार के अति प्राचीन ज्ञान ग्रन्थ वेदो मे भी इसके निदान का सकेत है। परन्तु इसके लिए हमे परिश्रम करना पडेगा। निष्ठापूर्वक वैदिक आदेशों का पालन करना होगा। यदि तर्क तथा इच्छा शक्ति से काम लें तो इनका निदान कठिन नहीं है, परन्तु हमारे प्रयास विश्वजनीन होने चाहिए। भारत में पिछले दस वर्षों से वन तथा पर्यावरण की ओर ध्यान गया है, जबकि इनकी ओर हमारा ध्यान बहुत पहले जाना चाहिए था।

वेदों में आदर्श राष्ट्र का स्वरूप राष्ट्रीय प्रार्थना मे वर्णित है। उसमे जो साधन हैं, पर्यावरण से सम्बन्धित बातें इस प्रकार है—निकामे निकामे न. पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम ।। यजु.०२२/२२

हमारी कामना है कि समय पर ठीक वर्षा हो। यह तभी सम्भव है जब राज्य में उत्तम प्रजा हो और यज्ञादि शुभ कर्म किये जाए। यह सर्वसम्मत स्वीकृत तथ्य है, कि यज्ञादि शुभकर्म होगे तो मेघमण्डल शुद्ध होकर समय पर वर्षा भी होगी, अतिवृष्टि व अनावृष्टि से हमारी रक्षा होगी परन्तु हमतो इसके विपरीत कर्म कर रहे हैं। कोयले और बिजली के कारखानो से निकलने वाली गैस हमारे वायुमंडल को समाप्त कर रही है। जिससे विविध रोगो की उत्पत्ति होती है। अत. हम यज्ञ करें इससे हमारी रक्षा होगी। यज्ञ विधान मे इस बात का वर्णन आता है कि विशेष वनस्पतिया डालने से, विशेष रोग से पीड़ित लोगो को लाभ मिलता है। उस विषय में गुग्गल को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। राष्ट्र की अगली आवश्यकता है कि वनस्पतिया, फल-मूलादि प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न हो। जो फलाहारी और शाकाहारी हैं वे दीर्घायु होते हैं। वनस्पतियां, वृक्ष आदि भू-क्षरण को रोकते हैं, जलप्लावन को रोकते हैं और वायुमण्डल को शुद्ध करते हैं। हमें वन्य पशुओं की भी रक्षा करनी चाहिए। वेद का आदेश है—मा हिंसी: पुरुष जगत्। प्राणी जगत् का विनाश मत करो। आज वनों में नये पेड़ जो स्वत: पैदा हो जाते थे, नही हो रहे हैं, इसका कारण यह है कि वृक्ष से गिरने वाला बीज जो वन्य पशुओं के खुरो से जमीन मे दब कर अकुरित होता था, वैसा नही हो रहा है। देवदार के बीज के लिए यही कठिनाई है।

यज्ञ द्वारा पर्यावरण शोधन के तो अनेक उदाहरण प्राप्य हैं—शन्नो वात: पवताम् (यजु०३६/१०) यज्ञ से सुखकारी वायु चलने लगती है। हम प्रति दिन यज्ञ प्रार्थना में बोलते हैं—लाभकारी हों हवन हर जीवधारी के लिये। वायु जल सर्वत्र हो शुभ गन्ध को धारण किए। शमु सन्तु यज्ञा :—यज्ञ हवन, कल्याणकारी हो। श न ईषिरो अभिवातु वात:–चारो ओर सुखदाता वायु का प्रवाह चले। श न: ओषधिर्वनिनो भवन्तु-वृक्ष वनस्पतियो का वन्य रूप हमे सुखकारी हो। गोघृत को विषनाशक शक्ति से युक्त माना गया है। आज भी गांव-देहात मे सर्प-काटे व्यक्ति को घी पिला दिया जाता है। अग्नि के मेल से तो घी की शक्ति और भी बढ जाती है, जैसे छौंक द्वारा चारो ओर सुवास फैल जाता है, अत हमें यज्ञ करने चाहिए। "यज्ञस्य देवमृत्विजम्" यज्ञ ऋतुओ का निर्माता है। ऋतु से वर्षा, वर्षा से वृक्ष और वृक्षो से मेघज वात-यह प्रक्रिया प्रदूषण को समाप्त करेगी। यज्ञाद् भवति पर्जन्य —साथ ही यज्ञ वर्षा की वृद्धि भी करने वाला है। मेघ बनने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है–वायु, धूम्र, अभ्र, मेघ। यही क्रम वेद मे भी उपलब्ध होता है–वाताय स्वाहा, धूम्राय स्वाहा, अभ्राय स्वाहा, मेघाय स्वाहा। (यजु०:२२/२६)

द्यां मा लेखी, अन्तरिक्ष मां हिंसी: (यजु०: ५/४३) वैदिक ऋषि का ज्ञान "ओजोन" तक पहुंचा है, जब वह कहता है–द्युलोक और अन्तरिक्षलोक के विशाल क्षेत्र को विकृत मत करो। ओ३म् द्यौ शान्ति: अन्तरिक्ष शान्ति. (यजु०: ३६/१७) इसमे भी यही बात कही गयी है। वेद में कृषक के लिए भी विद्वान होने की कामनाएं हैं। सुसस्या: कृषीस्कृधि (यजु०:४/१०) हम उत्तम अन्नों की कृषि करें। हम भू संस्कार करें–पृथिवी च मे यज्ञेन कल्पताम् ॥

आवश्यकता इस बात की है कि पांचो महाभूतो मे जो प्रदूषण है, उसको समाप्त करने के लिए प्रयास करें। इसके लिए एक वैदिक समाधान है–हम वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्णत: परिपालन करें इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी तो जगलो में ही रहेंगे, इसलिये वे प्रदूषण नही फैलायेंगे। गृहस्थी लोग यज्ञ करेंगे, जितना प्रदूषण वे फैलाएगे, इसका निराकरण वे यज्ञो द्वारा करेंगे।

इस लेख मे यह विस्तार सम्भव नही है कि पांचो महाभूत किस प्रकार विकृत होते हैं। उनसे क्या हानि है और उनका निदान कैसे करें पर यह निश्चित है कि वैदिक जीवनचर्या के द्वारा हम पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से निपट सकते हैं।

भारत की भूतपूर्व पर्यावरण विकास मन्त्री श्रीमती मेनका गाधी ने 'नीम' के वृक्षो को रोपने की बात कही थी। यह श्लाघ्य है। उन्होने विभिन्न वृक्षो की जीवनी शक्तियो के विषय मे एक पुस्तक भी लिखी हैं। यह विस्तार भी यहा सम्भव नही है। पीपल का वृक्ष पूज्य माना गया है। इसका वैज्ञानिक आधार है, क्योकि यह सर्वाधिक आक्सीजन प्रदान करता है। अन्य वृक्षो के विषय मे विभिन्न तथ्य प्राप्त हैं जो हमारे रक्षक हैं।

भारत के राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमण ने २० दिसम्बर १९८९ को ससद के समक्ष भाषण मे पर्यावरण को विशेष महत्व देने की बात कही थी। पिछले दिनों मेरठ के प्रभात आश्रम मे इस विषय पर एक सगोष्ठी हुई थी और निर्णय लिया गया था कि सरकार को वैदिक समाधान सार रूप में भेजा जाएगा। वेद हमारी अमूल्य सम्पदा हैं जिनके आदेशो के परिपालन से हम सभी समस्याओं का मुकाबला कर सकते हैं।

—डा० धर्मपाल

महर्षि दयानन्द सरस्वती और कृषि

—डा० धर्मपाल—

भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसकी लगभग अस्सी प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है। अधिकांश किसान गांवों में रहते हुए, कृषि के संवर्धन में लगे है। शहरों में अनेक प्रयोगशालाओं में कृषि को बढाने के लिए उर्वरकों तथा बीजों की नस्ल में सुधार के लिए, अनुसंधान किए जा रहे हैं। पूसा इन्स्टीट्यूट इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। देश में हुई औद्योगिक और तकनीकी प्रगति का लाभ किसान को भी पहुंचा है। कृषि आज वर्षा पर निर्भर नहीं है। सिंचाई के लिए नए अविष्कार किए जा चुके हैं। नहरों और ट्यूबवैलों का भरपूर उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता है।

पिछले वर्षों देश में सूखा पड़ा। इस का मुख्य कारण तो वर्षा न होना था। दूसरा कुओं में जल स्तर नीचे पहुंच जाना था। जल स्तर के नीचे पहुंचने के पीछे एक महत्त्वपूर्ण बात है। वह है पहाड़ों से जल्दी पानी बह जाना, नदियों में भी पानी कम हो जाना। पहाड़ों पर से पेड़ों की कटाई निरन्तर हो रही है जिसके कारण वहां पानी नहीं रुकता। वृक्षों के कम होने से पर्यावरण की भी समस्या उठती है। सरकार का इन सब समस्याओं की ओर ध्यान गया है और इन्हे हल करने के लिए निरन्तर प्रयास भी किए गए है। सूखे का सीधा असर हमारी खेती और पशुओं पर पड़ा है। आदमियों के लिए तो खाद्यान्न के भण्डार हमारे पास थे, पर चारे का प्रबन्ध करने के लिए हमे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा।

हमारे प्रधानमन्त्री ने इस समस्या का शीघ्र समाधान खोजने और तत्काल कार्यवाही करने के लिए सितम्बर ८९ में सभी प्रान्तों के मुख्यमंत्रियों की एक बैठक बुलाई थी। इसमे निर्णय लिया गया था कि सूखे को अकाल का रूप नहीं लेने दिया जाएगा और किसी को भूखा नहीं मरने दिया जाएगा। इस घोषणा से देश के लाखों सूखा पीड़ित लोगों को नया, बल, विश्वास और भरोसा मिला है। हमारी सरकार ने इस सूखे से निपटने के लिए अनेक राहत कार्य किए थे। प्रधानमंत्री ने स्वयं सेवी संस्थाओं से भी इस कार्य मे सहयोग की अपील की। वास्तव में यह समस्या कुछ लोगों की, क्षेत्र विशेष की या सरकार की न रह गयी थी। यह तो राष्ट्र की समस्या थी। यह पूरे राष्ट्र के लिए एक चुनौती थी।

सूखे का प्रभाव सबसे ज्यादा गांव के लोगों पर पड़ा। इस सूखे का क्षेत्र राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, उड़ीसा, हरियाणा और उत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था। सरकार ने इससे प्रभावित लोगों को सहायता पहुंचायी और मानवतावादी स्वयं सेवी संस्थाओं ने भी सहायता पहुंचायी। लोगों ने व्यक्तिगत रूप से भी सहायता पहुंचायी।

सबसे भयंकर स्थिति का सामना पशुओं को करना पड़ा। जब किसान, कुछ स्थानों पर उन्हें चारा मुहैय्या न कर पाए तो वे तड़प तड़प कर मर गए। पशुओं की रक्षा करना हमारी राष्ट्रीय जिम्मेदारी है: यह हमारी सरकार की भी जिम्मेदारी है और अनेक स्वयं सेवी संस्थाओं की भी। देश मे अनेक गौशालायें हैं। इन सभी का संयुक्त दायित्व है कि वे सब मिलकर पशुओं की रक्षा करें। हमारी सरकार के बीस सूत्री कार्यक्रम में भी जहां जहां ग्रामीण विकास की बात कही गई है, वहां वहां पशुओं के संरक्षण की बात कही गयी है। यहां तक कि हमारे संविधान की प्रस्तावना मे, तथा अन्य स्थानों पर पशुओं के संरक्षण की बात को याद रखा गया है। हमारे संविधान में नीति निर्देशक तत्त्वों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसके तत्त्व संख्या पांच और छः इस प्रकार हैं—पशु तथा कृषि सुधार; दुधारू पशुओं के वध पर रोक।

पशु तथा कृषि सुधार की बात अनेक महापुरुषों ने समय-समय पर उठाई है। ऐसे ही एक महापुरुष के विषय में आज हम बात करेंगे। महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम समाज सुधारकों की पहली पंक्ति में बड़े ही सम्मानपूर्वक याद किया जाता है। वे भारत के पुनर्जागरण काल के एक महान पुरोधा थे। राजा राम मोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, अरविन्द और स्वामी विवेकानन्द राष्ट्र जागरण के लिए समर्पित महामानव थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होने समाज सुधार के अनेक कार्य किए। उनके कार्य देश, धर्म और समाज के कल्याण के लिए याद किए जाते हैं। उन्होने १८७५ मे बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य-समाज के नियमों में मानवमात्र के कल्याण की अनुगूंज है। उन्होंने एकेश्वरवाद की स्थापना करके भारत के लोगों को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। १८७७ मे महारानी विक्टोरिया के दिल्ली दरबार के समय भारत के अनेक भागों से आए भद्रपुरुषों से मिलकर राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयास किया। वे जन्मगत जातिवाद के विरोधी थे तथा गुण कर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। इसी आधार पर वे दलितों तथा हरिजनों को गले लगाकर, समान अधिकार दिलाने के पक्षधर थे। स्त्रियों के लिए उनका उपकार कभी भुलाया नहीं जा सकता था। जिन स्त्रियों को पढ़ने का अधिकार नहीं था, उनके लिए महर्षि दयानन्द ने पाठशालायें खुलवाई। 'स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्' का विरोध किया। वे स्त्रियों के लिए समान अधिकार चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि पुरुष अपनी पत्नी के मरने के बाद पुनर्विवाह कर सकता है, तो स्त्री क्यों नहीं कर सकती। वे स्त्रियों के पुनर्विवाह के समर्थक थे। उन्होंने सतीप्रथा का विरोध किया। टोना टोटका, बलि जैसी कुप्रथाओं का भी उन्होंने जमकर विरोध किया। उन्होंने देश में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

हमारे देश में १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति विफल हो चुकी थी। इसलिए वे जन जागरण में विश्वास करते थे। उन्होंने अनेक राजाओं को उपदेश देते समय स्वाधीनता, के महत्त्व का प्रतिपादन किया था। यहां तक कि अपने प्रवचनों में भी परमात्मा से स्वराज्य और स्वतन्त्रता के लिए प्रार्थना किया करते थे। दादाभाई नौरोजी ने १९०६ मे कहा था कि उन्होंने स्वराज्य शब्द सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों से सीखा।

महर्षि दयानन्द ने तत्कालीन वायस राय लार्ड नार्थ ब्रुक से कलकत्ता मे स्पष्ट कहा था—मैं किसी भी स्थिति में इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे देशवासियों के विकास के लिए, और संसार के राष्ट्रों मे सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए यह मेरा भारत वर्ष देश (आर्यावर्त्त) शीघ्र ही पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करे। मैं प्रतिदिन प्रातः सायं भगवान से प्रार्थना करते हुए यह मांगता हूं कि वह दयालु भगवान मेरे देश को विदेशी शासन से शीघ्र मुक्त करे।

उन्होंने एक अन्य अवसर पर लार्ड नार्थ ब्रुक से अजमेर में आयोजित विदाई समारोह में कहा था - आप लन्दन पहुंच कर महारानी विक्टोरिया से कह दें—यदि भारतीयों के धार्मिक जीवन में शासन इसी प्रकार हाथ डालता रहा और गाय जो भारत की अर्थ व्यवस्था की रीढ़ और सांस्कृतिक जीवन की प्रतीक है, उसका वध जारी रहा तो १८५७ की क्रान्ति भी दोहराई जा सकती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मानवमात्र के कल्याण के लिए 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की तथा अन्य अनेक ग्रन्थों की भी रचना की।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समस्त विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया। उन्होंने कृषि तथा गौ आदि पशुओं के संरक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने एक संस्था "गौ कृष्यादि रक्षिणी सभा" बनाई। इसके संविधान की प्रस्तावना की पहली पंक्ति है—'जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं।' महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एक पुस्तक 'गौ करुणा निधि' लिखी जो पहली बार संवत् १९३७ चैत्र अर्थात् सन् १८८० मे प्रकाशित हुई। इसके आवरण पृष्ठ पर अंकित है—

गाय आदि पशुओं की रक्षा से सब प्राणियों के लिए ॥
अनेक सत्पुरुषों की सम्मति से आर्य भाषा में बनाया है ॥
इसके अनुसार वर्तमान करने से संसार का बड़ा उपकार है।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

प्रवेश सूचना

(सत्र-१९९१-९२)

डी० ए० वी० नैतिक शिक्षा संस्थान

(अन्तर्गत : आर्य विद्या सभा, डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धकर्तृ समिति)
नई दिल्ली

पद : धर्म शिक्षक

प्रवेश योग्यता : एम० ए०/आचार्य, हिन्दी, संस्कृत व अंग्रेजी भाषा, वैदिक सिद्धान्तो तथा कर्मकाण्ड का ज्ञान आवश्यक।

प्रशिक्षण अवधि : एक वर्ष

सुविधाएं : नि:शुल्क शिक्षा, विशाल पुस्तकालय उपलब्ध, छात्रावासियो को आवास, पानी बिजली सर्वथा नि:शुल्क व भोजन नि:शुल्क।

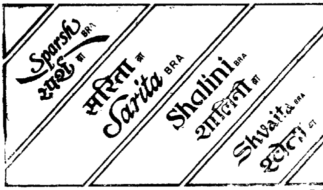
प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद अभ्यार्थियो को डी० ए० वी० शिक्षण संस्थाओ मे "धर्म शिक्षक" पद पर उचित वेतन पर नियुक्त किया जाएगा।

गत पांच वर्षो मे उत्तीर्ण सभी छात्रों को सर्विस मिल चुकी है। केवल निष्ठावान आर्य समाजी पूर्ण विवरण (नाम, आयु, शैक्षणिक योग्यता, अनुभव आदि) सहित आवेदन पत्र १५ जून, १९९१ तक निम्न पते पर भेजे :— "प्रो० रत्न सिंह,
प्राचार्य—डी०ए०वी० नैतिक शिक्षा संस्थान
आर्य समाज मन्दिर मार्ग
नई दिल्ली—११०००१
फोन : ३४३७१८"

Groversons

Paris Beauty परिस ब्यूटी ग्रोवर सन्स

● BRA ● PANTIES ● UNDERWEAR ● BANIAN ●



आन्तरिक वस्त्रों में एक मात्र विश्वसनीय

चमनलाल इन्टरप्राइज़िज़ गली नं 6
Groversons ग्रोवर सन्स
गली नं० 2 बीडनपुरा,
अजमल खाँ रोड, करोल बाग
नई दिल्ली 110005
फोन 582036,5714200, 5729224

200/- रुपये की खरीद पर 1 सुधांशु जी का टेप रिकार्डर कैसेट या तौलिया मुफ्त



चाट मसाला

चाट, सलाद और फलो को अत्यन्त स्वादिष्ट बनाने के लिये यह बेहतरीन मसाला है।

CHAT MASALA

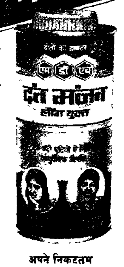
Excellent for garnishing Chat, Salads and fruit to provide delicious taste and flavour



23 जड़ी बूटियों से निर्मित आयुर्वेदिक औषधि

आपके परिवार के लिये पूर्ण दंत सुरक्षा

दांतों का दर्द, मुह की दुर्गन्ध मसूड़ो की सूजन, ठंडा गर्म पानी लगना मुह मे छाले होना तथा दांतो की अन्य बीमारियों का घरेलू इलाज



एम डी एच दंत मंजन लौंग युक्त

अपने निकटतम दुकानदार से खरीदें

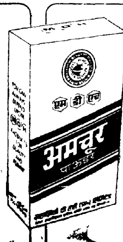
प्रतिदिन प्रयोग करें

अमचूर

अपनी क्वालिटी तथा शुद्धता के कारण यह खाने मे विशेष स्वाद और लज्जत पैदा करता है।

AMCHOOR (Mango Powder)

It adds special tangy taste and flavour to your dishes with its quality and purity.



आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 23-24-5-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५१ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

तपोवन आश्रम, देहरादून का ग्रीष्म महोत्सव सम्पन्न

वैदिक साधन आश्रम, तपोवन के ४२वें वर्ष का ग्रीष्म महोत्सव २२ से २८ अप्रैल तक भव्यता से सम्पन्न हो गया। इस बार का यह समागम उपस्थिति की दृष्टि से अभूतपूर्व रहा।

सामवेद पारायण यज्ञ के मुख्य यजमान दिल्ली के श्री दर्शन कुमार अग्निहोत्री तथा उनके पारिवारिक जन थे। यज्ञ के ब्रह्मा जम्मू से पधारे आचार्य श्री अखिलेश्वर जी ने यज्ञ को अत्यन्त गरिमा और पावनता से सम्पन्न कराया। यज्ञ की समाप्ति पर श्री ओमप्रकाश वर्मा जी के भजन होते थे भजनो के अनन्तर श्री आचार्य जी का प्रवचन होता था।

सप्ताह-भर का योग-साधना शिविर महान् योगी श्री स्वामी सत्यपति जी महाराज के निर्देशन मे चला। श्री स्वामी जी समय-समय पर शंका-समाधान का सत्र भी लेते रहे। मध्याह्नोत्तर मे यज्ञ की समाप्ति के बाद भजनो के अनन्तर श्री स्वामी दयानन्द जी विदेह (वेद-संस्थान, नई दिल्ली) का प्रवचन होता था जो एक प्रकार से साधना का ही क्रियात्मक सत्र होता था।

रविवार २८ अप्रैल की यज्ञ की पूर्णाहुति के अनन्तर विशाल पण्डाल मे हुई सभा मे महाशय आर्य नरेश जी ने अपनी ओजस्वी वाणी मे राष्ट्र-चर्चा करते हुए कश्मीर की वर्तमान स्थिति का चौंका देने वाला चित्र प्रस्तुत किया और श्रोताओं को आह्वान किया कि वे जागरूक हो और जिन लोगो ने सैक्युलरिज्म के पर्दे मे सदा सम्प्रदायवाद का खेल खेलते हुए इस देश के बहुसंख्यक वर्ग का ही अहित किया है उनसे सावधान हो जाए। तभी राष्ट्र रक्षा हो पाएगी।

इसी क्रम में बोलते हुए वैदिक साधन आश्रम सोसाइटी के मंत्री श्री देवदत्त बाली ने कहा कि ससार मे एकमात्र भारत ही ऐसा देश है जहां बहुमत को उतने अधिकार भी नही हैं जितने अहिन्दू कहलाने वालों को प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने संविधान के अनुच्छेद ३० का उल्लेख किया।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वेद-विभाग के प्राध्यापक आचार्य सत्यव्रत जी राजेश का वेद-प्रवचन सदा की भांति अत्यन्त प्रेरक रहा। कांगड़ी के ही आचार्य रामप्रसाद जी वेदालंकार ने वेद के एक सूक्त की शोधात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जिस पर विद्वान जन बहुत आनन्दित हुए।

वेद और यज्ञ मे श्रद्धा रखने वालो के लिए यह आश्रम एक महान् प्रेरणा-स्रोत का काम कर रहा है और जीवनोत्थान की प्रेरणा निरन्तर देता आ रहा है।

—देवदत्त बाली, मन्त्री वैदिक साधन आश्रम, तपोवन

वेद प्रचार

आर्य समाज शालीमार बाग के सदस्य श्री महेश सूद के निवास स्थान पर वेद प्रचार का कार्यक्रम आयोजित किया गया। प्रो० रतनसिंह और डा० महेश विद्यालंकर ने आर्य समाज की प्रासंगता पर अपने विचार व्यक्त किए।



शाखा कार्यालय . ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : [illegible]

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डो० (सी० ७५१)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

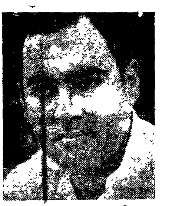
आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३० | रविवार, २ जून, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में १० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

प्रतिहिंसा और मतान्धता की पराकाष्ठा राजीव गांधी की हत्या

राजीव गांधी की श्री पेरुम्बटूर मे एक बम बिस्फोट के कारण हो गई। श्री राजीव गांधी अपने दिन भर के चुनावी दौरे के बाद यहां पर एक जनसभा को सम्बोधित करने के लिए कार से उतरे। श्री गांधी ज्यो ही मच की ओर बढ रहे थे तो कुछ लोगो ने मालाए पहनाई, कुछ लोगो ने गुलदस्ते भेंट किए और कुछ लोगो ने उनका चरण स्पर्श किया। पलक झपकते ही जोरदार धमाका हुआ चिंगारी उठी भगदड मच गई, अनेक लोग मरे तथा अनेक लोग गम्भीर रूप से घायल हुए। श्री राजीव गांधी का रक्तरंजित पार्थिव देह मच के पास पड़ा था, लोग बिलख पड़े।



राजीव गांधी की हत्या निश्चित ही देश मे विक्षिप्त प्रतिहिंसा और मतान्धता की पराकाष्ठा है। यह भारतीय जनतन्त्र के अवसान का भी भयावह सकेत है। हिंसा का भयावह चेहरा ऐसे समय सामने आया है जब विघटनकारी ताकतें सक्रिय हैं। राजीव गांधी ५ वर्ष तक प्रधान मन्त्री रहने के बाद पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुके थे और इस समय सर्वाधिक लोकप्रिय नेताओ मे से थे। वे भले ही नेहरू की भांति अभी तक भारत के प्रतीक न बन पाये हो। परन्तु उनमे श्रीमती इन्दिरा गांधी और प० जवाहरलाल नेहरू जैसा सम्मोहन झलकने लगा था। आज करोड़ों भारतवासी उनकी हत्या पर स्तब्ध और शोकार्त हैं। उनकी हत्या से निश्चय ही देश अस्थिर होगा।

श्री गांधी ने अपनी माता की हत्या के बाद १९८४ मे प्रधान मन्त्री का पद सम्भाला। १९८९ में उनकी पार्टी पराजित हो गई थी। इस समय वे १९९१ के राष्ट्रीय चुनाव के अपनी पार्टी के चुनाव-प्रचार के अभियान पर निकले हुए थे। उनमे आत्मविश्वास था और वे पर्याप्त उल्लसित थे हत्या से कुछ ही समय पहले मद्रास हवाई अड्डे पर उन्होने कहा था कि इस बार कांग्रेस अपने बल बूते पर सत्ता मे लौटेगी। श्री गांधी अपनी पार्टी की विजय के प्रति आश्वस्त थे दिल्ली में ज्यो ही उनकी हत्या का समाचार मिला उनके १० जनपथ निवास के बाहर रोते-रोते और गुस्से से भरे लोगो का जनसमूह आना शुरू हो गया था। लोग किकर्त्तव्य विमूढ थे। इस गुस्से का शिकार सामने पड़ने वाला हर कोई था, वह सुरक्षा कर्मी हो, पत्रकार हो अथवा छायाकार। लोग देश के लिए चिन्तित हैं, सोनिया के लिए चिन्तित हैं तथा राहुल और प्रियका के लिए चिन्तित हैं। लोगो ने राष्ट्रपति के प्रति भी अपना क्रोध दर्शाने मे सकोच नही किया।

राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमन ने श्री राजीव गांधी की नृशस हत्या को बर्बरतापूर्ण बताते हुए कहा है, कि वे अपने दुःख को शब्दों मे व्यक्त नही कर सकते। उन्होंने कहा कि भारत का एक बहादुर और समर्पित सपूत एक कायर की कार्यवाही से मारा गया है। उन्होने कहा कि इस कुकृत्य से हमे सार्वजनिक जीवन में व्याप्त हिंसा का मुकाबला करने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। राष्ट्रपति ने जनता से संयम रखने की अपील की और कहा कि दुख की इस घडी मे हमें अपनी जन्म भूमि पर शान्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। परीक्षा की घडी में भावनाओं में बहने की बजाए शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रयत्न करना होगा। उप-राष्ट्रपति श्री शकरदयाल शर्मा ने श्री गांधी की हत्या पर गहरा दुःख व्यक्त किया।

उनकी मृत्यु का समाचार सुनते ही देश-विदेश से शोक सदेश आने प्रारम्भ हो गये। अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कहा कि—यह सचमुच एक हादसा है, श्री राजीव गांधी उनके सच्चे मित्र थे। इगलैण्ड के प्रधान मन्त्री श्री जानमेजर ने श्री गांधी की हत्या को भारत और विश्व के लिए एक महान क्षति की सज्ञा दी। फ्रास की नई प्रधानमन्त्री ऐदित क्रेंशो ने कहा कि इन्दिरा गांधी के बाद उनका बेटा, ऐसी हत्या सचमुच भयावह होती है। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री नवाज शरीफ ने गहरा दुःख व्यक्त किया। राष्ट्रमण्डल के देशो मे भी उनकी मृत्यु पर गहरा शोक व्यक्त किया गया। रूस के राष्ट्रपति श्री गोर्बाचोव ने कहा कि उन्होने एक मित्र खो दिया है।

भारत के प्रधान मत्री श्री चन्द्रशेखर ने श्री गांधी की मृत्यु पर गहरा शोक व्यक्त किया। आधी रात के बाद करीब २ बजे केन्द्रिय मत्रिमडल की राजनीतिक मामलो की समिति की बैठक हुई जिसमें श्री गांधी की मृत्यु से उत्पन्न स्थिति पर विचार किया गया।

कांग्रेस अध्यक्ष श्री राजीव गांधी की बम विस्फोट से हुई हत्या पर सभी राजनैतिक दलों सामाजिक और सांस्कृतिक सगठनो ने गहरा शोक व्यक्त किया है। इस निर्मम हत्या को कायरतापूर्ण कुकृत्य बताते हुए अनेक नेताओ ने घटना की कड़ी निन्दा की है। श्री एन टी. रामाराव, श्री अर्जुन सिंह, श्री के सी. पन्त, श्री एम. फारुखी, श्री बालासाहब देवरस, श्री एम करुणानिधि, श्री भास्कर फर्नान्डिस, श्री वसन्त साठे, श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती, श्री लालकृष्ण आडवाणी, प्रो० सी. एन राव, श्री सिद्धार्थ शकर राय, श्री सुब्रमण्यम् स्वामी, श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह, श्री हरकिशन लाल भगत, श्री सज्जन कुमार आदि ने इसे जघन्य कृत्य बताया।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा कार्यालय मे सभा प्रधान स्वामी आनन्द-बोध सरस्वती की अध्यक्षता मे एक शोक सभा हुई, जिसमे डा० सच्चिदानन्द शास्त्री, डा० धर्मपाल, श्री विमल बधावन, श्री महाशय धर्मपाल, श्री सूर्यदेव, डा० शिवकुमार शास्त्री, श्री राजसिंह, डा० ज्ञान प्रकाश श्री सजय कुमार, श्री प्रियतम दास रसवन्त एव अन्य कार्यकर्त्ता सम्मिलित हुए। सार्वदेशिक की ओर से शोक सवेदनाएँ श्रीमती सोनिया गांधी, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री को भेजी गई। प्रेस माध्यम को भी विज्ञप्ति जारी की गई। सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने इसे महान अपूरणीय क्षति बताया।

श्री राजीव गांधी का पार्थिव देह तीनमूर्ति भवन मे रखा गया। सम्पूर्ण देश और विदेशो के गणमान्य लोगो ने श्री राजीव गांधी के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की। तथा विषादग्रस्त परिवार के प्रति अपनी सवेदना प्रकट की।

श्री गांधी की अन्त्येष्टि २४ मई को शक्तिस्थल और राजघाट के बीच सैनिक सम्मान पूर्वक की गई। स्व० राजीव गांधी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए ६९ देशो के राष्ट्र प्रमुख उनके अतिम सस्कार मे सम्मिलित हुए। श्री राहुल गांधी ने वैदिक मन्त्रोच्चार के बीच श्री राजीव गांधी का अन्तिम सस्कार किया। श्री गांधी की शवयात्रा मे भारी भीड थी। देश-विदेश के लोग बिलख-बिलख कर रो रहे थे। श्रीमती बेनजीर भुट्टो, श्रीमती मेनका गांधी, श्री अरुण नेहरू श्री गुलाम नबी आजाद, श्री आर के धवन, श्री एम एल. फोतेदार, श्री अमिताभ बच्चन, और अन्य अनेक नेता विषाद ग्रस्त थे। श्री राजीव गांधी की अस्थियो का चयन २६ मई को श्री राहुल गांधी ने किया। नेहरू परिवार की परम्परा के अनुसार एक विशेष रेल से इलाहाबाद ले जाया गया। कुछ समय के लिए पैतृक निवास आनन्द भवन मे इन अस्थि कलशो के रखने के बाद इन्हे सगम मे प्रवाहित किया गया।

गौरव और गरिमा के प्रतीक दलितो के परमहितैषी श्री राजीव गांधी को अश्रुपूरित नेत्रो से और विगलित हृदय से राष्ट्र ने अन्तिम बिदाई दी। उस महान आत्मा के लिए हमारी सश्रद्ध विनत श्रद्धांजलि।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेदों की सार्वभौमिकता

—पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)

वेद ज्ञान की निधि हैं। वेदों में अनन्त ज्ञान और विज्ञान भरा हुआ है। विश्व संस्कृति के आधार वेद हैं, इनसे विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ है। अतएव स्मृति ग्रन्थों में वेद को सर्वज्ञानमय बताते हुए इसे धर्म का आधार कहा गया है और द्विजमात्र के लिए वेदों के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनुस्मृति २-६

सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु० २-७

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः। मनु०२-१६६

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा। यजुर्वेद ७-१४

वेदों के विषय में स्मृतियों आदि की यह अवधारणा गम्भीर चिन्तन का फल थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को अक्षय ज्ञान का स्रोत और मानव मात्र के लिए अभ्युदय का आधार माना है। वेदों की ज्योति से ही समस्त विश्व का कल्याण सम्भव है। अतएव ऋषिवर ने आर्य समाज के दस नियमों में सभी आर्यों के लिए वेदाध्ययन अनिवार्य कर्त्तव्य बताया है।

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'। (नियम-३)

महर्षि यास्क का कथन है कि वेदों में गूढ़ तत्व छिपे हुए हुए हैं। उन्हें ऋषि या तपस्वी ही जान सकते हैं।

नहि एषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसो वा। निरुक्त १३-१२

महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में जहाँ अन्य विविध विषयों का विवेचन किया है, वहाँ उन्होंने कतिपय वैज्ञानिक विषयों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। उसमें विशेष उल्लेखनीय विषय ये हैं—

पृथिव्यादि लोक भ्रमण-विषयः, आकर्षणानुकर्षण विषयः, प्रकाश्य-प्रकाशक-विषय, गणितविद्या-विषयः, नौविमानादिविद्या-विषयः, तारविद्या विषय., वैद्यकशास्त्रमूलविषयः आदि।

अर्थात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं, सूर्य के आकर्षण से लोक रुके हुए हैं, सूर्य चन्द्रमा आदि को प्रकाश देता है, वेदों में गणित विद्या नौका, विमान आदि की रचना तथा तारविद्या और वैद्यक शास्त्र का मूल विद्यमान है।

महर्षि दयानन्द ने विविध मन्त्रों के उल्लेख द्वारा सिद्ध किया है कि विज्ञान की विविध विद्याओं से सम्बद्ध मंत्र वेदों में प्राप्त होते हैं और इनके गहन अध्ययन के द्वारा शिल्प और विज्ञान की अनेक विद्याओं का रहस्य का पता चलाया जा सकता है।

वेदार्थ प्रक्रिया और महर्षि दयानन्द—

वेदार्थ प्रक्रिया में महर्षि दयानन्द का अनुपम योगदान है—नैरुक्त प्रक्रिया निरुक्त प्रतिपादन इस प्रक्रिया में वेदों के देवता आदि वाचक शब्द रूढ़ न होकर यौगिक है और वे यौगिक अर्थ के बोधक होने से तद्गुण विशिष्ट विभिन्न अर्थों का बोध कराते हैं। अतएव इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सोम आदि शब्द परमात्मा, जीवात्मा, प्राण वायु आदि अनेक अर्थों का प्रसंगानुसार बोध कराते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की सबसे बड़ी भूल यह रही है कि इन विद्वानों ने इन शब्दों को रूढ़ मानते हुए एकार्थक माना है और वे इन शब्दों का रहस्य समझने में असमर्थ रहे हैं। अतएव उनके लिए इन्द्र-वृत्र आदि शब्द केवल देव-असुर-संग्राम आदि तक ही सीमित रह गये हैं।

सायण आदि आचार्यों की भूल यह है कि उन्होंने वेदों का अर्थ करने में सभी मन्त्रों को देव-स्तुति-परक या यज्ञ-परक मान कर तदनुसार मन्त्रों की व्याख्या की है। उन्होंने उन मन्त्रों के आध्यात्मिक या वैज्ञानिक अर्थों की सर्वथा उपेक्षा की है। पाश्चात्य विद्वानों ने उनके अर्थों को आधार मान कर अपने अनुवाद आदि प्रस्तुत किए हैं। अत. वे वेदार्थ की रहस्यात्मकता और गम्भीरता से वंचित रह गये हैं।

वेदों के आध्यात्मिक और रहस्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में विशेष उल्लेखनीय है—योगिराज अरविन्द घोष, प० मधुसूदन ओझा, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प० रामदत्त शुक्ल एडवोकेट (लखनऊ), प० मोतीलाल शास्त्री आदि।

वेदों का वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन करने वाले भी कतिपय विद्वान् हैं। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—

Positive sciences in the vadas के लेखक डा० बी० डी० मेहता।

"The Vedic Gods, As Figures of Biology के लेखक प्रो० वी० जी० रैले।

Founders of science in Ancient India के लेखक डा. सत्यप्रकाश सरस्वती।

Science in the Vedas के लेखक आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री।

वैदिक साहित्य संरक्षण—

वैदिक साहित्य के संरक्षण में अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने श्लाघनीय प्रयत्न किए हैं। इनके प्रयत्न का ही फल है कि वैदिक वाङ्मय अभी तक सुरक्षित है और वैदिक ज्ञान का विश्व भर में प्रचार और प्रसार हुआ है। इन आचार्यों के लिए वैदिक शब्दों में यही श्रद्धांजलि है कि—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। ऋग्वेद १०-१४-१५।

इन आचार्यों की बहुत लम्बी सूची है। कुछ विशेष उल्लेखनीय भारतीय आचार्य हैं—महर्षि दयानन्द, आचार्य सायण, आचार्य वेंकट माधव, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, डा० हरिदत्त शास्त्री, डा० मंगलदेव शास्त्री, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० सूर्यकान्त, जयदेव विद्यालंकार—क्रमशः

आर्यत्व में प्रखरता लायें

—श्री बाबूरामसिंह 'कवि'

विनती विनम्र हर आर्य से, आर्यत्व में प्रखरता लायें।
संकल्प दृढ़ लें तन मन से, बुद्धिजीवी वर्ग आगे आयें॥

हर आर्यों के घर घर अन्दर वेदों का सुन्दर पाठ होवे।
जागरूकता, एकात्मा, आर्यत्व का पावन घाट होवे॥

गो पालन होवे घर-घर में तुलसी का पौधा लगवायें॥
संकल्प दृढ़ लें तन मन से बुद्धिजीवी वर्ग आगे आयें।

गो माँ से सबकी रक्षा है, गो दुग्ध ही स्वास्थ्य सुधारक है।
जो गो भक्षण करने वाला कैसे वो सत्य विचारक है॥

है घोर नरक यह महापाप इस अत्याचार को रुकवावें।
संकल्प दृढ़ ले तन मन से बुद्धिजीवी वर्ग आगे आयें॥

ऋषिवर का पावन चरित्र हर आर्य उसका ध्यान करें,
अपनाकर अन्तःकरण में निज हृदय से अति सम्मान करें॥

यज्ञ, जनेऊ घर घर में सहयोग देकर के करवायें।
संकल्प दृढ़ ले तन मन से बुद्धिजीवी वर्ग आगे आयें॥

जो कवि, लेखक, उपदेशक है हर शहर-शहर प्रसार करें।
महिला मंडल भी संगठित हो धर्म वेदों का प्रचार करें।

जागरूक हो करके नर नारी मर मिटने की कसम खायें।
संकल्प दृढ़ ले तन मन से बुद्धिजीवी वर्ग आगे आयें॥

वेदों का ज्ञान ऋषिवर का मत हर जगह-जगह पर जा करके।
सद्भाव प्रेम दे जन-जन को लौटे प्रभु कृपा पा करके।

कर्त्तव्य यही हर आर्यों का मरते दम तक नहीं भूला पावें।
संकल्प दृढ़ लें तन मन से बुद्धिजीवी वर्ग आगे आयें॥

हर आर्य मूल में बोध भाव भी पूज्य रहे ऋषिवर मत से।
जानकारी हेतु सम्पर्क करें संस्था के उच्च सभासद् से।

अब चुप न रहें सह अत्याचार तन्द्रा निद्रा से जग जायें।
संकल्प दृढ़ लें तन मन मन से बुद्धिजीवी वर्ग आयें॥

मानवता, सदाचार, सद्गुण का अपने अन्दर योग करें।
तन-मन से आर्य संस्था का हर आर्य मिल कर सहयोग करें।

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

सम्पादकीय

एक गरिमामय व्यक्तित्व :

राजीव गांधी

श्रीमती इन्दिरा गांधी के निधन से इस देश के सामने एक भयानक सा निर्वात उत्पन्न हो गया था, परन्तु राजीव गांधी ने यद्यपि वे राजनीति में परिपक्व नही थे, श्रीमती गांधी के निधन के बाद के राष्ट्र को अपनी सूझ बूझ से संभाल लिया था। श्री गांधी ने राष्ट्र को स्थिर एवं अखण्डता प्रदान की। लोगो के मन का सन्देह कि हवाई जहाज चलाने वाला यह शर्मीला युवक क्या देश चला पाएगा, काफूर हो गया और उसने राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान किया, उसे विश्व के धरातल पर सम्मान जनक स्थान दिलाया।

अपने छोटे भाई श्री संजय गांधी के निधन के बाद वे राजनीति में आये थे। संजय आक्रामक राजनीति के प्रतीक थे, परन्तु राजीव के आयाम शान्त, सहज और मलमनसाहत से भरे थे। इसी व्यक्तित्व के कारण उन्हें पार्टी की और देश की विश्वसनीयता प्राप्त होती गई। परिवार का बड़ा नाम तो उनके साथ था ही। वे कांग्रेस के महासचिव बनाए गए। यह कार्यकाल छोटा था, पर इस काल को भी उनकी कम्प्यूटरी व्यवहारिकता के आधार पर याद किया जाएगा। उनका चिन्तन अत्यधिक आधुनिक एवं व्यावहारिक था। उनके व्यवहार मे कहीं पर भी निषेधात्मकता नहीं थी, जैसी कि उनसे पहले की पीढ़ी के लोगो में साम्राज्य विरोधी भावनाएं थी, उनके मन में और व्यवहार मे तो सकारात्मक रचनात्मकता थी।

श्रीमती गांधी के बाद वे प्रधानमन्त्री बने। और तत्काल हुए चुनावो में उन्हें आशातीत भारी बहुमत मिला। राजीव गांधी ने घोषणा की कि वे मुठभेड़ के स्थान पर सामजस्य की राजनीति करेंगे। हमारा देश श्रीमती गांधी की चीता शैली मोहक अदा पर फिदा था, पर नए नेता की नई भावनाओ का लोगों ने स्वागत किया। श्री गांधी ने सबसे पहला समझौता सन्त हरचन्दसिंह लोगोवाल के साथ किया। इस समझौते का विरोध भी हुआ और समर्थन भी, पर श्री गांधी की मनचाही न हो पाई क्योंकि सन्त लोगोवाल को ही उनके ही लोगों ने छीन लिया।

इसके बाद श्री गांधी ने लालकिला की प्राचीर से घोषणा की कि उन्होने राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की खातिर असम के छात्र प्रतिनिधियों से समझौता किया है। देश की अर्थव्यवस्था को चरमरा देने वाले इस समझौते से तसल्ली और शकून की लहर देश में फैल गई थी।

इन समझौतों का सम्भवतः वह परिणाम तो नही निकला जो वांछित था, परन्तु सारे देश को यह अवश्य पता चला कि श्री गांधी कुछ नया कार्य करना चाहते हैं। उनको आम जनता की स्वीकार्यता भी मिली। राजीव गांधी अपनी प्रतिभा और गरीमा के चरम शिखर की ओर चढ़ने जा रहे थे। उनके बारे मे यही धारणा थी कि वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले आधुनिक विचारों वाले युवा है जो राजनीति को ज्ञात दुर्बलताओ से मुक्त करके नया प्रकाशस्तम्भ बनाएंगे। पर उनकी इस अवधारणा को शाहबानो केस मे बहुत बड़ा धक्का लगा। राजीव की ओर बोफोर्स शक की सुई भी उठी थी, पर इसका निर्णय होने से पहले ही कि लोगो ने उनको उस शक से मुक्त कर दिया है, वे काल कवलित हो गये। आगामी चुनाव ही इसका निर्णय देंगे।

राजीव गांधी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक सहयोग एव सद्भाव को संवर्धित करने वाले कार्य किए। उन्होने अमेरिका से सम्बन्ध बनाए, गोर्बाचोव

(शेष पृष्ठ ५ पर)

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(१९ मई, ९१ के अंक से आगे)

ये लोग शायद आर्य समाज मन्दिर में साधारण आर्य समासदों के साथ दरी पर बैठ कर सत्संग करने मे अपने उच्च पदो की गौरव हानि समझते थे। मुझे एक बार इनके सत्संग में उपस्थित होने का अवसर मिला। यों श्री शिवहरे आर्य समाज सरदारपुरा के सभासद ही थे। बाद में श्री महेशदत्त भार्गव भी सरदारपुरा मे रहने लगे। वे जोधपुर उच्च न्यायालय मे वकालत करते थे। सर्व श्री घीसूलाल जी, विश्वम्भर दयाल जी, मानमल जी तथा छोटूमल जी से मेरी अधिक पटती थी। हम लोग प्रायः परस्पर मिलते तथा आर्य समाज से सम्बन्धित समस्याओ पर चर्चा करते।

आर्ष पथ मासिक का प्रकाशन—

श्री घीसूलाल जी आदर्शवादी तथा कल्पनाशील मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। उनमे भावुकता भी पर्याप्त मात्रा मे थी। अपने अध्यापकीय जीवन की जिम्मेदारियों को निभाने के पश्चात् मेरे पास समय पर्याप्त रहता था। यद्यपि लेखन का काम तो चलता ही रहता था, किन्तु आर्य समाज की गतिविधियो मे चौबीस घन्टे उलझे रहने के कारण हम लोग आपसी विचार विमर्श मे भी पर्याप्त समय लगाते थे। इन्हीं दिनों मैंने अपनी मित्र मण्डली के सम्मुख "आर्ष पथ" शीर्षक से एक मासिक पत्र निकालने का सुझाव रखा। श्री घीसूलाल जी आदि ने इसका उत्साह से स्वागत किया। हमने श्री चांदमल जी को सम्पादक और प्रकाशक बनाया जोधपुर के जिलाधीश से आर्ष पथ निकालने की अनुमति भी मिल गई। उधर समाचार पत्रो के महा पजीकार ने इसका पजीकरण भी कर दिया। हममें से कुछ लोगो ने प्रतिमाह १० रुपये पत्र के व्यय हेतु देने का निश्चय किया था। उन दिनो मुद्रण अधिक महगा नहीं था किन्तु पत्र के छपाने के लिए हमने किसी बड़े प्रेस से अनुबन्ध नही किया।

उन दिनो सर प्रताप हाई स्कूल के मेरे सहकर्मी सहायक अध्यापक श्री बालकृष्ण भिवानी ने प्रभा प्रेस स्थापित किया और 'प्रभा' नामक मासिक पत्रिका भी निकाली थी। मैं भी इस पत्रिका के सम्पादक मण्डल में रहा था। हमने श्री भिवानी के प्रेस मे ही अपने पत्र के छपाने की व्यवस्था की। सम्पादन का कार्य तो मुझे ही करना था किन्तु सरकारी सेवा में रहने के कारण मैंने श्री चादमल जी को सम्पादक तथा प्रकाशक के रूप मे डिक्लेरेशन भरने के लिए राजी किया था। परामर्शदाता के रूप मे हमने प० धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा श्री शिवपूजनसिंह कुशवाहा के नाम रखे थे। प० गंगाप्रसाद उपाध्याय का आशीर्वाद हमे प्राप्त हुआ था।

आर्ष पथ के ४-५ अंक ही निकल सके। आर्थिक व्यवस्था सुदृढ होना पत्र के स्थायित्व की पहली शर्त होती है। हम तो १०-१० रुपया मासिक सहायता लेकर या अपने पास से देकर पत्र चलाना चाहते थे, फिर भला आर्षपथ को आर्थिक आत्म निर्भरता कैसे प्राप्त होती? दूसरा कारण हमारी असफलता मे प्रभा प्रेस द्वारा निर्धारित समय पर पत्र को न छापने का भी रहा।

आर्य समाज सरदारपुरा मे मुझे जब पारस्परिक सौहार्द का अभाव दिखाई दिया तो कुछ सज्जनो के आग्रह से मैं आर्य समाज रातानाडा का सभासद बन गया। यहा मैं उपप्रधान पद पर भी रहा और १९६२ मे मन्त्री चुना गया। यहा श्री महावीरसिंह गहलोत, जो साहित्यिक रुचि सम्पन्न व्यक्ति थे और व्यवसाय से वकील थे, प्रधान पद-पर आरूढ़ थे। उन्ही दिनो आर्य वीर दल का एक शिविर आर्य समाज रातानाडा मे लगा जिसमे मुझे बौद्धिक प्रवचन करने का कर्तव्य निभाना पड़ा। यदा-कदा मैं नगर आर्य वीर दल की शाखाओ मे भी प्रवचन देता था। इस आर्य समाज मे दयानन्द विद्या मन्दिर के नाम से एक मिडिल स्कूल चलता था जिसकी व्यवस्था आनन्द सिनेमा के मालिक श्री आनन्द सिंह कछवाहा के अधीन थी।

(क्रमशः)

आर्य जनता से नम्र निवेदन—

गुरुकुल की पुण्य भूमि को बचाओ

—श्री वीरेन्द्र—

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने हरिद्वार से पांच मील दूर कांगड़ी ग्राम के पास अपने गुरुकुल की स्थापना की थी। जब वह वहां गये तो वहां एक बहुत बड़ा जंगल था। एक पहाड़ की गोद में गंगा के किनारे एक जंगल में उन्होंने अपनी धुनी रमा ली और धीरे-धीरे वहां एक बहुत बड़ी संस्था खड़ी कर दी गई। उसके साथ ही कई छोटे-बड़े भवन भी खड़े कर दिए गये और उसे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का नाम दे दिया गया। धीरे-धीरे सारे देश में और फिर देश से बाहर इसकी चर्चा होने लगी। जो भी वहां आता उसे देख कर चकित रह जाता कि एक जगल मे मंगल सा कर दिया गया है। जिस स्थान पर इस विश्वविद्यालय के भवन खड़े किये गये थे, वह वर्षा के दिनों में लगभग तीन मास तक बाकी दुनिया से कट कर रह जाता था। वहां पहुचने के लिए कोई सड़क न थी और न ही कोई पुल था। स्वामी जी महाराज ने उसका भी एक उपाय कर लिया था। खाली टीन इकट्ठे करके उनकी एक तमेड़ बनाई जाती थी, उसके ऊपर बैठ कर गगा पार की जाती थी। कनखल से वह चलती थीं और गगा की उछलती कूदती लहरो के सहारे वह गुरुकुल कांगड़ी तक पहुंचा देती थी। उस पर बैठने वाले कई बार पानी मे भीग जाया करते थे। इसलिये जब एक बार भारत के वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड गुरुकुल को देखने आये थे तो उनके लिए इस तमेड पर एक कुर्सी रख दी गई थी। ताकि उनके कपडे पानी से न भीग जाए। वह देखने आए थे कि यह गुरुकुल क्या है और इसे किस भावना से यहां प्रारम्भ किया गया है? उस समय की सरकार को यह रिपोर्ट मिल रही थी कि आर्य समाज ने यह एक ऐसा केन्द्र स्थापित किया है जहां बच्चो को देश-भक्ति और राष्ट्र भक्ति का पाठ पढ़ाया जाता है। उस समय की सरकार के लिये यह असहनीय था इसलिए सारी स्थिति को देखने के लिये उस समय के वायसराय स्वय वहां गये थे। उनके बाद उस समय के उत्तर प्रदेश के राज्यपाल लार्ड मैस्टन भी वहां गये थे और एक समय वह भी आया जब बर्तानिया के होने वाले प्रधानमन्त्री श्री रेम्जे मैक्डोनल्ड भी वहां गये। जब गांधी जी दक्षिणी अफ्रीका से वापिस भारत आए थे तो वह भी वहा गये थे और वहां कुछ दिन महात्मा मुन्शीराम जी के पास जाकर रहे और फिर धीरे-धीरे देश के सब बड़े-बड़े नेता वहा जाने लगे। यह सब यह देखने के लिये जाया करते थे कि यह गुरुकुल है क्या? स्वामी श्रद्धानन्द जी यह एक नया परीक्षण कर रहे थे और सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह एक ऐसे स्थान पर गुरुकुल का भवन बनाया जा रहा था जहां एक मकान तो क्या एक कुटिया बनाना भी बहुत कठिन था। परन्तु धीरे-धीरे वहां एक बहुत बडा भवन खड़ा हो गया और यही भवन गुरुकुल कांगडी के नाम से सारे ससार मे विख्यात हो गया।

इस गुरुकुल को बनाने का श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के अतिरिक्त आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब को भी है। इस गुरुकुल के प्रत्येक कमरे मे जो पत्थर लगे हुए हैं वह यह याद दिलाते हैं कि इस महान् सस्था को बनाने मे पजाब के आर्यसमाजियो ने एक बहुत बडी भूमिका निभाई थी। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने कांगडी ग्राम मे जाकर जो भूमि प्राप्त की थी उसकी रजिस्ट्री भी उन्होने आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के नाम करवाई थी। परन्तु १९२६ मे गगा में बाढ आई और इसके कई छोटे बडे मकान गगा बहाकर ले गई। इस काण्ड के बाद आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के अधिकारियो ने सारी स्थिति पर विचार करने के पश्चात् यह निर्णय लिया कि अब गुरुकुल को यहा रखने से कोई लाभ न होगा, बाढ के द्वारा भवनो को तो नुकसान पहुच ही रहा है, हो सकता है गगा किसी दिन सभी कुछ बहा कर ले जाये और उसके साथ ही हम अपने ब्रह्मचारियो से भी हाथ धो बैठे। इसलिए हरिद्वार मे एक नया गुरुकुल प्रारम्भ करने का निर्णय लिया गया और फिर धीरे-धीरे गुरुकुल कांगडी को हरिद्वार में प्रारम्भ कर दिया गया और उसके बाद फिर वही गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय बन गया। मैं कई बार सोचता हू कि हमारे पूर्वज कितने महान् व्यक्तित्व के मालिक थे। पहले कांगड़ी ग्राम में एक बहुत बडी सस्था खड़ी कर दी गई थी और वहां बाढ़ आने पर वहां से कोई भी चीज बिना उठाये उसे ज्यो की त्यो छोड़ कर दूसरी संस्था उसके पश्चात् फिर हरिद्वार मे उससे भी बडी खड़ी कर दी गई। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज, आचार्य रामदेव जी, पण्डित विश्वम्भर नाथ जी, महाशय कृष्ण जी, पण्डित ठाकुर दत्त शर्मा, पण्डित पशुपति जी और उनके कई सहयोगी, इन सबने मिल कर वह संस्थाएं खड़ी कर दी थीं। परन्तु आज यह पुरानी बिल्डिंग गिर रही है और इसकी एक-एक खिड़की, एक-एक दरवाजा हमें यह चुनौती दे रहा है कि हमारे बुजुर्गों ने तो बहुत कुछ कर दिया था। क्या हम उसकी रक्षा कर सकेंगे? जिन महानुभावों के नाम के पत्थर पुराने गुरुकुल के एक-एक भवन पर लगे हुए हैं उनको देख कर कई बार यह विचार अवश्य आता है कि वह लोग न जाने अब कहां होंगे। परन्तु जहां भी होंगे वह यह अवश्य कह रहे होंगे कि हम तो बहुत कुछ बना आये थे परन्तु हमारे पीछे उसे कोई सम्भाल न सका।

कांगड़ी ग्राम के पास जो पुराना गुरुकुल बनाया गया था उसके बहुत से भवन गंगा बहा कर ले गई थी। अब उसकी एक निशानी बाकी रह गई है। जिसे महाविद्यालय भवन कहा जाता था। यदि उसे बचाने का प्रयास न किया गया तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगामी वर्षा ऋतु में गगा उसे भी बहा कर ले जायेगी और उसके साथ ही गुरुकुल की एक पुरानी निशानी भी खत्म हो जायेगी। जो भवन अब खड़ा है मैं उसे आर्य समाज के इतिहास का एक गवाह कहता हूं। इसलिए सारी स्थिति पर विचार करने के पश्चात् आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने इस भवन को किसी न किसी तरह बचाने और उसके पश्चात् इस पुण्य भूमि में कोई सस्था खडी करने का निर्णय लिया है। वह संस्था क्या हो इसका फैसला उस समय किया जाएगा जब यह भवन बचा लिया जायेगा। परन्तु इस भवन को बचाने के लिये लाखों रुपयो की आवश्यकता पड़ेगी। आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब ने अपनी तरफ से १० लाख रुपया इसके लिये देने का निर्णय लिया है परन्तु मैं समझता हू कि इस पर कम से कम २५-३० लाख रुपया व्यय हो जायेगा। यह राशि सारे आर्य जगत के लिए एक चुनौती है, यदि इसे इकट्ठा करके हम श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की यह पुरानी निशानी व यादगार बचा लेंगे तो यह एक बहुत बडा कार्य होगा। जिस पर आर्य समाज गर्व कर सकेगा। इसलिये मेरी इस देश की आर्य जनता से और विशेष रूप से सब प्रान्तीय समाओ और आर्य समाजो से यह नम्र निवेदन है कि यह गुरुकुल कांगड़ी की इस पुण्य भूमि को बचाने के लिये अपनी ओर से, अपनी सस्था की ओर से व अपने मित्रों की ओर से जो भी दे सकते हैं अवश्य दें यह राशि वहा गुरुकुल पुण्य भूमि निर्माण कोष के लिये इसके सयोजक श्री सुभाष जी विद्यालंकार कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय हरिद्वार को भेजो जाये। हमारा यह भी प्रयास होगा कि जो भाई बहिनें इसके लिये बडी बडी राशि भेजेंगे उनके नाम वहां लिखवा दिये जाएगे और जब इस पुण्य भूमि में कोई सस्था प्रारम्भ की जायेगी तो उन सब को भी वहां आम-त्रित किया जायेगा। हमारा यह भी प्रयास है कि यह सारा कार्य दो वर्ष के अन्दर अन्दर पूरा कर दिया जाये। यह एक यज्ञ है जो हम प्रारम्भ कर रहे हैं। इसलिए प्रत्येक आर्य बन्धु व प्रत्येक बहिन को इस यज्ञ में अपनी आहूति अवश्य डालनी चाहिये। आर्य जनता को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि इसमें सबसे पहली आहूति कैनेडा में रहने वाले एक दृढ़ आर्य समाजी और ऋषि भक्त श्री हरनारायण खन्ना ने एक हजार रुपया भेज कर डाली है। इसके साथ ही एक नया यज्ञ प्रारम्भ हो गया है। हम आशा रखते हैं कि प्रत्येक आर्य बहिन और भाई इसमें अपनी आहूति अवश्य डालेंगे और हम सब मिल कर एक बार फिर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के स्वप्न को साकार बना सकेंगे।

—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

- परोपकार और परहित करते समय अपना मान-अपमान और पराई निन्दा का परित्याग करना ही पड़ता है। इसके बिना सुधार नहीं हो सकता।
- हमारे देश के लोग समय का महत्व नहीं जानते। नियम बद्ध कार्य करना उनके लिए दुष्कर कर्म है। प्रात: से सायं पर्यन्त इनके सारे काम अनियमित होते हैं। समय का व्यर्थ खोना, इनकी अस्त व्यस्त व्यवस्था का एक भारी कारण है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेद पीठ की वेद गोष्ठी सम्पन्न

खाड़ी युद्ध से आन्दोलित पूज्यपाद स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी ने विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों से युद्ध और शान्ति सम्बन्धी चर्चा को सार्वजनीन होने की इच्छा से १०-११ मई १९९१ को एक वेद गोष्ठी आयोजित की। वेदों के मूर्धन्य विद्वान स्वामी जी के निर्देशन में एवं डा० प्रीति अग्रवाल के संयोजकत्व में निर्धारित तिथियों को यह वेद गोष्ठी सफलता पूर्वक सम्पन्न हुई। गोष्ठी के उद्घाटन समारोह में प्रो० त्रिविक्रम पति (निवर्तमान उपकुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय) मुख्य अतिथि एव आर्य समाज के मूर्धन्य विद्वान् पं० मूलचन्द्र अवस्थी ने अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। अत्याधिक अस्वस्थता के बावजूद पूज्य पाद स्वामी जी भी कार्यक्रम में उपस्थित रहे। इससे सत्र में उत्साह का वातावरण रहा। श्री के० एल० भाटिया ने अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेद पीठ का परिचय दिया एवं अतिथियों का स्वागत किया। डा० रुद्रप्रताप श्रीवास्तव (वरिष्ठ प्रवक्ता सी० एम० पी० डिग्री कालेज) ने अभ्यागतों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया। आर्य कन्या डिग्री कालेज की छात्राओं द्वारा प्रस्तुत वैदिक राष्ट्रीय वन्दना से कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। सत्र शिव संकल्प सूक्तगान के साथ समाप्त हुआ।

श्रीमती माधुरी श्रीवास्तव (भूतपूर्व प्रथम महिला जिलाधिकारी) प्रथम सत्र की अध्यक्ष मनोनीत की गई। सर्वप्रथम डा० अशोक शर्मा (प्रो० मोतीलाल नेहरू इन्जीनियरिंग कालेज) ने "वैदिक ज्ञान प्रक्रिया के अन्तर्गत आत्मचेतना का विज्ञान" विषय पर अद्भुत व्याख्यान प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् इलाहाबाद नगर की वेद विदुषियों कु० किरण द्विवेदी एव डा० तमिस्रा चटर्जी ने शोध-पत्र प्रस्तुत किया गया। सत्र का अन्त डा० उर्मिला श्रीवास्तव (प्रवक्ता-आर्य कन्या डिग्री कालेज) के विद्वतापूर्ण व्याख्यान से हुआ।

भोजनोपरान्त मध्याह्न सत्र डा० ज्योतिर्मित (प्रो० एव अध्यक्ष आयुर्वेद विभाग बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। सुश्री माधुरी तर्कसुका (अध्यापिका पाणिनी कन्या महाविद्यालय वाराणसी) ने शोध निबन्ध प्रस्तुत कर सत्र का आरम्भ किया। तदुपरान्त डा० प्रशस्यमित्र (प्रवक्ता फिरोज गांधी डिग्री कालेज, रायबरेली) ने व्याख्यान के साथ ही श्रोताओं के आग्रह पर सस्कृत भाषा में कुछ हास्य व्यग मुक्तक रचनाए सुना कर वातावरण को प्रफुल्लित कर दिया। स्वामी दुधपुरी वेदालंकार जी (गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार) के सारगर्भित व्याख्यान के साथ ही सत्र समाप्त हो गया।

द्वितीय दिवस के प्रथम सत्र की अध्यक्षता प्रो० तेजोमित्र आचार्य (देहारादून) ने की। इस सत्र के प्रथम व्याख्याता श्री दीनानाथ जी (अमेठी) के सुन्दर व्याख्यान के साथ डा० वेद प्रकाश (प्रो० एव अध्यक्ष सस्कृत विभाग-गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार) ने गोष्ठी के विषय पर प्रकाश डाला। डा० अमलधारी सिंह जी (आचार्य-डिग्री कालेज बैसवारा) ने इस अशान्तिपूर्ण युग मे वेदों की महत्ता प्रतिपादित की। गोष्ठी के सभी सत्रों का संचालन अमेठी से आये डा० ज्वलन्त कुमार ने विवेचनापूर्ण शैली में की।

इस द्विदिवसीय व्याख्यानमाला मे प्रमुख विद्वानो ने संस्कृत मे भाषण दिए और अपने अनुसधान पत्र पढ़े। इसका अन्य विद्वानों और श्रोतागणो ने बड़ी हर्ष ध्वनि और तालियों से स्वागत किया। सभी ने वैदिक उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि की। लगभग सभी वेदज्ञों की मान्यता थी कि वेदो में युद्ध और शान्ति के बारे में विस्तृत प्रावधान और उल्लेख है। क्योंकि वेद ईश्वर की ओर से मानव जाति के लिए एक सर्वांगीण आचार-विचार सहिता है। अत इसमे मनुष्य के सभी भावो और कृतियो का उल्लेख होना आवश्यक है। यह वास्तव में युद्ध साधन है और शान्ति साध्य है। शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक एव अपरिहार्य है। वैदिक सिद्धान्तों को आदर्श मान कर लड़ा युद्ध धर्म युद्ध है, यदि इसकी योजना शत्रु विनाश, शान्ति के प्रचार-प्रसार इन दोनो तथ्यों पर आधारित है।

इस प्रकार से विभिन्न नगरों से पधारे विद्वज्जनो के विचारों के प्रस्तुतीकरण के पश्चात् गोष्ठी का अनौपचारिक समापन श्रीमती देवबाला (लखनऊ) के ओजस्वी भाषण से हुआ। किन्तु श्रोताओं के मन मे यह विचार दृढ़ हो गया कि आज की जटिलताओं का समाधान वेदों में ही उपलब्ध है।

अतः ऐसी विद्वतापूर्ण सामयिक गोष्ठियों के आयोजन से वैदिक धर्म की स्थापना का पुनर्प्रयास होना चाहिये। इसी मे समाज का सर्वतोमुखी विकास निहित है। अन्ततः स्वामी जी के आशीर्वाद एव मगल वचनों की इतिश्री हुई।

डा० रुद्रप्रकाश श्रीवास्तव ने सभी वक्ताओं एवं श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त किया।

इस गोष्ठी के आयोजन करने और सुचारु रूप से प्रबन्ध करने का श्रेय गोष्ठी की संयोजक डा० प्रीति अग्रवाल एव उनके सहयोगी साथियों मित्रों तथा विज्ञान परिषद् के अधिकारियों को ही जाता है। उन्होंने बड़ी लग्न एव निष्ठा से यह कार्य किया, वह इसके लिये बधाई के पात्र हैं।

इस अवसर पर आर्य समाज के नेताओं और विद्वानों के सन्देश भी प्राप्त हुए जिसमें उल्लेखनीय है स्वामी आनन्द बोध सरस्वती प्रधान—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, डा० धर्मपाल प्रधान एवं श्री सूर्यदेव महामन्त्री दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, प्रो० वेदव्यास जी प्रधान एव श्री दरबारी लाल सगठन मन्त्री डी० ए० वी० कालेज प्रबन्ध परिषद् नई दिल्ली, इनकी शुभकामनाओ से यह कार्यक्रम सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। —के० एल० भाटिया

नैतिक शिक्षा संस्थान

पांच वर्ष पूर्व डी० ए० वी० नैतिक शिक्षा सस्थान [अन्तर्गत आर्य विद्या सभा] की स्थापना की गई थी। वह निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर है। इस समय देश-विदेश में पांच सौ से ऊपर डी० ए० वी० शिक्षण संस्थाए चल रही है जिनमे हिन्दी तथा अंग्रेजी माध्यम के लगभग ३५० पब्लिक स्कूल हैं। इन सभी पब्लिक स्कूलों में वैदिक धर्म शिक्षा एक अनिवार्य विषय के रूप मे पढ़ाई जाती जाती है। गत वर्ष से यह भी निर्णय लिया गया है कि अन्य विषयों की भांति धर्म शिक्षा की परीक्षा मे भी प्रत्येक छात्र को उत्तीर्ण होना अनिवार्य है।

इस निर्णय से धर्म शिक्षा विषय का महत्व और अधिक बढ़ गया है। फलत. स्कूलो मे धर्म शिक्षकों की माग बहुत बढ गई है। इस माग को ध्यान मे रखते हुए निर्णय किया गया है कि डी० ए० वी० नैतिक शिक्षा सस्थान मे प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षणार्थियो की संख्या मे वृद्धि कर दी जाए। यह विषय भी विचाराधीन है कि इस सस्थान की एक शाखा शीघ्र ही मोहन आश्रम हरिद्वार मे आरम्भ कर दी जाए।

इस समय सस्थान के प्राचार्य पद पर गत पाच वर्षों से आर्य विद्वान प्रो० रत्नसिंह जी कार्य कर रहे हैं और डी०ए०वी० कालेज, कानपुर से सस्कृत विभाग के सेवा निवृत्त प्राध्यापक डा० विजय पाल शास्त्री तथा श्री धर्मवीर शास्त्री सहायक अध्यापक पद पर कार्य कर रहे हैं। इस सस्थान की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए श्री दरबारी लाल जी ने बतलाया कि इस समय देश मे अनेक आर्य सस्थाए उपदेशक व पुरोहित तैयार करने का प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं। डी० ए० वी० नैतिक शिक्षा सस्थान इस दृष्टि से समस्त आर्य जगत् में एक अनूठा उदाहरण है जहा सफल हुए सभी प्रशिक्षणार्थियों को डी० ए० वी० पब्लिक स्कूलो मे अच्छे वेतन पर नियुक्त किया जाता है। इन पाच वर्षों मे जितने अध्यापको ने इस सस्थान मे प्रशिक्षण प्राप्त कर परीक्षा मे सफलता प्राप्त की है उन सभी को डी० ए० वी० पब्लिक स्कूलो में "धर्म शिक्षक" पर सर्विस मिल चुकी है। आगामी सत्र १९९१-९२ मे प्रवेश प्राप्त करने के इच्छुक छात्र अपने आवेदनपत्र पूर्ण विवरण सहित : प्रो० रत्नसिंह, प्राचार्य—डी०ए०वी० नैतिक शिक्षा सस्थान, आर्य समाज मन्दिर मार्ग—नई दिल्ली–११०००१ "पते पर भेजे।"

(पृष्ठ ३ का शेष)

से व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाए, पाकिस्तान, चीन, और बांग्लादेश के साथ भी नए रिश्ते बनाने की कोशिशें हुई। नेहरू की चीन यात्रा के बाद राजीव की ही चीन यात्रा हुई। इन सबके कुछ ठोस परिणाम सामने आते, इससे पहले ही वे हमारे बीच से चले गये।

श्रीलका के साथ समझौता करके उन्होने अपनी ओर से तमिल समस्या को सुलझाने की ईमानदार कोशिश की थी। मालदीव मे भारतीय सेनाए भेजी गई थी।

उन्होने जवाहर रोजगार योजना और पचायती राज बिल रख कर गरीबो के उत्थान के प्रति अपनी उत्सुकता और चिन्ता को रेखांकित किया। बाद की दोनो सरकारें उनके विरुद्ध कोई ठोस सबूत नही जुटा पाई।

राजीव गांधी का जन्म २० अगस्त १९४४ को हुआ था। वे अकाल ही २१ मई को इस असार ससार से विदा हो गये। उनके लिए अभी करने को बहुत कुछ था। उनकी हत्या करके पाशविक वृत्तियो ने एक गरीमामय जीवन का अन्त कर दिया। इससे प्रजातन्त्र को भी खतरा है। उस महामानव के प्रति विनत श्रद्धान्जलि —डा० धर्मपाल

पुस्तक समीक्षा

आर्य महासम्मेलन, श्री गंगानगर राजस्थान की स्मारिका

आर्य समाज की स्थापना शताब्दी विशाल स्तर पर नई दिल्ली मे १९७५ मे रामलीला मैदान मे मनाई गई थी। उस समय भी भारतवर्ष मे तथा विदेशों मे आर्य समाज स्थापना शताब्दी अनेक स्थानो पर मनाई गई थी। आर्य समाज की स्थापना के बाद विभिन्न आर्य प्रतिनिधि सभाओ की शताब्दियां आयोजित की गयी। हरियाणा, उत्तर प्रदेश राजस्थान की स्थापना शताब्दिया अपनी अपूर्व भव्यता के साथ आयोजित की जा चुकी हैं। कुछ स्थानीय आर्य समाजों ने भी अपनी स्थापना शताब्दिया आयोजित की हैं। बम्बई, दिल्ली, मेरठ, रुड़की, देहादून, तथा अन्य अनेक स्थानों पर ऐसे आयोजन किये जा चुके हैं। इन आयोजनो से आर्य समाज आन्दोल को कोई लाभ पहुचता है, इस पर अनेक बार विचार किया जा चुका है। वास्तव में जब भी कोई आयोजन होगा, उसकी आवाज जन सामान्य तक तो अवश्य पहुचेगी, समाचार पत्रो, रेडियो और दूरदर्शन पर भी उसका जिक्र अवश्य आएगा। इससे धीरे-धीरे जनमत भी अवश्य बनता है। इनका एक लाभ और है, हम अपने अतीत मे झाक कर देखते हैं, उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं और आगे के लिये तैयार होते हैं? पिछले दिनो हैदराबाद के सत्याग्रहियो को हम ने स्मरण किया, गो भक्त शहीदो को स्मरण किया इससे निश्चय ही कुछ करने की भावना बलवती हुई है। हैदराबाद मे भी एक विशाल समारोह हैदराबाद सत्याग्रह की अर्धशताब्दी के उपलक्ष्य मे आयोजित किया जा चुका है। इन सभी कार्यों में सार्वदेशिक सभा की अपनी अह भूमिका होती है। उसकी प्रेरणा पर, सम्पूर्ण भारत की आर्य समाजों तथा प्रान्तीय सभाओं की ओर से त्रिसूत्री कार्यक्रम-गोरक्षा, अंग्रेजी हटाओ तथा मद्य निषेध के सम्बन्ध मे अनेक आयोजन हो चुके हैं। इन समारोहो से जनसामान्य को विचार करने का अवसर मिलता है।

इसी शृखला मे श्री गगानगर राजस्थान मे राजस्थान आर्य समाज शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य मे आर्य महासम्मेलन का आयोजन ८-९-१० अक्तूबर १९८९ को किया गया था। यह स्वाभाविक ही है कि वहा पर अनेक सम्मेलन हुये, और भविष्य के लिये नये कार्यक्रम बनाये गये। वहां पर एक विशेष और उल्लेखनीय कार्य हुआ और वह है कि सुन्दर एव भव्य स्मारिका का प्रकाशन। इस प्रकाशन की अपनी एक विशेषता है। इसमे आर्य समाज के दस नियमों की व्याख्या, अधिकारी विद्वानो से कराई गई है जो समयानुकूल है। मानवोत्थान के इन स्वर्णिम सूत्रो का ऐसा प्रासगिक विवेचन, आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं के लिए उत्साह एवं प्रेरणा प्रदान करेगा। इस अवसर पर अखिल भारतीय जन विचार सगोष्ठी भी आयोजित की गई। इस विचार गोष्ठी में गम्भीर विषयो पर विचार हुआ। हमे विश्वास है कि इसकी प्रकाशित रिपोर्ट भी शीघ्र ही मिलेगी।

इस स्मारिका को तैयार करने वाले सभी बन्धुओं का साधुवाद एव अभिनन्दन।

—डा० धर्मपाल

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली

के तत्वावधान मे

विशाल युवक निर्माण शिविर व योग साधना शिविर

महात्मा आर्य भिक्षु जी के संरक्षण व स्वामी जीवनानन्द जी की अध्यक्षता में

८ जून से १६ जून १९९१ तक गुरुकुल कण्वाश्रम कोटद्वार पोड़ी गढ़वाल में

आर्य युवकों के लिए जीवन निर्माण का स्वर्ण अवसर

अनुशासित जीवन, भारतीय सस्कृति व वैदिक सस्कृति की जानकारी, योगासन, दण्ड-बैठक, लाठी, कराटे, बाक्सिग, फ्री स्टाईल कुश्ती, पर्वतारोहण, तैराकी आदि व्यायाम व आत्मरक्षा सम्बन्धी शिक्षण तथा जगल के रमणीक वातावरण में नदी के तट पर एक रोमाचकारी शिविर। युवको हेतु प्रवेश शुल्क ६० रु० तथा योगसाधको हेतु १०० रु० इच्छुक नवयुवक व योगसाधक निम्न पते पर शीघ्र सम्पर्क करे :—

(१) महामन्त्री, केन्द्रीय आर्य युवक परिषद्, आर्यसमाज कबीर बस्ती, पुरानी सब्जी मण्डी, दिल्ली-७

(२) आर्य समाज (अनार कली) मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
फोन ३४३७१८

(३) श्री धर्मपाल आर्य डी०ए०वी० फार्मेसी चित्र गुप्त रोड, पहाड़गज, नई दिल्ली-५५ फोन ७३४६१४/१२७८८७

उद्घाटन समारोह

शनिवार ८ जून १९९१, साय ५ बजे

अध्यक्षता—प्रि० वाई० पी० वर्मा (प्रबन्धक डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल कोटद्वार)

विशिष्ट अतिथि—प्रि० शमा शर्मा (कोटद्वार)

मुख्य अतिथि—श्री नारायण किशोर एडवोकेट (बिजनौर)

आशिर्वाद—महात्मा आर्य भिक्षु जी महाराज (वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर)

उद्बोधन—ब्र० विश्वपाल जयन्त (आधुनिक भीम)

समापन समारोह

रविवार १६ जून १९९१, प्रातः १० बजे से १२-३० बजे तक

अध्यक्षता—युवा आचार्य श्री आर्यवीर भल्ला (फरीदाबाद),

मुख्य अतिथि—श्री रामनाथ सहगल (मन्त्री आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली)

विशिष्ट अतिथि—प्रि० एम० एल० गुप्ता (नरेला) प० क्षितीश जी वेदालकार (पत्रकार)

प्रि० सुरेन्द्र चौधरी (बल्लभगढ) श्री धर्मपाल आर्य (क्रान्ति साबुन वाले) श्री विजय आनन्द आर्य गायक (फिरोजपुर) के आने की सम्भावना है।

विशेष आकर्षण—आर्य युवको द्वारा व्यायाम प्रदर्शन का भव्य कार्यक्रम रहेगा

दो शब्द—अपील

शिविर एक रचनात्मक कार्यक्रम है। आठ दिन तक तीन समय के प्रात. राश व भोजन प्रबन्ध पर हजारो रुपये व्यय होगे। समस्त दानदाता बन्धुओं आर्य जनता व आर्य समाजो तथा डी० ए० वी० विद्यालयों के प्राचार्यों से अपील है कि उदारतापूर्वक इस पुनीत कार्य मे आगे बढ कर सहयोग दे।

आप इस निमित्त आटा, चावल, दाल, शुद्ध घी, दलिया आदि के रूप में भी सहयोग कर सकते हैं। काम चैक। ड्राफ्ट "केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली" के नाम से भिजवायें। समापन समारोह मे परिवार सहित आने का कार्यक्रम बनायें।

—निवेदक—

राम नाथ सहगल	अनिल आर्य	चन्द्रमोहन आर्य	अजय सहगल	विजय भूषण आर्य
स्वागताध्यक्ष	अध्यक्ष	महामन्त्री	कार्यकर्त्ता अध्यक्ष	बौद्धिकाध्यक्ष
६१५१९५	७२१५५३९	५१९२४७	६१५१९५	७१८९२३३

प्रवेश सूचना

(सत्र-१६६१-६२)

डी० ए० वी० नैतिक शिक्षा संस्थान

(अन्तर्गत : आर्य विद्या सभा, डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धकर्तृ समिति)
नई दिल्ली

पद : धर्म शिक्षक

प्रवेश योग्यता : एम० ए०/आचार्य, हिन्दी, संस्कृत व अंग्रेजी भाषा, वैदिक सिद्धान्तो तथा कर्मकाण्ड का ज्ञान आवश्यक ।

प्रशिक्षण अवधि : एक वर्ष

सुविधाएं : नि.शुल्क शिक्षा, विशाल पुस्तकालय उपलब्ध, छात्रावासियो को आवास, पानी, बिजली सर्वथा नि.शुल्क व भोजन निःशुल्क ।

प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद अभ्यार्थियों को डी० ए० वी० शिक्षण संस्थाओं में "धर्म शिक्षक" पद पर उचित वेतन पर नियुक्त किया जाएगा ।

गत पांच वर्षो मे उत्तीर्ण सभी छात्रों को सर्विस मिल चुकी है । केवल निष्ठावान आर्य समाजी पूर्ण विवरण (नाम, आयु, शैक्षणिक योग्यता, अनुभव आदि) सहित आवेदन पत्र १५ जून, १६६१ तक निम्न पते पर भेजे :— "प्रो० रत्न सिंह,
प्राचार्य–डी०ए०वी० नैतिक शिक्षा सस्थान
आर्य समाज मन्दिर मार्ग
नई दिल्ली–११०००१
फोन : ३४३७१८"

कौमी एकता

राजकोट दूरदर्शन द्वारा उपदेशक महाविद्यालय टंकारा के आचार्य पं० ओम्प्रकाश शास्त्री एव उपाचार्य प० अरुणकुमार विदर्मीय के सद्भावना कार्यक्रम के अन्तर्गत (साय ६.१५ बजे से ६ ५५ तक) कौमी एकता विषय पर क्रमशः दि०. २-५-६१ गुरुवार एव दि० १६-५-६१ गुरुवार को विचार प्रसारित किए गए । दोनों महानुभावों ने स्वामी दयानन्द एव आर्य समाज के राष्ट्रीय विचारो को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया कि, आर्य समाज सारे संसार को एक सूत्र में पिरोने के लिए एक भाषा - एक धर्म एव एक राष्ट्र को भूमण्डल पर स्थापित करने के लिए पूर्णतया कटिबद्ध है । इसी से सभी प्रकार के विघटन समाप्त होकर महत्वपूर्ण भूमण्डल का मानव समाज एक होकर अपनी भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति कर सकेगा ।

—ओम्प्रकाश शास्त्री

विशाल युवक निर्माण शिविर

युवा शक्ति को महर्षि दयानन्द की विचारधारा से ओतप्रोत करने तथा शारीरिक एव बौद्धिक रूप से सक्षम बनाने के उद्देश्य से 'केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् के तत्वावधान मे आगामी ८ जून से १६ जून ६१ तक, गुरुकुल कण्वाश्रम, कोटद्वार (पौड़ी गढवाल) मे, विशाल युवक प्रशिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया है ।

अपने जीवन मे कुछ परिवर्तन के इच्छुक नवयुवक अवश्य भाग ले । प्रवेश शुल्क ६०/-रु० है । विशेष जानकारी हेतु निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करे ।

श्री आनन्द प्रकाश आर्य, श्री ब्रह्मदेव गुप्ता एण्ड सन्स, गोखले मार्ग, कोटद्वार (दूरभाष-५१३ व १९०), दिल्ली मे श्री सत्यभूषण आर्य से (८२८८८८२) श्री अजय सहगल (६१५१६५) श्री धर्मपाल आर्य (७३४६१४) पर सम्पर्क करें ।

—चन्द्रमोहन आर्य, महामत्री (५१६२४७)







आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O on 30-31-5-1991 Licenced to post without prepayment, Licence No U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५९ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" २ जून, १९९१

शोक समाचार

आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के सुयोग्य महोपदेशक, शास्त्रार्थ महारथी, एव भू० पू० अधिष्ठाता उपदेश विभाग, श्री प० केशव देव शास्त्री वानप्रस्थ का दिनांक १७-४-९१ को आकस्मिक निधन हो गया । आप इकहत्तर वर्ष की अवस्था मे थे । उनके निधन से आर्य जगत मे एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया है जिसकी निकट भविष्य में पूर्ति होना असम्भव है । आप मूलत: जनपद हरदोई के निवासी थे । दिवगत आत्मा के प्रति विनत श्रद्धांजलि ।

सरला दे ी शर्मा वैदिक छात्रवृत्ति योजना

उपरोक्त छात्रवृत्ति योजना गुरुकुलों तथा आर्य महाविद्यालयों के ऐसे छात्र-छात्राओं के साधारण प्रोत्साहन हेतु देय हैं, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को वैदिक धर्म प्रचारार्थ समर्पित करने का व्रत लिया है ।

योग्य तथा निर्धन छात्र-छात्राए अपने आचार्य द्वारा प्रमाणित आवेदन पत्र शीघ्र निम्न पते पर भेजने का कष्ट करें । —ब्रह्मप्रकाश शास्त्री, महामन्त्री

११/१२४ पश्चिम आजाद नगर, दिल्ली-११००५१

वार्षिक-निर्वाचन

दिल्ली की समस्त आर्यसमाजों को सूचित किया जाता है कि आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य का वार्षिक निर्वाचन ९ जून १९९१ को साय ४ बजे आर्यसमाज हनुमान रोड के सभागार में होगा, कृपया यथा समय अपने दो-दो प्रतिनिधियों को भेजने की अपील करें ।

—डा० शिवकुमार शास्त्री

महामन्त्री



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें ।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३१ | रविवार, ९ जून, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित

आर्य वीर दल प्रशिक्षण शिविर का शुभारम्भ

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से भारत के प्रसिद्ध व्यायामाचार्य डा० देवव्रत आचार्य और श्री बाल दिवाकर हंस के संरक्षण में विशाल चरित्र निर्माण शिविर एवं व्यायाम प्रशिक्षण शिविर का आयोजन महाशय-चुन्नीलाल बालमन्दिर सीनियर सेकण्डरी स्कूल एल ब्लाक हरिनगर में ३१ मई १९९१ से ९ जून १९९१ तक किया गया है।

आर्य वीर दल शिविर का उद्घाटन १ जून १९९१ को प्रात: यज्ञोपरान्त किया गया। इस अवसर पर आर्यवीर महाशय राजीव जी, एम० डी० एच० के निर्देशक मुख्य अतिथि थे तथा श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती अध्यक्ष थे। पं० प्रेमचन्द जी श्रीधर ने उद्बोधन भाषण दिया। श्री सत्यपति जी ने आशीर्वाद दिया।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने आर्यवीरों को उत्साहित करते हुए आशा व्यक्त की कि इस प्रशिक्षण शिविर के बाद ये २५० आर्यवीर अपने अपने क्षेत्रों में आर्यवीर दल की शाखाओं की स्थापना में सहयोग देंगे। किसी भी कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए संस्कारों का विशेष महत्त्व है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कार निर्माण पर विशेष बल दिया है। संस्कार से तात्पर्य है अनगढ़ को गढ़कर सुन्दरतर और सुन्दरतम रूप प्रदान करना। उन्होंने आशा व्यक्त की कि इन युवा छात्रों को पूरी तरह संस्कारित किया जाएगा तथा इन्हें मानव मूल्यों की महत्ता एवं उपयोगिता से परिचित कराया जाएगा।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री और आर्य वीर दल प्रशिक्षण शिविर के अध्यक्ष श्री सूर्यदेव ने दिल्ली में आर्य वीर दल के बढ़ते चरणों की समीक्षा की। उन्होंने कहा कि आर्यसमाज का प्रचार प्रसार करने के लिए युवा-शक्ति को आगे लाने की आवश्यकता है। किसी भी आन्दोलन का इतिहास उठाकर देख लीजिए। सदैव युवाशक्ति ने ही इन आन्दोलनों में प्राणों का संचार किया है।

आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान श्री महाशय धर्मपाल ने आर्यवीरों को आशीर्वाद प्रदान किया और हर सम्भव सहायता देने का आश्वासन दिया। इस अवसर पर श्री प्रियतमदास रसवन्त, डा० ज्ञानप्रकाश, श्री खुशीराम शर्मा, श्री ईशकुमार नारंग, ब्र० राजसिंह आर्य, श्री सुरेन्द्र आजाद, श्री कृष्णपाल, श्री हरीसिंह, श्री रणपाल, श्री विनोद श्री सुरेन्द्र, और अन्य साथियों ने प्राणपण से आर्यवीर दल में प्राण संचरित करने का व्रत लिया।

दिल्ली की विभिन्न आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों ने आर्यवीरों को प्रोत्साहित किया। कार्यक्रम का संचालन ब्र० राजसिंह आर्य ने किया।

आर्य वीर दल प्रशिक्षण शिविर का समापन समारोह ९ जून १९९१ को प्रात: ११.०० बजे आयोजित किया गया। इस समारोह में पूज्य श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, श्री सुरेन्द्र आर्य, डा० वाचस्पति उपाध्याय, डा० धर्मपाल, श्री सूर्यदेव, महाशय धर्मपाल, डा० शिवकुमार शास्त्री, आचार्य हरिदेव जी, आचार्य आर्य नरेश जी आर्य युवकों का मार्गदर्शन करेंगे।

श्री राजीव गांधी का अन्तिम संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न

राष्ट्रवासियों ने अपने प्रिय नेता को अश्रुपूर्ण विदाई दी

विश्व भर के नेताओं ने अन्तिम संस्कार में भाग लिया

२४ मई १९९१, कोटि कोटि देशवासियों के हृदय सम्राट श्री राजीव गांधी का अन्तिम संस्कार दिल्ली के शक्ति स्थल के समीप पूरे राजकीय सम्मान के साथ, पूर्ण वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। भारतीय राजनीति में धूमकेतु की तरह उभरे राजीव गांधी ने थोड़े से समय में विश्व भर में अपना इतना गहरा स्थान बना लिया, यह किसी को आशा नहीं थी। उनकी अन्त्येष्टि में विश्व भर के राष्ट्राध्यक्षों तथा वरिष्ठ नेताओं ने बड़ी संख्या में भाग लेकर स्व० राजीव की स्मृति को चिरस्थायी बनाने का काम किया। तीन मूर्ति भवन से प्रारम्भ हुई शव यात्रा लगभग साढ़े तीन घण्टों का लम्बा मार्ग तय करके जब शक्ति स्थल पर पहुंची तो वहां हृदय विदारक दृश्य था। अपने प्रिय नेता के इस विदाई समारोह में लाखों लोगों के नेत्रों से अश्रु फूट पड़े। लगभग साढ़े पांच बजे ४ फुट ऊंचे चबूतरे पर चन्दन की लकड़ी से तैयार की गई चिता पर राजीव गांधी के पुत्र श्री राहुल गांधी ने वैदिक मन्त्रोच्चारण के बीच मुखाग्नि दी। अन्तिम संस्कार पूर्ण रूप से आर्य नेता और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की देखरेख में सम्पन्न हुआ। गुरुकुल गौतमनगर के ब्रह्मचारियों के सस्वर वेद पाठ से वातावरण गुंजायमान हो गया। श्री नेत्रपाल शास्त्री, श्री दिनेश चन्द्र शास्त्री श्री बालदिवाकर हंस, आचार्य जयत महाराज, आचार्य गणपति राय, मदन लाल पटेल, राम अवतार पाण्डे, पंडित शिवप्रसाद मिश्र तथा पंडित रामा महाराज ने अन्तिम संस्कार क्रिया में सहयोग दिया।

अन्त्येष्टि के समय श्रीमती सोनिया गांधी, पुत्री प्रियंका गांधी, अमिताभ बच्चन, श्री गौतम कौल और उनके रिश्तेदार चबूतरे पर उपस्थित थे। भारत के राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, केन्द्रीय मन्त्री गण, कांग्रेस के नेतागण तथा देश विदेश से पधारे हुए राष्ट्राध्यक्ष और नेता जो शव यात्रा के वहां पहुंचने से पहले ही भीषण गर्मी में बैठे हुए थे, अग्निदाह के अनन्तर सबने खड़े होकर राजीव को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। भीषण गरमी के बावजूद लाखों लोगों की उपस्थिति में बरबस ही नम होती आंखों के साथ राजीव गांधी अमर रहे के नारों से आकाश गूंजता रहा और महायण का राही तब तक पता नहीं कहां पहुंच चुका था।

—प्रचार विभाग

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेदों की सार्वभौमिकता

—पद्म श्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)

(गताङ्क से आगे)

विश्वबन्धु शास्त्री, क्षेमकरण त्रिवेदी, प० गिरधारीलाल शर्मा चतुर्वेदी, डा० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, डा० रघुवीर। पाश्चात्य विद्वानो में विशेष उल्लेखनीय हैं— प्रो० मैक्समूलर, प्रो० ग्रिफिथ, प्रो० विल्सन, प्रो ग्रासमान, प्रो० लुडविश, प्रो० ओल्डेनबर्ग, प्रो० लांग्लवा, डा० मैक्डानल, डा० कीथ, प्रो० आर रोठ, प्रो० बाट-लिंक, प्रो० ब्लूमफील्ड, प्रो० लुई रेणु, प्रो० वाकरनागेल, प्रो० वेबर, प्रो० ह्विटनी, प्रो० कैलेन्ड, प्रो० स्टेन कोनो, प्रो० वाकरनागेल, प्रो हिलेब्राट, प्रो० जे गोंड आदि।

वैदिक भाषा

वैदिक भाषा का महत्व है कि वैदिक मन्त्रो मे बहुत थोड़े शब्दो मे अगाध भाव गाम्भीर्य भरा हुआ है। उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो भावगाभीर्य की चरमसीमा का दिग्दर्शन कराते है।

समस्त अध्यात्म का सार एक मन्त्र मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे ब्रह्म का स्वरूप, उसकी प्राप्ति का सवाल उसकी पात्रता आदि का वर्णन है।

हस: शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्
होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद्
अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋत बृहत्॥ ऋग० ४-४०-५, यजु १०-२४

अथर्ववेद के एक मन्त्र मे सूत्ररूप में मनोविज्ञान के सभी विषयो का संकलन प्राप्त होता है—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्ये श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ अथर्व० ६-४१-१

इस मन्त्र मे इन शब्दो से इन विषयों का सकलन है—

१—मत्ये-सवेदना (Sensation) और प्रेरणा (Motivation), २—चेतसे-चेतना (Consciousness) और चिन्तन (Thinking) ३ - धिये-ध्यान या अवधान (Attention), ४—आकूतये-अनुभूति (Feeling), और सवेग (Emotion) ५—चित्तये-चित्त का धर्म स्मरण (Remembering) और तद-भावरूप मे विस्मरण (Forgetting', ६—मत्ये-बुद्धि (Intelligence), ७—श्रुताय-श्रवणा पठन एव शिक्षण (Learning), ८—चक्षसे-चक्षुकार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण (Perception)।

भगवतगीता का मूल आधार है—निष्काम कर्मयोग।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू-मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता २-४७

इस श्लोक का आधार है, यजुर्वेद का निम्नलिखित मन्त्र—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छत समा:।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु० ४०-२

इस प्रकार सम्पूर्ण गीता का यह मूल मन्त्र है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण बाईबिल का मूलमन्त्र है—प्रेमभाव और मैत्री। यह भाव यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र से लिया गया है।

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजु० ३६-१८॥

कुरान का मूलमन्त्र है—एकेश्वरवाद, अल्लाह की एकता, उसके गुण-धर्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, कर्ता, धर्ता सहर्ता, दयालु आदि। देखें–कुरान ७-१९५, १२-३९, १३-३३, ५७-१-६, ११२-१-४, २-२९, २-९६, ११-१-६, ८७-१-५, ४४-६-८, ४८-१४, १-२, २-१४३ आदि) इसके आधार मन्त्र हैं–

(क) इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहु रथो दिव्य: स सुपर्णो गरुडमान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वानमाहु॥
१-१६४४६ ऋग्०

(ख) स एष एक एकवृद्ध एक एव। अथर्व० १३-४-१२
ग) न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। अथर्व० १३-५-१६

वेद और विज्ञान

वेदो मे जहा पुरुषार्थ चतुष्टयरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है, वहाँ साथ ही विज्ञान के विभिन्न सूत्र स्थान-स्थान पर दिए गये हैं। वेदो मे सूत्र रूप मे वैज्ञानिक तत्वो का समावेश है। इनका विस्तृत और प्रयोगात्मक पक्ष कहीं पर भी स्पष्ट नही किया गया है। सक्षेप मे कुछ सूत्रो का उल्लेख किया जाता है।

सूर्य चन्द्रमा को प्रकाश देता है। सूर्य की सुषुम्ण नामक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। निरुक्तकार यास्क ने भी इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है।

सुषुम्ण: सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व। यजु० १८-४०
अथापि अस्येको रश्मिश्चन्द्रमस प्रति दीप्यते। निरुक्त २-६

सूर्य की ऊर्जा का आधार सोम (Hydrogen, Helium) हीलियम या हाईड्रोजन है।

सोमेनादित्या बलिन। अथर्व १४-१-२

यजुर्वेद मे जल के रस का रस सूर्य मे बताया है। यह हाईड्रोजन के सूक्ष्मतम रूप हिलियम (Helium)की सत्ता सूर्य में बताता है।

अपा रसम् उद्वयस सूर्ये सन्तं समाहितम्। अपां रसस्य यो रस। यजु० ९-३

यजुर्वेद मे इस वैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख किया गया है कि पृथिवी ही अपने कक्ष मे नहीं घूमती है, अपितु सूर्य भी अपने कक्ष मे चक्कर काटता है। सारा ससार घूमता है।

समावर्ति पृथिवी समुषा: समु सूर्य:। समु विश्वमिद जगत्। यजु० २०-२३

सूर्य सारे चर और अचर जगत् को आत्मा है। सूर्य ही इस समस्त ससार की शक्ति का स्रोत है।

सूर्य आत्मा जगस्तस्थुषश्च। अथर्व० १३-२-३५

अनेक मन्त्रो मे सूर्य की आकर्षण शक्ति का उल्लेख है। सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी को रोके हुए हैं। सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से द्युलोक को रोके हुए है।

दाधर्थ पृथिवीम् अभितो मयूखै यजु० ५-१६
सविता यन्त्रै: पृथिवीम् अरम्णात्। ऋग १०-१४९-१
सूर्येण-उत्तभिता द्यौ। ऋग् १०-८५-१

जल के विषय मे कहा गया है कि इसमे अग्नि (Oxygen) और सोम (Hydrogen) दोनो तत्व मिले हुए हैं।

अग्नीषोमौ बिभ्रति-आप इत् ता: अथर्व० ३-१३ ५

जल मन्थन से अग्नि विद्युत की उत्पत्ति का वर्णन यजुर्वेद में प्राप्त है।

त्वामग्ने पुष्करादधि-अथर्वा निरमन्थत। यजु० ११-३२

वनस्पतिशास्त्र का एक महत्वपूर्ण मन्त्र अथर्ववेद में मिलता है कि अवि तत्व (जीवन रक्षक तत्व (Chlorophyll) के द्वारा वृक्ष-वनस्पतियो मे हरियाली होती है।

अविर्वै नाम देवता-ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रज:॥ अथर्व० १०-८-२१

वेदो मे वैज्ञानिक व्याख्या के प्रवर्तकों मे महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि का नाम अग्रगण्य है। उन्होने महाभाष्य के प्रथम आह्निक मे 'चत्वारि शृङ्गा' (ऋग्० -५८-३), चत्वारि वाक्० (१-६४-४५), सुदेवो असि वरुण० ऋग्० ८-६९-१२) आदि मन्त्रों का भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करके मन्त्रो के वैज्ञानिक अर्थ को प्रक्रिया का दिशा निर्देशन किया है। ऋषि दयानन्द ने भी उसी पद्धति को अपनाते हुए अपने वेदभाष्य में तथा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में नौ विमानादि विद्याओ का उल्लेख किया है। (क्रमश:)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

धूमपान निषेध दिवस और दिल्ली प्रशासन



यह पढ कर अच्छा लगा कि दिल्ली प्रशासन के सभी कार्यालयो और सगठनों मे सिगरेट आदि पीने पर पाबन्दी लगा दी गई है। परन्तु समस्या यह है कि क्या सरकार राजस्व को होने वाली हानि को सहन कर पाएगी ? ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रशासन की दोगली नीति है। एक बार यह पता चला था कि एक सस्थान के बडे अधिकारी ने मद्य निषेध पर एक पुस्तक लिखी और उस पुस्तक के लिये धन जुटाने के लिए उसने मद्य विक्रेताओ से ही दान लिया। यह भी कोई गोपनीय तथ्य नही है कि कभी-कभी आन्दोलनों को चलाने के लिए भी धन जुटाने के ऐसे जन सम्पर्क अधिकारियो का सहयोग लिया जाता है, जिनके विरुद्ध आन्दोलन चलाया जाना है। एक बार एक बडे नेता ने घोषणा की कि वे मद्य निषेध आन्दोलन चलाएगे। उनसे उनके एक कनिष्ठ साथी ने पूछा कि इस आन्दोलनो के लिये धन कहा से जुटाएगे, तो नेता जी तपाक से बोले—इसमे क्या मुश्किल है, हम सभी व्यापारियो से लाइसेंस देते समय कुछ पैसा तो अवश्य वसूलते हैं, हम दो चार शराब के ठेके और दे देंगे तथा उससे जो रुपया मिलेगा, उससे आन्दोलन चलायेंगे। यह भी सभी को पता है कि प्रशासन का एक विभाग बड़े-बड़े पोस्टर निकालता है कि शराब बुरी चीज है और वही विभाग शराब पीने वालों के लिए परमिट भी जारी करता है। धूम्रपान के विरुद्ध भी प्रशासन बड़े-बड़े पोस्टर निकालता है। उन पर एक वैधानिक चेतावनी भी लिखी होती है, फिर भी सिगरेट बनाने वालों को कच्चा माल तथा ऋण सुविधा प्रशासन ही उपलब्ध कराता है। अनेक धर्म गुरु भी त्याग और तपस्या पर व्याख्यान देते हैं और अपना घर भरते जाते हैं।

चाहे जो हो, दिल्ली प्रशासन की यह घोषणा पढ कर मन को अच्छा लगा। आशा है कि इस घोषणा को क्रियान्वित भी किया जायेगा और कम से कम वे अधिकारी जो इस घोषणा से जुडे हैं, वे तो सिगरेट पीना छोड़ ही देगे। प्रशासन की विज्ञप्ति मे कहा गया है कि कार्यालयों के बरामदे प्रतीक्षा कक्ष, स्वागत कक्ष और सम्मेलन कक्ष आदि मे भी धूम्रपान करने की मनाही है। इन स्थानो पर इस आशय की पट्टिया भी लगाई जायेगी।

विश्व भर में ३१ मई को 'तम्बाकू निषेध दिवस' मनाया जाता है। यह अच्छी बात है, पर इसे मात्र औपचारिकता नही बनाया जाना चाहिये। इस सबध में एक सभा का आयोजन भी किया गया जिसमे विश्व स्वास्थ्य सगठन के स्थानीय निदेशक डा० कोको अध्यक्ष के रूप मे और दिल्ली के उपराज्यपाल श्री मार्कण्डेय सिह मुख्य अतिथि के रूप मे सम्मिलित हुए। सभा मे यह आम राय थी कि इस योजना को क्रियान्वित करने में डाक्टरों, सरकारी प्रतिनिधियो, स्वय सेवी सगठनो और मीडिया से जुडे लोगो को भी आगे आना चाहिये। सार्वजनिक स्थनों पर धूम्रपान करने की मनाही होनी चाहिए, और व्यक्तिगत स्तर पर लोगो को समझाया जाना जाहिए।

आर्य समाज बहुत पहले से ही इस दिशा मे जागरूक है। उन्हे और अधिक इस दिशा मे सक्रिय हो जाना चाहिये।

सिगरेट के धुंए मे वाष्पीकृत तारकोल, निकोटिन और हाइड्रोजन, साइनाइड कार्बन, मोनो आक्साइड और २०० से भी ज्यादा अन्य खतरनाक रसायन होते हैं। धूम्रपान करने वालों को तो नुकसान होता ही है, उनके परिवार पर भी इसका बुरा असर पड़ता है।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२ जून, ९१ के अक से आगे)

स्कूल को लेकर आर्य समाज तथा विद्यामन्दिर की प्रबन्ध समिति के बीच विवाद चलता रहता था। मैंने भी आर्य समाज के हित को देखते हुये अपनी यह धारणा बना ली थी कि समाज मन्दिरो मे विद्यालय को चलाना आगे चल कर हानिकर ही होता है।

जिस वर्ष मेरा स्थानान्तरण गवर्नमेट कालेज पाली मे हुआ मैं आर्यसमाज रातानाडा का मन्त्री था। तत्कालीन प्रधान श्री महावीर सिंह गहलोत ने मेरे पाली स्थानान्तरित होने पर एक विदाई सभा का आयोजन किया। मेरी जोधपुर की आर्यसामाजिक प्रवृत्तियो से एक दीर्घकाल तक सम्बन्ध रहा था तथा मैं १९४६ से १९५४ तक नगर आर्यसमाज, १९५४ से १९५८ तक सरदारपुरा आर्य समाज १९५८ से १९६२ तक रातानाडा आर्य समाज का सदस्य रहा। इस प्रकार नगर के सम्पूर्ण आर्य समाजी जगत से मेरा निकट का सम्बन्ध बना। मेरे इस विदाई समारोह में जोधपुर की सभी आर्य समाजो के प्रमुख समासद उपस्थित थे। जोधपुर से विदा लेना सक्रिय आर्य सामाजिक जीवन से विराम तो नही कहा जा सकता. किन्तु पाली में निश्चय ही आर्य समाज की गतिविधियां उतनी सघन तथा अधिक नही थीं।

आर्य समाज पाली और मैं—

१९६२ की जुलाई में मैं पाली पहुंचा और वहां की आर्य समाज का सभासद बन गया। इसी वर्ष मुझे स्थानीय आर्य समाज का प्रधान निर्वाचित कर लिया गया। पाली में आर्य समाज की प्रवृत्तियां अत्यन्त सीमित थी। सत्सगों में उपस्थिति बहुत कम रहती थी। मैंने व्यवस्थित रूप से सत्सगों का कार्यक्रम आरम्भ किया। कथा, प्रवचन आदि का मुख्य भार भी मेरे ही जिम्मे रहता था। यहां के प्रमुख समासदो मे श्री जेठमल राठी, श्री जगदीश चन्द्र आर्य, श्री गणपतलाल जी, श्री मागीलाल जी स्वर्णकार, श्री लालचन्द शर्मा, श्री पारसमल जी आदि के नाम गणनीय हैं। श्री परशुराम आर्य तो जोधपुर की नगर तथा रातानाडा आर्य समाजो मे सेवक के रूप मे रह चुके थे। उनकी यज्ञादि नित्यकर्मों मे प्रबल निष्ठा थी। पाली नगर व्यवसाय और उद्योग का केन्द्र है। अतः यहा के लोगो में आर्य समाज के प्रति बहुत रूचि नही थी। यहा की अधिकाश जैन आबादी अर्हत धर्म के प्रति आस्थावान थी तो अन्य लोग वैष्णव निष्ठा वाले थे।

पाली से लगभग ३ किलोमीटर दूर आर्य सन्यासी स्वामी ऋतमानन्द ने अपना आश्रम बना रखा था। सम्भवत: १९५५ मे मैं एक बार जोधपुर से इस आश्रम मे आयोजित उत्सव मे सम्मिलित होने के लिये आया था। उस समय प० बुद्धदेव जी विद्यालकार इस उत्सव मे प्रमुख वक्ता के रूप मे उपस्थित थे। मेरे साथ मेरे मित्र श्री दाऊलाल टाक और सरदारपुरा निवासी धीमूलाल जी आर्य भी थे। स्वामी ऋतमानन्द, जिनका पूर्वाश्रम नाम श्री रूपराम था, का समीपवर्ती ग्रामीण जनता पर बहुत प्रभाव था। आस पास के गाव की जनता उन्हे गुरु तुल्य आदर देती थी। पाली आने पर मेरा उक्त स्वामी जी से पुन सम्पर्क हुआ। आश्रम और उनका समीपवर्ती परिवेश अत्यन्त रम्य था। एक वर्ष हमने श्रावणी का पर्व यज्ञ इसी आश्रम मे किया। आर्य समाज पाली मे विभिन्न पर्वों आदि का आयोजन करने मे हमे विशेष श्रम करना पड़ता। यदा कदा बाहर के उपदेशको के आने पर उनके प्रचार की व्यवस्था भी करनी पडती। स्थानीय आर्य समाज के सदस्यों की सामाजिक कामो मे रुचि नगण्य ही थी। अत प्रचार व्यवस्था और आगन्तुको के भोजन, आतिथ्य आदि का दायित्व भी प्रमुखतः मुझे ही वहन करना पड़ता। एक बार तो मैंने प्रातीय आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरग सभा का अधिवेशन भी पाली मे ही आमन्त्रित किया। अन्तरग के अधिकाश सदस्य अजमेर से परोपकारिणी सभा की जीप मे आये। इन सबके भोजन एव विश्राम की सुचारु व्यवस्था मैंने स्वगृह पर ही की। पाली निवास की अवधि मे ही मैंने अपना पी० एच० डी० का शोध प्रबन्ध लिखा और वह १९६८ मे उपाधि हेतु स्वीकृत भी हुआ।

(क्रमश)

२१वीं शताब्दी का धर्म : आर्य समाज

—डा० गंगा प्रसाद—

'आर्य समाज' वास्तव मे आर्य अर्थात् विवेकशील, सभ्य, उन्नत, तर्क एव बुद्धि से सत्य का परीक्षण करने वाले मानव मूल्यो के उपासको का समाज है। और आज हम जिन समाजो के बीच जी रहे हैं वे संकीर्ण किस्म के धर्मावलम्बियो के समाज है जो हिसा द्वारा अपने महत्व को स्थापित करने मे लगे हैं। ऐसे धर्म या मतानुग्राही समाजो के इतिहास को देखें तो हम पायेंगे कि उनका सम्पूर्ण अतीत आतक, हिसा, असहिष्णुता से भरा पड़ा है। आश्चर्य है कि बीसवी शताब्दी का आदमी उनके अतीत से भी यह अनुमान नही लगा पाया कि ये धर्म-मत वास्तव मे मानव कल्याण कर रहे है या मानव अहित कर रहे हैं ?

'आर्य समाज' की स्थापना के पीछे किसी धर्म या मत की स्थापना नहीं रही। अपितु एक उदारवादी, वैश्विक किस्म की अत्यन्त लोकोपयोगी आचरण विधि का प्रचार-प्रसर रहा है वैदिक सस्कृति विश्ववारा सस्कृति रही है। और इस विधि का अन्वेषण कर आर्य समाज के सस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने खुले मन से पौर्वात्य सस्कृति के महानतम अवदाय मे से जो सूत्र दिए गये हैं उनका प्रयोजन मनुष्य को सकीर्णता से उबारना। इस सकीर्णता से उभारने के लिये भारत के पास जो समृद्ध भण्डार है उसका उत्खलना महर्षि दयानन्द ने किया और उन्होने उदार आधार का प्रणयन किया जिसमे तमाम मानव जाति के उच्चतम गुणो का समावेश है।

आर्य धर्म एक सनातन विकासमय मार्ग पर अनादिकाल से आरूढ है। उसके प्रयास हमे ऋषियो द्वारा व्याख्यायित साहित्य मे मिलते हैं जो उपनिषदो यथा पुराणो आदि के रूप मे आज मानव जाति के सम्मुख है। विडम्बना यह है कि इस ज्ञान को पश्चिम ने यह कह कर गहराई से नही जानना चाहा है कि यह पूर्व का है और पूर्व ने इसके आन्तरिक गुण धर्म की उपेक्षा कर इसके बाह्य रूपाकार को महत्व देकर निजि हित-स्वार्थ वाले वर्गों द्वारा समय समय पर जोडे गये आडम्बर को ही सब कुछ समझ लिया। इस तरह पूर्व के पास इस ज्ञान का वह रूप जीवन विधि के रूप मे प्रचलित है जो मूल स्वरूप है। पश्चिम ही उसकी महत्ता को जानने के लिए उत्सुक है। सम्पूर्ण मानव जाति अपने पादार्थिक अहकार के कारण महत्तम सपदा से वचित है।

प्राचीन ज्ञान सम्पूर्ण मनुष्य जाति का ज्ञान है। वह किसी व्यक्ति, कुलवश, वर्ग, धर्म, जाति या राष्ट्र का नहीं है। वह सम्पूर्ण मानव जाति की विरासत है। प्राचीन भारतीय 'ज्ञान' या वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन व अन्य पुरा सामग्री मे न कहीं 'वर्गों' का उल्लेख है न धर्मों जातियो, कुलगोत्रो का ही वर्चस्व स्वीकार किया है। वेद, वेदाग एव वेदान्त का समग्र ज्ञान सभी लोगो के लिए है।

सृष्टि के सम्बन्ध में प्राचीन काल से अब तक जो विचार चला आ रहा है वह ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी या आस्तिक या नास्तिक, ब्रह्मवादी या अब्रह्मवादी आदर्शवादी या पदार्थवादी, भाववादि या तर्कवादी इत्यादि अनेक आधारो, विभाजनों आदि के अन्तर्गत किया गया है। इसमे अधिकांश पक्ष ससार को मिथ्या मानने वालो का है परन्तु आर्य धर्म या आर्य समाज इस ससार को सत्य मान कर इसी ससार मे पराशक्ति के अनुभावन एव सत्य के सत्यासत्य रूप के इतर परिदर्शन के लिए मानव चेतना को सक्षम मानना है। स्पष्ट है कि आर्य समाज किसी भौतिकवादी परीक्षा विधि के अनुरूप ही जीवन के सत्य को स्वीकार करता है। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि आर्य समाज सड़े-गले, जड़-तीर्थ धर्मों की तरह केवल भावुकता या समर्पण की जिद पर आश्रित नही है। आर्य समाज आधुनिक ससार की विकासमय स्थिति मे मनुष्य की सतत उन्नति का समर्थक है व साथ ही साथ उसे उस आध्यात्मिक उत्कर्ष का परिज्ञान कराने वाला भी है जो आधुनिकता की दौड़ में भुला दिया गया है।

सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या आगामी मनुष्य को धर्म की आवश्यकता रहेगी भी ? आज की स्थिति को देखते हुए लगता है कि आगामी आदमी धर्म के विकृत स्वरूप से खुद को अलग करेगा परन्तु जैसे-जैसे उसका ज्ञानात्मक परिचय बढेगा वह अतीत से अच्छी चीजे खोजने का प्रयास करेगा। पिछली शताब्दी में ऐसा ही कुछ महर्षि दयानन्द ने किया था। उन्होंने शास्त्र और विज्ञान से वह महत्तम खोजने के लिए लोगो को प्रेरित किया। आश्चर्य नही होना चाहिये कि धर्म और साधनाओ के नितान्त व्यक्तिगत स्वरूप को उन्होंने जन सुलभ बनाने की दिशा में एक क्रान्तिकारी काम किया था। उन्होने जनचित्र को झकझोरा। उस की सामूहिक नियति के प्रश्नो के सामने उसे ला खड़ा किया। भौतिक दुनिया मे अर्थशास्त्र और राजनीति के विभिन्न कोणो का जो 'पदार्थवादी' स्वरूप पश्चिम मे मार्क्स और लेनिन ने स्पष्ट किया था उसे एक सतुलित रूप मे सामने लाने का कार्य दयानन्द सरस्वती ने किया। भारत में गांधी, अरविन्द, नेहरू, प्रेमचन्द, लाला लाजपत राय जैसे लोग सीधे-सीधे दयानन्द सरस्वती व उनके विचारों से प्रेरित थे। कहना चाहिये कि दयानन्द उन्नसवीं शताब्दी के प्रमुख क्रन्तिवादी थे। उन्होंने विचार, आचरण, अनुष्ठान, निष्ठा और अनुशासन का एक अद्भुत समन्वय दिया था। यह समन्वय भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का भी था सांख्य और न्याय का भी और मानव जाति के उत्कर्ष के लिए सभी उच्च गुण धर्मी विचारो का भी। भारतीय विचार क्षितिज में यह क्रान्तिकारी कदम व्यक्तिवाद की जगह समूह के समग्र विकास का कदम था। इस अर्थ मे इस कदम को साम्यवादी-क्रांति से भी अधिक क्रान्तिकारी, भौतिकवादी एकपक्षीय सुधार की जगह सर्वाङ्गवादी क्रान्तिकारी कह सकते है।

'आर्य समाज' को सज्ञा ही स्वय स्पष्ट कर देती है कि यह 'समाज' है जो मिल-जुल कर सहयोगी सरकारी भावना से मानव कल्याण की ओर अग्रसर है जिसका मूल मन्त्र है 'सर्वं भद्राणि···।' इस समाज को आदिम, असभ्य, पशुवत आचरण से उबार कर जिन विषयो का अनुगमन आवश्यक माना गया है यदि आप आज उनकी समयानुपेक्षी, व्याख्या करें तो वे नियम एक जीवित जनसमाज को ऊर्जा देने वाले, योगादि विज्ञान के अनुरूप, पर्यावरण सरक्षा से अनुप्रेरित हैं। यह नियमागत अनुशासन 'समाज' को कार्यादित रूप से विकास की ओर सलग्न करने के लिए जरूरी हैं। समूह' सघ, भीड़ की उपेक्षा समाज अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण सज्ञा है और यह समाज जो आर्यजनों का समाज है अपने प्रत्येक क्रिया कलाप में समग्र विश्व के कल्याण की कामना करता है व तदनुरूप कार्य भी करता है। अत स्पस्ट है कि जिस समतापूर्ण समाज की कल्पना साम्यवाद करता है उससे कही अधिक समतापूर्ण आर्य जनो का समाज है। इसमे न वर्ण हैं, न कुलगोत्र, न ऊच-नीच। अत. यह समाज वास्तव मे मानव जाति के सर्वाङ्ग विकास के लिए प्रतिबद्ध समाज है।

आर्य समाज समतावादी, समन्वयकारी दृष्टि पर आधारित है। यह समतावादी दृष्टि उस दर्शन मे फलीभूत होती है जो 'वेदों' से आरम्भ होती है। वेदो' के आधुनिक व्याख्याता भी स्वीकार करते है कि वे जड़ ग्रन्थ नही अपितु उनमें मनुष्यता के लिए वह महान सन्देश छिपा है जो विकासवादी मनुष्य जाति के लिए अनिवार्य है। वेदोपासना का ढोंग आर्य समाज नही सिखाता अपितु वह वेद ज्ञान से बोध प्राप्त करने के लिए व्यक्ति और समाज को मानसिक रूप से तैयारी के लिये प्रदीक्षित करता है। मानव जाति का सनातन सत्य वेदवाणी मे संरक्षित है। वह उस अमूल्य कोष की तरह है जिसकी कुंजी वेदो में ही सुरक्षित है।

प्रासंगिकता

कुछ उदाहरणो से बात स्पष्ट करे। विश्व के अनेक वैज्ञानिक चमत्कृत हैं कि अथर्ववेद मे १६ सूक्त ऐसे है जो समग्र गणित, रेखागणित, अंकगणित के उच्चतम ज्ञान को सरक्षित किए हुये हैं। आज जर्मनी और अमरीका के उन्नत विश्वविद्यालयों मे ही "वैदिक गणित" विद्यार्थियो को पढाया जाता है। यही वैदिक गणित अन्तरिक्ष अनुसधान के अध्येताओं के काम का है। आश्चर्य ही होना चाहिए कि जिस ऋषिकुल ने हजारो वर्ष पूर्व इनकी रचना की होगी क्या वे स्वय उन्नत किस्म के विज्ञ-जन नही रहे होगे। क्या वे लोग केवल कल्पनात्मिक साहित्य रच रहे थे ? या उनके पास अनन्त-ज्ञान राशि के सक्षेपण की विधि भी इस रूप के

(शेष पृष्ठ ५ पर)

२१वीं शताब्दी का धर्म : आर्य समाज

(पृष्ठ ४ का शेष)

उपलब्ध थी कि आज सहसा हमारे तथाकथित भौतिक ज्ञान से अभिभूत मन को उस पर विश्वास नहीं होता। परन्तु वास्तविकता यह है कि वेदों मे ज्ञान विज्ञान सरक्षित है। और उसे हम पा सकते हैं—उसके रहस्य की कुंजियो को खोल सकते हैं यदि हम ऋषि प्रणीत आर्य विचार धारा के आचरण विधान के अनुरूप अपने को ढाले। और यही वह प्रमुख भूमिका है जहा 'आर्य समाज' सार्थक और प्रासंगिक है।

गम्भीर आध्यात्मिक अध्यव्यवसाय का ही परिणाम है कि एक सोती हुई जाति को जगाने के लिए पिछली शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने एक समाज की स्थापना की—और आर्य समाज के सामूहिक प्रतिदान से जन चेतना मे उसके उच्चतम स्वरूप का भाव प्रतिष्ठापित किया। उनके आत्मात्मिक स्वभाव का निष्कर्ष ही यह आर्यसमाज है जो एक यथार्थवादी दर्शन पर आधारित है। यह यथार्थवादी दर्शन मनुष्य को दासता से मुक्त देखना चाहता है। यह उसे चिन्तन के सर्वोच्च स्तर तक ले जाने मे सक्षम दर्शन है। वेद की व्याख्याओ से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत वासियों की आखें तो खोली ही उन्होने उस आडम्बरपूर्ण व्यवस्था पर भी कस कर प्रहार किया जो अन्ध-विश्वासो का प्रसार करता हैं, जो जड़ और अर्थहीन मान्यताओ का विकास करता है। उन्होंने मनुष्य को व्यर्थ के आडम्बरों से बचाने का प्रयास किया। वेदवाणी के उत्कृष्ट अशो की आधुनिक, युगानुकूल व्याख्याए दी। उन्होने वेद की व्यवस्थाओं को वे अर्थ दिए जिनके अनुसार मनुष्य जीवन के मूल उत्स को जान सके। यज्ञादि कर्मों द्वारा सुचिता के एक नये प्रारूप को सामने रख कर वायुमण्डलीय प्रदूषण को परिसीमित करने का विचार भी सामने रखा। आज तो समग्र विश्व के सुविज्ञ वैज्ञानिक पर्यावरण असन्तुलन से इतने चिन्तित हैं कि वे प्रकृति के विनाश को मानव जाति के विनाश से जोड रहे हैं तथापि महर्षि दयानन्द ने एक शताब्दी पूर्व ही इस परिस्थिति का पूर्वाभास पा लिया था। इसलिए उन्होने आर्यजनों के लिए 'हवन' (यज्ञ) का प्रावधान रखा तथा धरती से अनेक प्रकार की सम्पदाओ को प्राप्त करने के लिए एक उन्नत एव ऐश्वर्यपूर्ण मानव समाज की रचना के लिए पुरुषार्थ को समर्थन किया। जिस एक महत्तम मानवीय समस्या के पूर्वाभास के उपरान्त आर्य पद्धति के आचरण विधान का सूत्रपात पिछली शताब्दी मे किया गया था। उसका लक्ष्य था एक प्रदूषण मुक्त पर्यावरण का निर्माण। और यह निर्माण 'मनुष्य' के शरीर यत्र के स्वास्थ्य एव सुविकसन के लिए अनिवार्य था। जो बात महर्षि दयानन्द ने गत शताब्दी मे सामने रखी थी इस शताब्दी मे अनेक धार्मिक अहकारो ने उसे समझा ही नही। एक महामानव की अवतारणा की जगह एक ओछे, राक्षसी वृति वाले, आत्महन्ता मनुष्य पीढी की अवतारणा हुई। और अब इस शताब्दी के बाद अगली शताब्दी के आदमी के पास ओछे मानव के द्वारा छोडे गये ओछे किस्म के राजनैतिक मतवाद का अन्धानुचरण करने के अलावा कोई विकल्प है तो वह विकल्प है 'आर्य समाज'। ऐसा आर्य-जन समाज जिसमे मनुष्य के सामुदायिक कल्याण का लक्ष्य सर्वोपरि है।

महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट किया था कि पृथ्वी पर 'मनुष्य के अवतरण का प्रयोजन" है। पादार्थिक, भौतिक उत्कर्ष के साथ-साथ सहज सौम्य, अहकारविहीन मनुष्य का रूपायन। इस रूपायन से उसमे सह-अस्तित्व की महत्ता जागृत होगी, सह-जीवन के लिये अनुप्रेरणा मिलेगी और इसी मार्ग से वह जीवन के उन गूढ प्रश्नो की ओर उन्मुख होगा जो वेद, वेदाग मे सरक्षित है। अतीत को जानना उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना यह जानना कि जो कुछ मानव युक्ति ने अन्वेषित किया है वह शाश्वत है। मनुष्य के अवतरण का प्रयोजन सज्ञानता, विद्या और गम्भीर आध्यात्मिक आलोक के द्वारा ही जाना जा सकता है। इनके लिये अन्य धर्म मार्ग सकीर्ण से हैं। यदि कोई मार्ग वैज्ञानिक है, उदार और वेद ज्ञान द्वारा आलोकित हो सकता है तो वह आर्य समाज है।

आइये २१वीं सदी के पदार्पण मे उस आलोक के सहभागी बनें—उस समाज के सहयात्री बनें जो मनुष्य के उत्कर्ष का एक मात्र ध्वज उठाये गतिमान

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजीकृत)

कार्यालय : १५-हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

आर्यसमाजो के अधिकारियों की सेवा में नम्र निवेदन

मान्यवर, सभा के परिपत्र दिनांक ९-४-९१ का अवलोकन करें। उपरोक्त परिपत्र मे आर्य समाजो के अधिकारियो से निवेदन किया गया था कि, आर्यसमाजो का वित्तीय वर्ष ३१ मार्च १९९१ को समाप्त हो गया है। आप आगामी वर्ष के लिए वार्षिक साधारण सभा की बैठक विधानानुसार आर्यसमाज के नियमो उप-नियमों के अनुसार ३१ मई १९९१ तक अवश्य आयोजित कर लें तथा आगामी वर्ष के लिए अधिकारियो, आर्य वीर दल के अधिष्ठाता का तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन यदि गत वर्ष न किया हो, तो कर लें। आपकी आर्यसमाज की ओर से प्रथम दस सभासदों पर एक और प्रत्येक अतिरिक्त बीस सभासदो पर एक प्रतिनिधि निर्वाचित किया जा सकता है, जिसकी आयु २५ वर्ष से कम न हो और जो पिछले दो वर्षों से समाज का सभासद रहा हो।

१५ मई १९९१ तक निम्नलिखित विवरण तथा धनराशि सभा कार्यालय में भिजवाने की कृपा करें।

१— १ अप्रैल १९९० से ३१ मार्च १९९१ तक का वार्षिक विवरण :—

(अ) यज्ञ, सस्कार, शुद्धिया, अन्तर्जातीय विवाह, दिन के समय साधारण रीति एव बिना दहेज कराये गये विवाहों का तथा समारोहो का विवरण।

(आ) समाज के अधीन चल रही सस्थाओ, विद्यालयों, चिकित्सालय, पुस्तकालय सेवा समिति, आर्य वीर दल आदि का विवरण

२— १ अप्रैल १९९० से ३१ मार्च १९९१ तक का आय-व्यय विवरण।

३— सदस्य सूची निम्नलिखित फार्म के अनुसार स्वय बना ले—

क्रम सख्या	सदस्य का नाम	पिता का नाम	पता	वर्ष भर मे प्राप्त सदस्यता शुल्क

४— सदस्यता शुल्क का दशाश, वेदप्रचार राशि और आर्य सन्देश का वार्षिक शुल्क २५/-रुपये।

आपसे अनुरोध है कि आप इस सम्बन्ध मे यदि अब तक कोई कार्यवाही न की हो तो यथाशीघ्र कार्यवाही कर अपना तथा अपनी समाज का सहयोग प्रदान करें। धन्यवाद,

—सूर्य देव
महामन्त्री

चुनाव समाचार

— आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब के मन्त्री एव आर्य युवक सभा पजाब के उप-प्रधान श्री मनोहर लाल आर्य के प्रयासो के फलस्वरूप दीनानगर और अबाला मे नवीन शाखाओ की स्थापना की गई है। जिसमे निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये।

प्रधान—श्री प्रो० बलीसिंह यादव, उपप्रधान—श्री रणजीत कुमार, मन्त्री—श्री भारत भूषण।

— आर्य युवक सभा पजाब की बैठक आर्य समाज अहमदगढ मे हुई जिसमे सर्वसम्मति से सम्पन्न चुनाव में निम्न अधिकारी चुने गए—

श्री सुनीत हिन्द प्रधान, श्री प्रमोद गुप्ता—मन्त्री तथा श्री प्रकाश चन्द शास्त्री—सचालक।

— आर्य समाज सीहोर गज के वर्ष १९९१-९२ हेतु दिनाक १२-५-९१ को सर्वसम्मति से हुए चुनाव मे निम्न पदाधिकारी निर्वाचित हुए—प्रधान—श्री ओम-नाथ जी आर्य, मंत्री—श्री राजवीर आर्य, कोषाध्यक्ष—श्री रामभरोसे जी आर्य।

जीवन का दिव्य पक्ष

आदर्शचिन्तनम्

आदर्श चिन्तन

सफल जीवन-यात्रा के लिए आदर्श-चिन्तन, सदसद्विवेचन में समर्थ बुद्धि, स्वकर्तव्य-परिज्ञान, आत्म-विश्वास, आशावाद और साथ ही विश्व को नियन्त्रण मे रखने वाली आद्या महाशक्ति के सान्निध्य की भावना की महती आवश्यकता है। इसी सिद्धान्त का विशदीकरण नीचे के पद्यों में किया गया है।

सौभाग्यमेतदतुलं मम येन लब्धं मानुष्यकं प्रभुप्रसादललामभूतम्।
याचे तमीशमधुना सदसद्विचारोद्युक्तां धियं सफलताधिगमाय तस्य ॥१॥

मेरा यह अद्वितीय सौभाग्य है जिससे मुझे भगवान के उत्कृष्ट प्रसाद के रूप में मनुष्यता प्राप्त हुई है। मैं अब उसकी सफलता के लिए ईश्वर से सद्सद् के विचार (विवेक) मे तत्पर बुद्धि की प्रार्थना करता हूं।

याचे मुहुर्मुहुरहं तमजं परेशं सत्ये दृढामथ विवेकरतां सुबुद्धिम्।
मार्गे यथातिविषमे निजजीवनस्य कर्तव्यपालनपरः कुशली व्रजेयम् ॥२॥

उस अनादि परमेश्वर से मैं बार-बार सत्य मे दृढ़ और विवेकोन्मुख सद्-बुद्धि की याचना करता हूं, जिसकी सहायता से मैं कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपने जीवन के अत्यन्त कठिन मार्ग पर सकुशल यात्रा कर सकूं।

जनमाप्य लोक इह बुद्धिमता जनेन मार्गः स एव सुतरामवलम्बनीयः।
कर्त्तव्यपालनपुरः सरमेव येन कल्याणमेष लभतेऽत्र परत्र चापि ॥३॥

इस लोक मे जन्म पाकर बुद्धिमान मनुष्य को दृढ़ता से उसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए जिससे उसे अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण की प्राप्ति हो।

रे रे मनो! विसृज दैन्यमिदं दुरन्तं
नैराश्यमाशुरिह सर्वविनाशहेतुम्।
आशावतां धृतिमतां मत एष लोको
विश्वासमात्मनि च ये नियतं भजन्ते ॥४॥

अयि मन! इस दु:खदायिनी दीनता को छोड़ दे। निराशावाद की भावना सर्वविनाश का कारण होती है। यह लोक उन्ही के लिए है जो आशावादी तथा धृति वाले हैं और जिनको निश्चय रूप से अपने मे विश्वास है।

रक्षां चकार जननी जठरे स्थितस्य
स्तन्यं य एव तदनु स्तनयोः ससर्ज।
सवर्ध्य मां बहुविधैरितरैः प्रकारै-
र्देवेन तेन न हि सम्प्रति विस्मृतोऽहम् ॥५॥

माता के गर्भ मे रहते हुए जिन्होंने मेरी रक्षा की थी, तत्पश्चात् माता के स्तनों मे जिन्होंने दुग्ध उत्पन्न कर दिया था, अन्य अनेक प्रकारों से भी मेरा सवर्धन करके, उन विश्वम्भर भगवान् ने अब मुझे भुला नही दिया है।

—डा० मंगलदेव शास्त्री

पुस्तक समीक्षा

स्वास्थ्य सोपान (छठापुष्प)

वैदिक धर्म की यह विशेषता है कि इसमे पारलौकिक एवं इहलौकिक क्रिया कलापों तथा उपलब्धियों को समान महत्त्व दिया गया है। धर्म की राह पर चलने वालो का स्वास्थ्य भी ठीक होना चाहिए—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। नीरोग कैसे रहे – यह पुस्तक मे बताया गया है। आदरणीया श्रीमती दयावती बनाती ने रोग के कारणों, निदान तथा रोग से दूर रहने के उपाय बताए है। उन्होंने व्यायाम पर विशेष बल दिया है। मन और शरीर का परस्पर पूरक सम्बन्ध है। 'मन चंगा तो कठौती मे गंगा'। मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ होगा। शरीर स्वस्थ होगा तो मन भी स्वस्थ होगा। व्यायाम मानसिक तनाव को समाप्त करने तथा आरोग्य वृद्धि मे सहायक है। हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति ही जीवन के संघर्षमय पथ पर आगे बढ़ सकता है।

[स्वास्थ्य सोपान—श्रीमती दयावती बनाती १/८ वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर, हरिद्वार मूल्य—केवल पढ़ना और स्वस्थ रह कर समाज की सेवा करना]।

—मूलचन्द गुप्त,

लंदन में आर्यसमाज की गतिविधियां

इस माह साप्ताहिक सत्सग यथासमय डा० तानाजी आचार्य के पौरोहित्य तथा श्री प्यारेलाल चड्ढा एवं आर्य परिवार के यजमानत्व में सम्पन्न हुए।

दि० १४ अप्रैल को गायत्री महायज्ञ का विशेष आयोजन किया जिसमें लगभग एक हजार श्रद्धालुओं ने भाग लेकर इस धार्मिक अनुष्ठान का लाभ उठाया और आर्य समाज को मुक्तहस्त से दान दिया। इस गायत्री महायज्ञ का पौरोहित्य प्रो० सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज डा० तानाजी आचार्य, श्री विनय कुमार जी, श्री सहदेव मल्होत्रा, श्री मेहता बलदेव मोहन एवं डा० श्रुतिशील शर्मा ने सफलता पूर्वक किया। प्रसाद के रूप में स्वादिष्ट ऋषिलंगर का आयोजन श्रीमती वेदवती सोफत एवं परिवार ने किया था। इस अवसर पर भक्तगणों की श्रद्धा, प्रेम और उत्साह दर्शनीय था।

वेद सुधा मे प्रो० सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज एवं डा० तानाजी आचार्य ने वेदमन्त्रों की रोचक व्याख्या की। इसके अतिरिक्त श्री वीरेन्द्र वीर शर्मा ने म० ज्योतिबा फूले के कार्य और विचारों की समालोचना की। श्री जी. बी. पटेल ने प्राणायाम विधि तथा प्राणायाम के लाभों पर प्रकाश डाला। प्रो० सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज ने वैशाखी के पर्व का महत्व बताया। श्री पं० सत्यदेव भारद्वाज जो भारत से पधारे है ने रामजन्मभूमि के सन्दर्भ में आर्यसमाज के दृष्टिकोण से सबको अवगत कराया।

तत्पश्चात चि० मधुर आर्य, आशुतोष आर्य, श्रीमती साविन्त्री छाबड़ा, कैलाश भसीन, यशवेदी, सुमन चोपड़ा, सुवर्णा शर्मा, वेदी मन्त्री, प्रेम दुखिया आदि का मधुर भजन गायन हुआ।

प्रति शनिवार वेद पाठ की महिलाओं ने परिवारों में पारिवारिक सत्संग के रूप मे वेदपाठ का सफल आयोजन किया। वैदिक संस्कार तथा पारिवारिक हवन भी कराए गए।

सेवानिवृत्त वृद्धजनों का सत्संग प्रति बुधवार सम्पन्न होता रहा, जिसमें २५-३० लोगो ने भाग लिया।

विवाह विषयक निःशुल्क सुझाव' तथा हिन्दी की कक्षा नियमित रूप से चलाई गई।

प्रीतिभोज के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुए।

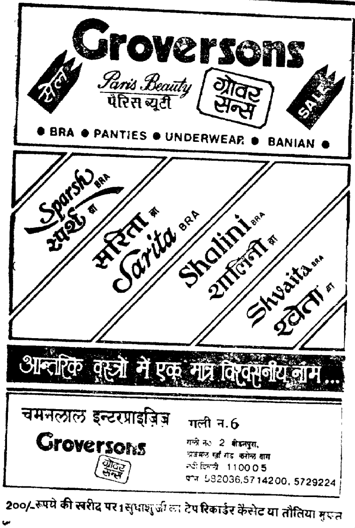
आर्य समाज लण्डन की ट्रस्टी परिषद एवं कार्यकारिणी का निर्वाचन २८ अप्रैल १९९१ को सम्पन्न हुआ। १९९१ से १९९६ तक के लिए निम्न ट्रस्टी नियुक्त हुए—प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज, डा० मदन बहल, श्री एस. के वेदी, श्रीमती सावित्री छाबड़ा, श्री जे. आर. शर्मा, श्री डी बी. पुरी और श्री डी पी भसीन।

कार्यकारिणी परिषद वर्ष १९९१-९२

प्रधान—श्री सुरेन्द्र नाथ भारद्वाज, उपप्रधान—श्री पी. बी. चोपड़ा तथा श्री वी. वी. वर्मा महामन्त्री-श्रीमती प्रतिभा बहल, संयुक्त मन्त्री—आर के. चोपड़ा, वाई डी. प्रिन्जा, कोषाध्यक्ष-एस. के. वेदी, संयुक्त कोषाध्यक्ष—डी. पी. भसीन, जनसम्पर्क अधिकारी—एस. पी. बत्रा, पुस्तकाध्यक्ष—श्रीमती ऊषा भसीन।

● सत्य के लिए कारावास कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म पथ पर आरूढ होकर मैं ऐसी बातो से सर्वथा निर्भय हो गया हूं। प्रतिपक्षी लोग यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहां कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक का कोई तरंग भी उत्पन्न न होगा वहां मैं अपने प्रतिपक्षियो की अकल्याण कामना भी कभी नहीं करूंगा। पादरी जी मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगो ने फांसी पर लटका ही तो दिया था।

● जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं वैसे ही वेद भी सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित किये है।





शोक समाचार

आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् एव लेखक श्री देवीचरण जी बसल (महात्मा देवेश भिक्षु) की धर्मपत्नी श्रीमती शकुन्तला देवी जी का देहावसान ९ मई, १९९१ को हो गया है। महात्मा देवेश भिक्षु जी वेदोद्धारिणी प्रतिष्ठान के प्रधान हैं। एव देश विदेश में अपनी वाणी और लेखनी से आर्य समाज का प्रचार कार्य करते हैं। वे पुन: १२ जून को चार मास के लिए अमरीका और कनाडा मे आर्य समाज के प्रचारार्थ जा रहे हैं।

इस समय जो गहरा शोक उनको और उनके परिवार को व्याप्त हुआ है। प्रभु से प्रार्थना है कि दिवङ्गत आत्मा को शान्ति दे। आर्य समाज और वेदोद्धारिणी प्रतिष्ठान की ओर से हम गहरी शोकानुभूति प्रकट करते हैं।

—समित्पाणि शर्मा बी० ए० शास्त्री

शामली (उ० प्र०) निवासी प्रचारक–लेखक–सम्पादक स्व० लाला चतुरसेन जी के साथ मुझे साप्ताहिक पुण्यभूमि के सम्पादन काल मे १९५०-५२ मे परिचय पाने का अवसर मिला। सेवा विद्वत्ता की वे प्रतिमूर्ति थे। उनके इन कार्यो में सबसे बडी सहयोगी उनकी धर्म-पत्नी रही। उनका भी ८५ वर्ष की आयु मे देहान्त का समाचार हाल मे सार्वदेशिक पत्र से मिला।

इस अवसर पर हम उनके सुयोग्य पुत्र श्री मूलचन्द गुप्त व उनके परिवार से हार्दिक समवेदना, तथा दिवगत आत्मा की सद्‌गति के लिये प्रार्थना करते हैं।

—ब्रह्मदत्त स्नातक, भारतीय सूचना सेवा (रिटायर्ड)
सी ४ बी-३३२ जनकपुरी

प्रवेश सूचना

आर्य समाज मे उपदेशको का नितान्त अभाव होने से उपदेशक विद्यालय की ब्रजघाट जनपद गाजियाबाद मे स्थापना हो चुकी है जहा दो साल मे ही गहन अध्ययन नि:शुल्क कराकर प्रमाणपत्र भी दिया जायेगा तथा सभा मे नियुक्ति का भी आश्वासन। इच्छुक व्यक्ति कम से कम इण्टर अथवा मध्यमा पास। साक्षात्कार के लिये १५ जून से ३० जून तक पधारने का कष्ट करे।

—आचार्य देवव्रत, प्राचार्य वैदिक धर्मप्रचारक महाविद्यालय
प्रकाशवीर शास्त्री स्मृति भवन बृजघाट जनपद गाजियाबाद





आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Post in N D P S O on 6 7-6 1991 Licenced to post without prepayment, Licence No U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३६
साप्ताहिक आर्यसन्देश ९ जून १९९१

जेल के सींखचों से राष्ट्रसेवा तक का सफरनामा

अंग्रेजों के अधीन भारत में जमाने और इस्लामी खिलाफत साम्राज्य के ध्वजेदार हैदराबाद के निजाम को आर्यसमाज द्वारा सत्याग्रह (१९३८-३९) को राष्ट्रीय स्तर पर चलाने और बाद में भारत सरकार द्वारा पुलिस कार्रवाई करने के बाद भारत में विलय करना पड़ा था।

उस संघर्ष में भाग लेने वालों का स्वाधीनता सेनानी का सम्मान व पेंशन (उनकी विधवाओं को भी) की कहानी सर्वप्रथम १९६३ से शुरू हुई थी, और १९८५ में भारत सरकार ने उसके लिये सरकारी आदेश जारी किया।

५० साल के इस सार विवरण का आंखों देखा और स्वयं भुगता वर्णन लौह लेखनी से दर्ज—

हैदराबाद सत्याग्रह पर प्रामाणिक दस्तावेज

यानी

जेल के सींखचों से राष्ट्रसेवा तक का सफरनामा में पढ़िये। पत्रकारों एवं समीक्षकों द्वारा प्रशंसित।

मूर्धन्य शिरोमणि संन्यासी स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती लिखते हैं— हैदराबाद सत्याग्रह के सम्बन्ध में जो पुस्तक लिखी है आपने यह कार्य बहुत ही प्रशंसनीय किया है। इसमें आर्य समाज की विजय हुई इतिहास में एक बहुत बड़ी यह घटना थी आपने उसमें भाग लेने वाले बहुतों का वर्णन अपनी इस पुस्तक में किया है। आप धन्यवाद के पात्र हैं। यह पुस्तक आर्यसमाज की सभी संस्थाओं और पुस्तकालयों में होनी चाहिये।

पूज्य स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती के अलावा पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान एवं जानेमाने सम्पादक श्री वीरेन्द्र जी ने आर्य समाज स्थापना दिवस के १७ मार्च के अंक में कहा है इसमें सन्देह नहीं कि श्री ब्रह्मदत्त स्नातक ने इस पुस्तक को तैयार करने के लिये बहुत अधिक परिश्रम किया है। हैदराबाद सत्याग्रह की कहानी को एक बार पढ़ लें तो हो सकता है कि आर्यसमाज में एक नया उत्साह और बलिदान की भावना पैदा हो जाय। उन्होंने इस पुस्तक को अधिकाधिक पढ़ने को कहा है। मूल्य २० रु० समाजों को रियायत।

पता—ब्रह्मदत्त स्नातक
सी ४ बी—१३२ बी, जनकपुरी, दिल्ली-५८



शाखा कार्यालय ६३ गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार दिल्ली ६ फोन ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस दरियागंज नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ • फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३२ रविवार, १६ जून, १९९१ विक्रमी सम्वत् २०४८ दयानन्दाब्द : १६६ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष : ३१०१५०

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित आर्यवीर दल प्रशिक्षण शिविर का समापन समारोह सम्पन्न

राष्ट्र कल्याण के लिए प्रतिबद्ध आर्यसमाज : स्वामी आनन्दबोध सरस्वती

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से भारत के प्रसिद्ध व्यायामाचार्य डा० देवव्रत आचार्य और श्री बाल दिवाकर हंस के संरक्षण में विशाल चरित्र निर्माण एवं व्यायाम प्रशिक्षण शिविर का आयोजन महाशय चुन्नीलाल बाल मन्दिर सीनियर सेकण्डरी स्कूल हरिनगर एल-ब्लाक में ३१ मई १९९१ से ९ जून १९९१ तक किया गया।

रविवार ९ जून १९९१ को प्रातः विद्यालय के विशाल प्रांगण में शिविर का समापन समारोह सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

आर्य वीर दल की टुकड़ियों ने सर्व प्रथम पूज्य श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती का सैन्य अभिवादन किया, आर्य वीरों ने व्यायाम, शरीर सौष्ठव, पी-टी० लाठी, भाला, तलवार, योग आदि के अनेक मनोहारी प्रदर्शन प्रस्तुत किए। इन कार्यक्रमों के दौरान सम्पूर्ण प्रांगण अनेक बार तालियों की गड़-गड़ाहट से गूंज उठा। रस्से को मलखम बना कर अनेक प्रदर्शन किए गए। आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान श्री महाशय धर्मपाल की प्रसन्नता का पारावार न था। उन्होंने मलखम पर प्रदर्शन करने वाले, प्रत्येक युवक को १०० रुपये का पुरस्कार देना प्रारम्भ किया। अन्य आर्यजनों ने भी आर्य वीरों का उत्साह वर्धन किया।

आर्यवीर सैनिकों की टुकड़ियों ने मार्च पास्ट करते हुए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल एवं आर्य केंद्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल का सैनिक अभिवादन किया। इस मनोहारी दृश्य से सारा पण्डाल चमत्कृत था।

पूज्य श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने विशिष्ट कार्य करने वाले सहयोगियों एवं शिक्षकों को तथा शैक्षणिक एवं बौद्धिक प्रतियोगिताओं में विजयी आर्यवीरों को सम्मान पदक प्रदान किए।

सभा को सम्बोधित करते हुए डा० वाचस्पति उपाध्याय ने कहा कि ये करतब तो सर्कस वाले लोग हमारे आर्य वीरों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह दिखा सकते हैं, परन्तु हमारी विशेषता है कि इन आर्य वीरों ने शारीरिक क्रिया प्रदर्शन के साथ साथ अपने चरित्र को भी उत्कृष्ट बनाया है।

सभा को दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, महामन्त्री श्री सूर्यदेव, आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान महाशय धर्मपाल महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री, स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती और स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने सम्बोधित किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री स्वामी जी महाराज ने कहा कि जिस कार्य को करने में हमारे सैनिक हिचक रहे थे और उच्चाधिकारियों के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे, उस कार्य को हमारे एक आर्य वीर ने सम्पन्न कर दिखाया था। पाकिस्तान के सैनिकों ने भारत की भूमि पर अपने देश का ध्वज लगा दिया था और वे उसकी रक्षा पूरी शक्ति से कर रहे थे। भारतीय सेनाओं के जवान कुछ करने से पहले आदेश की प्रतीक्षा में थे। परन्तु हमारे आर्य वीर श्री ओ३म् प्रकाश त्यागी घुटनों और कुहनियों के बल रेंग कर आंखें बचाते हुए आगे बढ़े और उस ध्वज को उतार लाए। हमने वह ध्वज तत्कालीन गृह मन्त्री श्री सरदार पटेल को भेंट किया। उन्होंने यह ध्वज सार्वदेशिक सभा को सम्मान पूर्वक दिया जो आज भी हमारे कार्यालय में रखा हुआ है। राष्ट्र कल्याण के लिए आर्य समाज प्रतिबद्ध है।

समारोह समापन हेतु आर्यवीरों ने पुनः मार्चपास्ट किया और दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री तथा आर्यवीर दल दिल्ली प्रदेश के अध्यक्ष श्री सूर्यदेव का सैनिक अभिवादन किया।

समारोह का संचालन ब्र० राजसिंह आर्य ने किया।

(शेष समाचार अगले अंक में)

सुप्रसिद्ध समाजसेवी, मानवता के पोषक, उद्योगपति श्री महाशय धर्मपाल जी आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान निर्वाचित

आर्यसमाज हनुमान रोड के विशाल सभागार में आर्य केन्द्रीय सभा का वार्षिक अधिवेशन ९ जून १९९१ को सभा प्रधान महाशय धर्मपाल की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। ईश वन्दना के पश्चात् दिवंगत महानुभावों को श्रद्धांजलि अर्पित की गई। सभा महामन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री ने वर्ष १९९०-९१ का वार्षिक विवरण प्रस्तुत किया। सभी उपस्थित आर्यजनों ने सभा के वार्षिक कार्य की सराहना की और अधिकारियों का धन्यवाद किया। सर्व सम्मति से रिपोर्ट स्वीकृत की गई। सभा के कोषाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश कपूर ने आय-व्यय विवरण तथा



(महाशय धर्मपाल जी)

बजट प्रस्तुत किया। मान्य सदस्यों ने कुछ जानकारियां प्राप्त की तथा अपने सुझाव दिए। आय-व्यय तथा बजट एवं शेष पत्र की स्वीकृति के पश्चात् डा० शिवकुमार शास्त्री ने संविधान में संशोधन प्रस्तुत किया कि आर्य समाजों से संबद्ध शुल्क प्रति वर्ष न लेकर, केवल एक बार २५० रुपए लिया जाए। यह संशोधन को सर्व सम्मति से स्वीकृत किया गया। वर्तमान अधिकारियों एवं कार्यकारिणी के सदस्यों का धन्यवाद प्रस्ताव लाला बटेश्वर दास ने प्रस्तुत किया जिसे सहर्ष स्वीकार किया गया।

तत्पश्चात् निर्वाचन की प्रक्रिया पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुई। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने श्री महाशय धर्मपाल का नाम प्रधान पद के लिये प्रस्तावित किया श्री सूर्यदेव श्री रामनाथ सहगल, श्री लाजपत राय निभावन श्रीमती कृष्णा चड्ढा आदि

(शेष पृष्ठ ६ पर)

परामर्श—डा० धर्मपाल प्र० सम्पादक—सूर्यदेव सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेदों की सार्वभौमिकता

—पद्म श्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)

(गताङ्क से आगे)

महर्षि भारद्वाज ने अपने "यन्त्रसर्वस्व" ग्रन्थ के "वैमानिक प्रकरण" में विमानो के निर्माण एवं उनके विविध यन्त्रो का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह ग्रंथ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने "बृहद् विमान शास्त्र" नाम से छापा है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत मे विमान आदि के निर्माण से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। इसमे उल्लेखनीय है कि—

नारायण: शौनकश्च गर्गो वाचस्पतिस्तथा ।
चाक्रायणि धुंण्डिनाथश्चेति शास्त्रकृत. स्वयम् ॥ ३४
विमानचन्द्रिका व्योमयानतन्त्रस्तथैव च ।
यन्त्र कल्पो यानबिन्दु: खेटयान प्रदीपिका ॥ ३५
व्योमयानार्क प्रकाशश्चेति शास्त्राणि षट् क्रमात्
नारायणादिमुनिभि: प्रोक्तानि ज्ञानवित्तमै: ॥ ३६ ॥

बृहद्विमानशास्त्र १. ३४-३६

वैज्ञानिक ग्रंथो के लेखक ये ६ ऋषि है—नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति चाक्रायणि और धुण्डिनाथ। उनके बनाये हुए ६ वैज्ञानिक ग्रन्थ क्रमश: ये हैं—विमानचन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्र कल्प, यान बिन्दु, खेटयान प्रदीपिका और व्योमयानार्क प्रकाश।

विमान की व्याख्या से ज्ञात होता है कि ये विमान, पृथ्वी, जल और अन्तरिक्ष तीनों मे चल सकते थे और इनके द्वारा देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर और विभिन्न लोकों तक यात्रा की जा सकती थी।

पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु खगवद् वेगत: स्वयम् ।
य: समर्थो भवेद् गन्तु स विमान इति—स्मृत: ॥ (नारायण)
देशाद् देशान्तर तद्वद्, द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा ।
लोकाल्लोकान्तर चापि योऽम्बरे गन्तुमर्हति ।
स विमान इति प्रोक्त: खेटशास्त्रविदां वरै: ॥ (विश्वंभर)

महर्षि भारद्वाज ने स्वीकार किया है कि यह विमानविद्या वेदो से प्राप्त की गई है।

त्रयीहृदय-सन्दोह साररूप सुखप्रदम् ।
अनायासाद् व्योमयान-स्वरूप-ज्ञान-साधनम् ।
वैमानिक प्रकरण कथ्यतेऽस्मिन् यथाविधि ॥बृहद्विमानशास्त्र, मगलाचरणम्

अश्विनीकुमार के रथ का वर्णन करते कहा गया है कि यह रथ पृथ्वी और आकाश दोनो मे चल सकता है। इसका वेग, मन की गति से भी तीव्र था।

रथो ह वाम्···परि द्यावापृथिवी याति सद्य: । ऋग्० ३-५८-८
यस्ते रथोमनसो जवीयान् । ऋग्० १०-११२-२

विमान मे तीन पहिये होते थे। यह त्रिकोण आकार का होता था। इसमे तीन सीट होती थी।

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक् ॥ ऋग्० १-११८-२

विशाल समुद्री पोतो का भी उल्लेख मिलता है। इनमे सैंकडो पतवार होती थी।

दैवी नाव स्वरित्राम् अनागसम्,
अस्रवन्तीम् आ रुहेम स्वस्तये ।
शतारित्रां शतस्पयाम् अच्छिद्रा पारयिष्णुम् ॥ तैत्तिरीय सहिता १-५-११-६

समुद्र के अन्दर चलने वाले पोतो का भी उल्लेख मिलता है—

यास्ते पूषन् नावो अन्त: समुद्रे ।
हिरण्ययी रन्तरिक्षे चरन्ति ॥ ऋग्० ६-५८-३

आयुर्वेद विषयक सामग्री का विपुल भडार वेदो मे प्राप्त होता है। इसका विस्तृत विवेचन मैंने (The Essence of the Vedas) में प्रस्तुत किया है। इसमें अग्नि चिकित्सा, जल चिकित्सा, मृत्-चिकित्सा, सूर्य-किरण चिकित्सा, यज्ञ चिकित्सा, विष चिकित्सा, मानस चिकित्सा आदि का वेदोक्त विधि से वर्णन किया है।

पर्यावरण एव प्रदूषण समस्या आज विश्व की ज्वलन्त समस्या है। इसके लिए वेदो में कतिपय उपाय सुझाए गए हैं। वे हैं—

१—वृक्ष-वनस्पतियो की सुरक्षा, २—वृक्षादि को न काटना, ३—सौर ऊर्जा का उपयोग, ४—रेडियो-तरंगो के उपयोग से वायु मंडल शुद्धि, ५—यज्ञों का प्रचार ६—प्राकृतिक सतुलन बनाए रखना।

वेदों मे पर्यावरण की रक्षा के लिए वायु जल और औषधियों के सरक्षण निर्देश दिया गया है।

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे, पुरुरूप दर्शत विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता औषधयस् तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ अथर्व० १८-१-१७

वृक्षों को न काटो। जल और पृथ्वी की रक्षा करने। पृथ्वी से उतना ही भाग निकालो जिसकी क्षतिपूर्ति की जा सके।

मा काकम्बीरम् उद्वृहो वनस्पतिम् अशस्तीर्वि हि नीनश: । ऋग्०६-४८-१७
मा आपो हिंसी: मा ओषधीर्हिंसी । यजु० ६-२२
द्यां मा लेखीरन्तरिक्ष मा हिंसी । यजु० ५-४३
पृथ्वीं दृह, पृथिवीं मा हिंसी । मैत्रायणी स० २-८-१४
यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि-तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि, मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ अथर्व० १२-१-३५

यहां यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि यजुर्वेद (अध्याय १६ रुद्राध्याय) वनस्पतियो को रुद्र या शिव का रूप माना गया है। रुद्र की वृक्षो और वनस्पतियों के स्वामी के रूप मे स्तुति की गई है।

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्य:, वनाना पतये नम,
वृक्षाणां पतये नम:, औषधीना पतये नम:,
कक्षाणां पतये नम:, अरण्याना पतये नम: ॥ यजुर्वेद अ० १६ मन्त्र १७ से२०

वृक्ष-वनस्पति रुद्र के रूप में इस प्रकार है कि वे कार्बन डाइआक्साइड (Carbon dioxide) रूपी विष को पीते हैं और आक्सीजन (Oxygen) अर्थात् प्राण वायु रूपी अमृत को निकालते है। शिव के विषपान और अमृतदान का एक रूप यह भी है। अतएव वृक्षो को शिव का मूर्तरूप समझना चाहिए और वृक्ष-वनस्पतियो के सरक्षण को शिवोपासना का एक प्रकार मानना चाहिए।

वृक्ष-वनस्पतियो की सख्या अनन्त है, अतएव यजुर्वेद में भूतल पर रुद्रो की सख्या भी अनन्त कही गयी है।

असख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । यजु० १६-५४

ऋग्वेद और अथर्ववेद मे "महान उल्ब" शब्द के द्वारा विशाल ओजोन-परत Ozone Layer का सकेत है। गर्भ के ऊपर झिल्ली या जेर को उल्ब कहते हैं। यह गर्भस्थ बालक का सरक्षण करती है, इसी प्रकार यह "महान् उल्ब" (ओजोन की परत) ससार की रक्षा करती है। अथर्ववेद मे इसका रग सुनहरी (हिरण्यरूप) माना गया है। ऋग्वेद मे इसे व्यापक और मोटी परत कहा गया है कि इसके द्वारा जलीय वातावरण का नियन्त्रण होता है।

महत् तदुल्ब स्थविर तदासीद्, येनाविष्ठित. प्रविवेशिथाप: । ऋग्०१०-५१-१
आपो वत्स जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्, तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद् हिरण्यय: ।
अथर्व० ४-२-८

आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह ओजोन की परत भूतल से १५ से ३० किलोमीटर ऊंचाई पर है। यह सूर्य की अल्ट्रा वायलेट किरणो को आत्मसात् कर लेती है, जो कि वृक्ष वनस्पतियों के लिए अत्यन्त घातक हैं। ओजोन जल और वायु को शुद्ध करता है।

(शेष पृष्ठ ५ पर)

साप्ताहिक ओ३म्
आर्य सन्देश

धर्म और उसका संकुचित अर्थ

सम्पादकीय

धर्म का अर्थ व्यापक है और विस्तीर्ण भी परन्तु हम अज्ञानवश उसका प्रयोग सीमित अर्थ में करते हैं और उसके विस्तार को भी बहुत ही सकुचित कर देते हैं। वैदिक अवधारणा को समझ पाना और धर्म की सच्ची पृष्ठ-भूमि को समझ लेना सामान्य व्यक्तियों के लिए कम और विद्वानों के लिए अधिक कठिन हो गया है। यदि हम चाहते हैं आज के विखण्डन और अविश्वास के अन्धकार को दूर करें तो हमारा कर्त्तव्य है कि धर्म को हम व्यापक और विशद अर्थ मे ही ग्रहण करें। धर्म का मुख्य अर्थ है–जो जीवन को धारण करे। सरल शब्दों मे कहे तो धर्म वह है जो हमारे जीवन को सम्भाल कर रखे। धर्मशास्त्र जीवन की एक पूजा पद्धति ही नहीं है बल्कि यह तो एक व्यवहार पद्धति है। धर्म को प्राप्त करने के लिए जीवन को जीना, जीवन को पूरे मन से स्वीकार करना और जीवन की सार्थकता को पहचानना अनिवार्य है। जीवन की सार्थकता मनुष्यता के अभाव में है। वेद सर्वत्र धर्म की संकुचित परिभाषाओं से ऊपर उठ कर सबको यही आदेश देता है कि तुम मनुष्य बनो। यह मनुष्य भाव ही जीवन की सार्थकता है। मनुष्य भाव अपेक्षा करता है कि सबके भाव को अपना भाव माने। इस भाव से कटना नृशंसता है। यह मनुष्यता की जघन्य हत्या हैं। जो इस भाव से मुक्त हो जाता है, वह ही सच्चा धार्मिक है और उसका भाव ही परम धर्म है।

धर्म का दूसरा पक्ष है सहज होना। धर्म प्रदर्शन नहीं है। धर्म आरोपित नहीं होता, धर्म वह है जो मनुष्य के अन्दर होता है। मनुष्य का विवेक उसके जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। अपने में डूबता है तो सोचता हूं कि मेरे भीतर के आदमी को क्या अच्छा लगता है। धर्म का यह सिद्धांत है कि वे दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसे व्यवहार की वह दूसरे से अपने लिए अपेक्षा करता है। सत्य असत्य के निर्णय में भी इसी विवेक का सहारा लिया जाता है। महाभारत में एक धर्मव्याध की कथा आती है। जिसमे बताया गया है कि शिकार करने वाला वह व्याध भी धार्मिक है। क्योंकि वह अपना काम पूरा करने बाद घर जाकर नहा धोकर वृद्ध माता पिता की सेवा करने के पश्चात घर के पशुओ तक की चिन्ता करता है। दूसरी ओर ब्राह्मण विश्राम करते-करते, अच्छा भोजन करते हुए, हर तरह की आवभगत होने के बावजूद ऊब जाता है, झल्ला उठता है और गुस्सा करता है। अब आप ही देखिए धर्म कौनसा है, धर्म सहज कर्म है। नदी बहती है, हवा बहती है, भाप चलती है, वह सब धर्म है। इसी तरह से जो आदमी सहज रूप मे जो काम करता है, वह धर्म है। जो कुछ दिखावे के लिए काम करता है, वह धर्म नही है।

धर्म का तीसरा पक्ष है गतिशीलता। वेदो में दो शब्द आए हैं, ऋत और सत्य इन दोनों का मिला-जुला रूप ही धर्म है। ऋत का अर्थ है गति और सत्य का अर्थ है सत्ता में बने रहना। गति ऐसी न हो जो स्वरूप की पहचान को नष्ट कर दे। बने रहने का अर्थ यह नहीं है कि टिक जाए, ठहर जाये और सड़ जाये। अत: जो न टिके, जो न सड़े, जो चलता रहे और जो अपने स्वरूप को भी सम्भाले रखे वह धर्म है। इन तीनों, पक्षो को यदि हम समझ लें तो हमे कोई दुविधा न रहेगी। और यही धर्म उस मानव मात्र का है। जो सम्पूर्ण जीवन को सम्भाल कर रखे वह धर्म है। जो सहज हो और आरोपित न हो वह धर्म है जो सत्य और ऋत का समन्वित रूप हो वह धर्म है।

आज के मनुष्य ने धर्म के इस वैदिक स्वरूप को, इस विशाल स्वरूप को बहुत ही संकीर्ण बना दिया है जबकि वैदिक धर्म की अवधारणा पूर्ण मनुष्यता के कल्याण में निहित है। मनु के द्वारा प्रतिपादित धर्म के दस लक्षण उसी वैदिक धर्म की व्याख्या है।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(९ जून, ९१ के अंक से आगे)

दो वर्ष की निश्चित अवधि में शोध कार्य को पूरा करना इस लिए भी सम्भव हो सका, क्योंकि पाली नगर में मेरी सार्वजनिक गतिविधियां अधिक विस्तृत नहीं थीं और लेखन कार्य में मैं अपना अधिकाधिक समय लगा सकता था। उपाधि मिलने पर शोध ग्रन्थ के टंकण व्यय के लिये स्थानीय महाराजा उमेद मिल्स के मैनेजर श्री मोहनलाल गुप्त ने उम्मेद चेरिटेबल ट्रस्ट के २५० रुपये सहायतार्थ दिलवाये। उस समय २५० रुपये की आर्थिक सहायता भी बहुत महत्व की थी।

मेरे शोध का विषय पं० युधिष्ठर मीमांसक ने सुझाया था। शोध प्रबन्ध की पांडुलिपि को मैंने डा० सुधीरकुमार गुप्त, पं० भगवद्दत्त जी तथा उनके सुझावों को यथास्थान उसमें समाविष्ट भी किया था। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इसे छापने का विचार किया। मेरे लिए तो यह सचमुच गर्व एवं गौरव का विषय था कि उपाधि मिलते ही मेरा शोध प्रबन्ध प्रकाशित होने की स्थिति में आ गया।

उस वर्ष ट्रस्ट का अपना प्रेस बहालगढ़ (जिला सोनीपत) में स्थापित हुआ ही था और मेरा शोध ग्रन्थ ही इसमें मुद्रित होने वाला प्रथम ग्रन्थ था। श्री मीमांसक जी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहायता देने के लिये वेदवाणी में एक अपील निकाली। इसके परिणाम स्वरूप बंगलोर के सेठश्री कृष्णलाल पोद्दार ने सेठ आनन्दी लाल पोद्दार ट्रस्ट की ओर से चार हजार रुपये की आर्थिक सहायता मुझे दिलवाई। मैंने स्वयं अपनी ओर से मुद्रण हेतु १००० रुपये दिये और इतने ही मूल्य की पुस्तकें मुझे छपने पर रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रदान की। जोधपुर की तीनों आर्य समाजों ने १००-१०० रुपये इस शर्त पर दिए कि शोध ग्रंथ की १६-१६ प्रतियां उन्हें दी जायेंगी। सेठ पोद्दार का आग्रह था कि शोध ग्रन्थ का मूल्य लागत मात्र रखा जाय ताकि साधारण व्यक्ति भी उसे सुविधापूर्वक खरीद सके। फलत: 'आर्य समाज की संस्कृत भाषा और साहित्य को देन' का सांगोपांग विवेचन करने वाला ४०० पृष्ठों में छपा यह महत्वपूर्ण शोध ग्रंथ १९६८ में मात्र ६ रुपये में ही उपलब्ध कराया गया। अब भी इसका मूल्य २५ रुपये ही है जो अधिक नहीं है। अब तो यह समाप्त प्राय है।

मेरा आर्य समाज सरदारपुरा जोधपुर से पर्याप्त समय तक सम्पर्क रहा था। यहां के आर्य बन्धुओं ने निश्चय किया कि वे मेरे शोध कार्य के सम्पन्न होने पर सामाजिक एव साहित्यिक सेवाओ के उपलक्ष्य में मेरा सार्वजनिक अभिनन्दन करेंगे। आर्य समाज सरदारपुरा के वार्षिकोत्सव पर ही यह आयोजन किया गया और अभिनन्दन का कार्यक्रम आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के तत्कालीन प्रधान डा० मथुरालाल शर्मा की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मुझे एक अभिनन्दन पत्र भी भेंट किया गया।

'ऋषि दयानन्द और आर्य समाज की संस्कृत साहित्य को देन' शीर्षक मेरा शोध ग्रन्थ १९६८ मे ही छप गया। इसका विमोचन भी आर्य समाज सरदारपुरा जोधपुर के सभागार में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक स्वयं पधारे थे। ग्रंथ विमोचन सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान डा० फतहसिंह के कर कमलों से सम्पन्न हुआ, जो उस समय जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के निर्देशक पद पर आसीन थे। इस समारोह में जोधपुर के सभी आर्य पुरुष उपस्थित थे। समारोह पूर्णत: सफल रहा।

प्रचार कार्य का प्रारम्भ—

पाली निवास के काल मे ही मैं प्रचारार्थ बाहर की आर्य समाजो द्वारा आमन्त्रित किया जाने लगा था। आर्य समाज अजमेर, के तत्कालीन मन्त्री डा० सूर्यदेव शर्मा जी ने मुझे अपनी समाज के वार्षिकोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए तार भेज कर आमन्त्रित किया। इस उत्सव मे पं० वाचस्पति शास्त्री तथा पं० प्रकाशचन्द्र जी कवि रत्न आदि जाने माने उपदेशकों के साथ २-३ दिन व्यतीत करने का अवसर मिला। चण्डीगढ के युवक आर्य नेता डा० रामप्रकाश जी की प्रेरणा से आर्य समाज दयालपुरा करनाल के वार्षिकोत्सव मे मुझे १९६८ मे आमन्त्रित किया गया। यहां पं० ओमप्रकाश जी जालंधर, स्वामी वेदानन्द जी (रोपड़), श्री उत्तम चन्द जी शरर आदि बन्धुओ से प्रथम बार मिलने का मौका मिला। क्रमश:

धर्म और राजनीति : पूरक या विरोधी ?

—डॉ० धर्मचंद्र विद्यालंकार—

आज कल एक प्रश्न प्राय: उठाया जाता है कि आखिर राजनीति और धर्म का सम्बन्ध क्या है ? क्या धर्म और राजनीति परस्पर अन्योन्याश्रित है अथवा प्रतिस्पर्धी ? यदि प्राचीन शास्त्रकारों की दृष्टि से इस विषय पर विचार किया जाये तो ये दोनो परस्पर पूरक ठहरते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि मे राजनीति स्वयं साध्या और धर्मनिरपेक्ष नही थी, उनकी दृष्टि मे वह साधन स्वरूपा और धर्म-सापेक्ष थी। मनु के अनुसार तो राजनीति ही धर्म है, जैसा कि उनका कथन भी है : "दण्ड: धर्मो विदुर्बुधा:" अर्थात् विद्वानों ने राजनीति (दण्ड) को ही धर्म माना है। यह एक प्रकार से राजनीति की लाक्षणिक परिभाषा है। जैसेकि आयुर्वेद मे घी के लिए कह दिया कि "घृतवै आयु: घृत वै प्राण:" आदि आदि। जिस प्रकार से घृत को आयु,-वीर्य: और प्राणो का पुष्टिकर्त्ता मान कर साक्षात् आयु वीर्य और प्राण ही कह दिया, उसी प्रकार से मंत्रादि शास्त्रकारो ने राजदण्ड (राजसत्ता) को धर्म का परिपालक होने के कारण उसे साक्षात धर्म ही कह दिया। सामान्य और व्यापक धर्म से उसे अलगाने के लिए उसका नाम रखा–राजधर्म, जिसे हम आजकल राजनीति या राष्ट्रनीति कह कर पुकारते हैं।

हमारी यह बात एक और दृष्टांत से भी परिपुष्ट होती है। जब महाभारत का युद्ध सम्पन्न हो चुका था तो युधिष्ठिर उस रक्तपात से बहुत ही ग्लानि गलित हो रहे थे। ऐसी विषादपूर्ण मन:स्थिति मे वे शर-शैया पर शायित भीष्म पितामह के समीप इस विनाशकारी युद्ध का कारण जानने के लिए गये। तब भीष्म पितामह ने उनकी मन:शान्ति के लिये एक ही बात कही थी—"निमज्जते दण्ड-नीति त्रयी निमज्जेत्"। अर्थात् जब राजनीति पतनशील हो जाती है तो सारे वेद शास्त्र, धर्म-कर्म, आचार-विचार, मान्यता-मर्यादा सभी ह्रासशील हो जाते हैं। ठीक यही बात आज के हमारे अपने समय पर सही रूप से चरितार्थ हो रही है। आज जब चारों ओर राजनीति में छल-छद्म का बोलबाला है, उठा-पटक है, आपा-धापी है; तब भीष्म पितामह की वह बात सोलह आने सही लग रही है। राजनीतिकों के आधारहीन होने से आज समाज के सभी सम्मान्य जीवन-मूल्य सदर्महीन हो गये हैं। आचार-विचार की मान्य मर्यादाएं खड़ी होकर अबलावत् अश्रु प्रवाह कर रही है। नैतिकता खडी-खड़ी सिसकिया ले रही हैं। उसके बावजूद भी तुर्रा यह कि यह 'राजनीति" है, जबकि इसमें केवल राज (सत्ता) ही राज है, नीति नहीं है, उसके स्थान पर अनीति है।

हमारे युग के महान राजर्षि महात्मा गांधी ने जब देखा कि धर्म-निरपेक्षता के नाम पर राजनीति अनीति की ओर बढ रही है तो उन्हे अन्तत: कहना पडा था कि "राजनीति बिना धर्म के वेश्या है।" हमारे प्राचीन शास्त्रकार इस बात को पहले ही कह चुके थे जब उन्होंने लिखा कि "वारांगना वत नीतिनृपाणाम्" अर्थात् धर्महीन राजाओ की नीति तो वेश्याओ की भांति होती है। आज के हमारे तथाकथिक धर्मनिरपेक्ष नीति रहित राजनीतिकों की नीति भी क्या वेश्याओ के आचरण से अच्छी है ? आखिर इस राजनीति को वेश्या की तरह पतित बनाया किसने—केवल और केवल धर्महीनता ने, तिस पर भी हम धर्म निरपेक्षता की दुहाई दिये जा रहे हैं। प्राचीन काल मे हमारे यहा राजा को धर्माधिकारी भी माना और कहा जाता था, क्योंकि वह धर्म और न्याय का रक्षक था, लेकिन आज के हमारे ये तथाकथित धर्मनिरपेक्ष नेता सामाजिक न्याय और समता का नारा तो देते हैं, लेकिन क्या वे सब चीजे उनके अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी हैं। तब वे न्याय और नीति की क्या खाक रक्षा करेगे ? आज समाजवाद के नाम पर हमने अपना व्यैक्तिक जीवन खोखला बना लिया है। न उसमें भक्ति है न आस्था:, न दया है न करूणा, तब ऐसा अधार्मिक राजनैतिक जनता के साथ कैसे प्रीति पूर्ण और न्याय सगत व्यवहार कर सकता है। पुराने जमाने में यदि किसी राजा के राज में अकाल या दुर्भिक्ष पड जाता था तो उस राजा को अधार्मिक या नास्तिक मान कर उसे ही प्रजा इस प्राकृतिक प्रकोप के लिए दोषी ठहराती थी। क्योंकि उसके अनुसार राजा धर्म का साक्षात् विग्रह होता था। धर्म का व्यापक अर्थ राजनीति और सामाजिक जीवन में न्याय, नैतिकता, दया, करुणा, सत्य और कर्त्तव्यपालन है। लेकिन आज की राजनीति धर्मनिरपेक्षता के नाम पर इन मानवीय मूल्यों को सर्वथा नकार रही है। तब यह राजनीति की गगा शुद्ध कैसे रह सकती है ? जिस की गंगोत्री मे ही अनीति बैठी हुई है।

आज कल एक बड़ा ही दुष्प्रचार राजनीति के बारे में चल पड़ा है कि—"अरे राजनीति तो बड़ी गन्दी चीज है, यह तो बदमाशो का घिनौना खेल, है, इसमें सज्जन व्यक्तियों को नहीं आना चाहिए।" लेकिन मैं पूछना चाहता हूं कि क्या राजनीति स्वय मे कोई पवित्र या अपवित्र वस्तु है क्या ? वह स्वयं साध्य तो है नहीं, साधन स्वरूपा है। साधन कभी पवित्र या अपवित्र नहीं होता। पवित्र या अपवित्र तो उसका प्रयोगकर्ता होता है। जहर से एक दुष्ट व्यक्ति किसी के प्राण भी ले सकता है, जबकि परोपकारी वैद्य उसे औषध के रूप में प्रयोग करके किसी रोगी की प्राण-रक्षा भी कर सकता है। तब अपवित्र विष हुआ या व्यक्ति ? यदि राजनीति इतनी गन्दी चीज है तो मैं उन आरोपकर्ताओं से यह पूछना चाहूंगा कि तब आप राम और कृष्ण को क्यों पूज्य मानते हैं ? आखिर वे भी थे तो राजनीतिक ही थे। राजाओं के घरों में जन्म लिया और राज भी किया तथा राजनीति भी खेली। फिर आप आज के राजनेताओं की तरह उनके लिए गालियां क्यों नही निकालते ? आप कहेगे कि वे तो महान और पवित्र व्यक्ति थे। मेरा प्रश्न है कि फिर वे राजनीति के पंक में रहकर कमल की तरह शुभ्र और उज्ज्वल रह कैसे गये ? तो आपका एक ही उत्तर होगा कि उनकी राजनीति धर्म के अनुकूल थी। यही बात आज लागू होनी चाहिए। व्यवस्था बुरी नहीं होती उसको चलाने वाले व्यक्ति बुरे हो सकते हैं : राजनीति बुरी नहीं, उसमें रहने वाले लोग गदे हो सकते हैं। यदि आज भी अच्छे सदाचारी, विद्वान् और धार्मिक पुरुष राजनीति में प्रवेश करने लगें तो कोई कारण नहीं कि हम इसे हुगली से फिर गगा बना सकें। यदि सज्जन लोग यही सोच कर घरों में बैठे रहें कि भाई राजनीति हमारे लायक नहीं है, या फिर हम ही राजनीति के काबिल नहीं है तो क्या होगा एक दिन सारी राज-व्यवस्था और तन्त्र पर भी गुण्डे बदमाशों का अधिकार हो जायेगा। फिर आप घर मे बैठे माला जपते रहियेगा और जब कोई काम पडेगा तो उन दुर्जन राजनीतिकों के सम्मुख जाकर गिडगिडाइएगा—क्या यह सब ठीक रहेगा। लेकिन यह आज के सामाजिक जीवन का वस्तु-सत्य है।

अर्थशास्त्र में एक कहावत प्रचलित है कि "खोटी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है।" मुहम्मद तुगलक सुलतान के साथ यही तो हुआ था। उसने सोने के सिक्के जारी किये तो बेईमान लोगों ने क्या किया कि सोने के सिक्के तो घरों मे रख लिए और उनके स्थान पर पीतल के सिक्के बना कर बाजार में चला दिए। एक स्थिति वह पैदा हुई कि सोने के सिक्के चलन से बाहर हो गये। ठीक यही हालत आज राजनीति मे हो रही है। अधिकाश सज्जन तो राजनीति मे आते नहीं हैं और यदि कोई इक्का-दुक्का, भूला-भटका आ भी जाता है तो वह अप्रासगिक हो जाता है।

मेरी यह मान्यता है कि आज भी समाज में सज्जन अधिक हैं और दुर्जन कम हैं। लेकिन सज्जन सगठित और सक्रिय नहीं हैं, जबकि दुर्जन सगठित भी हैं और सक्रिय भी हैं, इसलिए शक्तिशाली भी वही हैं। यदि सज्जन धर्मात्मा-परोपकारी-सदाचारी राजनिति मे नहीं आयेंगे तो दुर्जन-दुराचारी तो आयेंगे ही—उनको आप रोक नही सकते। उनको तो एक प्रकार से वाक्-ओवर मिल रहा है। दुनिया का नियम यह है कि जब एक वस्तु अपने स्थान से हटती है तो दूसरी चीज उसका स्थान स्वय ले लेती है, जब सज्जन राजनीति से हटेंगे तो दुर्जन तो डटेंगे। इसलिए दुर्जनों को राजनीति में स्थापित होने का अवसर देने वाले तो ये तथाकथिक दुर्बल मना सज्जन ही हैं। आज जो सत्य के लिए कोई संघर्ष नहीं कर सकता वही मजबूरी में सज्जन बना बैठा है। वही शक्तिहीन। खाली सिद्धान्तों की जुगाली करती है, महान मूल्यों की महत्ता का बखान करता है।

वेद में कहा गया है कि "अद्य जीवानि मास्व" दुष्ट आज है कल नहीं रहेगा। अर्थात अधर्म और अनीति चिरस्थाई नहीं होते, लेकिन सज्जनो की

(शेष पृष्ठ ५ पर)

गुरुकुल करतारपुर में प्रवेश आरम्भ

कोई मासिक शुल्क नहीं

श्री गुरु विरजानन्द गुरुकुल करतारपुर, जिला जालन्धर पजाब में नये छात्रों का प्रवेश १५ जून से ३० जून १६६१ तक होगा। आधुनिक विषयों के साथ-साथ सस्कृत तथा धर्म शिक्षा की समुचित व्यवस्था। निशुल्क शिक्षा हिन्दी माध्यम, योग्य परिश्रमी शिक्षक, स्वच्छ वातावरण, सात्विक भोजन, दूध तथा आवास आदि की सर्वथा निशुल्क सुविधा। छात्रों की प्रवेश योग्यता कम से कम कक्षा ६ उत्तीर्ण हो। प्रवेश हेतु शीघ्र मिलें अथवा पत्राचार करें —आचार्य श्री विरजानन्द गुरुकुल करतारपुर—१४४८०१ (जिला जालन्धर)

मानवता की हत्या

विगत दिनो पूर्व प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी की हत्या वास्तव में मानवता की हत्या है। लगता है दयानन्द, गांधी व गुरुओं के इस पावन देश को विश्वासघातियो के विष ने मृतप्राय: बना दिया है। मानवता मानो कोसों दूर चली गई हो, अहिंसा व प्यार शब्द का लोप होता जा रहा है तथा विश्वास दिन प्रतिदिन उठता जा रहा है। समस्त विश्व को हिला देने वाली इस दर्दनाक मौत ने हमे एक बार फिर सोचने पर मजबूर कर दिया है कि देश का भविष्य कैसा होगा। लगता है वह दिन दूर नहीं जब यह देश मात्र विश्वासघातियो का देश बन जायेगा।

—मा० रामचन्द्र आर्य
आर्य समाज नलवा हिसार

आवश्यकता है

—आर्य समाज बिड़ला लाईन्स, कमला नगर मे एक 'वेद प्रचारक' की उपयुक्त मानदेय पर–सच्चरित्रता, कर्मठता व मृदुल सेवाभावी ही सम्पर्क करें।

नोट—विविध कक्षाए (सस्कृत, सगीत, चित्रकला, योगासन आदि। संचालित करना व उपयुक्त कमीशन पर वैदिक साहित्य, आयुर्वेदिक औषधीया विक्रय करना अतिरिक्त योग्यता)

—एक कुशल आयुर्वेदिक वैद्य इन्चार्ज (प्रात: ८-३० से १-०० दैनिक सेवा) हेतु मानदेय ८०० रुपये मासिक पर चाहिए।

—एक सच्चारित्र, सक्षम सेवक बिक्री कमीशन व ३०० रुपये मासिक पर चाहिये। प्रधान —जयप्रकाश आर्य, आर्य समाज बिड़ला लाइन दिल्ली-८

वेदों की सार्वभौमिकता

(पृष्ठ २ का शेष)

आधुनिक समय में वैदिक मैथमेटिक्स के पुनरुद्धारक-पुरी के भूतपूर्व शंकराचार्य स्व० श्री स्वामीभारती कृष्णतीर्थ जी थे। उन्होने वैदिक मैथमैटिक्स, १६ सूत्रों पर १६ ग्रंथ लिखे थे, जिनमे संप्रति केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें उन्हों ने अथर्वपरिशिष्ट के १६ सूत्र और १३ उपसूत्र दिए हैं। उनकी मान्यता है कि ये सूत्र अथर्ववेद के परिशिष्ट गन्थ "अथर्वपरिशिष्ट" से लिए गये है और इनसे गणित के गूढ़ एव कठिन प्रश्नों को अत्यन्त सरल ढंग से कम्प्यूटर की तरह कुछ ही क्षणो मे हल किया जा सकता है। उनका कथन है कि—

"We were agreeably astonished and intensely gratified to find that exceedingly tough mathematical problems can be easily and readily solved with the help of these ultra-easy Vedic Sutras (Mathematical Aphorisms) contained in the Parisista of Atharaveda."

Vedic Mathematics Introduction, P. 15

अभी तक उपलब्ध किसी भी अथर्वपरिशिष्ट में ये सूत्र उपलब्ध नही है। ग्रन्थ के सम्पादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि सम्भव है यह अथर्व परिशिष्ट ग्रन्थ स्वय श्री भारती कृष्ण तीर्थ की बौद्धिक देन हो।

इन १६ सूत्रो से कतिपय सूत्रो का आधार अथर्ववेद मे प्राप्य हैं। कुछ मन्त्रो मे इन सूत्रो के आधारभूत शब्दो या सिद्धांत भी उपलब्ध हैं। जैसे–ये सूत्र हैं—

एकाधिकेन पूर्वेण (सूत्र-१) अर्थात्–पूर्ववर्त्ती सख्या में एक जोड दें।

यस्मिन् एकं युज्यते यस्मिन एकम् ।अथर्व० ८-६-३। अर्थात् एक जोड़ दो।

ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम् (सूत्र ३) अर्थात् ऊपर और तिरछे गुणा आदि करो।

ब्रह्मेदयमूर्ध्वं तिर्यक् च। अथर्व० १०-२-२५

इस मन्त्र में ऊपर और तिरछे कार्य करने का सकेत है। इन सूत्रो के द्वारा गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल समीकरण आदि के सभी प्रश्न अत्यन्त सरल विधि से हल कर दिए जाते हैं।

श्री भारती कृष्ण तीर्थ अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद के अन्तर्गत गणित, इन्जीनियरिंग आदि विद्याओं को लेते हैं। इस समय विदेशो मे भी वैदिक मैथेमेटिक्स विषय को मान्यता प्राप्त हो रही हैं और इस विषय पर पर्याप्त शोधकार्य हो रहा है। इस प्रकार अन्य बहुत सी विद्याओ का मूल वेदो मे प्राप्त हो सकता है।

मैंने यूरोप और अमरीका आदि की यात्राओं में यह अनुभव किया कि आज भी वहा वेदो के प्रति गहरी आस्था है और वे वेदो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर हैं। उनकी आकाक्षा की पूर्ति करना हमारा कर्त्तव्य है।

अत वैदिक विज्ञान की सुरक्षा के लिए तथा उसके अन्वेषण के लिए सभी भारतीय वैदिक विद्वानो को प्रयत्नशील होना चाहिए। इस दिशा में किया गया प्रत्येक शुभ कार्य विश्व कल्याण और विश्वबन्धुत्व के लिए सहायक सिद्ध होगा।

वेदो का प्रचार प्रसार ही विश्व मे स्थाई शान्ति की स्थापना कर सकता है। वेदो के प्रचार प्रसार के द्वारा ही हम देश और विदेशो मे 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का सन्देश पहुचा सकते हैं। ●

(पृष्ठ ४ का शेष)

निष्क्रियता और शक्ति हीनता इनको चिरजीवी बनाती है। वेद का स्पष्ट आदेश है कि "दुष्ट व्यक्ति हमारा स्वामी न बने, वह हम पर अपना शासन न चलाये।" यह कब सम्भव है जब दुनिया के सारे सज्जन सगठित और सक्रिय तथा सघर्षशील हो जायें। इसलिए महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने क्रान्तिकारी आह्वान किया था कि "ससार के श्रेष्ठ पुरुषों एक हो जाओ" क्योकि उन्हें ज्ञात था कि सज्जनों की एकता ही उनको शक्ति प्रदान कर सकती है। यदि सज्जन लोग जाति, मत पथ में बिखरे रहेंगे तो दुष्ट ही राज करेंगे। भगवान वेद का भी स्पष्ट आदेश यही है कि—"अहंभूमि अददामार्याय" अर्थात् मैंने तो यह वसुंधरा श्रेष्ठ लोगों के भोग करने के लिए प्रदान की है। श्रेष्ठों को ही क्यों दी है? इसका भी कारण यह बताया है कि "आर्या व्रता: विसृजन्तो अधि क्षमी" अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष ही दुनिया में अच्छे नीति-नियमों और परम्पराओं का विस्तार करते हैं। जबकि दुष्ट कुनीति-भ्रष्टाचार अनाचार का प्रचार करते हैं। अतएव गदी राजनीति नही है अपितु उसको चलाने वाले लोग गंदे हो सकते हैं। आज की राजनीति के विकृत वातावरण को देख कर उससे दूर भागने की जरूरत नहीं है। यदि नाक में जुकाम हो जाये तो नाक को काट कर ही नही फेंका जाता अपितु उसका इलाज कराया जाता है। इसी प्रकार से आज राजनीति की इस कल मलतारिणी शुभ्र धवल गंगा को पुन: पवित्र करने की आवश्यकता है।

धर्म और राजनीति का विवाद तो इन सत्ता लोलुप विकृत सेकुलरवादी लोगो ने उठाया है। उन्हें मालूम है कि इस का अल्पसंख्यक मजहब के नाम पर वोट देता है इसलिए उसका तुष्टिकरण किया जाता है। उन्हे पता है कि हिन्दू धर्म के स्थान पर जाति और दल के नाम पर वोट देता है तो हिन्दू धर्म की बात को मानना जरूरी नही है। जिस दिन हिन्दू इस देश मे धर्म के नाम पर सगठित होकर मतदान करेगा उस दिन कोई भी राजनीतिक दल या नेता उसकी बात को अनसुनी नही कर सकेगा। लेकिन हिन्दू के धर्म को तो सांमप्रदायिक बताया जाता है, जबकि औरों का धर्म (मत) लोकतान्त्रिक है। इतना उदार और सहनशील होते हुए भी इस देश मे हिन्दू होना या कहलाना गुनाह हो गया है, जबकि अल्पसख्यक चाहे जितना जहरीला अनुदार, अराष्ट्रीय है, वह सह्य हैं, क्योकि उसका वोट मजहब के नाम पर मिलता है। इसी दृष्टिकोण के चलते आज राणा प्रताप और शिवाजी भी एक सम्प्रदाय के नायक बना दिए गये हैं, राष्ट्र के नायक नही रहे। यदि सच्चे धर्म और नैतिकता के लिए राजनीति मे स्थान नहीं होगा तो जीवन के उच्च और उदात्त मूल्यो का उसमे अभाव होना स्वाभाविक है। यदि राजनीति के लिए बिना धर्म लगडा है तो धर्म के बिना राजनीति भी अधी है, विवेकहीन है। अतएव इन दोनों का मणिकचन-योग समाज के स्वास्थ्य के लिए हितकर है।

—सनातन धर्म महाविद्यालय, पलवल

मानवता की जघन्य हत्या

भूतपूर्व प्रधान मन्त्री एवं कांग्रेस (आई) के अध्यक्ष श्री राजीव गांधी की निर्मम हत्या से आर्य कन्या गुरुकुल तथा तथा प्रान्तीय आर्य महिला सभा की बहनों को अत्यन्त दुःख और हार्दिक पीडा हुई। राष्ट्र इस समय संकट की घड़ियों से गुजर रहा है, चारों ओर आतंकवाद फैला हुआ है, ऐसी विषम परिस्थितियों मे महान देश भक्त, कुशल प्रशासक, वीर, साहसी, नवयुवक योद्धा को खोना भारत का दुर्भाग्य है, जिसकी क्षतिपूर्ति करना असम्भव है। मान्य राजीव जी का जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित था देश प्रेम, राष्ट्रोत्थान एवं राजनीतिक निपुणता पर राष्ट्र पिता महात्मा गांधी, शान्ति के देवता जवाहरलाल नेहरू, और श्रीमती इन्दिरा गांधी की छाप थी। हम दिवंगत आत्मा को श्रद्धाञ्जलि देते हुए परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं उनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करे और पारिवारिक जनों को यह दारुण दुःख सहने की शक्ति प्रदान करे।

—श्रीमती कृष्णा चड्ढा, मन्त्रिणी प्रान्तीय आर्य महिला सभा दिल्ली

पुण्य स्मृति पर दान

—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ मन्त्री श्री मूलचन्द गुप्त जी की पूज्या माता जी तथा विख्यात आर्य चिन्तक, लेखक कार्यकर्त्ता स्व० लाला चतुरसेन गुप्त की धर्मपत्नी श्रीमती क्षमा देवी के अकस्मात देहावसान पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के समस्त अधिकारी एवं कर्मचारी गहरा दुःख एवं शोक व्यक्त करते हैं तथा परमपिता परमात्मा से दिवंगत आत्मा की सद्गति के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं, तथा उनके परिवार के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करते है। श्रीमती क्षमा देवी जी का गत ८ मई को देहावसान हो गया था। उनकी पुण्य स्मृति में उनके परिवार द्वारा निम्न संस्थाओं को दान दिया गया—

आर्य समाज, शामली	५०१ रुपए
श्री मन्दिर हनुमान टीला, शामली	५०१ रुपए
आर्य समाज दीवान हाल, दिल्ली	५०१ रुपए
आर्य अनाथालय, दिल्ली	५०१ रुपए
श्रीमद्दयानन्द गुरुकुल, खेड़ाखुर्द, दिल्ली	५०१ रुपये
आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली	५०१ रुपये
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा	५०१ रुपए

सुप्रसिद्ध समाजसेवी...

(पृष्ठ १ का शेष)

महानुभावों ने अनुमोदन किया। स्वामी जी ने कहा कि कोई अन्य नाम प्रस्तावित करना चाहे, तो करे। कोई भी नाम नहीं आया और महाशय धर्मपाल जी को सर्वसम्मति से प्रधान चुना गया।

श्री लाजपत राय निभावन ने प्रस्ताव रखा कि पदाधिकारियों तथा कार्यकारिणी के गठन का अधिकार नव निर्वाचित प्रधान श्री महाशय धर्मपाल जी को दे दिया जाए। श्री रामनाथ सहगल और श्री सूर्यदेव ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया। यह प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। श्री महाशय धर्मपाल जी ने उपस्थित आर्यजनों का धन्यवाद किया और महामन्त्री पद पर डा० शिवकुमार शास्त्री को मनोनीत किया। श्री कृष्ण कुमार सेठी ने कहा कि अन्तरंग सभा का गठन दोनों अधिकारी मिल कर कर ले। सभी ने करतल ध्वनि से स्वागत किया।

पूज्य स्वामी आनन्द बोध सरस्वती के निर्देश पर वार्षिक अधिवेशन का समापन करते हुए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने आर्य समाज के संगठन और क्रिया कलापों को रेखांकित करते हुए दोनों अधिकारियों के दीर्घायुष्य की कामना की तथा आशा व्यक्त की कि आर्य केन्द्रीय सभा के माध्यम से आर्य समाज का कार्य और आगे बढ़ेगा।

शान्ति पाठ और आये हुए आर्य जनों के धन्यवाद के साथ सभा की कार्यवाही सम्पन्न हुई।

चुनाव समाचार

वेद प्रचार मण्डल ईस्टर्न पश्चिमी दिल्ली-२४ का वार्षिक चुनाव माननीय विद्या प्रकाश जी वर्मा की अध्यक्षता मे दिनाक ५-५-१९९१ को सम्पन्न हुआ, जिसमें वर्ष १९९१-९२ के लिए निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये—

प्रधान—श्री प्रभुदयाल जी भाटिया
मन्त्री—लाजपत राय आहूजा
कोषाध्यक्ष—श्री नरेश जी आर्य

आर्य समाज हनुमान रोड का अधिवेशन सम्पन्न

श्री सरदारी लाल वर्मा पुनः सर्वसम्मति से समाज के प्रधान निर्वाचित।

नई दिल्ली की प्रमुख आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली का ७०वां वार्षिक साधारण अधिवेशन दिनांक २६-५-९१ को श्री सरदारी लाल वर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। सर्व प्रथम देश के पूर्व प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी की निरंकुश हत्या एवं वर्ष मे दिवंगत अन्य भाई बहनों के उपलक्ष में शोक प्रस्ताव दो मिनट मौन रह कर पारित करने के पश्चात् वर्ष की गति विधियों की रिपोर्ट मन्त्री द्वारा सुनाई गई। रिपोर्ट, वर्ष की आय-व्यय की आडिट रिपोर्ट, हिसाब इत्यादि पारित करने के पश्चात अगले वर्ष के लिए अधिकारियों का निर्वाचन श्री राममूर्ति कैला जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। जिसमे श्री सरदारी लाल वर्मा को सर्व सम्मति से पुनः प्रधान निर्वाचित कर उन्हें अन्य अधिकारी, अन्तरंग सभा एवं सभा के प्रतिनिधियों के चयन का पूर्ण अधिकार दिया गया। प्रीति भोज के पश्चात् सभा समाप्त हुई। प्रधान जी द्वारा गठित अन्तरंग सभा की सूची संलग्न है। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए प्रतिनिधियों की सूची की घोषणा पृथक् की जाएगी।

प्रधान—श्री सरदारीलाल वर्मा
मन्त्री—श्री त्रिलोकी नारायण मिश्र
कोषाध्यक्ष—श्री ओमप्रकाश आहूजा

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना की साधारण सभा के दिनांक १९-५-९१ रविवार को सर्वसम्मति से निम्न अधिकारी चुने गए।

प्रधान—श्री रणबीर भाटिया
महामन्त्री—श्री महेन्द्र प्रताप आर्य
कोषाध्यक्ष—श्री श्रवण कुमार आर्य

आर्य समाज ब्रह्मपुरी का चुनाव सम्पन्न

प्रधान—श्री ओमप्रकाश मदान
मन्त्री—श्री कृष्ण आर्य
कोषाध्यक्ष—श्री कमल कुमार गुप्ता

पुस्तक समीक्षा

वेद परिचायिका

इस पुस्तक मे सुश्री विद्वान लेखक डा० कृष्ण बल्लभ पालीवाल ने वेद का संक्षिप्त परिचय प्रश्नोत्तर रूप मे दिया है। वेद, वेदांगों, धर्म शास्त्रो, उपनिषदों, पुराण तथा स्मृतियों को संक्षिप्त परिचय देने के बाद वेदो में वर्णित विषयों का प्रतिपादन किया गया है। वेदो मे वर्णित ज्ञान आज के विज्ञान व तकनीक के ग्रन्थो से कहीं अधिक उच्च श्रेणी का है। उन्होंने श्री अरविन्द को उद्धृत करते हुए लिखा है—'जो विज्ञान मनुष्य को पता नहीं, वह भी वेदो है।' वह सब ज्ञान सूत्र रूप में है। इसकी लोक मंगल साधन कारी व्याख्या अपेक्षित है। 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है, यह विषय अति गूढ़ है, पर विद्वान लेखक ने इस विषय का प्रतिपादन सरल एवं सुबोध शैली में किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान क्यों है? पुस्तिका के अन्त में स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताएं भी दी गयी है। यह छोटी सी पुस्तक प्रत्येक आर्य के लिए पठनीय है।

[वेद परिचायिका—डा० कृष्ण बल्लभ पालीवाल—गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६ पृष्ठ—४०, मूल्य ५-००]

—मूलचन्द गुप्त

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का वार्षिक अधिवेशन सम्पन्न

श्री दरबारी लाल जी अध्यक्ष निर्वाचित

नई दिल्ली, २६ मई। आज आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के पूर्व कार्यकारी अध्यक्ष बाबू दरबारी लाल ने सभा के वार्षिक अधिवेशन मे देशभर से समागत प्रतिनिधियो का स्वागत एव अभिनन्दन करते हुए कहा कि उनके सतत सहयोग से सभा का कार्य निरन्तर प्रगति कर रहा है और इस प्रकार समस्त विश्व मे आर्य-समाजो की स्थापना के साथ-२ स्वामी दयानन्द के मन्तव्यो का भी प्रचार-प्रसार हो रहा है। संसार चक्र परिवर्तन शील है, समय की गति के साथ न चलने वाला समाज एव जाति कभी उन्नति नही कर सकती, किन्तु आर्य समाज सदा ही जागरूक समाज के रूप मे कार्य करता रहा है। यही कारण है कि अपने आरम्भ काल से आरम्भ कर आज तक वह निरन्तर प्रगति कर रहा है।

सभा में समुपस्थित देश भर के प्रतिनिधियो ने अपनी अपनी समस्याये प्रस्तुत की और परस्पर के विचार विनिमय से उनका समाधान भी प्रस्तुत होता गया। कुछ सदस्यों का कहना था कि हमे युवा वर्ग को आर्य समाज की ओर आकृष्ट करने के लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। आर्य समाज को सस्था के रूप में भारत की ससद मे अपने प्रतिनिधियो को भेजना चाहिये।

अधिवेशन मे लगभग ३०० प्रतिनिधियो ने भाग लिया। सभा मन्त्री ने सभा की गत् वर्ष की रिपोर्ट सुनाई, आय व्यय का विवरण पेश किया और आगामी वर्ष के लिये बजट पास हुआ।

प्रतिनिधि सभा ने सर्वसम्मति से प्रो० वेद व्यास जी को सभा संरक्षक तथा श्री दरबारी लाल जी को अध्यक्ष मनोनीत किया तथा उन्हे कार्यकारिणी के गठन का अधिकार दिया।

शोक समाचार

आर्य समाज शान्ताक्रुज बम्बई की यह महति शोक सभा भारत के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री एव काग्रेस अध्यक्ष स्वर्गीय श्री राजीव गांधी जी की जघन्य हत्या पर हार्दिक शोक प्रकट करती है। इस अवसर पर आर्य समाज शान्ताक्रुज ने अपने साप्ताहिक सत्सग के समस्त कार्यक्रम स्थगित कर स्वर्गीय श्री राजीव गाधी जी को श्रद्धाजलि दी। आर्य समाज शान्ताक्रुज के उपप्रधान कैप्टिन देवरत्न आर्य, महामत्री श्री नरेन्द्र कुमार पटेल ने भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए कहा "श्री राजीव गाधी भारत देश के ही नही अपितु विश्व के माननीय नेताओ मे से एक थे। देश को उनसे बड़ी आशाए थी। उनके नेतृत्व मे भारत की जो चहुमुखी उन्नति हुई वह सदा स्मरणीय रहेगी। उनके देहावसान के समाचार से सारा देश स्तब्ध रह गया, ऐसा लगा जैसे सब कुछ रुक गया है। उनका अभाव सदा अनुभव किया जाएगा।

शोक सभा मे इस हत्या की कडे शब्दों मे निन्दा की गई और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना की ग कि उनकी आत्मा को शान्ति एव सद्गति प्रदान करें। सभा में प्रसिद्ध गायिका श्रीमती शान्ता मलिक द्वारा भक्ति सगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया।

(नरेन्द्रकुमार पटेल)
महामन्त्री

—आज दिनांक २६-५-९१ रविवार साय ५ बजे वेद प्रचार मण्डल यमुना-पार क्षेत्र की एक आपात कालीन बैठक डा० शोरन लाल शर्मा के निवास स्थान श्याम गली, मौजपुर दिल्ली-५३ पर सम्पन्न हुई, जिसमे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री राजीव गाधी जी की नृशंसा हत्या पर दु ख व्यक्त किया गया। दिवगत आत्मा की शान्ति, परिवार जनों को दु:ख सहनशक्ति हेतु परमपिता परमात्मा से मौन प्रार्थना की गई और भविष्य मे भी देश व परिवारजनो की सुख समृद्धि हेतु कामना की गई।

—विश्व बन्धु आर्य, "वेद प्रचारक"
महामन्त्री



चाट मसाला
चाट, सलाद और फलो को अत्यन्त स्वादिष्ट बनाने के लिये यह बेहतरीन मसाला है।

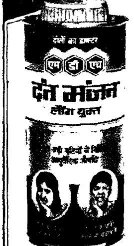
CHAT MASALA
Excellent for garnishing Chat, Salads and fruit to provide delicious taste and flavour

अमचूर
अपनी क्वालिटी तथा शुद्धता के कारण यह खाने मे विशेष स्वाद और लज्जत पैदा करता है।

AMCHOOR
(Mango Powder)
It adds special tangy taste and flavour to your dishes with its quality and purity.







23 जड़ी बूटियों से निर्मित
आयुर्वेदिक औषधि

आपके परिवार के लिये पूर्ण दंत सुरक्षा

दाती का दर्द, मुह की दुर्गन्ध मसूडो की सूजन ठडा गर्म पानी लगना, मुह मे छाले होना तथा दातो की अन्य बीमारियो का घरेलू इलाज

एम डी एच
दंत मंजन
लौंग युक्त
प्रतिदिन प्रयोग करें

अपने निकटतम दुकानदार से खरीदें

आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 13-14-6-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ बिना भुगतान किए भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३६
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १६ जून, १९९१

संस्कृत–शिविर

स्थान—आत्मशुद्धि आश्रम बहादुरगढ, तिथि—२०-६-९१ से ३०-६-९१ तक, समय—प्रात: ९ से ११ साय; ४ से ६ बजे तक।

प्रशिक्षक—आचार्य सूर्यनारायण शास्त्री, मुख्यातिथि—श्री डा० रवीन्द्र नागर।

सस्कृतप्रेमी बन्धुओ !

राष्ट्र, धर्म और मानवता के सबल रक्षक आत्मशुद्धि आश्रम बहादुरगढ़ के तत्वावधान में २० जून से ३० जून तक सस्कृत शिविर का आयोजन किया जा रहा है। प्रात:काल ९ से ११ तक सस्कृत में वार्तालाप करना सिखाया जाएगा और सायकाल ४ से ६ बजे तक सस्कृत अध्यापन की विधिया बताई जाएंगी। आप सबसे सानुरोध प्रार्थना है कि इस शिविर में अपने बच्चों को भेजकर ग्रीष्मावकाश का सदुपयोग करायें।

आत्मशुद्धि आश्रम बहादुरगढ़ की प्रमुख गतिविधियाँ

● दैनिक सत्सग ● वैदिक सस्कारो, यज्ञ एव प्रचार की व्यवस्था ● समय-समय पर विभिन्न शिविरो का आयोजन ● निराश्रितो एव विकलाग असहायों की सहायता ● पुस्तकालय, वाचनालय, व्यायामशाला एव अतिथिगृह।

● शिविरार्थी मुख्याधिष्ठाता से सम्पर्क करें।

— आश्रम मे रहने वालो की भोजन व्यवस्था आश्रम की ओर से होगी, कृपया ऋतु अनुकूल बिस्तर साथ लाए।

— दानी महानुभाव मुक्तहस्त से दान देकर आश्रम की गतिविधियों में सहयोग देने की कृपा करें।

स्वामी धर्ममुनि सरस्वती
मुख्याधिष्ठाता

डा० शिवकुमार शास्त्री
संयोजक (शिविर)

पुरोहित की आवश्यकता

आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना को एक पूरे समय के लिए सुयोग्य पुरोहित की आवश्यकता है। निवास सुविधा के साथ वेतन योग्यता अनुसार। संगीतज्ञ या हारमोनियम जानने वाले को प्राथमिकता दी जायगी। सम्पर्क करें या स्वय मिलें।

—महेन्द्र प्रताप आर्य
महामन्त्री



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१८९८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

श्री सुखदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा स वदेशक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक १३ | रविवार, २३ जून, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१
मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये, | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

निर्दोष रेल यात्रियों का नरसंहार उग्रवादियों की अमानवीयता की चरम सीमा है

— स्वामी आनन्दबोध सरस्वती —

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री आनन्दबोध सरस्वती ने पंजाब मे उग्रवादियों द्वारा रेलयात्रियो का नृशंस हत्या करने की भर्त्सना की। उन्होंने पंजाब मे चुनाव न किये जाने की अपनी माग को पुनः दुहराया। उन्होने कहा कि हमारी सरकार अकर्मण्य हो गई है। यह प्रान्त तुरन्त सेना के हवाले कर देना चाहिये। पाकिस्तान की गतिविधियो को रोकने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि सीमावर्ती इलाको मे एक सुरक्षा पट्टी का निर्माण किया जाए। एक प्रत्यक्षदर्शी ने बतलाया कि आतकवादियो का कहर केवल हिन्दुओ पर टूटा।

इस अमानवीय कृत्य की राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमण उपराष्ट्रपति डा० शंकरदयाल शर्मा, प्रधान मन्त्री श्री चन्द्रशेखर तथा अन्य राजनेताओं ने भर्त्सना की है। सभी धार्मिक एव सामाजिक नेताओ ने भी इस कायरतापूर्ण कार्यवाही की निन्दा की।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल और महामन्त्री श्री सूर्यदेव ने कहा कि आज सारा देश आतकवाद की आग मे सुलग रहा है। आज पुनः वैदिक मान्यताओ की प्रतिष्ठा की आवश्यकता है। वेद प्रतिपादित मातृभूमि की अवधारवाही देश मे शान्ति और सद्भाव का वातावरण बना सकती है। चुनावो की विभीषिका तो बहुत ही भयावह सिद्ध हुई।

दिल्ली के विद्यार्थी एक लाख लोगों को साक्षर बनायेंगे

दिल्ली प्रशासन के शिक्षा निर्देशालय द्वारा सघीय क्षेत्र दिल्ली मे वर्ष १९९१ के दौरान एक लाख लोगो को साक्षर बनाया जायेगा। इस विशेष अभियान मे दिल्ली के विविभिन्न स्कूलो के ५० हजार छात्र-छात्राए, राष्ट्रीय सेवा योजना के स्वयसेवक तथा स्काउट्स एव गाईड भाग ले रहे हैं। इस अभियान का पहला चरण १५ मई, १९९१ से आरम्भ हो चुका है।

यह जानकारी आयुक्त एव सचिव (शिक्षा) श्री नरेन्द्र प्रसाद ने आज संजय कालोनी के यमुना पुस्ता पर आयोजित एस० एम० खालसा स्कूल दरियागंज के राष्ट्रीय सेवा योजना के समापन समारोह के अवसर पर दी।

इस अवसर पर बोलते हुए श्री प्रसाद ने विद्यार्थियो, शिक्षकों तथा नव साक्षरो का आह्वान किया कि वे इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये लगन एव समर्पित होकर कार्य करे। उन्होने जनता से भी सहयोग की अपील की ताकि सघीय क्षेत्र दिल्ली को पूर्ण साक्षर बनाया जा सके। अपने अध्यक्षीय भाषण मे शिक्षा निर्देशक श्री बी० पी० सूरी ने बताया कि इस अभियान के अन्तर्गत १०-१० दिन के १८ शिविर लगाये जायेगे जो दिल्ली की विभिन्न १३ पुनर्वास बस्तियो, झुग्गी-झोपडी कालोनियों, स्लम तथा अन्य बस्तियों, जहा निम्न वर्ग के लोग रहते हैं, को दिसम्बर, १९९१ तक पूर्ण साक्षर बनाया जायेगा।

जोधपुर शिविर स्थगित

जोधपुर नगर का तापमान अत्यधिक बढ जाने के कारण जोधपुर से श्री रमेश भाटिया का पत्र आया है कि इतनी भीषण गर्मी मे आर्य वीर दल प्रशिक्षण शिविर जो आगामी २१ जून से ३० जून १९९१ तक लगाया जाना था जोधपुर मे नहीं लगाया जा सकता है। अत. शिविर स्थगित किया जाता है। अगली तिथियो का इन्तजार करे।

बाल दिवाकर हंस प्रधान सचालक
सार्वदेशिक आर्य वीर दल

सरकारी दफ्तरों के सार्वजनिक स्थानों में धूम्रपान पर पाबन्दी

दिल्ली प्रशासन ने आज जारी किये गये अपने एक आदेश मे दिल्ली प्रशासन के सभी कार्यालयो और सगठनो के सभी सार्वजनिक स्थानो पर सिगरेट आदि पीने पर पाबन्दी लगा दी है। इन स्थानो मे कार्यालयो के बरामदे, प्रतीक्षा कक्ष, स्वागत कक्ष और सम्मेलन कक्ष आदि शामिल हैं। कार्यालयो से यह भी कहा गया है कि वे ऐसे सभी स्थानो पर धूम्रपान निषेध के सकेत या पट्टियां भी लगाये।

इन आदेशो के अमल पर लगातार नजर रखने के लिये कार्यालयो से विशेष अधिकारी नियुक्त करने को भी कहा गया है। इस सम्बन्ध मे हर महीने मुख्य सचिव के साथ होने वाली बैठक मे भी समीक्षा की जायेगी।

आज का दिन विश्व भर मे तम्बाकू निषेध दिवस के रूप मे मनाया जाता है। इस वर्ष इस दिवस के मनाने का उद्देश्य वाक्य है—"सार्वजनिक स्थान और परिवहन—तम्बाकू मुक्त हो।" दिल्ली प्रशासन के सूचना एवं प्रचार निर्देशालय ने धूम्रपान की बुराइयो के बारे मे लोगो को जानकारी देने के लिये आज से एक पोस्टर अभियान भी शुरू किया है।

'श्री मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार'

आर्य साहित्य के लेखको को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से मस्कत निवासी श्री मेघजीभाई नैनसी की स्मृति मे उनके सुपुत्र श्री कनक सिंह मेघजीभाई के द्वारा प्राप्त आर्थिक सहयोग से आर्य समाज सान्ताक्रूज बम्बई ने प्रतिवर्ष 'आर्य साहित्य पुरस्कार' देने का निश्चय किया है। अनेक ग्रन्थो के सिद्धहस्त लेखक, ओजस्वी वक्ता एव वैदिक धर्म के प्रति समर्पित प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु, अबोहर को आर्य समाज सान्ताक्रुज ने यह प्रथम पुरस्कार देने का निश्चय किया है। श्री मेघजी नैनसी की पुण्य स्मृति मे २३ जून से ३० जून तक प० राजगुरु शर्मा के ब्रह्मत्व में आर्य समाज सान्ताक्रुज बम्बई ५४ मे यज्ञ का आयोजन किया गया है।

पुरस्कार समारोह ३० जून १९९१ रविवार को यज्ञ की पूर्णाहुति के बाद श्रद्धेय स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता में सम्पन्न होगा।

कैप्टन देवरत्न आर्य
संयोजक—आर्य साहित्य पुरस्कार समिति

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

धर्मसूत्र और कल्पसूत्रों के आदेश

(डा० सुरेशचन्द्र वेदालंकार एम. ए. आर्यसमाज गोरखपुर)

धर्मसूत्रकार गौतम कर्मवादी हैं और उन्होने निष्क्रमण सस्कार तथा अन्त्येष्टि सस्कार को सस्कार नही माना है। श्री रामगोपाल शास्त्री की 'सस्कार विधि मडनम्' पुस्तक के आधार पर बताया गया हैं कि संस्कार विधि में जो-जो सस्कार दिए गये हैं उनके प्रमाण देने के बाद 'विधि' शीर्षक से उस शीर्षक की विधि दी गई है। पर गृहाश्रम के लिए कोई विधि नही दी गई है। और अन्त्येष्टि की विधि भी दी गई है अत गृहाश्रम कर्म और अन्त्येष्टि सस्कार है। अत सत्यव्रत सिद्धान्तालकार ने भी सस्कार विधि की वैज्ञानिक व्याख्या में यही बात स्वीकार की है। परन्तु धर्म सूत्रकार गौतम के अनुसार १४ सस्कार है। उन्होंने गौतम धर्मसूत्र (८.२०.२५) मे लिखा है "सस्कारो से युक्त व्यक्ति भी यदि सद्गुण रहित है वे न तो ब्राह्मण कहे जायेंगे और न ब्रह्म को पा सकेंगे।" आगे वे कहते हैं "हा जो नित्य और नैमित्तिक यज्ञो को करते हैं और काम्य कर्मों के लिए कोई चेष्टा नही करते अथवा चेष्टा करने मे असमर्थ हैं। वे भी सत्य, सदाचार आदि सद्गुणो के द्वारा ब्रह्मलोक को जा सकेंगे और ब्रह्मलोक को पा सकेंगे।"

इसी प्रकार वशिष्ट धर्म सूत्र (६-३) मे भी कहा गया है "जैसे चिडियो के बच्चे पख हो जाने पर घोसले को छोड कर चले जाते है, वैसे ही ही वेद और वेदाग भी सद्गुण शून्य मनुष्य का त्याग कर देते हैं।" इस प्रकार सत्य और सदाचार को कल्प सूत्रो ने बहुत महत्व दिया है। आश्वलायन श्रौत सूत्र मे १२ अध्याय हैं और सब मे यज्ञ के विवरण भरे पड़े हैं। यह आश्वलायन शोनक ऋषि के शिष्य थे। ऐतरेय आरण्यक के अन्तिम दो अध्याय इन ही गुरु शिष्यो के थे। इस श्रोत सूत्र मे भी यज्ञो का विवरण है। आश्वलायन गृहस्थ सूत्र मे भी यज्ञ और सस्कारो की चर्चा है। पहले अध्याय मे विवाह प्रकरण, चैत्य यज्ञ गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, उपनयन आदि सस्कारो और दूसरे मे श्रावणी आग्रहायणी, गृह प्रवेश का विवरण है। इसी प्रकार शाखायन श्रोत सूत्र और शाखायन गृह सूत्र भी है। ऋग्वेद का धर्मसूत्र वशिष्ठ धर्मसूत्र है।

अन्य भी परशुराम कल्पसूत्र, मानव धर्म सूत्र आदि भी है। बोधायन श्रोत सूत्र है। आपस्तम्ब के भी सभी कला सूत्र मिलते है। हिरण्यकेशी गृह सूत्र और श्रोत सूत्र भी है। जैमिनीय गृह सूत्र, पारस्कर गृह सूत्र द्राह्यायण श्रोत सूत्र, गौतम धर्म सूत्र यह सामवेद का है और अथर्ववेद का वैतान धर्म सूत्र भी है।

यह भी ध्यान रखने की बात हैं कि मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, वसिष्ठ स्मृति, पाराशर स्मृति आदि अनेको स्मृतियो की उत्पत्ति और रचना इन्ही कल्प सूत्रो की देन है। हिन्दू या वैदिक धर्म के सस्कारो, राजधर्मों व्यवहार दर्शनो, दाम्पत्य धर्मो, प्रायश्चितों और दायभाग आदि के आधार कल्प सूत्र है। इनका स्वाध्याय करना चाहिए।

अब कल्पसूत्रो के आदेश भी देखिये। इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि साक्षात वेदो मे कथित यज्ञादि विषयक विधि विधानो का बतलाने वाले कल्प सूत्रो को श्रोत सूत्र, गृहस्थ के कार्यो को सम्पन्न करने के लिए चिरकाल से स्थापित या समय-समय पर स्थापित अग्नि के द्वारा करणीय यज्ञादि विषयक सूत्रो को गृहसूत्र और विभिन्न पारमार्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कर्त्तव्यो को बताने वाले सूत्रो को धर्म सूत्र बताया गया है।

ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा तो नही मिलती। किन्तु इनके श्रोत और गृहसूत्रो मे यज्ञ करने का आदेश दिया गया है और इन्हें कैसे और किस विधि से करना चाहिए यह भी विस्तृत रूप से बताया गया है। आश्वालायन श्रोत सूत्र मे ऐतरिय ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थो मे जो यज्ञ विस्तृत रूप मे है आश्वलायन मे सक्षेप से उनकी विधि है।

आश्वलासन श्रोत सूत्र मे कहा गया गया है कि श्रोताग्नि ग्रहण करने वाले का ही यज्ञ का अधिकारी माना है। श्रोताग्नि ग्रहण करने का मतलब है नित्य अग्नि होत्री।

अमावस्या या पूर्णमासी को किए जाने वाले यज्ञो के अधिकृत व्यक्तियो को वेदी के उत्तर पूर्वाभिमुख बैठ कर और यज्ञोपवित धारण करके यज्ञ करने चाहिये।

यज्ञोपवीत धारण कर यज्ञ मे बैठने वालो को यज्ञोपवीती, प्राचीनावती और निविति कहा गया है यज्ञोपवीती वह है जो बाए कन्धे से दक्षिण पार्श्व में यज्ञ सूत्र धारण करता है और जो दाए मे बाए पार्श्व में पहनता है वह प्राचीनावर्ती और गले में माला की तरह पहनने वाले को निवीती माना गया है।

हमारे यहा विशेष यज्ञो में कुछ पुरोहित यज्ञभूमि की प्रदक्षिणा करवाते हैं और इस प्रदक्षिणा पथ को तीर्थ माना गया है और तीर्थ की प्रदक्षिणा करना होता का प्रथम और आवश्यक अग माना गया है। पर यह प्रायः नहीं होता। सनातनी पण्डित करवाते है।

इस श्रोत सूत्र के दसवे सूत्र 'यज्ञोपवीत शौचे च' यज्ञ करने कराने वाले समस्त व्यक्तियों का यज्ञोपवीत होना आवश्यक है, उनके बिना अग शुद्धि नही मानी गई है।

यज्ञ वेदी की ओर जिसे विहार भूमि कहा गया है पीठ नही दिखानी चाहिए।

दान के विषय मे विधान करते हुए दान करना चाहिए यह लिखा है पर इसका मतलब यह नही कि दान यजमान की इच्छा पर है, वह करना विधान है—कानून है।

एक बात और है कि अनेक श्रोत ग्रन्थो मे यज्ञ का मन्त्र का केवल प्रथम चरण लिखा है वहा पूरा मन्त्र पढना चाहिए।

जहा आधी ऋचा लिखी गई है वहा ऋचा के साथ समस्त सूक्त पढ़ना चाहिए।

एक बात और लिखी है कि जप (पाठ), अनुमन्त्रण (अर्थ स्मरण के साथ पाठ) आप्यापन (जल स्पर्श के साथ अर्थ स्मरण करते हुए पाठ, उपस्थान (भाव से अर्थ स्मरण के साथ पाठ) जहा कही विधान किया गया है वहा मन्त्रो के पृथक उच्चारण अर्थात् निशुल्क जीभ चला कर पाठ करना चाहिए।

मन्त्रों के उच्चारण के साथ अर्थ स्मरण भी करना चाहिए। आश्वलायन गृह सूत्र मे प्रदक्षिणा के बाद कहा बैठना चाहिये और कैसे बैठना चाहिए, हाथ कहा रखना चाहिए, दोनो हाथ की अगुलियो को कैसे रखना चाहिए आदि बातें बता कर वेदी के उत्तर श्रेणी हो होना का कर्म बताया गया है।

आश्वलायन गृह सूत्र के तृतीय अध्याय की प्रथम याचिका मे तीन सूत्रो में देव यज्ञ (सध्या) ब्रह्म यज्ञ (हवन) पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ जिसे मनुष्य-यज्ञ नाम दिया है और पितृ यज्ञ-"जीवित माता पिता का सत्कार सेवा आवश्यक बताया है। तानेतान् यज्ञानहरह कुर्वीत" इन पाचो यज्ञो का प्रतिदिन करने का आदेश हैं।

इसमें नित्य अग्निहोत्री को अन्त्येष्टि क्रिया का वर्णन पढने योग्य है। पर स्थानाभाव से अभी उसे छोड रहे हैं।

सामवेद की कास्तुभ शाखा के विभिन्न सूत्र में उपर्युक्त वर्णन तो है ही, विवाह विधि का पूर्ण रूप मे वर्णन है। सातवें अध्याय मे जात-कर्म सस्कार आठवें मे निष्क्रमण-सस्कार, इसमे नामकरण विधि भी है। उसमे लिखा है जन्म तिथि से दसवे या सौवे या एक वर्ष बाद ग्यारवें दिन नामकरण की विधि है। नवम मे चूडाकरण और द्वादश मे उपनयन सस्कार का वर्णन है। उपनयन का मतलब है कुमार को वेदाध्ययन के लिए गुरु के पास ले जाना। यह भी बताया गया है कि उपनयन सस्कार कब कब होना चाहिए। यह भी लिखा है कि उपनयन के बाद तीन दिनो तक नमक नही खाना चाहिए। सम्भवत कारण नही आया है।

सामवेद की अनुपलब्ध गौतम सहिता के बिना भी गौतम धर्म सूत्र मिलता है। इसमे आश्रम धर्म, सस्कारो और राजधर्म का उल्लेख है। आश्रम मे चार ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ या सन्यास जिसे भिक्षु नाम भी दिया गया है, वर्णन है। ११वें सूत्र मे सन्यासी का वर्णन है और उसके कर्त्तव्यो का वर्णन है। २६वें सूत्र वैखानस (वानप्रस्थी) के कर्त्तव्य लिखे हैं। वहा वानप्रस्थियो को पचयज्ञ और योग्य अतिथि की सेवा भी करनी चाहिए।

इसके आठवे अध्याय मे ब्राह्मण, राजा का स्वरूप, लक्षण आदि कह कर सस्कारो का वर्णन है। प्रजा का स्थान, धर्मानुष्ठान, और व्यभिचार आदि को रोकना है।

गौतम धर्म सूत्र १० । २ मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के अध्ययन, यजन और दान कर्म बताये हैं। परन्तु धर्म से ब्राह्मणो के लिए अध्यापन, याजन और

(शेष पृष्ठ ६ पर)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

आतंकवाद का दुस्साहस



भारतवर्ष के कई सीमान्त प्रदेशो मे आतङ्कवाद का विषधर फण उठाये खड़ा है। यह समझ नही आता कि रेलयात्रियो की नृशस हत्या करके उन्हे क्या मिल जाता है। उग्रवाद की यह परिधि प्रारम्भ मे सम्बन्धित नेताओ एव अधिकारियों तक सीमित थी। अब इसका दायरा बढता जा रहा है। आतकवादियो का दुस्साहस बढता ही जा रहा है। उनके आदेश प्रकाशित प्रचारित किए जाते हैं। पहनावे का वे निर्देश देते हैं। क्या बोलें, और कैसे बोले अथवा किस भाषा में बोलें, बोलते समय स्वर का अनुमान कैसा हो, इसका निर्देश भी वही देते हैं। हमारी सरकार क्या कर रही है ? हमारे सुरक्षा बल क्या कर रहे है ? देश के प्रधान मन्त्री की हत्या हो सकती है। सब से बडी पार्टी के नेता की हत्या हो सकती है। फौजी जनरलों की हत्या होती है। पुलिस अधिकारियों की हत्या होती है। सूचना प्रसारण के अधिकारियो पर दिन दहाडे गोलिया बरसाई जाती हैं। विवाह शादियो के अवसरो पर लोगों को भून दिया जाता है। अखबारों के कार्यालयों में पार्सलों से बम भेजे जाते हैं। पिछले दिनो तो मानव बम का भी प्रयोग किया गया।

इन आतकवादियों से बातचीत का सिलसिला भी अनेक बार शुरू किया गया है, परन्तु क्या मिला। क्या ऐसी शर्त नहीं हो सकती कि वे पहले हिंसा त्याग दें, उसके बाद बात चीत हो सकेगी। काश्मीर, पजाब, आसाम, नागालण्ड, बोडो, झारखड, तमिलनाडु आन्ध्र प्रदेश कौन सी जगह बची है, जहा पर यह आतकवाद नहीं है। यह सामान्य नियम है कि हताश व्यक्ति अन्तिम हथियार का भी प्रयोग करता है। नैतिक पराजय हमेशा बौखलाहट पैदा करती है। इस सब पर काबू पाने के लिये एक समझदार मजबूत इरादो वाली सरकार की जरूरत है।

इस समय देश में राष्ट्रीय निर्वाचनो के परिणाम आ रहे है, पर लगता है कि कोई एक पार्टी सरकार नही बना पायेगी। इसलिये कार्यक्रम भी खिचडी बनेंगे। किसी भी एक के नाराज होने से सरकार टूटेगी। मजबूत कदम कोई भी सरकार नही उठा पाएगी। कदम मजबूत नही होगे, तो उच्छृखलता बढ़ेगी।

आज देश में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने की आवश्यकता है। इसी से एकता और सद्भाव कायम हो सकेंगे।

—डा० धर्मपाल

जब तक जियें शान से

जब तक जीये शान से, आन-बान-सम्मान से।
मरना हो तो मरें, मगर नही कभी अपमान से॥
हर दिन कायर मरते देखे, शूर एक दिन मरता है।
पर अपने सुचितम जीवन से, भू का आचल भरता है॥

—०—

नित्य अपमान के घूट पिया करते है।
सुख-जिन्दगी न कायर जिया करते हैं॥
इसलिए निरन्तर जिन्दादिली चाहिए।
जिन्दादिल जिन्दगी के मजे लिया करते हैं॥

—भूदेव साहित्याचार्य

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(९ जून, ९१ के अक से आगे)

अपने प्रान्त से बाहर मैं पहली बार प्राचार्य करनाल हो आया था। आर्य समाज पीपाड सिटी के वार्षिकोत्सव पर जाने और यजुर्वेद परायण यज्ञ मे ऋत्विक रूपेण भाग लेने का भी अवसर मिला। यज्ञ के ब्रह्मा प० भगवान स्वरूप जी न्यायभूषण थे। यही प्रसिद्ध भजनोपदेशक श्री ओमप्रकाश वर्मा से भी मुलाकात हुई जो आगे चल कर घनिष्टा में बदल गई। आर्य समाज शिवगज की रजत जयन्ती के अवसर पर आयोजित यजुर्वेद परायण यज्ञ के ब्रह्मा के पद पर अधिष्ठित होकर मैंने यज्ञ सम्पन्न कराया। इस अवसर पर प्रान्तीय सभा वार्षिक अधिवेशन भी हुआ। प० भगवान स्वरूप जी प्रधान और श्री श्रीकरण जी शारदा मन्त्री निर्वाचित हुए। मैं सार्वदेशिक सभा के लिए प्रान्त की ओर से प्रतिनिधि निर्वाचित हुआ। पीपाड सीटी के निकट के देहाती क्षेत्र मे एक अपढ कबीरपथी साधु से शास्त्रार्थ करने का अवसर मिला। पीपाड़ सिटी के निकट के देहाती क्षेत्र मे एक अपढ कबीरपथी साधु नास्तिकता का प्रचार कर रहा था। आर्य समाज पीपाड ने उसे शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। जब शास्त्रार्थ होने की सम्भावना प्राय: सुनिश्चत सी हो गई तो उक्त आर्यसमाज के अधिकारियों ने मुझे इस कार्य हेतु आहूत किया। मैं स्वयं को आर्य समाज के शास्त्रार्थ कला मे स्वय को पारगत ही समझता था। तथापि आर्य जनों के आग्रह को मान कर मै पीपाड के निकटवर्ती उक्त ग्राम मैं पहुंचा। वहा के उत्साही आर्य गण एक बस किराये पर लेकर वैदिक धर्म का जय जयकार करते हुए शास्त्रार्थ स्थल पर पहुचे। प्रारम्भ मे हमने सम्मिलित होकर यज्ञ किया तदुपरान्त मारवाड़ का स्वादु भोजन 'दाल-बाटी चूरमा' ग्रहण कर अपनी उदरदरी को तृप्त किया। साथ होते-होते सैकड़ो की सख्या मे देहाती स्त्री पुरुष सभा स्थल पर शास्त्रार्थ सुनने के लिए एकत्र हो गए। प्रारम्भ मे तो यह सुना गया कि कबीरपथी साधु शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित होने मे सकोच कर रहा है, किन्तु अपने ही अनुयायियो के द्वारा बार बार प्रेरित किये जाने पर अन्तत: वह आकर अपने आसन पर बैठ ही गया। दोनो पक्षो के प्रवक्ताओ के लिए श्वेत चादनी युक्त गद्दे लगा कर एक मच पर बैठने की व्यवस्था पहले ही कर दी गई थी। जब सभी लोग दत्तावधान होकर शास्त्रार्थ श्रवण के लिए उत्सुक दिखाई पड़े तो मैंने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य मे कबीर की निर्गुणोपासना तथा उनके द्वारा प्रतिपादित परमात्मा के निराकार, निरजन स्वरूप का स्वल्प उल्लेख किया। साथ ही धर्म और समाज मे प्रचलित नाना आडम्बरो तथा पाखण्ड पूर्ण आचरणो की कबीर द्वारा की गई आलोचनाओ की ओर प्रतिपक्षी का ध्यान आकर्षित किया। इसके पश्चात मैंने ऋषि दयानन्द के द्वारा उपदिष्ट परमात्मा के रूप का भी उल्लेख किया और कबीर तथा दयानन्द के सिद्धान्तो मे दिखाई पडने वाली कतिपय समानता मे भी बताई। इस प्रकार के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को हमारे उत्साही आर्य बन्धुओ ने अधिक पसन्द नही किया। वे तो चाहते थे कि मै कबीर की विचार धारा पर तीखे प्रहार कर प्रतिपक्षी साधु को सर्वथा अप्रतिभ (उनके दृष्टिकोण से परास्त) कर दू। मेरे इस मृदु कथन का उस साधु पर अनुकूल असर पड़ा और वह मुझे धन्यवाद देकर अपने स्थान पर चला गया। पाली में मैं सात वर्ष (१९६२-६९) तक रहा। यहां मेरा आर्य सामाजिक जीवन प्राय: शान्त, निर्विघ्न तथा घटना शून्य सा रहा। साप्ताहिक सत्सग मे मैं नियमित रूप से उपस्थित होता, कथा, प्रवचन आदि करता। उपस्थिति थोड़ी ही होती थी। पर्व आदि भी साधारण रूप से मना लिए जाते। वार्षिकोत्सव करने जितनी शक्ति या सामर्थ्य यहां के सदस्यो मे था ही नही। ऐसी बात नहीं कि इस प्रकार के आयोजन सर्वथा कठिन ही थे। यदि दो चार व्यक्ति ही कृत-संकल्प होकर धन एकत्रित करते तो उत्सव के व्यय जितना द्रव्य प्राप्त कर लेना कुछ कठिन नही था। मैं अपने पठन और लेखन मे लगा रहता और अन्य सदस्यो ने कभी कोई उत्साह प्रदर्शित ही नही किया। यदा कदा कोई उपदेशक अनाहूत ही आ जाता तो उसके भोजन, निवास तथा प्रचार की व्यवस्था तो हम येन केन प्रकारेण कर ही देते। प० विश्वबन्धु शास्त्री, प० ज्ञानेन्द्रदेव सूफी के अतिरिक्त राजस्थान सभा के उपदेशक प० रामसहाय जी तथा प० भगवती प्रसाद जी अवश्य यदा कदा आते ही थे।

क्रमश:

घर बैठे अनेक बीमारियों का आयुर्वेदिक नुस्खों द्वारा इलाज

—नेतराम शर्मा—

प्रधान भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली। दूरभाष : निवास—२२४६४९६ विद्यालय—२२१३४८५, ए-७/६, कृष्णनगर, दिल्ली-५१

१—श्वेत कुष्ठ पर अनुभूत योग :—

(१) त्रिफला, त्रिकुटा, चित्रक, नागरमोथा, वायविडिंग और वच समान भाग लेकर कूट पीस छान कर रख लो। एक तोला गरम पानी के साथ शाम को खाने से कुष्ठ ठीक हो जाता है। समय तीन माह।

(२) नीम के पत्तो को जल में उबाल कर स्नान करना।

(३) गाय के दूध मे तीन ग्राम नीम के पत्तो को पीस कर दो-तीन मास तक सेवन करना।

(४) रात मे नीम की छाया के नीचे सोना।

२—सफेद दाग :—

(१) बासी मट्ठा थोडा बेसन और थोड़ी हल्दी मिलाकर रोज सफेद दागो मे लगाकर सोना चाहिए और मुह अंधेरे नीम के गरम पानी से धो देना चाहिए।

(२) प्रतिदिन मट्ठा पानी चाहिए।

(३) बावची और मूली के बीज दस दस ग्राम पीस कर एक छोटा चम्मच हल्दी मिलाकर मट्ठा मे घोलकर उबटन बना कर दागो पर लेप करना चाहिए। समय दो माह।

३—छपाकी :—

(१) बीस ग्राम गुड, बीस ग्राम अजवायन कूटकर दो मात्रा बना लें। पहली मात्रा दिन मे ताजा मट्ठा के साथ, दूसरी मात्रा सांय ताजा पानी के साथ निगल जाये।

(२) पाच ग्राम गेरू पीसकर २५ ग्राम शहद के साथ सेवन करें।

४—हर्निया (अण्ड वृद्धि पर) :—

(१) कटेली की ताजा जड की छाल १५ ग्राम, काली मिर्च ७ नग पानी के साथ पीस छानकर रोज पीने से बीमारी दूर।

(२) गोमूत्र मे ६ ग्राम गूगल ६ ग्राम अरंडीतेल मिलाकर चालीस दिन पीने से रोग दूर।

(३) तमाखू के पत्ते को गर्म कर गूगल लगाकर बांधना।

५—बाझपन दूर करने के उपाय :—

यदि माहवारी खुलकर आये और पुरुष के वीर्य मे दोष न हो, इसके बावजूद गर्भाधान न हो तो इनमे से कोई नुस्खा उपयोग करे।

(१) माहवारी हो जाने के पश्चात हाथी दात का बुरादा बारीक पीस कर डेढ़ ग्राम सुबह व डेढ ग्राम शाम दूध के साथ तीन चार रोज सेवन करे।

(२) नागोरी असगध बारीक पीसकर, छानकर माहवारी के बाद ३ ग्राम चूर्ण २५० ग्राम दूध के साथ तीन-चार रोज।

(३) शिवलिंगी का चूर्ण भी कपड़ छनकर दूध के साथ ३ ग्राम सात दिन।

६—आंतो में सूजन :—

ताजा दही में जीरा, काली मिर्च और सेंधा नमक रोज पीने सूजन खत्म।

७—सतान निग्रह :—

(१) मासिक धर्म के पश्चात २ तोले करेला का रस रोज लेने से गर्भ नही रहता।

(२) पुराना गुड २ तोले पानी में औटा कर १५ दिन पीने से कभी गर्भ धारण नही होगा।

(३) पीपल, वायविडिंग, सुहागा समान भाग लेकर ऋतु के समय ६ माशे जल के साथ ५-६ रोज सेवन से गर्भ कभी धारण नहीं होगा।

८—पुत्र पैदा होने का अजमाया हुआ नुखसा :—

मयूर पुच्छ चन्द्रका को गुड मे गोली के रूप मे लपेट कर जब दो मास का गर्भ हो जाये, तीसरे मास के पहले हफ्ते में प्रात: काले बछड़े वाली गाय के दूध में निगली हुई तीन गोलियां तीन दिन एक-एक शर्तिया लड़का पैदा करती हैं। एक मयूर पंख चन्द्रका एक गोली मे होना आवश्यक है। (यह योग पं० परमानन्द बामनौली वालों का परीक्षित है।

९—छाजन पर अनुभूत योग (धनवन्तरि, जनवरी १९५८ से प्राप्त—

(१) महुआ पानी में सड़ाकर पीसकर, नीम के गर्म पानी से धोकर साफ कर मोटा लेप करे ऊपर असली सिन्दूर बुरक कर पट्टी बाध, २४ घण्टे बाद दूसरी पट्टी, फिर तीसरी। इस रोग के कीटाणु सूक्ष्म सूत की तार की तरह पट्टी के साथ निकलेंगे। रोग जड से नष्ट हो जायेगा।

(२) हल्दी का गाढ़ा लेप दिन मे तीन बार २० दिन तक यदि छाजन से पानी रिसता हो।

(३) आक (मदार) के दूध मे पीपल की छाल पीस कर मक्खन में मिलाकर लगाने से भी छाजन ठीक हो जाते हैं।

(४) ढाक के बीज बारीक पीस कर खट्टी दही मे मिलाकर कुछ दिन लेप करे।

१०—दाद :—

(१) आक (मदार) के दूध को नीम पानी से धोकर साफ करके लगाना।

११—खुजली :—

(१) नीबू का रस, चमेली के तेल मे बराबर बराबर मिलाकर लगाने से सूखी खुजली खत्म।

(२) आवले का चूर्ण चमेली के तेल मे बराबर बराबर मिलाकर लगाना।

(३) १० ग्राम नारियल तेल में कपूर ३ ग्राम मिलाकर शरीर मे मालिस करना। साबन प्रयोग बन्द। बासी दही, मट्ठा शरीर मे लगाकर नहाने से फायदा हो जाता है।

१२—चर्म रोग पर अनुभूत योग—

चौल मोगरा तेल के सेवन करने से सभी प्रकार से चर्म रोग खाज, खुजली चकता, गर्मी, बद, कंठमाला, नासूर तथा दाद भी ठीक हो जाते हैं। इसका तेल खाया भी जाता है लगाया भी जाता हैं।

१३—मुख मे छालो पर अचूक दवा :—

(१) केला गाय के दही के साथ कुछ दिन सेवन करे।

(२) तरबूजा के छिलके को जलाकर राख को जीभ पर मलें।

१४—मुहासे नाशक अनुभूत योग :—

(१) जायफल और काली मिर्च दोनो को दूध में घिसकर मुहासे पर लगाना।

(२) सरसों के तेल में थोडा सा नमक डाल, नीबू के रस में घोटकर मुहासे पर मले। एक दो घण्टे बाद पानी से साफ करें।

(३) गेंहू का चोकर एक चम्मच फांक कर दूध पीये और सो जाये। एक सप्ताह में मुहासे गायब।

१५—औरतों के चेहरे पर बाल :—

सरसों-बेसन का उबटन। पहले सरसो पीसकर बेसन मिला पानी मे नरम कर लेप मलने से एक ही हफ्ते में चेहरे पर महिलाओं के फालतु रोयें साफ।

१६—गले में जलन और सूजन :—

पालक के थोडे से पत्तें थोड़े से पानी में उबालिये और उसकी लुगदी की पुल्टस बना गले मे बांधिये और दवा का करिश्मा देखिये।

१७—कनफेड़े :—मेथी और जो सिरके में पीस कर गले पर लेप करना।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्रवेश सूचना :

सत्र १९९१-९२

निम्नांकित पाठ्यक्रमों में प्रवेश हेतु निर्धारित फार्म पर प्रार्थना-पत्र आमंत्रित किए जाते हैं।

१. विद्या विनोद (इन्टर) २. अलंकार/वेदालंकार/विद्यालंकार (बी० ए०, ३. बी० एस० सी० (गणित, बायो तथा कम्प्यूटर ग्रुप) ४. एम० ए० (वेद, संस्कृत, दर्शन, हिन्दी, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, प्रा० भा० इति०, संस्कृति एवं पुरातत्व,) ५ एम० ए०, एम० एस० सी० (गणित, माइक्रोबायोलोजी, मनोविज्ञान) ६. पी० एच० डी० (वेद, संस्कृत, दर्शन, हिन्दी, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, प्रा० भा० इति०, संस्कृति एवं पुरातत्व, गणित, वनस्पति तथा जीवविज्ञान), ७. स्नातकोत्तर डिप्लोमा एक वर्षीय (कर्मशियल मेथड्स आफ केमिकल अनालाइसिस तथा कम्प्यूटर साइंस एण्ड एप्लीकेशन्स), ८ योग डिप्लोमा (एक वर्षीय), ९. वैदिक यज्ञ विधान (एक वर्षीय डिप्लोमा), १० संस्कृत "प्रवेश तथा संस्कृत" "प्रवीण" एक वर्षीय डिप्लोमा, ११. अंग्रेजी दक्षता प्रमाण पत्र-३ मास।

नोट—इस सत्र से निम्नांकित पाठ्यक्रम भी प्रारम्भ किए जाने की सम्भावना है।

एम० एस० सी० (रसायन, भौतिक), हिन्दी पत्रकारिता डिप्लोमा (एक वर्षीय)

कन्या महाविद्यालय, देहरादून (द्वितीय परिसर) में

चित्रकला, संगीत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत में स्नातकोत्तर कक्षाएं।

सामान्य सूचना :—

१ अलंकार पाठ्यक्रम मे प्रवेशार्थी छात्राए प्रिंसिपल, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, ६० राजपुर रोड देहरादून (द्वितीय परिसर गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय) से सम्पर्क करें।

२ अनुसूचित जाति/जन जाति के छात्रों के लिए भारत सरकार के नियमानुसार आरक्षण।

३ अध्ययन व्यवस्था, अध्ययनपयोगी सुविधाए, छात्र वृत्तिया, प्रवेश प्रक्रिया, संक्षिप्त पाठ्यक्रम तथा शुल्क आदि की जानकारी के लिये विवरण पत्रिका (प्रास्पेक्टस) तथा आवेदन पत्र १० रुपये मूल्य पर प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय (विज्ञान विषयो के लिए) तथा आचार्य एवं उपकुलपति वेद/मानविकी महाविद्यालय (कला विषयो के लिये) के कार्यालय से उपलब्ध होगे। डाक से मगवाने पर कुल-सचिव गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के पक्ष मे देय १५ रुपये का बैंक ड्राफ्ट भेजें।

४. महिलाओं के लिए नियमित प्रवेश की सुविधा नहीं है। व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप मे महिलायें एम० ए० (मनोविज्ञान को छोड कर सभी विषय) (एम० एस० सी० (गणित) तथा पी० एच० डी० (मनोविज्ञान, वनस्पति तथा जीवविज्ञान के अतिरिक्त सभी विषयों) के लिये आवेदन दे सकती हैं।

५. जो छात्र बी० ए०, बी० एस० सी० अन्तिम वर्ष परीक्षा दे रहे हैं वे भी आवेदन पत्र भेज सकते हैं। ऐसे छात्रों को नियमित प्रवेश उनके परीक्षा परिणाम आने पर दिया जायेगा।

आवेदन प्राप्त होने की अन्तिम तिथि—२० जुलाई १९९१

पी० एच० डी | १ जुलाई से ३० सितम्बर तक

व्यक्तिगत परीक्षार्थी—१ सितम्बर से ३१ अक्तूबर

(डा० वीरेन्द्र अरोड़ा) कुलसचिव

एक अनुपम भेंट

भजनो के क्षेत्र मे नई क्रान्ति नई पुरानी आधुनिकतम धुनों से युक्त, स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित अलभ्य पुस्तके अब पुन: अपनी पुरानी समस्त सामग्री के साथ-साथ और भी नये-नये गीतों से युक्त होकर आकर्षक साज-सज्जा मे उपलब्ध हैं।।

- संगीत महोदधि (सचित्र टाईटिल)
- ठुकराया वीर (ऐतिहासिक मार्मिक गाथा)
- प्रभुगीत वाटिका (प्रभु भक्ति गीत)

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड नई दिल्ली-१

छात्र-वृत्तियां

(नव सत्रः जुलाई १९९१ से अप्रैल १९९२)

श्री वजीरचन्द धमार्थ ट्रस्ट की ओर से नये सत्र के लिए गुरुकुलो, स्कूलो, महाविद्यालयो, व्यवसायिक प्रशिक्षणालयों और अनुसन्धान संस्थानों के सुयोग्य और सुपात्र छात्र/छात्राओं और स्पर्धात्मक परीक्षाओं के परीक्षार्थियो और परीक्षार्थिनियो को छात्रवृत्तियाँ देने का कार्यक्रम शुरु हो गया है।

इन छात्रवृत्तियो से लाभ उठाने के इच्छुको को चाहिए कि ट्रस्ट द्वारा नियत आवेदन पत्र मगवा कर शीघ्र ही ट्रस्ट के आदरी सचिव के नाम पर निम्न-लिखित पते पर भेजे।

गत सत्र मे इस कार्यक्रम पर रुपये २६००० व्यय किए गए है। इस सत्र के लिए यह राशि बढा कर रुपये ३५००० कर दी गई है।

सत्यदेव, आदरी सचिव

श्री वजीरचन्द धर्मार्थ ट्रस्ट सी-३२ अमर कालौनी

लाजपत नगर नई दिल्ली-११००२४

वेद प्रचार शिविर

प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष भी गुरुकुल प्रभात आश्रम (टीकरी) डा० भोला झाल मेरठ की ओर से गंगा दशहरा के पर्व पर दिनांक २१ जून १९९१ को एक विशाल वेद प्रचार शिविर निरीक्षण भवन भोला झाल मेरठ पर लगाया जाएगा। जिसमे यज्ञ प्रात. ९ बजे, से भजन प्रवचन आदि होगे।

जनता जनार्दन से प्रार्थना है कि अधिक से अधिक संख्या मे पधार कर धर्मलाभ उठावें। प० इन्द्रराज, मन्त्री

युवा कुरीतिया दूर करें

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली के तत्वावधान में ८ से १६ जून तक गुरुकुल कण्वाश्रम मे "युवक निर्माण व योग साधना शिविर" मे भाग लेने वाले २०० शिविरार्थियो का "विदाई समारोह" आर्य समाज मन्दिर मार्ग नई दिल्ली मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल आर्य की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। आर्य नेता डा० आर्य ने शुभकामनायें देते हुए कहा—युवक देश व समाज कल्याण के रचनात्मक कार्यक्रम बनाये। समाज मे फैली कुरीतिया दूर कर महर्षि दयानन्द का सन्देश जन-जन तक पहुचे।

दिल्ली फरीदाबाद, उत्तर प्रदेश से शिवरार्थी भाग ले रहे हैं।

चन्द्रमोहन आर्य, पत्रकार

(पृष्ठ २ का शेष)

प्रतिग्रह कार्य माने हैं। गौतम धर्म सूत्र मे राजा के धर्म बताये गए है।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से, रूप रेखा रूप से वेद के अंग और संस्कारादि के मार्गदर्शक कल्प सूत्रों और उनके आदेशो का उल्लेख किया है। न कल्पसूत्रो का वैदिक धर्मियों और हिन्दुओं के भी अपरिचित होने से ध्यानाकर्षण के लिए रूप-रेखा रूप मे प्रस्तुत किया है। यदि हम कल्पशास्त्र के अनुपम आदेशो के अनुसार धर्माचरण करें, कर्त्तव्य का पालन करे, सद्गुण सम्पन्न बनें तो विश्व मे शान्ति स्थापना और शुद्ध वैदिक राष्ट्र का निर्माण और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' के लक्ष्य की ओर बढ सकेंगे।

बृहद् गायत्री यज्ञ एवं शान्ति मार्च

आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष श्री क्रान्ति कुमार जी कोरटकर ने प्रेस वक्तव्य में बताया कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली एवं आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के संयुक्त तत्वावधान में एक "बृहद् गायत्री यज्ञ" शनिवार दिनांक ८ जून १९९१ को आन्ध्र सारस्वत परिषद् रामकोट हैदराबाद में आयोजित किया गया। इस अवसर पर सुप्रसिद्ध आर्य नेता श्री प० मदनमोहन विद्यासागर जी ने ब्रह्मा के रूप में इस विशाल गायत्री यज्ञ का निर्वाह किया। यज्ञ के उपरान्त अध्यक्ष श्री क्रान्ति कुमार जी के नेतृत्व में राज्य के आर्य समाजी बन्धुओं ने सामूहिक रूप से दस सूत्री प्रतिज्ञा की जो इस प्रकार है :—

१. हम सब आर्य है। सच्चे आर्य बनेंगे।

२. वैदिक धर्म समूचे संसार का हित चाहता है। हम उस धर्म का पालन करने में हर सम्भव त्याग करेंगे।

३. आर्यावर्त हमारे देश का मूल नाम है। संविधान में इस तथ्य को समाविष्ट करायेंगे।

४ सच्चे पंथ-निरपेक्ष राज्य की कल्पना को प्रतिपादित करेंगे। और इस को अमल में लाने के लिए हर सम्भव त्याग करेंगे। संविधान के निर्देशन तत्वों में उल्लिखित धारा ४४ के कार्यान्वियन कराने हेतु हम सरकार को मजबूर करेंगे।

५ हमारी संस्कृति मनोविकाश का वह स्तर है जो भारतीयता से निकल कर हमारे बातचीत, व्यवहार और रीति-रिवाजों में प्रस्फुटित होती है। इसकी रक्षा के लिये, हम हर सम्भव त्याग करने के लिये उद्यत रहेंगे।

६. हम प्रादेशिक राष्ट्रीयता नहीं सांस्कृतिक राष्ट्रीयता में विश्वास रखते हैं। इस विश्वास को समूचे राष्ट्र का विश्वास बनायेंगे।

७. हम सब एक है। प्रादेशिकता, भाषा सांस्कृतिक मजहब के आधार पर अल्प संख्यक, तथाकथित सामाजिक न्याय के नाम पर हमें विभक्त नहीं किया जा सकता।

हम इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान को बदल डालने के हमारे संकल्प को सरकार से मनवा कर रहेंगे।

८. सच्चे वर्णाश्रम व्यवस्था में हम विश्वास रखते है। भारतीय संविधान की धारा ३८ को सही दिशा देकर कार्यान्वित करायेंगे।

९ देश में बढती हुई हिंसा को रोकना तथा विघटनवाद को खत्म करने में हम हर सम्भव त्याग करेंगे।

१० देश की अखण्डता को बचाये रखने में हम आर्य हर सम्भव त्याग करेंगे।

सामूहिक प्रतिज्ञा के उपरान्त देश में बढ़ती हुई हिंसा, जातीयता, तथा क्षेत्रीयता के विरूद्ध एवं भारतीय जनता में बन्धुत्व की भावना जागृत करने के उद्देश्य, से आर्य समाजी बन्धुओं का एक विशाल जुलूस यज्ञ-स्थल से सरदार पटेल की प्रतिमा, बागआम तक गया जिसका नेतृत्व अध्यक्ष सर्वश्री क्रान्ति कुमार जी, टी० नरहरिराव, के० नरहिना रेड्डी, रामदेव शास्त्री, ओमप्रकाश आदि आर्य नेताओं ने किया। यह उल्लेखनीय है कि शान्ति मार्च में स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती प्रधान एवं प० वन्देमातरम रामचन्द्रराव जी वरिष्ठ उप-प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली सम्मिलित हुए।

आवश्यकता है

प्रौढ़ अथवा सक्षम सेवा निवृत व्यक्ति जिसे शैक्षणिक एवं प्रशासनिक अनुभव हो चित्तौडगढ गुरुकुल आश्रम बालकों की परिचर्या हेतु छात्र संरक्षक पद के लिए अपेक्षित है। स्नातक एवं अनुभवी व्यक्ति को प्राथमिकता देय, वेतन योग्यतानुसार विवरण सहित आवेदन पर आमन्त्रित पत्र माध्यम से स्वयं मिलें अथवा सम्पर्क करें।

मुख्याधिष्ठाता—श्री गुरुकुल चित्तौडगढ राजस्थान ३१२००१

वार्षिक निर्वाचन

दिनांक २६-५-९१ को आर्य समाज, आदर्श नगर की कार्यकारिणी का सर्व सम्मति से गठन हुआ है। जिसके पदाधिकारी निम्नलिखित हैं।

प्रधान—श्री रामलाल गुलाटी

मन्त्री—श्री सुनील कुमार भाटू

कोषाध्यक्ष—श्री नाथूलाल शर्मा

शोक प्रस्ताव

—"आर्य युवा विकास परिषद्" पालम कालोनी नई दिल्ली के अध्यक्ष एवं कार्यकारिणी समिति ने कर्मठ युवा नेता श्री राजीव गांधी, अध्यक्ष कांग्रेस (आई) एवं भूतपूर्व प्रधान मन्त्री की जघन्य हत्या पर दिनांक २४-५-९१ को शोक सभा का आयोजन किया गया। परिषद् उनकी नृशंस हत्या पर गहरा शोक प्रकट करती है। परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को शांति मिले। एवं परिवार जन को धैर्य एवं साहस मिले। उनकी स्मृति में उसी दिन शांति यज्ञ का भी आयोजन किया गया।

परिषद को विश्वास है कि स्वर्गीय राजीव गांधी के परिवारजनों को यह जान कर सांत्वना एवं शक्ति प्राप्त होगी कि इस दुख की घड़ी मे करोड़ो द्रवित हृदय उनके साथ हैं। —प्रचार सचिव, राजेश आर्य

—नगर आर्य समाज के तत्वाधान में बिस्मिल स्मारक यज्ञशाला लालडिग्गी पर भूतपूर्व प्रधान मन्त्री राजीव गांधी की जघन्य हत्या हो जाने पर दुखी हृदय से दिनांक २२ मई से २६ मई तक उनकी आत्मा की शान्ति हेतु वैदिक यज्ञ हुआ। यज्ञ समाप्ति के पश्चात एक शोक सभा आयोजित की गई जिसकी अध्यक्षता जिला आर्य प्रतिनिधि सभा, गोरखपुर के अध्यक्ष पंडित द्विजराज शर्मा की एवं संचालन मन्त्री रमेश प्रसाद गुप्त ने किया।

बैठक को सम्बोधित करते हुए अध्यक्ष प० द्विजराज शर्मा ने इस अमानुषिक हत्याकाण्ड को जघन्य अपराध बताते हुए देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण बताया, साथ ही देश के लोकतन्त्र के लिए भी खतरा कहा।

वक्ताओं में जिला मन्त्री रमेश प्रसाद गुप्त रजित नन्दन लोहिया पारस नाथ गुप्त, सरस्वती आर्या, मनोरमा लोहिया गुणवती आर्या आदि अनेक लोगो ने दुःख व्यक्त किया। सभा के अन्त में दो मिनट का मौन धारण कर परम पिता परमात्मा से दिवंगत आत्मा को शान्ति के लिए प्रार्थना की गयी। तत्पश्चात् शान्ति पाठ के बाद सभा समाप्त की गयी। —रमेश प्रसाद गुप्त

मन्त्री–जिला आर्योप प्रतिनिधि सभा गोरखपुर

—आर्य समाज मायापुरी–नई दिल्ली ६४ की साधारण सभा पूर्व प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी की तमिलनाडु में मद्रास के निकट श्रीपेरमपुदूर में की गई निर्मम हत्या की घोर निन्दा करती है।

श्री राजीव गांधी का बिछोह आप व आपके परिवार के लिए अपूर्णतीय क्षति तो है ही, राष्ट्र के लिए भी गहरा सदमा है। सात वर्ष के अन्दर एक ही उद्देश्य परन्तु भिन्न नाम के देश द्रोहियों ने भारत के उन दो कर्णधारो की हत्या की है जो नाना प्रकार बातो में राष्ट्र को निकाल कर प्रगति के चरम बिन्दु पर ले जाने का भागीरथ प्रयत्न करते रहे।

श्रीमती सोनिया जी, आर्य समाज मायापुरी आपके प्रति अमर हुतात्मा राजीव जी की दुःखद हत्या पर संवेदना प्रकट करता है तथा परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हुतात्मा को शान्ति प्रदान करे तथा आपको इस अतीव दुःख को सहने का सम्बल दे। —ठाकुर सुरेन्द्र सिंह, मन्त्री

गुरुकुल चित्तोड़गढ़ में प्रवेश आरम्भ

महर्षि दयानन्द मनोवांछित देश का सुप्रसिद्ध शिक्षणालय आपका चिर परिचित श्री आर्य गुरुकुल चित्तौडगढ, अरावली की सुन्दर पहाडियों में गम्भीरी नदी के तट पर एकान्त स्थल पर अवस्थित है शिक्षा। यहा सर्वथा निशुल्क है, यहां लगभग सभी प्रान्तो के बालक बिना किसी भेदभाव के शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। यहां की आश्रम प्रणाली सुनियोजित एवं अनुपम विशेषता सहित उल्लेखनीय है। यहां सुयोग्य एवं विद्वान गुरुओ की देख रेख में बालकों का सर्वांगीण विकास मुखरित होता है। वेद, वेदांग संस्कृत, साहित्य, व्याकरण, दर्शन, उपनिषद आदि की पढाई को प्रमुखता दी जाती है। पहली से आठवीं तक यहां संस्कृत विशेष के साथ आर्वाचीन सभी विषय–इंगलिश, गणित, विज्ञान, सामाजिक ज्ञान, भूगोल, हिन्दी वाणिज्य आदि विषय पाठ्यक्रम में समाहित है, गुरुकुल संस्कृत शिक्षा विभाग राजस्थान सरकार से मान्यता प्राप्त है।

संस्कृत विश्व विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्बद्ध आर्ष पद्धति पर आधारित प्राचीन व्याकरण व वेद निरुक्त, प्रक्रिया से मध्यमा, शास्त्री, व आचार्य कक्षा तक की पढाई व परीक्षा का समावेश है, विगत वर्षों में यहा का परीक्षा परिणाम विद्यालय अध्यापन व्यवस्था व शिक्षा के अच्छे स्तर के कारण अति उत्तम रहा व रह रहा है, पढ़ाई एक जुलाई से प्रारम्भ होती है, तथा नवीन बालकों का प्रवेश २७ जून से अपेक्षित है, प्रवेश सम्बन्धी अन्य जानकारी के लिए—

मुख्याधिष्ठाता—श्री गुरुकुल चित्तौड़गढ़/राजस्थान ३१२००१। इस पते से पत्र व्यवहार व सम्पर्क करें।

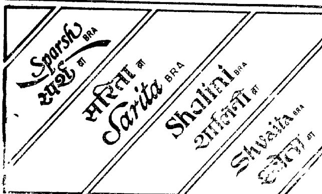
Groversons

सेल

Paris Beauty
पैरिस ब्यूटी

ग्रोवर सन्स

● BRA ● PANTIES ● UNDERWEAR ● BANIAN ●



आन्तरिक वस्त्रों में एक मात्र विश्वसनीय नाम

चमनलाल इन्टरप्राइज़िज़
Groversons
ग्रोवर सन्स

गली न 6
गली न० 2
अजमल खाँ रोड, करोल बाग
नयी दिल्ली 110005
फोन 582036 5714200, 5729224

200/-रूपये की खरीद पर 1 सुधाशु जी का टेप रिकार्डर कैसेट या तौलिया मुफ्त

योग एवं व्यायाम प्रशिक्षण शिविर

दिनांक २३ जून से ३० जून १९९१ तक

सर्व सज्जनो को सूचित किया जाता है कि आर्य समाज गाजियाबाद की ओर से महर्षि दयानन्द गुरुकुल महाविद्यालय में उक्त तिथियो में योग एव व्यायाम प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया जायेगा। दण्ड-बैठक, लाठी, जूडो कराटे, तलवार व छुरी आदि का प्रशिक्षण तथा अनेक शारीरिक रोगों को दूर करने के लिये योगमार्तण्ड डा० सुनील कुमार जी शास्त्री के निर्देशन मे योगासन सिखाये जायेगे। इसके साथ ही बौद्धिक प्रशिक्षण के अन्तर्गत वैदिक सिद्धान्तो पर वैदिक विद्वानो के प्रवचन कराये जायेगे। शिविर का सचालन सार्वदेशिक आर्य वीर दल के प्रधान सचालक प० बाल दिवाकर जी 'हस' करेगे।

शिविर के नियम :—

(१) युवक की आयु १२ वर्ष से २५ वर्ष के लगभग तथा न्यूनतम योग्यता ८वी कक्षा पास हो।

(२) सामान्य वस्त्रो के अतिरिक्त खाकी नेकर, सफेद कमीज, दो दलो की बनियान, काला कच्छा, लगोट, ब्राउन जूते, सफेद मोजे तथा हल्का बिस्तर, पांच का थाली, कटोरी, गिलास, डायरी, पैन, साबुन, तेल आदि आवश्यक सामान अपने साथ अवश्यमेव लायें।

(३) शिविर का प्रवेश शुल्क २० रुपये होगा। भोजन आवास की व्यवस्था निशुल्क रहेगी।

(४) अनुशासन तथा व्यायाम परीक्षा मे प्रथम, द्वितीय, तृतीय आने पर पुरस्कार एव सभी को प्रमाण-पत्र दिये जायेगे।

मार्ग निर्देश—पटेल मार्ग पर टेलीफोन एक्सचेंज (पुराना) के सामने।

नोट—शिविर में भाग लेने वाले युवक २० जून तक अपना नाम कार्यालय मे भेज दें।

—घनश्याम सिंह आर्य—मन्त्री





चाट मसाला

चाट, सलाद और फलो को अत्यन्त स्वादिष्ट बनाने के लिये यह बेहतरीन मसाला है।

CHAT MASALA

Excellent for garnishing Chat, Salads and fruit to provide delicious taste and flavour

अमचूर

अपनी क्वालिटी तथा शुद्धता के कारण यह खाने मे विशेष स्वाद और लज्जत पैदा करता है।

AMCHOOR
(Mango Powder)

It adds special tangy taste and flavour to your dishes with its quality and purity.



आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O. on 20-21-6-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

श्री वीरेन्द्र वर्मा, हिमाचल प्रदेश द्वारा

दीन बन्धु पब्लिक स्कूल घेवरा

तथा

महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल बवाना

के छात्र-छात्राओं एवं अध्यापक, अध्यापिकाओं को दिनांक २८-५-९१ को दिया गया शुभाशीर्वाद

सर छोटूराम एज्यूकेशनल ट्रस्ट द्वारा सचालित दीन बन्धु पब्लिक स्कूल घेवरा एव महर्षि दयानन्द पब्लिक स्कूल बवाना के ७५ छात्र एव छात्राए तथा ६ अध्यापक अध्यापिकाए २ चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी, श्री इन्द्र सिह ढाका (सेवा निवृत प्रधानाचार्य) वैद्य बनवारी लाल जी ट्रस्टी, तथा प्रि० होशियार सिह, अवैतनिक महासचिव के सरक्षण मे शिमला भ्रमण एव शैक्षणिक अध्ययन के लिए २७-५-९१ [...]यकाल शिमला पहुचे। मान्यवर राज्यपाल महोदय की कृपा से पचायत [...]ने बडे हाल (मौसम की भीड भडाका होते हुये भी) भ्रमण पार्टी के [...] उपलब्ध कराये तथा २८-५-९१ के लिये हिमाचल परिवहन की दो बसें छात्रो के स्थानीय भ्रमणार्थ किराये पर दिलवाने में योगदान दिया। जब ४ बजे सभी बच्चे, अध्यापक एव सरक्षक राजनिवास पहुचे तो राजनिवास के स्टाफ ने एव राज्यपाल महोदय के ए० डी० सी० ने हमारा बडा अभिनन्दन किया। पहले तो सभी बच्चो को और सारी पार्टी को जलपान कराया और तदुपरान्त निम्न अमोल वचन राज्यपाल महोदय ने बच्चो के आशीर्वाद हेतु कहे—

१ बच्चो को अपने चरित्र का पूरा-पुरा ध्यान रखना चाहिए।

२. बच्चो की स्वस्थ, सुन्दर सुडौल होना चाहिए। इसके लिए राज्यपाल महोदय ने खेल-कूद, शारीरिक व्यायाम, जिमनास्टिक, योगासन, प्राणायाम एव शुद्ध भोजन पर बल दिया।

३. बच्चो को चेतावनी दी कि उन्हे धूम्रपान से बचना चाहिये, मद्यपान आदि नशा करने वालो से अलग रहना चाहिये। अगर उनके घर का कोई सदस्य पिता, चाचा या भाई मद्यपान करता हो तो उसे आदरपूर्वक अनशन करके रोकने का प्रयास करना चाहिए, क्योकि इनके मतानुसार शराब सर्वनाश का कारण होती है।

४. पारिवारिक और सामाजिक जीवन के शुद्ध स्वच्छ सात्विक एव स्वस्थ बनाने के लिये मान्यवर राज्यपाल जी ने सर छोटू राम ट्रस्ट के प्रबन्धकों से परामर्श दिया कि धुआ रहित चुल्हो और सुलभ शोचालयों के प्रसार-प्रचार हेतु एवं नारी जगत के स्वास्थ्य के लिये हमे अधिक से अधिक प्रयास करना चाहिए। सर छोटू राम की महानता की अद्वितीय प्रशसा करते हुये उन्हो बच्चो को महर्षि दयानन्द, महात्मा गाधी एव सर छोटू राम द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने का प्रयास करना चाहिये।

इन आशीर्वाद वचनो के साथ राज्यपाल महोदय ने बच्चो के साथ सामूहिक चित्र खिचवाने की अनुमति प्रदान कर दी। सभी बच्चों ने मान्यवर राज्यपाल की शिक्षाओ को गाठ बाध लेने का मूक आग्रह कर राजनिवास से विदाई ली।

प्रि० होशियार सिह

—महासचिव, सर छोटू राम एज्यूकेशनल ट्रस्ट कन्झावला, दि [...]



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३४ | रविवार, ३० जून, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

आर्य समाज द्वारा पंजाब में चुनाव स्थगित करने का स्वागत

दिल्ली २१ जून। आर्य समाज की सर्वोच्च संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने श्री पी० वी० नरसिंह राव को अगला प्रधान मन्त्री चुने जाने का स्वागत करते हुए कहा है कि पंजाब में तीन महीने के लिए चुनाव स्थगित कराकर नई सरकार ने अपने साहस, इच्छा शक्ति और मजबूती का परिचय दिया है। चुनावों के बाद कांग्रेस पार्टी की यह पहली विजय है।

स्वामी जी ने कहा कि आर्य समाज ने शुरू से ही पंजाब में चुनाव कराए जाने का बड़ा विरोध किया था। पिछले २ महीने में पंजाब में बड़े पैमाने पर हुए जान और माल की क्षति के लिए उन्होंने चन्द्रशेखर सरकार को दोषी ठहराया।

दसवीं लोकसभा के लिए चुनाव परिणामों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आर्यसमाज के नेता ने कहा कि कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी दोनों दलों की मजबूती तथा जनता दल जैसे समाज विरोधी संगठनों की कमजोरी का जनता का निर्णय सर्वोत्तम है। स्वामी जी ने कहा कि जनता दल तथा उनकी सहयोगी पार्टियां अभी भी यदि जन्मगत, जातिवाद को बढ़ावा देती रहीं तो उनका भविष्य और अधिक अन्धकारमय हो जाएगा।

स्वामी आनन्दबोध ने कहा कि आज देशवासियों को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधने की आवश्यकता है जिससे धार्मिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय अखण्डता दोनों प्राप्त हो सकें।

पं० वन्देमातरम् सारस्वत सम्मान से सम्मानित

श्री कृष्णदेवराय आंध्रभाषा निलयम् एवं आंध्रप्रदेश जनपद साहित्य परिषद् के संयुक्त तत्वावधान में प्रसिद्ध देशभक्त स्वतन्त्रता सेनानी व आर्य नेता श्री पं० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव जी के ७५ वें जन्म-दिवस वर्ष के अवसर पर अमृतमहोत्सव २५ अप्रैल १९९१ को श्री कृष्णदेवराय आंध्रभाषा निलयम हैदराबाद में आयोजित किया गया और इस शुभ अवसर पर उनका सार्वजनिक रूप से "सारस्वत सम्मान" किया गया। अमृत महोत्सव के सन्दर्भ में उस्मानिया विश्वविद्यालय के तेलुगु विभाग के पूर्वाध्यक्ष प्रोफेसर बी रामराजू ने अपने नवीनतम ग्रन्थ "ग्लिम्प्सेस इनटु तेलुगु फोलकालोर"



को श्री पं० वन्देमातरम् को ससम्मान अर्पित किया। पचास से अधिक आर्यसमाजों एवं हिन्दी-तेलुगु साहित्यक संस्थाओं की ओर से पं० वन्देमातरम् दम्पत्ति का सार्वजनिक सम्मान किया गया।

सार्वत्रिक विश्वविद्यालय हैदराबाद के उपकुलपति प्रो. चन्द्रशेखररावजी ने समारोह की अध्यक्षता की। आंध्रप्रदेश हाई कोर्ट के अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री गोपालरावजी एकबोटे समारोह के मुख्यअतिथि थे। वक्ताओं में सर्वश्री डॉ० नरहरिराव, प्रो० मोदलि नागभूषण शर्मा आदि थे। सभी वक्ताओं ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम विशेषकर निज़ाम राज्य में आर्य सत्याग्रह संग्राम में श्री पं० वन्देमातरम् जी की सेवाओं को अविस्मरणीय बताया। श्री कृष्णदेवराय आन्ध्र भाषा निलयम् के कार्यदर्शी श्री एम एल नरसिंहराव जी ने मुख्य अतिथियों का स्वागत् किया। आंध्र प्रदेश जनपद साहित्य परिषद के कार्यदर्शी श्री कसिरेड्डी वैंकटरेड्डी ने कार्यक्रम का संचालन तथा अन्त में आभार प्रदर्शित किया। यह "सारस्वत सम्मान" एक ऐतिहासिक समारोह बन गया।

क्रान्तिकुमार आर्य प्रतिनिधि सभा के सर्वसम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित

दिनांक ७-४-१९९१ को सायं स्थानीय आर्य समाज के प्रधान श्री लक्ष्मण आर्य की अध्यक्षता में वरंगल में आयोजित दस जिलों के आर्य समाजों के कार्यकर्त्ताओं के बृहत् सम्मेलन में सर्वसम्मति से स्व० विनायकराव विद्यालंकार के सुपुत्र श्री क्रान्तिकुमार जी को आर्य प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष सर्व सम्मति से निर्वाचित किया गया और भावी कार्यक्रमों और संगठन को शक्तिशाली बनाने हेतु नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री क्रान्तिकुमार जी के नेतृत्व में बहुत शीघ्र ही हैदराबाद में आन्ध्र प्रदेश के आर्यकर्त्ताओं का एक बृहत सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया गया। नवनिर्वाचित अध्यक्ष जी का नाम स्वीकृति के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली को भेजा गया।

वरंगल में आयोजित आर्यकर्त्ता सम्मेलन के मुख्य अतिथि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपाध्यक्ष पं० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव ने १४वें अन्तर्राष्ट्रीय आर्य सम्मेलन में पारित घोषणा पत्र की विस्तार व्याख्या की और सिंह-गर्जना की कि घोषणा-पत्र के महत्वपूर्ण अंशों को भारत सरकार द्वारा कार्यान्वित कराने हेतु जन आन्दोलन छेड़ा जाएगा—हमारा मूल मंत्र होगा—हम सब आर्य हैं आर्यवर्त्त हमारा देश है। पं० वन्देमातरम् जी ने यह भी घोषणा की कि विदेशों में आर्य समाज के प्रचार हेतु एक प्रचारक को वे अपने निजी खर्च में मारिशस भेजेंगे।

सम्मेलन का आरम्भ आर्य प्रचारिका श्रीमती त्रिभुवनादेवी जी के प्रार्थना गीत के साथ हुआ। आर्य समाज के मंत्री श्री गोविन्द आर्य ने मुख्य अतिथि का स्वागत किया। अनेक आर्य समाजों के अनेक प्रधानों एवं मंत्रियों के अतिरिक्त सर्वश्री राजवीर आर्य सूर्यनारायण आदि ने सम्मेलन को सम्बोधित किया। तेलंगाने के दस जिलों के आर्य समाजों के सैंकड़ों कार्यकर्त्ताओं ने इस सम्मेलन में भाग लिया। कार्यकर्त्ताओं में भारी उत्साह देखा गया। गगनभेदी वैदिक नारों के साथ सम्मेलन समाप्त हुआ।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

वेदवाणी

—नारायण नागपाल—

जीवन मे अगर सफलता प्राप्त करनी है तो वेदमार्ग पर चलना होगा जिस मे सभी समस्याओं पर बल दिया गया है। वेद वाणी प्रभु (परम पिता परमेश्वर) का उपदेश और आदेश है। चारो वेद, जीवन बिताने का रास्ता बताते हैं जैसे—ऋगवेद का सगठन सूक्त कहता है कि "ओ३म् सम् समिधुवसे...मनो यथा व सुमहासति"

हे प्रभो ! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हे हैं कीजिये घन वृष्टि को।
प्रेम से मिल कर चलो, बोलो, सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजो की भाति तुम कर्त्तव्य के मानी बनो।
हो विचार समान सबके, चित्त, मन सब एक हो।
ज्ञान देता हू बराबर, भाग्य पा सब नेक हो।
हो सभी के दिल तथा सकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हो प्रेम से, जिस से बढे सुख सम्पदा।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेद मन्त्र की अपने महान ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश मे व्याख्य करते हुए कहा है स्त्रिया भी ब्रह्मचारिया हो, ब्रह्मचारिया बने और स्त्रियो को भी पूरी शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है। क्योकि मध्य काल मे स्त्रियो को शिक्षा नही दी जाती थी और न ही यज्ञ हवन मे बैठने दिया जाता था।

यजुर्वेद के मन्त्र ३/५ मे परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर ! मेरा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से जगमगा उठे। मै द्युलोक के समान महान, अनन्त बन जाऊ। मेरा हृदय अन्तरिक्ष के समान विशाल हो। अथर्व वेद का मन्त्र न० २/१७से २-१८-५। प्रभो से यह मागना सिखता है कि हे ! बल धारक प्रभु "ओजो असो परमानम् परिमान चक्षुर्मेद्ध स्वाहा। आप ओज स्वरूप है, मुझे ओज प्रदान करो। आप आयु स्वरूप हैं, मुझे आयु प्रदान करे। वेदो के एक-एक पृष्ट मे, एक-एक मन्त्र मे ज्ञान भरा पडा है अथर्व वेद के मन्त्र १/३५/२ के माध्यम से प्रभु से विनती की गई है कि हे प्रभो ! मेरी जिह्वा के अग्र भाग मैं मधु हो, जिह्वा के मूल भाग में (मन मे) भी मधु हो, मेरे कर्मो मे तेरा वास हो। मेरे चित्त में तू व्याप्त रहे। मै वाणी द्वारा मधुरता युक्त वचन बोलू। मेरा देखना और दिखाना दोनो मधुर हो। मै शहद से भी अधिक मीठा बोलू, मीठा बनू, मिठाई से भी अधिक मीठा बनू।

वेद मे परमपिता परमेश्वर ने कई प्रकार के आदेश दिये है और प्रभु भक्ति के करने की कई विधिया बताई है। वेदो मे परमेश्वर के कई रूप बताए गये है। जैसे कि प्रभु के बारे मे कहा जाता है कि प्राण प्रिय है, सृष्टि कर्ता है। वह ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है, निराकार है, सर्वशक्ति मान है, अजर, अमर है, नित्य है, न्यायकारी है, दयालु है, अजन्मा है, अनन्त है, अनादि है, अनुपम है, सर्वाधार है, सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है।

यजुर्वेद का ईश्वर स्तुति मन्त्र कहता है कि हे प्रभो ! हे सकल जगत के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्य युक्त परमेश्वर आप (ओ३म् विश्वानि देव मन्त्र) हमारे सारे दुःखो को दूर कर दीजिये, जो कल्याण कारक पदार्थ है, वे सब हमको प्राप्त कराइये।

कई सदियो से ऋषि, मुनि, महर्षि, सन्यासी वेद मन्त्रो का पाठ करते आये है। भगवान श्री राम वेद मन्त्रो का उच्चारण करते थे और भगवान श्री राम, श्री कृष्ण वेद मन्त्रो पर बल देते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदो का डका बजा दिया सारे ससार मे। वेदो पर खूब प्रकाश डाला। सत्यार्थ प्रकाश, सस्कार विधि आदि कई ग्रन्थ लिख डाले। महर्षि दयानन्द ने सारे विश्व का कल्याण चाहा। वेद कहता है कि सब सज्जन बने, सब सज्जन हो किसी जाति, धर्म विशेष का नहीं बल्कि सबका भला चाहा। श्री गुरु नानक देव जी महाराज ने भी वेद की वाणी को अपने ग्रन्थ साहब मे उल्लेख किया है। वेद वाणी की महिमा बतलाई है। सामवेद और यजुवेद मे ऋतुओं के बारे मे विस्तार से बताया गया है। गुरु गोविन्दसिह जी महाराज ने भी वेदो के मन्त्रों को माना और प्राय चर्चा की थी।

वेद चार है—

(३)—सामवेद=उपासना का वेद है। परमात्मा के गुणो को आचरण मैं उतारना।

(१)—ऋग्वेद=ज्ञान का वेद है। तिनके से सूर्य पर्यन्त पूरा-पूरा ज्ञान दिया हुआ है।

(२)—यजुर्वेद=ज्ञान को कर्म मे उढेलने का मार्ग बताया है। ज्ञान को कर्म मे लाना ही मोक्ष है।

(४)—अथर्ववेद=विज्ञान का वेद है। प्राकृतिक शक्तियो के बारे मे बताया गया है। परमेश्वर वेद के माध्यम से मनुष्यो को उपदेश देता है।

यजुर्वेद का गायत्री महामन्त्र बहुत अच्छी तरह से कहा गया है। गायत्री मन्त्र मे पहले प्रभु के गुणो का गुणगान किया गया है फिर प्रभु के पास जाने का रास्ता बताया गया है और मन्त्र के अन्त मे प्रभु से मगल कामना की इच्छा की गई है। मेधा बुद्धि मागी गई है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी कहा है कि भगवद् भक्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। मनु महाराज ने अपने मनुस्मृति मे धर्म के १० लक्षणो पर प्रकाश डाला है और वे धर्म के १० लक्षण Universal Truth वैसे ही हैं जैसे कि वेद के अति सुन्दर वेद मन्त्र जिस पर सब को पालन करना पडेगा। जीवन मे तरक्की मिलेगी और हमारा जीवन सफल होगा, हमारा जीवन सार्थक होगा आर्य समाज के नियमो मे भी लिखा है कि वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है, वेद का पढना, पढाना सब आर्यो (सज्जन पुरुषो) का परम धर्म है।

सन्ध्या उपासना विधि मे कही ऋग्वेद का अघमर्षण मन्त्र में सकल जगत का धारण करने वाला और पोषण करने वाला और सबको वश मे करने वाला परम पिता परमेश्वर बताया गया है तो कही उसे सर्वज्ञ बताया गया है तो कही जगदीशवर कहा गया है। अथर्ववेद के मनसा परिक्रमा मन्त्र मे कई प्रकार से नमस्कार किया है जैसे—हे ! शरीर रक्षक प्रभु ! आपको बार-बार नमस्कार ! जो प्राणी अज्ञान से हम से द्वेष करता है और जिस अज्ञान से हम लोग द्वेष करते है उन सबकी बुराई को उन बाण रूप किरण से मुख रूप के बीच मे दग्ध कर देते हैं कि जिससे हम लोग बैर न करे बल्कि हम लोग परस्पर मित्र भाव से बरते।

भगवान जी राम की शोभा बारात के समय भी वेद मन्त्रो का उच्चारण किया गया वेदो मे ज्ञान ही ज्ञान भरा पडा है। वेद मे प्रभु से प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! मेरा मन शुभ सकल्प वाला हो (यह यजुर्वेद का मन्त्र कहता है), ऋग्वेद के मन्त्र मे प्रभो से कहा गया है कि है ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर भगवन ! आप सबके आधार है (सर्वाधार हैं) हमे भी ऐश्वर्य प्रदान कीजिए क्योकि भगवान की कृपा के बिना किसी को ऐश्वर्य प्राप्त होना असम्भव है यानि कि प्राप्त नही होता। आर्य समाज वेद प्रचार मे लगी हुई है देश विदेश मे हजारो वेद की ज्योति जल रही हैं। अपनी रक्षा के लिए हम आपको बुलाते है (ऋग्वेद का सातवा मन्त्र) आप प्रकाश स्वरूप है। आप सर्वत्र व्यापक है। आगे-पीछे ऊपर-नीचे, दाये बाये। आप सर्वोत्तम है व्याप्त है।

भगवान श्री रामचन्द्र जी महाराज के विवाह मडप मे भी वेद मन्त्रो का पाठ होता रहा और विवाह की वेदी पर बैठने से पूर्व वेद मन्त्रो का उच्चारण किया गया था और सब देवता, मुनि विश्वामित्र आदि सब प्रसन्न मुद्रा मे विराजमान थे। राजा जनक, माता जी भी फूले न समा रहे थे। यजुर्वेद का मन्त्र कहता है कि हे भगवन् (भगवान) अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रम युक्त और दृढ प्रयत्न करने वाला बना दीजिए। हमारी पूजा का रक्षण सदा कीजिए और हम सदा पुरुषार्थी बने। गीता मे यजुर्वेद का मन्त्र है जिस मे यह सन्देश है कि मनुष्य ससार मे निष्काम भाव से कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीये। आर्य समाज की आधार शिला भी वेद ही है। यजुर्वेद का मन्त्र (अ० ३५, म० १४) प्रभु से से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे परमेश्वर ! आप प्रकाश स्वरूप हो, हमारी रक्षा करना आपके हाथ है क्योकि हम लोग आपकी शरण मे

(शेष पृष्ठ ७ पर)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्यसन्देश

राष्ट्रीय एकता और अखंडताकी समस्या भयावह



गत सप्ताह राजनैतिक गतिविधियों का सप्ताह रहा है। जब से राष्ट्रीय निर्वाचन के परिणाम आने प्रारम्भ हुए थे, यह स्पष्ट होने लगा था कि संसद मे किसी भी पार्टी का बहुमत नहीं आ पायेगा, परन्तु सबसे बडी पार्टी कांग्रेस ही रहेगी। पिछली संसद मे भी सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस ही थी, परन्तु उस समय की, और इस समय की परिस्थितियों मे अन्तर आ गया। उस समय कांग्रेस हारी थी, अब की बार कांग्रेस जीती है। यह एक बहुत बड़ा अन्तर है। अब कांग्रेस के नेता कहें कि हम विपक्ष मे बैठेंगे, जैसा कि पहले उन्हो कहा था, किसी भी प्रकार सार्थक मूल्य नहीं रखता। अत: यह आवश्यक लगने लगा था कि कांग्रेस को ही सरकार बनानी चाहिए। सप्ताह पूरा होते-होते कांग्रेस ने केन्द्र मे अपनी सरकार बनाली है। विपक्ष मे राष्ट्रीय मोर्चा और भाजपा है। यह निर्वाचन भाजपा के लिए विशेष उपलब्धियां सजोकर लाया है। इस समय भाजपा राष्ट्रीय पार्टी है। उसे केरल और असम जैसे सुदूर प्रान्तो मे भी लोक सभा मे प्रतिनिधित्व करने का अवसर इस बार मिला है। वे दिल्ली मे भी अपने गढ को ढहने से बचाने मे समर्थ हुए हैं। यह बात अलग है कि कुछ ऐसे महारथी हार गए हैं जिनसे उन्हे और उनकी पार्टी को आघात लगा है।

प्रधान मन्त्री बनने के बाद, श्री पी० वी० नरसिंह राव ने राष्ट्र के नाम अपने संदेश में अपने कार्यों की प्राथमिकताओ को रेखांकित किया है। इसमे कोई दो राय नही हो सकती कि उनके सामने अनेक समस्याए हैं। राष्ट्रीय एकता और अखंडता की समस्या संभवत सर्वाधिक भयावह है। साम्प्रदायिक उन्माद भी देश मे इस समय कम नही है। देश का आर्थिक ढाचा डावाडोल है। उसे अनेक कर्ज लेने हैं, पर उसके लिए साख चाहिए। इस साख को रक्षा करनी है। देश में वर्ग संघर्ष की स्थिति बनी हुई है। संस्कृति का अध:पतन हो चुका है। अब श्री नरसिंह राव के कन्धो पर यह भार आया है कि वे जिस तरह भी हो, इसे पार ले जाए। यह बात भी उल्लेखनीय है कि यह समस्या पिछले डेढ वर्षों के गैर कांग्रेसी शासन के कारण ही नही है, बल्कि इसके बीज-बिन्दु काफी पहले से पनपते आए हैं और अब ये समस्याये पुष्पित पल्लवित हो चुकी है।

श्री राव कुशल प्रशासक हैं। शिक्षा विद् हैं। उनका विभिन्न विभागो को सफलतापूर्वक संभालने का अनुभव भी पर्याप्त लम्बा है। हमे आशा है कि वे इस देश को सही रास्ते पर ले जाएगे। सभी देशवासी इस भूमि के प्रति, इस देश के प्रति, इस राष्ट्र के प्रति समर्पित होंगे। वे इस भारत भूमि के पुत्र हैं। यह उनकी माता है। यह रिश्ता ही हम सभी को एक सूत्र मे जोडने मे सफल हो सकता है।

—डा० धर्मपाल

- जब पांच वर्ष का लड़का लड़की हो तब उनको देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराना चाहिए। अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास कराना उचित है।

- अनिवार्य शिक्षा के विषय मे लिखते हैं 'इसमे राज नियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवें वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़कों या लडकियो को घर मे न रख सके। अवश्यमेव उन्हें पाठशाला मे भेजे। यदि न भेजे तो वह दण्डित किया जाय।

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२३ जून, ९१ के अंक से आगे)

प्रतिनिधि सभा का मन्त्रित्व—

१९६६ मे राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपना वार्षिक अधिवेशन आबू रोड मे किया। इस बार यहां एकत्रित प्रान्तीय प्रतिनिधित्व ने सर्व सम्मति से मुझे सभा का मन्त्री चुन लिया। मैने मन्त्री पद को स्वीकार तो किया, किन्तु मेरे समक्ष एक व्यावहारिक कठिनाई थी। सभा का कार्यालय अजमेर मे था। अत मुख्यालय से दूर रह कर सभा का संचालन करना तथा उसकी दैनन्दिन गतिविधियो को देखना शक्य नही था। मैं इस वर्ष के ग्रीष्मावकाश मे इसी ऊहापोह मे रहा कि पाली रहते हुए सभा का मन्त्रित्व कैसे निभा पाऊंगा ? किन्तु जुलाई में कालेज के खुलते ही मेरे गवर्नमेंट कालेज अजमेर मे स्थानान्तरित होने के आदेश आ गये और मैं उक्त कठिनाई से सहज ही मुक्ति पा गया। पाली के आर्य बन्धुओ ने मुझे भावभीनी विदाई दी। यहा की सामाजिक, साहित्यिक एव सांस्कृतिक गतिविधियों में भी मैं प्राय. भाग लेता ही था। अत: पाली की साहित्य साधना समिति नामक एक साहित्यिक संस्था ने मुझे विदाई देते हुए नगर मे मेरी अनुपस्थिति से उत्पन्न शून्य की बात कही। किन्तु संसार चक्र तो मिलन और वियोग का ही नाम है।

अजमेर का सामाजिक जीवन—

मैं जुलाई १९६६ मे अजमेर आया और ७ नवम्बर १९८० तक रहा। ग्यारह वर्ष की इस अवधि मे मेरे आर्यसामाजिक क्रियाकलापो मे अत्यधिक वृद्धि हुई तथा सामाजिक जीवन के दायित्व तथा व्यस्ततायें भी बढी। मैं आर्य प्रतिनिधि सभा का मन्त्री इसी वर्ष निर्वाचित हुआ था। सभा का कार्यालय दयानन्द आश्रम मे था जहां एक लिपिक कार्यालय सम्बन्धी पत्राचार तथा हिसाब किताब की देख-रेख करता था। उन दिनो एक अवकाश प्राप्त सज्जन श्री मदन मोहन गुप्ता कार्यालय का काम देखते थे। मुझे नियमित रूप से कार्यालय मे जाना पड़ता और नित्य की डाक देख कर पत्रादि लिखाने पडते। मैं प्राय. सायं ४ बजे सभा कार्यालय मे नियमित रूपसे उपस्थित होता। यदा कदा प्रात १० बजे भी चला जाता, यदि कालेज में मेरा कोई पीरियड रिक्त होता। उस समय परोपकारिणी सभा के मन्त्री श्री श्रीकरण शारदा भी नियमित रूप से सभा मे आते। परोपकारी के सम्पादक, परोपकारिणी सभा के पुस्तकाध्यक्ष तथा हमारी प्रान्तीय सभा के प्रधान प० भगवान स्वरूप जी न्यायभूषण भी प्रात ही कार्यालय मे उपस्थित होते थे। अत: इन सबसे मिलना हो जाता। सभा के कार्यों से मुझे प्रान्त के विभिन्न स्थानो पर जाना पड़ता। समीपवर्ती तथा दूरवर्ती ग्रामो एव नगरो की यात्रायें करनी पडती। समाजो के पारस्परिक वाद-विवादो को निपटाने के लिए तत्-तत् स्थानो पर जाना आवश्यक था। विवादास्पद मामलो के समाधान के लिये मैं नसीराबाद, नागौर, लाडनू, जोधपुर आदि अनेक स्थानो पर गया। उत्सवो तथा प्रचार कार्यक्रमो मे भी सभा मन्त्री के नाते यत्र तत्र जाना होता।

अजमेर मे परोपकारी तथा आर्य मार्तण्ड पत्रो के कार्यालय थे। इन पत्रो में मै नियमित रूप से वर्षों से लिखता आया था। परोपकारी का सम्पादन मैंने तब आरम्भ किया जब १९७२ मे प० भगवान स्वरूप जी का निधन हो गया। आर्य मार्तण्ड के सम्पादक प० रामसहाय जी शर्मा (स्वामी ओमभक्त जी) ने सम्पादन कार्य के लिए मुझे सर्वाधिक उपयुक्त समझा और स्वय हो त्याग पत्र देकर इन कार्य से निवृत हो गये। इस प्रकार एक पाक्षिक तथा एक मासिक पत्र के सम्पादन का दायित्व मुझ पर आ गया।

परोपकारिणी सभा की सदस्यता—

१९७० ई० मे दीपावली पर आयोजित ऋषि मेले मे मुझे परोपकारिणी सभा का सभासद चुना गया। यह सदस्यता बैरिस्टर चरणदास पुरी के निधन से उत्पन्न सदस्यता के खाली होने से हुई थी उस समय सभा के प्रधान लाला हंसराज तत्कालीन सभासदो ने सभा मे प्रवेश पाने पर मेरा स्वागत एव अभिनन्दन किया। डा० मथुरालाल शर्मा, डा० परमात्मा शरण, डा० मंगलदेवशास्त्री आदि विद्वद्वर्ग ने सभा मे मेरे आने को शुभ लक्षण माना।

क्रमश:

घर बैठे अनेक बीमारियों का आयुर्वेदिक नुस्खों द्वारा इलाज

—नेतराम शर्मा—

प्रधान भारतीय योग संस्थान पूर्वी जिला, दिल्ली। दूरभाष : निवास—२२४६४३६ विद्यालय—२२१३४८३, ए-७/६, कृष्णनगर, दिल्ली-५१

१८ बन्द पेशाब खोलना :—

१. कलमी शोरा, मिश्री, राई बराबर बराबर लेकर १० ग्राम की मात्रा पानी के साथ दिन मे तीन बार।

२. ढाक के फूल पानी मे पीसकर नाभि पर लेप करना।

३ गेहू की चोकर को गर्मकर पोटली बना पेडू, कमर पर सेकना।

१९. मूत्र का बार बार आना :—

१. १० ग्राम बरियारी की जड की छाल, २५० ग्राम दूध मे मिश्री मिलाकर १५ दिन तक पीना।

२ अनार के छिलके का चूर्ण ३ ग्राम, पानी के साथ सुबह शाम लेना।

३. जाडो मे १०० ग्राम काले तिल, २५० ग्राम गुड की चासनी मे लड्डू बना, बीस ग्राम का लड्डू रोज खाना।

४. भुने हुए चने चबाकर खाना।

२० कठ माला :—

१. चिरचिटा की जड के ८-१० टुकडे लेकर उसकी माला बना रोगी के गले मे पहना दे। कुछ दिनो मे ठीक।

२. मूली के बीज बकरी के दूध मे पीसकर लेप करे। अथवा सरसो पीसकर लेप करे। शीघ्र लाभ।

२१ पथरी :—

१. मूत्राशय की पथरी तोड़ने के लिये रोज छाछ पीते रहिए। चिकनाई मलाई बन्द। छाछ में जरा सी फूली फिटकरी मिला लें।

२. ५ ग्राम गोखुरू के बीजों का चूर्ण १० ग्राम शहद के साथ चाटें।

३ गेहू चने उबाल कर पानी को ठन्डा कर पीना। उबले हुए चने गेहू मे शक्कर मिलाकर खाना। मात्रा-गेंहू चना मुट्ठी भर।

४. २५ ग्राम पालक रस दिन मे दो बार, २५ ग्राम चुकन्दर रस दिन मे दो बार, पात गोभी का रस एक-एक कप दो बार।

५. मूली का रस २५ ग्राम रोज पीने से पथरी गलकर मूत्र के रास्ते निकल जाती है। मूली रस मे आवले का चूर्ण ३ ग्राम मिलाकर सेवन करने से और भी अधिक फायदा होता है।

२२ सूजन :—

१. मुट्ठी भर गेहू पानी मे उबाल कर सुहाते सुहाते पानी से रूई से धोना। गेहू निकाल कर शहद या शक्कर मिलाकर खाना।

२ मटर को पानी मे उबाल कर उसके पानी से सूजन को धोना।

३ आवले के रस मे घी मिलाकर पीने से भी लाभ।

२३ शीघ्र पतन :—

१ ५ ग्राम जगली पालक के बीजो का चूर्ण सुबह शाम दूध मे छुहारे औटा कर लेना। समय ४० दिन, सहवास से परहेज।

२४ शुक्राणुओ की कमी :—

१ ५ ग्राम बथुआ के बीजो का चूर्ण सुबह शाम छुआरे वाले दूध के साथ लेना। समय ४० दिन। सहवास से दूर।

२५ नपुन्सकता :—

१ त्रिफला, घी और शहद मिलाकर सेवन करे—याद रहे कि शहद और घी बराबर न हो।

२. बड का दूध ५-७ बूद बताशे मे डाल सूर्य उदय से पहले खाली पेट लेने मे एक हफ्ते मे दूर।

२६ मूत्र नलो मे जलन :—

१. चौलाई के पत्ते मुट्ठी भर गर्म पानी मे उबाल थोडा ठण्डा होने पर मलकर छानकर आधा आधा कप दिन में तीन बार। पेशाब खुलकर आयेगा और जलन खत्म हो जायेगी।

२. पालक के पत्तों का रस पचास ग्राम दिन में तीन बार। पेशाब की जलन व रुकावट दूर।

२७. पेशाब मे खून :—

कुलफा पत्तो का रस पचास पचास ग्राम दिन मे तीन बार। एक हफ्ते मे चमत्कारी प्रभाव।

२८ फेंफडो मे सूजन :—

पालक के पत्तों के रस से कुल्ले कर दो तीन बार थूकना। इसके बाद छोटे-छोटे घूट पीना। यदि सर्दी लगने से फेफडो मे सूजन हो तो पालक का पचाग (पत्ते, शाखा, फूल, छाल और मूल) मुट्ठी भर लेकर काढा बनाइये और छोटे छोटे घूट लेकर पीजिये और सूजन को दूर भगाइये।

२९ फेफडो से खून :—

बथुआ का रस पीने मे टी०बी० के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। फेफडे से खून आना बन्द हो जाता है। (क्रमश:)

विशेष गुण सम्पन्न इलायची

इलायची भारत में उगाये जाने वाले पौधे से प्राप्त की जाती है। इसकी उपज सर्वाधिक तमिलनाडु, केरल तथा कर्नाटक में होती है। इसके लिए ढलवा भूमि, कोहरा तथा नम हवा उपयुक्त जलवायु होती है।

इलायची जो स्वय मे एक वैद्य है, हमारी शान है। यह जहा दूसरो को पेश करने का अजीबो-गरीब तोहफा है, वहाँ मुह की दुर्गन्ध दूर करने की एक महौषधि भी हैं।

इलायची अपनी अत्याधिक सुगन्ध एव विशिष्ट स्वाद के कारण विश्व प्रसिद्ध हैं, जिससे इसका विदेशो मे भी निर्यात किया जाता है। यह जहां विचित्र व्यजनो मे काम आती है, वहा अनेक प्रकार के रोगो मे भी इसका उपयोग किया जाता है।

इलायची को भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे जहा भिन्न-भिन्न नामो से पुकारा जाता है, वहीं इसका महत्व और अधिक हो जाता है। वनस्पति विज्ञान में जहा इसे कार्डमोम के नाम से पुकारा जाता है वहा बगाली मे इसे छोटी इलायची, मिश्र में 'एलम' सस्कृत मे 'ऐला' और गुजराती मे 'एलजी' आदि कहा जाता है।

इलायची को मान प्रतिष्ठा का प्रतीक भी माना जाता है। इसके सम्बन्ध मे एक कहावत चरितार्थ है कि "मान के लिये एक इलायची काफी है।" वैसे भी जहा नाश्ते अथवा भोजन के बाद सौंफ, मिश्री आदि पेश की जाती है, वहा इलायची भी जरूर पेश की जाती है। इलायची के बिना न तो सौफ अच्छी लगती है और न मिश्री। मगर हा सौफ व मिश्री के बिना इलायची अकेली ही अपने आपमें पर्याप्त है। इसे जहा कुछ लोग मुह की दुर्गन्ध दूर कर सुगन्ध के लिये प्रयोग करते हैं, वहा कुछ व्यक्ति मुंह की खुश्की मे इसका उपयोग करते है। पान मे इसका प्रयोग सर्वाधिक होता ही है।

इलायची जहाँ खीर, आइसक्रीम, चाय और अन्य स्वादिष्ट व्यजनो मे भरपूर रूप मे इस्तेमाल की जाती है, वहा विभिन्न रोगो मे भी इसका भरपूर योगदान है। इसलिए इसे स्वय में एक वैद्य कहा जाता है।

बदहजमी—घी, तेल व भारी पदार्थों का सेवन करने पर हुई बदहजमी के समय इलायची का प्रयोग किया जाता है, जो काफी गुणकारी सिद्ध होता है।

मोटापा—मोटापे को कम करने मे इसका विशेष योगदान है।

पीलिया—पीलिया जैसे भयकर रोग मे इलायची वास्तव मे राम बाण का काम करती है।

बवासीर—इलायची की तासीर ठण्डी होने के कारण यह बवासीर मे भी अति गुणकारी है।

कफ—कफ जैसे विशिष्ट रोगो को नष्ट करने में इलायची का काफी योगदान रहता है।

पित्त—इलायची के सेवन से पित्त वाले रोगो को आराम पहुंचता है।

अणुबम से भी खतरनाक है 'अखिल इस्लामवाद'

— प्रो० शेर सिंह —

अफगानिस्तान, तुर्की ईरान, चीन आदि देशों से घिरे हुए तुर्कमेनिस्तान, अजरबैजान, उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान आदि रूस के रिपब्लिको मे जहा मुसलमानो का बहुमत है, रूस से अलग होने की बात चल पडी है। आर्मीनिया ने अपने आपको बाल्टिक के रिपब्लिको की तरह स्वतन्त्र भी घोषित कर दिया है। उन रिपब्लिको मे कुछ जगहो पर फसाद भी हुए है और लोग हताहत हुए हैं। चीन के प्रदेश सिक्याग, जिनज्याँग में भी अवस्था बिगड रही है। मुस्लिम अलगाववाद और आतकवाद ही तीनो देशो को अस्थिर करने और तोडने मे लगा हुआ है। इसी कारण इस क्षेत्र में राजनैतिक परिवर्तन आया है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के समीकरण बदल रहे है। —सम्पादक

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हीरोशिमा और नागासाकी पर अणुबमो से किया गया हमला बीसवी सदी की सब से बडी त्रासदी है, ऐसा सभी मानते हैं। लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद जहा एक ओर आणविक शस्त्रो की होड मे विश्व की महाशक्तिया विलक्षण मानवीय प्रतिभा और दुर्लभ नैसर्गिक ससाधनो को झोकती रही, वहीं सम्पूर्ण विश्व समाज से इस होड को समाप्त कर देने का दबाव भी उत्तरोत्तर बढता गया। परिणाम यह है कि आणविक शस्त्रो के विसर्जन की प्रक्रिया का श्रीगणेश हो चुका है।

लेकिन इक्कीसवी शताब्दी मे जिस भयकर त्रासदी की कल्पना से आज विश्व आतकित व चिन्तित है वह आधी से ज्यादा दुनिया मे फैली, कट्टरपथी मुल्लाओ द्वारा सचालित अखिल इस्लामाबाद और उससे जनित अलगाववाद और आतकवाद की मुहिम है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि इस्लामी कट्टरपथी का यह बम अणुबम से कहीं अधिक विनाशकारी हो सकता है, क्योंकि इसकी प्रतिक्रिया मे दूसरे मजहबो मे भी कट्टरवाद फैलेगा और यह टकराव मानव समाज के विनाश के लिए उत्तरदायी होगा। ब्रिटेन की पूर्व प्र० मन्त्री श्रीमती थैचर विश्व को यह चेतवनी दे रही है कि इक्कीसवी शतातब्दी मे इस्लामी कट्टरपथी मुल्ला ही विश्व के सामने सबसे बडी चुनौती बनेंगे।

अखिल इस्लामाबाद के नजरिये को अमलीजामा पहनाने के लिए जो साधन चाहिए थे, अरब देशो से वे मिलने लगे। छप्पर तोडकर नही, पाताल फोड कर बेतहाशा पेट्रो डालर अरब देशों के हाथ लगे। इसके लिए न उनको कुछ तप करना पडा और न परिश्रम। इन देशो की मरूभूमि के नीचे तेल निकल आया और उसको निकालने के लिए अन्य परिश्रमी देशो द्वारा विकसित यन्त्र और तकनीक सेवा मे उपस्थित हो गये। पहले लीबिया ने इस्लामिक परमाणु बम बनाने के लिए अरबो रुपए पाकिस्तान और उसके वैज्ञानिको को देने की घोषणा की और बाद मे अमेरिका और लीबिया का विवाद छिडने के बाद वही काम सऊदी अरब ने किया। पाकिस्तान परमाणु बम बना पाया है या नही और यदि बना पाया है तो इस्तेमाल कर पाएगा कि नही, यह तो निश्चय से नही कहा जा सकता। परन्तु अखिल इस्लामवाद द्वारा जनित अलगाववाद तथा आतकवाद रूपी इस्लामिक बम का विस्फोट तो जगह-जगह हो रहा है।

अखिल इस्लामवाद के चलते अब ईरान, सऊदी अरब तथा अन्य मुस्लिम कट्टरवादिता मे विश्वास रखने वाले देश जिन-जिन देशो मे मुसलमान रहते है उनके अन्दरूनी मामलो मे दखल देना अपना अधिकार मान बैठे हैं, और उन देशो को अस्थिर करने और तोडने के लिए अलगाववादियो को सब प्रकार की सहायता पहुचाने को हक बजानिब कहने मे जरा भी सकोच नही करते। कुछ तो अरब देशो के नेताओ, मुसलमानो व अमीरो की महत्वकाक्षाओ के कारण कुछ आर्थिक स्वार्थों के टकराव से उपजे विवादो के कारण और कुछ परिश्रमी देशो की कूटनीति के कारण अरब देश आपस मे बटे हुए हैं, नही तो अलगाववाद और आतकवाद भारत रूस और चीन मे और भी विकराल रूप धारण कर लेते। इन देशो मे जो खेल हो रहा है वह दिन प्रति दिन बढ रहा है और इनमे सबसे बडी भूमिका पाकिस्तान की है क्योंकि मध्य एशिया में वह फ्रन्ट लाइन देश माना जाता है और उसकी पीठ पर है अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देश।

पाकिस्तान और बांग्लादेश दोनों ही अपने अपने आपको मुस्लिम देश कहते है। पाकिस्तान मे हिन्दू तो नाम मात्र ही रह गए, सिन्ध से वे भी पलायन कर रहे हैं। बाग्ला देश से भी बहुत बड़ी सख्या मे हिन्दू और बौद्ध निकल आए हैं। जो हैं, उनको बराबर के नागरिक का अधिकार नही है। पाकिस्तान मे अहमदियो को कोई नागरिक अधिकार नही। मुहाजिर भी जैसे तैसे दिन काट रहे हैं।

अफगानिस्तान की हकूमत का तख्ता पलटने के लिए अमेरिका ने जैसे ही पाकिस्तान को अफगान मुजाहिदीनो के लिए हथियार पैसा और अन्य साधन दिए, वैसे ही पाक ने मुजाहिदीन के साथ-साथ पजाब के सिख नौजवानो और कश्मीर के पाक समर्थक जवानो को हथियार प्रशिक्षण और दूसरे साधन देने शुरू कर दिए जब भारत ये तथ्य दुनिया के सामने रखता है तो वह भारत को अस्थिर करने और तोडने के लिए दी जाने वाली प्रमाणित मदद से भी साफ इन्कार कर देता है और प्रतिक्रिया में और अधिक मदद देने लगता है। अब जब अफगानिस्तान से रूसी फौजें वापस चली गई और मुजाहिदीन अफगानिस्तान की सरकार को नही उखाड सके, तब अमेरिका ने रूस से मिल कर सैनिक हल की बजाय समस्या का राजनीतिक हल निकालने की सोची। परन्तु दिल्ली के भागो छीका टूटा, इराक का द्वन्द अमेरिका और सऊदी अरब के साथ छिड गया। पाकिस्तान की सेना के अध्यक्ष और राष्ट्रपति ने बेनजीर को चलता किया और सऊदी अरब मे अमेरिका सेना आ गई। फारस की खाडी मे अमेरिका की सहायतार्थ पाकिस्तान अग्रिम पक्ति वाला देश बन कर खडा हो गया। अब फिर अमेरिका की नौसेना के तथा दूसरे आधुनिक हथियार और साधन उसके पास आ गये और उनके राष्ट्रपति इसहाक खा ने कश्मीर को पाकिस्तान मे मिला कर अपनी अधूरी क्रान्ति को पूरा करने की बात कह डाली।

२० अप्रैल १९७० को चीनी दूरदर्शन पर अचानक सूचना प्रसारित की गई जो तिब्बत में किए गए आजादी के लिए विरोध प्रदर्शनों से कही अधिक भय प्रसारक थी। ५ और ६ अप्रेल को सिक्याग मे हुई बर्बरतापूर्ण लडाई और हत्याओ के दृश्य दिखाए गये। उसके एक महीने बाद २४ मई को बी० बी० सी लन्दन के पेईबिंग स्थित सवाददाता ने विस्तार से बताया कि सिक्याग मे अलगाववादी मुस्लिम नेताओ ने उस क्षेत्र को चीन से अलग करने के लिए जेहाद की तैयारी कर ली थी और १३ अप्रैल को अबुल कासिम के नेतृत्व मे बगावत का शख क्षेत्र के बडे-बडे नगरो मे एक साथ बजाना था। परन्तु चीन के गुप्तचरो को सारी योजना का पता चल गया इसलिए ५ और ६ अप्रैल को ही घमासा हो गया। यह भी पता चला कि विदेशी शक्तियो द्वारा प्रेरित मुस्लिम कट्टरपथी सगठनो के द्वारा इस क्षेत्र मे अवैध रूप से गावो तक मे अनेक स्कूल खोल दिए गये थे जिनके द्वारा स्कूल के बच्चो मे साम्प्रदायिक और जातीय घृणा फैलाई जा रही थी। इन्ही कारणो से ५ और ६ अप्रैल की घटनाओ के बाद सिक्याग की पीपल्ज काग्रेस ने धार्मिक गतिविधियो पर नियत्रण के कानून बहुत कडे कर दिए है। फलस्वरूप न तो अब वहा कोई नई मस्जिद बन सकती है और न मुल्लाओ के द्वारा प्रचार हो सकता है। सिक्याग को २०वी शताब्दी के दूसरे दशक और उसके बाद बहुत दिनो तक पूर्वी तुर्किस्तान गणराज्य के नाम से जाना जाता था, उसका चीन मे विलय १९५० में हुआ था। रूस के तुर्किस्तान और सिक्याग के युघुर लोगो मे गहरा सम्बन्ध रहा है और युघुरो मे जब अशान्ति फैली तब ५०,००० युघूर सिक्याग छोड कर रूस के तुर्कमेनिस्तान मे चले गये।

मुस्लिम अलगाववाद और अखिल इस्लामवादी का प्रहार विशेष रूप से तीन देशो को झेलना पडेगा। वे तीन देश हैं भारत, रूस और चीन। भारत मे मुस्लिम आबादी करीब दस करोड है, रूस मे सात-आठ करोड और करीब-करीब इतनी ही चीन मे है।

अफगानिस्तान तुर्की ईरान चीन आदि देशो से घिरे हुए तुर्कमेनिस्तान, अजरबेजान उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान आदि रूस के रिपब्लिको मे जहा मुसलमानो का बहुमत है रूस से अलग होने की बात चल पडी है। आर्मीनिया ने अपने आपको बाल्टिक के रिपब्लिको की तरह स्वतन्त्र भी घोषित कर दिया है। उन रिपब्लिकों मे कुछ जगहो पर फसाद भी हुए हैं और लोग हताहत भी हुए है। चीन

(शेष पृष्ठ ९ पर)

बृहद् गायत्री यज्ञ सम्पन्न

आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद द्वारा शनिवार दिनांक ८ जून १९९१ को आन्ध्र सारस्वत परिषद में आयोजित बृहत गायत्री यज्ञ प्रात. ८-३०बजे प्रारम्भ हुआ। इस अवसर के मुख्यातिथि थे, सुप्रसिद्ध आर्य समाजी नेता डा० टी० वी० नारायण, आन्ध्र प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के सेवा-निवृत्त, सदस्यो ने विधिवत् झण्डावन्दन किया जब कि आर्य वीर दल के सूबेदार व्यकटेश ने झण्डा-वन्दन का अनुशासन दिया। तेलगाने के नगर के अतिरिक्त विभिन्न जिलो से हजारों आर्य प्रतिनिधि समारोह मे उपस्थित रहे। डा० टी० वी० नारायण जी ने अपने संदेश मे आर्य समाजियो को सगठित होकर न केवल समस्त भारत मे अपितु विश्वमंच पर आर्य झण्डा फहराने की कामना की।

सुप्रसिद्ध आर्य नेता श्री प० मदन मोहन विद्यासागर ने बृहत गायत्री यज्ञ के "ब्रह्मा" की भूमिका अदा की। प्रात: के सत्र में अनेक वक्ताओं–अध्यक्ष सर्वश्री क्रान्तिकुमार जी कोरटकर, टी० नरहरिराव, के० नरसिह्मा रेड्डी, सूर्यानारायण, सम्पादक ढका (तेलुगु-अंग्रेजी) रामदेव शास्त्री, त्रिभुवना देवी, आदि ने सम्बोधित किया।

साय के सत्र मे आन्ध्र प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद के अध्यक्ष श्री क्रान्ति कुमार कोरटकर ने उपस्थित आर्य बन्धुओ से घोषणा-पत्र पर आधारित दस सूत्री प्रतिज्ञा सामूहिक रूप से करायी, जो इस प्रकार है :—

१. हम सब आर्य हैं। सच्चे आर्य बनेंगे।

२. वैदिक धर्म समूचे संसार का हित चाहता है। हम उस धर्म का पालन करने में हर सम्भव त्याग करेंगे।

३. आर्यवर्त हमारे देश का मूल नाम है। सविधान मे इस तथ्य को समाविष्ट करायेंगे।

४. सच्चे पथ-निरपेक्ष राज्य की कल्पना को प्रतिपादित करेंगे। और इस को अमल मे लाने के लिए हर सम्भव त्याग करेंगे। सविधान के निर्देशन तत्वो में उल्लिखित धारा ४४ के कार्यान्वियन कराने हेतु हम सरकार को मजबूर करेंगे।

५. हमारी सस्कृति मनोविकास का वह स्तर है जो भारतीयता से निकल कर हमारे बातचीत, व्यवहार और रीति-रिवाजो मे प्रस्फुटित होती है। इसकी रक्षा के लिये, हम हर सम्भव त्याग करने के लिये उद्यत रहेंगे।

६. हम प्रादेशिक राष्ट्रीयता नहीं सांस्कृतिक राष्ट्रीयता में विश्वास रखते हैं। इस विश्वास को समूचे राष्ट्र का विश्वास बनायेंगे।

७. हम सब एक हैं। प्रादेशिकता, भाषा, सांस्कृतिक, मजहब के आधार पर अल्प सख्यक, तथाकथित सामाजिक न्याय के नाम पर हमे विभक्त नही किया जा सकता।

हम इस सम्बन्ध मे भारतीय सविधान को बदल डालने के हमारे सकल्प को सरकार से मनवा कर रहेंगे।

८. सच्चे वर्णाश्रम व्यवस्था मे हम विश्वास रखते हैं। भारतीय सविधान की धारा ३८ को सही दिशा देकर कार्यान्वित करायेंगे।

९. देश में बढती हुई हिंसा को रोकना तथा विघटनवाद को खत्म करने में हम हर सम्भव त्याग करेंगे।

१० देश की अखण्डता को बचाये रखने मे हम आर्य हर सम्भव त्याग करेंगे।

साय ४-३० बजे विशाल शान्ति जुलूस, यज्ञ स्थल से निकलकर सरदार पटेल प्रतिमा बाग आम तक पहुचकर सभा के रूप में बदल गया। पं० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव जी वरिष्ठ उपाध्यक्ष सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने देश की एकता एव अखण्डता की रक्षा हेतु आर्य जनो से अपना लहू बहाने का आह्वान किया। सभा मे देश के पूर्व प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी की जघन्य हत्या की कठोर शब्दो मे निन्दा की गई और मांग की गई इस हत्या के पीछे छद्म-तत्त्वो का पता लगाकर उन्हे कठोर सजा दी जाए।

—डा० शीलम् वेंकटेश्वर राव

पुस्तक समीक्षा

शाश्वत वाणी

शाश्वत वाणी मासिक का साहित्यकार गुरुदत्त श्रद्धांजलि अंक पिछले दिनों प्रकाशित किया गया। वैद्य गुरुदत्त की लम्बी साहित्य यात्रा का विवेचन इस पत्रिका में किया गया। पत्रिका को देखने से ऐसा प्रतीत नही होता कि उस महान लेखक के लिए समुचित श्रद्धाजलि इस अंक में प्राप्य होंगी। इसका कलेवर भव्य नही है। इसके पृष्ठों की संख्या भी मात्र ४८ है, परन्तु फिर भी इस पत्रिका को लपक कर पढने को मन करता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि इस पर लिखा है—'गुरुदत्त' आगे छपा है गुरुदत्त का प्रभावी चित्र इसके सम्पादक अशोक कौशिक ने परिश्रम करके केवल वे ही लेख इसमें दिए हैं जो गुरुदत्त के जीवन के विभिन्न आयामो को उजागर करते हैं। अनावश्यक औपचारिकताओं को तो कही स्थान ही नहीं दिया गया। किसी भी महान व्यक्ति के निधन पर श्रद्धासुमन लिखना मात्र औपचारिकता ही है। वास्तविक आवश्यकता तो इस बात की होती है कि जीवन मूल्यो की रक्षा के लिए अथवा जीवन मूल्यो को ऊचा उठाने के लिए उस व्यक्ति ने क्या किया था। इस पहलू को ध्यान में रख कर ही अशोक कौशिक ने देश, धर्म और जाति के सरक्षक गुरुदत्त के जीवन के विभिन्न आयामों तथा उनकी विभिन्न क्षेत्रो में हुई उपलब्धियो का आकलन, इस स्मृति अंक में किया है। वास्तव में जीवन उसी का सार्थक है जिसके आश्रय में अन्य अनेक व्यक्ति अपना जीवन बिताते हैं, अन्यथा अपना पेट तो अपनी छोटी सी चोंच से कौआ भी भर ही लेता है। यह उक्ति हितोपदेशक की है और यह अक्षरश: गुरुदत्त पर चरितार्थ होती है।

इस अंक में अनेक धुरन्धरो के शब्द संग्रहीत हैं। उनमें प्रमुख है—मधुकर दत्तात्रेय देवरस, वीरेन्द्र सिंह परमार, बलराज मधोक, डा० विद्यासागर, शिवकुमार गोयल, कृष्ण मित्र, नरेन्द्र अवस्थी, ऋषि मामचन्द्र कौशिक, डा० प्रकाश भारती, आशा त्रिपाठी, डा० मोहनलाल श्रीवास्तव, अश्विनी कुमार वर्मा, श्रीमती कमला रत्नम् प० इन्द्रसेन शर्मा, सुकुमार महाजन, भानुप्रताप शुक्ल। यह लम्बी सूची देने में मेरा अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं है कि पाठक इन महान लोगों के नामो से अभिभूत हो जाए। मेरा अभिप्राय मात्र यह बतलाता है कि ये लोग किस सीमा तक गुरुदत्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रभावित रहे हैं।

अन्त में वैद्य गुरुदत्त के १९८ उपन्यासो की सूची दी गई है। दर्शन विज्ञान, समाज व राजनीति पर उनके लिखे ३४ ग्रन्थो की सूची भी दी गई है। इन सूचियो को स्थान दिए जाने से इस स्मृति अंक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। वैद्य गुरुदत्त ने एक पुस्तक और लिखी थी—धर्मवीर हकीकत राय। सम्भवत: यह पुस्तक सम्पादक के ध्यान में नहीं आयी। धर्मवीर हकीकत राय की भूमिका में वैद्य गुरुदत्त ने लिखा था कि मुझे धार्मिकता प्रदान करने में हकीकत राय की कहानी का विशेष योगदान है और मैं यह पुस्तक लिख कर अपने को हल्का अनुभव कर रहा हूं। ऐसा था उस महान व्यक्ति का विनीत भाव। इस पुस्तक को दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया था।

यह लघू स्मृति ग्रन्थ हमें उस दीपक की याद दिलाता है जो दूसरो को प्रकाशित करता हुआ, स्वय, तिल-तिल जलता रहा और अन्त में घोर अन्धकार में विलीन हो गया।

—डा० धर्मपाल

अणु बम से भी खतरनाक...

(पृष्ठ १ का शेष)

के प्रदेश सिक्यांग जिंक्यांग मे भी अवस्था बिगड़ रही है। मुस्लिम अलगाववाद और आतंकवाद ही तीनों देशों को अस्थिर करने और तोड़ने मे लगा हुआ है। इसी कारण इस क्षेत्र में राजनैतिक परिवर्तन आया है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के समीकरण बदल रहे हैं। अब रूस और चीन एक दूसरे के मित्र हैं, भारत और चीन के सम्बन्धों में भी सुधार आया है और आशा है कि उनमे उत्तरोत्तर सुधार होता जायेगा। इन तथ्यों से यह वास्तविकता विश्व के सम्मुख स्पष्ट हो गई है कि आतंकवाद जहां कहीं भी प्रहार करता है उसके पीछे मुस्लिम अलगाववादियों का ही हाथ होता है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित
वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम द्वितीय) प्रत्येक		१.५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७.	फलैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यप्रकाश वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२ ००
९.	एटीनामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०	आर्यों का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	२ ००
१३.	चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	१०.००
१६	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२१.	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा

नोट उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नही लिया जाएगा।

पुस्तक प्राप्ति स्थान **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

चुनाव समाचार

—२ जून १९९१ को सम्पन्न हुए साधारण वार्षिक अधिवेशन मे श्री चमन लाल जी आनन्द की अध्यक्षता मे निम्नलिखित अधिकारीगण निर्वाचित घोषित किए गए :—

प्रधान—श्री शांति प्रकाश बहल,

मन्त्री—श्री गणेश दास ग्रोवर,

कोषाध्यक्ष—श्री हरबंस लाल सुभाष।

—सभी सदस्यो की सूचनार्थ निवेदन है कि आर्य समाज साकेत की साधारण सभा की आगामी बैठक रविवार ३० जून १९९१ को प्रात ९-३० बजे (७-३० बजे से आरम्भ साप्ताहिक सत्सग के पश्चात्) होगी।

—राजेन्द्रपाल गुप्त मंत्री

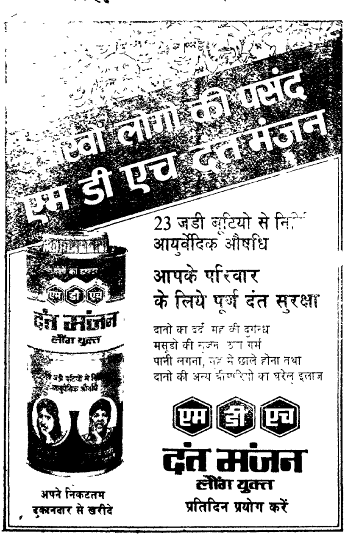
(पृष्ठ २ का शेष)

हैं। यजुर्वेद का मन्त्र है—'ओ३म् आत्मदा बलदा कस्मै देवाय हविषा विधम" जो कि इस प्रकार से है, जो आत्म ज्ञान और बल को देने वाला है, जिसकी उपासना सब करते हैं और जिसकी छाया मोक्षदायक है जिसको न मानना मृत्यु का कारण है, हम लोग उसी परमात्मा की उपासना करे।

धर्म के दस लक्षण हैं—

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय=चोरी न करना (४) ब्रह्मचर्य=सब प्रकार के मैथुनो से दूर रहना, (५) अपरिग्रह=जरूरत से ज्यादा इकट्ठा न करना, (६) शोच=बाहर, भीतरी पवित्रता, (७) सन्तोष=सुख-दुख मे समान भाव (८) तप=धर्म पालन के लिए कष्ट सहना (९) स्वाध्याय=ईश्वर के गुणो का कीर्तन (१०) ईश्वर प्राणिधान=ईश्वर के स्वरूप का ध्यान' उनकी आज्ञा पालना।

सी-१/डी-२ (एन-१९६) आई० आई० टी० कैम्पस
होज खास, नई दिल्ली-११००१६







आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R N No 32387/77 Posted at N.D.P.S.O. on 27-28-6-1991 Licence to post without prepayment, Licence No U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३९

पुस्तक समीक्षा

मद्यनिषेध गीतमाला

६ दिसम्बर १९८६ को चोबीसी मेरठ से प्रारम्भ हुआ मद्यनिषेध जुलूस नई दिल्ली मे बोटक्लब पर १६ सितम्बर १९८६ को पहुचा था। उस समय बोट क्लब पर उपस्थित विशाल जनता को श्री स्वामी आनन्द बोध सरस्वती, प्रो० शेर-सिंह तथा श्री सूर्यदेव ने सम्बोधित किया था तथा राष्ट्रपति द्वारा ज्ञापन पत्र न लेने के कारण राष्ट्रपति भवन पर सत्याग्रह भी किया था। उस समय मद्य निषेध के लिए जो गीत गाए गए थे अथवा उससे पहले गाए गए थे, अथवा सामान्य जनता को जागृत करने के लिए अभी भी गाए जा रहे हैं अथवा गाए जाने चाहिए, उन सभी गीतो को ब्रह्मचारी नन्द किशोर ने इस छोटी सी पुस्तिका मे सम्मिलित किया है।

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते।

(ऋ ८।२। २)

(शराब को दिल खोलकर पीने वाले दुष्ट लोग आपस मे लड़ते हैं और नगे होकर व्यर्थ बड़ बड़ाते है।)

(मद्य निषेध गीतमाला-प्रथम भाग-ब्र० नन्द किशोर एम.ए. विद्यावाचस्पति, आचार्य, वेद मन्दिर ज्वालापुर (हरिद्वार)-मूल्य ५-०० रुपये।

—डॉ० धर्मपाल

श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती अमृतसरी साहित्य माला

यह आर्य समाज के सौभाग्य है कि वैदिक विद्वान स्थान-स्थान से साहित्य प्रकाशन और उसके नि.शुल्क अथवा लागत मात्र मूल्य पर वितरण के द्वारा वैदिक धर्म तथा आर्य समाज की सेवा कर रहे हैं। पिछले दिनो आर्य समाज नजफगढ के वार्षिकोत्सव पर वीतराग सन्यासी श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती अमृतसरी से भेंट हुई। सन्यासी के नाम के साथ स्थान विशेष का नाम अटपटा सा लगता है। उनकी अनेक पुस्तको, ट्रैक्टो, विज्ञापन पत्रको का प्रकाशन श्री रोशन लाल मदान, एफ ८, ओ३म् विहार, उत्तम नगर नई दिल्ली-५९ द्वारा किया गया है। ऋषि वाणी भाग १ और भाग २ मे उन्होने सत्यार्थप्रकाश से ऐसे विशेष प्रसग लिए हैं जो नवयुवको का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं। 'ऋषि वाणी' । भाग ३' मे उन्होने सक्षेप मे उन मन्तव्यो का प्रकाश किया है जिन्हे आर्य समाज मानता है। 'तुलसी के राम' पुस्तक मे उन्होने बताया है कि 'राम' एक महापुरुष हैं तथा वे स्वयं भी परमात्मा की आराधना करते हैं। वह परमात्मा कैसा है, यह सरल भाषा मे समझाया गया है। 'श्रीकृष्ण और आर्य समाज' पुस्तिका मे उन्होंने भागवत तथा महाभारत के कुछ प्रसगो की वैदिक व्याख्या प्रस्तुत की है। 'वेद-मन्त्र' पुस्तिका मे कुछ चुने हुए वेद मन्त्रो की हिन्दी और अग्रेजी मे सरल व्याख्या दी गई है। 'मन मन्की' पुस्तिका मे यजुर्वेद के छ: 'शिवसकल्प मन' मन्त्रो की सरल व्याख्या दी गई है। उसके अतिरिक्त उन्होने प्रचारार्थ अनेक छोटे-छोटे कार्ड भी वितरणार्थ प्रकाशित कराये हैं।

—मूलचन्द गुप्त



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष,
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ. प्र.)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अक ३५ | रविवार, ७ जुलाई, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

वेदवाणी

—नारायण नागपाल—

"वेद वाणी का इतना महत्व है कि कई विश्वविद्यालयो मे वेदों पर पी० एच० डी० की उपाधी (Ph. D.) प्रदान की जा रही है और वेदो पर अभी भी अनुसंधान कार्य चल रहे हैं। वेदो को इतना पसन्द किया जाता है कि विदेशो में वेद पढ़े जा रहे हैं। वेदों का कई भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है। लगभग पूरे विश्व मे वेदो का प्रचार-प्रसार, कार्य चल रहा है, खासतौर पर अमेरिका, रूस, लन्दन, मौरिशिस, नेपाल, इण्डोनेशिया, केनिया, अफ्रीका, इत्यादि मे। विश्व के हर कोने में आर्य समाज मन्दिर खुले हुए हैं और वेदो की वाणी पर चर्चा होती हैं। वेद मार्ग पर विश्व के लोग चल रहे है और धर्म लाभ उठा रहे है।

महान सन्त तुलसी दास ने पूरी रामायण में वेद की वाणी पर चलने को कहा है और यहा तक कि प्रारम्भ में ही बाल काण्ड मे वेद मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है। अपनी चौपाइयों, दोहो मे, वेदो मे ही बताये गए मार्ग पर कई सन्तों, मुनियो, ऋषियों ने ध्यान/नाम पर बल दिया है अपनी-अपनी कृतियो मे, नाम/ध्यान उठते' बैठते, जागते, सोते नाम/ध्यान मे ही हम सबका कल्याण है। अपने प्रवचनो, उपदेशो, कथाओ मे सभी सन्त, महात्मा नाम/ध्यान की ही हमेशा चर्चा करते हैं।

मुनि व्यास ने कहा है कि वेद का महामन्त्र गायत्री और ब्रह्मा मे कोई भिन्नता नहीं है। गुरु विश्वामित्र ने भी वेद को ही गायत्री मन्त्र की महत्ता बताते हुए कहा है। गायत्री मन्त्र के बारे मे श्री रामकृष्ण परम हस ने कहा है कि गायत्री मन्त्र के जाप से हमे बडी शक्ति मिलती हैं। समय-समय पर देश विदेशो मे वेद सम्मेलनो का भी आयोजन किया जाता है। वेद धर्म ग्रथों के रूप मे माने जाते हैं। मुनि व्यास, मुनि जैमिनी, पातजली आदि और गुरु शकराचार्य ने वेदो को खूब माना है। उनका खूब गुणगान किया है।

वेद न केवल हिन्दुओ का अपितु पूर्ण प्राणी मात्र का धर्म ग्रथ है, क्योंकि वह अनेक विषयो पर प्रकाश डालता है और परमात्मा का ही उपदेश-आदेश (वचन है)। परमात्मा की पवित्र वाणी है। मनु महाराज, मुनि याजवलकय, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द जी ने भी वेदो को धर्म ग्रन्थ माना है। वेदो मे कई जगह पर अति स्पष्ट शब्दो में ईश्वर के स्वरूप का चित्रण किया गया है और उसकी उपासना का आदेश दिया गया है।

वेद का आदेश है कि हमे शुद्ध आचरण वाला होना चाहिये। स्वामी दयानन्द जी ने कहा है कि वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है। वेद का पढना, पढाना, सुनना, सुनाना सब आर्यों (सज्जन पुरुषो) का परम धर्म है। वेद ईश्वर की निर्मल वाणी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती पहले व्यक्ति थे जिन्होने वेदो के अर्थों को समझाने का बीडा उठाया और वेदों का डका बजा दिया पूरे विश्व मे। दक्षिण अफ्रीका, बर्मा, थाईलैण्ड, सिगपुर आदि मे वेद पर अध्ययन जारी हैं और वहा के कई लोग वेद वाणी में विश्वास रखते हैं, वेदो के उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं।

अथर्व वेद का मन्त्र जिसमे हम सबको आदेश/निर्देश दिया गया है कि हे मनुष्यों! तुम्हारे जीवन मे उन्नति होनी चाहिए अवनति नही। ऋग वेद का मन्त्र है जिसमे प्रभु से प्रार्थना की गई है कि हे जगदीश्वर! आपके अनुग्रह से सबको धारण करने वाला प्राण वायु हमारे लिये शान्तिदायक हो, सूर्य भी हमारे लिए सुख देने वाला हो। वसुन्धरा जो कि नाना प्रकार के पदार्थ हमे उपलब्ध कराती है हमारे लिए सुखदायिनी हो ध्रुवलोक और पृथ्वीलोक हमारे लिए मगल कारक हो। वेद और शास्त्री मे परमात्मा का निज नाम ओ३म् है और उसी की उपासना (स्मरण करना) श्रेष्ठतम है। वेदो मे जो करने, पालन करने को कहा गया है, वही करना चाहिए और जिस गन्दे विचार को छोडने को कहा गया है हमे छोड़ देना चाहिए। श्रीराम चन्द्र जी जब १४ वर्षों के लिए बनवास गये तो तब पुत्र वियोग मे महाराज दशरथ ने अपने प्राण त्याग दिए। प्राण त्यागने के पश्चात् उनका अन्तिम सस्कार सरयू नदि के तट पर वेद मन्त्रो द्वारा ही सम्पन्न किया गया था। इससे हमे यह मालूम होता है कि वेद मन्त्रो का और वेदो का कितना महत्व है कि आदि काल से आज तक वेद मन्त्रो द्वारा ही सारे कार्य प्रारम्भ किए जाते हैं और वेद मन्त्रो द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अथर्व वेद मे मास का सेवन निषेध लिखा है। आपने देखा होगा, सुना होगा कि हमारे देश के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री राजीव गाधी जी का अन्तिम सस्कार भी वैदिक रीति से ही किया गया था।

अस्मांक वीराः उत्तरे भवन्तु

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में आर्य वीर दल का राष्ट्रीय शिविर गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर मे ९ जून से २३ जून तक लगाया गया। डा० देवव्रत आचार्य के निर्देशन में विभिन्न शारीरिक सैन्य विद्याओ के सुयोग्य विद्वानो ने आर्यवीरों को प्रशिक्षित किया। इस शिविर मे दिल्ली, हरयाणा, पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र और कर्नाटक के आर्य वीर प्रशिक्षण प्राप्त करते रहे हैं।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने मगलवार १८ जून को आर्य वीरों का अभिवादन स्वीकार किया तथा सैन्य मार्च का निरीक्षण किया। इस अवसर पर आयोजित सभा मे डा० धर्मपाल ने कहा कि किसी भी कार्य को करने के लिए दृढ़निश्चय और अथक परिश्रम की आवश्यकता है। इसके लिए दिशा और लक्ष्य ज्ञान आवश्यक है। यदि लक्ष्य का ज्ञान नहीं होगा तो सारा परिश्रम व्यर्थ जाएगा और अभीष्ट की प्राप्ति नही होगी। इन शिविरो के माध्यम से हम इस युवा शक्ति को मानव कल्याण के लिए समर्पित, आचारवान्, चरित्रवान और बलशाली बनाना चाहते हैं। हमे इस बात की प्रसन्नता है कि आचार्य जी के नेतृत्व मे आर्य वीर दल उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है।

(शेष पृष्ठ ५ पर)

परामर्श—डा० धर्मपाल   प्र० सम्पादक—सूर्यदेव   सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री   व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

आर्य समाज : आज के परिप्रेक्ष्य में

— आचार्य प्रेमभिक्षुः एम० ए०, सम्पादक "तपोभूमि" —

कुछ लोगो का विचार है कि—"आर्य समाज के सिद्धान्त आदर्श ऊचे और महान है, पर एह आज के परिप्रेक्ष्य मे वास्तविकता से मेल नही खाते।" जबकि सच्चाई यह है कि आर्य समाज के आदर्श और सिद्धान्त मात्र ऊचे और महान ही नही वरन् वे स्वयं मे किसी भी युग के लिए एक वास्तविकता है, वे सत्य, सनातन, शाश्वत और अपरिवर्तनीय एव सार्वभौम है।

यहा स्मरणीय है कि आर्य समाज न तो एक मत, पथ (दयानन्द पथ) या सम्प्रदाय है और न ही एक सामयिक आन्दोलन है, जिसका महत्व समय बीतने पर प्राय समाप्त या कम हो जाता है। ध्यान रहे कि आर्य समाज का मूलाधार स्वय परमेश्वर प्रभु की कल्याणी-वाणी-वेद है। इसीलिए आर्य समाज के तृतीय नियम मे—"वेद का पढना-पढाना और सुनना सुनाना परम धर्म है।" ऐसी व्यवस्था दी गई है, ऋषि दयानन्द कृत "सत्यप्रकाश" आदि के लिए यह व्यवस्था नही हैं। आर्य समाज के दस नियमो मे एक भी स्थल पर "दयानन्द" शब्द नही आया है। आर्य समाज मे प्रवेश के समय "बुद्धं शरण गच्छामि" की भाति 'दयानन्दम् शरण गच्छामि" कहने की आवश्यकता नही होती। तो वेद ही आर्य समाज का सर्वस्व है और आर्य समाज वेद प्रचारक सगठन है। चूकि वेद सार्वभौम है, अत. आर्य समाज सार्वभौम है। और पवित्र वेद के प्रकाश मे ही वह मानवतावादी और राष्ट्रवादी है।

स्मरण रहे वैदिक धर्म ही सनातन धर्म है, मानव धर्म है, शाश्वत और सार्वभौमिक धर्म है। (वस्तुत धर्म एक ही है, मत पन्थ, सम्प्रदाय अनेक हैं) आर्य समाज के दस नियम सार्वभौम मानव धर्म के स्वर्ण सूत्र हैं। सत्य, न्याय, प्रेम, सेवा, परोपकार, सदाचार, सद्-व्यवहार और मानवता एव सच्ची-आस्तिकता ही इन नियमो की आत्मा है। "ससार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है।"

प्रकट है कि ऐसा सगठन कभी युग बाह्य नही हो सकता। हा, आज के वातावरण मे सत्य, न्याय, सेवा-सदाचार और परोपकार की बाते "युग बाह्य" समझी जा रही हैं और इसीलिये आर्य समाज को कोई युग बाह्य और वास्तविकता से दूर भले ही कहे। पर सत्य यह है कि इस लिए ही तो आर्य समाज युग की महती आवश्यकता है, क्योकि रोग अधिक व्यापक हो तो चिकित्सक की और भी आवश्यकता है।

यह ठीक है कि शराब मास के बढते हुए दौर, रहन-सहन और आचार-व्यवहार मे पाश्चात्य सभ्यता एव अग्रेजियत के बढते हुए दुष्प्रभाव, जीवन के प्रति सर्वथा अध्यातम-शून्य अति भौतिकवादी दृष्टिकोण (आर्य समाज अध्यातम और भौतिकता के समन्वय को स्वीकारता है) तथा वर्तमान युग के प्रतीक भ्रष्टाचार, दुराचार, इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्र मे बढते हुए काले बाजार का आर्य समाज किसी भी रूप मे समर्थन नही कर सकता, और इसी लिए यदि आर्य समाज मे भीड कम हो तो यह तो उसके लिए गौरव की बात है। आर्य समाज को भीड नही सदाचार और चरित्र चाहिए। यहा हम भूले नही 'सत्यमेव जयते मातृम्' अन्तत विजय सत्य की ही होगी। सत्य अमर है, मानवता अमर है, देवत्व अमर है, अत आर्य समाज अमर है।

कुछ सज्जनो को आर्य समाज की गतिविधिया इस लिए भी कम प्रतीत हो सकती है, क्योंकि आर्य समाज शोर-शराबे, मात्र प्रदर्शन और असत्य मूलक एव अराष्ट्रीय प्रवृत्तियो मे विश्वास नही रखता, जो आज के युग का दूसरा नाम बन गई है। दूसरी ओर आर्य समाज "नीव का पत्थर' बन कर मानवता और राष्ट्रीयता के भव्य भवन के निर्माण कार्य मे आज भी पूर्ण शक्ति से लगा है। हम भूले नही कि देश में स्वराज लाने मे तदर्थ तप-त्याग बलिदान और स्वतन्त्र होने मे वह सबसे आगे था, इतिहास का यह सर्वमान्य तथ्य है कि सन् ३१-३२ तक आन्दोलनो मे तथा क्रान्तिकारी योजनाओ मे भाग लेने वाले ८० प्रतिशत प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आर्य समाजी थे। बाद मे काग्रेस की अराष्ट्रीय (मुस्लिम तुष्टिकरण की) दुर्नीति, जिसके कारण ही पाकिस्तान बना और आज भी जिसके कारण राष्ट्र खण्ड-खण्ड होता जा रहा है, के कारण उसने अपने को प्रायः काग्रेस से अलग ही कर लिया। परन्तु वह (आर्य समाज) राष्ट्रोत्थान के मूल कार्यों में, भारत माता और मा मानवता की सेवा में वेद स्वाध्याय, वेद प्रचार, वेदाचार, वैदिक शिक्षा प्रचार, सत्साहित्य निर्माण द्वारा निरन्तर सजग रहा।

देश के बटवारे के मूल्य पर जो कथित "स्वराज्य" मिला उसे "सुराज" बनाने चरित्र निर्माण या मानवता से युक्त मानव के निर्माण और राष्ट्र की आन्तरिक सुरक्षा, कुरीति-निवारण, सुरीति प्रसारण शान्ति और सद्भावना के निर्माणात्मक कार्यों मे वह आज भी सेवारत है।

नशा-निषेध, हिन्दी गौरव रक्षा, सस्कृत-सस्कृति-रक्षा, विद्यालयो मे नैतिक शिक्षा, सती-प्रथा-विरोध, नाथद्वारा मन्दिर मे सभी को समान प्रवेशाधिकार दिलवाने तथा शुद्धि सगठन द्वारा राष्ट्रीयता की रक्षा हेतु "धर्म रक्षा अभियान" के माध्यम से व्यापक कार्य इसके ताजा उदाहरण है। हा, आर्य समाज आज की राजनैतिक कुर्सियो की लडाई से दूर रहा है, इसी से उसका रचनात्मक कार्य सर्व साधारण को दिखता नही है, क्योंकि आर्य समाज सफेद, लाल पीली टोपियो के बदलने मे विश्वास रखता है। वह वैचारिक क्रान्ति का अग्रदूत है।

फिर यह भी विचारणीय है कि हमारे इन मित्रों को यह तथ्य क्यों नहीं दीख पड रहा है कि आर्य समाज के स्वरों की ही आज सर्वत्र प्रतिष्ठापना हो रही है। आर्य समाज की वेदान्त एव वैज्ञानिक सत्य मान्यताओ का कब तक निषेध करने वाले, इसके साथ शास्त्रार्थ करने वाले भी आज उन्हे अपना रहे हैं। देश की स्वतन्त्रता को स्वर देने के साथ ही, आर्य समाज के नारी शिक्षा, नारी-सम्मान विधवा विवाह प्रचलन, बाल विवाह-वृद्ध विवाह निषेध, समुद्र यात्रा (विदेश यात्रा) प्रचलन, दलितोद्धार, शुद्धि-सगठन आदि विविध वेदोक्त सेवा कार्यों को आज सभी ने मान लिया है। यह तो आर्य समाज का दिग्विजय है। हा, यह बात अलग है कि अन्य सगठनो द्वारा इन सेवाकार्यों को अपना लेने से आर्य समाज के क्षेत्र में चहल-पहल कुछ कम दिखाई दे। पर साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि अन्य संगठनों द्वारा इन सेवा कार्यों को भी प्रायः स्वार्थवश या अज्ञानतावश भिन्न दिशा दे दी गई है, जिसके दुष्परिणाम भी प्रत्यक्ष हैं।

आर्य समाज का नारी जागरण-अभियान अपने मूल वैदिक (भारतीय) सस्कृति से हट कर आज पाश्चात्य सभ्यता से अभिभूत है। फलत देवियो के स्थान पर "लेडियां" उसे नेतृत्व दे रही है। हर क्षेत्र मे पुरुष के साथ प्रतिस्पर्द्धा जैसे उनकी टेक हो। आर्य समाज ने पर्दा प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया था, पर आज बेपर्दगी चरम सीमा पर है। अर्द्धनग्न फिल्मी सभ्यता, कला के नाम पर कामाराधना और नारी विज्ञापन के खिलाफ आज मोर्चा लेने की आवश्यकता हो गई है। इसी प्रकार आर्य समाज का दलितोद्धार का कार्य भी "अज्येष्ठा सो अकनिष्ठासः रुते स भ्रातरो वावृधु:" (न कोई बडा है, न छोटा है सभी आपस में भाई-भाई है) पवित्र वेद की ऐसी ही पावन ऋचाओ पर आधारित मानव समतामूलक एव विशुद्ध मानवतावादी था। दलितो को "हरिजन" सज्ञा देकर और इस प्रकार एक नया वर्ग बना कर उसे आज राजनैतिक खिलाड़ियो ने जो विकृत रूप दिया है उसी का परिणाम पनवारी (आगरा) जैसे दुर्भाग्यपूर्ण काण्ड और उसी का दुष्कल जातीय आधार पर आरक्षण (मण्डल आयोग) की विकटतम समस्या है। इन सबका एक मात्र समाधान आर्य समाज द्वारा प्रस्तुत गुण, कर्म स्वभाव पर आधारित वैदिक वर्ण व्यवस्था ही है, जिसमे जन्मगत जाति पाति की विद्वेष, अन्याय मूलक अमानवीय मान्यता के लिये कोई स्थान नही है। आर्य समाज को भी अभी इस दिशा मे क्रियात्मक रूप से बहुत कुछ करना है।

आज का ज्वलन्त प्रश्न होने के कारण यहाँ हम इस सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से विचार कर रहे हैं। सभी जानते है कि वर्ण चार है, तीन नही। पर कैसा दुर्भाग्य है कि राजनीति के पण्डो द्वारा "स्वर्ण" शब्द का प्रयोग मात्र ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य के लिए हो रहा है, शूद्र के लिए नही। आखिर शूद्र भी तो एक वर्ण है, वर्ण के अन्तर्गत है, फिर स्वर्ण क्यों नही ?

(क्रमश)

पंजाब में जघन्य हत्याकाण्ड की भर्त्सना

१६ जून रविवार को यहां आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना मे प्रातः १० बजे एक साधारण सभा हुई, जिसमे आर्य समाज के प्रधान श्री रणबीर जी भाटिया ने पंजाब के बिगड़ते हुए हालात की चर्चा करते हुए पंजाब सरकार तथा भारत सरकार को चेतावनी दी कि अब भी इस बिगड़ती हुई स्थिति को न सम्भाला गया तो हालात इतने बिगड़ जायेगे कि फिर इसे सम्भालना कठिन होगा।

हमारा निरंतर आग्रह रहा है कि पंजाब को सेना के हवाले किया जाये ताकि यह निर्मम हत्यायें बन्द हो सकें, परन्तु नेताओ के अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण वह लोगो की ठीक बात भी मानने को तैयार नही।

यह साधारण सभा भारत सरकार से पुरजोर प्रार्थना करती है कि पंजाब को तुरन्त सेना के हवाले किया जाये और इस बिगड़ती हुई स्थिति मे बिना विलम्ब सुधार किया जाये।

—महेन्द्र प्रताप आर्य, महामन्त्री

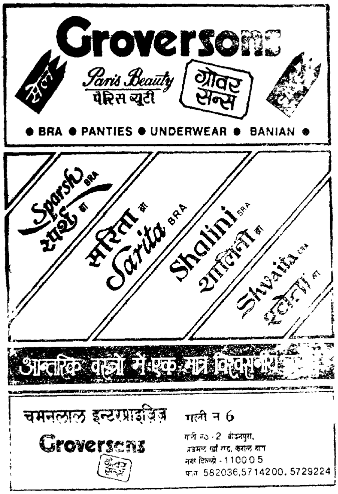
आर्य वीर प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न

भागलपुर देवरिया १५ जून। गत १ जून से ६ जून तक लगाया गया, आर्य-वीर प्रशिक्षण शिविर, श्रीमच्चन्द्रबली गुरुकुल महाविद्यालय बासुदेवपुरम् के प्रागण मे अपने भव्य समापन-समारोह के साथ सकुशल उल्लासमय वातावरण मे सम्पन्न हो गया।

जहाँ शारीरिक शिक्षण का योग्य परिज्ञान श्री अभेदमुनि जी वानप्रस्थ, हाथरस ने दिया वही बौद्धिक प्रशिक्षण श्री आर्यमुनि जी वानप्रस्थ, श्री शकरमुनि जी वानप्रस्थ, श्री नरेन्द्र लाल जी 'नैष्ठिक', डा० कस्तूरी लाल आर्य, डा० विद्यासागर आर्य व श्री रामाज्ञा 'आर्यपुत्र द्वारा दिया गया।

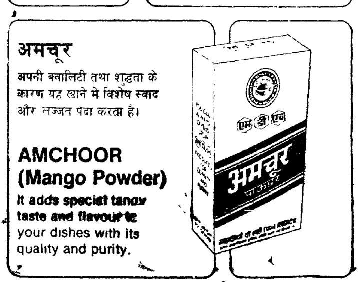
पूज्य स्वामी आनन्दबोध जी सहित देश के अनेकानेक मनीषियो द्वारा अपने संदेश गये।

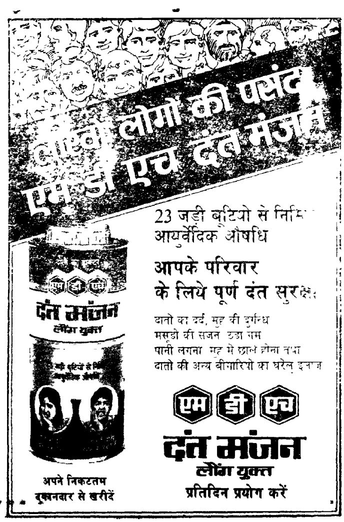
रामाज्ञा आर्यपुत्र'



200/- रुपये की खरीद पर 1 सुधाशु जी का टेप रिकार्डर कैसेट या तौलिया मुफ्त







आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N No. 32387/77 Posted at N.D.P.S O. on 4-5-7-1991
दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६
Licence to post without prepayment, Licence No U 139
पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स न० यू १३६
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ७ जुलाई, १९९१

आर्य वीर दल दिल्ली प्रदेश द्वारा

दिल्ली-हरिद्वार, देहरादून मंसूरी तक प्रचार यात्रा व भ्रमण

२२-६-९१ रात्रि १० बजे कमला नेहरू पार्क सब्जी मण्डी दिल्ली से चलकर २५-६ ९१ को रात्रि दिल्ली वापसी।

आय बन्धुओ आपको जानकर अति हर्ष होगा कि आर्य वीर दल दिल्ली प्रदेश के अभूतपूर्व शिविर के बाद एक प्रचार यात्रा का आयोजन किया गया जो कि २२-६-९१ रात्रि १० बजे दिल्ली से एक विशेष बस द्वारा चली, २३-६-९१ प्रात ५ बजे गुरुकुल ज्वालापुर पहुची। वहां पर सार्वदेशिक आर्य वीर दल के शिविर के समापन समारोह मे सम्मिलित हुए तथा वहा से दोपहर २ बजे चलकर ऋषिकेश, लक्ष्मण झूला आदि भ्रमण करके रात्रि देहरादून तपोवन वैदिक भक्ति साधना आश्रम मे विश्राम किया तथा २४-६-९१ को प्रातः भोजन करके सहस्र धारा आदि देहरादून के दर्शनीय स्थल देख कर रात्रि में मसूरी आर्य समाज में विश्राम किया तथा २५-६-९१ प्रात मसूरी भ्रमण करके रात्रि दिल्ली के लिए रवाना हुई। रास्ते मे स्थान-स्थान पर प्रचार करते हुए साहित्य बांटते इस भजन सत्सग करते हुए यह मनोरम यात्रा सम्पन्न हुई।

ब्र० राजसिंह आर्य
महामन्त्री आर्य वीर दल दिल्ली प्रदेश

आर्य युवक निर्माण व योग साधना शिविर सम्पन्न

युवा किसी राष्ट्र की चेतना व उन्नति के प्रतीक होते हैं। आर्य युवक देशोद्धार व कुरीति उन्मूलन के लिए कार्य करें। डी० ए० वी० स्कूल फरीदाबाद से हम हर प्रकार का सहयोग करेंगे। ये विचार प्रि० आर्य वीर धमला ने केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् के कोटद्वार, पौढी गढवाल मे "युवक निर्माण शिविर" समापन पर कहे। हिमालय की सुरम्य घाटियो में महर्षि कण्व की तपोभूमि व वीर भरत की जन्मस्थली गुरुकुल कण्वाश्रम मे आयोजित १० दिवसीय ग्रीष्मकालीन शिविर में आधुनिक भीम ब्र० विश्व पाल जयन्त व श्री विजय भूषण आर्य के निर्देशन में २०० युवको व योग साधकों ने योगासन, दण्ड बैठक, लाठी, जूडो-कराटे बाक्सिंग, तैराकी, फ्री स्टाईल कुश्ती व संगीत का प्रशिक्षण लिया।

आर्य प्रादेशिक सभा के महामत्री श्री रामनाथ सहगल, डी०ए०वी० प्रबन्धकर्त्री सभा के मत्री, श्री जी. पी चोपडा, दिल्ली आर्य वीर दल के महासचिव श्री ईश कुमार नारग, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट के मंत्री श्री धर्मपाल आर्य आदि ने शिविर में युवको को मार्गदर्शन दिया। शिविर सचालक परिषद् अध्यक्ष श्री अनिल कुमार आर्य थे।

अनेक आर्य नर-नारियों ने शिविर समापन में भाग लिया।

चन्द्रमोहन आर्य
महामन्त्री



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन। २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१, फोन ३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३६ | रविवार, १४ जुलाई, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

वैदिक ज्योतिर्पुञ्ज वेद शिरोमणि पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार

नई दिल्ली—सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एव चारो वेदो के भाष्यकार प० हरिशरण जी सिद्धान्तालकार के निधन पर शोक प्रकट करते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती जी ने कहा कि पण्डित जी ने वेदो की इतनी सरल एव सुबोध व्याख्या की है कि साधारण व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकता है व अपना जीवन सुधार सकता है। पं० सिद्धान्तालकार जी ने वेदो की ज्योति जलाई है और आने वाली पीढियां उन्हें इस महान कार्य के लिए सदैव स्मरण करती रहेंगी। उन्होने आगे कहा कि प० जी ने अपना सारा जीवन स्वाध्याय एव वेद प्रचार मे लगा दिया। ये विचार स्वामी आनन्द बोध सरस्वती ने पं० हरिशरण सिद्धान्तालकार को श्रद्धाञ्जलि देने के लिए आर्यसमाज मन्दिर लाजपत नगर, सी-II नई दिल्ली में ७ जुलाई को आयोजित एक शोक सभा में व्यक्त किया।

पडित हरिशरण सिद्धान्तालकार जी का बुधवार दिनांक ३ जुलाई को ९० वर्ष की आयु में निधन हुआ।

पडित जी का जन्म पाकिस्तान मे लायलपुर (फैजलाबाद) मे हुआ था। उनकी शिक्षा दीक्षा आर्य जगत् के मूर्धन्य सन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द के सरक्षण मे गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार मे हुई थी। उन्ही की प्रेरणा से पण्डित जी वहां अध्यापन कार्य करने लगे। पण्डित जी ने सारी आयु अविवाहित रहकर वेद प्रचार के लिए अर्पित कर दिया। गत ५० वर्षों से पण्डित जी देश के विभिन्न भागो विशेषकर राजधानी मे वेद प्रवचनों द्वारा जनसाधारण को लाभान्वित करते रहे।

इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने पं० सिद्धान्तालकार के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए कहा कि पण्डित जी विद्वता और सादगी के प्रतीक थे और उन्होंने सारा जीवन आर्य समाज के उत्थान एवं संगठन की भलाई में समर्पित कर दिया। उन्होने आगे कहा कि पवित्र वेद-वाणी सगच्छध्वं स वदध्व स वो मनासि जानताम्। देवा भाग यथापूर्वे स जना .। उपासते।

इस वेद मन्त्र के अनुसार हमे भी प्रेम पूर्वक मिल-जुल कर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये और आर्य समाज के काम को आगे बढाने मे सहयोग देना चाहिए। डा० धर्मपाल ने आगे कहा कि कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज के कार्य एव वेद प्रचार के काम मे सहयोग देता है तो हमारा यह नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उनकी मदद करें। यही हमारी सिद्धान्तालकार जी के प्रति सच्ची श्रद्धान्जलि होगी।

पण्डित सिद्धान्तालकार जी एक उच्च कोटि के विद्वान् ही नही बल्कि एक सन्त भी थे। पडित जी हिन्दी, सस्कृत, उर्दू, पजाबी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान थे। गणित, विज्ञान आदि अनेक विषयों में उनकी अच्छी पैठ थी। पण्डित जी के मन मे वेद प्रचार कार्य के लिए अन्तर्वेदना थी। वे जहा भी जाते आर्य नर-नारियों को नियमित वेद पाठ की प्रेरणा देते थे। ये विचार आर्य जगत के सम्पादक पण्डित क्षितीश वेदालकार, पूर्व नगर पार्षद डा० प्रशान्त वेदालकार, आर्य प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल, स्वामी जगदीश्वरानन्द, प० नरेन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री प्रियतमदास रसवन्त पूर्व पार्षद डा० रामलाल, श्रीमती शकुन्तला आर्य, श्री अजय मल्ला, श्रीमती कृष्णा चड्ढा ने विभिन्न धार्मिक एव सास्कृतिक साहित्यिक सगठनो की ओर से पण्डित हरिशकर सिद्धान्तालकार जी को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए व्यक्त किए।

इस सभा में पण्डित हरिशकर सिद्धान्तालकार द्वारा वेद भाष्य के प्रकाशन कार्य को पूरा करने हेतु आर्य प्रादेशिक सभा, दिल्ली आर्य प्रान्तीय महिला सभा, आर्य समाज शालीमार बाग, आर्य समाज लाजपत नगर आर्य समाज नूना मण्डी आदि की ओर से धन राशि देने एव हर प्रकार की सहायता देने की घोषणा की गई।

—विमल कान्त शर्मा

श्री राजेन्द्र जिज्ञासु आर्य साहित्य पुरस्कार से सम्मानित

आर्य समाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा अपनी पुरस्कारो की शृखला को आगे बढ़ाते हुये इस वर्ष "श्री मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार" समारोह का आयोजन किया गया। यह पुरस्कार आर्य जगत के जाने माने लेखक श्री प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु जी को देकर सम्मानित किया गया। आर्य समाज सान्ताक्रुज की ओर से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पू० स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती ने जिज्ञासु जी को ११०००/- की थैली भेंट की तथा पत्रकार श्री धर्मवीर जी भारती ने अभिनन्दन पत्र भेंट किया।

समारोह में बोलते हुये सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध श्री सरस्वती ने कहा कि जिज्ञासु जी ने आर्य समाज मे साहित्य सृजन का अद्वितीय कार्य किया है वह एक मनस्वी लेखक ही नहीं अपितु निर्भीक वक्ता भी हैं जिज्ञासु जी ने अपने साहित्य के द्वारा जो प्रेरणा दी है वह बहुत ही प्रशसनीय है।

स्वामी जी ने इस अवसर पर दृढ़ता पूर्वक कहा कि आर्य समाज अपने कार्य को आगे बढ़ाता रहेगा। महर्षि दयानन्द के उद्देश्यो की पूर्ति के लिये हम जीवन भर सघर्ष करते रहे हैं और आगे भी करते रहेगे। सार्वदेशिक सभा ने दिल्ली मे एक विशाल गो सम्वर्धन दुग्ध केन्द्र जिसमें १००० गायों को रखने की व्यवस्था है का निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया है इस योजना की सफलता मे सभी आर्य जनों का सहयोग अपेक्षित है। स्वामी जी ने कहा कि हमे विद्वानों का सम्मान सदा करना चाहिये ताकि आने वाली पीढी इनका अनुकरण करती रहे मैं आर्य समाज सान्ताक्रुज का धन्यवाद करता हू कि इसने यह सराहनीय कार्य किया।

इस अवसर पर श्री रामसिंह जी राठौर पं० राजगुरु जी शर्मा डा० सोमदेव जी शास्त्री के भी भाषण हुये। यह समारोह समाज के वरिष्ठ उपप्रधान कैप्टन देवरत्न आर्य के कुशल संयोजन तथा अथक परिश्रम के फलस्वरूप पूर्ण रूपेण सफल रहा।

परामर्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक— सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

आर्य समाज : आज के परिप्रेक्ष्य में

— आचार्य प्रेमभिक्षु: एम० ए०, सम्पादक "तपोभूमि" —

"यथेमा वाच कल्याणी मावदानि जनेभ्य:। ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥" इस पवित्र वेद मन्त्र तथा अन्य अनेकों मन्त्रों मे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की भांति ही शूद्र और स्त्री अर्थात् सभी मनुष्य मात्र को समान रूप से वेदाध्ययन की व्यवस्था है महर्षि मनु तो सुस्पष्ट घोषणा करते हैं–शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्" अर्थात् शूद्र कुल मे उत्पन्न व्यक्ति (अपने गुण-कर्म स्वभावानुसार) ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है तथा ब्राह्मण कुलोत्पन्न शूद्रत्व को। हमारा इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पड़ा है। शूद्र कुलोत्पन्न बाल्मिकी, गणिका (वेश्या) के गर्भ से उत्पन्न वशिष्ठ क्या ऋषि, महर्षि, महामुनि (कुलगुरु) नही बन गये ? गोत्र विहीन जाबाहि पुत्र सत्यकाम ब्राह्मण बन जाता है। और ऋषि या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न रावण तो शूद्रत्व से भी पतित होकर अनार्य (दस्यु) बन गया है। राम क्षत्रिय होकर सर्व पूज्य बन गये तथा क्षत्रिय कुलोत्पन्न विश्वामित्र राजर्षि और फिर ब्रह्मर्षि बने।

पवित्र वेद में चारो वर्णों की तुलना राष्ट्र-पुरुष के विभिन्न अंगो से की गई है—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू: राजन्य: कृत:। उरु तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥ यजुर्वेद ३१–११

यहा ब्राह्मण को राष्ट्र पुरुष का मुख, क्षत्रिय को उसकी भुजा और वैश्य को उरु (पेट-मध्य भाग) तुल्य कहा है। शूद्र को राष्ट्र पुरुष को खड़ा रखने वाले के तुल्य माना गया है। वह राष्ट्र पुरुष का आधार है। इसी से सभी चरण-वन्दना ही करते हैं। पैर मे कांटा लगता है तो आंखो मे आसू आता है। पौराणिक काल मे भी राष्ट्र की रक्षा करने वाली "अष्ट भुजी दुर्गा" की कल्पना (कार्टून) द्वारा बताया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इनमे से प्रत्येक के दो-दो हाथ मिल कर जय "अष्टभुजी दुर्गा" के रूप मे सिंह वाहिनी अर्थात् एक शक्ति बन जाते हैं तभी राष्ट्र रक्षा सम्भव है।

इन सभी उद्धरणो मे कही भी छोटे-बड़े (ऊच-नीच) की दुष्ट कल्पना नही है। महाभारत के पश्चात् मध्य युग या वाम मार्ग काल मे जब हमारा नाम-धाम, एक उपास्य देव, एक धर्म ग्रन्थ, एक धर्म एक गुरु मन्त्र, एक अभिवादन आदि सभी कुछ उलट गया तभी सामाजिक क्षेत्र में भी "पूजिय विप्रशील गुण हीना शूद्र न पूजिय वेद प्रवीना।" जैसी अवैदिक मान्यतायें चल पडीं। यज्ञों मे पशु बलि नारी-अपमान, जाति पाति की स्थिति तभी बनी। महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध जैसे युग पुरुषो ने इन अवैदिक मान्यताओं के विरुद्ध स्वर ऊचे किए, पर पवित्र वेद से परिचय न होने के कारण कालान्तर मे मूर्ति पूजा के एक अन्य भयकर रोग को और साथ लेकर वही विकृतिया नये रूप मे पुन: आ गई। सन्त कबीर, भक्त रैदास, दाऊ दयाल, गुरु नानक आदि ने पुन: इन बुराइयो के विरुद्ध स्वर बुलन्द किए, पर पौराणिक मतवाद के रूप मे मनुष्य का स्वार्थ फिर हसने लगा और आज तो राजनीति की गोटी लाल करने के लिए भाई को भाई से अलग करके सडको पर युद्ध-रत किया जा रहा है। मण्डल आयोग योजना के आरक्षण के पीछे यही "फूट डालो और राज करो" की दुर्नीति चल रही है। इसका एक मात्र समाधान, जैसा कि पहले भी बताया है, गुण कर्म आधारित वेद विहित एव योगेश्वर कृष्ण द्वारा गीता मे अनुमोदित वैदिक वर्ण व्यवस्था है।

जन्मगत जाति मूलक हमारी इस दुर्बलता का लाभ विदेशी आक्रान्ताओं मुसलमान, ईसाईयो ने भरपूर उठाया। ईश्वर की महती कृपा से युगो के बाद महर्षि दयानन्द आये। उन्होंने सदियो, सहस्राब्दियो के बाद वैदिक शखनाद किया। "वेदो की ओर लौटो" का सन्देश दिया। जो हम भूल गये थे उसे पुन: याद कराया और अभिनव क्रान्ति के साथ नवयुग आया। उसी क्रम मे शुद्धि संगठन के स्वरूप स्वर गूजे। वैदिक धर्म का द्वार पुन: एक बार मानव मात्र के लिए खुला। स्वामी श्रद्धानन्द के सफल नेतृत्व में जो लाखो शुद्धियां हुई—हमारे ही जनपद मथुरा में उन्दी, नौगाव, तरौली, तेहरा आदि गाव के गांव नव मुस्लिमो के शुद्ध हुए वे आज भी हिन्दु समाज के गौरवमय अग बन राष्ट्रीय धारा के साथ अभिन्न है। पिछले दिनो ही मथुरा जनपद के नगला तुरावई (छोटी कोसी) गाव को शुद्ध किया गया। करसौरा उस पार के जाटव बन्धुओ की ईसाइयत के धार से रक्षा की गई। बाजना व चन्दूनगला मे श्री दयानन्द सेवाश्रम चला कर अराष्ट्रीयकरण का सफल सामना किया गया। उत्कल प्रदेश मे गत वर्ष ही स्वामी धर्मानन्द जी (गुरुकुल आमसेना) द्वारा ७ हजार सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान मे हुई। इतना ही नहीं मुसलमानों, ईसाइयों के कई प्रसिद्ध विद्वान् भी पिछले दिनो वैदिक विद्वान के रूप में दीक्षित हुए हैं, जिनमें श्री पं० जयप्रकाश जी आर्य डा० आनन्द सुमन, पं० महेन्द्रपाल आर्योपदेशक, प० जीवन सिंह एवं पं० सत्यदेव आर्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी सर्वात्मना वैदिक सद्धर्म प्रचार में सलग्न हैं ?

जहां तक जाटव बन्धुओं का सम्बन्ध है ये तो हमारे समाज के अभिन्न अग हैं। फिर सिद्धान्त: आर्य समाज पूर्ण समतावादी और मानवतावादी है ? जैसा कि विवेचन किया जा चुका पवित्र वेद के एक मन्त्र–"समानी प्रपा सहवोऽन्नभाग: समाने योक्त्रे सहवोयुनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभि मिवाभित:" में बताया है कि जैसे पहिये मे धुरी से परिधि तक लगे सभी आरे समान होते हैं वैसे ही प्रभु देव की पावन प्रजा रूप सभी मानव समान हैं। प्रभु कहते हैं—तुम्हारी (प्रपा) थाऊ समान हो, तुम्हारा (अन्नभाग:) अन्न सेवन समान हो। तुम सभी को समान रूप से ससार रूप के जुए में छोडता हू।

आर्य समाज के गुरुकुलों मे शिक्षित अनेक जाटव बन्धु आज शास्त्री और आचार्य हैं। अनेको उपदेशक, भजनोपदेशक तथा सन्यासी है, जिनकी चरण वदना कर लोग स्वय को धन्य समझते है। बुरा हो आज की कुर्सीवादी राजनीति का जिसने आचार्य शास्त्री स्नातक बने आर्य विद्वानों को भी सुरक्षित सीट (आरक्षण) के लालच में पुन: जाटव मेहतर आदि की श्रेणी मे खडा कर दिया। इस प्रकार आज की दुष्ट राजनीति ने जन्मगत जातिवाद को सींचा है।

आर्य समाज आज भी दलितोद्धार-पतितोद्धार, मानव निर्माण और स्वराज सुराज बनाने के अपने राष्ट्रोद्धार और शोध कल्याण कार्य में लगा है। हां आर्य जनों द्वारा यह मान लिए जाने पर कि बड़े अंशों मे उनके सुधार कार्य को सभी ने अपना लिया है, उनमें कुछ शिथिलता आई है। आर्य समाज के अनेको ज्वलन्त जीवनो के राजनीति मे चले जाने से भी शिथिलता आई है। पर अमेरिकन विद्वान डेविड महोदय के शब्दों मे—"आर्य समाज आग की वह भट्टी हैं, जिसे स्वामी दयानन्द ने जलाया था और उसमे ससार भर का (सांसारिक) कूड़ा कचरा जल कर भस्म सात हो जायेगा। झीनी सी राख की (शैथिल्य) की परत उस पर आ गई।

महर्षि दयानन्द के १०७वे बलिदान पर्व पर हम भी आलेख के राही बनने का सकल्प ले राष्ट्र और मानवता के कल्याण का पथ प्रशस्त करें। और कवि के शब्दो मे—

'एक ही दीप बुझ गया आज ही अगणित जीवन दीप जला कर।
मेटे हम अज्ञान तमिस्त्रा अपनी जीवन ज्योति जला कर ॥"

पुस्तक समीक्षा

न्याय दर्शन (गौतम मुनि प्रणीत)

भाष्यकार—तार्किक शिरोमणि, स्व० स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

सस्थापक—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर हरिद्वार

महर्षि दयानन्द सरस्वती के उपरान्त आर्य जाति को दर्शनो की सरल-तम प्रश्न उत्तर के रूप में जो व्याख्या साधारण मति वाले मानव को लिख-कर दी थी। वह अपने में अनुपमेय है।

पूज्य स्वामी जी के दर्शनों की सरल व्याख्या को पढकर साधारण से इन्सान में भी बुद्धि का प्रकाश हुआ है उनके भाषानुवाद से एक आवश्यकता की पूर्ति हुई है।

समय समय पर यह दर्शन भाष्य रूप मे जनता के समक्ष आते रहे हैं परन्तु तार्किक शिरोमणि स्वामी दर्शनानन्द जी के तर्क तीरो के सामने बड़े-बड़े महारथी भी धराशायी हुए हैं।

वैदिक वाङ्मय के पश्चात षड्दर्शनो का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। यह सूत्रो में रचनाकर साधारण मनुष्यो मे ज्ञान वर्धन का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

हम गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के अधिकारी गणों का धन्यवाद करते हैं जिन्होंने अपने कुलपिता के साहित्य को जनता तक पहुंचाने का सकल्प लिया है।

आशा है पाठकवृन्द इस दर्शन का आनन्द प्राप्त कर प्रकाशक के उत्साह का वर्धन करेंगे।

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

सम्पादकीय

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का जन्म कमालिया मे श्री लक्ष्मणदास के घर मे हुआ। आपने गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय से सन् १९२२ में विद्यालंकार तथा १९२३ मे सिद्धान्तालंकार की उपाधि प्राप्त की। वही पर आप अध्यापक भी रहे। कुछ समय आपने गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में भी अध्यापन कार्य किया। आपका अधिक समय दिल्ली में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार मे बीता। आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे। आप अच्छे व्याख्याता एवं लेखक है। आप संस्कृत व्याकरण के स्वनामधन्य पण्डित और वेदो के उद्भट विद्वान है। आपने चारों वेदो का भाष्य किया है।

आपको आर्य समाज शान्ताक्रुज बम्बई ने १९९० मे वेद-वेदांग पुरस्कार से सम्मानित किया था। गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय ने इसी वर्ष १३ अप्रैल १९९१ को विश्वविद्यालय की सर्वोच्च मानद उपाधि विद्यामार्तण्ड से विभूषित किया था।

आपके प्रमुख लेखकीय कार्य है—सध्या मन्त्र विशेष व्याख्यान (१९५० ई०) प्रार्थना मन्त्र, ईशोपनिषद् व्याख्या, सामवेद भाषा भाष्य (२०२९ वि०), सामवेद : उपासना-१ से १६ मन्त्र पर्यन्त (२०१२ वि०), प्रभु के चरणो में (२०३२ वि०), ऋग्वेद के ऋषि (१९५५ ई०), वैदिक परिवार व्यवस्था (२०१३ वि०), ऋग्वेद भाष्य—भगवती प्रकाशन दिल्ली से खण्ड: प्रकाशित।

वेद हमारी संस्कृति के मूलाधार हैं। वेद परमात्मा की दिव्य वाणी है। वेद हमारे प्राण और जीवन का सर्वस्व है। समय के साथ-साथ संसार मे वेद के मर्म को, वेद के सन्देश को भुला दिया। १९वी शताब्दी मे आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद का पुन: प्रचार-प्रसार किया।

'वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'

इस आदेश का महर्षि के अनुयायियो ने पालन किया। पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने भी इस दिशा मे कार्य किया। उन्होने चारो वेदो का अत्यन्त सरल भाषा मे भाष्य किया। उन्होंने कठिन समझे जाने वाले वेदो को सरल बना दिया। उन्होंने चालीस वर्ष तक कठोर साधना करके वेदो का भाष्य लिखा।

आज पंडित जी इस संसार मे नही है। उनका दिया प्रकाश हमारे साथ है। हमारा कर्त्तव्य है कि इस प्रकाश को हम दूर-दूर तक फैलाए। उनके दिए ज्ञान को प्रकाशित-प्रसारित-प्रचारित करे।

श्रद्धेय पंडित जी के प्रति विनत श्रद्धांजलि।

—डा० धर्मपाल

- मैं सन्यासी हूं, तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नही करूंगा। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे।
- योगी जनो का यह दृढ़ विश्वास है कि अविद्या की तमो-राशि को सत्य का सूर्य अकेला ही तुरन्त जीत लेता है। जो मनुष्य पक्षपात का परित्याग करके, केवल लोक हित के लिए ईश्वर की आज्ञानुसार सत्योपदेश करता है उसे भय कहा है?
- सन्यासीजन अपनी रक्षा निमित्त गढ और गुहा का आश्रय नही ढूंढा करते। हमारा रक्षक तो केवल एक भक्त वत्सल भगवान है।
- देखो जिसे परमेश्वर न मारे उसे मारने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता।

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(७ जुलाई, ९१ के अंक से आगे)

चण्डीगढ़ में मेरा सामाजिक जीवन—

चण्डीगढ़ में मेरा आर्य सामाजिक जीवन नितान्त शान्त, स्थिर तथा घटनाविहीन रहा है। मैं यहां आते ही आर्य समाज सैक्टर १६ का सभासद् बन गया। मुझे इस आर्य समाज की अन्तरंग का सभासद् भी चुन लिया गया। कालान्तर मे इस आर्यसमाज ने मुझे प्रतिष्ठित सभासद् बना कर सम्मानित किया। मैं लगभग २ वर्ष तक आर्य प्रादेशिक सभा का प्रतिष्ठित सभासद् भी रहा तथा एक बार उक्त सभा के वार्षिक साधारण अधिवेशन मे सम्मिलित हुआ। स्मरण रहे कि सैक्टर १६ का आर्यसमाज प्रादेशिक सभा से ही सम्बद्ध है।

चण्डीगढ के प्राय: सभी समाजो में मैं उपदेश तथा प्रवचन हेतु जाता हूं। सैक्टर १६ तथा २२ की आर्य समाजो के साप्ताहिक सत्संगो, पर्वों तथा विशिष्ट आयोजनो मे जाने का क्रम तो चलता ही रहता है। शिवरात्री, जन्माष्टमी, आर्य समाज स्थापना दिवस तथा ऋषि दयानन्द निर्वाण के पर्व चण्डीगढ की विभिन्न आर्यसमाजें सम्मिलित रूप से मनाती है और ये आयोजन क्रमश: सैक्टर २२, १६, २७ तथा ७ की आर्य समाजो मे होते हैं। सैक्टर १६, ३१, २७, २२ तथा ७ मे मैंने यदा-कदा साप्ताहिक कथायें भी प्रस्तुत की हैं। चण्डीगढ निवास का एक अतिरिक्त लाभ यह भी मिला है कि यहा से समीपवर्ती पंजाब, हरियाणा तथा हिमाचल प्रदेश के स्थानो में यदा-कदा प्रचारार्थ जाना सुगम सुविधापूर्ण रहता है। फलत: विगत १० वर्षों मे मैं जम्मू, मंडी, शिमला, मनाली, अमृतसर, जालंधर लुधियाना, अबोहर, पटियाला, रायपुरा, फगवाडा अम्बाला छावनी और शहर, कुरुक्षेत्र, करनाल, पानीपत, हिसार, रोहतक, पचकूला आदि नगरो मे प्रचारार्थ जाता रहा हूं।

चण्डीगढ मे पं० आसूराम जी आर्य ने विगत कई वर्षों से विश्ववेद परिषद् की प्रवृत्तियो को स्वयं पुरुषार्थ से ही जागृत कर रखा है। मेरे चण्डीगढ मे आने के साथ ही परिषद् ने मुझे अपना प्रधान चुन लिया। परिषद् की एक विशिष्ट प्रवृत्ति पूर्णिमा को किसी परिवार मे किए जाने वाला पारिवारिक सत्संग का कार्यक्रम होता है। प्राय: इस कार्यक्रम मे भाग लेता हू और प्रवचन भी करता हू।

दयानन्द शोध पीठ की प्रवृत्तियां—

चण्डीगढ मे रह कर मैंने विगत आठ वर्षों मे विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध पीठ की अध्यक्षता की। इस अवधि मे निम्न शोधार्थियो ने अपना शोध कार्य सम्पन्न कर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

१ डा० वेदपालवर्णी—
शतपथ ब्राह्मण तथा दयानन्दीय यजुर्वेद भाष्य का तुलनात्मक अध्ययन।

२ डा० (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी—
दयानन्दीय यजुर्वेद भाष्य मे देवता तत्त्व।

३ डा० धर्मदेव शर्मा—
दयानन्द कृत संस्कार विधि तथा गृह्यसूत्रो का तुलनात्मक अध्ययन।

४ डा० राजपाल सिंह—
षड्दर्शनो को आर्य समाज के दार्शनिक विद्वानो की देन।

५ डा० राजपाल जैन
मनुस्मृति प्रतिपादित राज धर्म।

६. डा० राजकुमार—
प्राच्य (प्राचीन) व्याकरण साहित्य को महर्षि दयानन्द और आर्य समाज की देन।

७ डा० ओमप्रकाश शर्मा—
हिन्दी के धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य को आर्य समाज की देन।

८. डा० वीणा कल्ला—
हिन्दी काव्य पर दयानन्दीय विचार धारा का प्रभाव।

(क्रमश.)

वर्णाश्रम - धर्म

— भगवतीप्रसाद गुप्त —

भू. पू. प्रधान मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा मुम्बई

प्रसन्नता का विषय है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित गत ऐतिहासिक आर्य महासम्मेलन के अवसर पर सभा ने अपने घोषणा पत्र मे समाज के सर्वांगीण विकास के साथ साथ समस्त विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए वेदो मे वर्णित वर्णाश्रम पद्धति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को इसके प्राचीन शुद्ध रूप मे लागू करने का आह्वान किया है।

आज से लगभग २३ वर्ष पूर्व विक्रम स. २०२४ मे बोधरात्रि के शुभवसर पर पू० स्वामी समर्पणानन्दजी पूर्वनाम प० बुद्धदेवजी विद्यालंकार ने "कायाकल्प" नाम की एक अमूल्य पुस्तक में वेदादि शास्त्रो एव महर्षि दयानन्दजी सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था का प्राचीन स्वरूप अंकित किया है जो ससार के समाज शास्त्रियो की आखे खोलने वाला है किन्तु दुर्भाग्य है कि आर्य समाज ने स्वय उसके स्वरूप को नही अपनाया तब और देशों की बात क्या कहनी।

स्वामीजी ने लिखा है कि प्राचीन वर्णव्यवस्था को लागू कर प्राचीन आर्यों ने करोडो वर्ष भूमण्डल पर चक्रवर्ती राज्य किया है यह व्यवस्था जहा मानव को उसके दु खो की अत्यन्त निवृत्तिकर आनन्द मग्न करती है वहा समाज को भी सुखो से भरपूर कर देती है यदि आर्य समाज इसे आज अपनाले तो आर्यावर्त का विगत स्वर्णिम इतिहास पुनर्जीवित हो सकेगा और फिर समस्त विश्व का मानव भी इसे अपनाये बिना न रहेगा। वेद के "कृण्वन्तोविश्वमार्यम्" एवम् "अहम् भूमिऽददाय आर्याय" के सदेश व आदेश भी तभी चरितार्थ हो सकेगे। छान्दोग्य उपनिषद् मे महाराजा अश्वपति जी की घोषणा कि "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यप:। नानाहिताग्निर्ना विद्वान न स्वैरी स्वैरिणी कुत: ।।छा. उ. ५/११/५

न मेरे राज्य में कोई चोर है न कजूस न शराबी, न अग्निहोत्र न करने वाला है, न अविद्वान है, न व्यभिचारी है व्यभिचारिणी स्त्री तो हो ही कहा सकती है" तभी चरितार्थ हो सकी थी। सत तुलसीदास जी का कथन कि रामराज्य मे कोई दु:खी नहीं था :—

देहिक दैविक भौतिक तापा
रामराज्य नहि कोऊ दु ख व्यापा

तथा आदि कवि बाल्मिकि ने

बाल्मीकि रामायण मे लिखा है कि

ब्राह्मणा क्षत्रिया. वैश्या: शूद्रा: लोभ विवर्जित:
सर्वे लक्षण सम्पन्ना सर्व धर्म परायणा.

बा. रा. युद्ध का सर्ग १२८

अर्थात् रामराज्य मे समस्त समाज गुण कर्म स्वभावानुसार चार वर्णों मे विभक्त था। ब्राह्मणादि चारो वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यो मे सलग्न, धार्मिक कर्मों से सम्पन्न तथा लोभ वृत्तिसे रहित थे रामराज्य का गौरव वर्ण व्यवस्था को सही रूप मे अपनाने से ही था।

"कायाकल्प" पुस्तक के स्वाध्याय से प्रेरित हो वर्णाश्रम व्यवस्था की प्राचीन पद्धति पर कुछ लिखने का प्रयास किया जा रहा है किन्तु विषय की सूक्ष्म विवेचना एव उसका रहस्य जानने के लिए उस पुस्तक का स्वाध्याय आवश्यक है।

महर्षि ने धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष प्राप्ति को मानवजीवन का लक्ष्य बताया है तथा मोक्ष के अर्थ दु.खो से छूटकर आनंदित होना कहे हैं तथा दर्शनकारो का भी यही मत है यथा साख्य का कहना है कि अथ त्रिविध दु.खात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थ: सा. १/१

अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इस त्रिविध दु:ख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है। न्याय का कहना है कि:—

'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग." न्याय अ. १/आ १/सू. २२

जो दु:ख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहाती है। दु:ख से द्वेष करना मनुष्य का स्वभाव भी है यथा

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दु ख ज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति न्याय १/१/१

दु:ख से द्वेष जीवात्मा की पहिचानो मे से एक है।

समाज मे भी लोग समष्टिरूप में अज्ञान, अन्याय एव अभाव दु:खों से पीड़ित होते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति ससार में व्यक्तिगत एव समष्टिगत दु.खों से अपने को ग्रसित पाता है। महर्षि एव शास्त्र दु:खो को दूर करने का उपाय "धर्म" को बता रहे हैं जैसे—

यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि . स: धर्म । वैशे. अ. पा. १/सू. २

जिसके आचरण से ससार मे उत्तम सुख और मोक्ष (दु ख से छूटना) की प्राप्ति होती हैं वह "धर्म" है अत महर्षि ने इस उद्देश्य पूर्ति के लिए ऋ. भा. भूमिका में वर्णाश्रम धर्म के पालन का आदेश दिया है जिसकी संपुष्टि वेदों द्वारा की है। और स प्र समु ८ मे कहा है कि —

आदि सृष्टि मे एक मनुष्यजाति थी पश्चात् "विजानीह्यार्यान्ये च दस्यव:" यह ऋग्वेद (१/५१/८) का वचन है। श्रेष्ठो का नाम आर्य, विद्वान, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए। "उत-शूद्रे उतार्ये" अथर्ववेद (१९/६२/१) का वचन आर्यों मे पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य और मूर्खों का नाम शूद्र।

महर्षि ने यजु० वेद अ ३१ के १० व ११ मत्र, प्रश्नोत्तर रूप मे दिये हैं:—

यत्पुरुष व्यदधु: कतिधा व्यकल्पयन्।
मुख किमस्यासीत्कि बाहूकिमूरू पादा उच्यते ।। यजु० ३१/१०

अर्थात् पुरुष उसको कहते हैं जो सर्व शक्तिमान ईश्वर कहाता है जिसके सामर्थ्य को अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योकि उसमें चित्र-विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओ से जिसका कथन करते हैं। इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणो से इस ससार में क्या उत्पन्न हुआ है बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्या गुणो से इस संसार मे कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है व्यापार आदि मध्यम गुणो से किसकी उत्पत्ति हुई है मूर्खपन आदि निम्न गुणो से किसकी उत्पत्ति होती हैं इन चारो प्रश्नों के उत्तर ये हैं :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:
ऊरूतदस्य यद्वैश्य.पद्भ्या शूद्रो अजायत। यजु० ३१/११

इस पुरुष की आज्ञानुसार जो विद्या, सत्य भाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है। वह मुख्य कर्म और गुणों से युक्त होने से मनुष्यो मे उत्तम कहाता है और जो ईश्वर के बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणो से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। खेती व्यापार और सब देशो की भाषाओं को जानना तथा पशुपालनादि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। जैसे पग सबसे नीचे का अग है वैसे मूर्खता आदि निम्न गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एव शूद्रता चार प्रकार के विभिन्न गुण भिन्न-भिन्न मनुष्य में, परमात्मा की सृष्टि से उत्पन्न होते हैं। यही बात गीता मे कृष्णजी महाराज ने कही है कि :—

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्ट गुणकर्म विभागश.
तस्य कर्तारमपि मां विद्धय कर्तारमव्ययम् अ० ४/१३

हे अर्जुन धर्म के स्रष्टा दो प्रकार के होते हैं। एक सद्गुण कर्त्ता एक अव्यय

(शेष पृष्ठ ५ पर)

वर्णाश्रम - धर्म

(पृष्ठ ४ का शेष)

कर्ता। वर्तमान युग में लोग जन्म के मिथ्याभिमान मे पड़कर चातुर्वर्ण्य के असली स्वरूप को भूल गये। चातुर्वर्ण्य का असली स्वरूप तो गुण कर्म विभाग पर आश्रित था वर्तमान युग में मैं स्रष्टा हू इसलिए मैंने दुर्योधन के घर भोजन स्वीकार न करके विदुर के घर भोजन किया और तुम जानते हो कि जन्म के मिथ्याभिमान में पड़कर शिशुपाल मुझे गोप कहता था, क्षत्रिय नही मानता था किन्तु मैं तो इस जन्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य को नही मानता और न भगवान कृष्ण द्वैपायन मानते हैं क्योंकि इस चातुर्वर्ण्य का असली कर्त्ता तो वेद का कर्ता भगवान है। वह इस गुणकर्म विभागश: चातुर्वर्ण्य का अव्यय कर्ता है। मैं यद्यपि इस युग मे इस गुण-कर्मानुसारिणी वर्ण व्यवस्था का कर्त्ता माना जाता हू परन्तु वस्तुत: मैं इसका कर्त्ता नही हू मैं तो पुनरुज्जीवित करने वाला होने के कारण कर्त्ता कहलाता हू इसका असली कर्त्ता प्रभु हैं, मैं नहीं।

मनुजी के अनुसार जन्म से सभी मनुष्य शूद्रभाव को प्राप्त होते हैं 'जन्मना जायते शूद्र: संस्कारात् द्विजोच्यते" अर्थात् उनके पूर्वजन्म के गुण प्रसुप्त अवस्था में रहते हैं जो आचार्य के सानिध्य मे उदय होते है तथा नवीन संस्कार भी डाले जाते हैं जिसकी पूर्ण उपलब्धि पर उसे द्विज की संज्ञा दी जाती है। महर्षि ने अपनी संस्कारविधि में इनका सविस्तार विवेचन किया है तथा उपनयन संस्कार द्वारा वर्ण-व्यवस्था की आधारशिला रखी है।

महर्षि ने निर्देश किया है कि पूर्वजन्म के संस्कारो एव जन्म से ही माता-पिता द्वारा बालक को शिक्षित करते करते जब वह बालक व बालिका उचितानुचित व कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझने की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं और माता-पिता भी उसकी योग्यता को भाप लेते हैं तो वे उसका उपनयन संस्कार घर पर कर उसे आचार्य के संरक्षण मे रखने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट करने ले जाते हैं जहाँ आचार्य उसकी परीक्षा कर उसका पुन: उपनयन संस्कार करता है और उसे उसकी योग्यतानुसार किसी वर्ण के व्रत मे विद्याचिन्ह यज्ञोपवीत पहिनाकर अपने साथ जोड़ लेता है। बालक को जीवन-यज्ञ में आगे बढने का अधिकार व आदेश देता है। आचार्य कहता है :—

"यज्ञस्य यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि"

हे शिष्य मैं यज्ञ के प्रतिनिधि यज्ञोपवीत से तुझे बांधकर अपने पास रखता हू। इस प्रकार आचार्य बालक को अपने संरक्षण में इस प्रकार रख लेता है जैसे माता अपने गर्भ मे संरक्षण एव उसे संस्कारित करती है। महर्षि का स प्र समु ३ में यह लिखना कि "प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर मे हो दूसरा पाठशाला मे आचार्य कुल में" उसका यही तात्पर्य था।

गुरुकुल में प्रविष्ट होने पर बालक यह समझ लेता है कि उसके जीवन का उद्देश्य दु:खो की अत्यन्त निवृत्ति करना है और महर्षि के आदेशानुसार घर में माता-पिता द्वारा गायत्री मन्त्र के उपदेश एव जपादि से उसने समझ लिया है कि दु:ख नाशक एवं सुख स्वरूप तो परमात्मा ही है उसे ही समर्पण करना योग्य एव उसी के अविद्यादि क्लेशनाशक "भर्ग" स्वरूप का ध्यान व धारण करना है। स प्र समु. ७ मे महर्षि के कथनानुसार ईश्वर की स्तुति प्रभु के गुण कर्म स्वभाव को अपनाना है। ईश्वर का स्मरण सदा बना रहे इसके लिए अपने व पराये दु:खो को सदैव अपने समक्ष रखना आवश्यक है क्योंकि मनुष्य अपने स्वभावानुसार दु:ख में ही प्रभु को याद करता है जैसा कि उसने यह कहावत सुनी है कि "दु:ख में सुमरिन सब करें सुख में करे न कोय" कृष्ण जी ने भी गीता में कहा है कि उनके भक्तो में एक बडी संख्या उन लोगो की है जो दु:खी हैं। और वेद का आदेश है कि "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽनाय" का उपदेश भी उसे मिला है। अर्थात् उस परमेश्वर को जान व प्राप्त करने से ही क्लेशो से छुटकारा पाकर मोक्षानन्द प्राप्त किया जा सकता है अन्य कोई दूसरा मार्ग नही है—

यजु० ३१/१८

वैदिक सम्पत्ति के रचयिता प० रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं :— "जब तक "मोक्ष" को जीवन का लक्ष्य नहीं स्थिर किया जाता तब तक समाज की कोई व्यवस्था सफल नही हो सकती।" इस प्रकार बालक इस निश्चय के साथ कि उसे ब्रह्म का ही साक्षात्कार करना है, अपनी योग्यतानुसार ब्रह्म के किसी भी गुण में आचार्य की सहायता से उसे दीक्षित होना है आचार्य से प्रार्थना करता है कि:—

"ब्रह्मचर्यमागाम् ब्रह्मचार्यसानि"

ब्रह्मचर्य के लिए मैं आया हूं, (ब्रह्मचारी बनाइये) वेद में भी लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य: स्वराभरत। अथर्वका.११/अ.३/म १९

अर्थात् ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान लोग जन्म मरण को जीत के मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाते हैं जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होके सब लोकों का प्रकाश करने वाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सबको प्रकाशित कर देता है। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमो मे उत्तम हैं।

आचार्य की देखरेख में निरंतर अभ्यास करते करते बालक २५वे वर्ष की आयु मे तथा बालिका १६वे वर्ष तक ब्रह्म के किसी न किसी गुण (ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व अथवा वैश्यत्व) मे दक्षता प्राप्त कर लेना था जिसकी परीक्षा कर आचार्य उसके वर्ण की घोषणा करता था तथा तदानुसार ब्रह्मचारी दूसरे आश्रम मे प्रवेश करता था महर्षि स. प्र समु ४ में लिखते हैं —

यह गुण कर्मों की व्यवस्था कन्याओ के १६ वें वर्ष और पुरुषो की पच्चीस वें वर्ष की परीक्षा मे नियत करनी चाहिए। वर्णों के गुण तथा कर्मों का वर्णन करने के पश्चात् लिखते हैं कि "जिस जिस पुरुष मे जिस वर्ण के गुण हो उस वर्ण का उसे अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं क्योकि उत्तम (उच्च) वर्णों को भय होगा कि जो हमारे संतान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे तो शूद्र होना पडेगा और निम्न (नीच) वर्णों को उच्च (उत्तम) वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढेगा।"

"विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान और धार्मिक होने से उस काम को यथा योग्य कर सकते है। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि व विघ्न नही होता। पशु-पालनादि का अधिकार वैश्यो को ही देना योग्य है क्योकि वे इस काम को अच्छी-तरह कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह मूर्ख होने से विद्या-विज्ञान सम्बन्धी काम कुछ भी नही कर सकते किन्तु शरीर के काम सब कर सकते हैं। इस प्रकार वर्णों को अपने अपने अधिकार में प्रस्तुत करना राजादि सभ्य जनो का काम है।" स्वामी समर्पणानन्दजी ने भी अपनी पुस्तक "कायाकल्प" मे इस विषय मे बड़ा उत्तम प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं 'समाज मे मर्यादा से अधिक शक्ति किसी भी वर्ग के हाथ मे आ जाने से वह वर्ग पतित होए बिना नही रह सकता अत भारतीय समाज शास्त्रियो ने किसी एक वर्ग के हाथ मे सम्पूर्ण शक्ति नही आने दी। विद्या व्यसनी ब्राह्मणवर्ण को उन्होने गौरव दिया है किन्तु धन संचय, ऐश्वर्य भोग तथा राज्यशासन का अधिकार उनसे छीन लिया है। अन्याय के साथ लडने मे प्राणो की आहुति देने वालो के हाथो मे शासन की बागडोर दी है उन्हें प्रभुत्व दिया है। तो आदर ब्राह्मणो से कम दिया है और लक्ष्मी भी सम्पत्ति निर्माताओ से कम दी है। सम्पत्ति उत्पन्न करने वालो को ऐश्वर्य भोग दिया है तो उन्हे गौरव और प्रभुत्व नही दिया है।"

आश्रम व्यवस्था :—

महर्षि स. प्र. मे लिखते है कि "जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय, विषयभोगो की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से सन्यास लेवे जो विषयभोग की इच्छा युक्त होवे विद्यापूर्ति पर अपने वर्ण की विदुषी नवयुवती से विवाह कर के गृहाश्रम मे प्रवेश करे।" अत: गृहाश्रम मे प्रवेश करने वाले गृहस्थ की मर्यादाओ की रक्षा करता हुआ समाज सेवा के लिए एक वा अधिक (यथावश्यक) उत्तम योग्य संतान उत्पन्न कर पत्नि परिवार, पडोसी मित्रादि के परस्पर प्रेमादर्श को उपस्थित करता तथा ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ एव सन्यास तीनो आश्रमवासियो की सेवा का आधार भी बनता था। अपनी योग्यतानुसार समाज के दु:ख को दूर करने मे सहयोग करता था। राम, कृष्ण ऋषि, मुनि, महर्षि दयानन्द, म. गांधी आदि अनेको महापुरुष गृहस्थाश्रम की ही देन हैं। जीवन

(शेष पृष्ठ ६ पर)

"उपनिषदों पर पत्राचार पाठ्यक्रम का शुभारंभ

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा पाठ्यक्रम का विमोचन

३० जून रविवार को आर्य समाज शान्ताक्रुज बम्बई मे श्री मेघजीभाई नेनसी आर्य साहित्य पुरस्कार समारोह के शुभ अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने डा० सोमदेव शास्त्री द्वारा सचालित स्वाध्याय पत्राचार पाठ्यक्रम के "उपनिषद् सन्देश" पाठ्यक्रम के प्रथम अक का विमोचन करके इसके शुभारम्भ की घोषणा की। प० राजगुरु शर्मा (उप प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा) ने गत वर्ष के "सत्यार्थ प्रकाश और गीता" के पत्राचार पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियो को प्रमाण पत्र और पुरस्कार वितरित किए।

श्री कैप्टिन देवरत्न आर्य (उप मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा) ने पत्राचार पाठ्यक्रम की उपयोगिता और आवश्यकता पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि इसमे सभी आर्य जनो को सम्मिलित होना चाहिए।

पाठ्यक्रम के सचालक डा सोमदेव शास्त्री ने सूचित किया कि जुलाई, ९१ से "उपनिषदो" पर पाठ्यक्रम प्रारम्भ हो रहा है - प्रति मास १६ पृष्ठ की एक लघु पुस्तिका डाक से भेजी जायेगी। पुस्तक के अन्त मे पाच प्रश्न होगे, जिनका उत्तर पठनार्थी को देना होगा। वर्ष मे सबसे अधिक सही उत्तर देने वाले प्रथम तीन पठनार्थियो को २०१, १५१ तथा १०१ रुपये का पुरस्कार व प्रमाण पत्र दिये जायेगे। चालीस प्रतिशत अक प्राप्त करने वाले प्रत्येक पठनार्थी को प्रमाण पत्र दिया जायेगा। पुस्तक, डाक व्यय, प्रमाण पत्रादि का व्यय मात्र केवल २५.०० रुपये (पच्चीस रुपये मात्र) वार्षिक शुल्क है। अत सभी आर्य बन्धुओ से आग्रह है कि वार्षिक शुल्क रुपये २५-०० पच्चीस रुपये एम० ओ०/ड्राफ्ट मे नीचे लिखे पते पर भेज कर सदस्य बने, उपनिषदो के ज्ञान से लाभान्वित हो तथा सही उत्तर देकर पुरस्कार प्राप्त करें।

डा० सोमदेव शास्त्री
३०४ सुमन अपार्टमेंट, यारी रोड, वर्सोवा,
अन्धेरी (प) बम्बई-६१

वर्णाश्रम - धर्म

(पृष्ठ ५ का शेष)

के पचास वर्ष की आयु तक इस आश्रम मर्यादा का उत्तम आदर्श उपस्थित करके परिवार प्रेम से ऊपर उठकर समाज सेवा मे विशेषकर शिक्षा क्षेत्र मे योगदान देने व ब्रह्मचर्याश्रम मे किये तप व आत्मचिंतन के अनुष्ठान मे स्वय पुन: विशेष रूप से सलग्न हो जाने के लिए गृहस्थाश्रम को छोड वानप्रस्थाश्रम को अपनाता था जहा वह ब्राह्मणो के सहयोगी के रूप मे विद्या व शिक्षा-प्रदान मे नि.शुल्क सहायक बनता था जिससे न्यूनतम व्यय मे अविद्या, निरक्षरता का कष्ट समाज से दूर होता था।

इस प्रकार आयु के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर व्यक्ति सन्यास आश्रम को ग्रहण करता था जहा वह ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे सन्यास मे प्रवेश हुए त्यागी वैराग्यवान महात्माओ की श्रेणी मे आ मिल परिवार-देश प्रेम व सेवा के भाव से ऊपर उठ विश्व-प्रेम मे निमग्न हो प्राणि-मात्र मे ब्रह्म के दर्शन कर विश्व कल्याण में तत्पर हो कर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता था। जैसा कि गीता मे भगवान कृष्ण ने कहा है :—

निर्मानमोहा जितसग दोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा. द्वन्द्वैर्विमुक्ता.
सुख दु:खसज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्यय तत् ग्र. १५।५

जिन्होने मान तथा मोह अपने अन्दर से बिलकुल निकाल दिया है, जिन्होने फल मे आसक्ति का दोष बिलकुल दूर कर दिया है जो योगाभ्यासादि उन्नति के साधनो मे निरन्तर लगे रहते हैं जिन्होने अपनी आवश्यकता इतनी कम कर दी हैं कि वे प्राप्त काम होने के कारण निवृत्त-काम हैं तथा सुख दु:खादि-द्वन्दो से विमुक्त है अर्थात् सब अवस्थाओं में एक से भक्ति-परायण रहते हैं ऐसे समझदार लोग ही उस अव्यय पद पर पहुचते है (जहा मै पहुचा हू)। ॐ

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्रवेश सूचना

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार में ६ वर्ष से १० वर्ष की आयु के बालक १ जुलाई से ३१ जुलाई तक विभिन्न श्रेणियों मे योग्यतानुसार प्रविष्ट किए जायेंगे।

शहर के वातावरण से दूर गगा तट पर स्थित विश्वविद्यालय के विशाल प्रांगण में बालको के खेल-कूद आदि की आदर्श सुविधाए हैं। केन्द्रीय विद्यालय के पाठ्यक्रम के साथ साथ सस्कृत, धर्म शिक्षा का अध्ययन अनिवार्य है। भोजन, निवास शुल्क तथा अन्य सम्बद्ध सूचनाओं के लिए १० रुपये का मनीआर्डर अधो-हस्ताक्षरी को भेज कर नियमावली प्राप्त करे।

पजाब, कश्मीर तथा देश के अन्य भागो मे उग्रवादियो की हिंसा के कारण जो बालक निराश्रित हो गए हैं उन्हे गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय मे नि:शुल्क शिक्षा, निवास और भोजन देने की व्यवस्था की गई है।

सहायक मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

वेद प्रचार के लिए अपनी सेवाएं समर्पित करें

पाखण्ड और अन्धविश्वास बढ रहा है और हम आपसी लडाई झगड़ों में पड कर चैन की बशी बजा रहा है। अत सम्पूर्ण विश्व में वेदो का डका बजाने के लिए सेवा निवृत्त व्यक्ति, वान प्रस्थी और सन्यासी कमर कसकर मैदान मे उतर आये। भोजन आदि से पूरा सत्कार किया जायेगा। इच्छुक महानुभाव निम्न पते पर पत्र व्यवहार करे।

ब्रह्मप्रकाश शास्त्री
११/१२४ शास्त्री सदन पश्चिम आजाद नगर दिल्ली-५१

आर्य बाल संरक्षण गृह

केवल निराश्रित एव निर्धन छात्रो के लिए आर्य बाल सरक्षण गृह का नि.शुल्क शिक्षा, वस्त्र, भोजन व निवासादि का उत्तम प्रबन्ध।

आर्य जनो को प्राथमिकता न्यूनतम प्रवेश आयु १२ वर्ष, स्थान सीमित नियमावली तथा प्रवेश पत्र के लिए सम्पर्क करें।

आर्य बाल सरक्षण गृह ८६७८
नया मुहल्ला आर्य समाज, पुल बगश दिल्ली-६

वार्षिकोत्सव

महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मृति भवन न्यास, जोधपुर मे दिनाक २७-९-९१ से २९-९-९१ तक "महर्षि दयानन्द स्मृति सम्मेलन" होगा तथा इस अवसर पर दिनाक २५-९-९१ से २९-९-९१ तक सामवेद पारायण यज्ञ होगा तथा आर्ययुवक सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, महिला सम्मेलन आदि आयोजित होगे।

जगदीश सिंह आर्य, मन्त्री

चुनाव समाचार

रामगली आर्य समाज मन्दिर सी-११ हरिनगर घण्टाघर, नई दिल्ली-६४ का वार्षिक निर्वाचन श्री दयानन्द जी गौतम की अध्यक्षता मे निम्न प्रकार सम्पन्न हुआ।

प्रधान—श्री ओमप्रकाश खन्ना।

मन्त्री—श्री ओमप्रकाश शर्मा "सैलानी"।

कोषाध्यक्ष—श्री बनारसीदास सरना।

—"आर्य कुमार सभा (रजि) किग्जवे दिल्ली-९ का वर्ष १९९१-९२ हेतु वार्षिक चुनाव आर्य युवा, लेखक श्री प्रणवीर आर्य की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ।

प्रधान—श्री भुवन चन्द्र।

मन्त्री—श्री धीरज मलिक।

कोषाध्यक्ष—प्रवीण ग्रोवर।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित

वैदिक साहित्य

१.	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम द्वितीय) प्रत्येक		१.५०
२.	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२.००
३.	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३.००
४.	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४.००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५.००
७.	फलैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यप्रकाश वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	" "	२.००
९.	एटोनामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०	आर्यों का आदि देश	" "	२ ००
११.	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	" "	२५ ००
१२.	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	" "	२.००
१३.	चत्वारो वै वेदा	" "	५ ००
१४.	द्वैतसिद्धि	" "	५.००
१५.	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२०.००
१६.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५.००
१७.	हंसता चल, हंसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८.	दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२०.	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२१.	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२२.	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकड़ा

नोट : उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नही लिया जाएगा।

पुस्तक प्राप्ति स्थान : **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१



प्रवेश सूचना

गुरुकुल महाविद्यालय, रुद्रपुर प्राचीन आश्रम पद्धति के अनुसार समग्र व्यक्तित्व के विकास पर बल देने वाली यह संस्था उत्तर प्रदेश राज्य शासन से प्रथम श्रेणी में वर्गीकृत एवं अनुदान प्राप्त है। सुविधा की दृष्टि से अध्यापन क्रम निम्न वर्गों मे विभक्त है।

(अ) कक्षा १ से ५ तक बेसिक शिक्षा परिषद् के नियत पाठ्यक्रमानुसार के साथ धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा अनिवार्यत. दी जाती है। जिससे कि बच्चे को शिष्ट सभ्य तथा अनुशासित बनाया जा सके।

(ब) प्रथमा (षष्ठ) से आचार्य (एम० ए० समकक्ष) पर्यन्त संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्बन्धित प्राचीन एव सभी आधुनिक विषयो (अंग्रेजी, गणित, विज्ञान आदि) का अध्ययन एव परीक्षा क्रम सन्निहित है।

(स) अनुसन्धेय विषयो के गहन अध्ययन एव संस्कृत, हिन्दी विषयक स्नातकोत्तर उपाधि (एम० ए०, पी० एच० डी०) हेतु स्वतन्त्र रूपेण सेवा निवृत्त विद्वानो का सानिध्य सुप्राप्त है।

ज्ञातव्य है कि उक्त परीक्षाए समस्त राजकीय विभागो मे नियुक्ति प्रशिक्षण एव तकनीकी संस्थाओ मे प्रवेश हेतु निरापद रूप से मान्य है।

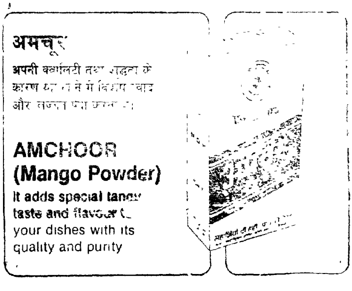
मेधावी छात्रों को पात्रता के आधार पर राजकीय तथा केन्द्रिय छात्र वृत्ति सुविधा सुलभ है।

प्रवेश कालीन व्यय ४०० रु० तत्पश्चात् भोजन शुल्क प्रति मास ९०० रुपये है। घृत दुग्धादि व्यय बच्चे की आवश्यकता के अनुसार पृथक से देय है। विद्युत चालित उपकरणो से युक्त गुरुकुल का एकान्त शान्त सुरम्य वातावरण अध्ययन मनन के लिए नितान्त उपादेय है।

प्रवेशार्थी सद्य: सम्पर्क स्थापित करें—!

प्राचार्य—गुरुकुल महाविद्यालय रुद्रपुर
तिलहर शाहजहापुर (उ० प्र०)





आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No 32387/77 Posted at N.D.P.S.O on 11-12-7-1991 Licence to post without prepayment, Licence No U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३६

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १४ जुलाई, १९९१

संस्कृताश्रिता हि संस्कृति : तस्मान्वद संस्कृतम्

संस्कृत भाषा समग्र विश्व के लिए गौरव का विषय है। संस्कृत मात्र धार्मिक आध्यात्मिक भाषा ही नहीं है, अपितु यह एक उत्कृष्ट वैज्ञानिक भाषा भी है। प्राचीन काल मे यह लोक भाषा थी। आज भी यह सभी भारतीय भाषाओं की जननी है। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि कम्प्यूटर के लिए भी सर्वाधिक ग्राह्य भाषा संस्कृत ही है। संस्कृत स्वाभिमान की भाषा है। संस्कृत सदाचार की भाषा है, संस्कृत नीति की भाषा है। विश्व का आदि ज्ञान वेद संस्कृत भाषा मे ही है। अत: संस्कृत को पुन: स्थापित करने मे सभी को आगे आना चाहिए। ये विचार दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल ने आत्म शुद्धि आश्रम बहादुर गढ़ में आयोजित संस्कृत सभाषण शिविर के समापन समारोह मे व्यक्त किए।

लोक भाषा प्रचार समिति के सहयोग से आत्म शुद्धि आश्रम के मन्त्री डा० शिवकुमार शास्त्री के सयोजन में, एक दस द्विमीय संस्कृत सभाषण शिविर आयोजित किया गया। आश्रम के अध्यक्ष श्री स्वामी धर्ममुनि जी महाराज ने, लोक भाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री सूर्य नारायण और मन्त्री श्री सदानन्द जी को सभी प्रकार की सुविधाए प्रदान की। इस शिविर का उद्घाटन डा. रविन्द्र नागर ने २२ जून को किया था।

इस दस दिवसीय शिविर में बालकों के साथ-साथ माताओं और बहनो ने भी भाग लिया।

समापन समारोह में श्री ओमप्रकाश तलवाड़- चौ० रघुनाथ सिंह, श्री होशियार सिंह,, श्री गुलाटी, श्रीमती वर्मा, श्री भरपूर सिंह, स्वामी धर्म मुनि जी तथा अन्य स्थानीय महानुभावों ने अपने विचार व्यक्त किए। संस्कृत संभाषण के साथ नाटिकाओं के माध्यम से छात्रो ने संस्कृत भाषा में अर्जित योग्यता का प्रदर्शन किया। शिविरार्थियों को प्रशस्ति पत्र भी प्रदान किए गए।

इस शृंखला में अगला शिविर वेद मन्दिर, नन्दा एन्क्लेव नजफगढ़ में ४ जुलाई से १४ जुलाई तक लगाया जाएगा। इसके बाद में आर्य समाज पंजाबी बाग मे एक शिविर लगाया जाएगा।

समारोह का संयोजन डा. शिवकुमार शास्त्री ने किया। उन्होंने शिविरार्थियों को सत्कर्म करने की प्रेरणा दी तथा अभ्यागतो का धन्यवाद किया।



शाखा कार्यालय . ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : [illegible]

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० न० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३७ | रविवार, २१ जुलाई, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश में ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०

सभाओं के निर्वाचन में वैदिक यतिमण्डल का कोई हस्तक्षेप नहीं

योग मन्दिर में छपे विज्ञापन का श्री स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती द्वारा खण्डन

— स्वामी सर्वानन्द सरस्वती —

श्री आचार्य भगवान देव द्वारा प्रकाशित 'योग मन्दिर' पत्रिका मे एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ है जिसमें लिखा है कि "गाजियाबाद में यतिमण्डल की बैठक मे सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती को हटाने के लिए आर्य समाज रक्षा समिति बनाई गई।"

स्वामी सुमेधानन्द मन्त्री, वैदिक यतिमण्डल ने एक स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि "मै यतिमण्डल के अध्यक्ष (स्वामी सर्वानन्द जी महाराज) की अनुमति से यह स्पष्टीकरण करना चाहता हू कि उक्त बैठक एक स्वतन्त्र बैठक थी, यतिमण्डल की बैठक अध्यक्ष की अनुमति मे ही बुलाई जाती है और प्रत्येक बैठक का ऐजेण्डा मैं ही सभी मान्य सदस्यो को भेजता हू।

यतिमण्डल मे यह प्रस्ताव पारित है कि मण्डल सभाओ के कार्य में सीधे हस्तक्षेप नही करेगा। यतिमण्डल की कार्यपद्धति के बारे मे किसी प्रकार की भ्रांति न हो।

'योग मन्दिर' में छपे विज्ञापन की कड़े शब्दों में आलोचना करते हुए कहा कि उस विज्ञापन मे पूज्य स्वामी आनन्दबोध सरस्वती प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रति अभद्र शब्दो का प्रयोग अनार्य का परिचायक है।

उपर्युक्त विज्ञापन के खण्डन को स्पष्ट करते हुए पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती जी ने कहा कि आचार्य भगवान देव ने 'योग मन्दिर' पत्रिका में जो भी विज्ञापन छापा है वह अपनी इच्छानुसार छापा है। इसके लिए मुझ किसी प्रकार का परामर्श नही लिया गया।

—स्वामी सुमेधानन्द
मन्त्री, वैदिक यति मण्डल
दयानन्द मठ चम्बा (हि० प्र०)

पंजाब व काश्मीर के मामले में सरकार से कठोर कार्रवाई करने की मांग

दिल्ली १६ जुलाई। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के नेतृत्व मे आर्य समाज के एक शिष्टमण्डल ने आज प्रधानमन्त्री श्री नरसिंह राव से भेंट की।

शिष्टमण्डल ने प्रधानमन्त्री को सरकार द्वारा विश्वास का मत प्राप्त करने पर बधाई देते हुए कहा कि सरकार देश हित मे जिस बात को ठीक समझे उसे लागू करने मे किसी प्रकार का संकोच न करे। स्वामी जी ने प्रधानमन्त्री जी को सुझाव दिया कि जम्मू-कश्मीर और पंजाब के मामले मे सरकार को कठोर कदम उठाने चाहिएं इसके लिए आवश्यक है कि पंजाब व कश्मीर के समूचे सीमा क्षेत्र मे ५ मील चौड़ी सुरक्षा पट्टी का निर्माण करके इन राज्यों मे ४१ लाख भूतपूर्व फौजी परिवारों को बसाया जाये और उन्हें हथियारबन्द किया जावे। क्योंकि कश्मीर आदि से जो हिन्दू इस समय अन्यत्र विस्थापितो का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसके लिए आवश्यक है कि सरकार उनमे आत्मविश्वास पैदा करे और उन्हें ऐसा वातावरण दे कि वे भयमुक्त होकर अपने घरों को वापस हो सके।

स्वामी जी ने प्रधानमन्त्री जी को बताया कि आज से ३ वर्ष पूर्व उन्होंने सुरक्षा पट्टी के निर्माण और भूतपूर्व सैनिकों को बसाये जाने की मांग स्वर्गीय राजीव गांधी से भी की थी। स्वामी जी ने विश्वास व्यक्त किया कि जिस प्रकार लोकसभा के अध्यक्ष के निर्वाचन मे उन्हे विपक्षी दलों का समर्थन मिला है, उसी प्रकार राष्ट्र हित के हर कार्य मे भी प्रधानमन्त्री जी को राष्ट्रवादी जनता तथा राजनैतिक दलो का सहयोग मिलता रहेगा।

प्रधानमन्त्री जी ने शिष्टमण्डल की बातों को ध्यान से सुना और सुझावो पर गम्भीरता से विचार करने का आश्वासन दिया।

शिष्टमण्डल मे सभा के वरिष्ठ उपप्रधान प० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव, के अतिरिक्त कई अन्य लोग भी शामिल थे।

मपरार्श—डा० धर्मपाल | प्र० सम्पादक—सूर्यदेव | सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री | व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमारहिन्दी

अक्षय सत्यनारायण व्रत कथा-१

— पं० देवनारायण भारद्वाज —

सत्य नारायण व्रत कथा भारत के सभी प्रदेशों में कही और सुनी जाती है। यह व्रत क्या है? सत्य नारायण कौन हैं?

पूज्य महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्धारित आठ वेद मन्त्रों की व्याख्या के आधार पर पं० देवनारायण भारद्वाज जी ने अक्षय सत्यनारायण व्रत कथा पर प्रकाश डाला है। जिसे आप धारावाहिक के रूप में क्रमशः पढ़ेंगे।

—सम्पादक

एक बार नैमिषारण्य तीर्थ मे शौनकादिक ८८ हजार ऋषियो ने सूत जी से प्रश्न किया, भगवान ससार में मानव प्राणी बहुत दु ख पा रहे हैं। इन सबसे छुटकारे का उपाय क्या है?

सूत जी ने बताया कि एक बार नारद जी मृत्यु लोक मे भ्रमण करने आये तो उन्होने भी लोगो को दुःखी देख कर यह प्रश्न विष्णु जी से किया कि भगवन मृत्यु लोक मे लोग बहुत दु खी हैं। कृपया ये मनुष्य लोग दु ख से छुटकारा पाये— इसका कोई उपाय बतलाइये। विष्णु भगवान ने कहा कि मनुष्य अपने अच्छे बुरे कर्मों के कारण सुख दुःख को भोगते है। दु ख व पीडा से छूटने का उपाय तो स्वय मनुष्यो के पास है, कि वे बुरे कार्य छोड़ कर विवेक पूर्वक अच्छे कार्य करने लगे, तो भोगानुसार शनैः-शनैः खाते मे दु ख का भाग कम होता जायेगा और सुख का भाग बढने लगेगा। किन्तु नारद जी -लोग लोभ मोह के चक्कर मे पड़ कर समय पर विवेक को छोड कर तत्कालिक स्वार्थ के वशीभूत होकर दीर्घ कालीन सकट मे फस जाते हैं।

कुछ दिन पूर्व शकर जी माता पार्वती सहित मृत्यु लोक में गए थे, उन्होने दो परिवारो मे एक-एक रात्रि बिताई थी। उसका विवरण मुझे सुनाया था। उससे भी यही सिद्ध होता है कि ससार मे दोनो प्रकार के मनुष्य हैं, सुकर्मी विवेकी और कुकर्मी अविवेकी। जहा शकर दम्पति जी ठहरे थे, वे दोनो परिवार अत्यन्त निर्धन व दु.खी थे। एक परिवार से जब वे चलने लगे तो माता पार्वती ने शंकर जी से आग्रह किया कि इस परिवार को कोई ऐसा वरदान दे कि इनकी गरीबी दूर हो जाय। शकर जी ने पार्वती जी को बहुत समझाया कि इनको अपने कर्मों का फल भोग लेने दो—अभी कोई सहायता काम नही आयेगी। जब दुष्ट कर्म फल भोग समाप्त हो जायेगा तो यह सभी शुभ कर्म फल से सम्पन्न हो जायेगे। पार्वती जी ने अपना आग्रह और बढाया तो शकर जी ने कहा— चलो आप कहती हैं तो हम इस परिवार के तीनो प्राणियो को एक-एक वर देने को सहमत है। यात्रा के लिए वैसे ही विलम्ब हो चुका है। अब ये लोग अति शीघ्र वर मागे। पार्वती जी ने सबसे पहले बुढिया माता से कहा कि तुम वर माग लो। उसको अपनी जवानी याद आ गई, झट उसने वर मागा मुझे जवान बना दीजिए। लो! वह जवान हो गई। उसके बूढे पति को क्रोध आ गया कि मुझे बूढा छोड कर यह जवान हो गई। उसने शकर जी से कहा भगवान मुझे यही वर दीजिये कि जवानी की भूखी मेरी पत्नी कुतिया बन जाये। अब वह कुतिया बन गई। यह देख कर उसका पुत्र रो पडा और बोला—भगवन मुझे मेरी मा चाहिए। शकर जी ने उस पुत्र को वर दे दिया और वह कुतिया पुन बूढी माता बन गई। देखा! नारद जी, शकर जी के तीन वरदान भी काम नही आये और वह अविवेकी परिवार ज्यो का त्यो दु ख भोगने के लिए विवश रहा।

विष्णु भगवान ने शकर जी के दूसरे परिवार का अनुभव भी नारद जी को इस प्रकार सुनाया। शकर पार्वती ने दूसरी रात्रि जिस परिवार मे बिताई वह भी अत्यन्त निर्धन था। इस परिवार मे भी तीन ही प्राणी थे। पति-पत्नी और उसकी अन्धी बूढी माता जी। इनको अपनी गरीबी के साथ-साथ सन्तान की भी चिन्ता थी। रात्रि निवास करके शकर जी प्रभात को वहा से भी चलने लगे तो परिवार के स्वागत सत्कार से प्रभावित होकर पार्वती जी ने इस परिवार को भी शकर जी से वरदान देने की प्रार्थना की। विचार विमर्श के बाद शकर जी ने कहा—वहा मेरे तीन वरदान व्यर्थ गये इसलिए मै एक ही वरदान दे सकता हू। शीघ्रता से कोई एक व्यक्ति मुझ से एक वरदान माग ले। बूढी माता जी ने हाथ जोड़ कर नम्रता पूर्वक शकर जी से प्रार्थना की, कि हे भगवन यदि आप प्रसन्न है तो मुझे ऐसा वरदान दें कि मैं अपने पौत्र को सोने के कटोरे मे सोने की चम्मच से दूध पीते हुए देखू। शकर जी ने कहा तथास्तु। इस परिवार ने एक ही वरदान से तीन लाभ प्राप्त कर लिए। मा की आखे, धन तथा सन्तान की प्राप्ति। विष्णु जी ने कहा यह तो समझाने के लिए है। किन्तु वास्तविकता यह है कि कोई मनुष्य अपने विवेक से सकट के दिन पार कर आगे सुखमय जीवन प्राप्त कर सकता है।

विष्णु जी ने नारद से कहा भूलोक मे मनुष्य, पशु व अन्य प्राणियों का जन्म अपने कर्म फल को भोगने के लिए ही होता है। जो लोग अच्छे कर्म करते है वे अच्छा फल भोगते है और जो लोग बुरा कर्म करते हैं वे दुःख भोगते हैं। बुरे कर्मों के फल से छुटकारा तो भोगने के बाद ही मिलता है। मानव अच्छे कर्मों की ओर अग्रसर हो इसके लिए एक उपाय अवश्य है वह है सत्य नारायण का व्रत धारण करना। इससे सद्विवेक जागृत होता है और मनुष्य दु.ख से छूट कर सुख की ओर अग्रसर होता है।

नैमिषारण्य क्या है?

वैसे तो एक तीर्थ सीतापुर जनपद मे इस नाम का है—पर वह तीर्थ यहा पर भी है जहा पर हम यह कथा कह रहे हैं। निमेष कहते हैं पल को—एक बार आंख की पलको को खुलने-मुंदने मे जितना समय लगता है—उसे एक निमेष कहते हैं। ऐसे ही निमेषो का अरण्य, जगल या समूह ही नैमिषारण्य है। वह वास्तव मे काल या समय है जो सृष्टि के आदि से चला आ रहा है। तीर्थ उसे कहते है जो हमे तार दे—पार कर दे। तो इसी जीवन का जो समय मिलता है उसे सही प्रकार से पार कर जाना ही नैमिषारण्य तीर्थ का निवास है। शौनकादि ८८००० हजार ऋषि कौन हैं—हमारा हृदय २४ घण्टे मे लगभग इतनी बार ही गति करता है। हृदय मे स्थित आत्मा इस काल चक्र से पार जाने के लिए हृदय की हर धडकन के साथ प्रश्न करता है कि हे प्रभु इस ससार सागर से हम कैसे पार हो? तभी सूत जी—काल चक्र को चलाने वाले सारथी सूत जी—सूत्र रूप में आत्मा को उत्तर देने लगते है। सूत जी सारथी के रथ मे ही तो आत्मा रूपी ऋषि बैठे है जो आत्मा के बाहर भी हैं और उसके भीतर भी है।

नारद (न+आरत) अर्थात् जो आत्मा दु खी नही है वही सर्वव्यापक प्रभु विष्णु जी से भेंट कर प्रश्न करता है कि भगवान ससार के लोगो के दुखो से छुटकारे का क्या उपाय है। उसी को सर्वान्तर्यामी प्रभु भी अपनी वेद वाणी द्वारा उपाय बता देता है कि सत्य नारायण व्रत ही वह उपाय है जिसमे मानव मात्र का कल्याण हो जाता है। यहां पर प्रयुक्त विष्णु एव शकर दो नाम एक ही प्रभु के है जो आदि पत्रकार नारद के चिन्तन मनन से क्रमानुसार हृदय मे प्रकट होते है।

व्रत और नाम—

सत्यनारायण जी का व्रत क्या है?

> व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
> दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है। वेद भगवान ने सत्य नारायण को प्राप्त करने के लिए यही उपक्रम बताया है। मन मे सकल्प करने से प्रभु को प्राप्त करने की विद्या या उपाय की दीक्षा प्राप्त होती है। दीक्षा मे दक्षता आने से किसी को भी दक्षिणा मिलने लगती है। प्रभु के नाम स्मरण का प्रसाद व सुख ही दक्षिणा है—जैसे पुरोहित को यज्ञ के बाद, चिकित्सक को चिकित्सा के बाद व गुरु या शिक्षक को शिक्षण के बाद आर्थिक दक्षिणा दी जाती है। यही दक्षता व दक्षिणा ही है जो अपने उद्देश्य के प्रति श्रद्धा अर्थात् सत्य धारणा उत्पन्न करती है और इसी श्रद्धा से सत्य नारायण से मिलन होता है।

(क्रमशः)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

आर्य लेखक कोश



पिछले दिनो आर्य लेखक कोश का प्रकाशन हुआ है। आर्य समाज के सभी लेखकों का परिचय देना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य ऐतिहासिक है, इसलिए इसकी गरिमा का आकलन किया जाना, अपने आप मे एक विशिष्ट अनुभूति एव स्फुरण प्रदायक है। ज्यो गूंगे को गुड मन ही भावे। इसकी महत्ता का प्रतिपादन शब्दो के द्वारा असम्भव सा लगता है।

डा० भवानीलाल भारतीय आर्य समाज के सुप्रसिद्ध, लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान, विचारक, व्याख्याता, सम्पादक लेखक एव गवेषक है। उन्होने दीर्घकाल तक साधना करके इस सामग्री को सकलित किया तथा इस महान ग्रन्थ को पाठको को भेट किया।

इस ग्रन्थ मे उन्होने लगभग १२०० दिवगत एव वर्तमान आर्य लेखको का सम्यक् परिचय दिया है। जीवन परिचय के साथ उनके लेखन के प्रतिपाद्य एव एव उनकी शैली का विवेचन, इसे विशिष्ट आभा प्रदान करने मे सक्षम है।

पं० लेखराम का आदेश—आर्य समाज मे तहरीर और तकरीर का काम बन्द नही होना चाहिए निश्चय हो उनके लिए आदर्श रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि डा० भवानी लाल भारतीय ने इस महत्त्वपूर्ण एव श्रम साध्य कार्य को दक्षतापूर्वक पूरा किया है।

इस कोश मे वेदभाष्यकारो ब्राह्मण ग्रन्थो के व्यख्याकारो, उपनिषदों के टीकाकारों, रामायण, महाभारत, स्मृति ग्रन्थो, दर्शनो तथा अन्य प्राच्य विद्या के ग्रन्थो की विवेचना करने वालो का भी सुस्पष्ट विवरण दिया गया है।

इस कोश में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्य समाज के विभिन्न पक्षो को लेकर किए गए शोध प्रबन्धो का भी परिचय दिया गया है।

यह कोश आर्य समाज की तो धरोहर है ही, यह ग्रन्थ आने वाली पीढियों के मार्ग को भी प्रकाशित करता रहेगा।

डा० भवानीलाल भारतीय को शतश: बधाई।

—डा० धर्मपाल

अन्तर्राष्ट्रीय मादक द्रव्य उन्मूलन दिवस मनाया गया

समाज कल्याण निदेशालय ने २६ जून को अन्तर्राष्ट्रीय मादक द्रव्य सेवन उन्मूलन दिवस के रूप मे मनाया। इस दिवस को मनाने का मुख्य उद्देश्य मादक द्रव्य सेवन की बुराईयो के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करके इस बुराई को समाप्त करने की दिशा में चेतना उत्पन्न करना है। इस अवसर पर मादक द्रव्यों के सेवन की बुराई पर विचार विमर्श, पोस्टर प्रदर्शनी व नाटक आदि का आयोजन किया गया।

इस अवसर पर बोलते हुए श्री नाफरी ने सरकारी एव स्वयसेवी सस्थाओ को मिल-जुल कर इस सामाजिक बुराई के विरुद्ध कार्य करने को कहा। स्कूली छात्रो मे बढती हुई इस बुराई की प्रवृत्ति के कारण एव दुष्परिणामों पर चिन्ता प्रकट करते हुए समाज के सभी वर्गो से अपील की कि वे इस बुराई को युद्ध स्तर पर रोके तथा देश की भावी पीढी के विनाश को रोकने में अपना सक्रिय योगदान दें।

द्वारा—सूचना एव प्रचार निदेशालय
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(१४ जुलाई, ९१ के अक से आगे)

इनके अतिरिक्त सर्वश्री सुरेन्द्रकुमार, कमला, वेदपाल शास्त्री, उदयभानु धर्मवीर, नरसिंह चरण पाडा, अनीता वालिया, रामकृष्ण आर्य, कर्मसिंह शास्त्री, देवेन्द्रनाथ शास्त्री तथा सुकुमार आर्य को पी० एच० डी० उपाधि मेरे निर्देशन में कार्य करने के पश्चात् मिल गई है। अन्य लगभग ६ व्यक्ति शोधकार्यरत हैं।

मेरे कार्य काल में ऋषि दयानन्द के दर्शन, तथा वेदार्थ विषय के विभिन्न पद्धतियों पर दो सगोष्ठियां आयोजित की गई जिनमे विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अन्य सस्थाओ के विद्वानो ने भाग लिया। गत १० वर्षों से मैं देश के विभिन्न भागो मे अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद द्वारा आयोजित होने वाले द्विवार्षिक सम्मेलनो मे मैं भाग लेता रहा हू तथा वहा पत्र वाचन भी करता रहा हू। इनका विवरण इस प्रकार है—

प्राच्य विद्या सम्मेलन का शान्ति निकेतन अधिवेशन १९८०

पठित निबन्ध—वेदाध्याय को स्वामी दयानन्द की देन।

जयपुर अधिवेशन—१९८२ नवजागरण के आन्दोलनो का दार्शनिक दृष्टि-कोण अहमदाबाद अधिवेशन १९८५ ई०।

कलकत्ता-अधिवेशन मे १९८६ भारतीय नवजागरण और सस्कृत।

विशाखापट्टनम अधिवेशन—१९८९ वेदों मे पुरुषार्थ प्रेरित यथार्थवाद। चण्डीगढ़ मे आने के पश्चात् मेरी शोध, लेखन, पुस्तक प्रणयन आदि साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरन्तर विस्तार एव विकास हुआ है। आर्य समाज और स्वामी दयानन्द विषयक शोध कार्य करने वाले सभी स्वदेशी एव विदेशी विद्वान् भी समय समय पर मुझ से परामर्श लेते रहे है। देश-विदेश के अनेक शोध कर्त्ताओ से मेरा सम्पर्क और पत्राचार होता रहता है।

स्वामी दयानन्द के जीवन, साहित्य एव कार्य विषयक जो अनुसधानात्मक कार्य मैंने विगत दो दशको मे किया है उसका कुछ सक्षिप्त उल्लेख यहा किया जा रहा है—

१ ऋषि दयानन्द के जीवन एव कार्यो पर समय-समय पर उठाये गए विवादो, एतद् विषयक किए गये आक्षेपो तथा भ्रान्ति मूलक प्रचार और टिप्पणियो का सप्रमाण खण्डन तथा सटीक निराकरण। इस सदर्भ मे ऋषि दयानन्द की तथाकथिक अज्ञात जीवनी (प्रस्तोता प० दीन बन्धु वेद शास्त्री), योगी का आत्म चरित्र (प्रस्तोता स्व० स्वामी सच्चिदानन्द) तथा ऋषि दयानन्द का अपना जन्म चरित्र (प्रस्तोता श्री आदित्यपाल सिह) जैसे प्रयासो के खण्डन मे मेरे विस्तृत लेखन तथा आन्दोलन को भी सम्मलित करना होगा।

२ ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ, आत्मकथा, उनके द्वारा रचित ऋग्वेद के प्रथम २२ मन्त्रो की विस्तृत व्याख्या तथा चतुर्वेद विषय सूची का सम्पादन।

३ 'नवजागरण के पुरोधा' शीर्षक से स्वामी दयानन्द की बृहत् प्रामाणिक जीवनी का लेखन।

४ वेदवाणी के वार्षिक दयानन्द अको मे मेरे द्वारा निम्न शोधपूर्ण सामग्री छप चुकी है।

१. काशी शास्त्रार्थ मे उपस्थित पौराणिक विद्वानो का इति वृत्त।

२. मा जी बडनगरी जीवन वृत्त (इसे प्रथम बार खोजा गया)

३ कर्नल आल्काट लिखित ओल्ड डायरी लीव्ज मे दयानन्द विषयक उल्लेखो का पाठ सम्पादन तथा समीक्षा।

४ रा ब. भोलानाथ साराभाई के जीवनचरित मे दयानन्द विषयक सदर्भ और उनकी समीक्षा।

५ श्री नगेन्दनाथ चट्टोपाध्याय लिखित स्वामी दयानन्द की प्रथम बगला जीवनी का पुनरुद्धार और सम्पादन।

६. मैडम ब्लैवेटस्की रचित 'इन दि केव्ज एण्ड जगल्स आफ हिन्दुस्तान' मे दयानन्द विषयक सदर्भो की सानुवाद समीक्षा।

७. जर्मन शिक्षाविद् डा० वाइज से स्वामी दयानन्द का पत्र व्यवहार। यह सामग्री फरवरी १९८९ में छपी।

महर्षि दयानन्द का ब्राह्मणवाद

— भगवान देव "चैतन्य" —

भारत वर्ष की राजनीति ने नए समीकरणो और समावनाओं में प्रवेश किया है। सबसे अहम् प्रश्न भारत वर्ष की मूल संस्कृति की अस्मिता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती एक बहु आयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनके पास राष्ट्र की समस्याओं और उनके समाधान खोजने की जो पैनी दृष्टि थी वह हमें अन्य किसी भी महापुरुष में दिखाई नहीं देती। वे किसी भी बुराई या समस्या का गहराई से अध्ययन करके उसके स्थाई हल का मार्ग खोज निकालते थे। भारतीय राजनीति को वे वैदिक सिद्धान्तो की ओर प्रवाहित करके इसमें अमूल चूल परिवर्तन करने के पक्षधर थे। इसके लिए उन्होंने जहा राजस्थान के राजघरानो से सम्पर्क करके राजनीति मे वैदिक सिद्धान्तो को समाविष्ट करने का प्रयास किया उसके साथ-साथ स्वतन्त्रता सग्राम की न केवल नीव रखी बल्कि उसे फलीभूत करने के लिये उनकी प्रेरणा से नर्म व गर्म दल मे अनेकों वैदिक अनुयायियों ने प्रवेश करके राष्ट्र को स्वतन्त्र कराया। स्वतन्त्रता के पश्चात् उपरामता की स्थिति में रहने के कारण राजनीति पर आर्यसमाजियो की पकड ढीली हो गई अन्यथा आज जो समस्याएं राष्ट्र एव समाज के समक्ष हैं वे न होती क्योंकि ये सभी क्षेत्रवाद, मजहबवाद, जातिवाद और स्वार्थवाद का ही परिणाम है। आर्यसमाज की इस सम्बन्ध मे एक स्पष्ट और निर्विवाद सोच है। इसलिए स्वतन्त्रता का प्रसाद सही ढग से आर्यसमाज ही लोगो मे बाट सकता था। मगर ऐसा नही हो सका। महर्षि दयानन्द जी ने इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आर्यों को राज्य आर्य सभा के गठन का मार्ग प्रशस्त किया था मगर इस ओर किसी ने सक्रियता के साथ कार्य नही किया। आज भारतीय संस्कृति की ओर मुडने के अधकचरे प्रयास कुछ राजनैतिक क्षेत्रो मे किए जा रहे हैं मगर यह संस्कृति जिसका भारतीयता के लिए नारा दिया जा रहा है इतनी विशाल और स्पष्ट नहीं है कि सभी जातियो और मजहबों के लोग इसकी ओर आकृष्ट हो सकें। आर्य समाज की असाप्रदायिक, सार्वभौमिक और जातिगत सकुचितताओ से ऊपर की विचारधारा राष्ट्र को एक सही दिशा दे सकने में समर्थ है। यही वह संस्कृति है जो मूल आर्यों की संस्कृति है। इसका प्रचलन आज भी राजनीति के क्षेत्र में बखूबी किया जा सकता है मगर इसके लिए आर्यों को कुछेक ठोस और रचनात्मक कदम उठाने पड़ेंगे। हालाकि लगता तो यह है कि स्वतन्त्रता के बाद भी इतने वर्षों तक हम राजनीति से उपराम रहे अत. राजनैतिक पकड हमसे पूरी तरह से फिसल चुकी है क्योंकि स्वार्थी राजनैतिक दलो की इस भीड मे हमे अपनी नि:स्वार्थता और सार्वभौमिकता की पहचान कराने मे बहुत अधिक समय और साधनों की आवश्यकता हैं। फिर भी जो प्रयास बहुत पहले किए जाने चाहिए थे वे आज करने तो चाहिए ही।

आर्यसमाज बुद्धिजीवियो की सस्था है और इसके पास अत्यधिक प्रगतिशील राजनैतिक लोग हैं मगर अपना कोई मच न होने के कारण वे काग्रेस, भाजपा या अन्य कई दलो मे जाकर कार्य कर रहे हैं मगर वहा वे अपनी स्पष्ट नीति को कार्यान्वित नहीं कर पाते हैं क्योंकि जिस दल के वे सदस्य हैं उसी के घोषणापत्र और विचारधारा के अनुसार उन्हे चलना पडता है। स्वतन्त्रता के आरम्भ में ही ऐसे अपने लोगों को यदि अलग मच दिया होता तो आज स्थिति कुछ और ही होती। कुछ वर्ष पूर्व कुछ युवा सन्यासी बहुत कुछ करने की भावना लेकर राजनीति मे गए थे। मगर दिशाहीन हो जाने के कारण वे एक सामूहिक अभियान की तरह आगे नही बढ़ सके बल्कि जिस तरह किनारो से रहित जल इधर उधर बिखरकर ही समाप्त हो जाता है वैसी ही स्थिति इन लोगो की भी हुई। ये स्वयं पता नही कितनी ही पार्टियों के झण्डे तले भटकते रहे। इस भटकाव ने उनकी निश्चित वैदिक विचारधारा को भी बहुत बिखराव दे दिया लगता है। क्योंकि प्रखर वक्ता और चर्चित व्यक्तित्व स्वामी अग्निवेश जो हाल ही मे जनता दल के टिकट पर पराजित हुए हैं—उन्होने हारने के तुरन्त बाद दूरदर्शन पर एक भेंट मे कहा कि इन चुनावो की एक बड़ी उपलब्धि वे यह मानते हैं कि जो ब्राह्मणवाद सिर उठा रहा था हमने उसे कुचल दिया है और अब भविष्य में विवेकानन्द की घोषणा के अनुसार शूद्रो का राज्य आने वाला है। स्वामी जी के ये शब्द महर्षि दयानन्द की मान्यताओ से कितने अधिक दूर हैं यह साधारण सा आर्यसमाजी भी सहज ही मे जान सकता है। उन्हें विवेकानन्द के शब्दों का सहारा लेना पड़ा जिनकी अपनी ही कोई निश्चित विचारधारा नही है। स्वामी अग्निवेश जी पता नहीं किस प्रवाह में ये बातें कह गए अन्यथा वे भी भली प्रकार जानते हैं कि महर्षि दयानन्द जी का ब्राह्मणवाद क्या और शूद्रवाद क्या है। जहां तक हमने महर्षि दयानन्द जी को समझा है उन्होंने सर्वत्र ब्राह्मत्व को ही प्राथमिकता दी है। उनकी दृष्टि मे ब्राह्मण ही सर्वोच्च वर्ग है। गुण कर्म और स्वभाव से जो परिष्कृत हैं, बुद्धिजीवि हैं उनकी दृष्टि मे वे ब्राह्मण हैं और इसके विपरीत जो समझाने पर भी न समझें वे शूद्र हैं। नीचे हम सत्यार्थ प्रकाश के कुछ प्रसग दे रहे हैं जिससे स्पष्ट हो सके कि ब्राह्मण को महर्षि दयानन्द कितनी मान्यता देते थे।

प्रश्न :—सन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर :—ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो सब वर्णों मे पूर्ण विद्वान, धार्मिक, परोपकार प्रिय मनुष्य है उसी का ब्राह्मण नाम है। बिना पूर्ण विद्या के धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के सन्यास ग्रहण करने मे ससार का विशेष उपकार नही हो सकता। इसलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को सन्यास का अधिकार है, अन्य को नही। यह मनु का प्रमाण भी है :—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विध
पुण्योऽक्षयफल: प्रेत्य राजधर्मं निबोधत। (मनु०)

यह मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहां वर्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोडे पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देने वाला सन्यास धर्म है .. "(पाचवां समुल्लास) "जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है।"।

अब स्वामी अग्निवेश जी स्वय सोचे कि वे कैसा राज्य लाना चाहते हैं ? मगर जैसा कि मैंने ऊपर कहा—जब तक आर्यसमाज का एक सशक्त राजनैतिक मच नही बनता है तब तक हम इसी प्रकार विभिन्न पार्टियों की ही बोली बोलते रहेंगे और इस प्रकार हम प्रखरता और मूल सिद्धान्तो से भी दूर बहुत दूर चले जायेंगे। हालांकि अब बहुत देर हो चुकी है मगर फिर भी यदि एकजुट होकर ईमानदारी और पूरी निष्ठा के साथ प्रयास किए जाए तो आज भी आर्यसमाज ऐसा राजनैतिक आधार राष्ट्र के सामने प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकता है जहां पर क्षेत्रवाद, जातिवाद तथा मजहबवाद नहीं बल्कि मानवतावाद होगा। व्यक्तियों के बीच भेद भाव और वैर वैमनस्य की गहरी खाईया खोदने की आवश्यकता नहीं है बल्कि प्यार और सौहार्द के साथ उन्हे एक दूसरे के समीप लाने की आवश्यकता है। शूद्रता नही बल्कि उच्च विचारधाराए ही समष्टि के कल्याण की बात सोच सकती हैं। शूद्रता अछूत नही बल्कि उसे ब्राह्मणत्व के ऊचे शिखर को छूने का पूरा अधिकार है। यही विचारधारा की उत्कृष्टता महर्षि दयानन्द का ब्राह्मणवाद है। आर्यसमाज श्रेष्ठ व्यक्तियो का समाज होने के नाते स्वय ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक है मगर इस शब्द के सकुचित अर्थ करके महर्षि दयानन्द की मान्यताओ से भ्रमित होने की आवश्यकता नही है। किसी छोटी जाति में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मणत्व को प्राप्त नहीं हो सकता ऐसी कोई बात नही है। ऊची जाति में उत्पन्न हुआ कहलाने वाला व्यक्ति अपने नीच कार्यों के कारण शूद्र ही कहलाएगा और ठीक इसी प्रकार छोटी जाति में उत्पन्न हुआ कहलाने वाला व्यक्ति अपने उत्कृष्ट कर्मो के आधार पर ब्राह्मण कहलाएगा। महर्षि दयानन्द की विचारधारा मे जन्मगत जाति को कोई स्थान नहीं है। उन्होने जातियों को उनके कर्मो के आधार पर माना है। आज भी समूची मानवता को हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, चमार, लुहार, ब्राह्मण, कोली, यादव आदि (हजारों ही) में जाति और मजहब के आधार पर बांटने की बात करना महर्षि जी की मान्यता के एकदम विपरीत है। इसी तुष्टीकरण की नीति के कारण ही तो आज कई अनन्त समस्याएं उभरकर राष्ट्र और समाज का अहित कर रही हैं। इन सबसे ऊपर उठकर आर्यसमाज की विचारधारा तो पूर्णतया मानवतावादी है। महर्षि दयानन्द की विचारधारा की उत्कृष्टता को सबसे पहले

(शेष पृष्ठ ५ पर)

सर्वाधिक रोगों की जड़ धूम्रपान व तम्बाकू

— स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती —

"आज के दूषित वातावरण मे धूम्रपान एव मादक पदार्थों का सेवन महज एक आवश्यकता बन गई है। बाल किशोर, युवा, वृद्ध सभी इसको आदर व सम्मान देने लगे हैं। साधारण से साधारण व्यक्ति भी तम्बाकू का प्रयोग अधिक से अधिक करता है। यह अधिकांशत: बीमारियो की जड़ है। तम्बाकू जैसे अनेक मादक पदार्थ आज समाज मे पूजनीय हो गए हैं।"

जब हम प्राचीन सस्कृति की ओर नजर दौड़ाते हैं तो देखते हैं कि वेद, शास्त्र, पुराण, महाभारत रामायण, आदि ग्रथो मे ऋषि महर्षियों के द्वारा लाखो करोड़ों घर मे यज्ञ-हवन की धूमधाम का वृत्तान्त मिलता है। राजा दशरथ जी महाराज स्वयं यज्ञ करते थे। राजा दशरथ द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराने पर ही उनके आंगन में राम, लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न ने जन्म लिया। इससे विदित होता है कि प्राचीन काल मे ऋषि-मुनिजन यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करते थे। इससे बढकर यज्ञ-हवन की और क्या महत्ता होगी।

आज के महात्माओं के विचार हैं कि यज्ञ हवन एक पाखण्ड है और बीड़ी-सिगरेट तथा तम्बाकू आदि पीना ही धर्म है। इन्हे पीना कोई पाप नही। जबकि तम्बाकू के धुएं के कारण लाखों प्रकार की बीमारिया फैल रही हैं। यहा सिगरेट, सिगार के गन्दे धुए फैलाने वाले मनुष्य पशुओ को भी मात कर रहे हैं। इन तम्बाकू, सिगरेट के धुए ने घरो से यज्ञ हवन के सुगधित धुएं को विदा कर दिया और मनुष्य को झूठा-खाने-पीने वाला चटोरा कुत्ता बना दिया है। इन्होने दिन-रात तम्बाकू खाने पीने तथा सूंघने का एक रिवाज बना लिया है।

इन्हें तनिक भी चैन नही, सोते, जागते, उठते बैठते, खाते-पीते यहां तक कि शौचादि क्रिया करते समय भी बाज नही आते। मौत मे, विवाह मे, मन्दिर मे, तीर्थ में सभा पचायतो मे भी बीडी हुक्का व सिगरेट का विषैला धुआ छोड़ा जाता है। इसे मांग कर पीयेंगे, उधार लेकर पीयेंगे, पीयेंगे अवश्य चाहे कुछ भी हो जाए। इन तम्बाकू पीने वालों पर काला धुए का ऐसा दुष्प्रभाव पड़ा कि बिल्कुल कठोर हृदय हो गया। जवान बेटे की लाश सामने पड़ी है फिर भी मुह में तम्बाकू की चिलम लगी हुई है। सारा परिवार शोक सतप्त है कुल दीपक बुझ गया किन्तु अभी तम्बाकू की आंच ठण्डी नही हुई।

राम और कृष्ण के भक्त पुजारी, पण्डे, साधु, ब्राह्मण आदि सभी मन्दिर में ही बैठे इस धुएं का आनन्द ले रहे हैं।

सरकार भी इनके प्रयोग को बढावा देती है। बीड़ी सिगरेट तम्बाकू का अनेकों प्रकार से विज्ञापन दिया जाता है। पीने वालो को प्रोत्साहन दिया जाता है। साधु समाज इससे ज्यादा प्रभावित है। इन्हे इसके पिए बिना शौच ही नहीं उतरती। तमाम दानियों का दिया धन इन धूम्रपान एव मादक द्रव्यो में उड़ाया जाता है। जिसे अमृतपान कहा जाता है।

मैं एक सज्जन की सुपुत्री की शादी में विवाह सस्कार कराने के लिए गया था। (जब मैं सन्यासी नहीं था) वहां एक पौराणिक पण्डित भी आए हुए थे। वह हवन पर बैठा था और कभी-२ मत्रोच्चारण भी करता था। उन्होंने हवन के मध्य ही यज्ञ कुण्ड से सिगरेट सुलगा ली और पीने लगे। यह दृश्य देखकर मुझ से न रहा गया। मैंने उन्हे बहुत कुछ कह कर वहां से उठा दिया। अब आप ही विचार करें कि यह पागलपन नहीं तो और क्या है। जबकि सद्ग्रन्थों में लिखा है :—

धूम्रपान रत विप्र, दान कुर्वन्ति ये नरा:।
दातारो नरक यान्ति ब्राह्मणोऽपि ग्राम शूकर:॥

इसलिए धूम्रपान (तम्बाकू) से जितना बचा जाए उतना ही अच्छा है। अपने इस मानव जीवन को धूल में न मिलाए। तम्बाकू, बीडी सिगरेट को हाथ न लगाए। देश को बीमारियों से बचाएं और देश को स्वर्ग बनाएं। स्वय बचें, औरो को बचाएं।

अधिष्ठाता, वेद प्रचार मडल
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

महर्षि दयानन्द का...

(पृष्ठ ४ का शेष)

उनके अनुयायियों को समझने की आवश्यकता है और उसके बाद सभी लोगों तक उसे पहुंचाने की आवश्यकता है। अपनी क्षुद्र भावनाओं और ऐषणाओ की तुष्टि को समक्ष रखकर दयानन्द की सार्वभौमिक दार्शनिकता को तोड़ने मोड़ने की आवश्यकता नहीं है। उनकी विचारधारा स्वयं पावनता और मानवता का प्रतीक है। उसी पावन विचारधारा को यदि हम आज की राजनीति में प्रवाहित करने मे सक्षम हो जाते हैं तो आतकवाद, मजहबवाद, क्षेत्रवाद और जातिवाद के अपवित्र स्रोत स्वयमेव सूख जायेंगे। यही आर्यत्व है। इसी का स्वप्न महर्षि दयानन्द जी ने "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के रूप में देखा था। वे आर्य साम्राज्य चाहते थे अनार्य नहीं। देखना यह है कि हम संगठित होकर कब इस दिशा में कदम उठाते हैं। यदि हम अब भी नहीं उठे तो उठने का शायद ही कभी अवसर मिले क्योंकि राष्ट्र की स्थिति दिन प्रतिदिन अत्यधिक चिन्तनीय बनती जा रही है।

१६०/एस-३ सुन्दर नगर (हि० प्र०)

विदेशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध : कैसे बनें, कैसे बढ़ें ?

विश्व मे ऐसे अनेक देश हैं जहाँ पर हिन्दू काफी बडी सख्या मे रहते हैं। आप अथवा आपके मित्र उनके बारे मे कितना जानते हैं ? कुछ देशो मे ऐसे भी लोग रहते हैं (जैसे योरूप मे जिप्सी) जिनके रीति-रिवाज तथा स्वभाव हिन्दुओ से काफी मिलते-जुलते हैं। अनेक विद्वानो ने उनके विषय में अध्ययन किए हैं, कई अन्य विद्वान ऐसा करने का विचार कर रहे हैं।

यदि आपके पास इस विषय की कोई सूचना हो, उसे हमे भेजने की कृपा करे। इस विषय पर जो अध्ययन हुए हैं, कृपया उनके विषय मे सम्बन्धित विद्वानो के नाम तथा उन सस्थाओ के नाम जिन्होने ऐसी किसी योजना को प्रायोजित किया पते सहित हमें भिजवाने का कष्ट करें।

भारत तथा अन्य देशो के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों का विस्तार करने और उनमे सुधार लाने की बडी आवश्यकता है और उसकी गुजाइश भी है। इसे किस प्रकार किया जा सकता है अथवा किया जाना चाहिए। भारत में अन्य देशो के जो लोग पर्यटक के रूप मे अथवा अध्ययन के लिए आते हैं उन्हे हमारे दर्शन, सस्कृति, परम्पराओ, त्यौहारो आदि के विषय मे अधिक जानकारी किस प्रकार मिल सकती है ? हम उनके समक्ष अपनी छवि किस प्रकार अच्छी बना सकते हैं ?

क्या आपके आसपास के क्षेत्र मे ऐसे तीर्थ केन्द्र या शैक्षिक सस्थान हैं जहा विदेशों के लोग काफी सख्या में आते हैं ? वे हमारे बारे में क्या सोचते हैं ?

कृपया उपरोक्त विषय मे जानकारी तथा अपने विचार नीचे लिखे पते पर भेजें।

सुझाव अति उत्तम हो सकते हैं किन्तु उन्हे मूर्त रूप देने के लिए ठोस प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। अत: निवेदन है कि कृपया अपना संक्षिप्त जीवन-वृत्त भेजें तथा इगित करें कि वांछित दिशा में प्रगति के लिए आपका अपना क्या योगदान किस रूप मे हो सकता है।

(हरिबाबू कसल)
केन्द्रीय सयुक्तमत्री
विश्व हिन्दू परिषद, सकटमोचन आश्रम,
रामकृष्णपुरम्-६, नई दिल्ली-२२

चुनाव समाचार

—आर्य समाज साकेत का वार्षिक निर्वाचन दिनाक ३०-६-९१ को वर्ष १९९१-९२ के लिए हुआ। जिनमे निम्नलिखित पदाधिकारी सर्वसम्मति से चुने गये।

प्रधान—श्री सत्यदेव शर्मा
मन्त्री—श्री राजेन्द्र पाल गुप्ता
कोषाध्यक्ष—श्री मनमोहन आहूजा

—आर्य समाज लल्लापुरा, वाराणसी का वार्षिक निर्वाचन १९९१-९२ के लिए श्री जगत नारायण मौर्य की अध्यक्षता मे दिनाक ३०-६-९१ को दिन में आर्य समाज मन्दिर, लल्लापुरा वाराणसी में सम्पन्न हुआ जिसमे निम्नलिखित महानुभाव निर्वाचित हुए—

प्रधान—श्री जगत नारायण मौर्य
मन्त्री—श्री राम शास्त्री
कोषाध्यक्ष—श्री बुद्धदेव आर्य

—बम्बई, रविवार दिनांक ७ जुलाई ९१ को आर्य समाज सान्ताक्रुज का वार्षिक निर्वाचन बड़े सौहार्दपूर्ण वातावरण मे सर्वसम्मति से सम्पन हुआ। इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के उपप्रधान श्री प० राजगुरु जी शर्मा ने सर्व सम्मति से सम्पन्न हुए निर्वाचन की प्रसशा करते हुए समस्त नवनिर्वाचित पदाधिकारियों को धन्यवाद एव आशीर्वाद दिया।

नवीन पदाधिकारी निम्न प्रकार निर्वाचित हुए।

प्रधान—श्री कैप्टिन देवरत्न आर्य
महामन्त्री—श्री नरेन्द्र अम्बालाल पटेल
कोषाध्यक्ष—श्री कस्तूरीलाल मदान

—७ जुलाई १९९१ को रविवारीय यज्ञ एव उपदेश के उपरान्त पूज्या माता श्रीमती दयावती जी बनाती, वानप्रयाश्रम ज्वालापुर (उत्तर प्रदेश) की अध्यक्षता मे आर्य समाज, शालीमार बाग का निर्वाचन हुआ। इस अवसर पर समाज के अन्य सदस्यो के अलावा डा० धर्मपाल जी, प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा एव डा० महेश जी विद्यालकार भी उपस्थित थे। चुनाव मे निम्नलिखित व्यक्ति सर्वसम्मति से पदाधिकारी चुने गये।

प्रधान—श्री परमान्द जी
मन्त्री—श्री भूदेव जी शर्मा
कोषाध्यक्ष—श्री चन्द्रकाश जी तायल

—आर्यसमाज राजौरी गार्डन नई दिल्ली का निर्वाचन निम्न प्रकार सम्पन्न हुआ।

प्रधान—श्री जगदनाथ मेहन्दीरत्ता
मन्त्री—श्री अशोक नांगीया
कोषाध्यक्ष—श्री कर्मवीर भण्डारी

—आर्य समाज अशोक विहार फेज २ दिल्ली का वार्षिक चुनाव विधिवत् सम्पन्न हुआ, जिसमे निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए।

प्रधान—श्री पी० एन० सरीन
मन्त्री—हरिकृष्ण लाल सुनेजा
कोषाध्यक्ष—राजेन्द्रनाथ जुनेजा

—आर्य समाज साकेत की साधारण सभा की ३०-६-९१ को हुई बैठक मे निम्नलिखित पदाधिकारी सर्वसम्मति से चुने गए।

प्रधान—श्री सत्यदेव शर्मा
मन्त्री—श्री राजेन्द्र पाल गुप्त
कोषाध्यक्ष—श्री मनमोहन आहूजा

निवर्तमान प्रधान लक्षीराम कटारिया और श्री कृष्णलाल वाही को सर्वसम्मति से सरक्षक बनाया गया। सारी कार्यवाही सौहार्दपूर्ण वातावरण मे हुई।

प्रवेश सूचना
आर्य महाविद्यालय किरठल
जिला मेरठ में १ जुलाई १९९१ से प्रवेश प्रारम्भ

गुरुकुलीय शुद्ध वातावरण मे अपने बच्चों का शैक्षिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं चारित्रिक विकास तथा उत्तम शिक्षा एव उज्जवल भविष्य के लिए विद्यालय में प्रवेश करायें।

१—यहाँ की सभी परीक्षायें सरकारी नौकरियों एव सभी प्रतियोगिताओं के लिए मान्य है।

२—यहा आश्रम व्यवस्था के अनुसार संस्कृत, हिन्दी, गणित विज्ञान, अंग्रेजी आदि सभी प्राचीन एव आधुनिक विषयो के अध्यापन की पूर्ण व्यवस्था है।

३—विद्यालय को एम० ए० समकक्ष आचार्य तक सरकार द्वारा स्थायी मान्यता प्राप्त है।

४—भोजन एव आवास तथा शिक्षा की उत्तम व्यवस्था है।

५—शास्त्री एव आचार्य श्रेणी के मेधावी एव निष्ठावान छात्रों की भोजन व्यवस्था नि:शुल्क होगी।

नोट—स्थान सीमित हैं। अत: प्रवेश मे शीघ्रता करे। प्रवेश के लिए स्वय मिले।

प्राचार्य : बाबूराम आचार्य
एम० ए०, साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य

राजनयिकों को गायत्री कार्ड की भेंट

विश्व हिन्दू परिषद ने भारत मे स्थित विदेशी राजदूतो को तथा विदेश स्थित विदेशी राजदूतों को तथा विदेश स्थित समस्त भारतीय राजदूतो को "ॐ" तथा गायत्री मन्त्र के सुन्दर छपे कार्ड भेंट किए है। इन कार्डों पर गायत्री मन्त्र का अर्थ छपा हैं और उसका महत्व भी बताया गया है। कई राजदूतों ने इसकी सराहना की है। पोलैण्ड के राजदूतावास तथा सिंगापुर के हाई कमीशन ने ऐसे कुछ और कार्ड मांगे हैं तथा जायर देश के मिनिस्टर-काउन्सिलर ने हिन्दू धर्म की विशेषताओ के विषय मे जानने की इच्छा प्रकट की है। यह कार्ड हिन्दी, अंग्रेजी, भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ तथा अरबी, फारसी, फ्रेंच, रूसी, जर्मन, इटालियन, स्पेनिश तथा तिब्बती आदि विदेशी भाषाओं मे भी उपलब्ध हैं।

मानव कल्याण वेद मार्ग से सम्भव

लुधियाना आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार के तत्वावधान मे एक बहुत बड़ा धार्मिक सम्मेलन नगर की सुविख्यात कालोनी हैबोवाल कला मे सम्पन्न हुआ, जिसमें प० सत्यपाल जी पथिक अमृतसर, तथा प० धर्मदेव जी जालन्धर, वेदप्रकाश शास्त्री और अन्य कई विद्वान सम्मिलित हुए।

पं० धर्मदेव जी एव श्री सत्यपाल जी ने अपने प्रवचनों मे कहा कि आज जो अशान्ति कलह क्लेश, भाई-भाई मे शत्रुता तथा आतंक का जो वातावरण मानव मे उभर रहा है, उसका मुख्य कारण जब से हमने वेद मार्ग से हटना शुरू कर दिया है। ये सब बुराईया प्रबल शक्ति से आगे बढी हैं।

वेद का ही एक ऐसा मार्ग है जो मानव हृदय में इन बुराईयो को दूर करने मे घर-घर मे कलह क्लेश मिटाने मे, आतक का वातावरण दूर करने में पूर्ण समर्थ है। वेद की वाणी परमात्मा की वाणी है। आओ हम सब मिल कर वेद मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा करें। यह एक सच्चा मार्ग है जो विश्व शान्ति स्थापित कर सकता है।

कालौनी तथा साथ के लगते गाव से हिन्दू तथा सिख भाई बड़ी ही सख्या में उपस्थित हुए। सम्मेलन के प्रबन्ध का सारा कार्य भार "ज्ञान विद्या मन्दिर" के शर्मा परिवार की देख-रेख मे हुआ। आर्य समाज के प्रधान श्री रणवीर भाटिया ने सभी आये हुए विद्वानो भजनीकों तथा अन्य सभी का धन्यवाद किया।

अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न

विगत दिवस आर्य समाज धार के तत्वावधान में धार निवासी श्री अवधेश कुमार लाडं का शुभ विवाह रतलाम निवासी कुमारी मोहन महोवया के साथ, जवाहर मार्ग स्थित राम मन्दिर मे, आर्य पुरोहित श्री शरदचन्द्र सुगन्धी के पौरोहित्य में सानन्द सम्पन्न हुआ।

रामपाल शास्त्री योगाचार्य का हालैण्ड में भव्य स्वागत

व्यायाम प्रशिक्षक श्री रामपाल शास्त्री योगाचार्य गत सप्ताह वेद तथा यौगिक क्रिया द्वारा महर्षि दयानन्द के दिव्यसन्देश को फैलाने हालैण्ड पहुंच गए हैं। एमस्तरडेम एयरपोर्ट पर प्रभाकर आर्यसमाज रोटेरडेम के सभापति प० जीवन गणेश एव मन्त्री श्री प० विश्वेश्वर, डा० आनन्द कुमार विरजा प० ग्रेइसन स्वयवर, श्री विश्वानि आदि अनेक गणमान्य व्यक्ति स्वागत के लिए आए थे।

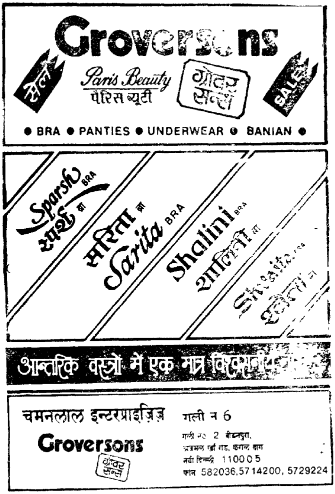
श्री प० विश्वेश्वर जी ने अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे होने पर त्रि-दिवसीय सामवेद परायण-महायज्ञ का आयोजन किया। इस यज्ञ को डा० आनन्द कुमार विरजा, श्री प० ओम्प्रकाश शास्त्री एव रामपाल शास्त्री द्वारा सम्पन्न कराया गया। इस यज्ञ की सफलता के पश्चात् अन्य समाजे भी इस प्रकार के वेद परायण यज्ञ के आयोजन का कार्यक्रम बना रही है। योग शिविर व शक्ति प्रदर्शन के कार्यक्रम भी हो रहे हैं।

'अपना रोजगार चुनिए' अभियान का उद्घाटन

श्री आर के. टक्कर, मुख्य सचिव, दिल्ली ने उप क्षेत्रीय रोजगार कार्यालय, पूसा में 'अपना रोजगार चुनिए" अभियान का उद्घाटन किया। गत वर्षों की तरह इस वर्ष भी इस अभियान का आयोजन रोजगार निदेशालय ने दिल्ली के विभिन्न केन्द्रों मे आयोजित किया है। इस अभियान के दौरान स्कूलो व कालेजो मे पढाई समाप्त करने के उपरान्त छात्र-छात्राओ को उनकी रुचि, योग्यता तथा रोजगार के क्षेत्र मे मांग के अनुसार रोजगार दिलाना है। निरुद्देश्य शिक्षा से युवको मे निराशा बढती है।

इस अभियान का मुख्य उद्देश्य रोजगार तलाशने वाले छात्रो, शिक्षको तथा अभिभावको को शिक्षा, व्यवसायिक तथा व्यक्तिगत परामर्श देना है ताकि नवयुवक व छात्र अपने भविष्य के रोजगार की रूपरेखा अच्छी तरह तैयार कर ले।

यह अभियान ऐसे समय पर आयोजित किया जा रहा है जबकि स्कूलो व कालेजो मे परीक्षाफल घोषित कर दिए गए है तथा अधिकाश छात्र-छात्राए रोजगार की तलाश में हैं। दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्रो तथा पुनर्वास कालोनियो को इस अभियान के अन्तर्गत लाया गया।



200/- रूपये की खरीद पर 1 सुधांशु जी का टेप रिकार्डर कैसेट या तौलिया मुफ्त







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R N No 32387/77 Posted at N.D.P S.O on 18-19-7-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३६

स्व० राजीव गांधी को भावभीनी श्रद्धांजलि

पूर्व प्रधानमंत्री स्व० राजीव गांधी को श्रद्धांजलि अर्पण के लिये आयोजित भजन सध्या मे भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई। भजन सध्या का आयोजन महानगर परिषद् के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम गोयल द्वारा पुराना सचिवालय प्रांगण मे आयोजित किया गया।

प्रारम्भ मे दिवगत आत्मा की शान्ति के लिये दो मिनट का मौन रखा गया।

भजन सध्या मे गान्धर्व महा विद्यालय के विख्यात शास्त्रीय व सगीत कलाकारो ने राग विरागों से सृजित, भक्ति भावना से ओतप्रोत ईश्वर की महिमा को दर्शाने वाले सार गर्भित भजन प्रस्तुत किये। मानवता, प्रेम, करुणा, दया, अहिंसा, मानवीय अस्तित्व और परमोधर्म का सदेश देने वाले व मानव को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने वाले भजन स्वर्गीय राष्ट्र नेता को श्रद्धांजलि अर्पण के लिये प्रस्तुत किये गये।

श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उप-राज्यपाल श्री मारकण्डेय सिंह ने श्री गांधी को राष्ट्र का महान नेता बताते हुए उन्हें राष्ट्रीय एकता शान्ति व धर्मनिर्पेक्षता का प्रतीक बताया। उन्होने कहा कि श्री गांधी भारत को विश्व का एक सशक्त राष्ट्र देखना चाहते थे।

महानगर परिषद् के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम गोयल ने कहा कि श्री राजीव गांधी भारतीय सभ्यता व संस्कृति के सच्चे प्रतिरूप थे। वे महान राष्ट्रभक्त, निर्भीक और बहादुर राजनेता थे। उन्होंने देश की अखण्डता और एकता के लिये अपने को राष्ट्र पर न्यौछावर कर दिया।

श्री गोयल ने कहा कि उन्होंने राष्ट्र के निर्माण में युवाओ की भागीदारी के लिये उन्हें १८ वर्ष में मताधिकार का अधिकार प्राप्त कराया। श्री गाधी की देश को इक्कीसवीं सदी मे ले जाने की परिकल्पना नई पीढ़ी में वैज्ञानिक व तकनीकी ज्ञान के लिये उन्हें प्रेरित करना था। श्री गोयल ने कहा कि श्री गांधी गुट निर्पेक्ष आदोलन से जुड़े, उसे नेतृत्व दिया व गरीब देशों की सशक्त आवाज बनकर विश्व के सम्मुख उनके अधिकारों को लेकर प्रस्तुत हुए।

समारोह मे स्वतन्त्रता सैनानियो, प्रबुद्ध नागरिकों, दिल्ली प्रशासन के कर्मचारियो व अन्य गणमान्य व्यक्तियों ने भी श्री राजीव गांधी को श्रद्धांजलि अर्पित की।



शाखा कार्यालय ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३८	रविवार, २८ जुलाई, १९९१	विक्रमी सम्वत् २०४८	दयानन्दाब्द : १६६	सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०
मूल्य एक प्रति ५० पैसे	वार्षिक—२५ रुपये	आजीवन २५० रुपये	विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर	दूरभाष : ३१०१५०

पंजाब व कश्मीर के मामले में सरकार कठोर कदम उठाये

आर्यसमाज के शिष्टमण्डल की प्रधानमंत्री से मांग

दिल्ली १९ जुलाई। गत १९ जुलाई को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के नेतृत्व मे आर्य समाज के एक शिष्ट मण्डल ने प्रधान मन्त्री श्री पी० वी० नरसिंह राव से भेंट की। शिष्ट मण्डल ने प्रधान मन्त्री जी द्वारा अपनी सरकार के लिए विश्वास मत प्राप्त करने पर उन्हें बधाई देते हुए उन्हे सुझाव दिया कि उनकी सरकार देश के हित मे जिस बात को ठीक समझे, उसे लागू करने मे किसी प्रकार का सकोच न करें। स्वामी जी ने यह भी सुझाव दिया कि जम्मू काश्मीर और पंजाब के मामले मे सरकार को कठोर कदम उठाने चाहिए, इसके लिए आवश्यक है कि पंजाब व कश्मीर के समूचे सीमा क्षेत्र मे ५ मील चौडी सुरक्षा पट्टी का निर्माण करके इन राज्यो मे ४१ लाख भू० पू० फौजी परिवारों को हथियारबन्द करके बसाया जाये। काश्मीर व पंजाब आदि से जो हिन्दू इधर उधर विस्थापित जीवन यापन कर रहे हैं, सरकार उनमे आत्म विश्वास पैदा करे और ऐसा वातावरण प्रदान करे कि वे भय मुक्त होकर अपने-अपने घरो को पुन लौट सकें।

स्वामी जी ने यह भी बताया कि गत ६ वर्ष पूर्व ही उन्होने सुरक्षा पट्टी के निर्माण और भू० पू० सैनिकों को बसाये जाने की माग तत्कालीन प्रधान मन्त्री स्व० राजीव गाधी से की थी।

शिष्ट मण्डल ने विश्वास व्यक्त किया कि जिस प्रकार वर्तमान केन्द्र सरकार को लोक सभा के अध्यक्ष के निर्वाचन मे विपक्षी दलो का सहयोग मिला है, उसी प्रकार राष्ट्रहित के हर साहसिक कार्य मे प्रधान मन्त्री जी को राष्ट्रवादी जनता तथा राजनैतिक दलो का पूरा समर्थन मिलता रहेगा।

प्रधान मन्त्री जी ने शिष्ट मण्डल के सुझावों को गम्भीरता से सुना और उन पर विचार करने का आश्वासन दिया।

प्रचार विभाग
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

आर्यसमाज को रक्षा नहीं, तपस्वीयों की आवश्यता है

हमे आश्चर्य हुआ कि 'आर्य समाज' के छोटे बड़े रचनात्मक कार्यक्रमों का विवरण प्रकाशन करने मे अति सकोची कुछ पत्रों ने कथित आर्य समाज रक्षा (या सहार) समिति' के १५-७-९१ के अविवेकी नाटक का प्रकाशन भार व्यर्थ अथवा द्वेषवश उठाया है। आर्य समाज से निष्कासित व्यक्तियो को भी इसी भावना से शायद ये पत्र उकसाते हैं।

आर्य समाज पूर्णत: एक स्वयसेवी सस्थागत आन्दोलन है। इसके कार्यकर्ताओ में तन-मन-धन समर्पण के स्तर के अनुरूप ही आर्यसमाज का व्यापक कार्य बल निर्मित होता है। नेतृत्व या सस्था की पृथक कोई शक्ति नही होती है। आर्य समाज को विश्व कल्याण हेतु अधिक शक्तिशाली बनाने की महत्ती आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु यह शक्ति पदो से नही कार्यकर्ताओ के तप त्याग, सेवा व बलिदानो से मिलती रही है। प्रत्येक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि स्वयं मे स्वप्रतिष्ठा अर्जन करे। उसे पदों के पीछे नहीं दौड़ना है पद उसके पीछे दौड़ेंगे। अत: अपुष्ट आरोपो के प्रचार द्वारा चरित्र हनन मे शक्ति व्यर्थ नहीं गवाए, यदि कोई चाहे तो आरोपों की छान बीन आर्य समाज की "न्याय सभा" के माध्यम से ही से कराई जाए व महर्षि दयानन्द की टीस को समझा जाए कि—'आपस की फूट से कौरव पांडव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया परन्तु अब तक भी वह रोग पीछे लगा है, न जाने कब यह भयकर राक्षस कभी छूटेगा या आर्यो को सब सुखों से छुडा कर दु:ख सागर में डूबा मारेगा। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यो मे से नष्ट हो जावें (सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास)।

प० गुरुदत्त विद्यार्थी

वह प्रखर वक्ता अतुल विद्वान् वह साधक निराला।
दीप सम तिल-तिल जला, जो दे गया जग को उजाला॥
सूर्य से लेकर प्रभा ज्यों इक किरण उतरी धरा पर।
मुस्कराये फूल महका चमन, चहके विहग् स्वर भर॥
साधना के मार्ग में जो जल गया गुमनाम हो कर।
पा गया जीवन ऋषि मार्ग मे सर्वस्व खो कर॥
अथक राही, जिसके दृढ पद-चाप को आंका था पथ ने।
जिस की विह्वलता को समझा हसराज और लाजपत ने॥
एक पावक पुज पावन, जो ज्वलन मे तीव्रतम था.
अपनी प्रतिभा मे अनूठा, साधना मे जो अक्षम था॥
जो जियो थोडे से दिन जितना जिया जलता रहा वह।
रोशनी देता रहा, पीड़ाओ में पलता रहा वह॥
आर्य जाति के गगन पर इक सितारा जगमगाया।
दे के सत्यालोक उसने, आज था विश्राम पाया॥
साधना रत्त उस तपस्वी सन्त को शत् शत् नमन हो।
उस गुरुवर, महर्षि के भक्त को शत् शत् नमन हो।

—उत्तम चन्द्र शरर

मार्गदर्शक—डा० धर्मपाल   प्र० सम्पादक—सूर्यदेव   सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री   व्यवस्थापक— सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

अक्षय सत्यनारायण व्रत कथा-२

— पं० देवनारायण भारद्वाज —

सत्यनारायण कौन है ?

नारा का अर्थ है–जल व जीव–अयन=घर अर्थात् जो समस्त जल व जीव का घर है। जिसमे सभी कुछ समाया हुआ है। वह कौन है? वह है परमेश्वर, परमेश्वर प्रभु परमात्मा। वह कैसा? सत्य है जो सदा सर्वदा एक सा रहने वाला, जो न जन्म लेता है और न मरता है और जो न युवा होता है न बूढा होता हैं। सदा एक रूप रहता है—वही सत्यनारायण है। उसको प्राप्त करने का मन से दृढ़ सकल्प करना ही सत्य नारायण का व्रत है। अन्न त्याग भूखे रहने के नाम पर ठूम-ठूम कर फलाहार खाना व्रत नही है। किसी सकल्प को करना तथा उसकी पूर्ति मे भूखा भी रहना पड जाये, तो उसे पूरा करना यही व्रत है। एक कोई माता व्रती रही, उसके चार पुत्र थे। एक पुत्र ने आधा किलो रबडी बाजार से भेजी, वह माता ने प्रात. आठ बजे ही खाली। दूसरे पुत्र ने एक दर्जन केले भेजे वे माता जी ने ११ बजे खा लिए, तीसरे पुत्र ने आधा किलो मिठाई भेजी, वह माता जी ने २ बजे खाली और चौथे बेटे ने कूटू की पकौडी भेजी, वे भी माता जी ने साय काल को खाली। रात्रि मे सभी पुत्र जब घर आये तो उन्होने माता जी से व्रत का समाचार जानने की इच्छा व्यक्त की। माता जी ने अपने आज के पूर्ण भोजन का विवरण सुना दिया तभी एक लडका छत पर चढ कर चिल्लाने लगा—मोहल्ले वालो ! सावधान ! अपने सामान को सम्भाल कर रखना–मेरी माता जी का आज व्रत है।

सत्यनारायण भगवान को जानने का हमने व्रत लिया है, तो सब से पहले उसका नाम जाने। इनके अनेक नाम है। किसी के भी नाम चार प्रकार के होते (१) निज नाम (२) सम्बन्ध वाचक नाम (३) कर्म वाचक (४) गुण वाचक, किसी का नाम ओ३म प्रकाश है, जिसका सर्वत्र लिखा पढी मे प्रयोग होता है—यह उसका निज नाम है। वह पिता, पुत्र, भाई, पति आदि सम्बन्धो के कारण, इन नामो से भी बुलाया जाता है। वह अध्यापक, अधिकारी, सेवक अभियन्ता, चिकित्सक, आदि नामो से अपने कार्यो के अनुसार भी पुकारा जाता है। इसी प्रकार किसी विशेष गुण कवि, लेखक, परिश्रम सगीत, शील आदि गुणो के कारण भी याद किया जाता है। इन सब नामो के होते हुए भी उसका निज नाम सर्वोपरि रहता है क्योकि उसका सर्वत्र व्यवहार होता है। इसी प्रकार सत्यनारायण भगवान को भी सम्बन्ध के कारण बन्धु, जनिता, जनक, पालन करने से पिता, मान व प्रेम करने से माता, रक्षाकारी होने से पति और स्नेह करने से मित्र कहते है।

सत्यनारायण भगवान के कार्य द्योतक नाम जैसे विश्व का रचियता होने से विश्वकर्मा, सूर्यादि लोकों को अपने अन्दर धारण करने से हिरण्य गर्भ, चराचर जगत को गति देने से वायु, न्यायकारी होने से अर्यमा, प्रकाश कर्ता होने से सूर्य। सत्यनारायण के गुण वाचक नाम भी है, जैसे आकाशवत व्यापक होने से खम, अविनाशि होने से अक्षर, सबका स्वामी होने से ईश्वर, स्वामियो का स्वामी होने से परमेश्वर, सब आत्माओ का स्वामी होने से परमात्मा, सबसे बडा होने से ब्रह्म, देवो का देव होने से महादेव, कल्याणकारी होने से शिव, दुष्टो को रुलाने के कारण रुद्र गुणो का पति होने से गणपति–गणेश, ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्र नाम है। उसके असख्य नाम होते हुए भी उसका मुख्य निज नाम ओ३म् है। ओ खम्ब्रह्म (यजु०, ४० १७) ओ३म् क्रतो स्मर (यजु०, ४०.१५) ओ३म् प्रतिष्ठ (यजु०, २,१३) अर्थात् आकाश वत व्यापक ओ३म् है। ओ३म् का स्मरण करो व ओ३म् मे समाहित हो, कह कर वेद ने सत्यनारायण भगवान का मुख्य नाम बतलाया है। हमे इसी का स्मरण, ध्यान और चिन्तन करना चाहिए। परमात्मा के सहस्रो नाम हैं वे नाम सृष्टि के पदार्थों के भी है। मुख्य नाम ओ३म् ऐसा है जो केवल ईश्वर का है, अन्य किसी वस्तु का नही है।

द्वितीय अध्याय

सत्यनारायण का स्वरूप एवं निवास

ऋगवेद की एक सूक्ति है "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (प्रथम मण्डल सूक्ति १६४ मन्त्र ४६) अर्थात (एकम् सत) एक ही सत्य स्वरूप को एक ही सत्यनारायण को (विप्रा) ज्ञानी जन (बहुधा) बहुत प्रकार से अनेक नामों से (वदन्ति) पुकारते हैं। किसी की पहचान करने के लिए उसके नाम के बाद उसके स्वरूप को जानना आवश्यक हैं। परम पिता परमात्मा विश्वकर्मा सत्यनारायण भगवान का मुख्य नाम तो हमे पता चल गया ओ३म्। यही उसका सर्वोत्तम नाम है। जो अ, उ, म् तीन अक्षरो से मिल कर बना है। यह ओ३म् अकार से विराट, अग्नि, विश्वादि उकार से हिरण्यगर्भ, वायु, और तैजसादि, मकार से ईश्वर, की आदित्य और प्रज्ञादि नामो का वाचक एव ग्राहक है।

> आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनव ।
> ता यदस्यायन पूर्वतेन नायण स्मृति: ॥ मनु अ० १, १०

जल और जीवो का नाम नारा है, वे अयन अर्थात् निवास स्थान है जिसका इसलिए सब जीवो मे व्यापक परमात्मा का नाम नारायण है। इसी सत्यनारायण भगवान के स्वरूप का वर्णन यजुर्वेद के पुरुष सूक्त मे किया गया है।

> सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष. सहस्रपात् ।
> स भूमि। सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठ दशाङ्गुलम ॥ (यजु० ३१।१)

अर्थात् वह सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपात है। हे मनुष्यो जो (सहस्रशीर्षो) सब प्राणियो के हजारो नेत्र और (सहस्रपात) असख्य पाद जिसके बीच में है, ऐसा (पुरुष) सर्वत्र परिपूर्ण जगदीश्वर है। (स:) वह (सर्वत) सब देशो से (भूमिम) भूगोल मे (स्पृत्वा) सब ओर से व्याप्त होके (दशाङ्गुलम्) पाँच स्थूल भूत, पांच सूक्ष्म भूत ये दश जिसके अवयन हैं उस सब जगत को (अति अतिष्ठत्) उलघन कर स्थित होता अर्थात् सबसे पृथक भी स्थित होता है।

पुरुष उसको कहते हे कि जो इस सब जगत में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत को पूर्ण कर रखा है। पुर कहते है ब्रह्माड और शरीर को, उसमे जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। सहस्र नाम सम्पूर्ण जगत का और असख्यात का भी नाम है, सो जिसके बीच मे सब जगत के असख्यात सिर, आंख, और पग ठहर रहे हैं उस को सहस्र शीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात भी कहते है। क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच मे सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात किसी के साथ बधता नही है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (स भूमि सर्वत स्पृत्वा) वह पुरुष सब जगत से पूर्ण होके पृथ्वी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठ दशाङ्गुलम्) दशागुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अङ्गुलि शब्द अग का अवयव वाची है। पाच स्थूल और पाच सूक्ष्म भूत ये दोनो मिल कर जगत के अवयव होते हैं। तथा पाच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ये चार और दशवा जीव शरीर मे जो हृदय देश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनो मे व्यापक होके इनके चारो ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इस से वह पुरुष कहाता है।

> वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्य वर्णम् तमस परस्तात् ।
> तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य. पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१।१८

हे जिज्ञासु पुरुष (अहम्) मैं जिस (एतम) इस पूर्वोक्त (महान्तम्) बडे-बडे गुणों से युक्त (आदित्य वर्णम्) सूर्य के तुल्य प्रकाश स्वरूप (तमस:) अन्धकार या अज्ञान से (परस्तात) पृथक वर्तमान (पुरुषम्) स्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (वेद) जानता हू। (तम् एव) उसी को (विदित्वा) जान के आप (मृत्युम) दु:ख दाई मरण को (अति, एति) उल्लघन कर जाते हो, किन्तु [अन्य.] इससे भिन्न [पन्था] मार्ग [अयनाय] अभीष्ठ स्थान मोक्ष के लिए [न विद्यते] नहीं विद्यमान है।

(क्रमश:)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

दोराई स्वामी की रिहाई



सरकार पर्याप्त समय से यह प्रयास कर रही है कि भारतीय तेल निगम के कार्यकारी निदेशक दोराई स्वामी को काश्मीर के जगजुओं से रिहा करा लिया जाए। परन्तु वह अभी तक भी अपने प्रयास मे सफल नही हो पाई है। अपहर्ताओ ने उनके रिहा किए जाने की समय सीमा को अनिश्चित काल तक के लिए बढा दिया है और हमारे सरकारी अधिकारी अपहर्त्ताओ से सन्तोषजनक जवाब की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पिछली कुछ घटनाए इस बात की सशक्त प्रमाण है कि अपहरणकर्त्ताओ के सामने सरकार को झुकना पडा है। यह नीति है। यह राजनीति है। पिछले गृह मन्त्री की बेटी को रिहा कराने के लिए कुछ आतकवादियो को रिहा किया गया था। आन्ध्र मे एक केन्द्रीय मन्त्री के पुत्र को रिहा कराने के लिए कुछ अपहरणकर्त्ताओ के साथियो को रिहा किया गया था। पजाब के सम्बन्ध मे समझौतो के समय ऐसे लोगों को रिहा किया गया जिनके कारण बाद मे वातावरण में विषाक्तता और अधिक बढ गई है। जब असम का समझौता हुआ, तब भी तो यही हुआ था। सेठ के बेटे का अपहरण होता है तो अपहरणकर्त्ताओ को पैसा चाहिए। राजनेताओ अथवा उनके बेटे का अपहरण होता है, तो अपहरणकर्त्ता अपने बेटे या साथी बदले मे मांगते हैं।

अब दोराई स्वामी के लिए क्यो इसी आधार पर कार्यवाही नही हो रही है, समस्या तो यह है कि इस बात की भी जानकारी नही है कि दोराई स्वामी सकुशल है अथवा नही। यह पता लगा है कि समझौता यह था कि दोराई स्वामी की रिहाई करने के लिए तीन जगजू पहले और दो बाद मे छोड़े जायेंगे। पर अब जगजुओं की सूची के कुछ नाम बदल गए हैं। कुछ गम्भीर आतकवादियो को उस सूची मे जोडा जा रहा है।

अब सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि समझौते की नीति मे कोई परिवर्तन न किया जाए। और श्री दोराई स्वामी की कुशलता का पुष्ट प्रमाण मिले।

आश्चर्य है कि देश के हर कोने मे स्थिति खराब होती जा रही है। सरकार कोई ठोस कार्य नही करती। आर्य समाज के सर्वोच्च नेता श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के सुरक्षा पट्टी निर्माण के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिए जाने पर भी सरकार कोई सशक्त कार्यवाही नही कर पा रही है। यदि राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की रक्षा करनी है तो सरकार को ठोस कार्यवाही करनी ही होगी।

—डा० धर्मपाल

● अपमानकर्त्ता का अपमान करने से उसका सुधार नहीं होता, किन्तु सम्मान देने से वह सुधर जाता है। जैसे आग में आग डालने से वह शान्त नही होती, ऐसे ही द्वेषी की द्वेष बुद्धि, उसके साथ द्वेष करने से दूर नही हो सकती। अग्नि शान्त करने का साधन जल है। इसी प्रकार द्वेष को मिटाने का साधन शान्ति धारण करना है।

● जिन परमात्मा देव ने मनुष्यों की आंखे आदि इन्द्रियो के लिए सूर्यादि सहायक पदार्थ पैदा किए हैं, यह हो ही नहीं सकता कि उसने मनुष्य के मस्तिष्क को उज्ज्वल और उन्नत करने के लिए ज्ञान न दिया हो।

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२१ जुलाई, ९१ के अंक से आगे)

दयानन्द विषयक अन्य शोध कार्य की चर्चा मेरे साहित्य लेखन के प्रसग मे यथा स्थान हुई है।

आर्य समाज के नेतृत्व तथा विद्वत् वर्ग से मेरा सम्पर्क—

आर्य समाज की पुरानी तथा नई पीढी के प्राय: सभी नेताओ, विद्वानो पण्डितो, उपदेशको, पत्रकारो, प्रचारको तथा साधु सन्यासियो से मेरे सौहार्द पूर्ण स्नेह सम्बन्ध रहे। अपने से बड़ो का आशीर्वाद, समवयस्को का स्नेह, एव शुभ कामनाए तथा अपने से छोटो से सम्मान मुझे सदा ही मिलता रहा। सार्वदेशिक सभा के विगत प्रधान स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी ध्रुवानन्द जी, श्री प्रताप सिंह शूर जी बल्लभदास डा० डी० राम तथा लाला रामगोपाल शालवाले (वर्तमान स्वामी आनन्दबोध) सभी से मेरी घनिष्टता रही। पजाब के विख्यात आर्य नेता महाशय कृष्ण से यद्यपि मेरी प्रत्यक्ष भेट एक ही बार हुई, किन्तु मुझे यह जान कर सुखद आश्चर्य हुआ कि वे मेरे लेखन से सुपरिचित थे। प० बुद्धदेव विद्यालकार तथा प० धर्मदेव विद्यावाचस्पति मेरे प्रति अत्यन्त कृपा भाव रखते थे। पण्डित बुद्धदेव जी का एक सस्मरण यहां उल्लिखित करना समीचीन होगा। मैं एक बार सार्वदेशिक सभा के कार्यालय दयानन्द भवन की सीढिया चढ रहा था, जबकि पण्डित बुधदेव ऊपर की मन्जिल से नीचे उतर रहे थे। बात काफी पुरानी है। मैंने नमस्ते की तो सोचा कि शायद पण्डित जी ने मुझे पहचाना नही होगा। अत: मैंने उनसे तुरन्त पूछ लिया—क्या आप मुझे पहचान गये? इस पर पण्डित बुद्धदेव जी का मार्मिक उत्तर इस प्रकार आया, "अरे जिनके कन्धों पर हमे जाना है, भला उन्हे हम क्यो नही पहचानेंगे।" पण्डित गगाप्रसाद उपाध्याय से भी मेरी भेट एक बार ही हुई, उस समय जब दयानन्द दीक्षा शताब्दी के महोत्सव पर उन्हे सम्मानित किया गया था। मेरे लेखन कार्य से तो वे परिचित ही थे। मेरी आयु उस समय ३१ वर्ष की थी। मेरे लेखन कर्म मे समाविष्ट गुरुतर तथा गम्भीर विषयो से परिचित होने के कारण मुझे देखते ही वे बोल पडे—"तुम्हारे लेखो को पढने से तो ऐसा लगता था, तुम कोई बूढे आदमी होगे, किन्तु तुम तो युवा ही हो।" मैंने राजगुरु पण्डित धुरेन्द्र शास्त्री, पण्डित नरदेव शास्त्री, पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पण्डित गगाप्रसाद उपाध्याय, पण्डित आनन्द प्रियजी, पण्डित युधिष्ठर जी मीमासक तथा पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री से हुई अपनी मुलाकातो का वर्णन इन्टरव्यूशैली के सस्मरणात्मक निबन्ध मे लिखा है। इनका साहित्यिक महत्व तो है ही, आर्य समाजी साहित्य मे सस्मरण लेखन की विधा को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से भी ये उल्लेखनीय माने गए। यदि मैं आर्य समाज के नेताओ तथा विद्वत् वर्ग से अपने सस्मरणो तथा सम्बन्धो का विस्तार पूर्वक उल्लेख करू तो यह अपने आप में एक पृथक पुस्तक ही बन जायेगी। महात्मा आनन्द स्वामी जी, स्वामी ब्रह्ममुनि जी स्वामी सत्यप्रकाश जी, स्वामी ओमानन्द जी स्वामी सर्वानन्द जी स्वामी दीक्षानन्द जी, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी आदि सन्यासियो, सर्वश्री पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री, पण्डित नरेन्द्र जी, पण्डित ओमप्रकाश शास्त्री (खतोली) पण्डित वाचस्पति शास्त्री, आचार्य विश्वश्रवा आदि गणनीय उपदेशको से भी मुझे सदा प्रेम, सद्भावना एव स्नेह मिलता रहा है। भजनोपदेशक वर्ग मे सर्वश्री प्रकाशचन्द्र जी, पण्डित पन्नालाल जी पीयूष, श्री ओमप्रकाश जी वर्मा, तथा अन्य सभी मेरे प्रति आदर एव प्रेम रखते है। डा० ज्वलन्तकुमार शास्त्री, प्रो० धर्मवीर, पण्डित कुशलदेव शास्त्री तथा प्रो० दयाल जी आर्य का स्नेह और सदभाव मेरा सम्बल रहा है।

इसी प्रसग मे देश की सैकड़ो आर्यसमाजो के अधिकारी, कार्यकर्ता तथा मेरे लेखन तथा वक्तृत्व कर्म के प्रशंसको के स्नेह, सद्भाव और सौजन्यपूर्ण व्यवहार का उल्लेख करने के लिए तो पृथक् स्थान एव समय की अपेक्षा होगी।

(क्रमश:)

पंजाब में आर्य समाज का घोषणा पत्र

(९-६-९१ के बृहद् सम्मेलन में घोषित)

आर्य समाज राजनीतिक दल नही है। इसलिए यह राजनीतिक गतिविधियो में सक्रिय भाग नहीं लेता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आर्य समाज को देश की राजनीतिक स्थिति में कोई रुचि ही नही है। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में एक पूरा समुल्लास राजनीति को समर्पित किया है। अपने आध्यात्मिक व अनुभवी कार्य की शिक्षाओं से प्रेरित होकर ही आर्य समाजियो ने स्वतन्त्रता के संघर्ष में सक्रिय भाग लिया था। हजारो आर्यसमाजियो ने अपने आपको गिरफ्तारी के लिए पेश किया था। और कई नवयुवको ने तो फांसी के फंदे को भी चूम लिया था। ऐसी गौरवमय पृष्ठभूमि वाला आर्यसमाज देश में घटित होने वाली घटनाओं के प्रति मूकदर्शक बन कर नही रह सकता। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का अधिकार क्षेत्र केवल पांच नदियो की धरती तक ही सीमित है। अत. आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब अपने राज्य की वर्तमान घटनाओं मे विशेष रुचि रखती है।

पंजाब के वर्तमान जनसमुदाय के एक भाग की आतंकवादी और अलगाववादी गतिविधियो की उपेक्षा नही की जा सकती। इसलिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब निकट भविष्य मे होने वाले चुनावो के प्रति पूरी रुचि रखती है। यद्यपि सभा चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े नहीं कर रही परन्तु उन उम्मीदवारो का समर्थन करेगी जो इसके निम्नलिखित १२ सूत्रीय कार्यक्रम को मानने के लिए तैयार होंगे। हम आशा करते हैं कि यह उम्मीदवार चुने जाने के पश्चात् पंजाब विधानसभा मे या लोकसभा मे इन मांगो का समर्थन करेंगे। ताकि एक नये गतिशील समृद्ध और समर्थ पंजाब का पुनरुत्थान किया जा सके। ऐसा पंजाब जो भारत की स्वतन्त्रता प्रभुसत्ता और एकता की रक्षा के लिए खड्ग का काम कर सके। अत: आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब मांग करती है कि :—

१ पंजाबी भाषा को प्रमुख सरकारी भाषा के रूप मे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। और हिन्दी को राज्य की दूसरी राज्य भाषा के रूप में अपनाया जाना चाहिए। जैसा कि सरकारी भाषा अधिनियम १९६७ मे कहा गया है।

२ सामाजिक राजनीतिक और सरकारी क्षेत्रो मे छूआछूत पूर्णरूपेण समाप्त हो और सरकारी नौकरियो मे आरक्षण केवल आर्थिक आधार पर पिछड़ी हुई सब श्रेणियों के लिए निश्चित होना चाहिए।

३ शैक्षणिक व प्रशासनिक विषयो मे संस्कृत को पूरी सुरक्षा व प्रोत्साहन दिया जाए।

४ स्नातक स्तर तक सभी को नि:शुल्क शिक्षा दी जाए।

५. देश की प्रभुसत्ता स्वतन्त्रता और एकता की सुरक्षा के लिए सभी कानूनी और प्रशासनिक कदम उठाए जाए।

६ बिक्री कर के वर्तमान ढांचे का पुन: निरीक्षण किया जाए और उसे जितना सम्भव हो सके सरल और लचकदार बनाने के लिए कदम उठाए जाएं ताकि व्यापारी वर्ग राज्य के वाणिज्य विकास मे अपना उचित योगदान दे सके।

७. कृषि के विकास के लिए एक निगम की स्थापना की जाए तथा खेती-बाड़ी में संलग्न लोग कृषि के सम्बर्द्धन और उस के मण्डीकरण को नियमबद्ध बनाने के योग्य हो सके।

८ उद्योगो के विकास और व्यापारिक प्रसार के लिए एक उद्योगिक विकास बोर्ड की स्थापना की जाए।

९. सरकार ऐसे पग उठाए जिस मे हिन्दू और सिखो में विद्यमान सांझी कड़ियों के प्रचार से दोनो समुदायो की सांस्कृतिक सामाजिक और राजनैतिक एकता को प्रोत्साहित किया जा सके।

१०. आर्यसमाज की सम्मति मे शराब, सिगरेट व दूसरी नशीली वस्तुओ का प्रयोग किसी भी रूप मे एक राष्ट्र के शारीरिक व सामाजिक प्रगति के मार्ग मे सब से बड़ी रुकावट होती है। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब सरकार से यह मांग करती है कि सिगरेट, शराब व दूसरी नशीली वस्तुओ की बिक्री पंजाब में पूर्णतया बन्द की जाए।

११. महिलाएं हमारे समाज का अविभाज्य और सम्माननीय अंग हैं केवल उन्नति ही नही अपितु हमारा अस्तित्व भी उन्हीं पर निर्भर करता है। इसी कारण आर्य समाज ने सदैव ही नारी की सामाजिक और शैक्षणिक प्रगति को उत्साहित किया है। आर्य समाज अनुभव करता है कि महिलाएं अत्यन्त गम्भीर व सामाजिक समस्याओं का सामना कर रही हैं। यथा दहेज गैर कानूनी और कई बार अवांछित तलाक नवविवाहिता दुल्हनो को जलाना, विधवाओ की आर्थिक व सामाजिक समस्याएं और अन्य कई कठिनाईयां हैं। अत: आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब मांग करती है कि सरकार महिलाओ की इन समस्याओ पर विचार करने के लिए एक कमेटी बनाए जो इनके समाधान के सुझाव दे जिन्हे यदि आवश्यकता हो तो सरकार कानून का रूप दे।

१२. सिखो के प्रति आर्य समाज की भावनाओ सम्बन्धी अनुचित धारणाओं को दूर करने के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब यह स्पष्ट करना चाहती है कि आर्य समाज गुरु साहिबान को हिन्दुओ के रक्षक और समर्थक समझता है। इसलिए आर्य समाज की दृष्टि मे दसो गुरु साहिबान उसी श्रद्धा सत्कार सम्मान और भक्ति भाव के अधिकारी हैं जो हम अपने और दूसरे हिन्दू सन्तो सन्यासियो और अन्य धार्मिक महापुरुषो के प्रति रखते हैं।

—आर्य प्रतिनिधि सभा, जालन्धर, पंजाब

१०१ जीवित गायों व गोमांस सहित ५१ गिरफ्तार

गाजियाबाद, १६ जुलाई। जनपद के दो विभिन्न क्षेत्रो मे कल रात पुलिस ने वध हेतु ले जाई जा रही १०१ जीवित गायें ५ ट्रकों से तथा १४७ गायो का मांस एक फैक्ट्री से बरामद कर ५१ व्यक्तियों को गिरफ्तार किया तथा ७ ट्रको व एक टैम्पो को अपने कब्जे मे ले लिया है।

भैसो के मांस की आड मे गोमांस सप्लाई करने वाली उक्त फैक्ट्री की ऊंची पहुंच वाली मालकिन को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस प्रयासरत है।

पुलिस मुख्यालय से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार स्थानीय लिंक रोड औद्योगिक क्षेत्र स्थित अहित एक्सपोर्टस प्रा० लि० की फैक्ट्री सरकार से प्राप्त लाइसेन्स के अनुसार भैस का मांस विदेशों को सप्लाई हेतु पैक करती हैं। किन्तु इस थाने के थानाध्यक्ष श्री सुरेश चौहान ने गुप्त सूचना के आधार पर जब कल रात इस फैक्ट्री पर छापा मारा तो उन्हे वहां से दो ट्रको मे भरा हुआ क्रमश: ८० व ६० तथा एक टैम्पो मे ७ ताजा कटी गायो का मांस मिला। इस पर पुलिस द्वारा मौके पर मजदूर फैक्ट्री प्रबन्धक, सुपरवाइजर व १८ कर्मचारियो सहित २४ व्यक्तियो को गिरफ्तार कर लिया गया। पुलिस द्वारा पूछताछ करने पर पता चला कि इन दोनो ट्रकों मे भरा गोमांस रामपुर से तथा टैम्पो वाला मांस जनपद गाजियाबाद के थाना मसूरी के देहरा गांव से लाया गया था।

इतनी भारी मात्रा मे गोमांस की बरामदगी पर इस फैक्ट्री के इन गिरफ्तार कर्मचारियो के साथ-साथ इसकी मालकिन श्रीमती प्रमिला मरवाह के विरुद्ध भी मुकदमा दर्ज किया गया है, जो नई दिल्ली की न्यू फ्रैंडस कालोनी मे रहती हैं तथा ऊंची पहुंच वाली महिला बताई जाती है। पुलिस इनकी भी गिरफ्तारी का प्रयास कर रही है।

उधर कल गढ़मुक्तेश्वर की चौकी ब्रजघाट पुलिस द्वारा पांच ट्रको मे ले जाई जा रही १०१ जीवित गाय बरामद कर २७ व्यक्तियो को गिरफ्तार किया गया है। यह छापा दोताई के पुल पर मारा गया। गिरफ्तार व्यक्तियो ने पूछताछ करने पर पुलिस को बताया कि वे ये गायें रामपुर से गोमा ले जा रहे थे, जहां इन गायो को हलाक किया जाना था।

(हिन्दुस्तान १७ जुलाई के आधार)

डा० भवानीलाल भारतीय द्वारा लिखित 'आर्य लेखक कोश' पर विद्वानों की प्रशंसात्मक सम्मतियां

(१) आपने भारी परिश्रम करके अतीत एव वर्तमान के लेखकों का जो संक्षिप्त परिचय युक्त कोश तैयार किया है, इससे आगामी शोधार्थियों तथा अध्येताओं को पर्याप्त मार्गदर्शन मिलेगा।

—(डा.) स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती
योगधाम ज्वालापुर

(२) आर्य लेखक कोश' अत्यन्त सुन्दर आकर्षक तथा आर्यजनो, विद्वानो, लेखकों के पढ़ने के योग्य है। आपने कोश प्रकाशित कर जो सराहनीय कार्य किया है उसके लिये मेरी शुभ कामनाए।

—डॉ० धर्मपाल,
प्रधान, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

(३) यह ग्रन्थ आपकी २० वर्ष की लगन एव श्रम क्षमता का परिणाम है।

—प्रो० चन्द्रप्रकाश
दयालसिंह कालेज करनाल

(४) अपने विषय का यह अपूर्व ग्रन्थ है। ज्ञात अज्ञात सभी प्रमुख एव नूतन लेखकों के जीवन एवं लेखनों को अकारादि क्रम से जिस मनोहर एव आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है, वह आर्य सामाजिक साहित्य जगत् की प्रमुख उपलब्धि है।

—मनमोहन कुमार, देहरादून

(५) आर्य लेखक कोश बड़ा महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी है।

—युगल किशोर चतुर्वेदी
सम्पादक लोक शिक्षक जयपुर

(६) इस अद्भुत, अद्वितीय कृति के लिये किन शब्दो मे प्रशसा लिखूं, नही लिख पा रहा हू। बधाई।

—प० सुरेशचन्द्र वेदालंकार, गोरखपुर

(७) आर्य लेखक कोश को देखते हुए एक महान् ऋषि भक्त के सहनीय कार्य का परिचय मिला। हृदय गद्‌गद हो गया। इतना बड़ा कार्य अकेले सचमुच आपसे भिन्न कोई अन्य अस्मदादि नही कर सकता था आपने ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के विद्वानो के विषय मे जो सामग्री संग्रहीत कर प्रकाशित की है, वह अपने में अपूर्व है। आने वाली पीढ़ियो के लिये यह महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री का भण्डार सिद्ध होगी।

—डा० जयदत्त शास्त्री उप्रेती
अध्यक्ष सस्कृत विभाग,
कुमाऊ विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा

(८) आर्य लेखक कोश को लिखने और सामग्री एकत्रित करने मे आपने अथक परिश्रम किया है, उसके लिये अनेकानेक धन्यवाद।

—पन्नालाल पीयूष
सगीताचार्य और भजनोपदेशक उदयपुर

(९) इतने बहुमूल्य एव सुन्दर ग्रन्थ के सम्पादन हेतु आपको बहुत बहुत बधाई।

—डा० (श्रीमती) शशि प्रभा कुमार
वरिष्ठ सस्कृत व्याख्याता
मैत्रेयी कालेज, चाणक्यपुरी, नई दिल्ली

(१०) निःसन्देह आपके इस प्रयास ने शतश: ज्ञात एव अज्ञात लेखकों को अमर कर दिया है जिसके लिये वे सदैव आपके ऋणी रहेगे।

—आदित्यपालसिंह आर्य
प्रधान आर्यसमाज टी. टी नगर भोपाल

(११) इस अभूतपूर्व श्रम के लिये हार्दिक बधाई।

—डा० सुशीला आर्या, चरखी दादरी

डा० भवानीलाल भारतीय श्री धूड़मल आर्य साहित्य पुरस्कार से सम्मानित

आर्य जगत् को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आर्यसमाज के विख्यात विद्वान् एव शोध कर्ता डा० भवानीलाल भारतीय को उनकी शोधात्मक कृति नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती तथा श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के विद्वत्तापूर्ण सम्पादन के लिये श्री धूड़मल आर्य साहित्य पुरस्कार १९९१ प्रदान किया जा रहा है। यह समारोह २ सितम्बर को आर्यसमाज हिण्डौन (राजस्थान) मे सम्पन्न होगा। इस अवसर पर डा० भारतीय की ऋषि दयानन्द के जीवन पर प्रभावशाली और सरस कथा भी होगी।

डा० भारतीय पजाब विश्वविद्यालय की सेवा से मुक्त होकर सर्वात्मना वैदिक धर्म प्रचार और साहित्य लेखन मे ही लग गये हैं। दिल्ली प्रान्त की आर्यसमाजों से निवेदन है कि वे समय समय पर डा० भारतीय को प्रचारार्थ आमन्त्रित करें तथा उनके साहित्य को मगायें। सम्प्रति वे एक मास के लिये महाराष्ट्र प्रान्त मे धर्मप्रचारार्थ जा रहे हैं।

ध्यान योग एवं चरित्र निर्माण शिविर सम्पन्न

१ जून १९९१ से ९ जून रविवार तक आर्य समाज मसूरी में ध्यान योग एव चरित्र निर्माण शिविर सम्पन्न हुआ। शिविर का सचालन स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती अध्यक्ष योगधाम आर्यनगर हरिद्वार ने किया। शिविर मे सम्मिलित होने वाले बालक-बालिकाओ को आसन प्राणायाम का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया गया इसके अतिरिक्त चरित्र निर्माण के साधन शिष्टाचार यज्ञ विधि तथा वैदिक सिद्धातो का परिचय कराया गया। इस शिविर मे साथ ही बडी उम्र के पुरुष एव माताए भी सम्मिलित हुईं। स्थानीय समाज के सदस्य तथा अपरिचित स्त्री पुरुष भी आते रहे और शिविर से लाभान्वित हुए विद्यार्थियों को देख कर सभी ने अनुभव किया कि इस प्रकार के शिविरो की आज के युवक-युवतियो के सुधार के लिए परमावश्यकता है। इस शिविर में भाग लेने वालो की सख्या ५० थी।

शोक प्रस्ताव

आर्य समाज नारायण विहार की १४-७-९१ रविवार की सभा पडित हरिशरण जी सिद्धान्तालकार के देहावसान पर हार्दिक शोक प्रकट करती है।

पण्डित जी न केवल वेदो के उद्भट विद्वान थे बल्कि उन्होने वेदों का सरल एव सुबोध भाषा मे भाष्य कर वेदो के प्रचार व प्रसार मे अद्वितीय योगदान किया। पण्डित जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके देहान्त से आर्य समाज को जो क्षति पहुंची है वह आसानी से पूर्ण नही हो सकती।

परमपिता परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे। तथा हमे इतनी शक्ति व सामर्थ्य दे कि हम उनके जीवन का अनुसरण कर तन मन धन से आर्य समाज की सेवा मे सलग्न रहें।

मन्त्री—आर्य समाज, नारायण विहार, नई दिल्ली-२८

आर्य समाज के नेताओं का संयुक्त वक्तव्य

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के प्रति पूर्ण विश्वास

आर्य समाज के श्री सोमनाथ मरवाह एडवोकेट, महाशय धर्मपाल, डा० धर्मपाल (दिल्ली), पंडित वन्देमातरम् रामचन्द्रराव (हैदराबाद), प्रो० शेरसिंह (हरियाणा), डा० सच्चिदानन्द शास्त्री (उ० प्र०), श्री अश्विनी कुमार एडवोकेट (पंजाब) तथा श्री विमल वधावन एडवोकेट आदि नेताओं ने निम्न वक्तव्य जारी किया है-

कुछ ऐसे व्यक्ति, जो किसी भी आर्य समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करते, मतदाता भी नहीं हैं, आजकल सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नेतृत्व का चरित्र हनन करने में लगे हुए हैं। अपने इस दुष्कृत्य मे वे ऐसे तरीको को अपना रहे है, जो नितान्त असवैधानिक और सन्देहास्पद हैं।

आर्य समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्थाओं के कार्य संचालन मे प्रजातान्त्रिक पद्धति के व्यवहार का निर्देश दिया था। उनका यह निर्देश हमें उनसे वसीयत के रूप में मिला है, जिसका परिपालन हम सबका कर्त्तव्य है। इसलिए निर्वाचित प्रतिनिधियो के मामले मे हम किसी दो या तीन व्यक्तियों की इच्छाओं का प्रभुत्व स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करना प्रजातन्त्र की हत्या और लोकमत का उल्लघन करना होगा।

हम स्वामी आनन्दबोध सरस्वती से, जिन्हें सार्वदेशिक सभा के निर्वाचित सदस्यो ने सर्वसम्मति से अपना प्रधान चुना है प्रार्थना करते हैं कि वे कुछ व्यक्तियो द्वारा चलाये जा रहे इस प्रकार के असंवैधानिक और शरारतपूर्ण प्रचार पर कोई ध्यान न दें, क्योंकि सभा के सभी निर्वाचित सदस्यों का जिन्होंने उन्हें प्रधान-पद के लिए चुना है, उनके नेतृत्व मे पूर्ण विश्वास है।

हम कुछ ऐसे व्यक्तियों के जो किसी भी आर्य समाज के प्रतिनिधि नहीं है, इस प्रकार के निन्दनीय कार्य की जो वे केवल सभा के वर्तमान नेतृत्व के प्रति विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर कर रहे हैं, कड़े शब्दों मे भर्त्सना करते हैं।

वैदिक सतसंग का चार दिवसीय आयोजन

धार नगर के मध्य महात्मा गांधी मार्ग पर स्थित श्रीराम मन्दिर (तिरवाड़ी) मे ६ जुलाई से १० जुलाई ९१ तक प्रतिदिन रात्रि ८ बजे से ९-३० बजे तक वैदिक सत्संग का एक चार दिवसीय आयोजन आर्य समाज धार के तत्वावधान मे किया गया। इसमे आर्य समाज के वैदिक विद्वान देश भर मे सुप्रसिद्ध प्रखर एवं ओजस्वी वक्ता, हैदराबाद आन्दोलन के सत्याग्रही, आर्य भानु आश्रम ग्राम गोदी (जिला जालना) महाराष्ट्र के (८४ वर्षीय) वयोवृद्ध संत स्वामी कर्तव्यानन्द जी महाराज के वैदिक धर्म पर प्रवचन हुए।

स्वामी जी ने अपने प्रवचनो मे बताया कि जो बुद्धिमान चिन्तन शील याने मनन शील होता है—वही मनुष्य होता है। जिसमे चिन्तन मनन शीलता नही वह मनुष्य देह धारण करके भी पशु के तुल्य है। मनुष्यता और पशुता के मध्य बुद्धि चिंतन शीलता ही एक सीमा रेखा है। डार्विन का यह सिद्धान्त कि मनुष्य के पूर्वज बंदर थे—नितान्त असत्य एवं भ्रामक है। सृष्टि की रचना से लेकर आज तक किसी पशु के गर्भ से मनुष्य या मनुष्य के गर्भ से पशु के जन्म का प्रमाण किसी भी देश के साहित्य या इतिहास मे नही मिलता। बुद्धि इसे स्वीकार नही करती।

व्रत के भावार्थ को समझाते हुए आपने बताया कि सोमवार का सच्चा व्रत तो तब है जब हम अपने दैनिक जीवन मे सौम्यता लावें। "श्रीराम" सौम्यता की प्रतिमूर्ति थे।

सारे संसार मण्डल के प्राणी मात्र के मंगल की कामना एव उसके अनुसार अपना आचरण व्यवहार करना ही मंगलवार का सच्चा व्रत है।

वेद के अनेक मन्त्रो के उदाहरण देकर स्वामी जी ने बुद्धि का सदुपयोग करना ही बुधवार का सच्चा व्रत करना बताया। मन बुद्धि और आत्मा को बलिष्ठ बना कर जन-जन की नि.स्वार्थ सेवा को रविवार का व्रत करना बताया। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम ने इन सभी वारो का बहुत निष्ठा पूर्वक नि स्वार्थ भाव से जीवन भर किया था, इसी कारण आज नौ लाख वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी राम जन-जन के हृदय मे एक आदर्श के रूप मे व्याप्त हैं। अत रामत्व को प्राप्त करने का प्रयास सच्चे मन से करना ही जीवन की सार्थकता है। इस अवसर पर बडी संख्या मे श्रद्धालु जनों ने उपस्थित होकर सत्संग का लाभ उठाया।

प्रति दिन कार्यक्रम का संचालन एव अन्तिम दिन आभार प्रदर्शन आर्य समाज धार के प्रधान एवं वैदिक धर्म प्रचार सभा इन्दौर के उपमन्त्री पण्डित बालकृष्ण चतुर्वेदी द्वारा किया गया।

दीक्षित प्रधान

सम्पादक के नाम पत्र

—आपके द्वारा ७-७-९१ के अक मे कुछ आयुर्वेदिक उपचार पढ कर अति प्रसन्नता हुई परन्तु १०-६-९१ मे भी कुछ इस विषय पर दिया होगा वह अक मुझे प्राप्त नहीं हुआ यदि कहीं पड़ा हो तो एक प्रति भिजवा दें।

इसी प्रकार यदि आप कुछ गृहस्थ जीवन पर कुछ लेख दें जिससे मार्ग दर्शन हो सके। क्योंकि आज के युग मे इस ओर ध्यान देने की अति आवश्यकता है, यहां तक कि आर्य समाज मे आस्था रखने वाले परिवार वास्तव में कितने स्वामी के अनुयायी हैं अथवा डी० ए० वी० की सैकड़ो पाठशालाएं हैं उन पर हमें गर्व है परन्तु कितने किशोर किशोरियां पढ कर आर्य समाज के निष्ठावान सदस्य बने हैं क्योंकि वहां मात्र पढने के लिए पढते हैं, प्रभाव ही तब पड़ेगा जब प्रचार होगा और निष्ठा उत्पन्न करने की चेष्टा होगी, कितने शिक्षक स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्त पर चलने वाले हैं।

कितना प्रचार है स्त्री पुरुष के समान अधिकार का कितना प्रचार है दहेज के लेन देन का परन्तु सुधार ही तब होगा जब भावनायें जागृत होंगी उसके लिए आवश्यकता है नित्य प्रति समझाने की।

क्यो लोग दूसरे मत महान्तों की ओर दौड रहे हैं। क्या हम मात्र यज्ञ सध्या अथवा कुछ वेद मन्त्र सुना इनको आर्य समाज में ला सकेंगे। अतः यदि इन विषय पर कुछ लिखें जिन को पढ़ कर कम से कम आर्य समाज परिवार के बच्चे ही अपने सिद्धान्त पर अडिग रहें और अपने गृहस्थ के प्रति अपने कर्तव्य को समझें।

आर्य समाज क्या है ?

आर्य समाज ही क्यो ?

सुखी गृहस्थ ?

शाकाहार के गुण तथा विशेषताए ?

ऐसे लेख जिनसे शारीरिक मानसिक भोजन प्राप्त हो।

नशीले पदार्थों से विनाश आदि।

● एक मनुष्य तो परोपकार और दान पुण्य करने से पवित्र हो जाता है और दूसरो पर अपकार और पाप कर्म न करने से भी अपना मगल साबित कर लेता है अतः मन में कभी भी अपकार और अनिष्ट चिन्तन का भाव कदापि न लाइये।

● सूर्य को अर्घ्य देते हुए देखकर लोगों को स्वामी जी ने कहा—अरे भोले भाइयो ! जल में जल क्यों देते हो ? यदि किसी पेड़ को पानी दो तो कुछ लाभ भी हो सकता है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित
वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१.५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२.००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३.००
४.	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७.	फलैश आफ ट्रुथ	(ड० सत्यकाम वर्मा)	२.००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२.००
९.	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०	आर्यों का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२.	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	२ ००
१३.	चत्वारो वै वेदा:	,, ,,	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	१०.००
१६.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(ड० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वैदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२१.	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा

नोट . उपरोक्त सभी पुस्तकों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नही लिया जाएगा।

पुस्तक प्राप्ति स्थान . **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

सुयोग्य डाक्टर बनें—
आर्य महाविद्यालय, किरठल, मेरठ में

त्रिवर्षीय इलैक्ट्रो होम्योपैथिक डिग्री कोर्स B. E M. S.

पाठ्यक्रम का प्रारम्भ

महर्षि दयानन्द मेडिकल कालिज, किरठल (मेरठ)

(मान्यता—ए आई आर डी. आफ इ. एच सैन्ट्रल बोर्ड दिल्ली)

प्रवेश योग्यता—इन्टरमीडिएट विज्ञान सहित

उत्तर मध्यमा विज्ञान सहित

वे छात्र भी आवेदन कर सकते हैं जो १९९१ वर्षीय परीक्षा मे सम्मलित हुए हैं।

विशेषता—अध्ययन, अध्यापन की समुचित व्यवस्था, छात्रावास एव भोजन की उत्तम व्यवस्था, उत्तम प्रयोगशाला एव क्रीडा का उचित प्रबन्ध।

नोट—इच्छुक अभ्यर्थी प्रवेश हेतु प्रधानाचार्य से सम्पर्क करें।

अनुकरणीय विवाह संस्कार

दिनाक ८-७-९१ सोमवार का नेपाल एव चम्पारण जिला आर्य सभा के महोपदेशक श्री रामचन्द सिंह "क्रान्तिकारी" की द्वितीय पुत्री ममता का शुभ विवाह वैदिक रीत्यनुसार जिला मच प० बी० दे० शर्मा के आचार्यत्व एव जिला व्यासू प० ध्रुवप्रसाद के पौरोहित्य में बलेंग वारा (नेपाल) निवासी श्री तोताराम प्रसाद के चि० पुत्र श्री राजकुमार के साथ सम्पन्न हुआ। जिसमें नेपाल एव भारत के गण्य मान्य व्यक्तियो ने उपस्थित होकर वर-वधू को आशीर्वचन दिए। वैवाहिक कार्य-क्रम बहुत सादगी एव अनुकरणीय था।

— बी. दे शर्मा मन्त्री — चम्पारण जिला आर्य सभा







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R.N.No. 32387/77 Posted at N.D.P.S.O. on 25-26-7-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

वैदिक विद्वज्जन निर्देशिका का प्रकाशन

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य शब्द का अर्थ प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"आर्य : श्रेष्ठः, आर्यः ईश्वर पुत्रः' अर्थात् जो श्रेष्ठ हो, वेदानुकूल आचरण कर रहा हो तथा कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की इस पुनीत एवं उदात्त वैदिक भावना के अनुरूप वैदिक धर्म एवं संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में तत्पर हो उसे आर्य कहते हैं। भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में ऐसे बहुत से विद्वज्जन हैं जो विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में कार्यरत हैं, स्वतन्त्र रूपेण वैदिक धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में तत्पर है तथा डी ए वी शिक्षण संस्थाओं में भी ऐसे उच्चकोटि के वैदिक विद्वान एवं प्रचारक हैं जो इस पुनीत कार्य में संलग्न हैं।

अतः ऐसे समस्त आर्य विद्वज्जनों से विनम्र निवेदन है कि कृपया शीघ्राति-शीघ्र अपना आवासीय पता तथा दूरभाष नम्बर वेद प्रचार अधिष्ठाता, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली के पते पर भेजने का कष्ट करें। इस संदर्भ में आप समस्त महानुभावों को सूचित किया जाता है कि श्री राम

आर्य हिन्दुओ की सेवा में,

नाथ सहगल, मन्त्री, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिनिधि सभा की हार्दिक अभिलाषा हैं कि ऐसे मूर्धन्य विद्वानों एवं धर्माचार्यों की एक निर्देशिका (डायरेक्ट्री) अविलम्ब निर्मित होनी चाहिए। वस्तुतः यह एक प्रशस्त परम्परा बनने जा रही है, हमें इस कार्य में अग्रसर होना चाहिए तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा को एवं तत्सम्बद्ध अधिकारियों को अपने सहयोग से कृतार्थ करना चाहिए।

आर्य विद्वानों की सेवा में पुनः सूचित किया जाता है कि आप श्रीमान अपना विवरण निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत करें—

१. नाम, २ पिता/पति का नाम ३, जन्म तिथि ४. शिक्षा ५. निवास ६. दूरभाष ७. व्यवसाय, ८. कार्यालय।

निर्देशिका का नामकरण इस प्रकार होगा—"वैदिक विद्वज्जन निर्देशिका।

—डा० तीर्थराज शास्त्री,
वेद प्रचार अधिष्ठाता



शाखा कार्यालय : ६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन : २६१४६८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

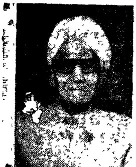
श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी०(सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ३१ | रविवार, ४ अगस्त, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९१

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष : ३१०१५०



श्री महाशय चुन्नीलाल पवित्रता सच्चरित्रता एवं सत्यनिष्ठा के धनी थे

— स्वामी आनन्दबोध सरस्वती —

उच्च कोटि के दानवीरों में प्रसिद्ध आर्य समाजी महाशय चुन्नीलाल जी का नाम सबसे प्रथम पक्ति में है। देने वाले दाताओं में ऐसे तो बहुत मिल जाएगे जो मांगने पर देते हैं, नाम कमाने या काम निकालने की दृष्टि से देते हैं परन्तु ऐसे दाता बिरले ही होते हैं जो किसी के डर से नही, मांगने या हाथ पसारने से भी नहीं अपना काम निकालने के लोभ से भी नही इस जीवन मे यश और कीर्ति को स्वयं देखने और सुनने के लिए भी नहीं बल्कि मात्र जनहित, जनकल्याण हेतु देते हैं आदरणीय महाशय चुन्नीलाल जी ने सम्पूर्ण वैभव को न्योछावर किया था। वे महाशय थे। उन्होने अपने व्यापार को अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही आगे बढ़ाया था। महाशय वे होते हैं जो परहित में लगे रहते हैं। जिनके विचार ऊंचे होते हैं। महाशय चुन्नीलाल जी ऐसे ही पवित्रता सच्चरित्रता एव सत्यनिष्ठा के धनी व्यक्ति थे। ये उद्गार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पूज्य श्री स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने एम० डी० एच० के सभागार मे २४ जुलाई १९९१ को आयोजित महाशय चुन्नीलाल जन्म-दिवस समारोह मे व्यक्त किए।

"उद्यानं ते पुरुष नावयानम्" अर्थात् हे मनुष्य ! तू उत्तरोत्तर उन्नति की ओर चल, पतन की ओर मत चल। उपर्युक्त वेद मन्त्र के अनुयायी थे महाशय चुन्नीलाल जी। यह उद्गार आर्य केन्द्रिय सभा के महामन्त्री डा० शिव कुमार शास्त्री ने प्रकट किए। इस अवसर पर बोलते हुए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री सूर्यदेव ने कहा कि श्री महाशय चुन्नीलाल जी सदैव वेद का अध्ययन करने वाले छात्रों की सहायता किया करते थे। इससे पूर्व श्री राजीव गुलाटी ने सभी आगन्तुकों का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल आर्य ने कहा कि धन की तीन गतियां होती हैं—दान, भोग और नाश। जो व्यक्ति अपने धन का उपयोग सुपात्रों को दान देने मे करते हैं, जो व्यक्ति मानव मात्र के कल्याण के लिये ट्रस्टो का निर्माण करते हैं, तथा गरीबो की सेवा करते हैं। वे लोग प्रणम्य है। या तो धनी पैसे का भोग कर ले, अथवा लोकहित के लिए दान कर दें। ये ही स्थितियां उचित हैं। नहीं तो उसके धन का नाश हो जाएगा। श्री महाशय धर्मपाल जी तथा उनके परिवार के लोग लोकोपकार के कार्य मे लगे हैं। यह हम सभी आर्यजनों के लिए परम सन्तोष की बात है। इस अवसर पर आचार्य रामकिशोर वैद्य एवं स्वामी ओमानन्द सरस्वती आदि ने भी अपने उद्गार प्रकट किए।

समारोह के अन्त में श्री महाशय धर्मपाल जी ने उपस्थित सभी विद्वत् मण्डल एव सभी अभ्यागतों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए परमपिता परमात्मा से प्रार्थना की कि मैं लोकोपकार के मार्ग पर चलता रहूं तथा मेरे बच्चे भी मेरे कार्य मे सहायक हों।

यो जागार तमु सामानि यन्ति ।

सामवेद

सामवेद भाष्य का लोकार्पण समारोह

प्रिय महोदय,

स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द जन्मदिवस के अवसर पर, समर्पण शोध संस्थान की ओर से सामवेद भाष्य (पूर्वार्चिक) का लोकार्पण, माननीय श्री शिवराज पाटिल लोकसभा-अध्यक्ष के कर कमलों से सम्पन्न होगा। समारोह की अध्यक्षता श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज करेंगे। आप से प्रार्थना है कि लोकार्पण समारोह में सम्मिलित होकर अनुगृहीत करें।

दिनांक : १ अगस्त १९९१ बृहस्पतिवार समय : सायं ५.३० से ८

स्थान : सप्रू हाउस, बाराखम्भा रोड, नई दिल्ली-१

—: निवेदक :—

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती प्रधान सा० आ-प्र० सभा	**स्वामी दीक्षानन्द** सस्थापक स० शो० सस्थान	**डा० धर्मपाल** प्रधान आ० प्र० स० दिल्ली	**श्री दरबारीलाल** प्रधान आ० प्रा० सभा दिल्ली
डा० कुसुमलता आर्य मंत्री स० शो० सस्थान	**महाशय धर्मपाल** प्रधान केन्द्रीय आ० प्र० स० दिल्ली	**प्रो० शेरसिंह** प्रधान हरयाणा आ० प्र० सभा	**पं हरिदेव** आचार्य गु० द० वे० वि० दिल्ली

परामर्श—डा० धर्मपाल प्र० सम्पादक—सूर्यदेव सम्पादक—मनोज कुमार शास्त्री व्यवस्थापक— सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

अक्षय सत्यनारायण व्रत कथा-३

— पं० देवनारायण भारद्वाज —

वही सत्य नारायण भगवान सबसे बड़ा और प्रकाशवान है। प्रश्न उठता है कि किस पदार्थ को जान कर मनुष्य ज्ञानी होता है। तो उत्तर है कि उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत जान के ठीक-ठीक ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं। जो सबसे बड़ा सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत ज्ञानवान नहीं हो सकता। क्योंकि उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि-आदि क्लेशों से समुद्र समान दुःख से छूट कर परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष नहीं पा सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करना उचित है। उससे भिन्न किसी की उपासना करना किसी मनुष्य को नहीं चाहिए। क्योंकि मोक्ष को देने वाला एक परमेश्वर के बिना दूसरा कोई भी नहीं है। इसमें यह प्रमाण है कि व्यवहार और परमार्थ दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार का सुख नहीं हो सकता।

इन दोनों पुरुष सूक्त के मन्त्रों का द्रष्टा ऋषि नारायण है। इस प्रकार परमात्मा का स्वरूप हमारे मस्तिष्क में स्पष्ट हो जाता है, और हमें पता चलता है कि ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्व शक्तिमान, न्यायकारी, दयालु अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

परमात्मा के नाम व स्वरूप को समझते हुए जब भक्त आगे बढ़ेगा तो भटकने की कोई आशंका नहीं है, किन्तु इसके स्थान पर यदि हम कोई कल्पित मूर्ति रख लेते हैं तो हमारी दृष्टि उसके रूप तक केन्द्रित हो जाती है। वह साकार मूर्ति तो प्रत्यक्ष आंखों से दिखाई देती है उस पर ध्यान लगा कर देखना कैसा? ध्यान तो निराकार परमेश्वर का ही किया जा सकता है। इसलिए नाम स्वरूप को समझते हुए हमें अपने लक्ष्य को नहीं भुलाना है। एक शिष्य अपने गुरु के समीप पहुंचा और वही प्रश्न जो नारद जी ने विष्णु भगवान से किया था— उनसे कर दिया। संसार बड़ा दुःख सन्ताप भाग रहा है। इन वेदनाओं से मानव को मुक्ति कैसे हो—कृपया वही उपाय बताइये। गुरु जी ने कहा बताएंगे— अभी तो बड़ी प्यास लगी है, जाओ एक लोटा शुद्ध ताजा जल ले आओ। शिष्य पनघट पर चला गया। लोटा भरा—स्वयं पी लिया। उसी पनघट पर पानी भरने आयी एक नवयुवती को देख कर उसका मन डोल गया। उसके पीछे-पीछे चला गया। हर यत्न कर उसने युवती से विवाह कर लिया। घर बस गया। परिवार खूब बढ़ गया। वर्षों बाद ग्राम की नदी में बाढ़ आ गई। परिवार सारा डूब गया। जब बाढ़ का पानी स्वयं की नाक तक आने लगा, तो उसे इस बाढ़ की अपार जल राशि को देख कर स्मरण आया, कि मैं तो एक लोटा जल गुरु जी के लिए लेने आया था—यहां इस बाढ़ में फंस गया। इस प्रकार हमें अपने लक्ष्य को भूलना नहीं आगे बढ़ते हुए ध्यान रखना है। वह क्या है?

ओ३म् विश्वानि देव सवित र्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव ।। यजु० ३०।३ ।।

अर्थात् हे (सवितः) सकल जगत के उत्पत्ति कर्त्ता समग्र ऐश्वर्य युक्त (देव) शुद्ध स्वरूप एवं सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परासुव) दूर कर दीजिए। (यत्) जो (भद्रम्) कल्याण कारक गुण, कर्म स्वभाव और पदार्थ हैं। (तत्) वह सब हमको (आसुव) प्राप्त कीजिए। संसार के असंख्य दुःखों को तीन वर्गों में रखा गया है, जो भौतिक, दैहिक एवं आत्मिक हैं। भूत अथवा प्राणियों से होने वाला दुःख, भौतिक दुःख है। जैसे सर्प, बिच्छू पशु या मनुष्यों द्वारा मनुष्य को पहुंचाई जाने वाली पीड़ा। दैहिक दुःख जो देवताओं द्वारा हमको पहुंचाया जाये जैसे अति वृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, सूखा, भूकम्प के प्रकोप, इन्द्र, अग्नि जल आदि द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक आपदाएं। आत्मिक दुःख आत्मा सम्बन्धी है अर्थात् जिसकी अनुभूति स्व-शरीर द्वारा सीधे आत्मा को हो जैसे - ज्वर, अतिसार, फोड़ा आदि व्याधियां। हम किसी से कुछ मांगने चलते हैं तो मन में दो प्रश्न उठते हैं—प्रथम वह वस्तु उसके पास है भी या नहीं, द्वितीय यदि है तो हमें वह देगा भी कि नहीं। इस मन्त्र के सविता और देव शब्द इस शंका का समाधान कर देते हैं। जब परमेश्वर सविता सम्पूर्ण जगत का उत्पत्तिकर्त्ता है तो उसके पास क्या नहीं है सभी कुछ है। फिर वह देव भी है अर्थात् सभी कुछ देने वाला वही है। किसी-किसी के मन में इस से भिन्न प्रश्न उठ सकता है कि हम क्यों किसी से मांगें, तो लोक में भी सामाजिक व्यवहार परस्पर लेन देन के बिना हमारा जीवन निर्वाह सम्भव नहीं है। यहां तो हम जिस परमेश्वर से माग कर रहे हैं, पहले हमारे पास जो कुछ है वह उसी का दिया है। आगे भी उससे मांगने में कोई अपमान नहीं है, क्योंकि उसकी अपार राशि जो कभी चुकने वाली नहीं है, उसके एक अंशानुअंश मात्र को सम्भालने की क्षमता हम में नहीं है! क्योंकि वह दीर्घातिदीर्घ है और हम लघु से भी अति लघु हैं। हमारी माग भी क्या है? दुर्गुण, दुर्व्यसन, व दुःखों को दूर कर दो और कल्याणकारी गुण, कर्म, स्वभाव व पदार्थ हमें प्रदान कर दो! यदि पात्र में दुरित भरे हैं तो उन्हें दूर किए बिना उसमें भद्र कैसे समायेगा।

(क्रमशः)

क्या जगत् असत्य है?

—ले० स्व० इन्द्र विद्यावाचस्पति

मायावाद का आधार उपनिषदों को माना जाता है। ईशोपनिषद् की पहली ऋचा का पूर्वार्द्ध ही उनके मन्तव्य का खण्डन कर देता है। 'यह जगत ईशावास्य है।' इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईश और जगत् दोनों सत्य हैं, और भिन्न हैं, आच्छादित करने वाला आच्छादित होने वाले से भिन्न होना चाहिए। घर और घर में रहने वाला—दो अलग-अलग पदार्थ होने चाहिए। उपनिषद् के प्रथम वाक्य से ही मायावाद का निषेध हो जाता है।

यदि इस कल्पना को मान लिया जाय कि केवल एक ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है और इस जगत की अनुभूति केवल भ्रान्ति या माया का परिणाम है तो कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिनके उत्तर सरल नहीं हैं।

पहला प्रश्न यह है कि यह जगत् जिस भ्रान्ति या माया का परिणाम है, वह किस में रहती है? क्या ब्रह्म में? जब केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कोई नहीं, तो निश्चय ही ब्रह्म माया का आधार होना चाहिए। उपनिषद् में उसे शुद्ध और अपापविद्ध कहा है। शुद्ध और निर्लेप में माया कैसी? और सर्वज्ञ में भ्रान्ति कैसी?

दूसरा प्रश्न यह है कि माया या भ्रान्ति स्वयं कोई सत्य पदार्थ है या नहीं? यदि है तो दो सत्य पदार्थ मानने पड़ेंगे, परन्तु यदि असत् है, तो जिसकी स्वयं कोई सत्ता नहीं, वह जगत को कैसे बना सकती है?

इन अत्यन्त स्वाभाविक और मौलिक प्रश्नों का सीधा उत्तर मायावाद के पास नहीं है। इन प्रश्नों के उत्तर देने के लिए उन्हें ऐसा विस्तृत शब्दों का जाल फैलाना पड़ता है कि मनुष्य का मन उसमें उलझ कर कर्मयोग को सर्वथा भूल जाता है। वह एक निर्मम सन्तोष में पड़ जाता है, जो उसे अकर्मण्य बना देता है। ईशोपनिषद् में जिस कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन है, उसका आधार यह है कि ईश्वर भी सत् है, और जगत् भी। भेद इतना है कि जहां ईश्वर सर्वज्ञ और अविकारी है, वहां जगत् विकारी और परिवर्तनशील है।

—सद्धर्म ग्रन्थ—ईशोपनिषद्भाष्य

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

रूस में मार्क्सवाद की समाप्ति

सम्पादकीय

पिछले दिनो रूस के राष्ट्रपति गोर्बाचोफ ने सामाजिक-धार्मिक-आर्थिक क्षेत्र में मौलिक परिवर्तन की बात बार-बार उठाई है। इससे यह स्पष्ट है कि जनता मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तो के परित्याग के मार्ग पर अग्रसर है। उन्होने सोवियत संघ को सवैधानिक दृष्टि से भी सामाजिक लोकतन्त्र मे परिवर्तित करने की बात की है। वे कम्युनिस्ट पार्टी को भी मजदूर और सर्वहारा वर्ग की पार्टी के स्थान पर पूरी जनता की पार्टी बनाना चाहते हैं। भारत में जनता शब्द के लिए विशेष आग्रह है। अब यही भावना रूस मे भी पुष्पित पल्लिवित हो रही है। एक बात जो बहुत ही महत्वपूर्ण है, वह है कि अब वहा पर निजी सम्पत्ति रखने और धर्म की स्वतन्त्रता का भी अधिकार मिलने की जोरदार वकालत की जाने लगी है। भारत मे जो मार्क्सवाद का नाम लेते नहीं अघाते हैं, उन्हे यह बात समझ आ जानी चाहिए कि धर्म परायण हमारी जीवन शैली का एक अभिन्न अग है। धर्म पूजा पद्धति से आगे बढ़ कर जीवन-शैली का एक मापक है। मनु महाराज की धर्म की व्याख्या-धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह: धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशक धर्म लक्षणम् - एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है।

गोर्बाचोफ राजनेता के साथ साथ नृविज्ञान के भी अध्येता हैं। वे समय की आवश्यकताओ को पहचानते हैं ? इसलिए ये सभी परिवर्तन देश को स्थायित्व देने के लिए अपरिहार्य हो गए हैं। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उन्हे एक ऐसे क्रान्तिकारी चिन्तन की आवश्यकता है।

—डा० धर्मपाल

—०—

भाषायी आन्दोलन

विद्वज्जन अभी तक साथ के दशक के उस भाषायी आन्दोलन को नही भूले होगे जिसने समूचे सत्ता तन्त्र को हिला कर रख दिया था। पर आज सघ लोक सेवा आयोग के दरवाजे पर धरने पर बैठे भारतीय भाषाओ के समर्थन मे पताका उठाए, इन जज्बाती छात्रो की कोई नही सुन रहा है। ये नौजवान तीन साल से वहा बैठे है, पर पूरी तरह से नाकामयाब, अनसुने और उपेक्षित। इन तीन सालों मे तीन सरकारें बदली—कांग्रेस, जनता दल, सजपा और फिर कांग्रेस। तीनों के नेताओ ने इन आन्दोलनकारियो को आश्वासन भी दिए, पर सब बेकार। किसी भी पार्टी ने इनके विषय को अपने घोषणा पत्र में सम्मिलित भी नही किया। इस आन्दोलन के नेता पुष्पेन्द्र चौहान ससद की दर्शक दीर्घा से नीचे सदन मे कूद पड़े, अपनी पाच पसलियां तुड़वा बैठे, पर ससद के शोर मे यह चटख दब कर रह गई। किसी ने कोई परवाह नहीं की।

आश्चर्य है कि इनकी मागें उचित हैं, नही मानी जा रही, जबकि अल्फा और जगजूओ की मान ली जाती हैं, या कम से कम उनसे बातचीत तो की जाती है। वे हिंसक हैं, ये अहिंसक। शायद अहिंसा का हथियार अपने ही देश मे भोथरा हो गया है।

—डा० धर्मपाल

मेरे आर्य सामाजिक जीवन की विकास यात्रा

—डा० भवानीलाल भारतीय

(२८ जुलाई, ९१ के अक से आगे)

वैदिक कर्मकाण्ड में मेरी अभिरुचि—

मैंने अपने इस आर्य सामाजिक वृत्त के आरम्भ में ही यह बताने का प्रयास किया है कि वैदिक कर्मकाण्ड मे मेरी अभिरुचि के मूल मे मेरे घर मे सम्पन्न होने वाला साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान था। यह स्वाभाविक ही था कि आर्य समाज में प्रविष्ट होने के पश्चात् मैं वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अपने रुझान को अधिकाधिक विकसित तथा पल्लवित करता। ऐसा ही हुआ। आर्य समाजो के साप्ताहिक सत्सगों तथा विशिष्ट पर्वों पर किए जाने वाले यज्ञ-दानादि करने कराने मे तो मैंने नैपुण्य प्राप्त किया ही, सस्कारो को सम्पन्न कराने मे भी मैंने रुचि ली। जब तक मैं जोधपुर में रहा वहा नामकरण, मुण्डन, उपनयन, विवाह यहा तक कि अन्त्येष्टि जैसे सस्कारों को सम्पन्न कराने के लिए मुझे आमन्त्रित किया जाता था। जोधपुर के माली वर्ग के विवाह प्राय: वैदिक रीति से ही सम्पन्न होते थे, अत: जोधपुर तथा निकटवर्ती सूरसागर, मडोर, नागौरी बेरा, महामन्दिर, पूंजला आदि बस्तियो मे विवाह कराने के लिए मेरी मांग बराबर रहती। अजमेर आने पर ऐसे अवसर कम मिले। क्योकि यहा २-३ अन्य कर्मकाण्ड कुशल विद्वान मेरे आने से पहले ही विद्यमान थे। तथापि यदा कदा नगर आर्य समाज अजमेर के तत्वाधान मे सम्पन्न होने वाले विवाहो मे मुझे पुरोहित का कार्य करना पडता। उस पूर्व पाली मे सस्कार कराने का जिम्मा मेरा ही था, यद्यपि यहा सस्कार कराने वाले आर्य परिवार नगण्य ही थे।

चण्डीगढ मे आने पर सस्कार कराने का कार्य पूर्णतया बन्द हो गया। इसके कुछ कारण भी हैं। प्रथम तो यहा के प्रत्येक समाज में वैतनिक पुरोहित हैं जिनकी आजिविका का प्रमुख साधन ही सस्कार कराना है। द्वितीय, विश्वविद्यालय के एक उच्च पद पर रह कर कार्य करने की मर्यादा भी है। इस पद पर रहते हुए सस्कार सम्पन्न कराने की भाग-दौड़ मे पडे रहना औचित्यपूर्ण नही कहा जा सकता। फिर यह तो अनुभव हो ही चुका था कि शौकिया सस्कार करना और बात है किन्तु जीविकोपार्जन तथा कुछ द्रव्य अर्जित करने के लिए यदि सस्कारों के पीछे भागने की विवशता भी हो तो भी इस कार्य मे अनेक व्यवहारिक कठिनाइया तथा तकलीफे भी हैं। सम्पन्न यजमान वर्ग मे पुरोहितो के प्रति उपेक्षा या अवमानना का जो भाव दिखाई देता है वह स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए असह्य हो जाता है। सम्पन्न यजमान अपने अन्तर्मन मे यह धारणा बना कर ही चलता है कि पुरोहित लोग मात्र दक्षिणा प्राप्त करने के लिए ही इतस्तत घूमते हैं और यह उनकी जीविका का एक मात्र साधन है। इस दृष्टि को रखने वाले यजमानो से पुरोहित लोग सम्मान तथा सद्भावना की आशा कैसे कर सकते हैं। मेरे कथन को सब पर लागू करना तो श्रद्धालु यजमानो के प्रति अन्याय ही होगा तथापि बात बहुत कुछ सत्य ही है। अपने चण्डीगढ निवास की दस वर्ष की सुदीर्घ अवधि मे मैंने केवल दो तीन बार ही सस्कार सम्पन्न कराये और ये भी यजमानो के विशेष आग्रह पर। प्रथम अवसर पर तो मैं विवाह सस्कार कराने वाले स्थानीय पुरोहित के साथ बैठ कर केवल उसको निर्देश ही देता रहा और व्यक्तिगत रूप मे कुछ दक्षिणा भी स्वीकार नही की। दूसरा प्रसग स्थानीय आर्य समाज सैक्टर १९ युवा पुरोहित श्री अनिल के नवजात पुत्र का नामकरण कराने का था। इसमे उक्त यजमान तथा उस समाज के गणमान्य वयोवृद्ध एक अधिकारी महानुभाव का प्रेम और आदर भरा अनुरोध ही कारण बना था।

मैंने अपने परिवार मे होने वाले विवाहो तथा निकट सम्बन्धियो के परिणय प्रसगो मे भी पौरोहित्य किया है। स्वपुत्री गार्गी का विवाह सम्पन्न कराने के लिए पण्डित धर्मवीर जी को अजमेर से आमन्त्रित किया था, किन्तु उसमे मैंने वरिष्ठ आचार्य की भूमिका निभाई थी।

(क्रमश)

इतना न सिर झुकाओ कि दस्तार गिर पड़े

— उत्तम चन्द्र शरर —

आज कल राजनीति का युग है। धर्मोपदेश पर, राजनैतिक पुट के बिना श्रोताओ को रुचिकर नही लगता है। आर्य समाजी स्वभाव से देश भक्त होता है, अत. वह वर्तमान राजनीति से अछूता नही रह सकता। परन्तु मैंने पाया है कि आर्य युवक, राजनीति के विभिन्न गुटो मे सम्मिलित होकर अपनी पहचान भी खो रहा है। इस सम्बन्ध मे कुछ निवेदन करने लगा हू। आर्य बनाम हिन्दु। प्राय देखा जा रहा है कि भाजपा मे सम्मिलित आर्य स्वय को हिन्दू कहने पर बल देता है और दूसरो को भी कहता है 'गर्व से कहो, हम हिन्दु है'' कुछ समय पूर्व बल्लभगढ के समीप, एक कवि सम्मेलन मे एक हिन्दुवादी कवि ने आर्य समाज के मच पर यह नारा लगवाया। सयोग से स्टेज मेरे हाथ मे था, मैंने कवि महोदय के काव्य पाठ के पश्चात् उनकी प्रशसा मे दो शब्द कहे, और फिर कहा कि मेरी कवि महोदय से प्रार्थना है कि वे मुझे 'हिन्दू, नाम के लिये आग्रह न करे, क्योकि मैं श्रीराम तथा श्रीकृष्ण का भक्त हू और वे आर्य थे! कही ऐसा न हो कि हिन्दू कहलाने पर मुझे श्रीराम का वशज ही न माना जाए ''इतना सुनना था कि कवि महोदय अपने स्थान से बोले कि मैं भी आर्य हू। राजनीति मे यदि हिन्दु नाम आपके गले उतरता ही है तो इतनी कृपा तो कीजिये कि अपना आर्य नाम भूलिये नही और हिन्दु कहलाने वालो को भी आर्य शब्द की महत्ता से परिचित कराते रहिये। मूर्ति पूजा! पौराणिक अन्धविश्वास जो मूर्ति पूजा को जन्म दे पाया, अब नियासी रूप मे भाजपा के शिला पूजन तथा श्री राम की मूर्ति वन्दन के रूप मे उभरा है।

मैंने देखा है, अच्छे-२ आर्य बन्धु जिनकी आयु आर्य समाज मे प्रचार करते निकल गई शिला पूजन मे इसलिये सम्मिलित हुये कि हिन्दु सगठन की माग है। मेरा विचार है कि आर्यो को यह याद दिलाने की आवश्यकता नही है, कि ऋषि दयानन्द मूर्ति पूजा के घोर विरोधी थे, और लाखो की गद्दी को भी उन्होने ठोकर मार दी, परन्तु मूर्ति पूजा के पाखड के खडन को न छोडा। आर्य बन्धु किसी भी राजनैतिक पार्टी म जाते, परन्तु वहा पर भी किसी पाखड को स्वीकार न करे, तब तो उन का अस्तित्व रहेगा, आखिर क्या तमाशा है कि एक कांग्रेसी आर्य राजघाट पर फूल चढा रहा है, और भाजपाई राम शिला पर।

यो तो हमे कांग्रेस और भाजपा से अधिकार भी है।
पर यह बतलाओ दयानन्द से कुछ प्यार भी है?

नमस्ते तथा जय श्रीराम। नमस्ते वैदिक अभिवादन का शब्द है। इतिहास मे इस शब्द का आपसी अभिवादन मे स्थान-२ पर प्रयोग मिलता है परन्तु श्रीराम मन्दिर के निर्माण मे एक नारा जय श्रीराम का उभर आया, और आर्य बन्धु भी बहाव मे बहने लगे। दिल्ली मे एक आर्य पुरोहित जी के घर मैंने दीवार पर ''जय श्रीराम, का नारा देखा तो सोचने लगा जब पुरोहित जी की मानसिक दशा यह है तो समाज के सदस्यो की क्या होगी? केवल पुरोहित जी की क्या बात, उ० प्र० विधानसभा के मुसलमान सदस्य ने शपथ ग्रहण के पश्चात् अपनी वफादारी के प्रदर्शन के लिये ''जय श्रीराम'' का नारा लगाया। आज पढा है कि श्री अटल जी ने उसे इस भावकता से रोका है। जय श्री राम कहना बुरा नही हम राम जी के भक्त है, यह और बात है कि हम इसे अभिवादन का वाक्य नही मानते। अभिवादन तो वैदिक शब्द 'नमस्ते' से ही होगा। इससे पूर्व नमस्ते के सम्मुख जय हिन्द तथा नमस्कार आदि शब्द लाये गये, परन्तु आर्यो की वैदिक धर्म म गहरी आस्था किसी-किसी विघटन का शिकार न हुई, अब भी आशा है कि आर्य बन्धु कुछ देर के बहाव मे अपने अस्तित्व को न खो सकेंगे।

एक और पाखड भी आर्यो म चलने लगा है कि ऋषि दयानन्द के जीवन वृत्तान्त को चमत्कारो मे युक्त जनता के सम्मुख लाया जाए। मुझे याद है कई वर्ष पूर्व रोहतक समाज मे ऋषि बोधोत्सव (सम्भवत·) प० राम चन्द्र जी देहलवी की अध्यक्षता म हो रहा था। आर्य समाज के प्रधान ला० सागर चन्द्र जी ने बडा श्रद्धा मे ऋषि के सम्बन्ध म बताया कि वे योग बल से उडते हुये मन सरोवर झील पर पहुचे थे। उनके भाषण के पश्चात् देहलवी जी ने कहा था कि प्रधान जी ऋषि के जीवन को चमत्कारो के जाल मे मत फसाओ। उसे दस बुद्धिमानो मे रहने दो, सौ मूर्खो मे न फेंको। आज देहलवी जी के वचनो को स्मरण करने की आवश्यकता है। आर्य बन्धुवर ध्यान मे रखे कि दयानन्द और उनका समाज एक बुद्धिवादी समाज है, चमत्कारो की गप्पें किसी के व्यक्तित्व को नही निखारती, ऋषि का ब्रह्मचर्य, वेद ज्ञान, ईशोपासना तथा देश प्रेम उसके व्यक्तित्व को निखारने मे पर्याप्त है।

कुछ बन्धु कह देते हैं, क्या करे देश प्रेम तथा भावी सगठन के लिये यह सब हम स्वीकार कर लेते है मेरा नम्र निवेदन है कि देश प्रेम तथा जाति सगठन के सिद्धान्त की बलि देकर स्वीकार न करे :—

झुक कर सलाम करने मे क्या हर्ज है मगर।
इतना न सिर झुकाओ कि दस्तार गिर पडे।

चरित्र निर्माण का सबसे बड़ा कार्यखाना

अतरौली अलीगढ ३० जून आर्यवीर दल कार्यकर्ता शिविर के समापन समारोह को सम्बोधित करते हुए प्रान्तीय सर सचालक माननीय डा० बलकृष्ण आर्य "विकल" (बिन्दकी) ने कहा आर्यवीर दल चरित्र निर्माण का सबसे बडा कार्यखाना है। जिसमे हर वर्ष साधनहीन होते हुए भी शिक्षक व कार्यकर्ता लोग हजारो पौराणिक बच्चो को महर्षि दयानन्द जी की गोद मे लाकर सौप देते है। श्री विकल ने कहा अज्ञानता मनुष्यता का सबसे बडा दुश्मन है जो अशिक्षितो से अधिक शिक्षित ऊचे पद मे बैठे लोगो मे बहुत है। सिगरेट के हर पैकिट मे लिखा है, सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, अनपढ गवार समझाने से समझ जाता है परन्तु शिक्षित लोग नही मानते, शराब विष से ज्यादा भयकर है परन्तु इसे डाक्टर, वकील अध्यापकगण अधिक प्रयोग करते हैं। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि क्षेत्रीय सासद श्री रावल जी से 'विकल' जी ने कहा आप इस क्षेत्र के जुम्मेदार कार्यकर्ता है। अपनी सरकार से कहे युवक राष्ट्र की सम्पत्ति है इसे चरित्रवान बनाने की योजनाये काम मे लाये।

इस अवसर पर आगरा मण्डल के सचालक श्री जयनारायण ने भी आर्य वीरो की प्रशसा की। कार्यक्रम का सचालन श्री रघुराज सिंह ने किया।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित

वैदिक साहित्य

१	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१ ५०
२	नैतिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७.	फलैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यकाम वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,,	२.००
९.	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०	आर्यो का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२.	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	२ ००
१३.	चत्वारो वै वेदा	,, ,,	५ ००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२०.००
१६	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वैदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
१९	पूजा किसकी? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२१	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकडा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकडा

नोट उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक-व्यय पृथक नही लिया जाएगा।

पुस्तक प्राप्ति स्थान : **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१

स्वाधीनता दिवस पर विशेष—

स्वाधीनता (स्वातन्त्र्यम्)

— पद्मश्री--डा० कपिलदेव द्विवेदी —

स्वतन्त्राप्ति रेषा सदा सौख्य-दात्री, भयाना प्रहर्त्री गुणानां प्रदात्री।
त्वमेवासि लोके सदा मानदात्री, सदा कीर्तिदात्री सदा मोददात्री ।। स्व० ।।

१—देश की स्वतन्त्रता सदा सुख देने वाली है, यह सकट को दूर करती है और गुणो की वृद्धि करती है, इससे ही ससार में सम्मान होता है। यह यश और प्रसन्नता की देने वाली है।

नत्वत्त: पर मानद लोकमध्ये, नत्वत्त पर सौख्यद किंचिदस्ति।
त्वमेवासि लोकस्य चैतन्य-दात्री, सदा प्रेरणाभू सदा शक्ति स्रोत ।। स्व० ।।

२—इस स्वतन्त्रता से बढ कर ससार मे और कोई वस्तु सम्मान देने वाली नही है और न इसके अतिरिक्त कोई सुख देने वाला है। यह स्वतन्त्रता ही देश मे चेतना भरती है, देश वासियो को प्रेरणा देती है और सदा शक्ति का स्रोत है।

विना त्वां जना शक्ति-कीर्त्यादि हीना, सुबुद्धिविहीना सदा मान हीना।
नरा पामरास्ते क्षुधा दैन्य-त्रस्ता, अविद्यान्ध-ग्रस्ता सदा शोक-ध्वस्ता ।। स्व० ।।

३—स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य शक्ति और यश आदि से रहित, बुद्धि हीन और सम्मानहीन होते हैं। पराधीन मनुष्य मूर्ख, भूख, दीनता आदि से त्रस्त, अविद्या के अन्धकार से ग्रस्त और सदा शोकमग्न रहते हैं।

विना त्वा नृणा जीवन मोघमेव, बिना त्वा गति. सर्वदा दु खदेव।
विना त्वा शिरस्थ: सदा मृत्युरेव विना त्वा विकासो न हर्षाप्तिरेव ।। स्व० ।।

४—स्वाधीनता के बिना मनुष्य जीवन व्यर्थ है, इसके बिना मनुष्य की दु खद गति होती है। इसके अभाव मे मृत्यु सदा सिर पर सवार रहती है। इसके बिना न विकास होता है और न जनता मे हर्ष होता है।

न यत्रास्ति ते दीधिति सौख्यमूला, न यत्रास्ति ते श्री सदा कीर्तिशीला।
न राष्ट्र न देश: प्रदेशो विशेषा विना त्वां श्रित कीर्तिनिष्ठा श्रिय वा ।।स्व०।।

५—जहा स्वतन्त्रता की सुखद किरणे नहीं होती है और कीर्ति देने वाली इसकी श्री नही होती है वह राष्ट्र, वह देश और वह प्रदेश कभी अभीष्ट कीर्ति प्राप्त नही कर सकता है।

त्वमेवासि सौख्यस्य मूल समन्तात्, त्वंमेवासि कीर्त्यादिमूल पुरस्तात्।
त्वमेवासि मानस्य शक्तेश्च हेतु, त्वमेवासि शस्त्र त्वमेवासि हेति. ।। स्व० ।।

६—स्वतन्त्रता ही सभी सुखो का मूल है। यही देश की कीर्ति का आधार है। यही देश के सम्मान और शक्ति का साधन है। वही देश के लिए महान शस्त्र अस्त्र है।

त्वदीय पदाब्जे मुदा देशभक्ता, बलि दत्तवन्तो मुद प्राप्तवन्त:।
त्वदर्चापरा ये नरा मातृ-भक्ता, सदा स्यास्तु तेषा यशो राजतेऽत्र ।। स्व० ।।

७—स्वतन्त्रता के लिए देशभक्तो ने प्रसन्नता के साथ अपने जीवन की आहुति दी और प्रसन्नचित्त हुए। मातृभूमि की पूजा पर जो न्यौछावर हुए हैं उनका यश ससार मे सदा अमर रहेगा।

त्वमेवासि शक्ति, त्वमेवानुरक्ति:, त्वमेवासि सिद्धि:, त्वमेवासि ऋद्धि।
त्वमेवासि मन्त्र, त्वमेवासि तन्त्र, त्वमेवासि शान्ति, त्वमेवासि क्रान्ति ।।स्व०।।

८—देश की स्वतन्त्रता ही शक्ति है, यही प्रेम भावना है, यह ऋद्धि और सिद्धि है। यही मन्त्र और तन्त्र है, यही शान्ति और क्रान्ति है।

त्वमेवासि दुर्गा, त्वमेवासि लभ्या, अघृष्या त्वमेवासि दुर्धर्षरूपा।
सदा स्नेह स्रोत, सदा शक्तिस्रोत:, त्वदीया कृपा याचते सर्व लोक. ।। स्व० ।।

९—यह स्वाधीनता अजय है, यही प्राप्य है। यह अधर्षणीय और उग्ररूप है। यह प्रेम और शक्ति का स्रोत है। सारा ससार इस स्वाधीनता की दृष्टि चाहता है।

सदा भारते ते कृपा सतता स्यात्, त्वदर्चापरा भारतीय भवेयु:।
विहाय स्वकं स्वार्थजात जघन्य, मुदा जीवन तेऽर्पयेयु पदाब्जे ।। स्व० ।।

१०—यह स्वाधीनता भारत भूमि मे सदा विद्यमान रहे। सभी भारतीय इस स्वाधीनता की पूजा करे। वे तुच्छ स्वार्थ भाव को छोड कर प्रसन्नतापूर्वक स्वतन्त्रता की बलि वेदि पर अपना जीवन अर्पण कर दे।

निदेशक विश्वभारती अनुसधान परिषद् ज्ञानपुर (वाराणसी)

लेखकों से अनुरोध

आर्य सन्देश "साप्ताहिक" के पाठको व लेखको से प्रार्थना है कि अपना लेख व समाचार सुन्दर साफ अक्षरो मे पृष्ठ के एक ओर ही लिख कर भेजें। ताकि हम आपके लेख व समाचार आदि को प्राथमिकता दे सके अन्यथा पृष्ठ के दोनो ओर लिखे तथा अस्पष्ट लिखे लेखादि प्रकाशित करना असम्भव है। टंकण-यन्त्र (टाइपराईटर) द्वारा प्रेषित लेख व समाचार अवश्यमेव प्रकाशित किए जायेंगे।

—सम्पादक

आर्य गुरुकुल महाविद्यालय पूठ

आर्य गुरुकुल महाविद्यालय पूठ की प्रबन्ध कर्मी सभा की बैठक रविवार २८-७-९१ को साय ५.०० बजे आर्य समाज मन्दिर मार्ग नई दिल्ली मे प्रधान श्री सत्यानन्द आर्य की अध्यक्षता मे हुई। इस बैठक मे मन्त्री श्री डा० शिवकुमार शास्त्री, आचार्य श्री धर्मपाल जी, प्रबन्धक श्री प० हरिदेव जी, उपप्रधान प० यशपाल सुधाशु दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, आर्य प्रादेशिक सभा के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल, आर्य समाज साकेत से श्री लखीराम कटारिया, मेरठ आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री सौदान सिह जी सम्मलित हुए। इस बैठक में गुरुकुल का स्थापना दिवस २९ सितम्बर को प्रात. ८.०० बजे समारोह पूर्वक मनाने का निर्णय लिया गया। गुरुकुल को सुदृढ आर्थिक आधार प्रदान करने के लिए सभी ने सामूहिक रूप से प्रयास करने का आश्वासन दिया।

आर्य संदेश के ग्राहकों की सेवा में

प्रिय पाठक वृन्द! निवेदन है कि आप अपना वार्षिक शुल्क शीघ्राति-शीघ्र भेजे। आपको व्यक्तिगत पत्र द्वारा भी सूचित किया गया है। अत कृपया गत वर्षो की बकाया राशि २५ रुपये वार्षिक दर से ग्राहक सख्या सहित बैंक ड्राफ्ट अथवा मनीआर्डर द्वारा भेजने का कष्ट करे। आजीवन शुल्क मात्र २५१ रुपये है। नये ग्राहक अपने पत्र मे (नया ग्राहक) अवश्य लिखे।

"आर्य सन्देश" साप्ताहिक पत्रिका आपकी सेवा मे निरन्तर १४ वर्षो से आपको आर्य समाज की गतिविधियो की जानकारी देती है। अत तन-मन धन से सहयोग करना आपका नैतिक कर्त्तव्य बनता है। आशा है शीघ्र ही धनादेश भेज कर हमारा उत्साह वर्द्धन करेंगे।

—व्यवस्थापक

आर्य सदेश (साप्ताहिक)

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली १

शोक प्रस्ताव

अत्यन्त दु ख के साथ सूचित किया जाता है कि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के भजनोपदेशक श्री चुन्नीलाल जी आर्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री राजेन्द्र आर्य की धर्मपत्नी श्रीमती मायादेवी जी का गत २५-७-९१ को अचानक विद्युत दुर्घटना मे मे देहान्त हो गया। परमात्मा से प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे तथा शोक सतप्त परिवार को दु ख सहन करने की शक्ति प्रदान करे।

—डा० धर्मपाल

सम्पादक के नाम पत्र

आदरणीय महोदय,

सादर नमस्ते ! मैं आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली व श्री सूर्यदेव जी व डॉ० धर्मपाल जी का आभारी हूं कि आपने मेरी दो पुस्तकें—'वेद ईश्वरीय ज्ञान' एवं Vedas Introduced प्रकाशित की है। आप इनकी समीक्षा भी प्रकाशित कराए। बाद में इनके कुछ अंश नियमित रूप से प्रकाशित करते रहे जिससे ये विचार अधिक लोगो तक पहुंच सकें। मेरी Vedas Introduced हिन्दी, गुजराती व उड़िया में भी छप चुकी है। —डा० कृष्ण बल्लभ पालीवाल

१२६-बी-डी डी ए. फ्लैट्स राजोरी गार्डन, नई दिल्ली-२७

आदरणीय भाई, सादर नमस्ते !

आशा है प्रभु कृपा से स्वस्थ व सानन्द होंगे।

आपके द्वारा प्रेषित १९८९-९० का वार्षिक विवरण प्राप्त हुआ—मैंने उसका अध्ययन भी किया है। आपके सभी कार्य अत्यधिक सराहनीय हैं। वास्तव में ही आपने महर्षि के मिशन को आगे बढ़ानें में बहुत से सार्थक कार्य किए हैं। प्रभु से प्रार्थना है कि आप दीर्घायु हो तथा इसी प्रकार के कार्यों में संलग्न रहकर अपने जीवन को सार्थक करे। सम्पादक—आर्य वन्दना

१९०-एम-३ सुन्दर नगर-४ हिमाचल प्रदेश

सम्पादक महोदय,

आज भारत में चारों ओर अशान्ति भ्रष्टाचार और आतंकवाद का बोल-बाला है। कश्मीर-पंजाब टूटने के कगार पर है। झारखण्ड बोडो लैंड जैसे कितने ही अलगाववादी आन्दोलन देश के कोने-कोने में सिर उठा रहे हैं। राष्ट्रभक्ति कम होती जा रही है और देश को तोड़ने की विदेशी योजनाएं बल पकड़ रही हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यकता है कि भारत भक्ति का प्रचार हो भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा भारत के महापुरुषों के प्रति आस्था भारत के प्राचीन वैभव के प्रति आत्मीयता और भारत की भाषा एवं साहित्य से लगाव पैदा किया जाये। भारत के उन ऋषियों एवं आचार्यों के प्रति सम्मान बढ़े जिनके द्वारा देश देशान्तरों तक भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ और भारत विश्वगुरू कहलाया।

विश्व हिन्दू परिषद इस दिशा में ठोस काम करती दीख रही है। क्योंकि भगवान राम भारतीय संस्कृति के आधार हैं। राम भक्ति बढ़ने से स्वतः ही भारत भक्ति भी हृदय में समा जाती है। भारत से बाहर भी इन्डोनेशिया, बाली द्वीप, थाईलैंड, कम्बोडिया जहां-जहां भी रामायण का प्रचार है वहां के लोगों में भारत के प्रति श्रद्धा व प्रेम है। यही दशा मारीशस, त्रिनिदाद, सूरीनाम, फिजी एवं गयाना जैसे देशों में पाई जाती है। इन देशों में १५० वर्ष पहले जो भारतीय जाकर बस गये थे उनमें जो प्रवासी भारतीय रामभक्त हैं। वे भारत देश के प्रति निष्ठा व आत्मीयता रखते हैं किन्तु जिनके हृदय से राम भक्ति निकल गयी वे भारत के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं रखते बल्कि वे तो पाकिस्तान लीबिया अथवा अन्य देशों की ओर देखते हैं।

भारत के भीतर भी विदेशी पादरियों ने जिन नागा, मिजो वर्ग के लोगों में भारतीय संस्कृति के प्रति आदर श्रद्धा निकाल दिया वे चाहे फिजो के अनुयायी हों या लालडेंगा के सभी भारत के प्रति विद्रोह करके इंग्लैंड, अमेरिका की ओर देखते हैं कि उन्हीं क्षेत्रों के जिन नागा, चकमा, खासो आदि जाति के लोगो में विदेशी पादरी प्रचार करने में सफल नहीं हुए वे अभी तक भारतीय एकता अखण्डता की ही कामना करते हैं। यही स्थिति बिहार, मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों की है जहां रामभक्त जनता भारत की उन्नति चाहती है किन्तु भारतीय संस्कृति से विमुख हो चुके लोग प्रायः विदेशी षड्यन्त्रों के अलगाववादी और आतंकवादी आन्दोलन की चपेट में आ रहे हैं।

विश्व हिन्दू परिषद ने आदिवासी क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति और रामभक्ति का प्रचार से राष्ट्रवाद की बड़ी सेवा की है नहीं तो अब तक इन क्षेत्रों में भी पंजाब और कश्मीर वाली स्थिति बनी होती। विश्व हिन्दू परिषद को चाहिए कि वे अपने प्रचार में हिंसा न आने दें। शान्ति और प्रेम से भारत भर के करोड़ों लोगो तक अपना भारत भक्ति का संदेश फैलाते रहें ताकि आज के क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों के लिये देश के हितों को भी बेच देने की होड़ अब खत्म हो जाये और विशुद्ध राष्ट्रवाद का पावन प्रवाह इस पवित्र भारत वर्ष की धरा पर प्रवाहित होकर जन-जन के हृदय को आप्लावित कर दे। —डा० कैलाश चन्द्र

संकट मोचन आश्रम, सेक्टर ६, रामकृष्ण पुरम, नई दिल्ली-२२

गर्मी व बरसात में होने वाले चर्मरोग

पिछले कुछ वर्षों में चर्म रोगों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। गर्मी व बरसात के दिनों में चर्मरोग कुछ अधिक परेशान करते हैं। इन दिनों उच्च तापमान व वायुमण्डल में अत्यधिक नमी त्वचा पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं तथा कुछ चर्म रोगों की बहुतायत का कारण बनते हैं। जैसे—घमौरी, फोड़े-फुन्सी, दाद, सीप इत्यादि।

बरसात व गर्मी के दिनों में होने वाली आम बीमारियों के लक्षण कारण व उपचार इस प्रकार हैं। घमौरियां—घमौरियां लगभग ४० प्रतिशत लोगों को होने वाली बीमारी है यह त्वचा में पसीने की ग्रन्थियों के अवरुद्ध होने से होती है।

घमौरियों के लिए कैलामाइन लोशन चन्दन का लेप तथा गर्मी के टेलकम पाउडर मददगार सिद्ध होते हैं।

इनसे बचने के लिए अत्यधिक गर्मी व पसीने से बचना चाहिए व ठण्डे पदार्थों का सेवन करें। ढीले व सूती वस्त्र पहनने चाहिए। फोड़े-फुन्सी—यह ज्यादातर स्टेफाइलो कोक्स नाम के जीवाणुओं से होते हैं। यह बालों की जड़ों में पहुंच कर मवाद भरे दाने बना देते हैं। दानों में बहुत दर्द होता है व कभी-कभी बुखार भी आ जाता है।

डायबिटीज व मधुमेह के रोगियों को यह बार बार हो जाते हैं।

फोड़े-फुन्सी होने पर एन्टीबायोटिक्रीम केप्सूल व इंजेक्शन डाक्टर की सलाह से लेना चाहिए। सफाई का खास ध्यान रखें व मेडिकेटिड साबुन का नियमित इस्तेमाल करें जैसे—डिटोल, सिन्थोल, कार्बोलिक साबुन।

दाद:—यह कई तरह की फंगस के कारण होते हैं। यह रोग चमड़ी, बाल व नाखून में कही भी हो सकता है। यह जंघा व पैरों की उंगलियों के बीच अधिक देखने को मिलती है। इस बीमारी में गोल-गोल लाल छल्लेदार चकत्ते हो जाते है। जो बाहर की ओर फैलते हैं। जिनमें बहुत खुजली होती है। इनमें एक से दूसरे को होने का खतरा रहता है।

सीप:—जिन्हें अत्यधिक पसीना आता है उनमें यह बीमारी अधिक पायी जाती है इसमें छाती, कन्धे गर्दन, बाजू व पीठ पर सफेद, सलेटी रंग के भूरे छोटे-छोटे धब्बे पड़ जाते हैं। जिनसे हल्की भूख मरती है। इसमें खुजली नहीं होती है बरसात आने पर यह बढ़ जाते हैं व सर्दी में थोड़ा दब जाते हैं।

फोटोग्राफिक सलूशन, सैलशन, शैम्पू व अन्य दवाई युक्त क्रीम व पाउडर लाभदायक होते हैं। खाने की दवाई कीटोकोना जौल डाक्टर की सलाह से लेनी चाहिए।

स्केबीज—यह बीमारी एक बहुत ही छोटे कीड़े की वजह से होती है तथा अत्यधिक छूत की बीमारी है। बच्चों में यह ज्यादा होती है इसका कीड़ा उंगलियों के बीच की त्वचा व पेट के निचले हिस्से में छोटे-छोटे दाने बना देता है। जिनमें रात को ज्यादा खुजली होती हैं। इसमें कभी-कभी मवाद भी पड़ जाता है व खून भी निकलने लगता है।

बेनजाइल बैन्जो एट, गैमेक्सीन सल्फर मैलाथियान व क्रोटोमेटान युक्त क्रीम व लोशन प्रभावकारी है। परिवार में एक को यह रोग होने पर परिवार को एक साथ उपचार कराना चाहिए। एग्जीमा व एलर्जी :—गर्मी व ज्यादा नमी की वजह से एग्जीमा व एलर्जी ज्यादा तेजी से फैलते हैं व जगह-जगह से पानी व मवाद निकलने लगता है। बढ़ने से पहले ही उचित उपचार करवा लेना चाहिए।

—डा० सुनील गुप्ता, एम० डी०
चौक मालीवाड़ा, गाजियाबाद

अवैध गोमांस व्यापार के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव

भैंसो के मांस की आड मे गोमास सप्लाई करने वाली लिंक रोड औद्योगिक क्षेत्र स्थित अ हन ऐक्सपोर्ट प्राइवेट लिमिटेड फैक्टरी में चल रहे अवैध धन्धे का प्रांतीय आर्य महिला सभा कड़े शब्दों में निन्दा करती है।

काफी दिनो से इस फैक्टरी मे निर्यात के नाम पर भैंस के मास के स्थान पर गोमास विदेशो को भेजा जाता था। कानून के फंदे से बचने के लिए फैक्टरी की ओर से भारी रकम प्रतिमास पुलिस को नजराने के रूप मे दी जाती रही है।

उत्तर प्रदेश की सरकार बदलने के साथ ही साथ पुराने प्रशासनिक अधिकारियो का भी तबादला हो गया और नये अधिकारियो ने गुप्त सूचना के आधार पर छापा मार कर गोमास से भरे ट्रक रगे हाथो पकड़ लिए।

प्रांतीय आर्य महिला सभा जहां उत्तर प्रदेश सरकार और नये अधिकारियों एव पुलिस कर्मियो को साधुवाद देती है वही उत्तर प्रदेश सरकार से अनुरोध करती है कि फैक्टरी की मालकिन तथा सम्बद्ध व्यक्तियो को अविलम्ब गिरफ्तार करके कड़ी से कडी सजा दिलवाये तथा अवैध बूचडखाने अरिहत प्राइवेट लिमिटेड का लाइसैंस तुरन्त रद्द कर दिया जाए।

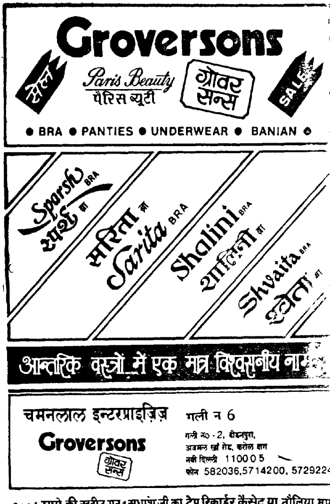
कृष्णा चड्ढा	— निवेदक —	शकुन्तला आर्य
प्रान्तीय आर्य महिला सभा		प्रांतीय आर्य महिला सभा
ए/१८४ टैगार गार्डन नई दिल्ली		IIए ४८ लाजपतनगर नई दिल्ली
फोन : ५३८३१९		फोन : ६८३१९९६

वैवाहिक विज्ञापन

बी एस सी. एव बी एम एस. पास कन्या रग गोरा उम्र २९ व ५' लम्बाई ५ फुट हेतु शिक्षित एम. बी बी. एस डा० वर चाहिए। जातीय व प्रान्तीय बन्धन नही है। कृपया वर के अभिभावक शीघ्र निम्न पते पर पत्र व्यवहार करे।

—आचार्य विश्वश्रवा व्यास,

वेद मन्दिर, १०३ बाजार मोतीलाल बरेली









आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R.N. No. 32387/77 Posted at N.D.P.S.O on 1-2-8-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० न० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

साप्ताहिक "आर्यसन्देश" ४ अगस्त, १९९१

वैदिक मिशनरी आर्ष गुरुकुल, वेद मन्दिर, मथुरा में

प्रवेश-दीक्षा आरम्भ

महर्षि दयानन्द की दीक्षा भूमि एव दण्डी गुरु विरजानन्द की कर्मभूमि मथुरा मे सचालित उक्त गुरुकुल मे अब छठी कक्षा से आचार्य श्रेणी तक महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के पाठ्यक्रम के अनुसार अष्टाध्यायी महाभाष्य पद्धति से व्याकरण तथा अन्य सभी विषयो का अध्ययन भी नि:शुल्क कराया जायेगा।

छठी कक्षा से दसवीं कक्षा तक भोजन-व्यय मात्र २५०) रु० मासिक लिया जायेगा। दसवी कक्षा के पश्चात् जो ब्रह्मचारी वैदिक मिशनरी व्रत दीक्षा लेंगे अर्थात् अपना सम्पूर्ण जीवन वेद प्रचार और आर्य समाज एव राष्ट्र कार्य के लिये समर्पित करने का सकल्प करेंगे, उनके भोजन जल तथा सब प्रकार की व्यवस्था का दायित्व सस्था लेगी। इनके अतिरिक्त छात्रो से दसवी कक्षा के बाद ३५०) रुपये मासिक भोजन व्यय लिया जायेगा।

नवीन आर्यसमाज की स्थापना

ग्राम घेवरा (दिल्ली-८१) में दिनांक १४-७-९१ को एक नवीन आर्य समाज की स्थापना की गई है। जिसमें निम्न अधिकारी सर्वसम्मति से मनोनीत किए गए हैं —

(१) प्रधान—श्री करतार सिंह।

(२) मन्त्री—श्री जयपाल सिंह शास्त्री जी।

(३) कोषाध्यक्ष—श्री सुरेन्द्र कुमार जी।

प्रवेश दीक्षा गुरु पूर्णिमा पर्व (गुरु विरजानन्द जयन्ती समारोह) से आरम्भ होगी। इस वर्ष केवल १० मेधावी छात्र लेने हैं। ५ का चयन हो चुका है, केवल ५ ही और लेने हैं। शीघ्रता करें।

—प्रेम भिक्षु
वेद मन्दिर, मथुरा



शाखा कार्यालय. ६३, गली राजा केदारनाथ
चावडी बाजार, दिल्ली-११०००६

टेलीफोन: २६१४३८

सेवा में—

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

'प्रखर' '२०७१'

श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२ मे मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी०(सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १४, अंक ५० | रविवार, २४ नवम्बर, १९९१ | विक्रमी सम्वत् २०४८ | दयानन्दाब्द : १६६ | सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९२

मूल्य एक प्रति ५० पैसे | वार्षिक—२५ रुपये | आजीवन २५० रुपये | विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर | दूरभाष · ३१०१५०

उत्तरकाशी-गढ़वाल तथा अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में भूकम्प के कारण भयावह स्थिति : आर्यसमाज द्वारा उल्लेनीय सेवा

—डा० धर्मपाल

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती के निर्देश पर आर्य वीर दल के प्रधान सचालक आचार्य डा० देवव्रत जी ने योग निकेतन उत्तरकाशी मे अपना राहत केन्द्र पहले दिन से ही प्रारम्भ कर दिया था। सार्वदेशिक सभा के वरिष्ठ उपप्रधान प० वन्देमातरम् रामचन्द्रराव ने स्वय जाकर सारी स्थिति का विश्लेषण किया और पाया कि आर्य समाज के द्वारा किया गया राहत कार्य सन्तोजनक है। आर्य वीर दल दिल्ली के महामन्त्री श्री ब्र० राजसिंह आर्य और उनके सहयोगी साथी निरन्तर इस कार्य मे सलग्न हैं। दिल्ली से अब तक १६ लाख से भी अधिक का सामान ट्रको के द्वारा भेजा जा चुका है। अनेक स्थान ऐसे हैं, जहा पर सरकारी अधिकारी तो पहुच भी नही पाते, वहा पर हमारे आर्य-वीर पहुच रहे है। भूलेगा, बोगा, सुकराला, नेभी, कपोली, नोटी, आदि ऐसे ग्राम हैं, जहा पर राहत सामग्री निरन्तर बाटी जा रही है। आर्य समाज को स्थानीय जिलाधिकारियों ने ३२ गांव आवटित किए है। वहा पर आर्य समाज द्वारा किया गया राहत कार्य उल्लेखनीय है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियो ने अनुभव किया कि उत्तरकाशी के ऊचाई वाले स्थानो पर शीघ्र ही बर्फ गिरनी प्रारम्भ हो जायेगी, अत. अब टीन की चद्दरे भेजने का कार्य शुरू कर दिया गया है। इसमे पहल आर्य समाज नागलराया के भाइयो ने की है। अब अन्य दानदाताओ से भी यही प्रार्थना की जा रही है कि वे टीन की चद्दरे दे। जो भी धन हमारे पास आया है उससे भी चद्दरे खरीद कर भेजी जा रही हैं। हमारे पास निरन्तर धन और वस्त्र, अन्नादि दान मे आ रहा है। पहली किस्त निम्न प्रकार है—

भूकम्प पीड़ित सहायता-सूची

श्री भरत कुमार हरि	५००)
डा० ए० के० सेठ	५००)
आर्य समाज झंडेवाला एक्स०	६०४)
आर्य समाज राजनगर पालम	३२५)
आर्य समाज प्रताप नगर	५,०००)
श्री जगदीश आर्य	५००)
श्री जितेन्द्र कोहली	१०१)
डा० नरेन्द्र कुमार	५१)
श्री अशोक कुमार सलूजा	१६४)
श्री गगा सिह	२१)
श्री ईश्वर दत्त	१००)
आर्य समाज उत्तम नगर	१ ०००)
आर्य समाज तिलक नगर	११००)
आर्य समाज सुभद्रा कालोनी	२०१)
श्री देवराज	१५)
गुप्त दान	५०)
लैबटैक इन्सट्रूमैंट्स	५००)
श्री भजनलाल बन्सीलाल	५०)
श्री पुरुषोत्तम महरोत्रा	२००)
डा० एन० एम० कुमार	२५०)
श्री अर्जुन देव महता	५१)
श्री भूदेव शर्मा	५१)
श्रीमती ईश्वरी देवी	३००)
आर्य समाज नांगलराया	१४,२८२)५०
आर्य समाज शालीमार बाग	३,६००)
आर्य समाज दीवान हाल	१३,०००)
आर्य समाज आर० के० पुरम सैक्टर ३	२०५)
आर्य समाज छतरपुर	५००)
आर्य समाज छतरपुर	१,८३०)
आर्य समाज विनय नगर	७५०)

(शेष पृष्ठ ३ पर)

दयानन्द कीर्त्ति स्तम्भ निर्माण योजना

स्व० प० प्रकाशवीर शास्त्री ने अपने निधन मे कुछ वर्ष पूर्व महर्षि दयानन्द शिला निर्माण समिति का गठन कर 'दयानन्द कीर्ति स्तम्भ', दयानन्द विजय स्तम नामक शिलालेख निर्मित कराये जाने की एक वृद्ध योजना बनाई थी और स्वय बैराटपादन दिकुली, नैनीताल मे एक शिला का निर्माण कर उसका उद्घाटन भी किया था उनके निधन से यह कार्य प्रभावित हुआ, किन्तु अब अखिल भारतीय स्तर पर एक समिति गठित कर कार्य होना प्रारम्भ हो गई है।

यह समिति हरिद्वार, ऋषिकेश, द्रोणसागर, काशीपुर, बद्रीनाथ, गढ-मुक्तेश्वर, बरेली, मसूदा, उदयपुर, प्रयाग कानपुर, अजमेर, शाहजहापुर, जालधर आदि स्थानो पर शिलालेखो का निर्माण कराएगी। शिलालेख का डिजाइन निश्चित है। यह आठ फुट चौड़े चबूतरे पर अठारह फुट ऊची बनेगी। कीर्त्ति स्तम्भ पर महर्षि दयानन्द एव आर्य समाज से सम्बन्धित विवरण के साथ-साथ स्वामी जी के उस स्थान से जुड़े होने सम्बन्धी तथ्यो को भी अकित कराया जायेगा। जो व्यक्ति या संस्था १००१ रुपया या अधिक देगे, उनके नाम एक स्थान के शिलालेख पर अकित कराये जाएगे। समस्त आर्य जनता से अनुरोध है कि इस ऐतिहासिक कार्य मे सहयोग देकर वैदिक धर्म के प्रसार एव प्रचार मे अपना दायित्वपूर्ण करे। [इस वर्ष नैनीताल मे शिलालेख का निर्माण किया गया तथा हरिद्वार में सारी योजना शीघ्र क्रियान्वित की जाएगी।]

डा० धर्मपाल	सूर्यदेव	इन्द्र वर्मा चौहान
अध्यक्ष	कार्य योजना मन्त्री	महामन्त्री

महर्षि दयानन्द शिला निर्माण समिति, भारत।
कार्यालय—रामनगर, नैनीताल, उत्तर प्रदेश।

परामर्श—डा० धर्मपाल   प्रो० सम्पादक—सूर्यदेव   सह सम्पादक—विमलकान्त शर्मा   व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

अक्षय सत्यनारायण व्रत कथा-१०

१७ नवम्बर ९१ से आगे : **— पं० देवनारायण भारद्वाज —**

अनुव्रत. पितु: पुत्रो मात्रा भवतु समना: ।
जाया पत्ये मधुमती वाच वदतु शन्तिवाम् ।। अथर्व ६।३०।

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, उसके व्रतो के अनुकूल चलने वाला हो और माता के साथ प्रीति युक्त मन वाला होकर रहे। पत्नी अपने पति के लिए सदा मधुर व शान्ति युक्त वाणी बोले ।

मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसार पुत स्वसा ।
सम्यञ्च: सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया ।। अथर्व० ३।३०।३

हे गृहस्थो तुम्हारे में (भ्रात) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे, (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी न करे तथा बहिन-भाई भी परस्पर द्वेष मत करें। (सम्यञ्च:) सम्यक प्रेम आदि गुणो से युक्त (स व्रता) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मगल कारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम्) सुख दायक वाणी को (वदत) बोला करो।

परमात्मा की इन भावनाओ को मान कर पहले हम अपने घर को, समाज को, सौमनस्य पूर्ण बनाये, और परस्पर सुखी रहना सीखें। आदर पूर्वक पिता की गोद के अधिकारी बन कर ही हम परम पिता की गोद के अधिकारी बन सकते हैं। प्रभु मिलन का सार रूप मे यही प्रसाद है कि हम लोग दैनिक पच महा यज्ञो का पचामृत अपने घर परिवार-समाज मे बाटते रहे। नित्य का अभ्यास बनाये कि प्रात एव साय सुविधानुसार समय निकाल कर प्रभु चिन्तन-मनन स्मरण करे और प्रात. सोकर उठने के बाद और रात्री सोने के पूर्व परिवार मे अपने बड़ो का अभिवादन—नमस्ते—चरण स्पर्श करे इससे परिवार का पर्यावरण प्रेम पूर्ण बनेगा और बडो के आशीर्वाद से हमारा जीवन सार्थक हो जायेगा। कथा तो सभी सुन लेगे, किन्तु यह प्रसाद किसे मिलेगा—इसे एक दृष्टान्त से समझाये। एक मूर्तिकार बाजार मे एक सामान रंग-रूप- आकार की दो मूर्तिया बेचने को लाया। एक मूर्ति का मूल्य एक लाख रुपया और दूसरी मूर्ति का मूल्य मात्र एक रुपया था। शर्त यह भी थी कि जो व्यक्ति एक रुपये वाली मूर्ति लेगा—उसे एक लाख रुपये वाली मूर्ति भी लेनी पडेगी। जो व्यक्ति एक लाख रुपये वाली मूर्ति क्रय करेगा उसके लिए एक रुपये वाली मूर्ति लेना अनिवार्य नही है। सम्पूर्ण दिवस बीत गया किसी ने मूर्ति क्रय नही की, तब वह सायकाल राजा के पास पहुचा और अपनी मूर्तियो के न बिकने की बात बताई। राजा ने उसकी मूर्तिया खरीदने का आश्वासन तो दे दिया, किन्तु यह भी पूछा कि जब यह दोनो मूर्तिया एक सी है तो इनके मूल्य मे इतना अन्तर क्यो है? मूर्तिकार ने एक सीक उठाई और एक मूर्ति के एक कान मे डाल कर दूसरे कान से बाहर निकाल दी, उसने वही सीक दूसरी मूर्ति के कान मे डाली तो वह कान से बाहर नही निकली, अपितु गले के नीचे उतर गई। यही अन्तर आज के यजमान व कथा श्रोताओ मे है। तो मूल्यवान वही होगे जो इस कथा प्रसाद को गले के नीचे उतारेगे, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो ही जाना है। सत्यनारायण के व्रत पालन से सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोडने मे हम उद्यत हो जाये। सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथा योग्य बरतने लग जाये। अविद्या का नाश कर विद्या की वृद्धि करने लग जाये। तो स्वय सुखी होकर ससार को हम सुखी बनाने मे सफल हो जायेगे। सत्यनारायण के व्रत और इसके प्रसाद की जिसने उपेक्षा की, उसका पतन न हुआ। ऐसे कुछ उदाहरण पुराणो की कथाओ मे बताये जाते हैं। काशी नगरी मे एक निर्धन ब्राह्मण भिक्षा के लिए घूमा करता था, एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे भगवान ने उसे उपदेश दिया, कि तुम सत्यनारायण का व्रत रक्खो तो कल्याण होगा। उसने व्रत रक्खा और बन्धु बान्धवो को बुला कर कथा सुनी प्रसाद बाटा। वह व्रत धारण से सम्पन्न हो गया। इन्ही ब्राह्मण के व्रत एव यज्ञ को देख कर एक लकड़हारे ने भी सत्यनारायण के व्रत यज्ञ का निश्चय कर लिया तो उसकी निर्धनता भी जाती रही। इससे यह प्रकट है कि कोई ब्राह्मण ही नही शुद्र भी इस सत्यनारायण के यज्ञ को कर सकता है। वेद का पठन-पाठन श्रवण कर सकता है। समान रूप से क्षत्रिय राजा जन भी इस व्रत का पालन करते थे। उल्फामुख नाम के राजा को भद्र शीला नदी के किनारे सपत्नीक सत्यनारायण के यज्ञ को करते देख कर एक साधु नाम के वैश्य ने इसके विषय में जानकारी की। राजा ने इस व्रत की महिमा उस वैश्य को बता दी वैश्य ने भी इस व्रत को करने का वचन ले लिया, किन्तु उसने इसके साथ एक कामना भी जोड़ दी। उसके कोई सन्तान नहीं थी। उसने कहा कि जब सन्तान होगी, तभी मैं इस व्रत-यज्ञ कथा को करूगा। देव योग से उसकी पत्नी लीलावती ने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। वैश्य एव सभी उसके साथी सम्बन्धी अति हर्षित हुए। उसकी पत्नी ने पूर्व में निश्चय किए सत्यनारायण के यज्ञ व्रत का ध्यान दिलाया, तो उसने यह कह कर टाल दिया कि पुत्री के विवाह के समय यह यज्ञ कराऊगा। पुत्री कलावती बडी हुई। निश्चित समय पर उसका विवाह भी हो गया और वैश्य को एक अच्छा जामाता मिल गया। वह जामाता सहित व्यापार हेतु राजा चन्द्रकेतु के सागर के पास बसे रत्नसार नगर में जाकर व्यापार करने लगा।

सत्यनारायण भगवान ने देखा कि इसने मेरे व्रत का सकल्प लिया था, उसे बिल्कुल ठुकरा कर सासारिक सुख एव व्यापार वृद्धि में यह वैश्य तत्पर हो गया है। इसे कुछ शिक्षा देनी चाहिए। यह वैश्य जहा ठहरे थे और अपनी सम्पत्ति रखते थे, वहीं पर चोरो ने राजा के यहा से चोरी करके कुछ मूल्यवान सामान रक्खा था। उन्हे ढूढने सिपाही वहीं पर आ गए। डर के कारण चोर तो भाग गये। ये दोनो ससुर-जामाता वैश्य माल सहित पकड़ लिए गए, और जेल में बन्द कर लिए गये। इन्होने बहुत ही समझाया कि हमने चोरी नही की है, किन्तु किसी ने भी नही माना और चोरी के माल के साथ इनकी सम्पत्ति भी राजा के द्वारा ले ली गई। उधर वे माता पुत्री लीलावती व कलावती बडे सकट के दिन बिता रही थी। तभी कलावती ने अपने नगर मे एक ब्राह्मण को सत्यनारायण के यज्ञ-व्रत को करते देखा। वह भूखी थी। ब्राह्मण के घर मे प्रसाद से तृप्त होकर देर रात्रि में अपनी मा के पास पहुचती है। रात्रि देरी से उत्पन्न शका को मा ने अपनी पुत्री के समक्ष प्रकट किया। कलावती ने अपनी मा की शका का निवारण किया और ब्राह्मण के घर हुई सत्यनारायण के यज्ञ कथा की बात बता दी। तब उसकी मा ने यत्न पूर्वक धन जुटा कर बन्धु बान्धवो सहित यह यज्ञ किया और प्रभु से प्रार्थना की कि मेरे पति एव जमाता की रक्षा करो। इस सत्य कर्म का फल यह हुआ कि राजा के स्वप्न मे दोनो वैश्य निर्दोष सिद्ध हुए और प्रात: उन्हे छोड दिया दिया। दोनो वैश्यो को जितनी सम्पत्ति उनके पास थी—उससे दूनी देकर विदा कर दिया। नाव मे लाद कर वे लोग अपने नगर की ओर आ रहे थे। तभी सत्यनारायण भगवान उनकी परीक्षा करने के लिए दण्डी स्वामी का रूप बना कर आये। भिक्षा के नाम पर कुछ देना न पडे इसलिए वैश्य ने बता दिया कि नाव पे लता पत्ता के अतिरिक्त कुछ नही है। सत्यनारायण तो अन्तरध्यान हो गये। उस वैश्य ने नाव में देखा कि वास्तव मे लता पत्ता ही हो गये। वैश्य तो शोक करने लगा किन्तु उसका जामाता दण्डी स्वामी को खोज कर लाया और उनसे क्षमा मागी, तब उनकी सम्पत्ति पूर्ववत् हो गई। नगर के समीप आने पर जब उनकी पत्नियों को अपने पतियो के आने का समाचार मिला, तो वह बडी हर्षित हुई। वे उस समय सत्यनारायण के यज्ञ को कर रही थी। पुत्री कलावती प्रसाद को लिए बिना अपने पिता और पति के स्वागत के लिए दौड़ पडी तो वह नदी के किनारे नाव सहित अपने पति को डूब गया जान कर शोक सतप्त हो गई। वैश्य और उसकी पत्नी भी महाशोक मे डूब रहे थे। माता ने समझ लिया कि पुत्री बिना यज्ञ पूर्ण किए प्रसाद वितरण एव ग्रहण किए आ गई है—इसलिए यह क्षय हुआ। इन्होने प्रभु से क्षमा मागी और विधिवत व्रत पालन किया, जिससे नाव व जामाता वापस मिल गये। यह वैश्य परिवार सुख से रहने लगा। और प्रत्येक पूर्णमासी और सक्राति पर यज्ञ करने लगा। इसी प्रकार एक राजा तुगध्वज ने वन में गोप लोगो को सत्यनारायण के यज्ञ-व्रत को करते देखा और उनको हेय समझ कर उस के प्रसाद को त्याग दिया। घर आकर उसको भी विपत्ति का सामना करना पडा। पुत्रादिक मरने लगे और सम्पत्ति नष्ट होने लगी। उसे स्मरण आया कि मैंने सत्यनारायण की उपेक्षा की है, इस लिए यह दुर्दिन देखने पड रहे हैं। वह लौह वनके-

(शेष पृष्ठ ६ पर)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

स्वर्गीय लाला लाजपतराय



लाला लाजपतराय का बलिदान दिवस १७ नवम्बर है। उनका जन्म २८ जनवरी १८६५ को हुआ था। १७ नवम्बर १९२८ को उनका बलिदान हुआ। भारत मे साईमन कमीशन आया था। लाहौर में यह कमीशन अक्तूबर १९२८ के अन्तिम सप्ताह मे आया था। स्थानीय जनता इसके बहिष्कार की पूर्ण तैयारी कर चुकी थी। स्टेशन पर ही काले झण्डे दिखाने की योजना बनाई गई थी। लाला लाजपतराय प्रदर्शनकारियो का नेतृत्व कर रहे थे। कमीशन के स्टेशन पर उतरते ही 'साईमन गो बैक' के नारे लगने प्रारम्भ हो गए। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों को तितर-बितर करने के लिए अनुचित बल का प्रयोग किया। लाला जी पर अनेक लाठियो के प्रहार हुए और यह भारत मा का सपूत इसी काण्ड के बाद, आजादी की बलि वेदी पर अमरत्व को प्राप्त हो गया। उस वीर को हम शत्-शत् प्रणाम करते हैं।

लाला जी आर्य समाज के पलने मे बढ़े हुए थे। उन पर भी वैसा ही आर्य समाज का प्रभाव था, जैसा अमर शहीद भगत सिह, शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, सुखदेव, राजगुरु पर था। वे सब भी इसी प्रकार हसते-हसते फांसी के फदो पर झूल गये थे। लाला जी ने आर्य समाज लाहौर के उत्सव पर एक बार कहा था—

मेरे जीवन का जो हिस्सा खराब है, वह मेरा अपना है। वह या तो मुझे विरासत मे मिला है या मेरे पूर्व जन्म के सस्कारों का फल है। लेकिन मेरे जीवन का जो हिस्सा अच्छा है और लोगो मे प्रशसा के योग्य है, वह सब आर्य समाज की बदौलत है। मैंने सार्वजनिक सेवा के तमाम सबक आर्य समाज से सीखें हैं। आर्य समाज के काम मे ही, सार्वजनिक जीवन के पवित्र नमूने हैं।

इस प्रकार लाला जी आर्य समाज को विशेष महत्व दिया करते थे।

लाला लाजपतराय राजनैतिक नेता होते हुए भी, आर्य समाज का दिन रात प्रचार-प्रसार के पक्षधर थे। उन्होने 'आर्य समाज' नाम की एक पुस्तक अग्रेजी में, १९१४ मे लिखी थी।

हमे उनके जीवन से प्रेरणा लेकर आर्य समाज का कार्य विदेशो मे, अन्य भाषाओ के माध्यम से बढ़ाना चाहिये।'

उस वीर सपूत को विनत श्रद्धाञ्जलि।

—डा० धर्मपाल

आर्य युवा मंच का उत्तर काशी में भूकम्प के कारण अनाथ हो गये बच्चों की शिक्षा का भार उठाने का संकल्प

आज यहा (दिल्ली) आर्य राष्ट्रीय मच ने उत्तर काशी मे आये भूकम्प के कारण वहां दिवगत हुए लोगों के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की। जो लोग भूकम्प के कारण पीडित हुए हैं उनके प्रति सहानुभूति व्यक्त की।

आर्य राष्ट्रीय मच ने इस बात पर सतोष व्यक्त किया कि सार्वदेशिक सभा, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा—आर्य वीर दल, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा तथा विश्व हिन्दू परिषद् जैसी अनेक स्वय सेवी सस्थाए राहत कार्य में लगी हुई हैं। आर्य राष्ट्रीय मच के अध्यक्ष डा० प्रशान्त वेदालकार ने यह प्रस्ताव रखा कि इस भूकम्प के कारण जो बच्चे अनाथ हो गए हैं उनको शिक्षा की व्यवस्था यह करे।

(पृष्ठ १ का शेष)

भूकम्प पीड़ित सहयाता सूची

आर्य समाज दरियागज	१,०००)
श्रीमती शकुन्तला देवी	१२००)
प्रिसिपल सतभ्रावा स्कूल	५,८००)
आर्य समाज डिफैंस कालोनी	५,०००)
आर्य समाज डिफैंस कालोनी	५,०००
आर्य समाज तिमारपुर	५०१)
आर्य माडल स्कूल तिमारपुर	५०१)

आर्य समाज दीवान हाल में संग्रहीत दान का विवरण

श्री अरुण शर्मा	१०१)
श्री अनन्त राम	१००)
श्री वेदप्रकाश	५०)
गुप्त दान	५१)
श्री सत्य प्रकाश	५०)
श्री मधानन्द आर्य	२१००
श्री देवेन्द्र सिह	१००)
श्रीमती सदभवाना	१०१)
श्री सुभाष सिघल	११००)
श्री युधिष्ठर कुमार	१०१)
श्री रामलाल छाबड़ा	११००)
श्री रहमल दास अरोड़ा	१०१)
श्री इन्द्र सेन जैन	१००)
श्री मवरलाल	५१)
प्रतिनिधि आर्य समाज एव ग्राम अटायल	२०७१)
एसोसीयेशन श्री राम मार्किट	३२००)
आर्य समाज शिवाजी कालोनी रोहतक	२००५)
श्री देवेन्द्र गोयल	१०१)
श्री मदन लाल सैनी	५१)
पूनम जैन	१०१)
शारदादेवी	५१)
सुषमा शर्मा	५१)
श्री सजीव कुमार	१००)
मा० अनुज जी	७०)
श्रीमती उर्मिला देवी	१०१)
श्रीमती डा० लाजवन्ती	१०१)
श्री परसराम शास्त्री	१०१
कृष्ण लाल दूध वाले	५०)

जिन महानुभावो ने वस्त्र, कम्बल, टीन की चद्दरे, आटा आदि दिया उनका विवरण निम्न प्रकार है—

श्री कवर गोपाल जी २२० नये कम्बल
श्री बनारसी दास लक्ष्मी नारायण कपूर ५६ नये कम्बल
डा० आनन्द जी—पहने कपडे
श्री मनमोहन आदर्श प्रा० लि०
श्री नवीन भाटिया
श्री वीरेन्द्र मल जी
श्री रेहमल दास अरोडा
श्री ईश्वर चन्द धवन
श्री खुबीराम जी गुप्ता
श्री कमल गोपाल जी
आर्य समाज बरनाला,
सतभ्रावा आर्य कन्या पाठशाला करोल बाग
१० नये कम्बल, २१ शाल गर्म आटा, चीनी, बिस्कुट पहने कपडे आदि प्राप्त किए।

आर्य समाज नागल राया से टीन की चद्दरें।

(क्रमश:)

महात्मा देवेश भिक्षु की विदेश-यात्रा

वेद प्रचार हेतु अमरीका-कनाडा दो देशो मे १९८९ तथा १९९१ मे चार-चार मास भ्रमण किया, जहां वैदिक धर्म के प्रति ही नही अपितु धर्म के नाम पर जो भी प्राप्त हो जनता उसी के प्रति लालायित रहती है। वैदिक धर्म तो सर्वश्रेष्ठ, वैज्ञानिक तथा तर्कानुसधानित होने से जनता की जिज्ञासा पूर्ति मे पूर्णरूपेण सक्षम है। अतः क्यों न ग्राह्य हो।

१९८९ अप्रैल मास की १२ ता० को न्यूयार्क कैनेडी हवाई अड्डे पर पहुचा जहा अगवानी हेतु न्यूयार्क आर्य समाज के प्रधान, मन्त्री आदि सात व्यक्ति गये थे। ये लोग कुछ देरी से पहुचे क्योकि इनका अनुभव के आधार पर विचार था कि कस्टम पर दो घण्टे लग ही जाते हैं। किन्तु मेरा अनुभव बिल्कुल भिन्न रहा क्योंकि मुझे दोनों बार (१९९१ मे भी) लाइन से अलग करके जाने दिया गया। अत. मैं शीघ्र ही बाहर पहुंच गया, जहा मुझे कोई आधे घण्टे तक जब कोई नही मिला, तो एक टैक्सी करके सीधा करतार चन्द जी बब्बर के घर पहुच गया।

वहां पहुच कर पता चला कि सात व्यक्ति दो कारो मे मुझे लिवाने गए हुए है। कुछ देरी के बाद उन्होने हवाई अड्डे से टेलीफून किया और जब उन्हे बतलाया गया कि मैं पहुंच चुका हूं, तो वे लौट आये। एक सप्ताह बाद मेरे बहुत आग्रह करने पर मुझे समाज मन्दिर मे ठहरने हेतु जाने दिया। एक व्यक्ति, रोहतक निवासी जो वहा काम करता था, मेरी देख भाल करने को मन्दिर मे रख दिया। मेरे कहने से मन्दिर में टेलीफून लगवाया तथा दो समाचार-पत्रो मे मेरी अमरीका यात्रा के बारे मे विज्ञापन दिए, जिससे स्थान-स्थान से प्रवचनो के लिए टेलीफून आने लगे।

न्यूयार्क समाज मन्दिर मे प्रातः ९-३० से १२ बजे तक गयाना समाज का सत्सग लगता है और उपराह्न मे ४ से ६ बजे तक भारतीय समाज का। इस भांति यह मन्दिर दो समाजो के सत्सगों का स्थल है। गयाना-सूरिनाम-त्रिनिदाद आदि देशो से आये मूल भारतीय जिनकी भाषा अब अग्रेजी है आर्य समाज मे श्रद्धालु लोग हमारी तरह ही यज्ञ-सन्ध्या-भजन करते हैं यद्यपि उन्हे हिन्दी-सस्कृत का ज्ञान नही है। शेष कार्य प्रवचनादि अग्रेजी मे करते है। अतः मुझ प्रातः अग्रेजी मे व साय हिन्दी मे प्रवचन करने होते थे।

न्यू जर्सी तथा वाशिगटन की समाजो मे भी एक बार प्रवचन देने का अवसर मिला। मई मास के अन्त मे कार द्वारा कनाडा (टोरटो) जाना हुआ—मार्ग में न्यागारा प्रपात का दृश्य भी देखा। टोरटो नगर मे भी प्रातः १० बजे गयाना समाज मे तथा बारह बजे भारतीय समाज मे बोलना निश्चित हुआ। इन समाजो के पास मन्दिर नही हैं, अत ये अपना सत्सग चर्च या आडिटोरियम दो घन्टे किराये पर लेकर करते हैं।

टोरटो गयाना आर्य समाज में पुरानी पीढी व युवा पीढी मे कुछ विवाद था। हम लोग पुरानी पीढी के पक्षधर श्री बलराज रेखी के गृह पर रुके थे। वे उनकी पुत्री शान्ति मुझ से रात्रि के एक बजे तक आग्रह करते रहे कि यह विवाद किसी प्रकार सुलझाऊ। मेरी समझ मे नही आ रहा था कि मात्र एक घण्टे मे जो प्रवचन हेतु नियत था किस प्रकार विवाद सुलझाया जा सकता है! प्रातः २८ मई को (रविवार) हम लोग नौ बजे कार मे बैठ चल पड़े, जिसे शान्ति जी चला रही थी व मुझे आगे उनके पास ही बिठा दिया। मार्ग मे शान्ति जी ने अपने पति के बारे में चर्चा छेड़ी और निवेदन किया कि मैं किसी तरह उसके पति को भी ठीक राह पर ला दू। यह असम्भव था क्योकि उसके पति को देखने का भी अवसर न था। शान्ति जी अपने शोरूम को दिखलाती हुई हमे सत्सग स्थान पर ले गई। यह शोरूम टोरटो नगर के प्रसिद्ध बाजार मे बच्चो व स्त्रियो की ड्रैसज का था जिसमे अनेक बच्चो व स्त्रियो की मूर्तिया सुन्दर ड्रैस पहिने खडी थी।

मैं तो प्रभु से प्रार्थना कर रहा था कि अचानक ही विचार आया कि 'आर्य' शब्द पर प्रवचन दिया जाये, जिस माध्यम से दोनो पक्षों को अपने ऊपर सोचने का अवसर मिलेगा। समाज युवा पीढी के हाथो में थी क्योकि पुराने लोगों ने समाज मे जाना छोड़ दिया था। किन्तु उन लोगो ने यह निश्चय पूर्व ही कर लिया था कि महात्मा देवेश भिक्षु के प्रवचन में वे लोग अवश्य उपस्थित रहेंगे। हमने एक घण्टे से भी कुछ अधिक ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र लेकर 'आर्य' शब्द की अग्रेजी में व्याख्या की—प्रभु कृपा से इस प्रवचन का आशातीत प्रभाव हुआ क्योंकि दोनो पक्षों का परस्पर मेल हो गया। सभी ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की। वहा से चल कर भारतीय समाज मे हिन्दी मे बोला। रात्रि मे युद्धवीर सिंह जी के गृह पर रुके जहां गयाना समाज के कुछ स्त्री पुरुष हम से विचार विमर्श करते रहे, जिनमे एक कनैडियन गोरी महिला भी थी। कनाडा से लौटती बार माटरीयल नगर आर्य समाज में प्रवचन अग्रेजी मे दिया।

कुछेक परिवारो मे भी यज्ञादि कराए तथा एक विवाह सस्कार अमरीका के सब से बड़े होटल पैन्टा मे सम्पन्न कराया अग्रेजी मे। इस भांति न्यूयार्क नगर के मनहटन, कनैक्टीकट, आदि अनेक क्षेत्रों में प्रचार करने का अवसर मिला। गयाना समाज के पण्डित के साथ एम्पायर बिल्डिंग (सबसे ऊंची एक सौ पैंतीस मजिल), यू० एन० एसैम्बली आदि देखने का भी अवसर मिला। आठ अगस्त को हमें भारत लौटना था, गयाना समाज ने हमारे सम्मान में 'महात्मा देवेश भिक्षु-नाइट' का आयोजन किया। पाच अगस्त को हमें फ्लोरिडा (डा० अग्रवाल इण्डियन कलचरल सोसायटी) जाना पड़ा। वहां शनिवार को दो भाषण तथा छै अगस्त (रविवार) प्रातः गीता पर प्रवचन देकर विमान द्वारा न्यूयार्क लौट आए, जहा भारतीय समाज ने भावभीनी विदाई दी।

इन चार मासों मे गयाना समाज का पण्डित वर्ग हमारे पास लगातार ज्ञान प्राप्त करने आता रहा। एक पण्डित जी तो बाद के दो मास सारा दिन ही मेरे पास रहते थे—वे मुझे गीता मन्दिर तथा आनन्द आश्रम भी दिखलाने ले गए। यह आश्चर्य की बात है कि इन दोनो स्थानो के महन्त पूर्व आर्य समाजी विद्वान् हैं। गीता मन्दिर के महन्त ने आर्य समाज की अपने विद्वानो का उचित मान-सम्मान न करने की भर्त्सना की तथा यही कारण आर्य समाज त्यागने का बतलाया। यहां वे भगवां कपडे पहिन कर ऐशो-आराम से रहते हैं। उनके पास कार ड्राइवर, दो युवतिया (एक अमरीकन तथा एक गुजराती) हैं। मन्दिर में चहु ओर विशाल देवी-देवताओं की अनेक मूर्तिया स्थापित हैं जिन पर बहुत चढ़ावा आता है। आनन्द आश्रम के महन्त का सीधा पक्ष लकवे से मारा गया है। वे बोल भी नहीं सकते; तथापि अमरीकन युवतिया उनकी परिचर्या में सलग्न हैं। अन्य आश्रमो के बारे मे भी इसी प्रकार की दशा है।

१९९१ में हमारा पुनः अमरीका जाने का प्रोग्राम एक अमरीकन सज्जन के आग्रह पर बन गया। उन्होने हमारा अग्रेजी का साहित्य पढ़ा था और हमारी पुस्तको पर पता-टेलीफून पढ कर हमें पत्र डाले तथा टेलीफून पर बात की। हम उनके आग्रह को टाल न सके, यद्यपि ९ मई को हमारी धर्मपत्नी का देहावसान हुआ था। १३ जून को हम न्यू हैम्पशायर (पैलहम) जाने हेतु बास्टन के लिए विमान द्वारा चल पडे। बास्टन हवाई अड्डे पर ये अमरीकन सज्जन (श्री जय महादेव) अपने सुपुत्र राम के साथ हमे लिवाने आये। ये सज्जन गोरे अमरीकन हैं किन्तु अब पूर्णरूपेण वैदिक धर्म मे डूब चुके हैं—इन्होने अपनी अमरीकन पत्नी का नाम लक्ष्मी तथा तीन बच्चो के नाम राम (९) मीरा (७) तथा रविन्द्र (३) रखे हैं और नित्य प्रति सध्या करते हैं परिवार सहित।

अमरीका जाने मे पूर्व ही जय महादेव ने अमरीका-कनाडा मे अनेक लोगो को हमारे आने की सूचना देकर प्रोग्राम प्रवचनो का बना लिया था। अतः न्यूयार्क समाज को हमारे पहुचने की सूचना मिलते ही उन्होने हमे यहा टेलीफून पर आग्रह किया कि मैं उनकी समाज मे ही उतरू। किन्तु ऐसा उचित न था परन्तु हमने उन्हें वचन दे दिया कि अधिकाश समय उनकी समाज में ही लगावेगे।

१३ से २६ जून तक जय महादेव के आश्रम रूपी गृह पर रहे जहां पर तीन बार यज्ञ-सत्सग का आयोजन हुआ व न्यू हैम्पशायर मे आर्य समाज की स्थापना की जिसके लगभग तीस सदस्य (गयानी, भारतीय व अमरीकन) जय महादेव के प्रयत्न से बन गये। उनके गृह से पचास मील की दूरी पर इनके गुरु योगीराज डा० टी० आर० खन्ना का मासा सुचेट्स मे महायोग आश्रम है जहां योग पर अग्रेजी में प्रवचन दिए क्योकि यहां के वासी सभी अमरीकन स्त्री पुरुष हैं।

२७ जून को जय महादेव की पत्नी लक्ष्मी जो व्यापार करती हैं, किसी कार्यवश कार द्वारा न्यूयार्क जा रही थी, तो हम भी उनके साथ आय समाज मन्दिर पहुंच गये। हमारे आने की खबर पाकर वहां के लोग बड़े प्रसन्न हुए तथा प्रति रविवार को दोनो समाजो मे प्रात: साय अग्रेजी-हिन्दी में प्रवचन देते रहे। २८ जुलाई को जय महादेव हमें लिवाने आ गये और हमको अपने गृह पर न्यू हैम्पशायर (पैलहम) ले गये जहा हमने दो बार प्रवचन दिए। २ अगस्त को जय महादेव परिवार सहित हमको टोरटो (कनाड़ा) कार द्वारा ले गये, जहा हम लोग गयाना समाज के सदस्य श्री ठुंडीदास के गृह पर उतरे। ३ अगस्त शनिवार को गयाना समाज ने किसी के गृह पर यज्ञ कराना था—हमको वहा बोलने का निमत्रण दिया। अत: वहा अपराह्न मे अग्रेजी मे प्रवचन दिया।

साय ५ बजे श्री अमरचन्द ऐरी, प्रधान भारतीय आर्य समाज टोरटो, हमे लिवाने आ पहुचे और हमको अपनी कार मे बिठा अपने गृह पर ले गए जहां हम ११ अगस्त तक रुके। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरोज ने हमारा आतिथ्य बड़ी ही श्रद्धा पूर्वक भोजनादि द्वारा किया। रविवार ४ अगस्त को हमारा प्रवचन दोनो समाजों मे होना था किन्तु समय एक ही होने से, भारतीय समाज में ही बोलना हो सका। यहा उपस्थिति दो सौ होगी—हाल पूरी तरह भरा था। आश्चर्य की बात यह थी कि योगीराज टी० आर० खन्ना अपनी दो अमरीकन शिष्याओ व माता पिता सहित मासा सुचेट्स से आए हुए थे। उन्होने टोरटो मे हमारे सभी प्रवचनों को टेप किया और ११ अगस्त तक वहां रहे। श्री अमरचन्द ऐरी ने हमारे प्रवचनो का प्रबन्ध प्रतिदिन रात्रि को घर-घर में करा दिया। इस प्रकार ४ से ११ अगस्त तक लगातार हमारे प्रवचनो की शृखला चली। ११ अगस्त (रविवार) को तीन प्रवचन हुए—आर्य समाज मे प्रात:। दोपहर को एक गृह पर तथा अपराह्न में मिसिसागा आर्य समाज मे, जहां हम को वहां से एक सज्जन आकर ले गये थे।

मिसिसागा समाज टोरंटो से दूर होने के कारण, रात्रि को श्री सुभाष जी झाब के गृह पर रुकने का प्रबन्ध था, जहा से सीधा अगले दिन प्रात: हवाई अड्डे जाने का विचार था। इस समाज मे भी अग्रेजी मे प्रवचन किया और सत्सग समाप्ति पर श्री सुभाष जी की पत्नी हमको अपने घर ले गई। कुछ देर बाद सुभाष जी भी आ गये और उन्होने हम से अपनी पुत्रियो से जो सभी युवा थी कुछ उपदेश देने का आग्रह किया। हमने उन पुत्रियो को भी यही कहा कि उन्हे अपने माता-पिता की आज्ञा में रहना ही हितकर है तथा पश्चिमी सभ्यता के रग में पूर्ण रूपेण न रग जावें। यह हानिकारक सिद्ध होगा आदि।

१२ अगस्त को टोरटो हवाई अड्डे पर हमे छोडने श्री सुभाष जी गये और जहा तक सम्भव था हमारे साथ रहे। यहा इमिग्रेशन आफिस मे पूछ-ताछ करने वाले लोगो ने कठिनाई पैदा कर दी, क्योंकि वे यह जानना चाहते थे कि हमारी आय न्यूयार्क मे कितनी होगी। अन्त में उन्होने हमारा वीसा दो मास के लिए कम करके १५ अक्तूबर तक कर दिया। इससे हमारी कुछ हानि नही हुई क्योकि हमने तो इस तिथि से पूर्व हा लौटना था। आखिर विमान मे बैठ न्यूयार्क पहुचे जहाँ हमे लिवाने श्री अरविन्द पहुचे हुए थे।

न्यूयार्क आर्य समाज ने हमारे से पूछ कर १७ व १८ अगस्त को चतुर्वेद महायज्ञ का आयोजन किया था। यह पवित्र कार्य सुन्दर रीति से सम्पन्न हुआ व सभी को सुख शान्ति आनन्द का अनुभव हुआ। १३ अगस्त को हमे आरलैंडो मे प्रोग्राम निभाने छै दिन के लिए जाना था। अत: विमान पकड कर वहा के हवाई अड्डे पर पहुचे, जहां हमे लिवाने डा० खडेलवाल आए हुए थे। वे हमको किसी अग्रवाल के गृह पर ले गये जहां रामायण का पाठ चल रहा था। ये सभी लोग विश्व हिन्दू परिषद् से सम्बन्धित हैं। रात्रि थके होने के कारण हमारा सोने का प्रबन्ध श्री जोशी जी के गृह पर था जो हमको अर्ध रात्रि को आकर लिवा ले गये। प्रात: उठ कर शौच-स्नान-सन्ध्या आदि से निवृत्त हो जब बैठक में आया, तो जोशी जी ने मुझे नाश्ते में दूध-फल आदि दिये तथा अपनी युवा पुत्री को कुछ उपदेश देने को कहा। उसे भी हमने जो भी उसकी शकायें थीं उनका समाधान किया व विद्यार्थी जीवन के कर्त्तव्य बतलाए।

२४ अगस्त दोपहर को रामायण पाठ की समाप्ति पर हमारा प्रवचन मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी महाराज पर हुआ। भोजनोपरान्त हमको विश्व हिन्दू परिषद् के प्रधान की पुत्री कार मे अपने घर लिवा ले गई। इनका घर बहुत बड़ा है तथा यहां ब्रह्मरत्न अग्रवाल, उनकी पत्नी, पुत्री जामाता तथा उनकी पुत्री की तीन सतानें (दो पुत्र व एक पुत्री) रहती हैं। प्रधान जी की धर्म पत्नी बड़ी ही धर्म परायण आतिथ्य में कुशल हैं। इनके घर पर हर समय आने जाने वालो का ताता लगा रहता है। रात्रि को श्री सुरेश जी (जामाता) हमको अपने गुजराती मित्र के यहा ले गये जहां हमको बोलना था, क्योंकि कुछ दिन पूर्व गुजराती मित्र के पिता की मृत्यु हो गई थी। ज्यों ही हम बोल कर चुके कि टेलीफून आया कि ब्रह्म अग्रवाल जी अशोक सिघल (महासचिव हिन्दू विश्व परिषद्) के साथ मियामी से लौट रहे हैं, उनको लिवाने हवाई अड्डे पर पहुचना है। सुरेश जी हम को भी हवाई अड्डे पर ले गये और उन दोनो को लेकर १०-३० पर घर लौटे। रात्रि को देरी तक अशोक सिघल जी से बातें होती रहीं।

प्रात. २५ अगस्त को नाश्ता करके सभी लोग उस होटल मे पहुचे जहा अशोक सिघल जी ने उन लोगो से वार्ता करनी थी। जिनको आमन्त्रित किया गया था। यही कोई तीस व्यक्ति स्त्री-पुरुष वहां थे जिनको अशोक जी ने विश्व हिन्दू परिषद् की गतिविधि व राम जन्म स्थली अयोध्या के बारे मे बतलाया। वहा से उठ कर सीधे हवाई अड्डे पर अशोक सिघल जी को छोडने गये, उन्हें बास्टन जाना था।

ब्रह्म अग्रवाल जी के गृह पर प्रतिदिन चर्चा होती रही। उन्ही के गृह पर राखी का त्यौहार मनाया। २७ अगस्त को उस कई सौ एकड़ भूमि पर यज्ञ करा उद्घाटन किया जहा इनकी फर्म ने सहस्रो मकान की एक कालोनी तैयार करनी है—यह स्थान डिस्नी वर्ल्ड के पास है। अत. हमको उस क्षेत्र के चहु ओर घुमा कर घर लौटे।

२९ अगस्त को विमान पकड कर एटलाटा हवाई अड्डे पर पहुचे, जहां हमे लिवाने डा० दीनबन्धु चदोरा की धर्मपत्नी श्रीमती सावित्री जी आई थीं। गृह पहुच कर उन्होने हमारा बहुत ही श्रद्धा पूर्वक भोजनादि से आतिथ्य किया तथा जब तक हम वहां रहे बडे आदर पूर्वक हमारी देख भाल मे जुटी रहीं। वहा हम दस दिवस रहे और इस समय मे छै गृहो पर हमारे प्रवचन हुए, जिनमे एक घर सिख का भी था। कृष्णजन्माष्टमी भी एक घर पर यज्ञादि करके मनाई तथा भगवान कृष्ण के जीवन पर प्रकाश डाला। एटलाटा मे ही प्रथम सत्सग मे ही भक्त केशवदास व उनकी मडली से भेंट हुई—ये भजन-गीत आदि गाते है—इनकी मण्डली मे इनकी धर्मपत्नी, एक अमरीकन महिला व एक ढोलकिया है। ये सभी गाने में प्रवीण हैं। ये कर्नाटक के रहने वाले हैं, कई बार अनेक देशो का भ्रमण किया है व बगलौर मे एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया है। इन्होने हमारी मुक्त कण्ठ से प्रशसा की व हम को बगलौर आने का निमन्त्रण भी दिया।

डा० चन्दोरा जी की प्रार्थना पर हमने उनको समाज के लिए एक पुस्तक का सम्पादन भी किया। उन्होने वेद प्रचार हेतु चार एकड भूमि ले ली है जिस पर एक मकान भी बनवा दिया है। ७ सितम्बर को श्रीमती सावित्री जी हमको हवाई अड्डे पर छोड गई व हम न्यूयार्क लौट आये, जहा पूर्ववत् रविवार को दो प्रवचन तथा कुछ गृहो मे भी यज्ञादि कराये।

३० सितम्बर को हमने विदाई ली। इससे पूर्व दोनो समाजो ने २९ सितम्बर को हमारी विदाई मे विशेष आयोजन किए। कुछ लोग हम को कैनेडी हवाई अड्डे पर छोडने आए तथा वहा से विमान मे बैठ २ अक्तूबर की प्रात. दो बजे नई दिल्ली हवाई अड्डे पर पहुचे, जहां हमारे दोनो पुत्र लिवाने पहुचे हुए थे।

इस भांति १९९१ की विदेश यात्रा पूर्ण हुई। वहा भी समाजो मे प्राय: छोटी-छोटी बातो पर व्यर्थ विवाद है—जैसे कि १९८९ में न्यूयार्क समाज का रिकार्ड प० जिज्ञासु जी ने नही दिया था यद्यपि वे समाज छोड चुके थे। हमने उनसे कई बार निवेदन करके यह कार्य सम्पन्न कराया था। अन्त मे तो प० जिज्ञासु जी ने हमारा साक्षात्कार भारती रेडियो पर भी करवाया था। १९९१ मे भारतीय आर्य समाज व गयाना आर्य समाज मे मनमुटाव चल रहा था—हमारे समझाने पर दोनो समाज पुन: परस्पर मिल कर चलने लगी थी। इसी प्रकार गयाना समाज मे भी आन्तरिक विवाद था, जिसके कारण वह समाज दो समाजो मे बट चुकी थी। हमने दोनो समाजो के अधिकारियों को प्रेम पूर्वक समझाया तथा परस्पर सौहार्द रखने की आशा प्रकट की। सभी समाजो को परस्पर मिल कर वेद प्रचार-प्रसार का कार्य करना उचित है।

सम्पादक के नाम पत्र

डा० धर्मपाल जी सादर नमस्ते।

कल रात्रि मे दूरदर्शन पर तीन अन्य विद्वानों के साथ आपके दर्शन करके बहुत प्रसन्नता हुई। आपके प्रयास से भारत के करोड़ों व्यक्तियों ने महर्षि दयानन्द एवं आर्य समाज के सम्बन्ध मे सुना। इस प्रयास के लिए आपको बहुत २ धन्यवाद आप जैसे निष्ठावान, कर्मठ आर्य समाज व दयानन्द के सच्चे भक्त के कारण लाखों व्यक्तियों तक हमारी बात पहुच सकी। एक विनम्र सुझाव है कि प्रति वर्ष एक पर्व पर दिल्ली के किसी दैनिक समाचार पत्र मे दो पृष्ठ का परिशिष्टांक निकालने पर विचार करने की कृपा करें। दिल्ली की समस्त आर्य समाजें मिल कर धन की व्यवस्था कर सकती हैं। लगभग दो पृष्ठों के पोन लाख रुपए लगेगें। भारत के लाखों व्यक्ति पढ़ेंगे। आप और सूर्यदेव जी निश्चय कर लेवें तो स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर ही इस कार्य को किया जा सकता है।

जगदीश प्रसाद वैदिक

मान्यवर सम्पादक जी,

आर्य सन्देश का "आर्य समाज मन्दिर" विशेषांक प्राप्त हुआ। विशेषांक वास्तव मे काफी सुन्दर हैव आकर्षक निकला है। इसके माध्यम से ऋषि दयानन्द सरस्वती एव आर्य समाज के सम्बन्ध मे काफी ठोस एवं महत्वपूर्ण सामग्री पढने को मिली। विशेषांक की सफलता के लिए बधाई।

रामकुमार आर्य

मान्यवर सम्पादक जी,

आपका साप्ताहिक पत्र समय पर मिल जाता है। अगर न आए तो मन उदास सा हो जाता है। मेरे सामने आर्य सन्देश का वार्षिक वृत्तान्त विशेषांक की पुस्तक रूप में मेरे हाथो मे है पिछले वर्ष भी ऐसी पुस्तिका मिली थी। आपका हृदय उज्जवल है। जो सब कुछ लिख देते हैं। कुछ भी नही छुपाते। मैं इस पुस्तक को देख गद्गद् हो गया सारा वृत्तान्त पुस्तक मे सलीके से लिखा है।

सधन्यवाद मैं चाहता हू कि आपका हाथ बटाऊ मगर दूर बैठा हूं और यह भी चाहता हू कि आर्य सन्देश की पृष्ठ सख्या बढाई जावे।

तुलसीराम आर्य

समादरणीय सम्पादक महोदय सादर नमस्ते,

हमने आपके यहा प्रकाशित आर्य सन्देश का श्रावणी एव सस्कृत जन्माष्टमी सयुक्तांक पढ़ा, पढ कर मन मे तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि ऐसी उत्तम पत्रिका का स्वाध्याय नित्य करता रहू। ब्र० अरुण कुमार

मान्यवर सम्पादक महोदय जी,

आपके स्वास्थ्य लाभ की कामना करता हू, वार्षिक वृत्तांत विशेषांक के लिए आपने अति सराहनीय एवं प्रशसनीय बहुत अच्छा प्रयास किया है—

वास्तव मे मैंने तो ऐसा वृत्तान्त पढा है पहली बार जब कि मैं पिछले पच्चीस वर्षो से दिल्ली में किसी न किसी समाज से सम्बद्ध रहा हू और पत्रिकायें ही पैंतीस वर्षों से पढ रहा हू।

ईश्वर शक्ति दें ऐसे ही विशेषांको द्वारा जानकारी, ज्ञान तथा शिक्षित करते रहे पाठको को परन्तु एक शिकायत है कि आर्य समाज अशोक विहार खण्ड दो का कही नाम नहीं जो कि पिछले एक दशक से आप के साथ सम्बन्धित है। उपदेशक आपके द्वारा भेजे जाते हैं, यहा एक औषधालय भी चल रहा है जिसकी सूचना अभी गत सप्ताह वार्षिक उत्सव पर भी दी गई है।

कृपया भविष्य मे ध्यान रखे विशेष जानकारी अलग से सविस्तार भेजी जा रही है। रामप्रकाश (सगठन मन्त्री)

आर्य समाज अशोक विहार खण्ड-२ दिल्ली-५२

आदरणीय डा० धर्मपाल जी, सादर नमस्ते।

आपका आर्य मर्यादा एव सर्व हितकारी के २७-१०-९१ के अक में 'महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्य भाषा हिन्दी, उत्तम लेख पढा। पुन: ५ नवम्बर को दीपावली के दिन टी० वी० पर आपकी 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का सामाजिक चिन्तन' विषय पर अत्युत्तम परिचर्चा के लिए बधाई।

जगन्नाथ

ए-२६, रोहित कुज' रानी बाग दिल्ली-३४

ऋषि निर्वाण दिवस बड़े उत्साह पूर्वक सफलता से सम्पन्न

आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना ने ऋषि निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य मे वेद प्रचार करने हेतु और वेद का सन्देश घर-घर पहुचाने, छात्र और छात्राओ मे महर्षि की जीवन गाथा को सुनाने व उसके प्रति श्रद्धा एव जीवन में जागृति उत्पन्न करने के लिए भाषण एव सगीत प्रतियोगिता का एक भव्य आयोजन किया, इस समारोह मे १०० से अधिक विद्यालयों/कालेजो के छात्र-छात्राओ ने भाग लिया। सभी प्रतियोगिताओं के विजेताओं को भव्य एवं आकर्षक पुरस्कार दिए गए इन सभी विजेताओ को पुरस्कार लुधियाना नगर के विख्यात उद्योगपति श्री वेदभूषण मदान के सुपुत्र श्री राजीव मदान ने अपने कर कमलो से वितरण किए। निर्णायकों को भी उन्होने पारिश्रमिक सम्मान पत्र भेंट किए। सभी प्रतियोगियो को महर्षि का सुन्दर चित्र फ्रेम करा कर दिया और इस प्रकार यह ऋषि निर्वाण दिवस वास्तव मे एक उद्देश्यपूर्ण ढग से बड़े उत्साह से मनाया गया और इसकी विशेषता यह भी थी कि आर्य समाजी परिवारो के अतिरिक्त सभी वर्गों एव सम्प्रदायो के जैसे कि सनातन धर्मसमाज, जैन समाज, सिक्ख समाज, देव समाज आदि आदि। इस प्रकार यह ऋषि का सन्देश व्यापक तौर पर स्कूलों कालेजो और सर्वत्र प्रचरित हुआ।

इस आयोजन को सफल बनाने के लिए आर्य समाज के प्रधान श्री रणबीर भाटिया जी श्री नरेन्द्र सिंह मल्ला जी तथा श्री कुलदीपराय जी आर्य समाज, महर्षि दयानन्द बाजार के कर्मठ सेवक श्री प्रेमसिह जी का परिश्रम जो कि दिन और रात का अनथक परिश्रम था भुलाया नही जा सकता तथा आर्य समाज के पुरोहित पं० राजेश्वर शास्त्री व्याकरणाचार्य ने भी बड़ी कर्मठता और सूझ-बूझ से कार्य किया।

महर्षि दयानन्द निर्वाणोत्सव

आर्य समाज बोट कलब के तत्वावधान मे २१ अक्तूबर से २५ अक्तूबर तक दोपहर १ से २ बजे तक ऋषि निर्वाणोत्सव मनाया गया। इस अवसर पर पडित प्रकाशवीर व्याकुल और श्री सोहनलाल पथिक के भजनोपदेश हुए तथा प्रो० रतनसिंह के दार्शनिक व्याख्यान हुए। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के निर्देश पर आर्य समाज दीवान हाल के सहयोग से वैदिक साहित्य का वितरण भी किया गया।

बलेश कुमार आर्य—मन्त्री

(पृष्ठ २ का शेष)

उसी स्थान पर गया और उन गोप लोगो के समीप जाकर सत्यनारायण के व्रत को समझा और उसका पालन किया, और अपने दुःख से मुक्ति पाई।

सत्यनारायण के व्रत यज्ञ और उसके प्रसाद को जीवन मे अपनाने वालों का सदैव उद्धार हुआ है। प्रसाद कौन सा—वही तीन बार हविषा विशेष—कह कर जो हमने प्रभु को अर्पित किया था—उसी का अश उन्होने हमें वापस किया था। उसी का वितरण हमको करना है। ऐसा करने वाले अपना यह जीवन सुखी करेंगे—अगला जन्म उत्तम पायेंगे और अन्त मे मोक्ष पाकर प्रभु का आनन्द पा सकेगे। पुराण के अनुसार इस कथा का पात्र शतानन्द ब्राह्मण अगले जन्म में सुदामा, लकड़हारा राजा राम का सेवक भील, उल्का मुख राजा दशरथ, साधु नाम का वैश्य राजा मोरध्वज तुङ्गध्वज राजा स्वायम्भुव मनु हुए और हर सकट को पार कर जन्म मृत्यु के बन्धन से छूट कर मोक्ष को प्राप्त हुए। यह सभी दृष्टान्त काल्पनिक एव सिद्धान्त की दृष्टि से इनकी अनेक बातें अग्राह्य हो सकती हैं, किन्तु इसका मूल तत्व सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी विश्वकर्मा सत्यनारायण भगवान को सदैव अपने साथ समझना और उसकी वेदाज्ञाओं का पालन करके अपने लोक व परलोक दोनो को आनन्दमय बनाने से कौन असहमत होगा। आइये हम सभी मिल कर प्रभु के इस प्रसाद का आनन्द प्राप्त करें।

ओ शान्ति शान्ति शान्ति ओ३म्।

आरक्षण देश के लिये अभिशाप

आर्य समाज न्यू मोती नगर के वार्षिकोत्सव के एक सत्र में आर्य राष्ट्रीय मंच द्वारा आयोजित एक विशाल जनसभा मे "आरक्षण देश के लिए अभिशाप है" इस विषय पर अनेक वक्ताओ ने प्रकाश डाला।

इस सम्मेलन में सम्मेलन के अध्यक्ष डा० प्रशान्त वेदालंकार ने निम्नलिखित प्रस्ताव रखा जो सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया—

आर्य समाज जातिगत आधार पर आरक्षण का सर्वथा विरोध करता है।" यह वस्तुत. इस देश की विशाल हिन्दू समाज मे परस्पर फूट डाल कर राज्य करने का एक घिनौना षड्यन्त्र है। आर्थिक आधार को इसमे शामिल कर इस देश की जनता की आखो मे धूल झोंका गया है। आरक्षण द्वारा देश की प्रतिभा का उपयोग नहीं हो सकने के कारण यह देश के विकास मे बाधक सिद्ध होगा। इससे प्रतिभा पलायन की समस्या भी उत्पन्न होगी। आर्य राष्ट्रीय मच का यह सम्मेलन यह भी अनुभव करता है कि वोटो के इस खेल में सभी राजनीतिक दलो ने इसका समर्थन करके देश के हितो को चोट पहुचाई है। अत: इस दृष्टि से सभी राजनीतिक दल भर्त्सना के पात्र है। मच ने यह निर्णय लिया कि इस विषय मे आरक्षण विरोधी सभी स्वय सेवी सस्थानों के सहयोग से एक जन-जागृति का अभियान छेड़ा जाए। मच ने आर्य समाजो से अपील की कि वे देश के पिछड़ेपन को समाप्त करने के लिए तथाकथित पिछड़ी जातियो एव अनुसूचित जाति तथा जन जातियो में साक्षरता के प्रयत्न तेज करे। मच ने देश को पांच हजार आर्यसमाजो तथा ५ हजार आर्य शिक्षण सस्थाओ से कहा कि वे १०-१० बच्चो को गोद लेकर देश के पिछड़ो के विकास में महान् योगदान दें।" इस सम्मेलन में हिन्दू मच के प्रधान श्री प्रेमनाथ जोशी तथा अन्य अनेक व्यक्तियो ने भाग लिया। सम्मेलन का आयोजन आर्य समाज न्यू मोती नगर के प्रधान श्री तीर्थराम टंडन तथा आर्य राष्ट्रीय मच के सयोजक प्रिंसिपल जगदेव जी ने किया। मच संचालन विश्वबन्धु आर्य ने किया।

रुहेलखण्ड अंचल की उच्च शिक्षिता महिला डा० महाश्वेता :

हाल ही मे रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय से सितम्बर प्रथम सप्ताह में डी० लिट् की सर्वोच्च उपाधि से सम्मानित डा० महाश्वेता चतुर्वेदी प्रख्यात लेखिका, कवयित्री, सम्पादिका, एव निष्ठामयी प्रवक्ती हैं। अब तक डा० महाश्वेता की दस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। नारियो के लिए उनका व्यक्तित्व प्रेरणा है। अंग्रेजी सस्कृत, हिन्दी व सगीत मे एम० ए० डा० महाश्वेता के लेख, कहानियां, कवितायें, व अन्य सामग्री निरतर स्तरीय पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होती रहती हैं। ऐसी नारियो से देश और समाज का गौरव बढता है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित वैदिक साहित्य

१.	नैतिक शिक्षा (भाग प्रथम, द्वितीय) प्रत्येक		१ ५०
२.	नैनिक शिक्षा (भाग तृतीय)		२ ००
३	नैतिक शिक्षा (भाग चतुर्थ से नवम) प्रत्येक		३ ००
४.	नैतिक शिक्षा (भाग दशम, एकादश) प्रत्येक		४ ००
५	नैतिक शिक्षा (भाग द्वादश)		५ ००
६	धर्मवीर हकीकत राय	(वैद्य गुरुदत्त)	५ ००
७.	फलैश आफ ट्रुथ	(डा० सत्यकाम वर्मा)	२ ००
८	सत्यार्थ प्रकाश सन्देश	,, ,	२ ००
९.	एनोटामी आफ वेदान्त	(स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)	५.००
१०	आर्यो का आदि देश	,, ,,	२ ००
११	प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद	,, ,,	२५ ००
१२.	दी ओरीजन होम आफ आर्यन्स	,, ,,	२ ००
१३	चत्वारो वै वेदा:	,, ,,	५.००
१४	द्वैतसिद्धि	,, ,,	५ ००
१५	आर्यसमाज आज के सन्दर्भ मे	(डा० धर्मपाल, डा० गोयनका)	२०.००
१६.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	(डा० सच्चिदानन्द शास्त्री)	५ ००
१७.	हसता चल, हसाता चल	(स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती)	६ ५०
१८	दयानन्द एण्ड दा वेदाज (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
१९	पूजा किसकी ? (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२०	मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२१.	योगीराज श्रीकृष्ण का सन्देश (ट्रैक्ट)		५० रु० सैकड़ा
२२	आर्योद्देश्यरत्नमाला (सुगम व्याख्या)	(डा० रघुवीर)	५० रु० सैकड़ा

नोट · उपरोक्त सभी पुस्तको पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा। पुस्तको की अग्रिम राशि भेजने वाले से डाक व्यय पृथक नही लिया जाएगा।

पुस्तक प्राप्ति स्थान · **दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा**

१५ हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१







आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१

R. N. No. 32387/77 Posted at N.D.P.S.O. on 21-22-11-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९

श्री जगदीश आर्य

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्



श्री जगदीश आर्य की स्मृति मे शोक सभा का आयोजन समाज सदन राणा प्रताप बाग में किया गया। श्री आर्य जी को विभिन्न सस्थाओ की ओर से श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान डा० धर्मपाल, बिरला स्कूल की प्रिंसिपल श्रीमती आदर्श कोहली, वैदिक विद्वान प० प्रेमचन्द श्रीधर, पूर्वी दिल्ली से श्री विश्वम्भर नाथ भाटिया, कुंवर दयानन्द वर्मा, श्री राजसिंह आर्य, श्री एम० एल० बब्बर तथा अन्य अनेक गणमान्य महानुभावो ने उन्हे श्रद्धासुमन अर्पित किए। शोक सभा में दिल्ली के सभी क्षेत्रो से तथा पडोसी प्रान्तो से भी आर्य जन परिवार के सदस्यों को सान्त्वना देने के लिए उपस्थित हुए।

आर्य समाज राणा प्रताप बाग दिल्ली के समाज सेवी मन्त्री स्वर्गीय श्री जगदीश चन्द्र आर्य का जन्म पाकिस्तान मे सराय सिधु नामक गाव में सन् १९३० में हुआ। मैट्रिक पास कर लाहौर में नौकरी करने चले गए। माता-पिता के अनुरूप सरल, मृदुभाषी एव त्यागमय जीवन, आर्य समाज एव ऋषि ऋण मे लगा दिया। इनके पिता स्वर्गीय गनेश दत्त आर्य एव माता सरस्वती देवी आर्य समाज के सस्थापकों मे से एक थे। सन् १९४७ मे पाकिस्तान से भारत आने पर परिवार का सारा भार इनके कधो पर आ गया तब से मृत्यु पर्यन्त उनके चेहरे से मुस्कान फीकी नही पडी। आर्य समाज राणा प्रताप बाग के पुनः-पुन. मन्त्री पद सभालने पर आर्य समाज द्वारा चलाए जा रहे एलोपैथिक, होम्योपैथिक औषधालय का पूरा भार अपने कन्धों पर लेकर सबको प्रेरणा दे गए। अन्त समय तक आर्य समाज के वार्षिक उत्सव एव भूकम्प पीडितो के लिए दान मागते-मांगते अपने का दान कर गये।

इनके परिवार मे तीन सुपुत्रियां है जो अपने-अपने परिवार में प्रभु कृपा से सम्पन्न हैं। इनका सारा परिवार आर्य समाज के कार्य में लगनशील हैं। प्रभु करे इनका जीवन पथ सबके लिए उत्साहवर्धक, मार्गदर्शक एव प्रेरणावान आदर्श रूप दिखाता रहे। इनकी मृत्यु ९ नवम्बर १९९१ को अकस्मात् हृदय गति बन्द हो जाने के कारण हुई। इस समय इनकी आयु ६१ वर्ष की थी। ईश्वर करे इन का परिवार आर्य समाज की ज्योति को प्रज्वलित करता रहे।

वार्षिक निर्वाचन

आर्य समाज सफदरजग ऐन्क्लेव का निर्वाचन २७-१०-९१ को न्यायमूर्ति श्री आर० एन० मित्तल (रिटायर्ड) की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। निम्नलिखित अधिकारी सर्व सम्मति से चुने गये ?

प्रधान—श्री एच० एम० खेर

मन्त्री—श्री सूर्य प्रकाश मलिक

कोषाध्यक्ष—श्री हर्षवर्धन वर्मा



सेवा में—

श्री पुस्तकाध्यक्ष महोदय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ प्र)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५० के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी० (सी० ७५६)

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्य सन्देश

वर्ष १५ अंक ५२ रविवार, १ दिसम्बर, १९९१ विक्रमी सम्वत् २०४८ दयानन्दाब्द : १६६ सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०९२

मूल्य एक प्रति ५० पैसे वार्षिक—२५ रुपये आजीवन २५० रुपये विदेश मे ५० पौण्ड, १०० डालर दूरभाष : ३१०१५०

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की उपलब्धियां

—सूर्यदेव, महामन्त्री

वेद प्रचार—आर्य समाजों द्वारा सभा के महोपदेशको एव भजन मडलियो द्वारा सभा अधिकारियो द्वारा साहित्य वितरण के माध्यम से आर्य समाजो के रविवासरीय सत्सगों के माध्यम से, सभा की प्रचार वाहन द्वारा झुग्गी झोपड़ी कालोनियो पुनर्वास कालोनियो, ग्रामीण अचलो तथा सरकारी कार्यालयो के बाहर, दिल्ली से बाहर के प्रान्तो मे, आर्य समाजो के वार्षिकोत्सवो एव वेद प्रचार सप्ताहो के अन्तर्गत वेद प्रचार किया गया। उन समाओ के माध्यम से तथा समय-समय पर आर्य महासम्मेलन आयोजित करके वेद प्रचार किया गया। बोट क्लब, आई० टी० ओ०, आर० के० पुरम, पुराना सचिवालय, रेल भवन, बड़ोदा हाऊस, अजमल खां पार्क आदि स्थानो पर वेद प्रचार किया गया। दशहरा एव रामनवमी के दिन रामलीला मैदान तथा अन्य अनेक स्थानो पर वैदिक साहित्य वितरण किया गया। सरकारी चिकित्सालयो मे वैदिक साहित्य का वितरण किया गया। सार्वजनिक समारोहो के अवसर पर वैदिक साहित्य का विक्रय एव नि:शुल्क वितरण। अन्तर्राष्ट्रिय आर्य महासम्मेलन के अवसर पर वेद प्रचार मे योगदान—

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी का आयोजन

महामहीम राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिह जी मुख्य अतिथि।

आर्य विद्या सभा :

आर्य विद्या सभा द्वारा सचालित, गुरुकुल कागड़ी गुरुकुल कागड़ी फार्मेसी' कन्या गुरुकुल देहरादून तथा स्वामी श्रद्धानन्द चिकित्सालय के सचालन मे डा० धर्मपाल, श्री सूर्यदेव, श्री चन्द्रदेव, श्री वेदव्रत शर्मा, श्री महाशय धर्मपाल जी का विशिष्ट सहयोग। डा० धर्मपाल आर्य विद्या सभा के मन्त्री (१९८४-८९) श्रद्धानन्द चिकित्सालय के सदस्य (१९८४-९१), फार्मेसी के सदस्य (१९८५-९१), फार्मेसी के व्यवसाय पटल के अध्यक्ष (१९८४-८७), श्री वेदव्रत शर्मा, फार्मेसी के सदस्य (१९८४-९१) श्री महाशय धर्मपाल—फार्मेसी के डायरेक्टर (१९८९-९१) श्री लाला रामगोपाल शालवाले-(स्वामी आनन्दबोध सरस्वती)-फार्मेसी के डायरेक्टर (१९८४-८९)।

गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय

डा० धर्मपाल-शिक्षा पटल कार्य परिषद एव शिष्ट परिषद के सदस्य श्री सूर्यदेव—कोषाध्यक्ष एव शिष्ट परिषद के सदस्य, श्री मनुदेव, श्री वेदव्रत शर्मा, शिक्षा पटल के सदस्य श्री राजेन्द्र दुर्गा, डा० महेश विद्यालकार—सदस्य।

आर्य विद्या परिषद :

प्रति वर्ष नैतिक शिक्षा परीक्षाओ का सचालन। कक्षा १ से १२ तक की नैतिक शिक्षा की पुस्तको का डा० धर्मपाल द्वारा सम्पादन एव प्रकाशन। दीवानहाल स्मारक गोकुलचन्द आर्य चिकित्सालय मोचन्दी दिल्ली का सफल सचालन। दीवानचन्द चिकित्सालय मौचन्दी शाखा का १९९० मे उद्घाटन—

आर्य वीर दल दिल्ली प्रदेश.

प्रतिवर्ष, वीर पर्व, शहीदी दिवस, प्रशिक्षण शिविर एव आर्य युवा महासम्मेलन का आयोजन। तालकटोरा स्टेडियम मे भव्य पुरस्कार वितरण समारोह।

मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल वाराणसी का सफल सचालन—गोरक्षा कार्य—हिरनकी ग्राम के युवको को सहयोग—डा० धर्मपाल, डा० रघुबीर, श्री चन्द्रप्रकाश स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा तात्कालिक कार्यवाही, स्वामी गोरक्षानन्द के सहयोग से लदान बन्द किया गया।

मद्य निषेध आन्दोलन

नाहरी गाव मे धरना—

हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित पद यात्रा मे तथा बोट कलब पर सभा आयोजन मे सहयोग। राष्ट्रपति को ज्ञापन पत्र दिया गया।

सस्कृति सगम-सगोष्ठियो का आयोजन

विद्वतपरिषद—विभिन्न पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित सिद्धान्त विरुद्ध लेखो का खण्डन एव अपने लेखो का प्रकाशन।

वैदिक प्रकाशन—श्रीमती सत्यवती सूद की स्मृति मे प्राप्त धन से २५ पुस्तको का प्रकाशन, श्रीमती दयावती बनाती, श्रीमती ईश्वर देवी, श्री महाशय धर्मपाल जी, श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा प्रदत्त धनराशि से एक-एक पुस्तक का प्रकाशन। अब तक ४५ पुस्तके प्रकाशित की जा चुकी है।

आर्य सन्देश साप्ताहिक.

आर्य सन्देश साप्ताहिक का नियमित प्रकाशन। अब तक लगभग ४० विशेषाको का प्रकाशन किया जा चुका है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती पार्क.

दिल्ली मे लारेंस रोड तथा राजोरी गार्डन क्षेत्रो में महर्षि दयानन्द पार्को का उद्घाटन कराने मे सहयोग।

जन सम्पर्क कार्यक्रम

दिल्ली, रोहतक, लखनऊ तथा आकाशवाणी केन्द्रो से समय-समय पर वार्ताए प्रसारित। दिल्ली दूरदर्शन पर लगभग १० कार्यक्रमो का प्रसारण। गत वर्ष छ कार्यक्रम प्रसारित किए गये। डा० धर्मपाल ने विभिन्न विद्वानो के सहयोग से इन कार्यक्रमो का आयोजन किया। डा० नगेन्द्र, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० सत्यकाम वर्मा प० वन्देमातरम रामचन्द्रराव, प० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार, प्रो० वाचस्पति उपाध्याय प० यशपाल सुधांसु, श्रीमती प्रभात शोभा पण्डिता, पण्डित क्षितीश कुमार वेदालकार, डा० वेद प्रताप वैदिक, डा० विश्वमित्र उपाध्याय, डा० महेश विद्यालकार आदि विद्वानो का भरपूर सहयोग। अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अवसर एक विशेष रिपोर्ट जिसमे देश-विदेश के विद्वानो के विचारो का डा० धर्मपाल ने सकलन किया एव प्रसारण कराया।

विभिन्न समारोहो एव कार्यक्रमों का आयोजन :

प्रतिवर्ष आर्य युवा महासम्मेलन
स्वामी आनन्दबोध सरस्वती दीक्षा समारोह
श्री ओमप्रकाश त्यागी को आर्य जगत की भावभीनी श्रद्धाजलि
पजाब दिवस
सस्कृत रक्षा दिवस
नई शिक्षा नीति विचार गोष्ठी
मेरठ और दिल्ली के साम्प्रदायिक दगे
आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के शताब्दी समारोह मे सहभागिता।
हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के शताब्दी समारोह मे सहभागिता
राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के शताब्दी समारोह में सहभागिता
महात्मा अमर स्वामी का सम्मान
मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल वाराणसी रजत जयन्ती समारोह
महर्षि दयानन्द सरस्वती जन्म दिवस समारोह
श्री धर्मजित जिज्ञासु का सम्मान
व्यस्क फिल्मे एव अश्लीलता-सगोष्ठी तथा ज्ञापन पत्र
श्री प्रियव्रत दास का सम्मान
आर्य समाज बुद्धिजीवी सम्मेलन

(क्रमश)

परामर्श—डा० धर्मपाल प्रो० सम्पादक—सूर्यदेव सह सम्पादक—विमलकान्त शर्मा व्यवस्थापक—सुरेन्द्र कुमार हिन्दी

"देवताओं का वास्तविक स्वरूप"

—आचार्य डा० सुरेन्द्र देव

निरुक्तकार यास्क के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड के मूल मे एक ही महाशक्ति विद्यमान है जिसका अत्यधिक ऐश्वर्य सम्पन्न होने के कारण "ईश्वर" नाम से कहा जाया करता है। वह एक है, अद्वितीय है, अजर है, अमर आदि अनेक विशेषणो से युक्त है। यही ईश्वर अनन्त शक्ति सम्पन्न है। इसी कारण उसे सर्व शक्ति मान् कहा जाया करता है।

उसकी प्रत्येक शक्ति को देवता माना जाता है। इस भांति उस अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर की अनन्त शक्तियो के कारण अनन्त देवो के रूप में पूजा एव अर्चना की जाया करती है—

'महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" निरुक्त ७।४।८।९॥

अर्थात् देवगण उस एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियो के प्रतीक है। "बृहद्देवता" नामक ग्रन्थ मे भी निरुक्त के उपर्युक्त कथन का ही अनुमोदन किया गया है॥ देखिये अध्याय १, श्लोक सख्या ६१-६५॥

ऋग्वेद भी इसी सर्वात्मक, सर्वव्यापक, ब्रह्मसत्ता का निरूपण करता है। इसी कारण उस परब्रह्म परमात्मा की सत्ता कार्य वर्गो मे अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारो मे दृष्टिगोचर हुआ करती है। प्रकृति के कार्यो के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है तथा एक ही देवता है। अन्य सभी देवता गण इसी मूलभूत सत्ता के विकास मात्र हैं। इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन विभिन्न रूपो मे वैदिक ऋषियो द्वारा किया गया है। ऐतरेय आरण्यक मे इस ही बात की पूर्ण रूप से पुष्टि की गई है कि "एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी जन "उक्थ" मे किया करते है, उसी की यजुर्वेदी-जन याज्ञिक-अग्नि के रूप मे उपासना किया करते है तथा सामवेदी-लोग 'महाव्रत' नामक याग मे उसी की उपासना किया करते हैं।

"एत ह्येव यह्वृचा महत्युक्थे मीमासन्त, एतमग्नावध्वर्यव एत महाव्रते छन्दोगा"॥ ऐतरेय आरण्यक—३।२।३।१२॥

अतएव देवताओ के सम्बन्ध मे यह कहना भी उचित तथा युक्ति सगत प्रतीत होता है कि परमात्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है तथा उसकी प्रत्येक शक्ति को ही देवता नाम मे कहा गया है।

भारतवर्ष तो सृष्टि के आदि काल से ही शक्ति का पुजारी रहा है। उत्तर वैदिक कालीन सस्कृति के आधार पर यह कहा जाना उचित ही प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे यहा सर्व शक्तिमान परमात्मा की ही पूजा तथा अर्चना हुआ करती थी। शनै-शनै, उसकी शक्तियो का विभेदीकरण होता गया। परिणाम स्वरूप सर्वप्रथम ये शक्तिया तीन रूपो मे ही प्रकट हुई। (१) भगवान की उत्पादक शक्ति [ब्रह्मा के नाम से] (२) भगवान् की पालन कर्त्री शक्ति [विष्णु के नाम से] और भगवान् की प्रलयकारी शक्ति ['शिव' के नाम से]। इस भांति ईश्वर की वे अनन्त शक्तिया मात्र तीन ही रूपो मे प्रकट हुई।

मानव के अन्दर स्वार्थ की भावना तो पर्याप्त पूर्व काल से ही विकसित होती चली आ रही है। अत: उसने सोचा कि 'ब्रह्मा' का कार्य तो उत्पन्न करना है। वह तो हम को उत्पन्न कर चुका, अब हमको उससे क्या लेना-देना है। उत्पन्न होने के अनन्तर अब तो हम को केवल पालन कर्त्री शक्ति "विष्णु" से ही जीवन पर्यन्त काम है। अत: अब हमको विष्णु नामक पालन कर्त्री शक्ति की ही उपासना करना उचित है। इसी स्वार्थ दृष्टि के कारण भारत मे जितने भी अवतार हुए वे सभी "विष्णु" नामक शक्ति के ही निरन्तर अभी तक माने जाते रहे और उन्हीं की उपासना भी चलती चली आ रही है। प्रलयकारी शक्ति 'शिव" का पूजन भी भय के कारण होता चला आया होगा कि कहीं यह शक्ति हमारा विनाश न कर दे।

इसी भांति उस ईश्वर की अनन्त शक्तिया किसी न किसी देवता के रूप में कल्पित होती रही। परिणाम स्वरूप आज उसकी अनेक शक्तियां अनेक देवों के रूप मे पूजित हो रही हैं।

यहां पर यह कह देना भी उचित ही होगा कि अनेक देवो की उपासना कि जिनमे भगवान् की मात्र किसी एक ही शक्ति का प्रतिनिधित्व विद्यमान है, हम उस सर्व शक्तिमान् परमात्मा की ही उपासना किया करें कि जिसकी छत्र-छाया मे उसकी सभी शक्तियो का प्रतिनिधित्व अन्तर्निहित है।

निरुक्तकार यास्क ने तो देवाधिदेव एक परमात्म देव को ही स्वीकार करते हुए लिखा है कि विभिन्न नामो द्वारा पुकारा जाने पर देव एक ही है कि जिसके अभ्यन्तर सभी शक्तिया विद्यमान हैं—

तासा महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि सन्ति, एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति।"

अर्थात् उस एक ही आत्मा [परमात्मा] के सभी देवगण अश मात्र हैं। वह तो देवो का भी देव अर्थात् देवाधिदेव है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि देवगण उस मूलभूत परमसत्ता [परमात्मा] के ही प्रतीक हैं।

देवो का भी देव अर्थात् देवाधिदेव तो एक ही है कि जिसका सर्व श्रेष्ठ नाम 'ओ३म्" है और जिस ओ.म् शब्द के अभ्यन्तर विद्यमान् अ+उ+म् इन तीन अक्षरों के अभ्यन्तर भगवान के सभी नामो का अन्तर्भाव हो जाया करता है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम समुल्लास भी इसी दृष्टि से लिखा है—कठोपनिषद् मे आया है—

सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपासि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् कठोप १।२।१५॥

अर्थात् ऋक्, यजु, साम और अथर्व—ये चारो वेद जिसका वर्णन करते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा धर्मानुष्ठान आदि जिस पद की प्राप्ति के लिए किए जाया करते हैं वह परमात्मा का वाचक शब्द "ओ३म्" है।

इस 'ओ३म्' के सम्बन्ध मे 'माण्डूक्य-उपनिषद्' भी कहता है—

"ओमित्येतदक्षरमिद, ७ सर्वं तस्योपव्याख्यान भूतभवद्भविष्यदितिसर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव।" मा० उप० प० १॥

अर्थात् 'ओम्' यह अक्षर [अविनाशी परमात्मा] है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। भूत, वर्तमान एव भविष्यत तीनों प्रकार का यह जगत् [ब्रह्माण्ड] भी उसी ओङ्कार की महिमा का द्योतक है, तथा ऊपर कहे गये तीनो कालो से अतीत दूसरा तत्व है, वह सब भी ओङ्कार ही है।

छान्दोग्य उपनिषद् मे भी इस 'ओ३म्' का वर्णन निम्नलिखित रूप मे आता है—

'ओमित्येन दक्षरमुद्गीथमुपासीत" छा० उप० प० १॥

अर्थात् "ओ३म्" जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नही होता है उस ही की उपासना करनी उचित है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि वह परमात्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है तथा उसकी प्रत्येक शक्ति को 'देवता' कहा जाया करता है। अनन्त शक्ति सम्पन्न होने से वह परमात्मा अनन्त देवो वाला हो जाता है। परन्तु ये सभी देव उस परमात्मा के ही अग और अङ्ग है। अत: वह देवताओ का भी देवता अर्थात् देवाधिदेव है। अत: उसी की उपासना करनी उचित है। उसी की उपासना का परिणाम क्या हो जाता है? यह कठोपनिषद् बतलाता है—

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम्।

एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्यतत्" कठो० १।२।१६।

अर्थात् निश्चित रूप से यह अक्षर ही ब्रह्म है और निश्चित रूप से यह अक्षर ही परब्रह्म है अथवा सर्वश्रेष्ठ है। इस ही अक्षर को जान कर जो जिसकी इच्छा करता है, उसको वही प्राप्त हो जाता है।

साप्ताहिक ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
आर्य सन्देश

आर्य समाज और दृश्य-श्रव्य साधन

सम्पादकीय

आर्य समाज एक सशक्त आन्दोलन है। आर्यसमाज ने केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में भी विशिष्ट कार्य किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा के फलस्वरूप सामाजिक समता दिलाने के लिए, सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के लिए, उनके अनुयायियों ने अनेक कार्यक्रम किए। आज भी आर्य समाज महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। श्री रामदत्त भारद्वाज की अरब की जेल से रिहाई एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है। कुछ संगठन अपने कार्यक्रमों के साथ-साथ, जनता को अपने कार्यक्रमों से परिचित कराने का कार्य भी साथ लेकर चलते हैं। वे समाचार पत्रों, आकाशवाणी, दूरदर्शन पोस्टर, साहित्य प्रकाशन, आदि के माध्यम से यह कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न कराते हैं। एक समय था, जब आर्य समाज के समारोहों में भीड़ हुआ करती थी। लाहौर में हमारे भजनोपदेशकों को सुनने के लिए राष्ट्रीय नेता भी समय निकाल कर आया करते थे, पर अब ऐसा नहीं है। लोग घर में बैठ कर लालकिला की प्राचीर पर स्वतन्त्रता दिवस पर ध्वजारोहण देखते हैं। वे गणतन्त्र दिवस की परेड भी घर बैठे देखना पसन्द करते हैं। हमें इन ससाधनों की अभिवृद्धि में भी सहयोग देना चाहिए।

आज दूरदर्शन पर हमें महात्मा गांधी, नेहरू, लाला लाजपत राय, सरदार पटेल, आदि दिखाई दे जाते हैं। हमें चाहिए कि हम अपने आर्य समाज के नेताओं के भी ऐसे ही बोलते हुए—आडियो, वीडियो कैसेट तैयार करायें। जो आज नहीं हैं, उन नेताओं के तो हम तैयार नहीं कर सकते। महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० लेखराम, पं० गुरुदत्त, महात्मा हंसराज, महात्मा आनन्द स्वामी, महात्मा प्रभु आश्रित को तो हम कहां से लायेंगे पर जो भी जीवित हैं, हमें उनके कैसेट तैयार कर लेने चाहियें। जो भी आज ७० वर्ष से अधिक की आयु के विद्वान, उपदेशक, नेता हमारे बीच में हैं, हमें उनके कैसेट शीघ्र तैयार करने चाहियें, नहीं तो समय बीत जायेगा और हम हाथ मलते रह जायेंगे।

डा० धर्मपाल

गौ रक्षा सम्मेलन

गौ भक्तों की २५वीं पुण्य तिथि के उपलक्ष्य में गौ रक्षा सम्मेलन रविवार दिनांक १०-११-९१ को हिन्दू महासभा लोनी के तत्वावधान में रघुनाथ मन्दिर, राजीव गार्डन, लोनी में श्री ठा० फतेहसिंह जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

वयोवृद्ध हिन्दू नेता श्री चमन लाल अरोड़ा, हिन्दू महासभा गाजियाबाद के अध्यक्ष श्री जंग बहादुर मलहोत्रा, हिन्दू महासभा लोनी के महासचिव श्री पन्ना लाल आर्य, कार्यकारी अध्यक्ष श्री भोला मल्होत्रा, श्री योगी चन्द्र नाथ महन्त, डा० एम० सी० शर्मा, मा० किशनचन्द, श्री रामेश्वर दयाल, श्री विमल कुमार भारद्वाज आदि हिन्दू नेताओं ने गौ रक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए निम्न प्रस्ताव पारित कर उत्तर प्रदेश सरकार से मांग की कि उत्तर प्रदेश में गौ हत्या पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाया जाये क्योंकि देश की ८५ प्रतिशत जनसंख्या इससे सम्बन्धित है। देश में दूध की आवश्यकता को देखते हुए गौशालाओं का निर्माण किया जाये। रसोई गैस की देश में अत्यन्त आवश्यकता है इसलिए इसके समाधान के लिए गोबर गैस प्लांट लगा कर लोगों को रसोई गैस सप्लाई की जाये।

पन्नालाल आर्य (महासचिव)

सम्पादक के नाम पत्र

आदरणीय डाक्टर साहब ! सादर सप्रेम नमस्ते।

कल सायं दीपावली के दिन महर्षि दयानन्द सरस्वती के सामाजिक चिंतन पर आप लोगों का दूर दर्शन से कार्यक्रम देखा। हृदय गद्गद् हो गया। महाविद्यालय के सभी छात्र अपने टी० वी० से आप लोगों के विचारों को सुन कर अत्यन्त हर्षित हो रहे थे और विशेष कर आप से। अतः हमारी शतशः बधाइयाँ स्वीकार करें। मान्यवर प्रो० वाचस्पति जी व भाई महेश जी विद्यालंकार को भी फोन से हमारी बधाई अवश्य भिजवा दीजिए। उन दोनों के ही पते मेरे पास नहीं है। हाँ वे दोनों विद्वान मेरे अभिन्न २ परिचितों में से हैं। सबको नमस्ते।

आचार्य दयानन्द शास्त्री

आदरणीय सभा प्रधान डा० साहब सादर नमस्ते।

आप सभी सदस्य "भगवत्कृपा" से स्वस्थ व प्रसन्नचित रहते हुए दीर्घायु होवें, यही प्रभु से प्रार्थना है। आपका "कृपापत्र" उपलब्ध हुआ। आप की सुन्दर भाषा, विचारों की मधुरता, अनेक गुण युक्त भावों में अपनत्व एवं परम श्रद्धाभाव पढ़ कर प्रसन्नता हुई। पृथक डाक में "आर्य सन्देश" अप्राप्त अंक व विशेषांक भी प्राप्त हुआ, यहां तक कि जो अंक व विशेषांक मुझे कुछ दिनों पूर्व ही प्राप्त था, पृथक डाक से पुनः प्राप्त हुआ।

आर्य सन्देश सम्पादकीय विभाग का सबके प्रति अपनत्व भाव कुशल व्यवहार एवं परम श्रद्धाभाव सभी श्रद्धालु जनों को सदैव ही सम्पादकीय मंडल के प्रति कृतज्ञ रखेगा। सम्पादकीय विभाग एवं सभा मण्डल सभी पाठकों, प्रेमियों एवं श्रद्धालु जनों को सतुष्ट रख तथा अनेकानेक भव्य विशेषांक सत् साहित्य के रूप में देकर बहुत ही सहयोग और पुण्य अर्जित किया है। अतः "आर्य जगत" आप सभी का अत्यन्त आभारी है।

मान्यवर, "आर्य सन्देश" एक सर्वोत्तम पत्र है। विसंस्कृतिकरण के इस युग में संस्कृति की रक्षा के लिए आर्य सन्देश अपनी मंगलमयी कांती के लिए पूरी निष्ठा के साथ खड़ा है। अतः इसका प्रत्येक आगामी अंक प्राप्त करने हेतु मन सदैव ही उत्सुक रहता है। सभा एवं पत्रिका के उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामनाओं के साथ आर्य सन्देश के आगामी अंक की प्रतीक्षा में हूं।

प्रज्वलित अग्नि में लवलेश मात्र धुआं रह ही जाता है, तो हम जैसे अल्पज्ञ मानव के लिए कहना ही क्या है। अल्पज्ञतावश या असावधानीवश पत्र लेखन में जो त्रुटियां हुई हों, उसके लिए विनम्र क्षमा याचना।

बाबूराम सिंह

आदरणीय सम्पादक जी नमस्ते,

आप द्वारा प्रेषित पत्र १९-१०-९१ व यू. पी. सी. द्वारा पत्रिका तथा विशेषांक प्राप्त हुआ इसी प्रकार पत्रिका अनवरत आती रहे। आपकी पत्रिका में भूकम्प पीड़ितों के सहायतार्थ सूचना छपी थी पढ़ कर बड़ी प्रसन्नता हुई। हम लोग भी भूकम्प पीड़ितों के लिए कूपन छपवा कर सहायता ले रहे हैं।

राजीव कुमार आर्य

११२वां वार्षिकोत्सव

आर्य समाज मेस्टन रोड, कानपुर का ११२वां वार्षिकोत्सव शिवरात्रि के अवसर पर प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष भी शुक्रवार से शनिवार तदनुसार २८-२९ फरवरी १, २ मार्च, १९९२ तक श्रद्धानन्द पार्क व आर्य समाज भवन में मनाया जाना निश्चित हुआ है। नगर कीर्तन, शुक्रवार, २८ फरवरी को सायं काल ४ बजे से तथा महोत्सव एवं ऋषि बोधोत्सव २९ फरवरी तथा १-२ मार्च को। विस्तृत कार्यक्रम बाद में प्रकाशित किया जायेगा।

डा० विजयपाल शास्त्री

वेदान्त

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक

अध्यक्ष—वैदिक संस्थान नजीबाबाद,

आज कल वेदान्त की बड़ी धूम है, भारत मे ही नहीं-विदेशो में भी। भारत मे तो बड़े-बड़े वेदान्त सम्मेलन भी होते है अखिल भारतीय स्तर तक—और इन सम्मेलनो मे बड़े बड़े विद्वानों, बड़े बड़े महारथियो के अत्यन्त मार्मिक-ओजस्वी तथा लच्छेदार भाषण होते हैं। सम्मेलनो का होना अच्छा है, उपयोगी है अतः होने चाहिये। इनके होने से जनता के सामने विचार आते हैं—चित्र का कोई पहलू आता है। लोगो को विचारने, सोचने और समझने का अवसर मिलता है। भाषणो को सुनने से विचारों के वर्ण गोचर होने से मनुष्य को प्रेरणा मिलती है। वाणी की बड़ी शक्ति है—वाणी अग्नि है "वाग्वै अग्नि."। अग्निः अग्रणी भवति अग्निः अग्रणी होता है आगे ले चलने वाला होता है, आगे-आगे चलता है। वाणी सचमुच आगे-आगे चलती है, आगे ले जाने और ले चलने वाली होती है। वाणी से निकली ध्वनि सुन कर मनुष्य उसके आश्रय से अन्धेरे मे भी निर्दिष्ट पर पहुच जाता है। वाणी द्वारा ज्ञानोपदेश सुन कर मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आत्मिक दोनो प्रकार की उन्नति करता है, दोनो ही क्षेत्रो मे प्रगति को प्राप्त होता है, दोनो ही क्षेत्रो मे आगे बढता है।

(अप-अगि-इण) इन तीन धातुओ से अग्नि शब्द बनता है। इन तीनो हो धातुओ का अर्थ है "गति" जिससे जीवन को गति प्रगति उन्नति प्राप्त हो, उसका नाम अग्नि है, जो लोग अध्ययन नही कर पाते और जिन्हें अध्ययन के साधन उपलब्ध नही होते, वह भी सभा सम्मेलनों मे विद्वान वक्ताओ की वाणी से निकले शब्दो द्वारा ज्ञान-चर्चा सुन कर अपने जीवन को पतन के गर्त से निकाल कर सद्‌मार्ग की ओर ले जाते देखे जाते हैं। इतिहास साक्षी है कि अत्यन्त पतितावस्था मे पड़े लोगो के जीवन भी वाणी के प्रभाव से अत्यन्त पवित्र बने हैं। इस सदर्भ में इस प्रकार की घटनाओ मे से हम यहाँ यह कहने का लोभ सवरण न कर सकेगे कि मद्यपान और वेश्या गमन मे अत्यन्त लिप्त अमीचन्द को महर्षि स्वामी दयानन्द के इन शब्दो ने कि "अमीचन्द—थे तो तुम मोती, मगर कीचड मे फसे हो" "भक्त अमीचन्द" बना दिया। अवश्यमेव भोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम् अर्थात् किये हुए कर्मो का फल चाहे वह शुभ हो या अशुभ—अवश्यमेव भोगना पड़ता है। स्वर्गीय श्री पण्डित गणपति शर्मा के भाषण मे इन शब्दो को सुन कर करनाल जनपद (हरियाणा) का मुगला डाकू धर्म-प्रचारक बन गया था, एतदर्थमेव उपर्युक्त प्रकार के सम्मेलनो की उपयोगिता और उनके महत्व से नकार नही किया जा सकता।

यही वाणी-जो सभा सम्मेलनो मे सुनने को मिलती है, लिखी जाकर—पुस्तक के रूप मे-शिक्षित और अध्ययन शीलजनों के जीवनो के लिए प्रगति का कारण बनती है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि इस प्रकार के सभा सम्मेलनो मे जो चर्चा सुनने को मिलती है और पुस्तको मे जो सामग्री पढ़ने को मिलती है, वह जीवन के लिए कितनी उपयोगी होती है ! अभिप्राय यह है कि वह चर्चा जो हम सम्मेलनो मे सुनते और पुस्तको मे पढ़ते हैं, विषय के अनुरूप भी होती है या नही। उदाहरण के लिए वेदान्त की ही बात ले लीजिए, जो हमारा प्रस्तुत विषय है। क्या 'वेदान्त-सम्मेलन' के नाम पर श्रोताओ को वेदान्त चर्चा सुनने को मिलती है ? यदि मिलती है तो कितने अशो मे ? यह एक प्रश्न है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। कुछ न कुछ तो मिलता ही है—यह अलग बात है किन्तु जो मिलना चाहिए, वह भी मिलता है या नही ?

उपर्युक्त शब्दो मे वेदान्त सम्मेलनों की आलोचना करना हमारा उद्देश्य नही है किन्तु हमे यह सोचने का तो अधिकार है कि इन सम्मेलनो को तिरस्कृत किया जाय, पुरस्कृत किया जाय या परिष्कृत किया जाय ? जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हम इनका तिरस्कार नही करना चाहते—परन्तु यह भी सत्य है कि हम इन्हे पुरस्कार देने को भी तैयार नही। हमारी सम्मति मे तो इन सम्मेलनो का परिष्कार होना चाहिए कि जो इधर-उधर की निरर्थक सामग्री, अनर्गल और अनावश्यक चर्चा इन सम्मेलनो मे होती है, वह बन्द की जाय, उसकी छटनी कर दी जाय और जो आवश्यक, अनिवार्य तथा वास्तविक वेदान्त चर्चा है, उसे सम्मिलित किया जाय।

जहा तक वेदान्त सम्बन्धी साहित्य का प्रश्न है, पुस्तक विक्रेताओ के यहां स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त तो सरलता से मिल सकता है। स्वामी रामतीर्थ और रामकृष्ण परमहस की वेदान्त विचार धारा के ग्रन्थ भी मिल जायेगे किन्तु वेदान्त दर्शन जो छः दर्शनो मे से एक है, जिसके रचियता महर्षि वेदव्यास थे, बादरायण मुनि के पुत्र और शिष्य कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास—वह परोक्ष की वस्तु बनने जा रहा है, वह पर्दे के पीछे पड़ता जा रहा है वह जनता की दृष्टि से दूर अति दूर—जनता की आँखों से ओझल होता जा रहा है। वेदान्त सूत्रो के प्रणेता उस साक्षात्कृत धर्मा को लोग भूलते जा रहे हैं। उसकी ज्ञान रश्मिया अब जनता की दृष्टि के सामने नही है।

जब उस महा-तपस्वी और महा-मनीषी महर्षि वेदव्यास का वेदान्त दर्शन ही जनता की दृष्टि में नहीं है तो उसका मूल स्रोत अर्थात् वह ज्ञान अत्यन्त तपस्या पूर्वक जिसका मन्थन करके अपनी प्रतिष्ठित प्रज्ञा द्वारा उस तपोधन ने मानव कल्याण के लिए इन सूत्रो की रचना की थी वह जनता के सामने किस प्रकार आये ? जनता उस अक्षय ज्ञान-कोष को किस प्रकार प्राप्त करे ? यह एक समस्या है। इसी समस्या के समाधान को लक्ष्य करके यह पग उठाने का साहस किया गया है।

इन पृष्ठो में स्वामी विवेकानन्द जी महाराज, स्वामी रामतीर्थ जी तथा परमहस स्वामी रामकृष्ण जी के दार्शनिक दृष्टिकोण की आलोचना हम नही कर रहे —न हम उनके महत्व को ही कम करना चाहते हैं और न कम करके आंकना चाहते है। हम तो इन मनीषियों को अपने-अपने समय की विभूतियां मानते हैं किन्तु हमें यह कहने में लेश मात्र भी सकोच नही है कि इन तीनो ही मनीषियों की विचार धारा कालाबद्ध है। यह तीनो आचार्य शंकर के पीछे चलते हैं। इनके प्रेरणा स्रोत आद्य शकराचार्य हैं। और शकराचार्य की विचार धारा तात्कालिक परिस्थितियों से प्रेरित तथा प्रभावित है। उस समय अबाध गति से फैलते हुए बौद्ध और जैन मतों की अनीश्वरवादी विचार धारा से व्याकुल होकर परम आस्तिक भगवान शकराचार्य ने ईश्वरवाद की विचारधारा के रक्षण, प्रचार तथा प्रसार के लिए इस विचारधारा को अपनाया था, जो शांकर-दर्शन के नाम से प्रचलित है और जिसे सामान्यतया लोग अद्वैतवाद के नाम से जानते हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जगदगुरु शकराचार्य के विषय मे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश के एकादश समुल्लास मे लिखा है—"जो जैनियों के खण्डन के लिए ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या और जीव ब्रह्म की एकता कथन की थी।" इन शब्दो से यह स्पष्ट है कि जगदगुरु की विचाराधारा तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित थी। "विषस्य विष औषधम्" अर्थात् विष की औषधि विष ही होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार आचार्य शकर ने "सब कुछ प्रकृति ही है, ईश्वर है ही नही,' जैनियो और बौद्धो की इस विचारधारा के साम्मुख्य के लिए "सब कुछ ईश्वर ही है, और कुछ है ही नहीं" की समानान्तर रेखा खींची थी। उन्होने उस समय को वेदान्त दर्शन की गहराइयो में जाने के लिए उपयुक्त नहीं समझा।

वेदान्त दर्शन—जिसके रचयिता महर्षि वेदव्यास हुए हैं और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं—वह सत्य अपरिवर्तित, कालातीत तथा मूल-भूत सिद्धान्तों और सत्यताओं का तत्व-सार-सग्रह है, और उसका मूलाधार वेद है। वह वेद जो अकाल पुरुष की देन है, जो उस अनादि पूर्ण-पुरुष परमेश्वर के ज्ञान मे सदा-सर्वदा बना रहता है। जो कालाबाधित नही अर्थात् जिसका मूल सम्बन्ध न भूत से है, न वर्तमान से और न भविष्य से। जो सब कालो में उस-उस काल के अनुसार समस्त मौलिक समस्याओ के वास्तविक हल प्रस्तुत करता है। जिसमें समस्त सत्य विद्याओ का मूल है जिसमें ऐसी कोई बात नहीं, जो अब अनुपयोगी हो चुकी हो अथवा आगे किसी काल में अनुपयोगी हो जायेगी। जिसमे ऐसी भी कोई बात नहीं, जिसकी केवल भविष्य में आवश्यकता होनी सम्भव है या जो केवल भविष्य के लिए ही है। न वह ऐसा भडार है, जिसकी रचना किसी देश विशेष के लिए ही की गयी हो। वह तो ऐसा ज्ञान भण्डार है, जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक ही नहीं अपितु उससे भी—सार्वभौमिक से भी आगे समस्त सृष्टि में जहा-जहां भी मानव है या उसकी उपस्थिति सम्भव है वह ज्ञान परमोपयोगी है। कारण इसका यही है कि यह किसी मनुष्य की नहीं अपितु ईश्वरीय देन है।

(क्रमशः)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार १९९२

ज्ञातव्य है कि संघड़ विद्या सभा ट्रस्ट जयपुर द्वारा निर्धारित २१०० रुपये का आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार प्रतिवर्ष गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय द्वारा दिया जाता है। विगत वर्षों मे यह पुरस्कार निम्न गण मान्य शिक्षा विदो तथा समाज सेवको को उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए दिया गया है। प्रो० रामप्रसाद वेदालकार, डा० भवानीलाल भारतीय, प० विश्वनाथ विद्यालंकार, प० सत्यकाम विद्यालकार, श्री भगवत दत्त वेदालकार, डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार, श्री दत्तात्रेय बाव्ले, डा० लक्ष्मीनारायण दूबे, श्री क्षितीज वेदालकार, डा० कपिल देव द्विवेदी, डा० रामनाथ वेदालकार।

चयन सम्बन्धी नियम :

१. आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार उन्ही सज्जनो एव सभाओ को दिया जा सकेगा जो वेद, उपनिषद, दर्शनशास्त्र आदि आर्य साहित्य का प्रचार एव प्रसार जन सामान्य तक करें।

२ उक्त विषय पर शोध करने वाले व्यक्ति /सस्थान भी उक्त पुरस्कार पाने के अधिकारी हो सकते हैं।

३ उक्त विषयो पर सगीत काव्य तथा नाटक रच कर अथवा नाटक को रगमच पर दिखलाने वाले व्यक्ति या नाटक मण्डली भी इस पुरस्कार के लिए आमन्त्रित किए जा सकते हैं।

४. उक्त विषयो पर आकाशवाणी या दूरदर्शन पर प्रचार एव नाटक आदि के माध्यम से जनसामान्य को उदात्त वैदिक भावना से आप्लावित करने वाले व्यक्ति या सस्था को उक्त पुरस्कार पाने हेतु सम्मिलत किया जा सकेगा।

५ उक्त विषयो का ग्राम-ग्राम मे जाकर मैजिक लालटेन, पुतली प्रदर्शन अथवा भजनो द्वारा प्रचार करने वाले व्यक्ति या मण्डली/सभा भी उक्त पुरस्कार पाने हेतु प्रार्थी हो सकते हैं/सकती हैं।

६. आधुनिक युग में विज्ञान और आध्यात्मिकता का समन्वय करने हेतु अथवा सतुलित व्यक्तित्व के विकास हेतु योग की उपयोगिता सम्बन्धी सरल साहित्य जो सामान्य जन मानस को प्रभावित कर सके, लिखने अथवा प्रकाशित करने वाले व्यक्ति, सभा और प्रकाशक आदि को भी पुरस्कार पाने वालो मे सम्मिलित किया जा सकता है।

उक्त पुरस्कार चयन नियमो को परिवर्तित एव परिवर्धित करने का अधिकार सघड विद्या सभा ट्रस्ट जयपुर को होगा।

आपसे निवेदन है कि यदि आपकी दृष्टि मे कोई महानुभाव अथवा सस्था आगामी वर्ष के लिए इस पुरस्कार के योग्य हो तो उसका पूर्ण विवरण सलग्न पत्र में निम्न पतो पर ३० नवम्बर, १९९१ तक भेजने की कृपा करें।

१. श्री जी० बी० के० हूजा, अध्यक्ष, सघड विद्या ट्रस्ट, ए १५ए, विजय पथ, तिलक नगर, जयपुर ३०२००४।

२. श्री वीरेन्द्र अरोडा, कुलसचिव, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

वीरेन्द्र अरोडा (कुलसचिव)

विवरण पत्र

१ नाम
२ पता
३ आयु
४ योग्यता
५. प्रकाशित कृतिया
६. पुस्तकों की विधा
७. पुस्तको का प्रतिपाद्य
८. प्रकाशन वर्ष
प्रकाशक का नाम
९. वेद प्रचार मे किए गए कार्यों का विवरण
१० आर्य समाज के प्रचार प्रसार मे की गई सेवाए
११ यदि किसी अन्य सस्था द्वारा सम्मानित किए गए हो तो उसका विवरण
१२. प्रस्तावित कृति पूर्व पुरस्कृत हुई है या नही, यदि हुई हो तो उसका विवरण

कृपया चुनी हुई पुस्तकों की एक प्रति श्री जी० बी० के० हूजा, तथा तीन प्रतिया श्री वीरेन्द्र अरोडा, कुलसचिव, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय को प्रेषित करने का कष्ट करें।

प्रखर राष्ट्रवादी साहित्यकार वैद्य गुरुदत्त

—नरेन्द्र अवस्थी

भारतीय पुनर्जागरण के मार्गद्रष्टा, वर्तमान युग के ऋषि हिन्दू सस्कृति के शाश्वत मूल्यो को तर्क सगत आधार पर अपने उपन्यासो मे ढालने वाले साहित्य मनीषी व प्रख्यात उपन्यासकार श्रद्धेय वैद्य गुरुदत्त ने अपने साहित्य से लाखो पाठकों को मात्र प्रभावित ही नही किया अपितु प्रखर राष्ट्र भक्ति की जीवन दृष्टि दी। ४६ वर्ष के लेखन क्रम मे २५० से अधिक कृतिया प्रकाश मे आ गई, जिनमे उपन्यासो के अतिरिक्त चिन्तन परक रचनाए ब्रह्मसूत्र, गीता उपनिषद् एव दर्शन शास्त्रो की व्याख्या एव समीक्षाएं भी सम्मिलित हैं। उन्होने दो पुस्तकें अंग्रेजी मे भी लिखी हैं।

आयुर्वेद, राजनीति, दर्शन और वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र मे उनकी देन कहीं अधिक व्यापक और सराहनीय है। वैद्य गुरुदत्त का मत था कि वेद ज्ञान के भडार हैं। ऋग्वेद मे विज्ञान के मूल सिद्धान्त हैं। उन्होने इस विचार को युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द के शब्दो में प्रकट किया है—'ऋक् का अर्थ स्तुति है। स्तुति का अर्थ है वस्तु के गुण, कर्म तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना अतः ऋग्वेद का अभिप्राय है कि पृथ्वी से लेकर परमात्मा पर्यन्त सब पदार्थों की स्तुति अर्थात गुण, कर्म एव स्वभाव का वर्णन।" इसका यह अभिप्राय नही कि वायुयान पर्यन्त सबका वर्णन वेद से मिलेगा। वेद मे केवल ईश्वर कृत पदार्थों का वर्णन है। मनुष्यकृत पदार्थों का नहीं। वैद्य गुरुदत्त ने ऋग्वेद को ही प्रथम स्थान दिया है और उसके मन्त्रो का मनन करने के उपरान्त उनमें वैज्ञानिक सिद्धान्त ढूढ निकाले हैं। वैद्य गुरुदत्त जी विज्ञानाचार्य थे, इसलिए उनका शोध कार्य सरल हो गया। विज्ञान, धर्म, दर्शन ही नही उन्होने अनेक ऐतिहासिक तथ्यो की खोज की, उनके आदर्श वेदकालीन आर्य भारत से सम्बन्धित है। जीवन मे उनकी दृष्टि व्यावहारिक रही है। उन्होंने देशवासियो की धार्मिक, सामाजिक व सास्कृतिक विचारधाराओं का चित्रण किया है। आपने अनेक उपन्यासो मे पाश्चात्य सभ्यता की तथ्यहीनता को उजागर किया है, और यह उल्लेख किया है [illegible] त्य सस्कृति ने भारतीय जन-जीवन को कैसे अस्त-व्यस्त कर दिया है।

वैद्य गुरुदत्त का जन्म ८ दिसम्बर १८९४ को लाहौर (पाकिस्तान) मे हुआ। आपकी शिक्षा डी० ए० वी० स्कूल तथा डी० ए० वी० कालेज मे हुई। १९१९ मे गवर्नमेंट कालेज लाहौर से एम० एस० सी० परीक्षा उत्तीर्ण की। जिन दिनो आप कालेज के छात्र थे उन दिनो प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीत सिंह के नेतृत्व मे भारत माता सोसायटी की स्थापना हुई। गुरुदत्त जी प्राय. इसकी बैठको मे भाग लेते थे। अध्यापक व सोसायटी छात्रो मे राष्ट्रीय भावना भरने में सक्रिय थे। इन सबका गुरुदत्त के मस्तिष्क पर प्रभाव पडा।

(शेष पृष्ठ ७ पर)

दिल्ली आ० प्रा० सभा द्वारा प्रचार

अक्तूबर १९९१—

—२१ से २७ अक्तूबर आर्य समाज डिफेन्स कालोनी मे सप्ताह तक वेद प्रवचन एव सगीत का कार्यक्रम रखा गया— जिसमे पं० सत्यदेव स्नातक एवं श्री ज्योति प्रसाद ढोलक वादक का भजनोपदेश होता रहा।

—आर्य समाज न्यू मोतीनगर मे २८ अक्तूबर से ३ नवम्बर तक प० चुन्नी लाल आर्य भजनोपदेशक का संगीतमय प्रचार रहा।

नवम्बर १९९१—

—आर्य समाज नागौरी गेट हिसार के वार्षिक उत्सव पर प० सत्यदेव स्नातक और श्री ज्योतीप्रसाद भजन मण्डली का कार्यक्रम रहा। ८ से ९ नवम्बर तक प्रचार कार्य हुआ।

साथ ही २ व ३ नवम्बर को दिल्ली देहात मे धूम-धाम के साथ प्रचार हुआ ग्राम बाजीतपुर मे प० सत्यदेव स्नातक की भजन मण्डली द्वारा प्रचार रखा गया जिसकी व्यवस्था श्री रामसिंह आर्य द्वारा की गई थी।

बिहार प्रान्त में भी दिल्ली सभा की भजन मण्डलियाँ—आर्य समाज गढवा जि०पलामू मे १२ से २१ नवम्बर १९९१ मे पण्डित सत्यदेव स्नातक द्वारा सगीतमय कार्यक्रम रखा गया और धूम-धाम के साथ यज्ञ प्रवचन भजनोपदेश होता रहा।

—आर्य समाज कलौदा जि० बुलन्दशहर में प० चुन्नीलाल आर्य भजनोपदेशक का कार्यक्रम रहा और सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ यहा १५, १६, १७ नवम्बर को वार्षिकोत्सव मनाया गया।

आर्य समाज आनन्द विहार एल ब्लाक में १८ से २४ नवम्बर तक पण्डित ज्योति प्रसाद आर्य प्रचारक का कार्यक्रम रहा।

—२५ से २७ नवम्बर आर्य समाज दरियागज मे प० सत्यदेव स्नातक की भजन मण्डली द्वारा एक सप्ताह तक भजनोपदेश का कार्यक्रम रखा गया।

—चौ० सर छोटूराम के ११०वें जन्म दिवस समारोह मे रविवार दिनांक २४ नवम्बर को प्रात: १० बजे छोटूराम रुरल इन्स्टीच्यूट आफ टैक्नोलोजी कझावला (घेवरा) के प्रागण मे विशेष कार्यक्रम का आयोजन रहा इस शुभावसर पर खेल-कूद भाषण प्रतियोगिता चित्रकला प्रतियोगिता लम्बी कूद ऊंची कूद गोला फेकना इत्यादि कार्यक्रमो का आयोजन रहा। दिल्ली सभा की भजन मण्डलियो द्वारा वैदिक धर्म प्रचार रहा। और धूम-धाम के साथ सफलता पूर्वक सम्पन्न रहा।

—आर्य समाज रामगली घण्टा घर मे २१ से २७ नवम्बर १९९१ को आचार्य हरिदेव सिद्धान्त भूषण तर्क केसरी महोपदेशक का वेद प्रवचन रहा। साथ ही पण्डित चुन्नीलाल आर्य भजनोपदेशक का मधुर सगीतमय प्रचार होता रहा। यज्ञ प्रवचन द्वारा यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

इसके अतिरिक्त दोपहर आफिस अवकाश के समय बोट कलब आर० के० पुरम इत्यादि स्थानो पर वैदिक धर्म प्रचार होता रहा।

जोधपुर में महर्षि दयानन्द के निर्वाण दिवस पर भव्य आयोजन

दिनांक ९-११-१९९१ को जोधपुर के जयनारायण व्यास टाऊन हाल मे महर्षि दयानन्द का १०८वां निर्वाण दिवस पजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध पीठ के सेवा निवृत अध्यक्ष प्रो० भवानीलाल भारतीय की अध्यक्षता मे मनाया गया। जोधपुर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० [illegible] आर० मेहता समारोह के मुख्य अतिथि थे। श्री क्षेनेन्द्र शर्मा के प्रस्तावना भाषण के पश्चात् जोधपुर विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० दयानन्द भार्गव ने महर्षि को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अग्रणी बताया। उनके अनुसार स्वामी दयानन्द मध्यकाल और आधुनिक युग की सीमा पर खडे हैं और उनके द्वारा ही नवीन चिन्तन तथा वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है।

कुलपति प्रो० मेहता ने ऋषि दयानन्द के वेदो की ओर लोटने के सन्देश का सही विश्लेषण करते हुए महर्षि के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रशसा की। अपने अध्यक्षीय भाषण मे प्रो० भारतीय ने स्त्रियों और शुद्रों को वेद पठन-पाठन का अधिकार देने के लिए ऋषि को क्रान्तदर्शी विचारधारा का उल्लेख करते हुए उन्होंने भारत की राष्ट्री[illegible] का पर[illegible] स्वराज्य का उद्घोषक सिद्ध किया। सभा मे एक प्रस्ताव स्वीकार कर अजमेर विश्वविद्यालय को महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय घोषित करने के लिए राजस्थान सरकार से अनुरोध किया गया। साथ ही आर्य समाज सरदारपुरा ने जोधपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य प्रणाली के आधार पर अध्ययन करने वाले छात्रों को ५,००० रुपये की वार्षिक छात्रवृत्ति देने की भी घोषणा की।

समारोह को सफल बनाने के लिए आर्य समाज सरदारपुरा के मन्त्री श्री सुखदेव गोयल तथा उपमन्त्री श्री राजेन्द्र गुप्ता का पुरुषार्थ सर्वाधिक प्रशसनीय रहा।

सुखदेव गोयल

प्रस्ताव

जोधपुर नगर की समस्त आर्य समाजों की महा सभा राजस्थान सरकार से निवेदन करती है कि वह 'अजमेर विश्वविद्यालय' का नामकरण राष्ट्रीय विचार धारा के अग्रदूत तथा महान् समाज सुधारक महर्षि दयानन्द के साथ कर इसे अविलम्ब 'महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय अजमेर' घोषित करे। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि स्वामी दयानन्द का निधन ३० अक्तूबर १८८३ को अजमेर में ही हुआ था और उनके पश्चात अजमेर की शैक्षिक प्रवृत्तियो मे आर्य समाज का योगदान सर्वाधिक रहा। आज भी अजमेर नगर में आर्य समाज द्वारा सचालित अनेक शिक्षण सस्थायें समाज की उन्नति मे अपना योगदान कर रही हैं। स्वयं महर्षि दयानन्द भी महान देश भक्त, शिक्षा शास्त्री तथा स्वराज भावना के प्रबल समर्थक थे।

इन तथ्यो को ध्यान में रखते हुए यह सर्वथा उचित ही है कि 'अजमेर विश्वविद्यालय का नाम—महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय' घोषित किया जाये।

जोधपुर नगर में प्रकाशवीर शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला का भव्य आयोजन

आर्य जगत तथा देशवासियों को यह जान कर अपार प्रसन्नता होगी कि आर्य समाज के शिरोमणि नेता तथा विद्वान्, महान देश भक्त तथा कुशल राजनीतिज्ञ एव सांसद स्व० प्रकाशवीर शास्त्री की पावन स्मृति में सरदारपुरा एवं शास्त्रीनगर आर्य समाजो की ओर से प्रति वर्ष उनके जन्म दिवस (दिसम्बर) पर किसी महत्वपूर्ण विषय पर एक विद्वान के दो व्याख्यानों का क्रम आयोजित किया जायेगा। इस व्याख्यानमाला मे किसी अधिकृत व्याख्याता के वैदिक धर्म, आर्य समाज का भारतीय राष्ट्रवाद को योगदान तथा इसी प्रकार के अन्य उपयोगी विषयो पर व्याख्यान रखे जायेंगे जो स्वल्प समय के पश्चात् प्रकाशित भी किए जायेंगे। आपका स्व० शास्त्री जी के प्रति प्रेम और सौहार्द रहा है। अत: आपसे निवेदन है कि इस पुण्य स्मारक मे अपनी यथोचित सहायता राशि निम्न पते पर भेजें। देश-विदेश की आर्य समाजो से भी प्रार्थना है कि वे इस विज्ञप्ति का अपनी समाजो और सदस्यो में अधिकाधिक प्रचार करे या इस वर्ष की व्याख्यानमाला को सफल बनाने मे अपना सक्रिय सहयोग दें।

यह निश्चय किया गया है कि यह व्याख्यानमाला एक निरन्तर चलने वाली प्रवृत्ति के रूप मे स्थापित की गई है। अत: यदि कोई दानी महानुभाव या सस्था एक वर्ष के व्याख्यान क्रम के सम्पूर्ण व्यय को वहन करना चाहे तो वे भी हमे सूचित करें ताकि उन्हे इस वर्ष की व्याख्यानमाला के आतिथेय होने का सम्मान प्रदान किया जा सके। हमारे विचार से अन्य साधनों की अपेक्षा इस प्रकार की व्याख्यानमाला आर्य समाज और महर्षि दयानन्द के मिशन को सफल बनाने में आ[illegible] सिद्ध हो सकती है।

रमेशचन्द भाटिया — प्रधान — दूरभाष : ३०७३७

सुखदेव गोयल — मन्त्री — दूरभाष : ४७१[illegible]

आर्य समाज सरदारपुरा, जोधपुर-३४२००३

सम्पर्क सूत्र : प्रो० भवानीलाल भारतीय पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, ८/४२१ नन्दनवन, जोधपुर-३४२००८

(पृष्ठ ५ का शेष)

एम० एस० सी० उत्तीर्ण करने के उपरान्त आप गवर्नमेंट कालेज, लाहौर डिमांस्ट्रेटर के पद पर नियुक्त हुए। तदुपरान्त विवाह कर गृहस्थ जीवन मे प्रवेश किया था कि उन्ही दिनो स्वदेशी आन्दोलन और अंग्रेज सरकार के प्रति असहयोग की भावना ने उनके जीवन को ऐसा प्रभावित किया कि गुरुदत्त जी ने सरकारी नौकरी को त्याग दिया। कुछ दिनो बाद लाहौर मे नेशनल स्कूल के मुख्यअध्यापक पद पर कार्य करने लगे। १९२६ मे स्कूल बन्द होने पर उत्तर प्रदेश की अमेठी ताल्लुकेदारी के कुंवर रणजय सिंह विधायक के सचिव पद पर कार्य किया। १९३१ मे आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया, १९३३ मे लाहौर चले आये तथा वहां चिकित्सा कार्य किया। १९३७ में दिल्ली में वैद्यकी आरम्भ की।

सन् १९४२ मे 'स्वाधीनता के पथ' नाम से प्रथम उपन्यास प्रकाशित हुआ। १९४४ में 'पथिक' उपन्यास १९४७ मे 'स्वराज्य दान' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। १९२ उपन्यास, दर्शनशास्त्रो पर विवेचन तत्व रचनाए १७ राजनैतिक अध्ययन ३, सस्मरण, १३ नाटक, २ अप्रकाशित ८ कुल रचनाए २४१ लिखी है। इनके ऐतिहासिक उपन्यास विक्रमादित्य साहसाक, मेघवाहन, सागर-तरग, वैज्ञानिक उपन्यास सहस्रबाहु, गगण के पार, अन्तरिक्ष मे, सामाजिक उपन्यास कला, कामना, अनदेखे बन्धन, मानव, राजनैतिक उपन्यास स्वाधीनता के पथ पर, पथिक जमाना बदल गया आदि विशेष रूप से चर्चित रहे। साहित्य साधना के साथ उन्होने राजनीति मे भी कुछ समय तक सक्रिय भाग लिया। भारतीय जनसघ के सस्थापकों मे वे प्रमुख रहे हैं, उन्होने उसके विभिन्न पदो पर रह कर भारतीय राजनीति मे अपना सक्रिय योगदान दिया। बाद मे कुछ कारणा मे राजनीति से सन्यास ले लिया। ८ अप्रैल १९८९ को हिन्दू धर्म का अद्भुत व्याख्याकार निर्भीक राष्ट्रवादी साहित्यकार इस ससार से सदा के लिए विदा ले गया। वैद्य गुरुदत्त जी एक चिकित्सक थे उन्होने हिन्दू समाज व राष्ट्र की दुर्बलताओ के कारणो को खोजा और अपने साहित्य मे उनका निदान प्रस्तुत किया। मगर एक दुखद बात यह है कि युनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार वैद्य गुरुदत्त सर्वाधिक पठित लोकप्रिय उपन्यासकार होते हुए भी सब से अधिक उपेक्षित रहे।

नरेन्द्र अवस्थी



200/- रूपये की खरीद पर 1 सुधांशु जी का टेप रिकार्डर कैसेट या तौलिया मुफ्त







आर्यसन्देश–दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-११०००१
R. N. No. 32387/77 Posted at N.D.P.S.O. on 28-29-11-1991 Licence to post without prepayment, Licence No. U 139
दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) ७५६ पूर्व भुगतान किए बिना भेजने का लाइसेन्स नं० यू १३९
साप्ताहिक "आर्यसन्देश" १ दिसम्बर, १९९१

दीपावली-प्रार्थना

—पं० मनोहर विद्यालंकार

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूः, येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ।। ऋक् १-१६४-४९
ऋषि —दीर्घतमाः । देवता—सरस्वती । छन्दः—निचृत् त्रिष्टुप् ।

शब्दार्थ – हे (सरस्वती) शुभ लक्ष्मी (ते स्तनः) तेरा स्तन और शब्द (शशयः) सन्तोष और शान्ति द्वारा अभाव और अज्ञान को विलीन करके सुख की नींद सुलाता है, तथा (मयोभूः) सुखी रखता है। (येन) जिसके पान और ध्वनि के साथ (विश्वा वार्याणि पुष्यसि) तू सभी वरणीय और आवश्यक पदार्थों को सपुष्ट करके प्राप्त कराती है। (यः) तेरा मधुर स्वन (रत्नधा? रमणीय पदार्थों और अनुभूतियों को धारण करता है, (वसु विद्) जगत मे निवास के लिए आच्छादन (वस्त्र+निवास) सामग्री को प्राप्त करता है, तथा (सुदत्रः) दानशील बना कर विपत्तियो से रक्षा करता है। हे श्री लक्ष्मी (तम) अपने उस मधुर स्तन को (इह) इस जगत् मे (कः) बनाए रख, (धातवे) जिससे मेरा, मेरे परिवार का, देश और विश्व का धारण पोषण सुचारु रूप से चलता रहे।

दीर्घतमा—ऋषि के दो रूप हैं। केवल लक्ष्मी या केवल सरस्वती के अर्जन मे लगे हुए व्यक्ति घने अन्धकार मे फसे हुए दीर्घतमा ऋषि हैं। अपने अनुभव से दोनो की आवश्यकता जान कर, अपने एकांगी विचार को छोड कर दोनों की प्राप्ति का प्रयत्न करने वाले—अन्धकार को विदीर्ण करने वाले—दीर्घतमा ऋषि बन कर अपने जीवन मे सफलता प्राप्त करते हैं।

सरस्वती—वेद का प्रत्येक देवता अपने में अन्य सभी देवताओं के अंश को समोये हुए है, क्योंकि ये सभी देवता उसी एक सच्चिदानन्द परब्रह्म की अभिव्यक्तियां हैं। इसी लिए इस मन्त्र में सरस्वती से वह प्रार्थना की गई है जो लक्ष्मी से की जानी चाहिए। सरस्वती और लक्ष्मी दोनो के गुण और वरदान 'श्री' में बसते हैं इसलिए नाम के आगे 'श्री' या 'श्रीमान्' लगाते हैं।

'श्री' का सम्मिलित रूप—प्रशस्ति, प्रजा, रत्न, वसु धृत, भद्र तथा का प्रदान करता है। यह पापो, रोगों, शत्रुओ का विनाश करने वाली वृत्रघ्नी, तथ रक्षा, प्रगति, क्रान्ति, वृद्धि प्रदान करने वाली सवित्री है। सरस्वती का आह्वा सुकृतीजन करते हैं। सरस्वती से प्राप्त पदार्थों का दान करने वालो के पास वरणी पदार्थों की कभी कमी नही होती।

(क) सत्पथ द्वारा अर्जित, सत्कर्मों मे विनियोजित, विनयप्रदाता तथा अनासक्ति और अपरिग्रह की ओर ले जाने वाला धन श्री—सरस्वती या पुण्य-लक्ष्मी—कहाता है।

(ख) जैसे तैसे अर्जित, ऐश-आराम मे विनियोजित, अहकार जनिता तथा, आसक्ति और परिग्रह की ओर ले जाने वाला धन श्रीविहिन लक्ष्मी या पापी लक्ष्मी कहाता है।

निचृत् त्रिष्टुप्—अपनी प्रार्थना को पूरा कराने के लिए अत्यन्त प्रयत्न (साधना) आवश्यक है। साधना पूर्ति के लिए काम, क्रोध, लोभ के दुष्ट त्रिक से छुटकारा पाने के लिए बार-बार आत्म-निरीक्षण करने का सकेत—छन्द शब्द का अर्थ करता है।

कार्तिक बदी १५ स० २०४८
५ नवम्बर १९९१ मंगलवार



सेवा में—

2367 श्री पुस्तकाध्यक्ष,
पुस्तकालय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ. प्र.)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
हरिद्वार

की औषधियों का
सेवन करें।

शाखा कार्यालय—६३, गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ फोन : ३२६१८७१

सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा सार्वदेशिक प्रेस, पटौदी हाऊस दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ में मुद्रित होकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड नई दिल्ली-११०००१ : फोन-३१०१५ के लिए प्रकाशित। रजि० नं० डी०(डी० ७५६)

CHAPTER I

THE MONARCHICAL PARLIAMENTARY PERIOD

THE UNIFICATION OF ITALY

Progress towards Unification. The historian of the nineteenth century will never cease to marvel at the remarkable chain of events which in less than a dozen years transformed the Italian peninsula from a welter of political jurisdictions into a modern national State In 1859 Italy was still, to use Metternich's phrase, "a geographical expression " The Italian people owed allegiance either to Austria or to one of a half dozen petty ruling houses, only one of which, that of Savoy, sovereign in the Kingdom of Piedmont,[1] was regarded as Italian in character Yet within less than two years the process of amalgamating this political welter into a single kingdom, under the aegis of Piedmont and the House of Savoy, had already been virtually accomplished Austria had been compelled to give up Lombardy, and that rich area had voted to join Piedmont, Modena, Parma, Tuscany, and the Emilia had thrown off their former rulers and followed Lombardy's example, Francis II, Bourbon King of the Two Sicilies, had been driven out of Naples, and the entire southern part of the peninsula had imitated the more northerly regions, and on March 17, 1861, before a national Parliament at Turin, Victor Emmanuel II, King of Piedmont, had proclaimed the existence of the Kingdom of Italy Four more years and the new kingdom, as an ally of Bismarck in his war against Austria, had emerged with Venetia as its share of the victor's spoils, and then in September, 1870, following the withdrawal of the French garrison near Rome, that city had been taken from the Pope by force and proclaimed the capital of an Italian State which embraced the entire peninsula [2]

Earlier Efforts at National Union. Though achieved with such amazing celerity the unification of Italy was not merely the result of fortuitous events

[1] Technically the Kingdom of Sardinia The dukes of Savoy became kings of Sardinia in 1720 upon the acquisition of the Island of Sardinia Piedmont, however, was the Sardinian King's most important territory and his government was located at Turin, Piedmont's chief city

[2] On the unification of Italy see Bolton King, *A History of Italian Unity*, 2 vols (London, 1899) and W R Thayer, *The Dawn of Italian Independence*, 2 vols (Boston, 1893)

In the early part of the sixteenth century, Niccolò Machiavelli, the great Florentine, had pleaded earnestly for the expulsion of the foreign ruler from the peninsula and the consolidation of all its people under a single Italian prince. Generations of patriots since Machiavelli's time had actively sought by one means or another to realize his hope, and Italian literature is studded with the names of those who thereafter contributed patriotic inspiration in prose and poetry Napoleon Bonaparte, invader and conqueror though he was, brought the French vision of national fraternity to all of Italy between 1796 and 1815 In southern and most of northern Italy, he created nominally independent kingdoms and made common to much of the peninsula the advanced legal and administrative systems which had been perfected in France The impetus to nationalism thus fostered lost little of its force even after the Congress of Vienna sought in 1815 to undo in Italy and in Europe all that the Corsican had done Thus long before national unity became a reality, its foundations had been firmly established.

Chief Protagonists of Unification. Chief responsibility for the actual success of the movement for unity is, however, rightly attributed to the four principal actors in the drama The first of these is Victor Emmanuel II, King of Sardinia-Piedmont and the first King of the united nation Victor Emmanuel II is esteemed by Italians for the patriotism which prompted him to pledge the fortunes of his dynasty to the great cause, and for the moral and material aid he constantly extended to those actively engaged in furthering that cause.[3] No less important than the King was the nineteenth-century mystic and revolutionary, Giuseppe Mazzini Through his writings and correspondence, his creation of the famous "Young Italy" movement, and his numerous conspiracies against foreign and, particularly, Austrian rule, Mazzini did much to renew Italian patriotism after 1821 and to instill hatred of foreign control in the Italian youth Perpetually coupled with his name is that of Giuseppe Garibaldi His was the contribution of the practical crusader and of the adventurous military filibusterer It was Garibaldi's motley army of red-shirted volunteers, the legendary "Thousand," which conquered Sicily in 1861 and helped materially to bring about the downfall and expulsion of the Bourbon dynasty in southern Italy Garibaldi also led in similar, albeit less successful, exploits against the papal power at Rome [4]

Cavour. But the greatest of all the immediate architects of Italian unity was Victor Emmanuel's Prime Minister, the enlightened liberal statesman, Count Camillo Benso di Cavour It was Cavour, more than any other man, who molded and directed the forces which made national unity a realizable ideal He it was who raised parochial Piedmont to a position of influence in the peninsula and among the European chancelleries It was his reforming zeal and administrative ability which made Piedmont a model kingdom and gave her the military and financial sinews to conduct a war of liberation His astute diplomacy secured the active aid of France and the latent sympathy of

[3] E Dicey, *Victor Emmanuel* (New York, 1886)
[4] See G M Trevelyan, *Garibaldi and the Making of Italy* (New York, 1911).

England against Austria, and his successful statesmanship attracted to Piedmont's banner almost every Italian faction interested in the national cause. However ripe that cause may have been in the middle of the nineteenth century, without Cavour it might have languished indefinitely [5]

CHARACTERISTICS AND PROBLEMS OF THE NEW STATE

Some Statistics. Outwardly the nation which had thus been brought into being had the characteristics of a great power It was the home of a civilization millenniums old, indeed Rome, its capital city, was the mother of the civilization of the West It contained the seat of the largest of the Christian faiths and many of the world's centers of art and learning In size, moreover, united Italy compared favorably with the established powers of Europe The area of the peninsula and the two great islands of Sardinia and Sicily which she occupied was somewhat more than 110,000 square miles, the inhabitants in 1870 numbered approximately 27,000,000 [6] The population was almost purely Italian; indeed the Italy of 1870 fell far short of embracing even all the Italians in Europe, many still remaining under the jurisdiction of Austria, Switzerland, and France The population was also overwhelmingly Catholic in religious sentiment, only a very small number—less than one half of one per cent of the whole—professing other faiths

National Diversity. But the new State also had many serious weaknesses In the first place the population was not nearly so homogeneous as statistics might indicate Although Italians had possessed a national literary language since the days of Dante, the dialects used by the common folk of the various regions differed greatly Then, too, northern and southern Italians, owing to diverse racial origins and admixtures, differed remarkably in physical and even in psychological attributes More remarkable still was the difference in the intellectual level and political capacity of the people of these two areas Piedmontese, in touch with the currents of nineteenth-century European thought and far advanced commercially and even industrially, were perhaps as enlightened and politically as mature as the French across their borders So, too, were the inhabitants of Tuscany, the "cradle" of the Renaissance, of the former duchies, and of Lombardy and Venetia But the people of southern Italy had known little but despotic personal government and economic vassalage for centuries, with results all too plainly revealed in the moral and social outlook of the peasantry. Neapolitans and Sicilians especially were among the most backward peoples in Europe Illiterate, living for the greater part in the most abject poverty, subjected as late as the middle of the nineteenth century to the benighted and scandalously corrupt Government of the Spanish Bourbons, a Government which Gladstone had once described as the "negation of God," they were fitter subjects for misgovernment than for government Conditions in Campania, Basilicata, and Sicily were so bad that for more than a genera-

[5] On Cavour see W R Thayer, *The Life and Times of Cavour*, 2 vols (Boston, 1911)
[6] The area of continental Italy (1951) is 116,235 square miles. The population (1951) is approximately 46,000,000.

tion the newly united kingdom had to give special attention to the problems of combating brigandage in these areas and of raising the elementary economic, intellectual, and moral levels of the inhabitants. Indeed, in 1951, almost a century after unification it may still be said that the retarded development of the "South" and of the "Islands" continues to be one of the principal problems with which Italian governments must cope.

Local Particularism. Subjects of the new kingdom were also locally minded to an intense degree. Florentines were proud of the fact that they were Tuscans, Venetians could not forget the glories of their ancient republic, and many a Torinese looked with sorrow and anger upon the reduction of his erstwhile sovereign state to mere provinces of a greater kingdom. In the Parliament of a united Italy it was to be uncommonly difficult for the representatives of these and other areas to place national before regional interests and to subordinate local to national patriotism. In many instances, indeed, regionalism was to prove so strong a factor that political parties were organized along purely local lines. It was a condition for which geography was partly responsible. Isolated by mountains and even by the sea, the Italian was foreordained by nature to be somewhat parochial in his political loyalties. But history, too, had played its part. Centuries of political division and the consequent lack of commercial and cultural intercourse had necessarily fostered local patriotism and inhibited the growth of a broadly national and cosmopolitan outlook.

Enmity of the Church. In gaining unity, moreover, Italy had seriously offended the Catholic Church. The creation of a national State had necessarily required the destruction of the Church's temporal power over Rome and central Italy, and the forcible entry into these areas of Italian troops had seemed to the Head of the Church an unforgivable act. After 1870 he secluded himself in the Vatican palace, a self-declared prisoner; for more than a quarter of a century the faithful were admonished to refrain from active collaboration with the authorities of the new State.

Economic Weaknesses. In addition to all this the new nation was poor, at least in those economic resources out of which material might is built. Industry had been barely started in the northern cities. The country lacked capital for industrial development as well as the elementary industrial raw materials such as coal and the basic metals. By far the larger portion of the population was engaged in agriculture, from which returns were considerably below the standard of productivity maintained elsewhere. Except in the valley of the Po River, in Campania, on the Apulian tableland, and in certain Sicilian areas, Italian soil is poorly adapted to agriculture. Much of it is entirely unproductive, being mountain or marshland, much of the remainder is distinctly below par in fertility. Deforestation of mountain slopes in the past has caused serious erosion in many districts and increased the hazard of flood. Allied with nature in reducing agricultural productivity is a notorious system of land tenure. Along the Po and in southern Italy most of the arable land is embraced in huge estates known as the *latifundia*. The peasants work on these estates as sharecroppers or as day laborers, and their economic condition is often as

wretched as that of any agricultural laborer in Europe[7] For such a poor country even nominal taxation was a burden, but taxation in some parts of Italy had been abnormally high for many generations and most of it had been of a direct character Moreover, the formation of a single national exchequer offered little immediate relief, because the Government of united Italy, besides having to pay its own increasingly burdensome way, had also assumed the debts of the previous political regimes of the peninsula

Future None Too Promising. In view of these many liabilities the future of the newly united kingdom seemed none too bright in 1870. To be sure, Italy's influence in international affairs mounted rapidly, and her statesmen, as skillful in diplomacy as their ancestors, quickly gained for her an honorable place in the family of nations But the country was hardly equal to the requirements of the role of great power; and the desire to play such a role itself became something of a major liability in Italian politics That desire tempted even the country's wiser statesmen to risk more than the national economy or resources warranted Rasher statesmen, animated by the same desire, brought the nation to the brink of ruin on more than one occasion Economic weakness and the uneven political and social development of the country were also partly responsible for the relative instability of the internal political institutions As we shall note in the following pages, the political system of liberal parliamentary Italy never quite achieved the strength and durability that characterized the governments of certain of the older and better established states of Western Europe The inherent weaknesses of the original political structure contributed, in turn, to the triumph of Fascism sixty years after unification, and partly explain the substitution of republic for monarchy in 1946 after Fascism itself had been formally liquidated.

THE GOVERNMENT OF LIBERAL ITALY

The Albertian Statuto. The political system of united Italy was largely taken over from Piedmont During his long tenure as Piedmontese Prime Minister, Cavour had succeeded in giving that political system a thoroughly liberal cast Its legal basis was a written Constitution known as the Fundamental Statute of the Kingdom (*Statuto fondamentale del regno*) This document, modeled along the conservatively liberal lines of the French and Belgian Constitutions of 1830, had been granted by Piedmont's king, Charles Albert, in March, 1848, as a concession to the revolutionary spirit which in that year swept over Piedmont as well as over the rest of Europe. In the jargon of the political scientist, it was an "octroyed" Constitution Unlike the heads of the other Italian states of the day who had also been compelled to issue written Constitutions, Charles Albert did not suspend or abolish his instrument when the inevitable reaction to revolution set in Upon Charles Albert's abdication in 1849, moreover, his son and successor, Victor Emmanuel II, gave his promise to continue the *Statuto.* The new King's fidelity to this promise, maintained despite efforts of Austria and legitimist Europe to compel him to break

[7] This land-tenure system is now (1951) undergoing some modification See pp. 317–319

it, earned for him the popular title of *"re galantuomo"* (the king who was an honest man) Nominally, at least, Charles Albert's Constitution continued as Italy's basic law until January 1, 1948, when it was superseded by the new republican Constitution

The Kingship. The nominal center of authority under the *Statuto* was the King Victor Emmanuel II occupied this office first as King of Sardinia-Piedmont and then as King of united Italy until 1878 His successor, Humbert I, reigned until 1900 He, in turn, was succeeded by his son, Victor Emmanuel III, the end of whose long reign in 1946 virtually spelled the end of the Italian monarchy Humbert II, his son, became regent for his father in June, 1944, and king in May, 1946, when his father abdicated Humbert reigned for one month, or until June 13, when the proclamation of the Italian Republic brought the Savoy dynasty to an end

Owing to the usages developed by Cavour as Prime Minister, the King's position had gradually come to be comparable to the position of the British monarch The Italian King's constitutional prerogatives were discharged by Ministers whom he appointed and dismissed, not as his personal wishes might dictate but according to the political will of Parliament It would be a mistake, however, to identify the Italian kingship too closely with the position of constitutional irresponsibility developed for monarchy in Britain toward the close of Victoria's reign National traditions and an undisciplined and somewhat chaotic party structure frequently made it possible for King Victor Emmanuel II and his successors to modify the course of public policy and control even the personnel and tenure of the ministries [8] As we shall see later, it was the personal wishes and formal action of King Victor Emmanuel III, and not the wishes of his Ministers or Parliament, which brought Benito Mussolini's Cabinet into power in 1922 and thus paved the way for the Fascist Revolution [9]

Parliament: Composition of the Deputies. Parliament was bicameral, consisting of a Chamber of Deputies and a Senate The membership of the first of these two houses was secured through popular elections conducted until 1919, except for a brief interval, in constituencies each returning a single deputy. By the time of World War I the Deputies numbered 535 The franchise was originally rather carefully restricted, being limited by rather high property and direct-tax qualifications The total eligible to vote in 1870 did not exceed 500,000 [10] Successive liberalizations of the franchise law in 1882 and in 1912 gradually increased the electorate, and by 1919, when a third electoral reform bill was enacted, Italy attained universal manhood suffrage

Electoral Abuse. The most liberal franchise provisions, however, did little to correct an electoral abuse from which Italy suffered throughout the post-Cavourian period This was the habit of governmental interference with electoral freedom By exploiting official prestige, political favors, money, and

[8] For early examples of royal intervention, see King, *op cit*, II, pp 233, 253, 334 and 360–361 On the other hand note also the adherence of Victor Emmanuel II to the electoral and popular will in his acceptance of the first Depretis Cabinet in 1876, see p. 229.

[9] See p 251

[10] King, *op. cit.*, II, p. 307.

sometimes tactics which savored of physical compulsion, national ministers, deputies, and local governmental officials exerted an unblushing control over those privileged to vote. Rare indeed was the ministry which did not yield to the temptation to use these convenient methods of ensuring parliamentary majorities; and rarer still were the occasions when such methods, having been resorted to, failed to return a majority to the chamber favorable to the government of the day "Working the elections" became a habit which even the most high-minded statesmen were unable to eradicate Other European states, suffering from the same evil, attempted more or less successfully to combat it towards the end of the nineteenth century, in Italy, however, it persisted well into the twentieth and became a standing reproach to the political morality and capacity of the nation One of the reasons why the new republican Constitution, adopted in 1948, places such emphasis upon regional and local autonomy is the desire to strengthen the hand of the local authorities and, through them, maintain a check on possible electoral abuses by the prefect or other local representative of Rome officialdom

The Senate The Senate, or second Chamber of Parliament, consisted of persons nominally appointed by the King but actually chosen by the Cabinet The persons appointed had to be selected from some twenty-one categories of Italian subjects These included important clerics, past presidents of the Chamber of Deputies or deputies themselves, ministers, ambassadors, chief judges, high officials of the public forces, and holders of important positions in the permanent Civil Service, members of the Royal Academy of Sciences and of the Superior Council of Public Instruction, persons who paid at least 3,000 lire annually in direct property or business taxes, and persons who, because of their public services or high individual merit, deserved to be honored by their country Senatorial tenure was for life Princes of the royal house became members of the Senate as a matter of right at the age of twenty-one and were given a vote in its deliberations at the age of twenty-five.[11] Although there was no limit to the number of Senators, the total membership of the upper Chamber rarely exceeded 425

Parliamentary Organization and Procedure. In matters of organization and procedure the two houses strongly resembled the equivalent parliamentary Chambers of France's Third Republic The King named the president of the Senate while the Chamber elected its own presiding officer These officials generally acted in a nonpartisan manner Legislation was introduced both by private members and by the Ministers who had access to both houses. The number of bills from ministerial sources, known as *disegni di legge,* increased in the course of time, the executive thus gaining a distinct advantage in the determination of legislative policy. Both Chambers employed various methods of voting common to European parliaments, but the *Statuto* required that the vote on the final stage of a bill should be by secret ballot [12] For detailed

[11] For the provisions relating to the Senate, see *Statuto,* arts 33 and 34, W F Dodd, *Modern Constitutions* (Chicago, 1909), II, pp. 5 *ff*

[12] Art 63.

scrutiny of legislative and other matters, both houses divided themselves by lot into bureaus or *uffici,* nine in the Chamber and seven in the Senate Members of the *uffici* then selected from their own number *ad hoc* committees to report on legislative projects. In the Senate these committees consisted of one member chosen from each of the seven *uffici,* the procedure requiring that at least four of the *uffici* favor a bill before a committee could be named. As in France this system was gradually supplemented by a standing committee system, and in 1920 the lower Chamber did away with the *uffici* altogether, establishing instead ten permanent commissions chosen directly by the members of the Chamber and reflecting the Chamber's political complexion [13] In the Senate the *uffici,* chosen by lot, continued until 1939, when Fascist reorganization did away with them [14]

Relative Powers of the Two Chambers. It was originally intended that the Chamber and the Senate of monarchical Italy should be essentially equal in power.[15] The only derogation from the principle of equality was the provision of Article 10 of the *Statuto,* not uncommon in nineteenth-century constitutions, that taxation or budgetary proposals should be initiated in the first or more popular house. But since the *Statuto* set no limit to the number of Senators whom the Cabinet might appoint, the Senate, like the House of Lords in England, became subject to the threat of ministerial packing whenever it failed to be complaisant in the face of ministerial legislative demands Cavour used such a threat with effect against the Senate as early as 1855 [16] This subordination to the government of the day, combined with the fact that the Senate lacked popular authority and was at best somewhat artificially constituted, caused its power and prestige to dwindle even before the united kingdom came into being. Although its assent continued to be necessary to all legislation, it consistently gave way to the Cabinet or to the latter's majority in the Deputies on all major issues. By 1870, therefore, the Senate of Italy had already become a kind of honorary political academy, membership in which was regarded as a reward for faithful service to monarchy and State; and the place thus established for it in the constitutional system was not afterward substantially altered until the advent of the new republican Senate in 1948.

Ministers and the Parliamentary System. As already indicated, the Ministers of the Government were appointed by the King in accordance with the political will of Parliament Usually they were chosen from the membership of the Chambers. Collectively the Ministers formed a Cabinet or Council, presided over by a Prime Minister, officially designated as President of the Council Except for the prestige attaching to the latter's office and to his political status in the nation at large and a certain primacy in the determina-

[13] For a good description of the procedure of the Italian Parliament prior to Mussolini's changes see H R Spencer, *The Government and Politics of Italy* (Yonkers, 1932), pp 156–157 and 181 *ff*

[14] For the Fascist Parliament see p 258

[15] *Statuto,* art 55, Dodd, *op cit*, II, pp 5 *ff.*

[16] King, *op cit*, II, p 20.

tion of official policy which usage accorded him, the Prime Minister was the equal of the other holders of Cabinet portfolios The Cabinet, thus constituted, administered the affairs of the country as long as it had the confidence of a majority of the Parliament or, to be more exact, of the Chamber of Deputies. The post-Cavourian Italian government was therefore a "responsible" or "parliamentary" government Cabinets or Councils of Ministers were constructed, reconstructed, and dissolved, and Prime Ministers came and went, much as in other parliamentary systems such as the British or, after the establishment of the Third Republic, the French.

Peculiarities of Italian Parliamentarism. But the Italian parliamentary system of the monarchical period early developed certain marked peculiarities which distinguished it from similar systems elsewhere The *Statuto* reserved to the King the power of dissolving the Deputies, and this prerogative was freely used by the Ministers, no Chamber, prior to 1914, having been permitted to continue for its entire five-year legal term Unlike the result of similar tactics in Great Britain, dissolution and a subsequent election in Italy rarely led directly to the overthrow of a ministry, chiefly because ministerial electoral manipulation invariably ensured the return of a favorable parliamentary majority

Transformism. A second and more important peculiarity of Italian parliamentarism was "transformism" (*trasformismo*) This was the name given to the practice, dominant on the Italian political stage after 1876, of constructing a Cabinet with little reference to the party affiliations of its members Deputies and Senators entered into ministerial combinations under the aegis of some astute parliamentary strategist or "broker," sacrificing party loyalties and whatever responsibility they owed to their constituents for the desire to hold a portfolio or to aid their political friends As a result the most diverse elements, drawing support from every political wing of the Chambers, and often subscribing formally at least to utterly opposed political principles and programs, were to be found in intimate collaboration as Ministers of His Majesty's Government of the day

Transformism Criticized. Many harsh words have been uttered against transformism by critics, particularly by foreign critics Not the least serious of these strictures is that transformism completely sterilized Italian political life and made the parliamentary system meaningless The criticisms are not entirely unjustified. As a result of the practice electoral mandates certainly came to mean less than they ordinarily do, and political principles and party labels lost much of their significance The parties themselves were encouraged to split into an unending series of minor personal factions High office, including the prime ministership, did not necessarily go to the politicians who had won the confidence and affection of the nation but to those who were adept as parliamentary tacticians Moreover, it must be admitted that transformism helped to lower the standard of political morality since it encouraged Cabinet architects to use patronage and even more questionable favors in order to win adherents.

A Not Unmitigated Evil. On the other hand it must in all fairness be pointed out that if transformism balkanized the Italian party structure, it merely contributed to a tendency already inherent in that structure. As will be noted later,[17] it was precisely because of the instability of the parties in Parliament that transformism received its initial impetus. Parliamentary Italy, like parliamentary France, was blessed or cursed with a multiple-party system, and if parliamentarism was to be engrafted upon such a system it had to take some form of coalition regime. Transformism was coalition carried to an extreme. Nor can it be denied that transformism was not without certain positive virtues. If it obscured political differences it also encouraged political unity. To some extent it facilitated the formation of Cabinets and thereby reduced the number and duration of those Cabinet crises which have so often plagued parliamentary states on the Continent. Transformism also made possible that constancy of political leadership which was so signal a feature of the Italian government until the end of World War I. If the lengthy tenure as Prime Minister of such men as Depretis, Crispi, and Giolitti gave them the appearance and occasionally the substance of dictatorial power, it also ensured a continuity to the outline and substance of Italian domestic and foreign policy greater than is ordinarily secured in a parliamentary state. If transformism was an evil it was by no means the unmitigated evil which non-Italian historians are wont to assert it was.

Local Government. Local governmental institutions of the liberal monarchical period were largely created *de novo* during the years of national unification, although the influence of the models which Napoleon I had introduced during his occupation of the Italian peninsula is clearly discernible. Chief areas of local government were some seventy-five provinces and 8,000 communes, both of which were autonomous legal corporations enjoying considerable discretionary authority over such matters as elementary education, local police protection, public health, and local public works. In addition to these two areas mention might also be made of the *circondari,* corresponding rather closely to the French *arrondissements.* The *circondari* served as electoral and judicial districts for the national Government.

Prefect and the Provincial Administration. The chief provincial officer under the constitutional monarchy was the Prefect, an official whose creation had been directly inspired by his French compeer. Appointed by the Minister of the Interior and directly accountable to that national official, the Prefect performed the dual role of supervising autonomous local government both in province and commune on behalf of the national authorities and of serving as the chief local law enforcement official for the Crown. The Prefect was also notorious for his political activities on behalf of the national Government, his office being the agency through which ministers and deputies attempted to control the voting in national elections. Assisting the Prefect in his duties was a Prefectoral Council of the Prefect's own appointees and a Provincial Administrative Junta (*Giunta*). The latter, composed of members of the Pre-

[17] See p. 230.

fectoral Council and of representatives of the autonomous governing authorities of the province, exercised important supervisory powers of a financial character over local governmental agencies including those of the commune In addition it served as the administrative court of first instance, appeals on questions of administrative law going from it to the Council of State at Rome [18] In each province there was also a general council chosen by the local electorate which after 1914 embraced practically all adult males Through a permanent committee of its own members and a president whom it elected, the Council discharged the actual powers delegated to the province as an autonomous governmental entity.

Communal Government Affairs of the commune were in the hands of a communal council, one-half of whose members were chosen by the local "administrative" electorate every triennium for a term of six years The communal electorate was governed by the same qualifications as controlled the electorate of the province, it was therefore quite democratic in character Like the provincial council, the communal council chose a permanent committee of its members to act in its behalf in the rather long intervals between its regular sessions The commune's chief executive official was the Syndic (*Sindaco*) Originally appointed by the Minister of the Interior, the Syndic was, after 1896, elected by the communal council and subjected to its control The Syndic, however, continued to exercise certain functions assigned to him by the national authorities and thus served in the dual capacity of a national and communal administrative official His term of office was for four years, but he was subject to suspension during that interval on motion of the Prefect or of one-third of the communal council and he could be removed by the Minister of the Interior.[19]

POLITICAL CONSOLIDATION AND THE RULE OF THE RIGHT (1861–1875)

The Successors of Cavour. As fate would have it, Italy's great leader, Cavour, died in 1861 before the final stages of unification had been realized, and before the problem of the political organization of the united State had barely been touched. Leadership had therefore to be entrusted to Cavour's former colleagues and lieutenants in the nationalist movement These, with the possible exception of Baron Bettino Ricasoli of Florence and the able financier, Quintana Sella, were men of a mold inferior to the great Piedmontese Moreover their efforts to pilot the new State towards political equilibrium were beset by the foreign complications involved in winning Venetia from Austria and in wresting Rome from the Church

Progress towards Uniform Institutions. Considerable progress was nevertheless made in the decade after Cavour's death in introducing administrative, legal, and economic institutions of national scope. The public debt of

[18] For a description of both the administrative and regular judicial systems of the Italian State see pp 291–296 *ff*

[19] For a description of Italian local government under the Republic, see pp 296 *ff*

the previous political entities was consolidated in 1865; and some measure of uniformity was secured in the various tax systems which had theretofore existed in the peninsula. Legal codes were formulated in 1865 and the education laws of Piedmont were extended to most of the kingdom Local governmental legislation of a definitive character was also adopted in that year The various armed forces, those which had belonged to the formerly independent governments as well as irregular volunteer forces such as Garibaldi had organized to conquer Sicily, were absorbed into a common military establishment Internal customs lines were obliterated except for the municipal octroi duties, and a common tariff schedule, derived from Piedmont, was applied to all the frontiers of the new realm [20]

Law of Guarantees. Perhaps the major issue of a quasi-domestic character facing Italian statesmen at the end of this period of constitutional consolidation was the so-called "Roman Question," the question as to what to do with the Papacy now that its lands had been absorbed into the Italian State and its temporal power destroyed As previously indicated the Church's head after 1870 had declared himself a prisoner of the "usurper" and had urged Catholic communicants to abstain from actual participation in the affairs of the new State Balked alike by papal hostility and by the indifference of the powers of Europe in its efforts to secure a solution of this question by an international conference, Italy's Government finally sought a unilateral solution, and enacted the famous Law of Guarantees of March 21, 1871 In this statute Italy declared the person of the Catholic Pontiff sacred and inviolable and applied the same measure of legal protection to him as she applied to the King She recognized further that the Pope possessed the attributes and prerogatives of a temporal sovereign, granting extra-territoriality and tax exemption to the Vatican and Lateran palaces and to other ecclesiastical property and guaranteeing that all emissaries to and from the Vatican should enjoy full diplomatic immunity Catholic theological institutions within Rome were also promised immunity from any interference by State authorities To reimburse the Church for the loss of revenue from her former possessions, Italy promised to pay into the papal exchequer an annuity of approximately $600,000 Finally Italy renounced in the statute virtually all public control over relations between the Church and Italian citizens which usage and law had formerly sanctioned, attempting thereby to realize Cavour's ideal of "a free Church in a free State" The statute, however, did not conciliate the Papacy Two months after its enactment, the reigning Pontiff, Pius IX, rejected it and called for the restoration of temporal sovereignty Subsequently papal interdiction of electoral and other forms of participation by Catholics in the Government of Italy was reaffirmed As we shall see, not until the first decade of the twentieth century did the Church recede in any particular from this uncompromising position; and the "Roman Question" with all of its ramifications continued to plague Italian statesmen for more than half a century

[20] For these developments see B Croce, *History of Italy, 1871–1915*, trans by C M Ady (Oxford, 1929), pp 30–31, and King, *op. cit*, II, p 301

Politics Within the Right. The dominant political group in the Chamber of Deputies at the time of Cavour's death consisted of the combined factions of the Right This coalition comprised deputies from all over Italy but chiefly from Piedmont, Lombardy, and the northern areas It was intensely national and, for the greater part, liberal in its political views. The Prime Ministers coming immediately after Cavour also relied on the Right, under them, however, this coalition began gradually to disintegrate Regional groups asserted their independence on various major or minor issues or demanded special concessions for their continued support, sometimes they seceded altogether Bad blood arose between the Piedmontese faction, the backbone of Cavour's old majority, and leading politicians of the extreme Right from other parts of Italy, who were referred to at the time as the *Consorteria* When, in 1865, the decision was taken by a Cabinet dominated by the *Consorteria,* to remove the national capital from Turin to Florence, the Piedmontese faction vowed a policy of implacable opposition to any government dominated by the *Consorteria.*[21]

Decay of the Right. While being thus weakened by internal bickerings and dissensions, the Right also became increasingly unpopular with the nation at large Its conservatism on social issues and on such political questions as electoral reform alienated the more progressive elements; its preoccupation with northern industry and agriculture seemed prejudicial to southern agriculture, and its policy of taxation culminating, in 1869, in the imposition of the detested grist tax (a tax on cereals) proved extremely unpopular with the great majority, imperative though the need for revenue was at the time In the Chamber popular discontent was stressed with increasing vehemence by deputies belonging to the Republican and Radical Parties and by the factions comprising the moderate Left After unification had been finally achieved in 1870, the Right thereby fulfilling the historic mission set for it by Cavour, it began to appear that shortly the destiny of the nation would be committed to other and quite different hands

THE RULE OF THE LEFT—DEPRETIS AND CRISPI (1876–1896)

Advent of Depretis. The last Cabinet of the Right was formed by Marco Minghetti, the Romagnuol, in 1873 and it came to an end in the spring of 1876 The new Prime Minister, Agostino Depretis, was a leader of the political Left and a southerner. He was a former Mazzinian and Republican, as were many of his colleagues, such as Baron Nicotera, Zanardelli, Cairoli and Crispi Few of these men had theretofore held responsible political or administrative posts in the government At the time of their accession the nation regarded the event as a virtual revolution, and Conservatives spoke fearfully of the danger of the Left to the established institutions and even to the status of the monarchy Some of the King's counselors of the Right attempted to dissuade him from granting the seals to Depretis, advice which the King,

[21] An authoritative account of these political developments may be secured in King, *op cit*, II, pp 308–309.

mindful of his constitutional position under a parliamentary regime, refused to accept

Policies of Depretis Except for two fairly brief intervals Depretis remained Prime Minister and the nation's political leader until 1887 Although his achievements fell short of the expectations of even his more moderate supporters of the Left and although his regime was characterized toward its close by vacillation and "stand-pattism," Depretis' decade of power were years of some progress in the nation's political life A greater degree of political democracy was introduced by the franchise bill enacted in 1882 The bill halved the tax-paying qualification, introduced a moderate educational requirement, and reduced the minimum voting age from twenty-five to twenty-one As a result the total voting population rose from somewhat over half a million to more than two millions The tax on cereals was abolished, and beginnings were made in social legislation A bill to regulate child labor was passed in 1886, and one of the first compulsory school laws in 1877.

Break-up of Parties and Advent of Transformism. The Depretian period was especially notable for the permanent impression it left upon Italian parliamentary life The majority which the elections of 1876 had given Depretis soon showed signs of crumbling Considerable differences manifested themselves among the leaders of the Left on such questions as the suffrage and taxation On these issues the alleged conservatism of Depretis was attacked by the extreme Left led by Cairoli and by the Republican group led at the time by Bertani Eventually these two and their followers withdrew their support from the Cabinet The growing disloyalty and unreliability of his own section of the Chamber caused Depretis to seek alliances with the more moderate factions of the political Right His efforts proved successful and by 1882 Depretis was ruling over a Cabinet with the united support of the moderate elements of his own Left combined with a large faction which had split off from the Right. Thus was born that system of parliamentary government by coalitions consisting of heterogeneous and often conflicting party groups and factions which we have already denominated as transformism [22]

Progress under Crispi. Depretis' successor in 1887 was Francesco Crispi Like Depretis, Crispi was a former Republican who had made his peace with the monarchy Like Depretis, also, in whose Government he had served as a Minister, Crispi was nominally a member of the political Left, albeit of a more radical faction than his predecessor Except for the interlude of the premiership of the Marquis di Rudini in 1891 and of the first Giolitti Cabinet in 1892, Crispi's power lasted until 1896 The earlier period of his rule was notable for the energetic character of his foreign and colonial policy The bonds of the Triple Alliance with Germany and Austria, concluded some years before, were drawn more tightly, and the penetration of Ethiopia, which incidentally was to end in disaster, was begun in earnest Crispi's "energy" evoked from the European chancelleries more respect for Italy as a power than had theretofore been the case Important advances were also made in internal affairs. An inde-

[22] See p. 226

pendent system of administrative courts was set up and a new penal code adopted; local government was made more democratic, first in the larger and then in all the communes by entrusting the election of the Syndic to the communal councils, and the local franchise was broadened

Bank Scandals. It was during the interval between the end of Crispi's first premiership in 1891 and his re-elevation to that office in 1893 that the Italian people became aware of the unsavory *Banca Romana* scandal Tanlongo, a director of the *Banca Romana,* was alleged to have circulated more than fifty million lire of duplicate bank notes A parliamentary committee indicated in 1893 that Tanlongo had for a long time been making unsecured loans to ministers and deputies without expectation of repayment, that he had contributed money to the press to influence and corrupt elections, and that the ministry of the day, over which Giovanni Giolitti was presiding, although apparently aware of these conditions, had not brought them to the attention of the prosecuting authorities or of Parliament It was a form of corruption of which little had been heard in Italy for over a generation, and the evidence of its existence, like the contemporaneous Panama Canal scandal in France,[23] intensified an already pronounced attitude of popular cynicism toward politicians and parliamentary institutions

Social Unrest The second half of Crispi's rule was marked by the beginning of an epidemic of social unrest and labor disturbances which was subsequently to form one of the most formidable problems Italian Cabinets were called upon to solve The first serious disturbances occurred in Sicily in 1893 where the peasants and the agricultural laborers on the great estates, their accustomed poverty aggravated by a severe depression, formed unions and other associations which demanded reform in the system of land tenure and cooperative marketing and distribution of products The movement brought sufficiently strong pressure upon the landlords to secure concessions from them, and it was the landlords' demand for governmental protection against the unions, coupled with severe rioting in various parts of the country and conflicts between the peasants and the police, that finally led the central Government to intervene Although a Sicilian himself and a former Republican, Crispi showed no leniency in putting down the disorders Military authorities were dispatched to the island. They proclaimed a state of siege and broke up the associations Military tribunals replaced the civil; and unusually long sentences of imprisonment were meted out to the leaders of the peasants

Crispi's War on Socialists. Among the condemned were several Socialists. Socialism had come to Italy in the 1880's under the leadership of Andrea Costa, who was elected Deputy from Imola in the Romagna as early as 1882 In 1891 the first Socialist Congress was held at Genoa and a Socialist review, the *Critica Sociale,* was founded at Milan under the editorship of Filippo Turati, destined to become a leader of the Socialist cause for more than a quarter of a century Allegedly connected as a party with the Sicilian disorders, the Socialists, like the peasant associations, became an object of

[23] See E M Sait, *The Government and Politics of France* (Yonkers, 1918), pp 285–286

Crispi's repressive policy. From a subservient Parliament he secured legislation paralleling Bismarck's laws against the German Social Democrats, and, thus armed, his prefects proceeded to disband the popular and Socialist associations in all the principal cities of the North. Legislation was also secured in July, 1894, to revise the electoral registers, and Socialists as well as other enemies of the Crispi regime suffered in the subsequent purge of almost a fourth of the total electorate.

AN INTERVAL OF REACTION (1897–1900)

Fall of Crispi. Crispi fell from power and into complete eclipse in 1896, owing to the public outcry raised over his Cabinet's alleged responsibility for the terrible defeat inflicted upon an Italian army in that year by the Negus Menelik of Ethiopia at Adowa. The reactionary policy against the labor unions and the Socialists had by no means proved successful. Liberal sentiment throughout the nation rallied to the defense of many who were deemed to have been unjustly or harshly treated by the Government. Radicals, Socialists, and even the moderate Left combined in Parliament and, under the leadership of the Radical, Cavalotti, boldly defied the majority. Socialist Deputies whose mandates had been canceled by the Government majority were triumphantly re-elected in their constituencies despite governmental opposition, and in the general elections of 1895, despite the purging of the electoral rolls and the usual pressure of the prefects in favor of Crispi candidates, the Socialist delegation in the Deputies rose from eight to twelve.

More Social Unrest. Failure of the Crispi policy, however, taught nothing to Crispi's successors. To be sure, the Marquis di Rudini, who became Prime Minister on the morrow of Crispi's retirement, strove at first for conciliation. Crispi's anti-Socialist laws were rescinded and amnesty was extended to the Sicilian political prisoners. The Rudini Government also took important steps in the direction of social-welfare legislation, providing in 1898 for the compulsory insurance of workers against accident suffered during the course of employment, and for bettering existing provisions of old-age pensions and sick benefits. But when Socialist and labor disturbances broke out once more in Italy in the spring of 1898, culminating in a virtual insurrection in Milan on May 6, 1898, the Crispian tactics were once again employed. A state of siege was proclaimed in Milan and other northern industrial centers. The military was called out and in Milan their indiscriminate shooting and repression of the civilian population left casualties of more than eighty dead and hundreds wounded. Military tribunals again sentenced leaders of Socialist and other Leftist groups to long terms of imprisonment, radical newspapers were suspended, and Socialist, Radical, and Catholic clubs and cooperative societies were summarily dissolved.

Pelloux and Reaction. Subsequently, in June, 1898, a Cabinet under General Pelloux, made up chiefly of reactionaries and dominated by the military, came into power. After a few conciliatory gestures, Pelloux, with the apparent approval of King Humbert, inaugurated a period of political reaction

more severe than any the nation experienced between the days of its founding and the Fascist conquest of power in 1922. The advent of the reaction was heralded by a series of measures which General Pelloux introduced into Parliament in June, 1899 Among other things these provided that the right of public meeting should in the future be subject entirely to the discretion of the police or provincial authorities and that a virtually military discipline be imposed upon the Civil Service They also gravely threatened the existing freedom of the press and proposed to introduce penal settlements for political offenders

Parliamentary Opposition. The entire parliamentary Left at once coalesced and bitterly fought the proposals, so obviously a violation of the *Statuto* and of the traditional liberties of Italians. To delay Parliament's consideration and final action, the Leftist leaders resorted to a policy of obstructing deliberation, using all the devices known to the astute parliamentary tactician Premier Pelloux's answer to these tactics was the prorogation of the Deputies and the declaration that the proposed measures should become law by decree of the executive power Upon its reassembly four days after the prorogation, Parliament, for the time being at least, apparently in a mood to submit to executive dictation, granted the ministers a bill of indemnity, that is, a law which absolved them of liability in case their use of the questionable decrees brought them before a judicial tribunal

Annulment of the Pelloux Decrees. The decree power of Continental executives has always been of greater scope than a similar power wielded by British or American executives [24] In Italy, since the invocation of the power by Crispi in the Sicilian revolt, it had been greatly extended, and precedents existed for its application to the legal rights of citizens Nevertheless, on February 22, 1900, the Court of Cassation at Rome annulled the Pelloux decrees Nothing daunted, the Prime Minister and his Cabinet renewed their effort to have them incorporated into law To check obstructionist tactics in the Chamber, the Cabinet proposed new standing orders to take effect immediately and without debate Most of the opposition thereupon walked out of the Chamber, a form of protest sanctioned by ancient usage and destined to have a fateful parallel a quarter of a century later upon the inauguration of the Fascist reaction [25] Upon the opposition's withdrawal, the remaining Deputies adopted the new standing orders and the Chamber was again prorogued

Pelloux Resigns. But the new orders proved of little merit against ever more ingenious obstructionist tactics devised by the opposition when Parliament reconvened in May As a last resort, Pelloux decided to dissolve the Chamber and appeal to the country, confident that the Cabinet, by exerting the usual electoral pressure, could secure a vindication of its policy The results, however, were disappointing, although a Government majority was returned, it was a reduced majority It was, moreover, plain, in view of the

[24] Art 6 of the *Statuto* merely stated that the discretionary decree power for the enforcement of law shall not suspend the law's execution nor grant anyone exemption from the law's operation, otherwise the power was left quite elastic

[25] See p 253.

popular acclaim with which Deputies of the Left had been greeted at the polls and elsewhere, that the Pelloux measures were unpopular and that the country wanted none of them Pelloux accordingly resigned and a ministry of conciliation, headed by the president of the Senate, Giuseppe Saracco, was appointed A tragic sequel to the whole affair occurred at Milan on July 29, 1900, when the anarchist Bresci shot and killed King Humbert.

THE GIOLITTIAN PERIOD

Subsequent Dominance of Giolitti. The reaction was now promptly liquidated and as soon as the Saracco ministry expired, the new King, Victor Emmanuel III, entrusted power to the Left once more. There it remained until the days of World War I and beyond The seals were first given to Zanardelli, the veteran Radical, and upon his death to Giovanni Giolitti who, having retrieved his political reputation since the days of the *Banca Romana* scandal, had taken office under Zanardelli as Minister of the Interior This Cabinet of Giolitti, his second, lasted from 1903 to 1905; his third Cabinet was organized in 1906 and lasted until 1909, his fourth dated from 1911 and lasted until 1914 [26] For the intervals between these terms of office, leadership was supplied by Signori Fortis, Sonnino, and Luzzatti Each of these was essentially a stopgap for Giolitti whose political leadership was in the ascendant throughout The span of years from the beginning of the twentieth century to World War I or, if we include Giolitti's fifth Cabinet, until 1921, may therefore quite properly be labeled the "Giolittian period", it was dominated by him just as the period between 1876 and 1887 was dominated by Depretis and that between 1888 and 1896, by Crispi

Civil Progress The Giolittian period was one of considerable advance in almost all lines of national endeavor. The Italian philosopher and historian, Benedetto Croce, says it constituted the epoch in which the liberal ideal was most fully realized in Italy [27] Certainly it was at once made clear that the lesson of the reactionary years of the last decade of the nineteenth century had been completely understood. After 1900 the press was free and the Government respected its freedom as well as the freedom of public meeting and association. Proof of the existence of these rights came with the extraordinary growth of popular and radical journals and the organization of numerous Left-wing and extremist political groups

Labor and the Government. Proof was also to be discerned in the considerate attitude which the Government maintained towards labor Strikes and disturbances were by no means ended, on the contrary, warfare between capital and labor became more intense, strikes grew in number, and the demands of labor became ever more importunate Workers on the railways threatened to tie up transportation by a general strike in 1902, in 1903 there was a general strike in the capital, and in September, 1904, a general strike, partly political

[26] Giolitti's fifth and last Cabinet was formed in June, 1920, see p 247

[27] *Op cit*, p 214 For this period consult also G. Giolitti, *Memoirs of My Life*, trans by E Storer (London, 1923)

in origin, tied up the utilities of Italy's chief cities The Government acted with firmness to preserve order, in the railway strike it called the strikers to the colors and charged them with desertion when they failed to appear, in the general strike of 1904, it used troops But there was none of that indiscriminate repression which had culminated in 1898 in the notorious May massacre in Milan, on the contrary, serious efforts at conciliation were made, the Government acting as mediator between strikers and employers, and even contributing public funds on one occasion to meet certain of the strikers' demands.

Welfare Legislation. The new official attitude toward labor was also emphasized by the advance of social legislation of all kinds Previous acts dealing with child labor, compulsory industrial insurance, health insurance, and old-age pensions were extended and strengthened Night work was forbidden to women and to children under thirteen, and a weekly rest day was guaranteed all workmen. Provision was made for the municipalization of certain utilities, and loans were offered communes to aid in public health and sanitation programs Various forms of insurance were made a state monopoly by the third Giolitti Cabinet, and in 1910 the national Government assumed a larger share of the financial responsibility for local elementary education

Financial Stabilization Despite the mounting expenditures occasioned by these and other projects, increase in the nation's wealth and more efficient fiscal administration brought the finances of the State into a sounder condition than they had been at any time in its history The fiscal problem, as frequently reiterated in these pages, had been Italy's bugbear from the very beginning. Heroic and intensely unpopular measures, including the cereals tax, popularly known as the "tax on hunger," had been necessary to secure a balanced budget in the 1870's. Deficits reoccurred between 1885 and 1897, thereafter, however, surpluses once again became the order of the day A series of able finance ministers, of whom the most noteworthy was probably Luigi Luzzatti, subsequently Prime Minister, so improved Italy's credit position that in 1906 an advantageous conversion of approximately three-fifths of her total indebtedness was carried into effect The conversion involved reduction of the interest rate on Italian consols from 4 to 3¾ and eventually to 3½ per cent, the reduction netting an annual saving of many millions of lire to the Treasury. Responsibility for the success of the conversion was chiefly Luzzatti's, and the resulting favorable credit position and balanced financial state were maintained until the period of World War I

Franchise Reform. Further evidence of political maturity was afforded in 1912 when still another franchise reform was adopted This extended the ballot to Italian males who had reached the age of thirty even though they could not satisfy the existing educational requirement Voting rights were extended to those who, though less than thirty, could satisfy the existing educational requirements, and to those who had completed their military service. The liberal character of the reform bill resulted largely from the insistence of Giolitti who, returning as Prime Minister for the fourth time in the spring of 1911, had scrapped the reform measure of the preceding Cabinet

of Luzzatti which had been considerably more conservative. Franchise reform raised the eligible electorate from something under three millions to something over eight, and placed Italy in the van of the Continental states possessing democratic political institutions

War with Turkey. Mention must also be made of the first military contest with a European power in which Italy engaged after her unification. This was the war against Turkey, begun in 1911, from which Italy emerged victorious in the following year The war was a deliberately willed colonial adventure out of which Italy received the areas still under Turkish sovereignty in North Africa, namely, Tripolitania and Cyrenaica These areas were later combined to form Italian Libya Their conquest contributed somewhat to allay earlier colonial disappointments and particularly the loss of Tunisia to France in 1881 During the Turkish War, Italy also seized and afterwards held Rhodes and other islands comprising the Dodecanese group in the Aegean Her formal title to these islands was finally confirmed in 1923 As we shall see, all these conquests had to be relinquished after World War II

POLITICAL CONDITIONS ON THE EVE OF WORLD WAR I

The Extreme Left and the Socialists. During Giolitti's ascendancy a marked evolution had occurred among the organized political forces of the nation The Republican Party, a group of some influence since the days of Mazzini, had become relatively insignificant, and its closest ally, the Radical Party, had been considerably weakened Supplanting these groups on the extreme Left were the Socialists, whose origins in Italy have already been remarked upon Socialism had greatly increased its parliamentary strength, having seated some seventy-two Deputies in the lower house of Parliament in the elections which followed the extension of the franchise in 1912 Socialism was also able to count upon organized labor for support, having intimate ties with the various Chambers of Labor and other labor organizations The party had frequently supported the government of the day, particularly in the enactment of social legislation, and in its national congresses a strong moderate wing had more than once manifested a disposition to develop a thoroughly gradualist philosophy Two leaders of this wing, Turati and Bissolati, had on separate occasions in 1904 and 1911 been asked by Giolitti to enter his Cabinet Italian Socialism, however, was even more seriously afflicted with doctrinal and tactical controversies than the world body of Socialism, and in 1912 the more radical or "orthodox" elements, aided by Socialists of a Sorelian syndicalist persuasion, seized control of the party, expelled such gradualists as Bissolati, Bonomi, and their followers, and charted for the party a policy of militant noncooperation with middle-class governments The expelled Socialists thereupon organized an independent reformist Socialist group One of the leaders of this swing to the Left was Benito Mussolini, later to become the leader of Fascism and the most bitter opponent of Socialism and all its works [28]

[28] For an account of Socialism up to 1911 see R Michels, *Storia critica del movimento socialista italiano* (Florence, 1926) For later developments see I Bonomi, *From Socialism to Fascism*, trans by J Murray (London, 1924)

The Left and Political Catholicism. Chief support for the Cabinets prior to World War I continued to come from the so-called "Left." In reality this had become a sort of "Right-Center" composed of numerous personal factions to which the title of "party" could be extended only by courtesy. In this area of the political firmament there had gradually come to exist a sizable group of Catholic Deputies. This group had grown up because of the easing of restrictions which official Catholicism had formerly imposed upon political participation, a policy brought about partly by the more conciliatory attitude of Pope Pius X who had succeeded Leo XIII in 1903, and partly because of the Church's fear of Socialism. The organization of a really formidable Catholic political party was not, however, attempted at this time. That effort, as we shall see, was delayed until 1919.

The Right. The old Right of pre-Depretian days had largely passed from the parliamentary scene. Attenuated in number by the Leftward orientation of political life and suffering from the transformist tactics of Leftist cabinets, it had virtually succumbed as an organized political force. On the extreme Right, however, a new group of so-called "Nationalists" had arisen. Theirs was the intolerant, belligerent nationalism of the early twentieth century which contrasted so markedly with the liberal and popular nationalism of the middle of the nineteenth century, the nationalism that inspired the revolutionary movements of 1848. Professedly accepting Mazzini's myth of the nation, these new Nationalists rejected utterly his international tolerance and democratic republicanism; they also had the profoundest contempt for what they described as the political laxness and ineptitude of the liberal politicians of the day. Hierarchy and authority and the subordination of all classes, particularly of labor, to the national will was their ideal of internal polity, and a vigorous policy, involving imperialist competition and war, characterized their views on international affairs. They greatly idealized the former Prime Minister, Francesco Crispi, discovering in the "energy" which he had displayed both in his domestic and foreign policies their own best traditions.[20] These twentieth-century Nationalists began to appear in the Italian Parliament after 1910. Although their group remained numerically insignificant, it was nonetheless destined to exercise an important, albeit evil, influence upon Italy's future, since from the Nationalist group was to come, after 1922, many of the leaders and much of the ideology of Fascism.

Weaknesses of the Liberal Regime. By 1914 national Italy's political system had thus acquired some semblance of maturity and constitutional equilibrium. Nevertheless the system suffered from certain fundamental weaknesses. In the first place, although the Government had a liberal orientation, liberalism as a political faith was largely unknown to the literature of the day. That faith had been popularized by Cavour and the leaders of the *risorgimento*. In the years since their passing little effort had been put forth to describe its evolution as political doctrine. To many the liberalism of Giolitti's day still meant primarily the liberalism of Cavour's day. Forgetting that political and

[20] E. Corradini, *Il Nazionalismo italiano* (Milan, 1914), especially pp. 5–23 and 126 *ff.*

civil liberty had grown up side by side with a considerable amount of public intervention in economic and cultural affairs, there were those in the Italy of 1914 who still spoke of the liberal State as the regime of *laissez faire* envisioned by the classical economists, and as a system of government indifferent to morality, religion, and social welfare

Distrust of Politicians. The parliamentary politicians had also acquired a certain reputation for moral insensibility and cold-blooded political practicality which, it must be confessed, was not unmerited The compromises which transformism encouraged in the construction of cabinets, the wire-pulling, log-rolling, patronage dispensation, and cloakroom politics which accompanied such activity, and the contempt and downright dishonesty which so often characterized the attitude of minister, deputy, and prefect toward elections, all lent credence to the hypothesis that liberalism meant moral decay in political life These practices tarnished liberalism's shield for others than moral absolutists; they encouraged cynicism and political indifference among the masses, and supported the belief, by no means limited to Italy, that government, and particularly parliamentary government, was a game in which the politicians always won.

Liberalism's Dearth of Youth These conditions helped to drive the youth of the nation out of the ranks of liberalism into the camps of those who professed other faiths. Most of them embraced Socialism, many of them were attracted to the brilliant and more glaring light of twentieth-century Nationalism Far too few of the intelligent and the ambitious remained to lend their talents to the existing regime. Even when they did remain, too little use was made of them owing to the tendency of the older politicians to monopolize the posts of power The historian Croce says that Giolitti realized liberalism's dearth of young men, and quite early in his career as Italy's leading politician he tried deliberately to recruit a group of them under his patronage and train them for future responsibilities Croce adds that fortune did not smile on Giolitti's efforts, death claiming some of the recruits in their prime and apostasy overtaking others [30]

If these and other weaknesses of the liberal parliamentary regime did not manifest themselves too clearly before 1914, they were to become all too clear in the stress and strain of World War I and the post-War period In 1919 Don Luigi Sturzo, leader of the Catholic Populist Party, was to sum them up in his oft-quoted phrase, the "crisis of the political class" [31] It might well be added that these weaknesses were not restricted to the later years of the Giolittian period or even to Italy. In the middle of the twentieth century, after two world holocausts, Western civilization, challenged by totalitarian ideologies, was striving to rearticulate its professed ideals of liberalism and democracy and to rekindle enthusiasm for such ideals among a generation that had grown dangerously indifferent to them or at least to the moral and civic responsibilities such ideals impose upon individuals.

[30] *Op cit*, p 216

[31] See his *Italy and Fascismo*, trans by B B Carter (London, 1926), p 59.

CHAPTER II

THE MONARCHICAL PARLIAMENTARY REGIME SUCCUMBS TO FASCISM

ITALY AFTER WORLD WAR I

Democracy's Ebb Tide. As World War I drew to a close, the parliamentary political dispensation was introduced into many new constitutions and re-emphasized in many older documents, and parliamentarism, as the institutional expression of the democratic political faith, acquired an unprecedented vogue. But the vogue was more apparent than real. Comparatively few years were required to convince observers that democracy's post-War gains were illusory; that in large measure they had been artificially propagated by the war aims and wartime propaganda of the victor powers and by the prestige acquired by the domestic institutions of the victor powers. Indeed, as the post-Versailles period unfolded, it became clear that, as far as democracy was concerned, the period was to have an historical significance quite the contrary of what had been anticipated. Instead of advancing the cause of democratic parliamentary institutions, these years were to witness the inauguration of the democratic counter-revolution. Democracy, as a political faith, was to lose much of the dynamism that had sustained it in the nineteenth century, its popular appeal was to decline, and institutional alternatives to parliamentary government, authoritarian in form and spirit and totalitarian in scope, were to become fully elaborated.

Italy Leads the Way to Reaction. Among Western states, the real, as opposed to the apparent, constitutional trend was perhaps best revealed in Italy. Even before the ink had dried on the Treaty of Versailles, the liberal parliamentary regime which Cavour had inaugurated and Giolitti had brought to maturity was encountering such threats to its integrity as only the most courageous and informed leadership could counter successfully. Leadership of that quality, unfortunately, did not exist or did not assert itself. From 1918 to 1922, the Government was conducted by ministries seemingly incapable of preserving a minimum of public order or of giving energy to administration

As a result the State became a prey to contending political factions, and with its authority at low ebb and its internal defenses seemingly paralyzed, the Italian parliamentary regime fell victim, in October, 1922, to one of the most ingenious of contemporary *coups d'état*—the Fascist March on Rome. Although many of the parliamentary institutions and processes survived even that event for another two years, they rapidly lost whatever vitality and practical significance they still possessed. Eventually, in 1925, the instigators of the *coup,* under the leadership of the renegade Socialist, Benito Mussolini, liquidated the remnants of Giolittian parliamentarism and established one of the more formidable of contemporary dictatorships styling itself the "Fascist regime." Brought to maturity during the next decade by Mussolini and his followers and by their imitators, the German Nazis, Fascism became a full-fledged alternative to democratic parliamentarism and the liberal State not only in Italy but elsewhere in the Western world. To be sure, Fascism in Italy fell victim to its own international ambitions, and the regime which Mussolini had elaborated formally disappeared with Italy's unconditional surrender to the United Nations in World War II. But the model of government and society which Fascism developed is still all too viable. Like Soviet Communism, Fascism continues to provide an alternative to democracy—a gruesome political and economic strait jacket for any people incapable of governing themselves or of preserving their civic freedom.

Aftermath of the War. As already suggested, parliamentary decay in Italy after World War I may conceivably be explained, at least in part, by the local impact of revolutionary forces world-wide in scope. At the same time it is clear that the more tangible and immediate causes of that decay were directly traceable to conditions in the peninsula. Most important of these causes was the War itself. Although Italy emerged from that holocaust a technical victor, it was at great cost. Six hundred thousand of her sons had died in camps and battlefields, a million more had been wounded and many of these permanently incapacitated. Her Venetian provinces had been invaded and Italian territory had provided one of the War's great battlegrounds. Production for normal peacetime needs, both in industry and agriculture, had fallen off, owing to the mobilization of man power and productive enterprise for military purposes. Budgetary deficits of the War years, covered by foreign and domestic loans, had raised the public debt to astronomical proportions. The unsatisfactory state of the national finances and the reduction of the metallic coverage for her currency had greatly lowered the value of the lira. Prices had skyrocketed and the cost of living had soared to levels unheard of before 1915. In addition to all this the conclusion of hostilities had left the nation with the problem of reabsorbing some two million conscripts into peacetime vocations, of liquidating the War economy, and of redirecting much of production into normal peacetime channels. In a measure these difficulties afflicted all belligerents; but for Italy, relatively a poor country, they were particularly serious. To cope with them successfully required a degree of political acumen and leadership which, as the event proved, the Italy of 1918 was unable to muster.

The War Divides the Nation. Besides these liabilities, which can be reduced to statistics, the War produced others which, if less tangible, were nonetheless real From its inception, World War I had been unpopular with important sections of the nation's political life Intervention on the side of the Entente had been championed chiefly by nonparliamentary forces, that is, by the Nationalists, military leaders, journalists, certain renegade Socialists, and ardent spirits like the poet D'Annunzio. Parliamentary opinion was strongly antiwar. Giolitti, the veteran political leader, who had been superseded as Prime Minister by Antonio Salandra in May, 1914, had counseled indefinite neutrality, fearful of the exhaustion which might follow a prolonged conflict and confident that the diplomacy of neutrality would pay better national dividends than belligerency Even as late as May, 1915, after the Salandra Government had already committed Italy's fortunes to the Entente cause in the secret Treaty of London,[1] more than 300 Deputies and Senators left their cards at Giolitti's home to express their support of his peace views[2] Organized labor and the bulk of the Socialists were even more firmly committed to neutrality This unfortunate cleavage of opinion over the War persisted throughout the conflict. It undoubtedly contributed to the low estate of Italian morale after a belligerent status had been assumed and helped to bring on the military disaster of Caporetto late in 1917 Even after the national honor had been retrieved at Vittorio Veneto in October, 1918, and Italy and her allies had emerged victorious from the struggle, politicians continued to capitalize the schism engendered by Italian belligerency Socialists and "neutralists" blamed the politicians of the wartime cabinets and the "interventionists" for the social and economic dislocations which came in the wake of war and victory Among the masses, afflicted by the economic uncertainties characteristic of the period, such charges provided moral justification for revolutionary claims and disrespect for law and authority. They also provoked the most savage rejoinder and retaliation on the part of the military and "interventionist" leaders who were thus assailed, and deepened the division of the nation

Instead of reducing the public temperature, the treaties which ended the War increased it Military leaders, "interventionists," and die-hard Nationalists were outraged at the treatment which Italy received at the Paris Peace Conference. With some justice they alleged that Italy's allies failed to honor the territorial pledges given in the Treaty of London[3] Their censures were directed at the wartime and post-War governments and most particularly at V. E. Orlando, Prime Minister at the time of the Peace Conference and one of the "Big Four" at Paris, and at his successor, Francesco Nitti These were charged with diplomatic apathy and with the surrender of Italy's national interests As a symbol of their discontent and of their contempt for the Govern-

[1] Signed on behalf of Italy by Baron Sidney Sonnino, Salandra's Foreign Minister, Apr 24, 1915

[2] Cf G Giolitti, *Memoirs of My Life* (London, 1923), pp 386 *ff*

[3] In the Paris settlements, Italy received only the former Austrian territories of the Trentino and the Istrian peninsula She was denied Dalmatia which the treaty had promised her Nor did Italy share in the distribution of colonial spoils

ment of the day, some of these critics organized a filibustering expedition under the leadership of the poet, D'Annunzio, to occupy Fiume. Though not included in the original Italian territorial demands, this city was ethnically Italian. For months the twentieth-century Garibaldi and his motley followers held the city in defiance of the Italian Government. Theirs was an effective demonstration of the low estate of the Government's prestige and of the impunity with which rebels might defy constituted authority in the peninsula. That demonstration, moreover, was not lost upon the swashbucklers of the Fiume expedition. Some months later they were to provide much of the leadership and inspiration of Fascism's mortal thrust at Italy's parliamentary life.

The War's Effect upon Parliament. To the catalog of influences inimical to Italy's parliamentary life which grew out of the War and its aftermath, one more must be added. This was the atrophy which overtook Parliament's legislative function. Distrusted because of its pacifism, Parliament was seldom convoked during the years 1915–1918; when convoked it was soon prorogued. Italy's legislature was thus denied virtually every normal opportunity to discuss the budget and expenditures and to keep informed on the financial and diplomatic engagements assumed by the Cabinet. The policy of the nation was determined almost exclusively by the ministers without parliamentary consultation, and administration fell into the hands of bureaucratic underlings and army officers. These officials ruled by decree. Allegedly most decrees derived their validity from the statute granting full powers to the Cabinet to conduct hostilities, which Parliament had reluctantly enacted on May 22, 1915.[4] But decrees frequently went considerably beyond the bounds contemplated by the full-powers statute. Nor did the cessation of hostilities witness a revival of Parliament's legislative prerogative. On the contrary, legislation by decree became, as Sturzo well says, "the normal and unchallenged procedure," Parliament frequently enacting full-powers measures which authorized decree legislation in certain civil and penal matters.[5] As late as the summer of 1920, a year and a half after hostilities had ended, when Giolitti assumed the premiership for the fifth and last time, he had made the restoration of the legislative power of Parliament a cardinal point of his platform;[6] even so, before he stepped out of office in 1921 he too had sought a full-powers bill granting the Cabinet the right to reorganize the Civil Service by decree.[7] The simple fact is that, in Italy as elsewhere, the War had accustomed leading politicians to the idea of getting along without parliamentary discussion and debate. They had become habituated to the practice of legislating by decree and found it difficult to restore normal parliamentary authority once the emergency had passed.

Here, then, were some of the major obstacles with which Italian politicians

[4] No. 671, *R. U.* (*Raccolta ufficiale delle leggi e dei decreti*), 1915, III, pp. 2005–2006.
[5] Luigi Sturzo, *Italy and Fascismo*, trans. by B. B. Carter (London, 1926), p. 77.
[6] Giolitti, *op. cit.*, p. 415.
[7] *Ibid.*, p. 446.

had to contend in their effort to restore the constitutional life of the Italian parliamentary State following World War I If not hopeless, the outlook for restoration was at least precarious At any rate, it is not surprising that, in the vicissitudes of the immediate post-War political struggle, these obstacles should have turned the scales against survival and helped to ensure the success of the Fascist *coup d'état*

THE TREND TO THE LEFT (1919–1920)

Formation of Populist Party. As might be expected in view of some of the conditions just described and the universal trend of the period, political life in Italy, following the Armistice of 1918, took a course far to the Left In January, 1919, a new party, called the Catholic *Popolari* or Catholic Populist Party, was formed under the leadership of Luigi Sturzo, who was both a priest and the Syndic of a Sicilian commune Although independently organized and possessing no direct connection with the Church, the new party was clearly dominated by clerical influences and represented the culmination of the tendency, noticeable after 1904, toward active participation of the Catholic laity under clerical auspices in the politics of the Italian State For some months after its formation the Populist Party was only indirectly represented in the Italian Chamber, that body, elected in 1913, having continued, like the Parliaments of other belligerent states, beyond its legal term But in the elections of November, 1919, the first to be conducted under a system of proportional representation and universal suffrage for all adult males, the Populists secured 100 seats They thus had nearly a fifth of the voting strength of the Chamber and became that body's second largest party. The Populists were pledged to far-reaching political and social reforms They demanded woman suffrage, political decentralization and regional self-government, guarantees for the integrity of religious schools, extensive social-welfare and labor reforms, legal protection for small landholders, and the establishment of peasant proprietors on the southern *latifundia*.[8] Although this program was decidedly Leftist and reformist in character, the Populists, restrained by the Church's respect for law and order, were necessarily pledged to secure it by orthodox constitutional means

Revolutionary Tendencies of the Socialists. No such restraint affected Socialism, the other organized force on the Left which now shared with Catholic Populism a preponderant influence on Italian political life Opposed to the War, Socialist leaders nevertheless regarded its dissolvent effects upon society as providing them with an excellent opportunity for applying their theories of social and economic transformation The Socialist Party had been deeply affected by the success of the Bolshevik Revolution in Russia, and although the old right wing led by Turati, Treves, and Modigliani did not think that Bolshevism afforded any precedents for Italian Socialism, the more numerous and therefore preponderant radical wings, led by Lazzari, Gennari,

[8] Cf Sturzo, *op cit*, p 91

and Graziadei, wished to profit by the Russian example and apply the same direct and violently revolutionary tactics which had availed Lenin in overcoming Kerensky and establishing the Soviet regime

They Adopt a Campaign of Direct Action. Hence as soon as the Armistice of 1918 had been concluded and wartime restrictions on political activity had been lifted, Socialism began an earnest campaign to bring the "revolution" to Italy Strikes and industrial disorder became chronic, public services were tied up, riots multiplied in the streets, and the military and police were insulted and often assaulted In the agricultural districts along the Po, Socialist leagues and labor leaders acquired a virtual monopoly of the supply of farm labor, dictating to the landowners and agricultural operators under what terms labor might be hired and under what conditions produce might be harvested and marketed Destruction of the owner's property was the punishment for anyone who refused to abide by the regulations thus set forth The ostensible purpose of these tactics to improve the economic position of labor but imperfectly veiled the wider aim of overthrowing or greatly modifying the existing capitalist structure of society

Socialist Electoral Gains. In the national elections of November, 1919, the same in which the Catholic Populists received 100 seats, the Socialists obtained 156, thereby becoming by far the largest single political unit in the Chamber In collaboration with other groups they might have done much to establish the supremacy of the working classes by law Dedicated, however, to a policy of direct action, they scorned any form of parliamentary collaboration with "bourgeois" groups, preferring instead to obstruct parliamentary deliberation, and to practice political blackmail upon the various cabinets of the day In the local elections of the following year they were also immensely successful, no less than 2,000 communes, located chiefly in the North, returning Socialist majorities to their councils. Here Socialism used its power to inaugurate or to strengthen municipally socialized or cooperatively organized services, thereby stimulating the wrath of the private entrepreneur and the taxpayer

The Factory Seizures. The crisis of Socialism's policy of direct action came with the occupation of various factories by the workmen in September, 1920 On August 30, following the threat of a strike among some of the more specialized workmen of the Romeo foundry in Milan, the owners ordered a lockout Fearing that lockouts would spread to other industries, leaders of labor counseled all workmen in Milan to remain at their posts on the following day and not leave the factory premises Thus began what is probably the first "sit-down" strike in modern industrial history The example thus set spread to other industrial cities of northern Italy and even to certain industrial centers of the South Relying upon supplies brought to them by sympathizers on the outside, the workmen barricaded themselves in the various plants which they had seized, organized committees of factory management, and in some cases actually operated the plant under their own auspices. The more radical labor and Socialist leaders looked upon the development as the first stage of

the "revolution" which would expropriate capital and inaugurate the Soviet State, and the operators frankly feared for the future

End of Factory Seizures. Had the leaders of the workmen been more resolute, the situation might easily have precipitated a sanguinary civil conflict But the revolutionary tide had already turned and more moderate elements were in command In a plebiscite conducted on September 11 to determine whether the strikers should negotiate with the employers or hold out indefinitely, a sizable majority voted for negotiation. Several days later the Government promised to require by law the establishment of workmen's councils in the factories, with the right of representing labor before the management This, coupled with a slight wage concession, broke the back of the "sit-down" strike, and by the end of September all the occupied factories had been evacuated and a relatively normal situation had been restored [9]

Decline of Socialist Revolutionary Threat. The end of the factory occupations also marked the end of the Socialist revolutionary threat To be sure, the party was still a power in Parliament and in the communes, and in Parliament it persisted in its policy of noncollaboration But its revolutionary fervor was spent, partly because its leaders had not dared to take the final step when the opportunity had presented itself in September, partly because reports filtering back from the party's own emissaries to Russia painted a gloomy picture of the Soviet paradise Socialism's erstwhile unity as a political organization was now also destroyed. In January, 1921, on orders from the leaders of the Third or Moscow International (Comintern) who were disgusted with the tactics of the Italian right-wing Socialists in the factory occupations, the extreme left wing of the party, led by Graziadei, seceded to form a separate Italian Communist Party A middle group, calling themselves Maximalists, led by Lazzari, and the right wing of Reformists, led by Turati and Modigliani, continued an uneasy partnership for a little longer Eventually on October 13, 1922, these too parted company, the Maximalists taking the name of the Italian Socialist Party while the Reformists became the Unitary Socialist Party.

COUNTER-REVOLUTION AND THE EMERGENCE OF FASCISM (1920–1921)

Reaction of the Propertied Classes. But although historians may now conclude that the Socialist revolutionary threat was definitely ended after September, 1920, such knowledge was not vouchsafed to contemporaries To the Italian middle class—to the industrial magnate, the landed proprietor, and even the small shopkeeper—the factory occupations, far from seeming like the zenith of Socialist revolutionary activity and the beginning of its decline, appeared to be a certain harbinger of a Bolshevist *coup* An attitude of resistance to Socialism, which had been gradually hardening in the months after World War I, now ripened into resolution It was an attitude of resistance quite

[9] For a good account of this episode see E A Mowrer, *Immortal Italy* (New York, 1922), pp 306 *ff*

as contemptuous of law and duly constituted authority as the Socialists themselves had displayed All that was needed to give it effect was an organized movement and a leader These were quickly forthcoming. The organization was Fascism; the leader, Benito Mussolini

Mussolini: His Early Career. This man, destined within a few years to become the dictator of Italy and to hold that position until 1943, had had a most versatile, if not chameleon-like, political career At quite an early age he had chosen Socialism as his politics and journalism as his vocation His Socialism was of the more intemperate brand, stemming from the revolutionary syndicalism of Sorel, and he had nothing but contempt for the easy-going moderates of the party In 1912 he had been one of the leaders in ousting such moderates as Bissolati and Bonomi from the party and was rewarded for his intransigence by being made editor of *L'Avanti,* the leading Socialist journal The outbreak of World War I, however, found Mussolini preaching Italian intervention on the side of the Entente, in direct violation of the party's official stand of neutrality For his political contumacy he was ousted from both the party and *L'Avanti* After a brief term of service at the front he was invalided home early in 1917 and founded his own newspaper, *Il Popolo d'Italia,* in Milan In that organ he championed that peculiar combination of chauvinism and social revolution which, however incompatible as actual public policies, became the principal formal ingredients of the official doctrine of Fascism at least in the early stages of that movement

Apparently the first step in organizing Fascism took place in March, 1919, in Milan when Mussolini created his first *Fascio di Combattimento,* or fighting band Like Mussolini himself, the fifty-odd individuals who became members of this *Fascio* were chiefly renegade Socialists and demobilized soldiers Some were veterans of the Fiume expedition and other ventures in "direct action " In the new movement's first manifesto, Mussolini advocated an ultra-democratic franchise, various advanced forms of social insurance, an eight-hour day, worker participation in factory management, and a capital levy His Socialist faith, thus indicated, did not falter during the early part of 1920 He justified seizure of the land by the peasants, and somewhat guardedly supported the workmen in their seizure of the factories

He Leads the Reaction against Socialism. Gradually, however, his Socialism became more tepid He began to assert that the organized Socialist Party was going too far, and his denunciations of the Socialist leaders knew no bounds By the end of 1920, as Salvemini says,[10] he had ceased to call these leaders ineffectual revolutionaries and had begun calling them dangerous Bolsheviks At the same time, Mussolini began vigorously expounding nationalism, the other facet of his post-War political faith The only practical explanation of this *volte-face* seems to be that Mussolini's *Fasci* were rapidly filling up with middle-class youth seeking vengeance upon the Socialists, and Mussolini, opportunist *par excellence,* saw that political success lay no longer along the revolutionary path of Socialism but along the revolutionary path of

[10] *The Fascist Dictatorship in Italy* (New York, 1927), pp 52–53

bourgeois anti-Socialism.[11] At all events, by the autumn of 1920 his *Fasci* had become the sword and buckler of the counter-offensive against Socialism. In the principal cities and towns of the North, Fascist squads of young hooligans armed with castor oil, clubs, and more lethal weapons assaulted and sometimes killed Socialists and workmen, and looted and wrecked the headquarters of their political organizations, their cooperatives, and their newspaper offices. The town halls of many of the communes which had been won by the Socialists in the elections of 1920 were occupied, and the Socialist syndics and councilmen forced to resign their posts. The Fascist squads also extended their operations to the countryside, terrorizing the agricultural laborers and their organizers. In many areas violence approached the status of civil war when the attacked Socialists and workers struck back. Almost everywhere, however, the Fascists won, partly because their victims lacked leadership and morale, partly because the Fascists were aided financially and otherwise by middle-class elements and by the but poorly concealed sympathy of the police and military.[12]

POST-WAR PARLIAMENTARISM

The Nitti and Giolitti Cabinets. During this period of civil strife the Italian Government pursued what amounted to a policy of political *laissez faire,* apparently preferring to allow the storm in the country to take its own course and hoping that it would eventually blow itself out. On the fall of Orlando, in June, 1919, following his disappointing performance at the Paris Peace Conference, the seals of office were entrusted to Francesco Nitti. His accomplishments were virtually nil. Torn between the Left and the Right, he found it difficult to maintain the prestige, let alone the authority, of the Government. The Nationalists prevented him from taking effective action on the Fiume question; the Socialists would not permit him to lower the wartime bread subsidy which was ruining the Treasury and aggravating the current inflation. Though augmented by a new force of 25,000 so-called Royal Guards, the police were incapable of maintaining order. Even the universal male suffrage law and the proportional electoral system, which the Nitti Cabinet introduced, represented concession to Socialist pressure rather than the Cabinet's own deliberate policy. After several unsuccessful efforts to relinquish his office Nitti was succeeded, in June, 1920, by Giolitti, the parliamentary wizard of pre-War days. This Government, Giolitti's fifth and last, remained in power until July, 1921, and thus covered the period of the factory occupations and the middle-class revolt against Socialism. Toward both these happenings the new Prime Minister followed Nitti's policy of neutrality, although there is some evidence that his neutrality toward the Fascists was benevolent. Nevertheless, Giolitti did succeed in reasserting, in a measure, the authority of the Government and in carrying out certain important and

[11] For Mussolini's early career see his *Autobiography,* trans. by R. W. Child (New York, 1928), pp. 1 *ff.*, see also Herman Finer, *Mussolini's Italy* (New York, 1935), pp. 98 *ff.*

[12] For an account of the middle-class counter-revolution, see Salvemini, *op. cit.*, pp. 46 *ff.*, also Mowrer, *op. cit.*, pp. 344 *ff.*

necessary political decisions. Most important in this connection was the work of Giolitti's Foreign Minister, Count Sforza, in establishing a definitive post-War boundary with Yugoslavia and disposing of the Fiume issue by making that port a free city [13] A brief naval demonstration on Christmas Day, 1920, quickly disposed of any objections which D'Annunzio and his Nationalist allies might have had to this settlement, and finally terminated the "Fiume occupation."

Elections of 1921. With affairs proceeding in this tolerable fashion, Giolitti, in April, 1921, unwisely decided to dissolve Parliament and order new elections By combining the parties of the Right, including even Nationalists and Fascists, in single lists under the new proportional electoral law, he hoped to reduce the power of the Socialists and even of the Populists and gain allies for his own parliamentary cohorts. But his strategy miscarried In the elections held in May the Socialists, including the new independent Communist Party, lost only 21 of their 156 seats in the previous Chamber, at the same time the Populists increased their mandates from 100 to 106 In addition the Fascists, benefiting by their association with Giolitti's lists, secured a delegation of thirty-five Deputies, their first in any Italian Parliament, and, contrary to Giolitti's expectation that he could make them submissive allies, the Fascists assumed an attitude of extreme intransigence on the far right of the Chamber. Victim of his own miscalculation, Giolitti subsequently resigned (June, 1921)

The Problem of Giolitti's Successor. In retrospect it is clear that the retirement of the old liberal leader marked the end of an epoch in Italian parliamentary life. The elections of 1921 had merely confirmed the verdict of the previous elections of 1919, namely, that preponderant power in Italian politics had passed from the old conservative liberal groups to the newer parties on the Left—the Catholic Populists and the various Marxist groups. Because of this shift it was no longer possible for Giolitti and his lieutenants to rely on the old Left for governing majorities as they had for a generation If a sturdy parliamentary authority was to come into being in post-War Italy it was necessary that one of two possible developments take place either Giolitti must assimilate the new forces on the Left to what remained of the historical parties and develop a broader coalition, or, what seemed more likely, a new parliamentary broker must arise who would succeed in welding the new political forces into coherent majorities In any case it was clear that parliamentary life in Italy must pass through a period of radical readjustment, and that anything resembling parliamentary normalcy would be unlikely until the new pattern of partisan coalition and leadership had been elaborated

Unfortunately this problem of providing a successor to Giolitti proved to be unusually complicated. Protracted negotiations brought a solution no nearer, and it was soon evident that more than a few months must elapse before issues could be adjusted and some of the major differences among lead-

[13] The status of "free city" thus imposed upon Fiume proved no more satisfactory than the same status imposed upon Trieste a generation later In 1924, Fiume was incorporated into the Italian Kingdom For a description of these diplomatic negotiations, see C Sforza, *Makers of Modern Europe* (Indianapolis, 1928), pp 244 *ff*

ing personalities could be resolved. The conservative liberal politicians, who still hailed Giolitti as their chief, were understandably loath to face the consequences of political change and give up their former position of primacy. Catholic Populists, that element among the new parliamentary forces which by temper and policy was closest to the older liberal forces, found alliance with them impossible because their leader, Luigi Sturzo, distrusted Giolitti, allegedly because of the latter's anticlericalism, and would agree to no Cabinet which Giolitti might lead. Alone, moreover, the Populists were hardly capable of governing since, numerous as they were, they did not yet possess that virtual preponderance in Parliament which they were to secure a generation later under de Gasperi. Socialism, the other important segment of the new Left, was riven by the usual Marxist doctrinal schisms and afflicted with numerous secessions. As we have seen, moreover, it had frittered away its opportunity to provide serious leadership by espousing a sterile policy of direct action. In Parliament it had indulged in the favorite Marxist tactic of noncollaboration with other parties and general obstructionism, behavior that hardly persuaded observers that Socialism was ready to assume the responsibilities of political leadership. In time, the more moderate elements in the Marxist ranks would claim a place in a governing coalition of broad political scope, but for the immediate future, Socialism was even less prepared to govern or to share in the Government than Populism.

Prolonged Parliamentary Crisis. More than a year elapsed after the fall of Giolitti's last Cabinet before the politicians began to make serious efforts to solve the parliamentary impasse and bring about a durable democratic coalition. In August, 1922, for example, Turati, leader of the Reformist Socialists, went to King Victor Emmanuel with a plan for a concentration Cabinet along the broadest political lines. Given a few more months, the problem of the succession might have been resolved in an orderly manner and Italy vouchsafed another generation of parliamentary rule. But the crisis had already persisted overlong, and "caretaker" Cabinets, in whom authority nominally reposed while the leading political figures jockeyed for short-term advantages, did little more than go through the motions of governing. Their lack of any policy, their failure to enforce order or command respect for law, and their apparent inability to cope with the administrative paralysis that gripped the Italian State, had brought parliamentary government to its nadir in public esteem. Cabinets had become a laughing stock and the butt of bitter satire, people had become weary of political incompetence and official timidity, and many responsible elements in the nation concluded that Parliament and its parties were truly an impossible muddle.[14]

THE FASCIST COUP D'ÉTAT

Mussolini and the Problem of Giolitti's Successor. Evidence that resolution of the parliamentary crisis had been delayed too long and an earnest

[14] For a good account of the parliamentary crisis and its historical significance, see F. L. Ferrari, *Le Régime fasciste italien* (Paris, 1928), pp. 36–43.

of the penalty Italy was to suffer for this delay now became apparent in the machinations of Mussolini and his Fascists Intent upon fishing in troubled waters, as are all opportunists, they began to exploit the parliamentary stalemate and prevailing public dissatisfaction to further their own ends Mussolini seems to have realized even more clearly than other politicians that the succession to Giolitti was the great issue Indeed the vacuum in the government, resulting from the decline of the pre-War liberal groups, had intrigued Mussolini from the very first days of his post-War political career; and whether he was fighting the middle class in the name of his own brand of Socialism, or orthodox Socialism in the name of the middle class, his paramount concern had been to fill this vacuum with his own political following For a short time during the spring and summer of 1922, Mussolini appears to have given thought to achieving his goal through orthodox parliamentary channels His *Fasci* had been welded into a national Party, the *Partito Nazionale Fascista,* in November, 1921 This organization enabled him to exercise disciplinary control over the thirty-five Deputies who had been elected under the Fascist banner earlier in 1921 Although a decided minority, these Deputies gave him the status of leader of a parliamentary group and a degree of bargaining power among Parliament's other political leaders, and one or two projects embracing Mussolini's participation in a coalition were actually broached early in 1922

Mussolini, however, wanted dominance, not participation, and it soon became apparent, to him at least, that the policy of "parliamentary legality" would never give him such dominance. After a brief interval, therefore, Mussolini gave up his incipient parliamentarism and had recourse again to the policy in which his movement had been nurtured. This was the policy of direct action, that is, the policy of using private armies, street demonstrations, and mob violence, culminating, as and when the occasion warranted, in insurrection and the *coup d'état.* Although demonstrations against left-wing labor leaders and Socialist politicians continued, Mussolini's primary objective was no longer to extirpate "subversives" but to destroy existing public authority and then seize the Government In other words, in the late summer of 1922, Mussolini made the classic "about-face" of so many self-appointed vigilantes who, at the outset, use illegal means to protect society and the State against alleged "subversives," but subsequently turn upon the State itself [15]

The March on Rome. Against this revived policy of direct action the parliamentary State, weakened by the year-old crisis, succumbed with startling suddenness Mussolini was an astute director of strategy and rarely failed to seize an advantage He strengthened Fascism's connections with the military, established during the days of the "Fiume expedition" and made stronger still during the period of Fascism's "War on Bolshevism " The resulting fraternization between army chiefs and heads of the Fascist squads and the benevolent and approving attitude of the army towards Fascist violence and law-breaking were nothing short of scandalous. Mussolini also recanted his former repub-

[15] For Mussolini's own account of this change of tactics see his *Autobiography,* trans. by R W. Child (New York, 1928), pp. 164–165

licanism, thereby recommending himself still more emphatically to the military and making himself *persona grata* with the House of Savoy Then, on October 27, 1922, came the *coup d'état* in the form of the so-called "March on Rome." From various parts of the peninsula a motley array of several thousand Fascist partisans, most of them armed hooligans making up the so-called Fascist "action squads," converged upon the Eternal City. Their presence at or near Rome was a direct threat to the safety of the Government and constituted nothing less than insurrection Mussolini, who awaited developments at his newspaper office in Milan, confidently anticipated that this culminating phase of his policy of direct action would bring the faltering Government to its knees and result in the King calling him to the premiership

The Government Capitulates. Had the Government acted with courage and determination, Mussolini's hopes might well have been foiled even at this late date Instead there was vacillation and weakness Some authorities feared that resistance to Fascism would be useless—that victory for Mussolini was certain Apparently a few within official circles were openly sympathetic to the Fascist leader and the cause he was thought to represent—or they concealed their sympathy with difficulty. The existing Cabinet, headed by the colorless and ineffectual Luigi Facta, demanded on October 27, and again on the following day, that a state of siege be declared and that the Fascist bands or squads be treated as insurrectionaries, but King Victor Emmanuel, fearful of resistance to Mussolini or, as some have suggested, not unsympathetic to Fascist aims, violated constitutional practice and refused to sign the appropriate decree Instead, on October 29, following the failure of former Prime Minister Salandra to form a Cabinet which would have included the Fascist leader, the King called upon Mussolini himself to form a Government, and on October 30 appointed him Prime Minister [16] Thus Mussolini made good his *coup d'état*. the liberal parliamentary regime in Italy succumbed to the revolutionary pressure of those who had defied authority with impunity and had exploited the freedoms of the liberal State to secure a political monopoly To be sure, the parliamentary regime which had thus died in Italy was relatively weak because it was in the throes of readjustment Even so, the fundamental threat to free government, implicit in Fascism's victorious tactics, should have served as a warning to the supporters of free institutions everywhere and alerted them effectively against the danger of subversion Instead, the sanguinary events in Italy were merely the preface to a long series of parallel developments in other parts of the world where the story of parliamentary destruction varied but slightly from the pattern which had served the Fascist leader so well

EPILOGUE

Pseudo-Parliamentarism. Developments in the months immediately following the *coup* were almost anticlimactic For a time at least Mussolini apparently toyed with the idea of ruling with a semblance of parliamentary legal-

[16] For some of these developments, see Sforza, *op cit*, pp 319 *ff*

ity. His Cabinet, although preponderantly Fascist and Nationalist, included representatives of all other parties save the Marxists For this Cabinet he sought and obtained Parliament's vote of confidence and a bill which gave him and his ministerial colleagues the power to rule by decree for a year Although he made it clear that he expected Parliament to withhold criticism and "cooperate" with him, he promised to render it an accounting of his extraordinary powers after a suitable interval. What Mussolini seems to have had in mind was a regime in which he might enjoy the reputation of ruling with the people's representatives without rendering them any accounting save as he chose and on his own terms. Like every actual or potential dictator of history, he sought the approval of public opinion but denied that he was accountable to its forums.

Revival of Opposition. Pseudo-parliamentarism of this type could not last. Among other reasons why it could not was the fact that the vigilantist tradition was much too thoroughly engrained in Mussolini and his followers having come to power by force and violence, it was inevitable that they continue to rely upon these same resources to keep themselves in power Moreover the Deputies, though "cooperative" at the outset because they had been cowed by the *coup,* soon retrieved their self-confidence, and, even though represented in the coalition, they began to act in their accustomed manner, openly criticizing the Government's leadership. With increasing vehemence they began also to demand an end to Fascist illegality.

Electoral Changes and the Elections of 1924. Mussolini thereupon sought to make Parliament more tractable by changing its composition in such a manner as to give Fascism a majority. To this end, by cajolery, threats, and appeals to the prejudices of the Conservatives, he forced through Parliament in July, 1923, a new electoral law—the so-called "Acerbo Reform." This provided that any party which received at least 25 per cent of the total vote in a national election would be assigned two-thirds of the seats in the Chamber, the remaining seats to be distributed proportionally among all other parties This new law was applied to the elections of April 6, 1924, and with the benefit of considerably more than the usual amount of electoral corruption and the peculiar administrative pressure at the polls in which the Fascists were especially competent, the law produced an electoral result which measured up to Mussolini's most optimistic expectations After the votes had been officially counted two-thirds of the Deputies owed allegiance to the Fascist Party

Continued Opposition: The Matteotti Affair. Nevertheless, in a short time even such a Parliament became a thorn in the flesh of Mussolini's political ambition Opposition criticism and censure, though supported now only by a minority, compensated for the relative lack of volume by becoming increasingly bitter and denunciatory Criticisms were aimed particularly at Fascism's electoral corruption and the illegal activities of its vigilantist squads Especially scathing was the historic speech of the Socialist Deputy, Giacomo Matteotti, on May 30, 1924, in which he declared that Fascism's majority had been obtained by fraud, intimidation, and violence and that the Party, conse-

quently, had no right to represent the nation The sequel to this philippic was the kidnapping and murder of its author by a gang of Fascist hooligans who apparently acted with Mussolini's connivance

From Pseudo-Constitutionalism to Dictatorship. Matteotti's murder laid bare the political depravity of Fascism, its total lack of moral resource, and its inevitable reliance on force and intimidation in order to maintain its political ascendancy. This historic political crime made it clear that the hybrid parliamentary regime with which Mussolini sought to govern after his *coup d'état* was no longer a practical possibility even with the opposition parties reduced to a minority. A public aroused by the murder of the Socialist orator demanded that the malefactors be brought to justice, that Fascist vigilantism cease, and that constitutional order be restored The entire parliamentary opposition absented itself from the Chambers, figuratively withdrawing to the Aventine Hill, as did the plebeians of ancient Rome, there to await surcease from tyranny. Opposition to Fascism in the press and in the country at large grew by leaps and bounds; and all the elaborate promises made by Mussolini to reform his Cabinet, punish Matteotti's murderers and curb the violence of his black-shirt squads did not serve to appease. By the autumn of 1924, two years after his *coup*, the fraud and violence in which his regime had been born and nurtured had caught up with him Thereafter he had a clear choice either give up his primacy in the Government and restore constitutional rule or frankly embrace arbitrary power and force as the basis of existence for his rule He quickly made the latter choice In a series of speeches early in 1925, Mussolini openly acknowledged responsibility for the political conditions which led to the murder of Matteotti and virtually declared it to be an historic necessity At the same time he openly defied political opposition from any source, clamped a complete censorship upon the press, outlawed the "Aventine Opposition," as the seceding Deputies were popularly known, and made it unmistakably clear that he was inaugurating an era of essentially personal, and certainly arbitrary, rule.

CHAPTER III

THE FASCIST INTERLUDE

Once Mussolini had frankly broken with the past and set his course in the direction of personal government, steps were quickly taken to make the instrumentalities of legislation and administration more amenable to Fascist control and to develop uniquely authoritarian instruments of persuasion and coercion Even so, the process of transforming governmental organs according to peculiarly Fascist principles remained a gradual one One reason for this lack of zeal in transforming the government was Fascism's desire to retain the aura of respectability and legitimacy implicit in the persistence of such organs as the Kingship and the Senate Another, more important, reason was Fascism's opportunism. In the early years, at any rate, the Fascist leaders appeared to care relatively little for constitutional forms so long as they were politically in the driver's seat The Party had no political or constitutional theory of any consequence and no developed conception of the form of the State Such ideas came gradually in response to some practical need of the Fascist propagandists Not until 1939, on the eve of World War II, did Mussolini and his sycophants suggest that the Fascist State had achieved a final and, in their opinion, a durable form By that time, the Fascist State had indeed become a rather formidable structure In part it was composed of certain institutions inherited from the former regime modified as Fascism required To these had been added numerous instrumentalities derived from the Fascist Party itself and from the apparatus of public economic control which Fascist doctrinaires had come to call the "Corporate State " Then, too, there were organs such as the secret police and special judicial tribunals and other instrumentalities of coercion peculiar to any contemporary dictatorship National and social objectives of this apparatus of the regime and its *raison d'être* were identified by an ideology which was also brought together and polished into semicoherent form in the years between the March on Rome and World War II This chapter will identify Fascism's institutions in greater detail, particularly as they stood on the eve of their abolition in 1943

ANATOMY OF THE FASCIST DICTATORSHIP

The Dictator's Office. Fascism's most characteristic political instrument was Mussolini's personal dictatorship. His pre-eminence as the political leader *de facto* was matched by a formal constitutional recognition of his primacy throughout the entire political system. Authority of every kind—executive, legislative and administrative—was made to converge upon him or to radiate from him; and traditional nineteenth-century conceptions of separation of public powers and the autonomy of judicial and administrative agencies were entirely disregarded. The dictator's most important office was that of Head of the Government (*il capo del governo*). Under that title he exerted general control over the entire administration, directed and coordinated the activities of the various Ministers of State, settled disputes among them, and countersigned all their important acts. Not content with his formal power over the Ministers, Mussolini frequently assumed several ministerial portfolios himself. On one occasion he assumed as many as seven, although he was usually content with three or four, these including the defense Ministries and the Ministry of the Interior through which he controlled the police and other internal security agencies. The Ministers were indeed his puppets whom he appointed and removed at will. Frequently he would reconstitute the entire Cabinet, shifting individuals from one post to another, appointing some to positions outside the administrative departments or quite arbitrarily retiring still others to private life. This was the Fascist practice of "changing the guard." It resulted normally (though not invariably) from the exercise of the personal discretion or caprice of the dictator and was in no way comparable to the changes of ministries brought about in *bona fide* parliamentary regimes by a dissolution of parliamentary majorities. Mussolini also acted as President of the Council of Ministers, thus serving as the Ministers' conciliar, as well as their administrative, chief. In that role he fixed the agenda for collective discussions, limited the length of such discussions and controlled their tenor, and cast the deciding vote if a vote was cast.

Mussolini Controls Entire Governmental Apparatus. Mussolini's formal authority in the Government was by no means restricted to these traditional executive and administrative areas. As Head of the Government he became the *ex officio* head of a great variety of judicial, administrative, and deliberative tribunals. He played the leading role in the apparatus of the so-called "Corporate State," to be described later,[1] and officially controlled the agenda of the Fascist legislative establishments. As Duce of the Fascist Party, moreover—an office which gradually acquired public status—he exercised decisive authority over the whole Party apparatus including such Party councils as acquired a public character. Among the more important of these was the Fascist Grand Council, made up of Fascist "bigwigs" and the principal organ in the Party hierarchy after the Duce himself. Partly because of its composition and partly, as will be noted later, because it acquired important

[1] See p. 264

policy-making and constitutional prerogatives in the Government, the Grand Council took precedence over all conciliar governmental agencies

Absence of Legislative or Other Control. Confirmation of the dictatorial nature of Mussolini's system was to be discerned not so much in the vast scope of authority committed to him as in the complete absence of effective means for holding him accountable for his political acts The statute which created the office of Head of the Government specifically exempted him from control by Parliament. At the same time the statute abolished the historical parliamentary privileges of voting censure and lack of confidence in a Minister, so characteristic of the *bona fide* parliamentary period in Italy Even the parliamentary privileges of interrogating and interpellating the Ministers were rendered meaningless by the statutory stipulation that the parliamentary order of the day, or agenda, should contain no matter of which the Head of the Government had not previously approved

Fascism and the Kingship. Mussolini remained responsible to the King, but this responsibility was purely nominal In signing the decree making the Fascist leader Prime Minister, Victor Emmanuel III rendered Fascism a signal service The Fascist Party was clearly indebted to him and apparently the King became the regime's not unwilling pensioner. He helped to legitimate Fascist rule and voluntarily exploited the symbolism and pageantry inherent in the royal office to make Fascist authority more palatable to the masses. Nominally the royal prerogatives, as limited and defined in the Albertian *Statuto*, remained intact; but they were without practical significance in holding Fascism accountable for its acts In fact, throughout the Fascist period, the direct personal authority of the King in the Government was virtually nil Victor Emmanuel exercised no personal influence upon affairs unless it suited the Fascist politicians or propagandists to give weight to what he said or did To be sure, on July 23, 1943, the King signed the decree of the Grand Council which deposed Mussolini; but the King apparently contributed less toward the initiation of this act of deposition than he had toward the earlier act which elevated the dictator. On the whole, the opinion of most Italians that the King and the monarchy suffered from more than a bare taint of Fascism, an opinion implicit in the vote of 1946 to oust the House of Savoy and establish the Republic, was probably in accord with the weight of the evidence.

FASCIST LEGISLATIVE CHAMBERS

Modification of the Chamber of Deputies. To obscure the nakedly autarchic character of its authority, the Fascist regime, like so many dictatorships, historic and contemporary, sought to implement itself with a plethora of conciliar bodies nominally exercising decisive, or at least significant, political powers Probably the most interesting of these was the Fascist substitute for a *bona fide* parliamentary representative assembly In the course of achieving such a substitute, the Chamber of Deputies, lower house of the pre-Fascist Parliament, underwent several changes in composition and structure and finally disappeared altogether.

It will be recalled that the Chamber elected under the so-called Acerbo electoral reform[2] was two-thirds Fascist, with the secession of the Aventine minority, these Fascist Deputies continued to serve as a rump Chamber until 1929 and did yeoman service in enacting most of the basic Fascist legislation.[3] For a decade after 1929 the Chamber was the product of a plebiscite in which the electorate, behaving with such unanimity as only authoritarian governments can or wish to secure, formally ratified a slate of 400 Deputies The slate consisted of tried and true Fascist Party henchmen, actually nominated by the Party chiefs although ostensibly the product of an elaborate nomination procedure in which not only the Fascist Grand Council, but a great variety of local bodies, economic, cultural, and moral, participated The Chamber resulting from this process was superlatively Fascist, still it did not satisfy the Party doctrinaires who now proceeded to abolish the very name "Chamber of Deputies" and replace it with "Chamber of Fasces and Corporations." This formidable nomenclature was to identify an assembly in which were combined ideas derived from what were alleged to be the major springs of the regime's constitutional thought, namely, the Party and the so-called "Corporate State"[4] The membership of this super-Fascist creation consisted of about 600 National Councillors designated to serve from the membership of the two highest Party councils, that is, the Fascist Grand Council and National Council, and of the National Council of Corporations, supreme body in the machinery of public control which Fascism had erected over the national economy Terms of the National Councillors coincided with whatever period of service they enjoyed in the constituent body from which they had been chosen Needless to say, designation of the membership of this new legislative Chamber was made without benefit of elections, even of a plebiscitary nature; Fascism had finally abolished all elections

The Fascist Senate. As respects the Senate, or upper Chamber, of the pre-authoritarian Parliament, no formal changes in the rules governing recruitment of its membership were made, hence, in a formal sense at least, the Senate, like the monarchy, represented institutional continuity in the governments of Fascist and pre-Fascist Italy Apparently the Fascists refrained from changing the rules of the Senate's membership partly because sizable groups in that assembly had, from the first, evinced Fascist leanings, partly because the traditional method of selecting Senators from twenty-one categories of candidates, explained earlier,[5] and the Senators' life tenure accorded with Fascism's authoritarian mood Moreover, since there was no limit to the number of Senators which the Fascist regime might itself appoint, and since the comparatively high death rate among the elderly incumbents caused a fairly rapid turnover in membership, it was not long before the Senate's political complexion became overwhelmingly Fascist In 1939 the regime had appointed about three-fourths of the 400 members, and except for some half

[2] See p 252
[3] For relevant citations on this legislation, consult the first edition of this book, pp 623 *ff*
[4] See p 264
[5] See p 223

dozen dissidents like Count Carlo Sforza, who was living in exile, the Senate counted no one in its ranks unwilling to profess his solidarity with the regime—at least in public.

Servile Nature of Fascist Parliament. What thus finally emerged as a triumph of Fascist constitutional art was one of the most servile deliberative assemblies that any dictatorship has ever devised Only those of Hitler's Germany and Stalin's Russia are comparable. For practical purposes, plenary sessions of the two Chambers were abolished and such legislative service as they were called upon to render was performed by the parliamentary commissions Of these, there were thirteen in the lower Chamber and eight in the Senate Ministers of the Government submitted legislative measures simultaneously to commissions with parallel jurisdiction in the two Chambers; these were expected to discuss and approve the measures within a thirty-day period and return them to the Head of the Government for approval. In case the commissions failed to approve the legislation—an emphatically hypothetical contingency so long as Mussolini was in power—the Government could always resort to the decree power with which an obliging legislature had armed it in 1926 Legislation by decree was indeed the preferred procedure, and the pseudo-parliamentary apparatus could readily have been abolished with very little effect upon the course of Fascist policy-making. As suggested earlier, that apparatus was continued because it lent a note of constitutional decorum to dictatorship and because it provided positions of some dignity and no little income for deserving Party henchmen

THE NATIONAL FASCIST PARTY

Party and the Regime. Alongside the traditional apparatus of Government and public administration remodeled, as already noted, to suit the exigencies and aspirations of dictatorship, Fascism built its authoritarian political Party Officially this was styled the "National Fascist Party" In the course of time the administrative apparatus of this organization, from Duce to the lowest administrative echelon, became so extensive and its bureaucracy so numerous that the Party rivaled the Government and, in fact, became a kind of Government within a Government Ultimately the courts extended formal recognition to the Party as an organ of public law and identified the Party's officers as public officers Moreover, several of the principal Party organs were officially identified as a part of the formal governmental apparatus of the State As noted earlier, the Party's Grand Council actually became the most august of all conciliar public bodies. It became superior in rank and dignity to the Fascist Parliament and was invested with prerogatives relating to foreign affairs, the amendment of the existing *Statuto,* and the enactment of other Fascist constitutional law, the composition and powers of various public bodies, and the succession to the throne and to the dictatorship itself In short, in Fascist Italy, as among all contemporary one-Party dictatorships, there was such a commingling of governmental and Party offices and functions

that any effort to distinguish them in the operating mechanism of the regime would have been artificial.

Services of the Party.* (1) *Coordination of the Governmental Apparatus. Various considerations counseled continuation of the Party during Fascism's early days when, surprisingly enough, proposals to disband it were seriously advanced. These considerations gained weight as experience demonstrated the practical value of such an organization in an authoritarian State One of these considerations was the possibility of using the Party and its various organs to coordinate and direct the formal governmental apparatus. As Duce, Mussolini was in supreme command of the Party, and since Party henchmen were in charge of virtually every department of the Government, they brought the entire State apparatus under the informal, albeit effective, control of the dictator The latter was thus enabled to exercise authority over units of Government which, for the sake of appearances or for other good reason, had been kept nominally autonomous or not legally subject to his will In short, what Mussolini might have been unable to accomplish as Head of the Government, he accomplished most effectively, if somewhat informally, as Duce of the Party It is thus that the monolithic mass Party of the dictatorships of the twentieth century enables such dictatorships to maintain an efficient, centralized control over a state apparatus which superficially is far more complicated, and apparently provides more autonomy for its various branches, than the Government of a *bona-fide* free society

(2) ***The Party as an Instrument of Political Control in the Provinces*** The Party proved especially helpful in providing the Italian dictator and his principal colleagues at Rome with the means of keeping in direct contact with affairs in the provinces and communes In each of the latter areas a local *Fascio* usually maintained some sort of headquarters where Party wheelhorses interpreted the will of the leaders to the rank and file of the citizenry and kept close watch on political developments. A still more important link between the center of Government and the outlying areas was provided by the Federal Secretary, or "*federale*" of the Party His title derived from the fact that he served as the principal administrative officer of the provincial federations of local Party groups. Actually he was the provincial Party boss, the substance of whose power rivaled that which was nominally reposed in the Prefect, the official representative of Rome in the provinces and the Government's own provincial "boss"

(3) ***The Party's Identification of the Masses with the Dictatorship.*** Another service rendered the dictatorship by the Party was the important one of identifying the self-interest of a maximum number of people with the regime, thereby broadening and strengthening Fascism's popular base. This service was rendered in various ways. The most direct method of identification with the regime was through membership in the Party itself During the 1930's outstanding Party cards normally approximated two million For the nation's youth, in which Fascism was especially interested, there were various

levels in the Fascist youth organization, known as *Gioventù Italiana del Littorio (GIL)*, suitable for boys and girls of various ages from candidates for the nursery school through adolescence The youth organization trained the regime's future leadership and Party cadres, many thousands of selected young men having been graduated annually from the organization's highest echelon into the Party proper In addition, there were numerous ancillary or affiliated Party agencies, such as veteran and athletic groups, a galaxy of feminine auxiliaries, and Fascist social-service agencies operating under the Party's direction Of the latter the best known, and probably the most important, was *Dopolavoro,* the National Leisure Time Organization In the name of the Party, this sponsored an amazing variety of welfare activities among peasants and industrial workers, thus succeeding, at least in part, in masking the unlovely characteristics of an unfree regime with a reputation for benevolence and good works. Needless to say, whatever the Party instrumentality and its avowed aim, the *raison d'être* was invariably that of identifying the interests of the masses with Fascism and thereby ensuring a greater degree of popular loyalty

(4) ***The Party a Major Instrument for Indoctrinating the Masses.*** In thus trying to identify the material interest of the rank and file with the dictatorship, the Party took advantage of every opportunity to indoctrinate and thus rendered still another service to the regime. Through the Party's local agencies, particularly through its communal headquarters and its network of affiliated and auxiliary institutions, spokesmen for Fascism exploited every opportunity to preach its alleged virtues and condemn its opponents. In the time-honored way of politicians everywhere, Fascist experts in winning friends and influencing people arrogated to themselves a reputation for virtue and good works, extolled the movement's alleged interest in the welfare of the common man, pointed with pride to constructive achievements, ignored the material and moral sacrifices which were demanded of the people and the regime's own shortcomings, and exploited every symbol of national patriotism Fascist politicians, of course, had an advantage over politicians elsewhere in that the Fascist brand had a complete propaganda monopoly and could censor any opinion considered challenging or critical in the slightest degree If that did not suffice, they could remove the author of the opinion. In other words, there was no open opposition

(5) ***The Party as an Instrument of Coercion.*** Finally, without exhausting the catalog of the Party's services, mention may be made of the apparatus it provided for extirpating heresy and applying informal coercion whenever the arts of persuasion failed to secure desired conformity This was accomplished chiefly through the Party Militia (*Milizia volontaria per le sicurezza nazionale*), a para-military force of about a half million men This Militia was the dictator's own praetorian guard, bound to him by personal oath of fealty, and bound to do his bidding with unquestioning zeal Though given the status of a public force in 1923, the Fascist Militia was simply a continuation of the old black-shirt squads whose fondness for direct action, before and after the

March on Rome, symbolized Fascism's reliance on force and violence and its rejection, both as a matter of choice and of necessity, of moral principles and constitutional decorum

Fascism's Political Theory. As Fascism, in the 1930's, entered its second decade, it developed a theory of the State and society to which Mussolini formally gave his blessing. It thereupon became the aim of the Fascist orators to inculcate the gist of this orthodox theory in the minds of the rank and file Fascist political theory condemned liberalism and democracy as unsuited to the twentieth century and likely to lead to anarchy and the dissolution of society It rejected Marxian Socialism allegedly for its all-pervasive materialism and denial of idealistic factors At the same time, the official doctrine of Fascism praised force and violence because they allegedly stimulated the creative energies of peoples and nations It recommended the purported virtues of militarism, and declared that war put the "seal of nobility" upon a people Along with these perverted concepts of personal and national virtue and well-being, Fascist theory emphasized the desirability of an authoritarian, irresponsible government that brought every facet of society under its disciplined control—in other words, a totalitarian dictatorship. And as a logical corollary of this conception of the State and government, the duty of blind obedience to superior authority was enjoined upon the individual In short, the alpha and omega of the Fascist doctrine, which the Party orators sought to spread among the masses, is well summed up in the slogan, repeated *ad nauseam* by Fascism's disciplined, uncritical cohorts *"Credere! Obbedire! Combattere!"* (Believe! Obey! Fight!).

DEVELOPMENT OF A TOTALITARIAN STATE

Fascist Totalitarianism. The monolithic mass Party such as Fascism developed and the contribution of such a Party towards the maintenance of a political monopoly constitute one of the more unusual characteristics of dictatorship in our day Another unusual characteristic, also illustrated by Fascism, is the phenomenon we have come to call "totalitarianism," that is, the extirpation of voluntary or free institutions in the civic, economic, cultural, and moral spheres of society and the substitution therefor of State-directed enterprises Stated differently and more succinctly, totalitarianism is the extension of the arbitrary discipline of an authoritarian government to social concerns generally Totalitarian jurisdiction adds immensely to the power and security of a dictatorship because it eliminates open opposition from any quarter, seals off objective information from the citizenry, and allows the fullest opportunity for official propaganda to influence mass opinion and behavior. It also permits the State to exercise a direct and positive influence over the production and distribution of goods and services and places the entire population at the mercy of the government for its livelihood, the government being, for all practical purposes, both entrepreneur and employer

Fascist Control of the Press Fascism's totalitarian ambitions developed gradually. At any rate, the realization of those ambitions was a relatively gradual process First victim of the totalitarian drive were the news- and

opinion-disseminating media, control of which always enjoys a high priority in any dictatorship Between 1924 and 1926, all newspapers and journals hostile to Fascism were effectively muzzled and then transformed from independent institutions into "mouthpieces of the regime " The transformation was accomplished in various ways—by judiciously-coerced changes in management and ownership, by licensing journalists and requiring their membership in Fascist professional associations, by effective use of censorship, and by requiring the dissemination of officially-inspired propaganda

Control of Other Media. What was done to the press had its counterpart in the case of other institutions which influence or mold thought and opinion Political censorship of films and stage plays was exercised through special Party boards of review and the representatives of the police and the Prefect's office The Government itself entered the cinema field and produced and distributed propaganda films Radio, as its technology developed, remained a governmental monopoly which could be relied upon to put forth only the approved official version of any event, domestic or foreign, and to play up the ideology of the regime in fair weather and foul Over the entire communications apparatus, moreover, the Fascist Minister of Culture exercised a ubiquitous and intensive discipline

Decline of Personal Liberty. Elementary personal liberties also became an early victim as Fascism moved to consolidate its authoritarian position Under the Public Security Act of 1926 and later statutes, the police were permitted to classify private gatherings as public affairs and to prohibit them on various grounds, including possible injury to the dignity of the Government or its officials Citizens were confined to their communes unless they held identity cards and their freedom of movement was seriously curtailed Open opponents of the regime and even political suspects were brought before Fascism's Special Tribunal for the Defense of the State and sentenced to death or imprisonment after mere mockeries of judicial trials. Most notorious were the discretionary prerogatives given to the OVRA, or secret police, and to security officers in dealing with those considered politically suspect Often these were held without trial and subsequently confined for long periods in Fascism's island concentration camps

Fascism's Campaign Against the Freedom of Education. Education, too, early came under the ministrations of the Fascist exponents of totalitarian "coordination " The more notorious of the measures in this sphere were the transfer of authority over local schools from the commune to the central Government in 1923, the subjection of the teachers to compulsory membership in professional associations sponsored by the Party and their subjection to political surveillance and every conceivable form of informal pressure to compel conformity, and the editing of textbooks by State commissions to make them serve as instruments of Fascist indoctrination In 1939 a so-called Fascist Charter for the Schools was elaborated Its provisions only served to emphasize the disappearance of objective teaching from the Italian school system and the complete subjection of teacher and curriculum to the propaganda

exigencies of the regime The whip of Fascist conformity was also felt by the universities, although it was never applied as vigorously as in the case of the lower rungs in the educational ladder. An ironclad oath of loyalty, requiring indoctrination of student charges with Fascist ideology, was decreed for professors in 1931 About a dozen well-known savants refused to take this oath and were dismissed; others, equally well known, resigned University administrative heads, moreover, were more successfully disciplined than the professors and became almost universally subservient to Fascism

Assimilation of Economic Society—Labor. Slowest to mature, but ultimately as characteristically totalitarian as any other enterprise of Fascism, was the regime's economic program The first stage in the dictatorship's efforts to bring the national economy under its direct control related to the labor unions From its earliest days, Fascism had sought to break up the Socialist and independent trade unions and become the Kingdom's labor broker Hence, by direct action and monopolistic legislation, it quickly broke the power of the free trade unions and destroyed their organizations In their stead it set up a complex hierarchy of Fascist trade unions or syndicates Acting nominally through the upper echelons of this hierarchy of syndicates which, needless to say, were exclusively staffed with Fascist partisans, the regime's so-called "Ministry of Corporations" established "labor agreements" with industry on a national or regional basis and fixed wage scales and conditions of employment The Fascist syndical organizations, particularly at the lower level, were little more than instrumentalities for disciplining the rank and file of labor By no stretch of the imagination were they *bona fide* representative agencies of the agricultural or industrial laborer existing to articulate his aims and to protect his interests.

The labor agreements thus formulated were given the protection of law Disputes concerning the interpretation to be accorded their terms and any other disputes between labor and management, were settled by a special set of labor tribunals whose authority was compulsory, and all forms of economic warfare, including strikes by labor and lockouts by management, were condemned as illegal In other words, labor was denied both its right to *bona fide* organization and its traditional economic weapons, such as the strike Legislation outlining this system of labor relations was adopted in April, 1926. Definitive legislation, under the title of the "Fascist Labor Charter," was promulgated with much fanfare a year later [6]

Fascist Intervention in the Managerial Field This system of public syndicates, by means of which the Fascist dictatorship exercised direct control over the supply of labor and the terms of its employment, was later supplemented by large-scale intervention in the processes of the market and public direction of economic enterprise Unlike the Soviets whose Marxist predilections caused them to give a high priority to the public assimilation of economic life, the Fascists temporized in the case of management Moreover, when they did move into the managerial field, ideological convictions and monopolistic political ambitions seem to have been somewhat less important than certain

[6] For appropriate citations, see the original edition of this book, pp 677 *ff*

more practical considerations Among these were the depression of the 1930's, the burden imposed upon the nation's productive activity by the intensely autarchic economic policies of the regime, and the further burden imposed by the requirements of a State preparing for military adventure. Even so, once steps were taken to expand and intensify political direction of production, exchange, and distribution, an ideological rationalization was quickly provided

Large-scale Economic Intervention Really large-scale public intervention on the managerial side of economic life began in 1932 when industry, heavily devoted to specialty and luxury goods and peculiarly dependent upon foreign markets, saw those markets close down and its financial stability threatened As elsewhere, it turned to the Government for assistance and Mussolini's aides-de-camp acted promptly Through a variety of special Government agencies, the public credit was extended to private banks and industries in financial straits, various obligations of the private establishments thus assisted being taken as security The process was not unlike that undertaken in the same year by the Reconstruction Finance Corporation and similar public agencies in the United States except that, relatively at least, public assistance in Italy affected a much wider segment of the economy In due course, the Italian Government actually became the principal creditor of many companies or the preponderant shareholder

Control of Credit Agencies. Alongside this proprietary activity there grew up all the now familiar devices of twentieth-century neo-mercantilism and economic nationalism The Bank of Italy became a Government central bank and through it and other principal banks of the Kingdom, the Government determined the flow of credit, business was compelled to amalgamate or, in lieu of physical unification, its cartelization was compelled A special Ministry was created in 1937 to control the nation's foreign trade, foreign exchange being allocated only for those imports of which the Ministry approved Expensive agricultural reclamation projects were set on foot, the object being less to benefit the peasant farmer than to increase production of agricultural staples and make the nation self-sufficient in wheat All production of such staples as wheat, other cereals, wool, and raw silk were placed under special control committees which purchased the new crop from producers at fixed prices and resold to distributors and processors Efforts were even made, without regard to comparative cost, to extract certain vital minerals, such as iron, manganese, and tin from uneconomic Italian sources and to promote independence of the rest of the world in the production of fibres It was all part and parcel of the revived Colbertism of the contemporary world, but Italy under Mussolini proceeded to implement such a policy with an especial zeal

Creation of the "Corporate State" Having achieved so extensive a degree of State capitalism and governmental direction of production and distribution, the Fascist State thereupon provided a kind of institutional "top dressing " This took the form of the "Corporate State " Reviving ideas about labor-management cooperation which had achieved some prominence at the time in 1926 when the Fascist syndical system was set up, Mussolini's Govern-

ment, in 1934, established a complicated mechanism of twenty-two corporations, or economic associations, representing as many areas of economic enterprise On paper, at least, equal representation was given capital and labor on each corporation, additional members being drawn from the Fascist Party, cooperatives, and other bodies All these representatives, it is probably unnecessary to add, were tried Fascist partisans or non-partisans whose loyalty to the Fascist cause could not have been excelled by an actual partisan Each corporation was supposed to exercise a considerable degree of influence over the economic area it represented, particularly over such matters as prices, markets, production standards, plant management, and labor relations Activity of the corporations was, moreover, coordinated through a plenary body known as the National Council of Corporations consisting of all active members of the corporations, 500 in number, a Central Corporative Committee of fifty members, and the Ministry of Corporations in the Cabinet

The Corporative Mechanism Lacks Significance. But this elaborate mechanism, impliedly self-governing, was in fact a mere façade for the centralized direction and control over industry and agriculture exerted by the Fascist Party, certain of the Party's labor specialists, its favored captains of industry, the bureaucracy of the Ministry of Corporations, and particularly the Head of the Government At best the corporations served as advisory bodies which could make recommendations affecting public policy Even at this level of activity, less than half of them ever achieved limited importance. Like so many other Fascist creations, the "Corporate State" was chiefly a paper mechanism It was but another example, albeit more obvious than others, of the incompatibility between the improvisations of Mussolini's system of personal, irresponsible, oligarchical rule and the paper formulae of a model system which Fascist constitutional theoreticians were forever devising

Conclusion. This, in brief, is the story of how the Fascist dictatorship's political structure and way of life developed. Most Italians and most of the rest of the world would probably just as soon forget it, for it is a grim story But the story cannot be ignored Stretching as it does over more than two decades, it is an important part of the historical record not only for Italy but for mankind Moreover, it has a special importance partly because of the impact which Italy under Mussolini had upon world events but chiefly because Mussolini's regime, in large measure, originated much of the symbolism and much of the basic apparatus and "political know-how" of contemporary totalitarian dictatorship This latter may indeed be the knowledge of Mephistopheles, but it is knowledge which no Government, least of all Italy's new Government, can afford to dismiss That Government, operating again under a regime of freedom, may be politically stronger than the preceding free Italian Government that succumbed to Mussolini But one of the chief ingredients of its relatively greater strength is the knowledge outlined in this and the immediately preceding chapters, that is, an understanding of the way in which a political monopolist like Mussolini successfully challenged and destroyed a free Government and then developed the contemporary totalitarian dispensation to consolidate his ill-gotten authority

CHAPTER IV

THE REVIVAL OF FREE INSTITUTIONS

In the period immediately following World War II the outlook for free institutions has been none too promising Hence Italy's struggle to rid herself of the nightmare of Fascist dictatorship and, in Churchill's phrase, "work her passage home" and rejoin the community of free nations has been particularly challenging Resolution of some of the major problems that confronted the nation during this transition required the better part of the period from 1943 to 1948, and although at this writing, six years after the close of the second instalment of global hostilities, Italy may still be in a parlous condition, especially as respects her economic position, at least the foundations of a free and stable Government have been laid Considering the immense obstacles which had to be overcome, this achievement has been truly remarkable No doubt the benevolent attitude of some of the nations who opposed her in World War II, especially of the United States, aided considerably, but the achievement is to be credited primarily to the high quality of the political leadership upon which Italy has been able to rely since Mussolini's demise and to the immense capacity for sacrifice of the Italian rank and file

END OF MUSSOLINI'S DICTATORSHIP

Mussolini Resigns—the Badoglio Cabinet. Mussolini fell into eclipse following a fateful session of the Fascist Grand Council held July 24, 1943, when the accumulated hostility toward his regime, and especially toward his alliance with Hitler's Germany, caused open revolt among some of his colleagues These, under the leadership of Count Dino Grandi, former Italian ambassador to London, and Count Galeazzo Ciano, the dictator's ill-starred son-in-law, prevailed upon a majority of the Grand Council (18 to 7) to adopt a motion which clearly implied a reassertion of the constitutional authority of the monarchy and the rejection of Mussolini's leadership On the day this vote was taken, Mussolini formally resigned as Head of the Government His resignation was accepted by King Victor Emmanuel, apparently much to Mussolini's surprise and chagrin, and the King thereupon called upon Marshal Pietro Badoglio to become chief of the Government and to organize a Cabinet

Mussolini's Italian Social Republic. Mussolini, himself, was placed under arrest Subsequently German paratroopers rescued him from his place of detention, and until his death at the hands of anti-Fascist Partisans at the village of Dongo, on Lake Como, on April 28, 1945, the Fascist leader remained a hostage of the Germans During that period he nominally headed a truncated version of Fascism in Northern Italy calling itself the "Italian Social Republic," which continued the alliance with Hitler and sought to revive Fascism under republican and allegedly proletarian auspices Under German protection, some of the symbols of Mussolini's erstwhile authority were thus restored, but the restoration was distinctly temporary and these institutional remnants of Fascism disappeared as the German military power waned and that of the Allies waxed in the North

Badoglio's Efforts to Restore Authority Meanwhile, the Badoglio Government, embodying the legitimate authority of the nation, began the giant task of bringing a semblance of order out of Italy's domestic chaos and of reordering her international position The armistice ending Italy's active participation in World War II on the side of Hitler's Germany was signed on September 3, 1943, and her unconditional surrender came five days later Thereafter Italy assumed the status of co-belligerency alongside her former foes and sought to assist them in driving the Germans out of the peninsula For various reasons that task proved unexpectedly difficult Even Rome, the capital, fell into German hands for a time after the Italian surrender, and the Badoglio Cabinet's writ ran in only a few provinces in the extreme South Gradually, however, as Allied forces pushed northward, occupied new territory, and relinquished their control of such redeemed territory to the Italian authorities, the Cabinets of Badoglio and of his successors became the *de facto* as well as the *de jure* authority in the peninsula. Even so, it was not until August, 1944, a year after Mussolini's fall, that Rome again came under Italian jurisdiction, and another nine months elapsed before German, and the remnants of Fascist, resistance in North Italy finally disappeared

Fascist Institutions Abolished. One of the Badoglio Cabinet's first tasks was the formal liquidation of the more notorious Fascist institutions. This task was undertaken with dispatch, necessary decrees having been announced the day after the new Cabinet came into being High on the list of proscribed institutions was Fascism's star-chamber court, the notorious Special Tribunal for the Defense of the State. With it went the Grand Council, the Chamber of Fasces and Corporations, and the principal organs of the "Corporate State" including the National Council of the Corporations, the Central Corporative Committee, and the twenty-two corporations themselves Also into oblivion, along with this governmental apparatus of Fascism, went the machinery of the Fascist Party and the great variety of affiliated agencies, such as the Fascist youth movement and welfare organizations

Anti-Fascist Purification Measures More important than ridding the nation of Fascist institutions was the task of ridding it of Fascists Initial steps in this direction had been taken by the Allied Military Government, which re-

moved most Fascist Prefects, other local officials, and Fascist-inspired teachers whenever Allied forces occupied a particular area The task of "defascistization" was more systematically organized when it subsequently devolved upon the Italians themselves Under legislation enacted in July, 1944, and supplemented in November, 1945, provision was made for the dismissal of proven Fascists of long standing from every branch of the civil administration, from State enterprises, and from the professions Dismissals were effected by local committees organized within a particular service or profession The ranks of the State security organizations were even more carefully culled to exclude any suspected Fascist Authorization was also given the Government to take over all property that might have belonged to the Fascist Party or its auxiliary organizations and to confiscate property held by private individuals which allegedly had fallen to them because of their position in the Fascist hierarchy or because of the favor which the regime had shown them

Prosecution of Fascist Crimes. The more notorious Fascist leaders were imprisoned and charged with various crimes Among such crimes were those of violating popular liberties and judicial guarantees, of participating in the Fascist *coup d'état,* that is, the March on Rome, of abolishing the basic institutions of the free political system which antedated Mussolini, of dragging the nation into an unwanted war and military disaster; and of traitorously supporting Mussolini's Fascist Social Republic in Northern Italy after Badoglio had become Premier. Special attention was given to certain categories of Fascist criminals, for example, those who had participated in establishing and administering the infamous Special Tribunal. Those accused of crimes enjoyed the normal procedural guarantees to ensure a fair trial and were tried either by a special section of the regular district Assizes or, in unusual cases, by a special high court of justice organized to deal with the prosecution of cases against Fascists The entire operation of Fascist "purification" was placed under the direction of a special high commissioner, an office held for a time, appropriately enough, by the distinguished anti-Fascist, Count Carlo Sforza, who, in this post, and subsequently as Foreign Minister and leading elder statesman, contributed his immense prestige and unique moral authority to freedom's renascence in his native land

On the whole, the Italian policy of ridding the nation of Fascists placed its emphasis upon the upper echelons of those who had been responsible and ignored the rank and file, or let them off lightly The policy also sought, as far as possible, to make legal responsibility personal and not collective and to ensure the application of due process to the trial of those who might be accused In these respects, Italian purification machinery set a somewhat higher standard than was observed in similar situations elsewhere Efforts were also made to carry through this process of purification as rapidly as possible in order to restore normal, or nearly normal, conditions in the public services and in the nation's economic life These efforts, however, were not entirely successful and considerable criticism resulted Even so, the major part of the task had been accomplished by the summer of 1946

RESTORATION OF DEMOCRATIC POLITICAL LIFE

Revival of the Parties. As the debris of dictatorship was cleared away, the leadership of free Italy, which had been operating underground or had been in prison or in exile, began to assert itself in the press, on the forum, and, of course, through revived political parties. Six of the latter quickly developed something like a national following even while much Italian territory was still in German hands On the Left were the Communists and the Socialists Both were mass parties with a common ideological origin. For the moment, moreover, these two parties were closer together, as respects aims and strategy, than they had ever been in the recent past Associated with the Left was the so-called Action Party, relatively small but with distinguished leadership and uncompromising in its opposition to both the dictatorship and the Savoy monarchy. In the Center were the Christian Democrats, also a mass party, and destined to become the new Italy's largest political group The Christian Democrats were the direct successors of the moderate, clerically-minded, pre-Fascist Populists (*Popolari*) whom Don Luigi Sturzo had led in the Parliament elected immediately after World War I Of about the same orientation politically was another small group calling itself "Labor Democrats," led by the former Premier, Ivanoe Bonomi It was the successor of the Reformist Socialists who had organized in 1912 following a break with Marxist orthodoxy [1] The Liberals were the sixth of the revived political groups They comprised the more conservative elements, remnants of the parties which had furnished the leadership in the Parliaments of pre-Fascist Italy [2]

Revival of Party Coalition Cabinets Representatives of these six renascent parties became active politically in the first instance in supporting clandestine anti-Fascist Partisan activity in areas still under German control and in forming *ad hoc* local governments as such areas were liberated For a relatively considerable period they had no formal connection with the Badoglio Cabinet which consisted largely of career civil servants and military officials Indeed, despite several reorganizations, the Marshal's Cabinet continued to be "nonpartisan" until April 17, 1944 At that time the renascent parties, having at least temporarily composed certain fundamental differences, joined the Badoglio Cabinet and thereby restored *de facto* representative government in the Kingdom

Normalization of Cabinet Government Two months later, following the liberation of Rome, Marshal Badoglio, in accordance with a promise given party leaders, resigned and passed from the active political stage Thereupon leadership was assumed by the Labor Democrat, Ivanoe Bonomi, whose Cabinet, reconstituted in December, 1944, in turn gave way in June, 1945, to still another coalition headed by Ferruccio Parri, one of the leaders of the Action Party This new coalition, which included representatives of all the parties, symbolized the liberation of Northern Italy and the entry of politicians from that section into the Government Parri's Cabinet lasted only six months

[1] See p 236

[2] For a discussion of the parties of Republican Italy, see pp 301–310

Afflicted by internal divisions and defections on the Right, it gave way in November, 1945, to the first Cabinet to be led by the chief of the Christian Democrats, Dr Alcide de Gasperi With de Gasperi as Prime Minister, parliamentary Government in Italy after World War II emerged from its transitional chrysalis and acquired firm and enduring leadership At any rate, in 1951, more than five years after de Gasperi created his first Cabinet, he was still Prime Minister Like Giolitti of old, the Christian Democratic leader bids fair to become the symbol of another major period of Italian political history

LIQUIDATION OF THE MONARCHY

The Parties Object to the Monarchy. From the first days of the reassertion of party government, the great issue was the so-called "Institutional Question," that is, the status of the monarchy The significance of this issue had been demonstrated in the spring of 1944 at the time the first six-party coalition under Badoglio was being considered At a congress at Bari, in Southern Italy, representatives of the six parties formally resolved that the reconstruction of the nation presupposed the abdication of the King Subsequently, Christian Democrats and Liberals agreed to enter a party coalition if King Victor Emmanuel abdicated in favor of his son, Crown Prince Humbert. Leftist parties, however, persisted in refusing cooperation until the Communists, under the leadership of Palmiro Togliatti, at the moment newly returned from his two decades of exile in Soviet Russia, did an "about-face" and also agreed to join a coalition ministry if the King abdicated in favor of his son This move of the Communists caused all Leftist parties to veer toward cooperation and the first coalition under Badoglio became possible.

Humbert Becomes Lieutenant-General of the Realm. A few weeks later, when Rome had been liberated from the Germans and when, as we have seen, Badoglio had given way to Bonomi as Prime Minister, King Victor Emmanuel, apparently in fulfillment of his part of the understanding with the parties, retired from formal participation in the Government by making the Crown Prince the Lieutenant-General of the Realm, legally capable of acting for his father in all cases It was not abdication but had substantially the same effect

"Institutional" Plebiscite and the End of the Monarchy. All this, however, was merely a stopgap, there having been a general understanding among the parties that, as soon as the peninsula had been cleared of enemy troops, the people were to be consulted in a referendum on the question whether Italy was to continue as a monarchy or become a republic Hence in March, 1946, Prince Humbert issued a formal call for the plebiscite on the "Institutional Question" and declared that he would abide by the result The plebiscite was held June 2, 1946, and provided a relatively slim, but nonetheless decisive, majority for a republic The vote was 12,717,923 for the republic (54 3 per cent) and 10,719,284 for the retention of the monarchy (45 7 per cent) [3] Three weeks before the plebiscite, the King had finally ab-

[3] Statistics from the *Statesman's Year Book* (1948), p 1027.

dicated, in law as well as in fact, and his son had assumed the title of Humbert II. Apparently this development was planned to influence the voting in favor of the monarchy and place Humbert in a better position to claim the throne. Be that as it may, a fortnight after the plebiscite, Humbert, King for one month, formally honored his promise to abide by the people's decision and left Italy for exile in Portugal.[4] With his departure, the Savoy dynasty came to an end in Italy and the nation joined the ranks of the world's republics. All reference to the monarchy disappeared from official processes and State papers and the shield of Savoy was removed from the Italian Tricolor. Some months later, the decision for the republic was formally ensconced and elaborated in the nation's new Constitution, the last Article of which (139) declares that the republican form of government is not subject to constitutional amendment and which elsewhere denies political rights to all members of the House of Savoy.

THE NEW CONSTITUTION AND THE TREATY OF PEACE

Election of the Constituent Assembly. The plebiscite on the "Institutional Question" was held on the same day as the elections to the Constituent Assembly. These elections—the first national ones in Italy in more than a generation—provided the first reliable index of the popular following of the various parties, and determined the political orientation of the nation for the next two years. First in the field when the votes were counted were the Christian Democrats with 207 seats and more than eight million votes. The Socialists, with somewhat more than half as many votes, acquired 115 seats, and the Communists, with a popular following about equal to that of the Socialists, laid claim to 104 seats. The remaining 131 seats were distributed among a variety of parties who, together, accounted for almost six million voters.[5] All told, the Popular Front of Communists and allied Socialists won about 40 per cent of the seats, the moderate Christian Democrats, about 36 per cent, and the remaining parties, moderate and conservative, about 24 per cent.[6] The extreme Left of the Popular Front was thus in a minority, but it was so sizable a minority that it made difficult the assembling of an effective moderate majority coalition. A factor in swelling the total vote for the Constituent Assembly was the enfranchisement of women which had been stipulated in the new electoral law decreed by the Cabinet on March 10, 1946. The women's vote probably also accounted, in part at least, for the fact that the Christian Democrats acquired a plurality over all other parties.

[4] In a legal sense the Republic became a *fait accompli* on the formal announcement of the results of the plebiscite by the Supreme Court of Cassation, June 10, 1946.

[5] See statistics in *Statesman's Year Book* (1947), pp. 1017–1018.

[6] From March to November, 1946, communal elections were also held throughout the country with somewhat similar results. In some 6,941 communes with a population of less than 30,000, the Popular Front won majorities in about one-third and the Christian Democrats in about one-third. In 146 larger communes, in which proportional representation was applied, Christian Democrats won 31 per cent of all seats, and the Popular Front, 38 per cent. In the Rome municipal elections, October 12, 1947, the Popular Front and Action Party obtained 33.4 per cent, while the Christian Democrats won 32.8 per cent, of the seats.

The New Constitution is Drafted The Assembly thus elected began deliberations on the proposed new Constitution on July 1, 1946, and continued them into the following year At the outset, a special commission of seventy-five, on which the various parties were given proportional representation, was charged with elaborating a preliminary draft Working through three subcommittees, this constitutional commission developed a draft project which became the nucleus of the new fundamental statute of the republic

As might be expected, in the ensuing Assembly debate on the draft project, numerous issues divided the parties Among these were the issue of interest representation versus the representation of political parties, the lay State as against the State with an established religion, a centralized administration or one with considerable regional and local autonomy, legislative supremacy or a system of constitutional checks and balances; and bicameralism as against unicameralism Major issues also arose over the question of education, the content of the bill of rights, the status of property, and the type of national economy The powers to be given the executive, the role of the President as head of the State, the scope of emergency authority, and a host of other topics excited heated and often significant discussion Apparently reference was frequently made in the deliberations to the experience of other political systems, particularly contemporary ones, and the names of relevant, and sometimes irrelevant, political philosophers and politicians, from Aristotle to the moderns, were much on the tongues of the debaters In their search for authority to support their particular views, the participants in the debate sometimes exhibited surprising loyalties In his excellent description of the formation of the new Constitution, Professor Mario Einaudi states that the Communists relied on Washington and Benjamin Franklin for arguments to weaken bicameralism while the Christian Democrats looked to Stalin to strengthen such a concept [7]

The Constitution is Adopted. In the course of the debate, the draft project of the constitutional commission underwent major changes Nevertheless, its basic content survived and ultimately became the substance of a document upon which a majority could agree. That the Assembly could achieve such a consensus on so important a matter in the eighteen months during which the constitutional project was pending, is an indication of the political maturity of the Italian people and of the excellence of their political leadership On December 22, 1947, the final corrected draft of the new Constitution, comprising 139 articles and 18 transitional clauses, was approved by a vote of 453 to 62, and on Christmas Eve, the Provisional President of the Republic, Enrico de Nicola, promulgated it Six days later, that is, on January 1, 1948, it became the basic law of the new republic, almost exactly one hundred years after Charles Albert had promulgated the fundamental statute that later became the first Constitution of united Italy

Terms of the Peace Treaty. Only somewhat less important than the Assembly's constitutional function, and a logical supplement thereto, was its

[7] "The Constitution of the Italian Republic," *American Political Science Review,* XLII (August, 1948), p 662

responsibility for making peace with the nations with whom Mussolini had gone to war. As we have already noted, Italy signed an armistice and surrendered unconditionally to the United Nations early in September, 1943. Her delegates signed the Treaty of Paris, February 10, 1947 Territorial losses were severe. Frontier rectifications, including cession of two communes, Briga and Tenda, were made in favor of France. Most of Venezia Giulia and one or two Adriatic islands went to Yugoslavia, and Trieste with some of its environs became a free territory and port under the United Nations Colonial territory was either ceded to another power outright, as in the case of the Dodecanese Islands, which went to Greece, or was turned over to the major powers and the United Nations for disposition at a later date [8] In addition, Italy was called upon to pay substantial reparations to Ethiopia, Greece, Yugoslavia, and the Soviet Union, to restrict her armed forces within stipulated maximums; and to give up the right to fortify her frontiers Most Italians considered these terms unnecessarily harsh and there are few who do not believe that they will eventually be altered in Italy's favor As we shall see,[9] revision in favor of Italy has already been made and more is in prospect Nevertheless, even if revised somewhat, the Treaty can hardly be regarded as anything but a calamity to nationally conscious Italians It is the price the nation had to pay for Mussolini's bellicosity and shortsighted diplomacy

ABATEMENT OF THE COMMUNIST THREAT

Post-War Communist Cooperation. As the outlines of the new republican Constitution emerged from the Constituent Assembly and the nation's international position was being normalized, Italian Communism began to show its true colors As in France and elsewhere in Western Europe, Communism in Italy enjoyed considerable growth in power and influence after World War II Partly this upsurgence was due to the prestige world Communism had acquired in the successful Soviet resistance to German Nazism, partly it was due to efforts which Italian Communists had made to resist Fascism and German Nazism in Italy, partly it was due to reasons peculiar to the Marxist movement in Italy At any rate, the first party coalition under Badoglio in 1944 included Communists, as we have already noted, and representatives of the party continued in governing coalitions until 1946 Thereafter they were relegated to the opposition By that time it had become clear to patriotic Italians, as to patriots in other lands, that a coalition or united front with the Communists was impossible, that Communist policy was to "collaborate" with other parties in order finally to swallow them up or destroy them

The Communists' Subversive Threat. Once the political Rubicon had been crossed and the Communists had been read out of polite political society in Italy, the Government was faced with augmented Communist efforts at direct political and economic sabotage. For these efforts Italian Communism

[8] See p 315
[9] See p. 313

had financial means which, though derived from somewhat mysterious and questionable sources, were nonetheless adequate During the wartime Partisan struggle against the Germans and Italian Fascists, and immediately afterward, the party had also taken a commanding position in the Italian labor movement, the General Italian Confederation of Labor (CGIL), and this was a distinct advantage in the kind of wrecking tactics and subversion in which the party specializes. In addition, the prevailingly low estate of the Italian economy and the hopelessness of much of the population, both industrial workers and peasants, provided fertile soil for exploiting Communism's characteristic incitation to class warfare and fratricidal strife All told, Italian Communism was well-equipped to make a strong bid for power through "direct action", and the renascent parliamentary leadership of the country had to muster all its courage and sagacity to counter the threat of a new dictatorship, this time of the red-shirted, rather than the black-shirted, variety

Reaction of the Government Fortunately this time, instead of a Facta, there was a Premier at the helm who was willing to act Moreover he led a mass party organization that matched the discipline and the popular strength of the Communists themselves. De Gasperi also had lieutenants in his own party who realized the importance of maintaining respect for established authority and who not only had well-trained police forces at their command but were not loath to use them Certain foreign critics have expressed the opinion that some of de Gasperi's lieutenants, particularly his Minister of the Interior, have sometimes used their police forces too hastily and too indiscriminately Such criticism may be valid, but the fact remains that the de Gasperi Cabinet's ability to vindicate its authority, whenever challenged by Communist-inspired political strikes and demonstrations and sporadic street fighting, was the greatest single factor in overcoming the Communist menace of a *coup d'état* after 1947 and in persuading the Communist leadership to stay within the bounds of "legality" As a result, Communism had to be content with the verdict of the ballot box; and, as we shall see, that verdict, when finally given by the people freely and without constraint, made it clear that Communism would not gain a majority The best it could hope for was to continue as the Government's disloyal opposition

TRANSITION TO THE REPUBLIC COMPLETED

Elections of 1948—Defeat of the Communists. Elections for the first Parliament of the Italian Republic were held on April 18 and 19, 1948, four months after the promulgation of the Constitution With these elections, the transitional phase of Italy's political history after World War II may be said to have been completed Observers generally considered this first appeal to the electorate under the republican dispensation as one of the most important in the nation's entire history, an opinion which, in retrospect, does not appear to have been an exaggeration.

The most important result was the popular affirmation of the decision, previously taken by the Government, to have no "truck" with Communism or its

allies. Despite formidable electioneering, which exploited Communism's favored position in the labor movement, the electoral appeal of the hammer and sickle was no match for that offered by the non-Communist parties. These rallied support by emphasizing patriotism and the symbols of Italian nationhood. They also had the assistance of the Vatican and of the Church throughout the republic. In addition, the patriotic parties' appeal to the voters had been enhanced by the nation's improved economic position, largely the work of Italy's leading economist, Dr. Luigi Einaudi, who was subsequently to become the first constitutionally elected President. To the Italian elector it was clear, moreover, that Marshall-plan aid from the United States, of which Italy stood in need, would continue only if the Communists did not come to power. In addition the Western powers, by announcing, during the campaign's last days, that they favored the return of Trieste to Italian jurisdiction implied that Moscow, and hence Moscow's Italian apologists, the Italian Communist Party, stood in the way of achieving an objective that every patriotic Italian will always strive to achieve. In the electoral reckoning, the Communist-controlled Popular Front won somewhat less than 31 per cent of the seats in the Chamber and somewhat more than 34 per cent of the membership of the Senate. As noted earlier, approximately the same partisan aggregation had won about 40 per cent of the seats in the elections of 1946 for the Constituent Assembly. Communism had by no means been routed, but it had suffered a setback from which it will be difficult to recover.[10]

Victory of the Christian Democrats. Almost as significant as Communism's defeat was Christian Democracy's victory. From the status of a party enjoying the support of somewhat more than a third of the Italian electorate, registered in the elections of 1946, this party now advanced to the position of a virtual majority organization with more than 53 per cent of the seats in the Chamber of Deputies and somewhat more than 43 per cent of the seats in the Senate.[11] This new electoral status of the Christian Democrats meant that Italy, like Britain, had a party strong enough to rule alone, if it

[10] It should be noted that in the communal and provincial elections of May and June, 1951, the vote given Communism and its allies rose from 31 per cent of the total, registered in 1948, to approximately 37 per cent of the total. Despite this fact the non-Communist parties, through electoral alliances and otherwise, managed to expand their hold on the nation's local popular assemblies.

[11] The party had relatively less seats in the Senate because of the mixed elective-appointive system applicable to that body. See p. 280. The seats won by the various parties in the two Chambers in the 1948 elections are listed as follows:

Party	*Chamber of Deputies*	*Senate* ELECTIVE SEATS	*Senate* APPOINTIVE SEATS
Christian Democrats	307	130	21
Popular Democratic Front	182	74	46
Right-wing Socialists	33	12	14
Liberals and Allies	18	9	17
Republicans	9	3	5
Monarchists and Allies	14	4	4
Italian Social Movement	6	1	—
Others	5	4	—
Total	574	237 (344)	107

wished, and provide that initiative in policy, firmness in administration, and authority in leadership which only a Cabinet, relying upon a partisan parliamentary majority, can offer

Some Dangers in Christian Democratic Hegemony. Potential advantages of this virtual hegemony of the Christian Democrats also have their price Part of that price is the decline or virtual disappearance of several smaller parties which represented important values in the composite of Italian political theory and tradition Such declines were registered especially among the old Liberal groups of the Right, but they also occurred among certain Center groups like the Republicans and the Actionists [12] Then, too, there was danger that, because of their newly achieved pre-eminence, the Christian Democrats, strong supporters of clerical influence in the State, might drift away from the secular political tradition altogether and embrace theocratic conceptions closer to Calvin's Geneva or Dollfuss's Austria than to the liberal parliamentary tradition of Cavour and Mazzini For many, including a good many Italians, this might represent too high a price for the unquestioned benefit flowing from de Gasperi's having slain, or at least severely wounded, the Communist dragon and for having conferred upon Italy the potential blessing of a disciplined majority-party Government

Whatever temptation may have existed along these lines, Dr de Gasperi's actions, on the morrow of the elections, indicate that he has no intention of trying to transform Italy into a purely Christian Democratic commonwealth or even of giving Italy a purely Christian Democratic Cabinet Instead he sought diligently for a coalition and continued to share his governing responsibilities with Ministers drawn from the right-wing Socialists, the Republicans, and (for a time) the Liberals Admittedly these coalition allies of Christian Democracy are small and of limited influence in the country. Moreover, in April, 1951, the right-wing Socialists, beckoned by the persistent mirage of Marxian unity, left the Cabinet and later that same year de Gasperi, plagued by revolt within his own party, found it necessary to resign Commissioned by President Einaudi to form a new Cabinet, his seventh, de Gasperi continued to rely upon a coalition In this persistent search for support outside the ranks of his own party, the Christian Democratic leader gives every assurance that the nation will not soon be strait-jacketed into Christian Democratic conformity

Conclusion Thus in the few years immediately after the fall of Mussolini, Italy had come a long way towards the goal of post-War normality In that brief period she had purged herself finally of the Mussolinian octopus, liquidated the mesalliance with Hitler; assumed the status of co-belligerency at the side of her former foes among the United Nations, and signed a treaty which, despite grievous sacrifices, restored her to a position of some international dignity At the same time she had formally abolished her ancient monarchy, fashioned a new republican Constitution, and, despite her economic

[12] See p 307.

weaknesses and the menace of Communist subversion, she had laid the foundations of a stable parliamentary system With such accomplishments to her credit in so short a time, the country had reason to face the future with confidence, or at least with equanimity, however difficult the problems that continued to loom on the political horizon

CHAPTER V

GOVERNMENT OF THE REPUBLIC POLITICAL ORGANS

If we except the interlude of the Fascist regime, Italy's experience with free, popular political institutions spans more than a century Inevitably that experience has influenced the content of the new republican Constitution. Those acquainted with the pattern of political institutions of Giolittian Italy will undoubtedly find many a familiar landmark in this republican dispensation. At the same time, even a cursory examination of the new *statuto fondamentale* reveals that its authors had more in mind than merely a return to pre-Mussolinian constitutional normalcy Quite often, in the case of major governmental and administrative agencies, machinery has been introduced and political ideas have been incorporated which, if not strange to the student of comparative government, are at least relatively unknown in Italian political experience Hence in the examination of republican Italy's governmental structure, upon which this chapter will embark, we are likely to encounter a blending of the prescriptive and the new; and the total effect of such blending is likely to be a governmental pattern and a political process that depart perceptibly, if not radically, from anything Italians have previously experienced

LEGISLATIVE INSTITUTIONS

Parliament's Supremacy In this chapter we shall deal with the political apparatus of Italy's new Government The dominant organ in that apparatus is Parliament Conceptions of regional autonomy and such institutions as judicial review of legislation and the popular referendum—all of which have found a place in the new scheme of things—may conceivably reduce the republican Parliament to a position juridically inferior to that which came to be enjoyed by its Giolittian counterpart Even so, the new Parliament remains supreme in the apparatus of Government It is the primary symbol of the political sovereignty of the people and the only instrument through which such sovereignty may gain tolerably effective expression Moreover, since the Constitution-makers have continued the traditional system of ministerial or "responsible" Government, Parliament remains the master of the Ministers. It can

make and unmake Cabinets, hold them accountable for policy, and insist that all major political decisions and legislation have its stamp of approval Clearly any examination of the mechanism of Italy's contemporary governmental system may properly begin with Parliament

The Chamber of Deputies. Electoral System. In accordance with the precedent established by the Albertian Constitution, the Parliament of the republic is bicameral, consisting of a Chamber of Deputies and a Senate Members of the first of these bodies, who totaled 574 after the elections of 1948, are chosen under a proportional electoral plan first applied to national elections after World War I and revived for the elections to the Constituent Assembly in 1946 For the election of the deputies, the country is divided into some thirty-one districts (including Valle d'Aosta) each of which returns a fairly large number (in one instance as many as twenty-seven) of deputies to Parliament The principle of *scrutin d'liste* applies to the voting, that is, the elector casts his ballot for a party list of candidates and not for individual candidates; and each party list elects as many deputies as the total vote for the list contains the electoral quota [1] Seats won by any party list are distributed among the individual candidates in the order in which their names appear on the list, this order having been fixed in advance by the party high command However, by a system of so-called preference voting (*voti di preferenza*), individual voters, in casting their ballot for any party list, may single out as many as three names and give them the first three positions on the ballot If enough voters do this for certain less favored candidates, the voters may conceivably change the order of priority assigned the candidates by the party In each of the thirty-one electoral districts, the surplus votes of a party's list, that is, votes the total of which does not equal the quota necessary for election, may be cumulated nationally Such votes are then used to elect candidates which appear on a party's national list

In the parliamentary elections of 1948, some 348 party lists appeared in the thirty-one electoral districts and bore the names of some 5,623 candidates In the same elections, twelve parties compiled national lists which included the names of some 302 candidates many of whom also appeared on the district lists. Some forty-four of the successful candidates in these elections apparently had had their names inscribed on one of the twelve national lists, but less than half of these were actually returned to the Chamber of Deputies from such national lists, the majority having been elected from the districts

The Senate: Efforts to Differentiate from the Chamber. In creating the Senate some effort was made to vary its composition from that of the Chamber of Deputies At one point in the proceedings of the Constituent Assembly, the Christian Democrats actually sought to have the Senate represent economic groups and thereby give expression to the corporative concepts of public organization which are never far below the ideological surface of parties with a clerical, and especially a Roman Catholic, orientation As indicated elsewhere, this plan met defeat, and since the Leftist Parties generally desired

[1] According to the Constitution, Art 56, there shall be one deputy for 800,000 inhabitants

to make the two Chambers as alike as possible, it is not surprising that the constitutional provisions to differentiate their respective memberships are somewhat less than effective In the course of time some difference in the prevailing social and economic background and political views of the respective memberships of Chamber and Senate may result from the fact that the Constitution makes a Senator's term six years or one year more than the term of a Deputy, and that the qualifying minimum age for a Deputy is twenty-five whereas it is forty in the Senate Some differences may possibly result also from the fact that the minimum age for a senatorial elector is twenty-five whereas that for a Chamber elector is twenty-one On the whole, however, it is unlikely that these special constitutional provisions will contribute much toward making distinctive assemblies out of the two Chambers of Italy's new Parliament

Method of Choosing Senators. Senators obtain their seats either by appointment or by a somewhat complicated system of popular election Appointed Senators, all of whom enjoy life tenure, are nominally chosen by the President of the Republic Those selected must have distinguished themselves in the arts or sciences, in literature, or in some form of social service, a requirement not unlike that which applied to the appointment of Senators under the former Constitution [2] Presidents of the Republic also become life Senators upon retiring from office Elective Senators are apportioned among the nineteen Regions into which the country has been divided, roughly according to the ratio of one Senator for 200,000 inhabitants, however, no Region is to have less than six Senators (except Valle d'Aosta which has one) no matter what its population may be Selection of the Region as the senatorial constituency was expected to enhance the political significance of this new political unit and strengthen the rather artificial idea that the Senate represented territorial interests Elective Senators may be chosen in the first instance in one of the various electoral districts into which a Region is divided, each district being entitled to elect one Senator, but since the law stipulates that the winning candidate must have at least 65 per cent of the vote of the district, few Senators are actually chosen in this fashion Indeed, of the elective Senators in the first Parliament, not more than twenty were chosen in senatorial districts The remainder were elected from the Region at large For this purpose the vote given the candidates of the same party in each of the Region's indecisive senatorial districts is cumulated for the Region as a whole, the lists of local candidates are consolidated into Regional party lists, and the choice of the required number of Senators is then made under a system of proportional representation

Elective and Appointive Senators in the First Parliament Republican Italy's first Senate secured about two-thirds, or 237, of its 344 [3] members by the electoral process just described. The remaining one-third (106) were appointed, but the appointments were made in accordance with a special tran-

[2] See p 223

[3] The authorized total is 350 Senators.

sitional provision of the Constitution [4] and not under the presidential power to appoint Senators, previously described In addition, one Senator in this first Parliament, Enrico de Nicola, held his office by virtue of having been Provisional President of the Republic [5]

Similar Political Complexion of Senate and Chamber. In general the Senate, thus constituted, reflected the political orientation of the Chamber of Deputies As indicated elsewhere, the Christian Democrats claimed 53 5 per cent of the membership of the Deputies, in the Senate the same party had 43 2 per cent of the total Communists and Socialists, making up the Popular Front, had 31 7 per cent of the seats in the Chamber and 32 9 per cent in the Senate Other parties had comparable minor variations in their respective followings in the two houses. Moreover, the percentage of the vote which each party enjoyed in the senatorial elections rarely varied by as much as one per cent from the share these same parties secured in the Chamber elections [6] Undoubtedly experience under the new Constitution has been too limited to permit of safe generalizations; but so far as the present situation permits of judgment, it would appear that the political complexion of the two Chambers will not vary greatly in time to come

Constitutional Equality of the Chambers. That the new Italy should have two legislative Chambers is scarcely remarkable since, as already noted, a similar arrangement existed under the Albertian regime What is rather remarkable is the fact that the Constitution makes the two Chambers essentially equal in power and prestige, thereby countering the policy, discernible after World War I, of transforming second Chambers into what one writer has appropriately called "secondary Chambers" In contrast to the Council of the Republic, upper house in the Parliament of France's Fourth Republic, Italy's new Senate has all the prerogatives of the lower house Like the Deputies, the Senate may initiate any legislative or fiscal project and its concurrence is essential to the enactment of any legislative or fiscal project Moreover, in order to remain in power, a Cabinet must have the confidence of both the Senate and the Chamber of Deputies, a requirement which illustrates in rather dramatic fashion the practical significance of the formal equality of the two Chambers but which, as we shall see later, may also endanger the stability of the Cabinet

Parliamentary Commissions. Regulations traditional in a representative assembly govern the organization and procedure of each of the two Chambers In addition to certain special committees, such as those on rules, elections, and treaties, each Chamber has a series of permanent commissions with jurisdiction over specific areas of prospective legislation or administrative action In the Senate there are eleven such commissions each of which has an average

[4] See Clause III of the Transitional and Final Arrangements of the Constitution
[5] Constitution, Art 59
[6]

Party	Per cent of Chamber vote	Per cent of Senate vote
Christian Democrat	48 7	47 9
Popular Front	30 7	31 0
Right-wing Socialists	7 1	7 0

membership of thirty-two[7] An effort is made to represent the parties proportionally on each commission. The Chamber of Deputies also has eleven permanent commissions which, as respects size, political complexion, and jurisdiction, are virtually identical with comparable bodies in the upper Chamber Reflecting the traditional priority of the lower house in financial matters, the members of the permanent commission on finance and treasury matters in the Deputies are organized in thirteen subcommissions Four of these advise the plenary commission on the financial aspects of proposed legislation brought before the remaining standing commissions The other nine serve as liaison agencies between the finance and treasury commission and the other commissions[8]

Introduction and Consideration of Measures in Parliament. Legislative measures may be introduced in either Chamber by the respective members, by the Cabinet, by means of a popular initiative petition bearing at least 50,000 signatures, and by certain public bodies It is scarcely necessary to add that, in practice, the introduction of measures in Parliament is a prerogative largely monopolized by the Cabinet Normally bills and other projects are submitted to one of the permanent commissions which reports the measure back to the appropriate Chamber after study Long delay in commission may be avoided if a measure is declared urgent by the Cabinet Moreover, in either Chamber, a measure may be called out of a commission and voted upon by the Chamber if one-tenth of its membership demand such action or if one-fifth of the relevant commission or the Cabinet demand it When either Chamber in plenary session votes upon a measure, it is customary to vote upon each article and then upon the measure as a whole Because of the equality of the Chambers, anything which one may enact must be adopted in precisely the same form by the other if it is to become law No formal procedure exists for ironing out differences and securing agreement on the terms of a proposed statute, hence when differences arise, they must be overcome by informal means or through the intervention of the Minister primarily interested in the measure

Executive Veto. To become law of the land, a bill or other project of law, enacted by the two Chambers, must be formally promulgated by the President of the Republic within one month after he receives it Apparently promulgation is a discretionary duty,[9] for the Constitution permits the President to request another vote on the measure by each Chamber if he so desires, and

[7] The names of the commissions are as follows (1) Internal Affairs and Affairs Relating to the Office of the Prime Minister, (2) Grace and Justice, (3) Foreign Affairs and Colonies, (4) Defense, (5) Finance and Treasury, (6) Public Instruction and the Arts, (7) Public Works, Transport, Posts, Telecommunications and the Merchant Marine, (8) Agriculture and Food, (9) Industry, Domestic and Foreign Commerce, and Tourism, (10) Labor, Emigration and Social Insurance, (11) Health and Sanitary Matters

[8] See *Annuario parlamentare* (1949–50), pp 16–17

[9] The discretion is defined by Arts 73 and 74 of the Constitution It should be added that if the Chambers each pass a particular measure by an absolute majority and thereby indicate that the measure is urgent, the President must promulgate the measure within the time the Chambers have fixed for such action See Art. 73.

requires promulgation only after they have each reaffirmed their previous decision. Such discretion amounts to a suspensive veto Since this veto is likely to be exercised by the President only with the concurrence of his "responsible" Ministers, and since the latter normally have political control over the Chambers and their proceedings, it is unlikely that the veto will acquire significance Certainly it is not likely to acquire the significance that might develop if Italy's Government were not "responsible" but, like that of the United States, operated under a constitutional separation of executive and legislative powers

Other Parliamentary Powers. Besides the financial and law-making prerogatives normally confided to the contemporary legislature, Italy's Parliament has various others It may be called upon, for example, to approve certain types of international treaties, especially those which affect internal legislation, impose financial burdens upon the State, or alter national boundaries Parliament must also decide upon declarations of war, the issuance of pardons and amnesties, and the conduct of public investigations To exert the latter prerogative, the scope of which is unusually broad, a special investigating committee must be set up Unlike similar bodies in other national Parliaments, an Italian legislative investigating committee is required by the Constitution to operate like a judicial agency and to observe procedural limitations of a judicial character

Decree Power and Delegated Legislative Power. Although the legislative power is nominally vested exclusively in Parliament, much of its substance is exercised by executive and administrative officials who issue decrees or norms with the force of law In Continental European states especially, officials who enforce a statute or similar measure traditionally wield discretionary authority to issue decrees with the force of law, such decrees being considered necessary to carry out the intent of the statute Power to issue the decree is said to inhere in the statute to be enforced This kind of ancillary decree power is not to be confused with the actual delegation of legislative power to the executive by means of blanket statutes, an increasingly common practice in the modern State In such a case the decree power is actually an executive power to make law *de novo,* expressly delegated to the executive by Parliament. Italy's republican Constitution-makers appear to have been somewhat loath to authorize delegation, nevertheless, they assumed it would take place and attempted to set metes and bounds This intention seems to be accomplished in an Article of the Constitution which declares [10] that Parliament may not delegate its power except according to fixed principles and criteria and only after having established the duration of the delegation and after having defined the purpose of the authority delegated Finally, there is the phenomenon of emergency decree power, that is, assumption by the executive of power to issue decree laws without statutory or constitutional warrant on plea of overwhelming necessity or public emergency The Constitution continues to be realistic and recognizes the possibility that emergency decrees will be

[10] Art 76

issued. Again, therefore, it attempts to set metes and bounds to executive discretion by asserting that such decrees must be regarded as "provisional" in nature and by requiring the Cabinet to submit them to Parliament for approval and conversion into law on the same day they are issued, Parliament to be called into session for such action within five days if in recess The Constitution further states [11] that if Parliament does not convert the emergency decrees into law within sixty days of their issuance, they are to be deemed without legal effect from the day they were first issued This latter provision may conceivably have a deterrent effect upon some hapless Minister who may hesitate to act in a crisis because he fears that Parliament will not support him But if an emergency decree is issued, failure of Parliament to convert it into law can hardly invalidate it in fact, because rights become vested and obligations are incurred under the terms of the rejected decree which no failure of Parliament to act can erase Indeed the Constitution, quite inconsistently and somewhat superfluously, itself recognizes that the condition of invalidity is largely theoretical by declaring that, if legal relationships do arise under decrees not converted into law, Parliament may regulate those relationships

Popular Referendum. One of the novelties of the new regime, at least for Italy, is the attempt to engraft a popular referendum upon the nation's representative institutions. A half million registered voters, or five of the Regional Councils acting together, may request the abrogation of all, or part, of any existing law that does not relate to the budget, taxation, or certain other special topics The electorate for the Chamber of Deputies is eligible to vote in the referendum, and a simple majority can secure adoption of a petition in a poll in which a majority of the eligible electorate participates In view of the structure of Italian politics, it does not appear probable that the referendum will ever acquire much practical significance in the political process of the new Italy

Amendment of the Constitution. Both Parliament and the new device of the referendum are involved in the formal process of amending the republican Constitution which, unlike the Albertian instrument, does not exclude formal change Amendments and supplementary constitutional laws are deemed to have been adopted if passed by each Chamber of Parliament on two successive occasions, an absolute majority of each Chamber being required on the second vote The interval between the two votes must not be more than three months If, in the second vote, at least two-thirds of all members of each Chamber support the amendment or constitutional law, no popular referendum may take place. If the majority on the second vote is less than two-thirds, then five Regional Councils, a half million registered voters, or one-fifth of the members of either Chamber may demand a referendum on the enacted measure within a period of three months after Parliament has passed it a second time If in the ensuing popular balloting the measure is not sustained by at least a majority of those voting, it is deemed to have been lost [12] Thus

[11] Art 77
[12] Constitution, Art 138

the referendum has been exploited to provide a popular check on the constituent powers of Parliament

THE EXECUTIVE AND THE PARLIAMENTARY SYSTEM

The President of the Republic. As indicated in an earlier chapter, kingship in Italy came to an end in the summer of 1946 [13] and was replaced by republican institutions Of these, the most characteristic is that of the Presidency of the Republic which replaces the Savoy monarchy To elect the President, the Constitution has set up a special electoral college consisting of members of the two Chambers of Parliament meeting in joint session and three delegates from each of the nineteen Regions (except Valle d'Aosta which has only one delegate) into which the nation is divided Regional representation may possibly have been designed to reduce the President's dependence on Parliament, principally, however, it seems to have been intended to enhance the political significance of the Regions themselves,[14] since they are new and somewhat artificial units of local government. Professor Luigi Einaudi, the first President to be formally elected for the constitutional term of seven years,[15] was chosen by Parliament on May 11, 1948, without the Regional representatives being present, the Constitution having provided for such an initial election if, as proved to be the case, the Regional delegates were not available [16] In choosing a President, the electoral college votes by secret ballot A two-thirds majority is necessary for a choice on any of the first three ballots, but an absolute majority suffices after the third ballot President Einaudi was elected on the fourth ballot by a vote of 518 to 320 and won over such opponents as former Prime Minister V E Orlando and Count Carlo Sforza. Besides his own Liberal supporters, President Einaudi had the backing of the Christian Democrats and of the right-wing Socialists The President of Italy has a salary equivalent to $21,000 per annum and a drawing account of some $300,000

Presidential Powers and Political Influence Besides serving as the head of the State and thus symbolizing the unity of the nation, the President is also given executive prerogatives The list of such prerogatives is rather formidable It includes command of the armed forces, ratification of treaties, exchange of diplomats with other States, nomination of the Prime Minister, dissolution of the Chambers, and other equally important functions Both the phraseology of the Constitution and the opinions of certain commentators might imply that these are personal powers of the President and that, in exercising them, he relies upon his personal discretion in much the same fashion as the American President Such, however, is not the case, for the Italian President, like the Savoy Kings before him, is a titular executive He is legally irresponsible unless he commits treason or deliberately violates constitutional provisions Both the legal and political responsibility for his public acts must be assumed by others who must answer for them before Parliament and the

[13] See p 270

[14] See p 298

[15] He was preceded by Enrico de Nicola as Provisional President.

[16] Constitution, Transitional Provisions, Clause II

courts.[17] It must be added that this arrangement, which is the foundation stone of what the British call "responsible" government and of what others call "parliamentary" government or, sometimes, "cabinet" government, does not preclude the exertion of considerable presidential influence upon the course of government, especially since the President must often serve as the official vehicle for executing some power or even for initiating some official action. Measurement of the practical effect upon the governmental process of the moral authority, personal prestige, and political acumen of a titular executive like the Italian President involves constitutional nuances which few writers have identified satisfactorily for any particular country. Probably Walter Bagehot has provided the only outstanding performance in this respect and his examination related only to the British system as that operated a hundred years ago.[18] In the case of an office so recently created as the Italian Presidency, an observer can only conjecture as to its ultimate impact upon the political process.

Prime Minister and Cabinet. A necessary corollary of the President's irresponsibility is the investiture of effective authority and power to determine the major lines of policy in the Cabinet or Council of Ministers, normally a body of some seventeen or eighteen heads of ministerial departments and, occasionally, of one or two Ministers without portfolio, and in the Cabinet's leader, the Prime Minister or President of the Council of Ministers.[19] This corollary is clearly recognized in the Constitution, which explicitly enjoins the Prime Minister to direct the general policy of the Government and holds him "responsible" for that policy. He is also authorized to coordinate the activity of the Ministers and to secure unity in administration. He and the Ministers are formally declared to be "collectively responsible" for the corporate acts of the Cabinet, and the Ministers assume "responsibility" as individuals for the activities of their respective administrative departments. As already noted, selection of the Prime Minister is declared to be a prerogative of the President of the Republic who, in collaboration with the Prime Minister-designate, also nominates the other Ministers. In making such selections, it is under-

[17] The Constitution, Art. 49, makes this condition very clear: "No act of the President of the Republic is valid unless countersigned by the Ministers proposing it, who assume responsibility for it. Acts which have the force of legislation and other acts indicated by law are also countersigned by the President of the Council of Ministers."

[18] See his *English Constitution*, revised edition, New York, 1929.

[19] Because of parliamentary usage in English-speaking countries, the word "Cabinet" in this discussion is given the same significance as "Council of Ministers" even though "Cabinet" has no official status as a title in Italian parliamentary law. It should be added that the word is often used in Italy, as in France, to designate collectively certain of the immediate bureaucratic subordinates of a Minister or other important official. Nor is the phrase "Prime Minister" an official designation. Mindful, perhaps, of the monopolistic pretensions of Mussolini who, as already indicated, called himself "Head of the Government," the makers of the republican Constitution contented themselves with the title "President of the Council" for the leader of the Cabinet and avoided the suggestion of his pre-eminence over other Ministers, implied in the less cumbersome and more popular term "Prime Minister." They did this even though the head of the Cabinet is in fact pre-eminent both by reason of his superior political prestige and by reason of the greater significance attaching to his official functions. Again, however, usage, based on British precedent, has sanctioned the use of "Prime Minister" for the leader of Cabinets in all parliamentary States, hence we shall use "Prime Minister" and "President of the Council of Ministers" interchangeably.

stood that the instrument of appointment will subsequently be countersigned either by the outgoing or incoming Prime Minister

Parliamentary Theory and Practice Contrasted Although wholly respectable precedent exists for these detailed constitutional prescriptions as to the selection of the Prime Minister and his Cabinet and as to their "responsibility," the prescriptions are, in fact, academic and not particularly informative as to the position of the Cabinet in the governmental structure and its relation to Parliament As a practical matter, in republican Italy as in other parliamentary States, the Cabinet obtains its political and administrative leadership, and becomes in fact the "Government," because it consists of the leading parliamentary politicians who, in their conduct of affairs, can count upon the support of a majority in Parliament The Prime Minister is the parliamentary political leader *par excellence* As head of the Cabinet he is either the head of the party that commands the allegiance of a majority of Parliament or he is the architect of a coalition of politicians from different parties whose followers command a parliamentary majority His selection as Prime Minister and the appointment of his Cabinet colleagues is determined by this demonstrated capacity to command majority parliamentary support. Moreover, so long as this majority exists, the Prime Minister and his Cabinet can govern effectively. Their "responsibility" to Parliament and the need for formal parliamentary approval of their policies constitute no serious impediment By the same token, when the majority disappears, the Cabinet disintegrates and the Prime Minister resigns.

Relative Strength of Cabinets in Republican Italy. In view of the formidable strength of the Christian Democratic Party which, in 1951, had the allegiance of more than one-half of the Deputies and almost one-half of the Senators, its leader, Dr. de Gasperi, has had comparatively little difficulty in constructing the parliamentary majorities required to support the Cabinets which he has led He was Prime Minister of five successive Cabinets in the four-year period between December, 1945, and December, 1949 In January, 1950, he formed his sixth Cabinet consisting of thirteen representatives of his own party, three Republicans, and three right-wing Socialists As indicated earlier, this coalition disintegrated during the spring of 1951, and in July of that year Dr de Gasperi tried his hand at forming his seventh Cabinet Among the rank-and-file leadership of a political organization socially as heterogeneous as Christian Democracy, it is sometimes difficult to enforce discipline or prevent the growth of faction, nevertheless in view of his acknowledged pre-eminence, Dr de Gasperi, or some successor of equal stature within the party, ought to experience little difficulty in continuing to muster supporting majorities built around a Christian Democratic core At any rate difficulty should not be experienced during the life of the Chamber elected in 1948, which has a mandate until 1953. Republican Italy's parliamentary system has the political wherewithal, at least for the time being, to operate successfully

Some Special Features of the Parliamentary System. It should be added that the new Constitution has somewhat complicated the Cabinet's task

of discharging its political responsibility to Parliament Thus within ten days of the formation of a Cabinet, its leader and his ministerial colleagues must present themselves in each Chamber and secure a formal expression of confidence.[20] Two such formal referenda on the issue of parliamentary confidence, before a newly constituted Cabinet has even had time to take stock of its political assets, may well have the effect of shortening its life span, especially if the Cabinet coalition is not too durable to start with A more formidable complication is involved in the Constitution's requirement that the Cabinet have the confidence of *both* Chambers This means that the Prime Minister and his colleagues must constantly have supporting majorities in each of the two Chambers and not merely in one as under the current French system, and during the Republic's first years, votes to determine the presence or absence of such majorities have been about as frequent in the Senate as in the Chamber of Deputies. The requirement may lead to trouble if, despite expectations, the Senate should, in the course of time, come to have a radically different political orientation than the Chamber For the time being the fact that the two Chambers have essentially the same political complexion has obviated embarrassment for the Cabinet The wisdom implicit in the adage that a man cannot serve two masters simultaneously apparently did not impress the Italian constitutional solons, it is just possible, however, that such wisdom may one day impress those for whom they wrought

Seemingly as a sort of compensation for these potential hurdles, the Constitution has set up some special protections for the Cabinet whenever it is called upon to test its political leadership or to vindicate its "responsibility" to Parliament. Thus defeat of a Cabinet-inspired measure in either or both Chambers does not require the Cabinet to resign forthwith In case of such a defeat, the Prime Minister is at least given time to marshal his forces for the voting on the formal motion of confidence which is likely to follow Such a motion, moreover, cannot be placed on the agenda of either Chamber unless at least one-tenth of the membership have signed the call for the motion. If such support is secured, the motion must lie over for three days when it may be subjected to discussion and a vote The obstructions thus interposed are designed to allow passions to cool and to make certain that lack of confidence will not be voted until the Cabinet has had every chance to make its position clear and to patch up differences among its parliamentary following

The Power to Dissolve the Chambers. Finally, to protect its position *vis à vis* Parliament, a Cabinet may threaten dissolution of one or both Chambers and, in extreme cases, carry such a threat into effect Dissolution is one of the executive prerogatives which the Constitution formally reposes in the President Before exercising the prerogative, the President is required to confer with the president of each Chamber Hence a Prime Minister's demand for a dissolution might be delayed But that the President and his conferees

[20] Unlike the situation in the United Kingdom, Ministers in Italy have the right to attend sessions of either Chamber, whether or not they are members, and may also demand to be heard at any time See Constitution, Art. 64.

could successfully resist a Prime Minister's determination to put an end to the life of an existing Parliament, or one of its Chambers, is unlikely if the Prime Minister is willing to assume responsibility for the action in accordance with the conditions of the parliamentary system of government The Constitution stipulates that neither Chamber may be dissolved during the last six months of any President's term During the period of Italy's first republican Parliament, at least, any Cabinet is likely to have fairly large and relatively well-disciplined majorities in either Chamber Hence, for the time being, discussion of the prerogative of dissolution is largely academic.

CHAPTER VI

GOVERNMENT OF THE REPUBLIC: ADMINISTRATION, COURTS, AND LOCAL GOVERNMENT

In the preceding chapter we have described the principal political organs of republican Italy's central Government, that is, Parliament, President, Prime Minister, and Cabinet, and have examined the operation of the system of Cabinet responsibility to the Chambers. In the next few pages we shall explore the administrative apparatus of the central Government, the judicial system, and the various levels of local government

PUBLIC ADMINISTRATION

The Ministries as Administrative Units. As members of the Cabinet, the Ministers are a part of the most important political council of the realm. With the exception of those few who are occasionally appointed as Minister without portfolio, the individual Ministers also serve as heads of the eighteen or more ministerial departments into which the administration of the central Government has been divided in recent years Within a department, a Minister is usually assisted by at least one undersecretary and sometimes by two or three Like their chiefs, the undersecretaries are either Deputies or Senators; that is, they are also politicians who enjoy a tenure coextensive with the life of an existing Cabinet In addition, each Minister has his private entourage which, as previously explained,[1] is known as his "cabinet" The chief permanent career officials of a ministerial department are known as "directors general," one of whom heads each of the major units into which an administrative department is usually divided Subordinate units of Italy's central administrative organization are variously known as "divisions," "offices," and "services"

Functional Significance of Various Ministries. The welfare responsibilities of the contemporary State and the collectivistic trend in economic life have greatly augmented the activities, and hence the importance, of certain ministerial departments Especially is this true of such ministries as those of

[1] See footnote 19, p 286

Labor and Social Insurance, Public Works, Public Instruction, and of the ministries having to do with industry, agriculture, foreign and domestic commerce, the merchant marine, transport, and communications Among the more traditional ministries, that of the Interior manages to maintain a position of primary importance for the well-known reasons that it deals with internal security and with local government and administration. An unusual feature of the Italian administrative organization is the distribution of fiscal matters among three separate ministries, one having to do with budgetary matters, another with taxation and ways and means, and still another with money, public debt, credit, State property, the supervision of State financial agencies, and related matters

Symmetrical Administrative Structure. Proliferation of administrative machinery, universal in our time, has frequently caused governments to develop a set of "independent" bureaus and commissions, that is, administrative agencies operating outside the normal departmental structure Such, for example, has been the case in the American national Government. Traditional emphasis upon symmetry has discouraged such a trend in the Italian bureaucratic structure Except for certain public corporations (*Enti, Istituti*), dealing chiefly with credit and related matters, virtually all of the central Government's administrative machinery has found an abode within the framework of one of the various ministries To achieve this result, some of the ministries have had to serve as a sort of "catch-all " This is especially true of the Prime Minister's Office in which have been lodged a considerable variety of administrative enterprises that are none too homogeneous In that Office are to be found the Central Statistical Institute, the National Research Council, and other agencies dealing with such disparate matters as tourism, food supply, public sanitation, youth movements, the welfare of disabled veterans, and relations with Italy's new Regional governments

The Consultative Administration—The Council of State. In the Prime Minister's Office are also to be found most of the auxiliary organs of public administration, sometimes known collectively as the "consultative administration " Among these the most important, and certainly the most distinguished, is the Council of State (*Consiglio dello stato*) Consisting of about seventy-five councilors and divided into six sections,[2] its duties are akin to those of the body with the same name in France From one of its three "consultative" sections, individual Ministers or ministerial departments must secure the Council's advice and sometimes its consent before a particular decree or regulation may be issued The fourth, fifth, and sixth sections determine controversies of a jurisdictional nature among the national administrative services and serve as courts of last resort for cases in administrative law which originate in local tribunals throughout Italy, especially among the local prefectoral councils [3]

[2] A special seventh section was added recently for the administration of the Fascist purification laws, but it is temporary

[3] See p 298.

Other Consultative Agencies. A second consultative administrative agency, likewise under the wing of the Prime Minister, is the Office of the State Attorney It represents the Government in civil actions in the courts, renders legal advice, and scrutinizes the form of proposed decrees Finally, mention must be made of the Court of Accounts (*Corte dei conti*), also attached to the Prime Minister's Office Its councilors and other personnel, far more numerous than in the case of the Council of State, not only exercise budgetary control over all public agencies, national and local, and audit their accounts, but also serve as a court in cases of claims against the State, particularly pension claims, and pass upon the legitimacy of certain executive decrees

National Council of Economy and Labor. The republican Constitution calls for the establishment of still another consultative agency which will apparently also be attached to the Premier's office This is the National Council of Economy and Labor [4] As its name implies, it is to have fairly broad interests in the economic field and is expected to advise Cabinet and Parliament on economic matters and even initiate economic legislation Pending proposals to organize this Council call for a sixty-man body drawn from labor, industrial and commercial associations, and the Government, and provide that three-fifths of the membership must concur on the clauses of any economic measure which might be drafted by the Council and presented to the Cabinet The Council's president would be nominated by the Prime Minister Cabinet and Parliament have shown no enthusiasm for the proposed Council and give the general impression that it would be a largely useless, and hence superfluous, piece of governmental machinery

The Civil Service. Personnel policies of the Italian bureaucracy are similar to those which obtain in the French Civil Service Officials and employees of the State have been classified and graded in five major categories; and, for many years, examinations, oral and written, or some other competitive device, have been employed to select recruits The new republican Constitution specifically states that admission to the public service shall be competitive unless the law makes an exception [5] University training of a fairly specialized type is normally regarded as a prerequisite for application for appointment to the highest division in the service, that is, Class A, members of which are appointed to advisory or directorial positions Thus, for the foreign service, for example, university graduates who have specialized in law, economics, or political science are preferred Examinations are conducted in each ministerial department under the nominal supervision of the Minister Preference is shown only for certain military veterans who apply for positions in the lower, nonspecialized brackets Each of the five classes is distinct and there is normally no transfer from one class to another Promotions to higher grades in each class are determined by a special council in each ministerial department Public services in Italy are notoriously overstaffed, Government, like private industry, indulging in this form of concealed unemployment. Currently,

[4] Constitution, Art 99

[5] Constitution, Art 97,

employees and officials attached to the central administration are said to approximate a million persons. State employees, both those engaged in Government service proper and in State economic enterprises, and local-government personnel are affiliated with the Communist-dominated General Italian Confederation of Labor and with the newly formed non-Communist Italian Confederation of Labor Syndicates.

THE JUDICIARY

Restoration of a Free Judiciary. Restoration of a free Government in Italy has been accompanied, logically enough, by the re-establishment of an independent judiciary As noted earlier, the notorious Special Tribunal, epitome of Mussolini's conception of "political courts" and of Fascism's negation of due process and judicial independence, was about the first Fascist institution to be abolished after the dictator had himself been retired Against these Fascist conceptions of the status and role of the judiciary, the new republican Constitution takes the firmest possible stand The judges, it declares, "are subject only to the law." Only "regular judges" may exert the judicial power in accordance with the established principles governing the exercise of such power, and the naming of extraordinary, or special, judges is expressly interdicted.[6]

An Independent Judicial Department In various clauses of the Constitution unusual emphasis is placed upon the conception of a judicial establishment which is autonomous and hence completely independent of the political departments of the Government In pursuance of this ideal, the new basic statute has transferred some of the authority over the judiciary, customarily exercised by the Minister of Grace and Justice, to a so-called "Superior Council of the Judiciary" over which the President of the Republic presides [7] This body consists exclusively (except for its presiding officer) of members of the bench and bar and of university professors of law,[8] and exercises general authority over the appointment and promotion of judges and over their assignment and transfer On motion of the Minister of Grace and Justice, the Council may take steps to discipline a judge although, in principle, a judge is irremovable Concern for the ideal of an independent judiciary is manifested in other ways. Judges who must preside in "special" jurisdictions are declared to be quite as independent as those who preside over more routine proceedings; special police are allocated directly to the courts to carry out their orders, prosecutors attached to the various grades of courts are professionally as independent of political influence or pressure as their brethren, the "sitting magistrates"; and the principle is emphasized that a judicial appeal from the acts of public authorities, either to a regular or to an administrative court,

[6] Constitution, Arts 101, 102

[7] The Council was first established July 14, 1907

[8] The First President of the Supreme Court of Cassation and its chief prosecutor are members *ex officio*, two-thirds of the elective members are chosen by the judges from among their own number, one-third are chosen by Parliament from among law professors and attorneys who have practiced for at least fifteen years Elective members have a four-year term and are not immediately re-eligible

shall always be facilitated On these issues of judicial autonomy and the independence of judges the policy of the Republic has been to return to the principles first enunciated officially in the judicial reforms of 1907 and 1908 and to expand and develop them So generously have these principles been articulated in the new constitutional order that Italian jurists consider the judiciary as one of four supreme organs of the State, the others being Parliament, the President, and the Cabinet[9]

The Lower Courts. In the judicial structure the tribunal of lowest grade is a local office of conciliation or people's court of which there are more than 7,000, one or more being found in every Italian commune The magistrate (*conciliatore*) of this tribunal, who is not a professional member of the bench, is appointed by the presiding judge of the Court of Appeals of the area Procedure is of a summary, informal character, and the disputes presented are likely to be of a petty civil nature involving not more than four or five hundred lire Above the conciliation agencies are the justices of the peace (*preture*) These are to be found in every province, although their number varies greatly from province to province, a populous area like Naples having twenty-four whereas other provinces may have only two or three Praetors have original jurisdiction in civil cases involving not more than 5,000 lire and in criminal cases involving fines of less than 5,000 lire or imprisonment for a period less than three years Above these, in the judicial structure, come the so-called Tribunals (*tribunali*) which occupy the first rung in the hierarchy of the courts of higher grade Every provincial capital and certain other large centers of population contain a Tribunal and their total for the Republic is 146 Appropriate sections of each Tribunal exercise original jurisdiction in practically all civil cases and in all criminal cases except the most serious not tried originally in the courts of summary jurisdiction The Tribunals also entertain appeals from the praetor's court

Courts of Appeal. Courts of appeal (*Corti d'appello*) exist in most of the major cities of the peninsula and the islands Normally the territorial jurisdiction of an Appellate Court includes an entire compartment or Region, the largest territorial area into which Italy is divided for local administration, although a special Region like Valle d'Aosta has no separate Appellate Court, while one or two of the more populous Regions may have two In all there are twenty-two Appeals Courts and a special section for the Region of Reggio Calabria. Most of the civil appeals from the lower courts go to this tribunal, and some of the civil cases of great importance may be originated in the Appeals Court Each such court also exercises some supervisory authority over the Tribunals and lesser courts in its area A special section of the Appellate Court, known as the Court of Assize (*Corte d'assise*) sits at intervals in practically every province This court, composed of one professional magistrate from the Appeals bench and selected laymen who serve as a jury, is the nation's ranking criminal tribunal exercising original jurisdiction. It tries most

[9] See Giuseppe Grassi, "La Magistratura Nella Nuova Costituzione," in *Il Centenario del parlamento*, published by the Secretariat of the Chamber of Deputies, Rome, 1948, p 429

capital cases. Appellate judges also serve on the bench of a special Court for Minors which was apparently established during the Fascist period.

Supreme Court of Cassation. In the regular judicial ladder the highest rung is occupied by the Supreme Court of Cassation (*Corte suprema di cassazione*) at Rome. It is comparable to the tribunal of the same name in Paris. It might also be compared with the United States Supreme Court except for the fact that the latter possesses the power to review the question of the constitutionality of legislation and hence may be said to combine the functions of the Court of Cassation and Italy's new Constitutional Court.[10] Various sections of the Court of Cassation, of which there are three for civil cases and an equal number for criminal cases, constitute tribunals of last resort for appeals from the lower courts.[11] Appeal is restricted to cases where procedural or jurisdictional errors are alleged or where a defendant claims there has been an abuse of discretion. An appropriate section of the Court of Cassation may void or uphold judgments or require new trials. Each criminal or civil section usually has approximately twenty judges (Councilors), those with seniority in point of service acting as section presidents. The senior judge is known as the First President of the Court and has certain supervisory powers over the tribunal. At one time there were five courts of cassation in Italy, each the equal of the other; their consolidation into a single court at Rome in 1923 was one of the earlier and more acceptable of the Fascist judicial reforms.

The Constitutional Court. Of potentially great importance as a conservative influence in Italian politics and of outstanding interest to political scientists is the new Constitutional Court (*Corte costituzionale*). Both the formal phraseology of the Constitution[12] and the legislation creating this court unquestionably invest it with power to review and nullify legislation and decrees with the force of law, if they are found to be inconsistent with the court's interpretation of the Constitution. Hence, as Professor Mario Einaudi suggests, the establishment of this tribunal reflects a desire of the Constituent Assembly to place the written Constitution and subsequent constitutional laws "beyond the temptation of legislators."[13] If that desire is realized, the Assembly will not only have placed judicial metes and bounds to the policies of politicians, but it will have broken the tradition of legislative supremacy which, in Italy as in France, has been dominant throughout the democratic era.

In setting up the new Court, serious efforts have been made to secure a qualified, politically independent, magistracy. Terms of the fifteen judges, which will normally be fixed at twelve years, have been arranged to expire at different times so as to permit of partial renewal of the bench.[14] Incumbent judges are not immediately re-eligible upon the expiration of their terms. Candidates for the judgeships must be active or retired magistrates of the highest

[10] See p. 296.

[11] This statement may no longer be quite accurate in view of the jurisdiction of the new Constitutional Court.

[12] Constitution, Arts. 134–137 inclusive.

[13] *Op. cit.*, p. 674.

[14] However the original appointees are each assured a 12-year term, Constitution, Transitional Provisions, Clause III.

regular or administrative courts, law professors, or attorneys who have practiced for at least twenty years Five of the appointments are made under the authority of the President of the Republic and five by Parliament in joint session The remaining five judges are appointed by the courts, that is, three by the Supreme Court of Cassation, one by the Council of State, and one by the Court of Accounts Jurisdiction extends to questions about the constitutionality of national and regional laws and legislative decrees or decree laws and to issues involving the constitutional distribution of powers among the organs of the central Government, between the central Government and a Region, and between Regions [15] Legislation outlining the exact nature of the Court's authority is quite explicit as to just when and under what circumstances it may take jurisdiction of a case. Apparently this may be done whenever the issue of constitutionality is raised by a presiding magistrate during the course of a judicial proceeding or when it is raised by either party to a proceeding and his action has not been vetoed by the presiding magistrate as irrelevant or unfounded. When augmented with sixteen additional lay members chosen by Parliament, the Court may also try impeachments brought against the President of the Republic or the Ministers. Needless to say, Italian jurists and their brethren abroad will watch the evolution of this unusual tribunal with keen interest [16]

LOCAL GOVERNMENT AND LOCAL ADMINISTRATION

Local Political and Administrative Areas. Establishment of the Republic has apparently served to augment Italian interest in local government. All of Italy continues to be divided into some 7,757 communes and ninety provinces, each of which is an autonomous local government corporation or quasi-corporation as well as a local territorial unit for the operation of the central Government's administrative services For electoral and other purely administrative purposes, the Republic has also revived the *circondari,* historic equivalent to the French *arrondissement,*[17] which the Fascists abolished in 1927. In addition to this traditional machinery, the creators of the new Italy have set up the Region, a new level of self-government midway between the province and Rome In area, the Regions are often roughly coextensive with certain of the historic Regions, the consolidation of which produced united Italy and which, known as compartments, have sometimes served in the past as relatively unimportant judicial and administrative units

The Commune: Its Government. With slight variations the restored pattern of local government at the communal and provincial levels follows pre-Fascist models [18] The principal institution of communal government is

[15] Some have suggested that the Court was necessary to protect the autonomy of the newly-established Regions, but this seems to be a rather narrow conception of the true motives animating its creators

[16] A summary of the legislation affecting the Constitutional Court appears in *Annuario parlamentare,* 1949–50, pp 255–56 There is also an excellent article on this tribunal by Michele La Torre entitled "Le garanzie costituzionali nella nuova costituzione" in *Il Centenario del parlamento,* Rome, 1948, pp 439 *ff*

[17] See p. 226.

[18] See p 227

once again the Communal Council (*Consiglio comunale*), members of which are elected for four years under a suffrage law which, as in the case of parliamentary elections, qualifies all adult men and women In some communes—those with less than 30,000 inhabitants—the membership of the Council varies from fifteen to forty In communes with more than 30,000 inhabitants, the Council may have as many as eighty members and they are elected by a modified system of proportional representation in which the party with the largest vote may win as many as two-thirds of the seats Out of its membership, the Council selects the Syndic (*Sindaco*), or chief executive officer of the commune, and the so-called Communal Committee (*Giunta comunale*) which serves at one and the same time as a sort of watch-dog committee for the Communal Council and as an advisory body for the Syndic As in former times, the Syndic represents the commune before the courts, promulgates local ordinances, negotiates contracts, and supervises the commune's property and administrative services He is also a local officer of the national Government and, under the jurisdiction of the Prefect, supervises the collection of vital statistics, keeps army and electoral registers, and maintains order and security The Syndic's chief administrative assistant is the communal secretary In addition there are the necessary legal advisers and administrative departments and services Although a great metropolitan commune like Rome, Milan, or Naples technically has the same pattern of municipal government as some small, rural, hilltop commune, the metropolitan commune has a most extensive and extremely complex administrative establishment and provides its residents not only with the normal municipal services but sometimes with a good many others of an economic or cultural character which betray a considerable emphasis upon municipal socialism

The Province: Its Autonomous Government. Pre-Mussolinian democratic principles have also been reapplied to the autonomous government of the Italian province The Provincial Council (*Consiglio provinciale*), like its communal counterpart, is elected popularly. A small number of the Council, usually not more than fifteen, known collectively as the Provincial Deputation (*Deputazione provinciale*), acts for its principal when the latter is not in session The chief executive officer of the autonomous provincial administration is the provincial President (*Presidente*) Alone, or in conjunction with the secretary-general of the province and the Provincial Council or its Deputation, the President supervises the provincial services and the corporation's personnel, local public works, and fiscal activities

The Prefect and His Powers. As in former years, President and autonomous provincial administration in republican Italy are wholly overshadowed by the Prefect (*Prefetto*) for whom the territory of a province continues to be the normal area of jurisdiction This official, who has a lengthy and significant history in Italy[10] as in France, is the local emissary of Rome Specifically, he is the local emissary of the Minister of the Interior and exercises that bureaucratic potentate's vast powers over local affairs These include authority

[10] For comments on this official in pre-Fascist Italy, see p 226

to safeguard the public peace, security, and health and to supervise the conduct of elections, and in exercising such authority, the Prefect necessarily assumes control over local police and related public forces and issues appropriate orders to such local officials as the Syndic of the commune and the President of the province. A corollary prefectoral power, arising out of this supervisory authority, is that of issuing decrees with the force of law. A special council consisting of representatives of the provincial administration and prefectoral appointees provides the local "consultative" administrative agency, that is, an advisory body for the Prefect and a local administrative court.

Other Prefectoral Powers. Coordination of the activities of the field agents of certain other Rome Ministries is another responsibility confided to the Prefect, and he is supposed to serve as a sort of liaison officer for such national agents in their contacts with autonomous local government agencies and officials. Finally, the Prefect has immense powers over local government. He may investigate the administration of the commune and province, review and veto acts of the local government authorities, call them to account, force them to act when the law requires and, in extreme cases, supersede local authority. Prefectoral prerogatives over Italian local government are the substance of a system of "administrative" control which stands in sharp contrast to the traditional American system of impersonal "judicial" control of local government. The authority which continues to be vested in the Prefect reminds all observers that, if local government in Italy is democratic, it is democracy tempered by a form of "bureaucratic centralism." As thus tempered, it provides a blend of the amateur and the official for which perhaps France offers the only counterpart.

The Region. We turn now to the Region, latest creation in the hierarchy of local governmental and administrative arrangements in Italy. Nineteen Regions [20] are named in the Constitution, and provision is made for the creation of additional Regions as well as for the consolidation of existing ones.[21] Each of these areas is to have its own constitution and governmental structure, the latter following the local governmental pattern traditional in modern Italy. Legislative and other discretionary powers, conferred upon a Region by the national Constitution, are to be exercised by the Regional Council (*Consiglio regionale*), and executive and administrative authority are to reside in the Regional Executive Committee (*Giunta*) whose President will act as the formal head of the Region's government and symbolize the Region's juridical personality.

Region and State. The thinking that inspired creation of this new level of government was quite radical and apparently aimed at a national State so decentralized that it would savor of a federal regime. However, by the time the concept of the new Region emerged from the Constituent Assembly, it was something distinctly less significant than a component of a federal system.

[20] According to Art. 131, they are Piemonte, Valle d'Aosta, Lombardia, Trentino-Alto, Adige, Veneto, Friuli-Venezia Giulia, Liguria, Emilia-Romagna, Toscana, Umbria, Marche, Lazio, Abruzzi e Molise, Campania, Puglia, Basilicata, Calabria, Sicilia, and Sardegna.

[21] Art. 132.

To be sure, the Constitution anticipates that the Region will develop its own sources of revenue and it confers a long list of powers,[22] but the Region is also expected to rely upon the national exchequer for support, and nearly all the powers conferred upon the Region seem to be of a traditionally local character, more likely to conflict with the existing prerogatives of province or commune than with the prerogatives of Parliament. Moreover, since it is anticipated that province, commune, and other existing local agencies will serve as the Region's administrative instrumentalities, the net effect of the creation and empowerment of the Region may well be to reduce the political significance now possessed by province and commune.

Earlier it was pointed out that, through the intervention of the new Constitutional Court,[23] the Regions are assured of a judicial determination of a jurisdictional dispute with the central authorities. Indeed the Constitution[24] has provided elaborate machinery for resolving differences between the central Government and a Regional Council which, in case of failure, relies upon the Court to settle the issue. Nevertheless, in practice, control of regional discretion is likely to assume an administrative rather than a judicial form. Such, at least, is the Italian tradition and the tradition is influential. Moreover, instruments to develop such administrative control of the Region are not lacking in the existing constitutional scheme. Thus Article 124 of the basic law speaks of a "Commissioner of the Government" (*Commissario del governo*) who is to be sent to the Region's capital, there to coordinate the administrative functions of the central Government with those exercised by the regional apparatus. On paper, at least, the Commissioner looks like another, albeit a somewhat glorified, Prefect. Other existing constitutional provisions point up this suggestion of administrative control of the Region by the central authorities. Thus through the instrumentality of the President of the Republic, the Cabinet, acting in conjunction with a parliamentary committee on regional affairs, may dissolve a Regional Council. The reasons for such action may range from the alleged exigencies of national security to allegations that the Regional Council or its Executive Committee have violated the Constitution or the laws. Most of the regional system is still in the blueprint stage, hence it is difficult to determine how much real autonomy will be achieved. Whatever develops, however, is likely to be a far cry from the relatively self-sufficient, politically independent series of local regimes which some of the more particularistic politicians originally thought they had secured.

Regions with Special Autonomy. For the two island areas, Sicily and Sardinia, where a separatist tradition has occasionally reared its head, and for three other areas, Valle d'Aosta, Trentino-Alto Adige, and Friuli-Venezia Giulia, where there are minority and frontier problems, the Constitution has required a special form of regional autonomy.[25] This is to be guaranteed by a special statute for each Region thus identified, each such statute to have the status of a constitutional law juridically on a par with the national Constitu-

[22] Arts. 117, 119
[23] See p. 296
[24] Art. 127
[25] Art. 116

tion At least four of these statutes, each providing an autonomous governmental system for one of the Regions in question, were enacted in February, 1948. As a result, Sicilians may take some sort of satisfaction in the fact that their Regional Council is to be known as the "Regional Assembly" and in other symbolic concessions to local particularist feeling, and other special Regions may feel that their local interests and distinctive cultural traits secure greater protection under this specialized regional regime In general, however, the distinction between special Regions and the regular ones is formal and juridical

Outlook for Local Government in Italy. Creation of the Regions and the concomitant renewal of popular forms of local government at other territorial levels may well herald a sort of local-government risorgimento in contemporary Italy In turn, this may reduce the hitherto preponderant influence of national officials in local matters and presumably extirpate, or at least reduce appreciably, the electoral and other abuses which in the past have been attributed to that influence. All friends of the new republican regime fondly hope that such will be the case At the same time, it must be reiterated that the nineteenth-century tradition of bureaucratic centralization, personified in the Prefect, is apparently as strong as ever, and it is unlikely that any mere proliferation of local-government mechanics will extirpate that influence Neither will the expansion of local-government arrangements, such as is provided by the Region, stop the steady expansion of the number and variety of national officials sent to keep the Prefect company at the local level Besides the more or less traditional financial, police, and judicial officers, these include health and education inspectors, agricultural experts, public-works engineers, heads of a variety of public enterprises, and many others who personify the new centralism inspired by the twentieth century's collectivism and the centripetal influences of our technology Contemporary Italy may indeed achieve a genuine form of local autonomy, but such an achievement is much more likely to stem from a more broadly diffused sense of political morality and responsibility at the "grass roots" than from added local governmental and administrative machinery

CHAPTER VII

REPUBLICAN ITALY'S POLITICAL PARTIES

Historic Parties Continue As noted earlier,[1] one of the surprising facts about the restoration of free Government in Italy was the immediate reactivation of most of the historic political parties Parliamentary politicians, familiar with political labels in the Chamber and Senate of 1919, find many of these labels used in the Chamber and Senate of 1952 Indeed, in a great many cases, contemporary parties trace their origins back to the years which antedate Mussolini. The long night of Fascism did not snuff out their existence Sometimes, by means of an underground organization or an organization in exile, the free parties of Giolittian Italy continued at least a *pro forma* existence right through the two decades of Fascist ascendancy. Even when a new label is used, it does not necessarily mean a new party but one which has merely changed its name As we have already pointed out, this is true of the largest of all the contemporary parties, the Christian Democrats, who are simply the *Popolari* of 1919 under a new name

But if most of the historic parties have continued into post-Mussolinian Italy, it is also true that important shifts have occurred in their relative importance Of greatest significance in this respect is the changed complexion of the Left already foreshadowed in 1919 as the liberal monarchical period was drawing to a close The "Old Left," composed of the various liberal groups which provided parliamentary support for Giolitti's Cabinets, though still in existence, is but a shadow of its former self Power has now shifted irrevocably to parties which, in 1919, had only just come into a position of political strength and had not yet had a real opportunity to exert parliamentary influence.[2] These include the Christian Democrats and the various Marxian groups. Together they account for more than 80 per cent of the parliamentary membership As Cabinet makers and reservoirs of political leadership, these parties of the "New Left" have apparently permanently eclipsed the old Giolittian Left.

[1] See p 269.
[2] See p 248

THE RIGHT

The Liberal Party What remains of "Giolittian Liberals" in contemporary Italy serves as the most important, or at least the most distinguished and politically trustworthy, component of the political Right In 1951 such Liberals and their allies could count upon the political loyalty of some seventeen Senators and eighteen Deputies, and they still exerted a political influence disproportionate to their numbers, Liberal politicians having participated in all governing coalitions from 1944 to 1950 The issue which precipitated the Liberal defection from the sixth de Gasperi Cabinet, in January, 1950, was that over the proposed application of the proportional principle to electoral legislation, the Liberals objecting to the failure of the Christian Democrats to apply that principle as generously and as widely as possible, particularly to local elections In general, Liberals remain loyal to the ideal of a secular State and frown upon the preferred position given the Roman Catholic Church in the new Constitution and in the policies of the dominant party The Liberal majority is probably still pro-monarchist in sympathy although the party as a whole has loyally accepted the Republic Liberals are likely to take a critical view of certain welfare and collectivistic policies of other parties, farther to the Left, generally opposed radical land reform, and remain devoted to the cause of a pluralistic society, a private-enterprise type of economic system, and to customary civil liberties

The Monarchists. Among numerous smaller partisan aggregations on the Right which have a degree of permanence, mention might be made of the Monarchists, officially styled the "National Monarchist Party" The fall of the Savoy dynasty in 1946 has largely removed the party's *raison d'être,* but it remains loyal to monarchism as a social and political principle and would probably give at least tacit support to any overt movement for a restoration On most social issues, the party is generally strongly conservative in its views. As the so-called "National Freedom Bloc," it won sixteen seats in the elections to the Constituent Assembly in 1946 and mustered about 5 per cent of the vote Shorn of some of its allies in the Chamber elections of 1948, it yet managed to win some fourteen seats and enjoyed about 3 per cent of the total vote Monarchist lists are usually most popular in the southern peninsular area

Neo-Fascist Movements. Also on the Right, but much more dangerous to the existing order, are the various neo-Fascist movements One such organization, the so-called "Movement of the Common Man" (*Uomo Qualunque*), had a rather meteoric rise in public favor in 1946 when it won some thirty seats in the Constituent Assembly and ran many successful candidates in local elections including the municipal elections in Rome Subsequently the Common Man Movement deteriorated, to be succeeded by an even more obviously neo-Fascist group calling itself the Italian Social Movement (*Movimento sociale italiano*) The MSI had six seats in the Chamber in 1951 and in the local elections of that year its lists polled about 4 per cent of the total

national vote[3] Its political and journalistic leaders, many of them once ranking members of Mussolini's Fascist hierarchy, endorse that fallen leader's totalitarian ideas, especially his conception of an authoritarian political system and a monopolistic political party Its political tacticians also make vigorous efforts to win acclaim by engaging in combat with the Communists, preferably in street battles and through direct-action techniques such as Mussolini found so useful in the early 1920's and which the parliamentary State ultimately found were so fatal to its own integrity Since the Constitution expressly forbids the revival of Fascism and since many steps, recounted on an earlier page,[4] have been taken to purge the nation of the Fascist menace, there is little excuse for tolerating such a revival as is implicit in the Italian Social Movement Legislation developed in 1950 permits the Cabinet to suspend neo-Fascist organizations and authorizes the courts to disband them and punish their leaders for publicly advocating Fascist ideology Among the constitutional parties there is little fear that legislation of this type will jeopardize the democratic or libertarian character of the present Italian regime

THE CENTER

Center Parties—The Christian Democrats. Identification of a "Center" in Italian politics presents certain difficulties, since all parties, save some already mentioned, would undoubtedly consider themselves a part of the "Left" both for historic reasons and for reasons of party strategy Any realistic classification would, nevertheless, place the largest of all the Italian parties, officially known as the Party of Christian Democracy (*Democrazia cristiana*) in such a Center position. Its program is a moderate one and its policies appeal to constituents of almost every walk of life and of nearly every level of society Indeed, largely because Christian Democracy counts upon the support of so cosmopolitan and vertical a class structure, clearly defined left and right wings have emerged within the party. Often these are emphatically opposed to one another as, for example, in July, 1951, when the jousting of factions within the party over the Government's fiscal and other policies helped to precipitate the break-up of de Gasperi's sixth Cabinet To keep the peace between these factions, compromise and essentially opportunist concessions to both radicals and conservatives cannot be avoided by the party policy-makers Ideologically, Christian Democracy is oriented in the direction of the philosophy of the Roman Catholic Church's encyclicals on social issues, especially such seminal ones as *Rerum novarum* and *Quadragessimo anno* Indeed it is the Church's views on social justice that provide the ideological cement binding together, in a common political organization, people of the most diverse interests and social standing Christian Democracy's Church-inspired social consciousness is revealed in the party's support of adequate social legislation and the efficient administration of such legislation It is also apparent in the

[3] In Sicily the MSI candidates, leagued with Monarchists, polled as much as 8 per cent of the total vote

[4] See p 268

party's efforts to promote a sturdy, free, trade-union movement (though not necessarily independent of the party itself), to subsidize housing for the urban worker; to break up large estates and vest title to the subdivided tracts in the peasant cultivator, and in the program, recently undertaken, to raise the economic and social level of some of the more backward southern areas Dr de Gasperi's followers have also been officially sympathetic to limited programs of industrial nationalization, especially where the industry in question was deemed monopolistic in character, on the other hand, except for certain minority left-wing elements within the party, they have never suggested any hostility to private business

Christian Democracy's Influence on the New Constitution Because of sheer strength of numbers, Christian Democracy's role in the Constituent Assembly was considerable, and it was able to influence rather remarkably the foundations of the new Republic. As was noted earlier, Christian Democrats in the Assembly strongly favored corporative political institutions for Italy including political representation of economic and professional interests In thus voicing their predilection for a corporative system they were merely voicing one of the cherished constitutional ideals of Catholic Parties in Europe generally, most of whom had advocated corporative constitutional principles long before Mussolini bastardized them Defeated in this effort, the party applied its energies successfully toward incorporation of "regionalism" in the Constitution The autonomous Region—the new level of local government superior to that of the province—was inspired in part by Christian Democracy's fear of authoritarian and centralized government and in part by the hope that greater local responsibility for public affairs would widen popular participation and responsibility in government generally and thus strengthen democratic competence at every governmental level As might be expected, the party took advanced ground in developing a favorable constitutional position for the Roman Church, having been largely responsible for the inclusion, in the new republican *statuto fondamentale,* of the essential provisions of the Lateran Agreements[5] A corollary of this policy respecting Church and State is to be discerned in the party's support of private schools which, of course, mean Church schools The party advocates public financial support for Church schools equivalent to the support rendered public schools

Its International Policies. Internationally, Christian Democracy's orientation is wholly toward the West. It takes a position favorable to virtually all policies which seek to strengthen Western Europe and its allies against Soviet Russia and her satellites, including economic cooperation under the European Recovery Plan, the integration of Western Europe both politically and economically, and the implementation of the North Atlantic Pact and Western European defense plans Like all other constitutional Parties, the Christian Democrats stand four-square in favor of the ultimate return to Italy of Trieste and adjacent territory Even so, they have consistently sought to foster friendly relations with Tito's Yugoslavia, a policy which became more realis-

[5] See p 316 for provisions of the Agreements

tic when Tito and the Cominform fell out in 1948 Allied to the Trieste policy was that of preserving as much as possible of the nation's former colonial domain Relatively unsuccessful in this, Christian Democratic leaders have not been slow to censure the leadership of certain Western powers, especially of the United Kingdom, for allegedly having frustrated what are regarded as legitimate Italian aspirations.

The Party Continues Coalition Policy. As noted elsewhere, the majority position of de Gasperi's Party in the Chamber of Deputies after the 1948 elections[6] has not tempted it to abandon coalitionism The Christian Democratic leader has continued to share responsibility with one or two small groups who have served on his Cabinets since he first organized the Government Apparently the coalition policy is continued because it is thought the Cabinet will acquire greater national authority and support and possibly also because de Gasperi considers his own party, powerful though it may be, insufficiently united and disciplined to wear the mantle of authority alone as is customary with a majority party in the United Kingdom

Right-Wing Socialists One of the groups especially favored by Dr. de Gasperi for his governing coalitions, and which may also be considered a part of the Center, is the Socialist right wing led by Giuseppe Saragat Officially styled the "Socialist Party of Italian Workers," it joined forces, at least transiently, in the elections of 1948 with a minor dissident Socialist following, the resulting coalition adopting the label of "Socialist Unity Party" Historically the *Saragatiani* constitute the more moderate wing of the Italian Socialist Party which was riven asunder in January, 1947, on the issue of Socialist collaboration with Communism and Communist sympathizers Although their intellectual orientation is Marxist, Saragat's Socialists insist upon achieving the workers' millennium, if it is to be achieved at all, within the framework of the democratic parliamentary State and with the traditional freedoms and civil liberties of the individual unimpaired by the exigencies of any Marxist blueprint This gradualist "constitutional" Socialism is perhaps their most distinctive ideal—at least it is the ideal, insistence upon which caused Saragat's followers to split with their left-wing brethren and to secede in 1947 from the then unified Italian Socialist Party

Policies of the Right-Wing Socialists. As befits a relatively small party, Signor Saragat's followers emphatically endorse proportional representation both in local and national elections As good Marxists they favor a generous dose of nationalization; division of the landed estates in the interest of peasant proprietors; amelioration of the regressive burden of direct taxation of which Italy appears to be so fond; a State-stimulated policy of full employment; a strong trade-union movement and preservation of labor's right to strike except possibly in the case of essential public services, and, of course, a maximum number of social services identified with contemporary State paternalism This splinter party is Western in its international views, a good friend

[6] The party had 307 seats (53 per cent) in the Chamber and 151 seats (43 per cent) in the Senate

of the ideal of Western European unity and of Western European cooperation with America in opposing the spread of international Communism [7] From such Western association it would exclude only Franco Spain, and it takes a firm stand against occasional proposals of the Christian Democrats that the *Caudillo's* regime be recognized The party is also a strong supporter of the lay State and hence occasionally finds itself opposing de Gasperi's followers on ecclesiastical matters But differences of viewpoint on this and other matters have not prevented loyal service on de Gasperi-dominated Cabinets which was continuous from the time the *Saragatiani* set up shop as a separate entity Qualms about associating with clericals did overtake the leadership of the party toward the end of 1949 and for a time it appeared that the party might go into opposition; but such qualms were dissipated successfully and collaboration continued until the spring of 1951 At that time a desire to merge with the Unitarian Socialist Party required the resignation of the party's representatives from the de Gasperi Government, and the three existing right-wing Socialist ministers in the Cabinet accordingly withdrew.

With their allies in the elections of 1948 the *Saragatiani* won some thirty-three seats in the Chamber and were able to claim the loyalty of twenty-six Senators. Voting strength in those elections hugged the two-million mark and constituted about 7 per cent of the total vote cast As we shall see later, the *Saragatiani* have lost their partisan identity, at least for the time being, because they have followed certain other Socialist groups into the so-called Unitarian Socialist Party In this new organization, however, the right-wing Socialists are likely to be the dominant group because they are the most numerous; and whether they move forward alone or in conjunction with other Socialist segments, they will continue to exert a major influence in directing Italian Marxism towards liberal parliamentary ideals and a moderate, albeit progressive, social policy

The Republican Party. Examination of Italy's political Center would be incomplete without some comment on the Republican Party (*Partito repubblicano italiano*). Harking back to Mazzini and Garibaldi and the romantic republican ideals of the mid-nineteenth century, this party has had a long and honorable history In 1948 it had the satisfaction of realizing its historic ideal, namely, the transformation of Italy from a monarchy into a republic and the proscription of the Savoy dynasty Italian Republicans remain professedly anticlerical and supporters of the secular State, and they demonstrate sincere attachment to civil liberty and to parliamentary traditions Their interest in the labor movement is relatively strong and they are usually in the van of the supporters of social reform through public action. In 1948 the party elected nine Deputies and polled somewhat more than a half million votes or about 2 per cent of the total cast Despite its small size it has wielded considerable influence on policy recently, having participated in all governing coalitions since 1947 Part of the secret of its strength is to be discovered in its excellent

[7] But a majority of the Party has occasionally opposed Saragat and a minority on the issue of supporting the Atlantic Pact

leadership The Republican chief, Randolfo Pacciardi, since his somewhat disillusioning days of association with the Communists in the Spanish Civil War, has acquired stature as republican Italy's Minister of Defense and one of her stalwart defenders of free ideals against Communism

Minor Center Parties. As noted in an earlier chapter,[8] at least two additional minor Center groups played a role of some importance in the transition from Fascism to the republican parliamentary regime These were the Labor Democrats, holdover of the Reformist Socialists of an earlier day, and the Action Party Neither of these parties survived the transitional period in any strength The Labor Democrats joined with the Liberals in the elections of 1946 and virtually lost their identity The Actionists, suffering from internal dissension, eventually split into fragments none of which received enough support at the polls to pull much weight in the party struggle for power in Parliament

THE LEFT

The Italian Socialist Party and the Popular Front. If Signor Saragat's Socialists may be identified with the political Center, virtually all other Socialists in Italy ought to be identified with the political Left Of these the most important is the left-wing remnant of the erstwhile unified Italian Socialist Party. This remnant continues to use the party's traditional name Under various leaders, of whom probably the best known outside of Italy is the former Vice Premier, Pietro Nenni, the Italian Socialist Party can still claim the support of some two and one-half million voters and of some fifty Deputies in the Chamber Nominally the party adheres to the gradualist Marxist principles of other West European Socialist Parties; actually it is a captive of Communism and both tactically and ideologically it behaves as the Communist Party's junior partner This slavish status originated in a pact for unity of action which the Socialist and Communist Parties signed in October, 1946 It was discontent with the political discipline imposed by this pact that, as was noted earlier, caused the secession of the right-wing Socialists in January, 1947 As a result of the unity pact, the Socialist Party does not even enjoy electoral freedom, invariably joining forces with Communism in common lists in both local and national elections under the label of the "Democratic Popular Front"

Socialists as "Fellow-Travelers." Servitude to Communism is even more manifest in the Socialist Party's policies In domestic matters, it advocates such Socialist shibboleths as nationalization of industry, abolition of monopolies, national planning, and other orthodox Marxian formulas for social action which Communism likewise endorses The Party also advocates the lay State, improved educational opportunity for all, land reform, and advanced social-welfare legislation More obvious evidence of Communist "conditioning" is to be discerned in the Socialist Party's views on constitutional matters and foreign policy As respects governmental processes and basic civic values,

[8] See p 269

orthodox Socialism seems to be quite as "realistic" as any disciplined member of the Cominform. Apparently, for Signor Nenni's partisans, the "administrative discipline" of Communism, polite euphemism for totalitarian dictatorship, holds no terror; nor do personal freedoms, civil liberties, and representative institutions enjoy the priority that is assigned them among the Socialists of the Right As respects foreign policy, the party advocates, at least in theory, a neutral course for Italy, proposing that the nation join no bloc but cooperate with all "democratic" states For the greater part, this is simply double-talk, a sort of phraseological veneer to obscure somewhat its hostility to the European Recovery Plan, to the Atlantic Pact, and to any form of Western orientation, and to render more palatable to some of its followers its diplomatic support of that negation of democracy known as a "peoples' democracy." The Socialist Party may be merely an ally of Communism, but the difference between alliance and outright merger is largely academic The distinction would cease to be even academic if, as in Czechoslovakia not so long ago, Communism in Italy should essay a *coup d'état* and find it necessary to crack the disciplinary whip over Marxians who had been Communists in all but name. For their support of the Cominform, Nenni Socialists were suspended in June, 1948, by the international Socialist movement, then officially known as the Committee for International Socialist Conferences (Comisco), and in May, 1949, the Nenni Socialists were expelled from the international organization

Minor Socialists of the Left. From what has been said it would appear that the most important fact about Signor Nenni's Socialists is their inability to call their political soul their own A somewhat similar observation may be made about the odds and ends of Marxist sects and schismatics who, as in the past, continue to infest Italian politics Chief among these, and the only group that is likely to achieve any prominence in the future, are the Unitarian Socialists (*Partito socialista unitario*) who held their first congress at Florence in December, 1949. Ostensibly this group's purpose was to heal the breach between the Left and the Right in the Socialist world. This aim it sought to achieve by defining a kind of Socialist "third force" which would appeal to both political extremes among the Marxians. In the international arena, Socialists were to refuse to support the policies of the predominantly Christian Democratic Cabinet. Instead they were to be "neutral" and support neither the West nor the East, thus allegedly assuring an "independent" diplomacy for Italy Although this formula for unity won adherents from among both extremes of Socialism, that is, from among the followers of both Saragat and Nenni, only the former and one or two small independent Marxian groups joined the new organization *en masse*. The agreement which brought the right-wing Socialists into the new combination provided, moreover, for a considerable modification of some of the principles which the Unitarians had originally adopted Although the right-wing Socialists agreed to end their cooperation with the de Gasperi Government, as the more militant among their new allies had demanded, most of Signor Saragat's followers insisted that a

firm stand be taken against any so-called "neutralist" or "third force" policy in international affairs, and they also demanded that their new associates support an anti-Communist policy both in international and domestic matters

It is possible that this new Socialist grouping may become the nucleus of a reunited "gradualist" Socialist Party which, in time, may even reclaim the followers of Signor Nenni from their docile attachment to Communism Such a prospect, however, appears remote Membership in a common political organization has by no means overcome differences in policy among the groups presently associated, and if that membership were to be extended to groups even farther to the Left, it is quite unlikely that even the pretense of organizational unity could be maintained. Moreover, the history of Italian Socialism—a history replete with doctrinal conflicts and organizational schisms—offers little reason for optimism instead of becoming the great unified political movement of constitutional Socialism, the Unitarian Socialist Party could, in due course, add just another splinter to political Marxism in Italy

The Italian Communist Party. Farthest left, of course, is the Communist Party of Italy, in point of numbers the largest Communist aggregation in Europe after that of the Soviet Union itself, and among Italian parties, the largest after the Christian Democrats Up to 1951 it was ably led by its chief strategist and ideologue, Palmiro Togliatti, a former divinity student, and one or two of his lieutenants, well-known in the Cominform world As already stated, the party went into the opposition in 1947 and has since been Italy's most dangerous fifth column Officially the Italian party, like Communist aggregations elsewhere, advocates the usual social and economic nostrums dear to the heart of Marxism; but the Communist emphasis is upon the class struggle and upon an uncompromising hostility to the Italian social and constitutional structure In foreign policy, it rarely deviates from the Kremlin line, however tortuous that line may be, and, under cover of the usual Communist slogan of cooperation with democratic and peace-loving countries, it vindicates a sycophantic devotion to Cominform diplomacy,[9] however aggressive, and a ruthless vilification of every Western power, especially of the United States

Communism's Political Influence Assayed. In a previous chapter,[10] a detailed description has already been given of the effort made by the Communists and their political stooges, the Italian Socialist Party, to win power by means of an electoral majority in 1948 Decisively beaten in this attempt, they have continued to exert pressure through strikes, sabotage in industry, malicious propaganda, and street demonstrations Besides resisting every overt Communist threat, the Government has recently struck at Communism's power over the labor unions Legislation has outlawed strikes for manifestly political motives and has sought to curb Communism's control of organized labor in other ways As already related, in the elections of 1948, the Communists and their Popular Front allies, the Socialists, won 182 seats in the Chamber, 132 of which were Communist, and polled some eight million votes

[9] Signs of Titoist "deviationism" did, however, appear in 1951.
[10] See p 275.

of which two-thirds were Communist votes. Party statisticians have asserted that card-carrying, dues-paying Communists totaled more than two and one-half million. More recent estimates by somewhat more neutral statisticians indicate that, though the party may have had close to that number in 1948, it lost almost a million members in the next twelve months. Even so, Communism easily maintains its status as Italy's second largest party. Supporters are still to be found in great numbers in the industrial centers of the North and, oddly enough, in recent years particularly, in some of the more depressed agricultural areas of the South. The persistence of its hold on the masses was demonstrated in the local elections of 1951 when the percentage of the total vote going to Communism and its Popular Front allies actually rose above the level of 1948.

THE LABOR MOVEMENT

The Political Nature of Italian Trade Unionism. As in most European countries, organized labor in Italy has a vigorous tradition of political action, so much so that labor unions are often quite frankly recognized as auxiliaries of political parties. They thus differ from American unions which, until the last decade or two, have at least professed to be nonpartisan and more interested in bargaining directly with management for economic benefits than in acting as a political pressure group. Italian labor unions may, therefore, quite properly be considered in a chapter devoted to political parties.

General Italian Confederation of Labor. Trade-union organization was revived in Italy during the halcyon period of cooperation among the parties in June, 1944, and the three mass political organizations, Communist, Socialist, and Christian Democrat, having at that time ostensibly somewhat similar social blueprints, gave their blessing to a common labor organization. This was known as the General Italian Confederation of Labor or CGIL (*Confederazione generale italiana del lavoro*). First in the field and under the broadest possible political auspices, the Confederation quickly gathered under its wing most of the various labor federations and syndicates and became the spokesman of organized labor in Italy, boasting at one time of as many as five million members. From the very beginning, however, the Confederation was weighted in favor of Communism, largely because of the success with which the Communists established and maintained their discipline over the ranks of the Socialist left wing. A professed Communist became Secretary-General of the organization, and the Confederation became one of the most vocal members of the Communist-dominated World Federation of Trade Unions (WFTU). It also became a thorn in the flesh of the Government, used or misused again and again by the Communists in their campaign of direct action.

Secession of the Non-Communists from the Confederation. After 1947, when political cooperation among the mass parties had ceased, anti-Communists in the CGIL gradually withdrew. First to go were the Christian Democratic trade unions who, in October, 1948, organized the Free General Italian Confederation of Workers. Next, during the summer of 1949, the right-

wing Socialist labor leaders and those who followed the line of the Republican Party canceled their membership and formed the Italian Workers' Federation About a year later, Christian Democrat, right-wing Socialist, and Republican labor organizations merged to form the Italian Confederation of Labor Syndicates This principal labor competitor of the CGIL has about a million and one-half individuals enrolled in its subsidiary syndicates while the CGIL still boasts of a membership of more than four million The non-Communist syndicates have a much larger percentage of clerical and professional workers, manual workers remaining, by and large, under Communist tutelage

Outlook for the Italian Labor Movement. Thus the evolution of the Italian labor movement has reflected the evolution of the parties since 1946 The results of this evolution have, however, left the Communists in control of the industrial workers and admittedly provide the Cominform politicians with their most important and most disciplined source of popular support The Government has attempted to overcome the Communist politician's influence over the manual worker by requiring a union to possess a democratic organization if it is to enjoy legal recognition [11] The Government also demands *bona fide* elections of the leadership of a union by the rank and file. But the fact remains that the manual worker is still under the control of Italy's fifth column, and until the constitutional parties, through their new, independent, labor confederation succeed in weaning the manual worker away from Communism, their appeal to the Italian masses will continue to encounter an ideological barricade that will be difficult to surmount

[11] As a matter of fact, the Constitution, Art 39, states that as a condition of the public registration of a labor union, the union's by-laws must require a democratic organization

CHAPTER VIII

SOME PROBLEMS AND POLICIES OF THE REPUBLICAN REGIME

Loyalty to a political system is likely to be inspired, in large measure, by symbolism, tradition, and other considerations that primarily affect the emotions But more practical considerations, appealing to the reason and self-interest of the citizen, are also involved in this phenomenon of obedience Unless Government provides for the elementary security of the citizen and experiences at least relative success in solving major social issues and promoting material welfare, loyalty is likely to falter, allegiance to become a mere habit whose sanctions are indifference and inertia, and the citizen to become a prey of self-seeking political charlatans In this concluding chapter, an effort will be made to identify at least the more important international and domestic problems that have challenged the ingenuity and resourcefulness of the new Italy and to comment upon the degree of success that has attended her effort to solve such problems or at least mitigate their impact where solutions are difficult or have had to be delayed for one reason or another In so doing, we may gain insight into the quality of her statesmen and an understanding of the extent to which the new regime enjoys the support of the Italian rank and file

FOREIGN POLICIES

Pro-Western Orientation Having but recently suffered her greatest military disaster, Italy has understandably given priority to the problem of re-ordering her relations with the rest of the world As respects the principal issue presented by this problem, namely, whether to orient the nation toward the Russian orbit or toward the West, the parties which have governed Italy since the close of World War II have had little difficulty in making a decision Overwhelmingly that decision has been in favor of the West To be sure, there have been political elements outside the Popular Front who have had doubts about too emphatic a Western orientation They have occasionally cautioned mod-

eration in giving endorsement to Western policies or they have suggested pursuit of that will-o'-the-wisp policy of "neutrality," so characteristic of the indecision and war-weariness of the Europe that came out of the Hitler holocaust. Others, and that includes some of the leaders of the Christian Democratic coalitions, have sometimes been quite bitter about one or more of the Western powers for their allegedly unsympathetic attitude toward Italy's colonial aspirations. Nevertheless the Western, antitotalitarian orientation in foreign policy has been instinctive with most of the governing parties it is indeed implicit in their political and moral values and in their social outlook and can, therefore, hardly be regarded as a matter of deliberate choice.

Treaty Revision. Identification with the West has also been good politics and has undoubtedly been of advantage to the nation and its interests Especially has this been true of the demand for revision of the Italian Peace Treaty Modification of this instrument in Italy's favor has been the touchstone of recent Italian diplomacy, and revisionism influences the views on world questions of every Italian politician. Although the Treaty provisions still seem onerous to most Italians and probably always will, the Western nations have certainly introduced mitigating concessions, often over Soviet Russian protest, and are likely to continue doing so. Thus they have waived certain property rights assured them under the Treaty and, in contrast to Russia, have renounced reparation claims and claims on the Italian fleet. As already noted, prior to the Italian elections in 1948, the United States, the United Kingdom, and France announced they favored the return of Trieste and are now committed to assisting Italy in overcoming Yugoslav objections and Russian resistance to the liquidation of the political monstrosity known as the "Free Territory of Trieste" which these same Western powers had been chiefly instrumental in creating in 1947.

Participation in Movements for European Integration. In pursuit of her pro-Western policy, Italy has identified herself with various efforts to knit the nations of the Western bloc more firmly together Some of these efforts proved abortive, as for example, the attempt to conclude a customs union with France in 1949 The attendant failure was due primarily to the fact that the economies of the two nations are too nearly alike Italy also participated loyally in the effort to bring into being some form of formal European unity at Strasbourg in 1949 and 1950 Her delegations were part of a Continental bloc which sought to overcome the objections of the British and other national contingents to conferring respectable prerogatives upon Strasbourg's Council of Europe. Once more, however, her efforts brought little in the way of concrete results although they did demonstrate that Italy had resumed a status of full equality among the nations by whom she had so recently been worsted in war

Italy and the European Recovery Plan. Distinctly more tangible results, of the greatest national advantage, flowed from Italy's participation, with her European neighbors, in the European Recovery Program She was among the Western European Governments which submitted estimates to the United States of the assistance required under this Program, and Italy helped to estab-

lish the OEEC, the Program's European organ During each of the first two years of the Program's operation, she received approximately a half billion dollars in gifts from the United States Material assistance on such a scale, coming just as UNRRA, the post-War rehabilitation agency, was being liquidated, was of incalculable advantage It reduced inflationary pressure on her economy, helped to bring Italy's international accounts into balance, and greatly stimulated investment within the country

Western European Defense Enlists Italian Support. As the threat of aggression against the free world mounted during 1949, Italy was invited to become a signatory of the North Atlantic Pact and join the Atlantic community of states in a system of mutual defense With so many native Communists threatening reprisals if her Government should forge this additional link with the West, there was reason for Italians to hesitate But if their Government hesitated, it was barely noticeable; for in March, 1949, the nation's Chamber of Deputies gave the North Atlantic Pact a two-to-one majority and the Senate provided endorsement only slightly less emphatic Since the Italian Peace Treaty severely limits Italy's armed forces, restricting her army to 250,000 men, her air force to 350 planes of all types, and her navy in a comparable manner, there is some doubt as to Italy's ability to become an effective partner in the Atlantic defense community On the other hand, the will for loyal cooperation appears to exist, and with the matériel and other military assistance that the United States has given her, it is likely that her forces, however limited in quantity, will achieve a high standard of fighting efficiency and morale [1]

The Broader Aspects of Italian Foreign Policy. On more than one recent occasion Italy has indicated that she would be quite willing to enlarge her diplomatic sphere and play her part in the United Nations Realization of this ambition has been prevented by the Soviet veto, a veto which has been interposed even though the Soviet, along with the Western powers, virtually promised UN membership when Italy signed the Peace Treaty Denied membership in the UN proper, she has sought to identify herself with the world organization through some of the specialized agencies, among them the International Labor Organization (of which Italy had been a member before the War), the International Bank and the Fund, UNESCO, and the International Refugee Organization Italy has also been "realistic" about her relations with certain Russian "satellite" countries, especially Yugoslavia Prospects of mutual economic advantage argue for friendly relations between these two states, and as Tito's dependence on the Kremlin waned and he developed an independent policy, hopes of an Italo-Yugoslav *rapprochement* improved greatly Even the continuing issues of Trieste and the Istrian peninsula have failed to dampen these hopes In its Yugoslav policy as in all others, the aims of Italian diplomacy have been to recapture, at least in part, the position which the na-

[1] In a three-power declaration on September 26, 1951, the United States, the United Kingdom, and France indicated their willingness to remove "restrictions" and "discriminations" in the Peace Treaty which "are wholly overtaken by events or have no justification in the present circumstances or affect Italy's capacity for self-defense." See *New York Times*, Sept 27, 1951

tion lost because of military defeat, to promote viable economic relations with other states, and to assure dependable allies in case of attack Characteristically, despite unusual obstacles, Italian diplomacy has given a good account of itself in seeking to achieve these aims

LIQUIDATION OF EMPIRE

Fate of Italian Colonies Undecided in Peace Treaty. Probably the most serious and certainly the most enduring effect of Italy's defeat in World War II was the loss of her colonial empire Italian possession of Mussolini's ill-gotten gains in Ethiopia and Albania did not survive hostilities, since no moral or legal consideration prevented immediate restoration of the legitimate sovereign in these territories once *de facto* Italian control had ended Such restoration was formally recognized and ratified in the Peace Treaty which Italy signed at Paris February 10, 1947 As noted earlier, the Treaty also disposed of the Dodecanese Islands to Greece But on the issue of the fate of Italy's African possessions, differences among the victor powers were so great that a decision was impossible It was accordingly agreed to put the matter over for one year, the four major powers, the United States, the United Kingdom, France, and the Soviet Union to meet once more at the end of that time to dispose of the issue But the differences remained and, agreement proving impossible, it was finally resolved, on September 15, 1948, to entrust the fate of the former colonies to the General Assembly of the United Nations and abide by its decision. In the meantime, these territories remained under British (and French) administration

Final Settlement Leaves Italy Little of African Empire During this two-year interval of indecision among the powers, Italy sought valiantly to preserve some of her stake in her erstwhile African domains In this policy she was motivated by understandable considerations of national pride and national advantage and by her desire to protect and preserve the interests of Italian citizens who, in the past, had emigrated to these territories For a time it appeared that the persuasive diplomacy of her primary spokesmen, Dr de Gasperi and Count Sforza, would succeed in giving Italy a temporary United Nations trusteeship over both the former Italian Somaliland and Tripolitania. But in the end the General Assembly of the United Nations rejected this proposal and voted to make Italy trustee only for Somaliland This status was to continue for ten years, or until about 1960, at which time Somaliland was to become an independent nation In making the Somaliland decision, the UN also decided that the former Italian colony of Libya, consisting of Tripolitania, Cyrenaica, and the Fezzan, would become an independent State and assume that status not later than January 1, 1952 Decision as to the fate of Eritrea was held over until the next session of the United Nations General Assembly in 1950 when agreement was reached to federate Eritrea with Ethiopia The plan called for a customs union with Ethiopia and made that Government responsible for the foreign affairs and defense of the federated area At the same time the United Nations guaranteed Eritrean local autonomy

and sought to provide protection for the economic interests of Italian residents Such, then, was the fate in 1950 of the fairly considerable overseas empire which Italy had won by costly wars, colonization, and the investment of capital over a period of some sixty years.

CHURCH AND STATE

The Lateran Agreements. The issue which provides an excellent transition from the subject of Italy's foreign policies to a consideration of her domestic policies is that of Church and State, since this issue, especially in Italy, has both foreign and internal ramifications The so-called "Roman Question," involving both the international position of the Roman Catholic Church with its headquarters in the Vatican and the relation of the Church to Italy, plagued Italian politics for more than half a century. Adjustment of this question, through the conclusion of the Lateran Agreements on February 11, 1929, and the resulting *rapprochement* between the Church and the Italian Government were regarded by Mussolini as among his greatest achievements Apparently there was some justice in the Fascist leader's claim because, after his demise and the fall of his regime, his successors incorporated the Lateran Agreements into Article 7 of the new republican Constitution According to the first of these agreements, Italy recognizes the sovereignty of the Papacy over the small area within the City of Rome now known as Vatican City Within that area the Pope functions as a temporal sovereign, the equal of any other head of State The agreement confirmed exclusive papal jurisdiction over various ecclesiastical properties within Rome and in the immediate vicinity, including the papal summer residence at *Castel Gandolfo* Most of the provisions of the former Law of Guarantees [2] respecting the inviolability of the head of the Church and his freedom of communication with the outside world were confirmed The second agreement was really an integral part of the first since it merely embraced a financial indemnification for the extinction of Papal sovereignty outside of Vatican City and for the physical losses suffered by the Church following the annexation of the Papal States by the Kingdom of Italy. The sum guaranteed by the Italian Government to the Vatican Treasury was approximately one and three-quarters of a billion lire, in cash and Italian consols

The Concordat. The third agreement, which is a formal concordat, regulates the Church's ecclesiastical functions within Italy. It proclaims Catholicism as the official religion of Italy, regulates the civil position of the Church's clerics, the appointment of its bishops and other ecclesiastical officials, and the juridical status of its religious corporations It also provides for payment out of public funds for the maintenance of religious activities and exempts Church property from taxation Of great importance is the Italian Government's undertaking in the Concordat to recognize the civil implications of the marriage sacrament and the rules of canon law affecting marriage. The institution of marriage comes in for special protection in the new Constitution,

[2] See p. 228.

although that document does not, as some desired, formally endorse the Church's view of the indissolubility of the marriage tie The Concordat also pledges the Government to permit religious instruction by priests in the schools of the Republic and to allow the Church to maintain secular organizations, such as the Catholic Action, under religious auspices.[3] More important still is the Church's right to maintain schools at various levels and secure State financial assistance, a policy which seems to be confirmed in the Constitution [4] and which is certainly espoused by the leading Government party.

Significance of the Policy in the Agreements. Under the Lateran Agreements, modern Italy rejected the liberal Cavour's conception of the lay State and his policy of reducing the Catholic Church (or for that matter any Church) to the status of a purely voluntary organization Catholicism is Italy's established and official religion. The republican Constitution nevertheless states that all confessions are "equally free under the law," permits them to establish an autonomous organization, and invites them to negotiate what might be called "little concordats" which, in the manner of the Catholic Concordat, presumably would govern the relation of the State and non-Catholic confessions.[5] Relatively the latter are so few in Italy that this provision of the Constitution is probably fated to become somewhat academic [6] It does nevertheless establish the principle of equality for all religious denominations

AGRARIAN REFORM

Social and Economic Justification for Redistribution of the Land. Turning now to purely internal issues, we shall consider first the one with an acknowledged priority in Italian politics, namely, agrarian reform. Italy is still primarily an agricultural country, almost one-half of the population depending upon the soil for a livelihood Hence problems connected with the land loom large on the political horizon One of the most important of these, age-old in its impact, is the tenure problem More specifically, it is the desire of the tenant or sharecropper peasant or employed farm laborer to own the land he cultivates That desire has inspired a political demand of long standing that the large estates, and particularly the southern *latifundia,* be divided up That Italy could profit by such redistribution of perhaps the bulk of her large-scale holdings is clear. In a recent study of the operation of the European Recovery Program in Italy, a group of American Congressmen pointed out that one two-hundredth of Italy's landowners possess more than a third of the land, and that much arable land, incorporated in great estates and private preserves, is allowed to lie fallow [7] Such conditions are hardly defensible in a country where the pressure of population is relatively as great as in contemporary Italy and where much of the staple food supply must be imported

[3] For the text of the Concordat see *Current History,* xxx (July, 1929), pp. 558–566
[4] Art 33
[5] Art 8
[6] Non-Catholics comprise less than 0 5 per cent of the population
[7] "Status and Progress of the European Recovery Program," Report of a Subcommittee to the Committee on Foreign Affairs, House of Representatives, 81st Congress, 2nd Session, Washington, 1950, p 2, cited hereafter as "Report on European Recovery Program"

The Political Parties and Land Reform. As might be expected, all parties have made political capital out of the land hunger of the Italian peasant, but the Communists, by relying upon their special variety of irresponsible demagogy, have clearly outdistanced all others in exploiting the issue for partisan advantage Chiefly because of Communist inspiration and leadership (though not in every case), peasants have frequently taken matters into their own hands in the years since World War II and have invaded and occupied the property of absentee landlords Occasionally bloodshed has resulted from such direct action As noted earlier, Christian Democrats and their moderate coalition allies have also favored the policy of division Prime Minister de Gasperi can himself point to a long record of support of peasant demands on the part of his party, a record which antedates Fascism and for which Fascism used to dub the Christian Democrats "White Bolshevists." [8] Occasionally he has lectured obstructionist landlords for their refusal to recognize the "social function of property," a principle which is incorporated in the republican Constitution in an Article of that document that refers particularly to landed property [9] Of all the parties apparently only the Liberals and some of the Christian Democratic right wing entered serious objections to the land redistribution policy

The Official Land Reform Program. Nevertheless, despite political and moral pressure and the acceptance of the principle of reform by the Constitution and the Cabinet, actual reform has been slow Legislation to condemn certain classes of large holdings, provide compensation to former owners, and subdivide the land thus expropriated into small holdings of about fifteen acres was introduced as early as 1947, but it was not until May, 1949, that the specific land reform policy was announced This will nationalize from 20 to 50 per cent of some 8,000 holdings that exceed 250 acres each, the condemned land costing the state about $170 million Apparently one of the first actual redistribution projects got under way late in 1950 in the Region of Calabria in southern Italy Even this initial project was apparently inaugurated sooner than the Government intended and was designed to serve as a sort of token of good faith in the face of Communist pressure

Incidental Problems Which Delay Reform. Despite this apparent procrastination, there is no reason to doubt the Government's sincerity on the land question The fact is that any redistribution plans, however well intentioned and however justifiable on politico-moral and economic grounds, must take cognizance of a variety of complicating and limiting factors Among these is the special legal position toward the land of the tenant farmer and the sharecropper, the danger of splitting up large-scale units now practicing relatively efficient agriculture and thereby making the whole less productive, and the problem of compensating present owners fairly and of financing the new small holder not only as respects the purchase of his plot but also as respects necessary equipment

[8] Then known as the "*Popolari*"
[9] Art 44

Chief Obstacle to Land Reform: Lack of Water. But the consideration of chief importance in slowing down redistribution, as American observers are wont to stress, is the scarcity of water resources and the absence of necessary public works such as roads Subdivided farm plots without adequate water and without access facilities will neither fortify the national economy nor satisfy the aspirations of the peasants Clearly these auxiliary requirements must be met before any redistribution program can have meaning Irrigation projects, at least on a limited scale, were begun well back in the nineteenth century, and it is well known that Mussolini's regime vociferously besought applause, sometimes justifiably, for its integral land-reclamation policy (*bonifica integrale*). This involved marsh drainage, conservation of top soil, water conservation for irrigation and domestic use, and road-building. Once an "integral" plan had been carried out, an area was made ready for "colonization " Such "colonization" schemes actually resulted in the creation of several new communes and at least one new province in the vicinity of Rome With the help of the European Cooperation Administration, the Republic has continued and expanded this historic reclamation and irrigation policy In a recent year more than 100 billion lire, 70 billion of which came from Italy's ECA-counterpart fund, were devoted to water and related public-works projects Encompassed in this program is the planned reclamation of some five million acres in about 100 separate areas, the whole program to provide employment for some half million people [10] Any land-distribution scheme, if it is to be more than a political gesture, must obviously be keyed to the time-table of this public-works program and be carried forward in stages as various planned improvements are effected

SOCIAL POLICY

Social Welfare. In line with the paternalistic trend of the contemporary State, Italy's republican Constitution makes much of the Government's duty to safeguard the interests of the individual In various articles of the new Charter, the Government is enjoined to protect the material welfare of the individual in his relationship toward his family, his profession, his school, his labor union, and other possible associations Measures are to be taken to protect maternity, infancy, and youth, to safeguard the health of the individual; and to provide material assistance to the indigent, the incapacitated, the unemployed, and others who may become wards of society either transiently or permanently In short, the Constitution's bill of rights provides a fairly comprehensive blueprint of the welfare state.

The National Insurance Institutes Actual developments along these lines hardly embrace the scope outlined in the Constitution but they are considerable As respects social insurance, the republican regime has built up antecedent developments which go back beyond Fascism Social insurances are administered under the supervision of two national institutes which were originally established in 1883 and 1898 respectively. The first of these agen-

[10] See Report on European Recovery Program, p 2

cies, known as the National Institute for Accident Insurance, controls compensation to workmen who develop a disability as a result of their employment All major industries are covered, including the transportation and construction industries and farm laborers The second agency, known as the National Institute for Social Insurance, supervises other forms of social insurance These include pensions for the aged or incapacitated, unemployment insurance, and protection against tuberculosis and other diseases. This agency also has general supervision over a considerable variety of institutes, autonomous funds, and administrations, each of which provides some form of public protection for a special category of persons Both institutes supervise a great deal of disease-prevention activity and provide for the hospitalization and rehabilitation of incapacitated persons

Unemployment Although overpopulation is a relative term, most demographic experts are likely to agree that Italy suffers from that condition. At any rate her economy, under present conditions, seems incapable of absorbing all who wish employment, and almost perennial unemployment therefore exists It is a problem, moreover, which is not likely to be solved by any or all the measures to which the Government resorts, including unemployment insurance for some categories of workmen, food subsidies, and compulsory inflation of payrolls both in private and public employment, the latter constituting a sort of officially-inspired system of featherbedding In contrast to Fascism, the present regime has also sought to encourage emigration, Italian laborers having been sent to various European countries on a temporary basis Official support has also been extended to the resettlement of Italians abroad. For a time serious consideration was given to a plan to use ECA funds to finance Italian emigration, and ships were actually allocated to transport immigrants to other lands For various reasons, this plan was abandoned It is unlikely that even emigration will relieve the pressure The problem is a deep-seated one and at least a part of its solution lies in diversifying and improving the efficiency of Italian production and the expansion of both domestic and foreign markets for Italian goods

PUBLIC FISCAL POLICIES

The Public Revenue System. Still another domestic problem which affects every department of public activity is the tax problem. Italy has long been notorious for an essentially regressive and inequitable revenue system Relatively too large a part of the tax burden falls upon those least able to bear it Fiscal experts likewise charge that too little attention is paid to the ill effects of the tax system upon private enterprise or to the objective of securing a ratio between the cost of collection and the tax yield which would reflect wise policy and efficient administration Up to the present, moreover, the prospect of overcoming the more serious of these weaknesses has seemed none too bright A lethargic bureaucratic tradition coupled with a pressing demand for revenue from almost any source to finance current need and a huge public debt have had the effect of inhibiting reform

Tax Sources and Proposed Reforms. In 1951, the principal revenue sources included (1) real-estate taxes levied upon income from the use of unimproved land and upon the rental value of buildings and improvements, (2) income taxes levied both upon investment and earned income which featured low exemptions and rather steeply progressive rates and which apparently did not apply to the incomes of public employees or civil servants, (3) inheritance taxes, (4) a variety of business taxes including a general sales tax; (5) customs duties including duties upon exports; and (6) special excises upon the manufacture of liquors, sugar, gas, alcohol, and electric power In addition appreciable revenue was derived from State monopolies such as those on tobacco, salt, quinine, matches, and from the State lottery To expand income in times of emergency, the State in the past, and particularly during the Mussolinian period, occasionally made special assessments upon business which amounted to capital levies It has been estimated that five-sixths of the current revenue of the Italian Government comes from indirect excises, business taxes, and State monopolies and about one-sixth from direct taxes, notably the income tax Reform of the tax system, proposed in 1951, sought to secure one-third of the revenue from income taxes, one-third from business taxes, and one-third from special consumption taxes and State monopolies Such a reform, if achieved, would represent real progress in the fiscal field In some years immediately after World War II, the income of the central Government was less than half the total expenditure Augmented by such deficits, the public debt has reached astronomical proportions Although severe budgetary pruning, a deliberate deflationary policy, and assistance in the way of loans and gifts from abroad, particularly from the United States, have wrought a remarkable improvement in the public finances, the improvement is likely to be temporary unless other measures are adopted Undoubtedly the most important of these is a conscientious effort to place in effect the tax reforms to which allusion has been made

ECONOMIC POLICY

Qualified Restoration of Economic Freedom. In this survey we come finally to a consideration of the Government's economic policies, particularly as they affect industry, finance, and trade As noted in an earlier chapter,[11] the Italian state under Mussolini placed the nation's economy in a public strait-jacket Fascism's syndical system, its so-called "Corporate State," its autarchic economic outlook, and the exigencies of war and preparation for war, all contributed toward a high degree of political regimentation of production and distribution before, and during, World War II Formal abandonment of the Fascist system has by no means eradicated its economic effects Republican Italy has tried to revive a measure of economic freedom Labor unions now have freedom of organization and free collective bargaining has been restored, at least in principle Private enterprise has been re-endorsed and the productive energies of the nation have been released from the thrall-

[11] Chapter III.

dom of centralized Fascist direction Even so, the impact of Mussolinian economics remains and the Italian economy continues to have a highly collectivistic cast

Continuation of State Capitalism. This conclusion is reinforced by the considerable amount of state enterprise which exists in contemporary Italy, much of it a direct legacy of previous regimes and especially of the Fascist regime Through its control of the stock or other securities of private companies, the Italian Government exercises proprietary rights over the whole of the nation's passenger-shipping, almost all of its ship-building, more than half of its steel plants, three-quarters of its telephone industry, and one-third of the electric power generating industry. In addition, the Government has a majority stock interest in concerns producing aircraft, chemicals, cellulose, and synthetic rubber As noted elsewhere,[12] proprietary rights such as these fell to the Government, in large part, during the depression years after 1931 when public credit was extended to many private firms threatened with bankruptcy A variety of special public lending agencies, of which the best known was the Institute for Industrial Reconstruction (IRI), advanced the Government's credit to industry and banks. Subsequently the Government was compelled to "take over" many of the companies whose stock it had purchased or to whom it had lent funds, or at least continue indefinitely the rights of ownership acquired during the depression years; and the IRI became a sort of public holding company through which the Government's proprietary rights could be exercised The Institute continues to be the instrument through which the Government manages or directs nationalized industry The Institute also continues to be an important credit reservoir Indeed, through certain important private banks which the Institute controls and from its own statutory funds, it is the instrument through which most large-scale industrial financing is likely to take place in the Italy of 1951 In other words, directly or indirectly through the IRI, the Italian Government largely controls investment credit in contemporary Italy and directs its use Currently (1951) the authorized capital funds of IRI total sixty billion lire[13]

Economic Theory of the Constitution. Continuation of the collectivistic features of Italian economic life encounters no hostility in the new Constitution To be sure, that document may recognize private enterprise as being consistent with public policy, but the document is equally emphatic in demanding that the private entrepreneur be directed and controlled by the Government toward what are identified as "social ends." Corollary constitutional principles are expressed concerning private property which, though specifically recognized and publicly guaranteed, may always be regulated in such manner as will serve the collective interest More significant still, as respects the Constitution's economic theory, are its declarations that enterprises or classes of enterprise which have pre-eminent public significance, or create a monopoly, or provide essential services or sources of energy, may be taken from private

[12] See p 264

[13] *Annuario parlamentare*, 1949–50, pp 460–61.

owners with compensation and turned over to the management of the State, public bodies, trade unions, or consumer unions.[11] Hence both existing practice and constitutional theory underscore the conclusion that Italy, like most Western European nations, supports a "mixed" economic system in which the State's managerial role is likely to become more, rather than less, important with the passage of time

Post-War Economic Difficulties. However the economic system may be characterized, whether collectivistic, mixed, or free, that system had an uphill struggle after World War II Not until 1949 did it begin to emerge from the post-War doldrums Inflationary forces, released by the wartime famine in production and the War's destruction, ran rampant in Italy immediately after the armistice and the value of the lira declined at a fantastic rate Huge Government deficits, the emission of large amounts of currency by various belligerent regimes operating in the peninsula, low production volume in industry which was hampered by excessive labor costs and antiquated machinery, public-works projects that were too often distinguished by a dearth of material and equipment and a plethora of employees, and a drought that helped to bring on at least one unusually poor harvest, all added fire to the prevailing inflation On her international account, also, Italy had much trouble making ends meet As in most of Western Europe, dollar exchange was especially short—so much so that Italy could not import the many things necessary to the functioning of her economy, particularly the raw materials and machinery which came from dollar sources

The European Recovery Plan and Economic Revival. Under the circumstances, protagonists of the European Recovery Program had an unusual opportunity in 1948 to dramatize that Program's possibilities, and with the cooperation of the Italian Government, they did succeed in producing some remarkably favorable results As material assistance from the United States began to flow into the channels of trade and production, the Italian Government, advised by its leading economist, Dr Luigi Einaudi (later President of the Republic), began a contraction of bank credit and imposed other deflationary measures In a very short time the value of the lira became stable, the public budgetary deficit was reduced to the vanishing point, and a trend toward exchange equilibrium with the dollar countries and a favorable balance with sterling exchange areas manifested itself Moreover, production climbed rapidly In December, 1949, national income was up to 97 per cent of the 1938 totals By 1950, production had exceeded pre-War norms both in industry and agriculture

Continuing Weaknesses. American officials of the Economic Cooperation Administration in Italy subsequently criticized the policy as too deflationary They claimed it hampered progress in public works, particularly in the agricultural domain, and held up the modernization of plant in industry Moreover, at least two million employables remained without a job, and, despite the climb beyond pre-War levels, production remained relatively in-

[11] Arts, 41–43 inclusive,

efficient because of continuing labor featherbedding in private and public employment, obsolete plant, and failure to cultivate mass markets either in Italy or overseas Other critics insist that there is too great a degree of State control over production and distribution and that private producers fear the spur of competition and hanker after national autarchy and cartels Undoubtedly most of these criticisms are well taken, and despite the Government's record of relative progress and stability, some of the weaknesses to which the critics have pointed are likely to become much more apparent when the stimulus of gifts and loans from abroad begins to taper off On balance it must be said that nine years after Italy's surrender in World War II, the prospects of stabilizing the nation's economy at high and efficient levels of production are by no means assured And in that lack of assurance in the economic sphere resides much of the persisting doubt about Italy's capacity to stabilize her democratic political system or to defend herself against potential foreign aggression or internal fifth columns.

BIBLIOGRAPHICAL NOTE ON THE ITALIAN POLITICAL SYSTEM

Statutory and Administrative Materials

The official publications of the Italian Government are quite extensive The text of laws, decree laws, decrees and administrative regulations may be found in the *Gazzetta ufficiale della repubblica* (until 1946 *Gazzetta ufficiale del regno d'Italia*), issued every week-day under the jurisdiction of the Ministry of Grace and Justice The official collection of laws and decrees is known as the *Raccolta ufficiale delle leggi e dei decreti*, a number of volumes of which have been published each year since 1861 The Italian Institute of Legislative Studies, operating under the Ministry of Grace and Justice, publishes articles and summaries of the work of Parliament and the courts and on the development of law in various fields both as respects Italy and foreign countries A translation of the *Albertian Statuto* may be found in W F. Dodd, *Modern Constitutions*, 2 Vols (Chicago, 1909), Vol II, pp 5 *ff*, and in H L McBain and Lindsay Rogers, *The New Constitutions of Europe* (New York, 1922), pp 551 *ff* The text of the new republican Constitution, as translated by Howard McGaw Smyth and Kent Roberts Greenfield may be found in the United States Department of State, *Documents and State Papers*, I (April, 1948), pp 46–63. Useful information of an official character relating to the administration of the Government is to be found in the bulletins of the various ministries and in the publications of the Secretariat General of the Chamber of Deputies and of the Senate

Statistical Sources

A great variety of publications are issued by the Central Institute of Statistics (*Istituto centrale di statistica*) Among these are the *Annuario statistico italiano*, available annually since 1878; the *Compendio statistico italiano*, annually since 1927, and the *Bollettino mensile di statistica*, monthly since 1926 (with interruptions during World War II). Monthly statistical publications are also available on the subject of prices, foreign trade, and agriculture. Occasional publications of note are *Annali di statistica* and the *Annuario statistico dell'agricoltura italiana*.

Historical Works Relating to the Period of the Liberal Constitutional Monarchy

The period of the *risorgimento* and of the early years of united Italy are traced in the following historical and biographical works *Memoirs of Francesco Crispi*, trans. by M Prichard-Agnetti, 3 Vols (London, 1912–1914), Edward Dicey, *Victor Emmanuel* (New York, 1886), C S Forester, *Victor Emmanuel II and the Union of Italy* (New York, 1927), Bolton King, *A History of Italian Unity*, 2 Vols (London, 1912); Bolton King, *The Life of Mazzini* (London, 1911), W R Thayer, *The Dawn of Italian Independence*, 2 Vols (Boston, 1893), W R Thayer, *The Life and Times of Cavour*, 2 Vols (Boston, 1911), and G M Trevelyan, *Garibaldi and the Making of Italy* (New York, 1911) A standard history of liberal Italy down to World War I is B Croce, *A History of Italy, 1871–1915*, trans by C. M. Ady (Oxford, 1929) Attention is also called to René Albrecht-Carrié, *Italy from Napoleon to Mussolini* (New York, 1950), M Hentze,

Pre-Fascist Italy The Rise and Fall of the Parliamentary Regime (London, 1939), and A. J Whyte, *The Evolution of Modern Italy, 1789–1919* (Oxford, 1944) The political system of liberal monarchical Italy is briefly treated in Chapter XL of Frederic A Ogg, *European Governments and Politics,* 2nd ed (New York, 1939), in Chapter III, Volume I, of A L Lowell, *Governments and Parties in Continental Europe,* 2 Vols (Boston, 1896) and in H R Spencer, *Government and Politics of Italy* (Yonkers, 1932) Useful information on the parties and party doctrines of Italy before Mussolini may be gleaned from Enrico Corradini, *Il Nazionalismo italiano* (Milan, 1914), Giovanni Giolitti, *Memoirs of My Life,* trans by E Storer (London, 1923), Filippo Meda, *Il Socialismo politico in Italia* (Milan, 1924), Roberto Michels, *Storia critica del movimento socialista italiano* (Florence, 1926), Carlo Sforza, *The Makers of Modern Europe* (Indianapolis, 1928), and Luigi Sturzo, *Italy and Fascismo,* trans by B B. Carter (London, 1926)

Descriptions of the Revolutionary Period Leading to Fascism

The decay of the liberal parliamentary monarchy, the Fascist *coup d'état,* and the transition to Mussolini's authoritarian regime have been treated in a number of volumes many of them written by participants in the events recorded A list is appended herewith One or two titles, favorable to Fascism, are deliberately included to acquaint the reader with the nature of the Fascist apologia at this stage in the evolution of the dictatorship William Bolitho, *Italy under Mussolini* (New York, 1926), Ivanoe Bonomi, *From Socialism to Fascism,* trans by J Murray (London, 1924), F L Ferrari, *Le Régime fasciste italien* (Paris, 1928), Guglielmo Ferrero, *Four Years of Fascism,* trans by E W Dickes (London, 1924), Edwin W Hullinger, *The New Fascist State* (New York, 1928), E Lémonon, *L'Italie d'après guerre, 1914–1921* (Paris, 1922), Giacomo Matteotti, *The Fascisti Exposed,* trans by E W Dickes (London, 1924), Edgar A Mowrer, *Immortal Italy* (New York, 1922), Gaetano Salvemini, *The Fascist Dictatorship in Italy* (New York, 1927), H W Schneider, *Making the Fascist State* (New York, 1928), Curzio Suckert (C Malaparte), *Technique du coup d'état,* trans into French by J Bertrand (Paris, 1930), Tommaso Tittoni, *Modern Italy* (New York, 1922), and Luigi Villari, *The Awakening of Italy* (London, 1924), the latter strongly pro-Fascist

The Fascist Period

A plethora of material exists on the dictatorship Much of it, even when written by outside observers, is not particularly objective For the record, the following brief bibliography is suggested The official compilation of Mussolini's writings is *Scritti e discorsi di B Mussolini,* ed by V Piccoli, 11 Vols (Milan, 1934–1938) Mussolini's brief pamphlet in English translation entitled *The Doctrine of Fascism* is still regarded as the most authoritative exposition of Fascist ideology It was incorporated as a preamble to the last official statute of the Fascist Party and the whole was printed in the Official Gazette of the Kingdom (*Gazzetta ufficiale del regno,* May 18, 1938, no 112, pp 1848 *ff*). Other items, most of them highly critical, which may be cited are Max Ascoli and Arthur Feiler, *Fascism for Whom?* (New York, 1938), G. A Borgese, *Goliath, the March of Fascism* (New York, 1937), H W Schneider and S B Clough, *Making Fascists* (Chicago, 1929), Herman Finer, *Mussolini's Italy* (New York, 1935), and Gaetano Salvemini, *Under the Axe of Fascism* (New York, 1936) H. A. Steiner, *Government in Fascist Italy* (New York, 1938) and H W Schneider, *The Fascist Government of Italy* (New York, 1935), provide brief descriptions of the governmental apparatus The so-called "Corporate State" and Fascist economics are treated more or less sympathetically in such works as Carl T Schmidt, *The Corporate State in Action* (New York, 1939), Alberto Pennachio, *The Corporative State* (New York, 1927), William G Welk, *Fascist Economic Policy* (Cambridge, Mass, 1938), and Paul Einzig, *The Economic Foundations of Fascism* (London, 1933) Some of the more unlovely characteristics of

Fascist terrorism are depicted in H H Tiltman, *The Terror in Europe* (New York, 1932); Pietro Nenni, *Ten Years of Tyranny in Italy*, trans by A. Steele (London, 1932), and F F. Nitti, *Escape* (New York, 1930)

Period of the Republic

Italy's emergence from defeat and dictatorship and the advent of the Republic are treated in the following Pietro Badoglio, *Italy in the Second World War* (New York, 1948), Barbara B. Carter, *Italy Speaks* (London, 1947), G Ciano, *The Ciano Diaries, 1939–43*, trans by Hugh Gibson (New York, 1946), Benedetto Croce, *Due Anni di vita politica italiana, 1946–1947* (Bari, 1948), T L Gardini, *Towards the New Italy* (London, 1944), Muriel Grindrod, *The New Italy* (London, 1947), W Hilton-Young, *The Italian Left* (New York, 1949), B Mussolini, *The Fall of Mussolini His Own Story*, trans and edited by Max Ascoli (New York, 1948), Carlo Sforza, *Contemporary Italy—Its Intellectual and Moral Origins* (New York, 1944), Luigi Sturzo, *Italy and the Coming World* (New York, 1945), G Salvemini and G. LaPiana, *What to Do With Italy* (New York, 1943), and Elizabeth Wiskemann, *Italy* (Oxford, 1947) Developments relating to the new republican Constitution are treated in M Ruini *et al*, *La Nuova Costituzione Italiana* (Rome, 1947) and in Roberto Lucifredi, *L'Assemblea Costituente* (Milan, 1948) An excellent series of articles on the history of Italian parliamentarism and the meaning of the new Constitution appear in *Il Centenario del parlamento*, published in 1948 by the Secretariat-General of the Chamber of Deputies, Rome

The Political System of SWITZERLAND

by ARNOLD J. ZURCHER

CHAPTER I

THE NATION AND ITS POLITICAL IDEALS

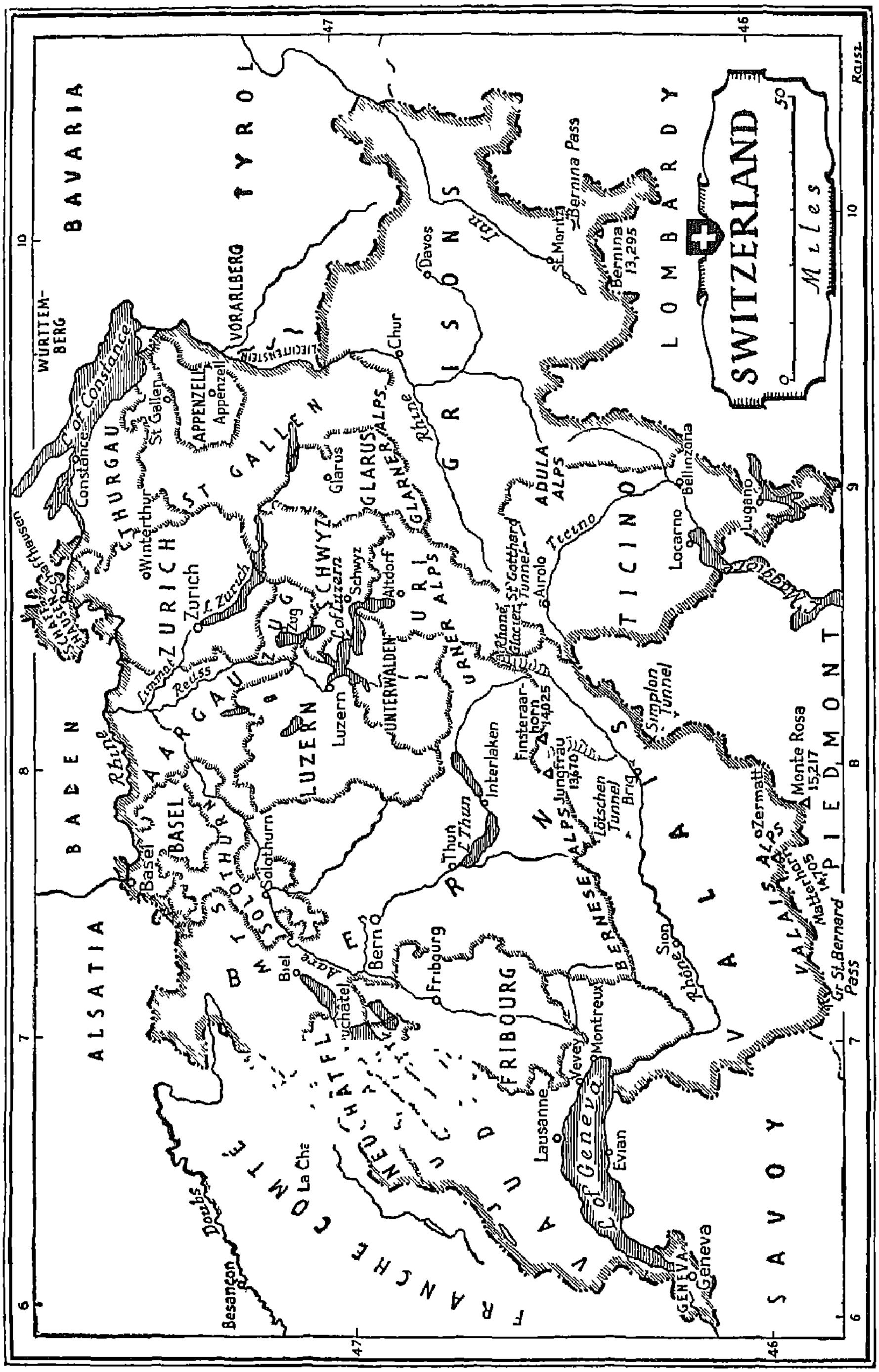
A PRELIMINARY SURVEY

Physical Characteristics The republic of Switzerland, known by the formal title of the Swiss Confederation, is a federal state of twenty-five semi-sovereign cantons and half cantons,[1] with a population numbering about four and one-quarter millions Its territory, roughly equivalent to that of Holland or Denmark or of the American state of Maryland, is almost inclosed by the frontiers of the three Continental powers, France, Germany, and Italy Few states have been less favored by nature and physical circumstance The high Alps and the Jura range across Switzerland's domain and render more than 22 per cent of her area entirely unproductive. Much of the remainder is suitable only for grazing purposes or for woodland, and only some 35 per cent is actually devoted to agricultural production Nor is the basis for industry much more promising Mountains and valleys yield no coal or metallic ores, and the broken terrain of the country makes transportation and communication difficult About the only natural industrial resource of moment is hydro-electric power, of which Switzerland has an abundance.

Despite these adverse physical circumstances, Switzerland has developed an

[1] The Swiss cantons and half-cantons in the order of accession to the Confederation are as follows

1 Uri (1291)
2 Schwyz (1291)
3 Unterwalden (1291), divided into the two independent half-cantons of Upper Walden, Lower Walden
4 Luzern (Lucerne) (1332)
5 Zurich (Zurich) (1351)
6 Glarus (Glarus) (1352)
7 Zug (Zoug) (1352)
8 Bern (Berne) (1353)
9 Solothurn (Soleure) (1481)
10 Fribourg (Freiburg) (1481)
11 Basel (Bâle) (1501), divided into the two independent half-cantons of Basel Country, Basel City
12 Schaffhausen (Schaffhouse) (1501)
13 Appenzell (1513), divided into the two independent half-cantons of Appenzell Exterior Rhodes, Appenzell Interior Rhodes
14 St Gallen (St Gall) (1803)
15 Aargau (Argovie) (1803)
16 Thurgau (Thurgovie) (1803)
17 Grisons (Graubunden) (1803)
18 Vaud (Waadt) (1803)
19 Ticino (Tessin) (1803)
20 Valais (Wallis) (1815)
21 Geneva (Genf) (1815)
22 Neuchâtel (Neuenberg) (1815)


SWITZERLAND
Miles
0
50
BAVARIA
WURTTEMBERG
TYROL
VORARLBERG
LIECHTENSTEIN
BADEN
ALSATIA
FRANCHE COMTÉ
SAVOY
PIEDMONT
LOMBARDY
GRISONS
TICINO
VALAIS
VAUD
FRIBOURG
NEUCHÂTEL
BERN
BERNESE ALPS
SOLOTHURN
BASEL
AARGAU
LUZERN
ZUG
SCHWYZ
URI
UNTERWALDEN
GLARUS
GLARNER ALPS
URNER ALPS
ST GALLEN
APPENZELL
THURGAU
ZURICH
SCHAFFHAUSEN
GENEVA
ADULA ALPS
VALAIS ALPS
L. of Constance
Constance
St Gallen
Appenzell
Winterthur
Zurich
L. Zurich
Limmat
Reuss
Rhine
Aare
Doubs
Inn
Ticino
Rhône
Basel
Solothurn
Biel
Neuchâtel
Bern
Fribourg
Luzern
L. of Luzern
Zug
Schwyz
Altdorf
Glarus
Chur
Davos
St Moritz
Bernina Pass
Bernina 13,295
Bellinzona
Lugano
Locarno
Airolo
St Gotthard Tunnel
Rhône Glacier
Simplon Tunnel
Finsteraarhorn 14,025
Jungfrau 13,670
Lötschen Tunnel
Brig
Interlaken
Thun
L. Thun
Sion
Monte Rosa 15,217
Zermatt
Matterhorn 14,705
Gr. St. Bernard Pass
Montreux
Vevey
Lausanne
Evian
L. of Geneva
Geneva
Besançon
La Chx
Rausz
47
46
6
7
8
9
10

economy which is reasonably stable and fairly prosperous. Not quite a fourth of her population is engaged in agriculture or dependent upon it, the vast majority of the remainder makes a living from industry or allied pursuits. Since the country lacks many essential industrial materials, and since her agrarian production will not suffice to feed her own population, the expansion of this economy has required extensive trade with foreign nations In normal times, Switzerland has a larger *per capita* volume of foreign trade than any other nation in the world The coal, the metals, and the agricultural staples which she imports are paid for with dairy products, textiles, and highly specialized manufactures, such as watches and precision instruments of various sorts The normal excess of imports over exports is charged to the revenue from the tourist trade and to the return from external investment and fiscal services

Demographic Features. A unique and one of the most challenging features of Swiss nationhood is its violation of the nationalistic canons of demographic and cultural unity The population of Switzerland includes three different language groups, German, French, and Italian Approximately three million Swiss use the first of these languages, somewhat over 800,000 use the second, and about 225,000 use the third In addition some 50,000 use a dialect known as Romansch, which has some literary significance The linguistic groups, moreover, are geographically quite sharply separated from each other by the cantonal boundaries. Thus the Ticino is almost exclusively an Italian-speaking canton; Geneva, Vaud, Neuchâtel, and Valais are almost exclusively French, and all the remaining cantons, except Bern and Fribourg, are almost exclusively German In Bern the German population predominates over the French in the ratio of five to one, and in Fribourg the French population predominates over the German in the ratio of two to one Romansch is the prevailing language in the Grisons It must be added that linguistic interpenetration among the various cantons is becoming a noticeable fact Moreover, all the languages, including even Romansch,[2] are regarded as official for matters relating to the Confederation Government and administration, and there are few educated Swiss who cannot use two or even three of these languages Even so, the three major linguistic communities remain quite sharply differentiated geographically and they probably have as many cultural affiliations with their respective linguistic brethren in contiguous Germany, France, Italy, and Austria as they have with each other

Religious Differences. Another centrifugal factor affecting Switzerland's nationhood is the confessional cleavage Through Switzerland runs the boundary line of the Reformation, Zwingli and Calvin, with other Swiss, having helped to establish it. It is a line drawn with astonishing intricacy Avoiding the linguistic boundaries, it divides both the German cantons from each other as well as the French Among the latter, Vaud, Geneva, and Neuchâtel are predominantly Protestant, whereas Fribourg and Valais espouse the older Christian faith, among the German cantons, Zurich, Bern, Glarus, Thurgau, and

[2] Romansch was adopted as a national language in a constitutional referendum held on February 20, 1938

both of the Basel half-cantons are overwhelmingly Protestant, while Luzern, Zug, the two half-cantons of Unterwalden and the canton of Solothurn are overwhelmingly Catholic Many of the cantons are themselves fairly evenly divided between the two branches of Christendom This is notably true of St Gallen and Aargau Somewhat less than sixty per cent of the entire population of the Confederation is Protestant and most of the remainder is Catholic.[3]

The Swiss a United Nation. Religious differences have in the past contributed their due share to internecine strife For three centuries after the Reformation, the cantons fought amongst themselves on numerous occasions [4] At the end of the sixteenth century, religious strife was the occasion for the partition of the canton of Appenzell into the two half-cantons, respectively, the Interior and Exterior Rhodes [5] Even as late as 1846, the Catholic cantons of Luzern, Uri, Schwyz, Unterwalden, Zug, Fribourg, and Valais leagued themselves together into the *Sonderbund,* or Separate League, and began a rebellion which the Confederation had to put down by force of arms [6] At the present time, Catholic Switzerland is almost entirely identified with the aims of a single political party, the so-called Catholic Conservative Party Linguistic differences have also occasionally caused trouble, or at least aggravated difficulties arising from other causes Nevertheless, despite these religious and linguistic differences, and the internal discord which they have sometimes occasioned, Swiss legal and moral unity has grown firmer with each passing generation. Today there is no people in Europe among whom a sense of national unity and of patriotic devotion is more firmly fixed than among the Swiss In a world grown somewhat weary of the too frequent reiteration of the principle of political "self-determination" for racial and linguistic groups, the Swiss offer a splendid example of how statehood and national patriotism can be fostered in utter defiance of such a principle

NATIONAL AND CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT

Origins of Confederation. Switzerland has evolved through the gradual unification of the cantons of which she is today composed The first step in this process began in 1291 when the inhabitants of the so-called Forest Cantons, Uri, Schwyz, and Unterwalden, made a Perpetual Covenant in which they mutually pledged themselves to protect their existing rights and privileges against their feudal lords [7] Of these, the most important were the Hapsburg rulers of Austria, themselves of Swiss origin, who, at the time, were serving also

[3] Religious and linguistic data have been taken from recent editions of the *Statesmen's Year-Book* and the *Statistisches Jahrbuch der Schweiz*

[4] See F O Adams and C D Cunningham, *The Swiss Confederation* (London, 1894), pp 170 *ff*

[5] W Oechsli, *History of Switzerland,* trans by E and C Paul (Cambridge, England, 1922), p 178

[6] *Ibid*, pp 390 *ff*

[7] This Covenant is translated and reprinted in J M Vincent, *State and Federal Government in Switzerland* (Baltimore, 1891), pp 191 *ff* The history of the formation of the Perpetual Covenant may be found in W D McCrackan, "The Real Origin of the Swiss Republic," *Report of the Amer Hist Asso* (1898), pp 357–362

as Holy Roman Emperors. An attempt by the Hapsburgs to reassert their feudal authority met with the successful resistance of the three confederated cantons at the Battle of Morgarten in 1315. During the next forty years, five more cantons joined the original three. These accessions included the important cantons of Bern and Zurich. The enlarged Confederation won a second victory over Austria at Sempach, in 1386, and thereby vindicated its *de facto* independence. For two centuries and a half thereafter it maintained a precarious existence, the bonds of unity often threatened by secessionist movements among the member cantons and by inter-cantonal strife. Nevertheless the bonds held. Indeed they became strong enough to enable the Confederation to humble Charles of Burgundy when, toward the end of the fifteenth century, that bold ruler aspired to Swiss conquests. Some of the member cantons and the Confederation as a whole also succeeded in making territorial acquisitions by their military prowess. Such acquisitions were usually treated as subject areas and their respective populations were given a status of civil inferiority.

Character of the Ancient Confederation. The Confederation had achieved its *de facto* independence of the Holy Roman Empire after the Swabian War (1499) although the Empire's nominal suzerainty over the cantons was not extinguished until the Peace of Westphalia (1648). By that time the membership had grown to thirteen cantons, all German-speaking, the latest accession, that of Appenzell, having occurred in 1513. In the management of their internal affairs, the cantons acted as sovereign entities, great variations being exhibited by their respective polities. Some, like Bern, were aristocratic republics; others, like Zurich, were rigid oligarchies; and still others, like the Forest Cantons, were peasant democracies, political power being intrusted in them to direct assemblies of the citizens known as *Landsgemeinden*. The affairs of the Confederation, which included relations with foreign powers, matters relating to peace and war, and inter-cantonal disputes, were managed by a Diet which met at irregular intervals. In this assembly each canton had two representatives, and each territory allied with the cantons, one representative. The leading canton, or *Vorort,* called upon the Diet to assemble. Originally this prerogative of leadership belonged to no particular canton but was exercised by each of the principal ones in turn, in the course of time, however, it became vested, by custom, in the canton of Zurich. Although a certain formal precedence may thus have been accorded to the larger cantons in this assembly, particularly to Bern and Zurich, each of the cantons insisted vigorously upon the substance of its equality with the others and behaved in a manner not unlike that of a sovereign state participating in an international conference.

Revolution and Restoration. As thus constituted, the ancient Confederation persisted until the time of the French Revolution. Then great changes occurred. In 1798 a French army invaded and conquered Switzerland. The invaders destroyed the cantons' historic internal social and political institutions, particularly those of an oligarchic and aristocratic character, altered their territorial extent, and, abolishing the organs of the old Confederation, welded the cantons together into a centralized State with democratic and representa-

tive governmental features resembling those of revolutionary France This regime was known as the Helvetic Republic The violation of political tradition, occasioned by this sudden and violent change, caused such dissatisfaction among the majority of Swiss citizens that five years later Napoleon, imperial successor to the French Revolutionists, partially restored the old Confederation and the former autonomy of the cantons by his so-called Act of Mediation (1803) With the fall of Napoleon, twelve years later, and the triumph of legitimism all over Europe, the process of restoration was carried still further, an attempt being made in the Pact of 1815 to revive both the Confederate and cantonal institutions of the eighteenth century [8]

Modern Switzerland Is Created But the basis of modern Switzerland had been firmly laid between 1798 and 1815, and no amount of restorationist activity could ultimately prevail against what had thus been done The Act of Mediation had added six new cantons to the thirteen which had formerly existed [9] These had been created chiefly out of French- and Italian-speaking territories which had been allied with, or considered as subject territories of, the formerly dominant German-speaking cantons The new cantons were continued in the restorationist settlement of 1815 and three more, Valais, Geneva, and Neuchâtel,[10] all French-speaking, were added The number of cantons was thus brought to its present total of twenty-two, and Switzerland officially became a tri-lingual country In time, moreover, the liberal, democratic, and centralizing influences, generated during the period when France controlled Switzerland, began to manifest themselves After 1830, the power of the aristocracies and oligarchies was permanently destroyed in all the cantons where such power had been revived, and representative institutions of a popular character were universally introduced, and on November 12, 1848, following the brief *Sonderbund* War, already referred to, a new Constitution was adopted for the Confederation as a whole This Constitution, based largely on the model of the American system of government, supplied a central political system with adequate and effective national authority and definitively transformed Switzerland from a confederation into a federal State Hence, although Switzerland may retain the word *confederation* in her legal name, she is technically a *federation;* that is, a State with relatively autonomous geographical components and a central government that enforces its will directly upon the individual and his property A complete revision of the new Constitution, in 1874, further augmented the powers of the central government and laid the legal foundations for the present governmental system of the Swiss State.

SOME BASIC PRINCIPLES

Significance of the Constitution. Switzerland's existing written Constitution is therefore the fundamental law of a federation Juridically it is presumed to be the sovereign expression of the joint will of the people of the entire Con-

[8] This period is well treated in Oechsli, *op cit*, pp 302 *ff*

[9] The six new cantons were St Gallen, the Grisons, Aargau, Thurgau, the Ticino, and Vaud

[10] Technically Neuchâtel did not become a full-fledged canton of the Confederation until 1850, when the erstwhile sovereignty of the Prussian King was finally extinguished

federation and of the cantons as juridical entities Its formal supremacy over both Confederation and cantonal governments is unquestioned At the same time it must be recognized that the means of protecting that supremacy are juridically imperfect As will be noted later, the Swiss Federal Tribunal, which is the Confederation's only court,[11] is empowered, in all cases which may come before it, to vindicate the supremacy of the Confederation Constitution and laws as against cantonal constitutions, laws, and administrative acts The Federal Tribunal thus possesses at least a limited power to protect the Confederation Constitution from acts of the cantons which are held to violate the constitutional clause On the other hand, neither this, nor any cantonal, court possesses power of constitutional review as against federal legislation In Swiss political theory, as in the political theory of virtually all Continental democracies, the legislative branch is regarded as the supreme organ of Government, and whatever interpretations it may make of the clauses of the written Constitution are regarded as decisive and binding interpretations In speaking of the legislative branch of the Confederation Government we must, of course, include not only Parliament but the voters at large who, as will be shown subsequently, exercise legislative power through the referendum [12] In the last analysis, then, the substantive integrity of the Swiss Constitution may be said to depend upon the self-imposed political discipline of the Swiss legislature and of the Swiss electorate [13] In practice, the provisions of the Constitution have been generally respected At least this is one inference to be derived from the fact that since 1848 no less than ninety efforts have been made to change the basic document in accordance with the provisions for its own amendment Approximately half of these ninety efforts, as we shall note later,[14] have been successful

Federalism. Certain fundamental principles upon which Swiss political society is based and which explain that society's general structure and purpose, permeate the constitutional document The first of these principles is federalism Those who formulated Switzerland's basic law in 1848 and then amended it in 1874 modified the erstwhile sovereignty of the cantons so as to confer adequate authority for national purposes upon the central Government of the Confederation Besides the traditional control over foreign relations and questions of peace and war, this authority included a variety of prerogatives of an internal character relating to such matters as the currency, communications, commerce, weights and measures, naturalization and expatriation, higher education, conservation of natural resources, and necessary fiscal powers. In addition the Government of the Confederation continued to enjoy its former authority to settle inter-cantonal differences and to protect the integrity of the cantonal Governments against invasion or domestic insurrection To the can-

[11] There is also an administrative court known as the Insurance Tribunal

[12] See p 342 Swiss voters also possess the power to amend the Constitution by means of a popular *initiative*, but this is a constituent and not a legislative power

[13] For a discussion of this subject see W E Rappard, *The Government of Switzerland* (New York, 1936), pp 49 *ff*, 90 *ff*

[14] For the amending process and its results, see pp 341 *ff*

tons the federal Constitution reserved all powers not expressly granted to the Confederation, the rule in this respect virtually paralleling the provisions of the Tenth Amendment of the American Constitution

Growth of Centralized Power. Developments since 1874 have greatly altered the distribution of powers within the Confederation The central Government's authority has been extended to such subjects as patents, water-power exploitation, the civil and criminal law, the alcoholic beverage traffic, aerial, maritime and surface transportation, banking, social-welfare projects, the protection of the family; the regulation of industry, trade and agriculture, the arms traffic, public hygiene, and the production and marketing of grain Public ownership has been extended by the Confederation to the nation's telephonic and wireless communications systems and to the railways Many new sources of Confederation taxation have been created, and a considerable number of subsidies to the cantons have been inaugurated This vast centralization of power has necessarily exalted the prestige and influence of the Government of the Confederation at the expense of the separate cantons and has convinced many observers that the vitality, if not the formal integrity, of the federal principle of government is in jeopardy

Federal Status of the Cantons. In spite of these developments, the cantons remain important elements of the Swiss constitutional system To the cantons still appertain many of the essential prerogatives of government such as the maintenance of domestic peace and order, the care of social dependents, the construction of local public works and highways, the control of elections, the responsibility of providing a system of public education, and the control of local government It is by being a citizen of a canton that national citizenship is ordinarily acquired, and the laws and regulations of the respective cantons still determine many of the citizen's ordinary civil rights in Switzerland, at least in peace time The cantons also play an important subsidiary role in affairs which are predominantly the concern of the central Government Thus although national authority determines the substance of most of the criminal and civil law, the courts which administer that law are almost exclusively cantonal and the procedural aspects of the law are therefore subject to determination by cantonal authority. Similarly the cantons enforce the national legislation relating to weights and measures and pure-food standards They likewise enforce the Confederation's military regulations, raise certain contingents for the national army, and provide the personal equipment of each soldier Indeed it is a general principle of Swiss federalism, as of Continental federalism generally, that the execution of the policies of the general Government shall, wherever possible, devolve upon the administrative organs of the federal components The juridical personality of the cantons is also recognized in the composition of the Confederation's organs of government Notable in this connection is the principle of equal cantonal representation observed in the second chamber of the Parliament, that is, the Council of States (*Standerat*) In this body each canton is entitled to two delegates, and each half-canton, to one delegate Of

equal significance is the recognition of the cantons in the process of amending the federal Constitution No change in that instrument can be considered legally adopted unless approved by a majority of the cantons as well as by a majority of all Swiss voters

Liberalism. A second important principle of the Swiss political system is liberalism The Confederation Constitution and most of the extant cantonal instruments were adopted in the latter half of the nineteenth century when the liberal philosophy of government was dominant Constitutional phraseology consequently stresses that philosophy at every point The controlling influence of the Constitution is particularly exploited to guarantee all the traditional liberal freedoms such as the freedom of the press, of speech, of association, of petition, and of the courts Liberal antipathy to martial authority is also expressed in the constitutional provision against a standing army Equally significant, as evidence of the liberal cast of Switzerland's basic law, is its vigorous assertion of the duty of the State to provide free and compulsory instruction The constitutional clause on this subject contains the injunction that the public schools shall be open to the adherents of all religious denominations and be so managed as not to infringe upon anyone's liberty of conscience or belief This secularism in education secures expression in other directions, notably in the exclusion of the Jesuits and affiliated orders, in the prohibition of new convents or religious congregations, in the abolition of ecclesiastical jurisdiction, and in the emphasis upon the civil character of the marriage contract In some cases the secularism of the Constitution verges upon anticlericalism, a condition explained by the lengthy conflict between the civil and ecclesiastical authorities in Swiss history

Recent Modifications of Liberalism. Traditionally, Switzerland was strongly addicted to other important tenets of nineteenth-century liberalism, namely, the idea that economic life should be relatively free of political restriction and that the integrity of the institutions of freedom of contract, free enterprise, and private property should be maintained As in other Western communities, however, these economic tenets of the liberal philosophy have, in recent years, undergone surprising modifications In some instances they appear to have been virtually erased Efforts to overcome the baneful effects of the economic depression of the 1930's, the huge drain on the national resources required to maintain the country's neutrality in two World Wars, the pressure of various elements of the population for special favors from the public treasury, and the almost universal drift toward the welfare state and political collectivism have all contributed toward bringing about this change in the philosophic underpinning of the Swiss political and economic systems As a result, the Swiss economy has become accustomed to political controls of the market and to the heavy tax burdens required to finance an immense public debt, various types of subsidies, current defense needs, and a greatly expanded system of social insurance and social services Switzerland's economy has also become accustomed in recent years to a rather strictly controlled system of manage-

ment-labor relations, a system which often extends the terms of a collective labor contract, negotiated by one part of an industry or trade, to embrace other parts even though these have had no hand in the negotiations Factors other than governmental regulation have also contributed toward undermining the older economic philosophy One of these factors has been the phenomenon of cartelization, for which Swiss industry appears overfond By weakening, and often virtually annihilating, competition and augmenting private monopoly power, cartelization has often made meaningless the basic conditions upon which the operation of a free-market economy is premised

It remains to be seen whether, in thus qualifying or virtually obliterating traditional liberal principles in the economic field, Switzerland can find that alleged "middle ground" between economic freedom and political interventionism which the political leaders of so many Western states appear to be seeking and which most of them insist, rather too vociferously, can be achieved and stabilized It also remains to be seen whether, in the search for that middle ground as respects economic freedom, the State can preserve the wider domain of cultural, religious, and personal freedom which constitutes the principal heritage of the liberal tradition

Democracy. Still another principle of Swiss political institutions is democracy This principle has become so thoroughly ingrained in the nation's political life and its governmental processes, and appears to be so ardently supported by the bulk of the population, that *Switzerland* and *democracy* have in recent times become almost synonymous terms. Application of the democratic principle to Swiss political life is to be discovered in the Constitution's formal abolition of all aristocratic and oligarchic privileges and in its guarantee that all citizens shall be equal before the law. Such application is also to be discovered in the equal electoral rights of all male (but not female) citizens, twenty years of age or over, in the republican character of all the leading executive offices, and in the representative character of the cantonal and Confederation legislative assemblies

Instruments of Direct Democracy. But the Swiss preoccupation with democracy as a political principle is most characteristically revealed in the nation's extensive reliance upon the instruments of direct popular government. The most ancient of these is the *landsgemeinde,* or open meeting of all the voting citizens. This still obtains in the four miniature half-cantons into which Appenzell and Unterwalden are divided and in the canton of Glarus In all the remaining cantons and for matters affecting the Confederation as a whole, use is made of the more modern instruments of direct democracy, namely, the popular referendum and the popular initiative The first of these enables the voters to veto or approve acts of representative assemblies The initiative, on the other hand, may involve the actual proposal by a portion of the electorate of a law or similar measure which may or may not be approved subsequently by a representative assembly but which, in any case, is usually submitted to a referendum decision of the voters The remainder of this chapter will relate to the operation of these devices on the national level

USE OF THE INITIATIVE AND REFERENDUM

Adoption of the Instruments of Direct Democracy. In the Swiss Confederation regime the referendum was made compulsory in 1848 for all proposed changes in the Constitution,[15] and this provision was continued in the constitutional revision of 1874 In that revision, moreover, the referendum was extended on an optional basis to all the principal laws and resolutions of the Federal Assembly (Parliament), and in 1921 the referendum was further extended, on the same basis, to international treaties concluded for an indefinite period or for more than fifteen years The popular initiative was likewise introduced into the Confederation regime by the Constitution of 1848, that instrument providing that the electorate might initiate proposals for a complete revision of the Constitution In 1891 this initiative was broadened to include popular initiation of proposals for constitutional amendments The Government of the Confederation thus provides at present for (1) a popular compulsory referendum on all constitutional changes, (2) a popular initiative for proposing constitutional revisions and amendments, and (3) a popular optional referendum on laws and treaties

Operation of the Constitutional Referendum. The compulsory constitutional referendum applies to such amendments or total revisions of the Constitution as may be formally proposed by the Federal Assembly To be approved in a referendum, an amendment must be supported by a majority of the participating electorate of the entire Confederation and by a majority of the cantons In determining the will of the cantons, each canton is held to possess one vote, and each half-canton, a half of a vote The vote of the canton or half-canton is then cast, pro or con, in a referendum, in accordance with the decision expressed on the proposed amendment by the popular majority within the canton or half-canton

For a complete revision of the Constitution, the same course is pursued as in the case of an amendment unless the two houses of the Federal Assembly disagree If this happens, that is, if one house wishes to revise and the other does not, the procedure becomes more complicated In such a case a popular referendum is held to determine if the revision sought by one part of Parliament shall be proceeded with In this referendum, only the popular, and not the cantonal, vote is recorded If the referendum is favorable to the revision, the members of both houses of the Federal Assembly are deemed to have been automatically re-elected and they are forthwith obligated to submit a draft of a revised Constitution to a referendum of the people and the cantons

The Constitutional Initiative The constitutional initiative has simply been engrafted upon the compulsory constitutional referendum The complete revision of the Constitution, or specific amendments thereto, may be proposed in petitions bearing at least 50,000 voters' signatures If a complete revision is proposed, the subsequent procedure is identical with that followed when one

[15] Provisions for a compulsory referendum on constitutional changes had also been incorporated in the Constitution of the Helvetic Republic of 1798.

house of the Federal Assembly proposes a complete revision and the other house opposes

If the popular petition proposes merely to amend the Constitution, the procedure pursued thereafter is dependent upon whether the proposed amendment has been formulated in specific, or merely general, terms If formulated in specific terms, and if the Assembly or one house approves of it, the proposal is at once submitted for popular and cantonal action in the usual manner. If the Assembly disapproves of the proposed specifically formulated amendment, that body may advise the electorate to defeat the proposal or submit a competing proposal for popular and cantonal action along with the proposal which has been popularly initiated When the popular initiative has merely formulated the proposed amendment in general terms, the Assembly again has two courses of action open to it If it approves of the policy of the initiative proposal, it must draft an amendment expressing the sense of the initiative proposal and submit it to the people and the cantons for action. On the other hand, if it disapproves of the policy of the popular proposal, it must seek a decision in a popular vote (in which the cantons as such have no voice) on the question as to whether or not the initiative proposal shall be proceeded with If the popular verdict is favorable, the Assembly must then draft an amendment expressing the sense of the initiative proposal and submit that to a regular vote of the people and the cantons

Optional Referendum on Laws and Treaties. Unlike the compulsory referendum on constitutional changes, which requires both a popular and a cantonal vote, the optional referendum on laws and treaties requires only a popular vote, a majority of the voters participating being sufficient to decide the issue The optional referendum may be inaugurated either by 30,000 voters or by eight cantons Laws or resolutions which are not general in character or which are of an emergency nature cannot be submitted to a referendum. The Federal Assembly is the judge as to what laws or resolutions may thus be excepted, and it has often been charged with using this discretion to prevent popular action upon its measures.[16] It has also been apparent that the practice of transferring legislative discretion to the executive in blanket statutes, so characteristic a phenomenon since 1930, has inhibited the use of the popular referendum since executive decisions and resolutions are not susceptible to popular action even though they may, in fact, add to the body of substantive law Long-smoldering dissatisfaction with this state of affairs culminated, on September 11, 1949, in the adoption, by narrow majorities and in a poorly attended poll, of the popular initiative to "return to direct democracy." This had the effect of limiting the operation of much of the "emergency" legislation, particularly tax laws, enacted during and after World War II to a period of one year immediately following the date of the adoption of the initiative unless, in the meantime, such legislation or any part of it was ratified and extended by popular vote

[16] See on this subject remarks of Dr Zellweger in the publication of the Association Juridique Internationale, entitled *Régression des principes de liberté* (Paris, 1938), p 74

Undoubtedly this was an unwise decision—probably as unwise a decision as an electorate, otherwise noted for conservatism and sagacity, has taken in recent years The provocation, however, was great, and lacking the constitutional stewardship of a court of last resort, this seemed to be the only means by which a popular majority in Switzerland could serve notice upon their governors that their acts could no longer be rendered immune from the traditional popular right of veto and that traditional interpretations of the scope of the constitutional power of the Confederation Government could not simply be ignored by the plea of "emergency." The reaffirmation of the idea that a written constitution is a limitation on the power of those who govern is clearly one of the more important implications of the "popular revolt" of September, 1949 For the contemporary breed of democratic politician, who is prone to regard written constitutions as something of a nuisance and who often dismisses the allegation that such documents are intended to limit political discretion as an expression of conservative naiveté, the action of the Swiss electorate, ill-considered and hasty though it may have been, may nonetheless provide a needed lesson

Experience with Direct Democracy. During the first century of the existence of the modern Swiss Confederation its citizens have attended some 150 plebiscites [17] Of these, fifty-five were compulsory constitutional referenda, fifty-two were optional referenda on laws (including one international treaty in 1923), thirty-five were constitutional initiatives, and eight were proposals offered by the Federal Assembly as substitutes for popular initiative proposals [18] The greatest percentage of affirmative popular majorities has been registered in the case of the obligatory constitutional referenda, the record being thirty-eight acceptances and seventeen rejections, or an acceptance ratio of two to one. Apparently the cantonal majorities have coincided in all cases with the popular. In the case of the optional referendum on laws, approximately two laws have been rejected for each one accepted by the voters, a total of thirty-six of the Federal Assembly's measures having been invalidated by the people and only sixteen sustained Greatest caution has been shown by the electorate in the case of the constitutional initiative, there having been six rejections for every initiative proposal accepted by the voters and the cantons, or a total of thirty rejections and five acceptances Parliament's substitute for initiative proposals to amend the Constitution were accepted by the voters and the cantons on six of the eight occasions when such substitutes were submitted Altogether, in the century after 1848, the people of the Confederation accepted proposed laws or constitutional amendments on sixty-five occasions and refused to accept them on eighty-five occasions

Of the three instruments of direct democracy used by the Confederation, the popular initiative is the most radical Presumably, therefore, its use is the best index as to the degree of responsibility the Swiss voter brings to his task

[17] From the inauguration of the modern Confederation in 1848 up to, and including, March, 1949

[18] The statistics on Swiss popular plebiscites have been secured from the *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1933), pp 394 *ff.*, (1940), pp. 408 *ff.*, and (1948), pp 475 *ff*

of lawmaker. Resort was had to the popular initiative much less frequently in the twenty-six-year period from 1891 to 1918 than in the thirty-year period from 1918 to 1948. In the earlier period, ten popular initiatives were proposed, whereas after 1918 the number of proposals rose to thirty-two, this figure including seven counter-initiative proposals offered by the Assembly. One reason for the increase of proposals in the later period and for an increasingly high mortality rate among such proposals is the apparently growing tendency of pressure groups, minority parties, and special constituencies of various kinds to exploit the initiative Each of these is tempted to use the device in order to foist its pet nostrum upon the public or to bring to the attention of the voters some extreme measure that enjoys no prospect of being taken up in any other way Needless to say, few of these measures have any prospect of success

Among the more extreme initiative proposals rejected by the voters since 1918 was a plan for a capital levy in 1922, a Socialist-inspired "crisis initiative," offered in 1935 to combat the economic depression, which would have given the Government vast powers over the economy, and a proposal offered in the same year by native Fascist groups to revise the entire Constitution and replace many of the nation's democratic institutions with others of an authoritarian cast A new crop of relatively extreme and unacceptable initiative proposals came to the fore during, and just after, World War II Among them was a "right-to-work" initiative which rallied 19 per cent of the voters in 1946 and a similar proposal, coupled with plans to reorganize the nation's economy, offered in 1947, which was supported by 31 per cent of the voters Both of these proposals would have had the Government guarantee "full employment." A plan to increase the membership of the collegial Confederation executive and have its members elected by the people was also advanced as an initiative proposal in 1942 It was coupled with a plan to reorganize the lower house of the Federal Assembly. Both plans met defeat. It should be noted, however, that the high degree of electoral conservatism, implicit in this behavior, has not prevented an occasional victory for supporters of a "radical" or "progressive" initiative proposal It was such a proposal, for example, that recently amended the Constitution to enable the Confederation to legislate for the welfare of the family unit. Moreover, as already noted, an initiative in September, 1949, virtually invalidated all existing emergency legislation and thereby registered a veritable revolt against the representative Government of the nation.

Direct Democracy Today. Some of the more extreme initiative proposals of the period since World War I and the controversy over the emergency clause in the operation of the referendum may suggest that the Swiss are not as partial to direct democracy as they have been. Undoubtedly many of the nation's more conservative citizens have reservations They may fear that an age as proficient as ours in manipulating public opinion could very well substitute popular decisions inspired by irresponsible propaganda and pressure tactics for the relatively more responsible decisions assured by the processes of representative government Doubts such as these, however, probably do not assail the major-

ity of Swiss citizens—at least not in 1951 Whatever the future may hold, the record of the past has been creditable It is a record which now embraces the experience of a century By and large, with minor exceptions, it is reassuring to even the most cautious and conservative It is a record of relatively sustained electoral interest, of discriminating electoral participation, and of electoral decisions that, on the whole, reflect caution and common sense It is a record in which Switzerland can take pride, and for the exponent of the democratic faith, Switzerland's experience with these instruments of popular government probably represents the most daring and the most successful application of that faith that any nation has made [10]

[10] For an excellent discussion of direct democracy in Switzerland see William E Rappard, *The Government of Switzerland* (New York, 1936), pp 66 *ff*.

CHAPTER II

GOVERNMENTAL STRUCTURE OF CONFEDERATION AND CANTONS

Switzerland's unusual emphasis upon the use of the instruments of direct democracy is but one of the more novel features of her political system Other novelties, equally fascinating to the student of comparative government, will appear in the course of this chapter as we extend our study to the structure of the Government of the Confederation and the cantons Among these novelties will be the special position which the federal tradition has assigned the second chamber of the national Parliament, a position so like that of the American Senate but quite different from that enjoyed by comparable bodies in the majority of European governments, the "vertical" type of federal administrative and judicial structure, as opposed to the "horizontal" type prevalent in America, and, above all, the conventional executive regime which prevails in both the Confederation and the cantons

FEDERAL LEGISLATIVE AND EXECUTIVE ORGANS

The Federal Assembly: (1) The National Council. The Parliament of the Confederation is bicameral and is known as the Federal Assembly (*Bundesversammlung, Assemblée Fédérale*) Its primary and more popular house is the National Council (*Nationalrat, Conseil National*) It now consists of approximately 196 members, elected for a term of four years, suffrage being universal among males twenty years of age or over Qualifications for membership in the National Council are the same as those required for voting; however, all clerics, executive and principal administrative servants of the Confederation Government, and members of the second house of the Federal Assembly are specifically excluded Cantons and half-cantons serve as electoral constituencies, representation being distributed among them in accordance with the ratio of one councilor for every 22,000 inhabitants Half-cantons whose population does not equal 22,000 are guaranteed at least one councilor In the cantons which elect three or more national councilors, parties and po-

litical groups secure proportional representation Lists of candidates, equivalent to the number of councilors to be elected, are submitted to the electors by the parties Each elector may vote as many times as there are councilors to be elected Normally he distributes his votes among the candidates as they appear on some party list, substituting other names and even voting twice for one candidate, a privilege allowed by the electoral law This behavior of the elector is important, for it is chiefly the votes cast by the electors for the candidates as individuals that determine the latter's standing when the seats are distributed according to the proportional electoral quota [1] As in all legislative bodies elected according to a proportional plan, membership is fairly stable As a rule, at least a fourth of the membership has served for more than a decade and another fourth is likely to have served at least two terms or eight years. As in most parliamentary assemblies, lawyers predominate, but farmers, business men, and cantonal officials also have sizable quotas in the National Council

The Federal Assembly: (2) The Council of States. The second house of the Federal Assembly is the Council of States (*Standerat, Conseil des États*). In this body, as previously noted, every canton, no matter what its size or population, is entitled to two delegates, and every half-canton to one delegate The total membership of the Council of States is thus forty-four The concept of cantonal sovereignty and personality, still influential in Switzerland, is chiefly responsible for this equality of cantonal membership as, indeed, it is also for the very existence of a second chamber To this same concept of cantonal sovereignty is to be attributed the circumstance that each canton determines how its delegates to the Council of States are to be elected, what their terms shall be, and what compensation shall be paid them out of the cantonal treasury At the present time the people in twenty-one cantons or half-cantons elect their State Councilors either by ballot or in their *Landsgemeinde,* in the four remaining cantons State Councilors are elected by the representative legislatures Terms of the State Councilors vary from one to four years, being longest in those cantons where they are popularly elected and shortest in those cantons where they are elected by the legislature

Legislative Powers The makers of the Swiss Constitution did not pay much attention to the orthodox theory of the separation of powers in establishing the Federal Assembly, since they conferred upon it all kinds of authority, legislative, executive, and even judicial The enactment of laws dealing with Confederation matters are of course within its province In addition it elects the seven members of the Federal Council who compose the executive department of the Swiss Government, it also elects the commander-in-chief of the army when one is needed, the members of the federal judiciary, and other officials of the Government It declares war and concludes peace, ratifies treaties, issues amnesties and pardons; authorizes measures to guarantee the integrity of the cantonal Governments and the domestic peace of the Confed-

[1] The Swiss system of proportional representation is described in H L McBain and L Rogers, *New Constitutions of Europe* (New York, 1923), pp 109–113

eration; disposes of the army, supervises the activities of the civil service; and even decides administrative disputes and conflicts of jurisdiction between federal officials Few Parliaments have more miscellaneous duties

Legislative Organization and Procedure. In exercising its power to elect executive, judicial, and other officials of the Confederation, its power to issue amnesties and pardons, and its authority to settle conflicts of administrative jurisdiction, the Federal Assembly acts as a unitary body, Council of States and National Council sitting together under the chairmanship of the president of the latter house. For all other matters, the two houses of the Assembly sit and act separately, and their concurrence is necessary to any parliamentary decision Both houses hold an ordinary session annually beginning on the first Monday in December; and they meet in extra session at the request of the executive, or Federal Council, or of one-fourth of the members of the National Council or of five cantons Each house elects a new president for each annual session, to whom is largely intrusted the determination of the daily order of business Most of the new business of the two houses comes from the Federal Council, which has the duty of making innumerable reports and the privilege of initiating legislation The latter privilege also inheres in either house or in members of either house of Parliament and, theoretically, in the individual cantons A proposal introduced by a private member of Parliament takes the form either of a postulate or of a motion. Both are resolutions which seek to have the executive or Federal Council actually draft a bill on some specific subject and introduce it in Parliament. A postulate, which needs the majority vote of only one house to secure adoption, merely requests the Federal Council to draft legislation on some subject, the Federal Council enjoys discretion in determining whether or not the postulate shall be complied with. A motion, on the other hand, must be sustained by majorities in both houses to become effective and, when voted, requires the Federal Council to draft legislation on a specific subject and introduce it in Parliament. In any case it is clear that, wherever legislative initiative may reside, the Federal Council, or executive, virtually monopolizes the prerogative of drafting bills and formally introducing such bills in Parliament

In order to use the time of the houses effectively, the respective presidents try to apportion to each of them an equal share of the agenda presented by the Federal Council at the opening of each session Most of the measures introduced in either house are eventually referred to committees which normally reflect the proportional strength of the various political parties These committees may present both majority and minority reports to the houses through *rapporteurs* In case a difference of opinion arises between the houses on a pending measure, the respective committees having charge of it try to iron out the difference Normally this is not difficult, since neither house is inclined to assume an uncompromising attitude Of course, since the two houses are coordinate in power, insistence by one of them upon its version of a pending measure, contrary to the will of the other, means that the measure is killed. In accordance with the official position occupied by the various languages used

in Switzerland, all parliamentary documents and decisions are published in both French and German, and some also in Italian, and parliamentarians are privileged to address their colleagues in French, German, or Italian

The Federal Council. The scope and limitations of parliamentary activity at Bern will become clearer if we now turn our attention to the federal executive. As already indicated, this body is known as the Federal Council (*Bundesrat, Conseil Fédéral*) and consists of seven members elected by the Federal Assembly. Constitutional usage prescribes that Zurich and Bern, being among the oldest of the cantons and having the largest population, shall always be represented. A similar right is guaranteed in the same manner to Vaud, largest of the French-speaking cantons. Usage further prescribes that another Romance canton besides Vaud shall always be represented The legal term of service in the Council is four years.[2] Its prerogatives are manifold. They include the actual conduct of foreign affairs, the supervision of inter-cantonal relations, particularly cantonal concordats, the preservation of internal security, including especially the enforcement of the federal Constitution's guarantee of cantonal political integrity and the federal right of intervention to preserve order in a canton when the latter is unable to do so; the immediate supervision of all Confederation officials, civil and military; the administration of the national finances, and the enforcement of the Confederation's laws and ordinances and federal judicial decisions. Formerly the Federal Council also served as the principal administrative court of last resort, but since 1928 it settles only such appeals against decisions of the Confederation's administrative services as have not been transferred to the agenda of the Federal Tribunal [3]

Although the detailed administrative responsibilities to which these prerogatives give rise are distributed among seven administrative departments each headed by one of the Federal Councilors, it is the theory of the Constitution that all important executive decisions shall be made by the Federal Council as a body and that the Council shall assume corporate responsibility for such decisions. When acting collegially, four Councilors constitute the minimum number for a quorum; and it would therefore appear that at least three Councilors must concur in every conciliar decision. This theory of a collegial executive does not always square with practice. At any rate, many important executive decisions are made by individual Councilors.[4] By law, moreover, activities which at an earlier date were the responsibility of the entire Council have been passed on to specific Councilors and by them to subordinates [5]

The President of the Confederation. Annually the Federal Assembly designates a member of the Federal Council to serve as President of the Confederation and a second member to serve as Vice-President The Constitution expressly forbids the re-election of an incumbent President or Vice-President

[2] In 1931 the term of Federal Councilor, like that of National Councilor, was extended from three to four years

[3] For a description of this body, see p 353

[4] Cf J Dursteler, *Die Organisation der Exekutiv der schweizerischen Eidgenossenschaft* (Aarau, 1912), p 298

[5] R. C Brooks, *Government and Politics of Switzerland* (Yonkers, 1918), p 128

Usage requires that the Vice-President succeed the President and that the two offices rotate among the members of the Federal Council Although the Presidency of the Confederation is an office of some dignity, it has none but purely formal prerogatives, the principal ones being those of presiding over the deliberations of the Federal Council and serving as the titular head of State both within the country and in the conduct of foreign relations Such official authority as the President may wield comes to him as a member of the Council and as head of one of the seven administrative departments.[6]

Executive Subordination to the Legislature. Numerous political commentaries remark upon the unique characteristics of the Swiss national executive Besides its collegial structure, which incidentally distinguishes the executive of almost every level of government in Switzerland, what seems remarkable in the Swiss executive to foreign observers is the position of inferiority which the Constitution assigns it in its relations with the legislature In Swiss constitutional theory the executive is not an independent or coordinate branch of government as it is, for example, in the American system, the Swiss have made the executive the formal servant of the legislature This servitorship is implied in the Federal Assembly's election of the Federal Council and in the Assembly's use of the Council as a sort of glorified legislative drafting bureau. Executive servitude is made still more obvious by the Assembly's supervision of the executive province Because of the wide scope and miscellaneous character of the powers constitutionally committed to the Federal Assembly, that body's previous authorization or subsequent ratification must usually be secured by the Federal Council when it exercises prerogatives relating to the armed forces, to foreign relations, or even to the ordinary conduct of public administration. The Assembly, moreover, resorts to postulates or motions to direct the executive's course in the conduct of the administration in much the same manner as it uses these instruments to direct that the executive draft desired legislation[7] It is also customary for the Assembly to require detailed written reports on the general conduct of executive business, and it does not hesitate to question the Councilors orally or to interpellate them on the floor of the respective houses It may be interjected here that Federal Councilors, although excluded from membership in the Assembly, have the privilege of attending all plenary legislative sessions, or committee meetings, and of participating in the debate The most striking evidence of the subordination of the executive to the legislature in Switzerland is to be discovered in the fact that neither constitutional law nor usage requires the resignation of the Federal Councilors should their policy happen to conflict with that of the Assembly; in such a case the Councilors merely change their policy in order to make it conform with the Assembly's expressed will

Sources of Executive Influence. Despite what has just been said, it must not be concluded that the Swiss Federal Councilors lack influence on the course of public affairs. The very fact that the Assembly transfers to them

[6] Cf R Hubner, *Die Staatsform der Republik* (Bonn, 1919), p 231.
[7] See p. 348.

most of the legislative initiative, combined with the Councilors' immediate responsibility for the conduct of the Government, gives them many opportunities to determine the tenor and direction of public policy. Nor does the constitutional supremacy of the Federal Assembly greatly hamper such activity on their part In Switzerland as elsewhere—in Great Britain, for instance—the parliamentary responsibility of the executive serves to justify the exertion of executive discretion almost as often as it serves to check such discretion or to modify it In this connection it should be recalled that the Swiss Federal Councilors are usually the leading politicians among the parties which dominate the Federal Assembly. This fact necessarily assures the Councilors a certain degree of partisan support in that body even though Swiss tradition frowns upon the exploitation of partisan discipline on behalf of the executive and requires that the Federal Council conduct itself in a nonpartisan manner

Lengthy Tenure of Federal Councilors. Still another factor which contributes to the practical importance of the Federal Council in the Swiss Government is the individual Councilor's relatively lengthy tenure Partly because of the Swiss habit of re-electing public servants as long as they wish to serve and partly because of the tradition that Federal Councilors shall not resign for political reasons, their actual term of continuous service usually exceeds by many years that of their ministerial counterparts in other governments Continuous service for two decades is not uncommon.[8] Occasionally a Federal Councilor will round out three decades or more One of the more recent illustrations of such a record of service was that of Signor Giuseppe Motta, Councilor from the Ticino, who served from 1911 to 1940 So accustomed are the Swiss to continuing in office their chief executive personnel that the pension system for the Federal Council does not apply to one of its members unless he has served at least ten years Certainly one consequence of this long period in office is the enhancement of the Councilor's official prestige, administrative skill, and political judgment, and therefore of his practical capacity for political leadership.

Recent Executive Developments. Finally it should be added that Switzerland has not been immune from the contemporary world-wide tendency to strengthen executive power Efforts to preserve her neutrality and protect her economy during the two World Wars, combined with measures to combat the interbellum economic crisis have necessitated the erection of a veritable emergency regime in the Swiss political system. One characteristic of this regime is the delegation by the Federal Assembly to the Federal Council of "blanket" authority over matters hitherto regulated directly by statute. Thus in the National Defence Act, passed on August 30, 1939, as World War II was beginning, the Federal Assembly instructed the executive to take whatever measures it deemed necessary to preserve the country's security, independence, and neutrality, to safeguard the national credit and economy, and to ensure supplies for the nation As a result of this important statute, the legal rights and duties of

[8] On this subject see Hubner, *op cit*, p 230, also, W E Rappard, *The Government of Switzerland* (New York, 1936), p 80.

individuals came to be defined primarily by executive decree and decision rather than by statute, at least for the duration of the War Much of the discretion thus confided to the executive has, moreover, been continued since the close of hostilities in 1945. Occasionally the Federal Council has also issued ordinances (*Notverordnungen*) affecting the body of private law on the mere plea that the public safety and necessity required such action.[9] This is a type of executive power which, though common enough in some Continental political systems, has been relatively unknown in Switzerland. Apparently this system of emergency government by the executive has profoundly irritated the Swiss people. At any rate, on September 11, 1949, as noted earlier in these pages,[10] the electorate adopted a constitutional initiative which looks to the repeal of most of the emergency decree legislation within a year Despite this reaction, it seems reasonably clear that the legislative significance of the Federal Council has been permanently enhanced and that in Switzerland, as elsewhere among Western democracies, the executive has become, at least *de facto,* the dominant branch of the Government

THE FEDERAL ADMINISTRATION AND THE JUDICIARY

Administrative Departments. As previously stated, administration of federal affairs is distributed among seven departments, each headed by a Federal Councilor. These departments are as follows: (1) Political Affairs; (2) Military Affairs, (3) Justice and Police; (4) Finance and Customs; (5) Interior; (6) National Economy; and (7) Posts and Railways. As in the case of the American State Department, the jurisdiction of the Swiss Department of Political Affairs embraces some relatively minor domestic responsibilities as well as the foreign affairs of the Confederation During certain periods in the past, this Department was entrusted to the President of the Confederation, its headship and that of at least one other department thus had to be changed annually since a new President is elected within the Federal Council every year This custom has been discontinued since World War I; and the Political Department, like the other departments, continues under the same Councilor indefinitely. The miscellaneous federal duties attributed to the Interior Department also permit comparison of that Department with one of the same name in the American Government and sharply distinguishes it from interior departments of centralized Continental governments whose chief duty is the maintenance of internal security. The duties of the remaining Swiss administrative departments are probably self-explanatory. Of great importance among these remaining departments are those of Posts and Railways and of National Economy, the first because the Confederation owns and manages the postal, telephonic, telegraphic, wireless, and railway systems, and the second because of the increasing intervention of the Confederation Government in economic affairs. It should be added that the Railway Administration, although under the jurisdiction of the Department of Posts and Railways, enjoys a con-

[9] On this general subject see Kurt Reber, *Das Notrecht des Staates* (Zurich, 1938)
[10] See p. 342.

siderable degree of autonomy, having among other things, an entirely separate budget In recent years the duties of some of the departments have become so complex and numerous as to justify an increase in their number; but since their number is constitutionally restricted to that of the membership of the Federal Council, an increase cannot take place unless the roster of the Council is expanded by a constitutional amendment.

Civil Servants and Public Employees. Administration of the Confederation's laws and policies is often entrusted to cantonal officials. Such a "vertical" administrative structure seems desirable not only because it promotes economy but also because it helps to overcome cantonal objection to the growing political centralization in the nation. Because of this federal administrative structure, the personnel of the Confederation's Civil Service and its corps of public employees is less numerous than might be expected, although Switzerland has been no less susceptible to bureaucratic expansion than other states. Until World War II, moreover, roughly three-quarters of those on the Confederation payroll were employed on the publicly owned railway and communications systems or on the state monopolies. Most of the civil servants and employees are appointed by the Federal Councilors in their capacity of department heads. Railway officials and employees are appointed by the autonomous Federal Railway Administration. Appointing authorities fix most of the conditions relating to the appointment, dismissal, promotion, and privileges of a public servant. Citizenship, a good character reference, a satisfactory level of attainment in the country's educational system, and, occasionally, specific training are required of candidates for basic positions in each of the major levels of the various branches of the public service. Appointments are usually made on the basis of competitive examinations. The entire service is comparatively free of nepotistic or political influences and is unusually efficient. The rate of compensation, traditionally low, has risen steadily since 1920; the attractiveness of the service is, moreover, enhanced by security of tenure and a generous pension system. Public employees and civil servants have their own service organizations, which in many instances are affiliated with the Swiss Federation of Trade Unions.

The Federal Judiciary. The judiciary is the most recently developed branch of the Confederation's Government. The Constitution-makers of 1848 had provided for a Federal Tribunal (*Bundesgericht, Tribunal Fédéral*), but the agency actually set up under this name was distinctly rudimentary It had no fixed location for the transaction of business and lacked qualified professional personnel. A more serious weakness was its lack of authority. Public-law cases, such as disputes between the cantons and between the cantons and the Confederation, that might logically have been submitted to it, went instead to the Federal Council or Assembly All this was changed, however, in 1874 From the constitutional revision of that year the Federal Tribunal emerged as a full-fledged federal court A year later its headquarters were formally set up at Lausanne, capital of the Canton of Vaud, the choice of this site apparently having been intended to allay lingering dissatisfaction in Romance Switz-

erland because the rest of the Confederation Government had been centered at Bern in German Switzerland

At the present time the Federal Tribunal consists of some twenty-six judges elected for six-year terms by the Federal Assembly There are also eleven supplementary judges Biennially, Parliament designates the judge who shall serve as president of the court The Constitution formally requires Parliament to consider the claims of the three major languages of the country to representation on the federal bench, usage supplements this requirement with similar claims for individual cantons and even for partisan groups As in the case of Federal Councilors, the judges of the Federal Tribunal are re-elected as long as they wish to serve This practice, guaranteeing virtually permanent tenure, largely removes the danger to judicial independence which might otherwise inhere in the brevity of the judges' legal term and in the influences which affect their original election. After at least ten years of service on the bench, judges are guaranteed a pension that approximates half their salary in case they retire

The Tribunal's Jurisdiction. The Federal Tribunal acts as a corporate entity only when it meets to transact business affecting its own establishment or to issue regulations relating to the conduct of judicial business. In dispensing justice it operates in various sections for public, criminal, and civil law, such sections being appointed for two-year intervals Although the Federal Tribunal is often described as the supreme court of the Swiss nation, its powers do not quite justify such a title Most of the ordinary criminal and civil law of the land, which is incorporated in federal codes, is administered by the courts of the twenty-five cantons and half-cantons Over these courts, the Federal Tribunal has only a limited right of review, civil cases involving a relatively large sum being appealable to it, under certain circumstances, from the highest court of the respective cantons The remainder of the Tribunal's jurisdiction is original in character and rather specialized It involves cases of civil, criminal, constitutional, and administrative law Its original civil jurisdiction extends to controversies of a proprietary character between the Confederation and the cantons, between cantons, and between individuals and the Confederation or the cantons Apparently, under certain circumstances, this original civil jurisdiction also extends to cases between individuals The Tribunal's original criminal jurisdiction is limited to cases involving treason or insurrection against the Confederation, counterfeiting, violence against national officials, offences against the law of nations, and criminal charges preferred by superior Confederation officials against their subordinates Apparently this jurisdiction can be expanded by legislation To hear its criminal cases, the Tribunal holds assizes from time to time in five different centers of the country In these assizes a section of the Tribunal, consisting of three judges, sits with a jury of twelve men elected from the vicinage, and the concurrence of five-sixths of the jurymen is necessary to convict an accused person. The Tribunal's constitutional authority relates to jurisdictional conflicts between cantonal and Confederation agencies, inter-cantonal public-law conflicts, and cases of alleged violation by the cantons of personal rights secured under the federal or cantonal constitu-

tions, inter-cantonal agreements or treaties. Finally, as a court of administrative law, the Federal Tribunal has, since 1928, been invested with the power to settle disputes regarding the legal competence of public officials.[11]

Lacks Powers of a Constitutional Court. As stated elsewhere, the Swiss Federal Tribunal has no power to ascertain the constitutionality of federal statutes, the Federal Assembly having reserved to itself or to the people the final interpretation of the Confederation's basic statute The Tribunal's power of constitutional review is thus limited to those cases, described above, where it is called upon to vindicate the rights of citizens under cantonal or federal constitutions against alleged violations by cantonal statutes It might be added that in view of the Tribunal's limited and unsystematic jurisdiction, it could hardly serve as an effective instrument for reviewing federal legislation judicially, even if such a power inhered in it.

THE CANTONS

Present Significance of the Cantons. As already indicated, the Swiss cantons are no longer the essentially sovereign states which they were prior to 1848 Moreover, the present trend toward the nationalization of political power and political loyalty has undoubtedly reduced their historic individuality Nevertheless they continue to be highly developed autonomous political communities within the federal state Each of them still has powers which, in many respects, resemble those of a sovereign government Each of them, moreover, has a complete governmental apparatus, including a written constitution, legislative, executive, and judicial organs, a fiscal system and a civil service. In addition the cantons control all forms of local self-government Since the autonomous functions of the cantons and their functional relationship to the Confederation Government have been commented upon elsewhere,[12] it remains for us to describe briefly certain aspects of their political structure

The Landsgemeinde Cantons. The federal Constitution requires that the political system of each canton shall be republican in form; but this republicanism may be either of a purely democratic or of a representative type As noted earlier, one canton, that of Glarus, and the four half-cantons into which Appenzell and Unterwalden are divided, still center political authority in their medieval *Landsgemeinde* or annual assembly of all the citizens In formal constitutional theory, at least, these bodies exercise the legislative power of the canton and elect and supervise the cantonal executive and administrative officials Hence Glarus and the four half-cantons using the *Landsgemeinde* must be regarded as possessing a government of a purely democratic-republican type

Representative Cantons In all other cantons or half-cantons a representative republican form of government prevails In these, legislative power and the surveillance of the administration is entrusted to unicameral representative

[11] As suggested earlier, the Insurance Tribunal, operating at Luzern, might be considered a special federal administrative court

[12] See p 338

assemblies known as Great Councils or Cantonal Councils. These are elected on the basis of a democratically enfranchised citizenry and proportional representation The cantons which are not pure democracies have, however, modified their representative character with a large measure of direct democracy introduced by means of the modern initiative and referendum Every one of them is required by the federal Constitution to submit all changes in the cantonal constitution to the people and to allow the people to propose constitutional amendments. Hence every representative canton has a constitutional initiative and a compulsory constitutional referendum. In addition each representative canton provides for a popular initiative on ordinary legislation and for a legislative referendum In some the legislative referendum is optional, in the majority it is compulsory for all laws of a general character and for certain fiscal measures The representative Swiss cantons thus have a far greater admixture of pure democracy in their institutions than the Government of the Confederation, and between some of them and the so-called *Landsgemeinde* cantons there is scarcely any difference in the amount of actual responsibility for law-making placed directly upon the populace

Cantonal Executives. In harmony with the pluralistic Swiss tradition, the executive power in all the cantons is vested in a commission Variously known as the Governing Council, or the Small Council, or the Council of State, the commissions consist of from five to eleven members, all of whom are popularly elected Various political parties are usually represented and sometimes efforts are deliberately made to give the parties proportional representation As in the Federal Council, each member of a cantonal executive commission is the head of an administrative department of the Government Collectively the commission is responsible to the legislature for whose will it must exhibit the same formal deference that the Federal Council exhibits for the will of the Federal Assembly But, like the Federal Council, the cantonal commissions assume the responsibility for drafting and introducing most of the legislation; this, in addition to their administrative duties, ensures them substantial powers of leadership

Cantonal Courts. As we have seen, the only Confederation court is the Federal Tribunal whose competence is relatively specialized It follows, therefore, that the administration of justice continues to be primarily a cantonal responsibility, and that most cases and controversies requiring adjudication go before cantonal tribunals In most cantons, justices of the peace or petty magistrates' courts in the communes settle minor civil disputes. More important civil cases may originate in a cantonal district court and, under certain circumstances, may be appealed to a court of review bearing the name of cantonal, or higher, court or court of civil justice In a variety of civil cases, appeals may be taken to the Federal Tribunal Considerable use is also made of arbitration and commercial tribunals in settling industrial and trade disputes, particularly disputes over labor contracts Original jurisdiction in the case of offenses against the State is usually distributed among three grades of cantonal courts petty offenses are handled by police or magistrates' courts; major

misdemeanors and less serious felonies, by the so-called correctional courts; and major felonies, involving long-term imprisonment and loss of civil rights upon conviction, by the criminal court or court of assizes. The death penalty was abolished in Switzerland in 1942, although during World War II, military courts occasionally exacted the penalty for the crime of treason As in most Continental states, a special section of the trial court, known as an indictment section or court of indictment, determines whether a person is to be held for trial on the basis of information furnished by an examining magistrate and the public prosecutor All except the petty tribunals in the cantonal judiciary have plural magistracies and the judges may be elected by the people or by the legislature, or they may be appointed by their superiors on the bench. The term of the judicial office varies from three to ten years, the longer term usually applying to the higher magistrates No Swiss judge may hold office during good behavior, that is, for life, but since reappointment or re-election is habitual, judges have a virtual life term Juries ranging from six to twelve members exist in some of the courts of assizes

The Communes. For purposes of local self-government, the cantons are divided into communes of which, in the whole of Switzerland, there are presently some 3,107.[13] A few are comparatively large cities, a few more are large towns or urban communities, but the great majority are rural areas or hamlets The governmental structure of the commune is not dissimilar to that of the canton, democracy being the guiding principle. Many of the smaller communes vest their affairs in an assembly of the citizens, others, having representative organs consisting of an assembly and an executive council headed by president, mayor, or syndic, have adopted the democratic device of the referendum Communal powers are extensive and allow for many activities of an economic and cultural character In a democracy like Switzerland, local government assumes more than ordinary importance since it provides the civic training and sense of community responsibility so essential to success in the management of the affairs of the canton and the nation as a whole.

It should be noted that in most of the cantons there are special communal corporations in addition to the governmental commune just described. These special communes may not, and usually do not, embrace all persons actually resident within the local area One type of special communal corporation may be ecclesiastical and embrace those belonging to a particular faith It organizes and finances public worship for the creed in question Another type might be called the native citizens' commune. It consists of those inhabitants of a particular area who are natives of that area and of such others as claim the area as their place of origin Only these share in the support of this special commune and receive its benefits, the latter assuming chiefly the form of financial assistance for indigent members[14]

[13] *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1948)

[14] In all but eight cantons there are also districts (*Amtbezirke, arrondissements*) consisting of the area of several political communes In charge of the district is a commissioner or prefect who represents the cantonal government locally and supervises certain aspects of the operations of the communes in the district

CHAPTER III

POLITICAL PARTIES AND THEIR PROGRAMS

EVOLUTION OF SWISS PARTIES

Reliance upon Political Parties Switzerland follows other democratic states in relying upon a variety of political parties to organize and promote national opinion, to sponsor such opinion in the various organs of government, and to provide those group disciplines and loyalties essential to the successful operation of deliberative and plebiscitary political institutions As in most other states the political parties are organized spontaneously and find little if any recognition in official documents About the only recognition formally accorded parties in Switzerland is that discovered in the rules governing the organization and procedure of Confederation and cantonal Parliaments and in the federal and cantonal proportional electoral laws

Liberal-Radical Ascendancy. In 1848, when the modern Confederation was created, federal affairs were dominated by two groups of politicians whose principal support came from the Protestant German cantons and from Protestant French cantons These groups subsequently became known respectively as the Liberal Democrats or, more briefly, the Liberals and the Independent Democrats or Radicals [1] Of these two groups the Liberals were the older. They advocated a traditional nineteenth-century political philosophy that emphasized the *laissez faire* economics of the Manchester School, moral and cultural freedom, and republican political institutions The younger and more progressive Radicals were inclined towards a liberalism of a more advanced type, which sought to extend political democracy by means of such instruments as the initiative and referendum, and which was willing to temper economic liberty with a certain degree of state intervention Despite the differences in their views, these two groups had nonetheless collaborated in bringing into being the new federal Constitution, and their respective philosophies had been chiefly responsible for that document's centralistic, libertarian, secular, and democratic fea-

[1] Throughout the remainder of the text these parties will be referred to as Liberals and Radicals

tures Opposed to them was a party consisting mainly of those elements which had formed the *Sonderbund* in 1846 and brought on the War of Secession in 1848 Known as the Catholic Conservative People's Party, it represented Catholic Switzerland, was antiliberal, clerical, and even ultramontane in its views, and emphasized cantonal rights It paid only grudging allegiance to the constitutional settlement of 1848, into the acceptance of which it had been virtually coerced.

Decline of the Liberals With the Catholic Conservatives in opposition, the Liberal and Radical Parties governed the country from 1848 to 1890 Between them they controlled a large majority in the Federal Assembly and, of course, monopolized all seven places on the Federal Council During this period of joint ascendancy, the Liberal Party's electoral strength gradually ebbed whereas that of the Radicals increased enormously In time the Radicals became not only the dominant party in the coalition but by far the largest party in the country, while the Liberals approached the status of a minor political group The change in their respective strengths was not accurately reflected in the Federal Council because of the practice, already commented upon, of re-electing the members of that body as long as they wished to serve, but as Liberal Councilors retired, their places were invariably taken by Radicals, and toward the end of 1890 the Federal Council's membership came to include only a single representative of the Liberal Party

Recent Partisan Coalitions. When this Liberal member retired during the following year, a profoundly important political shift took place, for the Federal Assembly proceeded to elect in his stead a representative of the Catholic Conservative Party Thus forty-three years after the inauguration of the federal Constitution, this party finally gave up the role of official opposition and assumed a share of the responsibility of Government The executive partnership of Radicals and Conservatives has continued, a second Conservative having been added to the Federal Council in 1919 Their predominance has, however, been challenged in the past quarter century by newer political parties who have demanded, and ultimately have been accorded, representation on the Swiss executive Thus in 1929, partisan representation on the Federal Council was broadened to include a member of the Farmers' Party, a group which had broken away from the Radicals in 1918 Again in 1943 a member of the Social Democratic Party joined the governing circle of seven, an event of no little significance, since it marked the end of the monopoly which parties representing bourgeois, or middle-class, ideals had exercised over the Swiss executive for almost a century. At the present time (1951), therefore, the Swiss Federal Council consists of three Radicals, two Catholic Conservatives, one member of the Farmers' Party, and one Social Democrat Politically it is a coalition which might be described as somewhat left of Center albeit more moderate in temper, particularly on social issues, than the governing groups of some contemporary democratic States

Rise of Marxist Parties. As already indicated, until 1943 the role of chief opposition party in the Swiss legislature had been assumed by the Social

Democrats This party's representatives first appeared in the National Council in 1891 at just the time the coalition between Conservatives and Radicals was first elaborated. That these two events should have transpired at approximately the same time is probably no coincidence With Socialism's arrival on the political stage, Catholic Conservative and Radical undoubtedly considered themselves well advised to compromise their differences. Swiss Socialism arose in sympathy with similar movements in other countries inspired by Karl Marx's materialistic interpretation of history and his doctrine of the class struggle The onset of industrialization and the growth of such manufacturing centers as Zürich, Winterthur, and Basel, so noteworthy a feature of recent Swiss economic history, offered splendid opportunities for the propagation of Socialist doctrines, and the party grew apace At the end of World War I, it claimed forty-one seats in the National Council By 1935 it claimed fifty seats, and had wrested from the Radicals the reputation of being the party with the largest popular following in the country. Subsequent splitting off of the more militant Left-wing elements, who leaned toward the Marxism of Russian Communism, gave the ascendancy in the National Council once more to the Radicals, the latter having fifty-two seats to forty-eight for the Social Democrats in the quadrennial elections of 1947. Marxism's left wing first broke with the moderate Social Democrats in 1922, although for two decades it rarely elected more than three or four delegates to the National Council In 1941 the Confederation Government dissolved the two elements of Marxism's extremist wing, then known respectively as "Communists" and the "Socialist Federation", but the ban was lifted three years later, and extremist Marxism reformed and consolidated its ranks, assuming the name of "Labor Party." In the 1951 elections, this party chose five delegates to the National Council

Establishment of Other Parties. Socialism's rise to power in the Swiss National Council was greatly aided by the use of proportional representation in national elections after 1918. This electoral reform may also be held at least partly responsible for the subsequent development of various other parties or electoral groups. Attention has already been directed to one of these, the so-called Farmers' Party,[2] which split off from the Radicals in 1918 largely because of dissatisfaction with Radical agrarian policies In 1929, when it joined the governing group in the Federal Council, this party claimed thirty-one seats in the National Council From this high point its strength declined, especially after the elections of 1935, and in 1951 its delegation in the National Council numbered only twenty-three Other parties represented in the Swiss legislature after the 1951 elections consisted of the Independent Party, newly formed in 1935, with ten seats in the National Council and a loose grouping of cantonal democratic parties, particularly from Zurich and Glarus, which accounted for four seats [3]

[2] The official name is the Farmers, Artisans, and Middle Class Party

[3] The standing of the parties in the National Council from 1919 to 1951 is indicated by the following table.

CONTEMPORARY PARTY PROGRAMS

Policies of Catholic Conservatism. Three generations of governmental responsibility and collaboration with other parties have largely dissipated the Catholic Conservative Party's early antipathy to federalism and to a central government within the Confederation. Nevertheless it is still strongly procantonal and particularistic in its approach to national issues: it is still the Swiss "states'-rights" party. Although it is willing to admit that a degree of political intervention is warranted by the conditions of modern society, the party's pronouncements repeatedly include warnings against the dangers of a centralized bureaucracy. As antidotes for the growing dominance of politics in modern life, it demands special protection for the family and private property and the encouragement of private philanthropy and cooperative institutions. In this connection it also emphasizes its peculiar concern for the welfare of the Catholic Church, suggesting that the preservation of the Church's prerogatives and authority, especially in matters affecting morals and education, is the best safeguard for social peace and discipline. In general it may be said that the Catholic Conservative Party favors a corporative conception of society as opposed to a conception of state dominance or political totalitarianism.

Certain papal encyclicals of recent years have encouraged the development of a Christian Socialist wing within the party. This has caused the party to take a more tolerant view of social legislation and to adopt a more benevolent attitude toward labor. Officially the party recognizes the need for certain types of industrial reforms benefiting labor and the consumer; it recognizes the "dignity" of labor and labor's right to a living wage; and it justifies the growth

	Number of seats					*Per cent of total*				
Party	*1919*	*1931*	*1943*	*1947*	*1951*	*1919*	*1931*	*1943*	*1947*	*1951*
Radicals	58	52	47	52	51	30.7	27.8	24.2	26.8	26.0
Liberals	9	6	8	7	5	4.8	3.2	4.1	3.6	2.6
Conservatives	41	44	43	44	48	21.7	23.5	22.2	22.7	24.5
Farmers	31	30	22	21	23	16.4	16.0	11.3	10.8	11.7
Social Democrats	41	49	56	48	49	21.7	26.2	28.9	24.7	25.0
Independents	—	—	6	9	10	—	—	3.1	4.7	5.1
Democrats	—	—	—	5	4	—	—	—	2.6	2.0
Communists	—	2	—	7	5	—	1.1	—	3.6	2.6
Others	9	4	12	1	1	4.7	2.2	6.2	0.5	0.5
Totals	189	187	194	194	196	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

The standing of the parties in the Council of States after the two elections of 1943 and 1947 was as follows.

	Number of seats		*Per cent of total*	
Party	*1943*	*1947*	*1943*	*1947*
Radicals	12	12	27.3	27.3
Liberals	2	2	4.5	4.5
Conservatives	19	18	43.2	40.9
Farmers	4	4	9.1	9.1
Social Democrats	5	4	11.4	9.1
Others	2	4	4.5	9.1
Totals	44	44	100.0	100.0

of labor unions and collective bargaining so long as individual workmen are not intimidated or coerced The party's primary interest, however, continues to be in the middle class of society Its ideal commonwealth appears to be one in which peasants, artisans, and petty business men dominate, and to protect the interests of such groups it favors setting curbs to competitive individualism and large-scale capitalism On the whole the aims of Catholic Conservatism are not too well articulated, at any rate they seem somewhat obscure to the uninitiated [4]

Present Radical Program. As in the past, the Radical Party continues to be the chief sponsor of federal centralization, and it stands solidly behind a strong Confederation government. At the same time it seems to have become somewhat more cautious on this issue of centralization than it used to be, and its official pronouncements of party policy occasionally contain warnings against further violations of cantonal integrity Moreover, when a new power is added to the jurisdiction of the Confederation, the Radicals are usually ready to have Bern share its administration with the cantons and to subsidize the cantons from the Confederation Treasury for the resulting financial responsibilities Although largely forsaken by its former working-class supporters, who have gone over to Marxism, the Radical Party continues to be a vigorous champion of social-welfare legislation Nor has the party lost its faith in secularism, in constitutionally guaranteed personal liberties, or in political democracy Its continued belief in the latter is evidenced by the inclusion in several of its more recent platforms of a plank demanding the popular initiative for federal legislation Liberal capitalism is still regarded as the essential ingredient of the Radical's economic philosophy; but the foundations of that philosophy have been undermined by the party's advocacy of tariff protection, its espousal of a variety of public monopolies, its relative indifference to cartelization, and particularly by the protective legislation and subsidy programs for farmers and business men which it has championed ever since the depression of the 1930's. Traditionally the Radicals have been outspoken in their demand for adequate national defense, and they continue to lay great stress upon the need for a military establishment recruited by a system of universal compulsory service and equipped with the most modern armanents On issues affecting the country's foreign relations, the Radicals, like virtually all other Swiss parties, seek to vindicate and make secure the traditional policy of neutrality

Program of the Farmers' Party As indicated earlier, the Farmers' Party, third member of the governing fraternity in the Federal Council, is the result of a secession from the Radical Party in 1918 Like the organization of which it was once a part, the Farmers' Party is a vigorous exponent of adequate national defense and has no philosophical objection against strengthening the government of the Confederation if the national interest seems to require a policy of centralization On the other hand, as respects social issues, this party is more conservative than the Radicals and less willing to make concessions to

[4] Brief abstracts of the programs of contemporary Swiss parties appear in *Political Handbook of the World,* Walter H Mallory ed (1949), pp 171–172

the advocates of the welfare state Despite the fact that its official title suggests that its constituency includes small shopkeepers and other urban elements, the party's supporters are almost wholly agrarian It is not surprising, therefore, that its primary concern should be the agricultural interest. It seeks to protect this interest in various ways by advocating federal subventions to agricultural producers, by reserving the domestic market for Swiss agriculture through tariffs and other trade restrictions, by seeking the enactment of farm-mortgage relief legislation; and by having the Government fix "fair" prices for agricultural commodities Recent legislation has favored this party greatly, many of its aims having been secured in the constitutional amendment of March, 1929, which authorized various forms of public assistance in the production, marketing, and processing of grain and the protection of the domestic agricultural producer against foreign competition

Socialism's Reorientation As the second largest political entity in the National Council and the fourth party represented in the Swiss executive, the Social Democratic Party has acquired a position of considerable importance in present-day Switzerland On the whole, even in the period when this party enjoyed that luxury of relative irresponsibility which is the prerogative of the political opposition, it failed to develop tendencies socially as radical or politically as militant as those of Socialist Parties in certain other countries Various explanations may be offered for this moderate orientation of Swiss Socialism. Partly it may be ascribed to the Swiss factory worker's retention of much of the conservative social outlook of the peasant and artisan classes from which he has but recently sprung Partly it may find an explanation in the fact that the collectivistic, and hence neo-Socialistic, policies of the Radicals and other parties have stolen much of the Socialist thunder, thereby making even the orthodox Marxian position appear less revolutionary and less dangerous to the existing social order Then again, Swiss Socialists follow a moderate course because such a course is inherent in their decision, taken after World War I, to eschew the revolutionary tactics of Russian Marxism and to use parliamentary means to secure their aims The elementary requirement for success in the parliamentary forum is a popular following at the polls that approximates a majority or at least a plurality, and Swiss Socialists can attain such a following most readily by reaching beyond the factory worker into the ranks of the salaried professional class, such as the civil servants, and even into the ranks of the peasantry Reconciliation of the interests of so catholic a following has obviously required compromise with orthodox Marxian principles Of course, still another restraining influence upon Swiss Socialists was their acceptance of a share in the Government in 1943

Erosion of classical Marxian principles has, however, not caused Swiss Socialists to abjure a collectivistic type of society They remain committed to a "mixture" of modified capitalism and Socialism At intervals they recommend more public planning in the economic sphere, the maintenance or reimposition of public controls of the market experienced during World War II, and the nationalizing of so-called monopoly industries and of banks and credit

institutions. They would have the State fix minimum wages in every area of enterprise, guarantee full employment, expand every type of social insurance, and allow the Confederation Government virtually to monopolize direct taxation in order to finance these social goals. On several occasions since 1935, the party has resorted to the instruments of direct democracy to secure a popular referendum on some of these proposed economic and social goals. The proposal to have the Government guarantee full employment has been submitted twice. Uniformly these plebiscites have rebuffed the Socialist sponsors. Since joining the Federal Council in 1943, the party has shown increasing concern for political and civil rights. It is one of the most outspoken supporters of woman suffrage in Switzerland and it professedly yields to no party in its solicitude for the integrity of the country's democratic and free institutions. Such staunch defenders of the civil and political rights of the bourgeois State may seem somewhat incongruous to those who recall the historic attitude toward such rights on the part of the movement in which these defenders claim discipleship. But Swiss Socialists had ringside seats in observing Italian and German Fascism, and presumably this experience taught them and their co-nationals not to take such rights for granted. Apparently it was this same experience as observers of Fascism combined with the still more recently acquired understanding of Communist tyranny that has persuaded Swiss Socialists to give up their historic opposition to the military and to join the middle-class parties in voting credits for adequate national defense.

Other Political Groups. Of the parties outside the governing circle, none is particularly important in 1951 either as respects the magnitude of its following or the ideas it advocates. A group calling themselves "Independents" came into being in 1935, during the economic depression, in protest over the cost of living. Its founder-leader has sought to demonstrate how modern large-scale merchandising can lower costs to consumers, and the party is dedicated to the aim of reducing the cost of living for middle-class city dwellers. In 1951 the Independents had ten members in the National Council and their influence was apparently growing, especially in Zurich. The Communist Party, re-established in 1944 as the Swiss Labor Party after having been dissolved in 1940, counted five members in the National Council in 1951. Officially it advocates a nationalization and social-welfare program which, on paper, is not unlike the program of the Social Democrats. Prior to 1940 Switzerland was afflicted with a variety of reactionary or nationalist movements which took their inspiration from German National Socialism or Italian Fascism. The largest of these groups called itself the "National Front." Others were the "Young Conservatives," "New Switzerland," the "National League," and the "Peasant League." These "movements" or "fronts" were chiefly responsible for the popular initiative of September 8, 1935, calling for a total revision of the Swiss Constitution. Had this initiative been successful, some of these reactionary sponsors apparently would have used the opportunity, thus presented, to incorporate their anti-parliamentary and illiberal social ideals into the country's basic statute. Though supported by the Catholic Conservatives and the Liberal Party, the initiative

was beaten decisively [5] In 1940, moreover, the Government proceeded to ban all these reactionary fronts as a security measure, and they have not since been formally revived

PARTY ORGANIZATION

Geographical Distribution of Partisan Supporters In view of the centrifugal influences of language, religion, and cantonal loyalty, the constituencies of the major Swiss parties are surprisingly well distributed geographically This is especially true of the Radicals and Conservatives, each of whom have supporters in nearly every canton. Among loyal Radical cantons are French-speaking Vaud and Geneva, Italian-speaking Ticino, and the German cantons of Solothurn, Luzern, and Schaffhausen The Radicals also have significant followings in St Gallen, Urban Basel, Aargau, Zurich, Bern, and Neuchâtel Catholic Conservatism is strong in the cantons of Fribourg, Valais, Unterwalden, and Appenzell Interior Rhodes The candidates of this party usually run ahead of the Radicals in Schwyz, Zug, and the Grisons A student of Swiss history, mindful of the issues of the War of the *Sonderbund* and of the partisan and cantonal alignments of that struggle, would expect to find the strongly Catholic cantons overwhelmingly conservative Yet the fact is that a century after the *Sonderbund,* Radical candidates often run a close second to Conservatives in many of the predominantly Catholic cantons The remaining parties have a more restricted geographical following Socialism is most powerful in Bern, Zurich, Vaud, St. Gallen, and Aargau, does well in Solothurn, Urban Basel, Thurgau, and Neuchâtel, and is increasing its strength in some of the predominantly rural cantons The focal point of the Farmers' Party is Bern, although several other cantons, among them Zurich, Thurgau, Aargau, Vaud, and Rural Basel also give it appreciable support Geneva, Vaud, Neuchâtel, and Urban Basel continue to be important centers for the declining Liberal Party [6]

Local Party Organization. Switzerland's federal traditions, the absorption of her voters in local politics, and the absence of any such truly national electoral contests as are quadrennially required in America to choose a President, have all tended to give the country's partisan organization a highly localized cast With the exception of the Social Democratic Party which, as elsewhere, has developed a considerable amount of partisan machinery on a centralized basis and has a national dues-paying organization,[7] the principal parties of the Confederation are little more than loosely organized federations of autonomous cantonal parties with similar political tendencies It is these cantonal parties which provide most of the funds and draft the list of can-

[5] *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1936), p 401 For a discussion of the constitutional revision proposal, see *La Lutte au sujet de la Constitution fédérale,* ed by L'Union syndicale suisse à Berne See also F Fleiner, "Ziele und Wege einer Eidgenossischen Verfassungsrevision," *Wirtschaftliche Publikationen der Zuricher Handelskammer* (*Heft* 20, 1934) The vote was 511,000 against, and 196,000 for, the proposal Three cantons voted affirmatively *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1948), p 479

[6] See *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1948), pp 481 *ff*

[7] Cf H F Gosnell, *Why Europe Votes* (Chicago, 1930), p 136

didates for the quadrennial National Council elections Often these local parties do not even bear the name of the national party with which they are affiliated Thus the local unit of the national Catholic Conservative Party is known in Bern as the Catholic Democratic Party, in Zurich, as the Christian Social Party, in Uri, as the Conservative Party, in Urban Basel, as the Catholic Peoples Party, and in Rural Basel, as the Conservative-Christian Social Party Likewise the local affiliate of the Radical Party is known in Zurich as the Radical-Democratic Party, in Unterwalden, as the Progressive People's Party; and in the Ticino, Fribourg and Vaud, as the Liberal-Radical Party

National Organization Of course, as the Confederation has expanded its governmental responsibilities, a national party structure has been built upon these cantonal foundations The Radicals established the first partisan parliamentary group in 1878, and Catholic Conservatives and Liberals followed suit a few years later At present all parties, represented in the National Council and Council of States, have an annual party diet and a permanent central committee consisting of members chosen by the party diet or by the individual cantonal units or by both the diet and the cantonal units. The party diet reviews at its sessions the actions of the Federal Assembly and of the Confederation's administrative officials, and may discuss at length the proposals which are likely to come before ensuing sessions of the two houses of Parliament Except again in the case of the Social Democrats, such resolutions as are drafted by the party diets are not considered binding upon the party's legislative representatives but are designed for their instruction and guidance. Proceedings of the diets are democratic in character and usually afford the rank and file opportunity for debate From time to time each of the national party organizations issues a statement of principles for the guidance of its leaders and for propaganda among the voters. Essentially partisan newspapers, some of which have a national clientele and a few of which are known outside Switzerland, also exist Among the major Radical journals are the *Neue Zurcher Zeitung* and the *Nationalzeitung* of Basel Both of these papers are among the largest and most influential in Switzerland *Vaterland* of Luzern, *Liberté* of Fribourg and the *Neue Zurcher Nachrichten* are representative organs of Catholic Conservatism, while the views of the old Liberal Party find expression in the *Journal de Genève* and the *Basler Nachrichten* among others Social Democracy's point of view may be found in the *Berner Tagwacht* and the *Volksrecht* of Zurich Even the new Independent Party has an organ of respectable circulation in *Die Tat* of Zurich, published by the Party's leader[8]

[8] A still pertinent description of Swiss party methods and organization may be found in R C Brooks, *Government and Politics of Switzerland* (Yonkers, 1918), pp 305–310

CHAPTER IV

SOME MAJOR ISSUES OF PUBLIC POLICY

PUBLIC POLICY–THE STATE AND ECONOMIC ENTERPRISE

The review of the history and programs of the various political parties in Switzerland which has just been completed has given some indication of the past and present trends of national opinion On the other hand it has afforded but an imperfect conception of the various public policies to which the Confederation has committed itself This chapter will accordingly be devoted to a description of some aspects of the Swiss Government's legislative and administrative activities in certain selected areas, namely, economic enterprise, social welfare, foreign relations, and public finance

Federal Economic Activities–Public Monopolies. Fear of centralized power and nineteenth-century liberal economic doctrines were responsible for the limited nature of the Confederation's original authority over economic affairs As already noted,[1] however, after 1880 this authority was gradually enlarged by successive constitutional amendments This augmented economic authority has in certain cases assumed the form of public monopolies or quasi-monopolies in the production and distribution of some commodity or service A precedent for such ventures had been established even prior to 1874 by the investiture in the Confederation of proprietary powers over the manufacture and sale of gunpowder The primary purpose of this monopoly was to ensure an adequate supply of powder for national defense, although sale to private consumers has regularly yielded a small profit to the national exchequer To this monopoly there was added in 1885 a similar authority over the manufacture and sale of various distilled liquors and industrial alcohol Broadened in 1930 so as to include all forms of distilled and rectified spirits, and the right to tax certain special liqueurs which were still reserved for private manufacture, the alcohol monopoly gives the Confederation complete control over the importation, manufacture, and wholesale trade in products of a high alcoholic content The principal aims of the monopoly, when first formed, were to combat the evils of alcoholism and intemperance and to improve the quality of dis-

[1] See p 339

tilled liquors used for beverage purposes From the very beginning, however, the revenue derived from the monopoly proved to be a most important consideration The Confederation was at first required to turn all profits over to the cantons, which were permitted to use all but one-tenth of them for ordinary budgetary expenses The reserved 10 per cent had to be applied by them to measures for the promotion of temperance When, however, the monopoly was reorganized after 1930, one-half of the total profits was allocated to the Confederation

Communications. Another, more orthodox, proprietary enterprise of the Confederation, which has expanded in recent years, is that relating to the communications systems Besides the postal and telegraph establishments, this monopoly now includes such more recent inventions as the telephone, radio broadcasting, and television. Unlike the situation in the United States, the postal administration in Switzerland has normally shown a surplus Deficits, however, have appeared recently, that for 1948 having totaled twenty-six million francs The telegraph and telephone systems continue to show a sizable profit, income having exceeded outgo by as much as fifty-six million francs in 1948 [2]

Bank Note Monopoly and National Bank According to a constitutional amendment adopted in 1891, the Confederation Government was given still another monopoly This was the right to issue bank notes, a privilege theretofore reserved to cantonal and private banks For the purpose of exercising this monopoly the Confederation was authorized to establish a central bank of issue and to control its operations The first attempt to establish such a bank met with a popular rebuff in a referendum conducted in 1897, the opposition coming chiefly from cantonal and private banks Not until 1906 did the Confederation succeed in bringing about the desired legislation; and the Swiss National Bank opened its doors at its main offices in Bern and Zurich in 1907 Two-fifths of the stock of this bank may be owned by the cantons and at least one-fifth by private banks Annual dividends are limited to 4 per cent of the capital stock, profits above the dividend and surplus accounts being distributed to the cantons and federal Government according to a two-to-one ratio Since its establishment the Bank has been a pronounced success. It has not only provided Switzerland with a uniform and elastic currency but has stabilized the national money market, handled international payments, and provided a convenient instrument for conducting the fiscal operations of the central Government [3]

The Swiss Federal Railways. The most important of all the economic enterprises over which the Confederation has come to exercise proprietary rights is the railway system The Swiss railways were made subject to federal purchase following a popular referendum held on February 20, 1898, and

[2] *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1948), pp 177, 182 For the early history of the federal telephone enterprise see A N Holcombe, *Public Ownership of Telephones on the Continent of Europe* (Cambridge, Mass, 1911), chaps xii–xiv

[3] For a brief account of the Bank see J and V J Steiger and C Higy, *Finanzhaushalt der Schweiz* (Bern, 1934), p 27

between 1902 and 1909 nationalization of five main lines in the system was carried into effect. Various motives, more or less defensible from an economic standpoint, prompted this action. Among them were (1) the extension and improvement of railway service in parts of the country where topographical conditions made private extension impossible or at least unprofitable; (2) the reduction of capital cost through the use of public credit, (3) the improvement of railway labor conditions; (4) cheapening of service to shippers; and (5) the removal of the influence of foreign stockholders who, in the case of some of the individual lines, were in a majority. The purchase of the railway system, its extension since 1910, and the electrification of most of the lines represent at once the Confederation Government's greatest physical asset and one of the heaviest financial burdens. In 1950, about a fourth of the consolidated debt of the Confederation, totaling somewhat more than 12,000 million francs, was identified as capital investment in the railways. The loans for which the Government obligated itself at the time the railway system was purchased were to be extinguished within sixty years, this period of amortization was extended in 1920 to 100 years. During the period of Governmental ownership, the facilities of the railways have been considerably expanded, even so, technological advances in railroad transportation have made it possible to reduce the total personnel employed on this enterprise by about 4 per cent in the years between 1913 and 1950. Economic operation, however, has not always saved the system from operating at a loss, annual financial statements exhibiting deficits about as often as they show surpluses. Deficits occurred regularly between 1914 and 1922 and reappeared during the decade of the 1930's because of economic depression and the competition of other forms of transportation. The more recent record, on the other hand, is better, only one year, 1945, having shown a deficit in the decade 1938–1948. Administration of the roads is largely autonomous. Subject to the authority of the Confederation Parliament and executive, supervisory powers over the system are vested in a Federal Council of Administration consisting of fifteen members chosen by Parliament to represent various economic interests. Responsibility for operations rests with a general directorate of three persons at Bern and in three sectional directorates at Lausanne, Luzern, and Zürich.[4]

Agricultural Intervention. Not unlike these various proprietary economic powers is the authority over the nation's agricultural activity which a constitutional amendment confided to the Confederation in March, 1929. According to the terms of this amendment and subsequent implementing legislation enacted in 1932, the Confederation must seek to promote the production of domestic wheat, furnishing farmers with seed adapted to Swiss soil and climatic conditions and granting such subventions or fixing such prices as will ensure profitable production under relatively adverse conditions. The Govern-

[4] Cf. A. N. Holcombe, "First Decade of Swiss Federal Railways," *Quar. Jour. Econ.*, XXVI (Feb. 1912), 352. See also Z. Giacometti, "Die Fortbildung des oeffentlichen Rechts der schweizerischen Eidgenossenschaft," *Jahrbuch des oeffentl. Rechts*, XVI (1928), 373, and J. and V. J. Steiger and Higy, *op. cit.* pp. 86 *ff.* For recent financial statistics consult *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (1948), p. 192

ment is also charged with maintaining a minimum reserve of 80,000 tons of food grains—a sort of national granary for emergencies—accumulating stocks from domestic growers at the favorable prices fixed by law and from foreign sources. To protect its price-fixing prerogative, the Government may monopolize the right to import grain and flour.[5] Difficulties experienced by the Swiss in provisioning the nation during World War I was partly responsible for this grain policy,[6] especially for the provision for a minimum grain reserve; and experience during the second global conflict between 1939 and 1945 has convinced most Swiss that the policy is a wise one. Of course the policy is most uneconomic and partakes of the character of special-interest legislation, aiding those parties who represent the farmer. It is defended as sociologically necessary to check the flight from the land and maintain the economic position of the peasantry. Whatever rationalization may be given for this type of legislation and however justifiable it may appear to be in view of Switzerland's peculiar needs, there is nothing unique about it. On the contrary, parallels exist for it in almost every Western state. Indeed agrarian legislation of the type which Switzerland has enacted is but another phase of the contemporary trend toward economic nationalism and the collective State, a trend which has other facets in Switzerland and which seems to be only slightly less popular there than in most of the other states of Western Europe. Because Swiss soil is, for the greater part, notoriously ill adapted to the production of cereals, this nationalistic agricultural policy will cost the Swiss taxpayer relatively more than a similar policy costs taxpayers elsewhere. In the decade after the policy was adopted it is estimated Swiss farmers received treasury grants totaling approximately a quarter of a billion francs.

Trend Toward a Directed Economy. The trend toward what the French call "*dirigisme*," to which allusion has been made in the preceding paragraph, is by no means limited to agriculture but has affected the entire front of the Swiss economy. In part this trend may be ascribed to ideological considerations—for example, the collectivistic ideas advanced by Marxian and other groups. But principally, as we noted in an earlier chapter, it is to be ascribed to the impact upon Swiss life of the two global wars and the interbellum economic depression. Thus, in 1914 and again in 1939, the Swiss Parliament passed full-powers acts for the political and economic security of the nation and for the maintenance of its neutrality. Under cover of the broad authority conferred by these statutes, the Swiss executive proceeded to regulate the national economy in great detail, to levy taxes without precedent either as to kind or magnitude, and to subject production, distribution, and consumption to the most thoroughgoing controls. Particularly was this the case during World War II. Not dissimilar responsibilities and powers were assumed by the Confederation Government during the depression years of the 1930's, when rigid public controls were imposed upon foreign-exchange, credit, and

[5] For the amendment on the grain monopoly see Constitution, Art. 23.
[6] Cf. W. E. Rappard, *L'Individu et l'état dans l'évolution constitutionnelle de la Suisse* (Zurich, 1936), pp. 497–498.

currency transactions, and the Government began its policy of granting loans and subsidies to various private sectors of the economy at the expense of the taxpayer Besides the farmer, beneficiaries of this latter policy included the dairy and hotel industries, local transportation companies, livestock breeders, watchmakers, and embroidery manufacturers

Although much of this interventionist policy was regarded as temporary, the Swiss, like other peoples, have learned that it is difficult to liquidate such a policy, or even to modify it seriously, once it has been introduced Those who acquire a vested interest in its continuance, be they consumers or producers, insist upon maintaining their advantage Moreover, experience with such an interventionist policy is itself a major factor in persuading a government to continue it on a permanent basis, for the experience furnishes precedents to justify continuation of the policy even in relatively "normal" times, gives politicians and administrators the "know-how" for managing economic affairs on a national scale, and gives the politician an opportunity to promise specific constituencies such concrete benefits that he is virtually assured of their support at the polls unless a competitor should outdo him in such promises

At any rate, as noted earlier in these pages,[7] the economic interventionism of the past four decades has laid the foundations for a system of public control of the Swiss national economy which places severe limitations upon the traditional freedom of the market, restricts the contractual freedom of private entrepreneurs and labor organizations in many particulars, subjects production and distribution to considerations which are as often social or sociological as they are economic, and makes the Government a kind of "senior partner" in the conduct of more than one economic undertaking If this regime cannot be described as a "collective State," it is certainly one far removed from the ideal that animated those who, in 1874, inserted the principle of freedom of trade and industry in the Swiss Constitution[8] The Swiss appear to have realized this, and have sought to bring their constitutional theory abreast of the current conception of the relation of the state to the economy The principal contribution toward such a reconciliation was the constitutional amendment which went into effect October 1, 1947 This specifically authorizes the Confederation to legislate in the economic field, correspondingly restricts the freedom of trade and industry originally guaranteed by the Constitution, contemplates special legislation to protect certain sectors of the economy, and even restricts competition by requiring public permission to open certain new enterprises The Swiss may continue to enjoy a reputation for being an island of private capitalism and economic freedom in the heart of Europe, but the factual foundations of that reputation are becoming increasingly precarious

PUBLIC WELFARE

Labor Legislation The interventionist activity of the Confederation Government has also assumed a social form and a great deal of welfare legis-

[7] See p 339 [8] Art 31

lation is now contained in federal Constitution and statutes Power to regulate child labor, to limit the hours of labor of adults, and to ensure protection of workmen engaged in dangerous occupations had already been granted the Confederation in the revised Constitution of 1874, and with the concurrence of the people the Federal Assembly enacted a general factory act in 1877 Still broader powers over the field of labor, including such matters as industrial relations and the regulation of unemployment, were authorized by a constitutional amendment in 1908 The original factory act was accordingly revised in 1914 and again in 1920. The net result is a labor code as advanced as any on the Continent More recently, in order to promote industrial peace, the Confederation has applied so-called "corporative" principles to the relations of capital and labor Such principles implicitly reject the Marxian idea of the class struggle and stress instead the common interests and solidarity of capital and labor They have furnished a somewhat questionable justification for the Government's policy of making collective labor agreements compulsory for an entire trade or industry when approved, through collective bargaining, by a majority of the employers and workmen involved. Provision has also been made for the compulsory arbitration of disputes arising out of such labor contracts

Other Welfare Activities. Other fields of social action have claimed the Confederation's attention. Subsidies for primary education were first made to the cantons in 1903 following a constitutional amendment authorizing such subsidies in 1902 These federal primary-school subsidies were considerably augmented in 1930, and special assistance was extended to the educational system of the Grisons and the Ticino For more than sixty years the Confederation has also been making financial grants to encourage the arts and handicrafts and to improve agricultural methods Steps have likewise been taken to combat epidemic and dangerous diseases through the agency of the Confederation Government, constitutional authority for this purpose having been broadened by an amendment adopted in 1913 Measures to combat tuberculosis have been particularly far-reaching, a law passed in 1928 having offered federal aid up to 50 per cent of the cost incurred by cantons, communes, and private institutions in fighting this disease Mention might also be made, in this connection, of the effort to encourage temperance, implicit in the alcohol monopoly, and of the effort to abolish professional gambling and lotteries undertaken after the passage of a constitutional amendment in 1920.

Insurance against Illness and Accident Social insurance became an object of national concern in 1890 when the federal Constitution was amended to authorize sickness-and-accident insurance The first plan for such insurance elaborated by the Federal Assembly was, however, rejected by the people in 1900 chiefly because it did not safeguard the interests of private and cooperative insurance societies Twelve more years elapsed before a second plan passed safely over the hurdle of the referendum This plan provides quite different regulations for the two kinds of insurance Practically all the voluntary sickness insurance societies have been allowed to continue with Confederation

subventions In addition cantons and communes are encouraged to establish compulsory sickness insurance institutes which receive aid from the central Government. Despite the decentralized administration and largely voluntary character of this federally regulated sickness-insurance system, it has been quite effective In 1950 there were approximately 1,150 cantonal and private sickness-insurance organizations in operation, and the number of persons insured in them amounted to about one-half of the entire Swiss population Accident insurance was organized as a Confederation monopoly, its administration being vested in the Federal Accident Insurance Institute established at Luzern in 1918 Such insurance was also made compulsory for all employees in public monopolies and for the employees in private establishments with a sizable payroll Premiums are paid to the Institute by the employee and the employer according to a one-to-three ratio, their respective contributions being generously supplemented by the Confederation exchequer [9]

Social Security. After World War I efforts were made to extend the social insurance system so as to provide public assistance to widows, orphans, the aged, and the incapacitated A constitutional amendment with this object in view was elaborated by the Federal Council in July, 1924, and, with certain changes interposed by the Parliament, was accepted by the people and the cantons on December 6, 1925 According to this amendment a pension system of a voluntary or compulsory character was to be provided for the aged and for widows and orphans and subsequently extended to the incapacitated From tobacco and liquor revenues, the Confederation was to contribute not more than one-half of the cost of such a pension plan, for the plan's administration, moreover, the services of the cantons, communes, and the private insurance companies were to be enlisted Considerable time was to elapse, however, before a concrete pension and public-assistance plan, based on this new amendment, was to become an actuality Indeed it was not until the summer of 1947, about a quarter of a century after the adoption of the social-security amendment, that Parliament was able to devise a plan which secured a majority in a popular referendum.[10] The plan, thus adopted, went into effect January 1, 1948 Its primary purpose is to provide an annuity for persons reaching the age of sixty-five It also provides survivorship benefits for the insured's spouse and minor children The scheme, essentially compulsory and contributory, embraces virtually every gainfully employed person, citizen or alien Self-employed persons pay the insurance fund a tax equal to 4 per cent of their income Wage earners and salaried employees pay 2 per cent of their earnings, their contribution being matched by a payroll tax of like amount levied upon their employers Both the Confederation and the cantons contribute toward the administrative expense of the insurance system Apparently the new social-security plan does not embrace benefits for the tem-

[9] Summaries of this insurance plan are to be found in Frankel and Dawson, *Workingman's Insurance in Europe* (New York, 1910), pp 73 *ff* and 214 *ff*

[10] An earlier plan was rejected at the polls in December, 1931, for a discussion of this plan and the reasons for its rejection, see W E Rappard, *L'Individu et l'état dans l'évolution constitutionnelle de la Suisse* (Zurich, 1936), p 500

porarily unemployed, although provision for such benefits would appear to be a probable future development Meanwhile unemployment relief remains the primary responsibility of the communes although, by a system of grants-in-aid, both Confederation and cantonal treasuries assume much of the actual financial burden

SWISS NEUTRALITY AND FOREIGN POLICY

Origins of Neutrality Just as federalism, democracy, and "progressive" liberalism are the principal tenets of Switzerland's internal policies, so neutrality is the essence of her foreign policy This faith in neutrality may be said to date from 1515 when, after a century of war and conquest during which the soldiers of the Confederation acquired the name of being the best in Europe, the Swiss were defeated by France at Marignano in Lombardy Thereafter, although many of the rulers of Europe continued to hire Swiss troops for mercenary service, the Confederation itself generally pursued the policy of remaining behind its own frontiers and of refusing to participate in recurrent coalitions and wars During the next three centuries this policy of diplomatic abstention and neutrality became a characteristic of Swiss foreign policy Indeed it became so much of a tradition that even Napoleon paid lip service to it in his Act of Mediation, the Constitution which he drafted in 1803 for a Switzerland which, at the time, was completely at his mercy

Neutrality a Recognized Policy. In 1815 the powers concluded that a neutral Switzerland would serve the purposes of the broad European settlement which they were attempting to effect in the wake of Napoleon Consequently on November 20 of that year, the representatives of France, Great Britain, Prussia, Russia, Austria, Sweden, Spain, and Portugal formally affixed their signatures to a document which declared that the maintenance of the inviolability and independence of the Confederation was necessary to the peace and stability of Europe The document also pledged the signatories to respect and maintain the integrity of the Confederation. Switzerland's own obligation to protect her neutrality has found expression in various clauses of her major public documents since 1815 The present Constitution declares that it shall be the duty of the Federal Assembly to take measures "to protect the nation's independence and neutrality" and the duty of the Federal Council to watch over "the maintenance of independence and neutrality" Another article has formally invalidated the "capitulations" or agreements by which various cantons once furnished mercenary contingents for foreign governments Still another article of the Constitution prohibited all except a few Confederation officials from receiving foreign pensions, titles, decorations, and similar distinctions As amended in 1931 this article now interdicts all foreign pensions and distinctions in the case of Confederation officials and extends the prohibition to cantonal officials as well Finally, as we shall see, the Constitution and the laws have been frequently changed in order that a substantial military force might be developed for the protection of the nation's frontiers.

Neutrality Tested by Experience Considerably more than a century has elapsed since Swiss neutrality became part of the international law of Europe and of the formal constitutional law of the Confederation During that time the policy has been tested several times, notably in the Franco-Sardinian War against Austria in 1859, the Franco-Prussian War of 1870, and the two World Wars of the twentieth century The tests provided by the two World Wars were serious indeed Throughout almost the whole period of each conflict, Switzerland was surrounded by the warring powers and had no contact with the outside world except over the territory or air space of a belligerent [11] In 1914, and again in 1939, the Swiss Government formally notified each belligerent of its commitment to respect the nation's neutrality Thereupon the Swiss Assembly passed the full-powers acts, previously described,[12] which directed the executive to mobilize Swiss forces and the nation's economy, prevent violation of the nation's air space and frontiers, and pursue a policy of at least formal impartiality in dealing with the warring belligerents During the early months of both global conflicts and particularly of the second, it was freely predicted that one or another belligerent would invade Switzerland and set her neutrality at naught But except for occasional technical violations of the nation's air space, the hazards of involvement were surmounted and formal neutrality was maintained throughout both conflicts

Continued Faith in Neutrality. As a policy, neutrality has thus acquired an impressive reputation at least in the eyes of the Swiss people To them it seems that neutrality, in conjunction with the traditional emphasis upon military preparedness, is mainly responsible for the 136 years of peace which the country has enjoyed since the Napoleonic invasions and for the absence of any serious external threat to Swiss territory or domestic institutions The Swiss also believe that neutrality fosters internal unity At any rate, it tends to discourage the three principal linguistic segments of the country from taking sides with their respective linguistic brethren in adjacent states when these go to war with one another Hence it is hardly surprising that Switzerland continues to make neutrality the keystone of her foreign policy and that she allows no other principle to take precedence over it When, for example, membership in the League of Nations was broached, the Swiss felt that the departure from full neutrality, inherent in any collective-security arrangement, warranted the solemn plebiscite of a constitutional referendum This, held in May, 1920, was favorable, and Switzerland formally joined the League a few weeks later But the Swiss always had reservations about the League, and from the very first demanded and obtained a so-called "neutralized" status.[13] In substance this meant that Switzerland agreed to impose eco-

[11] To provision the country, the Government on April 9, 1941, authorized a high-seas merchant fleet The port of registry was Basel Ships used the Italian port of Genoa

[12] See p 370

[13] Cf W E Rappard, *L'entrée de la Suisse dans la Société des Nations* (Geneva, 1924) The vote was 416,000 for entry into the League and 323,000 against Eleven and one-half cantons provided affirmative majorities

nomic sanctions against states which the League identified as aggressors but was exempted from imposing military sanctions against such aggressor states and from the requirement of permitting the passage over her territory of troops bound on a League mission Even this conditional responsibility seemed inconsistent with traditional neutrality; and in 1938 Switzerland successfully importuned the Council of the League to declare that Swiss membership implied no obligation to cooperate in the imposition of sanctions of any kind. Switzerland has not yet become a member of the United Nations (1951) and apparently is in no hurry to apply for membership Even if she does decide to apply, it is unlikely she will join unless the rest of the world proves to be as complaisant as it was in the case of Switzerland's League membership In other words, because of Switzerland's fondness for the policy of permanent neutrality, the United Nations would undoubtedly be requested to acknowledge that Swiss membership, if granted, should be *sui generis* the Swiss would wish to enjoy the unusual status of having most of the privileges of membership in a collective-security organization without the more serious responsibilities

In the light of the recent record and the broader stream of Swiss history it is not too difficult to understand the Swiss citizen's faith in the policy of permanent neutrality and to sympathize with his view At the same time it must be admitted that, to the non-Swiss, that faith appears increasingly uncritical and unrealistic as mankind moves forward into the second half of the twentieth century Weapon technology, logistics, strategy—indeed, the whole art and science of war—have reached such a point in their development that it is virtually impossible to contemplate the conduct of military operations on the limited national basis premised in Switzerland's neutrality policy, some states becoming involved as belligerents and others remaining neutral From a territorial standpoint, war in our day is all too likely to involve continents rather than nations and become global in its ramifications, allowing little possibility for any nation—particularly any small nation like Switzerland—to indulge in the luxury of deciding whether it shall become involved or remain neutral Those who advance such considerations are likely, moreover, to dismiss the suggestion that it was neutrality that saved Switzerland from invasion during the first two global wars of the century, in their view Switzerland escaped involvement partly because it suited the belligerents' policies to keep her neutral, partly because, unlike the case of Belgium, the military cost of invading and investing the country was disproportionate to the resulting military advantage

Such arguments against neutrality are difficult to refute. Equally difficult is it to gainsay the proposition that the converse of neutrality, namely, an effective collective-security arrangement, is the only road to national salvation Even so, it is quite unlikely that the Swiss will soon give up neutrality If it is unrealistic in the modern world, they will probably persist in being unrealistic, at least until such time as the United Nations or some comparable organization offers greater assurance of effectively safeguarding the integrity

of its members than is presently the case or until some major development in world history requires a re-examination of Switzerland's position

Recent External Relations Although Switzerland has not become a member of the United Nations, her name is found on the roster of some of the UN's specialized or auxiliary agencies These include the International Civil Aviation Organization, the Food and Agriculture Organization, and the World Health Organization Swiss membership has also been continued in the International Labor Organization Preoccupation with neutrality has, moreover, not prevented the nation's participation in America's European Recovery or Marshall Plan During 1948, with the overwhelming approval of the Swiss Parliament, the Swiss became a member of the Organization for European Economic Cooperation (OEEC), the Marshall Plan's European agency In thus subscribing to the Recovery Program, the Swiss made it plain that they themselves wanted no American loans or grants; their cooperation was motivated solely by a desire to assist in restoring a trading area upon the prosperity of which Switzerland's own prosperity ultimately depends

Considerable success has also attended the nation's efforts to re-establish formal relations with other states Beginning in 1946 trade and fiscal agreements were made with all the nations with which Switzerland has had important commercial contacts The Swiss also agreed in 1947 to compromise the issue of German assets allegedly secreted in Switzerland for safekeeping during World War II The victorious powers asserted that the value of such assets approached the sum of 750 million dollars The compromise on this issue required Switzerland to surrender to the powers half of whatever German assets might turn up and permitted her to retain the other half to satisfy Swiss claims against Germans. This compromise agreement apparently persuaded the United States to take the related step of releasing a half billion dollars of Swiss credits which had been frozen during the early days of World War II Even relations with Soviet Russia were normalized The assassination of a Soviet delegate at the Lausanne Conference in 1923 had resulted in a protracted diplomatic rupture between Bern and the Kremlin This continued until 1946 when diplomats were exchanged In March, 1948, moreover, a Soviet-Swiss trade agreement was announced Under its terms, Swiss machinery and consumer goods are to be exchanged for grain and petroleum, the latter products apparently coming chiefly from Rumania, Soviet Russia's satellite

The Savoyard Free Zone and Liechtenstein Switzerland has certain privileges and duties involving her immediate neighbors, France and the Principality of Liechtenstein, that deserve a word of comment In the case of France, a part of her territory in Upper Savoy has been a free zone for Swiss goods since the post-Napoleonic European settlement of 1815 After World War I France sought to eliminate this zone and move her customs frontier up to her political frontier on Lake Geneva A treaty accomplishing this purpose was tentatively accepted by the Swiss Government, but on February 18, 1923, in the first popular referendum on a treaty held in modern Switzerland, the

Swiss people rejected the treaty Thereupon France acted unilaterally to abolish the Savoyard free zone but agreed subsequently to submit the entire question to the Permanent Court at The Hague In decisions given in 1929 and 1933, that tribunal upheld the historic Swiss right to the zone and France accordingly moved her customs frontier back to the original position

In the case of Liechtenstein, Switzerland has established a virtual protectorate Prior to World War I, this diminutive Principality had been included in the Austro-Hungarian postal and customs administration With the break-up of the dual monarchy, Liechtenstein petitioned for a similar arrangement with Switzerland, and in a convention concluded on November 10, 1920, Switzerland agreed to extend her legislation over the Principality's postal, telephonic, and telegraphic systems and to commit their administration to appropriate Swiss authorities. For reasons which philatelists will appreciate, the Principality continued to issue its own postage stamps By a treaty with Liechtenstein on March 29, 1923, Switzerland also agreed to take over the Principality's customs and to extend the Swiss customs frontier accordingly Customs duties between the Principality and Switzerland are abolished The customs treaty may be automatically renewed at intervals of five years For the loss of customs revenue the Swiss Government compensates the Principality with an annual grant of 250,000 Swiss francs Other arrangements between the two states have resulted in the extension of some Swiss security legislation to the Principality and in the assumption, by the Swiss Government, of the responsibility of representing Liechtenstein in foreign capitals

NATIONAL DEFENSE

Unusual Features of Swiss Military Service. For the defense of their neutrality, the Swiss rely not merely upon the pledges of other states but also upon their own army and military aviation Like virtually all European states, Switzerland has adopted universal and compulsory military service. Except for certain public officials and those exempted or debarred for physical, mental, or moral reasons, every male Swiss must undergo training for active or auxiliary service, and officially becomes a part of the armed forces for the whole of his active adult life

There are, however, some important differences between the Swiss system and other systems based upon compulsory service One of these is the relatively limited period of service with the colors The call for initial training comes in the nineteenth year and active service lasts about four months. During this time, the infantry neophyte goes to a recruit school for basic training and subsequently qualifies as a full-fledged member of the army's first-line troops, known as the *Auszug* or *Elite* Following this basic training, he returns to civilian life Recruits in other branches of service undergo training periods of equal duration During the next twelve years, or until the soldier reaches the age of thirty-two, he is called to the colors every year for a refresher course lasting twenty days From his thirty-second until his forty-first year, the soldier belongs to the *Landwehr*. Until 1936, this was considered the first-line re-

serve; since that date, however, the lower age brackets of the *Landwehr* have been consolidated with the *Elite* to form a larger and more experienced first-line field army While in the *Landwehr*, the soldier is normally called up once every two years for a refresher course lasting twenty days Between the ages of forty-one and forty-eight, the Swiss soldier belongs to the *Landsturm*, or second-line reserve, after his forty-eighth year and until his sixtieth, he remains on call for various kinds of auxiliary service Thus, though the Swiss male may officially be a part of the national military establishment for almost his entire adult life, actual service with the colors during all that time may not amount to one full year unless a national emergency supervenes [14] It should be added that while the Swiss soldier, enrolled in the *Elite* or *Landwehr*, is off duty, he must maintain membership in a rifle club and present himself regularly for rifle practice

Hence, though Switzerland may conscript her army, a serious attempt is made to preserve the soldier's "amateur standing" Actual service with the forces is intermittent and relatively brief, and identification with the civilian life of the nation is maintained even by the youngest recruit When not on active duty, moreover, the Swiss soldier, like a true militiaman in a democracy, continues in possession of the personal arms and equipment originally issued to him by the authorities He is responsible for keeping such arms and equipment in good condition, available for instant use when called up for a regular period of duty or for an emergency In keeping with this amateur, nonprofessional military tradition, the Swiss also try to avoid having a professional military staff, fearful that it might develop into a military caste No person may be appointed to the rank of commander-in-chief except in time of national emergency when the Federal Assembly has decreed general mobilization. The Federal Assembly itself must make the appointment, that appointment lapsing as soon as the emergency has passed A commander-in-chief has been appointed on six different occasions since 1848 [15] The most recent appointment was that of Colonel Henri Guisan, who held office from September, 1939, to the end of hostilities in World War II Like the private soldiers, the officers of the Swiss army, from lance corporal to general, are called upon to serve with the colors only intermittently after the initial period of training and study, at other times they engage in ordinary civilian pursuits although they continue the use of the military title Traditionally the only military officials in the permanent, full-time service of the Confederation were the corps and divisional commanders and noncommissioned officers who instructed the recruits More recently, in response to the demand created by technological advances in the art of war, the Swiss have had to compromise with their nonprofessional ideals in military matters To their "standing troops" they have added the personnel of an air corps and an army corps guarding the various Alpine and frontier fortresses.

[14] During the six years of World War II, when Swiss forces were at least partially mobilized at all times, it is estimated that a Swiss soldier of the *Elite* and of the first-line ranks of the *Landwehr* was with the colors an average of eighty-six days per annum

[15] The dates are as folows 1848, 1849, 1856, 1870, 1914, and 1939

Dual Political Control. Like other federal States, for example the United States, Switzerland maintains a dual (local and national) political control over military affairs The cantons continue to exert their special military prerogatives, although it is clear that, as a result of constitutional amendment and the practical exigencies of military administration, the substance of military power is rapidly passing to the Confederation. Within their respective territories, the cantons still enforce many military regulations, keep the military registers, and provide the troops with their personal equipment They constitute some of the infantry battalions and the battalions of the second-line reserve, or *Landsturm,* and appoint officers for such units, such appointments ranging up to, and including, the rank of lieutenant-colonel. Military powers are exercised by the cantonal authorities under the supervision and with the approval of the Military Department of the federal executive, and, for at least a portion of the expenditure which the cantons incur, they are reimbursed by the Confederation.

Strength of the Confederation's Forces. In a period of national emergency, Switzerland can muster a field and auxiliary force of 800,000 trained men During the most recent such period, extending from 1939 to 1945, almost 150,000 men were constantly under arms and every Swiss in the public forces underwent an average of three months of active service each year for the six consecutive years This same emergency period and the years immediately preceding witnessed an extraordinary increase of military expenditures In addition to expanded operational budgets, funds were needed to build the Alpine redoubt, improve the frontier defense system, expand and modernize the air force, and supply the troops with the latest mechanized and motorized equipment and the most modern weapons In the fifteen years between 1930 and 1945, the military defense budgets totaled some ten billion francs This represents a per capita expenditure not much less than that imposed upon the populations of some of the actual belligerents in World War II

It has already been remarked that this growing emphasis upon an adequate and efficient defensive force has weakened the nonprofessional tradition of the Swiss military system Even so, that tradition is not dead, true Swiss liberals still regard it as a necessary bastion of a free polity Only with the greatest reluctance will they permit that tradition to be violated and then only to the extent that military necessity and national survival appear to require. It is possible that the failure of our century to solve the problem of national security through collective means will require our freest States to subordinate all principles of civil government to the ideal of a Spartan barracks; if so, the Swiss State will be among the last to submit to such internal discipline.

PUBLIC FINANCE

Expanded Taxing Powers of the Confederation Changes in the relative political importance of Confederation and cantonal Governments are clearly reflected in their changed financial position The fathers of the Confederation were parsimonious in providing the Government at Bern with

sources of revenue. Principal sources were the customs receipts and a portion of the special capitation tax, quite unimportant in volume, which is imposed upon those exempted from military service In addition it was anticipated that the Confederation would secure assistance in balancing its books from the profits of its public monopolies and enterprises. If all these resources proved insufficient, the Constitution stipulated that the cantons were to make contributions to the Confederation exchequer in accordance with their wealth and taxable resources These arrangements worked well enough for almost two generations, or until about 1914. Then a fiscal revolution began, the ultimate consequences of which cannot yet be measured Already, however, that revolution has completely transformed the Confederation's financial position *vis à vis* the cantons The Confederation now monopolizes all the important sources of tax revenue, and the cantons, instead of being the potential benefactors of the Confederation, as originally intended, have been reduced to virtual pensioners of the Confederation Treasury. Indeed, the cantons now rely upon Confederation subventions and a share in the proceeds of Confederation taxes for much of their income.

Steps in This Fiscal Revolution. How this revolution in Swiss public finance came about provides an interesting illustration, not only of the trend toward centralization of power in a federal State, but also of the public fiscal effects of state paternalism and the twentieth century's penchant for total war The first overt step came with the advent of World War I and the unusual military outlays which that conflict made necessary to place the nation on the alert and protect its neutrality To finance the expanded outlay, an amendment was added to the Constitution in 1915 which authorized the Confederation to levy an income tax and a tax on property These having proved insufficient, a war-profits tax was subsequently authorized and also a stamp tax on securities and documents used in legal and commercial transactions Then, in 1919, the Constitution was again amended to provide for still another special levy on property Although, with the exception of the stamp tax, these wartime levies were deemed to be temporary in nature and were subsequently repealed, some in 1926 and others in 1932, they established useful (or baneful) precedents, and when the Confederation again found itself short of funds in its efforts to combat the economic depression of the 1930's, some of the former wartime exactions were re-enacted as "crisis taxes" This was done without benefit of formal constitutional amendment Parliament merely insisted that public necessity and the needs of the budget required and justified steps such as these, thereby furnishing the world with a startling example of the extent to which the emergency powers regime had been substituted for the formal constitutional regime in Switzerland. In addition to these "crisis taxes," the Confederation levied taxes on the manufacture and sale of tobacco and used half the proceeds of the national alcohol monopoly, both of these resources having been granted by appropriate constitutional amendments

As war came to the world once more in 1939 and the Swiss girded themselves for another period of defense, Confederation expenditures mounted to

unprecedented levels and every conceivable revenue source was tapped to reduce the inevitable budget deficits and restrain inflation To supplement existing levies, the Confederation resorted to a variety of so-called "defense taxes" consisting of expanded income levies on persons and corporations, sales taxes, a so-called excess-profits tax, and a "sacrifice for national defense," in reality a capital levy For the greater part, these supplementary taxes were levied by decree and were technically authorized by Parliament, but the authority of both Government and Parliament was attributed to the now familiar and almost habitual plea of necessity and national emergency and not to any formal constitutional sanction. It was the continuation of these special levies of World War II and the Government's reiterated refusal, on a technicality, to submit the levies to the test of a popular referendum, that led to the unusual initiative to "return to direct democracy" in September, 1949, already described.[16] At any rate, this was the formal reason for the initiative, the real reason was probably a revolt against the continued high level of taxation resulting from the continuation of these special levies.

Prospects for Continued High Taxation. That the rebellion against the Confederation's tax program, implicit in this action of the electorate, will go far to reduce either the power of the Confederation to tax or the level of such taxation is quite doubtful As this is written, the rumblings of a drive to gird the free world against another threat of international aggression are already beginning to have their echoes in the Swiss exchequer as in the exchequers of other lands, and a rise in the tax burden is inevitable Moreover, it is altogether doubtful that the many privileged groups, who now secure largess from the Confederation Treasury, will forego that largess, or that social services, now greatly expanded, will be reduced To pay for these favors and services, the Confederation will have to tax, and it is hardly likely that either pleas of economy or of lack of constitutional power will or can have much practical effect Like the electorates of other lands, the Swiss electorate will have to learn that if nations must arm to the teeth and if citizens expect to enjoy public services, someone must pay taxes, and that if any group, like the farmers, expects to enjoy special Treasury favors and subsidies, some other group will have to provide the wherewithal After all, governments do not normally create wealth and income, they merely redistribute the wealth and income of individuals.

Some Relevant Fiscal Statistics. Relevant budgetary and public-debt statistics provide an excellent footnote for this account of recent Swiss tax policy, and place that account in better perspective Appropriations for the Confederation Government increased from 126 million francs in 1913 to more than 1,801 million in 1948, a fifteen-fold increase During the war year, 1944, Confederation outlays reached 2,558 million francs or twenty-one times as much as was expended in 1913. Confederation tax revenues rose from 101 million francs in 1913 to 1,795 million in 1948 Apparently one of the highest revenue yields occurred in 1946 when the Confederation collected 2,220

[16] See p 342

million francs Rare, however, have been the years when revenue equaled outlay, Switzerland's story in this respect being similar to that of virtually all contemporary states Indeed, since the beginning of World War I in 1914, a balanced budget has been a rarity It occurred between 1928 and 1932, and equilibrium between revenue and appropriations was attained again in 1946; but it has not been maintained Chronic deficits have necessarily piled up the public debt, which rose from 78 million francs in 1900 to around 12,000 million francs in 1950 An important fact to be borne in mind about this debt is that one of its principal items is the obligation incurred in the original purchase of the Swiss federal railways and by their improvement and electrification since the date of the purchase The present consolidated railway debt is somewhere in the neighborhood of 3,000 million francs or about one-fourth of the total public debt Some of the remainder of the Confederation debt represents investments in public monopolies and property that has a capital value Thus some portion of the existing debt structure is covered by capital assets which, under favorable conditions, may be expected to produce revenue and provide for autonomous amortization What remains is nevertheless a very sizable sum Merely to service it will require a volume of revenue more than twice as great as the whole income of the Confederation before World War I.

RETROSPECT AND PROSPECT

Not even so sketchy a review of governmental practice and public affairs in Switzerland as the foregoing can fail to convey the impression that the Swiss polity changed greatly during the first half of the twentieth century As we have noted, *laissez-faire* economic policy has, in many instances, given way to political collectivism and state intervention; private capitalism has been limited by the growth of governmental monopolies and by various restrictions on the operation of a free-market economy, and personal freedom, including freedom of contract in economic matters, has often been sacrificed for publicly guaranteed forms of social or economic security At the same time, the dualistic political relations between Confederation and cantons, once weighted so strongly in favor of the latter, have been modified again and again in the direction of national centralization, and the cantons, although still regarded as autonomous components of a federal State, have, in increasing measure, become the subsidized administrative organs of the Confederation Government Finally, we have noted that, under the pressure of international and domestic emergencies, the Swiss have become unduly familiar with the instruments of modern "crisis government" In turn this seems to have weakened their traditional respect for constitutional limitations and undermined their belief, hitherto as emphatic as that of any other people, that observance of such limitations is the *sine qua non* of the preservation of liberty and the avoidance of tyranny in a popular government.

That Switzerland has experienced these changes in governmental practice and political belief and that her political capacity and political virtue have suffered as a result can hardly be denied Every democratic State has expe-

rienced such changes in recent years, and in many the effect upon orderly constitutional government and the political morality of the citizenry has been far more serious than in Switzerland. Moreover, both in the case of Switzerland and other democratic States, success in reversing this trend toward decay of free, constitutional government depends as much upon external circumstances as upon any other. Especially does it depend upon the degree of success attending the world's efforts to solve the problem of national security. If that problem cannot be solved—if democratic political societies like Switzerland's are to be called upon to mobilize people and resources every generation for mere survival—then there is no more likelihood that Switzerland will avoid a Spartan-barracks polity than any other country. If, on the other hand, the twentieth century can solve the problem of national security or at least make some tolerably effective efforts in that direction, and if fate be reasonably benign, Switzerland has as good an opportunity of preserving the essential integrity of her existing free, democratic institutions as any European commonwealth. The stalwart patriotism, good sense, and wise leadership which, over the course of six and one-half centuries, have succeeded in welding a congeries of peoples into one of the most admirable of political communities are not likely to fail in preserving what they have evolved if given reasonable opportunity. Certainly that such an opportunity will be made available to the Swiss is fondly to be hoped, for neither the Western World nor the Swiss can afford the decline of a regime that has reconciled democracy and liberty so successfully and that has provided so practical an example of the way in which man may redeem himself from social strife and racial bigotry.

BIBLIOGRAPHICAL NOTE
ON THE SWISS POLITICAL SYSTEM

Statutory, Administrative, and Statistical Materials

The compilation of the statutes and ordinances of the Confederation Government is entitled *Amtliche Sammlung der Bundesgesetze und Verordnungen der schweizerischen Eidgenossenschaft* (*Recueil des lois et arrêtés fédéraux de la Confédération Suisse*) published since 1848. Official accounts of the activity of the federal legislature, including reports of legislative committees and messages of the Federal Council, are found in the *Bundesblatt der schweizerischen Eidgenossenschaft* (*Feuille Fédérale de la Confédération Suisse*) published since 1876. Debates in the federal chambers appear in the *Amtliches stenographisches Bulletin der schweizerischen Bundesversammlung* (*Bulletin sténographique officiel de l'Assemblée fédérale Suisse*) published since 1891. The Swiss Constitution, as amended up to 1935, has been translated and published by W. E. Rappard in Section I of the *Source Book on European Governments*, by W. E. Rappard and others (New York, 1937), pp. 19–54. This volume, which is still of value, also contains other pertinent materials on the Swiss Government including the Bernese Constitution and the programs of the principal political parties. The principal general source of official statistical information is the *Statistisches Jahrbuch der Schweiz* (*Annuaire statistique de la Suisse*) published by the Confederation Statistical Bureau since 1891 (between 1891 and 1918 it was issued as a volume of *Schweizerische Statistik*). Mention may also be made of the *Statistische Quellenwerke der Schweiz* (*Statistiques de la Suisse*) volumes of which have been issued since 1930. This publication was preceded by the *Schweizerische statistische Mitteilungen* (1919–1929) which in turn was preceded by the *Schweizerische Statistik* (1863–1918). An excellent unofficial statistical source from 1891 to 1917 is Karl Hilty, ed., *Politisches Jahrbuch der schweizerischen Eidgenossenschaft* (Bern).

Historical Treatises

One of the most extensive historical accounts of the Swiss Confederation is Johannes Dierauer, *Geschichte der schweizerischen Eidgenossenschaft*, 5 vols. (Gotha, 1887–1917). The following briefer works may also prove valuable: Eduard Fueter, *Die Schweiz seit 1848* (Zurich, 1928), Karl Hilty, *Les Constitutions fédérales de la Confédération Suisse* (Neuchâtel, 1891), William Martin, *A History of Switzerland*, trans. by Grace W. Booth (London, 1931), L. F. Meyer, *Der schweizerische Bundesstaat, 1848–1923* (Bern, 1925), W. Oechsli, *A History of Switzerland, 1499–1914*, trans. by E. and C. Paul (Cambridge, Eng., 1922).

Descriptive Constitutional and Political Texts

Among the treatises on the Swiss Constitution W. Burckhardt, *Kommentar der schweizerischen Bundesverfassung vom 29. Mai 1874*, 3rd ed. (Bern, 1931) is a standard work. Also to be mentioned in this connection are W. E. Rappard, *L'Individu et l'état dans l'évolution constitutionnelle de la Suisse* (Zurich, 1936) and *La Constitution fédérale de la Suisse* (Neuchâtel, 1948) and A. Silbernagel, *Suisse, organisation politique, administrative et judiciaire de la Confédération helvétique et de chaque canton* (Paris,

1936) Among the better known works which are devoted in whole or in part to a description of the Swiss political system the following may be consulted with profit F O Adams and C D Cunningham, *The Swiss Confederation* (New York, 1884), Robert C Brooks, *The Government and Politics of Switzerland* (Yonkers, 1918), James (Viscount) Bryce, *Modern Democracies*, 2 vols (New York, 1921), Raymond L Buell, *Democratic Governments in Europe* (New York, 1935), H D Lloyd, *A Sovereign People*, ed by J A Hobson (New York, 1907), H Huber, *How Switzerland is Governed* (Zurich, 1947), Bernard Moses, *The Federal Government of Switzerland* (Oakland, 1889), W E Rappard, *The Government of Switzerland* (New York, 1936); George Sauser-Hall, *The Political Institutions of Switzerland* (New York, 1946), André Siegfried, *Switzerland A Democratic Way of Life* (New York, 1950), M R Tripp, *The Swiss and United States Federal Constitutional Systems, A Comparative Study* (Paris, 1940), John M Vincent, *State and Federal Government in Switzerland* (Baltimore, 1891), and Boyd Winchester, *The Swiss Republic* (Philadelphia, 1891)

Specialized Treatises

The following texts deal with specialized phases of Swiss governmental organization or political development Edgar Bonjour, *Swiss Neutrality* (New York, 1947), Felix Bonjour, *Real Democracy in Operation*, trans by C L Leese (London, 1920), Eduard Bosshart, *Die parlamentarische Kontrolle nach schweizerischem Staatsrecht* (Winterthur, 1926), R C Brooks, *Civic Training in Switzerland* (Chicago, 1930), Herman Bunsen, *Die Dynamik der schweizerischen Demokratie* (Breslau, 1937), Johannes Duersteler, *Die Organisation der Exekutiv der schweizerischen Eidgenossenschaft* (Aarau, 1912), Fritz Fleiner, *Unitarismus und Foederalismus in der Schweiz und in den Vereinigten Staaten von Amerika* (Jena, 1931), Fritz Fleiner, *Ziele und Wege einer eidgenossischen Verfassungsrevision* (Zurich, 1934), Carl J Friedrich and Taylor Cole, *Responsible Bureaucracy* (Cambridge, Mass, 1932), Albert Gossin, *La presse suisse* (Neuchâtel, 1937), J C Herold, *The Swiss Without Halos* (New York, 1948), Hans Huber, *Der Kompetenzkonflikt zwischen dem Bund und den Kantonen* (Bern, 1926), Rudolf Hubner, *Die Staatsform der Republik* (Bonn, 1919), Gaston P A Jèze, *L'exécutif en temps de guerre* (Paris, 1917), Edgard Milhaud, *La Neutralité suisse et la société des nations* (Geneva, 1919), H W Raustein, *Die schweizerischen Halbkantone* (Zurich, 1912), Kurt Reber, *Das Notrecht des Staates* (Zurich, 1938), René de Weck, *La Suisse parmi les nations* (Geneva, 1947), and G Zschoche, *Das Volk als Souveran und als Gesetzgeber in der Schweiz* (Leipzig, 1931)

The Government and Politics of

GERMANY

by KARL LOEWENSTEIN

PART I. INTRODUCTION THE FORMATION OF THE GERMAN NATION[1]

THE HOLY ROMAN EMPIRE OF THE GERMANIC NATION (800–1806)

After the Great Migration the leadership of the powerful Frankish kings succeeded in welding together most of the Germanic tribes (*Stämme*) into the Christian universal monarchy of the Franco-Roman Empire as the nucleus and frame of the subsequent Holy Roman Empire of the Germanic Nation That strange political entity, later called the First Reich, was destined to last down to the age of Napoleon I But throughout its existence it was hardly more than a loose bundle of the scattered German tribes under their own dynasties, joined together at the most by the spiritual idea of the common Imperial Crown (elective since 911) During the Middle Ages the German Emperor was at the same time the King of Italy (Lombardy) and Roman Emperor as the successor of the Caesars, acquiring his dignity through coronation by the Pope Completely devoid of centralizing institutions, his power over the Reich was in name only and not in substance.

From tribalism and feudalism there emerged that decisive trait of Germany's political history, namely the spirit and tradition of sectionalism and particularism which, forever averse to centralization, manifested itself throughout German history in incessant and ingenuous experiments of federalization The subject owed and paid legitimate allegiance to the local ruler only, and the territorial rulers remained factually sovereign on their native lands While the Emperors futilely spent their strength in the maintenance of their Italian claims and domains and the struggle for supremacy with the Pope—which they ultimately lost—henceforward territorial sovereignty formed the rockbed of political life and organization and became the cause for the lasting political weakness of Germany until recent times Predominance of selfish dynastic interests intent on aggrandizing their personal domain (*Hausmacht*), conditioned on the dualism between the Imperial Crown and the territorial magnates, was primarily responsible for the hereditary disunity of the German tribes and regions and became the historical root for the ingrained particularist habits of the German people

THE REFORMATION

These trends were vastly enhanced by the Reformation, another lasting source of internal disruption The subjects were forced to adopt the religion of

[1] For reasons of space the historical development is presented here merely by way of a summarization Students interested in a fuller exposition are referred to the first edition, pp 281–337

their princes (*cuius regio eius religio*) and religious affiliations of the latter were frequently occasioned by political considerations. The struggle between Protestantism and Catholicism inside Germany, intensified by the intervention of foreign powers, climaxed in the disastrous Thirty Years' War (1618–1648), from which the nation did not recover for generations. The Westphalian Peace (1648), embodying the débacle of the Catholic parties, perpetuated the religious cleavage. Austria, whose dynasty, the Habsburgs, had held the Imperial dignity for several centuries, and most of Southern and Western Germany remained Catholic, while the Northern and Eastern regions, among them Prussia, permanently embraced the new faith. Moreover, the peace settlement internally destroyed the last vestiges of the central power of the Reich and of national unity. While France, England, Spain, and even Russia had attained national unity under a strongly centralized monarchical administration and began among themselves to divide the globe, the map of Germany presented the well-known pattern of multi-colored disunity of hundreds of smaller and larger territorial states, principalities, free cities, and ecclesiastic lands under potentates of every description.

THE RISE OF PRUSSIA

However, after the Westphalian Peace, the Prussian State—a unique creation of energetic and spirited rulers mobilizing the potentialities of an intelligent, hard-working, and disciplined people—rose from a marginal existence to the rank of a European power, primarily through the centralizing instrumentalities of a professional army and a highly trained civil service, both recruited mostly from the landed gentry. In the Seven Years' War (1756–1763) Frederick II held his own against the most formidable coalition of great powers of the time. The result of his successes as a military and civilian leader was the emergence of the supernatural idea of the State, of which he considered himself, and toward which he conducted himself as, the first servant. Half a century later the philosopher Hegel exalted the Prussian State system as the transcendental creation of history. This curious blend of authoritarian rule, devoid of the slightest traces of liberalism and individualism, of enlightened absolutism and the rule of law controlling the relations between subjects and the State, not only set the pattern of German political institutions thereafter but also permanently immunized Prussia and Germany against the ideas of the French Revolution.

THE NAPOLEONIC ERA

However, neither the Frederican state machine nor Austria's feudal paternalism withstood the resurrected power of France. In the wake of his conquests, Napoleon, executor of the mission of the French Revolution, cleared away most of the débris of territorial fragmentation inside Germany (*Kleinstaaterei*). After the sweeping territorial consolidation of 1803 (*Reichsdeputationshauptschluss* of Regensburg) and the formation of the French-sponsored Rhenish Confederation, a block of "sovereign" German satellite states under French

hegemony, the First Reich ended by the abdication of the Austrian Emperor as German Emperor (August 6, 1806).

THE GERMAN BUND

Of the three basic ingredients of the French Revolution, to wit: nationalism, social equality, and liberalism, adopting for their realization the techniques of democracy, only the first took root in German soil. Implantation of the other two was resisted by the authoritarian practices of the governments and ruling classes and frustrated by the feudal habits of the people. With the Rhenish Confederation began the chain of experiments with a new form of political organization which German legal writers call *Foderalismus,* implying, in contradistinction to the concept of federalism elsewhere, the combination of several political entities, different in size and actual power, jealously preserving their statehood and sovereignty, yet bound together by some precisely circumscribed common political institutions and, above all, by common political interests. This was the pattern adopted by the new Constitution at the end of the Napoleonic wars, incorporated in the Acts of the Congress of Vienna (1815) and generally integrated with the political system known as the Holy Alliance. The German Federation (*Deutscher Bund*), juridically defined as *Staatenbund* and clearly delineated from the *Bundesstaat* (federal state), was a coalition of at first fifty (later reduced to thirty-five members, all monarchies with the exception of four quasi-republican Free Cities. Its only common organ was the Federal Assembly (*Bundesversammlung*) in Frankfurt on the Main. Since federal statutes and federal executive decisions were binding on the subjects of the member states only if converted into state law, the Bund, deprived of genuine legislative, executive, and judicial power, was a loose federation of sovereign princes rather than a truly federal state. Internally the regime was strictly monarchical and authoritarian, only in Southern Germany, which had come in closer contact with progressive French ideas and practices, some elements of liberalism and parliamentary procedures were introduced into the new constitutions.

THE REVOLUTION OF 1848

Yet progressive sections of the bourgeoisie carried into economic prosperity, by the beginning of industrialization, clamored for their share in political power. But the efforts to attain liberal reforms and democratic institutions, manifesting themselves in the Revolution of 1848, proved abortive in the long run. Setting out vigorously for national unification under a centralized though by no means unitarian Reich government and for liberal and democratic reform, it failed tragically in both. A common parliament, known after its seat as the *Paulskirche* and elected by universal manhood suffrage, wrote, together with a full-fledged Bill of Rights, a democratic and parliamentarian constitution, operating under a constitutionally restricted hereditary monarchy, without, however, finding a solution for the increasing antagonism between Austria and Prussia. Rejected by the governments of both leading states the

instrument became a scrap of paper Finally the dream of German national unity under a democratic political order was rudely dispelled by the bayonets of the reactionary governments.

BISMARCK AND GERMAN NATIONAL UNIFICATION

Yet the aftermath of 1848 marks the end of unbridled feudalism and of the beginning ascendancy of the liberal bourgeoisie in Germany Its claim to political influence was brutally destroyed by Bismarck. A staunch monarchist and convinced authoritarian, he had been appointed Minister President of Prussia (1862) by King William I (1858–1888) to ward off liberal aspirations and to prepare militarily for the inevitable showdown with Austria, competing with Prussia for hegemony in Germany The outcome of the famed "constitutional conflict" between his cabinet and the liberal and progressive majority of the Prussian diet determined the political fate of Germany for generations to come The crisis centered on Bismarck's and his associates' plans for military preparedness and ended with the unconditional surrender of the parliamentary opposition By three victorious wars of aggression against Denmark (1864), Austria (1866) and finally France (1870), Bismarck vindicated his lawless and unconstitutional regime and thereby implanted into the German mind the notion that might goes before right and that the military establishment must remain beyond the control of parliament By subsequently unifying Germany north of the river Main in the now truly federal North German Bund (1867–1870) he laid the foundations of the constitutional fabric of the Empire, the Second Reich, constituted on January 18, 1871, when, in the midst of the war against France in which all German states participated, King William of Prussia assumed the title and function of the German Emperor

IMPERIAL GERMANY (1871–1918)

The Imperial Constitution of April 16, 1871, Bismarck's own creation, established all Germany, without Austria, as a federal state, embracing twenty-five states [2] Pivot and core of the political institutions was the Federal Council (*Bundesrat*) composed of delegates appointed by the governments of the member states and acting under the latter's instructions By a skillfully calculated distribution of voting strength—seventeen votes out of a total of fifty-eight—Prussian supremacy was maintained because any amendment of the Constitution could be prevented by fourteen votes; however, the rights of the smaller states were equally protected against majorization by similar voting arithmetic The federal Government was endowed with jurisdiction in all matters of political and economic importance, with the result that Germany could become in the Imperial period the leading industrial power of Europe The unitarian elements of the Constitution were the Emperor and the federal parliament, the Reichstag. By force of the constitutional provisions the dignity of

[2] Prussia, Bavaria, Saxony, Wuerttemberg, Baden, Hessen; Mecklenburg-Schwerin, Saxony-Weimar, Mecklenburg-Strelitz, Oldenburg, Brunswick, Saxony-Meiningen, Saxony-Altenburg, Saxony-Koburg-Gotha, Anhalt, Schwarzburg-Rudolstadt, Schwarzburg-Sondershausen, Waldeck, Reuss older line, Reuss younger line, Schaumburg-Lippe, Lippe, Luebeck, Bremen, Hamburg

the Emperor was permanently assigned to the ruling king of Prussia In this dual function he was always in a position to mobilize the strength and prestige of the hegemonical state Prussia for the purposes of the Imperial office The Reichstag, on the other hand, though elected by universal manhood suffrage, remained politically powerless This was due in part to the absence of an organized political opposition which Bismarck, implacable anti-parliamentarian that he was, knew how to forestall, primarily, however, because it was constitutionally deprived of the right and power of control over the government The Reich Chancellor, heading a rapidly increasing Reich administration and serving simultaneously as the Minister President of Prussia, was appointed and dismissed at the sole discretion of the Emperor Even if he failed to line up parliamentary majorities for his policies he could retain his office so long as he enjoyed the confidence of the Emperor Only at the very end of the period (1910) was the Reichstag able to force the resignation of the Reich Chancellor (von Buelow)

This curious system camouflaging intrinsically authoritarian government behind a pseudo-constitutional façade, worked tolerably well while Bismarck, master politician as well as statesman, presided as Reich Chancellor over German destinies, loyally supported by a popularly respected King-Emperor It was bound to break down under his weak and mediocre successors who lacked the courage to resist the capricious and amateurish interferences of Emperor William II (1888–1918) The result was not only the progressive "Prussianization" of Germany, with the corresponding retrogression of the influence of the more liberal South and West, but also an alarmingly increasing cleavage between the masses of the people and their government Well-organized political parties, emerging under the impact of universal suffrage, found themselves frustrated by a system of government which could not do without them constitutionally and yet robbed them of any effective influence on the conduct of politics During the period, the stable pole in the fluctuations of party dynamics was the Catholic Center Party, while the Conservatives and Liberals declined, the former because of their rigid program, the latter on account of internal dissensions and factionalism When, in the general elections of 1912, the Marxist Socialist Party, which under Bismarck had been unsuccessfully outlawed for twelve years, emerged as the strongest party, the brittleness of the political system became clearly visible. The impending crisis was delayed by the outbreak of World War I in 1914. Readily did the authoritarian constitution lend itself to the military dictatorship of Ludendorff and Hindenburg, which completely eclipsed the weak Emperor and rode roughshod over the peoples' liberties and states' rights A belated effort of parliamentarization (October, 1918) could not save the Empire With the military defeat, the Imperial Constitution ignominiously collapsed.

PART II. *THE WEIMAR REPUBLIC (1919–1933)*

CHAPTER I

REVOLUTION AND CONSTITUTION

THE REVOLUTION OF NOVEMBER, 1918

The events called the German "Revolution of 1918" do decidedly not deserve the name What actually happened was that the ruling class vanished temporarily and that its visible exponents, the monarchies, both of the Empire and of the states, abdicated without even the application of violent pressure Only to a very small extent was the Revolution due to the undermining activities of revolutionary parties or individual agitators After the military breakdown, the people were no longer disposed to accept the traditional authority of the ruling class

The Revolution of 1918 lasted for exactly one day (November 8) On November 9, 1918, the Reich Chancellor, Prince Max of Baden, offered to the Socialist leader, Friedrich Ebert, the office of Reich Chancellor, and it was accepted. Since the formation of a workable Government was possible only with the collaboration of the radical wing of the Socialist Party, the Independent Socialists [1] (the latter, however, refusing to collaborate with members of the bourgeois parties), a cabinet of three members of the majority group of the Socialists (Majority Socialists) and three Independent Socialists was formed, which called itself at first "Council of the People Commissioners," more frequently Reich Government Ebert's successful efforts to let the Independents share responsibility in the Government were in the main responsible for staving off the danger of Bolshevization of Germany

From the start, the German "Revolution" steered a conservative course. The civil service in the Reich and in the states spared, to the regret of many then and later, any "purge," prevented administrative chaos, and accepted the

[1] The Independent Socialist Party had grown rapidly from a few dissenters, who had refused to grant war credits to the Government in 1914, to an independent radical group within the Socialist movement It split from the Socialist Party during 1916 and constituted itself as a separate group in April, 1917 In terms of parliamentary seats it embraced about one-fifth of the party Politically it was under the influence of Bolshevik tenets and entertained, under the leadership of Liebknecht and Rosa Luxembourg, a militant section which assumed the name of the Roman slave "Spartacus" as a rallying cry

change in political control without opposition Ebert managed also to enlist the cooperation of the Supreme Command of the army—Field Marshal von Hindenburg remained in office while Ludendorff had fled to Sweden—for an orderly demobilization

The conservative trend of the German Revolution expressed itself further in the desire shared by government, parties, and the overwhelming mass of the nation to lay a firm foundation for the new order by calling a Constitutional Convention or National Assembly In the meantime the Council exercised legislative and executive functions in the Reich, in the states Socialist and Liberal parties, after peaceful dethronement of the dynasties and dissolution of the state diets, assumed governmental powers A revolutionary Council of Workers, Peasants, and Soldiers constituted itself in Berlin and tried in vain to commit the Reich Government to a policy along Bolshevik lines [2]

SPARTACUS, FREE CORPS, AND SOVIET REPUBLIC IN BAVARIA

Yet the task of the Reich Government was by no means an enviable one Hemmed in by the economic consequences of the continuing blockade, it had to overcome separatist tendencies, especially in the West and in Bavaria But the most difficult task of Ebert and his moderate associates in the Reich Cabinet was that of keeping at bay the growing militancy of the "Spartacus" movement, which aimed openly at the establishment of the dictatorship of the proletariat

The revolutionary minority of the Independent Socialists (constituted in late December of 1918 as the Communist Party), fascinated by the Russian precedent, forced a showdown In January, 1919, Spartacus staged an open rebellion in Berlin and ruled the capital for a week Ebert was placed in the most embarrassing position of having to choose between jeopardizing the peaceful evolution or putting down the revolt by armed force Dependable troops were not available. Ebert resorted to a device which was to become of momentous importance for the future and, in fact, created the precedent for the militarization of the National Socialist movement Supported by the army command under General Grœner, he formed corps of volunteers (*"Freikorps"*) taken from the ranks of the old army, mostly officers, students, white-collar workers, and other members of the bourgeois intelligentsia, with which his Socialist lieutenant Gustav Noske put down the revolt in Berlin and in other isolated sections of the country It may be argued that Ebert had possibly no other choice at that time if he wanted to save the democratic republic, but the fatal precedent was set for Fascism, legalized and organized violence of the reactionary bourgeois classes against labor, and for the new technique of "Free corps" as private military units competing with the regular military power of the government The radical leaders Rosa Luxembourg and Liebknecht were captured and brutally murdered by nationalist officers The investigating magistrate let the murderers escape The incident was followed by a series of the

[2] On November 22, 1918, in an agreement between the Reich Cabinet and the "Central Council," the latter recognized the former as legitimate executive of the Reich

most scandalous political trials, granting immunity from punishment for "patriotic" acts.

Revolutionary unrest continued throughout Germany in the first months of 1919 (in Hamburg, Thuringia, Saxony, Brunswick, and the Ruhr), but was always ruthlessly suppressed by the regular army and the volunteer corps, which became the backbone of German Fascism. The most publicized, though by no means the most dangerous, uprising occurred in Bavaria. The so-called Soviet republic (*Raete-Republik*) in and around Munich in March and April, 1919, was not devoid of carnivalistic features as befits the most easy-going city of Germany, but it grew into a major national catastrophe. After the breakdown of the rebellion, white terror of unprecedented brutality was unleashed against innocent and guilty as the prelude to the establishment, in Bavaria, of the first reactionary government from which henceforward conservative counter-revolution as well as the Hitler movement radiated to all parts of the Reich.

In fairness, it should be stated that the efforts of Ebert and the moderate Socialists prevented Germany from sliding into Russianization which, in view of the bourgeois character of the German nation, could have led only to full-scale civil war. Ebert, like Lincoln, saved the unity of the nation. On the other hand, one cannot fail to overlook the tragic misfortune that circumstances, more than deliberate failures of the Socialist leaders, prevented even the partial fulfillment of the anti-capitalistic yearning of the German masses on which later the Hitler movement was able to capitalize.

THE NATIONAL ASSEMBLY AND ITS WORK

On January 19, 1919, elections for the National Assembly were held. Citizens of both sexes of the age of twenty were entitled to vote on the basis of a still rather crude proportional representation. In evaluating the election results, it is remarkable that, different from French elections after the downfall of the monarchy in 1870, an overwhelming majority of all votes was cast for the parties favoring the democratic Republic.[3] Monarchical restoration had no more chances to the very end of the Weimar Republic. The bourgeois parties outnumbered, from the start, the Socialists of both denominations.[4] The moderate and constitutional Majority Socialists, polling 45 per cent of the total vote, outnumbered the radical wing by five to one.[5] On the whole, the same parties which had composed the Reichstag of the Empire reappeared with partly changed personnel, after having dubbed themselves by democratic labels. Victorious in the election were the middle-of-the-road parties—Socialists, Catholic Center, and Left-wing Liberals (Progressives), now rechristened Democrats—among themselves they held 331 seats, or almost three-fourths of the assembly and became the broad parliamentary and popular basis of political reconstruction, henceforward known as the "Weimar

[3] The parties inclined to monarchical government, namely, the German Nationalist Party (formerly Conservatives) and the German People's Party (formerly the right-wing National Liberals) obtained only 63 from a total of 423 seats.

[4] Sixteen million votes as against fourteen million of the Socialist groups.

[5] 11,509,000 votes to 2,317,000, or 163 deputies to 22.

coalition" These parties had to liquidate the heritage of the Empire, defeat, and economic destruction, and were to bear the brunt of Nationalist attacks when they signed the Peace Treaty and drafted the Constitution Those responsible for the catastrophe were able to remain in a tactically profitable opposition and to gather strength for the final liquidation of the Republic Nationalist reaction soon invented the shameless lie, which was to become the principal weapon for Hitler's attacks against the Republic—that Germany was not defeated on the battlefield but "stabbed in the back" by the Socialists and other "November criminals" For the years to come, nationalist propaganda identified the Weimar coalition with the Peace Treaty of Versailles, and the burden of the Treaty weighed down on both the coalition parties and the Constitution it drafted and enacted

In view of continued unrest in Berlin, the National Assembly was convened, on February 6, 1919, to Goethe's Weimar, the town of glorious cultural past, as a symbolic antidote against Potsdam and the spirit of Prussian militarism The National Assembly adopted first a preliminary working Constitution [6] On February 11, 1919, Ebert was elected the first President of the Republic Moreover, the act, anticipating the final Constitution, introduced formally the parliamentary system under which the Reich Government, appointed by the Reich President, was responsible to the parliament This provisional solution was superseded by the final Constitution adopted on August 11, 1919

The main function of the National Assembly, in addition to serving as a regular legislative body of the republic, was to draft and to adopt the new Constitution Its most tragic task was to authorize the acceptance of and to ratify the Peace Treaty, whose severity shattered all illusions of the German nation that they would not be held responsible for the sins of the monarchy and the old ruling classes [7] After the adoption of the Constitution, the National Assembly continued as regular Reichstag, and principal pieces of economic and political reconstruction are to be credited to its legislative activity

As a whole, the National Assembly need not fear comparison with other parliamentary assemblies in modern history Containing a number of excellent administrators and public officials, distinguished professors and leading lawyers, its work was characterized by speed, consciousness of the magnitude of the task, inventions, and realism (entirely different from the futile idealism of the *Paulskirsche,* to whose spiritual heritage Weimar succeeded), and superior also to the Parliamentary Council in Bonn [8] which, thirty years later (1949), tried to continue the Weimar tradition

As the "father of the Constitution" figures Hugo Preuss, a Liberal professor of constitutional law and, since November 15, 1918, Reich Minister of the Interior American constitutional experience together with Swiss and French institutions were incorporated while, on the other hand, the learned author

[6] *Gesetz uber die vorlaufige Reichsgewalt* of February 10, 1919 (RGB p 169)

[7] The Peace Treaty was signed, on June 28, 1919, by two members of the government Bell (Center) and Mueller (Socialist) On July 9, 1919, the Assembly ratified the Treaty by 239 to 116 votes

[8] See *infra,* pp 561 *ff*

clearly realized that Germany, forever delivered to a multiple party system, could not utilize the two-party dynamics of British constitutional tradition

In historical perspective, the Weimar Constitution, ridiculed by National Socialist propaganda, and underated by Bonn, deserves an unbiased judgment By no means equaling the singular draftsmanship of the American Constitution, it remains nonetheless a remarkable document of constitutional jurisprudence The first part, containing the frame of government, ranks high among modern constitutions as to concept, logic in drafting, and political realism The second part, the Bill of Rights, on the other hand, was a rather unfortunate compromise of liberal and socialistic ideas and postulates, revealing a good deal of the doctrinaire stubbornness of the German mind The Weimar Constitution was a well-planned democratic house in which the Germans could have lived if they had so wished Seen as a whole, it was the exemplary embodiment of the rule of law-state of our time, and has duly influenced most of the other democratic constitutions of post-War Europe which have ultimately shared its fate.

CHAPTER II

SYMBOLS AND TERRITORY OF THE REPUBLIC

NAME AND SYMBOLISM

"The German Reich is a Republic" (Art 1)[1] In establishing the republican form of government both for the Reich and the states (Art 17) the monarchical structure of government congenital in German history was officially banned from the German territories The colors of the Reich were changed from black-white-red to black-red-gold (a rather yellowish gold at that) (Art 3) This innovation, though historically justified, as black-red-gold had been the flag of the German unification movement in 1848, proved to be a grave psychological error because it rubbed in the military defeat and ran counter to the sentimental memory of the past glory of Bismarck's Second Reich The new colors were not even popular among the Republicans From the beginning, the Republic failed in its efforts to emotionalize the values of the republican form of government by appropriate propaganda of symbolism, one of its fundamental shortcomings astutely exploited by Hitler.

TERRITORY OF THE REICH

The member state within the Reich was styled *Land* After the cession of Alsace-Lorraine to France in the Peace Treaty, no territory under the jurisdiction of the Reich proper existed (*Reichsland*) The "right of self-determination," promised to Germany and badly mauled in Versailles, was given official recognition in the Constitution (Art 18) for the benefit of the German *Laender,* which were "only casual products of dynastic history" Each *Land* was permitted to join any other *Land,* to dismember itself, or to arrange territorial regroupment or realignment of state boundaries, a rather complicated constitutional process was provided in which the will of the populations involved was to be ascertained through initiative and referendum, and the result accepted

[1] For a better understanding of the discussion in the text the reader is strongly recommended to compare references to articles quoted with the actual text of the articles in the Constitution itself For a suitable translation of the text of the Constitution see the bibliographical note *infra*, p 656

by way of a statute with the requirements of constitutional amendment The machinery of territorial regroupment was utilized, during the period, for eliminating a number of petty states in Central Germany, thus reducing the historical heritage of *Kleinstaaterei*.[2] Nonetheless the *Laender* were very unequal in size and population At the end of the period, the territory of the Republic consisted of seventeen individual *Laender*[3]

AUSTRIA

The Constitution considered Austria theoretically a part of the Reich after accession (*Anschluss*) (Art 61, par 2) Under pressure of the Allied Powers, the Reich Government, in September, 1919, consented to declare the provision inoperative, without, however, deleting it from the Constitution When the Cabinet of Dr Bruening, in 1931, made the ill-advised and untimely attempt to accomplish *Anschluss* by indirection through a customs union, the Allied Powers interfered again, and the plan was outlawed by the Permanent Court of International Justice at the Hague

TERRITORIAL REFORM (REICHSREFORM)

Efforts for a comprehensive change of the traditional dynastic state boundaries by a territorial rationalization on regional-economic lines continued during the period, particularly with the view of breaking up Prussia, which, in spite of constitutional curbs, still dominated the Reich by the sheer weight of her area and population A Conference of the *Laender* in 1928 failed to come to a generally acceptable solution of this most knotty problem of German political structure Even National Socialism was unable to devise a more rational territorial division of the Reich, although the process of simplifying the system of multiple states lines, inaugurated by the Republic, was continued on a limited scale However, after the collapse of 1945 the division into four zones of occupation occasioned far-reaching changes of the territorial map

[2] Almost all Thuringian principalities organized themselves in 1919–20 into the new *Land* of Thuringia, Koburg joined Bavaria, Pyrmont (1922) and Waldeck (1928) were incorporated into Prussia

[3] Prussia, Bavaria, Saxony, Wuerttemberg, Baden, Hessen, Thuringia, Hamburg, Mecklenburg-Schwerin, Oldenburg, Brunswick, Anhalt, Bremen, Lippe, Luebeck, Mecklenburg-Strelitz, Schaumburg-Lippe

CHAPTER III

THE REICH AND THE LAENDER: THE FEDERAL STRUCTURE OF THE REICH

FEDERAL POWERS

Of the political institutions provided for by the Constitution, only the Federal Council (now called *Reichsrat*) remained as the recognized exponent of the federalistic structure of the Reich, consisting, like its predecessor, the *Bundesrat,* of delegates dependent on and instructed by the governments of the *Laender* All other organs of the Republic[1] (Reichstag, Reich President, Reich Government) were national institutions and, as such, instruments of an increasingly intensified process of centralization Likewise the compass of federal powers of the Reich was considerably extended While the Bismarckian Constitution still followed the principle that all rights not explicitly conferred upon the Reich are vested in the states and transferable to the Reich only by way of constitutional amendment, the Weimar Constitution from the start endowed the Reich with such far-reaching federal powers that practically state rights existed only at the mercy of the Reich The catalog of federal powers (Articles 6–13) was virtually all-comprehensive; State legislation not compatible with Reich legislation was automatically invalid (Art 13· *Reichsrecht bricht Landesrecht*)[2] Federal jurisdiction was either exclusive of state legislation (Art 6) or in concurrence with that of the *Laender* (Arts 7–12), with the explicit understanding that federal legislation might be invoked at any time and for any subject enumerated in these articles that the Reich saw fit In addition, the Reich, in case of need, could issue regulations on various enumerated

[1] In terms of American constitutional law the expression "Reich," when used in connection with political matters, corresponds to "Federal" in the United States

[2] The question of whether or not federal legislation overrides state legislation may lead—and did lead—to controversies which were decided by way of arbitration between the Reich and the *Land* or *Laender* involved The Supreme Court was designated as the tribunal (Law of April 8, 1920 [RGB p. 510]) In taxation matters the Supreme Financial Tribunal had jurisdiction From 1920–1931 23 such cases were decided by the Supreme Courts This is the federalistic application of judicial review which is indispensable in any composite state for straightening out differences between the federal government and the states in conformity with the rule of law.

matters binding the whole territory (Art 12, called *Bedarfsgesetzgebung*) Since this power included public welfare in general and protection of public order and safety, even the police power of the *Laender* was subject to deep and frequent inroads of the federal Government. Finally the Reich could establish standards for state legislation, particularly in the fields of education, religion, population, and settlement, and, most important of all, taxation (Arts 10, 11, called *Grundsatzgesetzgebung*) Powers of the *Laender* were, on the whole, merely subsidiary to those exercised over all territories by the Reich

In the actual catalog, the following powers assigned to the federal Government were explicitly enumerated (Art 6) federal organization as such (constitution, national symbols, federal administration necessary for federal services, federal officials); protection of federal and state territory (including peace and war); foreign relations; army and navy, the right to maintain public order and safety within the Reich, amounting to enactment of extraordinary measures which were to become, in the form of emergency decrees,[3] of vital importance for the political life of the Republic, citizenship, freedom of movement within the Reich, immigration and emigration, extradition, customs and currency, postal services, requirements of as well as restrictions on trade, industry, and crafts; social insurance and social services These federal powers do not seem considerably broader than under the Bismarckian Constitution, but the Reich could exercise optional jurisdiction on most of the other fields of state activities Some of the most important were the transfer of state railroads —privately owned railroads had been the exception under the Empire [4]—and the establishment of a comprehensive federal financial administration [5] These illustrations signify the general trend of Republican Germany toward thorough centralization The old struggle between state sovereignty and federal necessities of the Reich had become rationalized the *Laender* governments clearly recognized the need for centralization of an economic and political system going through the common experience of defeat, demobilization, inflation, deflation, and economic depression, and offered their loyal cooperation Prussian hegemony, now neutralized in the more equitable organization of the Federal Council, was no longer an obstacle The Federal Council itself, stripped of most of its political influence, transformed itself into an efficient organ of Reich administration Federal civil service, rid of Prussian control, attracted administrative talent from all over the Reich The Republic must be credited with having built up a technically competent Reich bureaucracy of its own

[3] See *infra*, pp 415 *ff*

[4] The transfer to the Reich control was accomplished in 1920, thereafter the entire system of Reich railroads formed a self-supporting corporation of public law administered by the Reich, the largest industrial undertaking of the world

[5] Immediately after the establishment of the Republic, a large-scale financial reform was undertaken, which, by assigning to the Reich its own sources of taxation (income, corporations, etc) made it independent of subsidies from the states The latter, through an ingenious system of distribution and allocation of sources and types of taxes, were bound to tap mainly such taxes not claimed by the Reich (real estate, entertainment, liquor and licenses or taxes on trade) Simultaneously, a Supreme Financial Court (*Reichsfinanzhof*) was set up to conform with the standards of due process in taxation matters Financial centralization was one of the most effective devices for bringing and keeping the *Laender* in line with the policies of the Reich.

Finally, the Reich Government now entered into business in a big way, bringing potash, coal, and various other staple industries and sources of raw materials under its immediate control Unitarian tendencies were further accentuated by a uniform labor policy all over the Reich In conformity with the homogeneity of economic interests the legal and judicial system followed a decidedly unitarian trend To all practical intents and purposes, Germany under the Republic was on the road to a system closely approaching a unitary State

THE POSITION OF THE LAENDER

As mentioned above, not even territorial sovereignty was left to the *Laender,* since their state boundaries could be changed, by constitutional amendment, even against their will (Art 18) Furthermore, the internal autonomy of the *Laender* was severely restricted by the provisions (Art 17) that "every *Land* must have a Republican Constitution," and that "the diet must be elected by all German men and women by way of general, equal, direct, and secret vote in conformity with the principles of proportional representation " This clause, corresponding to the "republican-form-of-government" clause of the American Constitution, enjoined both republican and democratic organization on the *Laender,* and provided for homogeneity in the political structure of Reich and states Moreover, the article made the parliamentary pattern of government mandatory for the states, while leaving the precise structure of the local diets, whether uni- or bi-cameral, to their own choice This accounts for the wide variety of types of government and electoral systems existing in the various *Laender,* although the most common pattern was a unicameral organization of the diet, with full parliamentary sovereignty without the counterweight of an independent state president

Seen as a whole, the Weimar Constitution amounted for the *Laender* to a substantial decline in political influence, power, and independence Economic as well as cultural life became centered in Berlin, the capitals of the *Laender,* after the disappearance of the dynasties, became largely provincialized Under local jurisdiction remained only matters directly dependent on local conditions, such as agriculture, religious and educational life, and the sphere connected with local and municipal administration Deplorable as this result may seem from the viewpoint of cultural diversity in which Germany took pride in the past, it is in keeping with the universal decline of federalism elsewhere in this era

ENFORCEMENT OF FEDERAL SUPREMACY (*REICHSAUFSICHT* AND *REICHSEXEKUTION*)

The vast and comprehensive powers of the Reich in both legislation and administration were exercised in either of two ways The Reich established its own administration, in which Reich officials dealt directly with the citizens, as in the case of the Reich taxation and the Reich railroads More common, however, was a system by which the Reich utilized the existing administrative machinery of the *Laender* for performing Reich services and Reich duties The

Land authorities thus served as executive organs of the Reich. In the second case, the Reich was entitled to far-reaching powers of supervision of the *Land* authorities (Arts 14 and 15)—incidentally already a feature of the Bismarckian Constitution—called *Reichsaufsicht* In practice, the controlling and supervising powers of the Reich occasioned little friction and helped to promote uniformity and homogeneity in administration If the *Land* failed to comply with a justified request of the Reich, or if the issue was controversial, the matter was referred to a decision of the Constitutional Tribunal (Art 19, par 1). No other modern constitution equaled it in devices meant to make the rule of law a living reality, not only between the citizens themselves and the citizens and the State, but also in the relations between the federal Government and the *Laender* governments and authorities

If, however, the *Land* stubbornly refused to comply with the decision of the Constitutional Tribunal, or if, in the opinion of the Reich Government, the *Land* failed in the fulfillment of its constitutional duties of maintaining orderly processes of government, the Reich Government, after having exhausted all means of peaceful persuasion, could resort to the *ultima ratio* of applying coercion against the recalcitrant *Land* by the process of sanctions known as *Reichsexekution* (Art 48) The enforcement procedure was left to the Reich President, under political responsibility of the Reich Government, and consisted of all means of indirect or direct pressure, such as financial sanctions, military measures, and even occupation of the *Land* by the armed forces of the Reich While this procedure, already existing under the North German Confederation and the Bismarckian Reich, was never applied before, the Reich Government, under the Republic, felt compelled no less than four times to marshal the armed forces against a member state The first three cases occurred in the stormy years of the early Republic (1920, 1923) when in Saxony and Thuringia radical governments, partly provoked by reactionary moves (*Kapp Putsch* of March, 1920, and Bavarian Rebellion of 1923), failed to maintain public order within their territories Although the political wisdom of these acts may be open to doubt, the legitimacy of the procedure was scarcely challenged The Supreme Court upheld the legality of the measures taken Contrariwise, the last instance of an allegedly imperative enforcement of federal authority against a *Land* was decidedly *ultra vires* of the Reich Government It occurred in July, 1932, when the reactionary Cabinet of von Papen ousted, by threat of military coercion, the legal Government of Prussia, composed of Socialists, Democrats, and Centrists This high-handed act of the Reich against state rights was an open *coup d'état* from above, preluding fatally, as power politics versus legality, the period of lawlessness of the Third Reich [6]

ARBITRATION BETWEEN REICH AND LAENDER

Relations between Reich and *Laender* were capped, in keeping with the principle of the rule of law, by the institution of the Constitutional Tribunal (*Staatsgerichtshof*), copied from the Bismarckian Constitution but developed

[6] For details, see *infra*, pp 445 *ff*

into one of the most original and interesting aspects of the Weimar Constitution Under a federal system of government occasional collisions between state and federal interests and rights are almost unavoidable Such conflicts call urgently for equitable compromises through some judicial authority of recognized standing, otherwise settlement by power politics instead of by constitutional law would be attempted Consequently, in place of the Federal Council, which, under the Imperial Constitution, had served this purpose, a genuine judicial and nonpolitical tribunal was now established.[7]

The jurisdiction of the Constitutional Tribunal extended to the following matters· (a) Impeachment of the Reich President, Reich Chancellor, and Reich Ministers (Art 59) The impeachment procedure was never invoked, and the provision remained a dead letter (b) Arbitration of constitutional disputes or controversies arising within a *Land,* if no state tribunal for adjustment of such controversies existed[8] (c) Arbitration of disputes or controversies "affected with public interest" when they arose between different *Laender.* This was the typical issue of federal arbitration serving for the peaceable adjustment of differences between the members of the federal organization. (d) Finally, arbitration of disputes or controversies arising between the federal Government and the member states (unless another Reich tribunal had jurisdiction) The only gap in this all-round system of arbitration was that no arbitration was provided for when organs of the Reich itself disagreed or were deadlocked against each other

No other institution shows better the principle to solve all possible conflicts within the federal family by means of due process under the rule of law to which the sovereign states had to submit But, at the same time, the institutionalization of due process as between sovereignties revealed inherent limitations, as power relations, once good will to compromise has been destroyed, are, in the last analysis, unjusticiable Nonetheless, a very large number of such disputes were solved in a peaceable way The rulings of the Constitutional Tribunal, without exception, were accepted by all parties

THE FEDERAL COUNCIL (REICHSRAT)

In keeping with the progressively unitarian structure of the Republic, the Federal Council was a rather hybrid institution, neither a genuine Senate as legislative representation of the *Laender* nor even an effectual clearing house for conflicting interests of the Reich and the member states Surreptitiously it developed into a federal agency, active both in administration and legislation Harmonization of state rights with Reich interests was left, on the whole, more to occasional conferences between the Prime Ministers of the *Laender* and the Reich Cabinet in Berlin or to extra-constitutional channels As a federalistic

[7] Law of June 9, 1921 (RGB p 905), the court was technically connected with the Supreme Court, though factually wholly separated therefrom Its composition reflected the strictly judicial character, the President of the Supreme Court (Chief Justice) acting as Chairman, with six associate justices—three from the ranks of the judges of the Supreme Court and one associate judge each from the Supreme Administrative Courts of Prussia, Bavaria, and Saxony

[8] In this capacity the Constitutional Tribunal was rarely invoked, since most of the *Laender* established tribunals of their own for the adjustment of such local disputes.

brake on the Reich or shock absorber for *Laender* ambitions, as it was originally intended, the Federal Council was useless and superfluous, because the *Laender*, against all expectations, offered on the whole full cooperation with the Reich In terms of political power, it lost out to the Reichstag and the Reich Government

Within the Federal Council (Art 61) each *Land* had at least one vote In the larger *Laender* each unit of 700,000 inhabitants was entitled to an additional vote (a residue over 350,000 being equivalent to one full vote), thus substituting for the historical rank of the *Laender* the rather mechanical standard of equality based on population No *Land* was to hold more than two-fifths of the total vote This clause, directed openly against Prussia, served as a curb on Prussia's natural preponderance in size and population within the Reich Here the Republic had learned its lesson from the past Re-allocation of the number of votes took place after each official population census At the end of the Republic, the *Reichsrat* had sixty-six votes, of which Prussia could hold no more than twenty-six [9] Moreover, Prussia's influence within the Federal Council was weakened by the provision that one-half of the Prussian delegates were to be controlled, not by the Prussian Government, but by the government of the provinces into which Prussia's territory was subdivided [10]

The members of the Federal Council were appointed by the governments of the *Laender* As a rule, one delegate held and cast all votes of his *Land*. Thus the Council in action was a relatively small group of permanent officials who remained mostly in office even if the political color of the government they represented changed, because their expert knowledge of administration and personnel made their services almost indispensable They acted on instructions of their governments, but as permanent members of a permanently assembled body, they were better suited to advise their governments at home than *vice versa* The professional homogeneity and *esprit de corps* of a political body destined to harmonize the conflicting wishes of the Reich and the states explains the evolution of an originally pluralistic organ into a full-fledged agency of the Reich

The Federal Council did invaluable work in preparing legislation sponsored by the Reich Government in the Reichstag Collaboration was so smooth that the Federal Council became part of the legislative machinery of the Reich Government Practically every bill, from whatever source it originated, was

[9] Nine of the midget *Laender* below 700,000 inhabitants (Mecklenburg-Schwerin, Mecklenburg-Strelitz, Brunswick, Anhalt, Lippe, Schaumburg-Lippe, Oldenburg, Bremen, and Luebeck) had one vote each

Nine of the midget *Laender* (one vote each)	9
Thuringia, Hessen, and Hamburg two votes each	6
Baden	3
Wuerttemberg	4
Saxony	7
Bavaria	11

Since these 40 votes amount to three-fifths of the total, the maximum of additional votes Prussia was entitled to was 26

[10] Provincial votes were not infrequently exercised in contradiction to the policies of the Prussian Government, particularly in the later years when party differences between the various Prussian provinces became more acute.

scrutinized and worked over by the Federal Council In general, the latter had only a suspensive veto (*Einspruch*) against bills originating in the Reichstag which if overruled by a second decision of the Reichstag was subject to referendum (Art 74) In the overwhelming majority of cases, disagreement between Reichstag and Federal Council was compromised between them through mutual concessions, while differences of opinion between Reich Government and Federal Council rarely occurred In the field of administration the Federal Council developed into a regular administrative agency of the Reich of distinguished administrative efficiency In particular, it collaborated in the enactment of federal administrative ordinances if they referred to matters left to the execution of the *Laender* on behalf of the Reich. In the last years of the Republic when emergency powers of the Reich President under Art 48 superseded the action of the regular organs of legislation [11] the activities and with them the political importance of the Federal Council shrank considerably In general, however, the Federal Council was one of the most successful institutions of the Weimar Republic

GERMAN FEDERALISM IN OPERATION 1919–1933

The much debated problem of whether or not the *Laender*, under the Weimar Constitution, were still sovereign states or already in process of transformation into territorial subdivisions of the Reich enjoying merely local autonomy, cannot be answered in terms of the constitutional provisions alone The Republic came into being as the creation of the entire German Nation, organized in nation-wide parties which transcended state lines Even in theory, the statehood of the *Laender* was of the most precarious nature. The Reich, by constitutional amendment, could destroy the very existence of the *Laender* against their will. The federal Government could invade practically all jurisdictional areas of the *Laender* Yet the *Laender* after 1918 were still states, though less so than the states of the American Union It is here that the imponderables come into play which are reflected less by constitutional arrangements than by the feeling of the people Though tribal sectionalism was decidedly in retrogression, the South German *Laender* especially—Bavaria most of all—considered themselves states, while Prussia, for the whole period under the influence of the most unitarian party, the Socialists, was much more inclined to subordinate her traditional statehood to the needs of national unity

It seems almost miraculous that centrifugal tendencies emanating from the *Laender* never seriously endangered the cohesion or existence of the Republic During the early years, it is true, conflicts occurred between the Reich Government and Bavaria, politically the most backward of the German states, controlled, without interruption, from 1919 to 1933 by the narrow particularism of the Catholic clergy Bavaria became the happy hunting grounds for political reaction of nationalists, anti-socialists, anti-Semites, and monarchists In 1922 political assassinations of Republican leaders in which Bavarian officials had their hand, were climaxed in the murder of Walther Rathenau, Reich Minister

[11] See *infra*, pp 415 *ff*

of Foreign Affairs Bavaria refused to apply to her territory protective legislation enacted by the Reich, the first act since 1871 of open defiance against the authority of the Reich Even more serious was a rebellion of the Bavarian government against the Reich in the autumn of 1923, when, at the height of the inflation and coinciding with the collapse of the passive resistance against the Allies in the Ruhr basin, the nationalist reaction, openly protected by the Bavarian government of von Kahr, ripened into concrete plans for civil war against the Reich At this juncture Adolf Hitler and the National Socialist Party came for the first time into prominence Hitler, with whom the Bavarian Government was in secret understanding in plotting against the Reich, anticipated the outbreak of the official Bavarian Rebellion by his famous "Beerhall-putsch" of November 9, 1923 It was easily crushed by the Bavarian police The rioters killed by the police became the "blood martyrs" of the Third Reich Ebert's and Stresemann's moderation compromised matters with Bavaria, who confined herself henceforward to demanding a peaceful revision of the Constitution on more federalistic lines. Strangely reversing its stand, it was the Bavarian Catholic Party which led, at the end of the Republic, resistance against the impending Nazification of the Reich

The conflicts with Bavaria revealed a danger zone embedded in the Constitution which was to become one of the contributing causes of the ultimate disintegration of Republican Germany The German Republic not only tried its hand in federalism, but coupled it with the most difficult form of government, namely parliamentarism under multiple party dynamics The parliamentary system in the Reich was duplicated by parliamentary systems on the local level in each of the *Laender*. Yet party fluctuations and political configurations did not operate in synchronization, frequently they ran counter to each other National Socialism gained control in some of the *Laender* after 1931 (Thuringia, Oldenburg, Mecklenburg) and used the welcome foothold in power as a political ramrod against the Reich Likewise, a conflict between the reactionary Nationalist Government of the Reich under the Cabinet of von Papen (1932) and the moderate Weimar coalition of Socialists, Democrats, and Centrists controlling Prussia (lasting without interruption from 1918 to 1932) could not fail to clash A political order devised under the assumption of good will and compromise between the Reich and the *Laender* was bound to collapse once either the *Land* government or the Reich Government resolved to abandon cooperation Seen retrospectively, the parallel institutionalization of parliamentarism in both the Reich and the different states became one of the causes of the ultimate breakdown of German democracy when state rights or federal powers were used as vehicles for party interests Hitler, after the seizure of power, drew only the logical conclusions from his own successful experience in wrecking the Reich by exploiting political autonomy of the *Laender*, when he abolished, in 1934, the *Laender* as political units altogether

CHAPTER IV

POPULAR SOVEREIGNTY: GERMANY AS A DEMOCRACY

THE PEOPLE AS ORGAN OF THE STATE

From time immemorial Germany had lived under the monarchical form of government Suddenly in 1918, the dynasties disappeared and the people, without preparation or education, were left to their own devices Simultaneously with the declaration that Germany had become a Republic, the Constitution stated the principle of popular sovereignty (Art 1, par 2) "State authority emanates from the people " In conformity with the principle of democracy, all institutions of the Reich were based either directly or indirectly on the people As a direct expression of the national popular will, the following institutions were organized. (a) the people themselves (*Reichsvolk*), participating in legislation by initiative and referendum, (b) the Reichstag, the national parliament, elected by universal suffrage, (c) the Reich President, also elected by universal suffrage Popular sovereignty implied identity of State and Nation The people were simultaneously subject and object of the government, master and servant of the State

In the capacity of an organ of the State, the people were organized as electorate or body of voters, universal manhood suffrage had existed since 1871, and its operation offered no difficulties As a State organ, the people were called upon to act in the following ways: (1) As voters either in the regular election of the legislative body, the Reichstag, held every four years (Arts 22, 23), or in extraordinary elections held after a dissolution of the Reichstag decreed by the Reich President (Art 25), (2) as electors in the election (Arts 41, 43) and the recall of the Reich President before the normal expiration of his term (Art 43, par. 2), (3) as legislators in the process of direct legislation by the people (Arts 73–76)

During the lifetime of the Republic the people acted as electorate for the regular election of the legislative body only once, when they elected the Constitutional Assembly (1919) All the seven other parliaments (1920, 1924, May and December, 1928, 1930, 1932, July and November) were dissolved.

Twice the people acted as agency for the election of the Reich President (von Hindenburg, 1925, and re-elected 1932).

DIRECT LEGISLATION BY THE PEOPLE

Direct participation of the people in the legislative process by initiative and referendum, misunderstanding the Swiss precedent, was believed to be an ultra-democratic device, counterbalancing, if necessary, more conservative or tardy action of the representatives. Legislative proposals proper could originate from the people through initiative (*Volksbegehren*). The process was set in motion if one-tenth of the voters requested the introduction of a bill in the Reichstag. This percentage seemed sound because any one of the major parties could easily launch it, while it was difficult for local parties or political cranks to start the ball rolling. If the proposal initiated by the group was accepted by the Reichstag without alteration, it became automatically law. If the Reichstag refused to endorse it, the final decision on the proposal depended on the outcome of a popular referendum. Although this may seem a fairly easy access of the people to legislation, in practice the people were handicapped by two additional provisions. The Reichstag could be overruled only if the majority of voters participated in the referendum (Art. 75). Moreover, if the initiated bill contained a constitutional amendment, the majority of voters had not only to participate in the poll, but also to vote in favor of the bill (Art. 76, par. 1, sentence 2). The result of these additional precautions against the misuse of the device by minorities was that a large party, disfavoring the proposal, could torpedo it simply by nonparticipation.

All these provisions made direct legislation so complicated and difficult that the legislative monopoly of the Reichstag was not in the least affected by it. On the whole, the people were no more enlightened than their representatives. From 1919 to 1933, popular initiative was invoked for not more than eight proposals. Only three reached the first stage of popular registration endorsing the initiative; and only two among them, having found sufficient support of the voters, were submitted to popular referendum. None reached the statute book.[1] By the end of the Republic, the institution, misused by the radical parties of the Left and Right for demagogical purposes, was thoroughly discredited. The experiences of the *Laender*, where initiative and referendum were in much wider use (for the recall of the parliament, etc.), were equally discouraging.

[1] Several initiatives were not admitted because they were justly considered as financial measures on which only the Reich President could invoke the referendum procedure (Art. 73, par. 4). Of the three successful initiatives, one (1926) dealt with the expropriation of the formerly ruling dynasties which, supported by legalistic courts, had blackmailed the treasuries of the *Laender* into highly onerous settlements for the latter. The initiative failed in the referendum stage. The second (1928), launched by the Communists against the building of a new "pocket" battleship, failed to obtain the requisite number of voters for the initiative. The third initiative (1929), sponsored by the Nationalists as a protest against the Young Plan settlement of the reparations just got through the initiative, but failed catastrophically in the referendum.

CHAPTER V

THE REICH PRESIDENT

German political tradition, accustomed to monarchy, demanded a strong executive The American pattern of the popularly elected President who was removed from parliamentary control offered itself conveniently It was hoped that he would have enough prestige derived from the plebiscitary character of his election to become the stabilizing element in the fluctuations of parliamentary dynamics On the other hand, in the light of past experiences with the personal regime under the Second Reich, his position was integrated in the parliamentary government by prescribing, in unequivocal terms, that all his acts, including those referring to military matters, were valid only if countersigned by the Reich Chancellor or a Reich Minister (Art. 50) By his countersignature, the Reich Chancellor assumed responsibility before the Reichstag for every act of the Reich President This arrangement was a curious blend between the powerful American President and the constitutional monarch of the German past

Eligible to the presidential office was every German citizen [1] who had completed his thirty-fifth year The term of office was seven years Re-election was possible, as was recall before expiration of the term, decided by the electorate after the request of two-thirds of the Reichstag [2] A candidate was duly elected if he polled more than half the votes cast If no candidate obtained the absolute majority of votes in the first election, a second election was to be held, in which the simple plurality won The number of candidates for the second election was unlimited, and even new candidates could offer themselves

During the Weimar Republic, Germany had two presidents Fritz Ebert, Socialist leader of the Reich Government after the Revolution, was the obvious choice of the National Assembly in February, 1919 After his untimely death

[1] Hitler, an Austrian, before running for the Presidency against Hindenburg in 1932, suddenly was made, by political henchmen, citizen of Brunswick and thereby Reich citizen through a fraudulent appointment to a public office which he never held

[2] The idea of recalling the Reich President was never seriously entertained, although many people felt that President von Hindenburg had violated his oath of office by supporting "presidential" instead of "parliamentary" cabinets See *infra*, p 429.

(February 28, 1925), the first popular election took place (March 29–April 26, 1925), in which, after an inconclusive first election, the old Field Marshal von Hindenburg consented to run in the second election and obtained a majority In 1932 Hindenburg was re-elected, again only in the second election (March 13–April 10, 1932), Hitler running second by a wide margin

FUNCTIONS AND POWERS

The functions and powers of the Reich President in practice differed widely from the blueprint in the Constitution In view of the device of countersignature by the Reich Chancellor, the vast majority of political acts nominally labeled as presidential were in fact instrumentalities for the execution of the policies of the Reich Government Ebert, with a lifelong experience in politics and trade-union administration, one of the leading parliamentarians of the old Reichstag, accepted advice but let nobody decide for him While he was in the Presidency, the highest office of the Republic was exercised as intended by the Constitution When the old Field Marshal was dragged into the office things changed Nobody expected that complicated legal and economic measures, frequently covering many pages in the Official Bulletin of Statutes, would be understood or even read by an aged general He had to rely, if not on the Reich Chancellor, on the Secretary of the Presidential Office, Dr Meissner[3] who served faithfully—as faith goes—three masters, Ebert, Hindenburg, and Hitler. But he relied even more on his son, Oskar, who "had not been provided for in the Constitution," and the irresponsible advisors of the monarchist Junker clique, whose influence on him was as fatal as that of the court clique on the Kaiser During his second term he was little more than a living corpse

The principal functions of the Reich President embraced "international representation of the Reich" (Art 45); but all material decisions had to be left to the Reich Government. The crucial defect of the Bismarckian Constitution was remedied in that military matters, dealt with by the Reich President formally as Commander-in-Chief of the armed forces (Art 47), were equally brought under responsibility of the Reich Chancellor, i e , under parliamentary control[4] The military leaders (most of all Seeckt) and their Cabinet representatives succeeded in keeping the army out of politics and forging it into a neutral instrument of Reich power But it goes without saying that Hindenburg's prestige with the army generals was greater than that of the Socialist Ebert, although the army loyally served both of them and the Reich

DISSOLUTION OF THE REICHSTAG

Another important function assigned to the Reich President was that of dissolving the Reichstag (Art 25) One has to distinguish two different types of

[3] He was acquitted, in 1949, by an American Military Court from the indictment of having committed crimes against humanity

[4] From the beginning, exercise of military powers was delegated to the Defense Minister (*Wehrminister*), who was factually the subordinate of the Reich Chancellor and under the control of parliament.

dissolution Under the normal rules of the parliamentary system, the Government in power might dissolve parliament in order to invoke a verdict of the electorate on its policies If the Government fails to obtain a working majority in the ensuing elections, it resigns The second type of dissolution, characteristic for the German version of parliamentarism, consisted in this if the Reich President, differing from the Reich Chancellor, believed that the Reichstag, in which the Government still commanded a majority, no longer represented the will of the majority of the people, by virtue of his independent position in political life, he could compel the resignation of the Government and decree the dissolution of the Reichstag This use, or rather abuse, of the dissolution power implied in practice that the Reich President, at his discretion, could dismiss the Reich Chancellor whom he disliked, and appoint, in his place, some one in whom he had confidence and to whom he granted dissolution although his predecessor in office had been supported by a parliamentary majority Hindenburg was induced by irresponsible advisers to use the dissolution power in 1932 in order to secure parliamentary majorities for his presidential Cabinets (von Papen and von Schleicher). This abuse of the dissolution power smashed the parliamentary system of the Republic and paved the way to power for Hitler

APPOINTMENT AND DISMISSAL OF THE REICH CHANCELLOR

According to the Constitution, "the Reich Chancellor and, at his suggestion, the Reich Ministers are appointed and dismissed by the Reich President" (Art 53) The assumption behind this rule, copied from the position of the constitutional monarch, was that the Reich President would appoint only a Reich Chancellor and a Cabinet who were assured beforehand of the confidence of the Reichstag or at least had convinced themselves that they would obtain it when installed in office by the President (Art. 54) At an early date in the life of the Republic, however, the Weimar coalition of the Reichstag, composed of Socialists, Centrists, and Democrats, who had enacted the Constitution, was broken Thereafter no party ever obtained a clear majority Consequently, the majority supporting the Reich Cabinet by its "confidence" had to be artificially joined together in difficult and prolonged negotiations between the parties. In taking a hand in bringing about a workable Cabinet supported by a workable majority of parties, both Ebert and Hindenburg had an influence in the selection of the Reich Chancellor and the determination of future policies far beyond the expectations of the fathers of the Constitution While Ebert and Hindenburg (during his first term) conformed to the rules of the parliamentary game, the latter, immediately after his re-election in 1932, claimed the right to dismiss Reich Chancellor Dr Bruening of whose policies he, or the clique of intriguers behind him, disapproved, although the Reich Chancellor had still the confidence of the majority of the Reichstag In open violation of the Constitution, he went so far as to appoint Chancellors who never had the slightest chance of gaining the majority support of the Reichstag and at no time enjoyed its confidence This calamitous perversion

of the parliamentary system led, in 1932, to the practice of the so-called "fighting government" (*Kampfregierung*) The "presidial" instead of a "parliamentary" Government was a Cabinet lacking parliamentary support, though backed by the confidence and prestige of the President It is true that so flagrant a violation both of letter and spirit of the Constitution was occasioned by the difficulty, if not impossibility, of finding a working parliamentary majority for the Government. It is equally true that the fragmentation of party life and the wrecking tactics of National Socialists and Communists alike were responsible for the parliamentary deadlock But the solution found in the practice of presidential Cabinets was clearly unconstitutional and could be exercised only by equally illegitimate use or misuse of the emergency powers of the President for carrying on the Government Once the President had been pushed into the legal no-man's-land, it is easy to see that the period of political disintegration of the Reich had begun from which Hitler, in January, 1933, emerged as the "savior of the country "

EMERGENCY POWERS OF THE REICH PRESIDENT UNDER ARTICLE 48

The ominous Article 48 has become perhaps the best known provision of the Weimar Constitution outside of Germany as the symbol of dictatorship. It embodied what has been called "constitutional dictatorship," though its actual application during the last years of the Republic was clearly unconstitutional Again it should be emphasized that emergency powers nominally emanating from the Reich President were actually emergency powers accorded to the Reich Cabinet, which merely submitted its decrees to the Reich President for signature Emergency powers for the strictly limited purpose of maintaining public order and safety were a familiar device both of the Imperial Constitution of 1871 and of the pattern of the constitutional monarchy in general Under the emergency power the Reich Government, under the authority of the Reich President, could take any particular step deemed suitable for meeting the requirements of the emergency situation, or general measures serviceable for restoring normalcy Moreover, the Constitution permitted deep inroads into the constitutionally guaranteed civil rights by authorizing the Government to suspend, while the emergency situation lasted, one or several of the seven fundamental guarantees of the rule of law, enumerated in Art 48, par 2 [5]

After 1930 the emergency powers of the Reich President were stretched far beyond their original intention and scope and utilized, in the most irregular way, for carrying out, under cover of the Reich President's signature, govern-

[5] These suspendable rights were the following inviolability of person (Art 114), including freedom from arbitrary arrest and detention (*habeas corpus*), inviolability of private residence (Art 115), privacy of mail and similar communications (Art 117), freedom of speech (Art 118), including prohibition of censorship, freedom of association and assembly (Arts 123, 124), inviolability of private property (Art 153), including protection against confiscation without adequate compensation By granting suspension, for an indefinite time, of these fundamental rights destined to protect the citizens from arbitrary government, Hindenburg, in February, 1933, enabled Hitler to enslave the German people These Emergency Ordinances of the Reich President were repealed only after the collapse of 1945

mental policies for which no parliamentary support was obtainable The term of the Constitution "serious disturbances or threats to public order and safety" was interpreted from the beginning in the much broader sense of coping with political situations in general which *might* ultimately involve dangers to internal peace Under this extensive interpretation, not only police measures were enacted by way of Article 48, but all measures intended to deal with economic or financial difficulties, labor problems, or revision of civil and criminal law, until the Emergency Decrees or Ordinances finally became a full-sized substitute for legislation when parliamentary support for governmental policies was unobtainable From 1930 to 1933 emergency decrees of the President were almost exclusively used in the place of regular legislation by the Reichstag

According to the Constitution, the use of the emergency powers under Article 48 was not without definite constitutional limitations The strings attached to the power were that the measures taken should be temporary while the emergency situation lasted, and should not infringe on the Constitution itself In practice, the Reich Government, after 1930, ignored these limitations, at least by indirection, in not a few instances Furthermore, the Reichstag had to be informed without delay of all measures taken under the extraordinary powers and could demand at any time the repeal of such measures, even against the wish of the Reich Government and the Reich President In practice, however, this provision remained a dead letter most of the time because the Reichstag, incapable of forming a working majority, was also unable, or unwilling, to revoke the emergency decrees After 1930 the Reichstag majority, completely stripped of political power, "tolerated" government by emergency decrees of the Cabinet Thus the Reichstag became an accessory to the crime of assassinating the Republic In fact, the Enabling Acts of 1933, 1937, and 1939, on which Hitler's dictatorship was based formally, were the inescapable continuation of what Dr Bruening had inaugurated under the Republic

CHAPTER VI

THE REICHSTAG

ELECTORAL SYSTEM

Democratization was carried to the limit in the organization of the Reichstag, but it failed calamitously to create the essentials of democratic and parliamentary government, namely, corporate consciousness of the parliament and opportunity for constructive leadership

The suffrage was universal, equal, direct, and secret, under application of "the principles of proportional representation" (Art 22) Not a single election in a single district was declared invalid because of dishonest or fraudulent practices Voting was universal, since men and women of the age of 20 years were entitled to vote. The masses of the younger voters, particularly after the depression had swelled the army of unemployed, naturally voted for the radical parties of the Left and the Right Nor was the grant of vote to the fair sex an unmixed blessing, since women, against expectation, were more attracted by radical parties than men Voting was also reasonably equal in that it gave all voters equal voting strength within the confines of proportional representation That the vote was by no means direct will be seen from the following discussion of the technique devised for proportional representation.

PROPORTIONAL REPRESENTATION

By venturing into the uncharted sea of proportional representation, the Germans forged unwittingly one of the major nails in the coffin of the Republic For a successful operation of proportional representation, two problems have to be solved: (a) How many seats should the individual parties obtain in accordance with their voting strength as compared with the voting strength of other parties? (b) How are the seats obtained by each party to be distributed among the candidates of each party? Proportional representation has become a crypto-science for mathematicians, statisticians, politicians, psychologists, and demagogues The common man, at least in Germany, never understood it and rarely cared The National Assembly, besides the various systems applied by the states, devised an ingenious method for the Reichstag

by the so-called "automatic procedure" The number of deputies was not fixed in advance, but varied with the number of votes actually cast in each election The higher the participation in the election, the higher the number of seats For each 60,000 votes cast for a party ticket, the party received one seat A residue of between 30,000 and 60,000 was equivalent to an additional seat The visible result was that the number of deputies increased with each election, from 421 in 1919 to 647 in 1933, fluctuations faithfully reflect increase or decrease of electoral participation.

As to the problem of how to assign the seats obtained by each party to the candidates of the party, again a rather simple solution was found in that the sequence of candidates arranged before the election by party headquarters, decided the allocation of seats to the candidates (the principle of the "strictly non-variable ticket," *"gebundene Liste"*) The voter had not the slightest influence on the composition of the ticket nor on the sequence of candidates, he had to swallow the ticket hook, line, and sinker. Primaries were unknown Candidates were selected *in camera* by the party bosses This allegedly most perfect democratic system was certainly the most soulless imaginable. The election was no longer a contest between personalities, but the automatic endorsement of a party ticket by the voter, at best a competition between lifeless party programs instead of a battle royal between living personalities The individual voter in this democratically perfect system was only cannon fodder in the lusty warfare of party strategists Proportional representation, at least under the German technique, disenfranchised the voter mentally and killed, together with his influence, his interest in party politics Moreover, unimpeachable as the system may have been from the viewpoint of making the parliament a mathematical replica of the party configuration in the electorate, it sacrificed leadership, the living elixir of democracy, for accuracy The turn-over of parliamentarians was surprisingly small, new men had the greatest difficulty in obtaining admission to the ticket controlled by the party bosses, the machines stood between the aspiring leader and the voter No wonder that the National Socialists, deriding the system as "pluralism of political parties (*Parteienbundesstaat*)" could profit by the doubtful education of the masses under the Republic and establish an even more automatic, even more dictated, system of appointing the parliamentary personnel by virtue of the military discipline of the masses under the whip of the "Leader"

ORGANIZATION OF THE REICHSTAG

With few exceptions, the organization of the Reichstag offers little which deviates from the Western pattern of parliamentarism. But some of the customary institutions were twisted in a particular way in order to serve the propagandist purposes of the enemies of democracy and to make cooperation between Government and Parliament even more difficult than it was owing to the atomization of party life Only a few points of organization were regulated by the Constitution itself Arrangement of business was left to parliamentary autonomy by way of Standing Orders The Speaker of the assembly was the

Reichstag President, elected by the parliament On the whole, the Standing Orders, devised for normal times, admitted of too much propagandist and wrecking tactics from the radical parties and condoned promotion of their party interests to such an extent that the Parliament lost much of its prestige by leniency towards its sworn enemies, who utilized parliamentary processes only for destroying it Likewise, Parliamentary Investigating Committees, a novelty in Germany, failed to promote cooperation between Reichstag and Government Useful as was the work performed by the Committees in uncovering illegalities and abuses of nationalist circles patronized by authorities, the Government resented their activities and left nothing undone for hampering them [1] The customary immunities accorded to Reichstag members [2] were equally misused by National Socialists and Communists for propagandistic, subversive, and even treasonable purposes Liberal democracy, entangled in exaggerated legalism, failed to invoke in time adequate measures of self-defense.

POWERS AND FUNCTIONS OF THE REICHSTAG

In the blueprint of the Constituent Assembly, the Reichstag was to be the center of political dynamics In reality, however, the Reichstag fell short of the too-sanguine expectations Its power declined from the beginning, and was finally wholly eclipsed by the Reich Government and the Reich President

The functions and powers of the Reichstag may be summarized as follows: (1) It was the main legislative organ (Art 69, par 2), the Federal Council was reduced to what amounted in practice to merely a suspensive veto [3] (2) The Reichstag participated in the conduct of government by consenting to the declaration of war and the conclusion of peace (Art 45, par 2), and to the conclusion of alliances and treaties (3) It held the strings of the purse by passing on the budget and other financial transactions of the government (Arts 85, 86) (4) It controlled the Reich Government by granting or withholding confidence (Art 54), by interpellations and other means of checking up with governmental activities (5) It held, at least theoretically, the whiphand over Reich President and Cabinet by the power of impeachment and removal of the Reich President

Reviewing the position of the Reichstag during the period, three stages have to be distinguished During the first, ranging roughly from 1919 to 1923 (to the end of the occupation of the Ruhr and stabilization of the currency), the Reichstag had to cede much of its power to the Reich Government and the Reich President, who steered a difficult course through the aftermath of defeat and the catastrophe of economic collapse in the inflation Then, from the end of 1923 to 1930, the Reichstag operated normally without interruption, and

[1] It is significant that both Dr Bruening and von Schleicher were felled by the clique around Hindenburg when a Special Investigating Committee of the Reichstag delved into the scandalous misuse of public money by the Junkers in the so-called Eastern Relief (*Osthilfe*)

[2] Arts 36–38, granting, during the legislative period, freedom from arrest, immunity from judicial and disciplinary investigation on account of actions connected with the parliamentary mandate

[3] See *supra*, p 408

discharged efficiently all functions assigned to it by the Constitution These years, roughly coinciding with Stresemann's control over the destinies of the Republic, are a striking proof of the potential ability of the German people to handle satisfactorily the complicated parliamentary system The third period opens with Dr Bruening in 1930, when the world depression began to press heavily on Germany The Reichstag lost control and even influence on the conduct of politics by the Reich Government, and was finally superseded, in 1932, by "presidial" cabinets supported exclusively by the Reich President The fall of the Reichstag must be attributed as much to the inept authoritarianism of Dr Bruening, who failed miserably in enlisting the cooperation of the Reichstag, as to the self-emasculation of that body, which, paralyzed by party dissensions, "tolerated" the supersession of parliamentary legislation by presidential emergency decrees Militant democracy was needed, but Dr Bruening was neither a democrat nor militant No wonder that the Reichstag, by its own fault, was so much discredited as an institution that Hitler pushed it aside with scorn

CHAPTER VII

THE PARLIAMENTARY SYSTEM UNDER THE WEIMAR CONSTITUTION: I

POLITICAL PARTIES

Party dynamics in Republican Germany demonstrate again the tenacity of tradition. With the exception of National Socialists and Communists, the parties operating between 1918 and 1933 were the same as under the Imperial Constitution, without material modifications Seemingly democratic labels were deceptive What resulted from political warfare and elections were, on the whole, only minor shifts and fluctuations in party strength No landslide ever occurred until, with the elections of September, 1930, the National Socialists entered the parliamentary scene, a new mass party, operating under new emotional appeals and under the leadership of the greatest demagogue of our time The party, revolutionary and reactionary at the same time, destroyed within two years the equilibrium of party life and finally seized government and State

1 THE CONSERVATIVES

The Conservatives, styling themselves "German National People's Party," stemmed from the Prussian Conservatives who, after the loss of the hereditary domain in Prussia, had spread all over the Reich as a nation-wide party Never divorcing themselves from their authoritarian past, they were, from the outset, enemies of democracy as well as of the republican form of government Monarchists without a pretender—the Hohenzollerns having forfeited their claim to the throne by deserting the army—they became, through loud-mouthed patriotism, the center of reaction and opposition against Weimar They drew their voting strength from the old ruling classes around the army and the civil service, with many adherents also from the higher and middle bourgeoisie and landowners, who feared for their vested rights by Socialist inroads Any pressure of the victors in the World War on the down-trodden Republic was reflected in an increase in the voting figures for the Nationalists. At no time par-

ticularly strong in terms of votes and parliamentary seats,[1] they were influential far beyond their actual strength because no bourgeois government could afford to offend the Nationalists as the "patriotic" party *par excellence* Only between 1925 and 1927 did they participate with important portfolios in coalition cabinets of non-Socialist composition In 1930, when Dr. Hugenberg had forced his way to party leadership, the stubborn anti-Socialist prepossessions of that reactionary capitalist led the Nationalists into vehement opposition to Dr Bruening's bourgeois Government and into the arms of the rising National Socialist movement as allies The "presidial" cabinets of Hindenburg were supported only by the Nationalists Hugenberg helped Hitler into the saddle in 1933 It is safe to say that no other party in Germany has so wantonly wasted its considerable capital and has done more harm to the republican and democratic cause Hugenberg, one of the grave-diggers of Weimar, and his friends received full compensation Hitler threw them out of the government as soon as their usefulness was spent

2 THE CONSERVATIVE LIBERALS THE GERMAN PEOPLE'S PARTY

Next in order from right to left, came the conservative wing of the Liberals, as "German People's Party," the lawful heir to the National Liberals of the Empire, this was the party of Dr. Stresemann, the only statesman of European caliber of the German Republic A class party without a mass basis, it had its stronghold in big business and industry of the higher, and in the propertied classes of the middle, bourgeoisie, and in the Protestant clergy It recognized grudgingly the given situation of a republican instead of a monarchical government, but, despite liberal streaks, it never paid more than lip service to democracy As anti-Socialist as the Nationalist neighbor, the German People's Party was less intransigent in foreign policy, and granted collaboration with the republican parties from an early date Its real strength, far superior to its actual votes, consisted in the economic power of its members, after Germany, shunning experimentation with Socialism, embraced full-fledged capitalism with its attendant cartels and trusts in full control of economic life The party participated in almost all cabinets between 1920 and 1931 (second cabinet of Dr Bruening) within the framework of the so-called "Great Coalition " But the almost incomparable complexity of German party politics may be illustrated by the fact that Dr Stresemann, the leading figure in all German cabinets from 1923 to his untimely death in 1930, was not always able to carry his own party with him in his efforts to bring Germany back to European cooperation

3. THE CATHOLIC CENTER PARTY

The most influential and at the same time the most stable party was the Catholic Party, appropriately called "the Center" (*Zentrum*) As a primarily confessional organization, it cut through all layers of the population, embracing Westphalian and Silesian aristocrats as well as the bulk of the peasants in

[1] Only in 1924 were the Conservatives the second strongest party of the Reichstag, with 103 deputies out of a total of 493. They fell as low as 37 in July 1932, and recovered to 52 in 1933.

Southern Germany, the Rhineland, and the Catholic parts of Prussia, in addition to the small Catholic bourgeoisie and the Catholic trade unions. Social diversification made the Center an altogether equalitarian and genuinely democratic party. In view of its social structure, the Center could enter an alliance both with the Left, to which it inclined more, at least during the first decade, and with the Right, and thus it occupied the pivotal position. From 1918 to 1932 not a single coalition was formed without the Center, which held important positions in all cabinets of the Republic and provided the Reich with no less than four of the Reich Chancellors (Fehrenbach, Wirth, Marx, and Bruening). Owing to its unshakable entrenchment in the Catholic population, it maintained its strength throughout against the tide of radicalism, never falling below about one-fifth of the total strength of the Reichstag. National Socialism could never make a dent on it, which explains the hatred of the Third Reich for the party of the "black moles." The Center pursued with consistency Catholic aims, stood for the sanctity of home and family life and for giving to the church its due in education and cultural activities. By its policies and leadership, the Center Party rendered invaluable services to the Republic.

4. THE BAVARIAN CATHOLIC PARTY

The Bavarian section of the Center Party split from the main body in 1920 and organized itself as an independent unit (embracing about one-fourth of the total of the Center Party). The Bavarian peasant, frightened by the Soviet experiment in 1919, disagreed with the alliance of the Reich Party with the Socialists. In the years thereafter, Bavaria, dominated by the Catholic People's Party, became the center of reaction as the "cell of order." Serious frictions between Bavaria and the Reich ensued. In addition, the Bavarian Catholics were a professedly monarchist party, in favor of the restoration of the Wittelsbach to the throne of Bavaria. With progressing normalization after 1924, the Bavarian Catholic Party began to collaborate with the Center Party, and became again more or less an appendage of the Center. Under the threat of National Socialism, both sections sank their differences and presented a common front against the enemy of religion and tradition. But the Bavarian government was weaker than it boasted. No other country was subjected to such a relentless process of Nazification as Bavaria.

5 THE LIBERALS: THE GERMAN DEMOCRATIC PARTY

Post-War history all over Europe records the decay of liberal parties. Liberalism is least suited to the new technique of mass democracy. Germany is no exception to the rule. Moreover, German liberalism still suffered from the nineteenth-century failures under Bismarck and the Empire. As a continuation of the former Progressives, the Democratic Party attracted at first the driftwood of the dissatisfied bourgeoisie, stunned by the defeat of 1918. It was the party of the liberal professions and of most people of the Left who refused to endorse the Socialist ticket. Patriotic without nationalism, liberal in economics, the Democrats were the natural brokers between the Socialist laboring class

and the bourgeoisie But the history of the party is a record of decline, the middle classes soon found more congenial political quarters In due course the party became a group of brilliant officers without an army A large number of the best brains of the nation were members of the Democratic Party The party participated, with a few accidental interruptions, in all governments from 1918 to 1931 (second Cabinet of Dr. Bruening); its members held the most important positions as experts (*Fachminister*) In later years it suffered most from the desertion of its members to "economic" parties At the end of the period it was almost extinct

6. CONSTITUTIONAL SOCIALISM. THE SOCIAL DEMOCRATIC PARTY

In explaining the position of the Socialist Democratic Party (*Sozialdemokraten,* after the split with the Independent Socialists also called "Majority Socialists"), one has to be on guard against the stultification of contemporary propaganda, which, in assailing "Marxism" in general, no longer cares to distinguish between Socialists and Communists When the Imperial regime collapsed under the defeat, the Socialist leaders, moderate and well-balanced men, rendered a lasting service by leading the nation from the threatening revolutionary chaos into the legality of constitutional evolution In doing so they had to steer clear of wild experiments in large-scale socialization or planning, since the bourgeoisie would not have tolerated them They had to fight on two fronts, against reaction on the Right and radicalism of the Communists on the Left Together with the Democrats and the Center, they shaped the Weimar Constitution, but in an assembly in which they were outnumbered two to one by the bourgeois partners they had to forego fulfillment of Socialist wishes, the Constitution became a liberal-bourgeois compromise with a few Socialist ingredients

During the fourteen years of the Weimar Republic, the Socialists participated in the Government only for three and a half years Socialist Reich Chancellors held office only twice (Scheidemann in 1918–19, Mueller, 1928 to 1930) After Dr Bruening had formed his first cabinet (March 30, 1930) they no longer participated in the government There is little in the National Socialist contention that the "Marxists" dominated the republic On the other hand, the Socialists, together with the other parties of the Weimar coalition, shared power in a considerable number of the *Laender,* as in Prussia (cabinet of Braun from 1925 to 1933), Baden, Hessen, Hamburg, etc The party paid lip service to official Marxism under the protective coloration of revisionism or evolutionary Socialism, but, on the whole, the structure and policies of the Socialists were deeply permeated with bourgeois spirit, similar to the British Labor Party As public officials, particularly as Provincial Governors and as County Commissioners (*Landrat*) in Prussia, but also in the civil service, they became as efficient as the old bureaucracy But their leaders, with very few exceptions bureaucrats, as decent as they were mediocre, were unable to realize that in revolutionary times efficiency in trade-union management is no passkey to statesmanship Bureaucratic structure and, consequently, lack of courageous leadership are the main entries on the debit side of the Socialist ledger

Tainted by the concept of "legality," they were unwilling to meet force with force, the Socialist *Reichsbanner,* a defense corps intended as a countermeasure against the militant private army of Hitler, was justly ridiculed by the National Socialists Fratricidal conflict with the radical wing of Socialism also drained their strength Every internal or external tension was reflected in an increase of Communist votes at the expense of the moderate and constitutional Socialists Yet, in spite of all grave mistakes of the leaders and the defects of the party as a whole, the Socialists had established so firm a hold on the laboring classes that their voting strength and membership in the Reichstag rose steadily from the lowest point in 1924 to 1932 As late as in the elections of 1932 (July) they were overtaken by the National Socialists as the strongest party But after the collapse of 1945 they rapidly regained their commanding position.

7 REVOLUTIONARY SOCIALISM THE COMMUNISTS

Theoretically, revolutionary Socialism under the Republic was closely patterned on Russian Bolshevism and the idea of the dictatorship of the proletariat The attitude of the party was consistently negative towards the Republic. In foreign politics more nationalistic than the Nationalists—therefore an easy prey to National Socialist conversion later—they gained strength by exploiting domestic misery caused by inflation and depression But their tactics helped only the nationalist reaction to build them up as the bogey for the bourgeois classes The "red menace" scare contributed more than a fair share to the success of National Socialism, which cashed in on the anti-Communist prepossessions of the propertied classes The increase of the National Socialist votes in the hectic elections after 1930 corresponded to a similar rise of the Communist vote Practically, however, in spite of election successes after 1930 commensurate to the soaring figures of unemployment under the world depression, the party never had the remotest chance of gaining control of Germany either by infiltration or force It should be emphasized again that neither at the beginning of the Republic nor at its end did there exist a real danger of a Communist seizure of power It is safe to state that unity in a Common Front of the two Socialist parties, which between themselves held consistently more than one-third of the total vote, would have prevented the collapse of the Republic and the advent of the Third Reich

The normalcy of parliamentary life was rudely shattered and finally destroyed by the rise of the National Socialist "movement" Professedly antiparliamentarian, which strangely enough became one of its strongest attractions for the masses of voters, the National Socialist Party, cleverly catering to the instincts of the bourgeoisie, never was considered "subversive" and was readily admitted to competition for political power through elections It won the day by its novel and psychologically superior electioneering tactics Once in power, Hitler smashed the Weimar Republic and with it the parliamentary system [2]

[2] The discussion of the National Socialist Party will be reserved for later, see *infra*, pp 443 *ff*, 467 *ff*

CHAPTER VIII

THE PARLIAMENTARY SYSTEM UNDER THE WEIMAR CONSTITUTION: II

THE REICH GOVERNMENT

THE REICH CHANCELLOR

The Bismarckian Constitution knew of no "cabinet" in the proper sense. The Reich Chancellor was the only recognized Minister who issued binding instructions to the departmental heads as his subordinates For the monocratic organization of the Reich Government the Weimar Republic substituted the "collegiate" or "conciliar" structure of the Reich Government (*Kollegialregierung*) "The Reich Government consists of the Reich Chancellor and the Reich Ministers" (Art 52) Yet, in terms of the Constitution, the Reich Chancellor was more than *primus inter pares,* he was the Prime Minister or the President of the Council of Ministers, the real leader of his group of collaborators in the Cabinet[1] The Reich Chancellor was to "determine the principal lines of politics for which he is responsible to the Reichstag" (Art 56) As the leader of the Cabinet, he laid down, either generally or in specific cases, the governmental policies which the Ministers as departmental heads were to translate into practice within their individual departments But the Bismarckian concept, later copied by Hitler, which made the Ministers the subordinates of their superior, the Reich Chancellor, was abandoned Resolutions of the Reich Cabinet were carried by majority decisions in which each Minister had one vote[2] The Reich Chancellor was free in the selection of the Ministers as

[1] Functions and conduct of business within the Reich cabinet were more specifically regulated in the "Standing Orders of the Reich Government" (*Gemeinsame Geschaeftsordnung der Reichsregierung*) of May 3, 1924 (*Reichsministerialblatt* 1924, p 173), one of the most remarkable pieces of documentation for modern constitutional government Equally important was the Reich Minister Act of March 30, 1930 (RGB, I, 96), which determined in a more precise legal way the position and functions of the Reich Ministers The Act was in force under Hitler to 1937, its main provisions have been retained under the Third Reich

[2] However, majority decisions could not overrule the Reich Chancellor when exercising his prerogative of laying down the principles of his policies, nor, in various specified instances, the veto of the Reich Minister of Finances

his collaborators. The Reich President was bound to appoint the men who were named by his Chancellor Actually, however, the process of constituting the Cabinet was as much an object for bargaining between the partners of the party coalition to be formed as the designation of the Reich Chancellor himself On the whole, however, the number of *"ministrables"* was rather limited, and appointments actually made became more or less the obvious choice [3]

THE MINISTERS

Individual Ministers acted, within the limits of the general program decided on by the Reich Chancellor, independently for their departments under their own and personal responsibility towards the Reichstag (Art 56, sentence 2) By the natural weight of their functions, the Minister of Foreign Affairs and the Minister of Finances, as everywhere, held the key positions in the Cabinet, while the increasing influence of the Defense Minister was a German peculiarity The number of ministries, varying according to needs, ran up, in the later years, to ten [4] As a rule only members of the Reichstag served as Ministers, but it happened not infrequently that outsiders were called as "expert Ministers" (*Fachminister*) [5] The division of work was sound enough to be taken over almost without modification by Hitler

APPOINTMENT OF REICH CHANCELLOR AND REICH MINISTERS

While the provisions of the Constitution dealing with the powers and organization of the Reich Government were elaborate and, on the whole, reasonable, the rather laconic statement (Art 53): "The Reich Chancellor and, at his suggestion, the Reich Ministers are appointed and dismissed by the Reich President" holds the crucial misconstruction of the Weimar arrangement, because it is immediately followed by the equally succinct statement (Art 54) "The Reich Chancellor and the Reich Ministers need for the conduct of office the confidence of the Reichstag Any one of them must resign should the Reichstag, by explicit resolution, withdraw its confidence" Since exercise of the appointive power of the Reich President was to be more than a mechanical formality, the two requirements of simultaneous confidence of the Reich President and of the Reichstag could produce satisfactory results only if the Reich President and the majority of the Reichstag agreed between themselves and continued to agree on the persons entrusted with the Government In case of disagreement, an insoluble deadlock occurred, which, when it ultimately happened in fact, destroyed the Constitution, Republic, and democracy

The explanation lies in the peculiar dynamics of German party life Multiplicity of parties, of which none could ever get a clear majority at the polls, re-

[3] This situation was completely reversed in 1932, when the head of the first anti-parliamentarian cabinet, von Papen, filled the posts of his so-called "Cabinet of Barons" with his henchmen of the Junker class

[4] Interior, Foreign Affairs, Finances (Treasury), Economics, Justice, Defense, Communications, Postal Services, Agriculture and Nutrition, Labor The Office of Vice-Chancellor, appearing before 1925, was never of importance Ministers without portfolio occurred occasionally

[5] Of the Reich Chancellors, only Cuno, called by Ebert in 1923, and later the heads of the "presidial" cabinets, von Papen and von Schleicher, were not members of the Reichstag

sulted in the situation that governments could be formed only by an alliance or coalition of several parties No such fortunate automatism between the "ins" and the "outs" existed as under the two-party system, which presents to the appointing Chief Executive the leader of the victorious party as Prime Minister Nor would it have helped if the Reich President had called the leader of the strongest party, since the latter always would have needed the cooperation of other parties in a coalition Thus the Reich President had considerable freedom of choice, as in France, in the selection of the man for the Chancellorship His only restriction was the prerequisite of the Constitution that the Reich Chancellor could not govern unless he received and retained the confidence of the Reichstag

ACTUAL PRACTICE ADOPTED FOR THE FORMATION OF THE REICH CABINET

How, in actual practice, were the two eventually irreconcilable prerequisites of presidential and parliamentary confidence towards the Reich Chancellor handled in the process of constituting the Reich Government? Clearly the practice depended on the initiative and prestige of the Reich President and his interpretation of his constitutional duties on the one hand, and the readiness of the parties and their leaders to collaborate and to compromise, on the other hand. In terms of the Constitution, the parties of the Reichstag had no title to participation in selecting the Chancellor and the Ministers. Practically, however, the parties did so, because only coalition cabinets, to which they had to grant, or from which they had to withhold, confidence, were feasible No uniform procedure was followed during the lifetime of the Republic. At times the coalition parties agreed between themselves on a suitable parliamentary leader as Chancellor, extending such agreement even specifically to the persons of the Ministers and the assignment of Cabinet posts The Reich President merely deferred to their suggestion More often the Reich President took the initiative in finding a suitable man and, by negotiations, induced the partners of the coming coalition to accept his candidate The actual composition of the Government coalition depended largely on the choice of the future Reich Chancellor But with increasing bitterness of party life, which made compromise between the parties on the person of the Chancellor ever more difficult, it was natural that the influence of the Reich President in the selection of the Chancellor outgrew that of the parties In later years, when the basis for parliamentary cooperation was narrowed and minority cabinets became the rule, actual influence shifted definitely from the Reichstag to the Reich President Once more Dr Bruening, whose temperament leaned more to authoritarian than to democratic government, was responsible for the change in the position of the Reich President by deliberately creating the popular impression that the Reich Chancellor is the subordinate of the Reich President and must rely more on the latter's confidence than upon parliamentary support, which at any time could be replaced by governing under the emergency decrees of Article 48 The Reich President, misleadingly labeled the "custodian of the Constitution," re-

ciprocated the loyal services of his Chancellor by dismissing him brutally in May, 1932 In the process of perverting parliamentary government into dictatorial government, the "presidial" or "authoritarian" cabinet is the connecting link

THE ILLEGAL PRACTICE OF "PRESIDIAL" CABINETS

From these premises grew the lethal constitutional crisis of the Republic, whose seeds were the overlapping and conflicting dualism of a simultaneous confidence of Reichstag and Reich President. Clearly the Reich President should not call into the Chancellorship a man who, he knew or could reasonably expect, in view of his previous contacts with the leading parties, did not and would not possess the confidence of the Reichstag He might resort to the *ultima ratio* of calling a man to the Chancellorship who, by dissolving the Reichstag, could hope for a majority supporting him But, once the elections had failed to procure for him the needed confidence of a majority of the Reichstag, to continue him in office was a flagrant violation of the Constitution And this is just what happened in 1932, when Hindenburg, led by the irresponsible clique of reactionaries and Junkers, dismissed Dr Bruening, although he was undefeated in the parliament, and appointed von Papen as the head of a "presidial" instead of a "parliamentary" Cabinet—styled by a misnomer "Cabinet of the National Concentration" By an unconstitutional trick, Republican Germany slid back to the practices of the Second Reich, under which Chancellor and Cabinet were the exclusive choice of the Kaiser, irrespective of the wishes of the parties in the Reichstag Deliberately the Junkers had put back the clock Von Papen, as Reich Chancellor, was granted permission to dissolve the Reichstag In the elections of July 31, 1932, the "Cabinet of the Barons" was flatly rejected by all parties, with the exception of a handful of Nationalists Yet the Reich President, now openly violating his oath, retained him in power and even granted him a second dissolution, which again, in the elections of November 6, 1932, led to an almost unanimous rejection by the electorate and all parties Only then did von Papen resign, and von Schleicher, again as head of a nonparliamentary, "presidial" Cabinet, succeeded him The continued practice of "presidial" or "authoritarian" Cabinets, inaugurated under the prestige of the "Wooden Titan" who in fact was only the tool of the antidemocratic reaction, and supplemented by the self-abdication of the Reichstag since 1930, was prelude and precedent to the dictatorial Government of the National Socialists

THE CABINET AND THE PARTIES

While the preceding discussion dealt mainly with the relations between the Reich Government and the President, it is necessary to explain the equally important position of the Reich Cabinet towards the Reichstag if for no other reason than to make some of the arrangements of the Bonn constitution intelligible [6] The Constitution itself was emphatic only in stating in unequivocal

[6] See *infra*, pp 567 *ff*

terms that the Reich Chancellor and the Reich Ministers need individually and collectively the confidence of the Reichstag for the conduct of the Government (Art 54) A Cabinet had to resign only when struck by a formal and explicit vote of nonconfidence carried by a majority of the Reichstag[7] If, however, the majority of the Reichstag refused to carry a vote of confidence, initiated by the Government supporters, the Cabinet, as a rule, remained in office because the Constitution required resignation only in case of an outright vote of nonconfidence The subtle distinction between a carried vote of nonconfidence and a rejected vote of confidence helped to circumvent the rules of parliamentarism and to stabilize a Government once in office At any rate, the practice was deemed justifiable because the cabinets were anyway only coalition governments precariously balanced for a time, or even only minority cabinets, that is, cabinets in which parties commanding only a minority of votes in the Reichstag had formed the Government coalition This practice led in due course to an even more disingenuous perversion of the parliamentary system in that minority cabinets, very frequent during the whole period, were "tolerated" by parties which felt disinclined to cooperate openly with the Government while they were equally disinclined to join the opposition and bring about the downfall of the Government[8] However, the device of the nonconfidence vote played no important role in overthrowing cabinets Cabinets fell because of internal dissensions among the coalition parties and ensuing disintegration, not because of frontal attacks by the opposition. In turn, the opposition itself was as hybrid an institution as the Government coalition It was composed of the most divergent interests, united only in the hatred of the Government in power Hence the opposition was not prepared to assume responsibility in case of withdrawal of the Government Communists and National Socialists, forever unflinchingly in opposition to the governments in power, hated each other even more than the bourgeois cabinets they fought in common and, as a matter of principle, would at no time have participated in a coalition Their tactics were purely negative, aiming at discrediting and wrecking the parliamentary system as such

From 1919 to 1933 all Republican governments were coalition cabinets No party ever obtained a majority of votes and seats Moreover, periods in which cabinets supported by a majority of the Reichstag were in control were interspersed with rather extended periods in which only minority cabinets could be formed As to party combinations, three majority coalitions were alternately in power (a) the "Weimar coalition" of the Socialists, Center, and Democrats (two years and ten months), this combination ended as early as 1922, never to return, (b) the so-called "Great Coalition," an enlargement of the Weimar group to the Right by including the Conservative Liberals (German People's Party), altogether in office for two years, (c) a coalition including the Middle parties and the Right (Nationalists), excluding the Socialists,

[7] This happened only three times

[8] The second Cabinet of Dr Bruening, lasting from October 1931 to May 1932, was "tolerated" by the largest party, the Socialists, in spite of its professedly anti-Socialist policy

altogether in control for four years and eight months. These figures demonstrate that politically the Weimar Republic, after a left-of-center start, shifted rapidly to the Right. Minority cabinets rested mostly on the narrow basis of Center, Democrats, and German People's Party, at times supplemented by "nonpolitical expert" Ministers. The "presidial" cabinets of von Papen and von Schleicher in 1932–33 were backed only by the decimated ranks of the Nationalists. Seen as a whole, however, the record of the Weimar Republic, in terms of parliamentary support for the Cabinet in power, was not so bad as the later critics depicted it.

As to duration and longevity of cabinets, the Republic compares none too unfavorably with similar French experience in multiple party government. During the whole period of fourteen years, there were twenty cabinets under eleven Chancellors. A large number of Ministers continued in different cabinets, thus demonstrating a remarkable stability of the cabinet personnel, the *ministrables* consisted mostly of "seasoned" parliamentarians. With very few exceptions, the Ministers as well as the Chancellors were honest and competent men. It was much less "government by amateurs" than later on was complained of. The actual record of the Weimar governments, down to 1932, is much better than their reputation.

PARLIAMENTARISM AND LEADERSHIP

Whatever technical perfection a political system may boast—and the Weimar Constitution had manifest shortcomings—it cannot produce the elixir of good government, namely leadership. If leadership means a vision and the courage to realize the vision in the face of obstacles, the Weimar Republic, with the notable exception of Dr. Stresemann, had not a single leader. Stresemann understood that a defeated nation has no choice between submission and defiance. "Policy of fulfillment" bore its fruits already in Locarno and Thoiry, there was a "silver lining on the horizon." The years which saw him at the wheel (August 1923 to October 1929) were the best of the Republic. The democratic idea began to sink into the nation. Had Stresemann lived or found a successor of his caliber, the Republic would probably have been saved. But his successor was the mediocre Dr. Bruening. The Republic slanted to the Right and into its doom. German political tradition, crippled under a hereditary and irresponsible monarchy, could not adapt itself to the creation of leadership. Moreover, party disunity prevented the rise of a corporate consciousness of the parliament. Neither the Reichstag nor the parties themselves were capable of developing a properly selective process for leadership. Imponderables are beyond the control of a constitution. Hence the German people, or at least a strong minority among them, were swayed off their feet when The Leader appeared who had both a vision and the will power to make it real. The victory of National Socialism should be appraised on the background of the failures of the Weimar Republic.

CHAPTER IX

CONSTITUTIONAL AMENDMENT

THE PROCEDURE OF CONSTITUTIONAL AMENDMENT

Under the Bismarckian Constitution the process of constitutional amendment was more or less identical with that of regular legislation;[1] in practice constitutional amendments were passed like ordinary statutes The Weimar Constitution likewise refrained from prescribing a special procedure by which the constituent power was divorced from the regular legislative agencies as was the case under the French Third Republic and as is arranged in the United States through a combination of Congress and the legislatures of the individual states In continuation of the Imperial tradition constitutional amendments under the Weimar Constitution were to be carried out as a rule by way of ordinary legislation and through the regular legislative agencies, that is, the Reichstag and the Federal Council. The only difference from the ordinary legislative process was that a constitutional amendment required, for its acceptance, qualified majorities in both Reichstag and Federal Council (Art 76, sentences 1–3) In the Reichstag two-thirds of the total membership had to be present, that is, they had to participate in the vote, and of those present at least two-thirds had to vote in favor of the amendment Thus actually four-ninths of the total membership were sufficient In the Federal Council the general right to raise "objections" (*"Einspruch"*) against a resolution of the Reichstag (Art 74) was stiffened in that two-thirds of the members of the Federal Council had to cast a direct vote in favor of the constitutional amendment proposition

In exceptional cases a constitutional amendment could be initiated also by the people, that is by one-tenth of the electorate; in this case the proposal, unless accepted in its proposed form by the Reichstag, was to be submitted to a referendum of the voters in which the majority of the registered voters had to participate and the majority of the voters participating had to agree with the proposal (Articles 73, par 3 and 76, sentence 4).

[1] See *supra*, p 392

In practice, thus, a qualified minority of one-third of the members of both the Reichstag and the Federal Council could block the passage of any constitutional amendment. This was an ample protection against hasty and ill-considered changes of the fundamental charter by chance majorities in the legislative assemblies, while, on the other hand, a constitutional amendment originating from and sponsored by the people proved practically impossible Though rather complicated and somewhat cumbrous, the process of constitutional amendment seemed, on the whole, neither too rigid nor too easy Under normal conditions these arrangements might have proved satisfactory.

THE PRACTICE OF CONSTITUTIONAL AMENDMENT WITHOUT CHANGING THE TEXT OF THE CONSTITUTION

Another aspect of the Weimar Constitution deserves particular attention because here the German version of democratic government bears no resemblance to any other democratic country Under all democratic constitutions a constitutional amendment implies what it signifies, namely an ostensible and outward alteration of the text of the document proper, a new clause or article, or only a new phrase or new words are inserted into the text, or, as the case may be, are deleted therefrom Such "explicit" alterations of the constitutional text occurred in Republican Germany not infrequently between 1919 and 1930. On the whole, they involved only such minor corrections in the original text as had become necessary; and none of them changed the fundamental arrangement of the functional structure

For the bulk of constitutional changes, however, a less precise, a more surreptitious and therefore disingenuous, method was resorted to, a technique inherited from the practice of the Imperial Constitution which lacked a specific amendment procedure When a clause of the Constitution stood in the way of a legislative proposal intended for a particular legal or political purpose, the Reichstag and the Federal Council, in collaboration with the Reich Government, passed, by way of the constitutional amendment procedure with the required majorities, an appropriate statute which materially deviated from the text of the constitutional charter, though without changing correspondingly also the text of the Constitution itself This process was called a "statute amending the Constitution" (*Verfassungsaenderndes Reichsgesetz*), its only requirement being the endorsement by the increased majorities Though strongly objected to by not a few of the responsible constitutional lawyers, this procedure of indirect or "silent" constitutional amendment was applied so frequently that it became almost a routine method incidental to legislation,[2] so much so that in the long run the guileless reader of the constitutional document was unable to realize how much or how little of the original text was still valid without reservation Judicial review, though belatedly recognized as belonging to the courts of right, was never invoked in practice except within the special jurisdiction of the Constitutional Tribunal On the other hand, any

[2] The exact number of such cases is not known, but the estimate of some sixty instances is conservative

statute, by using the amendment procedure, could immunize itself from the subsequent blame of unconstitutionality

Thus the public grew weary of the recurrent controversies as to whether or not a statute had to pass through the process of constitutional amendment, as well as of the political haggling of the parties about it. Even more pernicious was that the people could not fail to notice how parliamentary parties and Government played havoc with the sacrosanctity of the fundamental charter The practice of circumventing the Constitution by a rather facile procedure which deliberately avoided changes of the constitutional text, dulled the "constitutional consciousness" of the German people since the Constitution was what parliamentary chance majorities thought it was This attitude contributed, in the last analysis, more than its fair share to the acquiescence of the masses in the usurpation of the constituent powers by the "Fuehrer" after the seizure of powers by National Socialism in 1933

THE DEADLOCK OF CONSTITUTIONAL AMENDMENT IN PARLIAMENT

It must be obvious that when the elections of 1930 had increased the extremist parties to one-third and more of the total membership of the Parliament, the passage of a constitutional amendment became outright impossible This fact goes to the very root of political dynamics in Republican Germany During the latter years of Weimar the responsible sections of the people were almost unanimous in the realization that the framework of 1919 needed improvement in order to adjust it to the political exigencies of crisis government But any constitutional reform was frustrated by the requirement in the Reichstag of qualified majorities which, by virtue of the obstructionist tactics of the extremist parties, were unobtainable In particular, legislation intended to curb the excesses of the radical propaganda of the Right and of the Left could not be carried out because it involved a curtailment of the Bill of Rights. The radical parties against which such measures were directed, naturally refused to lend their support Under these circumstances the constitutional set-up planned for normal times became obsolete and wholly inadequate Article 76, constructed primarily and not without skill for the avoidance of deadlocks, was turned into the very gadget for deadlocking the entire constitutional machinery It was by no means surprising that National Socialism, here as elsewhere benefiting from the errors of exaggerated legalism of the Weimar Constitution, transferred, by one bold stroke, full constituent powers to the "Fuehrer" and his cabinet, thus completely leveling down the distinction between constitutional amendment and ordinary legislation In another significant point the situation as it existed under the Bismarckian Constitution was restored by the Third Reich.

CHAPTER X

THE BILL OF RIGHTS

GENERAL CHARACTER OF THE BILL OF RIGHTS

As most of the democratic constitutions of the liberal-bourgeois era the Weimar Constitution, next to the frame of government in Part I, contained an elaborate Bill of Rights, styled "Fundamental rights and fundamental duties of the Germans" in Part II (Articles 108–165) The Bill of Rights was to draw a clear line of demarcation between State power and the sphere of the individual The courts and constitutional jurisprudence were rather tardy in vitalizing its juridical content It was only after the Weimar Republic had passed its zenith that the importance of fundamental rights of the citizen and their protection by independent courts began to penetrate into the public consciousness As it happens with liberty in general, the value of inviolate rights of the subject was more cherished when they were in abeyance than at the time when their enjoyment was not yet in jeopardy

The inclusion of a formal statement on fundamental rights in the Weimar charter was certainly not alien to German civic heritage since both the Constitution of the *Paulskirche* of 1848 and even the Prussian Constitution of 1850 offered indigenous patterns Moreover, a system of subjective rights of the citizens, protected from unlawful infringement by the administration, had been fully recognized and applied under the Imperial Constitution

The incorporation of the Bill of Rights in the Weimar Constitution, as it happened to be the case also with other matters of importance, was the result of a compromise between the conflicting political concepts of liberalism, collectivism, and clerical tradition, arrived at only after heated discussion In its final form the second part of the Constitution was a hybrid assortment of genuine rules of law which were applicable at once and without further implementation by specific statutes, of declaratory statements of policy to be made applicable only by subsequent executory legislation—which, in many cases, failed to materialize—and of principles and postulates of merely programmatic character This maze of divergent provisions resembled in part a catechism of humanitarian ethics, in part a law book or code on civil liberties

Yet, in spite of its casuistic and uneven character, the Bill of Rights could have offered to German democracy, had it been self-confident and adequately supported by public opinion, an ample protection of the customary civil liberties. Just because it was characterized by a distinct hue of progressive social justice in which exercise of individual rights was restricted by their possible interference with the welfare of others and of the whole community, it was wholly in keeping with the best of German idealistic tradition As a document permeated by social though not Socialistic intentions it reflected admirably the post-War pragmatism of a typically liberal bourgeois society based on private property, sanctity of contractual relations, and the optimistic belief in the co-operative qualities of human nature In its failure, however, to implement social rights by social duties to which only scanty attention was paid, it was strangely out-of-date from the start and it represented, in the last analysis, the mythology of a dying age Seen retrospectively it is evident that the framers were unaware of the impending revolt of the masses and of the rise of the demagogue for whom fundamental rights were only the instrument for their ultimate destruction

ACTUAL CONTENT OF THE BILL OF RIGHTS

The motley of rights and duties, programmatic postulates and ethical exhortations, broad institutional guarantees and detailed regulations for specific purposes, was loosely grouped together in five subdivisions The First Section, devoted to "The Individual," enumerated as individual rights the following Equality of all Germans before the law (Art 109), involving, by specific reference, abrogation of privileges of birth or rank, freedom of movement and free choice of domicile within the Reich (Art 111), freedom of emigration (Art 112), freedom of the person, in particular freedom from arbitrary arrest (*habeas corpus*) (Art 114); inviolability of the private home (Art 115); prohibition of retroactive criminal legislation (Art 116), privacy of mail and communication (Art 117), finally, freedom of personal expression and of public opinion "within the general laws", no censorship was permissible (Art 118)

The Second Section of the Bill of Rights, inscribed "The Life of the Community," protected family life (marriage, the position of parents in education, children born out of wedlock and youth in general [Articles 119–122]); the right of peaceful assembly (Art 123) and the unrestricted formation of associations which, if desired, could be incorporated under civil law (Art 124), freedom to vote and secrecy of the voting procedure (Art 125), equal access of all qualified persons to public office (Art 128) This section is concluded with elaborate provisions as to position, function, and exercise of public office, the officials being considered as servants of the community (Articles 129–131) Here civil rights were supplemented by civic duties such as the obligation to serve State and municipality in office and to share in the burdens of the State in accordance with property and income (Articles 132–134).

The Third Section dealt with religious life. Freedom of conscience and religious worship were guaranteed (Articles 135, 136) Churches and State were separated (Art 137) while State support for religious services was provided for if such assistance was customary (Articles 138–141)

In the Fourth Section (Articles 142–150) art, science, and education were placed under the benevolent protection of the State, which, on the other hand, obligated itself to refrain from any compulsion or from any exercise of its tutelage inconsistent with the tenets of genuine liberalism In this part, more articulate than in others, the compromise with the Catholic Church was visibly in appearance

Finally, in its Fifth and last part on "Economic Life" (Articles 151–165) the Bill of Rights tried to square the circle between the liberal concept of private property and private initiative on the one hand, and the more Socialistic or collectivist ideas of utilizing private wealth and national resources for the purposes of the common good, on the other hand While private property was solemnly recognized (Art 153) it was at the same time subjected to restrictions by the State deemed necessary for the common welfare, range and limits of such restrictions were not specified Dispossession of property under eminent domain was permissible though, as a rule, only against adequate compensation Yet one cannot fail to admit that private property, the mainstay of liberal economics, was less well protected in theory and practice of the Weimar order than one might have assumed within the framework of liberal institutions, and that here the liberal Constitution unconsciously preluded to the later subjugation of private capitalism by the National Socialists, particularly since the provisions surrounding the sanctity of private property were among those which were suspendable under the emergency conditions of Article 48

THE REICH ECONOMIC COUNCIL

This last section on economic life referred also, by way of a programmatic promise, to the eventuality of "nationalization" (in Germany called *"Sozialisierung"*) of "suitable private economic enterprises" (Art 156) In close relation with this ultimate purpose an elaborate system of occupational or economic representation, based on equal participation of management and labor, was envisaged (Art 165) Of this comprehensive scheme of industrial democracy only two disjointed sections were established by the subsequent legislation of the Republic, namely, at the basis of the economic pyramid, the shop councils of workers and employees in each sizable enterprise (*"Betriebsraete"*), and the Reich Economic Council (*"Reichswirtschaftsrat"*) as its apex Too sanguine hopes were disappointed All that the Reich Economic Council achieved—and in fact under given circumstances was able to achieve—was to become a consultative body for the preparation of economic legislation In view of its limited powers its influence was meager and as an institution it failed completely to integrate itself into the political life of the nation

LIMITATIONS INHERENT IN THE BILL OF RIGHTS

That the Bill of Rights did not succeed in asserting its claim as a body of inviolate and intangible rights of the people was due, among other causes intimately related to the general submissiveness of the German character, to a particular situation which the Weimar Republic again inherited In order to be genuinely "fundamental" civil liberties must be guaranteed absolutely, safe not only from arbitrary inroads by the administrative agencies but also from curtailment by parliamentary legislation In this respect many of the fundamental rights were by no means immune, owing to the specific feature of the German tradition in the technique of drafting The American citizens' civil liberties are protected unconditionally from Government and administration no less than from the legislatures both Federal and of the states Contrariwise, the German citizens' rights were secured only conditionally To most of the fundamental rights the proviso was explicitly added that their exercise was guaranteed only within the limits of the existing or of future statutes Thus by the Constitution itself the Reichstag was empowered to determine, by way of ordinary legislation, range and limits, content and exercise of civil liberties This reservation in favor of the legislator reveals, as do other "liberal" constitutions in Europe, the traditional relationship between liberty and authority under which liberty is subjected to the tutelage of authority State necessity was allowed to override the solemn guarantees of individual rights

Moreover, the absence of judicial review in Republican Germany tended to militate against the actual enforcement of individual guarantees By the same token, the misuse of the constitutional amendment procedure for opportunistic or temporary deviations from the fundamental charter was responsible for the continuous process of "hollowing out" [allegedly "inviolate"] rights of the citizen Most of the "statutes involving a constitutional amendment" were passed by the Reichstag for allowing exceptions from the individual guarantees Last but not least the authorization granted by the Constitution (Art 48) to the Reich President to suspend temporarily the seven most important of the fundamental rights in times of emergency, placed the fundamental rights at the mercy of the Government The *habitat* of the "police state" was stronger than the new gospel of self-determination of the citizens under democratic institutions During the last two years of the Republic the Bill of Rights had factually ceased to exist by virtue of the constitutional charter itself Individually and severally the factors mentioned had contributed to such an erosion of civil liberties that in the long run public opinion resigned itself to the fact that their validity was at best conditional and thus precarious When the National Socialists, in 1933, rudely pushed aside the Bill of Rights, together with the constitutional charter itself, for the people the break with the past was less violent than it might be assumed by one who reads only the letter of the "most democratic constitution of the world" without being aware of how it was operated in reality by allegedly Republican governments.

CHAPTER XI

THE BALANCE SHEET OF THE WEIMAR REPUBLIC

In the official doctrine of National Socialism, the Weimar Republic was scornfully referred to as the "fourteen years of humiliation," or the "interregnum," or simply the "system," signifying political ineptitude, degradation, and corruption Yet the period between the fall of the Second and the rise of the Third Reich includes, together with obvious frustrations and deplorable shortcomings, a number of achievements

ACHIEVEMENTS OF THE WEIMAR REPUBLIC

The Treaty of Versailles certainly was a harsh peace, garnished with many senseless humiliations which operated as constant irritants, but it was not a Punic peace, such as Imperial militarism, gone stark mad, tried to impose on Russia and Rumania in Brest-Litovsk and Bucharest (1917–18), not to mention the brutal looting and enslaving of the conquered countries by the master race under the Swastika The Weimar Republic succeeded in "whittling away" many of the most oppressive clauses of the treaty by the "policy of fulfillment" (*Erfuellungspolitik*) Tangible results of the Locarno Treaty were Germany's unreserved admission to the European community and the League of Nations, the evacuation of the Rhineland five years before the appointed day, and a settlement of the tormenting problem of the reparations in the Dawes (1924) and Young (1926) plans, no longer flagrantly inconsistent with the postulates of economic reason *Gleichberechtigung* (political equality) was finally obtained and Germany became again, less than a decade after the defeat, a first-rate power in Europe

Much has been attributed to the continued foreign pressure on the Republic, and with a good deal of truth at that Continued vexations of the victors in the first years after Versailles harassed the governments willing to fulfill, because they knew that resistance would mean dismemberment of the Reich But foreign pressure relaxed after 1924, and it was the policy of indirect treaty violations, by Republican governments, such as the toleration of the "Black Reichs-

wehr"[1] and the disingenuous move of Dr Bruening for "cold *Anschluss*" of Austria by way of a customs union, which aroused the suspicion even of benevolent foreign governments

The reparation settlement was instrumental to an influx of foreign loans which helped, on the one hand, to pay the reparations until a final arrangement had been reached On the other hand, the foreign loans were used by Germany for rebuilding and overhauling her industrial plant, which, when Hitler seized power, was second to none in the world Thus Hitler's success in building up Germany's industrial and economic structure for military aggression was due to the efforts of the Republic Germany had even overcome the greatest catastrophe which could befall a nation of thrifty and parsimonious small savers, namely, the inflation of 1922–23 Without the world depression after 1929, signaled by the crash of the New York stock market and widespread bank failures in Austria and Germany, German financial and economic structure was as sound as could be expected Unemployment, it is true, did not disappear and could not disappear, since it was structural, as an outgrowth of the unmitigated *laissez faire* system of private capitalism, ineradicable also in economically better balanced countries with a similar socio-economic structure

Improved economic and social conditions were mirrored in the high level of cultural achievements Although the cultural life of Weimar was denounced by National Socialism as "degenerate," "effete," and "depraved," its contributions to human enrichment were most respectable Cultural competition of State and municipalities of the *Laender* tried not without success to compensate for the loss of dynastic splendor Cultivation of the arts, assailed by National Socialism as "cultural bolshevism," was progressive, bold in experimentation though occasionally licentious Democratization of cultural life had begun in earnest Finally, the Constitution proper, grave as its structural shortcomings undoubtedly were, accustomed the German people to the security of due process of law which controlled impartially private as well as public relations Most important of all, the Weimar Constitution preserved German unity, acquired at great cost by the preceding generations Had Weimar not saved the Reich, the result would have been Balkanization and perhaps the Bolshevization of the heart of Europe

CAUSES OF THE FAILURE OF THE WEIMAR REPUBLIC

As to the debit side of the Weimar ledger, competent observers agree that the Republic committed suicide It has been asserted that a nation accustomed to monarchy was unsuited to democratic self-government Yet at no time, with the possible exception of the last months of Republican agony, had restoration the slightest chance, although the President of the Reich, Hinden-

[1] During the whole period of the Republic almost every government connived at the secret training, by the army, or *Reichswehr*, of forces exceeding the limit set by the Treaty of Versailles, whereby "cadres" of trained men were maintained even at the time when Republican Germany was allegedly disarmed completely Journalists exposing these flagrant violations of the treaty were sentenced, by reactionary and nationalistic courts, to long terms of prison for treason Among them was the Nobel prize-winner Ossietzky

burg, was a professed monarchist. However, though it may be an overstatement to describe Weimar as a Republic without Republicans, Germany after 1918 progressively became a democracy without democrats. In the elections of 1932, which heralded the impending disintegration, no less than three-fourths of the German people voted for antidemocratic parties of the Right or the Left. But this abnormal turn of the German mind could happen only because the Republic did not have resolute democratic leaders, the very name of democracy was rarely invoked officially. On the other hand, grave errors were committed in allowing the nationalist reaction and the Hitler movement to monopolize patriotism. Moreover, the internecine struggle between Socialists and Communists, both opposed to reaction, jeopardized from the outset the chances of the Republic. The Socialist Party organization had become so tainted by bourgeois mentality that its revolutionary élan was spent before the final test came. Gravely did both Socialist and bourgeois governments sin in allowing the public services to carry on without subjecting the reactionary officials and judges to a purge. Outright sabotage occurred among the judges of the criminal courts who with impunity weighed with different measures the political activities of the Right and of the Left. Finally, the army was permitted to remain a state within the State, and even Left-oriented governments were powerless to bring the army under effective parliamentary control. In spite of the elaborate precautions of the Constitution to forestall resurrection of a super-government of the army, the militaristic machine remained in fact unaffected by political change. Nothing could please the army leaders more than the "stabbing-in-the-back" legend invented by the nationalist propaganda, making the Socialists and pacifists alike a convenient scapegoat for the failures of the General Staff. Had Marshal Foch dictated the peace in Berlin, thus driving home the defeat of the army in the field, perhaps the Germans would have learned their lesson for once. While the army command, backed by the prestige of Hindenburg, brooked no interference from "civilian" governments, it had its hand in almost all matters of purely civilian nature. But perhaps the greatest sin of omission, most directly responsible for the downfall of the Republic, was the inability of Republican governments to understand what political power means and how to use it. Socialists and Liberals alike were entangled in the false concept of legality as an equal opportunity for all political forces to gain access to political power. Naively, the idealists among them believed in the intrinsic value of democracy and its ultimate superiority over authoritarian or dictatorial doctrines, without taking measures for protecting democracy from the *saboteurs*. All German governments, whatever their party tinge, failed to understand the new technique, practiced in a masterly way by Hitler, of the Trojan horse of democratic legality, of utilizing the equalitarian institutions of the Constitution for undermining and destroying the very institutions they were allowed to exploit. German democracy was utterly fair, constitutional, legalistic, but not militant. The same energetic and resolute use of legislative and administrative curbs against political extremism of the Right as they were relentlessly applied against the Left would have nipped the revolu-

tionary movement of the National Socialists in the bud Abnormal times called for abnormal means of defense and protection, as was the case in other equally threatened democracies after 1933 But the bourgeois leaders themselves, fascinated by the "patriotic" ingredients of the National Socialist program, had lost confidence in the democracy and thus, wittingly or unwittingly, became instruments for the suicide of the Republic.

PART III. *THE THIRD REICH (1933–1945)*[1]

CHAPTER XII

NATIONAL SOCIALISM AND THE ESTABLISHMENT OF THE THIRD REICH

HITLER AND THE NATIONAL SOCIALIST PARTY

Forever philosophers of history have argued whether the success of a political leader is attributable to favorable circumstances, or whether his action produces favorable circumstances conditional for his success In the case of Adolf Hitler and the Third Reich, the answer is Hitler created the National Socialist movement as an instrument of political power, and through this instrument he created the Third Reich He made circumstances serve his ends It was Hitler who as a master molded the sentimental traditions and emotional obsessions of the German bourgeoisie into the most refined and technically perfect system of political power The National Socialist Party and the Third Reich would never have arisen without Hitler

The spectacular rise of the *Nationalsozialistische Deutsche Arbeiterpartei* (NSDAP), at first one among the myriad of small political debating conventicles after 1918, was due primarily to entirely novel methods of propaganda and organization The party—styled a "movement" in order to advertise its fundamental difference from other merely political parties—soon attracted attention far beyond its numerical strength After the premature and abortive Beerhall putsch of November 9, 1923, Hitler realized that political power could be won only by ballots and through "legal" methods Henceforward his tactics were concentrated on building up a regular political party which, at the same time, should become the core of a political religion Yet without the disaster of the world depression, which broke loose in Germany in 1930, he would never have succeeded In March, 1930, Dr Bruening took over the Chancellorship. Less than six months later, by a landslide unprecedented in German

[1] Limitations of space as well as the shift in interest are the reasons for submitting, in this part, merely a summary review of government and politics of the Third Reich Readers interested in a detailed analysis of its socio-political structure are referred to the previous editions (pp 405–558) and to Karl Loewenstein, *Hitler's Germany*, New York, 1939 (fourth edition, 1944)

parliamentary history, the NSDAP rose from 12 to 107 deputies in the Reichstag, from a small faction to the second strongest party.[2]

In its early career, the NSDAP was the political refuge for demobilized professional soldiers unable to adjust themselves to civilian life, for political adventurers, social misfits, and cranks—a strange motley of hooligans, criminals, and idealists, who formed the cadres into which, later on, the masses of voters were to flow In the landslide of 1930 most of the new recruits endorsing the Swastika came from the lower middle classes, whose economic backbone had been broken by the inflation of 1923 and the deflation thereafter—"respectable" people such as shopkeepers, artisans, clerks and, of course, the unemployed This stratum was enticed by the Socialist as well as by the anti-Socialist ingredients of Hitler's program From the outset the party drew its strength from youth But it was by a stroke of genius that Hitler succeeded, in the following years, in enlisting as well the moral and financial support of influential figures in industry and big business, who were attracted by the hostility of National Socialism towards organized labor and the trade unions The army, secretly sneering at the uncouth upstart, maintained a benevolent neutrality towards a super-patriotic movement promising freedom from "the shackles of Versailles" and the restoration of military ascendancy

CAUSES FOR THE TRIUMPH OF THE NATIONAL SOCIALIST PARTY

Hitler's magnetic personality cast its spell on a nation in which "educated" men had heretofore monopolized political leadership of the bourgeois classes. Many were influenced by his oratorical talents However, the strongest inducement emanated from an entirely novel and unprecedented political technique It inaugurated the emotional mechanism of mammoth mass meetings and public demonstrations staged with consummate skill, showmanship, and a deep insight into the psychic *lacunae* of the democratic form of government, based on persuasion instead of emotion His political offerings catered to every taste Moreover, the party was organized on military lines, carrying violence into the streets and the assemblies of the other parties, fortifying the spirit of its own adherents as well as intimidating its opponents The brown uniforms of the SA (*Sturmabteilung,* or Assault Guard) and the black military garb of the SS (*Schutzstaffel,* or Elite Guard), tolerated by the Republic in suicidal negligence,[3] became ubiquitous The NSDAP organized and propagandized with-

[2] The following tabulation shows the increase of votes and seats from 1924 to 1933

Election	*Seats*	*Votes*
May 4, 1924	7 *	(unknown)
December 7, 1924	14	907,000
May 5, 1928	12	810,000
September 14, 1930	107	6,409,000
July 31, 1932	230	13,779,000
November 6, 1932	196	11,737,000
March 5, 1933	288	17,277,000

* On the ticket of the combined "folkish parties," which obtained 32 seats

[3] Only in 1932 was an anti-uniform ordinance issued by the Cabinet of Dr Bruening, at the instance of the Minister of the Interior, General Groener, it was rescinded after a few weeks, and Groener lost his position

out interruption, carrying its meetings and demonstrations into the smallest village and hamlet. Suddenly, in place of the rather idyllic party life of the past, a new militancy and fury swept over the nation, which, unprepared as it was, failed to mobilize resistance to this unprecedented onslaught. The printed as much as the spoken word was used as never before. A novel technique of tabloid emotionalism was invented. Oversimplification, distortion, and outright lies were not answerable by reasoned refutation. In the remarkable passages of his *Mein Kampf* dealing with the elements of political propaganda, Hitler gave all the recipes on which his sensational success was ultimately based. Wrote Hitler: "The German has not the faintest idea of how a nation must be swindled if one wants to have masses of supporters." The most popular weapons in the armory of emotionalism were attacks against Versailles, the "war-guilt lie," the "policy of fulfillment," and, most effective of all, rampant anti-Semitism, for which Germany was ever the most fertile field, focusing resentment on a scapegoat responsible for all evils of state, society, and the individual.

THE BID FOR POWER (1930–1933)

Hitler made various unsuccessful attempts to obtain control of the government by normal political means. In the election for the Reich Presidency (March 13–April 10, 1932) he failed to win, by a wide margin, against Hindenburg.[4] In the elections of July 31, 1932, the National Socialists became the strongest party of the Reichstag (230 out of 608 seats) and raised the claim, justified in parliamentary usage, to the Chancellorship and the formation of the Cabinet. Here began the long series of backstage intrigues, double-crossings, and cheatings which accompanied the last months of the Republic in agony. At long last, on January 30, 1933, under delirious outbreaks of the Nazified masses, the Reich President appointed Hitler to the Chancellorship at the head of a cabinet of "National Concentration," in which the National Socialists and the Nationalists were to share power. The Third Reich had begun.

THE CABINET OF NATIONAL CONCENTRATION

The Cabinet of "National Concentration" under Hitler as Reich Chancellor was appointed and constituted in conformity with the Constitution and the German variety of the parliamentary system. Of its eleven members, only three were National Socialists: namely, Hitler, as Reich Chancellor; Dr. Frick, as Minister of the Interior, and, last but not least, Captain Hermann Goering, as Minister without portfolio and as the man in control of the Prussian police. But these key positions assured them the totality of power from the start.

Once more in keeping with German parliamentarism, the Reich President

[4] First ballot	Hindenburg	18,651,000 votes	49.6%
	Hitler	11,339,000 "	30.1
Second ballot	Hindenburg	19,360,000 "	53.0
	Hitler	13,418,000 "	36.8

granted to this Cabinet without a majority in the Reichstag a dissolution in order to let the electorate decide on its tenure of office. The election campaign of 1933 was a startling and breath-taking affair, which nobody who lived through it will easily forget. From the outset, the opposition was arbitrarily curbed in the use of press, assembly, and radio, while organized violence of the National Socialist hooligans against the opposition was encouraged.

On the morning of February 27, 1933, the stunned nation was told that on the preceding evening the Communists and Socialists had fired the Reichstag building and that the vigilance of Goering and his Prussian police had uncovered a widespread Marxist conspiracy. On February 28, 1933, Hindenburg set his signature on an emergency ordinance "for the protection of people and state,"[5] which, under Article 48, suspended the seven fundamental liberties: freedom of person, of speech, of press, of assembly, of association, and of privacy of mails, and authorized confiscation of property without compensation and for undetermined purposes. This decree, the Magna Carta of the concentration camp, established in a nutshell dictatorial government, investing the Government with unlimited powers.

REICHSTAG ELECTIONS OF MARCH 5, 1933

The elections were held on March 5, 1933, without visible violations of electoral honesty. In spite of the exploitation of the Reichstag fire and terrorization of the opposition, the Government failed to obtain the hoped-for absolute majority. The National Socialists were, of course, by far the largest party, with 288 out of a total of 647 seats and 43.9 per cent of the total vote.[6] Only in conjunction with the Nationalists, who obtained 32 seats, did the Government have a slender margin above the absolute majority—namely, 340 out of 647 seats, or 51.9 per cent of the total vote.

On the following days all the German states (*Laender*) were "coordinated," by a routine procedure of staged demonstrations by the Nazified mob in the streets, by pressure and individual violence against the members of the Government and officials, leading to the establishment of a local dictatorship by a party official, usually the *Gauleiter* (District Leader). No resistance was offered. The degenerate bureaucracy of the Socialists gave in, no Socialist martyr

[5] RGB I, p. 83.

[6] The Nazis drew about one million votes from the Communists, who fell from 100 to 81 seats, they wiped out the "splinter" parties, and attracted at least four millions of the habitual non-voters, which explains the extraordinarily high voting participation of 88.7 per cent. The distribution of votes and seats is shown in the following tabulation of election results:

	Vote	*Percentage*	*Seats Obtained*
NSDAP	17,277,000	43.9	288
Nationalists	3,136,000	8.0	52
Center	4,424,000	11.2	74
Bavarian Catholics	1,076,000	2.7	18
Socialists	7,181,000	18.3	125 *
Communists	4,848,000	12.3	81
Others	1,401,000	3.6	9

* Including 5 Democrats.

died in open battle for the cause This ignominious surrender left the deepest impression on the masses

THE ENABLING ACT OF MARCH 24, 1933

During the weeks after their seizure of power, the National Socialists, following blueprints held in readiness, unleashed the first wave of violence and terror The agencies of public opinion were coordinated (*gleichgeschaltet*), law-enforcement authorities were brought under Nazi control by substituting reliable partisans for Republican officials The *Rechtsstaat* disappeared The people, staggered by the hurricane-like fury of events, submitted in apathy

The Enabling Act (*Ermachtigungsgesetz*) of March 24, 1933, styled an "Act for Relieving the Distress of Nation and Reich," [7] involved in more than one aspect an amendment to the Weimar Constitution formally still in force, the requirements of Article 76 had to be fulfilled In view of the parliamentary situation, the passage of the bill hinged on the support of the Catholic Center Party, they submitted The bill was carried by 441 to 94 votes of the Socialists [8] The vote was taken in an indescribable atmosphere of terrorization and coercion

The Enabling Act was the pivotal constitutional document of the regime At first declared in force until April 1, 1937, it was twice, on January 30, 1937, and on January 30, 1939, continued by the Reichstag,[9] and once more prolonged, this time merely by government decree, on May 10, 1943 The Enabling Act embodied the fundamental principle of dictatorship, namely, the abolition of the separation of legislative and executive powers in favor of a concentration of all powers in the hands of the Executive, the Government Moreover, exercise of all powers and functions by the Government alone was unlimited in time and without any constitutional limitations whatsoever The governmental machinery set up by the Act introduced a new type of legislation, supplementing and superseding the legislative powers of the Reichstag, the so-called government decrees (*Regierungsgesetz*), issued without further formalities or requirements by the Reich Government (Art 1) Moreover—and this was in fact the legal key which opened the door for the subsequent complete reconstruction of the constitutional system—"the statutes decreed by the Government may deviate from the Constitution with the reservation that they should not affect the institutions of the Reichstag and the Federal Council" (Art 2, sentence 1) In addition, it was explicitly stipulated that "the powers of the Reich President are to remain intact" (Art 2, sentence 2). None of these solemn guarantees were maintained, the Federal Council was abolished in February, 1934, and the office of Reich President, after the death of von Hindenburg (August 1, 1934), was fused with the office of the "Fuehrer" and Reich Chancellor on August 2, 1934

[7] RGB I, p 141

[8] The 81 Communists and a number (26) of Socialist deputies could not vote because they were either assassinated, imprisoned or in hiding

[9] RGB. I, p 105 (1937) and RGB I, p. 95 (1939)

MEASURES FOR THE PROTECTION OF THE REGIME

After the enactment of the Enabling Act, the fight against "enemies of the State," identified with enemies of the victorious party, could be taken up "legally" By a series of additions to criminal law, acts of actual resistance or of organizing or expressing political opposition were exposed to drastic punishment by Special Tribunals German nationals beyond the reach of physical violence of the Reich were deprived, by simple administrative act, of their nationality and their property if their activities were deemed harmful to the interests of the regime [10] Finally, a statute, delicately styled "for the safeguarding of the peace of law," [11] imposed the death penalty on those venturing attacks on State or party officials, and for anti-State propaganda even if committed abroad Simultaneously with these measures for spreading terror through the statute book, illegal arrests without trial, indefinite detention in police prisons, jails and concentration camps, and an elaborate system of organized violence became integral institutions for the protection of the regime

DISSOLUTION OF PARTIES AND THE ESTABLISHMENT OF THE ONE-PARTY STATE

Rapidly the old parties were "liquidated" The Communist Party was outlawed in March, 1933, the Socialists were eliminated in June The Center and the smaller bourgeois parties committed suicide by self-dissolution The same lot befell, in June, 1933, the National Party, the partner of the Nazis in the Government coalition After an interlude of only a few months, Hitler had reached "totality of power" The one-party State was finally established by the law "against the formation of political parties" [12] The reconstruction of dissolved, or formation of new, political parties and even attempts at such activities were treated as treason

COORDINATION (*GLEICHSCHALTUNG*) OF PUBLIC LIFE

The elimination of political opponents from the civil service and public life in general offered a more intricate problem Many of them, especially judges and higher administrative officials, could not be replaced at once An elaborate legislation, beginning with the famous law styled by a misnomer "on the restoration of the professional civil service," [13] served to eliminate "Non-Aryans"—as Jews were politely called at that time—from the civil service, including the liberal professions, the educational and State-controlled institutions, and to purge the civil service of undesirable members, Socialists, Liberals, or all persons defined in general terms as "politically unreliable" A very large number were dismissed, in many cases without pension, and the statute continued as a weapon against recalcitrants up to 1937, when its main provisions were included in the codification of the civil service on Nazi lines in

[10] Law of July 14, 1933 (RGB I, p 480)
[11] Of October 13, 1933 (RGB I, p 723)
[12] Law of July 14, 1933 (RGB I, p 479)
[13] Law of April 7, 1933 (RGB I, p 175)

the Public Official Act[14] On May 2, offices and property of the trade unions were seized and taken over by the huge Labor organization of the regime, the Labor Front under the leadership of Dr Ley By the same devices of pressure, intimidation, coercion, and outright violence, all other fields of public activity, such as press, stage, education, and cultural activities, were brought under Nazi control The totalitarian State emerged in its full glory, an ordering of society in which all expressions and activities of private life are subordinated to the tyranny of the State and the Party

THE "PURGE" OF JUNE 1934

The regime was headed for a showdown between the capitalist wing of the party and the "anti-capitalistic yearning" of the rank and file The economic program of the Government—amateurish and without definite orientation toward the promised new social stratification—had failed to improve the conditions of the masses The Left wing, embracing the "old fighters," organized in the SA under one of Hitler's oldest friends, Captain Roehm, and the dispossessed lower middle classes felt that Hitler and the party bosses had "betrayed" the revolution

The "purge" of June 30, 1934, together with the Reichstag fire of 1933, the pogroms of November, 1938, and the July 20, 1944, conspiracy,[15] belongs to the most spectacular events in the internal history of the Third Reich Under the pretext that a dangerous conspiracy for the overthrow of the Government was imminent, on June 30 and July 1, 1934, a massacre of high-ranking party officials and other enemies of the regime took place, which had no parallel in Europe outside Russia since the Paris Commune of 1871 and was the prelude of the unprecedented mass extermination to come That an actual plot against Hitler existed was never proved The revolutionary power of the SA was permanently broken Hitler and the army command had become close allies, from which sprang in due course his domination of the *Reichswehr,* prerequisite for the future gamble in foreign politics In his speech before the Reichstag on July 13, 1934, Hitler claimed that he had assumed the powers of the "Supreme Law Lord of the Nation" (*Oberster Gerichtsherr*), freed from all liberalistic concepts of justice, he had saved the State A Government decree was inscribed in the statute book declaring the acts committed "justified emergency measures " The conscience of the public inside Germany was so dulled that the massacre enhanced his prestige immensely

DEATH OF HINDENBURG AND THE FUSION OF REICH PRESIDENCY AND CHANCELLORSHIP

On August 1, 1934, at the age of 87, Hindenburg died on his estate in Neudeck, which grim popular humor described as "the one-man concentration camp in Germany " Hitler found the simplest and most logical solution for the succession The Government merged by the Act "on the Head of the

[14] Law of January 26, 1937 (RGB I, p 39)
[15] See *infra,* pp 454 *ff*

State of the German Reich,"[16] the office of the Reich President with that of the Reich Chancellor, all powers hitherto exercised by the President were conferred on the "Fuehrer" and Reich Chancellor The army, and subsequently all public officials, took the oath of allegiance to the person of Hitler instead of to an abstract document, such as the Constitution Hitler himself was henceforward the living Constitution. On August 19, 1934, the German people confirmed the succession by a plebiscite

With the fusion of Reich Chancellorship and Reich Presidency, the Third Reich was constitutionally perfected Despotism was "normalized" in terms of constitutional law

[16] Law of August 1, 1934 (RGB I, p 747)

CHAPTER XIII

THE GOVERNMENTAL STRUCTURE OF THE THIRD REICH

POSITION AND FUNCTION OF THE "FUEHRER"

The Weimar Constitution, though at least until 1938 occasionally referred to by the Supreme Court, was never formally repealed, but to all practical intents and purposes, with the advent to power of the Nazi regime, it ceased to exist In the first years thereafter plans for formulating the governmental system in terms of a constitutional instrument were occasionally hinted at, but they never materialized By its very nature, dictatorial government defies fixation within the framework of an instrument of government Even without a fundamental charter, it should be realized that the organization of the Third Reich possessed an all-encompassing and jointless system of constitutional law, if it is understood that what was called "law" was in substance and content mere legalized arbitrariness—legalized by the sole fact that the man whose will was supreme had at the moment the power to enforce his will

Presented in a nutshell, all powers of the State and the nation were concentrated in the hands of Adolf Hitler as the "Fuehrer" [1] from whom all powers radiated and in whom all powers converged The Third Reich resembled a pyramid balanced on its apex Hitler himself justified his being endowed with absolute and supreme powers by his "mission" for the German people, and the achievements before and during the War His followers, deeply impressed by the rise of an unknown soldier of the World War to heights of the master of Europe, attributed his successes to his supernatural gifts of leadership His book *Mein Kampf*—the Bible of the Third Reich and, to the end, the political blueprint translated into reality with unrelenting consistency—as well as all his utterances, reflected the unchallengeable, infallible, and apostolic authority of "the greatest German of all times." His authority can be evaluated only in terms of political theology It was German romanticism and mysticism, en-

[1] The term "*Fuehrer*," an imitation of the Italian "Duce," has idiomatically in German a rather trite, commonplace, and even slightly ludicrous connotation, it is of course alien to German constitutional tradition

cased in a superior psychological technique, executed by modern technology, and raised to the level of a political religion

National Socialist doctrine pretended to believe in the existence of a mystical energy emanating from the "Fuehrer" which fused State, movement, and people into one inseparable unit This ultimate and final source of power, called "Supreme Leadership Power" (*Fuehrergewalt*) was in fact the core of the political theory of the regime, constantly quoted and referred to, the closest approach to constitutional deification of a mortal being. It was, in short, secularized theology Under this theoretical conception—of fundamental importance in practical politics—there could be no room for the customary pluralism of State functions, elaborated as the separation of powers by Locke, Montesquieu, and modern constitutionalism

Moreover, the "Fuehrer" integrated the tripartite division in "people" (*Volk*), "movement" (*Bewegung*), and "State" (*Staat*)—one of the basic and recurrent slogans of the doctrine From this trinity were derived more concretely his powers as symbol and idol of the people, as leader of the National Socialist Party, and as holder of the highest offices of the State and the Government as Reich President and Reich Chancellor He exercised all powers attributed individually to each of these institutions Residues of the origin of his functions were visible in the technical arrangement for their discharge, for which he had three different bureaus or staffs, namely, the President's Chancellery, the Reich's Chancellery and finally the Chancellery of the Party, the Headquarters of the NSDAP

The "Fuehrer," together with his subordinates in the Cabinet, constituted a new political entity, called *Reichsleitung* It concentrated, in the hands of one group under Hitler, the sum-total of all executive, legislative, administrative, and, if need be, also judicial functions The powers of the "Fuehrer," therefore, were grouped along the following lines he exercised all powers which belonged formerly to the President of the Republic, including the Supreme Command of the armed forces, the power to dissolve the Reichstag, the power to appoint and dismiss the Reich Ministers and officials, the power to remodel government agencies and departments (called *Organisationshoheit*) Finally, the power to represent the Reich internationally was extended to the supreme conduct of foreign affairs and occupied from the outset the center of Hitler's personal activities

In the second place, the "Fuehrer" exercised the new powers derived from the organic acts of the regime itself, such as the appointment and dismissal of the governors of the *Laender* (Reich Regents) and the ministers and public officials serving in the *Laender* as Reich officials Together with his collaborators in the Cabinet, he issued Government decrees as the main type of legislation in the Third Reich, which could even contain new constitutional law He controlled, directed, and supervised the entire administration of Reich and *Laender*

Finally, the "Fuehrer" was endowed with those powers which sprang from the National Socialist mythology, in particular from the function of being the

leader of the National Socialist Party. Although the position of the Party in the State was regularized to a large extent by incorporating the Party into the State, a good many of these powers were derived from the mystical or theological implication that the "Fuehrer" was "the bearer of the legal will of the racial community." Since he was, in addition, "addressee of the duty of fealty" (*Treupflicht*), all "racial comrades" were under the moral and legal obligation to be loyal to him and his "mission" for the German people. Since the "Fuehrer" was given to his people by an inscrutable act of Providence, termination of his functions was possible only by voluntary resignation, death, or revolution. According to the Succession Act of August 1, 1934, he could appoint a Deputy-Leader. It was only after the invasion of Poland on September 1, 1939, that Hitler, about to leave for the "front" as the "First Soldier of the Reich," designated Hess and Goering, in this order, as his successors. Goering fell from grace in 1944 and was replaced (though without formal announcement) by Martin Bormann, Deputy Leader of the NSDAP. Hess removed himself by his flight to England (May, 1941). The appointment of Admiral Doenitz in Hitler's "last will" before his suicide (April 30, 1945) was without significance. The Third Reich stood and fell with Hitler.

As to the actual exercise of these absolute powers by Hitler, he was not at all interested in the routine functions of government or matters of civil administration. His capricious living habits rendered him incapable of desk work. His complete ignorance of, and disdain for, economics were largely responsible for the insufficient economic preparation and conduct of the war. Total mobilization was undertaken as late as 1944, when the efficient Goebbels was appointed Mobilization Commissioner. Hitler's main interest, besides hobbies such as architecture, movies, and music, was foreign policy, in accordance with his conviction of his "mission" to make Germany a world power, and military strategy and even tactics. The onslaught on Poland was as perfectly executed as the invasion of Scandinavia was militarily bold and original. He is reliably credited with the brilliantly successful campaigns for the conquest of the Lowlands and France (May–June, 1940) and the initially at least no less grandiose plans for the invasion of the Soviets. In the ultimate failure of the Russian phase of the war he had his share in the responsibility for the Stalingrad disaster.

HITLER AND THE GENERALS

Hitler gained power with the connivance of the *Wehrmacht* generals. Without them he could never have prepared, or embarked, on war. Following on the heels of the old Field Marshal's death, the army took the oath of loyalty to the person of Hitler himself, to whom the powers of the Reich President as Supreme Commander of the armed forces had devolved by the Succession Act. In 1935, by the Law "on the structure of the armed forces,"[2] the first open blow against Versailles, and by the subsequent Army Act,[3] Hitler made him-

[2] *Gesetz über den Aufbau der Wehrmacht*, of March 6, 1935 (RGB I, p. 375).
[3] *Wehrgesetz*, of May 21, 1935 (RGB I, p. 609).

self Supreme Commander of the Armed Forces (*Oberster Befehlshaber der Wehrmacht*)

To have bent the army command to his will and to have subjugated this most effective instrument of power was the most conspicuous and fatal achievement of Hitler, all the more striking since the army, pillar of German national tradition and unique expression of national corporate spirit, had tenaciously resisted full integration in, and absorption by, National Socialism until 1938 And yet the generals were won over to Hitler's bold strategy The army leaders had objected to the planned occupation of the demilitarized zone of the Rhineland in March, 1936 The change in the High Command prior to the invasion of Austria (February, 1938) was the prelude to the annexation of Austria (March, 1938), the dismemberment (September, 1938) and the annexation (March, 1939) of Czechoslovakia The real pay-off for the army came with the brilliantly executed *Blitzkrieg* campaigns against Poland (fall of 1939), Scandinavia (April, 1940) and France and the Lowlands (May–June, 1940) The Nazis had become the masters of Europe Whatever inhibitions the older crew of "respectable" soldiers may still have entertained were drowned out by the magnificence of the military victories By that time the galaxy of new Field Marshals had become as subservient to the regime as all the other agencies of the Third Reich Through Hitler's political, diplomatic, and finally military accomplishments the army had received more than its due in honors, influence, and social prestige

But it turned out to be a Pyrrhic victory Hitler, forever distrustful of the army elite of professional technicians, saw to it that Himmler's police organization, needed for the control at home and of the unruly subjugated countries, was steadily built up to a military force (*Waffen SS*) in competition with, and as a counterweight to, the regular armed forces When, after the turn of military fortune in the Russian campaign, Hitler arrogated to himself the conduct of the war on all fronts, a minority group of the generals began to plan rebellion After the landing of the Anglo-American forces in Normandy (June, 1944) it exploded in the by now famous conspiracy of July 20, 1944

The revolt of July, 1944, the second [1] plot with near-success on Hitler's life, has become one of the most controversial incidents of the internal history of the Third Reich, exploited—for understandable reasons—by Germany after the defeat as an allegedly convincing demonstration of large-scale resistance against the regime and supported, for less intelligible reasons, also by American sympathizers with German conservativism The mass of available evidence allows the definite conclusion that what actually happened was not a widespread resistance movement of the German people worthy of the name, but merely a belated eleventh-hour revolt of a relatively small clique of army officers, public officials, and conservative circles affiliated with them (Goerdeler, von Hassell, Popitz, and others) It had no mass basis and no significance for

[1] The first occurred on November 8, 1939, when one Elsler single-handed planted a time bomb in the pillar of the beer hall behind the rostrum where Hitler gave his traditional anniversary address to the "old fighters" Hitler, following a "premonition," suddenly broke off and left, the bomb exploded a few minutes later, wrecked the building, and killed many

the masses. If successful it hoped to establish an authoritarian government adorned with some pseudo-democratic trimmings, intended, if the Allies permitted, the rescue of the traditional ruling classes.

The plot, prepared as ineptly as it was cowardly executed, failed miserably even though the bomb aimed at Hitler in his Headquarters in Eastern Prussia was a near-miss. The conspiring generals in Berlin, on whom the actual seizure of power depended, were unwilling to break their oath to Hitler though they had not hesitated to break the one they had sworn to the Weimar Constitution. Himmler and his Secret Police had a field day. Several thousands of persons involved or allegedly involved were executed. It can safely be expected that the Hitler legend will draw heavily on this convenient material.

THE REICH CABINET

The members of the Cabinet were without exception the personal confidants of, and subordinated to, the "Fuehrer." They were responsible to him, and to him alone. Interdependence was reflected in the institution of the cosignature (*Mitzeichnung*), by which the individual Minister, in adding his signature to that of Hitler on a Government decree, assumed personal responsibility towards Hitler. The hierarchical order in the Third Reich was reminiscent of the monocratic organization of the government under the Bismarckian Constitution, revealing again the force of traditional trends. On the other hand, the Ministers, described by the National Socialist doctrine as "genuine subleaders," were independent within the fields of their assigned jurisdiction. They acted on their own responsibility, subject only to the ultimate responsibility towards the "Fuehrer." He appointed, dismissed, instructed, and directed them. Cabinet meetings, rare even in the initial years, were wholly abandoned after the outbreak of the war. The irregular private life of the "Fuehrer" did not permit them. Consultation between Hitler and his Ministers took mostly the form of audiences granted in Berlin or at his mountain retreat on the Obersalzberg. In the later years of the regime the functions of the Cabinet Ministers were largely curbed, superseded and duplicated by one or several of the multitudinous Party organizations or groups.

LEGISLATION

Legislation was in the Leadership-State the expression of the will of the Leader who monopolizes the will of the State. It took the form of decrees enacted by the Reich Government (*Regierungsgesetz*) according to the Enabling Act of March 24, 1933. Only the Reich Government legislated. The people did not participate in the process of legislation except when called on by the Government in the plebiscite procedure. The Cabinet drafted legislation by Government decree and submitted it to the "Fuehrer." His decision created the law. The customary distinction between ordinary legislation and constitutional amendment disappeared. By the Reconstruction Act, the second of the "organic" statutes of the new regime,[6] a new Reichstag, elected in No-

[6] *Gesetz über den Neuaufbau des Reichs*, of January 30, 1934 (RGB I, p 75)

vember, 1933, on the one-party ticket of the National Socialist Party, unanimously conferred upon the Cabinet the plenitude of the amending power without any limitations Henceforward the amending process became identical with the ordinary legislative procedure, both being exercised by simple Government decree

THE REICH CABINET IN OPERATION

In accordance with the specific needs of the regime and the transformation of the Reich into a unitary state,[6] several new Ministries were created, namely, for Propaganda and Public Enlightenment (1933), Air (1933), Church Affairs (1934), and Science and Education (1934) The Ministry of Economics and Agriculture was separated into two offices (1933) During the war there were sixteen Ministries [7] In addition, the Cabinet embraced Ministers without portfolio [8] Other high officials participated in deliberations of the Cabinet if their sphere of jurisdiction was involved [9]

A survey of the Government's personnel reveals the striking fact that in twelve years of power no more than about twenty-five men have held office in sixteen regular departments The key positions were held at the end of the war by the same men who had obtained them at the beginning, a record equaled by no other contemporary state All members of the Reich Government were members of the Nazi Party, those originally not belonging to the Party having been appointed "honorary members " Only a few of the Ministers had previous training in government service or administration, [10] all others were men with tested party loyalty instead of expert qualifications for service

After unconditional surrender, Allied investigations and German reports established the fact that, with the progress of the war, the regime concealed behind its outwardly "monolithic" appearance an indescribable administrative chaos, resulting from the lack of definite jurisdiction, overlapping of functions,

[6] See *infra*, pp 459 *ff*

[7] (1) Interior (Frick), (2) Foreign Affairs (von Ribbentrop), (3) Air (Field Marshal Goering, he was at the same time Minister President of Prussia, in 1936 Commissioner for the Four-Year Plan, and, with the reorganization of the economic apparatus of Germany necessitated in December, 1939, also Supreme Director of War Economics), (4) Finance (von Schwerin-Krosigk), (5) Economics (Funk), (6) Propaganda and Public Enlightenment (Goebbels), (7) Justice (Guertner, later Thierack), (8) Nutrition and Agriculture (Darre), (9) Labor (Seldte), (10) Science and Education (Rust), (11) Church Affairs (Kerrl), (12) Post (Ohnesorge), (13) Communications (Dorpmueller), (14) Defense (General Keitel), (15) Arms and Munitions (Todt, later Speer, the latter Ministry was created in March 1940), (16) Eastern Territories (Rosenberg)

[8] Among these were (1) Hess, Deputy-Leader of the NSDAP, (2) Frank, as Commissioner of Justice for the reform of the legal system in the spirit of National Socialism, and appointed, in September, 1939, Governor-General of Poland, (3) Lammers, as head of the Bureau of the Reich Chancellery, (4) Meissner, as head of the Reich President's Office, (5) Schacht, who remained a titular member of the Reich Cabinet after his demotion from the Economics Ministry and the Presidency of the Reichsbank, finally (6) von Seyss-Inquart, later Commissioner in the Netherlands.

[9] The Leader of the SS and Commander of Police Himmler, after Hitler the most powerful man of the regime, the Reich Labor Leader Ley, controlling the Labor Front, the head of the Foreign Division (*Auslandsorganisation*) Bohle, and the Prussian Minister of Finance, the only Prussian office which until 1943 was not conducted in personal union with the corresponding Reich office

[10] Von Neurath, Frick, Lammers, Dorpmueller, von Schwerin-Krosigk, Schacht, Guertner, and the generals serving in the Defense Ministry

red tape; waste of money and energy, jealousy and intrigues between the departments, among themselves, and with the party organizations All were entangled in a ruthless competition for the favor of the master and in clandestine maneuvers carried on in the antechamber, said more to resemble an oriental court than organized government Yet there remains the extraordinary fact that the Third Reich, headed by a rank amateur and run largely by administrative dilettantes, not only did not collapse economically or administratively, but prepared for, waged, and almost won a global war, and that its haphazard structure broke down only under the hammer blows of the invading armies from the East and West and from the sky This phenomenon remains unexplained, though the stamina of the Third Reich may have been due in part to the fact that among Hitler's collaborators there were not a few of exceptional abilities as organizers and executives (Goering, Speer), efficient bureaucrats (Frick, Schwerin-Krosigk, Lammers) and a near-genius of diabolical inventiveness in his spell over the masses (Goebbels)

THE THIRD REICH AS AN "ENNOBLED" DEMOCRACY

According to National Socialist political "philosophy" the Third Reich was a democracy, and an "ennobled" democracy at that, styling itself as a *"volksgeführte Demokratie."* Everything for the people, nothing by the people, and nothing through the people Reconciliation of the democratic idea and the leadership principle was accomplished by a quaint perversion of the term "democracy" and its adjustment to the semantics of National Socialism In brief, the people—*Volk*—was something permanent, supernatural, a mystical entity, an "objective existence" faintly reminiscent of Rousseau's "general will " It cannot be seen, it can only be felt or believed Only the "Fuehrer," by virtue of his supernatural qualities and the intrinsic strength of his "mission," is qualified to express the real or "objective" will of the people The "Fuehrer" "incarnates" the nation. Hence Germany is a genuine democracy These harebrained deductions reveal once more National Socialism as a political religion, and the governmental system of the Third Reich as a secularized theology

ELECTIONS

Consequently, elections arranged by the regime served merely as manifestations of the homogeneity of the "Fuehrer's" and the people's political will Universal, equal, secret, and direct suffrage as of the Republic was nominally retained Voters were all Germans of the age of 20 or over, if they were of German or "of racially similar blood "[11] Political pressure of the party introduced compulsory voting Participation in the poll was exceedingly high, and came close to 100 per cent Consequently the number of deputies rose from 661 in November, 1933, to 813 in April, 1938 (the last election) Election statistics were of little value An affirmative vote in the higher brackets of 90 per cent was a foregone conclusion While, at least in 1933 and 1934, elec-

[11] Law of March 7, 1936 (RGB I, p 133)

tion results may not have been overly manipulated, they were sufficiently "doctored" by Dr Goebbels later to achieve that kind of unanimity which intimidation may have failed to accomplish

Since the dissolution of all other political parties, the NSDAP had the monopoly of running candidates The selection was left exclusively to the discretion of the National Party Manager The voter was presented with a ticket of the Party, headed by Adolf Hitler, and marked it "Yes," as told by party officials "assisting" him at the polling station

THE REICHSTAG

The Reichstag served merely as a sounding board and rubber stamp of the "Fuehrer" No discussion was demanded, expected, or permitted An assemblage of party appointees unanimously ratified, by acclamation, in military obedience to the command, the rare bills submitted by him Committees were abolished together with the Standing Orders The last meeting occurred in 1942 Legislative activity was even less than the number of meetings would indicate Only seven acts were passed by the Reichstag [12] The vast mass of other legislation were enacted by Government decree

In spite of its rubber-stamp character, the Reichstag was dissolved by Hitler and re-elected no less than four times between 1933 and 1938. Dissolutions and elections were considered acts of "political mobilization" and served the welcome purpose of self-glorification, emotional excitement, and propaganda stagecraft, which are the elixir of a "dynamic" regime

PLEBISCITES

In addition to elections, the Third Reich practiced also the method of the plebiscite (*Volksbefragung*) proper, as a signification of the "true," "unadulterated," and "ennobled" democracy Although the Plebiscite Act [13] prescribed that the plebiscite ought to precede the measure, the three plebiscites held merely confirmed measures the Government had taken before

The first plebiscite (November 12, 1933), in conjunction with an election for the Reichstag, was to endorse the policy of the Government leading to the withdrawal from the League of Nations The second plebiscite (August 19, 1934) involved the Succession Act and was the only popular vote on an issue of internal policies The third plebiscite was held on April 10, 1938, both in Austria and Germany, to ratify the preceding annexation of the *Ostmark* The percentage of favorable votes for the three plebiscites was, respectively 93 1 per cent, 84 2 per cent, and 99 57 per cent But even the docile Germans have become aware of the intrinsic value of a vote stripped of its democratic ingredients and offering merely the empty motions through which each voter was compelled to go

[12] Enabling Act of 1933, Continuation Acts of 1937 and 1939, Reconstruction Act of January 30, 1934 (RGB I, p 75), and the three so-called Nuremberg Acts of September 16, 1935 (RGB I, pp 1146, 1147)

[13] Law of July 14, 1933 (RGB I, p 497)

SUPPORT OF THE REGIME BY THE PEOPLE

The problem in how far the people supported the regime—much discussed before and during the war—is of more than posthumous academic interest because, in its individual application, it conditioned the vast procedure known later on as "denazification."[14] It may also cast some light on the question in how far the population in present-day Eastern Germany, whose processes of propaganda and voting techniques resemble the Nazi experience like identical twins, adheres to the Communist regime. On the basis of our post-surrender knowledge of the Nazi terror regime it may be granted that, against the vigilance of the Secret Police, nothing amounting to organized disobedience or outright resistance was possible except with the backing of the *Wehrmacht*. For those who prefer a formula it may be said that perhaps 30 to 40 per cent were sold on the regime—the jobholders, the beneficiaries, the profiteers, and the genuine enthusiasts, the latter particularly and increasingly among the youth. When Hitler, after the victories over the West, was at the height of his triumphs and the war seemed as good as won this percentage cannot but have increased to the point where the vast majority endorsed the regime. Perhaps another 10 to 15 per cent were implacably opposed throughout. This section increased rapidly with the paling of Hitler's star and the impending loss of the war. But to a measurable extent opposition was counterbalanced by the feeling of patriotic solidarity in a nation at war. Aside from these two categories of positive and negative activists, the mass of the people, as everywhere, allowed themselves to be carried along by events. They are the masses that shout "Hosannah!" today and "Crucify him" tomorrow. Consequently, when unconditional surrender came, if one were to believe the Germans, not a single Nazi was left, only a small minority had ever existed, and even those who had been Nazis had been coerced.

REICH AND *LAENDER*: GERMANY'S TRANSFORMATION INTO A UNITARY STATE

THE END OF GERMAN FEDERALISM

Next to the substitution of the totalitarian single-party State for the multiple parliamentary State, perhaps the most conspicuous development under the Third Reich consisted in the transformation of the federal into the unitary and centralized State. Rigid centralization conformed to the necessities of dictatorship, which is bound to dominate the territory without intermediary institutions. The First Act "for coordinating the *Laender* and the Reich" (March, 1933)[15] was aimed mainly at breaking down the existing political differences within the various *Laender*. The political structure of the *Laender* was assimilated to that of the Reich. Most of the *Laender* passed appropriate Enabling Acts, handing over complete powers to the Nazified governments. New elec-

[14] See *infra*, pp. 517 *ff*.
[15] Law of March 31, 1933 (RGB. I, p. 153).

tions for the *Laender* diets were no longer permitted The Second Act "for coordinating the *Laender* and the Reich" (April, 1933) [16] brought the innovation of the Reich Regent (*Reichsstatthalter*), or State Governor, to be appointed by the Reich President, on the advice of the Reich Chancellor On the whole, he functioned as a sort of state governor appointed by the Reich The Reich Regents, as subordinates of the "Fuehrer," represented the interests of the Reich, not of the *Laender*, and were to guarantee political unity within the *Land* and political conformity with the Reich

RECONSTRUCTION ACT OF 1934

In spite of these changes, the dualism between Reich and *Laender* failed to disappear Regional spirit persisted Some of the *Laender* preserved to a considerable degree their political identity Thus the complete elimination of the *Laender* became inevitable, lest the traditional federalism should transcend the framework of the single-party State This step was taken in the Reconstruction Act of 1934,[17] the second "organic" act of the Third Reich The sovereign powers of the states were transferred to the Reich, while the governments of the states were reduced to mere agencies of the Reich Government operating on the territory of the *Land* As a result the *Laender* became only territorial subdivisions of the Reich, and the Reich, to all intents and purposes, a unitary state The Reich Regents were subordinated to the Minister of the Interior, the governments were converted into bureaus of the Reich, the officials of the *Laender*, including the members of the *Laender* governments, into officials of the Reich In consonance with these structural changes, the customary institution of federalism, the Federal Council, became obsolete and was formally abolished [18]

POSITION OF THE REICH REGENTS

The final solution brought the Reich Regents Act of 1935, the third of the "organic" statutes of the Third Reich [19] It eliminated the last remnants of separate statehood of the *Laender* The Regent, heretofore subordinated to the Reich Minister of the Interior, was integrated fully as a normal agency into the Reich administration, and was bound to accept instructions from the various Reich Ministers acting within the jurisdiction of their individual departments. On the whole, this move was equivalent to a degradation of the Regent Appointed and dismissed by the "Fuehrer," he was no longer an official of the *Land* for which he acted He represented Reich interests towards the *Land*, and not *vice versa* The Reich Regents functioned as intermediary agents between the central and the local administrations

Eleven *Laender* of the "old" Reich received a Regent, the division still re-

[16] Law of April 7, 1933 (RGB I, p 173)
[17] *Gesetz zum Neuaufbau des Reichs*, of January 30, 1934 (RGB I, p 75).
[18] Law of February 14, 1934 (RGB I, p 89)
[19] *Reichsstatthaltergesetz*, of January 30, 1935 (RGB I, p 65)

flected much of the dynastic structure of the former states [20] To these were later added seven Reich Regents acting in Austria and one in the Sudetenland

The position of the Reich Regents was hybrid and incongruous But the nominally exalted office of the Regent was created and maintained in order to gratify the ambitions of some of the "old fighters" whose loyalty towards the "Fuehrer" had to be rewarded by an especially fat piece of the spoils He was the real political boss of the district in most cases by combining his office with the position of the party official, the *Gauleiter* By the end of the regime the office of the Regent as such had become meaningless

THE POSITION OF THE LAENDER

For all administrative purposes, what once was Bavaria, Saxony, or Hamburg figured as only one of the territorial subdivisions of the unitary Reich, all of which were equally subjected to the pressure of the one-party State and its strictly centralized administration Since progressively more functions were transferred to the Reich and the Party, the administrative autonomy of the *Laender* together with their political independence was more and more "hollowed out " Gradually the political institutions of the *Laender* were thrown on the dust heap First to disappear permanently were the *Laender* diets Their powers were usurped by the *Laender* governments As final solution the Reconstruction Act of 1934 transferred also, as a consequence of the disappearance of the legislative powers of the *Laender*, the *Laender* governments into agencies of the Reich, exercising merely powers redelegated by the Reich *Land* legislation became actually Reich legislation confined to the territory of the *Land*, authorized by the Reich and restricted to purely local affairs In conformity with the supression of the *Laender* as separate political units, uniform Reich legislation spread rapidly over all fields This process, perhaps the most beneficial of all reforms undertaken by the regime and largely undone by the Occupation Powers after 1945, was called *Verreichlichung* Only a few of the more important fields of centralization are mentioned here civil service, trade and crafts, press, administration of justice, taxation, traffic and communications, local government, police,[21] and even most of the cultural activities Moreover, all public officials of the *Laender*, appointed and dismissed by the Reich, were Reich officials

GOVERNMENTS OF THE LAENDER

Yet it is misleading to assume that Germany became a wholly homogeneous and unitarian country like France or Italy (before 1947) Curiously enough,

[20] The "Fuehrer" established Regencies for the following *Laender* (The city in brackets is the capital) Bavaria (Munich), Saxony (Dresden), Wuerttemberg (Stuttgart), Baden (Karlsruhe), Hessen (Darmstadt), Hamburg (Hamburg), Thuringia (Weimar), Oldenburg and Bremen (Oldenburg), Brunswick and Anhalt (Dessau), Lippe and Schaumburg-Lippe (Detmold), and Mecklenburg (Schwerin)

[21] This important domain was centralized by Edict of the "Fuehrer" of June 17, 1936 (RGB I, p 487) Himmler, Chief of the SS and the Gestapo (Secret Police) was head of the entire German police (*Reichssicherheitshauptamt*).

the former *Laender*, though denuded of power and stripped of functions, retained governments of their own (*Landesregierung*), though as organs of the Reich and not of the *Laender*. The "Fuehrer" and Reich Chancellor appointed, dismissed, and instructed them directly; but they were equally bound to accept instructions from the individual Reich Ministers and from the Regent, who might consider them as "his" Government. The main reason for this complicated, wasteful, and overlapping system was the latent fear of the regime that tribal or regional differences, nurtured by "statehood" reminiscences or religious diversities, would reassert themselves.

PRUSSIA

In a class by itself was Prussia. Prussia lost her identity as an individual state even more, if possible, than the other *Laender*. The "Fuehrer" and Reich Chancellor held nominally the office of Regent for Prussia, actually, by delegation, the functions were exercised by the Minister President of Prussia, Goering.[22] Responsible only to Hitler, and taking orders, if any, only from him, he occupied a singularly independent position. In order to avoid duplication in staff and administration, all formerly separate departments of Prussia, with the exception of the Finance Ministry, were in due course absorbed by the corresponding Reich ministries. Thus the Prussian Government became an integral part of the Reich Government, and *vice versa*, and Prussia a sort of jurisdictional province of the Reich. Before 1914 the Reich was controlled by Prussia, while under the regime Prussia was controlled by the Reich,[23] and both by the Nazis.

Furthermore, by increasing the administrative jurisdiction of the Party districts (*Gaue*) and by subdividing the Prussian provinces, the political-administrative unity and even identity of Prussia was completely destroyed, thus antedating by years the subsequent obliteration of Prussia as a state by a decision of the Occupation Powers (1946). On the whole, consciousness of "statehood" and manifestations of regional tribalism, in the past the cornerstones of German political history, were well kept under control and submerged by the tide of the one-party State. It was to be expected that once the pressure of the single-party machine was lifted, state individualities, statehood feelings, states' rights aspirations, would rebound with a vengeance.

REGIONAL PLANNING (REICHSREFORM)

To realize the plan of a regional regrouping of the Reich on geographical, or rather economic, lines (called in Germany *Reichsreform*), in the place of the existing pattern drawn by the accidents of dynastic history, was beyond the powers of even the Third Reich. Minor rectifications of the internal state lines, by exchanging territories among the *Laender* of Prussia, Hamburg, and Oldenburg, were accomplished in the so-called "Little *Reichsreform*" of 1937,

[22] Edict of the Fuehrer and Reich Chancellor, of April 23, 1933 (RGB I, p. 233).

[23] Prussia possessed, in addition, a number of peculiarities, such as the Provincial Governors and the Council of State—the latter a merely ornamental creation of Goering.

by which also the time-honored Free City of Luebeck was wiped from the map and its territory distributed among the neighboring *Laender*.[24] Yet, on the whole, the thorny problem of territorial realignment on economic or regional lines was shelved, perhaps because of underground resistance of local interests, insuperable even for the omnipotence of a totalitarian dictatorship, or perhaps because economic rationalization meant little to a nation bent on preparedness for war. During the war a significant territorial innovation manifested itself in the rise of the *Gau*, the territorial unit of the Party, as administrative district. For the purposes of total mobilization forty-two *Gaue* were created, with vastly increasing jurisdiction, cutting across the traditional boundaries of the *Laender*.

[24] Law of January 26, 1937 (RGB I, p. 91).

CHAPTER XIV

THE INSTRUMENTALITIES OF POWER

To Hitler who, in his *Mein Kampf,* has presented our age with a basic treatise on the relations of political power and mass psychology, and to his associates, it was an elementary truth that the success and stability of a political system depend less on actual governmental institutions than on the *exercise* of political power They devised instrumentalities of political control admirably adjusted to the psychological conditions of modern mass-society The power-generating processes were rooted in the fundamental elements of mass-society, that is, organization and psychological inducement resulting from persuasion, emotion, and coercion The Third Reich fittingly describing itself as the "state in motion" (*Bewegungsstaat*) stands out as the most accomplished machinery for mass control yet known in history

THE "FOLKISH DOGMA" AND THE RACIAL MYTH

THE NOTION OF THE PEOPLE (VOLK)

Foremost among the instruments of power was the ideological apparatus built around the concepts of the folkish community (*Volksgemeinschaft*) and the race (*Rasse*) The doctrine drew strength from two plainly mystical sources One was the notion of the "Fuehrer" as the incarnation of the mission of the German Nation, from which flow the supernatural powers for its fulfillment The second, closely related, was that the people (*Volk*) are the ultimate source of power and the highest absolute value

National Socialism introduced into the concept of the people pseudo-biological, pseudo-historical, and pseudo-metaphysical elements, contending that the nature of a nation or people is determined by the totality of its historical, political, and biological experience Membership in a people is destiny

THE NOTION OF RACE

The notion of *Volk* developed into mystical collectivism once it was enlarged by the implications of the race, or the "community of descent" (*Abstammungsgemeinschaft*) The ideology of the race or, more concretely, the

"community of blood and soil" (*Blut und Boden*), was the *leitmotiv* of the Third Reich from which all practical policies derived their ultimate justification. The myth of the race amounted, in brief, to the assertion that the pure race is the fountainhead of all creative values of life and history. Creative genius is less a quality of brains than of blood. Blood is a metaphysical as well as a merely biological notion, and hence is incapable of rationalization. Again: Race is destiny. The true German Nation is a community tied together indissolubly by bonds of blood. From these premises the National Socialist doctrine[1] evolved a classification of races according to their physical and mental criteria. Races are not only different in blood and soul, but also unequal in value. Among all races, the Aryans[2] alone count, and, among the latter, the Nordics are the most eminent branch. Only the "Aryan" race is creative of cultural values. Aryan and Nordic were the Greeks, the Romans, and finally the Germanic people. Their main spiritual criterion is honor. Creative capacity is innate and is transmitted by blood alone.

The main objective of a race consists in keeping itself free from contamination by alien or inferior blood. It is the supreme task of the State to free the pure race of the Nordics, by a forceful process of elimination, from infection with alien, inferior blood. However, only contamination by the Negro and Jewish races is alien and dangerous, all other admixtures are permissible. The supreme importance of the soil naturally followed. A pure race permeates with its spirit the soil on which it dwells and from which it springs.

It seems hardly necessary to refute the National Socialist race doctrine. Historically it was an outgrowth of crude romanticism. Philosophically it was similar to the class-myth of Marxism, the economic determinism of history, with which it had in common the fact that everything is explained in terms of one denominator. Through its oversimplification, the racial myth had an irresistible psychological appeal to the masses. It was within the grasp of the lowest intellect. It helped to release the subconscious inferiority complex created in the masses by the defeat of 1918. Mr. Everyman discovered that, although economically poor, he was racially pure. The "Aryan" was lifted above at least one section of the people, and the most envied at that—the Jews—as well as over the neighboring "races" whose land he coveted.

PRACTICAL CONSEQUENCES OF THE RACIAL MYTH

(a) ***In Foreign Policy.*** The practical consequences of the concepts of nation and race were the political postulate of uniting all peoples of German blood and race ("racial comrades") with the mother country. Under this sign

[1] The racial myth is not an original discovery of the National Socialists. It appears, in a more spiritual and transcendental manner, in Fichte, the German patriot-philosopher at the time of Napoleon, to reappear, after the exact science of biology in the nineteenth century had little use for it, in the popularized cultural anthropology of the Frenchman Count Gobineau, and of the naturalized German of English descent Houston Stewart Chamberlain, whose book, "The Foundations of the Nineteenth Century," Hitler swallowed hook, line, and sinker. The racial doctrine was fully expounded by its pontiff, Alfred Rosenberg, in his book (1925) "The Mythus of the Twentieth Century."

[2] The term "Aryan" was used before only as a term of linguistics.

the "homecoming" of the Saarlanders, the Austrians, Sudetenlanders, Memellanders, Danzigers, was accomplished The "call of the blood" furnished the convincing argument for German aggression

However, beginning with the rape of Czechoslovakia, the racial myth was replaced by a novel mythology, the need for "living space" (*Lebensraum*), which utilized skillfully popularized political geography (*Geopolitik*) for the purposes of power politics By virtue of its racial superiority, the German master race was entitled, by history and destiny, to rule supremely over the interior races of Central and Eastern Europe Next to the Jews caught in the trap of the Third Reich, the hapless Czechs and the Poles were the first to become the laboratory tests in political vivisection Thus the racial myth served the claims of expanding the living space into "Greater Germany" Living space, as the sequel to race and nation, characterized the second phase of Germany's bid for world power

(b) ***In Internal Policy.*** The basic assumption of the holiness of the national soil became the motivation for far-reaching and, on the whole, sound agricultural reforms, leading, through a vast and complex legislation, to the creation of middle-sized farms, permanently assigned to a racially and professionally qualified farmer's family.[3] Furthermore, the racial myth served for introducing important measures of eugenics and for the improvement of national health Despite the uncertainty of the underlying biological and anthropological theories, commendable measures to promote national hygiene were subsequently enacted[4] A vicious innovation, however, was a law preventing reproduction by persons afflicted with allegedly hereditary diseases[5] A health tribunal decided whether a person complained against was to be subjected to sterilization or, from 1935, to castration These measures could be taken against the will of the person affected Mental diseases, as well as physical defects and deformities, entailed sterilization The revolting harshness of the law and the excessive arbitrariness of the lower courts evoked much bitterness[6]

Finally, the folkish dogma and the racial myth were cause, pretext, and justification for the extermination of the Jews First deprived of their civic and professional rights (1933), thereafter (1935), by the infamous Nuremberg legislation,[7] of their honor and recognition as human beings, subsequently (1938) despoiled of their property and the opportunities to make a living, they were finally liquidated[8] in the gas chambers of the extermination factories

[3] *Erbhofgesetz* of September 29, 1933 (RGB I, p 685)

[4] *Erbgesundheitsgesetz* of October 18, 1935 (RGB I, p 1246)

[5] Law "for the prevention of hereditarily afflicted progeny," of July 14, 1933 (RGB I, p 529)

[6] About 200,000 persons were sterilized, about three million earmarked were saved by the later doctors' scarcity However, during the war the regime killed off the inmates of insane asylums and hospitals to save food, through medical personnel oblivious of the Hippocratic oath

[7] Act for the Protection of German Blood and German Honor, and Reich Citizen Act, both of September 15, 1935 (RGB1 I, pp 1146, 1147), followed by an endless stream of "executory ordinances"

[8] The "legal" basis for the "final solution" was a decree of July 1, 1943 (RGB I, p 372) which withdrew cases affecting Jews from the courts and assigned them for discretionary action to the *Gestapo*.

—German Jews as well as those dragged away from their homelands abroad which the Nazis had overrun Here the National Socialist program was fulfilled to the letter. About four million were destroyed in concentration camps, about two million killed elsewhere, though not without heroic resistance as in the ghetto of Warsaw (1943) Of some 650,000 Jews in Germany less than one-half could save themselves by emigration before 1939 After unconditional surrender only 11,000 had survived this unprecedented gonocide.

THE NATIONAL SOCIALIST PARTY

LEGAL FOUNDATION OF THE ONE-PARTY STATE

The legal bases for the establishment of the one-party State were the Ordinance of the Reich President of February 28, 1933, suspending civil rights, the Enabling Act, authorizing the Government to overrule the Constitution by simple Government decree, and the statute "concerning the formation of political parties" of July, 1933,[9] declaring the NSDAP the only political Party The legal capstone of the complete amalgamation of State and Party was the statute "on the unity of Party and State" of December, 1933 [10] By this enactment the threefold divisions of State, Party, and people were fused together into one indissoluble unit The NSDAP, the only permitted political organization as "the bearer of the State idea," became a state within the State The State machinery was delivered into the hands of the Party hierarchy The Party members were accorded many privileges exempting them from the common law On the other hand, they were assigned special duties, violations of which were punishable by special party courts legally recognized as judicial authorities of the State.[11]

ORGANIZATION OF THE NATIONAL SOCIALIST PARTY

(a) ***Structural Organization.*** In the set-up of the National Socialist Party, the so-called "structural groups" (*Gliederung*) are to be distinguished from the "affiliated associations" (*angeschlossene Verbaende*) The first class could be considered the core and center of the actual controlling machinery Among the "structural groups" proper—eight in all—were the SA (Storm Troopers), the SS (Elite Guards), mainly the huge police force of the regime, the National Socialist Motor and Flying Corps, the Hitler Youth, the National Socialist Students' Association, and the Women's Organization The "affiliated associations," nine in all, embraced the associations of public officials, physicians, lawyers, technicians, teachers, university teachers, and, most important of all in numbers and influence, the German Labor Front, successor of the trade unions But the truly totalitarian range of the NSDAP emerges from the number and importance of the so-called Party-supervised organizations and those groups which were formed for carrying out Party policies, without for-

[9] *Gesetz ueber die Neubildung politischer Parteien*, of July 14, 1933 (RGB I, p 479).
[10] *Gesetz ueber die Einheit von Partei und Staat*, of December 1, 1933 (RGB I, p 1016)
[11] Ordinance of the Fuehrer, of March 29, 1935 (RGB I, p 502).

mally being integrated into the NSDAP. Among the latter were the Chamber of Culture controlling the media of public opinion and mass communications and the vast array of more or less camouflaged organizations for infiltration abroad.

In addition, of course, the Party included the individual party members. Exact membership figures were never published, but the master files discovered after the collapse revealed that, all told, more than nine million people were enrolled in the Party proper as dues-paying members.

The individual Party member, if—as a rule—he had an occupation, was under the double control of the Party and of the Party-controlled professional group to which he belonged. One who was fortunate enough to stay out of the Party was subject to control of the Party officials who ran his professional organization.

The apex of the Party pyramid was the Central Directorate of the NSDAP (*Oberste Reichsleitung*). Its functions were twofold. On the one hand, it took charge of the actual management of Party affairs, such as treasury, membership discipline, racial indoctrination, propaganda. On the other, it constituted a Party cabinet as an authentic counterpart of the Reich Government, duplicating practically all ministries of the latter (for example, foreign affairs, administration of justice, education). This relatively small group of twenty or thirty men of the "inner circle," whose names were next to unknown outside Germany, actually ruled, under the Deputy Leader of the NSDAP, the nation. The Reich Cabinet proper merely executed the policies of the Party directorate to which only a few of the cabinet members ever belonged. The majority, and the most powerful among them, rarely held a State position.

The system became even more complex by the private staffs and departments some of the leaders maintained for themselves, employing a huge and constantly increasing army of jobholders and beneficiaries. These offices, sections, departments, institutions, groups, and organizations were interrelated with and subordinated to one another in the most mysterious ways, constantly shifting according to the game of power politics of the empire builders and favorites of the exalted ruler whose secret of power, perhaps, was the maintenance of crisscross controls and overlapping jurisdictions. One could as well try to describe an antheap as the NSDAP in operation. Yet the amazing fact was that this elaborate chaos worked and it is only fair to say that not a few among the scores of Party bosses were first-rate organizers with business ability and administrative talent.

(b) ***Territorial Organization.*** The territorial organization took its cue from the military cadres of the army. The "old" territory of the Reich was divided into (after 1942) forty-two Party districts (*Gaue*), increased by the newly established *Gaue* of Austria, of the Sudetenland, and of Bohemia and Moravia. Party organizations of German nationals existed, in more or less secrecy, in all foreign countries where the local authorities were lenient enough to tolerate them. On the highest level of the Party officials, who as a group formed a closely knit hierarchy of Party functionaries (*Amtswalter*), were

the Party district leaders (*Gauleiter*), second in influence and power only to the bigwigs at the center and, without exception, trusted Party bosses from the ranks of the "old fighters" On the next lower level followed the regional subdivisions of each *Gau*, called *Kreis*, corresponding to the county and headed by a regional Party leader (*Kreisleiter*) The *Kreis* again was subdivided into the local Party groups (*Ortsgruppe*), which existed in each city, town, village, and hamlet, again staffed by a host of paid Party professionals In the towns the local group was again split into numerous "cells" and "blocks" The official of the latter, the Blockwarden (*Blockwart*), became the most effective instrument of control, espionage, and denunciation through which the regime held the individual in its grip Only those familiar with the officiousness, rudeness, and corruption of European janitors can evaluate the totalitarian aspect of this official intrusion into private life

THE PARTY CONGRESS

In September the Party Congress (*Parteitag*) took place in Nuremberg, the last time in 1938 It served at the same time as a Party convention and an official State ceremony, used by Hitler for important announcements of internal and foreign policy Huge masses of frenzied participants and spectators —the latter performers no less than the others—created the proper setting for Hitler's pontifical revelations, imbued with a weird and pagan ritualism which few people were able to resist The stagecraft of the mammoth rallies, the fanaticism of the masses, the banners, marchers, shouters, the circus element and the melodrama woven into it, Hitler's personal performances—miracles of physical endurance—all contributed to the atmosphere of delirious and calculated mass-emotionalism, which may be likened to the religious hysteria of the fanatical Moslem crowds in the forbidden City of Mecca

"PHILOSOPHY" OF THE PARTY

According to National Socialist doctrine, the Party was an integration of the "trinity of State, movement, and people" into the "movement State" (*Bewegungsstaat*) In order to make these rather cryptic statements more palatable, the doctrine ascribed to the Party four separate though interrelated tasks (a) The movement educates the people and evokes in them the consciousness of being a political nation with a special mission for which duty and sacrifice are instilled into the masses (b) The movement conveys to and interprets for the people the proper "world outlook" (*Voelkische Weltanschauung*) (c) The movement devotes itself to the all-important task of selecting and training the future leaders, character being more essential for leadership than professional or bureaucratic knowledge (d) All three tasks culminate in the fourth and highest the movement incorporates the political will of the people

This romantic rigmarole beclouded the simple fact that the one-party system guaranteed the *status quo* of power to the Party elite which, by creating jobs, by arousing mass-emotionalism, and, last but not least, by spreading terror,

maintained and increased its hold over the people Moreover, the Party as such was sovereign and exempt from State control within its own sphere Party members, in particular "old fighters," were given preferential treatment in obtaining employment and lucrative positions The Party as a whole and all its officers and members were surrounded by an impregnable legislative armor of protection against attacks and even criticism The immense Party property, covering whole city quarters, was tax-exempt

PARTICIPATION OF THE PARTY IN STATE ACTIVITIES

While the Party did not brook interference within its spheres of action, it participated officially in various ways in the actual administration of the State An ingenious device for the legalization of the spoils system was that of making a Party official the incumbent of a State office This expedient of "personal union" allowed the penetration of the State by National Socialist spirit and prevented the professional bureaucracy from entrenching itself in the civil service against Party influence The leading Party boss of the district (*Gauleiter*) was regularly also the leading political official in the government and administration of the *Laender* (Reich Regents, members of the *Laender* governments, Prussian Provincial Governors) Moreover, at the top, leading men of the Party hierarchy occupied key positions in the Reich Government Such cumulation of offices carried with it also the advantage of accumulated salaries This, and revenue drawn from universal and unashamed corruption, accounted for the luxury of the new ruling class and its female retinue, all of them a few years ago penniless white-collar workers, retired army officers, or unemployed intellectuals

Furthermore, the Party participated in the appointive power The Deputy-Leader of the Party had to pass on all appointments which Hitler had not reserved for himself [12] No leading official of Reich or *Land* could obtain appointment unless his loyalty was attested by the Party Similarly, the Party invaded the dominion of communal government Under the Municipal Government Act of 1935 [13] the mayor (*Buergermeister*) and the associates of the mayor (*Beigeordnete*) were appointed by the Reich Minister of the Interior or, respectively, according to the size of the municipality, by the government of the *Land* For special interests of the Party, the "Delegate Commissioner of the National Socialist Party" was appointed in each town by the Deputy-Leader of the Party Local government became as Party-infested as all other phases of public life.

The statute book, of course, does not reveal the extra-legal influence of the party officials on the conduct of civil administration The Party claimed and exercised the unwritten right to supervise and control the entire administration, and it even usurped administrative activities of the regular officials The whole fabric of routine administration with which the common man comes most in

[12] See Edict of the Fuehrer of September 24, 1935 (REG I, p 1203), and also Article 31 of the Public Officials Act, of January 26, 1937 (RGB I, p 39)

[13] *Deutsche Gemeindeordnung*, of January 30, 1935 (RGB I, p 49)

contact in his workaday life was visibly rotting under the mildew of nepotism and favoritism, through interference of the local Party bosses with orderly processes of administration

During the war, the Party had its full share in the looting and exploitation of the occupied countries When at long last in 1943 total mobilization of all resources was undertaken in earnest, it was the Party and not the military or civilian authorities which squeezed the last ounce of resistance against the enemy out of the exhausted people

However, the impression gained, during the war, from outside that the civil service, under the pressure of the one-party State, had become as atomized as other groups was not verified by the evidence obtained upon unconditional surrender. Vast as were the inroads of Party influence on administration, and subservient to the regime as had become the professional officials, the civil service was, on the whole, able to preserve its identity as a group, and many of its members their personal integrity After the collapse of 1945, therefore, it was only natural that both professional ability and class solidarity of the civil service reasserted themselves and, in due course, regained the influence and power they had possessed under the Empire and the Republic

HITLER YOUTH

National Socialism realized at an early date that he who holds the youth holds its future The Party itself was, from the outset, a movement of young enthusiasts The Hitler Youth was converted in 1936 into a State institution under Party control and management[14] as a "structural group" (*Gliederung*), headed by the "Reich Youth Leader" (Baldur von Schirach). Beginning at the age of six, boys and girls were conscripted into its various formations, where they remained up to the age of 18[15] During their tender and most impressionable years, boys and girls were under military training and were educated to a "Spartan life" They were drilled in the world outlook of the Party, taught adulation of the "Fuehrer" and the other Party heroes, and imbued with the racial myth and the tenets of German superiority and mission Few parents dared to balance Nazi teachings by a more liberal and less mechanical education at home

But this seemingly most subtle power instrument was blunted Long before the war the intellectual stultification and militarization of education began to produce negative results among the youth of all classes During the war the Hitler Youth lost importance After the war it was found that, on the whole, this infernal device of indoctrination had left few if any indelible traces on the mind of the younger generation In their attempts at instilling democratic habits into the Germans the Allies, therefore, would have been well-advised to concentrate on the younger generation from the start as was done by the French and the Soviets

[14] Law on the Hitler Youth, of December 1, 1936 (RGB I, p 993)

[15] The subdivisions were between 10 and 14 years, the "Young Folk" (*Jungvolk*) and the "Young Maidens" for boys and girls, respectively, from 14 to 18, the Hitler Youth, for boys, and the Bund of German Girls

NATIONAL SOCIALIST ADMINISTRATION OF JUSTICE

THE CONCEPT OF LAW

Administration of justice, to subject the German people to the regime, was another instrumentality of political power The "Fuehrer" was declared the supreme source of law, binding judges and courts. The law was the "order of the 'Fuehrer' " (*Fuehrerbefehl*), and the "order of the 'Fuehrer' " was the law. Law was no longer an impartial concept of justice, but must serve the "folkish ordering of life" (*voelkische Lebensordnung*) Judges and judicial officers were to serve the interests of the regime, or, in the words of one of its most wicked slogans "Law is what is useful to the German Nation " Concentration of powers in the hands of the "Fuehrer" and the Reich Government was incompatible with independence of justice When it happened that the courts, still entangled in "liberalistic" concepts of law, questioned the validity of governmental policies conflicting with the existing common law, the Government sternly repressed such residues of independence by withdrawing whole classes of cases from the ordinary courts [16]

THE SUBJUGATION OF THE BENCH

The legislative step for weeding out the "politically unreliable" members of the judicial profession was taken as early as April, 1933, by a Government decree, paradoxically styled "for the restoration of the professional service," [17] under which "officials who, in view of previous political activities, do not offer the guarantee of defending the national State without reservations, may be dismissed from service " Not only were many known Socialist, democratic, or liberal judges and public prosecutors retired in due course, but the threat of dismissal hung like the sword of Damocles over those remaining in active service [18] The vacancies were filled with partisans eager for promotion, and later with newcomers who had been subjected to National Socialist indoctrination It should be noted, however, that not only the Supreme Court (*Reichsgericht*) resisted, to some extent and for some time, complete Nazification, also a sizable number of non-Nazi judges in both the lower and the higher brackets succeeded in staying in office The Nazi comb was not fine enough to exclude all opponents of the regime from appointment, and the overwhelming majority of the respectable members of the bar neither joined nor professionally supported the regime It is also fair to point to what has been aptly called "the dual state " [19] in the administration of justice, that is,

[16] This occurred twice in vitally important matters first, when claims for "illegal acts committed in connection with the National Socialist revolution," were cut off (see law of December 13, 1934, RGB I, p 1235), a second time when the courts dared to side with the Protestant Church against the totalitarian State (see law of June 26, 1935, RGB I, p 774) Later, the courts had no longer the courage to resist

[17] *Gesetz zur Wiederherstellung des Berufsbeamtentums*, of April 7, 1933 (RGB I, p 175)

[18] Public Officials Act (*Deutsches Beamtengesetz*) of January 26, 1937 (RGB I, p 39, see Par 171), which, after expiration of the statute of April, 1933, took the precaution of continuing the provision for removing "unreliable" judges

[19] See Ernst Fraenkel, *The Dual State*, New York, 1941

that, as a rule, in the adjudication of civil cases without political implications, the average judge maintained the standards of objectivity and impartiality In the later stage of the war, however, the last residues of judicial nonconformity were stamped out by renewed purges, Hitler's assumption of supreme judicial powers (announced in his Reichstag address of April 22, 1942), and the advance instruction issued by the Minister of Justice (Thierack) to the presiding judges as to sentence and punishment to be meted out in all major criminal cases

CRIMINAL LAW

Criminal law, however, was completely perverted by Nazi techniques and interpretation Special courts (*Sondergericht*) were created to deal with attacks on the regime and treasonable activities The dreaded People's Court (*Volksgerichtshof*),[20] permanently established in 1936, was a revolutionary tribunal of the star chamber type Only two of the five judges were trained in the law, the majority of three were lay assessors appointed from among the Elite Guard and the Party hierarchy These courts succeeded in terrorizing public opinion by severity of punishments, secrecy of proceedings, and abrogation of the procedural rights of the accused Only the crimson-red posters eventually announced that the convicted had died under the axe of the executioner

While comparatively few inroads into the existing system of common civil law, except those motivated by the racial myth, were made by National Socialist ideology, criminal law was completely revolutionized The liberal concept of the reformatory nature of punishment was superseded by the principles of revenge on the part of the State and the determent of future criminal acts This applied to political crimes proper, the range of which had been enormously extended under the Third Reich,[21] as well as for common crimes In the fight against what was called "professional criminals" (*Gewohnheitsverbrecher*), custody in concentration camps as well as sterilization was resorted to "Preventive custody" (*Schutzhaft*), the term for commitment to a concentration camp, was formally legalized by a law of June, 1935,[22] which also introduced retroactive punishment without law (*nulla poena sine lege*) Punishment could be meted out for an act which the court deemed in conflict with the "healthy sentiment of the people," even if no statute authorizing the punishment had been violated Justice as an instrumentality of political power was thus degraded to a handmaiden of a political party

PROFESSIONAL HONOR COURTS

Finally, the so-called Honor Courts were created in connection with the new social stratification of Germany into professional associations or "estates" (*Staende*) These embraced Trade and Industry, Labor, Crafts, Agriculture,

[20] Law of April 24, 1934 (RGB I, p 369)

[21] Special mention should be made of the legislation for protecting the "purity of the race," designed to prevent sexual intercourse between Jews and "Jewish mixed offspring," and "Aryans," according to the Nuremberg laws of September 15, 1935 (RGB I, pp 1146, 1147)

[22] Law of June 28, 1935 (RGB I, p 839).

and Culture in general The exercise of a profession was considered a public trust For the sake of a closer control and supervision in the interests of the totalitarian State, all members of the same professional activity were organized by statute into professional associations or guilds, membership in which was mandatory for the exercise of the profession To each professional group or association an Honor Court was attached, which punished violations of the professional code by its members Most conspicuous among them were the Social Honor Courts, established in 1934 by the Labor Code, the fundamental statute for organizing capital and labor under the Labor Front and for regulating the relations between the plant owner ("leader of the enterprise") and his workers and employees ("followers") [23] Among other professional Honor Courts may be mentioned those for the press (editors, reporters, and journalists), physicians, attorneys-at-law, business men, artisans, and even huntsmen

THE END OF THE RULE OF LAW

The organization and administration of justice under the Third Reich may be summed up by the statement that it attained its political ends by completely destroying the rule of law and by abolishing the regularized due process of law Separation of powers, independence of judges, judicial control of administration, impartiality of the civil service, fundamental human rights, and even the certainty of a written constitution—all these elements of the rule of law were overruled by the monocratic omnipotence of the "Fuehrer" and the National Socialist Party

THE POLICE

LEGAL POSITION AND ORGANIZATION OF THE POLICE

The instrumentality for maintaining political power through coercion was the police, in particular the Political Police (*Geheime Staatspolizei,* commonly known as the Gestapo) The Gestapo, founded in April, 1933, by Goering, was made an independent department of the Prussian Government in November, 1933 [24] In April, 1934, all police forces of the Reich were centralized under Heinrich Himmler [25] Finally, the Political Police became an independent supreme Reich authority under the orders and instructions only of Himmler as *"Reichsleiter"* [26] who, during the war when Hitler was preoccupied with military matters, rose to be the most powerful figure of the regime and the undisputed master of its internal affairs The decree especially empowered the Gestapo to demand information from, and to give orders to, other agencies of the State Actions taken were beyond judicial or administrative control

The Secret Police as an organization is to be distinguished from the Elite Guard (SS) It is true that all higher officials of the Political Police were at

[23] Law "for ordering of national labor," of January 20, 1934 (RGB I, p 45)
[24] Prussian laws of April 26, 1933 (*Gesetzessammlung,* p 122) and of November 30, 1933 (*ibid*, p 413)
[25] When Himmler succeeded Goering, it was a move of Hitler to check the power of Goering
[26] Prussian decree of February 10, 1936 (*Gesetzessammlung,* p 21)

the same time officers of the Elite Guard But the SS, expanding beyond the tasks of the Political Police, grew into the official army of the regime strictly separated from, and in competition with, the *Reichswehr* The standards of racial purity were particularly rigid for admission Subjected to an intensified process of indoctrination and animated by unflinching loyalty to Hitler, the *Waffen SS* constituted the Praetorian Cohort of the regime, serving as bodyguard for the "Fuehrer" and party oligarchs and as an army in case of civil war In the later stages of the war the SS Corps were thrown in wherever military emergencies required it

On the other hand, the Elite Guard executed the orders and policies of the Political Police, and did in general the dirty work, such as running the concentration camps, policing the conquered territories, and keeping the masses of foreign slave labor at bay The guiding brain of the Political Police, however, was a bureaucracy with little resemblance to the terror it manipulated They and many members of the related authority of the SD (*Sicherheitsdienst*) were well educated and academically trained gentlemen with an expert knowledge in the specific fields of their activities Much of the best talent of the younger generation was attracted by such careers—admittedly an extremely capable group of administrators

ACTIVITIES OF THE POLITICAL POLICE

Empowered, by the law of February, 1936, "to uncover and combat all tendencies and developments inimical to the State, and to take for this end all measures deemed necessary and expedient," the Gestapo grew into a vast machinery, extending its cobweb over the entire nation, dealing with political, economic, and cultural matters as well as with objectives of penological character By 1940, it had reached the stage where it resembled more a government than an administrative agency

As an organization the Gestapo was highly bureaucratized No layer of the population and no section of the people or the party were immune from its interference, the army generals and the members of the Government not exempted The State was controlled by the Party, but the Party was controlled by the Gestapo The Political Police became Germany's innermost core of power

SCIENTIFIC TERROR

Intimidation by physical violence was the calculated technical device of mass control logically resulting from government by coercion, instead of by consent Since, at least prior to the war, the regime seemed to have inhibitions to wholesale liquidation of the masses of malcontents and suspects, systematized, cold-blooded, all-pervading terror was applied, geared to the experience that man of today, though ready to die, is deeply afraid of physical suffering Terror served for the defense of the regime, directed against supporters as well as against opponents, effective through arbitrariness in application, suddenness in performance, varied designs of vengeance, helplessness of the

victim, and inescapability of execution Surrounded by spies and informers, turncoats and stool pigeons, zealots and fanatics, the people lived in an atmosphere of vague though ever-present terror Physical violence was only the application, in individual cases, of the potential violence to which all were exposed. Scientific terror was as much psychological and preventive as physical and retributive

The concentration camp became a myth of horrible reality. Since the Mongol storm of the Middle Ages, no such orgy of legalized sadism has despoiled the human race While in the initial years the regime preferred mortification and humiliation by beating and torturing to killing (though torture frequently resulted in killing), flushed by victory it proceeded to apply the blueprint of its racial mythology against the "inferior" races—Jews, Gypsies, Poles, Slavs, and slaves in general The concentration camps graduated to the status of death factories, the prisoners of war camps became the mills of death. Of more than fifty concentration camps existing, the most notorious became Dachau, Belsen, Buchenwald, Ravensbrueck, Maidanek, and, that execrable name, Auschwitz It has been estimated that between 1933 and 1945 about 7 8 million people—Germans and men and women from all countries which the Nazis had befouled—went through the inferno All told, not more than 600,000 survived. Of those killed only an infinitely small fraction had committed a crime by the standards of civilized justice, all the others died because of their race, religion, political conviction, or because of the private whim of a man in power in a lawless society.

CHAPTER XV

THE FALL OF THE THIRD REICH

GERMANY AND WORLD WAR II

Almost from its inception the Third Reich had strained every muscle on preparedness for the coming war One by one the alternatives to war, offered with more than generosity by the policy of appeasement, were discarded by Hitler Following the program he had announced in *Mein Kampf,* he was resolved with unswerving singleness of purpose to obtain a redistribution of the riches of the world in which the lion's share would fall to Germany After having absorbed, by warlike pressure, Austria (March 12, 1938), the Sudetenland (September 30, 1939) and Bohemia and Moravia (March 15, 1939), and having regained Memel (March 22, 1939) Germany went to war with Britain and France over the reincorporation of Danzig and the destruction of Poland (September, 1939) In 1940 and 1941 Germany attacked, overran, and conquered Denmark and Norway (April, 1940), Luxembourg, Belgium, Holland, and France (May–June, 1940), Greece and Yugoslavia (April–May, 1941). The USSR with whom Hitler had concluded a nonaggression treaty (August 23, 1939) was invaded on June 22, 1941 After Pearl Harbor, Germany declared war on the United States (December, 1941) In due course she found herself at war with practically the entire world The fortunes of war turned with El Alamein (October, 1943) and Stalingrad (1943) Driven out from North Africa, contained in Italy (1943), and forced by the Red Army to retreat in Russia, Hitler was compressed, after the Normandy landing of the Allies (June, 1944) between the two gigantic pincers of the East and the West By the end of 1944 the Soviet and the Western armies had reached the German borders and began to invade Germany proper Escaping capture by the Soviet army closing in on his last refuge, Hitler on April 30, 1945, committed suicide in the underground bunker of the Reich Chancellery in Berlin

Like most dictatorships in history, Hitler's Third Reich did not fall by its own weight. Faithful to its intrinsic law it ended in war and defeat.

A NOTE ON HITLER

Hitler's personality and the achievements and failures of the Third Reich which he personified, will remain controversial for a long time to come. Although it may be premature for an unbiased appraisal, it seems safe to say that he was less of the God the German state mysticism made the German people believe, and a greater man than Allied war propaganda was willing to admit. Psychopathological traits were present from the beginning, at times to the point of outright insanity, but, at the same time, not being excluded and even conditioned by abnormalcy, there were genuine leadership qualities, and a particular gift, amounting occasionally to a sixth sense, of international manipulation by instinct, all the more surprising in view of his incomprehension of foreign peoples. To these must be added considerable talents in military science (whatever its merits), based on an exceptionally retentive memory, which the *ex post facto* criticism of the military professionals cannot minimize who seek in Hitler's "intervention" an alibi for their own ineptitude. But perhaps his greatest asset was the uncanny and utterly cynical insight into the psycho-emotional structure of modern mass society. His greatest deficiency, however, consisted in the inability to distinguish between personal obsessions or stereotypes and objective realities which induced him to underrate, as it is German habit, absolute values governing the life of the State no less than of the individual. Like all dictators his mental capacities deteriorated sharply with the length of his exercise of absolute power and the pressure of the war. Since he was wholly devoid of morality to support him in reverses of fortune and relied on "intuition" rather than on precepts of rationality, he was, like other psychopaths, unable to adjust himself to changing situations. If what makes the great statesman are vision and moderation, he was possessed by the former and lacked the latter. That the circumstances of his meteoric rise from the depth of the people to Napoleonic heights, his spectacular political, diplomatic, and military successes, together with the mystical fog shrouding his personal habits and his end, will result, in due course, in the emergence of a potent Hitler legend, few historians, conversant with the causation and the ingredients of political mythology, will doubt.

PART IV. *GERMANY SINCE 1945*

SECTION ONE. *INTRODUCTION*

1918 AND 1945

After her defeat in World War I Germany's international situation conformed to the traditional pattern. Armistice and demobilization were followed by the acceptance of a peace treaty negotiated among the victors and ratified, within less than nine months, by German governmental authorities legally constituted. Germany never lost the status of a sovereign state and remained a recognized member of the community of nations. Nor was her internal self-determination ever impaired. Adopting a form of government of their own choosing, the German people went through the traditional stages of establishing a democratic republic. Throughout they never ceased to possess their own government. In line with international law the victors refrained from interfering with, or even influencing, her internal affairs. German territory had not even been scratched by the war. Subsequently the financial obligations imposed by the peace treaty were discharged mainly by default, most of the territorial losses were recouped, and, by her resurgent economic power, Germany rose again to the rank of a great power.

After Germany's total defeat in World War II—the classical example of *debellatio*—her territory was occupied by the military forces of the victorious United States, the Soviet Union, the United Kingdom, and France. Considerable parts of her Eastern provinces were annexed, without the formality of a peace treaty, by Poland and the Soviets. As an organized state Germany had ceased to exist. No indigenous government on the central or state levels survived. The shadow government of Admiral Doenitz, established in Flensburg (Schleswig-Holstein) as successor or caretaker cabinet under the terms of what purported to be Hitler's last will, having served its purpose of issuing credentials of the military representatives for the acts of unconditional surrender, was arrested (May 23, 1945) by British Military Police. Most major cities had been shattered into heaps of rubble and agglomerations of empty brick shells. Millions of Displaced Persons, transferred to Germany during the war as prisoners or slave labor, roamed the countryside in search of food and tramped the roads towards their own country. Millions of Germans, evacuated from their bombed-out cities or shifted to war factories, tried to regain

their homes. The normal administrative services were obliterated by the devastations of total war Factories had stopped work Only the farmers in the villages untouched by war went after their seasonal chores The leaderless mass of the German people accepted defeat and occupation with an apathy bordering on stupor Never in the history of man had a nation great and powerful only yesterday, been plunged into so total a moral, economic, and political chaos

Six years after the cessation of hostilities, no peace treaty has been concluded Germany is still occupied by the foreign powers The former Reich is divided into four zones—American, British, French, Soviet—of occupation, and broken politically into two parts, each with its own government hostile to the other After the collapse the four powers tried to rule all of Germany by a four-power condominium When it failed, the United States, Britain, and France, combining their zones, continued to control the Western German State and the Soviets the Eastern State The foreign powers did not only interfere with the internal affairs of the government-less nation, but their intervention amounted to a complete political tutelage over Germany The fact that a nation of seventy million people was subjected to foreign rule to such an extent and for such an extended period, is likewise without parallel in modern history Yet within hardly more than five years, owing to her economic potentialities, her geographical situation, the unbroken vitality of her people, and, last but not least, by virtue of the key position she occupies in the conflict between the East and the West, commonly spoken of as the cold war, Germany today is well advanced on the way to becoming again the fulcrum in the power balance of the world

GERMAN POLITICAL RECONSTRUCTION AND THE INTERPLAY OF WORLD POLITICS

Of the five wars of aggression Germany had undertaken against her neighbors within seventy-five years, two within living memory had resulted in global conflagrations Germany's aggressiveness and her lust for aggrandizement were ascribed, not without convincing evidence, to the political habits of a people which prostrated itself before military might, and to a form of government under which the authority of the state was beyond the control of the people In the seemingly endless chain of German rebellions against a peaceful ordering of international society the last one, the Third Reich, appeared to be merely another of the most terrible manifestations of unbridled militarism and irresponsible power politics For the world at large, therefore, Germany's integration into a peaceful world seemed dependent on the conversion of the German mind to democratic processes and institutions and the evocation of the sense of political responsibility believed to be innate in every civilized people

Consequently, if Germany was denied, by the occupying powers, the right of internal self-determination, the departure from a basic principle of international law was justified by the fact that her political structure is of vital importance for the peace of the world The process of assimilating the German

mores to a democratic pattern of behavior became known in the Western world as "re-education" in the widest sense of moral, intellectual, social, and political reform. How to achieve these objectives by common policies the four powers could not agree. Each of them, therefore, attempted to recreate that part of Germany under its effective control in its own socio-political image. Instead of being, and remaining, united in the joint effort the West and the East at first used Germany as a laboratory of conflicting ideologies and finally tried to gain "their" Germans as allies against the other in the cold war. Rather than being dealt with on its intrinsic merits the German problem became the focal point of power politics between international Communism and the free world, with the inevitable consequence that Germany, having lost the war, is close to winning the peace.

By 1949 the tug-of-war for the soul and body of Germany resulted in the establishment and the coexistence of two entirely separated and mutually exclusive German states, the German Federal Republic (*Deutsche Bundesrepublik*) in the West, consisting of the three occupation zones under American, British, and French control, and the Soviet-controlled German Democratic Republic (*Deutsche Demokratische Republik*) in the Eastern zone. By the pressure and indoctrination of their foreign masters rather than by their own inclination the Germans themselves developed a split personality unable to agree on the fundamentals of a common future.

It is this bewildering interplay of international and national political forces which renders an unbiased evaluation of Germany's reconstruction since 1945 difficult, and which affects even the mere narrative of events. There is, of course, no lack of information which, in ever-increasing volume, flows from official reports, an unrelenting press and radio coverage, the stream of visitors and, more recently, from the Germans themselves who have regained their articulateness. But not only must the German issue be constantly projected against the background of the international power conflict, in addition, political reconstruction is conducted on different levels—Allied, interzonal, intrazonal, and regional—whose correlation and integration enhance the complexity of the task.

The following discussion will start out with the Allied Control Council, the four-power machinery of government and administration in operation from 1945 to 1948. The second avenue of approach will be the action of Military Government (MG) in each of the four zones and its interrelation with the indigenous German authorities created in each zone on the *Land* or zonal levels. Within this section the American experience with MG has a legitimate priority of the limited space available. Lastly, the discussion will proceed to the establishment of the two larger political entities of the Western and the Eastern German states.

SECTION TWO *THE INTERNATIONAL LEVEL*

CHAPTER XVI

INTERNATIONAL AGREEMENTS ON GERMANY

INTERNATIONAL AGREEMENTS PRIOR TO MILITARY DEFEAT

Upon the entry of the United States into the war President Roosevelt and his military advisors decided to concentrate the war effort on the defeat of Germany as the leading Axis power Correspondingly, the international agreements concluded prior to unconditional surrender assigned priority to the victory over Germany

Of the pre-War declarations the Atlantic Charter (August 14, 1941), that ideal blueprint for a better world—never engrossed on official parchment—referred to Germany only in passing The famous Article Three, proclaiming "the rights of all free people to choose the form of government under which they will live," subsequently by official interpretations was declared inapplicable to Germany insofar as she would not be permitted to return to a Nazi or militaristic governmental structure The Declaration of the United Nations (January 1, 1942) bound the signatories not to conclude a separate armistice or peace with Germany or another common enemy However, a joint Allied policy concerning Germany was slow in the making The Moscow Conference of the three Foreign Ministers (USA, UK, and USSR) (October 30, November 1, 1943) announced no specific decisions on Germany except a forceful condemnation of German atrocities in conformity with the Allied Declaration on War Crimes (London, January 31, 1942) But it established the European Advisory Commission (with the seat in London), one of the silently most constructive tripartite agencies of the entire war period to which the further study and evolution of post-surrender policies devolved The division of defeated Germany into two, or, with separate British and American areas, three zones of occupation—with an additional inter-Allied area to serve as the seat of the Allied Control Commission in charge of common German policies—originated in the Big Three Conference in Tehran (November, 1943) and was subsequently fully elaborated by the European Advisory Commission But the Tehran communique failed to make specific references to German reconstruction. During 1944, though public opinion in America

and Britain became increasingly engrossed with both the creation of an international peace organization and the future of Germany after defeat, no common peace strategy could evolve among the Allies

With the final victory over Nazi Germany within reach, however, the Yalta Conference (February 3–11, 1945) announced concrete plans concerning "doomed Nazi Germany" Germany was to be occupied, in separate zones, by the three powers with an invitation tendered to France to join in a zone of her own The over-all Allied agency was to be the Central Control Commission, consisting of the four Supreme Commanders with headquarters in Berlin The broad contours of the post-surrender policies are clearly visible in the following statement

> It is our inflexible purpose to destroy German militarism and Nazism and to insure that Germany will never again be able to disturb the peace of the world

It was further emphasized·

> It is not our purpose to destroy the people of Germany, but only when Nazism and militarism have been extirpated will there be hope for a decent life for Germans and a place for them in the community of nations

Dismemberment of Germany was discussed and not ruled out

THE AMERICAN ATTITUDE TOWARDS GERMANY

Have the American government and public opinion favored a "harsh peace"? It has been argued that the demand for unconditional surrender [1]—inspired by Grant's demand on Lee and its acceptance under the shadow of the courthouse of Appomattox—hardened German resistance to the bitter end, with generous peace terms offered they would have laid down their arms without the costly invasion Though this can never be proved or disproved it seems unlikely that the gamblers then in control over a nation as gullible as it was disciplined and, to the very end, believing in the promised "miracle weapons," would have voluntarily delivered themselves into the hands of their enemies No large-scale internal revolution took place or could reasonably be expected Unconditional surrender of the "invincible" *Wehrmacht,* therefore, was probably the only way to open the path for rebuilding a peace-minded Germany

From the start American public opinion was utterly optimistic concerning ultimate victory Since the entry of the United States into the war, "What to do with Germany?" became the primary concern of many qualified experts and even more of the unqualified The market was flooded with fool-proof solutions, most of them of ephemeral value Many were inspired by genuine humanitarianism. Re-education and not revenge was the *leitmotiv* Proposals ranged from the assumption that the Germans, a mentally sick nation, require careful political therapy, to the postulate that a distinction be made between the "good German people" and "their wicked rulers" The conflicting ap-

[1] The term appeared for the first time officially at the Casablanca Conference of Roosevelt and Churchill (January 19, 1942).

proaches could not fail to have repercussions on the theory of the "collective guilt" of the Germans for the Nazi atrocities.

These widespread discussions served the good purpose of drawing attention to the fact that, differently from previous wars, military victory was not enough, that what would happen after the defeat was as important as defeat itself That Germany, since Bismarck had begun to create the Reich by blood and iron, had staged five wars of aggression, and that France had been invaded three times within three generations, was counterbalanced by the argument that the Germans, a gifted and resourceful nation, could be taught peaceful integration and eventually be cured of their seemingly congenital lust for aggrandizement That this goal could not be reached without deep intervention in German affairs was taken for granted But the American public received next to no guidance from its government which, for a long time, did not have a definite policy, let alone that international agreement on such a policy could be attained

The situation was highlighted by the so-called Morgenthau Plan submitted by the then Secretary of the Treasury to the Quebec Conference of Roosevelt and Churchill (September 11–16, 1944) Much distorted later as the apex of American vindictiveness, it pleaded the internationalization of the Ruhr, the formation of two separate states to the North and the South, and the conversion of an economic structure top-heavy with the production of capital goods to light and consumer goods industries commensurate with a greater emphasis on agriculture The concept of "pastoralizing" Germany, psychologically and economically unsound, never became official American policy. But it helped to focus attention on the importance of German heavy industry and the need of permanently reducing the war-making potential if a repeat performance of German aggression was to be forestalled In this sense it influenced the decisions concerning the prohibition of certain industries and limitations imposed on others in the early policy directives of the United States [2] which were to guide MG policies in the period after surrender Through these directives the concept of drastically limiting the German war-making potential was carried into the Potsdam Declaration of August, 1945, and the various "level of industry" plans resulting therefrom

INTERNATIONAL AGREEMENTS AFTER UNCONDITIONAL SURRENDER

Immediately after the unconditional surrender of the armed forces of Germany at Rheims (May 7) and in Berlin (May 8, 1945) the total occupation of the territory of Germany by the Allied armies was completed By July the withdrawal of the Anglo-American forces from the areas conquered east of the Elbe and from Thuringia was effectuated in conformity with the Allied Agreements in the European Advisory Commission and Yalta At the same

[2] Command Directive on Germany Prior to Defeat or Surrender, April 28, 1944, and the famous JCS 1067/3, the Directive to Commander-in-Chief of U S. Forces of Occupation regarding MG in Germany, April 28, 1945.

time the French zone of occupation, carved out from territory heretofore held by American forces, was transferred to the French (July 10, 1945). Before the end of July, Western military and civilian personnel had moved into Berlin.

Of the three Statements issued by the four Powers on June 5, 1945, the first, the "Declaration regarding the defeat of Germany and the assumption of supreme authority with regard to Germany," proclaimed that the governments of the UK, USA, USSR, and France, since "there is no German government capable of accepting responsibility for the maintenance of order, the administration of the country and the compliance with the requirements of the victorious powers," assumed, through their Commanders-in-Chief, supreme authority over Germany. Though annexation was explicitly ruled out, the Powers claimed the right of "determining the boundaries of Germany and of any part thereof and the status of Germany or any area at present being part of Germany." The remainder of the document dealt primarily with the requirements of military surrender and the disposal of the German armed forces and military installations.

By the second Statement of June 5, 1945, "on zones of occupation," Germany with her frontiers as of December 31, 1937 (that is, prior to the *Anschluss* of Austria) was divided into the four zones of occupation,[3] each under a Commander-in-Chief, and a fifth "zone," consisting of the area of Greater Berlin, subdivided into four districts (later, in distinction from the zones, styled sectors) with an interallied governing authority for which the Russian term *Kommandatura* became generally accepted.

The third document of the same day on "control machinery in Germany" dealt with the Control Council (CC), the four-power agency intended to exercise joint control over Germany as a whole. Consisting of the four Commanders-in-Chief its decisions were to be unanimous, the oblique if current formula to denote that each Power could veto proposals of the other three. This arrangement was to remain in force during an unspecified period following unconditional surrender. The CC was to "ensure appropriate uniformity of action among the Commanders-in-Chief in their respective zones of occupation and will reach agreed decisions on the chief questions affecting Germany as a whole."

[3] For details on these and other internal territorial changes, see *infra*, pp. 501 ff. The zone division had been decided on in Tehran and was elaborated by the European Advisory Commission. It has been asked why this method of occupation was chosen instead of a joint administration by all four powers over all of Germany. Considering the divergencies of administrative techniques and occupation aims of the East and the West and the difficulties arising in the two joint governing bodies, the CC and the Berlin *Kommandatura*, the decision seems fully justified.

CHAPTER XVII

THE POTSDAM DECLARATION

The last and most vital of all interallied agreements was concluded at the Potsdam meeting of the Big Three—Stalin, Truman, Churchill-Attlee,[1]—contained in the "Report on the Tripartite Conference of Potsdam" (August 2, 1945) Though lacking legal precision in places, the document is more detailed and more carefully drafted than previous international agreements. Subsequently it became, at least for some time, the "bible" of the Western Powers, and Soviet insistence on its terms at a time when the cold war between East and West had rendered it practically invalid, seems to indicate that the Russians likewise considered it workable.

While the Potsdam agreement contained a number of regulations of general importance,[2] its core (in Part III) are the detailed regulations concerning Germany during the period of Allied control, in execution of the Yalta Conference decisions Political principles are neatly separated from those referring to economics

POLITICAL PRINCIPLES

The political principles underlying the occupation policies were to be applied by the four Commanders-in-Chief jointly, organized as CC, for matters affecting Germany as a whole, "to ensure a uniform treatment of the German population throughout " As to content they can be summarized conveniently by the famous four "D's," to wit demilitarization (and disarmament), denazification, democratization; and decentralization (III A [3]–[6]) These occupation aims are substantially interrelated, since democratization is conditioned on the accomplishment of the other three postulates Understandably, denazification was given prominence, it implied the destruction of the Nazi Party and its affiliated and supervised organizations, dissolution of Nazi in-

[1] After the British general elections of July 15, 1945, Churchill's place at the conference table was taken by the leader of the victorious Labor Party, Clement Attlee

[2] Such as the establishment of the Council of Foreign Ministers (including China) on a permanent basis primarily "to continue the necessary preparatory work for the peace settlements," policy stipulations with regard to Austria, Poland, Rumania, Bulgaria, and Hungary and concerning the international organization

stitutions and prevention of their revival in whatever form Militarism and Nazism were used quasi-interchangeably Denazification, as the negative, and democratization as the positive, aspect of reform were to be applied, without being confined to them, to specifically named fields of public life, such as the judicial system and the laws, elimination of Nazi personnel from leading positions in public office and positions of responsibility in important private undertakings, and in education War criminals were to be brought to justice. Decentralization of the political structure and development of local responsibility seemingly were conceived as the keys of democratization proper While local self-government on democratic principles and in particular through elective councils on the regional, provincial, and *Land* levels were "to be restored as rapidly as consistent with military security," for the time being no central German government was to be established However, certain administratively essential agencies for finance, transport, communications, foreign trade, and industry were definitely envisaged

ECONOMIC PRINCIPLES

These were basically geared to the elimination of the German war potential Allied controls over economic life were to operate only to the extent necessary negatively, for the purposes of demilitarization and the destruction of the war-making potential, positively to assure a production level necessary for the maintenance of German living standards not exceeding the average of those in other European countries (excluding the United Kingdom, with presumably higher, and the Soviet Union, with presumably lower, living standards) During the period of occupation Germany was to be treated as a single economic unit [3] These basic occupation aims were believed attainable by decentralizing German economy through breaking up the cartels, syndicates, trusts, and other monopolistic arrangements considered instrumental to excessive concentration of economic power, another Potsdam key word revealing the American occupation philosophy In the reorganization of German economic life, primary emphasis was to be attached to the development of agriculture and other peaceful industries Due attention was also paid to the reparations issue agreed on in principle at Yalta, with the proviso that those exacted should not affect the minimum required to allow Germany to exist without external assistance All these provisions were essentially predicated on a country which for generations had existed in economic union and which could not be expected to be broken up in a number of self-supporting and self-contained economic units

[3] While the requirement of treating Germany as an economic whole may have been politically logical at the time, subsequently doubts arose as to whether this supposition was actually supported by economic facts A study of the United Nations Economic Commission for Europe (see *New York Times* of January 18, 1950) came to the conclusion that, while the Eastern zone and especially the Berlin industries, were inter-regionally dependent on Western Germany for production and markets, the Western zones before the war were linked closer to Europe than to the Eastern zone In retrospect it may have been politically advantageous rather to allow the economic control of each zone individually than to insist on the concept of treating "Germany as a whole"

GENERAL EVALUATION OF THE POTSDAM DECLARATION

The Potsdam agreement constituted a pragmatic effort to deal with a unique situation for which the traditional law of nations offered little guidance Within the context of this document, for the political ideals and economic policies of the three major powers—France, at that time under the leadership of General de Gaulle, was not a participant—common denominators were believed to have been found Certainly discrepancies were hidden in the semantics used, but there is no proof that an agreement was not honestly intended by all signatories. For the conciliation of subsequently emergent power politics no formula could have been devised in advance

Nonetheless, the basic fallacies of Potsdam lie, first, in the assumption that, by providing for the technical devices of democracy its moral values automatically would be created Secondly, the primarily American-inspired equation of political decentralization with political democracy proved tangibly erroneous Thirdly, the economic solutions attempted fell short of realities by a wide margin The aim of German self-sufficiency could never have been reached without foreign assistance, particularly considering the influx of the millions of ethnic Germans from Poland, Czechoslovakia, Hungary, and elsewhere into the truncated country that the very same Potsdam agreement legalized (XIII) Thus, politically and economically, the Potsdam agreement was beyond practical realization even if all participants had faithfully adhered to it That these intrinsic defects subsequently were caught in the maelstrom of the global power conflict between East and West was merely an aggravating factor in the ultimate failure To the Germans Potsdam was bound to become the Versailles of World War II

THE LEGAL STATUS OF GERMANY UNDER THE OCCUPATION

Several highly controversial problems connected with the Four-Power rule established under Potsdam require a brief review They are, first, whether Germany after May, 1945, has remained a state in the accepted sense of international and municipal law On the answer depend, for example, the continued validity of international treaties to which Germany is a partner, particularly in relation to neutral states, the vital issues of state succession (such as the liability for obligations undertaken before and after unconditional surrender) The second set of problems centers on the character of the jurisdiction exercised by the CC in matters affecting Germany as a whole and of the zonal commanders relative to their respective zones, more specifically whether it can be legally assumed that they are acting in the place of a non-existing central German government, or as international agencies, or as the representatives of their individual governments These issues are affinite though not identical with the third problem of how far the practice of the occupation conforms to the rights of "belligerent occupation" under the Hague Convention (1907) on the laws and customs of land warfare (Arts 42–56) By no stretch of legal imagination can the deep inroads into German internal life and organization

be squared with the letter and spirit of the Hague regulations which limit such intervention to objectives determined by the safety of the occupation forces and the maintenance of public order and security.

Without entering into a full discussion of these intricate and, for practical reasons, far-reaching controversies,[4] it must be borne in mind that, by virtue of the unique situation of Germany after unconditional surrender, a new departure in international law automatically and imperatively imposed itself. As much as the international law of war of the nineteenth and twentieth centuries had been incapable of dealing with the impact of technological war, the international law of peace is bound to lag behind the realities of peace after a total war.

(1) The Hague regulations on belligerent occupation are applicable to Germany after 1945 only to a limited extent. They fell by the wayside with the official assumption of supreme power in Germany by the Four Powers under Proclamation No. 1 of the CC (August 30, 1945).

(2) Germany has never ceased to be a state in the sense that the German people as a collective national entity have evidenced a desire to abandon their statehood. On the contrary, they considered the dismemberment of their state into disjointed political fragments temporary only, to be terminated in due course by the reconstitution of a full-fledged unified German state. Jurisprudence and legal practice outside Germany reached the identical conclusion that Germany has not lost the quality of a state.[5] Since Germany never ceased to exist as a state the chain of statehood identity was not broken by the Potsdam agreement and the regime established under it.

(3) Internationally, however, Germany lost, at least until the establishment of the Western and Eastern states in 1949,[6] her quality as an independent and sovereign state. She lacked the essential element of being under the jurisdiction of an independent government of her own, nor could she entertain independent relations with the other members of the international community. Since the four governments, by Statements of June 5, 1945, the Potsdam Agreement and the CC Proclamation No. 1 of August 30, 1945, had assumed jointly supreme authority, the CC, with regard to Germany, in "matters affecting Germany as a whole," and the Zone Commanders, acting as delegates of the CC for their respective zones, were in the place of the indigenous German central government with all attributes attendant on such a position. German sovereignty, confiscated by unconditional surrender *pro tempore*, sub-

[4] Students interested in these problems are referred to Hans Kelsen, "The International Legal Status of Germany to Be Established Immediately Upon Termination of the War," 38 (1944), in *American Journal of International Law*, 689, *id.* "The Legal Status of Germany According To the Declaration of Berlin, *ibid.* 39 (1945) 518, G. Sauser-Hall, "L'occupation de l'Allemagne par les puissances alliées," 3 (1946), *Schweizerisches Jahrbuch fur internationales Recht*, 24, and the articles in *Jahrbuch fur internationales und auslandisches offentliches Recht*, vol. 1 (1948), by Rudolf Laun, pp. 9 ff, F. A. Mann, *ibid.* pp. 27 ff, Eberhard Menzel, *ibid.* pp. 43 ff, W. Friedmann, "The Allied Military Government in Germany," London, 1947, pp. 63 ff. See also R. Y. Jennings, in *British Yearbook of International Law*, 1946, pp. 38 ff.

[5] See among others, *R. v. Bottrill, ex parte Kuechenmeister*, 1 (1946), All E.R. 635, Obergericht Zurich, decision of December 1, 1947 (*Deutsche Rechtszeitschrift*, 1 (1947) 31, Austrian Supreme Court, January 24, 1946 (*Juristische Blatter*, 68 (1946) 142.

[6] See *infra*, pp. 601 ff., 640 ff.

stored to the Germans in instalments commensurate with willingness, as judged alone by the occupying powers, to es democratically For the Western zones this process was d with the enactment of the Occupation Statute in 1949[7] CC and/or the Zone Commanders were the *de facto* and government, their enactments were German, not interna-

, the CC for Germany as a whole, joined under what in inter- nown as condominium, and the Zone Commanders in their acted as a German government and on behalf of the German sdiction is considered as a kind of fiduciary exercise of sover- *iderschaft*) which, as an institution of international law, is without precedent

CHAPTER XVIII

QUADRIPARTITE GOVERNMENT IN GERMANY 1945–1949: THE ALLIED CONTROL COUNCIL

ORGANIZATION

The Interallied Control Authority (or Control Council), residing in the repaired building of the former Prussian Court of Appeals (*Kammergericht*) in the American sector of Berlin, began its operation in August, 1945, notifying the German people by Proclamation No. 1 (August 30, 1945) that it had assumed supreme authority in matters affecting Germany as a whole. The CC consisted of the four Commanders-in-Chief.[1] As a rule they met three times monthly for high-level policy discussions and the signing of major enactments. Decisions required unanimity. In actual practice, however, legislative enactments reached the CC only if agreement had been reached in the Coordinating Committee on the next lower level. The quadripartite arrangement was repeated on all levels of the CC organization, with the difference, however, that disagreements among the four national "elements" on the functional levels did not necessarily prevent a matter from being submitted to the Coordinating Committee for final arbitration. The Coordinating Committee, likewise composed of ranking generals, actually was the heart, if not the brains, of the organism, effectively integrating proposals submitted to it rather haphazardly and without advance planning from the functional Directorates on the next lower rung in the hierarchical ladder.[2] The latter were quadripartite panels composed of the Directors of the functional Divisions of each national "element." They and their staffs (civilian and military) were the technical experts

[1] Of the leading personalities successively participating in the CC's work may be mentioned—USA: Generals Eisenhower, McNarney, Clay; UK: Field Marshal Montgomery, Sir Douglas Sholto, Sir Brian H. Robertson (the latter became temporarily British High Commissioner in 1949); France: Generals Koeltz, Poiret, and Koenig; USSR: Marshals Zhukov and Sokolowsky.

[2] These were, "subject to adjustment in the light of experience": Military, Air, Naval, Transport, Political, Economic, Finance, Reparations, Deliveries and Restitutions, Internal Affairs and Communications, Legal, Prisoners of War and Displaced Persons, Manpower. This divisional arrangement subsequently underwent some streamlining changes and was not altogether uniform in the corresponding internal organization of the four national "elements."

who did the actual work. Chairmanship on all levels rotated monthly The Coordinating Committee and the Directorates were "to advise the CC in carrying out the Council's decisions and to transmit them to the appropriate German organs, and to supervise and control day-to-day activities of the latter" (Statement of June 5, 1945), the latter function, however, being one which from the very start was assumed by the individual Zone Commanders

THE CONTROL COUNCIL IN ACTION

Generally speaking, the CC was intended to be, and to some extent actually was, the quadripartite substitute for the nonexisting central German government in matters requiring, in its judgment, uniform treatment of Germany as a whole The range of such functions was circumscribed by the enumeration of the political and economic principles of the Potsdam Declaration without, however, being guided by a definite catalogue of assignments This rather loose arrangement had the disadvantage that the flow of business depended largely on the initiative an individual national "element" took in bringing a matter up for quadripartite consideration. At no time did the CC operate with a planned and integrated legislative program Moreover, neither was the CC under an obligation to legislate on any field nor did it possess exclusive jurisdiction even on the fields enumerated by Potsdam Zonal authorities, unwilling to wait for CC regulations, thus could not be prevented from permanently occupying a field originally assigned to the CC From this overlapping of jurisdictions of the CC and the zones resulted inevitably the development of a legislative diversity in the four zones which literally beggared description and could not fail to lead ultimately to socio-political patterns that not only were wholly different in the Soviet and the Western zones, but equally so created vast divergencies among the latter The consequence was that the CC did not govern Germany in an administrative sense; from the start this function devolved to the Zone Commanders.

So much attention has been paid to the fact that the Allies were incapable of establishing even the limited central German authorities envisaged by Potsdam and so much has been made of their disagreements in the CC which ultimately led to its complete breakdown, that the impression was created of an organization constantly divided against itself and unable to take joint action for Germany as a whole The objective reviewer will register dissent The relative success of the CC is amply testified to by the wide compass of legislative activities undertaken by it on behalf of all Germany and the number of legislative enactments issued during the almost three years of its operations Three proclamations, four orders, sixty-one laws, and fifty-seven directives were placed on the statute-book The total effort cannot fail to command respect when allowance is made for the enormous and unprecedented difficulties confronting it. The legislative work of a quadripartite and tri-lingual body, with constantly shifting personnel and incessant high-level policy conflicts, was applied to a national environment alien to most officials of all four Powers In every single case political and economic opposites had to be harmonized in

advance which explains why in many instances CC legislation had to confine itself to general policy statements, the actualization of which had to be left to the individual zonal authorities Even though the Potsdam Declaration never was fully legislated into practice, without the CC Germany would have been thrown into irreparable chaos

The CC was relatively successful on the fields of demilitarization and disarmament in the widest sense, including both the actual destruction of military installations and an attempt at the elimination of the militaristic tradition from the German life Of considerable political importance here was the formal abolition of the state of Prussia (CC Law of February 28, 1947) Denazification likewise was a legislative target,[3] but could not succeed globally since it failed also zonally Major results were accomplished in the fields of the democratization of the administration of justice and at least a beginning was made with the elimination of Nazi-tainted laws and legislation, a task of truly formidable proportions considering the contamination of the entire legal system by Nazi ideologies and practices In the field of private law at least a uniform marriage statute was passed The CC must be credited also with a complete reform of the entire structure of taxation and finance, with the elaboration of uniform policies in the labor field including labor courts, wages, hours and labor-management relations, and the elimination of the Nazi legislation on agriculture Wholly disappointing were the quadripartite achievements in the cultural and political fields, clearly reflecting the increasing tensions between the East and the West It cannot be denied, however, that once the Soviets had realized they could not use the CC for gaining influence in Germany as a whole, they did not hesitate to interpret the wide frame of reference of the CC enactments to suit their own political needs and to embark on the actual Sovietization of their zone

THE COLLAPSE OF THE CONTROL COUNCIL

In 1948 the CC became the most conspicuous casualty of the East-West conflict It was found increasingly difficult to find common legislative denominators for the manifest divergencies of socio-political policies in the Western and Eastern zones even though the relations among the officials cooperating in the CC, in itself constituting a seminar in international semantics on an unparalleled scale, had evolved towards a sort of camaraderie not altogether uncommon among professional technicians of different nationalities After the breakdown of the Moscow Conference of the Foreign Ministers (April, 1947) many of the CC's operations were little more than waste motion and procrastination In consulting the political chronology it will be easily observed that the actual end of the CC coincided with the announcement of the economic merger of the three Western zones decided on at the London Conference (February, 1948), a move justified by the assumption that the Western efforts to establish the central economic agencies within the context of Potsdam had proved futile On the balmy spring day of March 20, 1948, Marshal Sokolowsky requested

[3] See Directives Nos 24 (January 12, 1946) and 38 (October 13, 1946)

from his Western colleagues an explanation of what he termed, not unjustly, the unilateral establishment of a unified Western economic state When he was denied it, on equally unimpeachable legal grounds, after reading a prepared statement, the Russians walked out[4] Credence is lent to the impression that the Western powers deliberately seized the opportunity for terminating the CC by the refusal of General Clay, in the chair after April 1, to convene the next scheduled meeting of the CC

The CC, conceived as a noble experiment in international government, is dead beyond resurrection, even though it is worthy of note that neither the Potsdam Declaration nor the Statement of June 5, 1945, on which the control machinery is based, was formally denounced by either party Seen retrospectively the failure of the CC confirms the historical experience of all other condominial arrangements Moreover, even under the assumption of a continued functioning, its operational usefulness necessarily would have decreased in proportion to the increasing volume of German self-determination and the establishment of indigenous German governmental authorities The disunity of the powers, and not alone the split between the Soviets and the West, could not fail to deprive the CC of much of its prestige almost from the start While trying, in a fashion, to conform to the CC legislation, the Germans looked more and more to their zonal masters for guidance At present the CC is merely an ungainly memorial to Allied incompetence It may be added here that the companion organization in Austria, the Allied CC, in spite of more than occasional difficulties, on the whole worked tolerably well It may well be asked whether, given a modicum of willingness of all participants and less concern for diplomatic logistics, the quadripartite organization in Germany could not have been made to work

[4] See on the incident, Delbert Clark, *Again the Goosestep*, Indianapolis, 1949, pp 284 ff That the Russians did hardly intend to make more than a gesture of disapproval, by then not unfamiliar, is evidenced by the fact that, acting as the chairman for the month, they called on the next day meetings of three subordinate committees which in turn were not attended by the Western delegates

CHAPTER XIX

QUADRIPARTITE ACTION ON WAR CRIMES

Another quadripartite action was the trial of the major Nazi leaders in Nuremberg At the Moscow Conference (October 30, 1943) the Allies, in the "Declaration on German Atrocities," resolved to punish those major war criminals "whose offenses have no particular geographical location" by a joint decision of the Governments of the Allies Remembering the failure of the Versailles Treaty to bring the German war criminals of World War I to justice, the London Agreement, concluded by the four major powers August 8, 1945, and subsequently adhered to by nineteen other Allied states, provided for an International Military Tribunal to try war crimes whose perpetration was not confined to a patricular area Its constitution, jurisdiction, and procedure were set forth in an annex later known as the Nuremberg Charter Each signatory was to make available to the Tribunal for investigation of charges and trial the major war criminals detained by it The Court was to be composed of one member and one alternate of each of the four major powers Its decisions required majority vote with at least three affirmative votes for conviction and sentence

While the procedure, a mixture of Anglo-Saxon and continental principles of criminal justice, did not contain much that was new, the establishment of jurisdiction constituted a revolutionary departure from the customary law of nations Punishable (Art 6 of the Charter) were persons who, in the interests of the European Axis states, whether as individuals or as members of organizations, had committed one of the following acts qualified as international crimes (a) crimes against peace, in particular by planning, preparing, and initiating a war of aggression or a war in violation of international agreements, (b) war crimes proper, referring to criminal acts in violation of the laws and customs of war, specifically mentioned were slave labor, ill-treatment of the population of an occupied territory, deportation, and wanton destruction not necessitated by military considerations, (c) crimes against humanity, including inhuman acts against civilians and persecution on racial, religious, or political grounds regardless of whether or not in violation of the domestic law where

perpetrated The same article, not happily phrased, added actually as a fourth crime the conspiracy to commit one of the preceding acts, a concept clearly influenced by Anglo-Saxon legal thinking[5] To obviate certain objections of legal theory and practice the Charter further stipulated that neither the official position of the indicted, whether as head of state or in a governmental position, nor the fact that the act had been committed on orders of a superior—the convenient escape from responsibility in military hierarchies—would free from punishment, though such defense might result in mitigating circumstances Another novelty consisted in the criminal responsibility of certain specified groups or organizations as a whole.

On October 18, 1945, the quadripartite group of chief prosecutors lodged the indictment against twenty-four major Nazi criminals, including political chieftains, military men, diplomats, and economic leaders As criminal organizations were indicted primarily the Reich Cabinet, General Staff, NSDAP Leadership Corps, SD (Security Service of the Party), SS, SA, and Gestapo The trial was conducted from November 20, 1945, to August 31, 1946, in the Palace of Justice (court building) of Nuremberg, notorious seat of the Nazi party rallies and one of the most rabidly nazified cities of the Reich The most prominent among the prosecution staff was Justice Robert Jackson, whose introductory address is credited with having laid the foundations of a new international law By all equitable standards, the accused, defended by German counsel of their own choosing (mostly anti-Nazi lawyers) and with unimpaired rights of submitting evidence on equal footing with the prosecution, received a fair trial[6]

Judgment was delivered on September 30 and October 1, 1946 One of the indicted (Gustav Krupp von Bohlen und Halbach) could not be tried for reasons of health, another (Ley) had committed suicide during the trial, one (Bormann) was tried *in absentia* Of the nine sentenced to death by hanging one (Goering) took his life on the night of the execution, the eight others (the generals Keitel and Jodl, Ribbentrop, Rosenberg, Frick, Frank, Kaltenbrunner, Streicher, and Seyss-Inquart) were hanged (October 16, 1946) Seven were sentenced to imprisonment (Hess, Funk, and Admiral Raeder for life, Admiral Doenitz, von Neurath, von Schirach, and Speer to terms ranging from ten to twenty years) Three were acquitted on all counts (Schacht, von Papen, and Fritsche) Of the indicted organizations the SS, the Leadership Corps, the SD, and the Gestapo were convicted as criminal, the others (including the General Staff, the Reich Cabinet, and the SA) were acquitted The Soviet judge entered a violent dissent on the acquittals of the indicted persons and

[5] The Court subsequently admitted only conspiracy for aggressive war as an independent crime

[6] The tribunal held 403 open sessions and heard 33 witnesses presented by the prosecution, 61 for the defense, in addition to 19 introduced by the accused One hundred and forty-three additional witnesses made depositions One hundred and one witnesses in defense of the indicted organizations were heard by appointed commissioners, while 1,809 affidavits from others were submitted, not to mention the many thousands of other testimonies in their favor The Tribunal itself heard 22 witnesses in their defense.

organizations Those sentenced to prison were transferred to a jail in Spandau (in the British sector of Berlin) and are kept under quadripartite custodianship

The Nuremberg procedure, easily the most spectacular judicial action of our time, has been praised as a revolutionary innovation in the law of nations and no less assailed, in Germany as well as outside, as a flagrant breach of its formally established principles That the majority of the indicted morally deserved punishment was generally admitted, even though responsible German lawyers, claiming that the Tribunal was merely an instrument of the victorious powers instead of being truly international in character, would have preferred the participation of German judges, but since the Tribunal was clearly a military court Germans had no legitimate place on it The allegation that, before an Allied court, no fair judgment was obtainable, is easily disproved by the acquittal of three of the accused If, as was also claimed, the trial had been conducted by an exclusively German court, it may seem likely that at that time von Papen and Schacht would have been convicted,[7] but certainly no German court would have brought itself to convict generals of their sacrosanct *Wehrmacht*

The more serious objections raised by the defense may be summarized thus Only states and not individuals are subjects in international law, individuals, therefore, cannot be made responsible for international crimes The same argument was directed against a trial involving crimes against peace, certain incriminated acts were acts of state and, therefore, not to be impugned to individuals Crimes against humanity do not exist in the German criminal code nor are they recognized by international law; moreover, their content was too vague to constitute a basis for criminal prosecution The concept of conspiracy was declared alien to German law, and thus a violation of the principle *nullum crimen sine lege* (no punishment without definite legal norm proscribing an individual act in advance of its commitment) This was said also to vitiate the conviction of the incriminated organizations Primarily, however, it was alleged that war is still recognized as a legitimate institution of the law of nations and that the Briand-Kellogg Pact of 1928, to which Germany was a signatory, while outlawing war as an instrument of policy, had failed to establish the jurisdiction of a competent tribunal and sanctions, which could not be applied *ex post facto* without breach of the *nulla poena sine lege* principle Moreover, aggressive war was alleged to be a political and not a legal concept and not accessible to judicial determination

Not all these arguments can be brushed aside lightly Nonetheless, the trial and the convictions were well grounded in international law which progresses by practice and precedent as well as by legislation or custom Practice creates custom First, international law, in its present stage, is still largely unwritten, it

[7] Subsequently both were indicted under the German denazification law (see *infra*, p 522), but von Papen's sentence was rescinded on appeal, and Schacht, fleeing to the British zone, succeeded in obtaining an acquittal when tried again in 1950.

possesses the character of common law, and responsibility under it may well be established without codified norms Secondly, the judges made individuals responsible for actions of the abstract entity called state, thus contributing to the long overdue process of dismantling that obsolete concept of Byzantine origin, state sovereignty The Court, in rejecting the argument that the representatives of so-called sovereign states cannot be held responsible for the acts of the latter, stated correctly and realistically that criminal acts are committed by human beings and not by abstractions, and that therefore a state which conducts itself outside the realm of international law cannot claim immunity for persons who shelter themselves behind the contention that the state and not the person is liable The collateral argument that the indicted acted merely as representatives of the state under its orders was briefly rejected by the statement that under the law of nations orders to act criminally are not binding The crime of aggressive war had been outlawed by the Briand-Kellogg Pact, thus invalidating the alleged violation of the *nulla poena sine lege* principle, this was probably the least convincing of the Court's arguments Crimes against humanity are outlawed under the existing criminal codes even though no civilized mind could imagine the deliberate enormity of the crimes committed by the Nazis Concerning the conviction of the organizations the Court declined to subscribe to the principle of guilt by association and conceded to an individual member the rebuttal that he had not known of, or had not participated in, its criminal activities

For a long time the Nuremberg trial will remain controversial On the German people it made very little impression Contrary to the hope that it would serve as a corrective of their cynicism towards the atrocities committed by the regime, it succeeded only in relieving the individual from whatever qualms of collective conscience he may have shared. The average German was satisfied that justice, as the Allies understood it, had been done to the leaders and that he himself should no longer be exposed to moral impositions on his own conscience

In view of this attitude it is understandable that the Germans to whom CC Law No 10 (December 20, 1945) had given the legal device of dealing with their own war criminals by their own courts for violation of the principles of humanity, were utterly reluctant to avail themselves of this means of expiation. Relatively few trials were instituted and among them none for genocide Likewise the sentences were light [8] Not a single death sentence was handed down [9]

The vast majority of trials for the commitment of acts of inhumanity were conducted by Allied military tribunals, many of those under American juris-

[8] In some of the more sensational indictments for crimes against humanity, the accused were acquitted, for example, a military court judge who had sent hundreds of persons accused of "undermining resistance" to the firing squads, although some of his colleagues, showing greater leniency, had not been exposed to reprisals, another case was that of a judge of a *Sondergericht* who, in 1943, had sentenced a Jew to death for "race defilement" (*Rassenschande*), that is, intercourse with an "Aryan" woman, although the death sentence was not mandatory under the law

[9] The death penalty was abolished by the Bonn Constitution No exception for war criminals was made

diction by American military courts in Nuremberg[10] Among those the more notorious were against generals (in the British zone alone), ministerial officials (10 persons formerly in the Ministry of Justice and 21 persons of the former Foreign Office), finally industrialists (of the IG Farben, Krupp, and Flick combines) None of them resulted in a death sentence In other trials of members of the SS, the medical staff of a concentration camp indulging in medical experiments in living persons with lethal results and other sadists of the concentration camps death sentences were given

The record completed by the end of 1949[11] reveals that in the United States and British zones, 776 trials were held and in the French zone about 10, while no figures about the Soviet zone are available In the United States zone, of 1,539 persons convicted, 444 were sentenced to death, but owing to commutations actually only about 250 persons were executed[12] Of 927 persons tried in the British zone, 665 were found guilty, the number of death sentences actually executed equals that in the American zone In the case of socially prominent men who could mobilize legal advice and sympathies abroad, appeals and remissions of punishment led to early release

The final chapter of the war crimes trials in the American zone was written when (January 31, 1951) United States High Commissioner John J McCloy, guided by the recommendations of a Board of Clemency that had been completed in the summer of 1950, reviewed the sentences of 88 criminals previously convicted by American military tribunals The action, officially described as an act of mercy though widely interpreted as a move of appeasement of German public opinion in connection with American efforts to stimulate German participation in Western defense, resulted in the commutation of all but five of the remaining death sentences to imprisonment, 36 out of 41 prison terms were reduced to lesser terms, the terms of 32 persons were reduced to time served and they were forthwith released The most notorious case of clemency was that of Alfred Krupp von Bohlen und Halbach, sentenced by the Nuremberg International Tribunal to twelve years' imprisonment and confiscation of his property, his term was unilaterally reduced to "time served" and the property confiscation rescinded, he immediately returned in triumph to his former position as head of the mammoth armament concern of Krupp, which had served faithfully the Empire, the Republic, and the Third Reich

Even this excessive leniency failed to satisfy German public opinion, which, aroused by rising nationalism, noisily demanded rescue from the gallows for the five criminals, although all had been convicted of unheard-of assembly line exterminations in concentration camps, or of the helpless popula-

[10] Special Military Tribunals sitting in Nuremberg tried ten cases with 185 persons indicted Of these, 35 were acquitted, 8, released from trial, 24, executed by hanging, 20, sentenced to life imprisonment, 87, sentenced to limited prison terms, 11, released with time served (as of April 14, 1949) See *Military Government Information Bulletin,* May 31, 1949, p 6

[11] See *New York Times* of December 25, 1949, section IV

[12] The most notorious remission of punishment was the commutation of the death sentence of Ilse Koch, the bestial sex pervert of the Buchenwald concentration camp In January, 1951, she was sentenced, by a German court, to life imprisonment Likewise none of the convicted murderers of American prisoners in the Battle of the Bulge (the Malmédy case) was put to death

tion in the East After further legal delays they were finally executed (June, 1951)

After the collapse no revolution occurred in Germany. The Germans seemingly are congenitally incapable of violent revolution Not a single Nazi had to atone with his life for his crimes through the "rightful wrath" of the German people themselves [13] The lives of fewer than one thousand criminals exacted by Allied courts may seem to weigh lightly in the scales against the death of all told more than sixteen million innocent people caused by the Nazi regime

[13] The only case reported (besides that of Ilse Koch mentioned before) in which a German court meted out retribution against a professional torturer was that of one Heinrich Baab whom a Frankfurt court, in March 1951, sentenced to life for the successful liquidation of the entire Jewish community in Frankfurt, see the gripping narrative of the trial in Kay Boyle, *The Smoking Mountain*, New York 1951, p 1 ff

CHAPTER XX

THE FOUR ZONES OF OCCUPATION AND INTRA-ZONAL TERRITORIAL SUBDIVISIONS

THE FOUR ZONES

A glance at the map will reveal that the territorial organization of post-surrender Germany, when compared with the quasi-unitary state of the Nazi period no less than with the federal structure of the Weimar Republic, has undergone substantial modifications The change of the external boundaries is conditioned by the defeat and collapse which led to the conquest by the Red Army of the eastern parts of Germany The northern half of Eastern Prussia (with the City of Koenigsberg—now Kaliningrad) was annexed by the USSR while the German territories east of a line running from the Baltic Sea along the Oder and Neisse rivers to the Czechoslovak frontier (including the southern half of Eastern Prussia and the area of the former Free City of Danzig) were placed (Potsdam Declaration IX [b]) "under the administration of Poland" In spite of the statement that the final determination of Poland's western boundaries would be left to the peace settlement, Poland (February, 1947) formally incorporated the area This act of annexation was not recognized by the Western powers and vehemently protested by the Western Germans, while the Government of the German Democratic Republic (Eastern Germany) formally accepted the existing boundary line as final (Treaty of Goerlitz, July 6, 1950) These Eastern territories, comprising about one-fourth of the total German area (as of 1937) included, next to the industrial area of Upper Silesia, some of the best agricultural land.[1]

[1] In 1939 the split-off region contained 13 7 per cent of the total population and 24 1 per cent of the total area of Germany It included one-fourth (25 1 per cent) of the total agriculturally used land and about 29 per cent of the total land planted for fodder, fodder grains, rye, potatoes, and sugar Management was predominantly by large farms producing for the market However, the productive value of the area is generally exaggerated, the claim that the region actually was not only self-supporting but produced also food for between four and ten million people elsewhere is unsupported by fact Actually the greatest food producer of Germany was and is the British zone Return of the Eastern territories could not solve the German food problem, since in normal times at least fifteen million people were dependent on food imports Nonetheless, the restoration would measurably improve the food situation

Internally the large-scale map redrawing is due to the division of Germany into the four zones of occupation, with the area of Greater Berlin as a fifth zone, to the elimination of Prussia as a separate state entity; and, within each of the four zones, to a considerable amount of territorial regroupment Former provinces of Prussia were either raised to the status of a *Land* or incorporated by adjacent *Laender*

THE AMERICAN ZONE

The following survey presents the territorial situation in Western Germany as of September, 1950, omitting *interim* changes.

AREA AND POPULATION OF THE GERMAN FEDERAL REPUBLIC AND WESTERN BERLIN

(Excluding Displaced Persons in Camps)

	Capital	*Sq Miles*	*Population*
U S Zone			
Bavaria	Munich	27,112	9,118,600
Bremen	Bremen	156	568,300
Hessen	Wiesbaden	7,931	4,303,900
Wuerttemberg-Baden	Stuttgart	5,961	3,884,200
Total		41,160	17,875,000
British Zone			
Hamburg	Hamburg	288	1,604,600
Lower Saxony	Hanover	18,226	6,795,100
North Rhine Westphalia	Duesseldorf	13,153	13,125,600
Schleswig-Holstein	Kiel	6,048	2,588,800
Total		37,715	24,114,100
French Zone			
Baden	Freiburg	3,842	1,335,500
Rhineland-Palatinate	Mayence (Mainz)	7,665	2,992,300
Wuerttemberg-Hohenzollern	Tuebingen	4,017	1,241,000
Total		15,524	5,568,800
Federal Republic	Bonn	94,399	47,557,900
Berlin (Western Sectors)		188	2,142,400
Total (Federal Republic plus Western Berlin)		94,587	49,700,300

The American zone consists of the *Laender* Bavaria, Wuerttemberg-Baden, Hessen, and Bremen The area of *Bavaria* was unchanged except for the assignation of the Palatinate (on the Western bank of the Rhine) to the *Land* Rhineland-Palatinate in the French zone, and other slight boundary changes (acquisition of one district from Thuringia and loss of the Kreis Lindau to the French zone) The formation of the new *Land Wuerttemberg-Baden* was due to the cutting in two of the formerly separate *Laender* Wuerttemberg and Baden by the carving out of the French from the American zone; the new

Land comprises the northern halves of Wuerttemberg and of Baden *Hessen,* created by Proclamation of American MG of September 19, 1945, and likewise a new territorial entity, is composed now, after various interim arrangements, of the sections of the former *Land* Hessen-Darmstadt located on the right bank of the Rhine and the greater part of the former Prussian province of Hessen-Nassau The Free City of *Bremen,* an enclave in the British zone, at first was under American jurisdiction, thereafter (December, 1945) incorporated in the British zone, and became, with the port of Bremerhaven, again a separate *Land* in the United States zone (January 1, 1947)

THE BRITISH ZONE

This is subdivided into four *Laender,* namely the Free City of *Hamburg* (within the boundaries established by Hitler in 1937), *Lower Saxony,* created on November 1, 1946, as an entirely new *Land* without historical antecedent and composed of the former Prussian province of Hanover and the former *Laender* Brunswick (with slight exceptions), Oldenburg, and Schaumburg-Lippe, a new *Land, North Rhine Westphalia,* put together, by decision of the British MG on January 21, 1947, from the former Prussian province of Westphalia, the northern parts of the Prussian Rhine Province, and the *Land* Lippe-Detmold, and *Schleswig-Holstein,* the former Prussian province of the same name

THE FRENCH ZONE

Three *Laender* are embraced in this zone, namely *Rhineland-Palatinate,* composed of the (Bavarian) Palatinate, the southern parts of the former Prussian Rhine Province, the areas of Hessen on the left bank of the Rhine, and some small segments of the former Prussian Province of Hessen-Nassau on the right bank, *Baden,* which is the southern part of the former *Land* Baden, split off by the zonal boundary from the northern half, and *Wuerttemberg-Hohenzollern,* which represents the southern half of Wuerttemberg together with the former Prussian *Regierungsbezirk* Hohenzollern [2]

THE SOVIET ZONE

This has five subdivisions called *Laender,* namely *Brandenburg,* consisting of the former province of the same name except the parts east of the Oder, *Mecklenburg,* corresponding to the former *Land,* with the western part of the former Prussian province of Pommern and without the city of Stettin (assigned to Poland); *Saxony,* the former *Land* of the same name, enlarged by the western part of the former Prussian *Regierungsbezirk* Liegnitz; *Saxony-Anhalt,* a new and composite state (created by the Soviets on March 3, 1946) composed largely of the former Prussian provinces of Halle-Merseburg and Magdeburg, with the former *Land* Anhalt and small sections added of the former *Laender* Brunswick and Thuringia, and *Thuringia,* at first under American occupation and taken over by the Soviets in July, 1945, consisting of the

[2] On the Saar see *infra,* p 504

former *Land* of the same name, with some formerly Prussian areas (Erfurt and Schmalkalden) added.[3]

EVALUATION OF TERRITORIAL CHANGES

An appraisal of the zonal divisions from the economic and cultural viewpoints lends itself to the conclusion that some of the economically most valuable parts of Germany, including the Ruhr, the Rhineland, and Hamburg—sometimes considered more British than the British—came under the United Kingdom In the Soviet zone lie some of the best (Mecklenburg) and some of the poorest (Brandenburg) soil, together with highly industrialized Saxony The Americans control Bavaria, whose splendid scenery appears to many an inequitable compensation for her lack of economic self-sufficiency and, at least in some areas, a progress-resisting population However, the other two South German *Laender* in the United States zone are among the economically and culturally most balanced sections of Germany The French, finally, did not fare badly with a homogeneous population in their zone, where farming and industrial development are well blended

THE SAAR ISSUE

The *Saar,* an area of about 800 square miles and with a German population of less than one million, was originally included in the French zone On December 22, 1946, the French closed it off against the remainder of the zone by a customs barrier as a prelude to the establishment of an autonomous state under French political and economic control At the London Conferences (November, 1947) the British and American governments agreed, with Soviet dissent, to the economic incorporation of the Saar into metropolitan France This was alleged to have become indirectly ratified through the election (October 10, 1946) of a *Land* parliament that a constitution drawn up, under French inspiration, by a group of notables had provided for [4] The assembly, by a majority even more overwhelming (48 out of 49 votes) than that which, in the 1935 plebiscite had returned the area to Hitler's Reich, ratified the constitution (November 8, 1947), and thereby agreed to the status of an autonomous state tied to France by currency, customs union, and French supervision of foreign relations and military protection With the completion of the economic union (April 1, 1948) the French zonal administration no longer ap-

[3] In the following list allowance must be made for shifts and inaccuracies in population statistics

	Capital	*Sq. Kil*	*Population*
Brandenburg	Potsdam	27,061	2,527,492
Mecklenburg	Schwerin	22,954	2,139,640
Saxony	Dresden	16,910	5,558,566
Saxony-Anhalt	Halle	24,657	4,160,539
Thuringia	Weimar	15,598	2,927,497
Total		107,180	17,313,734
Berlin, Eastern Sector		400	1,170,300
German Democratic Republic Berlin		107,580	18,484,034

[4] It was subsequently alleged that the limited number of copies of the Constitution available at the time of the election prevented the expression of a considered opinion

plied to the Saar On the other hand, the West German Government protested against what in actual fact amounted to the political separation of the Saar from Germany, against the admission of the Saar as an associate member to the Council of Europe (1950), and against the conclusion of a treaty (March 3, 1950) by which the French obtained a fifty years' lease on the coal deposits of the area As it is not uncommon with volatile border populations, the Saarlanders are more guided by economic opportunism than by patriotism [5]

Seen as a whole, the internal boundary situation appears as the territorial basis of a new regionalism A *Reichsreform,* comparable in scale only to the regroupment enforced by Napoleon, for which the Weimar Republic had been laboring in vain and which not even Hitler could accomplish, could be imposed only from outside, no indigenous government could have overcome vested economic interests and the tradition of localism Much as has been accomplished, it may seem doubtful, however, whether the new territorial arrangements conform fully to the requirements of regional rationalization

The most striking feature is the obliteration of Prussia as a political and administrative entity Wholly anomalous and, in the long run untenable, is the situation of Berlin, an empty shell without hinterland and an island in the Soviet sea, as deeply split between the East and the West as the rest of Germany Over the disappearance of the last remnants of dynastic particularism (Oldenburg, the two Lippes, Brunswick, and Anhalt) few Germans will lose sleep But the territorial consolidation did not progress as far as it may seem desirable [6] In the West the formation of North Rhine-Westphalia and Lower Saxony was demographically and economically sound, the former, by virtue of the largest population and the greatest economic assets, has begun to succeed to the leadership of Prussia, to the dissatisfaction of Bavaria, the second most populous state. It may appear a definite defect of American planning that Bavaria was not split into the separate sections of Franconia and Bavaria proper. The new *Land* of Wuerttemberg-Baden and the artificially constructed *Land* of Hessen developed within a few years a surprising statehood feeling based on the awareness of the common interests of the people But none of the dwarf-*Laender* of the French zone has any legitimate claim to its separate existence Without the arbitrary zonal demarcation the consolidation of all of Wuerttemberg and all of Baden into a single and economically viable Southwestern *Land* (*Sudweststaat*), as desired by the majority of the inhabitants, could have been accomplished [7] In view of the demographic affinities and eco-

[5] A number of minor and provisional border rectifications in favor of the Netherlands and Belgium were authorized by the Paris agreement of March 22, 1949 The area assigned to the Netherlands was incorporated by the latter Although only a limited number of localities were affected, the unilateral arrangement was of questionable legal validity as well as politically unwise to the extreme, being prejudicial to the peace settlement and weakening the Western claim to a reconsideration of the *fait accompli* of the annexations in the East

[6] Under the Empire there were twenty-five member states, under Weimar seventeen At present there are sixteen and, with Berlin, seventeen different *Laender*

[7] The union of these three segments by mutual agreement is provided for in Art 118 of the Bonn Constitution, in deviation of the general rule of Art 29 (prescribing a federal law for internal territorial boundary changes) On September 24, 1950, a consultative referendum was held in the three *Laender* to decide whether (a) a single Southwest State should be established or (b) the formerly separate *Laender* of Wuerttemberg and Baden within their pre-1945

nomic homogeneity of the entire area, such a consolidated South Western State would fit well into the new regionalism In the Soviet zone, finally, the territorial divisions into five relatively equal and economically cohesive parts was sound

If the Allies had been less obsessed by the concept of decentralization and had possessed some degree of advance planning, the German collapse would have presented a unique opportunity for setting up within Germany an integrated system of economic regionalism Contrariwise, the decentralization policy resulted in many parts in stimulating an exaggerated sense of statehood in political entities of an altogether accidental and artificial character.

THE PROBLEM OF THE EXPELLEES[8]

By all practical standards the influx into truncated Germany of close to twelve millions of destitute expellees constitutes the most crucial issue of present-day Germany This greatest migration of the people in history will dominate the German future for a long time to come.

Expellees in the technical sense[9] are primarily Germans who, during or after the war, were forced to leave their homelands Partly they are German nationals, such as the Germans driven out from the area east of the Oder-Neisse line after Potsdam, or non-German nationals though of German ethnic descent (*Volksdeutsche*). In their vast majority they came from Poland, the Balticum, Czechoslovakia, and Hungary under the Potsdam decision Although the Declaration (XIII) explicitly stated that these population transfers should be effected "in an orderly and humane manner" they were dumped into Germany with at most what they could carry on their backs.

The CC, heavily (by about 50 per cent) underestimating the number of expellees to be accommodated under Potsdam, agreed (November 20, 1945) on a rough key for their distribution among the four zones The British and the Soviets were to share those from east of the Oder-Neisse line, the Americans and the Soviets those from the Sudetenland and elsewhere The French refused to take any, and only in and after 1948 they admitted a trickle on a highly selective basis. Actually the human flood, spilling over the "green border"

---

boundaries should be restored The result was 70 per cent in favor of the first solution, but in South Baden a majority voted for the latter alternative which appears the lesser evil to the statehood vanity of some of its politicians At the time of this writing the matter is not yet definitely settled The Federal Government, by a law of the Federal Parliament, determined that on September 16, 1951 a referendum be held to decide whether (a) the three *Laender* are to be united as a single *Suedweststaat*, or (b) the formerly existing states of Wuerttemberg and Baden be restored as separate entities But even thereafter the matter may not come to rest since the federal statute was challenged as unconstitutional

[8] Figures in this section are taken from the *Deutschland-Jahrbuch*, 1949 (edited by Klaus Mehnert and Heinrich Schulte), Essen, 1949, pp 249 ff and various MG Reports, for example "Population Changes, 1947, US Zone Germany," prepared by Civil Administration Division OMGUS (May, 1948)

[9] Expellees are to be distinguished from Displaced Persons Most of the DP's, forced into Germany as slave labor, and the prisoners of war, were repatriated Among the DP's still in Germany the largest contingents constitute foreigners who are irrepatriable because of collaboration with the Nazis, and Eastern Jews fleeing from persecution in Poland, since 1945 (who, however, use Germany mainly as a transit station before emigrating abroad). Until now DP's did not live on the German economy

between the zones, was beyond control At least 800,000 from the East flocked to the United States zone which also had to accept the majority of the Sudetens Moreover, the load of the Western zones was further increased by the arrival of German refugees (technically not expellees) from the Soviet zone and the Soviet sector of Berlin escaping from Soviet economic pressure or political persecution [10] It is reliably estimated that in 1948 of the total population of 65 9 million there were 11 6 million expellees [11]

The enormity of the issue can be grasped only by its socio-political implications More people are living in the rump Reich than in 1937, and this in spite of the huge war casualties and the non-returned prisoners In some of the *Laender* the refugee element constitutes between 30 and 40 per cent of the population [12] The distribution of this human mass caused unprecedented shifts in the religious composition of entire areas and specific localities, Catholics (about 60 per cent of the non-German expellees) settling in solidly Protestant sections, and *vice versa* Since the destroyed cities could not shelter them they were shunted to the villages and the small towns Substantial farmland could not be provided except in the Soviet zone where about 17 per cent of the land made available through the land reform was distributed to refugees Vast hordes are still unemployed and living in camps

The German people disliked their unwanted guests and resented their claim to share their own misery The *Land* governments, grudgingly and only under MG prodding, did what they could, which was little enough Though the occupation powers at an early date had insisted on all expellees being accorded

[10] However, this is a two-way passage since a sizable number of such refugees later return to their homes because of unemployment in Western Germany

[11] The following figures reflect approximately the zonal distribution U S Zone, 3 5 million, British Zone, 4 0 million, Soviet Zone, 4 0 million, French Zone, 0 1 million, total, 11 6 million The following figures for Western Germany alone are taken from the 4th Quarterly "Report on Germany" (July 1–Sept 30, 1950) of the U S High Commissioner, p 95 (figures include children born since arrival)

October 29, 1946	6,900,000
July 1, 1950	9,139,000

distributed as follows Former territories east of the Oder-Neisse line, 4,658,793, Czechoslovakia, Hungary, Poland, and other countries, 3,158,232, Soviet Zone and Berlin, 1,322,682 Of the total population (49,700,300) of the Federal Republic as of September 15, 1950, the refugees and expellees constitute 18 3 per cent The distribution as per cent of the total population is as follows

Land	*Per cent*
Schleswig-Holstein	38 2
Lower Saxony	30 5
Bavaria	23 6
Wuerttemberg-Baden	20 6
Hessen	18 6
Hamburg	10 9
North Rhine-Westphalia	12 0
Wuerttemberg-Hohenzollern	10 6
Bremen	9 5
Baden	8 8
Rhineland-Palatinate	4 6

[12] As a remedial measure the *Bundesrat* passed (March 8, 1951) a Resettlement Act, providing, by September, 1951, for the transfer of 200,000 refugees from the most overcrowded *Laender* of Schleswig-Holstein, Bavaria, and Lower Saxony to areas of the Federal Republic which heretofore had received a lower proportion, authorizing also the resettlement of an additional 100,000 after that date

German nationality rights, the group as a whole was treated as politically second-class citizens The established parties catered for their votes and carefully neglected them after the elections Their absorption as a group proved as yet impossible They are the flotsam and jetsam for the new radicalism of the nationalist Right Twelve million people do not wish to belong, and are not wanted, where they are, and for them there is no hope of going back from where they came unless in the wake of a victorious war of the West against the East This is an unexploded time bomb in the midst of Europe.

Yet the picture is not all black. There were exceptions in the attitudes of the hosts and the guests as well from the beginning. Individuals and splinter groups succeeded in establishing themselves economically and socially The refugees from Silesia and Eastern Prussia, sturdy and inventive frontier people, no less than the Sudetens, in their majority people with professional skills, are beginning to make contributions of recognized value, the "boy-meets-girl" relationship begins to take off some of the edges of the initial hostility New blood—and not the least valuable in Europe—is being infused into an old stock, new ideas penetrate stagnant tradition. Perhaps future generations of Germans will praise the refugees and expellees as a blessing in disguise

SOME GENERAL OBSERVATIONS ON ZONAL GOVERNMENT

The unparalleled complexity of Germany's political situation under the occupation may be better understood if visualized as a system of concentric circles of jurisdiction Of these the most extensive was the quadripartite rule of the CC under the Potsdam Declaration, applicable to all four zones and to Berlin and remaining in existence until 1948 Moving towards the center followed the division of Germany into four separate zones, each under one of the occupation powers exercising control through the Zone Commander and binding all territorial subdivisions comprised by each zone Within each zone political dynamics moved on two different levels, namely, that of the governmental and administrative agencies of the occupying power proper, and that of indigenous German agencies. These two areas of jurisdiction, never wholly separated, were overlapping and increasingly integrated With the progressive restoration of self-government to the Germans by each of the four powers—a process in which the Americans and the Soviets set the pace and thereby compelled the other two powers to achieve a sort of loose synchronization—indigenous German authorities gained control over areas relinquished to them by the occupation powers The chart is further complicated by the fact that, within the American, British, and Soviet zones, German zonal agencies were established (the *Laenderrat* in Stuttgart, the Zonal Advisory Council [*Zonenbeirat*] in Hamburg, and the German Central Administrations [*Zentralverwaltungen*] in Eastern Berlin respectively), [13] and that, with the economic merger of the American and the British zones (beginning in 1947) [14] both bipartite (British-American) as well as German authorities emerged with jurisdiction over both

[13] See *infra*, pp 534 ff, 541 f, 632 f
[14] See *infra*, pp 535 ff

zones in all economic matters Finally, in the summer of 1949 the three Western zones were less permitted than urged to constitute themselves as the Western Federal Republic (*Deutsche Bundesrepublik*) while the Eastern zone, in October, 1949, converted itself, under Soviet sponsorship, into the German Democratic Republic (*Deutsche Demokratische Republik*) In the West this latest stage was accompanied by the establishment of a tripartite Allied High Commission[15] without, however, abolishing the separate zonal authorities of the three Western powers The division into four zones resulted in the development of four altogether different occupation patterns corresponding to the different political aims and administrative techniques of each power These differences are particularly marked between the Western and the Eastern zones, as outwardly reflected by the coexistence of two different German states But even in each of the three Western zones the respective occupation power could not fail to leave its impact

For the American student the main interest naturally lies in the American zone which, therefore, will be treated here more extensively.

[15] See *infra*, pp 595 ff

CHAPTER XXI

AMERICAN MILITARY GOVERNMENT

ORGANIZATION

No other aspect of American foreign policy since 1945 has fascinated public opinion more than Military Government (MG) in the American zone of Germany, and this for reasons not difficult to perceive This was the first large-scale experiment of the United States to control and administer a defeated country,[1] while the old colonial powers, Britain and France, had a superior experience in the rule over foreign peoples Moreover, the United States was expected to continue world leadership in the drive for the paramount peace goal it had assumed in defeating the Axis This was visualized as the conversion, by example and guidance, into a peace-loving nation of a people believed to be congenitally belligerent and democracy-resistant Since the full burden of success or failure in this undertaking fell on MG, its conduct met with a very considerable critical attention

During the so-called combat stage and for some months thereafter MG functions were exercised by the joint American-British command authority SHAEF (Supreme Headquarters Allied Expeditionary Forces) After its dissolution (July, 1945) General Eisenhower combined the position of Military Governor and Commanding General, with Headquarters in Frankfurt (United States Forces European Theater—USFET) By late 1945, however, the task of MG had begun to shift to Berlin, where the Office of Military Government for Germany (US) [OMGUS], having absorbed the American "element" destined for the work in the CC (styled US Group CC), operated under General Lucius D Clay as Deputy Military Governor. The coexistence and competition of two MG capitals, in Frankfurt and Berlin, each with its own staff, policies, and empire-builders with ill-defined and overlapping jurisdictions, resulted in

[1] After World War I American forces had occupied a part of the Rhineland, the initial (armistice) period of strictly military control was converted, with the adoption of the Versailles treaty by the German National Assembly, by the so-called Rhineland agreement of the Allied and Associated Powers (June 28, 1919), into civilian rule of an Interallied Authority (likewise styled High Commission) This second stage was terminated with the complete evacuation of the area assigned to the United States in 1923 See Ernst Frankel, *Military Occupation and the Rule of Law*, New York, 1944, for a competent treatment.

friction and duplication, and bears its full share of responsibility for the confusion and indecision which prevailed in the crucial initial stages of the occupation Fuller efficiency was not obtained until March, 1947, when, after the elimination of USFET, the functions of Commanding General and Military Governor were combined in Berlin Headquarters under General Clay However, skeleton staffs were retained also in Frankfurt In 1948 a new shift occurred which, accelerated by the Berlin blockade, retransferred the bulk of MG operations to Frankfurt, where in the well-appointed building of the IG Farben concern adequate office facilities were available With the installation of the Headquarters organization of the American element of the High Commission in Frankfurt the administration was finally consolidated These incessant, though perhaps unavoidable, organizational transmutations could not fail to influence adversely AMG's policies and their execution

The vertical structure of MG corresponded throughout to the regional division within the American zone In the chain of command, OMGUS was the top and the roof Under it four *Land* MG's (since the fall of 1949 called *Land* Commissioners) are functioning in the capitals of the four *Laender* (Munich, Stuttgart, Wiesbaden, and Bremen), headed by a *Land* Governor with his staff more or less patterned on the functional divisions at Headquarters On all levels the multiplicity of these administrative branches—frequently exposed to reorganization and reshuffling—such as civil administration, economics, property control, education and religious affairs, public health, information control (later information service), legal, and others, reflects the variety of functions MG had to perform In addition, there existed coordinated agencies for military and security (counter-intelligence) purposes[2] Later, when the operational control was superseded by the largely supervisional activities, the functional organization had to be readjusted again Military and civilian operations were finally completely separated Probably the most important of all divisions was Civil Administration in charge of governmental structure, supervision of internal administration, and democratization The Economics division, at first in the center, lost much of its operational impetus by the appearance of the Economic Cooperation Administration (ECA) under the Marshall plan, an agency (until 1949) outside MG jurisdiction and frequently at odds with it By 1949 the increased accent on re-education, now more modestly styled "reorientation," raised the importance of the Education and Cultural Affairs division Although the shaking-down stage was inordinately extensive the organization, in the final analysis, was sufficiently streamlined to provide for an adequate performance

Subordinated to the *Land* MG offices were the staffs of MG in the regional districts (*Regierungsbezirke*) and in the smaller administrative areas of the counties (*Kreise*) and towns With the progressive restoration of German self-government these lower echelons were either withdrawn or lost much of their

[2] Military security was no problem at all Drunken GI's made more trouble than the submissive Germans The much advertised underground ("*Edelweisspiraten*") existed only in the imagination of reporters

influence, but the liaison officials in the *Kreise* continued to perform vital services of closer contacts with the German population and were, therefore, retained under the High Commission Generally, supervision and integration of the local and intermediary offices of the *Land* MG's were only moderately effective. But similar difficulties vitiated also the relations between OMGUS and the *Land* MG offices which in time developed a surprising and not altogether beneficial independence from the central administration of OMGUS. In the long run, the MG operations in the various *Laender* differed curiously from one another almost to the extent of the *Laender* administrations themselves

PERSONNEL

At its peak in 1946, MG personnel in the U.S zone never exceeded 6,000. Thereafter, it fell off sharply and, with the change-over to the High Commission (1949) it was reduced to some 1,600 In quality it varied greatly as to periods and functional assignments In the early stages of direct MG operations by military field and district detachments, some of the army men had been initiated into their administrative tasks by most rudimentary preparations in MG schools in the United States. As practical Americans they did, on the whole, a commendable job of restoring the technical services in an utterly chaotic country Owing to the lack of psychological equipment they were less fortunate in their contacts with the German people. The problem, affecting of course also the troops, became widely known under the name of fraternization Initially high-caliber civilian experts were enlisted for service of a year or more at Headquarters Replacements were more often than not of an inferior quality Unlike the British and the French who utilized administrative talent of their colonial services, it took the United States a long time to train on the spot a staff competent to deal with the amazing variety of complex issues the occupation continually presented Moreover, high army officers occupied many key positions When good, a professional army officer was often very good; when bad, he was, as a rule, terrible But in fairness it can be stated that, after trial and error, the quality of the MG personnel, if not first-rate, was thoroughly satisfactory In time an occupational civil service emerged whose members, if frequently frustrated by the complexity of the job, were capable of attending to the administration of a country and people bewilderingly foreign to most of them [3]

No report on MG in the American zone could ignore or should minimize the work and the personality of General Lucius D. Clay, Deputy Military Governor until March, 1947, and thereafter (until May, 1949) Military Governor and Commander of the European Theater. A Southerner from Georgia by birth and world outlook, an army engineer by profession, a first-rate organizer and executive, and without doubt a leader of men, the American pro-

[3] MG was particularly fortunate in finding as Governors for Wuerttemberg-Baden two exceptionally able men (Colonel Dawson and Mr Charles M LaFollette), standing head and shoulders over their colleagues in the other *Laender*, not to mention the individual that was permitted, for four fateful years, to act as the Commandant of the American sector of Berlin

consul, during the most critical years of the occupation, was not only the center of policy implementation but in many vital instances the originator of the policies, though they nominally stemmed from the Department of the Army in Washington [4] In spite of his military training he was possessed of a sincere devotion to democratic ideals It was probably more the guilt of some of his advisors that he was inclined to equate the outward forms of democracy with its substance as a way of life Of the German people he knew probably not more than his high-level contacts permitted him to learn When properly briefed and not overly relying on alleged experts in his entourage, his amazingly retentive mind was capable of sensible and often far-sighted solutions That he would gain the affection of the Germans could hardly be expected, yet he did. Perhaps the assignment exceeded the capabilities of any man

THE PHASES OF AMERICAN OCCUPATION POLICIES

During the war against a ruthless enemy the American people favored a peace which would make it impossible that, within a foreseeable future, Germany would again come uncomfortably close to world domination. True, the Versailles peace had proved a fertile soil for nationalism and Hitlerism, but its failure was ascribed less to its terms than to German cunning in whittling them away and to Allied disunity At an early date it was also intended that the occupation should become the primary instrumentality for converting by what was called, rather arrogantly, "re-education" of the Germans into a democratic and peace-loving nation In this the American people were much more idealistic or naive than Germany's neighbors who, without illusions, preferred tangible security to the promissory note of democratization.

It is a matter of record that American top level planners, absorbed with the exacting demands of the global war, failed to give early consideration to the post-hostilities phase of MG operations Existing plans were concerned primarily with military and economic disarmament Only after the Yalta Conference had permitted a better evaluation of the Soviet attitude did a more comprehensive blueprint of occupation policies emerge in the famous JCS 1067/3 [5]

JCS 1067, admittedly an interim program (though some of its basic tenets were subsequently incorporated into the Potsdam Declaration) was of a mainly negative nature, under the motto. "Germany will not be occupied for the purpose of liberation but as a defeated enemy nation " And. "The principal Allied objective is to prevent Germany from ever again becoming a threat to the peace of the world." Divided into three parts (political, economic, financial), it proceeded from the assumption (fully confirmed by subsequent experience) that

[4] The formal responsibility for the occupation was transferred to the Department of State only with the establishment of the High Commission (summer, 1949) Contrariwise, the British and the French counterparts were almost from the beginning responsible to the civilian authorities at home (Foreign Office and Secretariat for Occupied Territories, respectively)

[5] Directive of the Joint Chiefs of Staff sent on April 28, 1945, to General Eisenhower as Commander-in-Chief of the combined allied forces

the entire fabric of German political, social, economic, cultural, and moral life had become so contaminated by Nazi techniques and ideologies that the only feasible way for a potential political reconstruction in line with democratic standards consisted in first wiping the state clean This called for the imposition of strictest measures for demilitarization, denazification, arrest of war criminals and ranking Nazis and the confiscation of their property, prohibition of all political activities, closing of courts and educational institutions until they could be reopened with non-Nazi personnel. Similarly the economic controls were directed towards the paramount need for the decentralization of the economic power and permitted only the maintenance of the essential services There is next to nothing in the lengthy document suggestive of democratization as an occupation aim It is obvious that the Potsdam Declaration, with its prominent emphasis on re-education and democratization, constitutes a considerable advance over JCS 1067

MG policies may be roughly divided into five periods·

(1) The *first* stretched to the Potsdam Declaration and beyond During this stage AMG governed the American zone in the most literal sense of direct administrative operations JCS 1067 was the American occupation blueprint. But long before its formal abrogation (July 11, 1947) it had become a dead letter Valiantly MG Regulations, the code of conduct of AMG officials, tried to square the circle between its unrealistic rigor and the requirements of a more progressive occupation policy

(2) The establishment of the three South German *Laender* (Bavaria, Wuerttemberg-Baden, and [Greater] Hessen) by USFET Proclamation of September 19, 1945, marks the opening of the *second* period It is coextensive with the creation of workable democratic institutions of German self-government in the various *Laender* and the drafting of democratic constitutions by them, together with the establishment of the German interzonal agency of the *Laenderrat.* During this period MG exercised indirect control by policy instructions addressed to the *Land* governments and close cooperation with them in their implementation

(3) The *third* stage was preluded by Secretary of State Byrnes' Stuttgart address (September 6, 1946) and formally inaugurated by General Clay's letter (September 30, 1946) on "Relationships between Military and Civil Government subsequent to the adoption of the *Land* constitutions," addressed to the MG offices of the *Laender* Stating that "US policy requires that the German people be permitted to increasingly govern themselves," it limited the functions of MG thereafter to "observation, inspection, reporting, and advising," with the important proviso, however, that on certain enumerated fields MG will reserve for itself direct intervention in German internal affairs [6] General Clay's directive also contained the important American *credo* on the democratic and federal form of government to be striven for in German re-

[6] Among the reserved fields were review of German legislation, removal of public officials whose political activities are in violation of the occupation objectives, demilitarization, MG courts, disapproval of (only) such economic, social and political and governmental activities as MG may clearly find in violation of the occupation objectives.

construction[7] With the beginning of 1947 direct intervention by MG with internal affairs became a rare exception During this period the formerly existing symbiosis of the American and the German levels of state administration was superseded by a clear separation, the Americans supervising and the Germans doing things themselves Most governmental and administrative fields were progressively transferred to indigenous German agencies legally constituted by democratic procedures, and, with the merger of the economic administrations of the British and the American zones,[8] an important step towards territorial unification was taken

(4) As usual, the official policy of Washington lagged behind actual developments. Another directive of July 11, 1947, formally repealing JCS 1067, reflected the decisive turn in American occupation policies as the *fourth* stage The directive visualized the problem of Germany in the wider frame of European recovery Visibly recoiling from the negativism of JSC 1067, the redefinition of the occupation objectives denotes the positive encouragement of *bona fide* democratic efforts For the first time cultural objectives and education are declared the focal points The occupation, thus, has traveled a long way from the role of the conqueror, to that of policeman, to that of mentor and friend The practical result was the sprouting of educational programs in all divisions of MG The new approach was likewise stressed in the relaxation of political and other controls Self-government was to be promoted with the fullest assumption of legislative, executive, and judicial powers by German authorities The Germans themselves were to decide on their ultimate form of government in conformity with their tradition, and "no external forms should be imposed " But the American government showed itself opposed to "an excessively centralized government which through a concentration of powers may threaten both the existence of democracy in Germany and the security of the German neighbors and the rest of the world " Consequently, it was strongly suggested that "the most constructive development of German political life would be the establishment throughout Germany of federal German states (*Laender*) and the formation of a central German government with carefully defined and limited powers and functions " An even more drastic change occurred in the economic field With the target of German economic rehabilitation within the framework of European recovery, the economic restrictions imposed by the Potsdam Declaration were to limit themselves to war industries The previous injunction against cartels was mitigated. But no previous document had revealed such interest of the American taxpayer in the liberalization of the economic policies of the occupation.

Once again occupation policies and reality did not tally By 1948 the substance of MG controls had evaporated and even the shadow of supervision had become evanescent Under the policy of nonintervention direct operational activities of MG ceased completely The supervisory activities were kept to a minimum Loss of power and lack of personnel stood in the way of fulfilling

[7] These objectives will be discussed in detail *infra*, pp 528 ff.
[8] See *infra*, pp 535 ff

even the residual functions of reporting, inspection, and observation With growing self-reliance the eagerness of the German officials to seek advice or even merely to submit information became proportionally less Anyone who read the German press was better informed about German affairs than high-ranking MG officials. Increasingly since 1948, MG operated in a political and moral vacuum which could not fail to engender a deep sense of frustration among the best of its staff Under this policy of self-emasculation for the sake of lofty democratic principles, what influence MG still possessed confined itself to persuasion, possibly remonstration, at best, example. None of the other occupation powers deemed it wise to resort to such a degree of abdication from power.

But it is probably unfair to ascribe the petering out of a respectable experiment either to occupation policies or to the personnel trying to make them effective. The reasons lie deeper After the breakdown of the London Conference of the Foreign Ministers (December, 1947) the Germans, forever sensitive to the realities of power, had become aware that the struggle for democracy was no longer conducted between themselves and the Western powers, but between the East and the West, and that, regardless of what marks they brought home from the school of democracy, they had risen, in this struggle, to quasi-allies of the West.

(5) This period, and with it the military phase of the occupation, came to a fitting climax with the creation of the Western Federal Republic (summer, 1949) and, as the *fifth* stage, the concomitant establishment of the Allied High Commission whose relations to the Western German Government are determined by the principle of strict nonintervention in German affairs with the exception of those specified fields which the Occupation Statute reserves to the jurisdiction of the High Commission [9] The latest Directive of November 17, 1949, is geared to another high-flung ideal styled "the integration of Germany into a free Europe" "All efforts to help towards the goal of a unified Germany on a democratic and federal basis will be made. But the United States is opposed to the resurgence of ultra-nationalistic or antidemocratic forces which might threaten again the peace of Europe. Within this frame Germany should enjoy the widest possible freedom of self-determination"

[9] See *infra*, pp 592 ff

CHAPTER XXII

DENAZIFICATION

Denazification, or the permanent elimination of the Nazi Party and its influence, preceded democratization chronologically in all international agreements It figured prominently in the Atlantic Charter, Yalta, and JCS 1067 The Potsdam Declaration realized that democratization and denazification were complementary occupation and peace aims Since the former is impossible of attainment without the latter, it became the key to German political reconstruction From the start the multi-faceted term *denazification* had a wider scope than the task of merely removing Nazi-tainted personnel from German public, economic, and cultural life In the words of the Potsdam Declaration, it implied also "[destroying] the National Socialist Party and its affiliated and supervised organizations, to dissolve all Nazi institutions, to insure that they are not revived in any form and to prevent all Nazi and militarist activity and propaganda " In particular, repeal of the Nazi laws, as the most tangible reflection of Nazi institutions, was given a priority in the Yalta and Potsdam documents and in JCS 1067

DESTRUCTION OF THE PARTY ORGANIZATIONS

The CC complied with these injunctions in full The Nazi Party and its affiliated and supervised organizations were prohibited and dissolved Its vast economic assets, especially those of the German Labor Front, monster labor union of the regime, were seized[1] As an organization the huge octopus of the Nazi Party has been completely destroyed To date no attempts at reconstituting or reviving the Party have been undertaken After twelve years of fierce regimentation it is unlikely that the German people would voluntarily submit again to totalitarian control Nor would it be tolerated by the Allies so long as the occupation continues

[1] See CC Law No 2 of October 10, 1945 (Official Gazette of the Control Council No 1 at 19), Directive No 50 of April 29, 1947 (OG/CC No 15 at 275) and others In the U S zone, Law No 5 (SHEAF—MG Gazette, Issue A at 17) suppressed the Party itself together with fifty-two enumerated offices and subdivisions and eight paramilitary organizations such as the SS, the SA, and the Hitler Youth

REFORM OF NAZI LEGISLATION

Much more intricate was the elimination of the Nazi legislation.[2] What may be called the political legislation on which the Nazi regime was based was repealed at an early date by the CC as well as by MG enactment in the American zone [3] Additional statutes of the Nazi period were rescinded later, but not without encountering considerable difficulties as to how to fill the vacuum created by the cancellation It was relatively easy to qualify an enactment as Nazi-inspired if measuring it by certain standards believed to embody the Nazi tenets, such as discrimination as to race, religious beliefs, or political affiliation But in most cases repeal called for a democratically oriented substitute legislation. A veritable Pandora's box of legal controversies was opened Some fifteen thousand laws and enactments required scrutiny This tremendous task by far exceeded the capacities of the legal experts of the CC as well as the AMG lawyers After strenuous efforts to infuse democratic principles and the rule of law into some selected areas of civil and criminal law, denazification of law passed by default of the occupation authorities to the meanwhile restored German agencies which, however, were too preoccupied with more urgent legislative tasks of the day ever to undertake a systematic effort to denazify German law [4] Nonetheless, the bulk of Nazi-tainted or inspired legislation has been eliminated Nor is it likely that, under present conditions, German legislative authorities would re-enact discriminatory legislation, or that German courts openly would flout the rule of law

DENAZIFICATION OF PERSONNEL

However, the term *denazification* is commonly understood to refer to the human element, focusing on the removal of Nazi or Nazi-affected personnel from the public, economic, social, and cultural life. It is this aspect which deservedly has attracted the widest attention The situation was complicated by the injection into the program of the occupation of the concept of militarism justly deemed as responsible for the German catastrophe as Nazism proper. While certain at least suggestive yardsticks could be established of participation in or responsibility for the Nazi regime, the elusive term *militarism* clearly defied precise definition Moreover, it soon was found that many persons had held influential positions in economic and cultural life who, by accepted standards, were neither members of the Party nor could be proved to have

[2] Students are referred to Karl Loewenstein, "Law and the Legislative Process in Occupied Germany," *Yale Law Journal*, 57 (1948), pp 724 ff, 994 ff

[3] Twenty-five specifically named Nazi statutes were repealed by CC Law No 1 of October 6, 1945 (OG/CC No 1 at 6 For the American zone see Law No 1 (SHEAF) of June 1, 1945 (MG Gazette Issue A at 3 and 5)

[4] AMG legislation subsequently confined itself to such matters which the Germans were believed unwilling to tackle themselves or for which the occupation policies required direct action by MG Among these were, for example, legislation directed against excessive concentration of economic power (Law No 56) and restitution of property to Nazi victims (Law No 65) The former remained a scrap of paper because MG did not enforce it, the latter led to a fair degree of restoration of property to "non-Aryans" arbitrarily despoiled With the installation of German *Land* authorities this source of MG legislation dried up completely.

tangibly benefited from the regime and yet, from the viewpoint of promoting democracy, were as bad or worse than the registered members of the Party. And finally, even assuming that Nazi personnel could have been temporarily eliminated, how could it be prevented from returning to power?

The magnitude of the problem was hardly anticipated by the occupation authorities The filing cards of the Party, rescued by a lucky accident just when they were about to be converted into paper pulp, revealed that about nine million people at one time or another had been enrolled as members in the NSDAP If to these are added the memberships in the affiliated and supervised organizations from which practically no person desirous of earning a living could escape, it is no exaggeration to say that at least two-fifths, if not one-half, of the entire German population were directly connected with the Nazi regime That, under these conditions, the convenient concept of collective guilt found favor need not surprise But in fairness it should be stated that it was never officially adopted and that at an early date it was completely superseded, if not by the principle of individualization, at least by the setting up of some recognizable standards of major and minor guilt

Technically the job of denazification proved even more formidable than numerically It did not seem feasible to charge the Germans themselves with it Even if more anti-Nazis had been available, one could not establish a minority as judge over the majority Obviously the task fell to the occupation authorities Yet having neither the experience nor the manpower for the required individualization, they could hope to cope with the problem only by applying some mechanical standards These, in turn, were soon discovered to lead to undesirable results in many cases which did not fit into the categories If conducted democratically, denazification required individualization, considering in each case the widely different motivations for joining the Party, the extent of the person's identification with the Party objectives, and his or her active share in the Nazi regime's guilt

Such pragmatic standards were applied by two important CC directives, inspired by precedents in the American zone,[5] "for the removal from office and from positions of responsibility of Nazis and persons hostile to Allied purposes" and "for the arrest and punishment of war criminals, Nazis and militarists" The first mentioned of these enactments spelled out no fewer than 136 specific positions, the incumbents of which were subject to mandatory removal, together with twenty-two more in which discretionary removal was indicated Among these were categories of officials of the NSDAP and its affiliated and supervised organizations (thirty-seven in all), the holders of certain positions in the legal profession, the civil service, and business The assumption was that since the regime did not tolerate enemies in key positions the holder of such an office must have been an active sympathizer even though not having become an enrolled member of the NSDAP In the majority of cases the assumption proved correct; but because of their inelasticity, these mechanical standards wrought individual injustice, particu-

[5] Nos 24 of January 12, 1946, and 38 of October 12, 1946

larly since in most cases internment (without trial or even proper individual investigation) was mandatory Such cases of injustice, skillfully played up by the victims, tended to imperil gravely the democratic objectives of the purification procedure

A seemingly more refined but intrinsically no less faulty method consisted in adjudging the degree of individual guilt by the year of entry into the party (the so-called "vintage" principle), assuming that the earlier a person had joined the Party the greater his share in its guilt Once again this method failed to be fair because the motivations for the entry into the Party were too complex to be caught in a purely standardized formula

Whatever the method chosen, the "revolution on paper," by legislation or injunction of the victors, could not be successful unless supported by the sincere willingness of the German people to rid themselves of the Nazi heritage. Such willingness, let alone the feeling of collective guilt or its attenuated form of collective responsibility, did not exist The naive distinction of the American planners between the "good German people" and their "wicked rulers" proved unrealistic No sooner had the Germans awakened from the stupor of defeat than they constituted themselves into a solid front against denazification and, quite understandably, the latter became the first potent rallying point of a defeated nation against the victors It was exceedingly rare to find a real Nazi, that is, one who admitted he had joined because he had believed in the Nazi tenets. When Party membership could not be concealed a number of standard explanations were offered: membership had been "nominal" only, it had been imposed without knowledge or under duress, since refusal to join would have endangered life, liberty, and property or at least involved the loss of employment Subjectively in many cases these excuses may have been true, objectively they were not If one were to believe the Germans, an insignificant minority had compelled, by terrorization, the vast majority to become Nazis While terror was adduced as the almost universal reason for membership, the vast majority steadfastly refused to admit knowledge of the concentration camps as the instruments of terror If confronted with the incontrovertible evidence of Nazi outrages, the wholesale degradation and slaughtering, it was alleged that beyond vague rumors they had known nothing thereof and that at any rate they were not responsible The Nuremberg trials served as a convenient alibi Whatever scruples of conscience may have existed they were claimed to have been atoned by the hardships after the collapse

As the picture slowly emerged it was found that opposition to the regime had been strongest among the laboring classes and the Catholics, although in numerous instances loyalty to the Church and to Hitler were not deemed incompatible Conformity had been greatest among the socially higher classes and the leaders in professional, cultural, and economic life Moreover, support of the regime revealed a curve closely following the successes of the Nazis before and during the war The apex may have been reached with the victories in Russia in 1941, it flattened out with military failures after 1942

(Stalingrad). Finally, there existed from the beginning degrees in support of the Nazis. Fanaticism did exist. But membership in the Party did not invariably mean acceptance of all its tenets. Rather was it in many cases an insurance against professional disadvantages and the personal gratification of belonging to the ruling class. Opportunism was rampant among the younger generation, which could enter the professions only through Party membership. Dissatisfaction grew proportionally with the impending loss of the war. But the spirit of organized and mass-supported resistance was conspicuous by its absence, as evidenced by the abortive rebellion of July 20, 1944.[6]

Grave shortcomings on the American side should not be ignored. The initial assumption of collective guilt did not stand the test of experience. The black-and-white approach did not gibe with the extreme complexity of the situation. Of the mind of the Germans the invaders knew next to nothing. Nor was proper use made of the genuine anti-Nazis of whom, in the early stages of the occupation, there were not a few. Moreover, the attitude of MG personnel was by no means consistent. Revolting as were the excesses of the regime to the American mind, they failed to evoke uniformly negative reactions. The late General Patton's equating the Nazis with "just another political party" was by no means exceptional. Immunity against the anti-Semitic poison was not promoted by fraternization. Most important, however, were the practical reasons for a relaxation of the denazification policy. Practically all technical experts and business leaders had been Nazis. Their temporary removal stood in the way of economic reconstruction and recovery which, in turn, were demanded by both the American taxpayer and the belief that only an economically sound Germany would resist the temptations of Communism. There were just not enough non- or anti-Nazis to fill the gaps. Retrospectively it may seem doubtful whether this was true, at least the Soviets proved what could be done without the Nazis. But sooner or later the choice had to be made between the ideological requirements of denazification and economic expediency. Denazification in due course became another casualty of the cold war.

THE TRANSFORMATIONS OF THE DENAZIFICATION POLICY

Denazification may be divided into four stages.

(1) During the *first,* stretching from the invasion to March, 1946, it was undertaken as a direct operational function by MG detachments. The method was screening through the famous *Fragebogen,* an elaborate and, in the light of experience, constantly refined questionnaire as the basis of investigation by Counterintelligence Corps and Special Branch officials, leading to the decision as to mandatory removal from office and employment, arrest, or discretionary re-employment. Perjured information was subject to heavy punishment by MG courts. The early directives left private business wholly unaffected. This gap was hastily filled by MG Law No. 8 (September 26, 1945)

[6] See *supra,* pp. 454 f.

which prohibited the employment of any "more than nominal" member of the Nazi Party in positions of business "other than ordinary labor."

The directives were indefinite, conflicting, constantly changing, and subject to interpretation varying from district to district, and gave more or less arbitrary powers to MG officials eager to discharge their reconstruction assignments or accessible to persuasion, particularly if offered by an attractive female The unavoidable result was the return of ex-Nazis who were "nice people" to economic life and the reinfiltration of Nazi professionals and experts deemed indispensable Yet, whatever were the defects of this system, this was, at least in the early stages, the only time when a thorough purge of Nazism from German life was seriously attempted

Owing to German reactions and also to misgivings among MG officials the denazification procedure was turned over to the Germans by the famous Law "on the Liberation from National Socialism and Militarism" (March 5, 1946) with which the *second* denazification phase begins in the American zone[7] The statute, one of the most ambitious measures ever undertaken to penalize past modes of social and political behavior of an entire nation, compelled all adult persons to register It established five classes or degrees of identification with the regime, namely: Major Offenders (Class I—aiming at the real thugs and hooligans), Offenders (Class II—activitists, militarists, and large-scale profiteers), Lesser Offenders (qualified as probationers—Class III), Followers (*Mitlaufer*—Class IV), and those Exonerated (Class V) An appendix (patterned on CC Directive No 24) contained an elaborate list of positions and offices whose former holders were considered, on rebuttable presumption, as belonging to Classes I and II The law stipulated various sanctions for the different categories, applicable only to Classes I and II were internment in a labor camp for a maximum period of ten years; confiscation of property, loss of civic rights (in particular political rights); exclusion, permanently or for a limited period, from a profession or an economic enterprise (except manual labor). Minor economic or professional restrictions, periods of probation and fines, were penalties for the other classes All cases were to be adjudicated by German Denazification Tribunals (*Spruchkammern*) with an appeal to an appellate tribunal The presiding judge had to be a trained lawyer, the associate judges were to be nominated by the political parties The entire procedure was governed by due process of law

(2) As those among AMG familiar with the German mentality had not failed to predict, the experiment "to trust" the Germans themselves with purging turned in due course into a colossal juridical farce. The number of persons registered (close to thirteen million) made individualization impos-

[7] The measure was German-inspired and did not originate with AMG Its basic principles were drawn up by ranking members of the Bavarian ministerial bureaucracy who, while realizing that some degree of retribution was desirable, wished to protect the socially acceptable Nazis The measure was drafted with American assistance, General Clay being personally responsible for several of its major shortcomings, and was enacted by the *Laenderrat* in Stuttgart (see *infra*, p 534) as a joint measure for the entire American zone

sible, with the manpower available for about 400 courts the procedure would have lasted for decades. Since the trials were conducted in the locality where the accused resided, pressure to be lenient was brought to bear on the board and the public prosecutor (all laymen). The political nominees on the board leaned backwards not to alienate potential voters. Corruption was widespread and without social reprobation. The *Fragebogen* being the main evidence, falsifications were common and remained largely unpunished. Even where the tribunals were willing to administer justice according to the law, they resorted to the practice of downgrading to the Follower class, which resulted merely in a light fine. If charged at all, the vast majority were classified as Followers, which permitted their reinstatement in office, or as fully exonerated. About 85 per cent of those MG had previously removed from office regained it in due course. MG, prodded by dissatisfaction at home, could do next to nothing. General Clay's occasional threat that the procedure would be returned to MG was shrugged off by the Germans who considered it a huge joke on the Americans. The situation had slipped irretrievably out of MG's hands.

(3) During the *third* period, therefore, ranging from the end of 1946 to 1948, the initial program was further whittled away by sweeping amnesties and wholesale exemptions from the law which decreased the denazification load of the courts by 70 per cent. The amnesties of 1946 exempted youth (those born before 1919) and the small fry, that is those of low income who were declared non-chargeable by the prosecutor. The most fatal blow came with the amnesty of October, 1946, by which MG officially permitted downgrading of Class II Offenders to mere Followers of Class IV to whom no further restrictions were attached. From this benefited primarily the worst activists who had succeeded in delaying trial. Ironically, minor Nazis tried earlier had been sent to labor camps while the vast majority of the big criminals jubilantly paid their fines and were fully redeemed. Complete mechanization was reached with the next amendment (October, 1948) permitting denazification by postcard after the fashion of a traffic court (the so-called *B-Verfahren*). This was the final privilege of the remaining untried Nazi thugs and big profiteers, originally charged as Offenders and reclassified as Followers. Moreover, the *Land* governments at any time could request the reopening of closed cases or grant pardons, individually or wholesale.

The Directive of July 11, 1947, fails to mention denazification, obviously because it believed it of no further importance. In January, 1948 MG relinquished the right of approval for downgrading and in August, 1948 all MG control ended. A uniform procedure winding up denazification for the entire Western German state was under consideration by the Bonn parliament early in 1950.

According to the distinctive pattern evolved by the tribunals the vast majority were either exonerated outright, or, at the worst, classified as Followers; among these were practically all people of social standing in the community: nationally known figures such as university professors, captains of

industry who had exploited slave labor, editors and writers who had poisoned minds, high officials in civil service who had enforced the cruel Nazi laws. A relatively small number were placed in Classes III and II, and a mere handful in Class I, mostly quite unimportant minor local Nazis and hardly any "big shots" of the NSDAP. However, the procedure was not overly lenient towards a member of the former Party hierarchy provided he was not prominent socially. In a sense the denazification was the revenge of the "respectable" bourgeoisie against the socially unacceptable upstarts and roughnecks thrown up by the Nazi revolution. Those who had been the moral and economic supporters of the regime, who had financed and propagandized and waxed rich by it, were not affected.

The more the procedure was dismantled, the more the former Nazis, organized into powerful pressure groups and exploiting to the limit their impressive voting strength, clamored for its termination, denouncing it as at variance with democratic principles, penalizing a mere political error and undermining recovery and justice. The churches took up the cudgels; the political parties were anxious to disassociate themselves from the entire concept. In fairness, however, it should be noted that a goodly number of Germans and also leading newspapers were articulate in accusing the tribunals of leniency towards the real culprits and harshness towards the little fellow.

THE RESULTS OF DENAZIFICATION

The following figures[8] speak for themselves:

	Percentage	*Thousands*
Total registered	100.0	13,180.3
Not chargeable cases	73.8	9,738.5
Total chargeable cases	26.2	3,441.8
Chargeable cases completed	26.1	3,432.5
Amnestied without trial	18.9	2,487.3
Trials completed	7.2	945.2
Chargeable cases to be completed	0.1	9.3
Findings: Cases completed	100.0	945.2
Found as amnestied or proceedings quashed	100.0	314.6
Class I Major Offenders	0.1	1.6
Class II Offenders	2.3	21.9
Class III Lesser Offenders	11.1	106.1
Class IV Followers	51.1	482.7
Class V Exonerated	35.4	18.3

Particularly revealing are the figures for Class I which indicate that fewer persons were punished in this category than by MG courts in Dachau, Nuremberg, and elsewhere. The vast majority of the major Nazi criminals have disappeared in the lower classes, by being classified in a lower category from the start, by downgrading, or by escaping trial altogether.

[8] As of the end of May, 1949. See *Germany 1947–1949*, Department of State Publication 3556, European and British Commonwealth Series 9 (March, 1950), p. 111. They are almost complete, only 7,900 cases were still pending on appeal. Appeals as a rule resulted in downgrading.

Equally distressing are the statistics of sanctions imposed:[9]

	Thousands
Sentenced to labor camp	9 6
Fined	569 0
Temporarily ineligible to hold public office	23 0
Restricted in employment	724 2
Sentenced to special labor chores outside prison	30 4
Subject to confiscation of property	25 8

From these figures emerge two incontrovertible facts (1) The German denazification mills ground rapidly and exceedingly coarse (2) Denazification, intended as a self-purging operation of a remorseful nation eager to redeem itself before its own and the world's conscience by meting out fair justice to those who had brought ruin to their own people and untold misery to the world, ended as an unmitigated failure.

RENAZIFICATION

(4) The *fourth* stage of denazification actually is that of *re*nazification It means the return to office, to positions of influence and cultural or economic responsibility, of practically all former incumbents regardless of their Nazi past. A person cleared or "deloused" by a denazification board became eligible to any kind of public office The ministerial bureaucracies in the *Laender* saw to it—the explicit injunction of the law to the contrary notwithstanding—that their former positions and ranks were kept open for them Interim appointees to such offices were ruthlessly dismissed On the other hand, officials of the denazification machinery have become pariahs, as much as Germans working in MG offices, and, like these, find it almost impossible to obtain employment upon conclusion of their work Reinfiltration was particularly strong in the judicial and administrative services where the social solidarity of the bureaucracy successfully resisted any renovation by admission of democratically-minded officials even if professionally qualified Former membership is no longer an obstacle to a political career or elective office With active and passive franchise restored to all denazified persons in 1949, ex-Nazis began to enter the parliaments in Bund and *Laender*.[10]

THE REASONS FOR THE FAILURE

The failure of the American denazification policy could have been avoided only if it had not been undertaken at all It cannot be explained away by

[9] The figures are derived from the same source as above As to the sanctions imposed The maximum penalty of ten years in a labor camp was given to only a few convicted About 400 were sentenced to five to ten years, two-thirds to one to five years, one-third to below one year In practically all cases, previous periods of internment were deducted Of 14,000 assigned to Classes I to III in Bavaria, in 1949 only 55 were still in a labor camp Of those receiving fines 85 per cent had to pay less than 1,000 Reichsmark (which, before the currency reform of June, 1948, amounted to a few cents) Likewise property confiscations were mostly partial only Work outside a prison consisted in temporary assignment to a work squad for rubble clearing, etc Ineligibility and employment restrictions were subsequently lifted in almost all cases

[10] Of the 402 deputies of the first *Bundestag* (federal parliament) 53 or 13 per cent are former Nazis The percentage is even higher in some of the *Landtage* (*Land* parliaments)

the—rather debatable—assertion that the denazification record of the other powers is worse than ours[11] The assumption of Yalta, Potsdam, and JCS 1067 that vast masses of vigorous and socially respected people, in possession of the administrative and technical "know-how," could be eliminated for an indefinite period was fantastic to begin with Perhaps a restricted target, confining denazification to specified classes and occupations essential in the formation of public life, could have been reached, but even this is doubtful AMG contributed its share to the fiasco by failing to support from the beginning the anti-Nazi and democratic elements which did exist at that time and later by deliberately jettisoning the program to accelerate economic recovery Under the exigencies of the cold war any enemy of the Communists has become an American ally.

But the main fault lies with the Germans Like Prohibition, denazification foundered on the rock of public opinion Dolefully blaming the regime for the loss of the war and the ruins of their cities the Germans—with very minor exceptions—consider participation in it at the most a political error, but by no means as something even remotely morally reprehensible which would call for expiation What occurred in Germany on an unparalleled scale is the phenomenon—well-known to the psychiatrist—of "repression" (*"Verdrängung"*), by which they forced themselves to forget the past.

[11] In the British zone the procedure was almost identical though somewhat more realistically handled The French did a better job by individualization In the Soviet zone the big Nazis disappeared, either fleeing to the West or never being heard of again The small fry was soon amnestied and fully "redeemed."

CHAPTER XXIII

POLITICAL DEMOCRATIZATION

QUADRIPARTITE POLICIES

Both quadripartite and early American plans were more explicit on denazification, the negative aspect of political reconstruction, than on its positive corollary, namely the necessity of and the methods for filling the gap by democratic institutions and personnel. Yalta and JCS 1067 ignored the issue. Potsdam, however, significantly visualized democratization as a dual objective. On the one hand, democratic institutions on the educational, judicial, and political field were to be established and removed Nazis "shall be replaced by persons, who, by their political and moral qualities, are deemed capable of assisting in developing genuine democratic institutions." On the other hand, the ultimate goal of democratization was to be reached by the "decentralization of the political structure" and the "development of local responsibility," in the assumption that only a decentralized Germany, in which the central state is weak and the territorial units are strong, would be capable of being democratic. This equation or identification of democracy and decentralization was destined to bedevil the occupation powers and the Germans alike.

In the political field proper, Potsdam intended to promote democracy by local self-government through elective councils, admission of all democratic parties with rights of assembly and public discussion. Representative and elective principles were to be introduced into regional, provincial, and state (*Land*) administrations "as rapidly as may be justified by the successful operation of these principles in local self-government." Finally, "subject to the necessity of maintaining military security," freedom of speech, press, and religion and the formation of trade unions were to be permitted.

Subsequently, quadripartite steps were undertaken to implement this program on the fields of judicial reform,[1] and the re-establishment of trade

[1] Proclamation No. 3 (October 20, 1945) on the fundamental principles of judicial reform and CC Law No. 3 (October 20, 1945) on the reorganization of the judicial system. However, only in the Western zones was a certain degree of uniformity achieved in line with German

unions[2] Concerning the freedom of public opinion quadripartite results were most unimpressive, confining themselves primarily to standards to be followed by German politicians and to allowing belatedly and ineffectually the free exchange of printed material between the four zones In the fields of education and political organization, however, failing quadripartite agreement, each of the four zones developed its own pattern.

THE AMERICAN ZONE

In Western Germany the restoration of formal democracy was accomplished rapidly between the fall of 1945 and the summer of 1949, with at least outwardly notable success In retrospect the expectation that the Germans could be "taught" democracy merely by establishing democratic institutions may seem rather naive These democratic techniques had existed in Germany as far back as under the Second Empire when the Germans had enjoyed manhood suffrage in advance of most other states, not to mention the Weimar Republic which had been praised as the most perfect democracy ever devised on paper. The claim that MG had "trained" the Germans in the use of democratic processes is unfounded In technically managing democratic processes the Germans had relatively little to learn Belatedly, it was recognized that democracy does not mean the ability to operate democratic institutions, but that it requires democratically inspired people, party politics, and civil service The republican democracy of Weimar had perished because it lacked republicans if not democrats

AMG deserves credit for having translated Potsdam's rather vague recipes for democratization into concrete and well-phrased standards of democratic behavior Inspired by the best Jeffersonian tradition, they reflected the American democratic *credo* and reached world-wide prominence when submitted as the American political philosophy at the Moscow Conference (March-April, 1947) They deserve *verbatim* reproduction here.[3]

Democracy All levels of German government in the U S zone must be democratic to the extent that.

(a) All political power is recognized as originating with the people and subject to their control,

(b) Those who exercise political power are obliged to regularly renew their mandates by frequent references of their programs and leadership to popular elections;

(c) Popular elections are conducted under competitive conditions in which no less than two effectively competing political parties submit their programs and candidates for public review,

(d) Political parties must be democratic in character and must be recognized as voluntary associations of citizens clearly distinguished from, rather than identified with, the instrumentalities of the government,

---

tradition, while the Soviets at an early date revolutionized the entire judicial system in order to adjust it to its political ideologies See Karl Loewenstein, "Reconstruction of the Administration of Justice in American Occupied Germany," *Harvard Law Review*, vol 61 (1948) pp 419 ff

[2] Here the rather general CC Directive No. 31 of June 3, 1946, permitted establishment of local and intrazonal trade unions

[3] See letter addressed by General Clay as Governor to the Offices of the *Land* M-Governors of September 30, 1946, also see Department of State Publication 3556, p 155 These principles were first elaborated as guidance for the *Land* governments in drafting their constitutions.

(e) The basic rights of the individual including free speech, freedom of religious preference, the rights of assembly, freedom of political association, and other equally basic rights of free men are recognized and guaranteed,
(f) Control over the instrumentalities of public opinion, such as the radio and the press, must be diffused and kept free from governmental domination,
(g) The rule of law is recognized as the individual's greatest single protection against a capricious and willful expression of governmental power

This democratic catechism was further strengthened by the requirement that "German governmental systems must provide for a judiciary independent of the legislative and executive arms in general and the police activity in particular " However, no preference was stated for either the American system of the strict separation of powers, or the interdependence of the legislative and executive functions as under the cabinet system Authoritarian government, however, was clearly excluded

Furthermore, proceeding from the conviction—which, on the American side became a near-obsession—that only a largely decentralized political structure could comply with democratic standards, the policy statement strongly emphasized the federal solution for the future territorial organization. Subsequently, the American insistence on excessive federalization proved a thornier issue than the fulfillment of democratic requirements proper, and was responsible for many difficulties besetting the path of the new constitution for Western Germany. This program again should be quoted in full.

German governmental structure shall be federal in character (*Bundesstaat*) and the constituent units thereof shall be States (*Staaten*), not *Laender*[4] The functions of government shall be decentralized within that structure to the maximum degree consistent with the modern economic life U S policy concerning the relationships between levels of government requires

(a) All political power is recognized as originating with the people and subject to their control,
(b) Power shall be granted by the people primarily to the States (*Staaten*) and subsequently only in specifically enumerated and limited instances to a federal government,
(c) All other grants of governmental power by the people shall be made to the States,
(d) All powers not granted by the people shall be reserved for the people,
(e) A substantial number of functions shall be delegated by the States to the local governments These should include all functions which may be effectively determined and administered by local governments,
(f) Governmental powers may not be delegated to private or quasi-public economic bodies,
(g) Pending the establishment of a federal government, the popularly responsible governments and *Landtage* of the States shall act as the people's agents for the conferring of powers requiring central execution upon such transitional federal or central body or bodies as may be agreed upon by civil government and military governments, or may be directed by the latter

This equation of democracy and political decentralization, admittedly nurtured by American home experience, is not borne out by England and France, both thoroughly democratic nations in spite of a largely centralized

[4] This contrasting of *Staaten* and *Laender* is obviously a rather crude misunderstanding of the German terminology under the Empire and under Weimar

organization Moreover, the tacit assumption that a decentralized state is more dictatorship-proof than a more centralized organization is disproved by German experience Hitler seized power not by capturing first the Reich and thereby dominating the *Laender*, but, on the contrary, by seizing control first of some of the smaller federal units (Brunswick, Thuringia) and using them as the springboard for the assault on the larger states and finally the Reich itself.

CHAPTER XXIV

GOVERNMENT AND POLITICS IN THE AMERICAN ZONE: THE GERMAN LEVEL

ESTABLISHMENT OF THE *LAND* AUTHORITIES

As early as in the summer of 1945 AMG appointed in each of the three South German *Laender* of Bavaria, Wuerttemberg-Baden, and Hessen a prominent German of known anti-Nazis antecedents and presumed democratic persuasion [1] as Minister President, he, in turn, appointed, with MG approval, his cabinet. These MG-sponsored governments, without democratic mandate, were clearly authoritarian, faintly assisted, during the first half of 1946, by a consultative or advisory council (*Beratende Landesversammlung*) whose members were selected from among the four political parties that MG had licensed, namely the Christian Democratic Union (CDU), in Bavaria called Christian Social Union (CSU), Social Democratic Party (SPD), Liberal Democratic Party (LDP), and the Communists (KPD). [2] *Land* governments acted under instructions and supervision of the *Land* M–Governors who themselves were expected (but did not always comply) to follow the directives of the Theater Commander in Frankfurt and the Deputy M–Governor in Berlin respectively. In all cases the Minister Presidents offered full cooperation and proved equal to their task of leading their territories towards more normal conditions.

If by democratization was understood the holding of elections and the setting up of representative institutions the assignment was accomplished smoothly and rapidly during 1946. But while the acceleration of the procedure appealed to General Clay and some of his advisors, others were deeply alarmed by turning over to the Germans a large measure of responsibility before denazification, undertaken simultaneously, had insured a sufficiently democratic civil service and a political personnel of adequate democratic con-

[1] In Bavaria the first appointment had to be revoked since the appointee, Herr Fritz Schaffer, proved intractable. He became later Minister of Finance in the first cabinet of the Bonn government.

[2] For a full discussion of political parties see *infra*, pp. 546 ff.

viction The policy of "too early and too much" seemed to them a grievous and irretrievable error

The Germans in the U S zone were invited to conduct themselves as good democrats no fewer than six times in 1946. Municipal elections (January 30) were followed by county elections (April 28), city elections (May 28), and those for constitutional conventions or constituent assemblies (June 30), to be rounded out by plebiscites (referenda) on the constitutions drafted by the conventions and elections of the new diets (*Landtage*) in conformity with the constitutions (November 24 and December 1). The plebiscites resulted in sufficient though unimpressive majorities All elections were perfectly orderly and honest, with a large participation of the electorate, the Germans docilely voting when being ordered. MG felt inordinately proud of this democratic accomplishment In Bremen, added as the fourth *Land* to the U S. zone in 1947, the Parliament (*Burgerschaft*) accepted the constitution on September 15, 1947, it was ratified by the people on October 12, 1947.[3]

THE CONSTITUTIONS IN THE AMERICAN ZONE

Though technically adequate, the constitutions reveal, on the whole, little originality and are far from embodying a revolution in German political thinking Lack of inventiveness may be ascribed to the parochialism of their draftsmen and the intellectual vacuum in which they were hatched, only the (rejected) French constitution of April 19, 1946, could serve as inspiration Uniform as they are in proclaiming democratic aspirations, they differ considerably in institutional arrangements Haunted by the memory of the abuse of executive power under Weimar they focus on the legislative assembly (*Landtag*) elected for four years by the direct, equal, and secret suffrage of all citizens of twenty-one years, under application of a rather unrefined system of proportional representation "Splinter" parties which fail to receive a certain percentage of the total vote (varying from 5–10 per cent) are not considered in the assignment of seats Only Bavaria adopted the bicameral system by providing for a second chamber (Senate) of sixty members in a merely advisory capacity, chosen on the basis of professional and corporate groups All constitutions abstained from installing a state president Governmental and executive powers are entrusted to a Minister President, chosen by the majority of the *Landtag* for a four-year term In the selection of his ministers he is given considerable freedom

The constitutions vary concerning the relationship of the government (Minister President and cabinet) and the Parliament The position of the Minister President, to some extent patterned on the experience in Switzerland and the United States as understood by the drafters, is in theory stronger in Bavaria

[3] Elections results in the U S zone in 1946–47

	Number of Seats	*CDU*	*SPD*	*KP*	*Others*
Bavaria	180	109	51	8	12
Wuerttemberg-Baden	100	41	32	10	17
Hessen	90	34	43	7	6
Bremen	100	24	46	10	20

than in the other two South German states His and his cabinet's resignation may occur either on his own initiative or if "political conditions make a harmonious cooperation between the Minister President and the *Landtag* impossible" In practice this implies always a break-up of the government coalition, with the result that the opposition party would come into power or new elections must be held Contrariwise, in Wuerttemberg-Baden and in Hessen the rules of genuine parliamentarism prevail under which the withdrawal of the confidence of the assembly forces the government to resign Unless the new Minister President has been elected within four weeks (Bavaria) or ten days (Hessen) the *Landtag* is automatically dissolved, and new elections are to be held, a sensible precaution against prolonged cabinet crises In Wuerttemberg-Baden the resignation of the Minister President is effective only if the Parliament agrees on the designation of his successor, a provision later copied by the Bonn Constitution In addition, in all three *Laender* the *Landtag* may be dissolved by a popular referendum upon popular initiative—or decide self-dissolution by majority (Bavaria) Both contingencies are unlikely to occur In Wuerttemberg-Baden the government, not having a veto against legislation as in Hessen, in case of disagreement with the *Landtag* may submit the controversial legislation to a referendum

Otherwise the constitutions contain restatements of and also some improvements on Weimar such as provisions (presumably adequate) for a real independence of the judiciary, impeachment of members of the government before a state tribunal, determination of a controversial constitutional issue by a (relatively) independent state or constitutional court; a reasonably sufficient protection of the democratic order by excluding antidemocratic parties and restricting antidemocratic manifestations of public opinion, judicial review by the highest court, constitutional amendment by properly qualified majorities of the Parliament, and (in Bavaria and Hessen) with subsequent popular ratification, institutions of direct democracy by initiative and referendum on legislation and (in Wuerttemberg-Baden) also on constitutional matters Under certain conditions the governments are granted emergency powers involving the suspension of enumerated civil liberties, this power, remembering Weimar, is hedged in by certain judicial and parliamentary safeguards to prevent abuse by the government The constitutions are equipped with bills of rights of the traditional liberal and social pattern, elaborate to the point of verbosity, formulated somewhat more absolutely than is German custom, reflecting a definite clerical flavor in Bavaria and a mild tendency towards economic planning and state Socialism in Bremen and Hessen In the latter country, the provisions concerning compulsory nationalization of certain natural resources, banks, and insurance companies were approved, by a separate referendum demanded by General Clay, together with the constitution [4]

[4] Subsequently the entering into force of an implementary law enacted by a Socialist majority was vetoed by MG under the pretext that the matter could not be decided by one *Land* alone So long as the current party coalition of the federal legislature (*Bundestag*) remains there is no chance of socialization in Germany Laws on the related issues of works councils (*Betriebsrate*) and codetermination (*Mitbestimmungsrecht*) of factory policies by the trade

The constitution of Bremen, on the other hand, follows the tested pattern of Hanseatic city government It is probably the best and most progressive of all constitutions in the American zone

In line with German multiple-party habits and under the impact of proportional representation, in all *Laender* coalition governments of the three major parties became indispensable, controlled in Hessen and Bremen by the Socialists, in Bavaria by the Christian Democrats, and operating as a genuine working team in Wuerttemberg-Baden But the absence of political crises and the remarkable stability of the cabinets—in all cases they were still headed in 1950 by the same Minister Presidents—were less due to the wisdom of the constitutional arrangements than to the fact of military occupation which, at least until 1949, had artificially frozen the party configuration by the licensing system

ZONAL ORGANIZATION· THE *LAENDERRAT* (REGIONAL COUNCIL)

To dismember and dissolve Germany into independent states appealed only to the French American thinking from the start focused on a federal organization At an early date the pressing need for pooling food resources, pending the establishment of the central agencies under Potsdam, made imperative some degree of coordination of the three South German *Laender* In October, 1945, MG directed the Minister Presidents to establish a Regional Council—*Laenderrat*—in Stuttgart as the mechanism for cooperation in matters transcending the area of a single *Land,* and thus requiring joint regulation.[5] Guided by the Regional Coordinating Office of MG and supported by a permanent secretariat as steering committee, to which, in 1946, a Directorate was added, the Minister Presidents met at least once a month to adopt, by unanimity, measures elaborated and drafted by an able staff of German experts When approved by MG (OMGUS) they were submitted by each Minister President to his cabinet and thereafter promulgated for the individual *Land* by decree Adoption by the *Laenderrat* amounted in substance, if not in name, to uniform zonal legislation. Upon election of the *Landtage* under the new constitutions a Parliamentary Council was added (April, 1947) whose twenty-four members, representing parliamentary opinion, gave the institution a touch of democratic legality The twin pressures of widespread economic distress and the inescapable need for uniformity over so small an area usually produced agreement within the *Laenderrat* But after the establishment of the *Landtage,* resenting inroads into their legislative sovereignty, difficulties could not fail to appear Subsequently MG increasingly sided with the *Landtage* under the pretext that "uniformity though desirable was not necessary." Moreover, with the creation of the bizonal organization

---

unions which had been passed into Hessen and Wuerttemberg-Baden were likewise considered too Socialistic to find favor with AMG which vetoed them However, after the federal Parliament had failed to legislate on the issues for Western Germany as a whole, the ban was lifted by U S High Commissioner McCloy (April, 1950)

[5] Bremen was joined to the *Laenderrat* in 1947 more for political than practical reasons

in economic matters in 1947 [6] the usefulness of the *Laenderrat* became increasingly eroded Left to it mainly was the restricted area of the so-called *Justizgesetze,* that is, laws dealing with legal matters excluding economic and cultural subjects By the middle of 1948 the activities of the *Laenderrat* had almost completely dried out and its existence, shadowy and skeletal, was formally terminated in October, 1949, after the Bonn Constitution had become operative

Nonetheless, the *Laenderrat* deserves more than a passing reference in the evolution of post-War Germany The number (seventy-five) and importance of uniform zonal enactments are impressive Undoubtedly the most significant was the Law on the Liberation from Nazism and Militarism of March 5, 1946 Other statutes secured a modicum of legal uniformity at least in Southern Germany The bulk of legislation dealt with the impact of war and defeat on the economy of the devastated country. But the initiation of an incisive agrarian reform foundered on the resistance of the vested interests

No less important may seem, however, the psychological results achieved in bringing conquerors and defeated to a better mutual understanding and respect The *Laenderrat* proved an invaluable training ground for MG officials and Germans alike The relationship was one of healthy give-and-take It is to the credit of both that neither did the Germans resent American tutelage nor the Americans impose their opinions The Germans gained self-confidence to the point where the conservative bureaucracy which staffed the *Laenderrat* was able to minimize efforts of the American mentors to cross-fertilize German legislation with American experience This tendency was enhanced by the excessive policy of nonintervention in German domestic affairs which General Clay, after he had lost interest in his creation, enjoined on the American staff Moreover, it seems in retrospect that the American policy-makers missed a major opportunity for developing this emergency structure of voluntary cooperation between the *Laender* into a genuine federal government for South Germany which later, since a similar device of *Land* cooperation had been successfully evolved in the *Zonenbeirat* (Zonal Council) of the British zone, could have become the frame for a grass-roots federal government for Western Germany

THE BIZONAL INTERLUDE ECONOMIC MERGER OF THE AMERICAN AND BRITISH ZONES

The division into four zones of occupation split Germany into four independent segments which, like watertight compartments, were wholly isolated from one another Raw materials had become divorced from processors, manufacturers from markets, food-supplying farm regions from industrialized areas Consequently, the amount of calories available for feeding the population varied greatly between the four and even within the individual zones In the American zone a subsistence level could be maintained only by imports from the United States Moreover, the French and the Soviet occupa-

[6] See the section immediately following

tion forces lived off the German economy Without some degree of central coordination there was no hope to improve the living conditions When it proved impossible, because of French no less than Russian resistance, to establish the minimum of central economic agencies authorized by Potsdam, the rapidly deteriorating economic situation demanded a drastic change of policy

To a final request of the U S in the CC, in the summer of 1946, for economic unification only the British acceded They were responsible for the highly industrialized Ruhr where food scarcity of near-famine proportions resulted in the decline of coal production By September, 1946, agreement was reached, formalized and complemented by the Byrnes-Bevin Agreement (December 2, 1946), to merge the British and the American zones as a single economic area with the aim of attaining equal consumers' rations by equitable distribution of pooled resources and pursuing common import policies. Under bipartite agencies (Control Board [BICO] consisting of the two Deputy Governors, Secretariat, and Control Groups) six German-staffed committees of which the most important was the Economic Committee (at Minden, British zone) were expected to manage the economic affairs of the "Bi-zone" The results were moderate at best The committees were widely dispersed over the two zones without effective coordination The Germans were unenthusiastic because they did not wish to lend a hand in anything preluding a split of their country, from the start party quarrels between the Socialists and the CDU and LDP interfered Lacking enforcement powers and devoid of representative character the committees were unable to overcome the economic selfishness of the *Laender*.

The Anglo-American agreement of May 29, 1947, streamlined the government of the combined economic area (*Vereinigtes Wirtschaftsgebiet*) and increased its powers (1) The Economic Council (*Wirtschaftsrat*) consisted of fifty-two members; they were chosen—as token of their democratic legitimacy—by the *Landtage* of the *Laender* on the basis of the population of each *Land*—the traditional device of German federalism—and in accordance with the party strength in each *Landtag* The Council exercised, subject to bipartite approval, full legislative powers over the economic life of the combined area (2) The Executive Committee (*Exekutivausschuss*), composed of eight members (one from each *Land*), served as the coordinating and supervisory agency, in due course it came to wield more power than the pseudo-parliamentary Council Actual operational functions, however, were assigned to (3) the Directors who acted as the administrative managers of the five departments (Economics, Food, Agriculture and Forestry, Transport, Post and Telecommunications, Finance, Manpower) Of these, two (dealing with the postal affairs and railroads) had jurisdiction exclusive of the *Land* authorities much in the same way as the corresponding Ministries of the defunct Reich The other Directorates operated through the authorities of the *Laender* The Directors were responsible to the Council itself and not to the

Executive Committee All offices were located in Frankfurt and grew into a vast bureaucratic organization. The progress achieved consisted, next to improved coordination, in the fact that the enactments of the Economic Council, upon approval of the Bipartite Board, overrode any German regulation of intrazonal or zonal character and were binding directly on the *Land* authorities, however, they could not abrogate CC legislation

Once again, the arrangement, lasting from May 29, 1947, to February 9, 1948, fell short of expectations From the start it was shot through with party politics which, for reasons of "democratization," the occupation powers had deliberately introduced The Socialists felt, not unjustly, discriminated against by the appointments of CDU and FDP men to the key positions of the Directorates, while the Executive Committee and the Economic Council itself had Socialist majorities Different standards of denazification in the British and American zones led to constant friction Moreover, some of the agriculturally privileged *Laender* failed to cooperate in the implementation of the Council's enactments Open violations occurred, the most notorious was the "potato war" with Bavaria in 1947 The representatives conducted themselves rather as defenders of the states' rights than acting for the common good To discharge its legislative functions the Council was too small The legislative output was correspondingly unimpressive (sixteen laws in all) dealing mostly with food distribution The impasse was due, next to the unwillingness of the Germans to commit themselves to a Western solution of German unity, to the American policy which believed that it could square the circle between economic unification, states' rights, and democratic re-education in a single package

Another sweeping reform was undertaken early in 1948 [7] Since the German Minister Presidents disagreed among themselves and were only too glad to escape responsibility, the new organization again was imposed by MG The bizonal structure consisted now of five closely integrated organs, namely (1) the Economic Council (*Wirtschaftsrat*), (2) Council of States (*Laenderrat*),[8] (3) the Executive Committee (*Verwaltungsrat*), (4) the High Court (*Obergericht*), and (5) the Bank of German *Laender* Together with the reorganized Import-Export Agency (JEIA) the new setup was intended to give the Germans the maximum of economic self-determination compatible with MG supervision After the enactment of the *Land* constitutions it was the second sizable installment in the restoration of German sovereignty.

(1) The Economic Council, simply by doubling the number of its delegates, was enlarged to 104 members in order to alleviate the work load and to

[7] By Proclamation Nos. 7 and 8 (February 9, 1948) and (bizonal) Law No 60 (February 15, 1948), establishing a new bizonal economic organization, the High Court and the Bank of the German *Laender* The bizonal agreement was subsequently extended several times and remained in force until the establishment of the German Federal Republic and the Allied High Commission respectively The Bund became the successor in rights and duties of the Combined Economic Area (see Basic Law, Art 133)

[8] This term is identical with the one used for the loose coordination of the *Laender* in the U S zone, see *supra*, p. 534.

permit a greater degree of representativeness[9] Bowing to the inherent law of federal organization which requires, for economic reasons, adequate centralized powers, the Anglo-Americans were compelled to grant the Economic Council sufficient financial authority by allocating to it exclusively all revenues derived from customs, excise taxes, postal services, communications (railroads and transportation tax), together with an additional claim to the income and corporation taxes assessed uniformly by CC legislation and collected by the *Laender*, as well as sufficient power to enforce the enactments against recalcitrant *Laender* All Council legislation required bipartite approval

(2) The newly established Council of States (*Laenderrat*), the innovation of the reform, was a genuine second chamber representing, in line with German federalist tradition, the eight *Laender* Its sixteen members were the Minister Presidents and other prominent cabinet officials[10] who, thus, for the first time since the collapse, were officially drawn together in a joint organization; this institution was intended to obviate the dangerously increasing tendency of the individual *Land* towards political independence The main function of the Council of States was to participate in the economic legislation for the combined economic area by approval, amendment, or veto and thereby to assume responsibility for faithful execution In this the new organization was successful, most of the previous difficulties disappeared.

(3) The Economic Committee (*Verwaltungsrat fur das Vereinigte Wirtschaftsgebiet*) was raised to the level of a veritable government on the economic field Its five departments corresponded to the central agencies authorized by Potsdam, with a chairman without portfolio added He was also the president of the important Personnel Office, instituted under American prodding to break down the ingrained caste spirit of the German civil service Chairman and members were responsible to both the Economic Council and the Executive Committee and removable by vote of non-confidence of the former alone,[11] this contingency, however, never occurred

[9] The *Laender* participation and party strength may be seen from the following tabulation.

British Zone	Hamburg	4	
	Schleswig-Holstein	6	
	North Rhine-Westphalia	32	
	Lower Saxony	16	58
American Zone	Bavaria	24	
	Wuerttemberg-Baden	10	
	Hessen	10	
	Bremen	2	46
			104
Party composition	CDU and CSU	44	
	SPD	40	
	Liberal Democrats	8	
	Communists	6	
	Center Party	4	
	Economic Reconstruction Party	2	104

[10] The party composition was CDU/CSU, 5, SPD, 9, FDP, 2

[11] The chairman could be removed only by concurrent vote of both agencies

(4) The establishment of a bizonal High Court (*Obergericht*) (with the seat in Cologne), consisting of ten professional judges, was intended, by application and interpretation of bizonal legislation, to overcome the reluctance of the *Laender* courts to enforce legislation if deemed inconsistent with the economic interests of the respective *Land* Actually the Court had little work The Germans know a federal organization when they see one and are used to submit to its authority

(5) The Bizonal Bank finally, patterned on the American federal reserve system, reflected the American preference for decentralization of credit and banking operations It was authorized to issue bank notes, in which capacity it became subsequently the instrumentality of the successful currency reform (June 1940), to set the discount rates, and to determine the amount of reserves to be held by the member banks The Germans disliked the federalization of the banking system, partly because they are used to centralized control, partly, and here not without justification, because the Board, in which the *Land* governments are represented, could, by a majority of the economically weak *Laender,* determine the monetary policies for the entire area The banking structure was retained under the Bonn Constitution

To the bizonal organization belonged also the Joint Export-Import Agency (JEIA), an Anglo-American authority in which, however, the Americans as the bigger suppliers of German economic needs were preponderant Merged with the formerly separate Joint Foreign Exchange Agency (JFEA), it functioned to promote and control German foreign trade This institution, with a large staff of American and German experts, may be credited, together with the skill of German management and the work of German labor, with the amazing economic recovery after the currency reform

The reform on the German level necessitated also streamlining of the Anglo-American Bipartite Control Office (BICO), with the result that on the increasingly important economic field both the American and the British MG organizations were largely superseded by BICO Frankfurt became the real capital of Western Germany in substance if not in name Factually independent, however, from BICO remained the Joint Coal Control Board in Essen (Ruhr) which, in 1948, took the place of the previously British-operated North German Coal Control Board Responsible for the production and distribution of coal, it was operated entirely by Germans, the Management Board of German Coal Mining Industry (*Deutsche Kohlenbergbau-Leitung*) But neither Anglo-Saxon control nor the subsequent establishment of the International Ruhr Authority [12] could prevent the return to power of the coal barons and the steel masters who had dominated the Empire and the Weimar Republic, survived Hitler, and outwitted also military occupation.

GENERAL APPRAISAL OF THE BIZONAL ORGANIZATION

By repeated extensions, the bizonal set-up remained in operation until September 30, 1949, when the West German State succeeded it All told it

[12] See *infra*, pp 597 ff

enacted 117 laws and several hundred implementary ordinances, covering the economic field in the widest sense of the term and including taxation, agriculture, finance and budgetary matters, labor, and general relief of economic distress. Far more than an emergency institution, it laid in many respects the permanent foundations of German economic life Under the leadership of the Chairman of the important Economic Committee, Dr Ludwig Erhardt (a Bavarian member of the CDU), all government controls over production and consumption, rationing as well as raw material restrictions, were successively abolished After the currency reform—for which the Economic Council was not responsible—Germany was converted into a paradise of free enterprise operating under the laws of demand and supply The system, for which German semanticists have coined the term *"freie soziale Marktwirtschaft"* ("the free and social market economy"), is probably farther removed from state planning than any other present-day economy, Switzerland and the United States not excepted In this respect the adept pupils surpassed their American teachers

Looking to the other side of the ledger the Economic Council fell short of the American expectations that it would serve as a political training ground for the Germans Its parliamentarism was distorted and hybrid The Socialists, excluded from the key positions by a CDU-oriented bureaucracy, from the start went into a sulking and unconstructive opposition. The Council represented neither the *Land* parliaments nor the people at large, who continued to look to their *Land* governments for political guidance Knowing little of the Frankfurt organization and cordially disliking what little they knew of it, they blamed Frankfurt (and, of course, the occupation authorities) for all their hardships The absence of effective political controls and the American insistence on the maximum of noninterference favored the rise and entrenchment of a huge and domineering bureaucracy which ran the show with customary technical efficiency and equally customary disregard for democratic processes and values A bureaucratic foundation was laid which the Bonn Constitution could not undo But in fairness it should be stated that, as a stop-gap between a Germany totally fragmented into semi-independent states and the coming into existence of the Federal Republic of Western Germany, the Economic Council has served its purpose.

CHAPTER XXV

POLITICAL DEVELOPMENTS IN THE OTHER WESTERN ZONES

In spite of the unification program of Potsdam the political and administrative patterns in each of the four zones differ widely, strongly reflecting the impact of the political ideologies and techniques of the responsible occupying power.

1. THE BRITISH ZONE

In contrast to the American zone, the British, relying throughout on a staff numerically if not qualitatively superior, approached the democratization of their Germans with caution More pragmatic and less doctrinaire, they talked less about democracy and cared little for the seemingly insoluble problem of denazification Only at the end of 1946 did they proceed to the definitive regroupment of the territories under their jurisdiction, resulting in the establishment of the four *Laender* North Rhine-Westphalia, Lower Saxony, Hamburg, and Schleswig-Holstein On the other hand, they stressed intrazonal coordination under their own management. Central Offices (*Zentralamter*), closely integrated with the corresponding functional departments of British MG, though staffed primarily with Germans, were created (all told, eleven) for certain functional purposes (for example, for the administration of justice, finances, manpower, communications, etc) As agencies of the occupying power and not coordinated among themselves, they remained beyond the influence of the *Land* governments To achieve some degree of administrative uniformity informal contacts of the Central Offices with the *Land* Ministries were permitted

The Zonal Advisory Council (*Zonenbeirat*) was established (February 2, 1946) as a consultative agency of MG in more general matters transcending the area of a single *Land*. It did not, however, result in the coordination of the Central Offices At first an appointed body of thirty-two members, it was transformed (June 10, 1947) into a quasi-parliamentary institution of thirty-seven

members who were delegated into it by the *Land* parliaments (elected shortly before, on April 20, 1947) in accordance with the strength of the political parties of the latter[1] As a consultative intrazonal institution in matters affecting more than a single Central Office it retained its value long after the Americans had permitted the *Laenderrat* to wither on the vine, although the establishment of the bizonal authorities could not fail to cut deeply into its jurisdiction

The British were equally tardy in admitting their Germans to self-government In 1946 elections were permitted only on the local level. Following Hamburg (October 13, 1946) elections for the *Landtage* in the three other *Laender* were held (April 20, 1947) The electoral system conformed to the British principle of majority elections in single-member constituencies, with some modifications of the final result by a proportional assignment of seats from a "reserved" *Land* list (the so-called "mixed system") However, it cannot be claimed that different electoral methods have resulted in differences of party structure or voting attitudes

Nor were the British in a hurry to equip their *Laender* with constitutions whereby it may seem a moot point whether their motives were the tradition at home or the realization of the spurious character of such formalizations The Germans were thereby not in worse position than their compatriots in the other zones. Upon the establishment of the *Laender* British MG issued (December 2, 1946) the "organic" Ordinance No 57 Applying the well-tried colonial technique of "dyarchy," it heavily curtailed the legislative authority of the governments and parliaments of the *Laender* by reserving to MG full regulatory powers on fields permanently exempted from German jurisdiction (Schedule A); on certain other fields for emergency or transitional reasons (Schedules B and C), while on others the *Laender* had to follow MG instructions (Schedule D) Autonomy of the *Laender* thus was hardly more than nominal, they could only administer policies, but had little share in policy formation

Only after the establishment of the Bonn Government in the summer of 1949 were constitutions enacted, instead of by specially elected constitutional conventions, by the regular *Landtage* Schleswig-Holstein came first (January 12, 1950). It was fashioned and carried by the Socialist Party which, under the elections of 1947, possessed an absolute majority with an all-Socialist government. Certain tenets of the Socialist program, such as the limitation of agrarian holdings to 100 hectares (about 247 acres) or to a value of not more than 50,000 DM, and the abolition of denominational schools were written into the constitutions to protect them against amendments by ordinary legislation The political system adopted corresponds to the German "demo-authoritarian" version of parliamentarism which is rather based on the ascendancy of the Minister President, who can be removed from office, as a rule, only if the *Landtag* simultaneously has agreed on the person of his successor The proce-

[1] North Rhine-Westphalia, 20, Lower Saxony, 10, Schleswig-Holstein, 4, Hamburg, 3 members

dure of constitution-making and the validity of the constitution as a whole were violently contested by the CDU opposition, which had boycotted the drafting and refused to vote on it

Of greater importance is the new constitution of North Rhine-Westphalia, the most populous and economically leading *Land* and the veritable successor of defunct Prussia The constitution, likewise drafted by the *Landtag* elected in 1947, was ratified by a referendum, together with the election for a new *Landtag* (June 18, 1950) [2] Its most controversial feature was not the constitutional arrangement of powers, but, as everywhere else in present-day Germany, the decision for retaining denominational schools, the Catholic Church and clergy, cutting across party lines, were able to defeat the liberal-Socialist opposition Otherwise the well-drafted instrument differs from the older constitutions in Western Germany mainly in the exclusion of public officials from eligibility—another current controversy It provides also for popular initiative and referendum Its governmental structure conforms to the by now familiar pattern The Minister President can be removed during the *Landtag's* four-year term only if the latter agrees on the successor or—a novelty—if a popular referendum confirms the rejection of a government bill by the *Landtag,* conversely, if the people side with the government, the *Landtag* is dissolved

New constitutions, under preparation in Lower Saxony and Hamburg (which operated under a "provisional" instrument) by the regular parliaments, had not been completed at the end of 1950

2 THE FRENCH ZONE

Knowing, from long experience, the Germans better than any other power, the French went about the administration of their zone in a business-like and unemotional manner, free from any ideological illusions Supported by a relatively small but, on the whole, first-rate military and civilian staff, they concentrated from the start on the effort to make German youth of all classes—the generation below twenty represents at least one-third of the people—responsive to equalitarian values. In this long-range program they have perhaps a better chance of success than the American belief that the operation of the formal processes of democracy is a guarantee of effective democratic behavior They were aided by the fact that the people of their zone, affinite to France, are the most "Westernized" among the Germans Nor were the French inhibited by scruples of "nonintervention in domestic affairs" for the sake of creating democratic responsibility

Faithful to the basic conviction that any kind of centralization in Germany is incompatible with the security of France, the French did not countenance any zonal organization except informal and strictly functional contacts between the Minister Presidents of their three *Laender*—the Saar had been attached

[2] Figures of the referendum

For the constitution	57 0%
Against the constitution	35 2%
Invalid votes	7 8%

economically to metropolitan France at least since November, 1947—under close supervision of the French High Command (MG) Whenever uniform regulations for the whole zone were required, MG agencies attended to them, taking German advice but never delegating powers to a German zonal organization such as the *Laenderrat* or the Zonal Advisory Council in the other two Western zones.

The same distrust cautioned them against a premature transfer of political responsibility to the Germans No *Land* authorities were tolerated except on the lowest administrative levels When granting them constitutions could no longer be postponed, popularly elected constitutional conventions were dispensed with and the local assemblies, acting as electoral colleges, were ordered (1946) to create in each *Land* a consultative body to draft constitutions under High Command instructions. They were ratified by referenda (May 18, 1947) with only minorities of the eligible voters participating, the constitutions in Wuerttemberg-Hohenzollern and Baden were accepted by comfortable majorities; in the Rhineland-Palatinate it narrowly escaped defeat On the same day *Landtage* were elected in which the CDU obtained absolute majorities in the two *Laender* first mentioned and nearly so in the third

The constitutions, revealing in all cases the preponderant clerical influence, do not require detailed discussion except for the general statement that, on paper, they come closer to the genuine parliamentary system as practiced in France than those either of the American or British zone However, the appearance of political self-determination is largely deceptive Ordinance No 95 of the French High Command (June 9, 1947)—roughly corresponding to the American instructions of September 30, 1946 [3]—made the *Land* governments subject to the orders of the French MG Certain public fields were entirely removed from German jurisdiction Proposals on denazification, decartelization, and democratization had to be communicated to the High Command in advance of their introduction in the *Landtag* Unwilling to allow coordination of even so small a territory, the French prohibited the Germans from legislating "in the fields of economics for which coordination of the *Laender* is required." On the strength of this provision the parliaments could not even discuss matters of economics, food, agriculture, or transport Moreover, the Germans were held to obtain advance clearance of all legislation coming before the parliaments, and the French not infrequently disallowed even enactments that were passed by the parliaments To all intents and purposes the *Land* authorities have only a phantom existence befitting the phantom character of these artificially created miniature "states " Yet at least the Catholic-controlled *Land* of Baden developed in short order a statehood feeling which gave it the nuisance value of successfully obstructing the generally desired regroupment of the entire area into an economically and politically viable South Western state

For similar reasons of retaining maximum control the French resisted any integration of their zone into the bizonal organization Even after the establishment of the German Federal Republic in 1949 the French occupation

[3] See *supra*, pp 528 f

bureaucracy continued to keep the German authorities under a tight and expert control

Evidently the French plan to stay in their bridgehead on the right bank of the Rhine for an indefinite time Owing to the French ability to understand their mentality the Germans resent the tutelage of the French administration less than the cold superciliousness of the British or the well-meant if clumsy "re-education" approach of the Americans

It is a natural law that the occupied nation dislikes the occupiers Nonetheless, six years of close acquaintance with the four powers have taught the Germans to differentiate An epigrammatic summary of what the Germans think, perhaps would read like this The Russians are hated and respected The British are respected and not liked The French are respected and, to some extent, liked The Americans are liked but not respected.

CHAPTER XXVI

POLITICAL PARTIES

PARTY DYNAMICS UNDER THE OCCUPATION

For the successful operation of the democratic process, political parties, as the transformers of the mass will into tangible public policies, are indispensable In addition, the Western concept of political democracy requires the competition for public office of at least two political parties Translated into continental political habits party competition implies their unrestricted multiplicity.

PARTY CONTROL BY LICENSING

The Potsdam Agreement provided that "all democratic political parties with rights of assembly and public discussion shall be allowed and encouraged within Germany" The condition that parties be "democratic" required MG controls, exercised more or less identically in all four zones by the technique of individual licensing In the American zone the procedure implied the submission, by the founders or charter members of a group intending to operate as a political party, of the program, the by-laws, the names of the officials, and a certain number of signatures of supporters To comply with these requirements was none too difficult, the paper being patient Party programs everywhere are distinguished by vagueness, and ex-Nazis were careful not to appear as sponsors The license was granted, upon checking on the political antecedents of the applicants, at first by the MG *Land* authorities and, after trial and error, by the Political Activities Branch of the Civil Administration Division of OMGUS which could not claim to be one of the most effective groups of the MG organization.

The mechanics of licensing were little changed subsequently MG Regulations, redrafted in March, 1947, found it necessary to enjoin impartiality towards the admitted parties on the personnel charged with the supervision of the political parties The rule did not efface the anti-Socialist bias of MG officials who would not understand that the SPD is the strongest bulwark of democracy in Germany. Expellee and refugee political parties were disallowed,

in the—erroneous—belief that forcing them into other parties would accelerate their assimilation

All told, the Allies licensed thirty-one different political parties (excluding all duplications)

Licensing became pointless after denazification had ended. Relaxed before the elections to the Bundestag in the summer of 1949, it was finally abandoned in the American zone in November, 1949, and somewhat later in the other Western zones also During the entire period in the U S zone no party-owned press was admitted, unlike the British practice, in the belief that the press should be "neutral," although it would have been more honest to have press organs with generally recognizable party labels instead of exposing the public to the political indoctrination of the private owner or the editorial staff

THE REBIRTH OF POLITICAL PARTIES

Since July, 1933, when, with the exception of the NSDAP, the Nazi regime had dissolved all existing parties and prohibited their reconstitution, independent parties had ceased to exist However, the Communists and, to some extent, the Social Democrats had succeeded in maintaining a certain degree of underground cohesion and were able to reconstitute themselves under their former names almost immediately after the Nazi collapse The bourgeois parties, on the other hand, completely absorbed and digested by the Nazi Leviathan, had to create entirely new party cadres which, however, almost automatically reverted to the traditional pattern, with some relabeling of the old party firm names and some refurbishing of the old programs No new party denoting a radical departure from previously prevailing political habits was formed until the emergence of expellee parties in 1950

Considerably before being officially licensed, Christian Democrats and the Liberal groups had established, by unofficial contacts, a loose frame of association In 1945 in the Soviet zone political parties were permitted as early as June; in the American zone on August 27; in the British zone in October, and in the French zone in December Early in 1946 the four parties of the CDU, SPD, LDP, and KPD were duly licensed in all zones At first authorized only on the local level and soon thereafter for an entire *Land,* they reached by unavoidable private contacts the stage of zonal and nation-wide organization Only the French, averse to any centralization, continued to prohibit integration of the parties licensed in their zone into interzonal groupings Subsequently, several regional parties were licensed [1]

THE GERMAN ATTITUDES TOWARDS POLITICAL PARTIES

The appraisal of political parties in post-War Germany must take cognizance of certain peculiarities of political life conditioned by the occupation In the *first* place, licensing served as a brake on, and in no wise as an encouragement of, party dynamics Since the press was equally controlled by licensing, the Germans had no outlet for their real or imagined grievances Criticism of the

[1] See *infra,* p 557

occupation powers (including until the break [1948] also the Soviets) was outlawed No real opposition party could develop, with the result that the so-called "middle-of-the-road" parties, CDU and FDP, became the political refuge of the discontented, and were inflated far beyond their real strength by voters who, for lack of a party corresponding to their actual convictions, temporarily supported others [2] By being canalized into the four major parties, party life was hybrid and largely artificial When, therefore, with the abandoning of licensing in 1949, the "freeze" thawed, a large-scale realignment of the electorate was bound to occur

Second From the start the Germans were, and remained, extremely wary of committing themselves to any political party Denazification had taught them that to identify themselves with a party may lead *ex post facto* to undesirable consequences; why should they again run a similar risk? This explains why actual party membership was, and still is, exceedingly low, even in large cities with an electorate of several hundred thousands, the enrolled membership is insignificant. The exception is the SPD where Party loyalty is instilled by the trade unions [3]

Third· The high percentage of the registered voters casting their ballot is no indication of their interest in political parties, or in politics, for that matter. The docile Germans go to the polls when told. The relatively high voting percentages in the early stage (about 78 5 per cent) were mistaken by the illusionists in AMG as genuine interest in political life, actually they are traditional in Germany and were lower than in the period from 1930 to 1933 (exceeding 80 per cent). Later they declined visibly This behavior is less apathy than, in addition to the preoccupation with their daily life—food, shelter, job—their deep-rooted distrust of parties as valuable instruments of politics The indifference amounting to hostility against any and all parties is particularly marked among the youth of practically all classes, with the exception of the Communists. Nor have the records of the parties and parliaments since 1945 contributed much to convince the Germans of their essentiality for political life

Fourth Party life in the past, under the Empire and Weimar, let alone the Nazi regime, was controlled by a relatively small and self-appointed oligarchy of party leaders or bosses (the *"Bonzen"*) on whose selfish decisions the voter or the party member had no influence whatsoever. This situation was aggravated by the system of proportional representation under which the voter did not vote for a candidate of his choice but merely for a slate

Fifth Practically all parties are embodiments of ideologies (*"Weltanschauung"*), conforming to the philosophic propensities of the German mind As a rule the voter adheres to a party not because of the pragmatic policies it represents or the personalities representing it, but because the party platform (or what he believes the platform to be) comes closest to his ideological convictions. Since people are rarely given to changes in their basic

[2] The disfranchisement of certain Nazi categories was an additional factor of the inarticulateness of the opposition, numerically it did not amount to much (5 per cent at the maximum)

[3] Dues-paying members in 1947 numbered 875,000, including, however, Western Berlin where the Party is organized as a fighting unit against Communism

philosophies, the parties are relatively stable, a situation enhanced by the proportional system which tends to deprive the popular will of its flexibility

Finally, there was, and still is, an excessive scarcity of capable and respected party leaders Of the men of Weimar few survived who had not compromised themselves Some of them who climbed with beaver-like eagerness on the old party horses, do not command respect Exiles were disliked because they were exiles Genuine anti-Fascists and democrats of whom there were some, were not encouraged by the occupation authorities

ANALYSIS OF POLITICAL PARTIES

The following analysis of political parties [4] describes the first period under MG licensing Developments in the second period, initiated with the elections for the Federal parliament in the summer of 1949, are largely unpredictable

(1) *THE RELIGIOUS PARTIES*

(a) ***The Christian Democratic Union (Christlich-Demokratische Union [CDU]).*** Throughout the period the CDU, together with its Bavarian affiliate, the Christian Social Union, was the numerically strongest and politically most important party It is basically the heir and successor organization of the Catholic Center Party which, under the Empire and the Weimar Republic, drawing its strength from all classes of Catholicism, had proved to be the stable middle-of-the-road party In response to the anti-religious policies of the Nazis the CDU broadened its basis to include Protestants, thus gaining support in regions which heretofore had not favored the Center Party. Lately, however, the bidenominational claim of serving as the common bond for all Christians has become more programmatic than real, large sections of the Protestant middle classes and farmers began to turn to other bourgeois parties, evidently because they resented the increasing influence of the Catholic hierarchy and clergy

Programmatically the CDU focuses on the dignity of man, seeking to solve social, cultural, economic, and political issues by applying the principles of Christian tradition and teaching Christianity is considered the supreme human value to overcome materialism and the aberrations of Marxism However, the program of Ahlen (1947), in conformity with the recently streamlined economic theory of the Vatican, recommended a middle course between unbridled private capitalism with its exploitation of the masses, and any kind of state Socialism While private initiative is to be preserved, excessive concentration of economic power should be overcome by the establishment, for monopolistic industries, of public corporations in which the State, municipalities, and the workers are to participate. Lately these anti-capitalistic overtones have completely disappeared, the party firmly stands behind free enterprise and the private ownership policies of its leading economist, Dr Ludwig Erhard, who, as head of the Economic Committee of the bizonal organization and subsequently as Economics Minister of the Federal Government, was chiefly re-

[4] Comparison with the Weimar period (see *supra*, pp 421 ff) is recommended

sponsible for the re-establishment of unmitigated *laissez faire* capitalism. However, the economic policies of the CDU are by no means homogeneous, a strong left wing (led by Karl Arnold and Jakob Kaiser), not dissimilar to the *Mouvement Républicain Populaire* in France and supported by the Christian elements of the trade unions, favors the more Socialist approach in economics. In the educational field the CDU stands strongly for denominational schools with compulsory religious instruction, an issue which appears disguised as the right of the parents (*Elternrecht*), and not of the State, to decide which type of school their children should attend, in practice this means preference of strictly denominational schools Politically the CDU favors the federal, as opposed to the unitary, solution Proportional representation is rejected in favor of the single member majority system

Sociologically the CDU cuts across all classes Strongest in the Catholic rural districts and among the Catholic middle classes, it also contains influential elements of the high bourgeoisie and big business Geographically its strength lies in the French zone, in the Rhineland and Westphalia, and, as the domain of the CSU, in Southern Bavaria But there are islands also in North Western Germany

The CDU was the strongest party in the elections of 1946–47 in five *Laender* (North Rhine-Westphalia, Wuerttemberg-Baden, and the three in the French zone) It shared in the coalition governments of all *Laender* except in Protestant Bremen, Hamburg, and Schleswig-Holstein It held the key positions in the bizonal organization, dominated the Parliamentary Council preparing the Bonn Constitution [5] and obtained the largest number of seats (139 out of 404) in the Bonn Bundestag. The party leader, Dr Konrad Adenauer, became the first Chancellor of the Western German Republic. However, in the elections of 1950–51, the party fared badly even in its customary strongholds

(b) ***The Christian Social Union (Christlich-Soziale Union [CSU]).*** In spite of close similarity of religious, political, and socio-economic tenets the CSU, an organization confined to Bavaria, prefers a working agreement to an alliance with the CDU It continues and deepens the policies of the former Bavarian People's Party which, after World War I, broke loose from the all-German Center Party and constituted itself as a separate, conservative, and strictly federalistic party of its own [6] The original intention of its founder, Dr Joseph Muller, one of the shrewdest of German politicians, to form a genuine Left-wing Catholic party, was soon frustrated by the old-line party bosses who in due course slanted it to the Right and gave it its arch-conservative and even reactionary flavor. It is an outspoken church party, exploiting the parochialism of the backward Bavarian peasant and the equally ignorant petty bourgeoisie in the smaller towns Its extreme federalism, nurtured by the congenital hatred against anything smacking of Berlin or Prussia, led

[5] See *infra*, pp 563 ff

[6] The term federalistic (*foederalistisch* in German) is not identical with the word "federal" in English It denotes the extreme states' rights position, with definite overtones of statehood

Bavaria as the only *Land* to the rejection of the Bonn Basic Law The absolute majority the CSU held in the 1946 elections (104 out of 180 seats) was trimmed down, in 1950, to 64 out of 204 seats But in fairness it must be noted that the CDU, led by Dr Hans Ehard as Minister President, possesses the art to rule The Bavarian civil service dominated by the CDU is as efficient as any comparable group.

Owing to the destruction of Prussia as a political entity, internal policies of Bavaria, the second *Land* in population and area, have repercussions quite out of proportion to her relatively weak economic and financial position Bavaria has become the witches' cauldron of party politics, possibly the Celtic origin of the Southern Bavarians, whose political habits are reminiscent of the Irish, has something to do with it From the start the CSU was heavily inflated because of the influx of nationalists and rightist elements without a party cubicle of their own choosing But soon the radical Economic Reconstruction Party and subsequently the Bavarian Party,[7] cut deeply into the ranks of the CSU Both parties, running only in Bavaria, scored substantial successes at the *Bundestag* elections of 1949 (twelve and seventeen seats respectively) Fighting, thus, on two fronts, against the Socialists and the new parties to the Right, the CDU is headed for an uncertain future. In the *Landtag* election of November, 1950 it was badly trounced and, for the first time in Bavarian history, failed to be the majority party

(c) ***The Center Party (Zentrumspartei).*** The Center Party, unlike its famous namesake under the Empire and Weimar, is a distinctly left-of-center party to which, according to its program, Christianity and Catholicism are so self-evident that they defy support by a political party In social and economic policies it stands close to the Socialists with whom, together in the *Landtag* of North Rhine-Westphalia, they voted unsuccessfully for the nationalization of the basic Ruhr industries in 1948 In cultural and educational questions it sides with the CDU For the time being, operating primarily in the British zone, the party is supported by the Catholic proletariat and the lower middle classes, without that admixture of rich people and businessmen characteristic of both CDU and CSU. A merger with the CDU was overwhelmingly rejected in January, 1949 Its numerical strength is as yet insignificant Although it did not fare too well in the elections for the *Landtag* of North Rhine-Westphalia in June, 1950, it may constitute, in the future, a serious competition to the CDU and serve as a bridge between the CDU and the SPD.

(2) *THE SOCIALIST PARTIES*

(a) ***The Social Democratic Party (Sozialdemokratische Partei Deutschlands [SPD]).*** The SPD was, from the start, more fortunate than the other parties in that it could count on the traditional loyalty of the older members of the trade unions Like the Socialist parties elsewhere it is better organized and disciplined than its bourgeois competitors An efficient party bureaucracy guides the masses of dues-paying members. It is the only German party

[7] See *infra*, p 557

holding (since 1946) annual party conventions As the strongest bulwark of a democratic and social republic in the past it could qualify as the government party *par excellence* of a democratic and social Fourth Reich. Its record towards Nazism and in denazification was impeccable.[8]

The SPD no longer adheres to orthodox Marxism Ideology and phraseology of the class struggle have disappeared in program and propaganda This made it possible for considerable sections of the white-collar workers, the middle-class bourgeoisie, and intellectuals to vote for, if not to join, it In this respect it closely resembles the British Labor Party, though there exists no formal organizational link with the trade unions as in Britain Nor has the SPD the religious, non-conformist ingredients of its British counterpart Programmatically[9] the SPD believes, like British Labor, in "the inevitability of gradualism" Economically the primary target is the public ownership or socialization of the monopoly industries, in particular the vast steel and coal trusts of Rhine and Ruhr, but this is not equivalent to nationalization which, in addition to an unmanageable bureaucracy, would facilitate the surrender of the basic industries to any aggressive government Public ownership is conceived as the establishment of a system of mixed public corporations in which management and labor, cooperatives, the consumer, and the municipalities and the (central or *Land*) governments will be represented Under a program described as "regulated market economy" unbridled *laissez faire* and total planning are equally rejected As a step towards the final goal the SPD demands the codetermination of labor in the management policies of the enterprises (*Mitbestimmungsrecht*).[10] On the formulation of the Bonn instrument the Socialist postulates had little influence.

The SPD is on firmer ground in its political program. All parties pay lip service to the principles of democracy. But the SPD is the only one whose democratic convictions are reliable and sincere Had AMG given more support to the Socialists and indulged in less fawning on the "respectable" people, democratization would be in a better shape today As a strong advocate of political unity the party rejects all brands of separatism and exaggerated states' rights In clear recognition of the permanent deficiencies of a country dependent on imports of food and raw materials, the SPD favors the decentralized unitary state, here in conflict with the American insistence on extreme federalism as a guarantee of democracy In educational matters the SPD, in line with its anticlerical tradition, strictly adheres to the secular solutions Its agricultural

[8] The SPD had voted as a body and as the only party against the Enabling Act of March 24, 1933 No former Nazis are among its present leaders or parliamentary personnel

[9] The previous party programs of Erfurt (1891) and Heidelberg (1925) are considered obsolete A new program is under preparation

[10] In this, as in other aspects of their program, the SPD was consistently opposed by free enterprise and anti-Socialist-minded men in AMG and even disowned by the British MG which, after all, represented a Labor government at home Implementation by the *Landtag* of the mild socialization provisions of the constitution of Hessen—at first, on General Clay's orders, subjected to a special referendum—was vetoed by AMG The same fate befell the majority decision in favor of the nationalization of the *Landtag* of North Rhine-Westphalia (1948), which was vetoed by the British under the pretext that the decision should be left to a Western German parliament On the enactment of the codetermination principle by federal statute see *infra*, pp 609 f

policies are still the weakest part of the program It has, therefore, no appeal for the peasants.

However, under the tight and at times ruthlessly authoritarian leadership of Dr Kurt Schumacher, the SPD, like the Jacobins of the French Revolution, has become violently nationalistic For a member of the Second International traditionally devoted to international cooperation, to vote, for example, against the Republic's entry into the Council of Europe may appear paradoxical The virulent neo-nationalism can, perhaps, be explained by vote-getting tactics and the irresponsibility of an impotent opposition into which the party was forced almost from the beginning For the occupation powers the SPD was the least tractable of all major parties

The SPD was, until 1950, the strongest party in five of the eleven *Laender* (Lower-Saxony, Bremen, Hamburg, Schleswig-Holstein, and Hessen) where it held the positions of Minister President In all other *Laender* it came second in strength In the *Bundestag* elections of 1949 it came a close second to the CDU (131 seats), had Western Berlin been included, the SPD as the strongest party would have been entitled to form the government As an all-weather party it is more immune to accidental fluctuations of the electorate than most other parties though it may lack in emotional appeal for the younger generation Yet, in the South German elections of late 1950 it captured, riding the crest of the anti-rearmament wave, the strongholds of the CDU even in Bavaria and Wuerttemberg-Baden

The SPD and the Trade Unions Differently from Britain—where the trade unions constitute the formal backbone of the Labor Party and are no less influential for the policies of the Labor Government than the Labor Party convention—the trade unions in Germany are not affiliated officially with any political party However, traditionally they are intimately tied up with political parties The Social Democrats, having the lion's share, controlled the so-called free trade unions (*Freie Gewerkschaften*) of industry, white-collar workers, and civil service; the Catholic Center Party commanded allegiance of the separate Christian trade unions, and even the Liberals had a (very insignificant) trade-union following of their own After 1945, the SPD gained ascendancy over all trade unions in the Western zones which, reconstituted on the local, *Land,* zonal and bizonal levels at an early date, gradually were amalgamated (October, 1949) into organizations extending over all of Western Germany By June, 1951, the trade unions reached, with a membership of 5,641,000, the greatest consolidation of power in the history of the German labor movement, and constituted what is probably the most formidable pressure group in Germany Different from American unionism, the German trade unions, rather than operating as gigantic pressure groups for obtaining higher wages and better work conditions, are political instrumentalities of the SPD. As yet no separate trade unions aligned with other parties have been reconstituted [11] In wage

[11] Of the twenty-seven members of the governing board of the Federation of Free German Trade Unions (*Freier Deutscher Gewerkschaftsbund*) only two are members of the CDU, all others belong to the SPD.

policies the trade union leadership is conservative Wages had been frozen at first by the occupation powers, thereafter an increase of 15 per cent was permitted, finally, controls were completely lifted (November, 1949) However, strikes for wage increases were frowned on though they occurred sporadically as protests against dismantling, food shortages, or other acute grievances The trade unions concentrate their energies on rebuilding German industry and regaining the export markets. However, the German trade-union movement is far ahead of the unionism in the United States in its advocacy of codetermination (*Mitbestimmungsrecht*), easily the most controversial issue of German social policies. It is the demand for full and equal partnership of the trade unions with the management in the operation of all factories and plants, including the determination of production quotas, procurement and investment policies, introduction of new working techniques, layoffs and curtailment of operations, and all other matters materially affecting the joint interests of labor and management in the plant. This is the German approach to implementing political by social and economic democracy It goes beyond the existence of works councils (*Betriebsräte*) for handling labor grievances and protecting the social rights of the workers, which had existed before, under, and after Hitler, intended to culminate in a national Economic Parliament As a substitute for the continued low wage level it may seem inadequate to American labor, as it does to many German workers From the long-range viewpoint it may well constitute a persuasive answer to both the Soviet state-controlled labor movement and the effort to depoliticize labor by wage concessions as in the United States. Codetermination for the coal and steel industries was obtained, by the bold strategy of the trade-unions under the leadership of the late Hans Boeckler, in alliance with Chancellor Dr. Adenauer, in the spring of 1951 [12]

Although the overwhelming majority of trade union members—there is nothing resembling the Anglo-Saxon closed-shop concept—are loyal members of the SPD and its most reliable dues-paying group, the trade unions, to some degree, have emancipated themselves from the old-style alliance with the SPD This is reflected by the decrease of union officials among the SPD deputies in the *Bundestag* [13] The trade-union leadership also has begun on occasion to bargain with the different parties and even to disagree with the SPD on important issues (such as the Ruhr Authority) It is by no means impossible that sooner or later the trade-union organization will again split into sections affiliated with different parties even though in this case the SPD will retain the loyalty of the majority.

(b) ***The Communist Party (Kommunistische Partei Deutschlands [KPD]).*** One of the four original parties licensed in the Western zones, the KPD drew its initial strength from its anti-Nazi record and the prestige of

[12] See *infra*, pp 609 f

[13] Only seventeen out of a total of twenty-two union officials, five are members of other parties In the parliaments of the *Laender* the trade-union secretaries constitute a much larger element in the SPD

the Soviet victory[14] After the merger of the SPD and KPD as the Socialist Unity Party (SED) in the Eastern zone[15] in March–April, 1946, repeated attempts in the Western zone at converting itself into an affiliate of the Soviet-controlled SED were vetoed by the MGs. The Western KPD participated officially in the Soviet-sponsored first "People's Congress" in Berlin (December, 1947). For tactical reasons the KPD officially severed its relations with the SED in the Soviet zone (January 2, 1949), this move, however, neither increased its popularity among the working classes nor changed the allegiance of its strictly disciplined followers to Moscow. Intensified administrative harassment by both the German authorities and MG, in line with the progress of the cold war, resulted in driving the party organization almost completely underground, but it participated in all elections and at this time (beginning of 1951) it has not been officially outlawed even though the Bonn and various *Land* constitutions provide for the prohibition of antidemocratic parties; the reasons for its continued legal existence lie primarily in the hesitancy of creating an ominous precedent.

Programmatically the KPD is believed to endorse the streamlined Stalinism enjoined on all present-day Communist parties. Socialism can be achieved only by the dictatorship of the proletariat, arrived at by political, social, and economic revolution which will entail the destruction of capitalism and the nationalization of all means of production. However, the official party program (June 24, 1949) skillfully toned down these long-range aims by focusing on tangible economic remedies for the distress of the working classes. Major emphasis is placed on a foreign policy program to appeal to all nationally-minded Germans: unity and peace for Germany, withdrawal of all occupation forces, freedom from foreign economic control. Politically the centralized state with supremacy of the popularly elected chamber is favored, pointing up the Soviet concept of "assembly government."

The KPD derives support exclusively from the solid core of fanatics in the industrial proletariat in metropolitan areas and factory towns, strongest in the Ruhr, Mannheim, and Hamburg. But the Communist vote declined continuously from about 10 per cent of the total in 1946–47 to less than 5 per cent in 1949–50, in the *Bundestag* elections the KPD obtained only 15 (out of 402) seats. But these figures do not tell the whole story. It is reliably reported that many Germans voting for other parties found it wise to insure themselves against the day of a Communist seizure of power by taking out clandestinely membership cards in the KPD. Big business not only profits from the illegal trade with the East but also makes substantial contributions to the party chest. While it is true that Communism in Western Germany has dwindled to the size of a splinter party, it can hardly be assumed that a party which, in 1932, polled six million votes, has ceased to be a potential threat.

[14] The early practice of including Communist Ministers in the coalition governments of the three South German *Laender* was terminated when the last was dropped in Wuerttemberg-Baden (May, 1948).

[15] See *infra*, p. 633.

(3) *THE LIBERAL PARTY (FREIE DEMOKRATISCHE PARTEI [FDP])*

The sizable group which goes by the name "Free Democratic Party" is probably the most interesting phenomenon in the structuration of political parties. The Free Democrats are actually Liberals, the genuine Manchester article of full-fledged economic *laissez faire,* representing the German version of the Hoover-Taft business liberalism familiar to the American student as "rugged individualism." But while in most other European countries this variety is almost extinct (England, France, Italy) it flourishes, at least for the time being, in post-War Germany where a concatenation of fortunate conditions—generous American aid to recovery, American predilection for free enterprise, the aversion of the people against rationing and austerity, the impotence of the working classes and the recapture of its dominant position by big business—have combined to restore a liberal paradise and this in a country which, congenitally incapable of matching imports by exports, may have seemed predestined for reasonable economic controls

The four regional groups believing in *laissez faire* that had sprung up after 1945 coalesced (December, 1948) into the consolidated party organization of the FDP It is difficult to assign to the party its proper location in the German political spectrum. It is not only the heir of the genuine liberal-democratic tradition of 1848 and 1919, but also the successor of big business and heavy industrial interests formerly organized in the National Liberal Party of the Bismarck period and the German People's Party of Weimar It means different things to different people, individually and regionally But it developed definitely into a party of the Right for which democratic values are identical with free enterprise, rejection of all state controls, and unmitigated private capitalism Compared with economic tenets, the other planks of an intrinsically contradictory platform mean little, but the party is genuinely anti-clerical, fighting for strictly secular education, and, in demanding a more centralized state, approaching the position of the SPD. In denazification its record is about the worst of all political parties [16]

The FDP is supported primarily by the upper middle classes and other professional sections of the urban bourgeoisie including many white-collar workers, in addition to anti-clericals and conservative Protestants unwilling to vote for the CDU Together with the CDU it benefited most from the absence of a professedly Right party The success of the currency reform in 1948 and economic recovery since are largely attributed to the rebirth of private capitalism proclaimed by the FPD The striking advances in voting strength appear as the payoff, though actually the party's success is predicated on the Marshall Plan aid Between the elections of 1946–47 and those for the *Bundestag* in 1949 the FDP increased by 80 per cent, it holds, with fifty-two seats, the third rank in

[16] It should be remembered (though not unduly stressed) that two of its leaders, namely the present President of the German Federal Republic, Theodor Heuss, and the Minister President of Wuerttemberg-Baden (since 1945), Reinhold Maier, as deputies of the State Party, voted for the Nazi Enabling Act of March 23, 1933. Of the fifty-odd former Nazis in the *Bundestag* the vast majority belong to the FDP

the Bonn Parliament. Since 1945 it has participated in the coalition governments in Hessen, Wuerttemberg-Baden, Wuerttemberg-Hohenzollern, Hamburg, and Bremen. But of all bourgeois parties it is the most artificially inflated and the most likely to succumb to nationalist pressure from the Right.

(4) *SPLINTER PARTIES*

Since 1945 a debate has raged in Germany whether the propensity of the Germans to express their ingrained political individualism in as many separate groups as corresponds to their factional differences, could have been arrested if, instead of proportional representation, the principle of straight majority decisions in single membered constituencies had been adopted as the electoral technique The former undoubtedly favors the multiple party development Whether the latter as it is claimed would have led to a stable two-party system may be open to doubt, but at any rate it would have either wholly eliminated or at least reduced the frequency of small, for the most part only regionally important, parties which the Germans call splinter parties (*Splitter-Parteien*). Their existence contributed crucially to the instability of governments under Weimar.

(a) ***The Economic Reconstruction Party (Wiederaufbaupartei [WAP]).*** The party, licensed in 1946, is a strictly regional phenomenon, thriving in the climate of Bavarian emotionalism Nurtured by sheer demagoguery and opposition for the sake of opposition, it is bossed, not without conflicts, by a Hitler-type intellectual crank, Alfred Loritz It caters to the underprivileged, particularly among the expellees and refugees, and obtained rural as well as urban support In the *Bundestag* elections it fared remarkably well (twelve seats) With the emergence of a genuine refugee party, however, it lost heavily (December, 1950)

(b) The Bavarian Party (Bayernpartei [BP]). Likewise a product of the Bavarian political hothouse is the BP (licensed in 1948) which is distinguished by its ultra-federalistic program. Actually it aims at a quasi-independent state of Bavaria, linked with the other German *Laender* merely within a loose confederation Skillfully exploiting the Bavarian aversion against "centralizing" Prussia—even though Bavaria herself since the Napoleonic period was the paragon of administrative centralization—and with a strong appeal to the monarchist tradition and separatism, the BP succeeded in obtaining in the *Bundestag* elections seventeen seats In the *Landtag* elections (November, 1950) it became the third strongest party

(c) ***The German Party (Deutsche Partei [DP]).*** The DP, mostly confined to the British zone, continues the tradition of the German Hanoverian or Guelph Party which, never reconciling itself with the annexation and assimilation of the former Kingdom of Hanover by Bismarck in 1866, had remained a separate party group under the Empire and Weimar A plebiscite in 1924 to accomplish the establishment of a separate *Land* Hanover, though failing by a substantial margin, demonstrated the tenacity of the Guelph tradition. When the British, realizing that here organically grown territorial

aspirations required recognition as a political entity, created the *Land* Lower Saxony, the dream came almost true The party constituted itself as Lower Saxony *Land* Party (*Niedersachsische Landespartei*) and served also as the receptacle of conservative rightists with no other place to go. To facilitate the expansion to other *Laender* it reorganized itself as the German Party in 1947 Of all German parties it comes closest to being a genuine conservative party on the pattern of the British Tories. It is predominantly a Protestant group, supported by the rural population of all classes, by no means separatist as its Bavarian counterpart, traditionally favoring the reactivation of a strong Reich in which the individual members remain loyal members. It is strongest in Lower Saxony where, in 1947, it gained 28 out of 149 seats, but is also represented in Bremen and Hamburg In the *Bundestag* it holds 17 seats and was invited to join the Adenauer coalition government which required its support to obtain the necessary majority.[17]

[17] On later party developments see *infra*, pp. 613 ff.

SECTION FOUR. *THE FORMATION OF THE WESTERN GERMAN STATE (DEUTSCHE BUNDESREPUBLIK)*

CHAPTER XXVII

DRAFTING THE "BASIC LAW" (BONN CONSTITUTION)

THE LONDON SIX-POWER ACCORD

It is a tragic reflection on the history of our time that the re-establishment of the second German Republic, rather than being guided by its intrinsic merits, became a move in the game of international chess played by the United States and the Soviets The Moscow Conference of the four Foreign Ministers (March 10–April 25, 1947) was the last serious effort of the powers to square their divergent approaches to solving the German issue with the Potsdam Agreement It proved abortive On June 5, 1947, the (then) Secretary of State George C Marshall announced the grand scheme of American economic assistance to Europe which later on became the celebrated Marshall plan It included in due course, if not from the beginning, Western Germany as recipient of aid and as equal partner in European economic recovery After the break-up of another perfunctory attempt at the London Foreign Ministers Conference (November 25–December 10, 1947) the Western powers had convinced themselves that the integration of Germany into Western Europe could be accomplished only on the basis of the partial solution of a Western German rump state To this end the bizonal economic cooperation initiated in December, 1946, was pushed forward to the point of complete economic fusion of the British and American zones (December 17, 1947) The next logical step was to overcome the heretofore adamant resistance of the French against any kind of German central organization even if limited to the Western zones This was attempted in two conferences in London to which the Benelux countries (Belgium, the Netherlands, and Luxembourg) were admitted, the first held from February 23 to March 6, 1948, the second from April 20 to June 2, 1948 French apprehensions, justified by the experience of Germany's three wars of aggression and occupations within two generations, were allayed by special promises in the London Accord for controlling the war potential of the Ruhr, the perennial threat to the security and peace of France Subsequently, after the Anglo-Saxon Powers had tried to circumvent

the French by Law No 75, which played ownership and management of the Ruhr key industries into the hands of their former owners, scantily veiled as "trusteeship," new negotiations with the French led finally to the creation of the International Ruhr Authority (December 28, 1948) The other price to be paid for French consent to Western Germany's unification was the establishment of the Military Security Board (January 19, 1949) for the continued enforcement and supervision of German disarmament and demilitarization.

However, the London Accord did not succeed in persuading the French to agree to a closer integration of their zone with the other Western zones But they accepted the currency reform (June 20, 1948) for their zone and, in October, 1948, consented to common foreign trade policies by sending a member to the Joint Import-Export Agency Otherwise they retained the factual independence of their zone until September, 1949, when the Allied High Commission Charter [1] placed all Western Germany under joint Allied control

On the other hand, the London Accord laid the foundations for the formation of a unified German state At long last the governments saw fit to take the policy determinations out of the hands of the generals The document outlined in detail all steps "to give the German people the opportunity to achieve on the basis of a free and democratic form of government the re-establishment of the German unity at present disrupted" a Constituent Assembly, composed of delegates to be chosen by the *Landtage,* was to be convened by the Minister Presidents of the eleven *Laender* to write a constitution, to be finally ratified by the people of the respective *Laender,* various roadblocks of MG approval were properly interposed. Nor was the content of the constitution to be a government of their own choosing, to use the dated language of the Atlantic Charter. It was not to be the constitution of a centralized Reich, but "a federal form of government which adequately protects the rights of the respective states, and which at the same time provides for adequate central authority and which guarantees the rights and freedoms of the individual " But this American-inspired masterpiece of unintentional doubletalk failed completely to spell out what kind of federalism the Allies desired or would countenance. The formula was chosen because the Allies among themselves did not agree

The London document thus is less a green light for the Germans than an order of the traffic cop to drive ahead and do it fast The Western German politicians were utterly reluctant to comply with the Allied injunctions, fearing to be branded later as "collaborators" who had accepted a "dictated" constitution, and recoiling from the responsibility of putting, with their own hands, the seal on the final partition of their country Both the Allies and the Germans realized that the procedure chosen, or imposed, was a far cry from the free and sovereign exercise of the *pouvoir constituant,* universally recognized as the inalienable right of a sovereign democratic people The constituent power was strangely attenuated by being canalized through the *Land* governments and parliaments, both deriving their popular mandate from elections as

[1] See *infra,* pp. 592 ff

far back as 1946–47 and no longer corresponding to the will of the people as evidenced by the recent communal elections Moreover, the final product did not only require the approval of the M–Governors but was also to be limited, as was Weimar by the Treaty of Versailles, by an Occupation Statute in which the occupying powers in advance reserved for themselves largely unspecified powers The only genuinely democratic feature of the arrangement, namely the ratification of the constitution by the people of the *Laender,* was later dropped at the insistence of the Germans themselves who were apprehensive of the popular reactions for much the same reasons they did not press for a popularly elected Constitutional Convention To qualify, therefore, the constitution-making procedure as democratic is subject to definite reservations, an argument that was not lost on the Soviets and the Germans in the Eastern zone On the other hand, it has to be granted that there was hardly any other way open A national assembly would not have been tolerated by the Allies as signifying "centralization," and the mass of the German people, just emerging from the economic chaos by the bootstraps of the currency reform, cared little for any constitution. And it is a moot point whether the Germans, if left to their own devices, would have written any, or any better, constitution

THE ESTABLISHMENT OF THE PARLIAMENTARY COUNCIL

The Minister Presidents of the eleven Western German *Laender*[2] convened in Frankfurt (July 1, 1948) and officially acting as the collective representation of the peoples and governments of the *Laender,* were handed by the three M–Governors (Generals Clay, Sir Brian Robertson, and Koenig) three documents implementing the decisions of the Six-Power London Conference Document I specified that the constituent assembly should be convened on September 1, that the delegates should be selected by the *Landtage* on the basis of one for each 750,000 inhabitants, and that in each *Land* should be selected a number of delegates in proportion of the population of the *Land* to the entire population in Western Germany. The constitution was to be valid when accepted by the people of two-thirds of the *Laender* In compliance with the regulation, the *Landtage* subsequently arranged that the number of delegates the *Land* was entitled to were distributed among the parties according to their relative strength in the parliaments Document II directed the Minister Presidents to re-examine the existing state boundaries with the objective of eliminating states which were disproportionally big or small This request remained a dead letter from the start, the task of the territorial regroupment was too ambitious to be undertaken at that time, if at all Neither the Bonn Constitution nor later the authorities organized under it were able to tackle this assignment except for prescribing legal procedures for it Not even the imperatively required regroupment in South Western Germany could be accomplished to date. Document III outlined the relationship between the powers assigned to Western Germany and those the Allies

[2] Of these five each belonged to the CDU–CSU and SPD, one to the FDP.

wished to reserve for themselves while the occupation continued The problem of the Occupation Statute proved most troublesome for the Germans as well as for the Allies for the former because they could not reasonably be expected to draft a constitution without knowing where its jurisdiction began and ended, for the latter because they could not agree among themselves Only after another Foreign Minister Conference was the final text of the Occupation Statute published (April 8, 1949)

The Minister Presidents, meeting at Koblenz (July 8–10), were unwilling to accept unreservedly the proposals of the M–Governors Some of their inhibitions were of small importance They refused to call the constitution a constitution, preferring the allegedly less pretentious term "basic law" (*Grundgesetz*). This implied that Western Germany, being rather a fragment of a state than a state (meaning not having full sovereign rights) could not well write a full-fledged "constitution" This did not prevent them from drafting one of the most ambitious and voluminous instruments of its kind in our time. For similar reasons they preferred the name "Parliamentary Council" (*Parlamentarischer Rat*) to the more ominous term "constituent assembly." The Allies did not object More serious was the German objection against taking the responsibility for a constitution which would intensify the split with the East This was overcome later by the claim that the constitution should be valid for all Germany But, afraid of their own courage, they preferred ratification of the completed document by the *Landtage* instead of by the people In this the Allies yielded In a joint meeting of the M–Governors with the Minister Presidents in Frankfurt (July 26) face-saving formulas were finally agreed on.

In August the *Landtage* elected the delegates for the Parliamentary Council When assembled in the university city of Bonn on the Rhine, on September 1, 1948, it consisted of sixty-five members, with five delegates from Western Berlin admitted as guest observers without vote The Germans had wished to include the Western sectors of Berlin as a full-fledged twelfth state, but the Allies refused, partly because this would have constituted an imprudent provocation of the Soviets—at that time the final outcome of the Berlin blockade could not be foreseen[3] The Council consisted exclusively of parliamentarians (that is, members of the *Landtage*) Moreover, it is significant that fifty-one among the sixty-five delegates were at the same time civil servants. The Council thus was a convention of bureaucrats and professors without independents or people from outside with fresh ideas. The sociologi-

[3] Number of delegates from the eleven *Laender*

Baden 2, Bavaria 13, Bremen 1, Hamburg 2, Hessen 6, Lower Saxony 9, North Rhine-Westphalia 17, Rhineland-Palatinate 4, Schleswig-Holstein 4, Wuerttemberg 2, Wuerttemberg-Baden 5	65	Party composition SPD 27, CDU–CSU 27, FDP 5, Center Party 2, DP 2, KPD 2	65

Since delegates were selected by the *Landtage* on the basis of the elections of 1946–47, some parties which had made their appearance since, were unrepresented, others, most of all the CDU–CSU, were overrepresented for the same reasons

cal background of the group explains, as it did in the case of the *Paulskirche,*[4] much of the excessive legalism and perfectionism of the completed document But it came close to the German ideal of political work done by the *Fachmann* (technical expert).

THE DRAFTING OF THE CONSTITUTION BY THE PARLIAMENTARY COUNCIL

TECHNICAL ASPECTS OF THE COUNCIL'S WORK

The Parliamentary Council elected unanimously Dr Konrad Adenauer, Chief Mayor of Cologne, a prominent Catholic politician under Weimar and the leader of the CDU, to the office of the President of the Assembly

Legally the Council was nothing else than the collective representation of the eleven *Landtage* Its function was strictly consultative Similar to the Philadelphia Convention, it could draft, but not enact, a constitution Nor had the subsequent adoption by two-thirds of the *Landtage* a truly constituent character The Constitution derived its validity from the authorization of the occupying powers acting through the M–Governors The delegates were neither under instructions of their parliaments nor of the *Land* governments, they conducted themselves as free agents, operating, however, most of the time, as representatives of the different political parties[5]

The Constitution was given four readings (instead of the usual three) in fifty-six plenary sessions[6] The customary hard work was done in efficient committees The debates proceeded at first rather leisurely and were animated by the spirit of mutual compromise Later the Council ran into such rough weather, because of the fundamental conflicts between the leading factions of the more unitarian Socialists and the outspokenly federalistic Christian Democrats and the increasing interference of the M–Governors, that the entire work was in danger of collapse Inept publicity techniques and the more dramatic events of the Berlin blockade and airlift contributed to, but were not solely responsible for, the complete lack of interest, let alone enthusiasm, that the German people demonstrated for the work of Bonn, the common man had learned by now how little the spurious exercises in constitutional semantics of the elaborate *Land* constitutions meant for the daily life The only point on which most people felt satisfied was the disappearance of Prussia as a state

Constitutions, as a rule, do not spring as original creations from the constituent assemblies as Minerva from the head of Jupiter, they are derived, to

[4] See *supra*, p 391.

[5] Prominent members of the Council were, next to Dr Adenauer, Adolf Suesterhenn (CDU), Minister of Justice of Rhineland-Palatinate, Carlo Schmid (SPD), professor of international law of the University of Tuebingen, the leading constitutionalist of the assembly, Dr Walther Menzel (SPD), Minister of the Interior of North Rhine-Westphalia, Dr Thomas Dehler (FDP), President of the Court of Appeals of Bamberg, Max Reiman (KPD) The Berlin delegation of Paul Loebe (former President of the Reichstag under Weimar), Professor Ernst Reuter (Chief Mayor of Western Berlin), Otto Suhr—these three SPD—and Jacob Kaiser (CDU) was distinguished

[6] Three additional sessions were devoted to the electoral law, see *infra*, pp 601 f

a large extent, from previous constitutional thinking The Council could draw on the experience of the *Land* constitutions. Foreign constitutional experience was mostly ignored, owing to the ingrained German conviction that what is good for other nations, cannot be good for them Of their own preparatory work for the new Constitution the most important were the so-called *Herrenchiemsee*-Resolutions, elaborated (from August 10 to 24, 1948) by a "constitutional convention" (*Verfassungskonvent*) composed of constitutional experts appointed by, and working under the auspices of, the eleven Minister Presidents, this semiofficial draft showed German nonpartisan constitutional talent at its best, combining political liberalism with a tolerably federalistic approach [7]

CONSTITUTIONAL CONTROVERSIES

Controversies concerning the content of the Constitution divided the German parties in the Council, the Allies themselves and, currently, the Allies and the Germans Although there existed disagreement between the Allies and the Germans on such points as the role of the civil service, the independence of the judiciary and judicial review, basically the differences pertained to what kind of federalism the Germans should adopt. This was likewise the principal conflict among the Germans

German Disagreements. Curiously little conflict arose on the political structure of parliamentary government Here the two larger parties were in the same boat in agreeing on the necessity of a strong and stable government which, however, should be prevented from becoming "legally" dictatorial The position of the President and the issue of the dissolution of the lower house were likewise solved with due regard to the experience under Weimar Deep cleavages, however, developed about the federalist solution The CDU wished a return to the federal system that had existed at the beginning of the Empire when the federal Government could exercise only the minimum of central powers enumerated by the constitution and was financially dependent on subsidies of the member states The SPD and the FDP favored a more centralized federal Government, imperatively required by the economy of a highly industrialized country The division of jurisdiction between the federal and the *Laender* governments and its corollary, the distribution of financial revenues between them, remained controversial throughout This affected the structure of the second chamber, whether to be an instrument of federal con-

[7] Other preparatory materials included the following (1) The Resolutions of Ellwangen (April 13, 1948) and Dusseldorf, reflecting the extreme federalist and conservative viewpoints of the Catholic political intelligentsia and officialdom, (2) drafts supporting the SPD ideology of a more centralized structure, namely, *Directives for the Structure of the German Republic,* issued by the SPD in 1947, and *Draft Proposal of a West German Statute* by Walther Menzel, (3) constitutional proposals prepared by the zonal Advisory Council of the British Zone, (4) constitutional plans influenced by, or originating with, the Eastern Zone Socialist Unity Party (*Constitutional Principles of the German Volksrat* [People's Council]) and *Draft Constitution of the German Federal Republic* (reflecting the assembly type of government sponsored in Soviet-controlled states), (5) finally, the Council was acquainted with the *Declaration of Human Rights* under discussion by the United Nations Most of these materials were conveniently published by OMGUS under the title, *German Constitutional Proposals and Comparison of the Drafts of the Constitution*

trol as it was traditional in Germany, or a genuine second chamber on American and Swiss patterns, as preferred by the SDP

Allied Divergent Approaches. Allied disagreements likewise centered primarily on the type of federalism to be recommended to the Germans They had existed at the time of the Moscow Conference and later, but were believed to have been adjusted by the vague compromise formula of the London Agreement The French, having resigned themselves that their preference of a loose federation of quasi-independent states was unobtainable, did what they could to limit the powers of the central government The British, no great believers in written constitutions anyway and naturally inclined to favor the Socialists, would not have objected to the return to the more centralized structure of the Weimar federal system But the Americans, more dogmatic and energetic than the others and holding the financial whip hand over both the Allies and the Germans, were unable to cut themselves loose from the belief that decentralization equals democratization.

Disagreements Between the Allies and the Germans and MG Intervention. To the first draft, completed by the middle of November, the M-Governors reacted by the *Aide Mémoire* of November 22, 1948, holding that it deviated from Allied interpretation of Document I which, it should be stated in fairness, never had been spelled out to allow the Germans to understand what the Allies, meaning the Americans, meant by federalism The Germans were advised that the powers of the federal Government should be limited to those explicitly enumerated in the Constitution and that certain functions (education, religious affairs, social welfare, public health, police) must not be included In the fields of public finance—the establishment of federal agencies or the administration of federal services by the *Laender*—the memorandum threw the full weight of Allied pressure behind the extreme federalist solutions, aiding, thereby, the CDU-CSU From now onwards the SPD was clearly driven into opposition

Upon submission of the revised draft (after the third reading) the M-Governors, in a memorandum of March 2, 1949, insisted that, in several instances, their previous interpretation of the London Accord had not been followed by the Germans On several points they were correct, such as the German noncompliance with the request for curbing the authoritarian influence of the bureaucracy [8] While the CDU did not quarrel with the Allied insistence on further attenuating the centralization features in question, the SPD felt that more concessions to MG desires were incompatible with the minimum requirements of a workable federal state The grave deadlock was finally solved by a direct intervention of the Foreign Ministers who, in the meantime (April 8, 1949), had succeeded in Washington in agreeing on the Occupation Statute Obviously it was felt in Washington that the international

[8] The obduracy of the Germans in acceding to the Allied intentions of converting the German bureaucracy from a privileged class into an instrument of public service subordinate to the government had compelled the M-Governors of the British and American zones to enact, on February 21, 1949, Law No 15 on Bizonal Public Servants, which, among other reforms, excluded officials from serving as deputies in parliamentary bodies.

situation did not justify the foundering of Western German unification on what may appear retrospectively minor jurisdictional squabbles on the financial arrangements Consequently, the Germans had their way and, on May 8, 1949—which happened to be the anniversary of unconditional surrender—the Basic Law was finally accepted by a majority of 53–12 [9] MG approval was given on May 12, 1949, with a number of reservations which, however, are little more than of a declaratory and face-saving nature [10]

It may be asked whether, under these circumstances, the constituent will of the Western German people could, or has, expressed itself freely While it can hardly be denied that, without MG intervention, the final form of federalization would have been slanted more towards the unitarian experience of Weimar and that, if Western Berlin could have been included, the SDP would have become the strongest party with the claim to forming the government, it is equally certain that the Council neither was, nor did it consider itself, the agent of a foreign principal By no means was the Constitution "dictated" [11] On the other hand, there is no doubt that Allied intervention, not without ulterior motives in spite of the proclaimed political neutrality, strengthened the position of the CDU at the expense of the SPD

RATIFICATION OF THE BASIC LAW BY THE *LANDTAGE*

Ratification by the *Landtage* took place in due course (May 18–21, 1949) Since all *Laender*, with the exception of Bavaria, accepted the Basic Law with substantial majorities, it entered into force on May 23, 1950 [12] It is, after the Paulskirche Constitution of 1848 and the Weimar Constitution, the third democratic instrument of government of Germany

[9] The dissenters were six deputies of CSU, two of the DP, two of the Center Party, and the two KPD members

[10] They referred to the exercise of the federal police power, the continued exclusion of Berlin from the Constitution, the retention of the present *Laender* boundaries (with the exception of South Western Germany) until the peace treaty, the direct exercise of federal functions in the *Laender*

[11] For an authoritative German statement see Hermann von Mangoldt, *Das Grundgesetz*, Berlin-Frankfurt 1950, p 17 "All told, there is nothing to it that the Basic Law is legislation imposed on by the M-Governors"

[12] See the tabulation of the voting results in the *Landtage* in *Germany 1947–1949*, Department of State Publication 3556, p 282 In Bavaria the rejecting majority (May 20, 1949) was 101–63, the bulk of the CDU voting against ratification because the Basic Law was deemed too unitarian However, in a second vote, accepting the Constitution as binding for Bavaria because accepted by two-thirds if the *Laender* had ratified it, the majority was 97–6 (SPD and FDP, having voted before in favor, now abstaining) This double vote is a characteristic example of evading responsibility

CHAPTER XXVIII

ANALYSIS OF THE BONN CONSTITUTION

THE FEDERAL STRUCTURE

Next to a preamble, the Constitution is divided into ten major sections: I Basic Rights (Arts 1–19), II the *Bund*[1] and the *Laender* (Arts 20–37); III The Federal Parliament (*Bundestag*) (Arts 38–49), IV The Federal Council (*Bundesrat* [Arts 50–53]), V The Federal President (Arts 54–61), VI The Federal Government (*Bundesregierung* [Arts 62–69]), VII Federal Legislation (Arts 70–82), VIII Execution of Federal Legislation and Federal Administration (Arts 83–91), IX The Administration of Justice (Arts 92–104), X Financial Matters (Arts 105–115) As concluding section follows XI Transitional and Concluding Provisions (Arts 116–146), dealing primarily with the task of liquidating the disastrous heritage of the Nazi period and the legal and administrative fragmentation resulting from the occupation This section is touched on in the following discussion only when occasion arises

THE TERRITORIAL BASIS

In modern constitutional experience the federal structure of a state is primarily evidenced by the line of demarcation drawn between the jurisdiction of the central (federal) authority and the member states in matters of general and fiscal legislation and administration, on the one hand, and the protection of states' rights against federal encroachment, on the other Next to the jurisdictional distribution of federal and state powers it is the participation of the states in the formation of the will of the federal state which matters most, usually this function is performed by the upper house or second chamber, which under Bonn is called the Federal Council (*Bundesrat*) In both respects the Bonn Constitution follows the Weimar precedent much more

[1] The official translation (see State Department Publication 3556, pp 285 ff) uses for *Bund* the inaccurate term "federation", in constitutional theory a federation is an association of states which, while delegating some powers to a central authority, retain their full identity as sovereign states To avoid terminological confusion the term *Bund* is used here

closely than German and Allied preoccupation with "true" federalism had suggested On the whole, the federal clock has been put back by minutes only and not by hours.

However, what distinguishes Bonn sharply from Weimar is that a transformation of the territorial basis had occurred before the Constitution was written Prussia, whose overwhelming power had dominated all previous federal solutions, had been extinguished as a state A regroupment of the member units had taken place by *fiat* of the occupation powers which resulted in a large-scale map redrawing None of the eleven *Laender* composing the *Bund* is so preponderant in size or population as to require a special protection of the smaller units. The territorial division of Western Germany, once the artificial dwarf units in the French zone have disappeared by consolidation into a single South Western state,[2] may seem as well balanced as can reasonably be expected in a people so assiduously preserving its tribal and historical individualities Nonetheless, Article 29 provides for an eventual territorial regroupment within the federal area "in consideration of regional unity, historical and cultural interrelations, economic rationality and social structure," to be accomplished, within three years, by federal legislation on the basis of initiative and/or referendum. Although such territorial regroupment is mandatory under the Constitution, it is likely that vested interests will do their best to frustrate it [3]

FEDERAL AND LAND LEGISLATION

As in the United States and most other federal states, sovereignty ("the exercise of state powers") and the presumption of legislative priority lie primarily with the *Laender* (Arts 30, 70) Since the federal fields of legislation are strictly enumerated (Arts 73, 105, par 1) the *Laender* have the residual powers In line with the Weimar Constitution the legislative powers are split into three categories, namely those exercised by the *Bund* exclusively, those exercised concurrently with the *Laender,* and those fields in which the *Bund* may set general standards (*Rahmengesetzgebung*) to be observed by *Land* legislation To keep the federal Government on a meager diet was the basic therapy for a healthy federalism prescribed by the American doctors Reading only the list of exclusive federal powers (Arts. 73 and 105, par 1) one is inclined to believe that this aim is accomplished, the catalogue contains the bare minimum of what a central government may justly claim (mainly foreign affairs, citizenship, weights and measures, coinage and money, communications—in Germany always under federal authority—and, in the financial field, customs and fiscal monopolies) [4] But turning to the fields in which the federal Government has concurrent legislative powers, one is

[2] See Art 118

[3] On the problems of territorial regroupment in general see the report (*Vorberichte*) published in 1950 by the Frankfurt Institute for the Advancement of Public Affairs

[4] In addition, no fewer than fifteen individual legislative matters to implement the Constitution are assigned to the federal Government by the Constitution itself (for example, the proposed law on political parties).

bound to admit that, to all intents and purposes, the legislative appetite of the federal Government may assume legally huge proportions. Concurrent legislation is permissible (Arts 74 and 105, par 2) if it is "needed," and needed it is (Art. 72)

> if a matter cannot be effectively regulated by the legislation of an individual *Land*, if . . a *Land* law could prejudice the interests of other *Laender* or of the *Laender* as a whole, if the preservation of legal or economic unity demands it [5]

The catalogue of concurrent legislative powers is very extensive, covering no fewer than twenty-four different fields (among them, for example, all matters of economics, labor law and social insurance, the entire civil, criminal, and procedural law, socialization and decartelization, agriculture, automotive traffic, public health), there is hardly any aspect of economic life on which the *Bund* may not legislate Unless, therefore, the institutions to safeguard states' rights are effective there is actually no limit to the unitarian trend through expanding federal jurisdiction This cannot be objected to if one realizes that a modern industrialized state, constituting a single market, cannot effectively function without uniform regulations of the economic and social life

Federal law overrides *Land* law (Art 31) Moreover, the *Bund* may, by constitutional amendment (Art 76), arrogate to itself powers at present attributed to the *Laender*

FEDERAL AND LAND ADMINISTRATION

However, the federalistic approach prevailed on the administrative field The range of federal administration suffered considerable restrictions in comparison with Weimar, where many important services were under direct federal management Now the *Bund* administers only foreign affairs, federal finances and certain fields of communications (railroads, mails, etc) In all other fields administration of federal functions (not to mention those left to the *Laender* otherwise) are assigned to the *Laender* (Arts 83 ff) This is of specific importance in fiscal and taxation matters where the *Bund* has direct administration (assessment and collection) concerning only certain enumerated taxes [6] In general, administration of these federal matters is conducted by the *Laender* authorities under their own responsibility, with the *Bund* maintaining merely the right of supervision (Art 84, par 3)

The same principle of federal legislation and *Land* administration governs the administration of justice Only on the highest level of the various legal fields (civil and criminal law, constitutional conflicts concerning the *Bund*, administrative, social, labor, fiscal law [Arts 93 ff]) does the *Bund* maintain supreme courts of its own, while all lower courts are *Laender* courts administering both federal and *Land* law

[5] This provision was a bone of contention between the M-Governors and the Germans, the former believing that it constituted an open invitation for centralizing abuses, the latter justly claiming it in order to overcome the diversification of law and economics caused by the divergent occupation policies.

[6] See Art. 106.

As a result of this reduction of federal services the federal bureaucracy has been reduced numerically, without, however, suffering any loss of power because law-making, in the German environment, is a function primarily devolving on the civil service, the formalization through legislative enactment by the Parliament notwithstanding to the contrary

THE DISTRIBUTION OF FINANCIAL POWERS BETWEEN BUND AND LAENDER

In every federal system the fiscal relations are the touchstone of genuine federalism Here the Basic Law follows the same pattern of camouflaged centralization which, while paying lip service to the states' rights concept, opens the legal path towards a more unitarian structure The guiding principle is that *Bund* and *Laender* should be fiscally (*"Haushaltswirtschaft"*) self-contained and mutually independent (Art 109) In such cases the most obvious solution is that certain sources of revenue be assigned to each of them for exclusive use But the economically integrated state of our time hardly ever permits a clear line of demarcation, partly because, in the federal state, the central authority requires more revenues, partly because the federal Government has to see to it that economically weaker member units, by grants-in-aid, receive a proper share from the wealth of the richer states, in Germany this situation is known as *Finanzausgleich* (equalization of financial burdens) In post-War Germany the financial responsibilities of the *Bund* are further increased by the decision (Art 120) that the burdens of the lost war (for example, occupation costs,[7] expenses for expellees and refugees, compensation for war damages, support of indigent people who lost their property through the war, etc. [equalization of burden or *Lastenausgleich*]), are to be borne by the *Bund*

Consequently, from the start, the fiscal balance (Arts 105–115) was slanted in favor of the *Bund* While the *Laender* cannot claim any share in revenues assigned exclusively to the latter (customs and financial monopolies, such as liquor and matches, Art. 105, par 1) the *Bund* may dip, by way of a concurrent claim, deeply into the revenue wells basically assigned to the *Laender* (excise taxes, for example beer, tobacco, sugar, coffee [Art 105, par 2]) and the taxes on business transactions (for example, corporations, insurance, transportations, etc.) In particular, what is the backbone of public finance and, in any federal state, the most unitarian element, namely taxes on income, succession, and property, may be claimed by the *Bund* if needed for federal purposes. A final distribution of the respective share of *Bund* and *Laender* in the revenues subject to concurrent legislation is to be made before the end of 1952 (Art. 107). Thus, the *Bund* need not fear to be stymied by lack of revenues

On the other hand, the federalistic principle again prevails in the financial administration (collection of taxes, etc) in that in particular all direct taxes

[7] This was another subject disputed among the Allies and the Germans, the French wishing to make the *Laender* responsible for them.

are subject to *Land* administration. Nonetheless, an eventual extension of direct federal services and a progressive erosion of the presumed fiscal autonomy of the *Laender,* in line with the experience of the Empire and of Weimar, may in the long run seem unavoidable Realities will not fail to dispel the federalistic fog that surrounded the drafting of the Constitution

THE POSITION OF THE LAENDER

Rights and duties of the *Laender* are somewhat better spelled out under Bonn than they were under Weimar Among the provisions stipulated to be "permanent," that is, not even alterable by constitutional amendment, are the federal structure of the *Bund* and the participation of the *Laender* in legislation (Art 79, par 3) The *Laender* are guaranteed their "constitutional order" which must correspond to the principles of the "republican, democratic and social state based on the rule of law" (Art 28) This may become as much a club the *Bund* may wield against a *Land* deviating from the path of democratic virtue as a protection *Land* interests must be observed in the appointments for federal service (Art 36) The duties arising from the membership in a federal state are more implicit than articulated But in the important aspect of federal compulsion (*Bundesexekution*) the powers of the federal authority are weakened (Art 37) If a *Land* fails to fulfill its legal obligation towards the *Bund,* the federal Government may take "the necessary measures" to enforce compliance of the recalcitrant *Land* with its obligations, and, in this case, all *Laender* have to follow federal instructions But, since the approval of the *Bundesrat* is required,[8] federal enforcement is much attenuated and may, in practice, consist more of political and financial pressures than of police or military action The provision has its corollary in the right and the duty of the *Bund* (Art 91) to repel, by armed force (which, in the absence of a federal police, implies the use of the *Land* police forces) any threat to the existence of the "free democratic basic order in the *Bund* as a whole or in an individual *Land*" If the *Land* so threatened is unwilling, or incapable, of action—a reminiscence of the Weimar situation—the *Bund* may take over the police forces of any other *Land* to combat the danger This is another aspect of what is known in German constitutional law as enforcement of federal authority, or *Bundesexekution*

THE BUNDESRAT

Next to the imponderables of the spirit of mutual loyalty and cooperation the protection of states' rights in a federal system depends on the powers and position of the organ destined for the participation of the member units in the policy-making, legislative, and administrative functions of the federal state Under Bonn, this is the *Bundesrat* (Arts 50–53) Its *composition* is governed by the time-honored German tradition of "federalistic arithmetics" Instead of the usual equal representation of the member units, each *Land*

[8] Under Art 48, par 5 of the Weimar Constitution, federal compulsion was ordered by the Reich President, that is, the Reich Government, on their exclusive responsibility

is assigned the number of votes proportionate to its importance roughly measured by the population figures (Art. 51) Each *Land* is entitled to at least three votes, those with more than two million inhabitants, to four; with more than six million, to five (Art 51). The total membership is forty-seven[9]

The delegates from Berlin participate in a merely consultative capacity (Art. 144, par 2) The delegates are appointed and dismissed by the *Land* governments and must be members of them in ministerial capacity (Art. 51, par 1) They act under instructions from their governments, with the result that changes in party control in an individual *Land* are reflected in changes of the party structure of the *Bundesrat* Although this is not prescribed by the Constitution, the assembly is in permanent session. The presiding officer, elected for one year, is the acting president of the *Bund* in case the incumbent is prevented from exercising his functions (Art 57) Close contacts with the federal Government are maintained, a Minister of the federal cabinet is charged with attending to *Bundesrat* affairs

As to its *functions*, the *Bundesrat* is not a full-fledged second chamber equal in rights with the *Bundestag,* the popularly elected "lower" house[10] With regard to legislation, the *Bundesrat* is seized with all government bills prior to their submission to the *Bundestag* It also may initiate legislation (Art. 76). However, there is an ingenuous distinction—one of the few original features of the Constitution—as to the content of legislation and the action of the *Bundesrat* attendant thereon "Federalistic" legislation (*"Föderativgesetze"*), pertaining to matters in which the *Laender* interests are directly involved, is separated from legislation which affects the *Bund* as a whole. For a bill of the first category, positive approval of the *Bundesrat* is required; otherwise it cannot become law The joint arbitration committee of delegates from both houses (Art. 77)—another interesting innovation—may only propose, but cannot enforce agreement between the two bodies For this type of legislation, therefore, the *Bundesrat* is an equal partner of the *Bundestag* and the protection of states' rights is absolute and watertight All told, there are eleven such cases of "federalistic" legislation mentioned by (though widely dispersed over) the whole document: for example, territorial changes, constitutional amendment, claims of the federal Government for a share in income and corporation taxes, establishment of new federal agencies. In all other legislative matters of a non-"federalistic" nature the absolute veto of the *Bundesrat* is toned down to a delaying action (*Einspruch*) or suspensive veto (Art 77) compelling the *Bundestag* to a second decision, with the proviso, however, that an objection of the *Bundesrat* carried by a two-thirds majority can be finally overridden by the *Bundestag* only by the same qualified majority

[9] Bremen, Baden, Hamburg, Wuerttemberg-Hohenzollern, 3 each 12
Berlin, Hessen, Rhineland-Palatinate, Schleswig-Holstein, Wuerttemberg-Baden, 4 each 20
Bavaria, Lower Saxony, Rhineland-Westphalia, 5 each 15

[10] This issue was much in dispute in the Parliamentary Council and also among the Allies The SPD and the FDP favored a genuine second chamber on American or Swiss patterns, the CDU preferred to continue the tradition of an organ in which the ministerial bureaucracy assisted the representatives of the *Land* governments

The *Bundesrat* is distinguished also from the normal type of a second chamber in a federal state by its participation in *executive functions* of the *Bund* in matters not necessarily resulting from the "federalistic" nature of such actions In these specified cases, again strewn over the entire document,[11] the *Bundesrat* transcends its position as a watchdog over the protection of states' rights against federal encroachment and functions as a genuine second chamber. Important examples are Impeachment of the federal president (Art. 61, par 1), consent to the federal Government's invocation of the "legislative emergency situation" (Art 81, par 1),[12] appointment of one-half of the members of the federal Constitutional Tribunal (Art 94, par. 1) These additional powers contribute to raising the political stature of the agency which, however, is hardly needed because, unless previous experience is contradicted, the *Bundesrat*, by virtue of the administrative talent of the ministerial bureaucracy assembled in it, is bound to rise to the same importance it had in the legislative and administrative environment of Weimar

Taken as a whole, the actual federal arrangements may seem to conform outwardly to the American hypothesis that federalization equals democratization But if centralization-minded parties gain control of the *Bundestag* and the *Bundesrat*, the Constitution would prove no unsurmountable obstacle to a completely unitarian state in substance if not in form In the last analysis, the German constitutional lawyers have outmanoeuvred the American ideologues

[11] See the (partial) enumeration in Friedrich Giese, *Grundgesetz fur die Bundesrepublik Deutschland*, Frankfurt, 1949, p 73, no 6

[12] See *infra*, pp 578 f.

CHAPTER XXIX

THE FORM OF GOVERNMENT

GENERAL OBSERVATIONS

The mechanics of what is commonly spoken of as the "parliamentary form of government" are based on the interdependence and coordination of a popularly elected parliament and a government which attains and maintains office by virtue of the confidence of the former In case the government has lost parliamentary support a new government is installed by the parliament, or, under certain conditions, after the dissolution of the parliament, by a verdict of the electorate through a general election A "neutral" head of state (president, king) is injected into the procedure as the steering wheel However, the parliamentary system being a generic and by no means homogeneous term, various applications have evolved If the government is actually subordinated to the assembly the resultant relationship is parliamentary supremacy (existing, for example, in the French Third and Fourth Republics). It may even lead to full-fledged assembly government (*Gouvernement conventionnel*)—preferred by the Soviets If involving actual dominance of the cabinet over the assembly (as in Great Britain) it becomes cabinet government [1]

Under the Bonn Constitution the organs operating parliamentary dynamics are the popularly elected federal Parliament (*Bundestag*), the federal Government (*Bundesregierung*), led by the federal Chancellor (*Bundeskanzler*) and the federal President (*Bundespräsident*) The federal Council (*Bundesrat*) has no share in the parliamentary mechanism Parliamentarism, thus, in Germany, is based on the unicameral concept as is the case in France (under the Constitution of 1946), different from Italy (under the Constitution of 1947).

While outwardly conforming to the form of parliamentary government, the solution adopted by Bonn is neither parliamentary supremacy nor cabinet

[1] For a general discussion of the various forms of parliamentarism see Karl Loewenstein, "The Presidency Outside the United States," The Journal of Politics, Vol 11 (1949) pp 447 ff, 462 ff

government. From the former it is differentiated by the dominant position of the Chancellor, in line with the German tradition of the "Chancellor principle"; from the cabinet system, to which it bears a superficial resemblance, it is removed by the lack of effective control of the Parliament over the Government. For this version—or perversion—of parliamentarism by which the Germans have enriched political theory, the term "demo-authoritarian" may seem appropriate.

The German constitutional lawyers were driven to this original system by the experience under Weimar (and other contemporary applications of parliamentary governments as understood by them). They preferred a stable leadership, by which continuous political crises through changes of government could be avoided, to political elasticity and democratic responsibility. The M–Governors and their liaison officers who devoted so much energy on instilling "true" federalism, paid no attention to the deviation from "true" parliamentarism.

THE FEDERAL PARLIAMENT (*BUNDESTAG*)

The federal Parliament (Arts. 38–49) is elected for a four-year term (unless previously dissolved). Elections must be general, direct, equal, free, and secret (Art. 38). But, unlike Weimar, proportional representation is not constitutionally enjoined, the electoral procedure being left to a special electoral law. Nor is the number of deputies determined in the Constitution.[2] Nonetheless, in view of the party character of the electoral mandate the declaratory statement (Art. 38) that the deputies are "representatives of the entire nation, not bound by instructions and only subject to their conscience" is no less hypocritical than its Weimar counterpart. The Parliament enjoys the customary autonomy (to determine beginning and termination of sessions, its Standing Orders, the validity of the elections, subject to a final decision of the federal Constitutional Tribunal). It has the usual rights of establishing investigating committees (Art. 44), which, as an effective method of parliamentary control of the government, have never been popular in Germany, it is protected, in the interval between sessions, by a permanent supervisory committee (Art. 45). The deputies enjoy the traditional immunities and privileges (freedom of speech, from arrest and prosecution, from searches and seizures, etc. [Arts. 46, 47]).

The functions of the *Bundestag* lie primarily in the legislative field. It has the right of legislative initiative (together with the federal Government and the federal Council [Art. 76, par. 1]). It sanctions the laws, in conformity with the unicameral structure (Art. 77, par. 1).[3] In addition, the Parliament approves, by way of legislation, certain governmental acts (for example, confirmation or rejection of treaties with a foreign state [Art. 59, par. 2]; the budget [Arts. 110, par. 2 and 111, par. 1], and shares in the appointment

[2] On the election law under which the first *Bundestag* was elected, see *infra*, pp. 601 f.

[3] See, however, the participation of the federal Council in "federalistic" matters, discussed *supra*, p. 572.

of the judges of the federal Constitutional Tribunal [Art. 94, par 1]) However, the Constitution is significantly taciturn about its political rights and duties in the control of the government, an omission which, in view of the verbosity of the document, may be more than a Freudian "repression."

THE FEDERAL GOVERNMENT (BUNDESREGIERUNG)

COLLEGIATE CHARACTER AND CHANCELLOR PRINCIPLE

The federal Government (Arts 62–69), basically a collegiate organ, consists of the federal Chancellor and the federal Ministers (Art 62) But within the group the Chancellor, by virtue of the "Chancellor principle," occupies the dominant position because he "determines the policy directives and assumes the responsibility for them" (Art 65, par 1) He also has the exclusive decision on the persons of his collaborators, the Ministers, who, upon his proposal, are appointed by the federal President (Art 64, par 1)[4] which, of course, does not exclude the ministerial positions from being subject to bargaining among the parties which participate in a government coalition Equally important is that the Ministers may be dismissed on the request of the Chancellor Various provisions serve for maintaining unity among the cabinet members, but nothing illustrates the subordinate position of the Ministers more than the fact that, in the absence of collective cabinet responsibility, a vote of nonconfidence can be directed against the Chancellor only and not against individual members of his cabinet

The *functions* of the federal Government, vast as they are on the policy-making, legislative, and executive-administrative fields, do not require much discussion here In the legislative field, next to the right to initiate legislation, probably the most important power is the right to draft and issue ordinances (*Verordnung*), implementing federal laws (Art 80, par 1) As to administrative powers, the federal Government directs the federal administrative services and supervises *Land* administration charged with the execution of federal tasks

APPOINTMENT OF THE FEDERAL CHANCELLOR

The federal Chancellor reaches office through election, without discussion, by the *Bundestag,* upon the proposal of the President (Art 63) Under the two-party system the selection of the head of the state automatically is confined to the (or a) leader of the strongest party Since German political *mores,* aggravated by proportional representation, invariably create a multiplicity of parties, none of which would be sufficient to form a majority by itself, the federal President is necessarily accorded a good deal of discretion in proposing for the office of the Chancellor not necessarily the leader of the numerically strongest party, but a person who offers the best guarantee of forming a stable government coalition of several parties

The candidate proposed by the President is elected if receiving the major-

[4] There is nothing in the Constitution which compels the President to appoint the Ministers chosen by the Chancellor But if he refuses he runs the risk of losing his Chancellor

ity of the votes of the legal members of the *Bundestag* (Arts 63, par 2, 121) In case the presidential candidate fails to be elected the *Bundestag*, within a fortnight, may elect a Chancellor of its own choosing In case this second attempt results in his election by the majority of the legal members, the President is bound to appoint him If, however, the second attempt falls short of the required absolute majority, a third ballot occurs in which the candidate receiving the mere plurality of votes is elected In this case, however, the President is free either to appoint the person, or to order a dissolution of the *Bundestag* in order to obtain, through new elections, a more workable composition of the federal Parliament The latter contingency, however, is most unlikely since the elections which resulted in the political stalemate were held, as a rule, only recently, and under the "freezing" of electoral opinion through proportional representation, a reversal is hardly to be expected On the whole, the procedure seems sufficiently elastic and spaced to allow for the successful election of a person commanding a parliamentary majority.

THE ISSUE OF PARLIAMENTARY RESPONSIBILITY

THE VOTE OF CONFIDENCE

While most of the arrangements discussed before do not reveal any striking deviation from the customary techniques of the modern state, the Bonn Constitution is decidedly original in the formalization and rationalization of parliamentary responsibility which constitutes the acid test of parliamentarism Significantly one searches in vain for an unequivocal statement that the Chancellor (and his Ministers) require the confidence of the *Bundestag* for the conduct of their office Perhaps this was implied Nor is it stated anywhere that the members of the government must be members of the assembly, thus leaving the door ajar for slipping in the familiar nonpolitical expert as Minister (*Fachminister*)

Over the interminable discussions of the issue in the Parliamentary Council hovered the spectre of the Weimar Republic plagued by continual cabinet crises, occasioned by unstable coalitions, governmental majorities cracking up and reforming, and the inability of a parliamentary majority hostile to the government in power to agree on the person of the new governmental leader To square the vicious circle between instability of the government, the arch-vice of parliamentarism as the Germans allege, and authoritarian government, the Bonn Constitution adopted a solution which sacrifices the substance of effective parliamentary control over the government for a strong government which, if not wholly irremovable during the four years lifetime of the *Bundestag*, is extremely difficult to get rid of The Constitution thus approximates the position of the federal Chancellor to that of the American President under the separation of powers, without, however, being able to create what makes the American system tick, namely the power of public opinion without which even the most forceful American president cannot govern

Once elected by the *Bundestag* the government is presumed to retain its

confidence until it is explicitly withdrawn by the parliament through a vote of nonconfidence Abuses of this institution by overfrequency and the incidence of "snap" decisions are discouraged in most recent constitutions by what has become known as "the rationalization of political power" Under the rules of the parliamentary system confidence can be challenged in two ways Either by accepting a vote of nonconfidence submitted by the opposition, or by rejecting a vote of confidence when requested by the government Either method is available to the *Bundestag* (Arts 67, 68), but the device is hedged in by such difficulties and slanted so much in favor of the government as to blunt completely this most effective weapon of making parliamentary responsibility real If the parliament wishes to oust the Chancellor, the vote of nonconfidence must not only be carried by an absolute majority (which is sensible), but the parliament must at the same time have agreed on the person of his successor (the so-called "constructive vote of nonconfidence").[5] Thereafter the President, requested to dismiss the Chancellor, has to comply and to appoint the person chosen as successor Such a fundamental shift of parties within the *Bundestag* would be possible only if the government coalition were to fall apart, and even then it would be most unlikely that agreement on the successor could be attainable The motivations behind this arrangement were partly the desire for having a strong, that is, stable, government, partly to avoid the experience of Weimar when mutually hostile parties of the Left and the Right combined for overthrowing a government without being able, or willing, to form a government majority themselves. The vote of nonconfidence, thus, is so attenuated that, in practice, the acting Chancellor is immunized against any effort to force his resignation. And what will happen if the hostile majority which could not agree on the successor rejects government bills or the budget? This conflict, not subject to a constitutional solution, cannot but lead into the no-man's-land of an authoritarian dictatorship.

However, the Chancellor himself may request a positive vote of confidence (Art 68) If carried by an absolute majority, he, of course, remains in office This is the normal procedure of parliamentary responsibility However, if he fails to receive an absolute majority two solutions are available The President has the option of either dissolving the *Bundestag* (within twenty-one days)[6] or to abstain from dissolution, with the paradoxical result that the government, though it no longer commands the confidence of the parliament, remains in power indefinitely

THE "LEGISLATIVE EMERGENCY SITUATION"

But the cards are even more heavily stacked against parliamentary responsibility It is obvious that the opposition in the parliament, even though it may not have succeeded in forcing the resignation of the Chancellor by absolute majority, has sufficient parliamentary strength to obstruct his legislation

[5] This arrangement has precedents in the *Land* constitutions of Wuerttemberg-Baden and, implicitly, of Bavaria

[6] *If, in the meantime, the Parliament should, with absolute majority, agree on the successor, the dissolution order is rescinded, this, however, is most unlikely to occur*

In this case the federal Government may resort to another innovation of the rules of parliamentarism contributed by German ingenuity At the request of the Chancellor the President must issue the declaration of the "legislative emergency situation" (*Gesetzgebungsnotstand*) (Art 81, par. 1) which is nothing but the disguised revival of some features of the notorious Article 48 of the Weimar Constitution [7] In this case a specific bill rejected by the parliament or, for the duration of six months, any bill, is sanctioned by government decree instead of by the parliament There are some important curbs on the abuse of the legislative emergency powers, namely consent of the federal Council for each bill, limitation of the duration to six months, the fact that, during the term of office of an individual Chancellor, the decree powers can be granted only once, and that the Basic Law itself cannot be touched by such emergency decrees But obviously six months of constitutional dictatorship may amply suffice for a Chancellor and a President supporting him to completely subvert the Constitution In spite of the shadow of Weimar, the switch to the authoritarian track is open again

THE DISSOLUTION OF THE BUNDESTAG

Dissolution, consequently, has lost much of its function as the regulatory democratic device under authentic parliamentarism where the verdict of the electorate decides a conflict between the government and the parliament Of this function it is largely stripped under Bonn Dissolution is provided for in only two rather remote contingencies In the case that, on the third ballot, the federal Parliament has elected a Chancellor, though without absolute majority, the President may either appoint him or dissolve the assembly (Art 67, par 4), here dissolution is most unlikely because of the immediately preceding general election The second chance occurs when the Chancellor fails to obtain the absolute majority of the parliament on his own request for a vote of confidence (Art 68, par. 1) In this case he will rather govern with the legislative emergency powers than advise the President to dissolve. In either case dissolution is purely optional Moreover, so long as elections are conducted under proportional representation the dissolution has lost much of its plebiscitary character Though it does not prevent genuine landslides normally the party fluctuations are not easily reflected under this system

THE FEDERAL PRESIDENT

The experience under Weimar discouraged endowment of the head of the State with real powers, instead of a strong President, a strong Chancellor was created Consequently, since a President anointed by the democratic oil is more powerful than one deriving his mandate from a parliamentary assembly, the President (Arts. 54–61) is elected for a five-year term (and with re-eligibility for one term) by a body called *Bundesversammlung* (Federal Convention) One of the quaintest exhibits in the curiosity shop of Bonn, it is composed of the members of the *Bundestag* and the same number of *ad hoc* electors, elected by the *Landtage* under proportional representation, with the

[7] See *supra*, pp. 415 f.

underlying motivation that party shifts that had occurred in the *Laender* since the last election of the *Bundestag* should be considered Actually the arrangement merely results in a duplication of the party structure of the *Bundestag* [8] The President is elected by absolute majority on the first two ballots, and by plurality on the third and last ballot

The federal President possesses the typical representative, state-integrating, and ceremonial functions of the head of a republican state He is impeachable (Art 61), a merely academic provision All his official actions require the countersignature of the Chancellor (or a Minister with jurisdiction [Art 58]) Though far less powerful than the Reich President under Weimar, he is not quite the soulless rubber stamp he appears in terms of the Constitution He is explicitly (Art 58) freed from the requirement of countersignature in the appointment and dismissal of the federal Chancellor, and in the exercise of his discretion concerning dissolution in case, on the third ballot, the Chancellor was elected with a plurality only By deciding for dissolution he may become a counterweight of some importance to the Chancellor. But where he is really more than a pawn of party dynamics is when he proposes the candidate for the chancellorship, even though he must conform to the realities of the party configuration created by the general election If, however, Chancellor and President belong to the same party and are willing to gang up on the parliament they constitute an almost unbeatable combination [9]

CONCLUSIONS: THE DEMO-AUTHORITARIAN FORM OF GOVERNMENT

Outwardly the form of political government of the German federal Republic, according to the intentions of the Basic Law, is a representative democracy in which the federal Parliament is the political center But the democratic structure is seriously weakened by the ascendancy of the federal Government, which conforms to the German ideal of a government strong enough to rule without parliamentary or popular interference. If to this feature is added the complete absence of the devices of direct democratic participation through initiative and referendum,[10] the erosion of the function of dissolution, the system of proportional representation which places the party hierarchy at the wheel without much back-seat driving of the electorate, the picture that evolves is that of a relatively small parliamentary clique governing the people and, in turn, governed by the strong Chancellor If it is further complemented by the rule of a politically irresponsible and self-perpetuating bureaucracy the description of the form of government as demo-authoritarian may not seem inappropriate

[8] That this assumption did not fully materialize on the occasion of the election of the first federal President in September, 1949, was largely due to the arbitrariness of the election methods chosen by the individual *Land* parliaments, see *infra*, p 605

[9] Since each of the two leading parties of the CDU–CSU and SPD had reasons to hope that it would become the strongest party and since each was led by an ambitious politician (Dr Adenauer and Dr Schumacher respectively) the *dolus eventualis* of authoritarian government cannot be said to have been wholly absent concerning the peculiar form of parliamentary government that was finally agreed on

[10] Exceptions exist only for the procedure of territorial regroupment (Art. 29).

CHAPTER XXX

FUNDAMENTAL RIGHTS AND THE PROTECTION OF THE DEMOCRATIC ORDER

FUNDAMENTAL RIGHTS LEGAL CHARACTER

In American planning for German democratic re-education, fundamental rights were given a high priority even though the record demonstrated that Weimar sinned on the side of giving civil liberties too much protection and by no means too little, at least for a State caught between the twin pressures from the Right and the Left In many respects the fundamental rights (*Grundrechte*) (Arts 1–19) of the Bonn Constitution clarify previous controversies about the extent and application of fundamental rights, in others they are antidotal to certain defects that had appeared under Weimar For democratic emphasis they are placed at the beginning of the document, but visualized in their entirety, they constitute a visible retreat from the pioneering courage of the socio-economic and cultural program of Weimar Instead, the catalogue of fundamental rights, introduced (Art 1) by the statement that "human dignity is inviolate and that to respect and protect it is the obligation of the State," confines itself to the libertarian rights of freedom from state encroachment typical of the nineteenth century The duty of the State to do its share for social betterment of its people is hardly ever mentioned The reticence of the Parliamentary Council to attempt solutions, or even to commit the Constitution to a program, of social justice as it is understood in progressive societies of today, may be explained by the disagreement of the parties responsible for the Constitution which, incidentally, was duplicated by divergencies among the Allies.

By limiting the bill of rights to the traditional content of a liberal-bourgeois society, the Constitution was able to declare (Art 1, par. 3) that all enumerated fundamental rights are self-executing, automatically binding on legislation, administration, and judiciary What this means for the individual becomes evident by the reference to the general validity of the rule of law (*Rechtsstaat* [Art. 19, par 4]) which stipulates that "should anybody's rights

be infringed by the public authority he may seek judicial redress " Many German lawyers consider this clause the Magna Charta of the German people rounding out an all-inclusive protection of fundamental rights by the ordinary and administrative courts [1] Some progress was also made in making a number of basic rights absolutely binding and not qualifying their validity by the ominous clause that they are valid only "within the limits of the law," that is, subjecting the extent of application to the discretion of the ordinary legislator, and thereby vitiating their inviolate character Among the basic rights guaranteed unconditionally are equality before the law (Art 3), explicitly pertaining to the equality of the sexes and using the internationally known formula of nondiscrimination for reasons of sex, race, language, ancestry, faith, religious, and political opinions, inviolability of life and limb (Art 2, par 2), implemented by the abolition of capital punishment (Art 102), freedom of religion and conscience (Art 4), with the corollary that nobody can be forced against his will to bear arms; the provision reflects the sincerity of German anti-militarism after the defeat Other rights, however, are guaranteed conditionally only and may be restricted by law as to their exercise or are valid only "within the limits of the law" Among these are freedom of individual opinion, implemented by the right to free information (Art 5), and freedom of association (Art 9), limited by the prohibition of associations conflicting with the penal law, or directed against the constitutional order, or the idea of international understanding The inviolability of the home (Art 13) is subject to restrictions such as caused by housing shortage [2] The protection of an accused person against police and judicial arbitrariness (what in Anglo-Saxon countries is understood by habeas corpus) is contained, instead of in the bill of rights, in the context of the administration of justice (Arts 103 and 104); the apposite provisions of the code of criminal procedure are restated and substantially strengthened.

SOCIO-ECONOMIC AND CULTURAL RIGHTS

Concerning property and education Bonn evolved cautious compromise formulae of a generally conservative character The guarantees of private property, the right of inheritance and the procedure of eminent domain, with adequate compensation (Art 14) are almost *verbatim* restatements of the corresponding sections of Weimar (Art 153) But the ordinary legislator is authorized to transfer, by special statute, natural resources and the means of production to public ownership for the purpose of nationalization (*Vergesellschaftung* [Art. 15]), with judicial redress in case the adequacy of the mandatory compensation is in dispute On the other hand, existing situations

[1] The right of *amparo* in Latin America guarantees a similar protection

[2] Moreover, it is generally prescribed (Art 19) that any restriction of a fundamental right by a law, or on the basis of a law, requires an explicit reference to the article of the Constitution which is affected thereby, remedying one of the flagrant defects in legislative technique besetting the Weimar period Another answer to the legalistic hairsplitting under Weimar, hardly intelligible to non-German lawyers, consists in the prohibition of such (permissible) constitutional limitations of a basic right which "affect its 'essential' substance" (*Wesensgehalt* [Art 19, par 2])

in the field of religion and education were "frozen" in the Constitution For the relations of State and Church the regulations of the Weimar Constitution are incorporated in full into the Bonn Basic Law (Art 140), the only case of the "reconstitutionalization" of the former Constitution. The principle of the separation of Church and State is confirmed without thereby gaining more reality than it had under the Empire or Weimar [3] Religious affairs are basically left to the *Laender* But a basic right is created in that the parents may determine the religious education of their children (Art 7, par 2) [4] In all public schools religious education is part of the regular curriculum (Art 7, par. 3) The entire educational system remains under the supervision of the State (Art 7, par 1) It is left for the *Laender* to determine whether public schools (primary and secondary) are to be denominational ("confessional") or strictly secular, [5] the parents thus do not have the right to decide what type of school the State should establish as requested by the CDU, against the successful opposition of the SDP and FDP, in the Parliamentary Council [6]

PROTECTION AGAINST SUBVERSIVE ACTIVITIES

Considering certain peculiarities of the German political philosophy and technique, civil liberties under Bonn appear, on the whole, sufficient to provide the climate in which a liberal society may live But remembering that the Weimar democracy had committed suicide by allowing its enemies to exploit with impunity the very same civil liberties for their destruction, the Bonn Constitution makes a commendable effort to protect the democratic order against antidemocratic abuses

(1) The constitutional order of the *Laender* must correspond to the republican, democratic, and social principles of the State under the rule of law (*Rechtsstaat*) embodied by the Basic Law itself. In turn, the continued existence of this constitutional order is guaranteed to the *Laender* by the *Bund* (Art 28)

(2) In contrast with most other constitutions, political parties are recognized explicitly by the Basic Law as "participating in the formation of the

[3] The Concordat of 1933 between the Holy See and Hitler remains in force (Art 123, par 2)

[4] For religious education the Weimar law of July 15, 1921 (RGB, p 939) is still valid The upshot is that parents may, or may not, send their children to religious schools and that children having reached fourteen years of age may determine for themselves what to do

[5] For the former type the Germans evolved the satisfactory system of the "*Simultanschule*" in which children of all faiths attend the same school in a local district, but break up into separate classes for "simultaneous" instruction in their respective religious faiths This system, however, is violently objected to by the Catholic clergy, which insists on strictly parochial schools, separating the students completely as to religious denominations

[6] Equal opportunities in education for all classes is one of the keys to the democratization of public life in Germany This was striven for from the beginning by the French and British MG's The prevailing educational system intensifies the cleavage between "upper" and "lower" classes by allowing students of the wealthier families to transfer, after four years only of common schooling on the elementary level, to secondary schools (*Gymnasium*) or "reformed" high schools, graduation from which constitutes the only access to universities and other institutions of higher learning To remedy this defect the British encouraged the system of the "unity" school (*Einheitsschule*) which, for six years, must be attended by all students, in order to mitigate the existing rigid class stratification In Southern Germany the main line of division is still that between denominational and secular schools In the Soviet zone a single type of elementary school of eight grades has become mandatory

political will of the people" (Art. 21) They may be freely formed. But just as associations subversive of the constitutional order are prohibited under the ordinary law (Art 9, par 2), so political parties, a higher kind of association, are illegal under the Constitution if, "as judged by their programs or the conduct of their adherents, they aim at impairing or destroying the basic system of a free and democratic organization of the state, or endanger the existence of the federal German Republic" (Art. 21, par. 2). The decision on the illegality is left to the federal Constitutional Tribunal.

(3) Persons (possibly also groups or associations of persons) who "abuse" certain enumerated liberties[7] in order to fight against the free and democratic basic structure cannot claim ("forfeit") the protection of these basic rights for themselves when their activities are countered by the reaction of the attacked public order (Art. 18). Again, the decision as to whether and to what extent the liberties are "forfeited" is left, on motion of the federal or a *Land* government, to the federal Constitutional Tribunal[8] While the wisdom of this incisive restriction of civil liberties of their enemies may not be in doubt—had such a provision existed under Weimar it might have helped to stem the Nazi tide in time[9]—it may in practice be difficult to draw a line between antidemocratic subversion and the legitimate advocacy of reform.

(4) Another protection of the democratic order is the provision (Art 98, par 2) that a federal judge, who, "in office or as a private person, violates the principles of the Basic Law or the constitutional order of the *Land*," may be transferred to another office or be retired, in case of a "deliberate violation" he may be dismissed The procedure (*"Richteranklage"*), initiated by the *Bundestag*, requires a decision by a two-thirds majority of the federal Constitutional Tribunal. The provision was inspired by the experience with the judiciary under Weimar, which in many cases failed the democratic Constitution by excessive leniency towards, or open sympathy with, its enemies. Elsewhere one would think that a judge violating the Constitution would be dismissed and punished. The mildness of the penalty is indicative of the German anxiety to protect judicial independence and by no means of a distrust in the political reliability of the "denazified" judicial personnel

(5) To prevent the rise of authoritarian, or "monolithic" political parties operating under the Fuehrer-principle, the internal organization of political

[7] These are freedoms of opinion (including that of the press), of teaching, of association, and of assembly, the secrecy of mails and other communications, the protection of property, political asylum (the latter, Art 16, par 2, an innovation)

[8] This provision, aiming at the protection of the democratic-constitutional order, has nothing to do with the suspension of certain basic rights under the emergency situation of Article 48 of the Weimar Constitution, which pertained to the much less definite situation when the public security and order were believed to be endangered In actual application Article 48 was anti-democratic and the main instrument to foist authoritarian government on a democratic order Nor has Article 143 of the Basic Law any direct relationship to the protection of the democratic order, it is merely a temporary substitute for the sanctions against sedition and insurrection (in Germany called high treason) of the former criminal code (Sections 81 ff) which CC Law No 11 of January 30, 1946, for convincing reasons, had struck off the statute book

[9] See Karl Loewenstein, "Legislative Control of Political Extremism in European Democracy," 38 *Columbia Law Review* (1938), pp 591 ff, 725 ff, *same*, "Political Reconstruction," New York, 1946, pp 126 ff.

parties must conform to democratic principles. They must also account publicly for the sources of their financial means (Art. 21, par 1) To the inclusion of these provisions American inspiration and German experience with the NSDAP have equally contributed

(6) These provisions, primarily intended to prevent undermining of the democratic order by antidemocratic conduct in legal disguise that had slain Weimar, should be considered in conjunction with many other regulations implicitly protecting the democratic order against authoritarian or totalitarian perversion Under this heading come, among other features, the election of the federal President by the Parliament instead of by the people, since, in European and Latin American experience, the plebiscitary head of the State is apt to be more dangerous to political freedom than one who owes his office to his fellow parliamentarians, the protection of the free and democratic basic order of the *Bund* or the *Laender* by calling on the police forces of several or all *Laender* (Art 91), the inviolability of the principles contained in the section on Basic Rights (Art. 1–20) even by constitutional amendment (Art 79, par 3) and the seemingly redundant provision (Art 20, par 3) that the legislator is bound by the constitutional order These safeguards may be serviceable in dealing with temporary antidemocratic fluctuations in the party dynamics But fundamentally the preservation of the democratic order does not rest on the injunctions of the instrument of government but on the will of the people to abide by its principles and the willingness of the government and the bureaucracy to conduct themselves democratically This to achieve merely by legalistic formulae or constitutional arrangements can hardly be expected

THE FEDERAL CONSTITUTIONAL TRIBUNAL

Another significant aspect of the Bonn Constitution is the effort to commit possibly all political conflicts to a judicial decision as if they were merely legal disputes This effort may be called the "judicialization of political dynamics" It is less due to the deep-rooted respect of the judicial function customary in the Anglo-Saxon countries than the result of the German tradition of normative positivism For centuries the German legal mind has been trained in the precision and logic of the Pandectist (Roman) law which submits all controversies to ascertainable rules of law, and has become accustomed to codified law which does not admit the existence of gaps to be filled by the judge Consequently, it is tempted to believe that political controversies, if reduced to legal disputes about rights and duties and submitted to judicial determination, would lose the character of power conflicts and could be peaceably resolved like any other legal controversy The Bonn Constitution, therefore, is unique in the way it tries to apply judicial brakes to the imponderable dynamics of political power

The administration of justice occupies a distinguished place in the Bonn Constitution (Arts 92–104) Two "highest courts" are provided for (a) The Supreme Federal Court (*Oberstes Bundesgericht*) (Art. 95) is the successor

of the *Reichsgericht,* though with a more limited jurisdiction. It serves for the restoration and preservation of the legal unity within the federal State which has heavily suffered under the political fragmentation of the post-surrender situation.[10] Selection and appointment of the judges is entrusted to the federal Ministry of Justice in conjunction with a committee, half of whose members are elected by the *Bundestag,* the other half appointed by the *Land* Ministers of Justice. The position of the federal judges is to be regulated by a special federal law (Art. 98, par. 1). The judges are independent and subject only to the law (Art. 97, par. 1).[11] (b) The federal Constitutional Tribunal (*Bundesverfassungsgericht* [Art. 92]), wholly separated from the nonpolitical federal Supreme Court, extends its jurisdiction to three different fields of action, namely, the relations between the federal State and the *Laender,* conflicts arising in the operation of the federal State as such, and other occasions where a judicial solution of political controversies is called for.

Obviously no federal structure can dispense with an agency that delineates in case of controversy the spheres of federal and state action. Here the federal Constitutional Tribunal has jurisdiction on "differences of opinions" or "doubts" (which, evidently, need not yet be "disputes" or "controversies") on the formal or substantive compatibility of federal law and *Land* law with the Constitution—the typical case of judicial review of the constitutionality of legislation—and the compatibility of *Land* law with federal law, in this case federal law overrides *Land* law (Art. 31). The Tribunal will decide only on motion of the political authorities, that is, the federal Government, a *Land* government, or one-third of the members of the *Bundestag.* However, this procedure is likely to be initiated under exceptional circumstances only. Normally the constitutionality of a law is challenged before a court of law. If, in this case (Art. 100), the court is of the opinion that a law which is essential for its decision is unconstitutional, the lawsuit is suspended and, in case of doubt about a federal law, the decision of the federal Constitutional Tribunal is requested.[12] The Bonn Constitution thus officially introduced judicial review of the constitutionality of (federal and *Land*) law which the Weimar period had theoretically admitted though practically never exercised. The German system which, in the interest of an accelerated decision and a uniform interpretation of the Basic Law, concentrates judicial review

[10] The determination of what, after the entry into force of the Constitution, becomes federal law or *Land* law, is among the most complex matters of the entire instrument. Generally, existing law that under the Constitution belongs to federal jurisdiction, becomes federal law, all other laws become *Land* law. Not affected are the laws of the MG's, the CC laws, and the law on the Liberation from National Socialism and Militarism of March 5, 1946. But these principles are so perforated by exemptions and special regulations (Arts. 123–133) that German constitutional jurisprudence is having a veritable field day.

[11] The independence of the judiciary, an important element of the American democratic *credo* which failed to materialize in Germany in the past, was largely misunderstood by MG. Sociological factors, in particular the status of the judges as civil servants and the class mentality resultant therefrom, were responsible for the failure rather than faulty technical arrangements.

[12] In case the court is confronted with an allegedly unconstitutional *Land* law the Constitutional Court of the respective *Land* is seized with the decision. All seven *Laender* in the American and French zones are equipped with a Constitutional Court (*Staatsgerichtshof*) of their own.

in a single court, may be compared with the traditional practice of unlimited and dispersed judicial review in the United States

Exigencies of the federal structure determine also the jurisdiction of the federal Constitutional Tribunal in disputes covering the rights and duties of the *Bund* and the *Laender* (in particular with reference to the execution of federal laws by the latter and the supervision of the administration of federal matters by the former) and in differences between several *Laender* These provisions may not seem to deviate in any way from what is customary in other federal states

The federal Constitutional Tribunal, however, becomes a pivotal political organ with the assignment to decide "on the interpretation of the Basic Law on occasion of controversies concerning the extent of the rights and duties of any one of the highest federal organs "[13] While in the United States political questions wisely are considered nonjusticiable and left to the political branches of the government—in other European states the situation of *"actes de gouvernment"* (France, Italy) and "acts of state" (Britain) is similar—the Bonn Constitution aims at the judicialization of all potential political conflicts on the premise that political power can be rationalized to the extent of subjecting it to objective standards of positive law A similar assumption was disastrously disproved in the conflict between Prussia and the Reich Government of von Papen in 1932

Finally, in numerous instances the Basic Law assigns to the federal Constitutional Tribunal the function of solving specific legal or political controversies In addition to the cases of deciding on antidemocratic activities mentioned before[14] the following deserve mention Decision, on motion of the *Bundestag* or the federal Council, on the impeachment of the federal President (Art 61), decision on whether a rule of international law is a valid federal law and binding on individuals (Art 100, par 2), decision as to whether existing law belongs to the federal or *Land* jurisdiction (Art 126).

Such vast competences concerning legal, quasi-legal and outright political disputes require judges singularly combining legal and political abilities To find such supermen the Constitution merely stipulates (Art 94) that the members of the federal Constitutional Tribunal shall consist partly of federal judges and partly of others, half of whom are elected each by the *Bundestag* and the federal Council, leaving the details to a special statute

The latter was enacted by the *Bundestag* on March 12, 1951[15] The Tribunal is divided into two chambers (Senates) of twelve judges each they must be forty years of age and qualified for a judicial career or the higher administrative service (accessible only to full-fledged lawyers). Under the

[13] The phrasing of this clause is so sweeping as to include not only the federal President, the federal Government, the *Bundestag* and the federal Council, but also collective groups and minorities of these federal organs, perhaps also political parties since "the people" likewise are a "highest federal organ " Because the federal Constitutional Tribunal itself qualifies as a "highest federal organ" it may even decide in controversies to which it is itself a party!

[14] See *supra*, pp 584 ff

[15] BGB 1951, p 243 See also Wilhelm Romer, *Das Gesetz uber das Bundesverfassungsgericht*, JZ 1951, 193 ff.

Basic Law the Tribunal is charged with no less than fifteen different categories of controversies These types of cases are distributed once and for all among the two Senates The judges, therefore, of the two branches cannot substitute for one another A plenary session of all twenty-four judges is called for only if a Senate, on a legal point, wishes to deviate from the established jurisprudence of the other one Dissenting opinion, it was decided after a protracted discussion, are not to be made public.

One half of the judges are to consist of members of the federal judiciary, six of these are to be elected by the *Bundestag,* the other six by the federal organ, the *Bundesrat* (Section 3) The other twelve judges are to be designated by the *Bundestag* by way of a panel of twelve of its members set up by proportional representation (Section 6) and ultimately elected by it with a two-thirds majority (Section 7) A current list of eligible candidates is kept by the Ministry of Justice, proposals for which may originate with a recognized political party represented in the *Bundestag,* the federal Government, and the *Land* governments (Section 8) Obviously, the two classes of judges are assigned to the Senates indiscriminately, that is, without regard to whether they are "professionals" or "politically appointed." All serve for an eight-year term, with re-eligibility. Their remuneration is commensurate with the importance the Basic Law attaches to the Tribunal

Although the statute emphasizes (Section 3) that all judges "must be distinguished by a special knowledge of public law and experience in public life" it slants eligibility towards a professional legal career Considering the narrowness of the professional legal training in Germany today, which no efforts of "re-education" on the part of the Allies could measurably alleviate, the composition of the Tribunal by no means guarantees that it will be able to deal successfully with politically loaded questions by the legal approach alone. And the ultimate success of the institution will necessarily depend on the quality of the judges charged with its functions [16]

Other recent constitutions (Italy, France) likewise introduced similar institutions for constitutional arbitration None, however, went as far as Bonn in the attempt at rationalizing the dynamics of political power Diffident of the ability or willingness of the political leaders and parties to peaceably compromise their differences in the give-and-take of the political battle royal, the Germans are transferring responsibility to an allegedly nonpolitical organ whose power of effective arbitration of political conflicts, in turn, depends on the willingness of the contestants to abide by the decision The excessive judicialization of political power is a unique feature of German democracy.

[16] When, after protracted negotiations between the parties and the governments, the twenty-four judges were finally elected (September, 1951) it was found that on the panel there are now no fewer than ten (acting or former) public officials, eight judges, five professors, and one practising attorney-at-law. Only five of the total have experience in political office

CHAPTER XXXI

ADDITIONAL FEATURES OF THE BONN CONSTITUTION

THE ROLE OF THE PEOPLE

The Constitution is curiously indifferent to, and distrustful of, the people It is true that the people are declared sovereign (Art 20, par 2),[1] but in the exercise of sovereignty is is confined to the elections of the *Bundestag* normally occurring every four years, with the—very remote—contingency of popular intervention in case of the dissolution of the *Bundestag* The devices of direct democracy—initiative and referendum—are withheld from the people,[2] admittedly because of their inconclusive success under Weimar The result, hardly unintentional, is that the actual exercise of political power is monopolized by the political parties,[3] or rather, under the impact of proportional representation, by the party oligarchies on whose hoped-for competitive cooperation the political equilibrium is dependent In the long run the fact that the Constitution has played all dynamic political power into the hands of the party bosses and a largely irresponsible bureaucracy, cannot fail to result in an atrophy of political interest of the people which can be offset only by the development of a strong and independent public opinion.

CONSTITUTIONAL AMENDMENT

Constitutional amendment (Art 9) requires approval of the amending legislation by two-thirds of the members of both the *Bundestag* and the federal Council Not permissible, and therefore illegal, are amendments affecting the federal structure as such, the basic principle of the participation of the *Laender* in the legislative process, and "the principles laid down in Arts 1 and 20" Article 1 contains a more ethical than legal statement on the in-

[1] "*Alle Staatsgewalt geht vom Volke aus*" ("All public authority is derived from the people")

[2] The two cases envisaged by the Constitution (Arts 29 and 118) refer to the procedure of regional regroupment

[3] Here again the trait of rationalizing political power is visible in that "the internal organization of the political parties must conform to democratic principles" (as had been demanded by the American democratic *credo* [see *supra*, pp 528 f]), they are charged to account publicly for the sources of their financial means

violability of human dignity while the more specific Article 20 establishes Western Germany "as a democratic, social, and federal State," thus purportedly excluding transformation into a unitary organization, a dictatorship, or, possibly, a monarchy Such "unalterable" guarantees have rarely preserved their character as a privileged sanctuary when exposed to serious political pressure, inviting either their revolutionary overthrow or freezing desirable constitutional evolution But for normal times they may be serviceable as a warning sign beyond which the legislator may not drive. Constitutional amendment is permissible only if the text of the Constitution is explicitly and simultaneously amended This sensible provision is intended to terminate once and for all the nefarious practice of "silent" (or clandestine) amendments merely by qualified majorities of the legislature that had been the usage under the Empire and Weimar and contributed much to depriving the Constitution of its sanctity [4]

FUNDAMENTAL LIMITATIONS ON THE CONSTITUTION

The Basic Law, solemnly renouncing nationalism and militarism, outlaws war, that is, "actions which could disturb the peaceful relations among nations, and are undertaken with such intent, in particular those preparing aggressive war" (Art. 6). Moreover, the *Bund* is willing to limit its sovereignty in the interest of a system of mutual collective security (Art 24) [5] Furthermore, the principle of obligatory international arbitration is adhered to (Art 24, par 3) The general rules of international law are declared to be federal law, to have precedence over the latter, and to be immediately binding (Art 25).

Validity and application of the Basic Law are limited territorially and as to time. It is provisional in every sense The Preamble declares that it was created by the people of the enumerated eleven *Laender* (Berlin not included), but acting also on behalf of those Germans "to whom participation was denied " Territorial application, however, was explicitly extended also to Greater Berlin (Art 23) as a twelfth *Land* (Art. 144, par 2) which has the right to send representatives to the *Bundestag* and the federal Council [6] The validity thus is limited "for the time being" (*vorlaufig*) to these twelve *Laender* For other parts of Germany (meaning the Eastern zone) it enters into force upon their accession (Art 23) Much of the Eastern thunder could have been stolen had the Basic Law been extended to Germany as a whole from the beginning A further time limit is set by the provision (Art 146) that it loses

[4] See Karl Loewenstein, *Erscheinungsformen der Verfassungsanderung*, Tuebingen, 1932 See also, on the requirement of mentioning explicitly the article of the Constitution in the case where an infringement of the provisions on fundamental rights by ordinary legislation is permissible, *supra*, pp 433 f

[5] This offer to participate in international (regional, all-European or intercontinental) peace organizations, however, is carefully kept optional

[6] The text of this provision is at variance with political reality The M-Governors, in approving the Basic Law (Letter of May 12, 1949) explicitly excluded the Western sectors of Berlin from the *Bund*, permitting only a small number of representatives designated as observers to attend the meetings of the legislative bodies

its validity on the day a constitution, accepted, in free decision, by the German people, will enter into force.

Last but not least, the Basic Law is limited by the Occupation Statute and the Ruhr Statute, even though, for understandable reasons, the latter are nowhere mentioned in the document. Eventually it may also be subject to limitations on German sovereignty imposed by the Peace Treaty.

A TENTATIVE APPRAISAL

For a critical review of the Bonn Constitution the Weimar experience necessarily will serve as basis of comparison and evaluation. In many respects Bonn is the answer to Weimar, trying to remedy some of its structural defects and putting roadblocks into the path of the future man on horseback. In others it is a weaker repetition of Weimar's more positive achievements. But in both content and form Bonn falls short of Weimar. Devoid of popular appeal in style or epigrammatical phrasing, it is predominantly a lawyer's Constitution which, striving for perfectionism and completeness, leaves nothing to chance. In sharp contrast to the boldness of the democratic approach of Weimar it is anxious to safeguard governmental powers at the expense of living democratic forces. Confidence in the people is supplanted by the belief of the professionals that political power can be tamed by legalistic formulae. Its federalism is hybrid and artificial. The democratic beliefs of its framers cannot be doubted. But its form of government is slanted towards authoritarian solutions though sanctioned by the popular will. Vital socio-economic issues are carefully side-stepped. In spite of its ostentatious liberalism the Bonn Constitution is perhaps the least progressive of all post-War instruments of government. Much of this, it is true, may be explained, if not condoned, by the peculiar circumstances of its creation: the compromises required by party conflicts, the pressure of the occupation powers, the fear of being responsible for an irreparable break with the East, and, most of all, the lack of a popular mandate. There was no umbilical cord carrying the popular bloodstream into the document. Yet in spite of these inhibitions the Bonn Constitution is a typical link in the historical chain of German constitutional experiments stretching from the Napoleonic period to the present.

No constitution can be evaluated on paper alone. It has to prove its usefulness when exposed to the wear and tear of internal and foreign politics. Constitutions designed for an emergency only have weathered many a storm, others, planned to last, have gone with the wind. Whether the attempted institutionalization of the democratic procedures will help Germany to become a democratic nation, only time can tell.

CHAPTER XXXII

MODIFICATIONS OF ALLIED CONTROL IN WESTERN GERMANY

With the creation, under Allied authority, of the Western German Constitution a substantial installment of the sovereignty forfeited by unconditional surrender was returned to the Germans It required the corresponding transformation and relaxation of the exercise of Allied controls. The revised control machinery operates under an organic law of its own, the Occupation Statute, issued by Proclamation of the three M–Governors (released April 8, 1949) Controls are institutionalized in three separate organs, the Allied High Commission (HICOG); the International Authority for the Ruhr (IAR), and the Military Security Board

THE OCCUPATION STATUTE

The broad outlines of the Occupation Statute had been communicated to the Minister Presidents at the time when they were instructed to proceed to the drafting of the Constitution [1] But the final test was delayed by deep-reaching dissensions among the Allies, of which the Germans were not unaware Objections were not confined to the French An American proposal for establishing an arbitration tribunal to adjust differences in interpretation between the Allies and the Germans on which the Germans should have a seat, was finally dropped, had it materialized the Germans easily could have paralyzed the machinery of the occupation. Controversial also were the questions whether occupation costs should be borne by the *Laender*, as desired by the French, or by the *Bund* as preferred by the two other powers,[2] and the method of arriving at decision within the Control Authority—whether

[1] Document III of the Instructions of the M–Governors to German Minister Presidents of July 1, 1948 The Minister Presidents raised various objections (Koblenz meeting, July 7, 1948) as did the Parliamentary Council (memorandum of December 10, 1948) But there is no evidence that the absence of a definite text of the Occupation Statute substantially handicapped the work of the Council

[2] The issue was divorced from the Occupation Statute and settled in the Basic Law (Art 120) to the effect that the *Bund* is the collective debtor

by unanimity, which would have favored the Germans, or by majority The final disentanglement of these knotty problems came only through the Foreign Ministers themselves in April of 1949 when, with the simultaneous conclusion of the North Atlantic Defense Treaty, French security apprehensions were sufficiently allayed The text that was finally arrived at—it is rumored that there were more than twenty revisions—is inconsistently drafted and so vague as to make it a political rather than a legal document.

The Occupation Statute is not a bilateral treaty, it is the unilateral declaration of a voluntary change in policy Nor is it a peace treaty or a substitute for it. It is merely a redefinition of the relationship between the new government of Western Germany and the occupying powers, and, in this sense, it substitutes in Western Germany a three-power regime for the four-power rule of Potsdam which, however, never was formally denounced or abolished either by the East or the West [3]

According to the text "the German people shall enjoy self-government to the maximum possible degree consistent with the occupation" The federal State and the *Laender* are to have full legislative, executive, and judicial powers "subject only to the limitations of this instrument" However, "in order to accomplish the purposes of the occupation" the Allies reserved for themselves powers on enumerated fields, thus limiting German sovereignty much in the same way, though to a much larger degree, as the Weimar Constitution was limited by the Versailles Treaty Unfortunately the powers found it unnecessary to define or redefine what they meant by the elastic term "purposes of the occupation" which, as the Germans justly complained, never since Potsdam had been precisely defined by any official document Among the powers reserved for the Allies are the following (a) Disarmament and demilitarization (including prohibitions and restrictions on industry), (b) controls in regard to the Ruhr, restitution, decartelization, and deconcentration (the economic counterparts of political democratization), nondiscrimination in trade matters, foreign interests in and claims against Germany, (c) foreign affairs (including international agreements and control over foreign trade and exchange), probably the most important restriction of the entire series, (d) displaced persons and the admission of refugees, (e) prestige and security of the Allied forces (including dependents, employees,[4] and representatives), satisfaction of occupation costs Most of these restrictions on German self-determination, pertaining to the fact of the occupation, can hardly be objected to so long as the occupation lasts and German economy is dependent on American assistance Moreover, "control over internal action" will be exercised "only to the minimum extent necessary to ensure use of funds, food and other supplies in such manner as to reduce to a minimum the need for external assistance to Germany"

[3] Major pieces of CC legislation, however, subsequently were officially invalidated by HICOG legislation

[4] The value of this provision is questionable in view of the fact that the German personnel working for MG are increasingly being treated as outcasts, traitors, and collaborators without the Allies being willing or in a position to help them

However, another set of reserved powers cutting deeply into the internal self-determination make sense only if the Allies had the will and the intention actually to exercise them. The injunction that "any amendment of the Basic Law requires the express approval of the occupation authorities" seems to be motivated by the rather naive fear that otherwise the Germans would proceed at once to install an authoritarian regime by constitutional amendment, or that the laboriously fashioned federal structure would be nullified by constitutional processes *Land* constitutions (referring to the still constitutionless situation in the British zone) and all amendments of *Land* constitutions likewise come under HICOG review Of an intensely practical importance, however, is the requirement that all other legislation must be submitted to the occupation authorities Legislation is effective unless disapproved within twenty-one days Legislative review of the occupation powers in its totality thus is retained, with the proviso that federal and *Land* legislation will be disallowed only if inconsistent with the Basic Law, the *Land* constitutions, the directives of the occupation powers or the Occupation Statute itself, or "unless it constitutes a grave threat to the basic purposes of the occupation" Disallowance pertains also to "any agreements between the federal State and foreign governments" It is obvious that, if the occupation authorities claim for themselves the right of reviewing all legislation as to its compatibility with the federal and *Land* constitutions, they establish an agency competitive with the indigenous German constitutional tribunals and courts. The duplication of the procedure may seem superfluous, not only because it imposes an enormous amount of work on the occupation lawyers, but also because the potential sabotage of the "purposes of the occupation" hardly ever would be cloaked in an open legislative action.

To many observers it would have appeared that the Allies had gone too far in abdicating effective control, had not a general clause been hung as a Damocles sword over the erstwhile enemy whose democratization and denazification were inconclusive at best. While the occupation authorities expressed the hope that they will not have occasion to take action in fields other than those reserved to them, they reserved the right "to resume on the whole or in part the exercise of full authority if they consider that to do so is essential to security or to preserve democratic government in Germany or in pursuance of the international obligations of their governments" The restoration of limited sovereignty (and this even only during good behavior) is intended as a temporary solution, to be reviewed "in the light of the experience with its operation" within twelve to eighteen months. This was under way, in consideration also of German requests for relaxation and reform, in the fall of 1950, the final result evidently being dependent on the progressive efforts of integrating Germany into the community of Western European nations [5]

[5] On the relations between the Allies and the German authorities under the Occupation Statute, see *infra*, pp. 618 ff

ORGANIZATION OF TRIPARTITE CONTROL

THE TRIZONAL FUSION

Likewise on April 8, 1949, the Foreign Ministers of the three Western powers agreed on the "Basic Principles of Trizonal Fusion" to prepare the merger of the three zones and the establishment of the tripartite control machinery The Allied Control Authority (High Commission) consists of one High Commissioner for each power Unanimity is required for approval of amendments of the federal Constitution In all other matters decisions are by majority, with the sole exception of the reserved powers of control over foreign trade and exchange, if a decision here would lead to an increase in United States financial support, a weighted vote comes into operation which in substance ensures the predominance of the United States in economic matters In certain critical issues a High Commissioner who is overruled may appeal to his government, however, this contingency seemingly has never occurred The HICOG must exercise its powers uniformly in accordance with tripartite policies and directives The *Land* High Commissioners appointed in each *Land* are responsible to HICOG as a body but are nationals of the power which controls the zone The other powers send observers to each *Land* Commissioner "for information and consultation" The plan entertained at first that controls of the *Land* administrations should be conducted throughout by tripartite teams, was abandoned as unworkable "Channels of control" run between HICOG and the federal Government and between the *Land* Commissioners and the *Land* governments, thus excluding controls on the lower levels of administration

In actual practice the uniformity of tripartite policies in the zones did not materialize The *Land* Commissioners follow instructions of their own High Commissioner and report to him The functions of the "observers" remain irrelevant The individual High Commissioner knows little, and cares less, of what is going on in other *Laender* or zones The flavor of the administration remains what it was before, American, British, or French The British and the French are much too realistic to abandon established practices of control in favor of the well-meant generality of uniform tripartite policies Consequently the separate patterns of zonal administration that had existed under MG were not assimilated In particular, even on fields of non-reserved powers (for example, licensing of political parties) the influence of the occupying power varies, being greatest in the French, least effective in the American zone. The much heralded fusion of policies took place only on the highest level which faces the federal Government

THE CHARTER OF THE HIGH COMMISSION

According to the Charter of the Allied High Commission (June 20, 1949) the three High Commissioners, acting as "the Council," are the legal successors of the M-Governors The military establishment of the occupation

forces, though at the disposal of the Council, is completely divorced from the civilian administration. Thus, the process of civilianization that had been under way in the MG's since 1948 was finally completed Headquarters of HICOG are at the seat of the federal Government in Bonn where a small area is set aside, an extraterritorial "concession" in miniature, for its exclusive jurisdiction [6] Correspondingly, the area in Bonn where the federal Government is located was vacated from occupation forces.

For the internal organization of HICOG the experience with quadripartite and bizonal cooperation was utilized The Council itself, with chairmanship rotating monthly among the three proconsuls, has organizational autonomy Committees with tripartite membership initially established were Political Affairs (with the subcommittee of Information and Cultural Affairs); Foreign Trade and Exchange, Economics (with subordinated committees for decartelization, the Coal Control and the Steel Control Groups), Finance, Legal, and the Military Security Board By 1951 there existed thirty-one committees, subcommittees, and boards within the organization of HICOG in Bonn The organization is duplicated on the *Land* level where the *Land* Commissioner is responsible "on matters of tripartite concern" directly to HICOG and constitutes the exclusive channel of communication and liaison between HICOG and the *Land* governments In conformity with the elevation of the German authorities to full-fledged governments, definite channels of communication were established, formal decisions of HICOG to be addressed in writing to the federal Chancellor, lesser decisions to a Minister, and *Land* matters (through the *Land* Commissioner) to the Minister President

General Lucius D Clay resigned his position as M–Governor officially on May 3, 1949. To the position of the American High Commissioner (established by Executive Order, June 6, 1949) Mr John J McCloy, a lawyer and administrator with a distinguished career in public service, was appointed (May 18, 1949) As French High Commissioner, in succession to the M–Governor General Koenig, was chosen M André François-Poncet, a career diplomat and one of the leading experts on German affairs For the British the M–Governor General Sir Brian H. Robertson continued at first as High Commissioner, later (June, 1950) succeeded by a career diplomat, Sir Ivone Kirkpatrick. The Occupation Statute with the Allied High Commission was proclaimed in force on September 21, 1949, after the authorities provided for by the Basic Law had duly been constituted On the same day OMGUS and AMG went out of existence

ORGANIZATION OF HICOG IN THE AMERICAN ZONE

The seat of the American element of HICOG is in Frankfurt in the building of the I G Farben corporation [7] The American High Commissioner reports to the Department of State and no longer to the Department of the

[6] U S Headquarters were established in Bad Godesberg, near Bonn Whether unfettered access on "corridors" through the British zone to this "island" has been agreed on is unknown

[7] British and French headquarters are located in Hamburg and Mainz respectively, where the French moved most of their offices from Baden-Baden in 1950

Army or Defense The organization chart reveals the shift of emphasis from the previous policy of control and supervision pursued under the various MG directives, to that of observation, advice, and assistance if requested by the Germans The High Commissioner serves also as chief of the Economic Cooperation Administration mission in Germany The center of the organization is now occupied by the Office of Political Affairs The place of the formerly powerful Civil Administration Division has been taken by a skeletal and relatively unimportant Internal Governmental and Political Affairs Division The Legal Division (Office of the General Counsel) which, under General Clay, had been one of the weakest spots in the administration, increased in importance (taking charge of the enormous task of legislative review) and efficiency, hardly surprising when the boss himself is a lawyer In the Office of Public Affairs, the Division for Education and Cultural Relations, on which the French from the beginning had placed major responsibilities, gained influence, though probably it was too late to accomplish much

The transition from MG to civilian administration under the High Commissioner was anything but smooth It should be noted that Mr McCloy had to integrate into an organizational pattern his responsibilities as a member of the Allied High Commission, as the chief of the U S organization in the American zone, and as the ECA representative for Germany, while developing simultaneously his relations to the Ruhr Authority, to the High Command of the U S forces, and to the Berlin Western Sector The American personnel was cut drastically (from about 2,200 to 1,600), much firing and hiring was done, since understandably the High Commissioner wished to choose his own staffs.[8] On the whole, the quality of the personnel has deteriorated noticeably, though by the middle of 1950 at least an effective office routine had been secured Cooperation and coordination between the Divisions and with the *Land* Commissioners leave much to be desired. In general the best among the staff feel frustrated by the lack of real powers, the impotence of coping with undesirable developments among the Germans, and the waste motion so characteristic of American public administration.

THE INTERNATIONAL RUHR AUTHORITY

The Ruhr,[9] with its coal and iron deposits, its mines, plants and factories, its integrated labor force and accumulated management skill, is the economic heart of Germany, the greatest industrial concentration of Continental Europe, and the core of the East-West conflict over Germany Its post-War importance may be visualized from three inextricably interlocked angles First: How can Germany be prevented from using her resources again, as

[8] Fortunately, the valuable elements of the resident officers in the local districts (*Kreise*) were retained and strengthened All of them must speak and understand German and must be married and living with their families, for reasons not altogether flattering to former incumbents without such qualifications

[9] The circumference of the area located entirely in the *Land* North Rhine-Westphalia, is defined by the Annex to the Ruhr Statute, as comprising thirteen city and twenty-three rural districts of the *Regierungsbezirke* of Duesseldorf, Muenster, and Arnsberg.

under the Empire and Hitler, for aggressive war? For the French, the Ruhr in the hands of the nationalistic tycoons of heavy industry is the eternal dagger pointed at their security When they realized, after the Moscow Conference of 1947, that their initial goal of internationalizing the Rhine and the Ruhr was unobtainable from their Allies they insisted at least on international control of ownership and management Here the Socialists and other farsighted Germans agreed, but they wished to forestall abuse of the economic potential by the steel masters and coal barons by public ownership or nationalization of the Ruhr industry This, in turn, was anathema to the Americans, though not to the British Second How can the natural wealth be made accessible to all of Europe without the Germans, for selfish reasons, being able to discriminate against others? Here the solution was proposed to make the entire area, by internationalization, serve all-European interests; this was strongly opposed by the Germans who wished to retain exclusive control over their most precious asset, particularly since they had lost the two other industrial regions, the Saar to the French, and Upper Silesia to the Poles Moreover, if the Ruhr was to be "Europeanized," why not the Saar, the Belgian Borinage, or other industrial areas? Third· How can the Soviets be prevented from sharing control and benefits of the Ruhr? This is the intrinsic reason why the Potsdam Agreement, providing for the economic unity of Germany as a whole, proved politically and economically untenable to the Western Powers and remains essential for the Soviets

The London Six-Power Accord (June 2, 1948), confronted with these conflicting claims and realizing that without the Ruhr European recovery could not be accomplished, decided on the integration of the three Western zones into the European Recovery Program Instead of internationalizing the Ruhr the establishment of an International Authority should make a contribution of the area to European cooperation possible But the vital issue of ownership was sidestepped On the eve of negotiations with the stalling French, the Anglo-Saxon powers, with less than delicate timing (Armistice Day, November 11, 1948), sprang on their ally MG Law No 75 which ordered the dissolution of the huge trusts and combines—the Ruhr industry is the textbook model of "vertical economic concentration"—and their regroupment in smaller units, under the management of German trustees[10] and under MG supervision The final decision on the ownership was to be left to "a freely elected German government" To all practical intents and purposes this amounted to a return to power of the former owners and management Negotiations with the justly indignant French led to their admission to the bizonal coal and steel control groups without waiting for the final trizonal fusion arrangement and the immediate setting-up of the Military Security Board (agreed also in the Six-Power Accord [June 2, 1948]) Subsequently the Ruhr Statute (agreed to on December 19, 1948) was signed in London (April 28, 1949) by the three Western powers and the Benelux

[10] The twelve trustees, chosen from management and trade unions, were finally selected in 1950 after the customary denazification troubles

states The International Authority was finally constituted in the summer of 1949 in Duesseldorf

The objective of the International Authority for the Ruhr was to ensure that "the resources of the Ruhr shall not in the future be used for the purpose of aggression but shall be used in the interests of peace " Voting rights in the Council were assigned to the United States, Britain, France, Germany (three votes each) and to the three Benelux states (one vote each) For an interim period the German votes were to be cast jointly by the occupation authorities Germany at first sent only an observer The basic functions of the Authority consist in the division of coal, coke, and steel from the Ruhr "as between German consumption and export" and the elimination of unfair trade practices and discrimination In order to fulfill these functions the Authority may examine transport, price and trade practices, quotas, tariffs, and other governmental measures or commercial arrangements instituted or permitted by the German authorities This supervision is intended to prevent underselling by Germany Allocation of coal, coke, and steel was to be integrated with the European cooperation requirements A minimum amount of coal, coke, and finished and semi-finished steel had to be made available for export The American hand is found in the provision that no excessive concentration of industry will be tolerated The Authority was also charged to prevent production in excess of the steel quota permitted by the level of industry plan (fixed at 11 1 million tons a year)

Whether the arrangement was found useful at the time of its devising may be doubted The Ruhr Authority was still-born from the start [11] Although no direct organizational relationship exists between the Authority and HICOG, the former's functions are largely dependent on the latter's decisions For the period of occupation the right of control and internal allocation belongs to HICOG, which exercises them through its Coal and Steel Control Groups Actually, thus, the International Ruhr Authority is primarily a consultative and study group without any effective power Deliberately left without adequate funds, its control operations are entirely dependent on German information and German personnel As a result of the "Treaty on the European Coal and Steel Community," better known as the Schuman plan (signed by the Foreign Ministers of the six participating powers on April 19, 1951), the Ruhr Authority, in spite of its limited powers a thorn in the flesh of German heavy industry, will terminate its existence as soon as the Schuman plan organization has begun to operate

The net result of this complex and irritating narrative is that in the vital Ruhr issue the clock has been put back, with American connivance, to before 1945 The managerial board of the trustees, where management and labor are

[11] External allocations subsequently became unnecessary since supply and demand had been brought to an approximate balance When, in December, 1950, coal scarcity reappeared because of increased industrial demands, the Germans, as could have been expected, became obstinately opposed to the export of coal which they pretended to need at home Dissatisfaction with the Authority's rulings concerning the export quotas for coal led, in the summer of 1951, to the resignation of the German member, Vice Chancellor Bluecher.

patriotically united against the Allies, is merely a screen for the former owners and their managerial elite whose corporate skill allegedly could not be dispensed with in European reconstruction. Decartelization has come to nothing The breaking up of the cartels into smaller self-sustaining and competitive units was of course wholly impossible Socialization or nationalization became academic issues, considering the party structure of the Bonn Parliament and the sullen submissiveness of the labor force confronted with the alliance between German and American big business, which has large investments in the industry The coal and steel magnates emerged as the victors from this battle royal Next to the failure of denazification, the re-establishment of the *status quo ante* in the Ruhr is the major defeat of the Allied occupation policies.[12]

THE MILITARY SECURITY BOARD

Another limitation of German sovereignty consists in the establishment of the Military Security Board, agreed on in the Six-Power Accord (June 2, 1948) It has the over-all responsibility for security in Germany, charged also with the task of supervision in the Ruhr Its primary function is the maintenance of German disarmament and demilitarization, particularly with regard to the prohibited and limited industries and the restrictions on scientific research. Of its activities little is known But the main protection against an illegal revival of the German military potential is the presence of the occupation forces This statement, however, is a historical one referring to the situation that existed prior to the German rearmament at the behest of the Allies

[12] For the remarkable inside story of the failure of German decartelization see James Stewart Martin, *All Honorable Men*, Boston, 1950.

SECTION FIVE. *GOVERNMENT AND POLITICS OF THE GERMAN FEDERAL REPUBLIC SINCE 1949*

CHAPTER XXXIII

SETTING UP THE MACHINERY OF GOVERNMENT

THE ELECTORAL LAW

Different from Weimar, the Bonn Basic Law refrained from making a uniform electoral system mandatory by constitutional injunction The Parliamentary Council arrogated to itself the right of drafting an electoral law for the first elections for the *Bundestag* Heavily weighted in favor of proportional representation it was rejected, under American pressure, by the M–Governors, who would have preferred to leave the matter to the *Laender*, acting under a uniform directive When the untractable Council nonetheless passed (May 10, 1949) a version little dissimilar to the previous one, the M–Governors, losing patience, amended the text themselves and instructed the Minister Presidents to promulgate it in their respective *Land* (June 14, 1949) Likewise, since the Germans obstinately refused to accede to the Allied request concerning the exclusion of public officials from the *Bundestag,* the M–Governors cut the Gordian knot and enacted a MG Law [1] according to which public officials and employees, if elected, must, upon acceptance of the mandate, resign their official position

The law for the elections of the first *Bundestag* as it finally emerged is a curious mixture of certain aspects of proportional representation and of the technique of straight majority elections in single-membered constituencies, patterned largely on the experience with similar statutes in the British zone The basic idea was to allow the voter a choice between individual personalities rather than make him blindly support a party list submitted by the party hierarchy under proportional representation Of the 400 seats, a certain number corresponding roughly to the population was assigned to each *Land* Within each *Land* the seats were to be distributed "in an approximate proportion" of 60 40 per cent between the electoral districts electing the deputy in straight majority contest, and supplementary *Land* nomination lists based on

[1] In the U S zone MG Law No. 20 of June 2, 1949

the proportional system In each electoral district the candidate is definitely elected who has received the plurality of votes Thereafter, in each *Land* the votes cast for each individual party are added up and the number of seats assigned to each party are calculated according to the proportion of the total votes cast Next, from the number of seats so obtained the number of mandates is deducted which each party has received in the electoral districts by straight majorities. Finally, the remainder of seats are filled according to the lists submitted by each party However, if a party has obtained more seats in the direct election in the constituencies, they remain assigned to it even if they exceed the total of mandates a party is entitled to under proportional distribution[2] Parties with less than 5 per cent of the total vote cast in each *Land* are entitled to share in the pool under proportional distribution of seats only if they have won at least one electoral seat in an electoral district [3]

The blending of straight majority contests and proportional representation constituted a partial victory of those Germans (and the few AMG officials conversant with recent German history) who justly considered proportional representation a perversion of the democratic idea, in spite of its literal congruity with it, because it had promoted the splitting-up of the electoral will into multiple parties which the German urge for political individualization encouraged anyway The election of personalities instead of the soulless endorsement of a party-manufactured list was considered indispensable for kindling the voters' interest in elections and for breaking up the hold of the irresponsible party bosses and their bureaucracies on the selection of candidates [4] When put to the practical test in the elections the mixed system fell short of expectations If 60 per cent of orange juice is added to 40 per cent of sulphuric acid the mixture will taste accordingly The voters continued to vote for parties and party lists instead of personalities But at least the wall of proportional representation had been breached

THE CHOICE OF THE FEDERAL CAPITAL

The Parliamentary Council, once again transcending its competence, selected Bonn as the future capital That the badly destroyed university town on the left bank of the Rhine was chosen over the competitive protest of Frankfurt, was the first major political controversy among the Germans Frankfurt, objectively much better suited as the traffic center of Western Germany and with available metropolitan facilities for accommodating the large staffs of the bizonal administration, was rejected by Dr Adenauer and the majority of the Council, Bonn, his home town, was in North Rhine-Westphalia, the most pow-

[2] This latter provision explains why the first *Bundestag* had 402 deputies instead of the number of 400 fixed in the electoral law

[3] The law contained also regulations for the election of the first federal Convention charged with the election of the federal President, see *infra*, p 605

[4] Credit for bringing the issue before the German public goes to the German Electoral Association (*Deutsche Wahlergesellschaft*), founded 1947 in Frankfurt, in which prominent people of all walks of life actively participated Of the parties, the CDU favored majority elections, the SPD, entangled in obsolete party doctrines, held on to proportional representation, the minor parties which naturally could gain most from proportional representation, wished to retain it

erful *Land,* and, as his detractors allege, in the shadow of the cathedral of Cologne and the coal and iron stacks of the Ruhr.[5]

THE ELECTIONS FOR THE FIRST *BUNDESTAG*

The Minister Presidents upon whom, after disbandment of the Parliamentary Council (May 23, 1949) the task of keeping things moving had reverted, determined August 14, 1949, as the date for the elections of the first *Bundestag.*

The election campaign, starting late, aroused little enthusiasm. The mass of the people was indifferent towards the Constitution of which they knew little. By no stretch of imagination, therefore, can the vote be taken as a plebiscite on the Constitution. Suspicion towards any and all political parties was unabated. Chauvinistic gibes at the occupation powers—in which the Socialists outdid all other parties except the Communists—seemed to be the foremost vote-catching device. The election itself was traditionally orderly and wholly free from corruption or pressure.

Election results are shown in the following tabulation:[6]

Eligible voters	31,179,422	
Voters participating	24,495,613	78.5%
Valid votes cast	23,732,398	
Invalid votes cast	763,215	

Party	*Vote*	*Per Cent*	*Total of Seats*	*Seats Obtained Districts*	*Seats Obtained Land Lists*
CDU–CSU	7,359,084	31.0	139	115	24
SPD	6,934,975	29.2	131	96	35
FDP	2,829,920	11.9	52	12	40
KPD	1,361,708	5.7	15	—	15
BP	986,478	4.2	17	11	6
DP	939,934	4.0	17	5	12
DRP	429,031	1.8	5	—	5
WAV	681,888	2.9	12	—	12
ZP	727,505	3.1	10	—	10
Others	340,228	1.4	1	—	1
Independents	1,141,647	4.8	3	3	—
Total	23,732,398	100.0	402		

These first democratic elections on a nation-wide scale since 1932 were variously interpreted as a victory of the "moderate" parties, as alarming signs of rising nationalism, or as a convincing repudiation of Communism. They require a closer scrutiny than may be obtained by the mere comparison of seats and percentages.

(1) The voting percentage (78.5) does not indicate particular interest except when contrasted with the traditionally low figures in this country. Partici-

[5] On November 4, 1949, the *Bundestag,* by 200–176 votes, rejected a motion of the SPD to move the seat of the federal capital from Bonn to Frankfurt. Previously the Parliament, on the initiative of the CDU–CSU, by the narrow margin of 197–185, had accepted an amendment of the Standing Orders permitting, at the request of seventy members, a secret vote (except on matters of legislation), obviously intended to allow the SPD members from North Rhine-Westphalia to vote against their party on the transfer of the federal capital.

[6] The figures are taken from Department of State Publication 3556, p. 319.

pation was lower than for the Weimar Constituent Assembly in 1919 (82 7) Disfranchised Nazis account for a fraction of one per cent only. The increase of votes over the *Landtag* elections of 1946–47 (more than 6 3 million) came from the returned prisoners of war, readmitted Nazis, expellees, etc.

(2) No single party received a majority, nor did anything approximating a two-party system materialize. No government was possible without a party coalition

(3) The blending of straight majority contests with elections on *Land* lists did not disabuse the voter from the habit of voting for the party ticket, instead of "personalities." The power of the party machines, so greatly enhanced by proportional representation, has not been dented, let alone broken

(4) No fewer than eighty seats (one-fifth of the total) went to small and very small groups Majority elections throughout would have eliminated all parties obtaining seats only through the *Land* lists (for example, the Center Party and the Communists),[7] but would in all likelihood have also reduced the number of seats going to parties which obtained the bulk of their mandates from the *Land* lists (for example, the FDP) Only the CDU–CSU and the SDP received more seats in straight elections than through proportional representation [8] However, the conclusion that, with majority elections throughout, the two-party system, based on the CDU and the SPD, would have emerged with, perhaps, a small Liberal party and a handful of seats otherwise scattered, is altogether unwarranted Local election agreements, all pointed against the Socialists, may well have resulted in the maintenance of the multiple party structure This explains why the SPD feels that proportional representation is its best protection

(5) The election result is distorted by the absence of refugee parties which had not been licensed in time Since this element constitutes about one-fifth of the total population, refugee parties may be counted on obtaining between sixty to eighty seats in coming elections, with corresponding deflation of other parties now harboring them

(6) The sharp decline of the Communists (from 9.4 to 5 7 per cent is self-explanatory. It was marked also in traditional citadels like the Ruhr and Hamburg Unemployment rather than Eastern propaganda may reverse the trend

(7) But also the two major parties of the CDU and SPD slipped considerably (from 37 7 to 31 0 per cent and from 35 0 to 29 2 per cent respectively), and this in spite of a relative gain in the total of votes. Evidently the expected process of deflation has begun

(8) The real victor, practically the only party rising in percentage (from 9 3 to 11 9) were the Liberals (FDP). But appearances are deceptive. The FDP, in the German party spectrum farthest to the Right, was preferred by

[7] The Communists and all regionally scattered parties were at a disadvantage owing to the provision that they could participate in the *Land* pool only if obtaining at least 5 per cent in the *Land* Consequently, the Communists required about 90,000 votes for each seat, as compared with about 55,000 for the major parties

[8] The case of the Bavarian Party which likewise obtained eleven of its seventeen seats in the districts is a special one because the party is concentrated in Southern Bavaria as a serious competitor of the CSU

many former Nazis Neo-Fascism was not yet organized With the formation of genuine nationalistic parties the FDP is bound to decline Nazi negativists explain also the relatively large percentage of invalid votes (3 1 per cent)

(9) By all reasonable standards, the Germans have gone Right, not Left They voted for order, not for democracy The result may be evaluated as a victory of the Americans over the British, of free enterprise over Socialism But the margin of the socially heterogeneous CDU is a slim one indeed The triumph of the moderate bourgeoisie, therefore, is not devoid of hybrid elements Masses of displaced voters have not yet found their proper cubicles The party configuration is still far from jellied or stable

THE ESTABLISHMENT OF THE FEDERAL ORGANS

THE ELECTION OF THE FEDERAL PRESIDENT

The Constitutional Convention for the election of the federal President assembled in Bonn on September 12, 1949 It was composed of 804 electors, consisting of the deputies elected to the *Bundestag* and the same number of delegates designated by the *Landtage* Since the latter were free to determine the method of selection, the electors were chosen in some *Laender* in conformity with the strength of the political parties as evidenced by the *Bundestag* elections (as in Bavaria), in others in line with the existing party configuration The procedure revealed its intrinsic absurdity from the start [9]

The coalition parties had agreed in advance on the candidature of Dr Theodor Heuss (FDP), sixty-five, native of Wuerttemberg, a former professor of political science, publicist, and convinced anti-Nazi As a surprise move the SPD presented as competitor its leader, Dr Kurt Schumacher The first ballot proved inconclusive, none of the candidates securing the required majority of 403.[10] In the second ballot Dr Heuss was elected by the unimpressive majority of 416 votes (Dr Schumacher receiving 312) Thus, the election of the first magistrate of the federal Republic, intended to be "above the parties," was strictly party-engineered [11]

[9] The least that one would have expected was uniformity of procedures among the *Laender* The following tabulation demonstrates that the method favored the CDU and SPD, while the FDP was as heavily under-represented as the KPD was over-represented

Seats in Bundestag		*Landtage Electors*	*Total*
CDU–CSU	139	140	279
SPD	131	148	279
FDP	52	36	88
KPD	15	25	40
Others	65	53	118
	402	402	804

[10] Dr Heuss received 377, Dr Schumacher 311 votes

[11] The iron hold of the party hierarchy on the constitutional machinery was revealed with brutality by the election of the first President of the federal Council (September 7, 1949) In the intention of the Basic Law the President of the federal Council should be independent from the federal Government What actually happened was that Dr Adenauer, supinely overriding the autonomy of the federal Council, struck a bargain with the Bavarian CSU to join the coalition, in return for designating the Bavarian Minister President, Dr Hans Ehard, as President of the federal Council The Socialists, controlling five *Land* governments, not having

ELECTION OF THE FEDERAL CHANCELLOR AND FORMATION OF THE CABINET

The dust of the election had not yet settled when the party leaders began negotiations on the formation of the government coalition. Some leaders would have favored the so-called "Great Coalition," consisting of the CDU–CSU, the SPD, and the FDP that had steered Weimar through the difficult initial stages But the SPD leadership justly declined, since the election was clearly indicative of a popular mandate for the free market economy instead of Socialism Consequently, the SPD constituted itself as the official opposition party Dr Adenauer, the leader of the CDU, in search of a majority, arranged a combination of his party with the FDP (139 and 52 seats), but was compelled to add also the 17 votes of the DP, pulling together, all told, 208 votes, which amounted to hardly more than the bare majority, 202)

That the newly elected federal President, Dr Heuss, would propose as federal Chancellor Dr Adenauer, was agreed by antecedent negotiations among the coalition leaders He was elected (September 15, 1949) with the barest legal minimum of 202 votes (of 393 members present) [12]

The Basic Law requires neither a vote of confidence nor a formal endorsement of the government's program by the *Bundestag* Under this curious demo-authoritarian instrument of government he is handed, by the election, a blank check Nor was the President or anyone else entitled to know in advance the distribution of the cabinet portfolios among the parties, or the persons considered for them, although this must have been under discussion among the coalition parties The President merely confirmed the list of Ministers submitted to him by the Chancellor (September 20, 1949)

Thirteen ministries were established, eight of the "classical" type (Interior, Justice, Finance, Economics, Food and Agriculture, Labor, Transport, Posts and Telecommunications) and five related to specific conditions (Refugee (*Fluchtling*) Affairs, Housing, European Recovery Program, All-German Affairs, and Federal Council Affairs) [13] No Ministry of Foreign Affairs being permissible under the Occupation Statute, the Chancellor took personal charge of them Of the Ministers, eight belonged to the CDU (among them no fewer than three assigned to the Bavarian CSU); three to the FDP and two to the

---

been consulted, revolted, supported by the powerful *Land* North Rhine-Westphalia whose Minister President, Karl Arnold (CDU), is Adenauer's competitor within the CDU The result was that Arnold was elected (by ten out of eleven *Laender*, only Bavaria voting against) The upshot of this finagling was that the President of the federal Council, which is an organ of federalism, from the start was subordinated to the power squeeze of the federal Government Political realities proved stronger than paper federalism See *Archiv des offentlichen Rechts*, vol 75 (1949), pp 332 ff

[12] As the vote was secret the composition of the majority is unknown It is even doubtful whether the election was legal, since three invalid votes were counted for Dr Adenauer

[13] The Ministry of All-German Affairs attends to matters concerning the Eastern zone The Federal Council Affairs Ministry is anomalous since matters pertaining to the federalist structure belong to the Ministry of the Interior ERP was split from Economics Several of these offices were created to satisfy the wish of certain party politicians.

DP The key men, next to the Chancellor, Dr Adenauer, were Dr Ludwig Erhardt (Economics), the creator of the free-market economy, Fritz Schaeffer (Finance); and Dr Gustav Heinemann (Interior) Several Ministers are not members of the *Bundestag*

All federal legislative and executive organs duly constituted, the German Federal Republic was launched on what may be expected to be a stormy career

CHAPTER XXXIV

POLITICAL DEVELOPMENTS ON THE GERMAN LEVEL[1]

THE FEDERAL GOVERNMENT

The time elapsed since the Basic Law has begun to operate is too short and the conditions in Germany are too extraordinary to allow any but the most tentative review of its practical value. But certainly it did not fail its drafters in providing Germany with a strong government, strong to the point of being immune to the influences of the President, the Parliament and the people

The federal President, Dr Heuss, keeping strictly within constitutional limits of integrating and symbolizing the Republic, has won the respect of the parties —and even, with certain reservations, the loyalty of the public—by his informality, knowledge of the nature of man, and a refreshing sense of humor

The federal Chancellor, Dr Adenauer, made the fullest possible use of his constitutional attribute of "determining the directions of politics" (Art 65, par 1) while the collateral duty of "being responsible for them" remained nominal at best Cabinet meetings are being held, as a rule, twice a week In foreign affairs (for which Section III of the Chancellory served as administrative basis) he claimed and maintained the monopoly of action and decision The relations with the Allies, represented by the High Commissioners, he conducted single-handed and at times, it is contended, without consultation with his cabinet, let alone the *Bundestag*, relying, if at all, on personal and irresponsible advisors Equally impervious to outside control in his recruitment of the personnel for the federal ministerial bureaucracy, he admitted to key positions prominent former Nazi collaborators He did not hesitate to intervene in the autonomy of the *Laender*, when, after the June, 1950, elections in North Rhine-Westphalia, he forced the *Land* CDU to dissolve the previous government coalition with the SPD and to coordinate the political complexion of the *Land* government with that of the federal Republic

The only cabinet crisis (if such it was) occurred (September, 1950) when the Minister of Interior, Dr. Heinemann, resigned in protest over the sub-

[1] In the following discussion events are covered to January 31, 1951, inclusive.

ordination of the newly created Security Police to the Chancellery instead of to his Ministry. But the underlying cause of the break was the wish of the Minister, who is also the president of the Evangelical Synod, to dissociate himself from the plan of rearmament to which the Protestant Church is opposed.

However, the technique of quasi-authoritarian action, combined with an unusual astuteness in political manoeuvring, stood the Chancellor in good stead in accomplishing what may be the most important internal development of the Bonn Republic, namely, the passage of the Codetermination Act of May 21, 1951. Codetermination, as mentioned before, is the cornerstone in the program of the Socialists, as the first stage of economic democracy in Germany, and may well become of paramount importance in view of Germany's senior partnership in the Schuman plan also for Western Europe as a whole.

Codetermination had been introduced, by an Ordinance of the British occupation authorities for their zone early in 1947, for those "decartelized" plants of the steel industry that, with German "trusteeship," were under the jurisdiction of their Northern Iron and Steel Control Board. The measure distributed the statutory number of eleven members of the Board of Supervisors (*Aufsichtsrat*) between capital (management) and labor (trade unions and plant community) on the principle of "parity of social partners," with the key position of the "eleventh" man assigned to the trustee administration. On the three-membered Board of Directors (*Direktorium*) a trade-union member held the position of "director of labor," in addition to one management or business representative and one for "personnel and labor matters." The system governed plants producing 85 per cent of the iron and steel capacity of Western Germany; it did not extend to coal mining. Its success, equally attested to by management and labor, contributed its full share, by assuring labor peace and giving labor a voice in management policies, to the amazing economic recovery of the Ruhr and the Rhineland.

When, in line with the relaxation of the occupation controls, this important segment of Germany's economic potential was to revert, at the end of 1950, to exclusive German control, Dr. Ludwig Erhardt, diehard liberal Minister of Economics, imprudently announced the impending cancellation of codetermination as inconsistent with German law. The issue had been tossed around in the *Bundestag* for a year and more. The trade unions, taking up the gauntlet, countered with the threat of a strike on February 1, 1951, affirmative action on which was carried by 92.8 per cent of the 800,000 workers in a referendum, unless the Bonn Government formally obligated itself to submit appropriate legislation to the *Bundestag* for the retention of codetermination in the steel industry and its extension to coal mining.

At this point Dr. Adenauer, who before had refused to accede to a strike threat considered "political," reversed himself in support of labor's demands, realizing that otherwise he would jeopardize recovery and also, as a shrewd politician, determined to take the wind out of the propaganda sails of the Socialist competition. Personally presiding over labor-management negotia-

tions, he not only succeeded in overcoming the resistance of the latter (January 27, 1951) but also the parliamentary obstacles to the bill drafted by his Government In the final vote (April 10, 1951) in the *Bundestag* he was deserted by two of his coalition partners, the FDP and the German Party—among the former the chairman, Vice Chancellor Bluecher, voted against his own party—and the passage was secured by a strange *ad hoc* combination of the reluctant Christian Democrats and the jubilant Social Democrats A special feature of foreign intervention was also present in the violent protests of emissaries of the American Association of Manufacturers

In its final form the application of codetermination is limited to plants with more than 1,000 employees, the Socialists had demanded a minimum of 300 Of the eleven members of the Board of Supervisors five are elected by the stockholders, meaning, in practice, capital and management Of the five labor members three will be designated by the trade unions, two are to belong to the plant community (white-collar and manual labor). For the selection of the "eleventh" man, the "independent" member, holding the key position with regard to potential deadlocks between the two equal groups, a complex arbitration procedure was established, with eventual injection of the local district court, and resulting in a slight edge in favor of the stockholders

In taking responsibility for this legislation and in successfully steering it through the cliffs of parliamentary opposition, Dr Adenauer has shown more than average leadership capacity and demonstrated, a portent for the future, the chances of cooperation between the middle-of-the-road parties, the Christian Democrats and the Socialists. Moreover, in identifying himself, a staunch conservative heretofore leaning heavily on big business, with this truly revolutionary legislation he helped to inaugurate what may become the entering wedge of a peaceful social revolution in Germany On the other hand, labor prepares the extension of codetermination to other segments of industry, particularly the production of chemicals, considering it the first stage of ultimate nationalization. Incidentally, codetermination for all branches of production exists already, through *Land* legislation and against long resistance of the United States Government, in Wuerttemberg-Baden and Hessen

No one will deny Dr Adenauer recognition of his consummate political skill in holding the precarious government coalition together, none will doubt his professing (and probably believing in) Europeanism, and none will minimize the ability of the German Talleyrand to exploit to the limit Germany's improved bargaining position towards the Allies which contributed much to whittling away many of the restrictions under the Occupation Statute. But under the existing conditions his rule is quasi-authoritarian and democratic in the remote sense only that a popularly elected Parliament has raised him to power What may be, however, more fatal in the long run is the suspicion, borne out by much substantial evidence, of the influence exercised over his policies by the magnates of German heavy industry in the Rhineland and the Ruhr who again have taken their place on the industrial thrones of the powerfully recuperating German economy

THE FEDERAL LEGISLATIVE BODIES

THE BUNDESTAG

Within the period under review the *Bundestag* failed to gain the political weight assigned to it by the Basic Law At first sessions were held once a week only, later more frequently Towards the federal Government the assembly was too submissive to exercise efficiently its constitutional role as controlling organ This was partly due to the structure of the Constitution which makes a vote of nonconfidence dependent on the selection of a successor in case it is carried, substitute methods of control were not developed Relations with the federal Government were maintained, if at all, through the party leaders, the Chancellor presented himself rarely to the chamber which serves primarily as the technical agency for legislation Only once the Government encountered a palace revolution of the *Bundestag* when, in view of the universal protest of the parties (including his own), the Chancellor was compelled to continue flour subsidies in connection with a sudden rise of the price for bread (July 14, 1950)

In terms of party dynamics, the *Bundestag* was as strictly controlled by the Government coalition as is the British House of Commons by the Government party Parliamentary discipline (*Fraktionszwang*) is traditional in Germany, cross-voting occurs rarely, and defections from the party line are practically unknown The exclusion of the opposition from constructive collaboration—let alone codetermination of policies—is watertight Advance understandings or compromises with the opposition are uncommon Consequently, the opposition of the Socialists (and other parties) was unconstructive to the point of futility [2] The situation improved, however, when, after the electoral victories of the Socialists in the *Laender* late in 1950, the Chancellor became more inclined towards cooperation

THE FEDERAL COUNCIL

As an organ for the protection of states' rights the federal Council proved of little importance, the *Laender* do not seem apprehensive of federal encroachment The authorization of concurrent legislation (Art 76, par 1) was fully used without much objection on the part of the *Laender* [3] The interparliamentary conciliation committee for adjusting differences between the two houses was invoked only four times and led always to agreement There was as yet no need for resorting to the veto (*Einspruch*) On the other hand, the fed-

[2] The situation was drastically highlighted by an incident (November, 1949) Dr Schumacher, in the heat of a night debate on the Petersberg Accord, made a slighting remark about the Chancellor which, in any other parliamentary milieu, would have been settled by an apology Instead the offender was excluded, by disciplinary sanction of the submissive *Bundestag* majority, from the plenary sessions for twenty days which would have eliminated the leader of the opposition for about half a year Only outside persuasion brought rescission of the penalty

[3] Only in a single case, the proposal for a federal hunting law, did the federal Council seriously contest the federal jurisdiction.

eral Council, as under the Empire and Weimar, regained its position as a group of administrative technicians indispensable for legislation, and thus in time may become a counterweight of the federal ministerial bureaucracy The body was free from serious political conflicts Contrary to expectations, voting along party lines rarely developed What happened instead—and this could have been foreseen if not by the textbook federalists of MG—was that whenever occasion arose, the "have-not" *Laender* (Bavaria, Schleswig-Holstein, and some of the *Laender* in the French zone) "ganged up" against the "haves" (primarily North Rhine-Westphalia, Wuerttemberg-Baden, Hamburg), with Hessen and Lower Saxony joining lustily, to pressurize them in favor of their deficient economies, and this regardless of the party flavor of the individual *Land* In terms of federal planning this implies that, however federalistic a constitution may be on paper, its character is determined by the power of the purse—or, in Germany, the equalization of financial burdens (*Finanzausgleich*)

THE LEGISLATIVE PROCESS

The legislative process was slow in hitting its stride This is not surprising. The federal Government had its hands full—Bonn is about as hectic as Washington—in setting up the administrative machinery and preparing legislation. The *Bundestag* exercised its right to initiate legislation fully [1] The ministerial bureaucracy has no longer a drafting monopoly However, government bills submitted to it were discussed and eventually amended, but never rejected by the *Bundestag* The efforts to teach the legislators the American technique of a legislative drafting service and a legislative reference bureau have yielded no dividends as yet, the ministerial bureaucracy believing itself fully capable of drafting a statute as it should be drafted The legislative process is traditionally cumbrous but not worse than elsewhere. Public hearings were not introduced, again because the ministerial bureaucracy does not believe it needs outside advice The net result, as under Weimar, is that the legislative process, monopolized by the Government officials and the party experts, is divorced from public opinion.

As to substance, most of the legislation pertained to implementing the constitutional apparatus, in this the federal authorities have reasonably well succeeded. The output of legislation was relatively unimpressive (89 statutes to September 30, 1950) But, in line with German practice, the daily chores in economics, finance, labor, and agriculture were undertaken by legal ordinances (several hundred) on the basis of legislative delegation The main legislative achievements were laws for the restoration of uniformity (*Vereinheitlichung*) in the fields of civil and criminal law and procedure with which the whims and fancies of the three occupation powers in eleven states had played unconscionable havoc Here the establishment of the federal Supreme

[1] As of December 15, 1950, Government-initiated were 140 bills; those originating with the *Bundestag* amounted to 90 Frequently the bills overlapped dealing with the same subject In this case the competent committee usually established a joint version (Information obtained from the Ministry of Justice in Bonn)

Court (*Oberstes Bundesgericht* [October 6, 1950]) in Karlsruhe was a major achievement[5] Politically the most significant legislation was the Law on the federal Constitutional Tribunal (March 12, 1951),[6] by which the various jurisdictional functions of this court, considered the legal capstone of the German *Rechtsstaat,* were duly implemented The Constitutional Court was inaugurated, likewise in Karlsruhe, on September 29, 1951 On the other hand, none of the major internal problems, such as integration of the expellees, unemployment, equalization of burdens of the lost war, socialization, the regulation of the status and organization of political parties, and housing, was undertaken, or, if attempted, reasonably solved The policies of the federal Republic, living in the climate of orthodox liberalism, averse to planning and controls and remote from the welfare state, are anything but progressive or fired by imagination

THE PEOPLE AND THEIR GOVERNMENT

The emerging governmental pattern is unmistakably demo-authoritarian It is the Chancellor who monopolizes the determination and the conduct of policies, and the ministerial bureaucracy subordinated to him which implements his and the cabinet's decisions Even though it might be unfair to qualify the *Bundestag* a mere rubber stamp of the federal Government, the political role of the Parliament is decidedly of lesser importance than in democratically more advanced nations. Much of this is intentionally due to constitutional arrangements, but the real cause lies in the impotence of public opinion The Germans must be credited with having succeeded in establishing a wide-awake, articulate, and, on the whole, independent press But public opinion has no constitutional means for carrying its influence into the offices of a self-assured bureaucracy, or into the conclaves of the party oligarchy which, isolated from the voters by the party machine and with elections seemingly far off, may ride roughshod over the wishes of the constituents If to this are added the lack of political "sex appeal" of the Chancellor and the absence of popular leaders in Parliament, it may go far to explain why what the common people derisively call "Bonn"—Chancellor, *Bundestag,* and parties—have failed to ingratiate themselves with the people. Bonn operates in a political vacuum

PARTY DYNAMICS

The federal structure permits "staggering" of elections on the federal and the *Land* levels The latter, therefore, serve as a manometer of political opinion much in the manner of the by-elections in Britain[7] New *Landtage* were elected in 1950–51 in such key states as North Rhine-Westphalia, Schleswig-Holstein, Hessen, Wuerttemberg-Baden, Bavaria, Western Berlin, and Lower Saxony Taken singly and jointly they confirm the conclusion derived from the first *Bundestag* elections that the party lines artificially frozen by the licensing sys-

[5] At present it is divided into four "Senates" or chambers and composed of twenty-nine judges (including the president)

[6] See *supra,* pp 585 ff

[7] By-elections are now possible also for the *Bundestag* if a district seat becomes vacant

tem at long last are thawing up without as yet being canalized into fixed cadres.[8]

In the elections in North Rhine-Westphalia, considered the most important of the series, the leading parties of the CDU and SPD remained almost station-

[8] *Landtag* elections 1950–51

North Rhine-Westphalia
June 18, 1950
Electoral participation 72 5%

	1950	1947
CDU	93	91
SPD	68	64
FDP	26	12
ZP	16	20
KPD	12	28
	215	215

Schleswig-Holstein
July 9, 1950

	1950	1947
SPD	19	43
BHE	15	—
CDU	16	22
FDP	8	—
DP	7	—
SSW	4	4
	69	69

SSW Southern Schleswig Association, a representation of the Danish minority

BHE Federation of the Homeless and Dispossessed, the expellee party

The Socialist defeat is all the more remarkable since the electoral law, approximating the straight majority system as in England, favored them

Hessen
November 19, 1951
Electoral participation. 64 9%

	1950	1946
SPD	49	38
CDU	12	28
FDP	13	14
KPD	—	10
BHE	8	—
	82	80

In line with a new electoral law (accepted by referendum July 9, 1950) 48 seats were filled by straight majority elections, 32 by *Land* lists on a proportional basis

Wuerttemberg-Baden
November 19, 1950
Electoral participation 57.5%

	1950	1946
SPD	34	32
CDU	28	39
FDP	22	19
KDP	—	10
BHE	16	—
	100	100

Bavaria
November 26, 1950
Electoral participation 80%

	1950	1946
CSU	64	104
SPD	63	54
BP	39	—
BHE	26	—
FDP	12	9
WAV	—	13
KPD	—	—
	204	180

The number of seats obtained does not gibe with the fact that the SPD, with 28 per cent of the votes cast, surpassed the CSU, with 27 4 per cent

Lower Saxony
May 6, 1951
Electoral participation 76%

	1950	1947
SPD	64	65
CDU	34 (CDU and DP together)	30
DP		27
FDP	12	13
ZP	4	6
KPD	2	8
BHE	22	—
SRP	16	—
Others	4	—
	158	149

ary (the SPD slightly gaining), the FDP, helped by election cartels with the CDU and the rightist German Party, gained heavily But neo-Fascism did not appear on a major scale On the other hand, the Communists declined heavily (from 14 to 5 5 per cent) On the whole, the *Land* where the factories are humming and the expellees constitute a mere 12 per cent of the total, showed itself disinclined towards radicalism of the Right or the Left Although both partners in the CDU-Socialist coalition which had guided the country successfully since 1947, had held their own in the elections it broke under the pressure of the federal Chancellor Adenauer who wished to exclude the Socialists from power in his own *Land* as he had done in the federal Parliament

However, in Schleswig-Holstein, with the largest refugee percentage (38 2), an entirely new pattern appeared The Socialists who before had had an absolute majority, were soundly beaten (though still remaining the strongest party) by the "Federation of Homeless and Dispossessed," a rightist group drawing its strength from the expellees, the latter, together with the CDU, formed the new government which has the distinction of being the first *Land* government with a majority (four out of six) of authentic Nazis, among them the Minister President

The pattern was repeated, late in 1950, with even more paradoxical results, in the three South German *Laender* in the American zone. Here likewise a new class party composed of expellees consolidated itself, cutting deeply into both the inflated FDP and the CDU-CSU The Communists, failing to obtain the legal minimum of 5 per cent of the total vote, are no longer represented in the *Landtage* But even more startling was the triumph of the Socialists over the Catholics, for generations the entrenched majority party in Wuerttemberg-Baden and "black" Bavaria In Hessen the Socialists won the absolute majority, reducing the CDU almost to the status of a splinter party, and they became the strongest party in the two other *Laender* The Socialist victory was due primarily to the opposition to rearmament in whatever form which attracted the young people even of the bourgeoisie This does not mean that the majority desires Socialism, it was rather the registration of an angry protest against the callous indifference of the Bonn regime toward the deteriorating economic situation of labor and the salaried middle classes under a free-market economy dominated by cartels which make the rich richer and the poor poorer Since the SPD by now has become about the most nationalist party of all, the shock of these local elections was felt in London, Paris, and Washington

THE REBIRTH OF NATIONALISM

Moreover, other alarming signs of reviving nationalism are not missing With the abandonment of licensing in the American zone, a host of neo-Fascist newspapers, some of them managed by the experienced crew trained under Goebbels, sprang up almost overnight, stepping up the tempo of anti-occupation propaganda [9] Coincidentally, the increasing number of acquittals, by

[9] One of the favorite targets are the high occupation costs which amount to a substantial part of the federal budget It is true that the occupation personnel are living in comparative luxury

"denazified" courts, of persons indicted for atrocities and crimes committed under the Nazi regime revealed the lack of democratic standards in the administration of justice Anti-Semitism unmistakably is rising Anti-Americanism is second only to anti-Communism.

The danger threatening the tender fabric of the Bonn democracy from nationalism and neo-Fascism was highlighted by the *Landtag* election in Lower Saxony (May 6, 1951), among a population customarily stolid and unemotional A new party, admittedly patterned on Nazi organization and tenets, the Social Reich Party which at the elections for the *Bundestag* in 1949 had been wholly insignificant, obtained, at the first try, no fewer than 11 per cent of the vote and sixteen seats (of 158) in the Diet The group is led by a former Nazi, Dr Fritz Dorls, and by the former Major-General Remer, who, at that time a young major in the Berlin garrison, had been primarily responsible for crushing the generals' conspiracy of July 20, 1944 True to style, the party had equipped itself with a guard-like para-military organization, the *Reichsfront,* engaging in such violent pressure tactics that the Bonn Government, on the eve of the election, had seen fit to prohibit it The organizational core of the party is the *Bruderschaft,* functioning, until 1949, underground as a secret society of former SS (and army) officers aiming at the resurrection of the German *Wehrmacht* and the restoration of its "honor "

Potentially neo-Nazi, by the same token, is the German Right Party (*Deutsche Rechtspartei*)—a name cleverly ambiguous denoting the rightist persuasion as well as "justice" for Germany With five deputies in the Bonn Parliament it absorbed, in January, 1950, the equally nationalist National Democratic Party, active primarily in Hessen Professing a virulent nationalistic program, it flies the old banner of black, white, and red, and though paying lip service to current anti-Communism, it is suspected of potentially turning to National Bolshevism to establish the Fourth Reich in alliance with the Soviets

These, by themselves alarming developments, should be projected against the background of the consolidation of the various refugee and expellee organizations into a nation-wide party which labels itself characteristically the Union of Homeless and Dispossessed (*Bund der Heimatlosen und Entrechteten*), under the leadership of Waldemar Kraft, a former ranking SS man and recently Deputy Prime Minister of Schleswig-Holstein, Germany's political devil's kitchen The new party obtained in the *Landtag* elections in 1950–51 more than 15 per cent of the total vote and found access to the governments of several *Laender* (among them, since January 1951, Bavaria) While officially aiming at the improvement of the lot of the expellees, the party strongly favors their return to the lost homelands in the East for which admittedly there is no other way than either a compromise with the Soviets or a victorious war of the West against the East

and some of them "never had it so good " But many of the 445,000 Germans employed by the occupation powers (in the American zone alone 140,000) would otherwise be unemployed Moreover, the occupation forces are protecting the Germans, who are still living to the extent of about 30 per cent on American subsidies, against Soviet aggression

For the time being these various groups, whose total voting strength amounts close to 30 per cent of the German electorate, have not yet succeeded in crystallizing themselves into a unified and nation-wide successor movement to the defunct Nazi Party They are still competing among themselves As yet no magnetic leader personality has arisen, or is in sight, capable of amalgamating them into a militant unity Wealthy sympathizers providing them with the means for a large-scale nationalist propaganda are missing Nor must it be ignored that the governments and public opinion at large are on the alert and disinclined towards political adventures So long as the factories are humming and the farmers are selling at what prices they like, there is no immediate danger of a repetition of what happened in 1930–33

Yet the match will be put to the fuse of the time bomb planted in the heart of Europe if and when a German Government officially turns to remilitarization, from which the nationalist parties necessarily will derive an immense impetus The organization of a well-nigh irresistible pressure group, consisting of the former officers of the *Wehrmacht* and the *Waffen* SS and of the millions of other war veterans, is clearly in the making Once these forces, all nurtured by nationalist emotionalism, will have coalesced the moderate parties can hardly expect to retain their present control This is the challenge that will constitute the acid test of the Bonn Constitution

CHAPTER XXXV

POLITICAL DEVELOPMENTS ON THE ALLIED LEVEL

EXERCISE OF POWERS UNDER THE OCCUPATION STATUTE

LEGISLATION OF THE ALLIED HIGH COMMISSION

That the powers assigned to the High Commissioners under the Occupation Statute were used sparingly was due less to the conviction that the Germans had successfully graduated from the elementary course in democracy than to policy decisions of their governments preparing Germany for her potential role as an ally against the East HICOG legislation,[1] pursuant to an engagement undertaken in the Occupation Statute, repealed at first MG rules (including CC legislation) in the three zones no longer consistent with the increased powers of the German authorities in the nonreserved fields Likewise the narrowed range of judicial powers and the offenses against the interests of the occupation powers required redefinition. Otherwise even on the field of reserved powers Allied legislative activities were limited[2] However, concerning economic deconcentration and decartelization the American High Commissioner impressed on his colleagues the need of a more energetic program than back-stage American and German big business intervention had permitted his predecessor to pursue Ambitious blueprints for the liquidation and dissolution of the chemical octopus of the I G. Farben, of the industrial giants in the coal, iron, and steel industries, and of the former Reich monopoly in motion picture production (UFA) were placed on the books[3] without leading to any tangible results

[1] Until October 19, 1950 (HICOG Gazette No 37) thirty-nine laws, in addition to a considerable number of other enactments (directives, regulations, and decisions) had been promulgated

[2] Here laws on the prohibition of research and experimentation in atomic energy and on displaced persons were passed Under the heading of security the new regulations on restrictions of industrial and military production reflected the increasing relaxation of Allied controls

[3] Law No 35 (July 5, 1950) on the dispersion of the assets of I G Farben included no fewer than 169 different plants located in the Western zone Law No 27 (May 16, 1950) on the reorganization of the German coal, iron, and steel industries decreed the "deconcentration" of 92 cartels and combines, among them such by-words of European industrial giantism as *Vereinigte Stahlwerke, Friedrich Krupp, Mannesmann, Kloeckner, Hoesch, Otto Wolff, Gutehoffnungshuette*, and the *Thyssen* and *Stinnes* groups

in view of the open hostility of the industrial magnates and the lukewarm support by the federal Government influenced by heavy industry [4] In a single instance only did HICOG feel impelled to invoke the general clause of the Occupation Statute permitting intervention in nonreserved fields "in the interest of the security and the prestige of the Occupation" when the sudden resurgence of the ultra-nationalistic press abused the freedom of public expression [5] On the whole, the extreme reticence of the Allies even in the reserved fields was in line with the new policy of complete nonintervention in German domestic affairs [6]

LEGISLATIVE REVIEW

It is, therefore, all the more surprising that HICOG undertook currently to review the entire body of legislation (including executory ordinances) of the federal State and of eleven (or, with Berlin, twelve) *Laender* as to their constitutionality under German law and their compatibility with the "purposes of the occupation " In retrospect it may well be doubted whether the actual result justified the considerable labor of scrutinizing close to one thousand individual pieces of legislation That the Legal Division of HICOG, operating under a rigid time table and with an elaborate procedure, assumed the function of the federal Constitutional Tribunal (in process of organization) may seem superfluous Moreover, the dragnet usually caught only small fish On matters of real importance (*Land* constitutions, various press laws of the *Laender*) HICOG found it the better part of wisdom merely to convey its doubts to the competent German authorities But even under the assumption that antidemocratic tendencies should be nipped in the bud, the actual success did not warrant the irritation such controls necessarily provoked among the Germans [7] In very few cases the objection was sustained As a rule the German authorities were given the opportunity of amendment or merely to promise redress What fatally minimized Allied intervention was the fact that in the few cases which mattered, HICOG beat an undignified retreat when meeting serious German resistance Of the two federal laws being disallowed, an income and corporation tax law was objected to because, favoring, as is habitual in a Tory economy, the upper-income brackets, it failed to provide for additional rev-

[4] However, in 1950 certain cartels in the abrasive industry were prosecuted and fined

[5] Law No 5 (September 21, 1949) on Press, Radio, Information, and Entertainment The American High Commissioner invoked the clause when, in the summer of 1951, he tried unsuccessfully to stop court proceedings in Berlin against one Dr Kemritz whom, as a former spy for the United States, he wished to protect He met with a stinging rebuff by the Berlin authorities

[6] It is interesting to note, however, that under HICOG in each of the three zones the administrative pattern continued that had existed before and that even matters which obviously required uniformity (such as restitution, judicial organization, etc) were treated differently For example in the U S zone a hunting and fishing ordinance privileging occupation personnel aroused more indignation among the German public than all decartelization measures taken together

[7] All told, until September 30, 1950, five federal and twenty-two *Land* enactments were formally objected to Various procedures of disallowance were applied outright disapproval (a rare exception), provisional disapproval (the rule), cancellation or even amendment of individual articles (clearly beyond the competence of HICOG) In one case the promulgation of a *Land* enactment was made dependent on federal approval which was granted

enue to stabilize the budget; this, as Mr. McCloy justly felt, would increase the burden of the American taxpayer. After the Finance Minister (who at first had threatened to resign) promised redress the objection was withdrawn (April 28, 1950)

But the controversy around the federal Civil Service Law revealed the discrepancy between American principles and German application to such an extent that it requires a discussion here.

Realizing that the authoritarian concept of the civil service as a class or caste elevated above the mass of the subjects constituted one of the major obstacles to a genuine democratization of public life, AMG in 1946 had stimulated the enactment, in the *Laender* of the U S zone, of a pattern of civil-service laws which was believed to go far in eliminating some of the more objectionable features of the bureaucratic tradition To assure a uniform and more satisfactory selection of public officials by the Government, a Central Personnel Office was established in each *Land* of the U S. zone Reforms were strongly resisted by the ministerial bureaucracy In particular, impartial examinations for appointment and promotion were required to make public office more accessible to qualified outsiders and to break down the monopoly of the lawyers in the higher administrative positions Another aspect of the American-sponsored reform was the elimination of public officials from legislative bodies, this habit of a civil servant (judge, ministerial official, etc) merely to take a leave of absence when accepting the parliamentary mandate, had been the cancer of German parliamentarism and a flagrant violation of the principle of the separation of the executive from the legislative powers [8]

There is hardly any issue on which the German public, which hates being lorded over by the officialdom and yet is utterly submissive to them, is so unreservedly behind an American reform But the federal ministerial bureaucrats enacted a (provisional) Civil Service Law which, while adopting many of the technically commendable features of the Nazi Civil Service Act of 1937, arrogantly disregarded the wishes of public opinion and American advices. HICOG vetoed the law provisionally but yielded when the federal Government issued a promissory note of future implementation (which was not honored) The conflict, a major one, ended with a singularly stinging defeat of the Americans

Of the twenty-two pieces of *Land* legislation disallowed,[9] several regulations were believed to be seriously at variance with the occupation purposes, and objections referred to the exercise of regulatory powers by nongovernmental groups (organization of handicraft, licensing of certain professions), the treatment of Nazi victims, the status of the Jewish community, and *Land* police

[8] In the absence of German action U S and U K MG's enacted the MG Law No 15 (March 15, 1949) which embodied the requisite reform with respect to the officials of the bizonal administration The law remained in force pending appropriate federal legislation See also *supra*, p 601 for Law No 20 (June 2, 1949) concerning the election of the first *Bundesrat* where the same controversy had arisen For similar reasons objections were raised by HICOG (in 1950) against a new election law in Wuerttemberg-Baden

[9] The list is headed by Schleswig-Holstein with eight

[10] Objected to were a Bavarian ordinance concerning the import of chicken and a Hamburg city ordinance reducing the entertainment tax in movies!

power In other instances HICOG shot with cannon balls at sparrows [10] Since the major occupation goals in denazification and decartelization had not been reached, insistence on American ideals in petty cases did not add to Allied prestige

THE "REORIENTATION" PROGRAM

With the establishment of the Bonn Government, Allied operational activities had been terminated and supervision reduced to a minimum Efforts, therefore, to democratize Germany "by indirection" were intensified By stimulating "grass roots" democratic habits it is believed that, given time and patience, the German people will learn that democracy does not consist merely of formalized institutions and procedures, but in the individual's attitude towards life This had been the French policy from the beginning and the Americans at long last were converted to this approach

Unofficial town meetings, forums, and discussion groups, intended to increase the citizen's interest in the affairs of his community and to make him more critical towards his authorities, are becoming quite popular in the American zone. The effort, however, of creating civil liberties' associations on American lines, though strongly supported by the press, has met as yet with indifferent success. The traditional hold of the police is difficult to curb [11] The abolition, by MG law in 1949, of all licensing requirements in business and commerce was enthusiastically welcomed by the people On the other hand, what seemed to the American officials a correlated reform, namely the prohibition of compulsory membership in certain trade and professional associations which exercise quasi-governmental supervision over their members, tended to ignore the merits of professional autonomy which contributes to efficiency and the maintenance of ethical standards In the field of education the Americans strove to break the monopoly of the propertied classes by insisting on free tuition and free textbooks, but encountered the strong resistance of the higher school administrators who alleged that a foreign pattern was being forced on them The Universities have reverted fully, under a "denazified" professorial staff, to the pre-Hitler system [12] The program of interesting women in local and political affairs did not make much headway against the ingrained belief that woman's place in society is circumscribed by the three "K's" (*Kinder, Kuche, Kirche*) Youth organizations on a nonpartisan basis evoked little more than a polite response German youth has been sport-minded for a long time even without the blessing of baseball

In promoting civic responsibility the American administration could not fail to develop a split personality. On the one hand, the High Commissioner exercised himself to treat the German Government as equals, on the other hand, his staff on the lower levels did not hesitate to kindle the spirit of rebellion among the people against their bureaucracy Although as yet no visible

[11] For example, of 50,033 searches in private dwellings in Bavaria in 1948, no fewer than 42,288 were conducted *without judicial warrant*

[12] However, in the introduction of political science into the curriculum at least a promising beginning has been made

dent has been made in the traditional submissiveness of the public, more optimistic observers feel that at least the seeds of civic self-assertion have been planted in the German mind

But the more conspicuous method of teaching Germans democracy is embodied in the cultural exchange program of which the Exchanges Division—unusually deficient in quantity and quality of personnel—is in charge By the end of 1950 about 3,000 Germans of good will of all walks of life (journalists; publishers; professional people, technical experts; government, municipal, and trade-union officials, legislators, etc.), in addition to students obtaining instruction for a year in an American institution, were brought for a limited period, at Uncle Sam's expense, to the United States, expected to observe American techniques of democracy and to stimulate, upon their return, reform of indigenous habits. Though currently beset with difficulties as to the selection of the visitors and the curriculum they are exposed to in the States, the plan is one of the most constructive efforts of German reorientation [13] The other powers have undertaken similar programs, the French emphasizing education, the British, local government

To teach the Germans democracy "by indirection" may seem, on the whole, a thoroughly worth-while undertaking considering that otherwise Allied activities largely have dried up But at least the American personnel seems inclined to accept the present readiness of the Germans to let the reorientation program be tried out on them, as an indication of lasting success Other observers fear that, with the Allied abdication from actual power, their moral influence will be limited at best Yet, historical experience such as the French impact on Western and Southern Germany in the Napoleonic period encourages the hope that the symbiosis of Western democratic and German authoritarian habits may not have been entirely in vain

THE DISMANTLING OF THE OCCUPATION STATUTE

As was to be expected, the Occupation Statute was under fire from the start. The Allies, with the pressure of the cold war constantly increasing, offered little resistance to the erosion and attrition tactics of the Chancellor, who played his cards well The first major relaxation of the occupation controls, agreed on in the Paris Conference of the three Foreign Ministers (November 9–10, 1949) was formalized in the so-called Petersberg Accord, negotiated by the High Commissioners with the Chancellor (November 15–22, 1949) The settlement was forced on the Allies by the establishment of an Eastern German state (October, 1949) It went far to restore sovereignty in foreign affairs by granting German participation in international organizations, and permitting the acceptance of the invitation to join the Council of Europe as an associate member Subsequently, the *Bundestag* (July 8, 1950) adopted the Charter of the Council of Europe A German delegation, selected in accordance with the

[13] The exchange of persons program for the fiscal year 1951 calls for the dispatch to the U S A of 2651 persons On the entire issue see Henry P Pilgert, *The Exchange of Persons Program in Western Germany*, Office of the U S High Commissioner for Germany, 1951

party strength in the *Bundestag*, participated in the second meeting of the Consultative Assembly in Strasbourg (August, 1950) Western Germany became a full-fledged member of the Office of European Economic Cooperation (accomplished already on October 21, 1949) and joined the European Payments Union (September 15, 1950). In June, 1950, a German delegation began negotiations, with full equality, on the Schuman plan for the pooling of the steel, iron, and coal industries of six European states The "Treaty on the European Coal and Steel Community" subsequently was signed by the Foreign Ministers in Paris (April 19, 1951) When it will have entered into full operation, after ratification by the six national parliaments, it will provide for a single market area within the six participating states and thus come close to the fulfillment of the old dream of German heavy industry to combine the surplus of Ruhr coke with that of Lorraine iron ore under a joint management (High Authority) Germany, as the senior partner in this first concrete step towards the unification of Western Europe, will derive tangible benefits contributing to her economic hegemony of the Continent

The Petersberg Accord authorized the establishment of consular and commercial representations abroad, which, during 1950, were progressively installed, first in London, Paris, and New York, subsequently in most Western and Latin American countries The Office of Foreign Affairs in the federal Chancellery was built up gradually into a Foreign Ministry, staffed largely, as was to be expected, by former career officials who had faithfully served the Nazis Likewise, controls on economic production were substantially relaxed The list of plants to be dismantled under the Potsdam and subsequent agreements was again and drastically cut [14] Eleven of the largest synthetic oil and rubber plants and seven similarly important steel production centers were removed from the list Furthermore, exceeding the steel production limit of 11 1 million tons a year was permitted, and restrictions on the tonnage of cargo ship construction were lifted In consideration of these concessions the Allies obtained from Chancellor Adenauer the delegation of the German members to the Ruhr Authority, and, together with the promise "to eradicate all traces of Nazism from German life and institutions," the solemn declaration "to maintain the demilitarization of the federal territory and to endeavor,

[14] No full discussion of the dismantling issue can be submitted here Dismantling of war production plants was intended to serve as reparations to compensate for the devastation of Allied industry by German looting—from France alone the Nazis had carted to Germany more than 80,000 machines—and thus to contribute to European reconstruction and to reduce the German war-making potential As early as in March, 1946, dismantled plants going as reparations to the Soviets were stopped by General Clay After the Moscow Conference (March-April, 1947) a new reparations plan was announced, according to which 682 plants in the bi-zone, in addition to 172 plants in the French zone, were to be removed, which would have left Germany with a plant capacity at least equal to that of 1936 Yielding to the organized pressure of American and German big business, a Committee, appointed under Congress instructions by ECA Administrator Paul G Hoffman, recommended in 1948 that 140 of the 858 plants, earmarked for dismantling in 1947, should be retained in Germany to serve for European reconstruction This program again was stalled, the British being accused, and in some cases not without justification, of using the dismantling program for throttling German competition In the fall of 1949, Mr McCloy announced that the entire dismantling program was wrong The Petersberg Accord was the final payoft See Albert Z Carr, *Truman, Stalin and Peace*, Garden City, 1950, pp 187 ff

by all means in [his] powers to prevent the recreation of armed forces of any kind."

Thus encouraged, the Germans renewed their agitation against still existing curbs of their sovereignty under the Occupation Statute. They were fully aware of the bargaining power that had accrued to them within the power equilibrium between the West and the East. Relations between the High Commissioners and the self-willed Chancellor—the only person in authority with whom they maintained direct and frequent contact—became at times strained. The German people likewise, goaded on by a vehement press campaign, and riding the crest of economic prosperity, became restive and obstreperous to such an extent that Mr. McCloy, on two occasions (in Stuttgart, February 6, 1950, and in Duesseldorf, June 16, 1950) had to lecture them on occupation morals. While gratitude for the continued American economic help remained conspicuous by its absence, the Germans vented with increasing bitterness their grievances, alleged and real, such as dismantling, decartelization, occupation costs, the Saar and Ruhr issues, imprudent frontier rectifications broached by the Belgians and the Dutch, not to mention security and unification. With growing resistance against Allied-sponsored internal reforms the very word democracy became obnoxious. The neuralgic spots at home—rising unemployment, housing shortage, the expellee situation—were not ascribed to faulty economic policies constantly increasing the cleavage between the rich and the poor, but to factors allegedly beyond German control. Allied unpopularity was mitigated only by the fear of Communist expansion.

These accumulated pressures resulted in further concessions by the London Foreign Ministers' Conference (May 14, 1950). An Interallied machinery for the reform of the Occupation Statute was set up. In the meantime reserved powers were "to be exercised only in essential elements of security and fundamental democratic issues of real importance." Likewise the technically and politically knotty problem of the termination of the state of war was declared under continuous advisement.

The next, and probably the penultimate, step in the dismantling of the Occupation Statute was taken by the New York Conference of the Foreign Ministers (September 19, 1950). The Allies declared themselves to be inspired by "the spirit of a new relationship . . . with the Federal Republic." Western Germany (including the Western sectors of Berlin) were given a full-fledged security guarantee. The Allies "will treat any attack on the federal Republic or Berlin from any quarter as an attack on themselves." A federal police "on a *Land* basis, but which would enable the federal Government to use it to meet fully the emergencies of the present situation" was established, a move which, stripped of its political semantics, may constitute the entering wedge of German remilitarization. This military establishment was likewise attached to the federal Chancellery as the potential nucleus of a Ministry of Defense or War. A complete revision of the Occupation Statute was promised to mark the new phase of mutual relationships in which major extensions of federal authority were to be embodied. Existing internal controls were to be

reduced and legislative review to be modified The Agreement on Limited and Prohibited Industries was to be revised, limitations on cargo ship tonnage and steel production were completely lifted HICOG's authority remains only in the fields of security, restitution, and deconcentration, but even here, as Mr McCloy announced later (October 8, 1950), only in consultation with the German authorities

The check issued by the New York Conference of the Foreign Ministers in September, 1950, was finally honored by the "First Instrument of Revision of the Occupation Statute," promulgated by the High Commissioners on March 7, 1951 The delay was primarily caused by the stalling of the federal Government and particularly the Foreign Relations Committee of the Parliament on the future regulation of Germany's external debts on which the revision was dependent By letter to HICOG of March 6, 1951, the Germans undertook liability for the prewar external debts, well aware that in case of need they could easily be manipulated by "standstill" agreements in the manner of Schacht But only after long negotiations they also recognized their obligations arising from the foreign assistance given to Germany since May 8, 1945 [15] Details will be worked out in an over-all settlement, with due consideration to Germany's capacity to pay and with arbitration procedures

The principal points of revision of the Occupation Statute are the following A Foreign Ministry was authorized, for which office Dr Adenauer designated himself German ambassadors to foreign countries (except those in the Soviet orbit) were appointed and the foreign missions heretofore conducting business with HICOG were accredited with the Bonn Government Foreign trade and exchange control was completely passed on to the Germans As to German internal affairs, what limited controls still existed were almost all abolished The Allies renounced all rights of supervision of internal German affairs Review of German legislation likewise fell by the wayside Only amendments of the Basic Law were still subject to express approval However, in view of the rising tide of nationalism and neo-Nazism the Allies were well advised in retaining the right of annulment of any enactment (federal or *Land*) "which, in their opinion, is inconsistent with the (revised) Occupation Statute, or Allied legislation or if it constitutes a grave threat to the basic policies of the occupation " The reserved power relating to "respect for the Basic Law and the *Land* constitutions," hybrid anyway because of its patent unenforceability, were terminated when the Constitutional Tribunal, deemed sufficient to uphold civil liberties by German efforts, has begun to operate

[15] According to careful American calculations the direct and indirect benefits derived by Germany from the United States alone amounted to the sum of more than four billion within six years, of which $3,602,000,000 were direct contributions to the German economy The total occupation costs, for several years one of the most insistent complaints of the German public and government, ran up to $1,411,000,000 according to the German and American compilations From this sum the Army felt entitled to deduct $483,000,000 for salaries paid to German personnel and returnable mandatory expenses, leaving net occupation costs of $927,000,000 Taking into account various other American outlays one arrives, as net American contribution to Germany, at the generous amount of $3,257,000,000 For the foregoing figures see the *New York Times* of June 16, 1951

In the economic field, Allied controls no longer exist except those relating to decartelization, where it is planned, at least on paper, to complete the deconcentration program of the steel, coal, and motion picture industries, the bank monopolies, and I G Farben Again these powers will lapse if and when a German decartelization law satisfactory to the Allies (meaning the Americans) has been enacted. The relaxation of the (diluted) deconcentration program under HICOG Law No 27 had been wrested before by the Germans from the Allies as partial prize for their consent to the Schuman plan A new Agreement on Industrial Controls confirmed the previously granted complete removal of controls and restrictions on the production of steel, ship-building, and the chemical industries, in particular authorizing also the making of synthetic gasoline and rubber. In an annex to the Revision Instrument, the method by which the occupation authorities will exercise the powers still retained, likewise was amended with benefits to the Germans The "Little Occupation Statute" for Western Berlin was revised accordingly Termination of the state of war, under advisement for a long time, was formally proclaimed by most of the Allied powers during 1951 With the United States it became effective October 18, 1951.

A mixed German-Allied commission of experts has started the study of how to transform the occupation regime into a system of contractual relations, substituting for HICOG an Allied Council of Ambassadors This may well dispense with the necessity of concluding a formal peace treaty unless the miracle will have happened of an East-West agreement on German unification. In September, 1951, negotiations between the High Commissioners and the German Government on the final replacement of the Occupation Statute by a contractual arranged were started

As planned at the time of this writing (October, 1951) Western Germany, in exchange for a promised share in Western defense, will be granted the full restoration of the rights of a sovereign state, with the exception of Allied powers reserved concerning the issue of unification with the Eastern part; the protection of Berlin, the final determination of her boundaries, and the assumption of discretionary emergency powers in case of an acute danger to German democracy (evidently implying threats from Communism as well as from Neo-Nazism)

Thus, what the New York Conference mildly had styled "the progressive return of Germany to partnership in Western Europe," has been accomplished It is nothing less than the last paid-up installment of the sovereignty confiscated by unconditional surrender The enemy of yesterday has become the ally of today Discussions between military experts began in February on the technical aspects of German rearmament In the Paris negotiations on a European army (since February 15, 1951) the Germans participated as full-fledged partners

A notable experiment of converting a nation steeped in authoritarianism and militarism has come to its conclusion The final judgment must be left to history.

SECTION SIX *BERLIN AND EASTERN GERMANY*

CHAPTER XXXVI

THE BERLIN DILEMMA

FOUR-POWER CONTROL

The situation in Berlin—variously called "democracy's show window to the East," "the last outpost of democracy behind the Iron Curtain," or "the free island in the Red Sea,"—is, by all standards, the most dramatic and dramatized single incident in the East-West conflict But Berlin is more than a political symbol, Germany's former capital was also one of her industrial centers, the seat of her financial power, the cultural and scientific brains of the nation, with a brash and bright people second to none in vitality, endurance, and—a rare thing in Germany—a sense of tolerant humor After the collapse the sprawling metropolis was found devastated to an extent staggering imagination Crippled Berlin was crippling Germany as a whole.

It has been contended that the Allies should have seized Berlin before the Soviets laid siege to it in April, 1945 But not only was the Russian occupation agreed on by the European Advisory Commission and confirmed at Yalta, the conquest might have cost the Allies no fewer lives than the fanatical Nazi defenders exacted from the Red Army

The Four-Power Statement on Berlin of June 4, 1945, provided for the rule of Greater Berlin the same kind of condominium that had been established for Germany as a whole. Quadripartite control was to be exercised by an Interallied Governing Authority called (Russian style) *Kommandatura,* consisting, under the general direction of the Control Council, of the four Commandants, with the chairmanship in monthly rotation Each of them had jurisdiction over one of the four areas called, in distinction from the zones, sectors,[1] each of which, in turn, was subject to the respective zone

[1] The population figures (census of 1946) are taken from *Deutschland-Jahrbuch,* p. 8

U S sector	985,000	210 sq kil
British sector	602,500	170 sq kil
French sector	421,400	100 sq kil
Soviet sector	1,170,300	400 sq kil
	3,179,200	

The U S and British sectors included the wealthier suburban and residential communities, with, however, important industrial sections, the Soviets controlled more of the workers' districts

Commander much in the same way as were the individual *Laender* in the four zones Each power organized a special Berlin District M–Government. The provisions of the Potsdam Agreement were applicable also to Berlin as a whole

Communications between the West and Western Berlin consisted of a single-track railroad, an Autobahn leading to the British zone (about 120 miles) and an elaborate system of canals for barge traffic, in addition to two formally agreed air lanes (to the British and U.S zones respectively) [2]

THE POLITICAL SITUATION (1945–1948)

The Western Allies took over their sectors only on and after July 12, 1945 The Soviets thus had a headstart in setting up the city administration and indoctrinating the population They activated the leading political parties (Communists, Social Democrats, Christian Democrats, and Democratic Liberals) as early as June, 1945, among a population politically more alert than elsewhere in Germany When the Soviet-controlled city government (*Magistrat*) continued its efforts to hold sway over the city wards in the Western sectors, quarrels were bound to arise They broke into the open when the Central Committees of both the KP and the SPD decided to merge the two parties as the Socialist Unity Party (SED) March, 1946. However, the fusion was rejected (March 31, 1946) by a referendum of the rank and file of the members of the SPD in all Berlin [3] The result of this split was that the SED became the fusion party in the entire Soviet zone including Eastern Berlin where the SPD was outlawed, while the SED was not licensed in the Western sectors and zones

A (provisional) city charter (*Stadtverfassung*) was elaborated by the *Kommandatura* (August 13, 1946), largely drawn from the previous Prussian laws of 1851 and 1920 (as amended in 1931), under which the twenty administrative subdivisions (*Bezirke*) were under the over-all control of the City Assembly and its executive organ, the *Magistrat* All legislation of the City Assembly and all ordinances and instructions of the *Magistrat* were subject to unanimous approval by the *Kommandatura*

When, in the first city-wide elections (October 20, 1946) the SPD won a near-absolute majority over the SED [4] the Soviet Commandant resorted to the blocking technique which prevented, in 1947, the assumption of office by

[2] At the time of the establishment of the Four-Power Occupation, the military had overlooked making a written agreement on overland communications

[3] Eighty-two per cent (of the 71 per cent participating in the vote) were against the merger

[4] The following tabulation presents the election results of 1946 and 1948 Figures are taken from Department of State Publication 3556, p 169

	All Berlin		*Western Sectors*			
	October 20, 1946		*October 20, 1946*		*December 5, 1948*	
	numbers	per cent	numbers	per cent	numbers	per cent
Total	2,051,891	100	1,302,972	100	1,330,820	100
SPD	999,170	48 7	674,220	51 7	858,100	64 5
CDU	454,202	22 1	316,206	24 2	258,496	19 4
SED	405,992	19 8	179,114	13.8	—	—
LDP	192,527	9 4	133,432	10 3	214,224	16 1

the duly elected Chief Mayor, Ernst Reuter But the city authorities were unable to forestall the communization of the services and personnel in the Soviet sector A new constitution, approved by the Assembly (April 28, 1948) with four-fifths over the votes of the SED, was still objected to by the Soviet representative in the *Kommandatura* when the latter, in the wake of the break-up of the Control Council, was deliberately and without General Clay's authorization exploded by the American member (May 13, 1948)[5] The Soviets formally withdrew from the *Kommandatura* (July 1, 1948) The split of the city administration into two competing governments, duplicating the situation in Germany as a whole, was under way and the stage was set for the most spectacular *tour de force* of the cold war to date

THE BLOCKADE

The Berlin blockade, cutting off all communications on land and water, lasted from June 26, 1948, to the end of May, 1949 Two million people could escape starvation only by being supplied with food, fuel, and all essentials of life by planes In organizing and successfully running the famous air lift (*Luftbrucke*) American and British logistics, together with the unparalleled courage of the Western Berliners, defeated the Soviet plan of squeezing out the Allies from Berlin by exposing the two million people in Western Berlin to starvation[6] The Soviet action was the answer to the decision of the Western powers at the London Conference (February–June, 1948) to establish a separate Western German State which, in Soviet opinion, violated the Potsdam Agreement and forfeited the right of the Allies to remain in Berlin Since each party had honored the Potsdam Agreement more by breach than by observance the Soviet claim may seem specious The actual cause of the blockade was the introduction, without Soviet consent, of the Western currency reform (June 21, 1948) countered by Marshal Sokolowsky with the Eastern mark in the Soviet zone and Eastern Berlin and its extension also to the Western sectors The Soviets feared that otherwise the people in Western Germany would dump their worthless and invalidated Reichsmark into Berlin and the Eastern zone Since the Allies thereupon introduced in the Western sectors a special brand of the Western mark, with three currencies in circulation, life for the Berliners became miserable By July 2, 1948, the blockade became fully effective Western countermeasures in due course stopped all freight reaching the entire Eastern zone by land, water, or air

The embarrassed Allies tried in vain to obtain the lifting of the blockade by negotiations, at first through the generals on the spot in Berlin, thereafter twice (August 2 and 30, 1948) directly with Stalin in Moscow The crucial

[5] There is hardly a more damning reflection on the quality of some of the American military leaders in Germany than the self-revealing story told by Frank L Howley, *Berlin Command*, New York, 1950

[6] The average need in food and fuel and other essentials amounted to about 10,000 tons daily Within 462 days (June 26, 1948 to September 30, 1949) 277,264 flights brought 2,343,308 5 tons to the beleaguered city The record day was April 16, 1949, with 1,398 flights and 12,941 tons

issue was a mutually exchangeable currency in all zones, the Allies insisting on, and the Soviets rejecting, supervision of the printing of the Eastern mark. On American initiative the conflict came finally before the United Nations General Assembly (September, 1949) which appointed, under the chairmanship of the Argentine Foreign Minister Bramuglia, a committee of neutral experts to work out a fair solution In retrospect it seems certain that the Bramuglia Committee reached a compromise acceptable to all parties, with only minor points still in dispute But in the meantime General Clay, wholly in his element, had organized the airlift so successfully that the Western powers were able to see the thing through A particularly mild winter spared the Berliners the worst cold, though otherwise life for them became extremely uncomfortable Finally, in the New York Agreement (May 4, 1949) and upon the promise of another quadripartite Foreign Ministers' Conference (held abortively in London, May 23–June 20, 1949) the Soviets lifted the blockade (May 12, 1949) and gradually restored normal traffic conditions.

Spectacular as the airlift was from the viewpoint of the American policy of "containing Communism" under the Truman Doctrine and much as the blockade demonstrated the resolve of the Berliners to resist Soviet pressure, later historians may well doubt whether the military diplomacy may not have seriously disrupted whatever chances there may have existed for a compromise solution of the German problem as a whole.

THE TWO BERLINS

While the Battle of Berlin was in full swing, the municipal government and administration of Berlin developed the same split personality that began to exist in Germany as a whole The parties in the city administration representing the Western sectors, unwilling to conduct business under organized mob violence, moved (September 6, 1948) to the British sector (Charlottenburg) and established a separate city administration for Western Berlin on the basis of the constitution voted before (April 28, 1948). Elections for the city assembly were held, but only in the Western sectors, in the midst of the blockade, on December 5, 1948 [7] But the act was rather a political demonstration, as a plebiscite against the Soviets, than an electoral procedure, reflecting actual party strength The SPD gained, with 64 5 per cent, a majority never before obtained by any party in an honest German election The *Magistrat* of the Soviet sector declared the elections invalid and established (November 30, 1948) an Eastern sector puppet city government From now on, two entirely independent city administrations, each body claiming for itself exclusive legitimacy, existed side by side, extending to all public services, police, finances, justice, education The London Foreign Ministers' Conference (June 20, 1949) devised a soothing formula for the quadripartite attitudes towards Berlin as a whole "with a view to normalizing as far as possible the life of the city " Although it was at times subject to strain, on the whole the routine of a *modus vivendi* was maintained, as it could not be otherwise in so closely

[7] For results, see *supra*, p 628, note 4

knit an organism as this modern metropolis The Whitsuntide (1950) meeting of the Free German Youth—the Soviet substitute for the Hitler Youth—which anxious American officials had feared would turn into a violent coup for seizing the Western sectors by the Communists, failed to disturb the peace

The relations between the Western Allies and the city government were transformed in 1949 in accordance to what took place in Western Germany The Statement of Principles (May 14, 1949) or the "Little Occupation Statute" of the three Commandants released Western Berlin from political tutelage The constitution of 1948, adjusted to the Basic Law and the new relationship with the Allies, was approved by the Allied Commandants (August 29, 1950) Although the aspirations of Western Berlin to become the twelfth *Land* under the Bonn Basic Law were not fulfilled, it was raised to the rank of a *Land* Consequently, the city assembly became a chamber of deputies and the *Magistrat* the city senate Otherwise the new constitution which entered into force on October 1, 1950, is patterned on the Bonn Basic Law Subsequent elections,[8] held in the Western sectors under the new constitution, resulted in a normalization of the political situation CDU and LDP gained considerably at the expense of the SPD which no longer holds an absolute majority Only 127 of the 200 seats were filled, the remainder were left open until the Eastern sector may join Ernst Reuter was again, though after some difficulties, elected Chief Mayor of Western Berlin

But such outward trimmings of statehood are illusory, Western Berlin remains unviable as a *Land* for geographical, political, and economic reasons The economic predicament was not caused, though it was aggravated, by the blockade It continued after the blockade and this in spite of substantial support by the Bonn Government, American subsidies, and counterpart money released by the ECA. Many of the industrial assets (including heavy industry) have migrated to the West Unemployment remains excessively high and has become structural.[9] The enclave of Western Berlin, whose economic arteries with the outside world are precariously kept open by the good will of a hostile government, cannot maintain itself indefinitely

[8] *Western Berlin Elections*

	December 3, 1950 Seats	*1950 %*	*1948 %*
SDP	61	44 7	64 5
CDU	34	24 6	19 4
LDP	32	23 0	16 1
Others	–	7 7	–
	127	100 0	100 0

[9] As of September 30, 1950, there were close to 300,000 unemployed, amounting to 25 per cent of the total labor force (average in Western Germany at the same date 5 7 per cent) The index of production was only 32 per cent (index of 1936 = 100), as compared with 115 in Western Germany and (estimated) 80 per cent in Eastern Germany

CHAPTER XXXVII

THE SOVIET ZONE AND THE ESTABLISHMENT OF THE GERMAN DEMOCRATIC REPUBLIC

SOVIET MILITARY ADMINISTRATION

The Soviet Military Administration (SMA), with Headquarters in Berlin-Karlshorst, was established (June 9, 1945) by Marshal Zhukow, as Commander-in-Chief of the Soviet forces He was assisted by deputies for military and civilian affairs. Of importance was the Economic Planning Division. SMA branch offices were set up in the capitals of the five territorial units of the Soviet zone[1] Details concerning the relations of the Soviets to German authorities were never published, but SMA operational action went farther and lasted longer than in the other zones No formal policy guiding the occupation was ever announced But in retrospect it is fairly obvious that the Russians brought with them a definite plan to mold their zone in their image, and that they aimed at communization, if not Sovietization, consistently and without allowing themselves to be deflected either by Potsdam or by the Germans. It is also safe to assume that Marshal Zhukow (and, since the spring of 1948, his successor Marshal Sokolowsky) did not conduct himself as independent proconsul but was subject, even in relatively minor details, to Moscow's orders After the orgy of looting and raping that the Germans had experienced in the early stages of the occupation, they did not expect the exemplary discipline exhibited by Soviet personnel afterwards Absolutely no fraternization was permitted Nor were the Germans slow in realizing that the Soviet staff caught on fast and proved themselves capable administrators

GERMAN CENTRAL (ZONAL) AGENCIES

From the very beginning rigid centralization prevailed in the Soviet zone. Evidently the Potsdam postulate of the "decentralization of the political structure" was a concept alien to Soviet thinking

On July 7, 1945, the SMA organized the Central Administrative Authori-

[1] See the description of the *Laender* (or provinces), *supra*, p 503

ties (*Zentralverwaltungen*) in Berlin, each under a German president and staffed largely with first-rate former Prussian administrative technicians. Until 1946, fifteen of them covered all administrative fields. At first serving merely as advisory agencies of SMA they acquired, by the end of 1946, immediate jurisdiction over the *Laender*, leading finally (February 2, 1947) to a formal agreement through which the zonal authorities obtained the right of co-ordinating all economic activities of the five territorial subdivisions. This agreement was duly ratified by the *Land* parliaments (April, 1947). Integrating zonal authorities, therefore, existed almost from the start.

Simultaneously (June 4, 1947) with the bizonal organization in the West came the creation of the Permanent Economic Commission (*Standige Wirtschaftskommission*) which, again synchronized with the corresponding bizonal structure (September 2, 1948), received unrestricted authority for supervising and instructing on all economic fields in the entire Soviet zone. Of its twenty-five members, seventeen, acting as directors of the various economic fields, were appointed by SMA, the remainder represented the five *Laender* and the corporate groups of the Trade Union Association (FDGB)—the Soviets saw to it that organized labor in its communized reincarnation shared whenever feasible in governmental functions—and the Farmers' Mutual Aid Association. Some of the former Central Administrative Authorities, however, such as the important Legal Administration (*Justizverwaltung*) remained separate. This centralized organization, obviously required by planning, differed sharply from the federalist effort in the West, perhaps the federal element is traceable in the arrangement that the central authorities, not having a *Land* staff of their own, used the administrative machinery of the *Laender*. Most of the incisive economic reforms—nationalization of banking and insurance, the agrarian reforms, socialization of production—thus could be accomplished efficiently and uniformly by the SMA. The economic, legal, and political diversity the Allies had prided themselves on having created in their zones, never evolved in the East. Nor was there any touch of self-government in the Western sense. SMA intervened at its discretion in the *Land* administrations through individual instructions addressed to *Land* governments or through general orders issued on its behalf by the German central authorities.

POLITICAL PARTIES

THE SOCIALIST UNITY PARTY (SED)

From the start the Red Army and the SMA favored heavily the Communists whose indigenous ranks were strengthened by Moscow-trained refugee leaders, notwithstanding the fact that during the early period the same other three parties (SPD, CDU, and LDP) were permitted to operate as in the West. With the merger of the two Socialist parties of the KPD and SPD in March–April, 1946, the SED became dominant. It is, perhaps, not altogether fair to qualify the fusion as a shotgun marriage. For a long time, and since the Weimar Republic, the union of the working-class parties had been favored by

many leaders to whom Fascism and capitalism were the common enemy; opportunism to side with the victors and personal vanity likewise came into play. But the hope to keep the steering wheel of the new party in the hands of the SPD leaders was soon dispelled

In its program of orthodox Stalinism, technique of mass control, and organization the SED is patterned closely on the Communist Party of Soviet Russia It is highly centralized, rigidly disciplined, and obviously acts on Moscow's directions. It is directed by a ten-member Politburo (a committee of the Executive Committee); power at state level is in the hands of the party secretary The hierarchical chain of command reaches down to the county and local units and into the whole fabric of social life Although purges have occurred lately in order to elevate the ideological level and to weed out the nonactivists or opportunists, the SED still has a membership of 1.7 million or close to 10 per cent of the total population Membership in many cases may not be voluntary; yet the number of genuine believers should not be minimized. While the compulsory element and the totalitarian pressure cannot be ignored, reliable reports indicate that, in the same way as under the Nazis, those social strata which benefited directly from the land reform or the privileges accorded to the working population, or those hardest hit by economic insecurity, are convinced members of the new social order.

However, what gives the SED its effectively totalitarian character is the complete penetration into, and control over, the "democratic" mass organizations which, similar to the Nazi-affiliated organizations, actually mobilized the entire population within SED-dominated cadres Of such collective satellite groups—nine in all [2]—the most influential are the trade unions in which practically all workers are enrolled, and the Free German Youth which, as was confirmed by objective observers of the Youth Rally (Whitsuntide, 1950), has succeeded, within less than five years, in indoctrinating substantial sections of the new generation in enthusiasm for the new religion The mass organizations are charged with important functions in social, economic, and cultural life and also entitled to nominate candidates for what the regime calls elections

THE BOURGEOIS PARTIES

Eastern Germany has become a single-party State in substance though not in name To allow the illusion of the multiple-party state the CDU and LDP were kept in existence as the representation of the bourgeois and the religious elements [3] But they were exposed to relentless pressure and, by purges,

[2] Free German Trade Union Association (FDGB), Free German Youth; Democratic Women's Federation, Consumers' Cooperatives, Farmers' Mutual Aid Association, Cultural League, Association of Political Persecutees, Democratic Farmers' Union, National Democratic Party This last is a numerically insignificant group which, posing as a separate political party, aims at making inroads into the middle-class bourgeoisie, catering also to the small-fry former Nazis

[3] Denazification interested the Soviets little The Nazi leaders, unless they fled to the West, disappeared The small fry ("nominal and nonactive Fascists") were amnestied and "redeemed" (SMA Order of August 17, 1947) Denazification was terminated officially on February 22, 1948 But it is to the credit of the SED that no ex-Nazi has been admitted to a position of influence in public life

resignations, and expulsions, were deprived of effective leadership. By 1948 the last bourgeois *Land* Minister President had been ousted. With the establishment of the German Democratic Republic (October, 1949)[4] the coordination with the SED has become almost complete. Party officials have to sign loyalty declarations. Open criticism of official measures is no longer tolerated. Nor do these parties have press or propaganda media of their own. Relations with their sister organizations in Western Germany became more and more tenuous and were finally (October, 1950) officially discontinued by the latter.

LAND GOVERNMENTS AND ELECTIONS

At first the *Laender* of the Soviet zone were governed by SMA-appointed *Land* presidents, with *Land* directors subordinated to them, and the appropriate lower level officials empowered to issue ordinances under SMA approval. In 1946 consultative assemblies were added on all administrative levels, to which the licensed parties and certain collective organizations were permitted to make nominations. Elections for the local (*Kreis* and city) assemblies took place in 1946 and only after the SED had sufficiently consolidated its control. Finally, elections for the *Landtage* were held in the entire Soviet zone (October 20, 1946).[5] The *Landtage* drafted constitutions and passed them without popular ratification (December, 1947–February, 1948).

LAND CONSTITUTIONS

Constitution-making in the Soviet zone conformed outwardly to the democratic pattern, actually, however, it was based on an SED proposal "for a future German constitution" (published November 19, 1946). Furthermore, a committee formed in advance by the three official parties—with SED predominance—served for the elimination of disputes in public and press and presented to the people a unified front of the political parties (the "block" system).[6] This explains the similarity of the constitutions to the point of identity even in phrasing. The instruments are concise, "functional," without verbosity, and with definite ideological overtones.

The form of government chosen belongs to the type of representative government known in constitutional theory as assembly government (the

[4] See *infra*, pp. 640 ff.

[5] Tabulation of election results:

Land	*SED*	*CDU*	*LDP*	*Mutual Farmers' Aid*
Saxony	49.3%	24.7%	24.7%	3.3%
Saxony-Anhalt	45.8	29.9	29.9	2.2
Thuringia	49.3	18.8	28.6	3.3
Brandenburg	43.64	30.4	20.5	5.5
Mecklenburg	49.6	34.1	12.5	3.8
Votes in the zone	4,556,691	2,292,329	2,328,064	256,213
Percentage in the zone	47.7	24.3	24.7	3.3

In these elections (generally considered fairly honest), the SED obtained the bare absolute majority only with the affiliated Farmers' Mutual Aid Association.

[6] See *infra*, p. 643.

gouvernement conventionnel of the Jacobins),[7] under which a nominally sovereign, popularly elected legislative assembly serves merely as the rostrum on which the strong executive is mounted, streamlined by the existence of a single (or dominant) political party This political arrangement is favored by the Soviets in their own country and in the satellite states The constitutions of the Soviet zone uniformly center on the parliament (*Landtag*), a unicameral body vested with legislative powers and charged with the control of the government, the supervision of the administration and even the appointment of the judiciary The separation of powers is deliberately discarded for the omnipotence of the legislative There is no specific state president The *Landtag* is elected by universal suffrage under proportional representation, in practice nullified by the advance assignment of candidates to the parties participating in the "block" The Presidium of the *Landtag*, a Soviet invention, being much more than the usual business organization of the legislative body, actually is the inner circle of the *Landtag*, controlling and supervising the cabinet Executive power is exercised by the Minister President, elected by, and theoretically responsible to, the *Landtag* The cabinet or an individual Minister must resign when losing the confidence of the parliament, a contingency which is unlikely to happen. The judiciary, consisting of professional and lay judges—the latter again an interesting Soviet-inspired innovation intended to break down the caste mentality of the professional judiciary—are nominally but not actually independent since they are appointed (with various techniques of nomination) by the *Landtage* and removable by them. Judicial review of the constitutionality of legislation is entrusted either to the parliament itself (Saxony) or to a committee of the *Landtag* to which members of the bench and law professors (Thuringia, Saxony-Anhalt) are added.

The economic program stresses social justice. While the economic freedom of the individual is recognized, planning is considered essential Private monopolies are outlawed, certain classes of enterprises are subject to socialization through referendum Agricultural holdings are limited to a fixed maximum size Education is uniform in strictly secular schools (*Einheitsschule*). Paper guarantees of civil liberties are much the same as in the West, though more summarized than articulated.

THE "BLOCK" SYSTEM

Government, under these formally democratic and parliamentarian constitutions, is conducted by a political technique that has become known as the "block" system This ingenuous "democratic" *quid pro quo*, raised to the dignity of a full-fledged political theory,[8] provides the convenient method for maintaining the semblance of the multiple-party structure while entrenching the rule of the SED In order to substitute unanimity among the political parties for the legitimate opposition, all decisions are harmonized in advance

[7] See Karl Loewenstein, "The Presidency Outside the United States," *The Journal of Politics* vol 11 (1949), pp 447 ff, 470 ff

[8] See Alfons Steiniger, *Das Blocksystem*, Berlin, 1949

jointly by a committee of all parties, allegedly to attain a compromise by mutual concessions and to eliminate opposition by "voluntary self-restraint," actually to attain unanimity by SED blackmail behind closed doors. Dissensions, therefore, are never "irreconcilable" and do not become manifest to the public Once the party leaders have been brought to submission to the SED decisions, the rank and file is expected to follow The "block" technique, thus, replaces the freely moving dynamics of coalition governments in the Western zones by a system closely approximating the single-party state without abolishing the façade of the multiple-party state. It is not confined to parliamentary activities but also carries the principle of unanimity into the mass organizations. It proved equally useful for the creation of the Eastern state through similarly constituted "People's Congresses"

THE SOCIO-ECONOMIC PATTERN

The unchallengeable control of the Communist SED made possible radical Sovietization of the socio-economic pattern As lever was used the widely popular seizure of properties belonging to the former Reich, the NSDAP and its affiliated organizations, and property abandoned by absentee owners Confiscation was extended to firms which had received war contracts or employed slave labor[9] Larger enterprises, particularly of the heavy industries, were transferred to public ownership of the *Laender,* smaller ones to the counties, municipalities, and cooperatives The process was progressively stepped up until at present all enterprises with more than fifteen to twenty employees and producing about 70 per cent of Soviet zone manufactured goods are publicly owned and managed Private monopolies became state monopolies Simultaneously all the larger concerns, among them those most cartelized, were directly taken over by the Soviets (1946) and subsequently organized as large combines on the pattern of the Soviet state trusts, under Russian management Most of the output (to 80 per cent) has gone to Russia for reparations which few will grudge the country which the Nazis so utterly and wantonly devastated A considerable number of these later were returned to *Land* ownership The process of socialization by now is beginning to affect also the small businessmen, artisans, and the retailers who are crowded out by the consumers' cooperatives

On the other hand, the agrarian reform was conducted more rapidly and drastically without leading to full-scale collectivization Private property of small plots of land was retained and even vastly extended by the confiscation of the large estates without compensation to the owners, and their distribution among landless tenants, agricultural workers, and refugees Here the law of Saxony of September, 1945, served as the model All "Junker" estates and all other holdings of over 100 hectares were expropriated[10] Key organizations

[9] The transfer of ownership was accomplished by action of the *Landtage,* only in Saxony a plebiscite was held (June 30, 1946) in which 77 per cent of the votes cast favored public ownership There is little doubt that the result reflected the real will of the people

[10] Church property was exempted, but the local committees, assisted by uncertain titles, took some of it over anyway.

in the redistribution of land were the local Farmers' Committees for Mutual Aid In a single sweep 33 1 per cent of the agricultural and forest land in the Soviet zone (over 2½ million hectares) were transferred to a total of 321,291 new owners, to the *Laender* for research or experimental farms, and to municipalities; the average size of the farms is between seven and nine hectares.[11]

Whatever may be said against Soviet policies in Eastern Germany, the transformation of a country in which before two-thirds of agricultural land were held by large and overlarge estates, into one of small farmers amounts to a revolution of the first magnitude It ended, once and for all, the socio-political influence of the Prussian Junker class whose medieval feudalism no previous German government had been able to break

[11] See Harold O Lewis, *New Constitutions in Occupied Germany*, Washington, 1948, pp 45 ff

CHAPTER XXXVIII

THE GERMAN DEMOCRATIC REPUBLIC (DEUTSCHE DEMOKRATISCHE REPUBLIK)

ORIGIN OF THE EASTERN GERMAN STATE

PEOPLE'S CONGRESS AND PEOPLE'S COUNCIL

While, in the play-by-play report on diplomatic events, the Soviets usually made a move to counter one of the Allies, in the demand for all-German unity under a common constitution the Eastern Germans, spearheaded by the SED, clearly took the lead As early as in November, 1947, the SED called on all German parties to convene a general convention to Berlin Those in the Western zones, except the Communists, declined The first meeting of the People's Congress (*Deutscher Volkskongress fur Einheit und gerechten Frieden*) in Berlin (December 6–7, 1947), though staged by the SED and presided over by the leading Communist, Wilhelm Pieck, was by no means an all-SED affair.[1] The SED saw to it that the principle of party equality was maintained Leading politicians of the CDU and LDP were chosen to the presiding board. At a second meeting (March 18, 1948), after the London decisions on the formation of a Western State had been announced, it was decided to submit the question of German unification to the entire German people by initiative and referendum But the Western powers, through General Clay (April 17, 1948), rejected the proposal and prohibited all propaganda for the People's Congress in the West.

Simultaneously the People's Council (*Volksrat*), an executive committee appointed by the Congress, prepared the draft of an all-German Constitution, using a proposal (published August 8, 1948) by Otto Grotewohl, a former SPD leader and one of the moving spirits for the formation of the SED The draft was unanimously adopted by the fifth meeting of the People's Council (October 22, 1948), declaring itself "the sole legitimate representation

[1] Of the 1,729 delegates, 978 came from the Eastern zone, 464 from the West, 253 from all sectors of Berlin LDP and CDU of the Eastern zone were strongly represented, of the Western bourgeois parties only observers attended

of the German people," and unleashed an enormous propaganda discussion (Soviet style) which, be it noted, offered a striking contrast with the indifference the Western German manifested towards "their" Constitution [2] In its sixth meeting (March 18–19, 1949) the People's Council again unanimously accepted the final draft, with some amendments, and transmitted it to the People's Congress for ratification An initiative, begun in April, 1949, and conducted by house-to-house solicitation, resulted in more than 13 million signatures, sufficient under the Weimar Constitution which was declared applicable for this purpose On May 15, 1949, a vote took place to confirm the mandate of the newly constituted People's Congress, together with a referendum to decide for or against the Constitution "for the German Democratic Republic" With 98.2 per cent of the voters participating, the official outcome was announced as 66.1 in favor and 33 9 against. In Eastern Berlin the relation was 58 1 per cent for and 41 9 per cent against Considering the weight of the official propaganda machine, the result may seem hardly impressive, though the polling seemed technically unobjectionable The new People's Congress ratified the Constitution by 2087–1 votes (May 30, 1949). However, the Soviets delayed its effective date until all diplomatic measures to prevent the formation of the Western State had been exhausted.

THE ESTABLISHMENT OF THE GERMAN DEMOCRATIC REPUBLIC

The new People's Council, elected by the People's Congress, convened in Berlin on October 7, 1949 [3] The Council solemnly announced the formation of the new State, declared the Constitution in force, but postponed popular elections for the lower house (*Volkskammer*) until October 15, 1950, obviously in view of the alarming degree of nonconformity exhibited in the referendum on the Constitution Meanwhile it acted as the provisional People's Chamber The federal organ provided for by the Constitution, the Chamber of the *Laender,* was elected by the *Landtage* of the five *Laender* on October 10, 1949 [4]

[2] The discussion was conducted in 9,000 public meetings, 15,000 resolutions were adopted and 500 proposals for amendment submitted

[3] Of its 400 seats, 70 were reserved for nonvoting Western German delegates (about whose claim to the mandate nothing is known), of the remainder of 330 seats, distributed among the parties according to a prearranged key, only 90 were taken by the SED and the same number by the LDP and CDU (45 each), but the SED controlled the 150 votes of two smaller puppet parties and of the collective mass organizations

[4] It is composed of thirty-four members as follows

	Total	*SED*	*LDP*	*CDU*	*Farmers' Mutual Aid*
Saxony	11	6	3	2	–
Saxony-Anhalt	8	4	2	2	–
Thuringia	6	3	2	1	–
Brandenburg	5	3	1	1	–
Mecklenburg	4	1	1	1	1
	34	17	9	7	1

Political arithmetic, thus, gave the SED only a slight edge over the bourgeois parties By law of November 8, 1950 (GB 1950, p 1135), the number of representatives in the Chamber of the *Laender* was raised from thirty-four to fifty, whereby the smaller *Laender* (e g , Mecklenburg and Saxony) were more favored The "observers" from the "capital of Berlin," now called "representatives with consultative vote," were increased from seven to thirteen

On October 11, 1949, a joint meeting of the People's Chamber and the Chamber of the *Laender* elected unanimously Wilhelm Pieck, seventy-four, veteran Moscow-trained Communist chief,[5] to the Presidency In accordance with the Constitution (Art 92) the SED, as the strongest party, designated Otto Grotewohl, former SPD politician, to the position of Minister President He is assisted by three Deputy Minister Presidents, one each assigned to the SED, LDP, and CDU. The SED man is Walter Ulbricht, considered by many, as Secretary General of the SED, to be the real power, camouflaged by the façade of the two "moderates," Pieck and Grotewohl In the coalition cabinet of eighteen Ministers the ratio of the SED to the bourgeois parties is 11–7. Among the Ministries are those for Education and Foreign Affairs, which do not exist in the West The People's Chamber accepted, without formal vote of confidence, the Government program (October 12, 1950) The Eastern sector of Berlin was not represented in the assembly The Soviets, however, officially withdrew their Headquarters and control points from the area and subsequently (June, 1950) civilianized their administration.

The new State was recognized internationally by all members of the Soviet block and Red China. The United States as well as Dr Adenauer denied the legality of the new State and Government It may seem idle to compare the exercise of the *pouvoir constituant* of the Western and the Eastern German States. However, it may be noted that in neither case did a popularly elected assembly draft and accept the instrument of government. If the Western Allies claim that "their" Germans at least elected by an honest vote the new legislative body, the Soviets will counter that "their" Germans at least ratified a Constitution drawn up indirectly (as in the case of the Parliamentary Council) by an (apparently) honest referendum

THE CONSTITUTION OF THE GERMAN DEMOCRATIC REPUBLIC

The Eastern German Constitution, usually dismissed in the United States as a totalitarian tool without value, deserves close study if for no other reason than that it institutionalizes, in ultra-democratic disguise, the exercise of political power by the "State" party in a fully Westernized environment It claims, according to the intention of Otto Grotewohl, its spiritual father, to be uninfluenced by foreign patterns and commensurate with German tradition and needs It proclaims the principles of democracy, federalism, and socialism. To the Weimar Constitution it is even closer than the Bonn Basic Law, in this it follows the policy consistently pursued by the Soviets since Potsdam. But the Weimar blueprint is converted, with an almost diabolical subtlety, to that type of parliamentary supremacy or assembly government which is favored by other "People's Democracies" in the Soviet orbit

THE PATTERN OF GOVERNMENT

The People's Chamber (*Volkskammer*) is the center of political power, the "highest organ of the State" and the "bearer of State power" (Art 60)

[5] From his name the jocular appellation of Eastern Germany as "Pieckistan" is derived

The Parliament is elected by the free, secret, direct, and equal vote of all eligible citizens above eighteen years of age, under application of proportional representation That there is no room for the qualms besetting the West in refining proportional representation and excluding splinter parties, is evidenced by the provision—drawn from Soviet experience—that only such political parties are admitted to participation in the elections (and to the nomination of candidates) which (Art 13, par 2), "according to their bylaws strive for the democratic content of the political and social life of the entire Republic and whose organization extends over the entire state territory," the latter provision excluding regional parties The democratic mass organizations have equal rank with the political parties proper In the absence of a judicial decision it must be assumed that the determination of a party's nondemocratic character and its exclusion is decided by the Government The Presidium, in which each party (*Fraktion*) is represented, is less power-inflated than in other constitutions under Soviet inspiration

In conformity with assembly government, the People's Chamber, as the virtual core of political power, is not subject to any checks and balances or to constitutional limitations from outside As on the *Land* level, the separation of powers is abandoned Dissolution is possible only by self-disbandment and in the exceptional case of a vote of nonconfidence against a new Government The *Volkskammer* alone is charged with the formation, control, and dismissal of the Government Here the Constitution institutionalizes officially the technique of the "block" system. The strongest party designates the Minister President. He in turn forms the cabinet of Ministers An innovation is the fact that a coalition government is mandatory in which all parties with a minimum number of forty members are represented in relation to their strength, unless a party wishes to exclude itself (Art 92) This principle of unanimity in the Government to which unanimity in the Parliament corresponds nullifies the right of opposition, which is the essence of Western parliamentarism By all practical standards, the paramount control of the SED is legalized. Nonetheless, different from the Bonn Constitution, and again in conformity with assembly government, the cabinet and each of its members require the confidence of the *Volkskammer* for the conduct of office (Art 94). The overthrow of the cabinet as a whole is possible only—here in imitation of the Bonn Constitution—by way of a "constructive" vote of nonconfidence which requires simultaneously (Art 95) the designation and approval of the Minister President's successor by the *Volkskammer*. If the designated successor is not confirmed by the *Volkskammer* the latter's dissolution is mandatory. To all practical intents and purposes, however, the Minister President is irremovable, and thus instrumental in the transformation of assembly government into the rule of the strong executive as is characteristic for this form of government The elimination of the controlling party from power is feasible only by revolution.

The Constitution, like Weimar, but here different from other versions of assembly government, provides also for a president, elected, without strings

attached, by simple majority of both houses (*Volkskammer* and Chamber of *Laender*) The election is a foregone conclusion. He may be retired by a two-thirds majority of both houses Although his constitutional rights are strictly ceremonial and not even state-integrating, the election of the party leader, Wilhelm Pieck, may indicate that the incumbent will not content himself with the role of a figurehead and may become a counterweight to the Minister President

THE FEDERAL STRUCTURE

If for the frame of government the contours of Weimar were preserved at least outwardly, they are openly discarded in what purports to be the federal structure. The Constitution is definitely slanted so far towards centralization that, quite unlike Bonn, no serious obstacle would prevent an outright unitary government This merely confirms the situation existing in present-day Eastern Germany, which is largely a centralized State with little if any statehood individuality visible among the five *Laender* That the constitution of the *Laender* must conform to that of the Democratic Republic (Art 109) is not different from the regulation under Bonn But the Chamber of the *Laender* (*Laenderkammer* [Art 71]) which is destined to represent the territorial subdivisions, bears no resemblance to the type of a federal Council customary in Germany The delegates for the Chamber of the *Laender*—each *Land* being entitled to one for each 500,000 inhabitants—are appointed by the *Landtage* (and not, as in the West, by the *Land* governments) proportionate to the strength of the parties represented therein, they do not conduct themselves, or vote, under instructions of the *Land* governments as in the West. While not explicitly mentioned it is implied that the "block" technique will result in the same kind of "unanimity" that prevails in the *Volkskammer*. If the measure of federalism consists in the actual power of the second chamber the German Democratic Republic is factually a unitary State The Chamber of the *Laender* is endowed merely with a suspensive veto which may be overridden by a simple majority of the *Volkskammer* (Art 84) In case of constitutional amendment the veto (which is not identical with consent) must be carried by a two-thirds majority, an additional restriction on the power of the Chamber of the *Laender* because it facilitates constitutional amendments desired by the *Volkskammer*.

The deliberate weakening of the federalistic elements is further evidenced in the assignment and distribution of legislative powers The range of exclusive federal jurisdiction is not much wider than under Weimar (Art 112) though it includes the entire field of substantive and adjective law which is known to be one of the most centralizing features in any political order But since there is no enumeration of the fields of concurrent legislation, the presumption of legislative jurisdiction operates in favor of the federal State, no "residual powers" clause protecting the intangible spheres of states This pertains also to the field of taxation where the right to raise revenue (*Abgabenhoheit*) is located in the federal Government The complex system

of overlapping financial jurisdictions, so much belabored in the West, is avoided

Nor can the right of the *Laender* to administer the federal services, insofar as no immediate federal administration is provided for, be taken as a token of *Land* self-government because of the incisive powers of supervision accorded to the federal State in all fields in which the latter claims jurisdiction (Art. 116) In practice this implies an unlimited right of coordination of the *Laender* by the federal Government which may exercise it by issuing instructions to the *Land* governments or even by sending enforcement officers directly to the *Land* administrative authorities Controversies that may arise here are to be adjusted not by an independent federal tribunal but by the *Volkskammer* itself. It requires merely an opinion of its Constitutional Committee, enlarged by three members of the Chamber of the *Laender*

This shape of things allows the conclusion that the German Democratic Republic, rather than classifiable as a federal State, is a unitary State with some degree of decentralization. This solution may not only conform to the requirements of Socialist planning, but seems intrinsically appropriate for a territory with relatively insignificant residues of a genuine separateness of its component parts In this sense the state of Prussia, so assiduously written off by the CC and the West, has been revived

THE BILL OF RIGHTS AND CONSTITUTIONAL GUARANTEES

In the formulation of the classic civil liberties, an elaborate bill of rights follows closely, often to the point of literal identity, the pattern of Weimar. All rights are immediately applicable and binding law Freedom of religion is guaranteed (Arts. 41 ff) Education is strictly secular and without the clerical flavor it has in the West Religious instruction is left to the denominational groups (Art 40). All schools are tuition-free (Art 39) But what distinguishes this bill of rights from its Western counterpart is the emphasis on social—if not Socialist—justice formalized in a carefully phrased section on the Economic Order (Arts 19–29) It supplements the right to work (Art 15), recreation, annual leave with pay and social insurance (Art 16) and codetermination "in the regulation of industrial production, wages, and working conditions" (Art 17) The aim of economic life is "to guarantee to all an existence compatible with the dignity of man" (Art 19) This to attain is the purpose of economic planning through the State (*öffentliche Wirtschaftsplanung* [Art. 21]) Freedom of enterprise for the individual "within the scope of the above aims and tasks" (Art. 19, par 3) and private property, "whose scope and limitations are determined by the law," are guaranteed (Art. 22) But private monopolies are abolished and prohibited, and private estates of more than 100 hectares are subject to redistribution by land reform without compensation (Art. 24, par 5) Private enterprises suitable to public ownership may be so transferred (Art 27) Nationalization is mandatory for mineral resources, economically usable natural power, the mining, iron, steel, and electric power industries (Art 25).

Most of these arrangements would grace any socially progressive state provided they were surrounded by the rule of law, and the latter, in turn, were grounded in the protection of constitutional guarantees through an independent judiciary Here the Constitution, by Western standards, is utterly defective. The sovereignty of the legislature under assembly government is incompatible with either the judicial protection of rights by a constitutional tribunal or judicial review of the constitutionality of its legislative acts To safeguard the citizen "against unlawful administrative measures" is left to "the control exercised by the legislature" and administrative courts (Art 138); both guarantees are precarious in view of the State Party control of the *Volkskammer* and the political limitations on administrative justice in the Soviet orbit Instead of judicial review by independent courts the final decision lies with the *Volkskammer,* acting upon an "opinion" of its Constitutional Committee (Art 66) in which the parties are represented by the "block" technique, with three members of the Supreme Court and three professors of public law thrown in for good measure The administration of justice (Arts 126–138) is no longer the monopoly of professional judges with tenure. Specially trained men and women (*Volksrichter*) increasingly have supplanted the university-educated professionals All judges of superior courts are elected (those of the Supreme Court by the *Volkskammer,* those in the *Laender* by the *Landtage* [Arts 130, 131]), while the lower court magistrates are appointed by the *Land* governments (Art 131, par 3) But all judges are subject to recall or dismissal by the federal or the *Land* parliaments respectively (Art 132) Independence of judiciary and tenure, thus, are related to "ideological reliability," the provision (Art 127) to the contrary notwithstanding that the judges, "in the exercise of their functions, are independent and subject only to the Constitution and the laws " If the weak protection of constitutional guarantees is visualized within the context of a repressive state machinery, exercising rigid control over nonconformists and conformists alike,[6] it is obvious that, once again, its application to the Teutonic People's Republic confirms the historical experience that parliamentary supremacy under assembly government lends itself most readily to its perversion into authoritarian government The absence of any checks and balances on the omnipotence of the Parliament, which make the Constitution a relatively simple document compared with the complexity of the Bonn instrument, is cleverly turned into the unchallengeable dominance of the assembly by the State Party, the SED, while preserving the illusion of "democratic unanimity" by building the "block" technique into the Constitution The present sociopolitical organization of the Soviet zone, embodied in the federal no less

[6] Four such organizations exist The State Security Service (secret police) and the State Control Commission (charged with supervision of economic life and planning), are both attached to the Minister President's office The Personnel Administration (under the Ministry of the Interior), keeps tab on public employees and officials, all offices are staffed with reliable SED adherents The SED itself is policed and disciplined by the Control Commission of the SED At least during the early years of the Soviet occupation, internment or concentration camps were widely resorted to, more recently possibly replaced by assignment to work in the uranium mines

than in the *Land* constitutions, is grounded in Rousseau's concept of the omnipotent general will rather than applying Montesquieu's technique of the separated and coordinated powers. It occupies the twilight zone between the bourgeois-liberal and the Socialist-collectivized state It is the Teutonic version of the "People's Democracy" familiar in the Soviet orbit

POLITICAL DEVELOPMENTS SINCE 1949

Reliable information on the internal political life of the German Democratic Republic is scant Its legislative activities have been of minor importance, with the possible exception of the establishment of the Supreme Court (December 8, 1949), the federal Government evidently believing that the tightly coordinated *Landtage* of the *Laender* would effectively attend to routine legislation Agitation for German unity, on Eastern terms, has continued Internal purges and show trials of bourgeois economic saboteurs, probably in many instances not without factual basis, have been staged The prices of food and consumers' goods were sharply cut (June, 1950), possibly to offset the effect of the steady deterioration of the Eastern German mark (exchange rate of about eight Eastern marks to one Western mark). A five-year plan, announced to raise the present production rate by 90 per cent, went into operation on January 1, 1951 But the principal event was preparing and staging the elections for the *Volkskammer* (October 15, 1950), with the simultaneous election of the five *Landtage* In true Soviet satellite style, a National Front ticket was to be voted on which contained, under a carefully prearranged key, a common slate for all political parties and the mass organizations entitled to parliamentary representation Seventy per cent of the seats were assigned to the SED and its affiliated organizations, 30 per cent to the bourgeois parties The foreordained results of this by now familiar blend of an election for the determination of the legislative personnel and a plebiscite to record popular ratification of the regime's policies, frequently carried out by open vote and bringing 95 per cent of the voters to the polls, would have been envied by Goebbels[7] The new *Volkskammer* reaffirmed Wilhelm Pieck as President and Otto Grotewohl as Minister President. For the time being neither the elimination of the appearance of a multiparty state nor far-reaching constitutional changes seem to be planned Organizational measures for integrating the German "People's Democracy" into the Soviet-dominated area may have been carried as far as it is desired.

The elections of October, 1950, were followed by an incisive reform of the governmental structure[8] The number of cabinet members was enlarged

[7] The consolidated figures for the election of the *Landtage* are as follows

Registered voters	12,325,168
Votes cast	12,144,597
For national ticket	12,097,105
Against national ticket	34,060

98 5% were in favor, 0 28% against

[8] Law on the Government of the German Democratic Republic of November 8, 1950 (GB 1950, p 1135)

from eighteen to twenty-three, increasing the number of Deputy Minister Presidents from three to five and the Ministers proper from fourteen to seventeen The changes affected primarily the socio-economic offices In line with Soviet practice, the Ministry of Industry was split into the independent Ministries of Heavy Industry, Machine Construction, and Light Industry, while the Ministry of Labor and Health was divided into two independent branches On the other hand, instead of the Ministry of Planning a special Planning Commission was attached to the Council of Ministers An even more important innovation, inspired by Soviet techniques, was the establishment of the Central Commission for State Control charged with the supervision of the execution of the Government's decisions Both Commissions are directly attached to the Minister President Their chairmen participate with full rights in the cabinet meetings The result of this reform, altogether unorthodox in Western governmental practice, is the loss of political influence suffered by the "technical" Ministries The balance of political power visibly is being shifted to the Minister President and the two commission chairmen, who thus constitute an inner circle or super-government within the Government

To all intents and purposes, the most discussed of all internal measures to date of the Eastern German regime was the notorious "Law for the Protection of Peace "[9] A political measure intended "against the aggressive policies of the imperialist Governments of the United States, Britain, and France," it outlawed, in conformity with the resolutions of various Communist-sponsored "peace congresses," propaganda for war; incitement to hatred on racial grounds, or against foreign peoples, participation in military foreign formations (e g , the French Foreign Legion); propaganda in favor of a restored German militarism, glorification of atomic weapons The sanctions are severe, including, "for agents of foreign aggressive or war-mongering states," the death penalty

About the relations between the Soviet Government and the new State no reliable information is available The SMA was converted into the Soviet Control Commission whose complete civilianization was announced in June, 1950 Overt Soviet controls are—next to the diplomatic representation after the formal recognition—the continued presence of obviously large forces of the Red Army But the covert influence of the Soviet Communist Party on the SED may seem even more decisive Economically Eastern Germany has become a member of the Council for Mutual Economic Assistance known as the Molotov Plan (September 29, 1950)

THE ATTITUDE OF THE PEOPLE

The memory of how difficult it was to appraise correctly the attitude of the people towards the Nazi regime, which freely admitted foreign visitors, will caution against any judgment on how the people in Eastern Germany stand *vis à vis* the new order Persons and ideas still circulating freely between the Eastern and the Western halves of Germany indicate there is no iron curtain Value judgments are much conditioned by the social position of the persons reporting

[9] Law of December 15, 1950 (GB 1950, p 1199)

and the persons interviewed This much is certain the general living standards are much lower than before the war and decidedly lower than in the West, perhaps less so for the working population Class differences are beginning to diminish, perhaps with the exception of the privileged group of SED officials and certain technicians Food seems adequate, consumers' goods are slowly increasing after the Soviets reduced their reparations claims from current production. Indoctrination by propaganda is making headway particularly among youth This was convincingly demonstrated to all objective observers by the Youth Rallies in Berlin in the summer of 1950 and 1951 There is no unemployment, and the refugees were better absorbed than in the West Administrative services are only tolerably efficient Economically, the factory worker and the small farmer are perhaps better cared for than their Western cousins But the heavy pall of legal and personal insecurity hangs over a people which, before the Nazis, were accustomed to the rule of law Competent observers estimate that between 15 per cent and 20 per cent of the people are positively in favor of the regime while the vast majority, though submissive, would be willing to turn against it if and when occasion arises But a substantial minority may be equally unwilling to be again exposed to the economic vicissitudes of the free enterprise system of Western German capitalism.

PART V CONCLUSION THE PROBLEM OF GERMAN REUNIFICATION

GERMANY'S KEY POSITION IN THE EAST-WEST CONFLICT

It took the Germans longer than other European peoples to become a united nation. Their proudest patriotic memories stem from the creation of the Reich by Bismarck and Prussia which became the foundation on which they rose to a world power Understandably they must consider the present split into two unequal and foreign-dominated parts anomalous, absurd, and outrageous Moreover, economically the two parts had belonged together like piston and cylinder

But German disunion is more than a German problem It is the core of the East-West conflict which, stripped of its global complexities, is the battle for the body and soul of Germany To both the Soviets and the West a united Germany included in the power orbit of the other, constitutes a grave danger unmitigated by the inconclusive results of the effort to convert the Germans into a peace-loving nation A united Germany allied with the West would form an unsurmountable barrier to Soviet expansion in Europe and, considering the age-old *Drang nach Osten,* a serious threat to the Soviet State itself A united Germany allied with the East would tip the scales in the balance of power so much in favor of the Soviets that Western Europe and, with it, the Western world would no longer be secure The political combination of the Soviets and Germany is well-nigh unbeatable On the other hand, Germany split into two parts is no less dangerous because either half, aiming at unification and thereby trying to impose its socio-economic pattern on the other, might easily drag the world into World War III From whatever angle German unity or disunity is approached it is fraught with foreseeable dangers and incalculable risks

THE GERMAN ATTITUDE TOWARDS UNIFICATION

Seen from the outside the German desire for unity seems uniform and universal Propaganda for unity from whatever quarter has wide popular acclaim On closer inspection, however, the issue is far more complex than the official manifestations on both sides make it appear It is true that family bonds stretch between the East to the West regardless of state boundaries Saxony and Thuringia belong to Germany as much as Franconia or Baden But aside from such emotional factors, to Southern Germany the Eastern part has little economic, and next to no sentimental, interest. The loss of Berlin and the disappearance

of Prussia is considered more often than not a blessing in disguise Moreover, it should not be lost sight of that Western Germany today is predominantly a Catholic State, with Eastern Germany the Protestant element would be restored to domination, a powerful argument against unification for certain social and political strata Contrariwise, to the Rhineland, the Ruhr, and other parts of former Prussia, the loss of the East is a festering wound, less for emotional than for economic reasons Big business and heavy industry are well aware that sooner or later foreign assistance will terminate and they will have to compete with foreign industrial interests under adverse conditions while Germany's opportunities naturally gravitate towards the underdeveloped East Even under present conditions the clandestine and illegal trade with the East is substantial.

On the other hand, to the Eastern Germans to be cut off from the West is more than a festering wound, it is a lethal amputation The split has lowered their living standards to the level of the East to which, as non-Slavs, they do not wish to belong There is also Berlin, and Berlin believes itself, rightly or wrongly, the capital of all Germany If, therefore, it might not seem impossible for the Western part to exist without the East, the latter, lest it abandon itself, never can reconcile itself to the split from the West In spite of the lip service paid in both parts uniformly, it is undeniable that propaganda for reunification rings truer in the East than the West

THE INTERNATIONAL DEBATE ON REUNIFICATION

For a long time the Germans themselves took no part in the debate on unification. Only once, on June 6, 1947, following the conclusion of the first East-West zonal trade agreement (January 18, 1947), the Minister Presidents of all *Laender* of the four zones convened in Munich for a joint discussion. But the Western members—those from the French zone were permitted to attend as observers only—were forbidden by their MG masters to talk about anything except economics The Minister Presidents from the East at once opened up with the demand to discuss the establishment of common governmental agencies; when rebuffed by their Western colleagues, they walked out Subsequently, until after the establishment of the two separate States, the Germans remained silent and suffering listeners to the disharmonious dialogue conducted among the former Allies But consulting the chronology will lead to the conclusion that while the West always set the pace in the various steps towards the two separate States, on the issue of unification the Soviets, echoed by their Germans, insistently took the lead The Soviet position was throughout, as evidenced, for example, by their spokesman at the Moscow and London Conferences of 1947, that Germany be unified under a common Constitution, that thereafter a peace treaty be concluded, and that, within a year, all occupation forces be withdrawn The underlying assumption was that, meanwhile, the SED would have captured the governmental machinery and the all-German Government could be counted on to be "friendly," in terms of Soviet semantics, to the East Into this trap the Western powers refused to walk

Only after the creation of the Western and the Eastern States did the Ger-

mans themselves enter the Great Debate On March 22, 1950, Dr Adenauer proposed a unification procedure by demanding elections, to be held in all Germany under the standard principles of democracy, for a constituent assembly which should draw up an all-German Constitution to be ratified by an all-German referendum The electoral law should be elaborated by the four powers, which also would jointly supervise the election The proposal was informally rejected by Otto Grotewohl on behalf of Eastern Germany Undaunted, the three Foreign Ministers (U S A , U K , and France) at their Paris meeting issued (May 26, 1950) a detailed statement of Western conditions of unification which, had it been accepted by the Soviets, would have become the "little" Potsdam Agreement of 1950 A freely elected German Government, based on freedom of action throughout Germany of all democratic political parties, restoration of the rule of law in all Germany, prohibition of all paramilitary forces including the political secret police, assurance of economic unity through action of a German Government on such matters as a common currency, and through quadripartite action on such matters as reparations from current production; return of all industrial enterprises acquired since unconditional surrender by or on behalf of a foreign power unless approved by quadripartite action and only in case it was in the interests of Germany, establishment of a four-power Supervisory Commission with only such reserved powers as not to prevent a German Government from functioning effectively All these conditions were of course pointed at existing abuses in the Soviet zone, but the cancellation of the Eastern land reform was not among them Upon fulfillment the path would be open to a joint peace treaty, the Western Allies formally declaring themselves opposed to a separate treaty

On May 26, 1950, the three Western High Commissioners addressed in a letter to General Chuikow, their opposite number as chairman of the Soviet High Commission, the request for assuming the four-power responsibility for framing the electoral law under which the all-German elections were to be conducted

None of these proposals found favor with the Soviets or their German understudies, and understandably so because free elections would have exploded the SED rule, and the return of the Sovietized industries would have robbed the Soviets of those reparations which they extracted from their zone after they had been frustrated in obtaining the ten billion dollars they believed themselves entitled to under Yalta and Potsdam It is hardly believable, therefore, that the Western statesmen wished to do more than state these demands for the record But an answer came with the Resolution of the Prague Conference of the Foreign Ministers of the Molotov block (October 21, 1950) A National Assembly should be convoked in which the Western and the Eastern German States were to be represented by an equal number of delegates This was rejected by the Western German Government and the Allies, who felt that the East, with only one-third of the total population could not claim representation equal to the West with two-thirds

On November 3, 1950, the Soviets addressed to the Western powers a

formal request for a new four-power conference confining itself to the German issue. At the same time Otto Grotewohl invited Dr Adenauer to a joint German discussion of unification The Chancellor, justly believing himself to be supported by the Western Allies with whom at that time he had begun to negotiate about German participation in the Western European army, at first was utterly reluctant to answer at all Public opinion, fearful of the Soviet reaction to rearmament and hoping against hope to achieve the status of neutrality in an eventual Soviet-American war, forced his hand. But his reply (January 15, 1951) was uncompromisingly hostile Western Germany "can enter into discussion of unification only with those who are willing unconditionally to recognize and guarantee a regime based on the acceptance of a form of government that respects liberty, the protection of human rights and the maintenance of peace " Lashing out at the military forces of the East he claimed that Western rearmament does not constitute a threat to peace.

However, during his good will visit to Germany (January 20, 1951) General Eisenhower, Supreme Commander of the North Atlantic treaty defense system, convinced himself—and subsequently the Pentagon—of the deep-seated and widespread resistance among Germans of all walks of life against participation in the Western defense effort except—if at all—on the footing of complete equality A shift in tactics seemed advisable to the West which could not fail to affect the reunification issue Replying to the latest Soviet note (December 30, 1950) the Western powers agreed to the Soviet proposal for a preliminary discussion by the deputies of the respective Foreign Ministries of the agenda of a four-power conference on the condition that it would extend, beyond the German issue as demanded by the Soviets, to all possible causes of the present world tension

Consequently, the deputies met in Paris from March 5 to June 21, 1951, without however, in seventy-four meetings of repetitious monotony, being able to agree even on the agenda The outward reason for the failure was the Soviet insistence on inclusion of the North Atlantic Treaty, considered by them a prime cause of East-West tensions, while the West refused its official inclusion But the futile conference revealed—what had been evident to Germany's neighbors from the start—that the real core of the East-West conflict is and remains Germany, which, in view of the dominant position she holds on the Continent, has again become the fulcrum of the balance of power, whether united or split in two.

Alarmed by the increasing willingness of Western Germany to rearm on behalf of the West, the Eastern German Government, in the summer of 1951, intensified the unification propaganda Adroitly equating unification and peace, or rearmament and the threat of war, it evoked so wide and sympathetic a response in Western Germany that Dr Adenauer was compelled, by the pressure of public opinion, to modify his heretofore wholly negative attitude towards unification in which he felt himself strongly supported by the American Government As the next move he had a law drafted (October, 1951) outlining in fourteen points the detailed conditions under which Western Germany

would agree to the election of an all-German constituent assembly Prominently among these figured the supervision, by the United Nations, of the conditions for, and the holding of, such elections. To this neither the Eastern regime nor their Soviet masters seemed willing to agree But by that time the Germans convinced themselves that integration of Western Germany into the Western defense alliance and unification are incompatible, and, further, that, in view of the enduring disagreement among their protectors, German unity is a problem that can be solved only by the Germans themselves.

THE IMPASSE OF GERMAN UNIFICATION

How this stalemate can be broken and whether it can be broken at all, is beyond prophesy at this time Neither the Western nor the Eastern German Government can agree to a settlement on the terms of the other without committing political suicide The overwhelming mass of the Western Germans reject unification at the price of Communization that the group around Pastor Niemoeller and the National Bolshevik partisans seem willing to concede Nor would the working classes in the East be prepared to accept the precarious economic liberty under capitalism in exchange for the modicum of social security without liberty in the East If at all feasible, reunification would seem conditioned on a gradual approximation of the conflicting socio-economic systems now prevailing The longer the split lasts the more difficult the compromise will become Perhaps, in this age of world revolution, the world has to accustom itself to the existence of two Germanys instead of one

BIBLIOGRAPHICAL NOTE
ON THE GERMAN POLITICAL SYSTEM

1. Official Publications and Periodicals

The texts of federal (*Reich*) statutes, ordinances, decrees, and similar enactments are found in the *Official Bulletin of Laws—Reichsgesetzblatt* (abridged *RGB.*)—divided, under the Weimar Republic, into Part I, dealing with matters of internal law, and Part II, containing the statutory material referring to international relations In addition, the member states (*Laender*) publish *Official Bulletins* of their own for local matters affecting their territories only. Upon the establishment of the Western German State (*Deutsche Bundesrepublik*) in 1949, the collection of federal laws was continued as the *Bundesgesetzblatt*

Decisions of the Supreme Court (*Reichsgericht*) were published until 1945 in two series of official reports dealing with civil and criminal law respectively (*Entscheidungen des Reichsgerichts in Zivilsachen und in Strafsachen*) A similar collection of the decisions of the *Oberstes Bundesgericht* has been under way since 1950.

For a more intimate knowledge of the governmental practice and the theory behind political institutions, the *Law Journals*, under the Empire and the Republic deservedly famed for their systematic approach and penetrating analyses, are indispensable

The most distinguished were the *Juristische Wochenschrift* and the *Deutsche Juristenzeitung* Under the Nazis these monumental legal documentations lost much of their scientific value After the two publications mentioned had been discontinued by the Nazis, the *Deutsche Justiz*, the official organ of the Ministry of Justice, and *Deutsches Recht*, under the auspices of the Academy for German Law, a Nazi creation, took their place.

After 1945 the *Law Journals* were revived Among the best ones were *Suddeutsche Juristenzeitung* and *Deutsche Rechtzeitschrift*, combined in 1950 under the title *Juristenzeitung* For matters of administration see *Die offentliche Verwaltung*

Of other periodicals the *Archiv des offentlichen Rechts* as well as the *Zeitschrift fur die gesammte Staatswissenschaft*, both journals of established reputation already under the Empire, contain invaluable material; the former deals more with constitutional law proper, while the latter comes closer to the political science periodicals in this country and in England

Another important source of information is the *Jahrbuch des offentlichen Rechts*, also already founded under the Empire; the most eminent professors of law—what political science the Germans cultivate forms a part of public law—contributed to it until 1938 yearly surveys on the constitutional and political developments of the Reich and the *Laender* Of these the comprehensive studies of Fr Potzsch-Heffter in volumes XIII (1925), XVII (1929), and XXI (1933–34) are first-rate The *Jahrbuch* is in process of publication under a new management (1951)

2 German Treatises and Commentaries Considered as Authoritative

(a) *For the period of Imperial Germany*

P Laband, *Staatsrecht des deutschen Reiches*, 4 volumes, Tubingen-Leipzig, 1901, a useful abridged version in one volume was published as 5th edition in Tubingen, 1909

G. Meyer & G Anschutz, *Lehrbuch des deutschen Staatsrechts*, 7th edition, Munich and Leipzig, 1919

(b) *For the period of the Weimar Republic*

G Anschutz, *Die Verfassung des deutschen Reichs*, 4th edition, Berlin, 1933

G Anschutz & R Thoma, *Handbuch des deutschen Staatsrechts*, 2 volumes, Tubingen, 1930–32.

3. German History and Politics to 1871 (Foundation of the Empire)

G P Gooch, *Germany and the French Revolution*, London, 1920

R Aris, *History of Political Thought in Germany from 1789 to 1815*, London, 1936

H Lichtenberger, *Germany and Its Evolution in Modern Times*, New York, 1913

Ralph H Bowen, *German Theories of the Corporative State*, New York, 1947

C G Robertson, *Bismarck*, London, 1915

Erich Eyck, *Bismarck and the German Empire*, New York, 1950

A J P Taylor, *The Course of German History*, New York, 1946

An outstanding German book is Fr Meinecke, *Weltburgertum und Nationalstaat*, Berlin, 1908, 7th edition, 1928

4 The Empire under the Bismarckian Constitution and World War I

Veit Valentin, *The German People*, New York, 1946

There is still no up-to-date treatment in English of the German Empire Thorstein Veblen, *Imperial Germany and the Industrial Revolution* (first published in 1915) remains unsurpassed for its sociological insight

B E Howard, *The German Empire*, New York, 1906

F K Kruger, *Government and Politics of Germany*, New York, 1915.

Th. Wolff, *The Eve of 1914*, New York, 1936

A Mendelssohn Bartholdy, *The War and German Society*, New Haven, 1937.

A Rosenberg, *The Birth of the German Republic, 1871–1918*, London, 1931.

English translations of the text of the Imperial Constitution of 1871 are found in W F Dodd, *Modern Constitutions*, volume I, Chicago-London, 1909, and in W. F. Wright, *The Constitutions of the States at War, 1914–1918*, Washington, 1919

5 The Revolution of 1918 and the Weimar Constitution

F Blachly & M Oatman, *The Government and Administration of Germany*, Baltimore, 1928

H Finer, *Theory and Practice of Modern Government*, 2 volumes, London, 1932

H Quigley and R T Clark, *Republican Germany*, London, 1928

James T Shotwell, *What Germany Forgot*, New York, 1940

J W Angell, *The Recovery of Germany*, New Haven, 1929

H G Daniels, *The Rise of the German Republic*, London, 1927

Paul Kosok, *Modern Germany*, Chicago, 1933

G P Gooch, *Germany*, London, 1925

E Luehr, *The New German Republic*, New York, 1929.

J Mattern, *Principles of Constitutional Jurisprudence of the German National Republic*, Baltimore, 1928

R E Emerson, *State and Sovereignty in Modern Germany*, London, 1928

H G Heneman, *The Growth of Executive Power in Germany*, Minneapolis, 1934

L Rogers (and others), "Aspects of German Political Institutions," *Political Science Quarterly*, vol 47 (1932), pp 321 ff, 576 ff

N Reich, *Labor Relations in Republican Germany*, New York, 1938

Antonia Vallentin-Luchaire, *Stresemann*, New York, 1931

J H Wheeler-Bennett, *Hindenburg, the Wooden Titan*, London, 1936

J. K Pollock, *German Election Administration*, New York, 1934

F M Watkins, *The Failure of Constitutional Emergency Powers under the German Republic*, Cambridge, 1939
Sigmund Neumann, *Die deutschen Parteien*, Berlin, 1932
T E Jessop, *The Versailles Treaty, Was It Just?* London, 1942
W M. Knight-Patterson, *Germany from Defeat to Conquest*, London, 1945
S W Halperin, *Germany Tried Democracy*, New York, 1946
Godfrey Scheele, *The Weimar Republic*, London, 1946
M. J Bonn, *Wandering Scholar*, New York, 1948
Leo Grebler & Wilhelm Winkler, *The Cost of the War to Germany and Austria-Hungary* in *Economic and Social History of the First World War*, Carnegie Endowment for International Peace (James T Shotwell, editor), New Haven, 1940.
Arnold Brecht, *Prelude to Silence*, New York, 1944

Books on Weimar by German authors with "hindsight"

Ferdinand Friedensburg, *Die Weimar Republik*, Berlin, 1946
Willibald Apelt, *Geschichte der Weimarer Verfassung*, Munich, 1946

English translations of the text of the Weimar Constitution are found, among others, in Blachly & Oatman, *op cit*, pp. 642 ff, H L McBain & L Rogers, *The New Constitutions of Europe*, New York, 1922, M W Graham, *New Governments of Central Europe*, New York, 1926 See also A Headlam-Morley, *The New Democratic Constitutions of Europe*, London, 1926, and A J Zurcher, *The Experiment with Democracy in Central Europe*, New York, 1933.

6 The Third Reich

Every student of Nazi Germany should thoroughly acquaint himself with the bible of the Third Reich, Adolf Hitler's *Mein Kampf*, Munich, 1925–26, two volumes (with many later editions, partly expurgated and polished) The German standard edition contains the two volumes in one Two unabridged English editions are available, one published by Reynal and Hitchcock, New York, 1939, with explanatory (and rather superfluous) notes by the editors, the other published by Stackpole Sons, New York, 1939 No translation, however, can convey the atmosphere of this remarkable book, written in the crudest of German styles, it contains, next to semi-delirious divagations of a half-baked and thoroughly uneducated mind, passages of uncanny insight into the mass mind and social psychology which will retain their interest for a long time to come

The Program of the National Socialist Party (the Twenty-five Points of 1920) is found in English translation, among others, in Lichtenberger, Schuman, Hill and Stoke, Rappard (for quotations see *infra*)

The most valuable and, as yet, almost untapped source of information on the socio-political structure and the actual management of the Third Reich are the eight volumes of documentary materials published by the Office of the United States Chief of Counsel for the Prosecution of Axis Criminality under the title, *Nazi Conspiracy and Aggression*, Washington, 1946

The Germans themselves are still inarticulate about their past experiences, and next to nothing of critical value on the Third Reich has been published by them

(1) The following books deal with the intellectual background and the spiritual ingredients of the National Socialist "world outlook"

(a) *Among the Nazi sources the most important are*

Joseph Gobbels, *My Part in Germany's Fight*, London, 1935
Hermann Goring, *Germany Reborn*, London, 1934
Alfred Rosenberg, *Der Mythus des XX Jahrhunderts*, 4th edition, Munich, 1932
A Moller van der Bruck, *Das Dritte Reich*, Berlin, 1923 (English translation, New York, 1934)
H. St Chamberlain, *Die Grundlagen des 19. Jahrhunderts*, Munich, 1899 (many later editions)

(b) *By opponents of the Nazi regime (written prior to the collapse):*

H Rauschning, *The Revolution of Nihilism,* New York, 1939
H Rauschning, *The Voice of Destruction,* New York, 1940
A Kolnai, *The War Against the West,* New York, 1938
Edmond Vermeil, *Doctrinaires de la révolution Allemande,* Paris, 1938.
R D Butler, *The Roots of National Socialism,* New York, 1942.
W M McGovern, *From Luther to Hitler,* Boston, 1941
Peter Viereck, *Metapolitics,* New York, 1941
Sigmund Neumann, *Permanent Revolution,* New York, 1942.

(2) The following biographies of Hitler and histories of the Nazi movement by anti-Nazis seem somewhat pale in retrospect

K Heiden, *A History of National Socialism,* London, 1931
K Heiden, *Adolf Hitler,* 2 volumes, Zurich, 1936–37 (in German)
R Olden, *Hitler,* London, 1936

(3) For the period of transition from Weimar to Hitler

R T Clark, *The Fall of the German Republic,* London, 1935
E A Mowrer, *Germany Puts the Clock Back,* new edition, New York, 1939
C B Hoover, *Germany Enters the Third Reich,* New York, 1933
Douglas Reed, *The Burning of the Reichstag,* New York, 1934

(4) Of the literature on the constitutional jurisprudence of the Third Reich by Nazi dogmatists (expressing the official "doctrine" of National Socialism), only the following are considered leading works

E R Huber, *Verfassung,* Hamburg, 1937
Th Maunz, *Verwaltung,* Hamburg, 1937
O Kollreutter, *Deutsches Verfassungsrecht,* 3rd edition, Berlin, 1938.
O Kollreutter, *Deutsches Verwaltungsrecht,* 2nd edition, Berlin, 1937
O Meissner & G Kaisenberg, *Staats- und Verwaltungsrecht im dritten Reich,* Berlin, 1935

(5) On National Socialist law and legal institutions, as seen by foreigners

Ernst Fraenkel, *The Dual State,* New York, 1941.
R Bonnard, *Le droit et l'état dans la doctrine National Socialiste,* Paris, 1936
H Mankiewicz, *Le National Socialisme Allemand, ses doctrines et leurs réalisations,* Paris, 1937
K Loewenstein, "Dictatorship and the German Constitution" (1933–1937), *University of Chicago Law Review,* vol 4 (1937), pp 537 ff
Raphael Lemkin, *Axis Rule in Occupied Europe,* Washington, 1944

(6) Descriptions of Nazi Germany, its institutions and intellectual environment, by foreign observers are legion

Stephen H Roberts, *The House That Hitler Built,* New York, 1937
H Lichtenberger, *The Third Reich,* New York, 1937
F L Schuman, *The Nazi Dictatorship,* 2nd edition, New York, 1936
J K Pollock, *The Government of Greater Germany,* New York, 1938
F A Ogg, *European Governments and Politics,* 2nd edition, New York, 1939, pp 605–800.

By formerly German authors of anti-Nazi attitude

F. M Marx, *Government in the Third Reich,* 2nd edition, New York, 1937
Albert C Grzesinski, *Inside Germany,* New York, 1939
Karl Loewenstein, *Hitler's Germany,* New York, 1939 (revised edition, 1940).
Franz L Neumann, *Behemoth. The Structure and Practice of National Socialism,* New York, 1942

(7) On National Socialist economics

M Ascoli & A. Feiler, *Fascism for Whom?* New York, 1938
V Trivanovitch, *Economic Developments of Germany under National Socialism,* New York, 1937
G. Reimann, *The Vampire Economy,* New York, 1939
W. F Bruck, *Social and Economic History of Germany from Wilhelm II to Hitler,* New York, 1938.
C W Guillebaud, *Economic History of Germany, 1933–1938,* London, 1939
Otto Nathan & Milton Fried, *The Nazi Economic System· Germany's Mobilization for War,* Durham, 1943.
Frieda Wunderlich, *German Labor Courts,* Chapel Hill, 1948
L Hamburger, *How Nazi Germany Controlled Business,* Washington, 1943
Douglas Miller, *You Can't Do Business with Hitler,* Boston, 1941
The Fate of Small Business in Nazi Germany, 78th Congress, Senate Committee Print No 14, Washington, 1943
Frank Munk, *The Legacy of Nazism,* New York, 1943
Herbert Rosinski, *German Industrial Mobilization,* New York, 1946

(8) Among numerous eye-witness reports these deserve mention

Andre François-Poncet, *The Fateful Years 1931–1939,* New York, 1949
William Edward Dodd, *Ambassador Dodd's Diaries 1933–1938,* New York, 1941.
William Lawrence Shirer, *Berlin Diary,* New York, 1941
Howard K Smith, *Last Train from Berlin,* New York, 1942.

The Nazi "elite" among themselves describe pungently

Ernest A Pope, *Munich Playground,* New York, 1941
Bella Fromm, *Blood and Banquets,* New York, 1943.

(9) On Nazi terror and persecution and the political police·

Balticus, "The Two G's Gestapo and GPU," *Foreign Affairs,* vol 17 (1939), pp 489 ff.
Eva Lips, *Savage Symphony,* New York, 1938.
G. Segar, *A Nation Terrorized,* Chicago, 1935.
K. Billinger, *Fatherland,* New York, 1935
W. Langhoff, *Die Moorsoldaten,* Zurich, 1933.
Eugen Kogon, *Der SS Staat, Frankfurt,* 1946 (in English under the title, *The Theory and Practice of Hell,* New York, 1950)
S. Payne Best, *The Venlo Incident,* London, 1950.

(10) On the Jewish problem

M Lowenthal, *The Jews in Germany,* New York, 1936
J G McDonald, *Letter of Resignation and Petition,* addressed to the XVIIth Plenary Assembly of the League of Nations
Nazi Germany's War Against the Jews, American Jewish Congress, New York, 1947
G Jacoby, *The Racial State,* New York, 1945

(11) On education, religion, and the cultural situation under National Socialism

A. S Duncan-Jones, *The Struggle for Religious Freedom in Germany,* London, 1938
A. Frey, *Cross and Swastika,* New York, 1938
J Neuhausler, *Kreuz und Hakenkreuz,* 2 volumes, Munich, 1946
N Micklem, *National Socialism and the Roman Catholic Church,* New York, 1939
H L Childs, *The Nazi Primer,* New York, 1938
B von Schirach, *Die Hitler-Jugend, Idee und Gestalt,* Berlin, 1934
E Y Hartshorne, *The German Universities under National Socialism,* Cambridge, Mass, 1937

H Bigot, *La chambre de culture Allemande dans le régime totalitaire du III^e Reich*, Paris, 1937

Max Weinreich, *Hitler's Professors*, New York, 1946.

Howard Becker, *German Youth, Bound or Free?* New York, 1946

Frederic Lilge, *The Abuse of Learning*, New York, 1948

(12) On special subjects dealing mostly with governmental institutions

A J Zurcher, "The Hitler Referenda," *American Political Science Review*, vol 29 (1935), pp 91 ff

J K. Pollock & A V Boerner, *The German Civil Service Act*, Chicago, 1938

R H. Wells, "The Liquidation of the German Lander," *American Political Science Review*, vol 30 (1936), pp 350 ff

A V Boerner, "The Position of the NSDAP in the German Constitutional Order," *American Political Science Review*, vol 32 (1938), pp 1059 ff

H Rosinski, *The German Army*, New York, 1940

John H Herz, "German Administration under the Nazi Regime," *American Political Science Review*, vol 40 (1946), pp 682 ff

(13) On the 20th of July, 1944, conspiracy·

Allen W Dulles, *Germany's Underground*, New York, 1947

Hans Rothfels, *The German Opposition to Hitler*, Hinsdale, Ill , 1948

Hans Bernd Gisevius, *To the Bitter End*, Boston, 1947

Ulrich Von Hassell, *The Von Hassell Diaries 1938–1944*, Garden City, 1947

Rudolf Pechel, *Deutscher Widerstand*, Zurich, 1947

Wolfgang H Kraus & Gabriel A Almond in Gabriel A Almond (and associates), *The Struggle for Democracy in Germany*, Chapel Hill, 1949, pp 33 ff, 64 ff

(14) On Hitler's influence on the conduct of the war

Franz Halder, *Hitler as War Lord*, London, 1950

B H Liddell Hart, *The German Generals Talk*, New York, 1948

Hans Speidel, *Invasion 1944*, Chicago, 1950

Milton Schulman, *Defeat in the West*, New York, 1948

Felix Gilbert, *Hitler Directs the War*, New York, 1950

(15) On Hitler's and the Third Reich's end

H. R Trevor-Roper, *The Last Days of Hitler*, New York, 1947.

Gerhardt Boldt, *Die letzten Tage der Reichskanzlei*, Hamburg-Stuttgart, 1947

(16) For German descriptions of the situation of the Third Reich see also,

Erich Kordt, *Wahn und Wirklichkeit*, Stuttgart, 1949

Friedrich Meinecke, *The German Catastrophe*, New York, 1950

In a more metaphysical vein, visualizing the German disaster in the context of European disintegration

Alfred Weber, *Abschied von der bisherigen Geschichte*, Heidelberg, 1946

Karl Jaspers, *Die Schuldfrage, Heidelberg, 1946* (English edition *The Question of German Guilt*, New York, 1947).

(17) Frequently more illuminating on daily life under Nazi rule than books devoted to the description of political institutions are the reports of visiting newspapermen and non-professional observers, some of them in novelistic form

Nora Waln, *Reaching for the Stars*, Boston, 1939

Margaret Kent, *I Married a German*, New York, 1938

G E R. Gedye, *Betrayal in Central Europe*, New York, 1939

Ch W Domville-Fife, *This Is Germany*, London, 1939

Martha Dodd, *Through Embassy Eyes*, New York, 1939.

(18) English translations of some important pieces of National Socialist legislation are found in:

J K. Pollock and J H. Heneman, *The Hitler Decrees*, 2nd edition, Ann Arbor, 1934.
W. E. Rappard (and others), *Source Book on European Governments*, New York, 1937
N. J Hill and H W. Stoke, *The Background of European Governments*, new edition, New York, 1939, pp. 373–468
W C Langsam, *Documents and Readings in the History of Europe since 1918*, New York, 1939, pp 646–738
National Socialism, Department of State Publication 1864, Washington, 1943

7 Germany since 1945

(1) Official publications.

There is hardly any other segment of recent political history that has been accompanied by as much official reporting, information, and analysis as American Military Government in Germany The (at first monthly, later quarterly) Reports of the Military Governor, together with the Reports of the various Divisions of AMG (for example, Civil Administration, Law, Education, Economics) constitute the most comprehensive self-portrayal of MG activities in every imaginable field But the factual value of this material exceeds its interpretative qualities Understandably, successes in reconstruction were more stressed than failures, and, in a military hierarchy, critical attitudes of the lower echelons were discouraged when their findings were digested in the final Reports at the highest level Nonetheless, for the study of any specific aspect of the occupation these sources are indispensable

Since the establishment of the High Commission the Office of the United States High Commissioner issues (less detailed) survey reports every quarter (beginning September 21, 1949) with excellent statistical material.

Most of the essential documents are found in Department of State Publication 2783, European Series 23 (published August, 1947) and Publication 3556, European and British Commonwealth Series 9 (released March, 1950). See also the Chronological Tables on Germany, 1947–1949, prepared by the Civil Administration Division of OMGUS

The texts (in both German and English) of the German *Laender* constitutions (excluding those of the British zone) are conveniently collected in an issue published by the Civil Administration Division in 1947 The official (though in places debatable) translation of the *Basic Law of the Federal Republic of Germany* is found in Publication 3556, pp 283 ff

(a) *Legislative material.*

For the *Control Council* Official Gazette of the Control Council (in three languages [Nos 1–18]), for *AMG* Military Government Gazette *Germany*, United States Area of Control (the issues are lettered A–O), for *HICOG* Official Gazette of the Allied High Commission for Germany (in three languages), the Gazette contains also the legislative material currently enacted for an individual zone of occupation only

(b) *German legislation*

For *federal legislation* of Western Germany consult the *Bundesgesetzblatt*, for *Eastern Germany*, the corresponding *Gesetzblatt* For the *combined economic area Gesetz- und Verordnungsblatt der Verwaltung des Vereinigten Wirtschaftsgebiets* (Nos 1–32, August 21, 1947 to August 30, 1949) In addition, each *Land* has its individual Law Bulletin or Gazette

For selected pieces of documentary material see also J K Pollock, J H Meisel, and H L Bretton, *Germany under Occupation*, Ann Arbor, rev edition, 1949

Excellent materials on all aspects of German reconstruction are found in the (unofficial) *Deutschland-Jahrbuch 1949*, edited by Klaus Mehnert and Heinrich Schulte, Essen, 1949

(2) General books concerning Germany after the collapse:

Henry J Morgenthau, Jr, *Germany Is Our Problem,* New York, 1945 The study of the original will rectify to some extent the subsequent distortion of the famous "Morgenthau Plan"

Louis Nizer, *What To Do With Germany,* New York, 1944.

Richard N Bricker, *Is Germany Incurable?* New York, 1943 Of significance for the medical and psychiatric interpretation

Ferdinand A Hermens, *The Tyrant's War and the People's Peace,* Chicago, 1944 The thesis of the "good German people" and their "wicked rulers"

Arnold Brecht, *Federalism and Regionalism in Germany,* New York, 1945 A balanced, competent appraisal of the federalist forces and requirements of German reorganization.

Robert E Dickinson, *The Regions of Germany,* London, 1945 Valuable analysis of geographical conditions

Friedrich W Foerster, *Europe and the German Question,* New York, 1940 A pessimistic forecast of an implacable anti-Nazi who is a good European

James Stern, *The Hidden Damage,* New York, 1947 Perhaps the most stirring eyewitness report on what moral injury the Nazi regime has inflicted on the German character

James P Warburg, *Germany, Bridge or Battleground?* New York, 1947 Analyzes objectively the position of Germany between the East and the West

Pro-German discussions

Gustov Stolper, *German Realities,* New York, 1948

Karl Brandt, *Germany, Key to Peace,* Clarement, 1949

(3) Comprehensive reviews of American and Allied policies after 1945:

Lucius D Clay, *Decision in Germany,* Garden City, 1950 The story of the official policy on Germany and its execution authoritatively told by the former Military Governor A leading book written by a leader, amply documented, but in places understandably more an apologia than an objective report and not without factual inaccuracies

Gabriel Almond (and Associates), *The Struggle for Democracy in Germany,* Chapel Hill, 1949 A symposium of monographs with valuable bibliographical notes Eugene N Anderson's chapter, "Freedom and Authoritarianism in German History," is among the best discussions of this subject

The Annals of the American Academy of Political and Social Science, *Postwar Reconstruction in Western Germany* (November, 1948), containing informative articles by German experts, *Military Government* (January, 1950), with contributions by persons familiar with occupation activities.

Of the numerous reports by experienced newspapermen covering the German scene the following are among the most brilliant and critical.

Delbert Clark, *Again the Goosestep,* New York, 1949

Drew Middleton, *The Struggle for Germany,* New York, 1949

Russell Hill, *The Struggle for Germany,* New York, 1949

Arthur Settel (editor), *This Is Germany,* New York, 1950

(4) On Military Government

The following list includes also books which, beyond dealing with MG organization proper, evaluate MG's activities

Hajo Holborn, *American Military Government, its Origins and Policies,* Washington, 1947 Primarily the diplomatic and intergovernmental history.

Harold Zink, *American Military Government in Germany,* New York, 1947 Valuable for the early stages of MG developments, but overemphasizing its technical aspects

Carl J Friedrich (and Associates), *American Experiences in Military Government in World War II,* New York, 1948

W Friedmann, *The Allied Military Government of Germany,* London, 1947 Deals primarily with British organization and experience

Richard W van Wagenen, "Cooperation and Controversy among the Occupying Powers in Berlin," *Journal of Politics,* vol 10 (1948), pp. 73 ff By a former American member of the Allied Secretariat

The specialist in American Military Government courts is Eli N. Nobleman For some of his evaluations see *Federal Bar Journal,* vol 8 (1946), pp 70 ff, *ibid*, vol. 9 (1947), pp 212 ff

(5) Individual aspects of the occupation policies·

(a) *The Nuremberg Trials:*

Victor H Bernstein, *Final Judgment,* New York, 1947

Robert M. Jackson, *The Nuremberg Trial,* New York, 1947 The author was Chief Prosecutor and one of the intellectual promotors of the new international law created by the trials

Telford Taylor, *Nuremberg Trials, War Crimes and International Law,* New York, 1949

G M Gilbert, *Nuremberg Diary,* New York, 1947 A psychiatrist's observations on the behavior of the indicted.

Quincy Wright, "The Law of the Nuremberg Trial," *American Journal of International Law,* vol 41 (1947), pp 38 ff.

Franz B. Schick, *The Nuremberg Trial and the International Law of the Future, ibid*, pp 770 ff

Sheldon Glueck, *The Nuremberg Trials and Aggressive War,* New York, 1946 Probably the most balanced discussion of a most controversial subject

Hans Ehard, "The Nuremberg Trial against the Major War Criminals and International Law," *American Journal of International Law,* vol 43 (1949), pp 223 ff The German viewpoint, presented by the Minister President of Bavaria

Carl Haensel, *Das Gericht vertagt sich,* Hamburg, 1950 By one of the German counsels for the defendants

Montgomery Belgion, *Victors' Justice,* New York, 1949 Violently anti-American and pro-German attack against Nuremberg's principles and proceedings

(b) *On expellees.*

The issue, to all intents and purposes the most crucial of German internal developments, is unduly neglected in American literature

Millionen ohne Heimat, published Frankfurt, 1950, by the *Institut zur Forderung offentlicher Angelegenheiten* (with an extensive bibliography by Werner Mohring).

(c) *On denazification*

Though the most discussed reconstruction issue, denazification still awaits a comprehensive and fully documented study About the best discussion available is

John H. Herz, "The Fiasco of Denazification in Germany," *Political Science Quarterly,* vol 63 (1948), pp 569 ff

Elmer Plischke, "Denazification Law and Procedure," *American Journal of International Law,* vol 41 (1947), pp 807 ff

(d) *On legal reconstruction*

Karl Loewenstein, "Reconstruction of the Administration of Justice in American-Occupied Germany, *Harvard Law Review,* vol 61 (1948), pp 419 ff

Karl Loewenstein, "Law and the Legislative Process in Occupied Germany," *Yale Law Journal,* vol 57 (1948), pp 724 ff, 994 ff

Walter Hallstein, *Die Wiederherstellung des Privatrechts,* Tubingen, 1946

(e) *On economic policies of the occupation*

B U Ratchford and W D. Ross, *Berlin Reparations Assignment,* Chapel Hill, 1947 The sad story of the fate of the level-of-industry agreement in the Control Council, told by two American officials participating in the negotiations

Howard Watson Armbruster, *Treason's Peace,* New York, 1947 How American Military Government, divided against itself, failed to break the power of the I G Farben trust

K Koranyi, *The Ruhr Area,* Washington, 1949

James Stewart Martin, *All Honorable Men,* Boston, 1950 The former Chief of the Decartelization Branch of OMGUS reveals the nullification of the Allied decartelization policy by an alliance of American and German big business interests with whom General Clay sided

Freda Utley, *The High Cost of Vengeance,* New York, 1949. A violent indictment of the Allied dismantling policy

(f) *On education and cultural affairs*

M. M Knappen, *And Call It Peace,* Chicago, 1947 Aspirations and failures of AMG policies in education and religious affairs, by a former official of OMGUS

Helen Liddell, *Education in Occupied Germany,* New York, 1949

Thomas Carr Howe, *Salt Mines and Castles,* Indianapolis, 1946 The successful recovery of the art treasures absconded by the Nazis

(6) German Government and constitutions

There is as yet no major critical study of the evolution of constitutional government in Germany since 1945

(a) *On the Laenderrat*

Heinz Guradze, "The Landerrat, Landmark in German Reconstruction," *Western Political Quarterly,* vol 3 (1950), pp 190 ff The entire legislation of the *Laenderrat* was published (Ruth Picht-Hempken, editor) under the title *Sammlung der Landerratsgesetze,* Dusseldorf, 1950

(b) *On the German Land constitutions*

Harold O Lewis, *New Constitutions in Occupied Germany,* Washington, 1948 (dealing also with those in the Soviet zone)

Early developments are summarized by Karl Loewenstein, "Political Reconstruction in Germany, Zonal and Interzonal," in James K Pollock, *Change and Crisis in European Government,* New York, 1947, pp 29 ff, and James K Pollock, *Germany under Military Occupation, ibid.,* pp 45 ff

Robert G Neumann, "New Constitutions in Germany," *American Political Science Review,* vol 42 (1948), pp 448 ff and William Fleming, "German Post-War Constitutions," *Current History,* vol 14 (1948), pp 219 ff and 289 ff are little more than summarizations

Claude-Albert Colliard, "L'Organisation des Pouvoirs Publics dans les Constitutions des 'Pays Allemands,'" *Revue du Droit Public,* vol 64 (1948), pp 452 ff (a first-rate functional study)

(c) *On the Bonn Constitution*

Arnold Brecht, "The New German Constitution," *Social Research,* vol 16 (1949), pp 425 ff A thoroughly informed, solid, and critical analysis

Carl J Friedrich, "Rebuilding the German Constitution," *American Political Science Review,* vol 63 (1949), pp 461 ff, 704 ff Superficial and opinionated

Ferdinand A Hermens, *Mehrheits-oder Verhaltniswahlrecht?* Berlin-Munich, 1949

(d) *The elaborate treatises and commentaries on the constitutions in which German jurisprudence excelled under the Empire and Weimar, are slow in coming There are some on individual Land constitutions For the Bonn Constitution see.*

Hermann von Mangoldt, *Das Bonner Grundgesetz,* Berlin-Frankfort, 1950 (in process of publication)

Friedrich Giese, *Grundgesetz fur die Bundesrepublik Deutschland,* Frankfurt, 1949

Hans Naviasky, *Die Grundgedanken des Grundgesetzes fur die Bundesrepublik Deutschland,* Stuttgart and Koln, 1950, a strictly legalistic discussion, without interest in the functional approach

Werner Weber, *Weimarer Verfassung und Bonner Grundgesetz,* Gottingen, 1949.

(7) On the Soviet zone

Reliable information is hardly available The best seems

Franz L Neumann, "German Democracy 1950," *International Conciliation,* no 461 (May, 1950)

Gordon Schaffer, *Russian Zone of Germany,* New York, 1948, finds as much to praise as Werner Knop, *Prowling in the Forbidden Zone,* New York, 1949, is unable to find anything good

Alfons Steiniger, *Das Block-System,* Berlin, 1949 A clever defense of the technique to achieve parliamentary "unanimity."

The Government and Politics of the USSR

by MICHAEL T. FLORINSKY

Part I. *RUSSIA BEFORE THE BOLSHEVIK REVOLUTION*

CHAPTER I

IMPERIAL RUSSIA[1]

HISTORICAL BACKGROUND OF ABSOLUTISM

Beginning of the Russian State. The early history of the Russian State contains many elements of uncertainty The Grand Duchy of Kiev, the cradle of the future empire, made its appearance on the Dnieper in the second half of the ninth century and up to the middle of the twelfth exercised a vague quasi-patriarchal jurisdiction over a number of principalities and city-states scattered along the rivers of the Russian plain In the second quarter of the thirteenth century Russia was conquered by the Mongols, who moved irresistibly westward from the uplands of Central Asia The "Tartar yoke," as this period is traditionally known in Russian history, lasted for over two centuries Although the effective control of the Mongol khans over their Russian domain was practically suspended by the middle of the fifteenth century and was actually terminated somewhat earlier than 1480, that year is usually given as the date of Russia's liberation from foreign rule It was chiefly because of the disintegration of the Mongol Empire that Russia was finally able to regain her status as an independent state

Unification under Moscow. From the early part of the fourteenth century the Grand Dukes of Moscow became the central figures in the painful and tortuous process of the unification of the country, which was divided into a number of small quasi-independent principalities They leaned heavily on the assistance of the Mongol rulers whose favors they courted, they also found powerful support for their dynastic ambitions in the landed aristocracy, the *boyars*, and in the Church, which had accumulated immense landholdings The landowners were the first to suffer from internal strife among the princes, and naturally gravitated toward the new political center, Moscow The emergence of the Muscovite absolutism may be traced to the last years of the rule of Vasili II of Moscow (1425–1462) who, after a protracted and bloody

[1] The dates in Chapters I and II are given according to the old Russian calendar which in the twentieth century is thirteen days behind the Western calendar In subsequent chapters the Western calendar has been used

struggle with other princes, succeeded in establishing Moscow's political supremacy

Influence of the Church. The creation of a national Russian State was favored by the *de facto* emancipation of the Russian Church from its dependence on Byzantium Christianity came to Russia from Constantinople at the end of the tenth century Until the middle of the fifteenth century Russia was considered as a metropolitanate, ruled in ecclesiastical matters by the Patriarch of Constantinople, who consecrated the Russian metropolitan The breach between the Russian and the Byzantine Churches occurred after the Ferrara-Florence Council (1438–1439) when the Greek Church accepted the union with Rome Moscow refused to bow to this decision and, although the Greek Church eventually repudiated the union, the Russian metropolitans from 1448 on, while nominally elected and consecrated by a council of Russian bishops, were actually appointed by the Moscow Grand Dukes and later by the Tsars. With the establishment of the Russian Patriarchate in 1589 the Russian Church became officially autocephalous While Mongol influences also contributed to the growth of autocracy, Byzantine tradition had an important part in framing Muscovite absolutism, for the Church invariably fought for the preservation of the unity of the Russian metropolitanate and proclaimed the divine origin of the secular power

Muscovite Absolutism In the second half of the fifteenth century Muscovite absolutism had definitely come into existence. Political authority over a unified country was concentrated in the hands of the Moscow Grand Dukes who ruthlessly exterminated whatever independence the landed nobility had enjoyed in the past The Mongol rule was gone The Russian Church, for all practical purposes independent of Constantinople (which fell under the Turkish domination in 1453), became an obedient tool of the occupants of the Moscow throne In 1547 Ivan IV the Dread officially assumed the title of Tsar, a title loosely used by his predecessors The revolutionary era, beginning early in the seventeenth century and known as the Time of Troubles, failed to produce any important change in the political structure of the Russian State, and the founder of the Romanov dynasty, Tsar Michael, who came to the throne in 1613, was clothed with all the traditional powers of autocracy. But at the beginning of the eighteenth century came the reforms of Peter the Great, reforms that were from many points of view a definite breach with the past However, while they introduced a number of institutions that survived until the Revolution of 1917, they did nothing to detract from the authority of the Crown whose prestige was further enhanced by Peter's assumption of the more resounding title of Emperor (1721) Nor were any important modifications in the structure of the central Government introduced by Peter's successors in the eighteenth century The complexity of the administration was growing with the rapid expansion of the national territory and the continuous appearance of new problems demanding solution, problems that were dealt with according to the light of St Petersburg chanceries, which usually meant very badly indeed The unflattering description of the Russian Government as

a despotism tempered by anarchy, that is, by inefficiency and lack of coordination between the various organs of administration, was a fairly accurate statement of the conditions prevailing at the beginning of the nineteenth century

THE REFORMS OF SPERANSKY AND OF ALEXANDER II

Alexander I. Emperor Alexander I (1801–1825) had little admiration for the Russian form of government which he regarded as despotism, he was continually scheming for the introduction of a constitutional monarchy, to him the only "true monarchy" Of the several projects of constitutional reform prepared during his reign, however, only one had any influence upon the organization of the Russian Government. M M. Speransky, who enjoyed the confidence of the Emperor, was entrusted in 1808 with the task of drafting a comprehensive plan of reorganization The ablest statesman Russia ever had, Speransky produced in 1809 a detailed report which is considered by the Russian constitutional lawyers to be one of the outstanding documents of its kind The plan of Speransky, based on the strict separation of powers—legislative, judicial, and executive—provided for a remarkably logical structure of institutions to be freely chosen by the population, although Speransky did not contemplate the emancipation of the serfs, who were therefore to remain unenfranchised The Emperor stood at the head of the entire governmental structure and was to be assisted by an advisory body, the State Council, which was to consider every measure, whether legislative, judicial, or administrative, before it was submitted to the head of the Government The executive branch of the Government was to be reorganized by putting each ministry under a minister responsible for the work of his department; by delimiting carefully the functions of each ministry, and by removing excessive centralization within the departments themselves, thus relieving the ministers of a mass of routine work so that they might devote their time to the more important problems

The State Council and the Ministries. The new State Council actually came into existence on January 1, 1810, and the ministries established in 1802 were reorganized on June 1, 1811 The major part of the contemplated reform, however, was abandoned The resumption of the war against Napoleon and Speransky's sudden disgrace in March, 1812, brought the process of reorganization to an abrupt end. Modest as were the changes accomplished, they were not without effect upon the constitutional machinery of Russia. The Manifesto of January 1, 1810, became the source of Article 47 [2] of the Fundamental Laws which proclaimed that "the Russian Empire is governed on the firm foundation of the laws . emanating from the Autocratic Power (the Crown)" This article was construed to mean that every bill was to be submitted to the deliberation of the State Council and that once enacted into law it was to be binding on the monarch so long as it was not repealed. Nothing, however, prevented the Emperor from changing the laws He nominated the members of the State Council and was under no obligation to follow the

[2] Article 84 in the revised edition of 1906, reference to autocratic power was dropped

advice tendered by the assembly. Therefore no effective limitation of autocracy was imposed by the constitutional changes of 1810 The reorganization of the ministries was of greater practical importance It brought into existence that modernized Russian bureaucracy which very largely and not entirely without success governed the Empire in the name of the Tsar until the regime was engulfed in the Revolution of 1917.

Nicholas I. The reign of Nicholas I (1825–1855), which opened with the ruthless suppression of the well-intentioned but poorly organized and badly executed revolutionary uprising of a group of aristocrats and liberals known as the Decembrists, was a period of extreme reaction, a regime sternly administered by the unimaginative methods of the drill sergeant Yet it was not entirely barren of results from the point of view of the organization of government Speransky returned to active political life and undertook the gigantic task of codifying the Russian laws, which had never been brought together since the publication of the Code (*Ulozhenie*) of 1649, a collection that was inadequate even at the time it was issued Speransky's difficult enterprise was completed in 1833 with the publication of (1) the "Full Collection of the Laws of the Russian Empire" which contained all the legislative enactments from those embodied in the Code of 1649 to those issued in the reign of Alexander I, and (2) "The Code (*Svod*) of Laws of the Russian Empire," a systematic collection in fifteen volumes of the laws still in operation Arrangements were also made for the later amendment and revision of these collections. For the first time in the history of the country it became possible to ascertain what actually were the laws governing the Empire.

Reforms of Alexander II. During the long rule of Nicholas I there was growing recognition of the fact that far-reaching reforms could not be indefinitely postponed, and the necessity of a change was admitted by the Emperor himself Reform was not undertaken, however, until the reign of his successor, Alexander II (1855–1881), and was then at least in part due to the rude shock of Russia's crushing defeat in the Crimean War. The so-called Great Reforms of Alexander II, "The Tsar Liberator," comprised the emancipation of the peasants (February 19, 1861), the reorganization of the *zemstvo* or institutions of local government (1864), the modernization of the judiciary (1864), the revision of the structure of municipal government (1870), the introduction of conscription to be borne equally by all social groups (1874) and to include the nobility, who since the eighteenth century had been exempted from compulsory military service Measures were also taken for the unification of the budget, which for the first time was made public (1862). The universities, all of them State institutions, received a considerable degree of autonomy in their inner organization (1863) Although these reforms were of paramount importance and opened to Russia the road toward progress and development on which the other European nations had preceded her, they did nothing to limit the autocratic powers of the Crown The persistent demands of the various social groups, especially of the nobility, who were more likely to gain a hearing, for the creation of an elective repre-

sentative assembly were invariably rejected It became clear that the Great Reforms had stopped short of the establishment of a constitutional monarchy The wide-spread feeling of disappointment and discontent stimulated the activities of the underground revolutionary organizations and a number of terroristic attempts culminated on March 1, 1881, in the murder of Alexander II

The Loris-Melikov "Constitution." His successor, Alexander III (1881–1894), had little liking for constitutional reforms On the morning of the fatal day of March 1, Alexander II had approved the project of Count M T Loris-Melikov for the creation of a purely advisory committee consisting of members nominated by the Crown and those elected by the institutions of local government The committee was to examine the bills which were then to be submitted to the State Council The committee's decisions, however, were to be binding on neither the State Council nor the Emperor. For reasons that it is difficult to comprehend this modest "concession" to public opinion is often referred to as the "Loris-Melikov Constitution" It was shelved after Alexander II's murder and Alexander III proclaimed on his accession to the throne his unreserved devotion to the immovable principles of autocracy. To them he remained faithful throughout his reign

THE CONSTITUTIONAL CHANGES OF 1905 AND 1906

Nicholas II. Nicholas II (1894–1917), the son of Alexander III, fully shared his father's aversion to a constitutional monarchy The hopes for reform which were revived after the death of Alexander III were immediately shattered by Nicholas' contemptuous reference to them as "senseless dreams" Under him the regime of political reaction was, if possible, further intensified Police measures multiplied and increased in severity, stimulating the activities of the revolutionary organizations and the discontent of the liberal groups In 1904–1905 Russia was defeated in the Russo-Japanese War and the revolutionary movement made rapid progress, reaching its zenith in the autumn of 1905. The country was in a state of turmoil The peasants burned down the manor houses and plundered large estates The army in Manchuria displayed a rebellious spirit The strike movement was rapidly spreading among the industrial workers The liberal groups were clamoring for constitutional reforms The Emperor attempted to weather the storm by announcing on August 6, 1905, the impending election of a newly-created assembly, the State Duma, which, however, was to function in a purely advisory capacity. This gesture failed to produce the desired effect Revolutionary disturbances continued to grow in volume. A general strike took place in October and Soviets or Councils of Workers' Deputies sprang up in the capital and in other cities Further concessions from the Government were imperative

Manifesto of October 17, 1905. The Imperial Manifesto of October 17, 1905, granted to the population the fundamental civil liberties—freedom from arbitrary arrest, freedom of opinion, of the press, of assembly, and of organization The Manifesto also promised the extension of the franchise for the election to the State Duma and announced the "immutable rule that no law

shall become effective without the approval of the State Duma and that the elected representatives of the people shall be given the opportunity to participate effectively in the control over the activities of the officers appointed by Us (the Crown) to insure the conformity of such activities with the law" The promised extension of the franchise was enacted on December 11, 1905. In the meantime the revolutionary movement had subsided somewhat and the Government, headed by Count S J Witte, retreated from its previous position. The Manifesto of February 20, 1906, revised the charter of the State Council "to bring it in line with the principles announced in the Manifesto of October 17, 1905." In fact, however, it violated if not the letter at least the spirit of the October Manifesto by laying down the rule that legislative bills must be approved not only by the Duma but also by the State Council The old Fundamental Laws were revised, amended, and reissued on April 23, 1906 These revised statutes are regarded by some authorities as forming the Russian Constitution, although the term *constitution* was never officially used

THE MONARCH

The Constitutional Monarchy. While the changes of 1905–1906 imposed definite limitations on the legislative powers of the Crown the Emperor continued to occupy a central position in the constitutional machinery of the State According to Article 4 of the Fundamental Laws, "To the Emperor of all the Russias belongs the supreme autocratic power To obey his commands not merely from fear but according to the dictates of one's conscience is ordained by God himself" The term "autocratic power," which appeared not only in Article 4 but also in Article 6, and even more the expression "unlimited Autocrat" in Article 222 gave much trouble to the Russian constitutional lawyers who, however, displayed great ingenuity in attempting to reconcile the irreconcilable autocracy with constitutional monarchy The most satisfactory explanation would seem to be that the use of the term "autocratic" and "Autocrat" was due to faulty drafting, of which the Fundamental Laws offer many instances.

The Crown and the Legislature. The participation of the Crown in the legislative process was safeguarded by the provision that "no bill shall acquire the force of a law without the approval of the State Duma and the State Council and the sanction of the Emperor" The latter had the exclusive right to initiate bills affecting the Fundamental Laws To the Emperor also belonged the right to convoke and prorogue the legislative chambers and to dissolve them, with the sole limitation that they should be convoked every year. The Emperor had the right of legislative veto, a prerogative that Nicholas II used only twice Half of the members of the upper chamber, the State Council, and its president were appointed by the Emperor

The Crown and the Executive. The control of the executive branch of government was in the hands of the Emperor He was empowered to issue decrees dealing with administrative matters, provided that such decrees were not in contravention of the law. He appointed the higher government officials,

and the ministers who formed the Government were responsible to him alone As the titular head of the administrative machine the Emperor held wide powers over the government officials upon whom he conferred distinctions or to whom he meted out punishment. It was the Emperor's exclusive right to proclaim a "state of emergency," when civic guarantees were suspended and the discretionary powers of the administrative officers were greatly increased A "state of emergency" was the normal regime in the Russia of 1905–1914 The Emperor was also the head of the military forces The conduct of foreign relations, the declaration of war and the conclusion of peace, the negotiation of treaties and diplomatic relations in general were among his prerogatives Justice was administered in his name and he enjoyed the right of pardon or revision of sentences The Emperor was the official head of the Russian Church which was governed through the Holy Synod The Emperor himself must be a member of the Greek Orthodox Church, of which he was the official protector The throne passed by inheritance, according to the principle of primogeniture, in the male line of the Romanov family and, in case of its extinction, in the female line

THE STATE COUNCIL

Structure of the State Council. The State Council was the upper house of the Russian Parliament Half of its members were elected by certain social groups and institutions and the other half were appointed by the Crown The law divided the State Council, very "inelegantly" according to one authority, into the "State Council" (a legislative body) and the "Departments and Special Boards of the State Council," a confusing terminology where "State Council" appeared both as the whole and as a part The "Departments and Special Boards," purely administrative agencies, consisted exclusively of the appointed members of the Council and had nothing to do with its legislative work The functions of the two component elements of the State Council were entirely different and the law made no provision for the integration of these activities

Appointed Members of the State Council. The appointed members of the State Council were divided into active members, that is, those participating in the work of the Council, and inactive members who did not take part in the deliberations of that body but merely enjoyed an honorary title The number of appointed active members was not to exceed that of the elected members (one hundred) The Government adopted the practice, the legality of which has been rightly questioned, of issuing on January 1 of each year a list of active members This procedure effectively destroyed the permanency of tenure granted to the appointed members by the law which provided that they could not be removed from office except at their own request The transfer to the inactive list was for all practical purposes equivalent to dismissal, and in the hands of the executive was a powerful weapon for exercising pressure upon the appointed members of the upper chamber Until the outbreak of the War of 1914 the Crown seldom used its power to transfer members of the

Council from the active to the inactive list During the War, however, such transfers became numerous Assuming a distinctly punitive character, they undermined whatever little prestige the State Council might have enjoyed

Elected Members of the State Council. The elected members of the State Council were chosen separately by each of the following six groups the clergy (six members), the *zemstvo* or institutions of local government (fifty-six members), the nobility (eighteen members), the Academy of Science and the universities (six members), commerce and industry (twelve members), the Diet of Finland (two members) The election of the representatives from the clergy was largely nominal, the actual selection of the members of the upper chamber being determined either by the local bishops or by the Holy Synod The representatives from the *zemstvo* were elected directly, all the others indirectly, that is, in two stages For instance, the universities and the Academy of Science chose delegates who assembled in the capital and elected from among their number six members of the State Council Particularly high property and other qualifications were required of *zemstvo* members, thus ensuring representation from the well-to-do classes. The members from the *zemstvo* were elected for three years, all the others for a full term of nine years One-third of the members from each group, however, were replaced every three years, the names of those to be retired being determined by lot The elected members of the State Council could not be considered as representing the country at large, either from a social or from a geographic standpoint More than three-quarters of their number belonged to the wealthy landed proprietors of the central provinces, a group that also supplied a large majority of the appointed members of the Council. As a safeguard against progressive, not to mention radical, legislation, the upper chamber of the Russian Parliament left nothing to be desired, but it had no claim to either a democratic or a representative character

THE STATE DUMA

Franchise and the Law of June 3, 1907. The lower house of the Russian Parliament, the State Duma, which came into existence by virtue of the Manifesto of October 17, 1905, and subsequent legislation, was, unlike the State Council, a purely elective chamber The relatively broad franchise provided by the Act of December 11, 1905, resulted in the election of an assembly with definitely liberal and even radical tendencies The First Duma was dissolved after a few stormy weeks (June, 1906) The Second Duma, which met in the spring of 1907, proved to be even less manageable and was dissolved on June 3. On the same date the Government, headed by P A Stolypin, promulgated a law that greatly curtailed the franchise and made it possible for the authorities to manipulate the elections so as to achieve their political aims The Act of June 3, 1907, was a violation of the Fundamental Laws which specifically provided that the election law could not be changed without the sanction of the legislative chambers. The Government, undoubtedly aware of

the illegality of the measure it took, could find no better legal argument to justify it than to declare that the Tsar was using his "historic powers" and that he was accountable to God for the fate of the Russian realm This Act controlled the elections to the Third and Fourth (which proved to be the last) Dumas It introduced a form of election procedure that has often been described as the most involved and complex in the world The resulting suffrage was not universal, nor was it direct or equal Without going into the bewildering details of this ingenious puzzle of election procedure it may be noted that the electorate was divided into four main groups which were to choose separately their representatives to the electoral college that finally elected the deputies These four groups were the landowners (other than peasants), the urban population, the peasants, and the industrial workers There were further subdivisions within the groups of landowners and the urban population, and property qualifications played an important part in determining the right to vote Direct elections, that is, voting for the deputies themselves, were held in only five cities (St Petersburg, Moscow, Kiev, Odessa, and Riga). Everywhere else elections were indirect and were completed in two, three (industrial workers), or even four (peasants) stages The three- and four-stage elections were unknown in the law of any other country The final choice of the deputies was decided at a general meeting of the electors in each province The law provided that the electoral college must first choose one deputy from each of the groups into which the electorate was subdivided The election of a deputy from among the industrial workers, however, was mandatory in only six industrial provinces (St Petersburg, Moscow, Vladmir, Ekaterinoslav, Kostroma, and Kharkov) The rest of the quota of deputies for each province could be selected from among the members of the electoral college, irrespective of their belonging to one or another group Since the landowning interests as a rule controlled the electoral college, these interests really decided who was to represent the industrial workers and the peasantry in the Duma Under these conditions radical elements had little chance to send their spokesmen to the lower chamber The Law of June 3, 1907, moreover, conferred upon the Minister of the Interior wide discretionary powers permitting him to split the electorate into small electoral districts on the basis of residence, property qualifications, or race. Each of these districts chose its own electors The Government thus enjoyed practically unlimited opportunities for influencing the final outcome of the ballot, a privilege of which it made extensive use in the elections to the Third and Fourth Dumas One consequence of these manipulations was the truly amazing increase in the number of priests among the deputies in the Third and Fourth Dumas and the noteworthy shift in their political allegiance For a majority of the Russian clergy were obedient tools in the hands of their ecclesiastical superiors, who themselves were tools of the Government The First Duma had six priests, of whom four were either liberals or radicals; the Second Duma had thirteen ecclesiastics, including two bishops, of whom eight were liberals or radicals. The Third Duma

had forty-five and the Fourth forty-six ecclesiastics none of whom belonged to the radical or liberal parties, while the vast majority sided with either the Right or the extreme Right

Unrepresentative Character of the Duma. Determination of the number of deputies to be sent to the Duma by the basic electoral districts (the provinces) was arbitrary and capricious, the outlying territories receiving usually a smaller representation. Women were denied the franchise It has been computed that in the election to the Third Duma (1907) not more than 15 per cent of the population were entitled to vote The secrecy of the ballot, a familiar feature of democratic elections, was maintained through every stage of the complex and undemocratic electoral procedure

Preponderance of Conservative Elements. Little can be said in defense of the Russian electoral system except that it achieved the purpose for which it was designed The Third and the Fourth Dumas were just as conservative and almost as uniformly docile as their two predecessors were recalcitrant. Although there were still a number of liberals and a sprinkling of radicals, including the Bolsheviks, the control of the legislative assembly was in the hands of the conservative parties.

THE POWERS OF THE LEGISLATIVE ASSEMBLIES

Immunity of the Deputies The powers of the legislative chambers, like the election procedure, were subject to a number of ingenious restrictions. In its internal organization the Duma was autonomous and elected its own officers, while the President of the State Council was appointed by the Crown. The freedom of speech and opinion granted to the deputies by Article 14 of the Statute of the State Duma and by Article 26 of the Statute of the State Council received in practice a restrictive interpretation, which considerably curtailed the traditional immunity enjoyed by the deputies in Western democracies There are instances on record of members of the Duma being compelled to face legal prosecution for statements made from the rostrum of the legislative chamber Freedom from arrest, without the consent of the house, another traditional prerogative of the members of parliament, was guaranteed only during the sessions and even this protection was withheld if a deputy was apprehended during the commission of the criminal act or "the day after" The members of both houses, moreover, could be brought before the Supreme Criminal Court to answer for breaches of the law committed by them in connection with the performance of their duties The consent of the Emperor was required to institute such prosecutions

Legislative Initiative. Individual members of the legislature did not enjoy the right of legislative initiative A legislative bill could be introduced (1) by not less than thirty deputies, (2) by the committees of the Duma, and (3) by the Government, while the initiative in the revision of the Fundamental Laws was a prerogative of the Crown Of the 2,197 bills that became law during the lifetime of the Third Duma—the only one that completed its full term of five years under peacetime conditions—two were initiated by the

State Council and thirty-four by the Duma. Government initiative was thus the normal source of the law

Budget Powers. The control of the public purse has always been one of the cherished rights of parliament and the most effective method of preventing the abuses of the executive The powers of the Russian legislative chambers in dealing with the budget were, however, distinctly limited The Rules of March 8, 1906, which determined the rights of the State Council and the State Duma in budgetary matters, were modeled on the provisions of the Japanese Constitution According to this legislation the budget was divided into three parts. (1) Appropriations of the Ministry of the Imperial Court, of the two branches of His Majesty's Chancery, and provisions for the maintenance of the Imperial family were exempt from control by the legislature and could not be discussed (2) A long list of appropriations and revenues based on laws, statutes, and imperial orders were subject to the examination by the legislature in the matter of their legality, but they could not be either increased or reduced. (3) There were certain appropriations that could be both discussed and altered by the chambers In the draft budget for 1913 the "iron-clad" appropriations (groups one and two) accounted for 1,048 million rubles, while the portion of the budget within the control of the legislative chambers represented 2,158 million rubles In case the budget was not passed by the beginning of the fiscal year the Government departments continued to receive, by virtue of an order issued by the Council of Ministers, monthly appropriations within the limits of the budget for the previous year Extraordinary appropriations necessitated by an emergency such as war or preparation for war were granted by an order of the Council of Ministers The provisions of the Russian law dealing with the budget have been considered by many authorities to be a most flagrant departure from accepted constitutional practice

Control Over the Executive. The State Council and the State Duma exercised no effective control over the executive, although they enjoyed the right of addressing to the Government questions and interpellations The ministers, however, could refuse to give the information requested in a question on the ground that this would be inexpedient and contrary to the public interest. If the explanation presented by a member of the Government was deemed unsatisfactory by a two-thirds majority of the house the matter was submitted by the President of the State Council to the Emperor, with whom rested the decision as to whether any action should be taken against the minister who had incurred the displeasure of the chamber It would be unwise to disregard altogether the effects of criticism voiced in the Duma in connection with the discussion of an interpellation (the State Council almost never made use of this right), for the members of the Government were naturally anxious to avoid an open conflict with the legislative chamber Nevertheless the ministers were responsible to the Emperor alone and on occasion displayed open contempt for a legislative assembly that could do nothing to remove them from office.

ARTICLE 87

Emergency Legislation. A much-discussed feature of the Russian constitutional setup was Article 87 of the Fundamental Laws

> During the recess of the State Duma, if exceptional circumstances call for a measure that requires legislative decision, the Council of Ministers shall report on it directly to the Emperor Such measure, however, shall not introduce any change in the Fundamental Laws, or in the statutes of the State Council or the State Duma, or in the provisions concerning elections to the Council or the Duma The operation of such a measure shall cease if the respective minister . shall not have submitted to the Duma within two months following the resumption of the session of the Duma a legislative bill corresponding to the measure adopted, or if it is rejected by the State Duma or the State Council

Abuse of Emergency Powers. The provisions of Article 87, which had its counterpart in a number of European constitutions, were clear and were designed to meet an emergency that might occur when the legislature was not in session Unfortunately it became the practice of the Government to make a wide use of the powers granted to the Crown by Article 87 in disregard of its spirit and intent A vast mass of legislation was enacted by virtue of Article 87, and although these measures were eventually submitted to the legislative chambers, because of the fact that they had been in operation, sometimes for a protracted period, the Duma was confronted with a *fait accompli* that made the repeal or even revision of such laws extremely difficult How broad was the interpretation put by the Government on the expression "exceptional circumstances" will appear from one or two examples Article 87 was invoked to change the title of the chief administrative officer in the Akmolinsk and Semiplatinsk Regions from "military governor" to "governor " It was used again to promulgate the Decree of November 9, 1906, which completely changed the structure of agricultural Russia, a measure of paramount importance that should certainly have been discussed by the legislative bodies The most flagrant case of abuse of Article 87 occurred in March, 1911, when the State Council rejected a bill providing for institutions of local self-government in the Polish provinces of Russia The bill, which was anything but radical and was approved by the Duma, was vetoed by the upper chamber on the ground that it did not sufficiently safeguard the interests of the landed nobility Stolypin, President of the Council of Ministers, prorogued the State Duma and the State Council for three days and promulgated the measure under Article 87. It would have been difficult to display greater disregard for the principle announced in Article 84 of the Fundamental Laws that "the Russian Empire is governed on the firm foundation of the laws "

THE ROLE OF PARLIAMENT

Summary To sum up, it must be said that the procedure of electing the members of the State Duma (to say nothing of those of the State Council) was highly imperfect, the franchise was restricted, the powers of the two chambers in legislative and budgetary matters were very limited, and their control

over the executive practically nil. Nevertheless the constitutional changes of 1905–1906 may be rightly regarded as an important landmark in the political history of the country. They were the first timid step in the direction of a constitutional form of government. Further progress on the same lines might have brought Russia along the path traversed by the Western European nations. The Government of Nicholas II, however, like that of the Muscovite Tsars of the sixteenth and seventeenth centuries, almost invariably looked backward and not forward for inspiration and guidance. The humble beginnings of a democratic regime offered the Russian masses their first opportunity to take some part in the conduct of public affairs, to get their first taste of political education. Crippled by the unconstitutional Election Law of June 3, 1907, and closely supervised by a hostile and contemptuous bureaucracy, the State Duma was fated not to reach the status of a representative popular assembly. Its lack of real roots in the country was convincingly demonstrated during the revolutionary year 1917.

THE COUNCIL OF MINISTERS

Origins of the Council of Ministers. The executive branch of the Government was headed by the Emperor and the actual work of administration was carried on by a huge army of officials under the supervision of central departments usually known as ministries. The heads of the central departments were members of the Council of Ministers, a body that first came into existence sometime between 1857–1861, but ceased to meet after 1882. It was revived on a new basis by the Imperial Decree of October 19, 1905, that is, two days after the Manifesto of October 17 promised Russia a constitutional regime. According to the preamble to the Decree of October 19 the ministers and other heads of central departments were directly subordinated to the Crown; it was through the departments over which they presided that the Crown carried on the administration of the country. The central departments were therefore integral parts of the administrative machinery and they all pursued the same object. The Council of Ministers was created to ensure unity in the policies of the Government and to coordinate the activities of the heads of the various departments. Such coordination, the Decree pointed out, was made imperative by the creation of the State Duma.

The President of the Council of Ministers. The Council of Ministers, as has already been noted, was in no way responsible to the legislature and its inner unity was safeguarded by the authority of its President, who was given important duties as the representative of the Council. The ministers retained their right to report directly to the Emperor, but such reports were first submitted by the President to the deliberation of the Council. The law, however, provided that the foregoing rule applied only to reports of "general interest"—an expression that is at best ambiguous—while reports not deemed of "general interest" might be presented to the Emperor by the respective ministers without consulting the Council or its President. Moreover, matters dealing with the Ministry of the Imperial Court, national defense, and foreign

affairs were submitted by the ministers concerned to the Council by special Imperial command, but this procedure was also followed in cases where the ministers considered this necessary, or if the question under discussion involved other departments. The right of the Council of Ministers to suggest candidates for higher offices did not extend to appointments under the Ministry of the Imperial Court or to appointments in the army, navy, or diplomatic service The result of these exemptions was that even the purely formal unification of administrative activities that the Decree of October 19 attempted to achieve was largely illusory, since several important branches of the administration were exempt from the control of the Council of Ministers In practice the collective or joint character of the Council of Ministers remained fictitious and the dismissal of some of the ministers, including the President of the Council, did not lead to the resignation of the entire Government In administrative matters the Emperor remained the supreme authority.

OTHER ORGANS OF CENTRAL ADMINISTRATION

Central Administrative Agencies Acting in an Advisory Capacity or Independent from the Council of Ministers. While the ministries and the Council of Ministers were the chief organs of the central administration there survived side by side with them several other institutions that belonged to the same group Such were the "Departments and Special Boards of the State Council" (to be distinguished from the State Council, as the upper chamber of the Russian Parliament) which dealt with certain financial and other questions, the Army Council and the Admiralty Council, which advised the Emperor on military and naval matters, the Board of Guardians (*Openkunskii Soviet*), which managed the charitable and educational institutions of the "Department of the Empress Marie", the Finance Committee, which discussed measures and policies bearing on credit and monetary matters These organs functioned side by side with the Council of Ministers and either acted in a merely advisory capacity or performed definite administrative duties, sometimes even infringing on the rights of the legislature Their very existence was something of an anachronism, which must be explained by historical reasons, and it further detracted from that coordination of administrative policies which was the primary object of the establishment of the Council of Ministers

The Holy Synod. The administration of the Orthodox Church was in the hands of the Holy Synod, an ecclesiastical council created by Peter I in 1721, and it was dominated by a lay officer, the Procurator The control of the Orthodox Church by the secular power, which was the result of a long process of historical development, found its expression in Article 65 of the Fundamental Laws This Article declared that "in church administration the Autocratic Power acts through the Holy Synod by It established " The creation of the Holy Synod by an act of the secular authority, the secularization of the church properties by Catherine II, and the Decree of 1803 which provided that ecclesiastical dignitaries were to be appointed to the membership of the

Holy Synod only temporarily, thus depriving them of any security of tenure and often of the very opportunity to familiarize themselves with the business they had to transact—were all important steps in depriving the Church of the last vestiges of independence. The nineteenth century saw the rapid ascendancy of the Procurator of the Holy Synod who in 1904 was raised to the rank of a minister. Although officially entrusted with the task of safeguarding the legality of the decisions of the Holy Synod, the Procurator became in fact the autocratic master of the Church and responsible to the Emperor alone. Under these conditions the Holy Synod, in spite of the ecclesiastical robes of its members, was hardly more than a purely bureaucratic institution, a tool in the hands of the Government.

THE SENATE AND THE JUDICIARY

Evolution of the Senate. The governmental structure of Imperial Russia included a department, the "Governing Senate," whose place in the constitutional scheme it is not easy to determine. When the Senate was established by Peter I in 1711 it was a central governmental agency which dealt with legislative, administrative, and judicial questions. During the two centuries of its history the Senate gradually lost its legislative and most of its administrative functions while retaining those of judicial control. After the reform of the judiciary in 1864 the Senate was comprised of separate "departments" which were the higher court of appeal in both criminal and civil cases. In the twentieth century, although the principal functions of the Senate were those of a Supreme Court, including the publication and the interpretation of the laws, it also exercised a general supervision over the administrative machine. The senators, whose number was undetermined, were appointed by the Emperor. The Senate never met as a body, its work being carried on separately by eight "departments" of which five were judicial and three administrative, although the latter, too, were largely concerned with judicial questions. Some of the "departments" held joint sessions, but the purely administrative functions of the Senate were relatively unimportant.

Modernization of the Judiciary in 1864. The thorough modernization of the Russian judiciary, which goes back to 1864, was one of the most successful and important of the "Great Reforms" of Alexander II. In the process of reorganization a system of law courts independent of the administration was established, and the judges were granted permanency of tenure and freedom in the exercise of their duties. The more important criminal cases were to be tried by jury. The equality of all before the law was officially proclaimed and the special courts dealing with crimes committed by members of various social groups were, with a few minor exceptions, abolished. The uniform structure of the judiciary provided for three stages in legal procedure. The courts of the first and second instance dealt with the case as a whole, while the higher court of appeal concerned itself merely with questions of law. Minor infringements of the law were dealt with by the individual justices of the peace, as the court of first instance, and by the conference (*sezd*) of the justices of

the peace, as the second. The more important cases came before the district court (*okruzhnoi sud*) and the court of the second instance (*sudebnaya palata*). Two "departments" of the Senate were the higher court of appeal The proceedings of the courts were public, the parties were granted equality, and the bar or association of attorneys received legal recognition The conduct of preliminary investigations was brought under the control of the courts and the public prosecutor

Departures from the Principles of the Reform of 1864. It is generally admitted that the reform of 1864 was successful in improving the administration of justice; unfortunately, however, its smooth operation was handicapped by later measures devised in a spirit incompatible with the ideas of the reform of 1864. The most important change was introduced by the Law of June 12, 1889, which transferred a large number of minor offenses committed by the peasants from the jurisdiction of the elected and irremovable justices of the peace to that of an appointed administrative officer, the *zemski nachalnik* The strong agitation for the repeal of this law did not bear fruit until 1913 when an act passed by the State Duma and the State Council restored to the justices of the peace jurisdiction over the offenses committed by the peasants The outbreak of the War, however, prevented the carrying out of the new provision. There were other departures from the spirit of the Statute of 1864 The possibility of governmental pressure on the courts was provided by a law of 1885 which permitted the removal of judges for offenses other than misconduct in office, and by a law of 1887 which gave to judges power to order the hearing *in camera* of cases that might endanger public order, morality, religion, or the State In spite of these departures from the principles of the Act of 1864 the administration of justice in Russia, according to authoritative opinion, was maintained on a high level.

ADMINISTRATIVE CENTRALIZATION

"The Russian State Is One and Indivisible." The control of the institutions of the central Government extended over the entire territory of the Empire, with the notable exception of Finland Article 1 of the Fundamental Laws of April 23, 1906, declared that "the Russian State is one and indivisible" The term "indivisible" did not mean that no part of the national territory could be transferred to the sovereignty of another state, but merely that after the passing of the laws of 1906 such cession could take place only on the initiative of the Emperor and with the approval of the State Duma and the State Council. The first part of Article 1—"The Russian State is one" —conveyed no clear legal meaning It was the enunciation not of a principle of constitutional law but of a program of administrative policy, the acceptance of centralization in preference to local autonomy.

Russification. The uniformity of the administrative institutions over the entire territory of the country and the "Russification" of the regions inhabited by peoples of non-Russian blood and language was with but few exceptions the official policy of the Russian Empire In a country like the United States,

where the federal principle is written into the Constitution and where the question of States' rights *versus* those of the Federal Government continues to be very much alive, it is hardly necessary to argue that uniformity among the administrative organs and the supremacy of the central government over every manifestation of the nation's life is not a necessary condition of national unity. The principle of autonomy, which was occasionally admitted in Imperial Russia, played its part in facilitating the extension of her territory. The Ukraine, the Baltic Provinces (Latvia, Estonia, and Lithuania), Bessarabia, Russian Poland—all had enjoyed at times a varying degree of national autonomy which in every case eventually disappeared. The process of administrative unification, typical of pre-Revolutionary Russia, extended to Russia's vast Asiatic possessions. It did not, however, apply to the semi-independent Asiatic principalities of Khiva and Bukhara, which since 1873 had been under the protectorate of the Russian Crown.

Curiously, the provision that "the Russian State is one and indivisible" was first introduced in the Fundamental Laws of 1906, only twelve years before the dismemberment of the Empire.

THE GRAND DUCHY OF FINLAND

Legal Position of Finland. The Grand Duchy of Finland occupied a peculiar position in the constitutional framework of the Empire. Article 2 of the Fundamental Laws of April 23, 1906, provided that "The Grand Duchy of Finland, forming an indivisible part of the Russian State, is governed in its internal affairs by special institutions based on special legislation." According to Article 26, "With the Imperial Throne of all the Russians are inseparable the thrones of the Kingdom of Poland and of the Grand Duchy of Finland." The territory of Finland was acquired by Russia from Sweden in three stages, in 1721, 1743, and 1809, and the creation of the Grand Duchy of Finland as an integral part of the Russian Empire goes back to the latter date. The exact nature of the legal relationship between Finland and Russia was obscure and controversial. From 1809 to 1863 Finland might be described as a part of the Russian State, governed by its own laws and having its own administrative and judicial institutions retained from the time when it was under the sovereignty of Sweden. As a rule the laws and institutions of the Russian Empire did not extend to Finland and the powers of the Crown in this part of its domain were limited, at least in principle, by the special legislation in force in the Grand Duchy. The chief representative of the Crown in Finland was the Governor-General who was also commander-in-chief of the troops quartered in Finland and president of the Finnish Senate, the highest administrative and judicial organ of the Grand Duchy. The Governor-General, who was appointed by the Emperor, was invariably a Russian. After 1826 there was also resident in St. Petersburg a Secretary of State for Finland, an office filled with but rare exceptions by natives of the Grand Duchy. It was through this Secretary of State and not through the Russian Ministers that questions affecting Finland were submitted to the Emperor.

The Finnish Diet. A Finnish Diet was called into being by Alexander I in 1809, but it did not reassemble until 1863 when new elections were held according to the old Swedish law retained by Finland Emperor Alexander II, who himself opened the Diet, promised to maintain in Finland "The principles of constitutional monarchy inherent in the habits of the Finnish people" From 1863 on the Diet met regularly. Its powers were defined by the Statute of April 3, 1869. This Act imposed definite limitations on the prerogatives of the monarch by providing that certain legislation, including the Fundamental Laws of Finland, could not be changed without the consent of the Diet Finland, which was already endowed with its own executive and judiciary, thus had its separate legislature The Russian Emperor, who was also Grand Duke of Finland, was an autocrat in Russia (until 1905–1906) but a constitutional monarch in Finland The Grand Duchy, however, had no army and the conduct of its foreign relations was in the hands of the Emperor and the Russian Ministry of Foreign Affairs The constitutional position of Finland was drastically changed by the Imperial Manifesto of February 3, 1899, which provided that the Crown might legislate for Finland in matters of "Imperial interest" after merely consulting the Diet, whose advice, however, was not binding The Grand Duchy rejected the Manifesto as an infringement of its constitutional liberties There followed a period of severe friction which ended in the suspension of the Act of 1899 by the Manifesto of October 22, 1905, restoring the legal situation that existed before 1899. The revolutionary pressure was, of course, responsible for this revision of policies On July 7, 1906, the Diet was reorganized The new Finnish Constitution introduced universal suffrage and abolished the former representation by separate "estates" (the nobility, clergy, burghers, and peasants)

Law of June 17, 1910. The Law of June 17, 1910, duly passed by the State Duma and the State Council, once more changed the situation. It provided that legislation binding on Finland should be enacted through the general channels (that is, the State Duma and the State Council) "if its effects are not limited to the internal affairs of that region" The Finnish Diet was called to pass on such legislation in a purely advisory capacity The Act of June 17, 1910, supplied a list of questions affecting Finland to be dealt with by the Russian legislature The list contained such items as the contribution of Finland to the Imperial budget and taxation required to raise this revenue, regulations concerning military service, the determination of the curricula of Finnish schools, the associations, and the right of assembly, etc Legislation on purely domestic affairs was left to the Finnish Diet. This Act was a clear breach of the Finnish Constitution according to which the powers of the Diet could not be modified without its own consent The Russian Government neglected to comply with this requirement because it knew that the Diet would refuse to renounce its constitutional rights After the passage of the Law of June 17, 1910, Finland still retained its autonomy, although the latter was undoubtedly curtailed Whether this law was merely a first step toward that administrative assimilation which had engulfed the autonomous institu-

tions of the other border provinces of Russia is a question that must remain unanswered The Revolution of 1917 made Finland an independent State

THE SOCIAL STRUCTURE

"Social Classes" and "Estates." In order to understand the character of the provincial administration of Imperial Russia it is essential to gain at least some knowledge of the country's social structure. In approaching this question one must, first, dismiss the familiar notion expressed in the Declaration of Independence that all men are born equal Secondly, it must be emphasized that the term "social" is not used here in its customary meaning The division of the population into social classes, which bears on the organization of provincial administration, had often in Russia no direct connection with the professional, business, or economic interests of the members of these classes It would be more exact to speak of "estates," meaning by that groups of subjects of the Russian Crown who differed from the rest of the population in certain hereditary rights and duties This definition, however, was no longer fully applicable in the second half of the nineteenth century and became even more misleading after 1905–1906, when a number of limitations attached to the lower "estates" were removed Some of the "estates" had lost their hereditary character long before the reforms of 1905–1906 and had no corporate organization Thus there gradually came into existence a large group of people who did not belong to any "estate" and yet enjoyed civil rights. On the other hand, some of the "estates," retaining both their hereditary characteristics and their corporate organization, continued to perform important functions The "estate" structure of Russia since the middle of the nineteenth century has been aptly described as a "crumbling temple" (*"donjon"* might have been a better term) whose shattered yet sturdy remnants were gradually submerged by the rising tide of democracy

Their Origin Social stratification crystallized in terms of hereditary rights and duties is a phenomenon familiar in the history of all European countries In Western Europe the formation of "estates" was usually the result of organic development, and their institutions became important political factors that effectively limited the powers of the Crown In Russia the origin of the "estate" structure, which goes back to the middle of the seventeenth century, was different It was the direct outcome of the policies of the Muscovite Government, which assigned definite duties to separate groups of the population and made the members of some of these groups jointly responsible for the performance of the obligations that rested upon their respective groups An important remodeling of the social framework took place in the second half of the eighteenth century, during the reign of Catherine II, when a definite attempt was made to organize the "estates" on the basis of corporate self-government and to entrust to them a number of administrative and judicial functions The institutions created by Catherine, although they subsequently suffered important modifications, continued to form the foundation of Russian provincial government until the revolution.

The Four "Estates." According to the legislation in force before 1917 the population of the country was divided into four categories (1) *dvoriane,* a term which in the absence of an adequate English equivalent is usually translated as nobles or gentry; (2) the clergy; (3) urban inhabitants or burghers; and (4) rural inhabitants, or the peasantry. The burghers, again, were subdivided into four groups. Although the law referred to the foregoing classes as "estates" (*soslovie*), this description in a number of cases was nothing but an anachronism. Membership in some of the "estates" was no longer hereditary and such "estates" had themselves no corporate organization (for example, the clergy and certain subdivisions of the burghers group) The rights and duties of the corporate organizations of the "estates," with the exception of those of the nobles and of the peasants, were of little practical significance The Decree of October 5, 1906, was an important landmark on the road toward legal equality It extended to all the subjects of the Russian Crown (with the exception of nomadic tribes such as the Samoyeds, Kalmiks, etc , and the Jews) two important rights formerly enjoyed only by the nobles and the upper group of the burghers the right to choose their place of residence and to move freely about the country, and the right to enter government service.

The Nobility Political and social influence and much of the wealth of the country was in the hands of the nobility. Yet the Russian *dvorianstvo* had a number of characteristics not usually associated with an aristocracy To begin with, there were two kinds of *dvorianstvo*—hereditary and personal The latter was not transferable to the children of a "personal noble"—a term as awkward as the notion for which it stands Nobility was acquired by descent from a noble father, and also, under certain conditions, through government service With the enactment of the "Table of Ranks" by Peter I (1722) all civil servants were divided into fourteen classes—*chin*—arranged in a hierarchical order [3] Membership in these classes was in the nature of an honorary title and had no direct connection with the office held. Every civil servant that reached class nine became a "personable noble," while class four brought with it hereditary nobility Promotion from class to class was automatic according to the length of service. "Personal nobility" went also with every decoration, while until 1900 hereditary nobility was conferred upon the recipient of the order of St. Vladimir, fourth class, a decoration given to every civil servant after thirty-five years of service In 1900 this rule was changed and hereditary nobility was conferred only on the recipients of the higher decorations Similar regulations applying to the officers in the army and navy were even more liberal. Government service thus became the most usual method of filling the ranks of the nobility since honorary titles (*chin*) and decorations were a part of the bureaucratic routine. Even before the Decree of October 5, 1906, admittance into government service was open to all university graduates irrespective of their social origin It will thus appear that the Russian *dvorianstvo* can hardly be described as an aristocracy It comprised a number of families of ancient lineage, some of them titled, but also

[3] In 1834 classes eleven and thirteen were abolished

many "hereditary nobles," as well as the "personal nobles," who were people of humble origin and modest standing. From the point of view of their social and economic status, the majority of the *dvoriane* were much nearer to what is usually known as the middle and the lower middle class than they were to the aristocracy. The corporate institutions of the nobility will be briefly discussed in connection with local government, but it may be noted here that they were organized on a purely provincial basis and that there was no official national organ through which the voice of the highest "estate" in the realm could be heard.

Social Leveling. The legal status of the other "estates" presents little of practical interest, especially since the legislation of the beginning of the twentieth century removed many of the disabilities that were the fate of the unprivileged groups in the past. In the case of the peasants, however, the process of emancipation continued to be particularly painful and slow.

THE JEWS

Legal Disabilities of the Jews. The position of the Jews deserves special attention. The Jews, as a rule, were not permitted to reside outside a specified area which comprised the provinces of western and southwestern Russia. This restriction, however, did not apply to the following categories of Jews: (1) well-to-do merchants who belonged to the first of the two guilds into which all the merchant class was divided, (2) university graduates and holders of higher degrees, (3) dentists, druggists, junior medical officers, and midwives, (4) university students and those studying for the professions listed under section three. The Jews were prohibited (after 1882) from acquiring or leasing land in rural districts, even in the provinces where they were permitted to reside. Government service was open to only those Jews who had graduated from the universities with high honors or to the holders of higher degrees. The admittance of Jewish students to schools and universities was limited by a quota. A curious provision of the law forbade Jewish women to shave their heads. All these restrictions naturally invited abuse and offered almost unlimited opportunities for graft which the police officers seldom overlooked. In sharp contrast with recent German and Italian legislation, Russian legal discrimination against the Jews was based on religious and not on racial grounds. The restrictions just mentioned applied only to Rabbinical Jews and did not affect the Karaites. The acceptance by a Jew of membership in a Christian church automatically removed all disabilities.

The Pogroms. Of great political consequence to Russian Jewry were the pogroms. The first great wave of pogroms swept southwestern Russia in 1881, following the murder of Alexander II in which a Jewish woman, Jessie Helfman, was involved. Few pogroms occurred between 1882 and 1903, when anti-Semitism in its most ruthless and aggressive form came again to the fore. At the end of October, 1905, on the morrow of the publication of the Manifesto granting Russia the rudiments of a constitutional regime, hundreds of pogroms took place throughout the land. They were organized by ultra-

nationalistic groups and were condoned and, in some instances, instigated by the police. The pogroms were primarily responsible for the mass migration of Russian Jewry to the United States and, on a much smaller scale, to Palestine The early Jewish refugees from Russia to the Holy Land were the ideological forerunners of the Zionist movement which, however, did not take shape until 1897

LOCAL GOVERNMENT

Administrative Territorial Subdivisions. For the purposes of general administration the territory of the Empire was divided into seventy provinces (*gubernia*) and several regions (*oblast, okrug*), the latter denomination being applied to some of the border territories The division into provinces goes back to 1710, but the actual scheme of administrative subdivision still largely in force on the eve of the Revolution was introduced in 1781. This scheme was an arbitrary one and had but the slightest connection with the historical territorial units that were gradually absorbed by the Russian State The provinces were subdivided into counties (*uezd*) whose number per province varied from four to fifteen It was originally intended that a county should comprise a population of some twenty to thirty thousands In addition to the basic division into provinces and counties, there were ten more divisions for specific purposes, such as the army, the administration of justice, transportation, the church, post, and telegraph The territorial units comprised in the special subdivisions were usually much larger than a province, although this was not always true of the dioceses

Dual Nature of Local Administration. Provincial government was administered by two sets of officials. those appointed by the Crown and those deriving their powers from local self-government By and large, the former dealt chiefly with police and fiscal matters, that is, they represented primarily the interests of the State, while self-government institutions concerned themselves with schools, public health, roads, relief, anti-fire measures, the advancement of agriculture, commerce and industry, that is, with what may be described as social and economic policies

The Governor. The chief representative of the Crown in the provinces was the governor, who was appointed by the Emperor on the nomination, in theory, of the Council of Ministers, but in practice, of the Minister of the Interior. The governor was originally (1764) designed to be the actual head of the province and the coordinating organ of the provincial administration. Gradually he lost this function and became more and more an official of the Ministry of the Interior concerned chiefly with matters within the jurisdiction of that department The governor, however, retained wide powers of control and supervision, especially over the personnel of the provincial administration He appointed the provincial officers of the agencies under the Ministry of the Interior and he confirmed the election of a number of officers chosen by the institutions of local government He had discretionary powers over the appointments made by the *zemstvos* and the municipalities to offices that were not

filled by election. It was his duty to ascertain that administrative officers were "desirable" from the standpoint of their political views. The governor had extensive police powers, although the political police (*gendarmes*) remained outside his control. These police powers were as broad as they were ill-defined, and in the hands of a zealous and ambitious administrator could and did actually become in many instances the instruments of a capricious and arbitrary rule.

The Governor-General. In Moscow and some of the border regions there also existed the office of governor-general. The powers of this high official, who was a personal appointee of the Emperor, were determined by an archaic instruction of 1853 which was never revised and brought in line with subsequent legislation. The position of the governor-general was that of an intermediate organ between the central and the provincial government. His chief functions were those of political control and political supervision over the local administration. His powers were extremely broad and, although most of them were never exercised, they offered practically unlimited opportunities for drastic interference with local administration and private interests.

Agencies of Crown Administration. It was the original intention of the law that the governor should normally exercise his functions not directly but through some special administrative organ thus providing a certain guarantee against arbitrary policies. Practice, however, differed from theory. The central organ of provincial administration, the Provincial Office (*Gubernskoe Pravlenie*), degenerated into the governor's chancery which obediently took his orders. The Financial Board (*Kazennaia Palata*), which dealt with bookkeeping and the collection of taxes, enjoyed a somewhat greater independence. The Provincial Excise Administration (*Gubernskoe Aktsiznoe Upravlenie*) was in charge of the State Liquor Monopoly. The Control Board (*Kontrolnaia Palata*) exercised the functions of financial control, and unlike the other institutions just mentioned, was not subordinated to the governor. There was also a special administration which managed State properties. All these organs were purely bureaucratic in their composition.

Provincial Self-Government. The law provided that provincial government should comprise, side by side with appointed administrative organs, also the institutions of local self-government, the provincial *zemstvo*. The new *zemstvo* institutions were created by the Law of 1864, which was amended in 1890. The latter legislation increased the dependence of the *zemstvo* on the officers of the Crown and changed the franchise in such a manner as to assure the preponderance of the landed nobility. In addition to the functions already mentioned the *zemstvo* had certain duties in connection with the fiscal administration, for instance the assessment of taxes. The organs of the provincial *zemstvo* were the *zemstvo* assembly (*zemskoe sobranie*) and the *zemstvo* board (*zemskaia uprava*). The membership of the provincial *zemstvo* assembly consisted of two categories: (1) delegates elected for three years by the county (*uezd*) *zemstvo* assemblies from among their own number, and (2) members *ex officio* (county marshals of the nobility, a representative of the

clergy, the chairman and members of the Provincial Office, the chairman and members of the county *zemstvo* boards) The provincial marshal of the nobility was by virtue of his office chairman of the provincial *zemstvo* assembly which met once a year. The executive organ of the assembly, the provincial *zemstvo* board, was elected by the provincial *zemstvo* assembly and consisted of a chairman and two members The decisions of the provincial *zemstvo* assembly could be suspended by the governor or by the Minister of the Interior on the ground that they were either illegal or contrary to public policy. In the latter case the governor had the power to substitute his own decision for that of the assembly

Corporations of the Nobility. The nobility (*dvorianstvo*) had an active part in the provincial government In thirty-nine provinces of European Russia the nobility formed corporations which had their own organ, the provincial assembly of the nobility The assembly met every three years and all the hereditary nobles of the province (but not the "personal nobles") were eligible to attend, although only those who possessed specified property and educational qualifications were entitled to vote. The most important function of the assembly was the election of the provincial and county marshals of the nobility. Other elected officers had no political significance. The assembly, as a whole, chose two candidates for the office of the provincial marshal of the nobility. The names of the nominees were submitted to the Emperor who made the final selection The members of the assembly for each county severally elected their respective county marshals of the nobility who were confirmed in office by the governor The provincial marshal of the nobility was an important figure in the provincial government and was *ex officio* a member of the various boards appointed to deal with judicial and administrative problems. The assembly held the discretionary power of excluding undeserving members from the ranks of the nobility of the province, thus effectively preventing political opponents from being eligible for membership in the institutions of local self-government or in the State Duma After 1906 the provincial assemblies of the nobility chose delegates who gathered in St Petersburg and elected from their own number eighteen members of the State Council

County Government. Although the subdivision of the provinces into counties goes back to the eighteenth century no definite county administration existed until the second half of the nineteenth Even during the latter period such administration was haphazard and casual in its composition. The central figure of the county government was the county marshal of the nobility. He was invariably the chairman of the various boards, which consisted of local officials such as the chief of the police, the tax inspector, and others. The second branch of the county government was the county *zemstvo* which consisted of the county *zemstvo* assembly and the county *zemstvo* board The assembly was composed of elected delegates and local officials, who were its members *ex officio* The *zemstvo* franchise was based on property and personal qualifications (age, citizenship, length of residence) The electorate was divided into three groups, each choosing a specified number of delegates These groups

were the nobles (both "hereditary" and "personal"), the peasants, and all others Under the law the nobles, who formed only a small proportion of the electorate, were entitled to a larger representation than were the other two groups The county marshal of the nobility was *ex officio* chairman of the county *zemstvo* assembly The assembly was elected for three years and met once a year Its decisions, like those of the provincial *zemstvo* assembly, were subject to the approval of the governor.

Township Government. At the base of the administrative pyramid were the townships (*volost*) which comprised one or more village communities (*selskoe obshchestvo*) The townships and the village communities had their assemblies of householders and their elected officers who, however, represented only one social class—the peasantry The township officials, who had the unenviable duty of enforcing the performance by the peasants of their obligations toward the State, were themselves, like the entire peasant population, under the strict and vigilant control of the administrative officers of whom the most dreaded was the *zemski nachalnik,* an appointed official armed with broad administrative and judicial powers In spite of its elective character the township administration was hardly an organ of peasant self-government It was more in the nature of an agency for the performance of an onerous duty

Municipal Government. A word must be added about municipal self-government which was established by the Law of 1870 and revised by the Law of 1892 The latter legislation extended the powers of the governor over municipal institutions. The municipal government consisted of the municipal assembly (*gorodskaia duma*) and its executive, the municipal board (*gorodskaia uprava*) The municipal franchise was restricted and based on property qualifications The functions of the municipalities and their relations with the governor were similar to those of the *zemstvo*

An Appraisal It is truly remarkable that in spite of the imperfections of their legal structure and the limited means at their disposal, the institutions of local self-government succeeded in achieving as much as they did The *zemstvo* particularly distinguished itself by building up an extensive network of schools, hospitals, charitable institutions, experimental farms, and so on The success of this work was due in no small degree to the fact that the *zemstvo*—strange as this may appear—was traditionally considered as the stronghold of liberalism and the leader in social reform Its reputation attracted to its banners a large number of men and women eager to contribute to the enlightenment of the masses. Not a few of the *zemstvo* employees—teachers, doctors, nurses, agricultural experts, engineers—were strongly tinged with radicalism, a dangerous thing in Imperial Russia. The reputedly revolutionary character of the *zemstvo* staff added to the frictions between the institutions of local self-government and the administration, frictions that multiplied with the expansion of the scope of *zemstvo* work and were inherent in the very structure of Russia's local government.

THE REGIME IN ACTION

Constitutional Dualism. The antagonism that existed between the Crown officers and the institutions of local self-government permeated the entire political and social life of the country. The regime established by the legislation of 1905–1906 was imperfect and introduced a kind of constitutional dualism by limiting the legislative powers of the Crown while leaving the executive powers intact in the hands of the Emperor A legislative assembly that had no control over the executive and no effective control over the budget was merely the shadow of a real parliament. But even these modest concessions were wrested from Nicholas II only in a moment of weakness when his throne seemed ready to topple over under the onslaught of the revolutionary storm of 1905 The Tsar never became reconciled to the curtailment of his powers and resented such limitation as a bitter humiliation At the end of 1913 he made an attempt to revise the Fundamental Laws of 1906 and to reduce the State Duma and the State Council to the position of purely advisory bodies, a status which, in his opinion, was "in accordance with the Russian tradition" Although this attempt was abandoned in its initial stage it helps to explain the liberties taken by the Government with the constitutional prerogatives of the legislature, the abuse of Article 87, and the violation of the law in the revision of the franchise by the Act of June 3, 1907 Refusing to avail itself of the guidance of public opinion, which was naturally and rightly suspicious, the Government relied on measures of coercion and police supervision.

P. A. Stolypin. P A Stolypin, President of the Council of Ministers in 1906–1911, succeeded in bringing about domestic "appeasement," not so much by the wisdom of his policies as by putting most of the country under a "state of emergency" regime in which civil liberties were suspended and administrative officers received wide quasi-judicial powers Courts-martial were busy and a great many people were deported to remote parts of the country without even a trial The Police Department was like a huge spider web. It had agents everywhere and succeeded in having one of them elected to the State Duma where he served with distinction as the leader of the Social Democratic Party Stolypin himself perished at the hand of one of his own *agents provocateurs* who murdered him at a gala performance in the opera house in Kiev

Political Parties. An important source of the weakness of the State Duma was the recency of the political parties and their lack of tradition and experience Prior to 1905 no legally recognized parties existed in Russia, the Russian Social-Democratic Labor Party, founded in 1898, and other revolutionary groups were underground organizations In the brief interval between the Manifesto of October, 1905, and the convening of the First Duma in April, 1906, a large number of parties came into being Not less than twenty-six parties and eighteen national groups were represented in the First Duma and quite a few failed to secure a single seat Some of the deputies, especially among the leaders of the Constitutional Democratic Party, which formed the

Left wing of the liberal opposition, were men of culture and intellectual distinction, but they still had to learn the subtle art of compromise, of give-and-take, which is essential to the working of a parliamentary government The multiplicity of the parties and the intransigent attitude of their leaders were other obstacles on the road that might have led to the establishment of a parliamentary regime

The Four State Dumas. The boisterous activities of the First and Second Dumas proved their undoing and brought about the restrictive franchise of the Law of June 3, 1907 The Third and the Fourth Dumas were meek, conservative, and docile Only during the Great War, appalled by the decay of the Government and sensing the rapidly approaching doom of the regime, did the Duma rise for a few brief months to a position of national leadership. Party life under these conditions was colorless and relatively unimportant The First Duma was largely dominated by the Constitutional Democratic Party which united the best elements of Russian liberalism Its success was partly due to the boycott of the election by the Socialists Their policies were revised during the election to the Second Duma with the result that the Social Democratic Party (which included both the Bolsheviks and the Mensheviks) elected sixty-seven deputies and the Labor Group, which also had revolutionary tendencies, one hundred and twenty The electoral Law of June 3, 1907, produced the Third Duma, which had only fourteen Social Democrats, fourteen members of the Labor Group, and fifty-three deputies belonging to the Constitutional Democratic Party The vast majority of the chamber consisted of conservatives of various hues The Fourth Duma was just as reactionary [1]

Conflict between the Government and Liberal Opinion. The Government's hostile attitude toward the Duma and toward the institutions of local self-government was even more in evidence in its relations with the labor organizations The few trade unions that managed to gain a foothold in the short-lived liberal era of 1905 were soon wiped out of existence by governors exercising their "emergency powers" The Minister of the Interior, admitting in 1915 that abuses in this direction were frequent, explained them by the fact that "the generals and governors prefer to close down the organizations they dislike rather than to look after them and be responsible for them"

The Bureaucracy. The real backbone of the regime was the bureaucracy, which had built up a fairly high tradition of public service and in its higher levels was reasonably honest A bureaucracy, however, is always slow, unadaptable, and often arrogant It finds it difficult to meet emergencies and hates to face problems, however urgent, which disturb its complacency and the inflexible routine of its stuffy offices

The Land Reform of 1906–1910 and Compulsory Primary Education. With all its weaknesses, the political regime of Imperial Russia should be given credit for two important reforms that were introduced shortly before World War I One of them was the land reform of Stolypin, which made a by no means unsuccessful attempt to remove the many legal and economic dis-

[1] See below, p 700, n 3

abilities from which the peasants had been suffering since the days of the Emancipation of 1861 The legislation of 1906–1910 had for its purpose the freeing of the peasants from their former dependence on the antiquated communal land tenure (*obshchina*) and establishing them as independent farmers. The reform was severely criticised, and with some justification, on the ground that it favored the well-to-do peasants at the expense of their less fortunate neighbors The completion of the reform was prevented by the outbreak of the War. The second important and welcome departure from past policies was the Law of May 3, 1908, which provided for the gradual introduction of compulsory primary education for all children The plan, if carried out according to schedule, was to be completed by 1922

Inherent Contradictions of the Regime. The many inherent contradictions and latent antagonisms that were working for the disruption of the social and political texture of the Russian Empire were aggravated, on the one hand, by religious and racial intolerance displayed by both the Church and the Government, and, on the other, by the deep cleavage between the thin layer of the educated classes and the masses of the largely illiterate peasantry The poverty in which the majority of the people lived, coupled with the inability of many of them even to read, effectively excluded the masses from participation in cultural life The great leveling influence of a popular daily press was absent. Organized sports such as prize fighting or baseball, which in the United States have a general appeal irrespective of a man's social or financial position, were nonexistent The divorce between the educated groups and the masses was a fundamental weakness of Russia's social structure, a weakness that prevented the nation from finding a common language at the time of the great emergency.

CHAPTER II

THE WAR AND THE PROVISIONAL GOVERNMENT

THE DECAY OF THE GOVERNMENT

Illusions of the Early Days of the War. Prior to the War of 1914–1918 the many weaknesses of Russia's political and social structure were more or less successfully hidden behind the majestic façade of imperial pomp and circumstance The boundless expanse of the country and its seemingly inexhaustible natural resources and reserves of man power suggested almost invincible strength The defeat of Russia at the hands of the Japanese in 1904–1905 no doubt augured ill, but it could be explained away on the ground that the Russo-Japanese War was fought in a distant province, connected with the center of the Empire by three thousand miles of a single-track railway and that, moreover, the Far Eastern venture never ranked as a national enterprise The War against Germany, Austria-Hungary, and their allies was in a different class and seemed to appeal to the imagination of the nation The response to the mobilization order was most encouraging, indeed enthusiastic Even the liberals and not a few of the radicals rallied to the support of the Government, not only because it was widely believed that the Central Powers had perpetrated an abominable outrage on little Serbia and, later, on Belgium, but also because Russia's participation in the struggle on the side of the great Western democracies—England and France—was interpreted as a promising sign for the future The extravagant hopes fixed by many Allied statesmen and authors on the irresistible efficiency of the Russian "steam-roller" proved as ill founded and deceptive as were the illusions of the Russian liberals about the approaching era of democracy National resources are of little assistance unless they are properly exploited and transported where they are really needed, and man power that is inadequately trained, ill-equipped, and without experienced leaders is merely cannon fodder for a better prepared enemy, even though the latter be numerically inferior. The cooperation between the Government and the liberal elements so ardently hoped for by many Russians had once more failed to materialize, and with the progress of the War the entire governmental machinery rapidly disintegrated

Elements Which Contributed to the Downfall of the Government. This process was accelerated by certain external developments The mobilization of 1914, followed by the calling of new classes, which increased the size of the army and the reserve to over fifteen million men (1917), not only created a shortage of labor but brought with it the bewildering problem of equipping and provisioning this huge military force The blockade of the Baltic Sea and the closing of the Western land frontier and the Dardanelles very nearly isolated Russia from the rest of the world, the only remaining routes being via the White Sea, the Pacific Ocean, or the Scandinavian countries The railroads, which had already proved inadequate to meet the requirements of the growing pre-War traffic, were unable to cope with the new and heavy burden imposed upon them by the needs of the army The financial difficulties of the Treasury, inherent in wartime conditions, were aggravated by an ill-advised venture into Prohibition, the Government suspending the operation of the State Monopoly of Liquor which provided more than a quarter of the State revenue The effects of this measure were exactly like those of the Eighteenth Amendment in this country drunkenness continued and the illicit sale of liquor flourished at the expense of both legitimate business and the State Treasury. Military reverses not only cooled the enthusiasm of the first days of the War but also brought in their wake hundreds of thousands of refugees, some of whom were forcibly evacuated by the Russian command while others had fled from the advancing enemy

Inadequacy of Leadership. To deal adequately with these and many other war problems would have required all the energies of the nation under a firm and enlightened leadership. This the Imperial Government proved incapable of providing It had entered on a process of inner disintegration that culminated in the overthrow of the monarchy.

THE EMPEROR AND THE EMPRESS

Role of the Tsar before the War. The process of disintegration was probably nowhere more pronounced than at the very fountain of power, the Imperial throne Although under the constitutional arrangements the Emperor enjoyed practically unlimited control over the executive branch of the Government, the influence of Nicholas II was little felt in public affairs before the outbreak of the War. The Emperor was to a large extent merely the nominal head of the Government, which was conducted in his name by the bureaucracy Even the prerogative of appointing the Ministers of the Crown was in practice less important than one might imagine, since they were usually chosen from among the men qualified for the office by their previous experience and their position in the bureaucratic hierarchy During the War this practice came to an end

The Question of High Command. Nicholas II was a man of weak and obstinate character and mediocre ability A devout son of the Russian Church and a firm believer in the mystical tradition of Muscovite absolutism, he considered it his duty to lead in person the Russian army of which he was the

titular head Nevertheless at the outbreak of the War he appointed the Grand Duke Nicholas Nikolaevich Commander-in-Chief The Grand Duke knew little about the science of warfare but he was tall and handsome and displayed at times toward the senior officers the same kind of ruthless brutality that was only too frequently the fate of the common soldier This was probably the source of his popularity with the rank and file of the army, a popularity that was particularly resented by the Tsar's ambitious and restless consort, the Empress Alexandra Fedorovna A German by birth, the Tsarina was brought up in London at the court of her grandmother, Queen Victoria, and even more than Nicholas II was devoted to the principles of Russian autocracy A neurotic and unbalanced woman, she was under the influence of the well-known adventurer, Gregory Rasputin, an uneducated, coarse, and licentious peasant To the Empress, however, he was the "man of God" and "our friend" sent by Providence itself to watch over the autocrat of all the Russias, and the heir to the throne, the sickly boy Alexis The Empress, instigated by Rasputin, who had a personal grudge against the Grand Duke Nicholas Nikolaevich, used all her influence with the Tsar to persuade him to assume the command of the army At the end of August, 1915, the Grand Duke was sent to the Caucasus and the Tsar became Commander-in-Chief The Empress greeted his decision as "a glorious page in your reign and in Russian History "

The Empress at the Helm. The departure of the Emperor for the army headquarters left the Government in Petrograd [1] without a head With the full approval of her husband the Empress assumed a most active part in the conduct of public affairs with Rasputin as her spiritual guide and trusted adviser Rasputin's association with the Imperial family had been a scandal even before the War but not until 1915 did the "man of God" become an important factor in national affairs In 1916 Rasputin was practically the undisputed master of the country, a situation that would have been utterly incredible had it not been established beyond doubt by the letters of the Emperor and the Empress, letters which have since been published No appointment to any high office could take place without Rasputin's approval The effect of this state of affairs upon the Government and upon the prestige of the Imperial regime was disastrous The innumerable warnings of the impending catastrophe that came to Nicholas II from all sides met with rebuke and reprisals In December, 1916, Rasputin was murdered at the house of Prince Yusupov by a conservative member of the State Duma, Purishkevich, with the Grand Duke Dimitry Pavlovich taking an active part in the plot The destruction of the evil genius of the dynasty was received with a general feeling of relief, but it failed to clear the political atmosphere, and a few weeks later the regime of which Rasputin had become the symbol was swept away by the Revolution

[1] The name of the capital was changed from St Petersburg to Petrograd at the beginning of the War.

THE BREAKDOWN OF THE BUREAUCRATIC SYSTEM

Weakening of the Central Government. The bureaucratic machine, that mainstay of Imperial Russia, suffered during the War one blow after another until it fell into a state of collapse. Its traditional position of unchallengeable supremacy was undermined by attacks from three sides the military command, the Crown, and progressive opinion expressed through the State Duma and various wartime organizations.

Ascendancy of the Military. A "Law on the Administration of the Army in Time of War," hastily passed in July, 1914, on the eve of the mobilization, drastically curtailed the powers of the civilian authorities within a wide "military zone" comprising the "army in the field" and adjoining territories With the retreat of the Russian troops in 1915 the "military zone" was extended to a large portion of the Empire, including the city of Petrograd Within this zone the officers of the civilian administration were to take their orders from the military command, which was given power to dismiss civil servants as well as officials employed by the institutions of self-government The law made no reference to the Council of Ministers and its President and the relations between these organs and the military authorities were not defined The result was that the army headquarters displayed utter disregard for the civilian administration, from the Council of Ministers down. According to a statement made in August, 1915, by the Minister of the Interior, Prince N B. Shcherbatov, "even in Petrograd . the Minister of the Interior is a mere 'man in the street' who is permitted to act only so far as this does not interfere with the fanciful orders of the military authorities " And he added that the provinces adjoining the front "present a revolting picture of anarchy, lawlessness, and paralysis of power," conditions which he rightly ascribed to the erratic display of energy by the uniformed "hordes of heroes of the rear "

The Tsar's Displeasure and the Rule of Rasputin. Like the military leaders, the monarch himself turned against his official advisers. It will be recalled that the confidence of the sovereign was the very source from which the Council of Ministers derived its authority It soon appeared, however, that the Emperor did not trust the Ministers he had appointed At the outbreak of the war the Council of Ministers was headed by the senile I. L. Goremykin, a man of seventy-five, reactionary to the bone and one of the worst products of the Russian bureaucracy Changes in the composition of the Government in the early part of 1915 resulted in the formation of a Cabinet which, for a Russian Imperial Government, contained an unusually large number of men who were able, liberal-minded, and eager to cooperate with the State Duma and the newly created wartime organizations Most of these Ministers were naturally at odds with the President of the Council, who was a friend of Rasputin and who firmly believed, in his own words, that "the will of the Tsar must be obeyed like the Gospel " The decision of the Tsar to assume in person the command of the army was reached without consulting the Council of Ministers and was received by the members of this body with consternation. Over

the objections of Goremykin the majority of the Ministers jointly urged the Emperor to reconsider his decision which they felt would prove fatal to the regime This unprecedented *démarche* had no practical consequences but it "shocked and horrified" the Emperor and his consort Events proved that the apprehensions of the Ministers had been only too well justified. The departure of the Tsar for the army headquarters opened an era of personal rule by the Empress and Rasputin In spite of the Ministers' emphatic declaration that the dissensions prevailing in their midst were intolerable and would be fatal to the welfare of the country, a statement amounting to a collective resignation, their plea had no immediate consequence However, gradually and one by one those members of the Government who had the temerity to speak frankly to their sovereign were dropped and were replaced by men chosen by the Empress and Rasputin Changes became very frequent as some of the newcomers succeeded in maintaining themselves in office for only a few weeks Rasputin's blessing was in many instances the only qualification for office Purishkevich, the arch-conservative member of the State Duma who murdered Rasputin, aptly described this sinister procession of nonentities and adventurers as the "ministerial leap-frog" The appointment of new Ministers was accompanied by the reshuffling of their subordinates, the whole of the bureaucratic pyramid losing its traditional stability.

Awakening of Public Opinion. The gradual awakening of public opinion to the fact that Russia's military reverses were due to its unpreparedness and to the inability of the authorities to organize the country for the conduct of the War, brought forth a strong movement for the creation of a "government enjoying the confidence of the nation" In spite of the Tsar's profound dislike of any manifestation of public opinion he was forced to bow to the criticisms directed against Goremykin, who was dismissed in January, 1916 The succeeding President of the Council of Ministers was Boris Sturmer, a septuagenarian and a bureaucrat of a type even more objectionable than his predecessor The attacks on him became so violent that he was forced to resign in November, 1916 Sturmer was followed by A F Trepov, who lasted for barely five weeks Then came Prince N D Golitsin, the last President of the Council of Ministers of Imperial Russia He had neither political experience nor political ambition and accepted the burden of office only because he was ordered to do so by the Emperor. The helm of the Russian ship of State was in the unsteady hands of this elderly courtier when the revolutionary storm broke

A "Government Hanging in the Air." S D Sazonov, Minister of Foreign Affairs, described accurately the position of the Council of Ministers when he said in the summer of 1915 that the "Government was hanging in the air" Its authority was openly challenged by the army commanders, it was treated in the most unceremonious fashion by the monarch from whom it derived its powers, and it was rejected as utterly unrepresentative and inadequate by progressive opinion, which demanded a "government enjoying public confidence."

THE RISE OF THE DUMA

Patriotic Attitude of the State Duma. The State Duma gradually became the center of organized opposition. Convoked for a brief one-day session immediately after the declaration of war it solemnly proclaimed its desire to cooperate with the Government in the conduct of the War to a victorious end. The only dissenting voice came from the Social Democratic Party represented by fourteen deputies After voting military appropriations (the Social Democrats withdrew without taking part in the balloting) the Duma adjourned until January, 1915 The brevity of parliamentary sessions during the War and the general nature of wartime conditions tended to curtail still further the already limited powers of the legislature Under the Russian law the bulk of war expenditure was outside the control of the Duma and the State Council. Legislation under Article 87 [2] received wide application No less than 384 measures were made law by virtue of this article during the premiership of Goremykin (January 30, 1914–January 20, 1916). Yet the prestige of the Duma continued to increase. After adjournment in the summer of 1914 the members of the lower chamber residing in the capital constituted themselves a provisional committee for the relief of war sufferers. The committee met regularly and in addition to carrying on its humanitarian work became a kind of unofficial political center which closely watched the development of the political situation Russia's unpreparedness for war and the disastrous reverses suffered by the army were the focal point of discussion. Official optimism voiced early in 1915 by the spokesmen of the Government—Goremykin and General Sukhomlinov, Minister of War, who was soon to be tried for high treason—were at variance with information that reached the Duma from every side. Nevertheless the three-day session of the legislature in January, 1915, stood firmly by the principle of "safeguarding the moral unity of the country as the best guarantee of victory " But behind this serene façade there began the struggle for the convocation of a business session of the Duma so that it could take an active part in the conduct of the War The Government made some concessions by replacing four Ministers, among them Sukhomlinov, by men more acceptable to public opinion, but showed no desire to meet the other wishes of the Duma.

The Progressive Bloc. In the summer of 1915 there came into existence a parliamentary combination, the Progressive Bloc, which comprised about two-thirds of the members of the Duma, the deputies from both the extreme Left and the extreme Right refraining from participation [3] A group of the more liberal-minded members of the State Council led by the former Prime Minister, Count V N Kokovtsov, joined the Progressive Bloc The program of this parliamentary group was modest. The principal demand was for a

[2] See above, p 678

[3] The Fourth Duma had 422 members who may be divided into four groups (1) Conservatives Right, 65 deputies, Nationalists, 125, "Octobrists," 98, (2) Liberals Progressivists, 48, Constitutional-Democrats, 59, (3) Radicals· Labor Group (led by Kerensky), 10, Social-Democrats, 14, (4) National minorities—Poles, White Russians, Moslems—21. Seven deputies had no party allegiance.

"government enjoying the confidence of the nation," a vague formula which did not mean a cabinet responsible to Parliament but merely one consisting of men whom public opinion would trust. There was nothing revolutionary about the other demands: greater tolerance toward national minorities, especially the Poles and the Jews whom the military command treated with extreme harshness, religious and political amnesty, including the liberation of all persons who had been deported without a trial, real freedom for the trade unions and other labor organizations A number of ministers favored the program and even took a hand in organizing the Progressive Bloc, but Goremykin believed that a combination comprising members of the two chambers was illegal and that the demands of the Bloc were outrageous The Emperor and the Empress shared his view.

Criticism of the Government in the State Duma. The session of the Duma in the late summer of 1915 proved stormy The program of "national unity" was submitted to a severe test and after six eventful weeks the Duma was suddenly prorogued The breach between the legislature and the Government was now complete and was further widened by the ministerial changes that followed the departure of the Tsar for the army Headquarters Sturmer, the new President of the Council of Ministers, attempted to exact from the leaders of the Duma a promise that the name of Rasputin would not be mentioned in the debates, for the grotesque and sinister figure of the illiterate *muzhik* (peasant) overshadowed the political scene and dwarfed all other issues, including that of the War Although the assurance was not given, the Duma was convoked in February, 1916, and for the first time in its history was visited by the Tsar, who received an enthusiastic reception. The visit had been inspired by Rasputin and the Empress, who seem to have been motivated by a mystical belief in the irresistible fascination emanating from the Tsar's person The charm failed to work and after the first emotional outbreak had died away the Duma proved more hostile and less manageable than ever The situation reached a climax in November, 1916, when Professor P N Miliukov, leader of the Constitutional Democratic Party, delivered a speech in which he discussed the dark forces behind the throne and insinuated that not only the Prime Minister, Sturmer, but also the Empress was guilty of collusion with the enemy. Miliukov ended each peroration of his indictment of the Imperial regime with the question. "Is this stupidity or treason?" His own answer to the question was not clear and opinion in the country was divided Miliukov's speech and others in the same vein, some of them delivered by conservative deputies, had immense repercussions throughout the country Strict censorship and the appearance of newspapers with a blank space where columns containing parliamentary reports and editorials usually appeared only excited general curiosity. The prohibited speeches were circulated in millions of mimeographed copies and were avidly read everywhere, even in the trenches and in the peasant cottages It has been established since that Miliukov's charges, so far as they concerned treasonable relations of the Empress and Sturmer with Germany, were spurious and were based on foreign newspaper gossip. In 1916

and 1917, however, the accusations produced a powerful impression and finally stigmatized the Empress as the *Nemka* (German), a name by which she was almost invariably referred to in the army and among the common people

Sturmer's Resignation The demonstration in the Duma forced Sturmer to resign but failed to clear the political atmosphere. His successor, Trepov, was not permitted to speak when he attempted to read the declaration of his Government from the rostrum of the Duma. The Duma was prorogued until February, 1917, and reassembled for its final session a few days before the outbreak of the revolution

Leadership of the State Duma. It is no exaggeration to say that from the middle of 1915 until the end of February, 1917, the State Duma was the real center of the political life of the nation and the acknowledged leader of the liberal and progressive elements In its opposition to the Government the Duma acted in close cooperation with the war organizations that had been created in order to meet the needs of the army

THE WARTIME ORGANIZATIONS

The All-Russian Union of Zemstvos The first semi-official wartime organization to make its appearance was the All-Russian Union of *Zemstvos*, an association of local self-government institutions for the relief of the sick and wounded A similar organization functioned during the Russo-Japanese War and the nucleus of an intra-*zemstvos* union had been retained to act as a coordinating organ in case of national emergencies such as famines or epidemics The All-Russian Union of *Zemstvos* for the Relief of Sick and Wounded Soldiers, to give the association its full name, came into existence immediately after the declaration of war and was joined by all the provincial *zemstvos* except the notoriously reactionary *zemstvo* of Kursk Prince George E. Lvov, the future head of the Provisional Government, became president of the Union, an office which he had held during the Japanese War.

The All-Russian Union of Towns and the Zemgor. A few days later the organs of municipal self-government followed a similar course and organized themselves into the All-Russian Union of Towns whose purpose was analogous to that of the Union of *Zemstvos* Operating with funds they raised themselves but chiefly with grants obtained from the Treasury, the two Unions built up a comprehensive network of hospitals, medical supply stores, and canteens. During the early months of the War the Unions were concerned almost exclusively with the relief of war sufferers, but as the unpreparedness of the country became more and more apparent they extended their activities into other fields especially the organization of supplies for the army and the provisioning of the civilian population To coordinate this work the two Unions created in 1915 a joint committee "for the supply of the army," known by the abbreviated name of *Zemgor* This committee concerned itself with such matters as the placing of the orders of the Ministry of War and rendering assistance in their execution; the establishment of new factories and other enterprises, the evacuation of industrial enterprises from the areas menaced by the enemy, and the direc

supply of the needs of the front In the performance of their difficult task the leaders and employees of the two Unions displayed considerable ability and great devotion to duty, although of course there were exceptions to this rule, as is inevitable in a large organization working under the trying conditions of a national emergency

"Mobilization of Industry." The same reasons that forced the Unions of *Zemstvos* and of Towns to turn from the relief of the sick and wounded to the organization of supplies and the manufacturing of munitions brought into being two sets of new organs that were a departure from Russia's bureaucratic tradition. These new organs were the War Industries Committees and the five Special Councils for national defense, transport, fuel, food supply, and refugees The appearance of these organizations was a consequence of a profound change in the attitude of public opinion, a change that took place in the spring of 1915 The earlier somewhat naive belief in the virtue of the principle "business as usual" gave way to the realization of the fact that only a concerted national effort could bring the War to a successful end "The mobilization of industry" became the new slogan, but it was also recognized that the object in view could not be achieved by the traditional bureaucratic methods, which, however, could not be completely discarded Hence a solution that had all the earmarks of a compromise

The War Industries Committees. The War Industries Committees, which came into being in the middle of 1915, consisted of representatives of industry, commerce, the Government, the Unions of *Zemstvos* and of Towns, and labor The Central War Industries Committee had its headquarters in Petrograd while twenty-eight provincial War Industries Committees were operating in different parts of the country by the end of 1915 Their object was to organize industry for the purpose of national defense The mobilization of industry, however, was envisaged as a voluntary action of business carried out with the approval of the Government but not by its orders or under its control It was self-mobilization rather than mobilization of industry, and the initiative, too, came from business circles An almost revolutionary departure from tradition was the inclusion in the War Industries Committee of representatives of labor The issue of participation in the work of the War Industries Committees split the Social Democratic Party, which largely controlled labor organizations The Menshevik wing favored participation by labor while the Bolsheviks,[4] led by Lenin, opposed it on the ground that labor should not be involved in the conduct of an imperialistic war After some friction the Lenin faction was defeated and in the spring of 1916 labor was represented on the majority of the War Industries Committees by duly elected delegates The Government showed its appreciation of labor's patriotic attitude in a characteristic fashion With the connivance of the authorities an agent of the secret police, Abrosimov, succeeded in having himself elected as labor delegate to the Central War Industries Committee and all the labor members of that organization were finally arrested early in 1917.

[4] See below, pp 720 ff

The Special Councils. The second set of wartime institutions—the five Special Councils on national defense, transportation, fuel, food supply, and refugees—originated with the State Duma and were duly established by law in August, 1915. They consisted of representatives of the Government, the State Duma, the State Council, the Unions of the *Zemstvos* and of Towns, and the Central War Industries Committees The object of the Councils was the coordination of policies within the sphere of their respective jurisdictions There was undoubtedly a great deal of overlapping in the work of the Unions of *Zemstvos* and of Towns, the War Industries Committees, and the Special Councils, and the methods these bodies used were perhaps not always the best. Nevertheless it is generally admitted that they vastly improved the technical preparedness of the army and that the troops were better equipped and armed at the end of 1916 than they had ever been before.

Political Activities of Wartime Organizations. The Unions of the *Zemstvos* and of Towns and the War Industries Committees, moreover, played an important political role Like the Progressive Bloc, they adopted the slogan of a "government enjoying the confidence of the nation," an elastic formula to which they gave at times an interpretation more radical than the official version. They not infrequently passed purely political resolutions criticizing the Government in no uncertain terms and their influence was all the stronger since the network of the institutions they controlled covered the entire country, including the army in the field The reactionary bureaucrats of the Goremykin and Sturmer type were continuously at odds with the two Unions and the War Industries Committees, and the Empress detested them, especially A I Guchkov, a former President of the Third Duma and Chairman of the Central War Industries Committee This, of course, did not make cooperation any easier between business and the representatives of self-government, on the one hand, and the Government on the other

POLITICAL CONDITIONS ON THE EVE OF THE REVOLUTION

Reports of the Police Department. By the end of 1916 the political situation had reached a stage where the inevitability of an explosion was almost universally realized The ubiquitous political police, which was probably the only department of the Imperial Government that did its work really well, has left reports describing the state of public opinion with a wealth of detail and forecasting the course of the approaching revolution with almost uncanny precision The Crown had utterly disgraced itself by the infamous rule of the Tsarina and Rasputin The Government was the very opposite of a cabinet "enjoying the confidence of the nation" and the whole structure of the bureaucratic State had reached an advanced stage of decadence Warnings of the impending doom came to Nicholas II from the members of the Imperial Family the conservative members of the State Council, the reactionary "Council o the United Nobility," the State Duma and its President, the Unions of *Zemst vos* and of Towns, the War Industries Committee, and innumerable other or

ganizations They failed, however, to influence in the least a man who was as obstinate as he was weak

Deeper Causes of the Impending Breakdown Behind the breakdown of the machinery of government there were other and more powerful forces which were working for the Revolution The War had imposed severe hardships on the country. The disorganization of the service of supply resulted in a shortage of many primary necessities, especially in the cities, in spite of the vast national resources The army, which was poorly led and poorly equipped (the improvements of 1916 notwithstanding), had suffered terrible reverses and heavy losses With no idea what it was fighting for, demoralized, disillusioned, and tired, it had an almost irresistible desire to lay down its arms and go home

The Revolutionary Parties The revolutionary parties, the Social Democrats and the Social Revolutionaries, who have since claimed credit for the overthrow of the Imperial regime, had in reality little to do with it Their organizations were practically wiped out of existence in the wave of police repressions that swept Russia on the very eve of the War, a blow from which they did not recover until 1917 They did, of course, carry on some propaganda, but on such a humble scale that it would be unreasonable to ascribe to it an important part in the downfall of the Empire All the revolutionary leaders were far away from the capital Lenin was in Switzerland, Stalin in distant Siberia, Trotsky was dividing his time between his office near Union Square, New York City, and his home in the Bronx. The Imperial regime was not really overthrown: it collapsed as a result of its own inner weakness and flagrant ineptitude

THE FALL OF THE EMPIRE AND THE ESTABLISHMENT OF THE PROVISIONAL GOVERNMENT

The Revolution of February–March, 1917. Although the imminence of the Revolution was freely discussed in Russia at the end of 1916 and early in 1917, the fall of the Empire came in a manner that no one had anticipated Seemingly minor popular disturbances caused by the shortage of foodstuffs broke out in Petrograd and on February 23, 1917, some seventy or eighty thousand workers went on strike. Their number rapidly increased in the days immediately following Violent street demonstrations took place, and on February 27 the troops of the Petrograd garrison began to go over to the side of the revolutionary populace The Government, headed by the helpless Prince Golitsin and with the mentally unbalanced Protopopov in the responsible office of Minister of the Interior, was unable to offer any real resistance On February 27 the State Duma, which had just reassembled, although prorogued, remained informally in session and elected a Provisional Committee which received the loosely worded mandate "to restore order and to deal with institutions and individuals " The Provisional Committee formed a Provisional Government headed by the then very popular Prince G E Lvov,

President of the Union of *Zemstvos*. Two emissaries of the Provisional Committee of the Duma were dispatched to the Imperial Headquarters of the army but met the Emperor at Pskov where his train had been held They had no difficulty in obtaining the abdication of Nicholas II, who maintained throughout the eventful days of March, as well as during the trying months to follow, truly remarkable composure. The Emperor signed his abdication on March 2 but, contrary to the expectation of the leaders of the Duma, renounced the throne not only on his own behalf, but also on that of his son and heir, the Grand Duke Alexis The Tsar nominated his brother, the Grand Duke Michael, to be his successor By March 3, when the Duma emissaries returned to the capital, the situation had taken such a turn that the maintenance of the monarchy appeared no longer possible The Grand Duke Michael, accordingly, signed a document in which he declined to accept the Crown and he entrusted the decision as to Russia's future form of government to a Constituent Assembly to be elected by popular vote In the meantime the supreme authority was to rest with the Provisional Government It was a development for which the liberal leaders of Russia were not prepared The difficulties of the task confronting the Provisional Government were aggravated by the fact that its authority was contested from the very beginning by another revolutionary body that came into being on February 27 This body was the Petrograd Soviet (Council) of Soldiers' and Workmen's Deputies

The Soviet of Soldiers' and Workmen's Deputies. The Soviet of Soldiers' and Workmen's Deputies was patterned after a revolutionary institution of the same name that had functioned in the capital in 1905 with Leon Trotsky as one of its leaders. The Soviet consisted of delegates representing the garrison and the industrial workers of Petrograd The deputies of the State Duma, Kerensky (Labor Group) and Chkheidze (Social-Democrat), were, respectively, vice-president and president of the Executive Committee of the Soviet Soviets were rapidly established all over Russia and similar organizations were created in the army. The brief period of the Provisional Government (March–October, 1917) was characterized by a continuous struggle between the Provisional Government and the Soviets, with the latter steadily gaining the ascendancy. It must be noted that the overthrow of the Imperial Government was the work of the revolutionary soldiery and populace of Petrograd The rest of the country and the army took no direct part in the Revolution but merely accepted it as an accomplished fact, some with enthusiasm, others not without apprehension and fear, but all with the recognition of its inevitability

Evolution of the Provisional Government The Provisional Government suffered in the course of its brief career six important changes in its composition, the evolution being continuously toward the Left The Provisional Government of March consisted of the flower of Russian liberalism and was the embodiment of that "government enjoying the confidence of the

nation" which the Progressive Bloc was striving to achieve Its only radical member was Kerensky, who accepted the portfolio of Minister of Justice with the special permission of the Soviet One of the major changes in the composition of the Provisional Government occurred in July when Prince Lvov resigned and was succeeded by Kerensky Further changes took place later, each of them marking the gains of the more radical elements.

Evolution of the Soviet. The Petrograd Soviet went through a similar evolution, that is, its composition was becoming more radical, but at all times the policies of the Soviet were more revolutionary than those of the Provisional Government, and this was one cause of the Soviets' final success

SUBSTITUTES OF PARLIAMENT AND THE CONSTITUENT ASSEMBLY

Eclipse of the State Duma and the New Representative Assemblies. The Provisional Government was aware of its weakness and its lack of real support Prince Lvov, while officially displaying the greatest optimism, privately admitted as early as April, 1917, that he and his colleagues were "tossed about like *debris* on a stormy sea " The State Duma, which was distinctly an institution of the Imperial regime, went into eclipse after the revolution, although its members for a while continued to meet in private sessions The Provisional Government, itself a child of the Duma, made a timid attempt to restore some of the Duma's authority by calling in April a joint session of the members of all the four Dumas This gathering, however, had no political influence Three more attempts were made to find a substitute for Parliament in the vain hope of creating a representative body on which the Provisional Government might rely in its struggle against the encroachments of the Soviets The Moscow State Conference was called in August It had some two thousand members representing the four Dumas, the Soviets, institutions of local self-government, cooperative societies, trade unions, industrialists, merchants, landowners, universities, and national minorities In September came the Democratic Conference which, although almost as large as the Moscow State Conference, consisted chiefly of representatives of the Soviets and of the institutions of local self-government, which had been reorganized on a more democratic basis An offshoot of the Democratic Conference was the creation of the Provisional Council of the Republic (Russia was proclaimed a republic on September 1), which consisted of some 550 members representing sixty-one political and social groups The Council was an advisory body which met on October 7, less than three weeks before the Bolshevik *coup d'état.* All these substitutes for a real representative popular assembly failed to achieve their purpose and did nothing to stop the rising wave of Bolshevism

The Constituent Assembly. In the meantime the Provisional Government appointed a special committee to prepare for the elections to the Constituent Assembly The electoral law embodied the principles of universal and equal suffrage without distinction as to sex, direct elections, the secret ballot, and

proportional representation It was a welcome departure from the tortuous procedure of the prerevolutionary days. In the election which took place, under the Soviet regime, in the middle of November, 1917, the overwhelming majority of the votes went to the Socialists. The Socialist Revolutionary Party, which traditionally represented the interests of the peasantry, obtained 16.5 million votes, the Bolsheviks 9 million votes, while the other parties trailed far behind The Constituent Assembly was permitted to meet in January but in view of its anti-Bolshevik majority it was dissolved the next day by the Soviet Government The event passed almost unnoticed In a country so remote from parliamentary tradition as Russia an elective assembly meant very little The mere enactment of an electoral law, however liberal, is not sufficient to transform a backward, illiterate country into a democracy

THE SOCIAL REVOLUTION

Ascendancy of New Social Groups and New Administrative Agencies. The downfall of the Imperial Government was only the first stage of the Russian Revolution The chief element in its further development was the ascendancy of new social groups which rapidly crowded out the former ruling class—the landlords and the bureaucracy—from their position of leadership and finally destroyed them altogether The institutions of central government either disappeared at once (the Crown, the State Council, the Council of Ministers) or slipped more gradually into oblivion (the State Duma) They were replaced by organs of a purely revolutionary origin such as the Provisional Government and the various substitutes for parliament The whole administrative machinery was subjected to a drastic process of democratization which was carried out either by hasty legislation or, more frequently, by the spontaneous action of the new social forces The country was soon covered with a complex network of various committees and councils whose legal origins and functions were by no means clear but which all claimed wide jurisdiction and practically unlimited rights to participate in the conduct of public affairs But, although the institutions of the Imperial regime were rapidly wiped out of existence, the social groups that had dominated them attempted for a time to play a part in political life

Program of the Provisional Government. The Provisional Government, it will be remembered, was formed by the Provisional Committee of the Duma which was itself the product of the inequitable election Law of June 3, 1907. Prince Lvov and his colleagues, and later Kerensky, still carried on the traditions of an era that already belonged to the past The Provisional Government espoused the theory that the revolution was caused primarily by widespread dissatisfaction with the manner in which the war was being conducted The Government called for the continuation of the War to a victorious end and insisted on the fulfillment of Russia's obligations toward her Allies Although they were willing to make important concessions on the land questions—especially in the later months of the rule of the Provisional Government—they maintained that all such decisions belonged to the Con-

stituent Assembly and that order and existing conditions should be maintained in the meantime The new Russia that they visualized was a political democracy within the framework of economic institutions based on individual ownership and freedom of business enterprise.

Aspirations of the Masses. This program was at variance with the aspirations of the masses Far from wishing to continue the War to a victorious end the rank and file of the army ardently desired immediate peace To the Russian peasantry, who constituted the overwhelming majority of the population, freedom did not mean the introduction of parliamentary institutions about which they knew nothing, but the immediate division among themselves of the large landed estates in which they saw the real reason for their misery The peasant-soldier in the trenches and the peasant-worker in the factory had no thought except to hurry back to his native village so as to participate in the impending redistribution of land This desire, which had existed among the rural population since the days of the emancipation of 1861, has been aptly described by a penetrating historian, Baron Boris Nolde, as "latent socialism without a doctrine " The long-suppressed aspirations of the peasantry now coming to the surface with extraordinary violence were fanned into flame by the propaganda carried on both in the army and behind the lines Of this propaganda the Soviets, headed by the All-Russian Executive Committee of the Soviet, became the center. The declamations of the members of the Provisional Government about national honor and Russia's international obligations were naturally powerless to stem the tidal wave of this great spontaneous popular movement The peasants took the law into their own hands and proceeded to divide the landed estates among themselves The soldiers, not to miss their share of the spoils, deserted the army by thousands and by the autumn of 1917 Russia was in the throes of a violent agrarian revolution.

Divorce between the Educated Classes and the Masses. In this great national emergency the aloofness of the educated classes from the masses bore its evil fruit As a contemporary document put it, the upper classes and the common people did not speak the same language and could not understand one another To Russian liberals and to moderate Socialists immediate peace was treason to the cause of the Allies and to democracy, and the seizure of land by the peasants was lawlessness, to the masses, both measures were legitimate and long overdue In the uneven contest it was naturally the masses that were bound to win

THE ADVENT OF BOLSHEVISM

Lenin. There was among the intellectuals one group that was free from the inhibitions that paralyzed any constructive action on the part of the liberals This group consisted of the extreme revolutionaries, especially the Bolshevik wing of the Social Democratic Party led by Lenin [5] The revolutionary parties, however, played no important part in the overthrow of Tsardom and the

[5] See below, pp 720 ff

representation of the Bolsheviks in the Petrograd Soviet in March was quite insignificant Lenin did not reach Petrograd until April, but on his arrival he threw himself at once into the struggle which to him meant the establishment not of a democratic republic but of a Socialist Soviet State This attitude was at first opposed by a number of the Social Democratic leaders, including Stalin, but it rapidly gained wide support in revolutionary circles, among whose leading spirits was Leon Trotsky.

Fall of the Provisional Government The Bolsheviks had at first no powerful party organization, their financial resources were scant, their following insignificant But the slogans they adopted were the correct expression of the wishes of the masses. Lenin demanded both the immediate end of the War and the immediate transfer of all land to the peasants, inviting the populace to "plunder what had been plundered," that is, to abolish all private wealth This program was summed up in the brief sentence, "All powers to the Soviets" Lenin's recognition of the decisive influence of the peasantry and his harnessing of the forces of the agrarian revolution to the service of the social revolution has been since recognized as one of the most striking manifestations of his revolutionary genius. He was not really leading the masses but was rather riding the crest of the revolutionary wave His following increased by leaps and bounds. There was, it is true, an unsuccessful Bolshevik uprising in July, 1917 During this revolt Lenin fled to Finland where he remained in hiding But time was working for him In the early autumn the Bolsheviks obtained a majority in the Soviets of Moscow and Petrograd A fresh Bolshevik uprising in October met with as little resistance as had the movement in March that overthrew the Empire The Provisional Government of Kerensky found no more people to defend it than had the Imperial Government, although some fighting took place in Petrograd, Moscow, and other cities. On October 26 the Provisional Government had ceased to exist and the Bolsheviks became the masters of Russia

PART II *THE USSR*

CHAPTER III

THE NATURE OF THE SOVIET STATE

THE MARXIAN SCHEME

Basic Elements of Marxism. Viewed in retrospect the downfall of the Imperial regime and the overthrow of the Provisional Government appear as two stages of the same historical process It was only with the establishment of the Soviet rule that the revolution assumed a distinctly social character This transformation was due to the fact that the Bolsheviks who succeeded the Provisional Government believed in the doctrine of revolutionary Socialism founded on the writings of Karl Marx (1818–1883) and Friedrich Engels (1820–1895)

A basic element in the Marxian theory is the economic interpretation of history which teaches that the political, social, religious, and other institutions of any given historical era are determined by economic factors, by the "mode of production " Starting with this fundamental proposition and operating with a theory of value derived from the classical economists and with a dialectical method that was an adaptation of that of Hegel purged of its idealist assumptions, Marx and Engels submitted the capitalistic system to a searching analysis They reached the conclusion that the history of the human race must be told in terms of class struggle Under capitalism the two classes confronting one another are the employers and the workers, the exploiters and the exploited In spite of the seemingly impregnable position of the exploiters, the mechanics of capitalism and its inner contradictions prepare the way for the inevitable downfall of the capitalistic system Its doom must take the form of a violent proletarian revolution which will lead mankind through the transition stage of the dictatorship of the proletariat to the Communist commonwealth of the future

Vladimir Lenin, applying the Marxian analysis to the era of monopolistic capitalism and imperialism, argued that bloody wars are inevitable among the imperialistic nations for the possession of their colonial empires and the defense of their overseas investments, international wars that will merge into civil wars and colonial uprisings followed by revolutions and the eventual

establishment of Communism The inescapable downfall of capitalism necessarily raises the question as to how it will come about and by what form of political and social organization it will be succeeded The clearest and most comprehensive statement of this all-important problem will be found in a celebrated little volume *The State and the Revolution* written by Lenin in August, 1917

COMMUNIST THEORY OF THE STATE

Dictatorship of the Ruling Class. According to the Communist doctrine the State is the product of the class struggle, it is the instrument by which the exploiters keep the exploited, that is, the masses of the toilers, in subjugation and obedience It is always, in the phrase of Engels, "a force for suppression," the dictatorship of the ruling class (which under capitalism is the bourgeoisie) and it cannot be anything else The fact that many of the modern capitalist States appear in the guise of democracies changes nothing in their nature but merely puts in the hands of the ruling class somewhat different and more refined tools for achieving the same object Nevertheless the democratic form of government presents important advantages from the point of view of the proletariat it preserves all the inner contradictions inherent in capitalism and at the same time offers the workers the opportunity to organize for the coming struggle It is idle to expect that the capitalists who run the bourgeois State will ever voluntarily relinquish their privileged position, and the downfall of capitalism can be brought about only by the forcible overthrow of the oppressors Although history itself is working for the ultimate triumph of Communism, a successful revolution at any given moment needs the resolute and enlightened leadership of a well-organized and disciplined revolutionary party Of all the social groups the industrial proletariat alone is prepared by the very conditions under which it lives and works, by its discipline and *esprit de corps,* to assume the leadership in the impending struggle This is the task that Lenin and his followers fulfilled with such conspicuous success in October–November, 1917.

"Withering Away" of the State The State, having its origin and justification in the class struggle, can exist only so long as there are classes Classes under capitalism are the product of economic inequality and especially of the private ownership of the means of production The final aim of the proletarian revolution is the creation of a classless community and the first step in this direction, a step that must be taken immediately after the overthrow of the rule of the bourgeoisie, is the nationalization of all means of production A direct transition from capitalism to Communism is held to be impossible "The proletariat needs a State . ," writes Lenin, but "according to Marx, the proletariat, firstly, needs merely a State that withers away, that is, it is so organized that it must begin at once to wither away and cannot fail to wither away; and, secondly, the toilers need a 'State' 'that is the organized and ruling class of the proletariat' " In other words, the dictatorship of the capitalists will be succeeded by the dictatorship of the proletariat, and the

latter will "wither away" to make room for the Communist commonwealth which will be classless and therefore will not be a State The revolutionary party to which Lenin assigned so important a role in bringing about the downfall of capitalism is to maintain its unchallengeable leadership during the transition period of the dictatorship of the proletariat

Abolition of the Army and of the Bureaucracy. Lenin had the deepest contempt for utopias in general and for the utopian Socialists in particular He was at his best when dealing with concrete revolutionary situations and only seldom did he allow himself to forecast future developments except in the broadest terms, such as, for instance, the expression of his unfaltering belief in the inevitability of the proletarian revolution It must be a source of some embarrassment to his successors that, in discussing the mysterious process of the "withering away" of the State, Lenin has approached the question in terms which, for him, were unusually precise and concrete [1] He maintained that "the toilers need a State merely for the suppression of the resistance of the exploiters," and since the latter formed a small minority the breaking down of their resistance appeared to him as a matter "relatively easy, simple and natural" It was not sufficient, according to Lenin, for the victorious proletariat to take over the machinery of government, it must be broken and destroyed altogether, for the bureaucracy was a dangerous inheritance from the bourgeois regime. The proletarian State once established will "immediately begin to wither away because in a society free from class contradictions the State is both unnecessary and impossible" Lenin outlined a number of steps by which this "withering away" was to be brought about First among them was, in the phrase of Marx, "the abolition of the permanent army and its replacement by the armed people," that is, a popular militia. No less important was the second step, the abolition of the bureaucracy "Capitalist culture," Lenin wrote, "has created large-scale production, factories, railways, the post, telegraph and telephone service, and so on, and on *this basis* the immense majority of the functions of the old 'State authority' have been so simplified and can be reduced to such elementary operations as registration, bookkeeping, and control, that the performance of these functions will be perfectly accessible to all literate people, that it will be perfectly feasible to perform these functions for the 'wage of a workingman,' that one can (and must) deprive these functions of even a shadow of something privileged, 'authoritarian' " Civil servants therefore will be mere "supervisors and bookkeepers," positions in government service will be filled by election and the tenure of any office, without exception, will be revocable at any time Lenin, indeed, demanded the "immediate introduction" of a system under which "*all* should fulfil the functions of control and supervision, *all* should be 'bureaucrats' for a time and therefore *no one* could become a 'bureaucrat' " The elective representative institutions of the bourgeois democracy will be retained but "parliamentarianism, as a system, that is, the separation of the

[1] It must be understood that in the Soviet Union the correctness of Lenin's views is never questioned Just as Mussolini was in Fascist Italy, Lenin in the USSR is "always right"

legislative from the executive power, and the immunities of the deputies" will be abolished The proletarian representative assemblies, according to Lenin, must be a place for work, not for idle talk

Maintenance of Order in the New Society. Lenin refused to commit himself to any definite forecast as to how long it will take for the State to "wither away" He merely stated that it was to be a natural and gradual process With the disappearance of exploitation by the capitalists, those formerly exploited will get accustomed to observing, without any outside compulsion, the ordinary rules of a civilized community The breaches of these rules were themselves the consequence of exploitation and of the misery and poverty of the masses. With the destruction of capitalism all the social evils it has brought in its wake will disappear Human nature will be changed In a classless society, to repeat, the State, that instrument of coercion, will be both unnecessary and impossible

SOCIALISM AND COMMUNISM

Socialism. The transition to Communism is to be achieved in two stages. The preliminary stage, usually known as Socialism but described by Marx as "the first stage of Communism," is characterized by the nationalization of all means of production and, consequently, by the termination of "the exploitation of man by man," held by the Socialists to be inherent in capitalism But the right of private ownership, except in so far as it applies to means of production, will be retained The Socialist principle that "he who does not work does not eat" will be put into effect; that is, there will be no unearned incomes Individual earnings will be determined by the application of another Socialist principle· "for an equal amount of labor an equal amount of the produce" Although the State as an instrument of class oppression will disappear, for there will be no more classes, it will still function in order to enforce the rights of private property in chattels and goods other than means of production. Complete equality will not yet be established. Communism will still be a thing of the future.

Communism. Neither Marx nor Lenin has given a definite answer to the question as to how long it will take for Socialism to evolve into Communism and what form the organization of the future Communist society will take They have merely asserted that Communism will be characterized by the liberation of man from slavery to the division of labor, by the disappearance of the antagonism between mental and physical labor; by the lifting of labor from the position of a tool for making a living to that of a principal necessity of life, by the many-sided development of the individual, the resulting expansion of the productive forces, and the increase of social wealth When these developments have taken place it will be possible to put into effect the principle of Communism "from each according to his abilities, to each according to his needs" Only then will the State finally wither away and mankind [illegible] dom and the State are declared to be incompatible.

Lenin stated that "we do not know and we cannot know" how and when Communism is to be realized

It is officially claimed that in the late 1930's the USSR reached the stage of Socialism and was advancing toward Communism. The fact that the State, nevertheless, has shown no sign of withering away has led Stalin (as it will appear later in this Chapter) to make important amendments to the theories expounded by Lenin in *The State and the Revolution*

THE QUESTION OF NATIONALITIES

Importance of the Question of Nationalities. Although the revolution, the civil war, and Russia's absence from the Paris Peace Conference of 1919 resulted in the severance from the former Russian Empire of a number of important territories (Finland, Russian Poland, Bessarabia, the former Baltic Provinces—Latvia, Lithuania, and Estonia), the Soviet Union continued to control a vast area comprising about one-sixth of the land surface of the globe and inhabited by peoples speaking many languages and belonging to many races The attitude of the Communists toward the national question thus acquires considerable practical importance Marx, according to Lenin, advocated administrative centralization rather than the federal principle This centralization, however, was qualified by Lenin as "democratic" and "proletarian" and it did not preclude a wide degree of local autonomy The "unity of the nation" was to find its expression in the voluntary cooperation of the organs of the regional and local government with the central administration in achieving the common objectives of the proletarian State, chiefly in fighting the resistance of the former capitalists

The program of the Russian Communist Party adopted in 1919 provided that on the question of nationality the Party must strive for close cooperation with the proletarians of other nations in the struggle for the overthrow of the landed proprietors and the bourgeoisie. In order to overcome the suspicion of the oppressed nations toward the proletariat of the State that used to oppress them the program proclaimed the complete equality of all national groups and the recognition of the right of the colonies and other national territories to secede At the same time the Party favored the creation of a federation of Soviet Republics as a "transition stage toward complete unity" Particular care should be taken, they believed, to safeguard the cultural rights and to encourage the schools, literature, and the use of the local languages

Stalin explained in 1920 that the attitude of the Communist Party toward the right of secession was determined "by the concrete factors of the international situation, by the interests of the revolution" The chief consideration was the strengthening of Russia and the weakening of imperialism "This is why the Communists fight for the secession of the colonies from the Entente," wrote Stalin, "but they must at the same time fight against the severance of the border regions from Russia" He argued that the independence of Russia's former territories would be purely nominal, that they would inevitably become

mere tools in the hands of the imperialistic powers This interpretation of the right of secession renders practically inoperative the relevant articles of the successive Soviet constitutions granting the national groups within the Union the right to decide freely their own fate.[2]

"SOCIALISM IN A SINGLE COUNTRY"

World Revolution. Another brief excursion into the wilderness of Communist theory is essential in order to understand the general trend of Soviet policies since about 1925 It has already been noted that Marxian Socialism, as interpreted by Lenin, is primarily a doctrine of revolution. According to this theory the Socialist revolution should have occurred in one of the more advanced industrial countries, such as the United States, Great Britain, Germany, or France In order to be successful, that is, to bring about the establishment of Socialism, a national revolution was not by itself considered sufficient The creation of the Socialist commonwealth required the concerted effort of at least several advanced countries. The process, as envisaged by Lenin, was the merging of the national revolutions into a world revolution. The establishment of a Socialist system in a single country was not seriously considered and the idea was usually rejected as un-Marxian and utopian The fact that the first proletarian revolution occurred in Imperial Russia, a backward agricultural country, was something of a shock to the more orthodox Marxists They found solace, however, in the belief prevailing in Russian revolutionary circles after October, 1917, that the example of Russia would be followed in the near future by other European countries and, before long, by the United States The policy of the Russian revolutionary Government was thus clear and in harmony with Communist theories it was aimed at the advancement of world revolution Conditions throughout the world during the last phase of the War and immediately thereafter seemed to favor the Communist cause Fatigue, disillusionment, economic distress, were undermining the social structure of every country Political revolutions had occurred in Germany and in Austria-Hungary Hungary was for a few months in 1919 under a Communist dictatorship, and Soviets made their appearance in Bavaria The revolutionary movement, however, collapsed in its incipient stage and Europe, not to mention the New World, refused to follow the example of Russia The "scientific" scheme of Marx and Lenin found itself grievously at variance with the course of historical events

Stalin vs. Trotsky If the survival of the Russian Soviet Government in the midst of a capitalistic environment was a pleasant surprise to the rulers of Moscow, the failure of the world revolution was both a disappointment and an embarrassment The situation was complicated by the death of Lenin in January, 1924 The removal of the acknowledged leader was followed by a bitter struggle within the Communist Party. The two principal claimants to Lenin's mantle were Leon Trotsky, the creator of the Red Army, and Joseph

[2] Stalin, J V, *Marksism i natsionalnyi vopros* (*Marxism and the National Question*), collection of articles and speeches (Moscow, 1937), pp 224–225 See below, p 741.

Stalin, the Secretary-General of the Communist Party. Although the personal element was not absent from the controversy, the contest centered on a fundamental problem of Communism Trotsky, a brilliant writer and a master of Marxian dialectics, was a strong supporter of the idea of world revolution, its promotion was to him not only the chief but the sole object of the Soviet Union. Stalin, who as late as April, 1924, expressed in print the view that the victory of Socialism in one country only was impossible, suddenly reversed himself[3] He now advanced the doctrine that "Socialism in a single country" was quite feasible, provided the country in question had a large territory, a large population, and abundant natural resources This, however, was not yet the "final victory," for there remained the danger of intervention by the capitalist nations The discussion that ensued kept the Communist bodies busy for four or five years and ended in the defeat of Trotsky He was deprived of his various offices, expelled from the Party, deported first to Central Asia and in 1929 to Turkey, and was finally murdered in Mexico in 1940

Importance of the Doctrine The official acceptance of Stalin's doctrine of "Socialism in a single country" was an important turning point in the history of the Soviet Union World revolution, of course, could not be and was not renounced, but for a time it ceased to be an active factor in Soviet policies In the field of international relations Moscow sought cooperation with the capitalist nations, at home it embarked on a vast scheme of economic reconstruction embodied in the Five-Year Plans Stalin attached the greatest importance to his doctrine In his report to the Fifteenth Congress of the Communist Party (October–November, 1926), as well as on other occasions, he voiced the conviction that without full assurance that Socialism could be built within the frontiers of the Union the industrialization program would have been futile Reduced to its simplest expression it may be said that the issue was one of internationalism versus nationalism It was nationalism that won the day and for nearly two decades remained the cornerstone of Soviet domestic and foreign policy.

REVISION OF THE THEORY OF THE STATE

Soviet Socialism. The building of Socialism in the USSR raised certain disturbing questions of Marxian theory According to the official view the elimination of private ownership of the means of production resulted in the abolition of classes Simultaneously the State should have begun to wither away because, to quote Lenin again, "in a society free from class contradictions the State [always the dictatorship of the ruling class] is both unnecessary and impossible." It will be remembered that the disappearance of the standing army and the elimination of the bureaucracy were the principal manifestations of the withering away of the State, as envisaged by Lenin The evolution of the Soviet Government, however, follows a course very different

[3] See Michael T Florinsky, *World Revolution and the USSR* (Macmillan, New York, 1933), pp 155 ff

from the one visualized by the founders of "scientific" Socialism The professional army, far from disappearing, has been vastly increased, enjoys a privileged status, is flattered and admired Communist leaders, from Stalin down, eagerly assume military titles and parade in army uniforms bedecked with medals The bureaucracy, instead of being superseded by a kind of universal temporary service of all citizens, has never been more firmly entrenched. It has invaded every field of activity and hordes of State and Party officials, according to authoritative Soviet statements, display in an exaggerated form the most objectionable characteristics of their colleagues in the capitalist countries The long and powerful arm of the State guides the Soviet citizen through his daily routine, regulates the conditions under which he lives and works, measures out his "living space," confers upon him decorations and honorary titles if he is diligent and docile, or, with the assistance of the ubiquitous police and of an elastic and comprehensive penal code, chastises him if he is recalcitrant, unappreciative, inefficient, or, perhaps, unable to keep pace with the speed-up of industrialization Intellectual pursuits, the press, the schools, the arts, and science are rigidly controlled by an omnipotent bureaucracy whose chief qualification is unfaltering adherence to the "party line" Whatever may be the benefits conferred upon Russia by the Soviet system the evolution of its administrative structure has nothing in common with the process outlined by Lenin in *The State and the Revolution*

Stalin's Report to the Eighteenth Congress of the Party. The contradiction between theory and practice is so flagrant that it could not be indefinitely ignored even in a country that has learned the lesson never to ask those in power embarrassing questions Stalin has provided in his report to the Eighteenth Congress of the Communist Party (March, 1939) an authoritative explanation of the reasons why Soviet Communism differs in many essentials from the pattern set by Marx and Lenin. Elaborating and amplifying the views he had expressed on several previous occasions, he admitted that not a few of his followers found it difficult to reconcile actual conditions in the USSR with the Communist ideal The argument advanced by Stalin to set at rest the minds of the doubting Thomases is the direct offspring of his doctrine of "Socialism in a single country" He explained that the contradiction between the Socialist commonwealth envisaged by Marx and Lenin and the Soviet State as it actually exists is due to the capitalist environment and especially to the activities of foreign spies. He pointed out that Engels never discussed the position of a lone Socialist State among hostile capitalist nations Engels, Stalin argued, either was concerned with the inner process of development of the future Socialist State, irrespective of the international situation, or proceeded on the assumption that Socialism would be victorious in all or in the majority of the capitalist nations. Lenin, of course, could not be suspected of such negligence or lack of foresight Stalin therefore produced the ingenious theory that Lenin's failure to discuss the behavior of the State in a single Socialist country was due merely to the fact that the writing of *The State and the Revolution* was interrupted by the events of the autumn of

1917 What Lenin intended to say (although he gave no indication of such intention) was now being said by Stalin The pupil has written the final chapter of the master's great work According to Stalin, the history of the Soviet Union is divided into two stages The first stage lasted from the advent of the Bolsheviks to power to the liquidation of the exploiting classes During this period the State performed two principal functions suppression of the dispossessed classes at home, and defense against foreign aggression The third function, the administration of economic and cultural activities, was still relatively unimportant The second stage is the period from the liquidation of the capitalist elements to the final triumph of Socialist economy and the adoption of the new Constitution The character of the State has changed In Stalin's words.

> The function of military suppression at home has been dropped, has withered away because exploitation has been abolished, there are no more exploiters and there is no one to suppress Instead of the function of suppression the State has assumed the new function of protecting Socialist property against thieves and embezzlers of the people's wealth The function of military defense from foreign aggression has been fully preserved and, therefore, there are maintained the Red Army, the Navy, as well as the penal agencies and intelligence service necessary to catch and punish the spies, assassins and "wreckers" sent into our country by foreign intelligence services The function of economic organization and the cultural-educational activities of the State agencies have been maintained and have been fully developed Now the principal domestic task of our State consists in the peaceful work of economic organization and cultural and educational activities As to our army, penal agencies and the intelligence service, the point of their weapon is no longer directed inside the country, but outside it, against our enemies. As you see we have now an entirely novel Socialist State, unprecedented in history, a State that differs considerably in both its form and functions from the Socialist State of the first period
>
> But progress cannot be stopped here We are moving further, forward, toward Communism. Shall we maintain the State also under Communism?
>
> Yes, it will be maintained unless the capitalist environment has been liquidated, unless the danger of military aggression from the outside has been removed It is evident that the forms of our State will be altered again according to the modification of the domestic and foreign situation
>
> No, it will not be maintained and will wither away if the capitalist environment has been removed, if its place has been taken by a Socialist environment

Stalin's Doctrine Appraised. The Soviet press has unanimously acclaimed Stalin's perhaps not very fortunate venture into theoretical analysis as a "priceless contribution to the treasure-house of Marxism-Leninism" It is difficult to agree with this evaluation even if one has reservations about the contents of the "treasure-house" Far from expounding the doctrines of *The State and the Revolution* Stalin has, in fact, drastically revised them Lenin wrote that the proletarian State "is so organized that it must begin at once to wither away and cannot fail to wither away", according to an official Soviet commentator, "Stalin has conclusively proved that the withering away of the State will be accomplished not through the weakening of the State power but through the maximum increase of its strength"[4] Stalin's Socialist-minded

[4] E I Soldatenko, *Ob otchetnom doklade tovarishcha J V Stalina na XVIII sezde partii (On the Report by Comrade J. V. Stalin to the Eighteenth Congress of the Party)*, verbatim

critics have long held that the industrialization of the USSR is a kind of inverted Marxism. The Marxian doctrine speaks of the establishment of Socialism through the dictatorship of the proletariat *because* the country has reached an advanced stage of capitalist development, while the Soviet Union is being industrialized *because* it is governed by a proletarian dictatorship. The decisive part in shaping the destinies of the Socialist commonwealth assigned by Stalin to "spies, assassins, and wreckers" sent to Russia by "foreign intelligence services" fits ill into the majestic picture of the interplay of great economic and social forces which forms the essence of the Marxian analysis. Stalin has, indeed, written a new chapter in Lenin's *The State and the Revolution*. The chapter, however, amounts to the rewriting of the book itself.

Its Practical Significance. The characteristic crudeness and humble theoretical level of Stalin's doctrine had the practical advantage of bringing it within the grasp of the rank and file of the Party. It effectively silenced any expression of doubts as to the compatibility of Soviet realities with the teaching of Marx and Lenin. The withering away of the State was relegated to a distant and uncertain future. In the meantime the bureaucracy, the army, and the police received the pleasing assurance that their services will be required so long as the capitalist environment exists. Since the abolition of these three pillars of the regime was never within the realm of practical possibility, it may well be argued that things remained pretty much as they were before and that the revision of the doctrine of the State was of no practical consequence. This conclusion, however, would be unwarranted. The combined effects of the theory of "Socialism in a single country" and that of the survival of the State until the disappearance of the capitalist environment gave the Communist doctrine a degree of integration which heretofore was lacking, even though world revolution has always been the ultimate object of revolutionary Marxism. Stalin has definitely linked the elimination of capitalist environment to the solution of two major issues, one foreign and one domestic: security (prevention of aggression by a capitalist nation) and the establishment of the Communist commonwealth (withering away of the State), thus centering Soviet policies on one concrete goal. The foregoing reasoning may appear abstract and far-fetched, yet it offers a clue to an understanding of the course pursued by Moscow during the closing stage of World War II and since 1945.

HISTORY OF THE COMMUNIST PARTY OF THE SOVIET UNION

Origins of the Communist Party. The party of the revolutionary proletariat occupies an important place in the revolutionary program of Marx and Lenin. As one would expect, therefore, the All-Union Communist Party of

---

report of a lecture delivered before the All-Union Society for the Propagation of Political and Scientific Knowledge (Moscow, 1949), p. 34. The Society (*Vsesoiuznoe Obshchestvo po Rasprostraneniiu Politicheskikh i Nauchnikh Znanii*) is, next to the radio and the press, the most active propaganda agency in the Soviet Union. Its publications conform strictly to the "party line" and have a wide circulation. The second printing of Soldatenko's pamphlet was issued in 215,000 copies.

the Bolsheviks ($VKP_{(b)}$) is the mainspring of the Soviet regime. Its present name is of recent origin. The beginning of the organization goes back to 1898 when the First Congress of the Russian Social Democratic Labor Party was held in Minsk, Russia. The Congress was attended by merely nine members, and Lenin, who was in exile in Siberia, was not among them. The Second Congress of the Party, which was held in 1903 in Brussels, met with difficulties with the police and was transferred to London. This assembly was marked by a cleavage arising from a minor dispute over questions of organization. The majority group, led by Lenin and Plekhanov, formed the faction of the Bolsheviks (literally "majority") while their opponents became known as the Mensheviks (literally "minority"). It was only gradually that the seemingly unimportant friction within the Social Democratic Party developed into a real parting of the ways, the Bolsheviks generally supporting the more radical policies. The Second Congress approved the Party's program and charter, both of which survived until the revolution of 1917. The program and the subsequent activities of the Party were directed chiefly toward the overthrow of the Imperial regime and the improvement of the position of the working class. The program referred to the proletarian revolution but little serious thought was given to an event that appeared to the majority of the members as remote, and to some as even improbable. The activities of the Party were divided between revolutionary propaganda, including the publication of newspapers which led a precarious existence and had an extremely modest circulation, and internal strife and disputes accompanied by much bitterness and mutual excommunications. Until 1917 there was nothing to indicate that the Social Democratic Party was destined to rule the former Russian Empire. In 1918, after the advent of the Bolsheviks to power, the Bolshevik faction of the Social Democratic Party took the name of the Russian Communist Party of the Bolsheviks. In December, 1922, Russia became the Union of Soviet Socialist Republics and in 1925 the Party once more changed its name to that of the All-Union Communist Party of the Bolsheviks. Until 1943 it was officially described as a section of the Third (Communist) International.[5]

In 1919 the Eighth Congress of the Party approved the new program which gives an outline of the impending doom of capitalism and imperialism and provides for measures of practical policy devised in agreement with Lenin's analysis of the period of transition from capitalism to Communism. The 1919 program is no longer considered adequate. The Eighteenth Congress of the Party appointed on March 20, 1939, a commission of twenty-seven members under the chairmanship of Stalin to draft a new program for submission to the next party congress. As these lines go to press twelve years later (December, 1951) the Nineteenth Congress has not yet met and nothing is known about the work of the commission.

[5] See below, pp. 857 ff.

ORGANIZATION OF THE COMMUNIST PARTY

The Party's Character and Aims. The organization of the All-Union Communist Party has been altered several times, the more important earlier changes being introduced in 1922 and 1925 Since 1934 the constitution of the Party has been determined by the charter unanimously approved by the Seventeenth Congress in February, 1934, and amended by the Eighteenth Congress in March, 1939 The charter described the Party as "the organized vanguard of the proletariat of the USSR, the highest form of class organization The Party leads the proletariat, the toiling peasantry and all toiling masses in the struggle for the dictatorship of the proletariat, for the victory of Socialism. The Party is the leader of all the organs of the proletarian dictatorship and assures the successful building up of the Socialist society.[6] The Party is a united fighting organization bound by conscious, iron, proletarian discipline. The Party is strong through its unity, its singleness of will and a singleness of action incompatible with deviation from the program, with breach of party discipline, or with the formation of factions inside the Party " All members are pledged to work actively and unselfishly for the achievement of the aims stated in the program and in the charter

Admission to the Party under the 1934 Charter Admission to the Party is based exclusively on the ground of personal merit Prior to 1939 the requirements for admission, which were made more stringent by the charter of 1934, varied with the standing of the applicants, who were divided into four groups· (1) industrial workers of five years' standing, (2) industrial workers of less than five years' standing, agricultural laborers, the Red Army men who were formerly workers or collective farmers, and "technicians", (3) collective farmers, members of peasant handicraft cooperative organizations and teachers in elementary schools, (4) other employees Each applicant was to be sponsored by from three to five Party members of five years' standing. In the case of group four the sponsors were to be Party members of ten years' standing Former members of other political parties might be admitted only with the approval of the Central Committee of the Party The credentials of each applicant were checked by the local and higher Party organizations, and the standing of the applicant determined which of the higher Party organs should give the final sanction. Applicants under twenty years of age were admitted solely through membership in the *Komsomol* or Union of Communist Youth The sponsors were held responsible for the candidates they recommended and if the latter proved unworthy the

[6] This part of the preamble to the charter was revised in 1939 and reads as follows "The All-Union Communist Party of the Bolsheviks, being a section of the Communist International, is the organized vanguard of the working class of the USSR, the highest form of class organization The Party is guided in its work by Marxist-Leninist theory The Party leads the working class, the peasantry, the intellectuals, that is all the Soviet people, in the struggle for the strengthening of the dictatorship of the working class, for the strengthening and development of the Socialist order, for the victory of Communism The Party is the leading nucleus of all organizations of toilers, both social and State, and ensures the successful construction of Communist society."

sponsors were liable to disciplinary measures including expulsion from the Party

Candidates. Admission to full membership is preceded by a period of probation, the prospective members being known as candidates Prior to 1939 the probation period was one year for applicants in group one, two years for those in groups two, three, and four, and three years for the former members of other parties The requirements for admission as a candidate are similar to those for admission as a Party member The candidates participate, with a consultative vote, in the work of the Party organs to which they are attached They pay monthly dues ranging from twenty rubles for those earning less than one hundred rubles per month to 3 per cent of their wages for those receiving five hundred rubles or more

After 1934 there were also "sympathizers' groups" which were attached to primary Party organs The "sympathizers" were described as non-Party men and women who, although they had proved their devotion to the Party, were not yet sufficiently prepared to join it It was their duty to attend the open meetings of the Party organs, they had the right of consultative vote, and they had to strive for the fulfillment of the decisions of the Party The "sympathizers' groups" were abolished in 1939

Primary Party Organs. The Party organization embodies the principle of "democratic centralization" and comprises an extensive network of territorial agencies The basic units of this complex structure are the primary Party organs, formerly known as Communist "cells " A primary Party organ is established in every industrial or commercial enterprise, factory, collective farm, State farm, machine tractor station, army unit, office, and so on, provided there are three Party members If an enterprise, farm, or office has less than three Party members the primary Party organ is formed by candidates and members of the *Komsomol* under the leadership of the higher Party organ.[7] The duties of the primary Party organs are agitation for the fulfillment of Party slogans; propaganda among prospective members and their political education, cooperation with the higher Party organs, mobilization of the workers for the fulfillment of the plan and the strengthening of labor discipline; struggle against indifference and abuses and for the improvement of the position of labor; "active participation in the economic and political life of the country " The duties of the primary Party organs were extended in 1939

Higher Party Organs. On the foundation of the primary Party organs is built the pyramid of higher Party organs with a steadily expanding territorial jurisdiction Each town and county (*raion*) has its Party conference that meets at least once a year, its committee, its bureau consisting of five to seven members, and its secretary Until 1939 the secretary of a town committee had

[7] The number of primary Party organs in March, 1939, according to Stalin's report to the Eighteenth Congress, was 113,060, that is, only a small percentage of the industrial enterprises and collective farms had primary Party organs Party organization was particularly weak in agriculture A Andreev informed the Eighteenth Congress that of the total number of 243,000 collective farms with a population of 75 6 million only 12,000 farms had regular primary Party organs with an aggregate membership of 153,000 Over 100,000 farms had no substitute *Komsomol* primary Party organs.

to be a Party member of ten years' standing; the secretary of a county committee, a member of seven years' standing Above the town and county Party organs are those of the major territorial subdivisions of the Soviet Union the constituent republics, the territories (*krai*), and the provinces (*oblast*) Each of these has its own Party conference (or congress of the national Communist Party of the constituent republic) which meets at least once every eighteen months; its committee of not more than eleven members, and two secretaries who until 1939 had to be Party members of twelve years' standing The All-Union Congress of the Party with its Central Committee crowns the Party organization The whole structure is based on the principle of hierarchy, the lower institutions being responsible to the higher ones and subject to their supervision The officers elected by the lower organs are confirmed in office by the higher ones

The All-Union Congress and the Central Committee of the Party. In theory the supreme authority of the Party is the All-Union Congress which is scheduled to meet at least once every three years This rule, however, is loosely observed in practice. The Sixteenth Congress met in June, 1930, the Seventeenth, in January, 1934, the Eighteenth Congress, in March, 1939 None has been convened since, to the end of 1951 when these lines go to press. As the congresses are much too numerous [8] and their sessions too short to make possible the exercise of actual control over the work of the Party, they invariably vote unanimously for the resolutions submitted by the leaders. One of the functions of the congress is to elect the Central Committee which consists of some seventy members and approximately the same number of alternates The Central Committee, which, again in theory, carries on the work of the Party between the congresses, actually meets at considerable intervals It is generally believed that the Party is run by three agencies appointed by the Central Committee: (1) the Secretariat headed by Stalin as Secretary General, (2) the Political Bureau, and (3) the Organization Bureau The functions of these two bureaus, which are reported to have about ten members each, are not clearly defined Another important agency is the Committee of Party Control which was, before 1939, elected by the congress and delegated to watch over the discipline and conduct of Party agencies and members The Central Committee, moreover, shares with the republican, territorial, and provincial committees the work of supervising a large number of special Party institutions which deal with practically every aspect of national life (agriculture, industry, transportation, planning, finance, commerce, culture, and so on). It would seem, indeed, that far from "withering away" the State bureaucracy that Lenin so deeply hated has been duplicated under the Soviet regime by a no less formidable Party bureaucracy.

[8] The Sixteenth Congress had 2,159 members of whom 1,268 had a "decisive" and the balance a "consultative" vote, the Seventeenth Congress had 1,961 members of whom 1,225 had a "decisive" vote, the Eighteenth Congress had 2,040 members of whom 1,574 had a "decisive" vote The Central Committee of the Party convokes from time to time Party conferences which have several hundred members Conferences were abolished by the Seventeenth Congress in 1934 but were restored by the Eighteenth Congress in 1939

The Party and the Soviet Constitution Until the adoption of the new Constitution, the Party had no official standing under the Soviet law Article 126 of the Constitution, however, recognized the Party as an organization of "the most active and politically conscious citizens" and its agencies as "the leading nucleus of all organizations both social and State," while Article 141 states that the Party is entitled to nominate candidates for elective assemblies Although the Constitution confers no legislative powers on the Communist Party, the more important decrees, which have the force of law, are issued jointly by the Council of Ministers and the Central Committee of the Party The powers of the Central Committee to participate in legislation are derived either from an extensive interpretation of Article 126 or, more likely, from the extra-constitutional position held by the Party in the Soviet State

"THE INTRA-PARTY DEMOCRACY"

Rights and Duties of the Members. It is the duty of Party members to carry out the decisions of the Party, to conform with the "general line" of Party policies after they have been duly approved But, according to the charter, it is the inalienable right of each Party member to participate freely in the determination of these policies This is what is meant by "intra-Party democracy" which is declared to be the very foundation of "Bolshevik self-criticism" and "conscious discipline" Indeed, the whole history of the Party both before and after the revolution of 1917 is an almost uninterrupted series of inner clashes over questions of policy. Under the regime of Stalin, however, "intra-Party democracy" has been subjected to drastic restrictions. A broad discussion of Party policy is now permitted only under the following conditions (1) that the necessity of such discussion be recognized by at least several (the exact number is not stated) republican or territorial Party organizations, (2) that there be no "sufficiently strong" majority in the Central Committee on fundamental questions of policy, (3) that when there is such a majority, the Central Committee nevertheless considers the discussion desirable The Central Committee thus has effective means of stifling any discussion of policy it may dislike and since the membership of the Central Committee is actually decided by the Party leaders headed by Stalin and only formally voted upon by the congress the practical significance of "intra-Party democracy" seems to be slight indeed The official reason for these stringent restrictions is to preserve the inner unity of the Party and "to prevent all attempts of a small minority to force its will upon the vast majority" The Central Committee, moreover, has the power to subject recalcitrant members to measures of Party discipline including expulsion Similar penalties may be imposed upon the members of the Central Committee, subject, however, to a two-thirds vote of the Central Committee itself

Mass Purges and the Trials of the 1930's. From time to time, at the decision of the Central Committee, the membership of the Party is submitted to a thorough examination from the point of view of ideological ortho-

doxy, devotion to the cause of Communism, and personal character and behavior Such purges invariably lead to the expulsion of a large number of members and candidates and to the demotion of others Major purges took place in 1921, 1926, 1927, 1929, and 1933. The murder in December, 1934, of S M. Kirov, a member of the Political Bureau and a close political friend of Stalin, was the starting point of a new era of purging that lasted through 1938 The purge that followed Kirov's murder differed from those preceding it It was no longer a question of cleansing the Party of undeserving members but of exterminating altogether the vast majority of the old Bolshevik leaders Sensational trials were staged in the Hall of Columns of the former Nobles' Club in Moscow The list of the accused read like the *Who's Who* of the Russian revolution and included former members of the Soviet Government, leaders of the Third International, army commanders, ambassadors, two chiefs of the security police, and many others[0] The crimes of which they were accused included murder and attempt at committing murder, high treason, plotting with the Fascist powers and "wrecking" Leon Trotsky, who vehemently protested from his place of exile abroad, was the alleged instigator of a conspiracy that seemingly had endless ramifications A great many other Communist leaders, among them holders of high offices, were removed in a less spectacular manner Their dismissal was briefly noted in the back page of a Soviet newspaper and in numerous cases even this formality was omitted· they simply dropped out and their ultimate fate remains a matter of conjecture. The purge extended to every sphere of Soviet life and was carried out with ruthless thoroughness even in the remotest corners of the land, in the army and navy, in factories, and on the farms It has been officially admitted that not a few of the "purgers" were guilty of excess of zeal and that they were sometimes motivated by base personal considerations or vindictiveness. This led to the second phase of the stupendous drama—the "purging of the purgers." It is truly amazing that the Communist Party survived the ordeal

Confessions Notable features of the trials were the confessions in which the defendants not only admitted their crimes but vied in claiming for their actions the basest and most despicable motives The confessions, which followed one another with monotonous uniformity, were the chief evidence against the alleged conspirators The behavior in court of the accused men was unique and unprecedented, although it has been duplicated since in the countries which came under Soviet domination after World War II. The eagerness with which Hungarians, Czechs, Slovaks, and others, including a few stray Western Europeans and Americans caught in the nets of Communist prosecution, confessed their alleged crimes should dispose, once and for all, of the theory (popular in the 1930's and derived chiefly from a hasty perusal of the novels of Dostoyevsky) that the baffling conduct of the defendants at the Moscow trials was due to some unfathomable peculiarities of the Russian character. A scrutiny

[0] For a telling but incomplete list of the accused and a record of their fate see Paul Scheffer, "From Lenin to Stalin," in *Foreign Affairs*, April, 1938 Also Joseph Barnes, "The Great Bolshevik Cleansing," in *Foreign Affairs*, April, 1939

of the methods of the Communist police might have produced a less absurd theory although no one has yet succeeded in explaining adequately the behavior of the accused men It is often claimed that Communism will change human nature The Moscow confessions, and their counterpart in Eastern Europe, suggest that in this instance at least the claim is justified

Rewriting History. The hasty rewriting of the history of the Russian revolution was a by-product of the great purge For instance, the official history of the All-Union Communist Party, ascribed to Stalin and published at the end of 1938, either does not mention the fallen leaders who only recently shared with Stalin the applause of the crowds, or represents them as villains and near-monsters This vilification not only extends to the closing chapter of the career of the victims of the purge but it includes the earlier period when they struggled against the Imperial regime or held high offices under the Soviets. No enemy of Communism could have devised a more bitter indictment of the Russian revolutionary movement.

Stalin on "Cutting Off" Errant Members. Stalin's conversion to the method of destroying his opponents within the Party is relatively recent "We know that the policy of 'cutting off' [errant members] is fraught with danger to the Party ," he declared before the Fourteenth Congress of the Party in December, 1925 "Today we cut off one, tomorrow—another, the day after tomorrow—a third But, by then, what will be left of the Party?" Stalin has since changed his mind but the question he asked in 1925 has lost none of its pertinence

AMENDMENT OF THE COMMUNIST PARTY CHARTER, 1939

Reasons for the Amendment. The effect the great purge must have had upon the morale of the rank and file of the Communist Party presumably inspired the Amendment to the Party charter approved by the Eighteenth Congress of the Party in March, 1939, although the official reason given was the rapid transformation of the Soviet Union into a Socialist classless society The purpose of the Amendment would seem to have been the rejuvenation of the Party and the promotion of added security and encouragement for the younger generation of Communists brought up in the school of Stalin

Rules for Admission, 1939. The Amendment did away with the former division into four classes of applicants for membership All applicants (except former members of other political parties for whom the rules laid down in the charter of 1934 remain in force) are required to be endorsed by three Party members of three years' standing who have known the applicants as co-workers for at least one year Admission of new members is made effective after the approval of the decision of the primary Party organ by the Party committee of the county or of the city The advancement of candidates to full membership is facilitated by the rule that they must qualify for promotion by signifying their consent to submit to Party discipline and to the other requirements of the charter and by "accepting" the Party program which, however, they need not understand the Party itself will take care of the education of its new members in the tenets of revolutionary Marxism after their admission

Rights of the Members Defined. The Amendment defines in greater detail the rights of the Party members, although it adds little to what was contained in the charter. The members are specifically entitled (1) to criticize at Party gatherings any member of the Party; (2) to vote in Party elections and to hold Party office, (3) to be heard when their personal conduct is being investigated, (4) to ask information or to make representations to any Party agency, including the Central Committee That such a clarification of members' rights should be necessary is in itself a telling comment on the practical working of "intra-Party democracy"

Abolition of Mass Purges. More significant is the abolition of periodical mass purges, although the Party retains the right to cleanse its ranks of undeserving members "as a matter of routine" Special care, it is pointed out, should be taken to desist from expelling members for minor offenses Candidates are entitled to promotion to full membership after one year, except former members of other political parties, for whom the rules of the charter of 1934 remain in force The Amendment emphasizes the use of the secret ballot in Party elections and provides that voting shall be for individual candidates and not for entire lists of candidates, an illegal practice never sanctioned by the charter, although it appears to have been widely used

Changes in the Administrative Structure of the Party. The structure of administrative Party agencies attached to the Central Committee is somewhat altered, and strong emphasis is put on propaganda and educational activities The Committee of Party Control is elected not by the Party congress, as in the past, but by the Central Committee, under whose direction it works The Amendment provides for All-Union party conferences of representatives of local Party organizations to be held at least once a year, thus reviving a practice that had been discontinued in 1934 The method of electing representatives to the conferences is to be determined by the Central Committee, and the decisions of the conferences are subject to the approval of that Committee The conferences have the right to replace the members of the Central Committee to the extent of one-fifth of its membership, the new members being chosen from among the alternate members of the Central Committee[10] whose place is taken by new alternate members elected by the conference Decisions of the conferences dealing with the replacement of members of the Central Committee need not be sanctioned by the latter

Qualifications for Holding Party Offices, 1939. The length of Party affiliation required for qualifying for the office of secretary in the Communist organizations of the constituent republics, territories, and provinces has been diminished from twelve years to five, for those in the cities, from ten to three, and for those in the counties, from seven to three. One-year Party membership is now a sufficient qualification for the secretaries of the primary Party organs (the former requirement was two and three years) The Amendment provides for the creation of Party organizations in the regions (*okrug*) not mentioned in the charter

[10] See above, p 724.

Strengthening of Primary Party Organs. The already predominant position of the primary Party organs was further strengthened by the provision that the primary Party organs in "the productive enterprises, including the State farms, and collective farms and machine tractor stations receive the power to control the work of the administration of such enterprises" for which they are held responsible In the People's Commissariats (Ministries), where for technical reasons such control is not feasible, the primary Party organs "must single out the defects in the operation of the institution, take note of the defects in the work of the commissariat and of individual employees and forward pertinent materials and considerations to the Central Committee of the Party and to the leaders of the commissariat " Every primary Party organ having at least fifteen members elects an executive bureau of three to seven members

The Komsomol and "Sympathizers." The age limit for admission to the Party has been lowered from twenty to eighteen years and special facilities are given to the members of the *Komsomol* or Organization of Communist Youth The participation of the *Komsomol* in the political and economic life of the country is to be increased and it is to exercise the functions of Party control, especially in those industrial enterprises and collective farms which have no primary Party organs On the other hand the "sympathizers' groups" have been discontinued The reason for this decision is that the "sympathizers" did not live up to expectation of the total number of candidates admitted to the Party in the two years preceding the Eighteenth Congress only 21 per cent came from this group

Except for the by no means unimportant changes mentioned above, the constitution of the Communist Party remains what it has been since 1934 The Eighteenth Congress and the Soviet press dutifully acclaimed the Amendment as a new charter of Communist liberties That the Amendment would inject new blood into the Party was clear whether it would succeed in promoting "intra-Party democracy" was less certain The report presented by A Zhdanov, a member of the Political Bureau, to the Eighteenth Congress unfolded a shocking picture of abuse of power and a "heartlessly bureaucratic" attitude taken by the Party chieftains toward the rank and file Scattered information from Soviet sources (examples of which will be found below) indicate that the situation was not improved in later years

THE NUMERICAL STRENGTH OF THE PARTY

Size of the Membership. In view of the position occupied by the Communist Party its numerical strength is of considerable interest The unfortunately incomplete and contradictory data on this question are summarized on page 730

The figures given throw an interesting light on the magnitude of the purge Admission to the Party was closed from 1933 to November 1, 1936 According to announcement in the *Pravda* of February 4, 1939, the Party has admitted "in the last two years" 180,000 members and 471,000 candidates. Be-

MEMBERSHIP OF THE ALL-UNION COMMUNIST PARTY (FORMERLY THE BOLSHEVIK WING OF THE RUSSIAN SOCIAL-DEMOCRATIC PARTY)[11]

Year	*Members*	*Candidates* (IN THOUSANDS)	*Total*
Beginning 1905	—	—	8 4
Beginning 1917	—	—	23 6
April, 1917	—	—	40 0
August, 1917	—	—	200 0
Beginning 1918	—	—	115 0
Beginning 1920	—	—	431 4
March, 1920	—	—	611.9
January, 1922	410 4	117 9	528 3
January, 1923	381 4	117 7	499 1
January, 1924	350 0	122 0	472 0
January, 1925	420 6	351 4	772 0
January, 1926	638 3	439 8	1,078 1
January, 1927	774 8	372.3	1,147 1
January, 1928	913 2	391 2	1,304 4
January, 1929	1,089 6	442 7	1,532 3
January, 1930	1,182 3	492 6	1,674 9
January, 1934	1,874.5	935 3	2,809 8
March 1, 1939	1,588 9	888 8	2,477 7

tween 1934 and March 1, 1939, the number of members declined by 286,000 and that of the candidates by 46,000 The purge therefore involved the expulsion of some 466,000 members, or almost 25 per cent of their total number in 1934, and of 516,000 candidates, or well over 50 per cent of their total number in the same year Even when allowance is made for mortality among the Communists these figures indicate that approximately one member out of four and one candidate out of two were expelled between 1934 and the beginning of 1939 According to Stalin's much quoted dictum "to the rank and file of the Party members to remain within the fold of the Party or to be expelled is a question of life and death" Stalin compared expulsion from the Party to execution by the firing squad for army men. Many of the expulsions have been rescinded since and members and candidates reinstated It was disclosed at the Eighteenth Congress that a very large percentage of the expulsions were made on the ground of lack of interest in Party activities Official spokesmen have admitted that the effects of the purge on the morale of the Party members have been disastrous Nevertheless, the authority of Stalin remained unshaken

Rejuvenation of the Party. The rejuvenation of the Party accomplished by the purge is suggested by the composition of the Eighteenth Congress. Half of the delegates (49.5 per cent) receiving a "decisive" vote were thirty-five years old or younger, another 32 per cent were in the age group thirty-six to

[11] The figures for the period before 1930 are from an article by A Bubnov which appeared first in Volume XI of the *Large Soviet Encyclopedia* and was issued separately in 1931 The figures for 1930 and 1934 are from the official *History of the Communist Party of the Soviet Union* published in 1938, the 1939 figures are those of the Eighteenth Congress There is some discrepancy in the figures that appear in the *Encyclopedia* and the *History* and the data used by Bubnov do not always agree The contradiction may be explained either by the difference in the methods of computation or, more likely, by the fact admitted by the official *History* that "a state of intolerable chaos in registering Communists" existed in 1933 in a number of local Party agencies. It may be surmised that these conditions were not limited to the year 1933.

forty, that is, an overwhelming majority of the delegates had received their training under the regime of Stalin The congress elected a new Central Committee of seventy-one members and sixty-eight alternates Only sixteen members of the new Committee were members of the last one, which was elected in 1934

Its Social Structure Information on the social structure of the Party is out-of-date On January 1, 1930, the membership was distributed as follows industrial workers, 65 3 per cent, peasants, 20 2 per cent, employees, 13 4 per cent, others, 1 1 per cent In the First to the Fifteenth Party Congresses (1898–December, 1927) not a single peasant was elected to the Central Committee as either a member or an alternate, although in 1927 the peasants formed 19 per cent of the entire membership and in 1924 as much as 28 8 per cent In 1929, 51 1 per cent of the commanders (officers) of the Red Army were Communists Women, on January 1, 1930, accounted for 14 per cent of the membership More recent data are not available At the Eighteenth Congress 13 3 per cent of the full-fledged delegates elected on the principle of proportional representation came from Moscow and 9 1 per cent from Leningrad The two capitals therefore remain the stronghold of the Party Out of 1,574 full-fledged delegates to the Eighteenth Congress only sixty-three were employed in agriculture, while the army, the navy, and the police (People's Commissariat of the Interior) sent 283 representatives [12]

Membership During and After the War Figures of Party membership are released on the occasion of Party congresses The last congress was held in March, 1939, and no official later data are available It would seem, however, that membership increased considerably in the 1940's—to 3 5 million in 1940 and to 6 million in 1946 [13] These figures include, presumably, both members and candidates

The Leading Position of the Party. The population of the Soviet Union in 1939 was 170 millions [14] Of this number less than 2 5 millions, or about 1 5 per cent, belonged to the Communist Party If the 1946 figure of Party membership quoted above is correct, Communists in that year represented about 3 per cent of the population, which is said to have increased, as a result of annexations, to 193 millions The proportion of Party members, although larger than before the War, remained small The influence of the Party in the affairs of State, however, has no relation to its numerical strength Every public office of any importance in the USSR is filled by Communists Although according to the official view the Soviet Union has left behind the stage of the dictatorship of the proletariat and is now in the stage of Socialism, the domineering position of the Party has been fully preserved

[12] The Party bureaucracy was represented by 659 delegates, industry, 230, Soviet administration and the trade unions, 162, transportation, 110, the *Komsomol*, 27, art and science, 35

[13] *The American Review on the Soviet Union*, February, 1946, pp 69–70, quoting the *Daily Worker*

[14] Soviet population statistics are in a state of hopeless confusion The census of 1937 (the first comprehensive Russian census since 1897), although acclaimed at the time as a model of its kind, was abruptly canceled on the ground that it violated the elementary rules of census-taking The second Five-Year Plan estimated the population in 1937 as 180 7 millions According to the census of January 17, 1939, it was 170,467,000

CHAPTER IV

THE CONSTITUTIONAL AND ADMINISTRATIVE STRUCTURE

DIVISION OF SOVIET HISTORY INTO PERIODS

The Introductory Period. It is both customary and convenient to divide Soviet history prior to World War II into four periods, although the line of demarcation between them is by no means always clearly drawn The first or introductory period, lasting from the advent of the Bolsheviks (October–November, 1917) until the middle of 1918, was characterized by the confident expectation in Moscow that world revolution would soon be an accomplished fact Outside Russia, however, opinion as to the probable course of events was lacking in unanimity, some anticipated the spread of Communism while others expected the inevitable and speedy downfall of the Soviet rule. In February, 1918, the Moscow Government was forced to sign with the Central Powers the extremely harsh Treaty of Brest-Litovsk The domestic policies of the Soviets were not yet clearly defined Trotsky has well described the early decrees as the announcement of a Party doctrine "in the language of power," rather than measures of practical policy Land, banks, foreign trade, and some separate branches of industry and individual enterprises were nationalized The Bolsheviks had no concrete land program and borrowed from the Socialist Revolutionary Party its program of "socialization" of land. "Socialization" extended to the entire national territory the traditional peasant form of land tenure (communal tenure or *obshchina*), proclaimed the right of every citizen to a land allotment provided he was willing to work on it, and decreed the periodical redistribution of all agricultural land among the farmers in order to maintain equality in the size of the allotments. This utopian scheme was of course never actually applied but it gave an appearance of legal sanction to the occupation of landed estates and their division among the local peasants, a process that had already begun spontaneously in the summer and early autumn of 1917

War Communism. The second period, known as War Communism, lasted from the middle of 1918 until the spring of 1921 This was a period of civil

war and foreign intervention. The so-called White Armies organized by anti-Bolshevik Russians were openly supported by foreign powers. First the Germans and later British, French, United States, and Japanese troops occupied various sections of Russian territory. The blockade of Russia was organized by her former Allies. War with Poland broke out. Hard pressed from every direction the Soviet Government embarked on a policy of wholesale nationalization of industry and drastic regimentation of agriculture. Rigid centralization, militarization of labor, requisition of agricultural produce, and an attempted elimination of the money economy which was to be replaced by State-organized barter were among the chief features of this period. Although most of these measures remained a dead letter, many left-wing leaders saw in them the embodiment of true Communism. The extreme economic disorganization and the ruthless exploitation of the peasantry led to violent agrarian uprisings against the Soviets and to mutinies in the army. In the meantime the White Armies collapsed one after another, war with Poland was terminated, the blockade was lifted, and foreign troops returned home. War Communism was abruptly abandoned.

The New Economic Policy. The next period, known as that of the New Economic Policy or the period of restoration—that is, a return to pre-War economic levels—lasted from the spring of 1921 to about 1927. In the international field it was characterized by the reluctant admission of the somewhat disturbing fact that the Soviet Union and the capitalist countries must continue to exist side by side. In April, 1922, the Soviet Government was officially recognized by Germany (Treaty of Rapallo) and in 1924 by Great Britain, Italy, and France. Recognition by the United States was delayed until 1933. A welcome relaxation manifested itself in domestic policies. The strict regimentation of War Communism was discarded, currency was stabilized, and the peasants were again free to dispose of most of the produce of their farms. A limited degree of economic freedom was conceded in other spheres, especially in distribution. It was generally although erroneously believed abroad that the Communist experiment was over and that Russia was returning to "normal" conditions, that is, to an economy based on private enterprise. Toward the end of the period of the New Economic Policy the situation had greatly improved. At the same time the Party definitely accepted Stalin's theory concerning the possibility of building a Socialist system in a single country.

The Period of Socialist Reconstruction. About 1927 began the fourth period of Soviet history which lasted until the outbreak of World War II. It was the period of Socialist reconstruction characterized by a gigantic drive for rebuilding the country on a Socialist basis. The main features of this era were, in the international field, the entry of the USSR into the League of Nations (1934),[1] and, in the domestic field, the first, second, and third Five-

[1] The decision to join the Geneva organization required a compromise with Communist principles. The 1919 program of the Russian Communist Party, which is still in force, described the League of Nations as "an international organization of the capitalists for the systematic exploitation of all the peoples of the earth and whose immediate efforts are directed to the suppression of the revolutionary movement in every country."

Year Plans, that is, the introduction of planned economy, industrialization, collectivization of farming, and the adoption of the 1936 Constitution The last much-publicized event coincided with the great purge

The First War Period, August 1939–June 1941. World War II constitutes two sharply differentiated periods in Soviet history From the conclusion of the Hitler-Stalin pact of friendship in August, 1939, to the German attack on the Soviet Union in June, 1941, Moscow was a partner, if not an ally, of Berlin. In terms of territorial aggrandizement this partnership was not unprofitable The partition of Poland engineered by the Soviet and the German Governments, the Soviet-Finnish War, and the predatory moves directed against the Baltic States and Rumania netted the Soviet Union large slices of Poland and Finland, Latvia, Lithuania, Estonia, Bessarabia, and Northern Bukovina In December, 1939, following the Soviet attack on Finland, the USSR was expelled from the League of Nations. The domestic policies of 1939–1941 were characterized by the expansion of the rearmament program, the tightening of administrative controls, and drastic measures for the regimentation of industrial labor and collective farmers

The Second War Period, June 1941–1945. With Hitler's attack on Russia in June, 1941, the Soviet Union shifted overnight from the German orbit into that of the Western powers As it became clear that the invading German legions had met their doom in the roadless vastness of the Russian steppes, the reserve with which the Soviet Union was treated at first by her new allies gave place to boundless admiration and enthusiasm The Communist International, a thorn in the flesh of the capitalist Governments of the United States and Great Britain, was opportunely dissolved in May, 1943, a tactical move which—quite unwarrantedly—was interpreted in the Western countries as the abandonment by the Kremlin of the idea of world revolution From the standpoint of territorial expansion, partnership with the Western democracies proved no less profitable to the Soviet Union than cooperation with Berlin. As a result of the War and post-War arrangements, and the altruistic declarations of the Atlantic Charter notwithstanding, Russia not only retained her territorial acquisitions of 1939–1940 but added to them the Ukrainian districts formerly held by Czechoslovakia, East Prussia with the ancient city of Koenigsberg, the southern portion of Sakhalin, and the Kurile Islands The internal policies of this period were dominated by the stupendous war effort.

The Post-War Period, 1945–1950. The end of hostilities found the Soviet Union at the pinnacle of her popularity with the Western democracies. The honeymoon, however, was brief The sway of the Red Army and the Allies' incautious commitments stemming from the agreements of Teheran, Yalta, and Potsdam brought under Soviet control a string of States in East and South Europe as well as vast territories in the Far East. As was to be expected, all countries within the Soviet sphere of influence established, within a few months after Soviet occupation, Communist dictatorships on the Soviet model and, with the lone exception of Yugoslavia, meekly submitted to the

dictation of the Kremlin Although the United Nations, of which the Soviet Union is one of the most active members, provided Communist propaganda with a sounding board far beyond the most daring hopes of the Communist International, that unlamented institution was revived in 1947 in the guise of the Cominform Conflicts between the Soviet Union and her war partners multiplied and increased in violence. There is practically no major issue on which Moscow would not be hopelessly at odds with Washington, London, and Paris In the autumn of 1951 the principal results of this unhappy state of affairs were the Atlantic Pact directed against the Soviet Union, the rearmament of Western Europe largely at the expense of the United States, and the Korean War which Hanson Baldwin has so well described as the Soviet War by proxy By comparison with the sinister and spectacular international activities of the Kremlin, Soviet post-War domestic policies are singularly drab and unimaginative The fourth Five-Year Plan (1946–1950) deals primarily with the vital but prosaic and laborious task of repairing the devastation inflicted upon Russia by the German invasion The methods by which this is being achieved are the same as before the War, even when their inadequacy had been conclusively proved by past experience No new idea and no new leader of any stature have emerged from the great upheaval The striking contrast between the spreading of Soviet influence throughout the world, on the one hand, and what may be called the inner sterility of Communism, on the other, is perhaps the most arresting feature of the post-War history of the USSR

EARLY CONSTITUTIONS

The Constitutions of 1918 and 1924. The Constitution of 1936 had two predecessors The first Constitution was adopted by the Fifth Congress of the Soviets on July 10, 1918 [2] It sanctioned much of the Soviet form of government that came into existence more or less spontaneously after the downfall of the monarchy in March, 1917. The State it established was the Russian Socialist Federated Soviet Republic (RSFSR) whose territory was considerably smaller than that of the future Soviet Union, since at that time many parts of the country were still held by anti-Communist forces The Constitution of 1918 and its preamble, "The Declaration of the Rights of the Working and Exploited People," were imbued with the militant spirit of the newborn dictatorship of the proletariat This character was retained in the second Constitution which was adopted by the Second All-Union Congress of the Soviets in 1924, after the First All-Union Congress in December, 1922, established the Union of Soviet Socialist Republics (USSR) The Union originally was formed by four constituent republics the RSFSR, the Ukraine, White Russia, and Transcaucasia. The Uzbek and the Turkmen constituent republics were carved out in 1924, and the Tadzhik constituent republic in 1929, raising the total number of constituent republics to seven The Constitution of

[2] The numbering of the Congresses of the Soviets was started anew with the formation of the Soviet Union in December, 1922

1924 provided for a federal form of government. The administrative structure consisted of a pyramid of Soviets (councils) whose territorial jurisdiction was gradually broadened. At the bottom of the pyramid were the village Soviets, then came the county (*raion*) and city Soviets, above them were the Soviets of the territories (*krai*), provinces (*oblast*), and the constituent republics, at the very top of the pyramid was the All-Union Congress of the Soviets, in theory the supreme organ of the Union.

Franchise and Elections under the Constitutions of 1918 and 1924. The whole of this structure, as has already been pointed out, was permeated with the militant spirit of the proletarian dictatorship. The following categories of citizens were disfranchised: persons employing hired labor for the purpose of extracting profit, persons living on income not derived from work, private traders, monks and ministers of religion, former police officers and members of the former royal family, lunatics and persons condemned for disgraceful crimes. Moreover, the number of deputies sent to the All-Union Soviet and to the Soviets of the constituent republics was one deputy for each 25,000 city electors and one for every 125,000 of the rural population. This allotment gave a definite preponderance to the urban proletariat. The Soviet structure under the first two Constitutions was based on the principle of indirect elections, that is, the deputies to the Soviets ranking above those of the town and the village were chosen not by the electorate but by the lower Soviets. Voting was carried on by the show of hands instead of by the secret ballot customary in bourgeois democracies. The distribution of the right to vote was somewhat capricious and by no means easy to comprehend, based as it was on a combination of the territorial principle with that of the "unit of production," that is, some of the electors voted as residents of a certain district, others as employees in a factory or similar establishment.

Rejection of the Principle of Separation of Powers. The two earlier Constitutions, moreover, openly denied the principle of separation of powers, the traditional segregation of the legislative, the executive, and the judiciary. In theory, all State power was vested in the All-Union Congress of the Soviets and was exercised through the agencies appointed by that body. The functions of the Soviets, which met at long and irregular intervals, were largely perfunctory and the actual business of government was carried on by the officers and agencies they appointed, under the control of the Communist Party, which was not even mentioned in the Constitutions of 1918 and 1924.

The All-Union Congress of the Soviets and Its Organs. The All-Union Congress of the Soviets was a large assembly of over two thousand members and was to convene, under the Constitution of 1924, at least once a year, an amendment adopted in 1927 provided that the Congress should meet at least once every two years. Actually the Congress met, most of the time, at longer intervals than those prescribed by the law.[3] The chief functions of the

[3] From the formation of the USSR in December, 1922, to the adoption of the new Constitution in December, 1936, the All-Union Congress of the Soviets met eight times. First Congress, December 30, 1922 (a one-day session), Second Congress, January 26–February 2, 1924, Third Congress, May 13–20, 1925; Fourth Congress, April 18–26, 1927, Fifth Congress,

Congress consisted in approving the political declarations of the leaders and in electing the Central Executive Committee which exercised all legislative and executive powers when the Congress was not in session The list of candidates for the Central Executive Committee was submitted to the Congress by the leaders and was invariably unanimously approved The Central Executive Committee consisted of two chambers the Council of the Union, which had several hundred members apportioned on the basis of population, and the Council of Nationalities, a smaller assembly made up of five representatives from each constituent and autonomous republic, and one representative from each autonomous region At a joint session the two chambers elected a Presidium of twenty-seven members which the Constitution of 1924 described as "the highest legislative, executive, and administrative organ in the USSR" Originally the Central Executive Committee was to convene at least three times a year, but in 1931 this requirement was changed to at least three times between the regular sessions of the Congresses of the Soviets "In practice," as Towster notes, "the meetings of the Central Executive Committee became progressively rare" The intervals between the plenary sessions of the Central Executive Committee ranged from two to thirteen months and in the years of the Committee's existence (1923–1937), the sessions occupied 139 days [4] The brunt of the work of the Congresses of the Soviet devolved, not upon the Central Executive Committee, but upon its Presidium

Other Governmental Agencies under the Earlier Constitutions. The Central Executive Committee appointed the principal executive organ of the federal Government, the Council of People's Commissars of the USSR, whose functions will be discussed in connection with the Constitution of 1936 Each constituent republic had its own constitution duplicating on a small scale the administrative machinery of the federal Government The administrative structure of the Soviet Union has been subjected to an almost uninterrupted remodeling, a condition that not only is distressing to the student but must also add greatly to the difficulties of the planning bodies

THE BASIC PRINCIPLES OF THE CONSTITUTION OF 1936

Drafting of the Constitution The decision to adopt a new Constitution was announced at the Seventh All-Union Congress of the Soviets in February, 1935, and when the draft of the Constitution was published in June, 1936, it became virtually mandatory for everyone to join in the discussion According to official data 527,000 meetings attended by 36 5 million people were held for this purpose Some 154,000 amendments were offered, but only forty-three changes were made, practically all of them in phraseology [5] The Eighth All-Union Congress of the Soviets after a ten-day discussion unanimously ap-

---

May 20–28, 1929, Sixth Congress, March 8–17, 1931, Seventh Congress, January 28–February 6, 1935, and Eighth and last Congress, November 25–December 5, 1936

[4] Julian Towster, *Political Power in the USSR, 1917–1947* (*Oxford University Press*, New York, 1948), pp 229–230

[5] The only amendment of some formal significance which was approved was the substitution of direct for indirect elections in choosing the Council of Nationalities

proved the text of the Constitution on December 5, 1936, which was proclaimed a national holiday

Basic Principles of the New Society. Chapter I of the Constitution outlines the basic features of the new society. It defines the USSR as "a Socialist State of workers and peasants" (Article 1) The political foundation of the Union "consists of Soviets of working people's deputies, which grew up and became strong as a result of the overthrow of the power of the landlords and capitalists and the winning of the dictatorship of the proletariat" (Article 2) All political power "belongs to the working people of town and country" as represented by the Soviets (Article 3) The economic foundation of the Union "consists of the Socialist economic system and the Socialist ownership of the tools and means of production" achieved through the liquidation of capitalism and the "abolition of exploitation of man by man" (Article 4) "Socialist property" takes the form of either State property or "co-operative collective property" (Article 5) All land, natural resources, waters, forests, industrial enterprises, means of transportation, and "the basic housing facilities in cities and industrial localities are State property, that is, the wealth of the whole people" (Article 6). Articles 7 and 8 deal with collective farms and will be discussed in Chapter VII [6] Article 9 authorizes "small-scale private enterprise of individual peasants and handicraftsmen based on their personal labor, provided there is no exploitation of the labor of others" Private property is recognized but is kept within narrow limits "The right of personal property of citizens in their income from work and in their savings, in their dwelling houses and auxiliary husbandry, in household articles and utensils, and in articles for personal use and comfort, as well as the right of inheritance of personal property of citizens, is protected by law" (Article 10) The two closing articles of Chapter I are the most characteristic Article 11 declares that "the economic life of the USSR is determined and directed by a State plan of national economy" and sets out the three objects of planning· increase in public wealth, steady improvement in the material and cultural standards of the working people, and the strengthening of the independence of the USSR and its capacity for defense Article 12 states that "Work in the USSR is a duty and a matter of honor for every able-bodied citizen, on the principle 'He who does not work, shall not eat' In the USSR the principle of Socialism is realized· 'From each according to his ability, to each according to his work'" The latter dictum gives official sanction to the piecework system of wage payments which has been in use in the Soviet Union for a number of years and is an essential feature of Soviet planned economy

The Constituent Republics. Under the Constitution of 1936, as under its predecessor, the USSR remains "a federal State, formed on the basis of the voluntary association" of Soviet Socialist (constituent) Republics (SSR) In 1936 the number of constituent republics was increased to eleven by adding to the seven constituent republics mentioned above [7] the newly formed repub-

[6] See below, pp 816–817
[7] See above, p 735.

lics of Kazakh and Kirghiz and by splitting the Transcaucasian republic, which ceased to exist, into three republics Armenia, Georgia, and Azerbaidzhan The territorial gains secured by the Soviet Union during the period of her cooperation with National Socialist Germany led to the creation in 1940 of five new constituent republics Karelo-Finnish, Moldavian, Lithuanian, Latvian, and Estonian The number of constituent republics was thus increased to sixteen and has been maintained at that figure during the post-War period, the territories acquired by Moscow at the end of World War II being incorporated into the existing constituent republics [8]

Powers of the Federal Government. The powers of the federal Government are extraordinarily comprehensive and broad Article 14 of the Constitution, as amended by three decrees issued by the Presidium of the Supreme Soviet in 1944,[9] assigns to the jurisdiction of "the highest organs of State authority and organs of Government" of the USSR the following activities representation of the USSR in international relations, conclusion and abrogation of treaties, and "the establishment of the general character of the relations between the constituent republics and the foreign states", declaration of war and conclusion of peace, admission of new republics into the Union, enforcement of the federal Constitution and insurance of the conformity of the constitutions of the constituent republics with the federal Constitution, confirmation of changes of boundaries between the constituent republics and of the formation of new territories, provinces, and autonomous republics within the constituent republics; organization of national defense, direction of all armed forces of the Union, and "determination of the basic principles of the organization of the military formations of the constituent republics"; administration of the monopoly of foreign trade, protection of the security of the State, that is, administration of the police, establishment of national economic plans, confirmation of the federal budget and of those taxes and revenues which are apportioned between the federal budget, on the one hand, and the republican and local budgets, on the other, administration of banks and industrial, agricultural, and commercial enterprises of All-Union importance, administration of transport and communications; control of the monetary and credit system, organization of State insurance, issue of State loans, determination of basic principles for the use of land and the exploitation of natural resources, determination of basic principles in the field of education and public health, organization of a unified system of cost (economic) accounting,[10]

[8] East Prussia (now province of Kaliningrad, Koenigsberg was renamed Kaliningrad on June 30, 1946), portions of the territory ceded by Finland in 1940 and 1944 and not included in the new Karelo-Finnish SSR, Southern Sakhalin and the Kurile Islands annexed from Japan, and the Tuvinian autonomous province (formerly the republic of Tannu Tuva, in Outer Mongolia, annexed by the USSR in 1945) were incorporated into the RSFSR The former Polish territories taken over by the Soviet Union in 1939 were divided between the Ukrainian SSR and the White Russian (Belorussian) SSR Parts of Bessarabia (those not included in the Moldavian SSR) and Northern Bukovina, both ceded by Rumania in 1940, and the Trans-Carpathian Ukraine, ceded by Czechoslovakia in 1945, were incorporated into the Ukrainian SSR

[9] The three decrees, which will be discussed presently, became effective at once Article 14 of the Constitution was amended accordingly by the Supreme Soviet in February, 1947

[10] See below, pp. 789, 792.

determination of the principles of labor legislation, legislation concerning the judiciary and civil and criminal codes, legislation concerning citizenship and the status of foreigners, determination of the basic principles bearing on marriage and the family, the right of amnesty.

Amendments Limiting the Powers of the Federal Government, 1944. Prior to 1944 foreign relations and defense belonged exclusively to the province of the federal Government. On February 1, 1944, however, the Presidium of the Supreme Soviet issued two decrees which, respectively, empowered the constituent republics (1) to enter into direct relations with foreign States and to conclude international agreements, and (2) to organize separate "military formations." Accordingly, the People's Commissariats (now Ministries) of Foreign Affairs and Defense, hitherto All-Union Commissariats, were reorganized as Union-Republic Commissariats.[11] In legal theory the amendments of February, 1944, represented the delegation to constituent republics of important powers formerly vested in the federal Government, and may be interpreted as a move toward decentralization. Such an interpretation, however, is not in agreement with the facts. The February decrees did not reflect the organic trend of Soviet constitutional development but were, presumably, due to external causes. In 1944 the Kremlin was engaged in laborious negotiations concerning the number of constituent republics that would be entitled to representation in the future United Nations. It may be surmised that the conferring upon the constituent republics of two essential attributes of statehood was designed to strengthen the hand of Moscow in these negotiations. The practical consequences of the enhanced status of the constituent republics would seem to confirm the foregoing interpretation. Ukraine and White Russia were duly admitted to membership in the United Nations, where their representatives obediently echo the views of the delegation of the USSR.[12] Otherwise the constituent republics have taken no part in international affairs and what their foreign ministers and foreign offices do is one of the Soviet Union's standing mysteries. There is also no evidence of the reorganization of Soviet armed forces on the republican basis.

Amendment Extending the Powers of the Federal Government, 1944. The view that the amendments of February, 1944, were due to extraneous considerations and were not indicative of any reversal in the centripetal trend of Soviet constitutional development is confirmed by the almost simultaneous extension of the powers of the federal Government over an important

[11] See below, p. 746.

[12] The reasons why of the sixteen constituent republics Ukraine and White Russia were singled out for the honor to represent the USSR in the United Nations is, of necessity, a matter for conjecture. Molotov's statement that the two republics were entitled to separate representation because of the gallant part they played in the War is not very helpful. Surely it was not his intention to imply that the other invaded Soviet republics, including the RSFSR, did not contribute their full share to the struggle against Germany. The real reason for the choice of Ukraine and White Russia would seem to be that the Polish territories annexed by the Soviet Union were incorporated into these two republics. In 1944 and 1945 American and British opinion was still aroused about the fate of the eastern provinces of Poland. Had the Polish issue been raised at Lake Success, as it seemed probable at the time, the presence of Ukraine and White Russia among the founding members of the United Nations would have been a distinct advantage from the Soviet point of view.

field of domestic legislation. From the beginning of the Soviet rule, family relationships and kindred matters (marriage, divorce, abortion, and so on) were within the purview of the governments of the constituent republics, although gradually federal influence made itself felt, especially since 1936 On July 8, 1944, however, the Presidium of the Supreme Soviet issued a decree which introduced far-reaching changes in the legislation dealing with the family and directed the constituent republics to make corresponding changes in the republican codes In February, 1947, as has already been noted, Article 14 of the federal Constitution was amended and the "determination of the basic principles bearing on marriage and family" became a function of the federal Government

Actual Scope of Republican Government. The powers of the federal Government listed in Article 14 are broad, comprehensive, and ill-defined, especially if it is borne in mind that the economic plan, the framing and administration of which are federal functions, comprises practically every aspect of the country's life and offers unlimited opportunities for interference with the organs of government of the constituent republics Moreover, such phrases as "establishment of the general character" and "determination of the basic principles," which occur repeatedly in Article 14, are given in practice a broad interpretation which amounts to dictation by the federal authorities It will be seen below (Chapters VI and VII) that minute rules regulating the organization of industry and farming, wages, conditions of labor, length of the working day, and so on, emanate from the central agencies of the All-Union Communist Party and the organs of the federal Government The provision of Article 15 that outside the limits set by Article 14 "each constituent republic shall exercise State power independently" is therefore of small practical value, except that it safeguards the right to "cultural autonomy" (which, however, must conform with Communist ideology) and the use of local languages, a no doubt meritorious departure from the policy of Russification pursued by the Imperial Government The right of the constituent republics "freely to secede from the USSR" guaranteed by Article 17 is also of questionable significance This provision must be interpreted in the light of Stalin's dictum quoted above [13] During the purge of 1937–1938 there were references in the press to leaders of national minorities who were accused of plotting to bring about the secession of some territory from the Union Such activities have invariably been interpreted by Soviet courts as treasonable and counter-revolutionary During World War II several national groups which had allegedly favored the invaders were deprived of their autonomous status The Volga-German Autonomous Soviet Socialist Republic was dissolved in 1941, and the Kalmyk, Chechen-Ingush, and Crimean Autonomous Soviet Socialist Republics, and the Karachaev autonomous province were dissolved in 1943–1945 Members of the native communities in these areas (but not of other ethnic groups such as Russians and Ukrainians) were "resettled elsewhere," that is, deported and scattered through, it is believed, the inhospitable vastness

[13] See above, pp 715–716

of Siberia and the Kazakh steppes[14] In the regions affected, geographical names of local origin were replaced by Russian names so as to eradicate any trace of the national minorities that had failed in their loyalty to the Soviet regime[15] It would seem, therefore, that the exercise of the right of secession and national autonomy, such as is understood in the Western world, is precluded by the structure of the Soviet State and by the Communist doctrine that governs it.

The Smaller Administrative Subdivisions. The Constitution provides for the following administrative subdivisions below the rank of constituent republics: Autonomous Soviet Socialist Republics, territories (*krai*), provinces (*oblast*), autonomous provinces, regions (*okrug*), counties (*raion*), cities and towns, and rural localities (villages) In December, 1936, when the Constitution was adopted, the RSFSR consisted of seventeen Autonomous Soviet Socialist Republics, five territories, nineteen provinces, and six autonomous provinces[16] The Ukrainian, Azerbaidzhan, Georgian, Uzbek, Tadzhik, and Kazakh SSR had a substantially smaller number of administrative subdivisions, while the constituent republics of Armenia, White Russia, Turkmen, and Kirghiz had none The territorial administrative structure of the Soviet Union, however, is subject to incessant remodeling According to a by no means unsympathetic American observer, "in no other country have there been so many and so extensive changes in internal boundaries A map showing the administrative regions of the country is likely to be out of date as soon as it is published" The reason for the inclusion in the Constitution of a list of administrative subdivisions was said to be the desire to give the territorial administrative structure greater stability and clarity[17] Nevertheless the redrafting of the administrative map continued with undiminished vigor after 1936 Articles 22–29 of the Constitution, which list the administrative subdivisions of each constituent republic, have been frequently amended by the Supreme Soviet. In June, 1949, the RSFSR consisted of twelve Autonomous Soviet Socialist Republics, five territories, forty-eight provinces, and six autonomous provinces; the White Russian SSR, of twelve provinces, the Turk-

[14] *The New York Times*, November 30, 1945 "During the great patriotic War," according to the official statement submitted to the Supreme Soviet in June, 1946, " many Chechens and Crimean Tartars voluntarily and together with the German army waged an armed struggle against units of the Red Army In connection with this the Chechens and Crimean Tartars were resettled in other districts of the Soviet Union." The population of the former Chechen-Ingush and Crimean republics was estimated at 1 5 million The actual number of those deported from these and other regions that lost their autonomous status was not disclosed but presumably it ran into hundreds of thousands if not millions Cf *The New York Times*, June 27, 1946

[15] The latter action might have been inspired by the punitive measures taken by Catherine II after the defeat of the peasant rebellion led by Emilian Pugachev (1773–1774) Pugachev's native village was renamed and moved to the opposite bank of the Don, and the name of Yaik Cossacks, who participated in the insurrection, was changed to that of Ural Cossacks

[16] The lower administrative subdivisions—counties, cities, towns, and villages—are not listed in the Constitution

[17] J A Morrison, "The Evolution of the Territorial-Administrative System of the USSR," in *The American Quarterly on the Soviet Union*, October, 1938, pp 25, 38 Mr Morrison ascribes the frequency of changes, perhaps not very convincingly, to "the requirements of a dynamic economy" A decree of the Central Executive Committee and of the Council of People's Commissars of April 28, 1936, prohibited changes in inner boundaries from September 1, 1936, to January 15, 1937, as a measure preliminary to the abortive census of January 6, 1937

men SSR, of four provinces; the Kirghiz SSR, of six provinces; while the Armenian SSR still had none

Legally the sixteen constituent republics enjoy the same status, although only the Ukrainian and White Russian SSR are represented in the United Nations The RSFSR, however, is by far the most important member of the unequal partnership The size of its territory and population, its economic resources, its cultural tradition, and its predominance in the Communist Party (even though Stalin is a Georgian) create for it a position that cannot be challenged by the tiny Caucasian and Asiatic republics brought into existence by the whims of Moscow. The RSFSR therefore dominates the life of the Union The resulting situation is not incompatible with Communist doctrine since the program of the Party provides that the federation of Soviet republics is merely the "transition stage towards complete unity"

STRUCTURE OF THE FEDERAL GOVERNMENT

The Supreme Soviet of the USSR. The Constitution of 1936 retained much of the existing institutional and administrative framework but submitted it to important modifications In theory, the highest organ of the Union is the Supreme Soviet of the USSR (Article 30) which exercises the powers vested in the federal Government by Article 14, except those specifically delegated by the Constitution to other organs of the federal Government (Article 31). The legislative power "is exercised exclusively by the Supreme Soviet of the USSR" (Article 32), which is elected for four years (Article 36) and consists of two chambers the Council (Soviet) of the Union and the Council (Soviet) of Nationalities (Article 33) The Council of the Union is elected by the citizens of the Union by electoral districts on the basis of one deputy for every 300,000 of the population (Article 34) The Council of Nationalities is elected by the citizens of the Union by constituent and autonomous republics, autonomous provinces (*oblast*), and national regions (*okrug*) on the basis of twenty-five deputies from each constituent republic, eleven deputies from each autonomous republic, five deputies from each autonomous province, and one deputy from each national region (Article 35) The Council of the Union and the Council of Nationalities enjoy equal rights (Article 37), including the right to initiate legislation (Article 38), and elect each a president and four vice-presidents (Articles 42 and 43) [18] A bill before it becomes law must be approved by both chambers by a simple majority (Article 39) The Supreme Soviet, sitting as a body, elects its Presidium consisting of a chairman, sixteen vice-chairmen, a secretary, and fifteen members (Article 48) [19] The competence of the Presidium is defined in Article 49 The Presid-

[18] The number of vice-presidents was increased from two to four by an amendment adopted by the Supreme Soviet on June 17, 1950

[19] Article 48 originally provided for a Presidium consisting of a chairman, eleven vice-chairmen (one for each of the then existing constituent republics), a secretary, and twenty-four members An amendment adopted by the Supreme Soviet in August, 1940, increased the number of vice-chairmen to sixteen to bring it in line with the greater number of constituent republics The resulting enlarged Presidium of forty-two was regarded as unwieldy and in March, 1946, Article 48 was again amended reducing the number of members (other than the chairman, vice-chairmen, and the secretary) from twenty-four to fifteen

ium convenes twice a year (Article 45) the sessions of the Supreme Soviet, dissolves the Supreme Soviet in case of the failure of the two chambers to agree, and orders new elections,[20] holds referendums on its own initiative or on that of one of the constituent republics, revokes the decisions and decrees of the Council of Ministers (formerly Council of People's Commissars) of the USSR and of the constituent republics if they violate the law, in the interval between the sessions of the Supreme Soviet, and on the recommendation of the President of the Council of Ministers of the USSR, removes from office and appoints Ministers of the USSR, subject to subsequent confirmation by the Supreme Soviet, institutes decorations (orders and medals) and honorary titles, bestows decorations and honorary titles, exercises the right of pardon, institutes military titles, diplomatic ranks, and other special titles, appoints and dismisses the high military command, in the interval between the sessions of the Supreme Soviet, declares war in case of an attack on the Soviet Union or in order to fulfill international obligations, orders mobilization, ratifies and abrogates international treaties,[21] appoints and recalls ambassadors, receives the credentials and letters of recall of foreign representatives, proclaims martial law

Immunity of Deputies and New Elections. The members of the Supreme Soviet are free from arrest without the consent of that body or, if the Supreme Soviet is not in session, without the consent of the Presidium (Article 52) The Presidium continues in office after the expiration of the term of the Supreme Soviet until the election of the new Presidium (Article 53) New elections must be held within two months after dissolution (Article 54) and the Supreme Soviet must be convened within three months after the elections (Article 55)[22]

The Council of Ministers of the USSR. The Supreme Soviet, at a joint session of its two chambers, appoints the Council of Ministers of the USSR, the highest executive and administrative organ of the Union (Articles 56 and 64) The name of Council of People's Commissars, which the 1936 Constitution applied to the body officially known today as the Council of Ministers, came into use immediately after the establishment of the Soviet regime in 1917 and was maintained for nearly three decades In March, 1946, however, the Constitution was amended. the title of People's Commissar, which has a revolutionary ring, was discarded in favor of the conventional bourgeois title of Minister; the Council of People's Commissars became the Council of Ministers, and corresponding changes were made in the constitutions of constituent republics The reason for the abandonment of the traditional terminology was not made clear Presumably it should not be regarded as the repudiation by the Soviet leaders of their revolutionary heritage but rather as a

[20] The procedure to be followed in case of a disagreement between the two chambers is dealt with in Article 47; such disagreements have never arisen nor could they possibly arise under the Soviet system

[21] Law of August 19, 1938

[22] The Constitution originally provided that the Supreme Soviet must be convened not later than one month after the elections, the interval was extended to three months by an amendment adopted in February, 1947

tactical move designed to strengthen the hand of the Soviet Government in negotiation with the capitalist countries by eliminating a minor cause for irritation and suspicion The Council of Ministers is responsible to the Supreme Soviet or, when the Supreme Soviet is not in session, to its Presidium (Article 65); it issues decisions and decrees which are based on the existing laws (Article 66) and are binding throughout the Unions (Article 67) The authority of the Council of Ministers extends to the following fields (Article 68) coordination and direction of the work of federal departments, administration of the national economic plan, the State budget, and the credit and monetary system, maintenance of public order, protection of the interests of the State, and safeguarding of the rights of citizens, general guidance in the field of international relations, determination of the contingents of men drafted for military service and direction of the organization of armed forces, appointment of special committees and other agencies to deal with economic, cultural, and military matters [23] The Council of Ministers of the USSR is empowered to annul the decisions and decrees of the Councils of Ministers of the constituent republics and of the Ministers of the USSR (Article 69) The composition of the Council of Ministers has been altered several times since 1936 In June, 1950, the Council of Ministers consisted of a Chairman, a Deputy Chairman, the Chairman of the State Planning Committee, the Chairman of the State Committee on Supplying the Technical and Matériel Needs of National Economy, the Chairman of the State Committee on Promoting Advanced Technology in National Economy, the Chairman of the State Committee on Construction, the Chairman of the Arts Committee, and the Ministers of the USSR (Article 70) [24] In 1917, on the morrow of the Bolshevik revolution, the Council of People's Commissars had thirteen members and under the 1936 Constitution, twenty-five Because of the increase in number of People's Commissariats (later Ministries) the membership of the Council rose rapidly to well over sixty in the 1940's Under the reorganization amendment of June 17, 1950, the Council of Ministers had fifty-eight members

The Ministers of the USSR. The Ministers (formerly People's Commissars) of the USSR head the federal departments, the Ministries of the USSR The Ministers direct the work of their respective administrations (Article 72) and may issue orders and instructions dealing with matters within their competence, provided that such orders are based on laws or on

[23] The foregoing list differs from the one given in the 1936 text of the Constitution; Article 68 was amended in February, 1947

[24] The State Planning Commission, or Gosplan, was reorganized as the State Planning Committee by a decree of the Presidium of the Supreme Soviet of January 9, 1948 The State Committee on Supplying the Technical and Matériel Needs of National Economy and the State Committee on Promoting Advanced Technology in National Economy were established by decrees of the Presidium of the Supreme Soviet of January 9, 1948, and the State Committee on Construction by a decree of May 9, 1950 The four agencies listed above are described as State Committees of the Council of Ministers Article 70 of the Constitution was amended accordingly on June 17, 1950, but the texts of the decrees of January 9, 1948, and May 9, 1950, were not published in *Vedomosti Verkhovnago Soveta* (organ of the Presidium of the Supreme Soviet), *Izvestia, Pravda,* or, as far as it could be ascertained, anywhere else The nature of the changes introduced by this legislation and the reasons for the mystery in which it is shrouded remain obscure

decrees of the Council of Ministers of the USSR (Article 73) The Ministers must answer, orally or in writing, within three days the interpellations addressed to them by the members of the Supreme Soviet (Article 71) The position of Chairman of the Council of Ministers (Council of People's Commissars) is one of the highest offices in the Soviet Union From 1917 to the autumn of 1951 the Council had four Chairmen Lenin (1917–1924), Rykov (1924–1930), Molotov (1930–1941), and Stalin (since May, 1941), all of them leading figures in the Communist Party, though Rykov eventually fell from grace, was tried on charges of high treason in 1938, and was executed The rank and file of the Ministers, however, are men of much smaller political stature and, with the exception of the Foreign Minister, are little known at home or abroad Elevation to ministerial rank is not due to the pressure of political or parliamentary groups (for none exists in the Soviet Union except the Communist Party) but is rather in the nature of the recognition of personal qualifications for the job or, more likely, of a reward bestowed upon deserving Party functionaries Changes among ministers are frequent, but are barely noted in the press, and are seldom explained

Two Kinds of Ministries of the USSR. There are two kinds of Ministries of the USSR: (1) the All-Union Ministries which operate through the entire territory of the Union directly or through organs they appoint, and (2) the Union-Republic Ministries which as a rule act through corresponding ministries of the constituent republics and administer directly only "a definite and limited number" of enterprises according to a list confirmed by the Presidium of the Supreme Soviet (Articles 74–76) The distinction between the two groups of ministries of the USSR would seem to be that those in group one are concerned with what are regarded as purely federal matters, while those in group two deal with questions assigned to the joint jurisdiction of the federal Government and the governments of the constituent republics The distinction is tenuous, and in the course of the evolution of the Soviet administrative structure a number of ministries have been shifted from one group to another. In 1917 there were twelve People's Commissariats, the 1936 Constitution provided for eighteen, but the number was increased to forty-one by March, 1941, and to fifty-eight (Ministries) by February, 1947, it was reduced to forty-nine by June, 1949, and stood at fifty-one in June, 1950.

The All-Union and the Union-Republic Ministries of the USSR. The Constitution of 1936 provided for eight All-Union and ten Union-Republic Ministries (People's Commissariats) of the USSR, but in June, 1950, there were thirty All-Union and twenty-one Union-Republic Ministries (Articles 77 and 78, as amended on June 17, 1950). The All-Union Ministries were Aircraft Industry, Automobile and Tractor Industry, Foreign Trade, Army and Navy, Armament, Geological Survey, Town Development, State Food and Material Reserves, Agricultural Stocks, Machine and Instrument-Making Industry, Metallurgical Industry, Merchant Marine, Oil Industry, Communications Equipment Industry, Railways, Inland Water Transport, Communica-

tions, Agricultural Machinery Industry, Machine-Tool Industry, Building and Road-Building Machinery Industry, Construction of Machine-Building Works, Construction of Heavy Industry Works, Shipbuilding, Transport Machinery Industry, Labor Reserves, Heavy Machine-Building Industry, Coal Industry, Chemical Industry, Electrical Industry, and Electric Power Stations The Union-Republic Ministries were Interior, Armed Forces, Higher Education, State Control, State Security, Public Health, Foreign Affairs, Cinematography, Light Industry, Forestry, Timber and Paper Industry, Meat and Dairy Industry, Food Industry, Building Materials Industry, Fish Industry, Agriculture, State Farms, Trade, Finance, Cotton Industry, and Justice

Complexity and Instability of the Administrative Structure The foregoing list indicates the complexity of the administrative structure Its amazing instability, however, is not fully reflected in the changing number of ministries as recorded in the consecutive amendments of the pertinent articles of the Constitution. The formation of some ministries is offset by the abolition of others, and such changes do not affect the summary number of ministries at the time of the constitutional amendments Some of the ministries exist for only a few months, others are abolished and established again For instance, the Ministry of Technical Crops was formed in November, 1945, but was absorbed by the Ministry of Agriculture in February, 1947 The Ministry of State Farms, established in 1936, was dissolved in March, 1946, only to be revived in February, 1947 It is difficult to detect any guiding principle in these incessant shifts Prior to 1948 the tendency would seem to have been in the direction of greater specialization based on what was known as the territorial-productive principle For instance, the People's Commissariat of Fuel Industry, formed in January, 1939, was split eight months later, in October, 1939, into two People's Commissariats Coal Industry and Oil Industry In January and March, 1946, respectively, the People's Commissariats of Coal Industry and Oil Industry were each divided into two People's Commissariats—one for the Eastern and one for the Western Regions Similarly in May, 1946, the Ministry of Fish Industry (established in 1939) was split into two Ministries—one for the Eastern and one for the Western Regions In 1948, however, both specialization and the territorial-productive principle lost their popularity with the Soviet leaders In December of that year the Eastern and Western Regions Ministries just mentioned were merged into a single Ministry for each of the three industries Other administrative amalgamations, as has already been stated, resulted in the reduction of the number of ministries from fifty-eight in February, 1947, to forty-nine in June, 1949, but two more were added to the list by June, 1950. The relentless remodeling of the administrative structure must inevitably lead to a great deal of confusion and is hardly conducive to the smooth working of the machinery of federal Government.[25]

[25] A useful summary of constitutional amendments will be found in Lionel H Laing and associates, *Source Book in European Government* (William Sloane, New York, 1950), annotations to the Constitution of 1936, pp 234–262.

REPUBLICAN AND LOCAL GOVERNMENT

Government of Constituent Republics. The structure of the government of the constituent republics duplicates, with some modifications, that of the federal Government. Article 16 of the Constitution provides that the constitutions of the constituent republics, while taking into account local peculiarities, shall be drawn up "in full conformity with the Constitution of the USSR." The highest organ of State power in a constituent republic is its Supreme Soviet elected by the citizens of the republic for four years (Articles 57 and 58). Under the republican constitutions adopted in 1937 and in 1940 (for the constituent republics established on the territories annexed by the Soviet Union at the beginning of World War II) the Supreme Soviet is a unicameral body. It elects its Presidium (Article 61) and appoints the Council of Ministers (formerly People's Commissars) of the constituent republic (Article 63) which is the republic's highest executive and administrative organ (Article 64). A constituent republic has two kinds of ministries: the Union-Republic and the Republican Ministries (Article 68). The former correspond to the Union-Republic Ministries of the USSR[26] and are subordinated to both these federal departments and the Council of Ministers of the constituent republic (Article 87). The Republican Ministries are directly subordinated to the Council of Ministers of the constituent republic (Article 88). Not all the Union-Republic Ministries listed in Article 78 of the federal Constitution are organized in every constituent republic, and there are slight variations, from republic to republic, in the number of Republican Ministries.[27] It would be tedious and largely useless to record these minute differences. The nature of Republican Ministries may be gauged from the following list provided by the constitution of the RSFSR (as amended in March 1948): automotive transport, housing, communal (municipal) economy, local industry, local fuel industry, education, and social security. Within the framework of the federal Constitution the Supreme Soviet, Presidium, Council of Ministers, and Ministries of each constituent republic exercise functions which are, broadly speaking, similar to those of the corresponding federal organs. It will be remembered, however, that the limitations imposed by the federal Constitution on the constituent republics are many and far-reaching. Again, like the federal Government, the governments of the constituent republics exercise a high degree of control over the institutions and officials of the smaller territorial subdivisions under their respective jurisdictions: Autonomous Soviet Socialist Republics, territories (*krai*), provinces (*oblast*), autonomous provinces, regions (*okrug*), and counties (*raion*). Local autonomy, therefore, is kept within narrow limits.

[26] See above, p. 746.

[27] Prior to the amendment of February, 1947, the ministries of the constituent republics were listed in Article 83 of the federal Constitution which defines the composition of the Council of Ministers of the constituent republics. In 1947 this practice was discontinued and Article 83 refers merely to "Ministers," without enumerating them. This amendment gives greater flexibility to the administrative structure of the constituent republics, some of the specialized ministries listed in the Constitution would be obviously superfluous in the less industrialized republics,

Government of Autonomous Republics Each Autonomous Soviet Socialist Republic (ASSR) has a constitution "drawn up in full conformity with the constitution of the constituent republic" of which it is a part, a Supreme Soviet elected for four years, a Presidium, and a Council of Ministers (Articles 89–93) The powers exercised by the government of an autonomous republic are similar to those of the government of a constituent republic, but its sphere of action is further restricted There were twenty-two autonomous republics on October 1, 1938, including seventeen in the RSFSR By January 1, 1947, the number of autonomous republics dropped to sixteen twelve in the RSFSR, two in the Georgian SSR, and one each in the Uzbek and the Azerbaidzhan SSR.

Government of Smaller Territorial Units. The administration of territories, provinces, autonomous provinces, regions, counties, cities and towns, and rural localities is carried on by a Soviet of working-people's deputies elected, for a term of two years, by the population of the respective subdivisions The Soviet supervises the administrative officers whom it appoints, maintains public order, ensures observance of the law and protection of the rights of citizens, directs local economic and cultural activities, and administers local finance Each Soviet elects an executive committee and has the power to issue orders dealing with matters within its jurisdiction as defined by the federal and republican constitutions "Small localities" are administered by an elected chairman, deputy chairman, and secretary (Articles 94–101) [28]

THE JUDICIARY

Legal Framework. Prior to 1936 the structure of the judiciary was determined by a federal law of 1924 and by republican legislation based thereon The Constitution of 1936 and "The Law on the Judiciary of the USSR, the Constituent Republics, and the Autonomous Republics" enacted by the Supreme Soviet in August, 1938, introduced important changes in the system of law courts and redefined and extended the powers of the legal officers of the State

The Procurator-General. According to the 1936 Constitution the principal legal officer of the Union is the Procurator-General of the USSR who is appointed by the Supreme Soviet of the USSR for a term of seven years [29] The Procurator-General is vested with the "supreme supervisory power to ensure the strict observance of the law" by officials, institutions, and citizens throughout the Union He appoints for a term of five years the procurators

[28] On October 1, 1938, there were nine autonomous provinces, thirty regions (eleven of them were classified as "national" and nineteen as "administrative"), seventy-four territories and provinces, 3,464 counties, and 808 cities and towns On January 1, 1947, there were nine autonomous provinces (including six in the RSFSR), ten national regions (all of them in the RSFSR), 4,250 counties (including 2,541 in the RSFSR and 750 in Ukraine), 1,377 cities and towns (including 716 in the RSFSR and 258 in Ukraine), and 1,979 "settlements of an urban type" (including 1,019 in the RSFSR and 451 in Ukraine)

[29] The title of this official was changed from Procurator to Procurator-General by a law of March 19, 1946, the Constitution was accordingly amended in February, 1947

of the constituent republics, autonomous republics, territories, and provinces, the procurators of the constituent republics, in turn, appoint for a term of five years the procurators of regions, districts, and cities and towns, subject to confirmation by the Procurator-General (Articles 113–116) The procurators and members of their staff "perform their functions independently of any local organs whatsoever, being subordinated directly to the Procurator-General" (Article 117). Law enforcement therefore is the responsibility of the Procurator-General, an officer of the federal Government

Basic Principles; Judges and Assessors. The reform of the judiciary introduced by the 1936 Constitution and by the Law of August, 1938, embodies the principles of equality of all before the law, uniformity of civil and criminal procedure throughout the Union, independence of judges who are subject only to the law, use of local languages in the courts, right of defendants, except in specified cases, to be represented by counsel, publicity of court procedure, except when otherwise provided by the law; elective character of the judiciary Every court consists of judges and "people's assessors," or associate judges Judges serve as regular members of the court during the term for which they are elected, assessors are chosen in the same manner and for the same term as judges but serve, in turn, no more than ten days per year unless the extension of this period is necessitated by the duration of a case. The assessors receive during their term on the bench emoluments equal to those they earn in their usual employment [30] Every citizen of the Union entitled to vote may be elected either a judge or an assessor of any court No educational or other qualifications are required. Cases in every court are heard by a "judicial college" consisting of one judge and two assessors, except when the law provides that the "judicial college" must consist of three judges [31] The judges and assessors may be removed only by being recalled by the bodies that elected them or by a decision of the courts Criminal action against the judges and assessors of the lower courts may be initiated only by the procurator of the appropriate administrative subdivision, with the sanction of the Presidium of the constituent republic; criminal action against the judges and assessors of the Supreme Court of the USSR and of the three "special" courts (military, railway transportation, and water transportation) may be initiated only by the Procurator-General with the sanction of the Presidium of the USSR

The People's Courts. The lower or People's Courts are elected for a period of three years by the voters of a county (*raion*) by direct secret ballot The candidates are nominated by the Communist Party, trade unions, cooperative societies, youth organizations, cultural organizations, as well as by workers in an industrial organization, army units, collective farmers, and employees and workers of the State farms The number of judges and assessors

[30] An ordinance of May 9, 1939, of the People's Commissar for Justice provided, however, that the remuneration of assessors shall not be less than that of judges

[31] This rule was frequently disregarded and both civil and criminal cases were decided by individual judges The practice was specifically prohibited by a decree of the People's Commissar for Justice ratified by the Council of People's Commissars on July 28, 1939

of the People's Courts is determined by the Council of Ministers of the constituent republics after consultation with the republican Ministry of Justice The People's Courts exercise jurisdiction over both criminal and civil cases Their criminal jurisdiction extends to such offenses as murder, rape, assault, robbery, theft, abuse of power or neglect of duty by officials, failure to perform obligations imposed by the State, and minor offenses The jurisdiction of the People's Courts in civil cases extends to actions involving property rights, violation of labor regulations, and so on

The Higher Courts. Above the People's Courts are the territorial, provincial, and regional courts, and the courts of the autonomous regions The members of these courts are elected by the respective Soviets of the working people's deputies for a term of five years Their jurisdiction as courts of first instance embraces the more serious offenses such as counter-revolutionary activities, theft of Socialist property, and civil actions involving State or public institutions The autonomous and the constituent republics have their own Supreme Courts elected by their respective Supreme Soviets for five-year terms The presidents and judges of the three "special courts"—military, railway transportation, and water transportation—are elected for five-year terms by the Supreme Soviet of the USSR, while the assessors of these courts are elected for similar terms by the Soviets of working people's deputies of the territories and provinces and by the Supreme Soviets of the constituent and autonomous republics The military courts deal chiefly with military offenses and the other two "special" courts with crimes involving the "breach of labor discipline and other offenses disorganizing the normal working of transportation " The Supreme Court of the USSR, the highest tribunal of the land, is elected by the Supreme Soviet of the USSR for a term of five years

Jurisdiction of the Higher Courts. The higher courts, that is, those above the People's Courts, supervise the activities of the lower courts and perform the functions of both a court of first instance and of a court of appeal from the decisions of the lower courts The law does not state clearly what types of cases are tried by the Supreme Courts of the autonomous and constituent republics and of the USSR as courts of first instance It merely provides that they act in this capacity in cases "assigned to their jurisdiction by the law" What this provision means remains uncertain, especially because the most serious offenses under the Soviet law—counter-revolutionary activities and crimes against Socialist property—are within the jurisdiction of the territorial, provincial, and regional courts Presumably the higher courts deal with those offenses included in the foregoing categories that are considered particularly grave When the higher courts act as courts of appeal the "judicial college" consists of only three judges, that is, the assessors are not included The same rule applies to the Supreme Court of the USSR when it hears appeals from the decisions of either the Supreme Courts of the constituent republics or the three "special courts "

The Supreme Court of the USSR. The number of judges and assessors of the Supreme Court of the USSR is not specified in the law The Supreme

Court elected by the Supreme Soviet in August, 1938, had forty-five judges and twenty assessors, and its successor elected in March, 1946 (the term of members of the Court were extended during the War), sixty-eight judges and twenty-five assessors The larger number of judges, as compared with that of assessors, emphasizes the rôle of the Supreme Court as a court of appeal rather than a court of first instance. Unlike the Supreme Court of the United States, the Supreme Court of the USSR has no power to pass on the constitutionality of laws enacted by the Supreme Soviet of the USSR, nor has it ever questioned any of the innumerable decrees and ordinances emanating from the Council of Ministers of the USSR According to the Soviet doctrine the law and the judiciary are always the tools of the ruling class The independence of judges (Article 112 of the federal Constitution) must be interpreted in the light of this theory which precludes the possibility of a conflict between the courts, on the one hand, and the legislative and the executive branches of government, on the other

Purpose of the Judiciary Defined The general purpose of Soviet courts, as defined by the Law of August, 1938, is "to educate the citizens of the USSR in the spirit of devotion to the fatherland (*rodina*) and to the cause of Socialism, in the spirit of an exact and unfaltering performance of Soviet laws, careful attitude toward Socialist property, labor discipline, honest fulfilment of State and public duties, respect toward the rules of the Socialist commonwealth" N Rychkov, Commissar for Justice, admitted in his speech before the Supreme Soviets in August, 1938, that the administration of justice in the Soviet Union was suffering from grievous imperfections, but he expressed his conviction that these defects would be overcome because, he said, "we are led by our great Communist Party, its Central Committee, and our wise, great, our own (*rodnoi*) and beloved Comrade Stalin" [32]

Law Courts, 1948. Rychkov's incantation proved of no avail When ten years later, in February, 1948, he was succeeded as Minister of Justice by K Gorshenin, former Procurator-General and a jurist of stern metal, Soviet judicial mores, as depicted in the new Minister's first report, were grim· low quality of work of the courts, disregard of the rules of procedure, misinterpretation of substantive provisions, ignorance of the judges, negligence in the execution of judgments, stifling bureaucratism in the relations between higher and lower courts. Among the verdicts reversed by the Supreme Court of the USSR was the conviction of a deaf mute who was not given the benefit of an interpreter familiar with the sign language, and that of a defendant who had not been shown the full indictment and did not know what were the charges brought against him.[33] The fact that such cases could have arisen suggests that the administration of justice, at least in some instances, has sunk to a

[32] Among the measures taken by his department for the improvement of the standards of the judiciary, Rychkov mentioned the establishment of six-months courses for the training of judges for the People's Courts A six-months legal training appears hardly adequate for jurists who have to deal with offenses as grave as robbery and murder

[33] J N Hazard, "Political, Administrative, and Judicial Structure in the U S S R Since the War," *Annals of the American Academy of Political and Social Science*, May, 1949, pp 17–18

level that prevailed in Russian courts prior to the reform of the judiciary in 1864 Remedial measures demanded by Gorshenin—increase in the number of law students, better legal training, and better law books—were reinforced by a decree of July 15, 1948, on the disciplinary responsibility of judges enacted by the Presidium of the Supreme Soviet The decree provided for disciplinary action (warning, reprimand, severe reprimand) in case of breach of labor discipline, negligence, or conduct unbecoming a Soviet judge Judges guilty of violation of the law were to be indicted

FRANCHISE AND ELECTIONS

Universal Suffrage and Direct Secret Ballot The 1936 Constitution introduced seemingly revolutionary changes in the electoral system Disfranchisement of specified groups of citizens, indirect elections, and larger representation of the urban than that of the rural population were dropped Every citizen who has reached the age of eighteen, irrespective of sex, race, nationality, religion, educational qualifications, residence, social origin, property status, and previous activities, is entitled to vote, except the insane and those under sentence involving the loss of electoral rights (Article 135) [34] Deputies to every assembly described above, from the village Soviet to the Supreme Soviet of the USSR, are chosen "on the basis of universal, equal, and direct suffrage, by secret ballot" (Article 134) Members of the armed forces are entitled to vote and may be elected to office (Article 138) Candidates for election are nominated by electoral districts by the following "organizations and associations of working people" the Communist Party, trade unions, cooperative societies, youth organizations, and cultural societies (Article 141)

THE SOVIET BILL OF RIGHTS

Rights of the Citizens. Chapter x of the federal Constitution deals with what may be termed the Soviet Bill of Rights Soviet citizens have "the right to work," "the right to rest and leisure," "the right to social security," and "the right to education " "The right to work, that is, the right to guaranteed employment" and payment for the work done "in accordance with its quantity and quality," is safeguarded by "the socialist organization of the national economy, the steady growth of the productive forces of Soviet society, and the abolition of unemployment" (Article 118) "The right to rest and leisure" is ensured by the eight-hour day for factory and office workers (the seven- and the six-hour day in the more arduous, and the four-hour day in the particularly arduous employments), annual vacations with full pay, and facilities for recreation such as sanatoria, rest homes, and clubs (Article 119) [35] "The right to social security"—"to maintenance in old age and

[34] The age requirement for the deputies to the Supreme Soviet of the USSR was originally eighteen but was raised to twenty-three by a decree of October 10, 1945 The Constitution was amended accordingly in February, 1947

[35] The Constitution originally stipulated the seven-hour day "for the overwhelming majority of the workers" The eight-hour day was introduced by a decree of June 26, 1940, and the Constitution was amended accordingly in February, 1947 See below, pp 801 ff

in case of sickness or disability"—is secured "by the extensive development of social insurance of factory and office workers at State expense," free medical service, and "a wide network of health resorts for the use of the working people" (Article 120). "The right to education" is ensured by "universal compulsory elementary education; by free education up to and including the seventh grade, by State scholarships for students of higher schools who excel in their studies", by the use of native languages in the schools, and by the organization of professional training in factories, State farms, machine tractor stations, and collective farms (Article 121)[16] Citizens enjoy complete equality irrespective of sex, race, and nationality (Articles 122 and 123) The status of women is enhanced by "State protection of the interests of mother and child, State aid to mothers of large families and unmarried mothers,[17] maternity leaves with full pay, and the provision of a wide network of maternity homes, nurseries, and kindergartens" (Article 122) Freedom of conscience is safeguarded by the separation of the Church from the State and the school system, and freedom of religious and antireligious propaganda (Article 124). The patriotic attitude of the Church during World War II has led to an improvement in the relations between the State and the Church and a marked slowing down of antireligious propaganda Freedom of speech, the press, assembly, and "street processions and demonstrations" is ensured by "placing at the disposal of the working people and their organizations printing presses, stocks of paper, public buildings, the streets, communication facilities, and other material requisites for the exercise of these rights." These freedoms, however, must be exercised "in conformity with the interests of the working people, and in order to strengthen the Socialist system" (Article 125). Refusal by the Government to place at the disposal of a group of citizens the foregoing "material requisites" obviously precludes the exercise of the rights listed in Article 125. Citizens are guaranteed inviolability of person, home, and privacy of correspondence No one may be arrested except by decision of a court or with the sanction of a procurator (Articles 127 and 128) In practice these enlightened provisions impose no restraint on the extra-judicial powers of the security police (to be discussed presently) which functions in close cooperation with the office of the Procurator-General

Leading Position of the Communist Party. Soviet citizens, "in conformity with the interests of the working people, and in order to develop the organizational initiative and political activity of the masses," have the right to organize trade unions, cooperative societies, youth organizations, sport and defense organizations, and cultural, technical, and scientific societies Moreover, "the most active and politically conscious citizens . . . unite in the Communist Party . . . , which is the vanguard of the working people in

[16] Article 121 originally provided for free education, "including higher education" Tuition fees in the upper grades of the secondary schools and in all higher schools were introduced by a decree of October 2, 1940 The Constitution was amended accordingly in February, 1947 See below, p 804

[17] The original text of Article 122 contained no reference to mothers of large families and unmarried mothers State aid for both groups of mothers was provided by a decree of July 8, 1944 The Constitution was amended accordingly in February, 1947 See below, pp 841–842

their struggle to strengthen and develop the Socialist system and is the nucleus (leading core) of all organizations of the working people, both social and State" (Article 126). This provision is the mainspring of the political system of the USSR

Duties of the Citizens. Citizens have the duty "to abide by the Constitution . . , to observe the laws, to maintain labor discipline, honestly to perform public obligations, to respect the rules of the Socialist community," and "to safeguard and strengthen public Socialist property as the sacred and inviolable foundation of the Soviet system, as the source of wealth and might of the motherland (*rodina*), as the source of the prosperity and cultural life of all the working people " Those guilty of crimes against public Socialist property are branded as "enemies of the people" (Articles 130–131) Service in the armed forces is an "honorable duty" and defense of the country is "the sacred duty of every citizen." Treason—that is, violation of the oath of allegiance, desertion to the enemy, impairing the military might of the State, espionage—"is punishable with all the severity of the law as the most heinous crime" (Articles 132–133)

Right of Asylum and Exit. The Soviet Union "grants the right of asylum to foreign citizens persecuted for defending the interests of the working people, or for scientific activities, or for struggling for national liberation" (Article 129) This provision was given a restrictive interpretation Moscow is, indeed, the haven of notable revolutionaries, but the Kremlin has manifested no desire to open Soviet frontiers to the hundreds of thousands of victims of racial and political persecution in Central and Eastern Europe, or to refugees from Spain, in spite of the fact that the USSR controls vast, sparsely populated areas and is avowedly short of skilled labor While clamoring for the repatriation of Soviet citizens who had fled to Central Europe during the War, the Soviet Government has stubbornly denied exit permits to members of the national minorities, notably the Poles and the Jews, desiring to settle abroad [38] Soviet citizens are not permitted to visit foreign lands, except on official business The Constitution makes no reference to this fundamental right enjoyed as a matter of course by the nationals of every country outside the Soviet orbit

CONSTITUTION OF 1936 COMPARED WITH ITS PREDECESSORS

Principal Changes. The 1936 Constitution differs in some seemingly essential respects from the earlier constitutions Four of the more important changes will be noted here (1) The powers of the federal Government were extended and made more comprehensive, as evidenced by the requirement that the constitutions of the constituent and autonomous republics should conform with the federal Constitution, and by the institution of federal controls over the alteration of internal administrative boundaries, the judi-

[38] The once powerful flow of Jewish immigrants from Russia to Palestine has practically dried up since the establishment of the Soviet rule I am reliably informed that in spite of the manifest desire of many Soviet Jews to emigrate to Israel only five applicants were successful a cripple and two very aged couples

ciary, security police, preparation of civil and criminal codes, and so on.[39] (2) The 1936 Constitution made some concessions to the principle of separation of powers by differentiating sharply between the functions of the legislative, the executive, and the judiciary. It will be remembered that, according to the Constitution, "the legislative power . . . is exercised exclusively by the Supreme Soviet" (Article 32), the Council of Ministers is "the highest executive and administrative organ" (Article 64), and "judges are independent and subject only to the law" (Article 112). Practice, however, did not conform to the rules laid down in the Constitution. The independence of the judiciary remained a fiction incompatible with the basic Soviet doctrine that courts are always the tool of the ruling class. The bulk of legislation emanates not from the Supreme Soviet but from the Council of Ministers, which frequently issues decrees jointly with the Central Committee of the Communist Party, a procedure for which there is no constitutional foundation unless one chooses to put an unreasonably broad interpretation on the provisions of Article 126 dealing with the position of the Communist Party. Executive decrees have at times the force of constitutional amendments.[40] (3) Chapter X of the Constitution of 1936 containing the Soviet Bill of Rights had no counterpart in the earlier constitutions. (4) The introduction of universal, equal, and direct suffrage, and secret ballot, brought the Soviet electoral system in line with those of the bourgeois democracies.

Stalin on Proletarian Dictatorship. A superficial examination of the Constitution may well create the impression that the Soviet Government is evolving in the direction of a democratic welfare state in the Western meaning of the term. Stalin, however, whose name the Constitution bears, took a different view. In his address to the Eighth Congress of the Soviets on November 25, 1936, Stalin said. "I must admit that the draft of the new Constitution actually leaves in force the regime of the dictatorship of the working class as well as it preserves unchanged the present leading position of the Communist Party." The question naturally arises. How is it possible to reconcile two seemingly irreconcilable systems—democracy based on universal suffrage and secret ballot, and the dictatorship of the working class exercised through the numerically small Communist Party? A glance at the mechanics of Soviet elections and the procedure of the Soviet Parliament may help to solve the riddle.

[39] The trend toward greater centralization and unification of government is emphasized by Soviet writers. See, for instance, I. Levin in *Bolshaia Sovetskaia Entsiklopediia* (*Large Soviet Encyclopedia*), supplementary volume on the USSR (Moscow, 1948), pp. 40–41.

[40] For instance, the already mentioned decree of the Council of People's Commissars of October 2, 1940, on tuition fees in secondary and higher schools. The decree became effective at once but the Constitution was not amended until 1947. Article 146 of the Constitution provides that "the Constitution of the USSR may be amended only by decision of the Supreme Soviet of the USSR adopted by a majority of not less than two-thirds of the votes of each of its chambers."

SOVIET DEMOCRACY IN ACTION

Elections, 1937 and 1938. Elections to the Supreme Soviet of the USSR in December, 1937, and to the republican Supreme Soviets in June, 1938, set a pattern which has been strictly adhered to ever since The federal election was preceded by an appeal of the Central Committee of the Communist Party for a demonstration of national unity, and the candidates ran on the platform of an "election bloc of Party and non-Party people" A similar device was used in the election of June, 1938 Since the "non-Party people" have no organizations of their own that would not be controlled by the "leading nucleus" of the Communist Party it may be surmised that the bloc was somewhat one-sided While the victory of the Communist Party was a forgone conclusion the possibility of a contest among several candidates was not precluded Stalin, in a much-publicized interview with Roy Howard in March, 1936, prognosticated a lively electoral struggle over the personal merits of the candidates For once, he proved wrong In both elections the name of only one candidate appeared on the ballot in each electoral district, although several candidates had been nominated by the various organizations during the preliminary discussion Miss Rose Somerville, who had spent most of the years 1935–1937 in Russia studying Soviet Government, rightly remarked that to bring about the withdrawal in each district of all candidates but one, "some machinery must have been in operation which is not revealed by the public record." Miss Somerville was right when she ventured the opinion that "some influence, probably the Communist Party, made the several nominees aware of the desirability of avoiding public contest," although she was probably wrong in believing that this influence was at work in some districts only[41] In both elections the nomination of candidates was by showing of hands, the secret ballot being used in the final voting The "non-Party people," being officially in a bloc with the Communists, candidates opposing the one sponsored by the local Communist organization were effectively excluded, for any such opposition would have indicated that its supporters were neither Communist nor "non-Party"; that is, that they were inimical to the Soviet regime, a category in which few would care to put themselves

Their Results. Candidates need not reside in the district in which they come up for election No registration of voters is required, the lists being prepared by local Soviets Everyone is urged to vote, and the authorities keep a record of those who do and do not. Election day is a national holiday, and the voters troop in to deposit a secret ballot on which they had registered their approval or disapproval of the sole candidate Of the 94 million eligible voters in the federal election of 1937, over 91 million, or 96 8 per cent, went to the polls, and of this number 89 8 million, or 98 6 per cent, voted for the candidates This record was improved upon in some of the republics in the election of June, 1938, the percentage of both voters participating in the elec-

[41] Rose Somerville, "The New Soviet Elections," in *The American Quarterly on the Soviet Union,* October, 1938, pp. 71–72.

tion and those endorsing the candidates running as high as 99 per cent Communists (Party members and candidates) accounted for 81 per cent of the deputies to the Council of the Union, and 71 per cent of the deputies to the Council of Nationalities The balance was made up of "non-Party Bolsheviks" The composition of the republican Supreme Soviets did not differ substantially from that of the Supreme Soviet of the USSR. The "Stalin elections" were acclaimed in the Soviet Union as a great success and a tribute to the leader.

Elections, 1939. Elections to local Soviets held in December, 1939, followed a pattern by then well established Each election district had a sole candidate sponsored by a "bloc of Party and non-Party Stalinites" Of the 93 5 million eligible voters 92 8 million went to the polls The percentage of votes cast for the candidates varied from 99 7 to 96 7 of the total vote About one-third of the 1,281,000 delegates to 68,190 Soviets of various types elected on this occasion were members or candidates of the Communist Party, and two-thirds were "non-Party Stalinites" The only novel feature in the 1939 election was the failure to elect Soviets in 134 localities In nine cases this was due to the death of the candidate or to inclement weather, and in the remaining 125 cases, according to an official but not very helpful statement, "the candidates did not receive the absolute majority of votes"

Wartime Government. The German invasion played havoc with the institutions of Soviet Government, but led to no important constitutional changes On June 30, 1941, a week after the Germans crossed the Russian border, there was created (by a joint decree of the Presidium of the Supreme Soviet, the Central Committee of the Communist Party, and the Council of People's Commissars) the State Defense Committee vested with practically unlimited powers The Committee had five members (it was somewhat enlarged later), was headed by Stalin, and included the key men of the regime. Molotov; Marshal K Voroshilov; the Secretary of the Central Committee of the Party, G Malenkov, and the People's Commissar of the Interior and head of the security police, L Beria The State Defense Committee served well its purpose of unifying and dramatizing the war effort, but it added nothing to the powers actually wielded by Stalin and those at the top of the Communist oligarchy No elections took place during the War, the mandates of the deputies were extended from year to year by the Presidium of the Supreme Soviet, and the Supreme Soviet itself was in a state of suspended animation and held but four brief perfunctory sessions: one in 1942 and in 1944, and two in 1945; that is, three of them when the War was practically over. The eclipse of the Soviet parliament, "primarily . . a ratifying and propagating body,"[42] was of no consequence, especially since the Presidium continued to carry on its routine duties On September 5, 1945, with the termination of the War, the State Defense Committee was abolished by a decree of the Presidium of the Supreme Soviet, and the institutions created by the 1936 Constitution gradually emerged from their wartime eclipse. The fact that

[42] Towster, *op. cit*, p 263

the Supreme Soviet and other elective assemblies took no real part in the organization of the war effort is a telling comment on the place they actually hold in the Soviet system.

Elections, 1946–1950. Several elections were held since the War: elections to the Supreme Soviet of the USSR in February, 1946, and March, 1950, elections to the republican Supreme Soviets in February, 1947, and local elections in December, 1947, and January, 1948. The procedure and results in every case duplicated those of the pre-War period. Uniformly there was in each electoral district but one candidate nominated by a "bloc of Communists and non-Party people." Of the 101.7 million eligible voters in the 1946 federal election 101.5 million, or 99.7 per cent, went to the polls and 99.2 per cent voted for the candidates. The percentage of Communists (Party members and candidates) among the delegates of the Council of the Union was 77.5, and among the delegates of the Council of Nationalities 84.5, that of women, was 17 and 24.5 respectively. The 1947 republican elections ran true to form and present no special interest. The 1947–1948 local elections differed in some respects from those of 1939. As a consequence of the remodeling and consolidation of the network of local Soviets the number of deputies elected was 766,600, that is, substantially less than in 1939 in spite of the annexation by the USSR of vast territories. The percentage of Communists was much lower among the delegates chosen in the newly acquired republics (11 per cent in Lithuania, 13 per cent in Moldavia, 18 per cent in Latvia) than in the long-established republics (about 50 per cent). As in 1939 in a small number of districts (102), local Soviets were not elected because the candidates had not received the absolute majority of the votes cast.[43] Finally, in the federal election of March, 1950, 99.98 per cent of the eligible voters (111 million) actually voted and 99.73 per cent cast their ballots for the candidates. Election managers have good reasons to be worried: the margin for improving on the record of unanimity is getting distressingly narrow.

Soviet Parliament. Except for the war years the Supreme Soviet of the USSR has met regularly at least twice a year as required by the Constitution. Its sessions, however, are brief, and seldom last longer than a week. Like elections, they follow an immutable and dreary routine: long program speeches by the leaders, blank endorsement of constitutional amendments and decrees of the Presidium which have been in effect for months or even years, brief speeches by back-benchers pleading some local cause, enthusiastic demonstrations every time that Stalin's name is mentioned (and this means frequently), and practically no independent legislative work. Again, like elections, the motions of the deputies would seem to be regulated by some influence "which is not revealed by the public record." For instance, the budget speech of the Minister of Finance is invariably followed by proposals of the budget commissions of the two chambers (which are supposed to function separately) to increase the tax bill by exactly the same amount;

[43] Hazard, *op. cit.*, p. 12.

these amendments of the budget are invariably accepted by the Minister amidst thunderous applause. Unanimity characteristic of Soviet elections is, if possible, even more in evidence in the Supreme Soviet At the opening session of the new Parliament in January, 1938, a picturesque group of visiting Kazakhs from Central Asia added color to the proceedings not only by their cerise, flowing robes but also by thrusting up their hands whenever a vote was taken [44] No one interfered with them: a few more hands merely emphasized the unanimity of the vote From the unwritten rule of unanimity the Soviet Parliament has never departed

The "chief purpose" of the Supreme Soviet, writes Towster, "appears to be, periodically or as the occasion demands, to lend the voice of approval of a representative assembly to governmental policy [45] This statement sums up well the functions of the Soviet Parliament, even though the Supreme Soviet is clearly not a "representative" assembly in any accepted meaning of the term

PROTECTION OF THE REGIME

The Security Police. The Soviet Government does not rely entirely on indoctrination and the Communist Party to keep everyone in line The security police—known successively as CHEKA (1918–1922), OGPU (1922–1934), NKVD (1934–1943), NKVD or NKGB (1943–1946), and MVD or MGB (since 1946)—is one of the main pillars of the regime.[46] It comprises both a uniformed force and a body of undercover agents and, unlike the intelligence and security service of the Western countries, combines the police and the judicial functions Its ubiquitous agents, free from the restraint of the law, are vested with extra-judicial powers which allow them not only to deport citizens suspected of disloyalty to the regime to the penal labor camps that dot the bleak wilderness of Russia's northern and eastern regions, but also to impose death sentences after a trial in *camera* or without the formality of a trial No official information on these sinister activities is available but the number of their victims is said to be very large An official British statement put the number of persons subject in the Soviet Union "to some kind of forced labor" at about 10 million or one-tenth of the work-

[44] Harold Denny in *The New York Times*, January 14, 1938

[45] Towster, *op cit*, p 263.

[46] These euphonious names, which make the Russian shudder, are combinations of initials of the agencies that, in turn, controlled the security police The CHEKA and OGPU were separate administrations subordinated directly to the Council of People's Commissars In 1934 the OGPU was incorporated in the People's Commissariat of the Interior (*Narodnyi Kommissariat Vnutrennikh Del*) which in 1946 became the Ministry of the Interior (*Ministerstvo Vnutrennikh Del*) In February, 1941, the Commissariat of the Interior was split into two Commissariats—Interior and State Security (NKGB) They were reunited five months later, in July, 1941, and separated again in April, 1943, but the decree dealing with the latter change was never published (Hazard, *op cit*, p 14, note 33) It would seem that in 1944–1945 the NKVD still controlled the penal labor camps while the other functions of the security police were within the competence of the People's Commissariat of State Security, which in 1946 became the Ministry of State Security (*Ministerstvo Gosudarstvennoi Bezopasnosti*), or MGB The exact present status of the security police is not known but the appellation MVD is still in common use (see, for instance, Towster, *op cit*, p 384) Throughout these transformations the security police has preserved unimpaired its powers and its identity

ing population [47] This and similar estimates are brushed aside by Moscow as mere propaganda While the size of the population of the labor camps cannot be ascertained with any degree of precision, information from Soviet sources throws much light on the methods and nature of the work of the security police The trial in March, 1938, of H Yagoda, head of the NKVD since 1934, and, a year later, that of his successor N Yezhov, disclosed an almost unbelievable picture of corruption, crime, personal rule, and abuse of power. Both Yagoda and Yezhov were executed, but the security police under its new chief, L Beria (who, like Stalin, is a Georgian), lost none of its authority Pains were taken to make it clear that the reform of the judiciary outlined in this chapter did not infringe on the prerogatives of the NKVD. Rychkov, Commissar for Justice, reminded the Supreme Soviet in August, 1938, that agencies other than the courts watch over the security of the State "This honorable and glorious duty is gallantly performed by the organs of the Commissariat of the Interior under the leadership of the Stalinite Commissar Yezhov," Rychkov declared amid the loud applause with which Soviet democracy never fails to greet any reference to the security police The tribute to Yezhov was untimely but otherwise Rychkov's statement still holds good.

Counter-Revolutionary Activities The extra-judicial powers of the security police are supplemented by a formidable array of legal provisions dealing with counter-revolutionary and anti-State activities No other part of the Criminal Code, adopted in 1927, has been so thoroughly amended and revised as that devoted to the protection of the regime A counter-revolutionary activity is defined as any action directed to "the overthrow, undermining, or weakening" of the USSR and its constituent parts, or of its "basic economic, political, or national institutions" (Article 58 [1], edition 1937) In addition to treason, armed uprising, and other criminal activities punishable under the law of any country, the Code considers as counter-revolutionary the "undermining of State industry, transportation, commerce, monetary circulation and credit, as well as cooperative societies" (Article 58 [7]) The intentional nonfulfillment by a person of his "definite duties" or negligence in fulfilling them, with the intent of weakening the Soviet power or disorganizing the State machinery, belongs to the same class of criminal offenses (Article 58 [14]) The penalty varies from imprisonment to execution by a firing squad and confiscation of all property

Crimes against the Administrative Order. The Code also recognizes a special class of crimes against "the administrative order." These are defined as "any action which, while not aimed at the overthrow of the Soviet Government . . . leads nevertheless to the disorganization of the regular functioning of the organs of the Government and interference with their work, violation of the law, or *other activities which weaken the power and authority* of the State" (Article 59 [1]) It is obviously impossible to reconcile these legal

[47] Statement by Corley Smith, British delegate to the Economic and Social Council of the United Nations *The New York Times*, July 23, 1949.

rules with the doctrine of the "withering away" of the State as expounded by Lenin The loose wording of the provisions just quoted and of many others is susceptible of the widest interpretation The articles of the Criminal Code have frequently been invoked when the economic and administrative institutions have failed to work satisfactorily [18]

Post-War Legislation. During and immediately after the War questions of security were dealt with largely by military authorities Beginning in 1947, however, the Presidium of the Supreme Soviet enacted several measures for the protection of the safety of the State and State property Disclosure of State secrets ("provided such action does not constitute treason or espionage") or loss of documents containing secret information, became punishable by confinement in a labor camp for a term of six to twenty years (decree of June 4, 1947) The Council of Ministers supplied a comprehensive list of information classified as secret The list included, in addition to information bearing directly on national defense, information designated as secret by the Council of Ministers concerning industry, agriculture, trade, transport, monetary circulation, financial plans, and other economic activities; also information on "discoveries, inventions, technical improvements, research and experimental work in all spheres of science, technology, and national economy until they are completed and permission has been obtained for publication"; and information on "negotiations, relations, and agreements of the USSR with foreign States, and all other measures in the field of foreign policy and foreign trade which are not contained in officially published data." Another decree of June 4, 1947, imposed heavy penalties (five to twenty-five years in a labor camp, with or without confiscation of property) for embezzlement of State or public (collective farm and cooperative) property. Withholding of information concerning acts of embezzlement committed or about to be committed is punishable by loss of freedom for two to three years, or deportation for five to seven years. A decree of December 16, 1947, imposed Draconian restrictions on the relations of Soviet agencies and officials with agencies and officials of foreign States The Ministry of Foreign Affairs and, "within the limits of its authority," the Ministry of Foreign Trade were alone permitted to deal with foreign representatives, including members of diplomatic missions Any request addressed by a foreign representative to a Soviet official must be referred to the Ministry of Foreign Affairs or the Ministry of Foreign Trade Postal and telegraph employees, clerks selling railway and theatre tickets, waiters, shop attendants, and the like were magnanimously allowed to deal directly with foreigners "within the limits, however, of the usual functions performed by such . . persons " A foreign ambassador may still buy a newspaper or a meal without Vishynsky's special dispensation, but he must not engage in unnecessary conversation with the news-vendor or waiter The truly medieval decree of February 15, 1947, pro-

[18] The Criminal Code is being revised In view of recent trends in Soviet legislation (examples of which will be found below) it is not likely that the sections dealing with offenses against the State and State property will lose anything of their severity.

hibiting marriages between Soviet citizens and foreigners was another manifestation of the determination to erect an impregnable barrier between the USSR and the outside world.

Capital Punishment Abolished and Restored. In the midst of these bizarre activities the Presidium of the Supreme Soviet announced the glad news of the abolition of the death penalty. A decree of May 26, 1947, made confinement in a labor camp for twenty-five years the highest penalty in peacetime. Two reasons were given for the abolition of capital punishment: (1) "The historic victory of the Soviet people . . . has demonstrated . . . the exceptional loyalty of the entire population to the Soviet motherland (*rodina*) and the Soviet Government", and (2) the fact that since the end of the War "the cause of peace may be considered as secure for a long time, in spite of the attempts of aggressive elements to provoke war." Restraint on freedom in dealing with opponents, however, is repugnant to the men in the Kremlin. On January 12, 1950, the Presidium of the Supreme Soviet reversed itself and reimposed capital punishment for "traitors, spies, and saboteurs," a loosely worded provision which may be invoked in the case of practically any offender against the laws and regulations of the ubiquitous and omnipotent State. The revival of the death penalty was due, according to the decree, to requests received from national republics, trade unions, peasant organizations, and cultural leaders. If this statement is to be taken at its face value it would suggest that the number of traitors, spies, and saboteurs must be large indeed to create a nationwide outcry for the restoration of capital punishment. But unanimity, as we have seen, is never wanting in the USSR when the Government needs it.

Ban on Legislation. A development of the gravest concern to the students of Russian affairs is the systematic blocking of all channels of information. The volume of legislation enacted by the Supreme Soviet is surprisingly small. The "*Vedomosti* (Monitor) of the Supreme Soviet," organ of the Presidium, contains little except decrees dealing with the establishment of new medals and decorations, and endless lists of recipients of rewards ranging from Stalin, cabinet ministers, scientists, ballet dancers, famous composers, factory directors and collective farm presidents down to miners, industrial workers, farmers, and milkmaids. The actual business of government is carried on by decrees of the Council of Ministers of the USSR. These decrees are addressed primarily to local administrative agents whose educational and intellectual levels are not too high. They are often couched in a homely and picturesque language, are illustrated by examples drawn from actual life, and, taken as a whole, provide a revealing picture of Soviet conditions. Ministerial decrees were published in the official "*Sobranie* [Collection] of Decisions and Ordinances of the Government [changed to Council of Ministers in April, 1946] of the USSR," which appeared at irregular intervals several times a year. Since the War this invaluable source of information showed a tendency to dry up; the issues of *Sobranie* became shorter and rarer, and much of its dwindling space was taken up by appointments and dismissals of officials while

vital decrees were omitted In August, 1949, *Sobranie* was discontinued, and the unhappy student of Russian affairs is forced to rummage for gleanings of factual information in the stale columns of *Izvestia* and *Pravda* and those of the few Soviet periodicals that are worth reading [49] The predicament of Soviet citizens is even graver It is an old legal maxim that no one can plead ignorance of the law According to the Constitution, observance of the law is a citizen's primary duty and the decrees of the Council of Ministers are as binding as the laws enacted by the Supreme Soviet But how can they be observed if they are not published? To this puzzling question I have no answer

The Citizen and the State. In 1932 Pavel Morozov, a Russian peasant boy, denounced his father for siding with the opponents of collectivization and was murdered by his irate parent and other alleged *kulaks* This gruesome piece of family history, according to *Pioneer Pravda*, was to be immortalized by erecting a memorial to young Morozov in the Moscow Red Square.[50] The memorial, if it was actually built, conveys better than the lifeless sessions of hand-picked deputies of the Supreme Soviet the essence of Soviet democracy

[49] The decline and fall of *Sobranie* may be gathered from the following figures: 1940—32 issues, 818 enactments, 1,084 pages, 1942—11 issues, 199 enactments, 200 pages, 1946—14 issues, 283 enactments, 256 pages, 1948—8 issues, 93 enactments, 227 pages, and 1949 (January–August 18)—11 issues, 91 enactments, 272 pages A minor Soviet official whom I asked why a publication containing so much valuable information should be discontinued exclaimed spontaneously: "Ah, *that* must be the reason," an explanation to which I have nothing to add

[50] Quoted by Harold Denny in *The New York Times*, November 15, 1938

CHAPTER V

ECONOMIC PLANNING

PLANNING VS. "ANARCHY OF PRODUCTION"

Anarchy of Production. "Anarchy of production," according to the Marxian analysis, is inherent in an economic and political system based on the private ownership of the means of production. The striving of the capitalists for higher profits leads them into cut-throat competition, with its accompanying evils of periodical overexpansion followed by violent economic depression which throws millions of people out of work, ruins the smaller capitalists, and forces them into the ranks of the proletariat. This sinister rhythm of capitalistic development, the Marxian Socialists maintain, becomes more pronounced with the growth of the capitalist society, the depressions are more frequent and severe, while the misery they inflict upon the working class is continuously intensified. Finally the economic crises, by paving the way to the inevitable Socialist revolution, spell the doom of the capitalism that generated them.

Economic Planning a Necessity under Socialism. The Socialist and, later, the Communist society must be free from the violent fluctuations which, admittedly, are the curse of an economic organization resting on private ownership and private initiative. The cure consists in a comprehensive economic plan prepared by an enlightened body of experts and statesmen possessed of a real knowledge of the country's resources and requirements, a plan that will map out the course of the nation over a protracted period. The necessity of such a plan in a Socialist society is almost self-evident. Under capitalism the economic life is regulated more or less automatically, although no doubt imperfectly, by the relatively free interplay of complex economic forces, the interaction of supply and demand made possible by the mechanics of competition and prices, and the movement (not without considerable friction) of capital and labor from one branch of production into another. In a Socialist economy private competition is nonexistent. The State is the sole producer and distributor of commodities (with but few exceptions), it determines the volume of production of every kind of goods and the prices to be charged for

them. Capital, of course, cannot be moved by private initiative from one branch of production to another for the obvious reason that all economic activities are financed by the State and there is no private ownership of the means of production. Having thus eliminated the mechanics of capitalist economy the Socialist State must put something in its place The solution offered by the Soviet Union—and there seems to be no other—is economic planning The necessity of such planning was recognized by the Bolshevik leaders from the very beginning of their rule The program of the Russian Communist Party, adopted in March, 1919, proclaimed that one of the most pressing problems of the day was "the maximum unification of all economic activities of the country in a comprehensive State plan" It was, however, almost ten years before planned economy was actually put into operation War Communism, with its rigid centralization and the drastic attempt by the State to control every phase of the economic life, was, in a sense, a venture into planned economy although it concerned itself merely with immediate and pressing needs. These economic measures were taken, moreover, under the most unfavorable economic and political conditions and were abandoned early in 1921. The New Economic Policy, with the relative freedom it offered the peasant-farmers and the small traders and artisans, was lacking in some of the essentials of a Socialist economy. It was only with the official inauguration of the first Five-Year Plan in October, 1928, that the Soviet Union definitely entered the stage of economic planning.

Prerequisites and Objectives of Planning The Soviet economists claim, it would seem on good ground, that there are certain prerequisites essential to the success of any economic plan. The first of these is the nationalization of all means of production and the elimination of all private interests, since such interests are inherently inimical to the smooth working of the mechanism of planning No less essential is the second condition—unified leadership, which in the Soviet Union is provided by the Communist Party The Soviet plan, however, is not merely a technical device for the administration of economic activities It has also definite social and political objectives which received their most authoritative expression in Article 11 of the new Constitution These objectives, it will be recalled, are: (1) increase in public wealth; (2) steady improvement in the material and cultural standards of the working people, and (3) the strengthening of the independence of the Soviet Union and of its capacity for defense

THE PLANNING AGENCIES

Early Attempts at Planning. The central planning agency of the Soviet Union is the State Planning Commission of the USSR, or the Gosplan, which was created in February, 1921, as a commission of the Council of Labor and Defense [1] It was some time, however, before the Gosplan became the actual

[1] The Council of Labor and Defense was formed in April, 1920, was given the status of a permanent commission of the Council of People's Commissars (December, 1920), and dealt primarily with the coordination of defense and economic activities

central planning body The Supreme Economic Council, established in December, 1917, had somewhat similar functions, some of which it retained until its abolition in 1932 The first comprehensive attempt at planning was made in April, 1921, when a special commission for the electrification of Russia was appointed at the suggestion of Lenin The commission had the task of preparing a general plan for the development of electric power stations and the use of electric current, a plan that was to be put into effect over a number of years Lenin attached the greatest importance to this venture, and the plan for electrification was later incorporated in the Five-Year Plan In 1925 were published the first so-called "control figures" which were a program of economic development for the year 1925–1926 [2] In 1926 the Soviet Union embarked on a more ambitious program which finally became the first Five-Year Plan Officially put into operation on October 1, 1928, to run for five years, it was declared completed in four years and three months, that is, on December 31, 1932

The Gosplan. The State Planning Commission, like all other Soviet institutions, has undergone frequent structural changes From a commission of some forty members it has grown into a vast administration subdivided (under the decree of April 13, 1940) into forty-five specialized agencies, each comprising several sections, and employing thousands of people, including an army of statisticians The members of the Gosplan are appointed by the Council of Ministers (People's Commissars), of which its Chairman is a member In April, 1935, the membership of the governing body of the Gosplan was reduced to seventy, less than half its previous number The reorganization of February, 1938, confirmed the status of the Gosplan as a permanent commission directly subordinated to the Council of People's Commissars, thus giving legal recognition to a situation that has apparently prevailed for some time [3] Under the 1938 setup the governing body of the Gosplan consisted of Chairman, a board of eleven members, and a council of ninety members [4] The principal activities of the Gosplan are twofold (1) the coordination of the vast mass of factual information which reaches it from every corner of the country, and the preparation of a unified plan according to the general directions issued by the Communist Party and the Council of Ministers, and (2) the checking of the performance by subordinate institutions of their assignments under the plan.

Other Planning Agencies. The Gosplan of the USSR is assisted in the carrying out of its task by a complex network of planning institutions which may be broadly divided into two groups those arranged on the horizontal or

[2] For the purposes of planning, the year was originally reckoned from October to October Since 1933, it is made to coincide with the calendar year

[3] The Council of Labor and Defense was abolished and most of its work was taken up, in November, 1937, by a newly appointed Economic Council, another permanent commission of the Council of People's Commissars

[4] By a decree of January 9, 1948, of the Presidium of the Supreme Soviet the State Planning Commission was reorganized as the State Planning Committee of the Council of Ministers As far as could be ascertained the text of this decree was never published (see above, p 745, note 24), but there is no reason to believe that the 1948 reorganization affected substantially the status or functions of the Gosplan

territorial principle, and those arranged on the vertical or functional principle. The territorial group of planning institutions consists of planning commissions of the constituent republics and other territorial subdivisions Every locality of any importance has its own planning bodies arranged in hierarchical order and directly subordinated to the planning institutions of the territorial subdivisions of which they form a part. A similar administrative scheme is followed in the functional group of planning institutions. This group consists of planning agencies attached to each ministry (People's Commissariat) of the USSR, the State Bank, the Union of Cooperative Societies, and so on The ministries of the constituent republics have, again, their own planning agencies and so it goes all along the line down to the factories and collective farms which, too, participate in the preparation of the plan It is self-evident that this extraordinarily complex administrative structure of the planning agencies must lead to a great deal of duplication, for the territorial and functional planning bodies necessarily deal with the same problems although, perhaps, from a somewhat different standpoint. It is the duty of the higher planning bodies to iron out as well as they can the differences that must necessarily arise until the Gosplan of the USSR finally produces a comprehensive plan for the Union. The plan is then submitted for the approval of both the Communist Party and the Soviet Government and is put into operation.

The Procedure. The general direction as to the contents of the plan come from the Communist Party and the Soviet Government. It is the duty of the Gosplan to embody these in concrete proposals, supported by a formidable array of statistical data, and to provide a definite assignment for the various branches of economic activity The preliminary plan is then submitted to the lower planning agencies which transmit the proposed assignments further down the line to the planning bodies under their jurisdiction. Every factory and every collective farm is thus given an opportunity to become acquainted with the proposed plan before it has been finally adopted. Discussions are organized and frequently counter-plans are made by the local bodies. These counter-plans invariably suggest an increase in the original assignment There seems to be no instance on record of doubts expressed by a factory that the proposed quota could be filled, even though failures to complete the assignments are common With the same unfailing unanimity that has been already noted in Soviet elections industrial workers and farmers, on the invitation of the local Communists, clamor for more exacting assignments and larger quotas.[6] The plan thus revised then moves up through the hierarchy of planning agencies until the many local suggestions reach the Gosplan. Its statisticians are kept busy revising the original draft of the plan, although the final assignment would seem to be determined rather by the "general line" of the Party than by the expression of official optimism that comes from the rank and file of the Soviet citizens

[6] The regulations issued by the Council of People's Commissars on December 17, 1930, and reproduced in the official collection of labor legislation published in 1938, include "passive, indifferent, or negligent attitude" toward the counterplan among the punishable offences against labor discipline

THE FIRST, SECOND, THIRD, AND FOURTH FIVE-YEAR PLANS

The Four Five-Year Plans. The first Five-Year Plan was published in three bulky volumes comprising, with the appendices, nearly 1,600 pages, the second, in two volumes of a slightly smaller format containing over 1,300 pages; the third, in one volume of less than 250 pages, and the fourth, in a pamphlet of 95 pages The official summary of fulfillment of the first Five-Year Plan, issued in 1933, was a booklet of 275 pages, and the summary of fulfillment of the second Five-Year Plan, published in 1939, is an even smaller booklet of 157 pages No comparable factual survey of the results of the third Five-Year Plan is available, although its achievements are, of course, invariably extolled by the Moscow leaders Basic factual information on Soviet planning, which was never adequate, has therefore been becoming increasingly meager There is, moreover, no close coordination between the issuance of a plan and the time when it is put into operation. The third Five-Year Plan, for instance, was inaugurated in January, 1938, but until 1939, when the full text was published, its contents were known merely from brief official summaries. Each of the four Five-Year Plans is divided into two main parts Part I deals with the proposed development of the various branches of national activity over the entire territory of the Union, Part II concerns itself with the apportionment of planned assignments among the principal administrative subdivisions The difficulties arising from the frequent shifting of internal boundaries and the confusion this introduces in regional planning are duly noted in the introductions to Part II of the first and second Five-Year Plans

Their Scope. "The Five-Year Plan for the Development of National Economy," to give the plan its full name, is really an understatement of the scope of the gigantic venture Each of the successive plans contains not only a comprehensive program of economic development but also an exhaustive schedule of social, cultural, and educational activities The chief emphasis of the plan, however, is on the economic aspects, a policy that is in harmony with the Marxian theory according to which the economic factors—the "modes of production"—determine the character of the social, cultural, and political "superstructure " As an effort at mapping out the future course of the nation the Soviet plans are rightly regarded as a unique and stupendous enterprise without precedent in the annals of any country To give some idea of the immensity of the undertaking a brief enumeration of the topics covered by the plan will have to suffice Each of the plans deals, in a varying degree of thoroughness, with the development of industry· machine-building, electric power stations, fuel, mining, chemistry, timber, industries producing consumers' goods, food industries, cooperative associations of producers Then come agriculture, transportation, post, telegraph, and telephone Special sections treat the questions of labor, wages, standards of living, cost of production, quality of goods, distribution, and per capita consumption The discussion of cultural activities includes the expansion of the school system, the training

of teachers, the printing of books and newspapers, v
extend to housing, measures for the improvement of p
insurance The section on finance provides a comprehe
from which the stupendous outlay necessitated by the
first Five-Year Plan had a special brief chapter on for
ever, was omitted from the subsequent plans.

Under each of the foregoing headings (and the list
the plan sets definite goals to be achieved within the
outlines, not always very clearly, by what methods t
be obtained The plan maps out the amount of capit
various fields, the percentage by which the production
try is to be increased, and—also in percentages—the
tivity of labor, the reduction in prices, the increase in n
the reduction of illiteracy, and so on

The Political and Social Objectives of the Fir Five-Year Plans. Each of the consecutive plans is
stage along the road leading the Soviet Union towar
jectives of the first Five-Year Plan, as outlined in a re
Congress of the Communist Party in December, 192
tion of the USSR, the reorganization of the rural c
basis, the overcoming of the capitalist and the stren
elements in the economic organization of the countr
clared to have been achieved by January 1, 1933, wh
Plan was inaugurated. "The basic political aim o
Plan," according to the resolution of the Seventeenth
munist Party, "is the final liquidation of the capitalis
in general, the complete elimination of causes that
and exploitation, and the overcoming of the survival
nomic organization and in the minds of men, and t
entire working population into conscious and active
society." V. Molotov, then chairman of the Council
stated early in 1939 that the chief objective of the s
"the elimination of the causes of exploitation of m
achieved [6] He maintained that "the Socialist societ
now of two classes friendly to one another—the work
dividing line between these classes as well as betw
lectuals is being effaced, is gradually disappearing"
intellectuals were actually the peasants and workers
transformation of society, based on the socialization
lectivization of farming, is leading the Soviet Union in
by the third Five-Year Plan The goal, according t
pletion of the building up of a classless Socialist soci
sition from Socialism to Communism, a period whe

[6] V Molotov, preliminary report (theses) on the third Fi
Eighteenth Congress of the Communist Party in *Pravda*, Januar

is the Communist education of the toilers, the overcoming of the survival of capitalism in the minds of men—builders of Communism "

Their Economic Program. Such is the political and social program of the first three plans Their economic program, which displays an even greater uniformity, may be reduced to three principal objectives (1) rapid industrialization with special emphasis on the building up of the heavy industries that produce the means of production, (2) collectivization of farming, and (3) sustained effort to reduce costs and to increase the productivity of labor

The Philosophy and Objectives of the Fourth Five-Year Plan. The general approach of the fourth Five-Year Plan, which is officially styled "The Law on the Five-Year Plan for the Reconstruction and Development of the National Economy of the USSR in 1946–1950," differs somewhat from that of its predecessors The preamble of the new plan proclaims that "as a result of the heroic efforts of the peoples of the Soviet Union and of its gallant Red Army there was achieved a victory of world-wide historic significance—the annihilation of Hitler's Germany and the defeat of Japanese imperialism. The USSR has ended the War by winning a complete victory over the enemy—this is the true significance [*glavnyi itog*] of the War The victory of the USSR means, first, that victory was won by the Soviet social system, that the Soviet social system has successfully withstood the trials of the war conflagration and has proved its viability The victory of the USSR means, secondly, that victory was won by the Soviet constitutional system, that the multi-national Soviet State has withstood all the trials of war and has proved its viability The victory of the USSR means, thirdly, that victory was won by the Soviet armed forces, by the Red Army, that the Red Army has heroically withstood the hardships of war, that it has smashed the armies of our enemies, and that it has emerged victorious from the War Such a victory of world-wide significance could be achieved only on the foundation of the preliminary preparation of the entire country for active defense The preparation of this gigantic enterprise required the execution of the three Five-Year Plans for the development of the national economy of the USSR " This interpretation of the true significance of World War II, an interpretation which is not likely to commend itself to Russia's wartime partners, is followed by the endorsement of the policy laid down by the Eighteenth Congress of the Communist Party in 1939, namely, that the gradual transition from Socialism to Communism poses before the peoples of the Soviet Union the problem, first, of reaching, and then of exceeding, the per capita production levels of the capitalist countries The basic objectives of the plan are "the restoration of the devastated regions, the restoration of the pre-War production levels in industry and agriculture, and then the achievement of much higher levels "

UNCERTAINTIES OF SOVIET PLANNING

Inadequacy of Soviet Statistics. An attempt to obtain a clear picture of the working of Soviet planning unfortunately meets with insurmountable obstacles. Chief among them is the absence of basic statistical data, a state of

affairs that is certainly surprising in a country where much energy is being spent in filling out innumerable forms dealing with innumerable subjects Since 1929 the Soviet Government has discontinued the publication of the index of the cost of living, thus making impossible the determination of the trend of real wages All computations in the State budget are made at current prices while the State Planning Commission uses alternately current prices and the prices of 1926–1927 For instance, the third and fourth Five-Year Plans give estimates sometimes in terms of current prices and sometimes in those of the "constant" 1926–1927 prices In the absence of a general index of prices the two sets of figures are not comparable and if the State Planning Commission has worked out a method for comparing them it has never been disclosed [7] The confusion is further increased by the steady outpouring by official agencies of statistical data grievously at variance with other data, equally official. It is extremely rare that cognizance is taken of the flagrant discrepancies, and they are almost never rectified or explained "Bolshevik self-criticism," that is, the practice of denouncing the failure to carry out certain policies (but never denunciation of the policies themselves), is the duty of every Communist Such criticism is freely indulged in by the Soviet leaders who zealously castigate the departments under their jurisdiction for having lagged in performing their assignments under the plan, only to conclude a bitter indictment with the triumphant proclamation that the plan has been over-fulfilled in spite of everything. One or two instances of this distressing practice will be noted below.

Inconsistencies of the State Planning Commission. The State Planning Commission, which is merely a subordinate agency of the Council of Ministers, displays at times puzzling inconsistencies The first Five-Year Plan, to take a striking example, was prepared in two drafts, the maximum and the minimum, the former setting up a much higher goal of achievement than the latter It was intended to use the maximum draft only if the general conditions were particularly favorable According to the official summary of the fulfillment of the first Five-Year Plan issued by the State Planning Commission in 1933, the actual situation in 1928–1932 was even less favorable than had originally been considered necessary for carrying out the provisions of the minimum draft· adverse climatic conditions (and also, no doubt, the forcible drive for collectivization) reduced the 1931 harvest to a starvation level, the world-wide depression and the catastrophic decline in prices, especially those of agricultural produce, completely upset the export and import program of the plan, expenditure or armaments increased far beyond the estimates Nevertheless the maximum draft not only was put into effect but was completed within four years and three months, thus reducing by nine months the full term of five years If the official explanation of this amazing development is to be accepted, the people of the Soviet Union displayed a greater zest for planning than did the State Planning Commission and the Government.

[7] For a useful summary of the complexities of Soviet statistics see Maurice Dobb, *Soviet Economic Development Since 1917* (New York, 1948), pp 261–267

The Plan Is Not a Blueprint. In spite of the vagaries of the planning agencies, the inadequate and fragmentary nature of the available information, and the impenetrable veil of mystery that envelops certain essential phases of the planning procedure, official reports afford sufficient data for a general appraisal of the working of the first and second Five-Year Plans It is important to realize that the plan is not a blueprint, that its various elements are but loosely coordinated, and that there is nothing permanent in their interrelationship The Five-Year Plan is much more in the nature of a slogan, of a drive toward the attainment of a definite objective, than a detailed program of practical policies The Five-Year Plan is being continuously modified by yearly plans which, again, are subdivided into quarterly plans and even into plans for shorter periods The departures from the original plan in the process of subsequent revisions are sometimes so great as to be almost revolutionary The truly remarkable flexibility of Soviet planned economy may be best explained by using concrete examples The striking disparities between the original assignments and the actual performance under the first and the second Five-Year Plans can be traced to three principal causes changes in the policies of the Communist Party and of the Soviet Government, the state of the world market and the international political situation, and the failure of Soviet enterprises to perform their assignments [8]

OVERFULFILLMENT AND UNDERFULFILLMENT

Revision of the Program of Collectivization. The most striking example of the revision of the plan by the Communist Party and the Government occurred with reference to the agricultural program under the first Five-Year Plan The plan set as its goal the increase of the area under crops in the so-called "socialized sector," that is, on land occupied by the State farms and the collective farms,[9] from 2 7 per cent of the total area under crops (in 1928) to 17.5 per cent (in 1932) The part of "socialized agriculture" in the supply of marketable grain in 1932 as determined by the plan was to be 43 per cent As a result of the ruthless drive for collectivization, however, this assignment of the plan was vastly exceeded In 1932, 78 per cent of the area under crops was in the hands of the State and the collective farms, and they together produced 84 per cent of the entire marketable supply of grain The significance of this change of program cannot be exaggerated It affected scores of millions

[8] The execution of the third Five-Year Plan was interrupted by the outbreak of World War II, and, as these lines are written in 1950, the fourth Five-Year Plan has not yet run its course Scattered information on the fulfillment of the third and fourth plans indicates, however, that discrepancies between assignments and performance remained as great as they were under the earlier plans Soviet leaders, unlike some of their admirers abroad, claim no finality for the Five-Year Plans "To us, the Bolsheviks, the Five-Year Plan is not something complete and ordained once for all," Stalin told the Sixteenth Congress of the Communist Party in 1930 "To us the Five-Year Plan, like any other plan, is but a plan, adopted as a first approximation, one that must be refined, amended, and improved in the light of local experience, in the light of experience gained in carrying out the plan No Five-Year Plan can foresee all the possibilities that are hidden in the womb of our system and which are disclosed only in the course of work itself, in applying the plan in the factory, the enterprise, the collective farm, the State farm, the region, and so on"

[9] See below, pp 815 ff

among the rural population and made imperative a fundamental revision of the entire plan for heavy industry, since collectivization of agriculture, as will be shown in Chapter VII, is based on the use of modern agricultural machinery. This, again, demanded a far-reaching readjustment of the plan regarding transportation, production of metal ore and coal, supply of skilled labor, financing, etc. It is not surprising that the official summary of the performance of the first Five-Year Plan points out the creation of a number of important industrial works, some of them among the most ambitious of Soviet ventures, for which no provision was made in the plan. It thus appears that the Soviet Government, if and when it is considered desirable, does not hesitate to revise the plan for political or other reasons

Abandonment of the Program for the Expansion of Foreign Trade. It is much more usual, however, that the plan has to be amended as a result of conditions over which the Soviet Government has no control The first Five-Year Plan, for instance, was based on recognition of the necessity of closer economic ties between the Soviet Union and the outside world The plan outlined a broad policy providing for concessions to foreign capital and expansion of Russian exports, which were to be increased two and one-half times between 1928 and 1932. The world-wide depression made a clean sweep of these optimistic and fanciful schemes Foreign capital showed little enthusiasm for the opportunities offered by the Communist State Russian exports, which had been valued at 791 million rubles in 1927–1928 and had increased to 1,036 million rubles in 1930, toppled down to 575 million rubles in 1932 and declined still further in the following years [10] Although the physical volume of Soviet exports actually increased, their value, because of the fall in world prices, remained far below the planned estimates These conditions necessitated a drastic revision of the import plan which played an essential part in the process of industrialization Far from being immune from the effects of the world depression, Soviet foreign trade reacted to it in a manner in no way different from that of the foreign trade of the capitalist nations One of the consequences of the failure of the import-export program of the first Five-Year Plan was the speeding up of the construction of machine-building plants in the Soviet Union so that its independence of the capitalistic countries might be increased. Another consequence was the omission of any reference to foreign trade in the second, third, and fourth Five-Year Plans, an omission that may be interpreted as tacit acceptance of the fact that international exchanges do not lend themselves readily to planning of the Soviet brand.

Fulfillment Under the First Five-Year Plan. By far the most important reason for the revision of the plan was the failure of various branches of the national economy to fulfill their assignments The resulting instability affected the performance not only of the Five-Year Plan but also of plans for shorter periods Generalized and comprehensive figures of performance often obscure the actual situation For instance, the fulfillment by industry of its assignments for 1932, the last year of the first Five-Year Plan, was officially stated to be

[10] The average annual Russian exports in 1909–1913 were 1,501 million rubles.

96 4 per cent This summary figure was composed of divergent elements the performance of the fuel industry was 99 8 per cent of the assignment, of the metal industry, 127 2 per cent, of the timber industry, 86 3 per cent, of the cotton (textile) industry, 54 2 per cent Even more noteworthy were the truly remarkable deviations from the plan within the metal industry group in the same year The performance in the machine-building and metal goods industries was 181 2 per cent of the assignment; pig iron, 62 0 per cent; steel, 56 7 per cent, steel-rolling, 53 7 per cent, iron ore, 62 9 per cent It is difficult to find a plausible explanation of this extraordinary state of affairs with the machine-building industry over-fulfilling its quota by a large percentage while the production of pig iron, steel, and ore lagged sadly behind

Fulfillment under the Second Five-Year Plan. The record of performance of the second Five-Year Plan was not vastly different from that of the first The value of industrial production in 1937, the final year of the plan, was officially stated to have exceeded the target by 3 per cent (95,500 million rubles and 92,700 million rubles, respectively, in prices of 1926–1927, the corresponding figure of production for 1932 was 43,300 million rubles). Fulfillment by separate branches of industry of their assignments remained, however, uneven The figures of actual and planned production in 1937, as percentage of 1932, were as follows steel, 299 (actual) and 289 (planned); pig iron, 235 and 260, iron ore, 230 and 282, coal, 199 and 237, oil, 137 and 210, cotton fabrics, 128 and 187, woolen fabrics, 122 and 239; shoes, 218 and 219 It will be noted that, while steel exceeded its quota and the shoe industry very nearly reached the goal, several important industries (iron ore, oil, coal, textiles) failed to do so by a substantial margin.

Official Criticism of Fulfillment Reports. The deceptive nature of summary figures of fulfillment has been officially admitted The Minister of Finance, A G Zverev, in his report to the Supreme Soviet on the 1949 budget (March, 1949), said that "not infrequently leaders of economic agencies violate the State plan in so far as it bears on the quality and the assortment of goods, by overfulfilling production quotas for the less essential articles but underfulfilling the plan for commodities of primary importance " For instance, in 1948 an agency of the Ministry of Heavy Machine-Building fulfilled its production plan, taken as a whole, 110 9 per cent while the output of some of the basic commodities manufactured by that agency was merely 61 per cent, 57 per cent, and 29 per cent of the assignments A similar situation prevailed, according to Zverev, in the Ministry of Electrical Industry, where the summary figure of production in 1948 was 115 per cent but in several crucial lines of production it was 83 per cent, 71 per cent, and 54 per cent of the planned quotas The enterprises of the Chief Administration of Perfumery (under the Food Ministry of the USSR) "continue to turn out articles for which there is little demand and do not produce in sufficient quantities goods needed by the population " Zverev stated that "the Council of Ministers has condemned the practice of fulfilling the plan of production as a whole by overproducing unessential commodities and at the same time underfulfilling the plan for the

more important articles and the assortment. The plan of product regarded as fulfilled if it meets the planned assignments not onl standpoint of volume but also those of the prescribed assortment of goods " The foregoing stern rebuke notwithstanding, Soviet spok cluding Zverev himself) continue to use summary figures of product clusive evidence of the triumphant progress of planned economy T sion would seem to be not unwarranted that the close coordination ponent parts of the plan—if it can be achieved at all—is still a t future.

Productivity of Labor and Reduction of Costs. The incr productivity of labor, with the resulting reduction in the costs of and in prices, thus far has proved one of the most unmanageable Soviet planned economy. The whole plan of industrialization is b assumption of increased productivity of labor Soviet leaders ne quoting Lenin's dictum that "the productivity of labor is, in the last most important, the most essential condition for the victory of the order." The maximum draft of the first Five-Year Plan called for of 110 per cent (and the minimum draft, of 85 per cent) in the of labor The actual average increase, according to the Gosplan, cent, a most impressive achievement but nevertheless far below ment As a result of the drastic intensification of the industrializati and of the failure to reach the labor productivity goals the numb earners (workers and employees) which was to increase under th Year Plan from 11 3 million (1926–1927) to 15 8 million (1932 per cent, actually reached the much higher figure of 22.8 million showed an increase of over 100 per cent. Instead of the anticipated ment the Soviet authorities were faced in 1932 with a shortage of l unplanned absorption of an additional seven million workers (m came, presumably, from the farms) necessitated far-reaching rev other parts of the plan (finance, housing, and so on) If the emplc visions of the first Five-Year Plan were too conservative, those of Five-Year Plan proved unduly liberal the actual number of wag 1937 was 27 million, or nearly two million less than the planned (28 9 million). Nevertheless, the aggregate amount paid in wages in 1937 was greatly in excess of the planned proposals. According the outlay under this heading was to increase from 32.7 billion ru to 50 7 billion in 1937; it actually reached 82 2 billion rubles. The nual wage (workers and employees) rose from 1,427 rubles in 19 rubles in 1937, instead of to 1,755 rubles as provided by the pl planned increase in wages was presumably due, at least in part, t of industry as a whole to cut down the cost of production to the fu manded by the plan For this failure the Gosplan blamed the for

[11] The number of unemployed in 1927–1928 was officially given as 1 1 milli mum draft of the first Five-Year Plan provided for the reduction of unemploym

and the light industry producing consumers' goods "We still have a lot of mismanagement, much excess expenditure, outrageously large losses of raw materials, much waste of fuel and electric power, disgracefully long stoppages of machinery," Molotov told the Eighteenth Congress of the Communist Party in 1939 "That means that in many cases no real struggle is being carried on to reduce the cost of manufactured goods, no real fight is being made to reduce construction costs " The admitted failure of industry to reduce costs to the extent required by the plan is not easily reconcilable with the official claim that the productivity of labor under the second Five-Year Plan increased by 82 per cent instead of the 63 per cent that the plan demanded [12] The rationing of consumption which was in force from 1929 to 1935, its by-product the multiple-price system (differentiation in prices according to the type of the distributing agency from which the purchase was made), and the absence of an index of prices and of the cost of living make it impossible to determine whether higher monetary wages have brought about higher real wages.

The Plan as a Slogan Rather Than a Program of Practical Policy. The foregoing examples, which it would be easy to multiply, indicate that there is little in the Soviet plan in the nature of a blueprint whose component parts are carefully coordinated. The character of the Five-Year Plans as drives toward the achievement of definite political, social, and economic objectives is emphasized by the enthusiastic reception given by the Soviet press to frequent announcements that this or that branch of the national economy has exceeded its quota If the elements of the plan were properly coordinated, overfulfillment would be no less disturbing and unwelcome than underfulfillment, which is invariably and bitterly denounced Strange as this nay appear at first sight, the practical usefulness of a Five-Year Plan would seem to be slight, except as a slogan This explains the equanimity with which the Soviet leaders have accepted the delay of the Gosplan in producing the third Five-Year Plan, a delay which was partly due to alleged "wrecking" activities within the Gosplan and the purge of that body [13] This may also explain why the size of the plan, as a printed document, has shrunk from 1,600 pages—small as it was in view of the vastness of the enterprise—to less than one hundred pages The fourth Five-Year Plan was completed at the end of 1950 As these pages go to print in December, 1951, the fifth Five-Year Plan has not been made available, but the absence of a plan does not seem to affect the functioning of Soviet economic agencies Attempts at charting in advance, with any degree of precision, the course of Soviet economy have proved only too often a source of embarrassment.

[12] According to the official summary of fulfillment of the second Five-Year Plan heavy industry reduced costs in 1933–1937 by 27 per cent Kaganovich, the Commissar of Heavy Industry, stated, however, that "the enterprises of the People's Commissariat of Heavy Industry not only failed to reduce costs in 1937, but, on the contrary, increased them" (*Industriia*, January 29, 1938) It is difficult to see how the Gosplan and the Commissar of Heavy Industry could both be right

[13] In this report to the Eighteenth Congress of the Communist Party Stalin spoke scornfully of some of the planned assignments proposed by the members of the Gosplan as "sheer fantasy, if not worse."

THE COST OF INDUSTRIALIZATION

Capital Investment. According to official statements capital investment in the socialized sector of the economy under the first Five-Year Plan was 52.5 billion rubles, exceeding the planned estimates by 12 per cent. Capital investment under the second Five-Year Plan was 137.5 billion rubles (the plan called for an outlay under this heading of 133.4 billion rubles), and the third Five-Year Plan stipulated a further investment of 181 billion rubles.[14] The fourth Five-Year Plan (1946–1950) provides for "centralized capital investment" of 250.3 billion rubles.[15] To these huge amounts must be added the rapidly mounting expenditure on administration, armaments, social services, education, and other items of the State budget. It is of interest to ascertain from what sources these large sums are obtained.

The Tax Reform of 1930. The inauguration of the first Five-Year Plan was followed by an important tax reform which revolutionized Soviet finance. A joint resolution of the Central Executive Committee and of the Council of People's Commissars of September 2, 1930, instituted the turnover tax and laid down new rules for the taxing of the profits of State enterprises. According to K. N. Plotnikov, a Soviet authority on public finance, the reform consolidated in the turnover tax and the profit tax ("withholding from profits" renders better the notion conveyed by the Russian term *otchislenie*) sixty-one taxes, rates, and other charges levied formerly by the central and local government: fifty-four were consolidated in the turnover tax and seven in the profit tax. The two taxes are regarded as complementary, but the turnover tax is by far the most important source of revenue and accounts for the remarkable growth of the Soviet budget since 1930.[16]

Turnover Tax Chief Source of Revenue. The table on pages 780–781 shows that the turnover tax, immediately after its introduction, became the principal single source of Soviet revenue, and has remained so for two decades. Its share in Soviet State finance was particularly important in 1935–1937, de-

[14] The figure of 137.5 billion is given in the official summary of fulfillment of the second Five-Year Plan published by the Gosplan in 1939. Speaking before the Eighteenth Congress of the Communist Party in March of the same year (two weeks before the Gosplan summary went to press) Molotov quoted 115 billion rubles as the volume of capital investment under the second Five-Year Plan. The notorious looseness of Soviet terminology, however, allows the charitable interpretation that the items referred to by the Gosplan and by Molotov were not identical.

[15] These figures are in current prices, for instance, capital investment under the second Five-Year Plan is given in 1933 prices, and that under the fourth Five-Year Plan in the "budget" (*smetnyia*) prices of 1945. The investment figures, therefore, are not comparable.

[16] In the opening years of the Soviet regime the financial situation was hopelessly confused. The almost complete absence of the necessary data and the catastrophic depreciation of the ruble (due to the social upheaval, the civil war, foreign intervention, breakdown of railways, sharp decline of production, and the abortive, short-lived attempt at creating a moneyless economy) made budget estimates, such as they were, largely meaningless. According to Plotnikov, budget expenditure in 1920, expressed in terms of "commodity ruble," amounted to merely 4.4 per cent of the corresponding figure for 1913. Budget deficit in 1920 exceeded one million million rubles. By a series of measures enacted in 1921–1924 the ruble, a purely internal currency, was stabilized, the use of the printing press to cover budget deficits (a prevalent practice in 1918–1923) was specifically prohibited as from July 1, 1924, and the methods of computing the budget were gradually improved. State revenue was estimated at 2.0 billion rubles in 1923–1924, at 4.2 billion in 1925–1926, at 8.8 billion in 1928–1929, and at 13.9 billion in 1929–1930.

clined somewhat in 1938–1941, fell even more sharply during the War years 1942–1945, regained in 1946–1948 much of the ground lost during the War, and displayed a new tendency to decrease in 1950 and probably in 1949 (for which no figure of actual yield is available). All other sources of revenue are dwarfed by the turnover tax. Under the second Five-Year Plan (1932–1937), 67.4 per cent of the State revenue came from the turnover tax, 6.3 per cent from withholding from profits, 1.9 per cent from the income tax and other direct taxes paid by enterprises and organizations, 4.8 per cent from direct "taxes and other charges levied on the population" (individual income tax, agricultural tax, housing and cultural development tax in urban and rural localities, local rates), 8.5 per cent from receipts on account of social insurance, 6.3 per cent from State loans, and 4.8 per cent from other sources. The budgetary picture remained essentially unchanged after World War II. In 1947 the turnover tax was scheduled to produce 62.3 per cent of the total revenue, withholding from profits 4.9 per cent (18.7 billion rubles), direct taxes 7.2 per cent (27.7 billion rubles), and State loans 5.6 per cent (21.4 billion rubles). In 1950 the turnover tax was expected to yield 55.2 per cent (239.1 billion rubles) of the total revenue, withholding from profits 9.2 per cent (40.0 billion rubles), direct taxes 8.3 per cent (36.4 billion rubles), and State loans 7.4 per cent (31.8 billion rubles).[17]

Turnover Tax Levied on Necessities. It is thus clear that industrialization is financed by the turnover tax, a general sales tax levied on the turnover of all State-owned enterprises and usually computed in percentages of the retail price. The yield of the tax depends on three factors: the volume of production, the price of goods, and the tax rate. In the Soviet Union all three of these are controlled by the State. It is often stated that the turnover tax is levied primarily on luxuries. Nothing could be more misleading than this assertion, as the huge receipts from the tax should suggest even to students who never take the trouble to consult the actual rates of the tax published in Soviet decrees. Since the Soviet Union is a country of very low incomes it is self-evident that a tax on luxuries could never have produced the huge sums collected by the Moscow Treasury.[18] The budget of the USSR tells a very different story. In

[17] Information on Soviet public finance, particularly on the budget, is notoriously fragmentary and incomplete. Prior to the adoption of the Constitution of 1936 the Government published every year a budgetary statement which outlined in some detail the main sources of revenue and the allocation of expenditure. With the establishment of the new Soviet parliament this practice was discontinued. The *Law on the State Budget* (*Zakon o gosudarstvennom budzhete*), passed annually by the Supreme Soviet, is a brief, perfunctory document containing no information except the summary figures of revenue and expenditure and their allocation among the federal budget and the budgets of the administrative subdivisions of the Union. The principal sources of information are the budget reports submitted every year to the Supreme Soviet by Zverev, Minister (formerly People's Commissar) of Finance, reports which are only too often confused, contradictory, and grievously incomplete. Zverev invariably mentions numerous agencies which have failed to meet their share of taxes and have caused serious losses to the Treasury, yet the budget is always closed with a surplus. No questions about flagrant discrepancies and glaring omissions have ever been raised in the Supreme Soviet.

[18] The grossest ignorance of Soviet taxation is displayed by Sidney and Beatrice Webb in their much admired but notoriously misleading, monumental work, *Soviet Communism: A New Civilization?* (New York, 1936). "The indirect taxation . . . ," write the Webbs, centers on "undesirable luxuries and upon expenditure not much incurred by the masses of the people." (P. 117.)

TOTAL REVENUE AND REVENUE

	Oct.-Dec. 1930	1931	1932	1933	1934	1935	1936	1937	1938
Total revenue in billion rubles	5 3	25.2	38 0	46 4	58.4	75.0	94.4	109.3	127.5
Yield of turnover tax in billion rubles	2 4	11.7	19.6	27.0	37 6	52.0	65.8	75.9	80.4
Turnover tax as percentage of total revenue	45.9	46.2	51.5	58.0	64.4	69.6	69.7	69.2	63.1

1937 [19] the bulk of the revenue from the turnover tax was derived from the following agencies. Committee for the Purchasing of Agricultural Products (later People's Commissariat and now Ministry of Agricultural Stocks), an institution to which the peasants compulsorily surrender a definite share of their grain at extremely low prices [20]—24.1 billion rubles, People's Commissariat of Food Industry—20 4 billion rubles; the Liquor Administration—6.2 billion rubles; the State Trade Administration and the cooperative societies—4.5 billion rubles; the People's Commissariat of Light Industry, that is, industries producing consumers' goods—11 4 billion rubles. Taxation of foodstuffs alone provided about two-thirds of the yield of the turnover tax and accounted for more than half of the entire revenue of the Soviet Union

Its Rates. The rates of the turnover tax are extremely high and subject to frequent changes. The rates on bread and flour, which are approximately 70 to 80 per cent, account for the enormous revenue of the People's Commissariat (Ministry) of Agricultural Stocks. The following rates were effective in 1937: meat, from 61 to 82 per cent, salt, 66 to 83 per cent; cigarettes, 75 to 90 per cent; cheap tobacco, 68 to 75 per cent, cottons, 44 to 65 per cent, hose, 15 to 65 per cent; knitted underwear, 25 to 55 per cent; rubber overshoes, 33 per cent; sewing machines, 39 per cent, leather footwear, 17 to 35 per cent, powder, shaving cream, and toothpaste, 68 per cent, soap, 34 to 59 per cent. The rates of the turnover tax were maintained at a high level during the War and the post-War period, although a downward revision is suggested by the three consecutive reductions of retail prices (December 14, 1947, February 28, 1949; and March 1, 1950), the failure to reach—by a wide margin—the turnover tax assignment in 1948 (estimated yield, 280 1 billion rubles; actual yield, 247 5 billion rubles), and the decline of both the total revenue and receipts from the turnover tax in the 1950 budget.[21]

[19] More recent data are not available

[20] See below, pp 821 ff

[21] The following are some of the rates of the turnover tax, as percentage of retail prices, enacted in 1939, 1940, 1941, 1942, and 1946 In 1939 fish and fish products, 5 to 36 per cent, bicycles for adults, 58 per cent, bicycles for children and young persons, 20 to 38 per cent; denatured alcohol, 53 per cent; clocks, including alarm-clocks, 25 to 40 per cent, "artistic" clocks, 7 per cent, playing cards, 55 to 82 per cent, gramophones and gramophone needles, 10 to 60 per cent, potatoes (when the retail price is 0 50 ruble per kilogram) 232 to 348 rubles per ton in Moscow and 194 to 325 rubles in Leningrad (when the retail price is higher or lower than 0 50 ruble per kilogram the rates of the tax are adjusted accordingly) In 1940

FROM THE TURNOVER TAX *

1939	1940	1941	1942	1943	1944	1945	1946	1947	1948	1949	1950
156.0	180.2	216.2 †	165.0	210.0	268.7	302.0	325.4	386.2	410.5	437.0	433.2 ‡
96.9	105.9	124.5 †	66.4	71.1	94.9	123.1	191.0	239.9	247.5	261.9 ‡	239.1 ‡
62.1	58.7	57.9	40.2	33.8	35.3	40.8	58.7	62.2	60.3	59.9	55.2

* Figures in this table refer to the "union" (*soiuznyi*) budget which comprises the federal budget, the budgets of the constituent republics, and, since 1938, the budgets of the smaller territorial subdivisions The 1930–1948 figures and the 1949 total revenue figure are those of actual receipts Contrary to the established practice the Minister of Finance, A G Zverev, did not state in his report on the 1950 budget the actual receipts from the turnover tax in 1949 Prior to World War II (and again in 1945) revenue from the turnover tax usually exceeded the estimates, but the trend was reversed in 1946 The estimated and actual yields of the turnover tax were, respectively, 200.1 billion rubles and 191.1 billion in 1946, 254.7 billion and 239.9 billion in 1947, and 280.1 billion and 247.5 billion in 1948 (when the turnover tax was expected to produce 65.8 per cent of the total revenue but actually yielded 60.3 per cent). It is probable that the actual yield of the turnover tax in 1949 was below the estimate The failure of the turnover tax to reach its goals was reflected in total revenue lower than was anticipated in 1946, 1947, 1948, and 1949 The policy of price reduction embarked upon at the end of 1947 is, presumably, responsible, at least in part, for the difficulties experienced by the authorities in collecting the prescribed amount of the tax, and for the scaling down of the estimated receipts from that source from 280.1 billion rubles, or 65.8 per cent of the total revenue in 1948, to 239.1 billion, or 55.2 per cent, in 1950 It may be significant that the estimated revenue in 1950 was set, for the first time in Soviet history (exclusive of the War year 1942), at a lower level than in the preceding year

† Budgetary estimates, the figure of the actual revenue in 1941 is not available but was, presumably, lower than planned The actual yield of the turnover tax in 1941, according to Plotnikov, was 93.2 billion rubles

‡ Budgetary estimates

What It Means to the Consumers. In order to realize what the turnover tax means to the consumers one must keep in mind that its rates are usually computed as a percentage of the retail price. For instance, the tax on sugar in 1936 was 85 per cent, and a kilogram (2.2 lbs) of sugar sold at a fixed price

---

confectionery, 10 to 57 per cent (cocoa and chocolate—powder, bars, and bonbons—paid the top rate of 57 per cent), canned fish, 10 to 40 per cent, canned dairy products, 35 to 40 per cent, canned meat, 10 to 64 per cent, canned vegetables, 10 to 25 per cent, matches, 45 per cent, shellac varnish, 66 per cent, fresh beef, 67 to 71 per cent, mutton, pork, veal, 62 to 67 per cent, horse and camel meat, 10 per cent (rabbit meat was exempt from the tax), sausage, 50 to 69 per cent, sugar, 73 per cent, kerosene, 71.7 per cent, potatoes, 25 to 62 per cent, according to price (potatoes which were sold at 0.35 ruble or less per kilogram were exempt), salt (ground), 60 to 80 per cent, electric bulbs, 25 to 50 per cent, gramophone disks, 40 to 60 per cent (except for one variety which was taxed at 5 per cent), butter, 50 to 66 per cent; cheese, 10 to 69 per cent; ice cream, 17 to 32 per cent, milk, 15 to 43 per cent, cream, 40 to 65 per cent, animal fats, 20 to 68 per cent, rubber overshoes, 60 per cent In 1941· footwear, 5 to 56 per cent, aluminum hardware, 30 to 56 per cent, metal barrels, 5 to 35 per cent, saddlery, 3 to 37 per cent, silver and gold wrist watches, 70 per cent In 1942 vegetables—fresh, salted, or dried—5 to 13 per cent In 1946 hardware, 10 to 70 per cent, cutlery, 40 per cent, felt boots, 16 to 27 per cent, according to size

The rates of the turnover tax for the War years 1943–1945 and the post-War period 1947–1950 do not seem to be available The rates are enacted by decrees of the Council of Ministers and until recently were published in the official "Collection [Sobranie] of Decisions and Decrees of the Council of Ministers" Only four decrees dealing with the rates of the turnover tax appeared in that publication in 1946 and none in 1947, 1948, and the first eight months of 1949, when the publication of the "Collection" was discontinued (see above, p 763)

of 4.20 rubles. Of this amount 3.57 rubles went to the Treasury and the balance of 0.63 ruble was to cover the cost of production and the "planned profit" of the refinery. It has been estimated that of the total receipts from retail trade 62.1 per cent in 1936 and 58 6 per cent in 1937 were collected by the Treasury in the guise of the turnover tax.

Inequality of Incomes. It is generally accepted that an indirect tax on articles of general consumption, particularly on foodstuffs, is unfair to the low-income groups who spend a large portion of their income on the bare necessities, an argument that would not apply to the Soviet Union if it had done away with the inequality of incomes This, however, is not the case. The principle, "from each according to his ability, to each according to his work," has been enshrined in the Soviet Constitution, and the inequality of income, albeit less pronounced than in the capitalist countries, is considerable. The decree of November 1, 1937, increased the minimum wage of workers in industry and transportation to 110 rubles a month. It is extremely likely that the earnings of a large group of farmers were below even this very modest level The average annual earnings of industrial workers in 1938 were, according to Stalin's report to the Eighteenth Congress of the Communist Party, 3,447 rubles, or 289 rubles per month The decree of August 29, 1938, prohibited the payment of salaries above 2,000 rubles per month, except with the special permission of the Council of People's Commissars of the USSR. The officials in receipt of the higher salaries moreover enjoy valuable privileges such as obtaining better living accommodations and sometimes being permitted even such luxuries as the use of a car. Their standard of living is very different from that of the workers in the lower wage brackets who, with the peasants, represent the bulk of the population And it is the latter group that contributes in proportion to its earnings the larger share of the yield of the turnover tax.[22] The inequality of incomes fostered by an elaborate system of "incentive" wages has been fully preserved in the post-War period

Reasons for the Turnover Tax. It may appear strange that the Soviet Government should make use of the devious artifice of the turnover tax, instead of selling goods at remunerative prices and turning over the profits to the Treasury, since the State is the owner of all industrial enterprises. In the discussion of the financial reform of 1930 the latter course, that is, exclusive reliance on withholding from profits as a method of mobilizing the financial

[22] It is characteristic of the attitude of the Soviet legislature that the Supreme Soviet of the USSR voted, in August, 1938, to increase (in excess of the estimate) the turnover tax by 591 5 million rubles Yet the actual yield of the tax in 1938 was some 2 9 billion rubles short of the estimates This unfortunate experience did not damp the zeal of Soviet legislators. In May, 1939, they again voted an increase of the turnover tax for the current year, this time by 410 8 million rubles Demands for a heavier turnover tax have become, indeed, a permanent feature of the debate on the budget in the Supreme Soviet Nevertheless numerous instances of failure on the part of enterprises and whole ministries to meet their turnover tax quotas are noted in the press and in every budgetary statement of the Minister of Finance Zverev, in his report on the 1948 budget, complained that "some of the leaders of economic agencies are entering the path of concealing the taxable turnover of their enterprises In 1947 the municipal trading organization (*gortorg*) of Samarkand, in the Uzbek Soviet Socialist Republic, concealed the taxable turnover produced by the sale of oil products and [unlawfully] withheld 600,000 rubles"

resources of the nation, had many supporters among the leaders of Soviet finance According to Soviet economists the explanation of the decision made in 1930 is that the turnover tax is a more reliable and flexible source of revenue, one more adaptable to the requirements of a planned economy, than withholding from profits of State enterprises Receipts from the turnover tax are not affected by the cost of production, a factor which determines profits and which thus far has only too often eluded Government control The turnover tax being payable immediately on the production of goods provides an effective method of checking upon the performance of economic agencies, assures the Treasury of an uninterrupted flow of revenue, and eliminates delays inherent in the determination of profits The table on pages 780–781 shows that within three months after the introduction of the turnover tax its proceeds accounted for nearly 46 per cent of the total revenue, probably a record for any tax in obtaining speedy results It is also argued that since the turnover tax is a major element in the formation of prices, skilful manipulation of the rates makes it possible to siphon surplus purchasing power, bring supply and demand into a state of equilibrium, and eliminate inflationary pressure The latter claim is not supported by the financial history of the Soviet Union Finally, it is held that the taking over by the Treasury of all profits of State enterprises would have weakened the incentive to higher production and lower cost, and would have undermined the principle of cost accounting (*khozrazchet*), that life nerve of the Soviet economic structure [23] Since the turnover tax is never discussed in the Soviet press it is probable that the majority of the citizens are just as little aware of its existence as were Sidney and Beatrice Webb Except in wartime, it has served well its purpose as a source of seemingly inexhaustible revenue

Withholding from Profits. The rates of the turnover tax are flat rates computed on the basis of the average cost of production for every branch of industry and applied indiscriminately to all goods of a specified class The cost of production, however, varies widely from enterprise to enterprise [24] Tax rates based on average cost obviously discriminate against some enterprises and favor others Withholding from profits takes care of this situation The share of profits contributed to the Treasury by each enterprise is determined by the supervising authorities and is supposed to take into account the actual cost of production and other pertinent factors affecting the work of the enterprise Although officially withholding from profits ranks second among the sources of Soviet revenue, its actual contribution to the budget, as has already been stated, has been small but has recently shown a tendency to increase In 1947 withholding from profits was estimated to yield 18 7 billion rubles, or 4 8 per cent of the total revenue; in 1950 it was expected to rise to 40.0 billion rubles, or 9 2 per cent of the total It may or may not be significant that in 1950, and

[23] See below, pp 789, 792

[24] The Minister of Finance, in his report on the 1947 budget, mentioned the fact that costs in one factory producing electrical appliances were five times as high as in another He explained the difference by the very high ratio of defective production (47 3 per cent) in the former factory

probably in 1949, receipts from the turnover tax declined both in absolute amount and in percentage of the total revenue.

THE BALANCE-SHEET

Criticism of Planning. The considerations presented above should not necessarily be interpreted as a condemnation of Soviet planning It is, however, certain beyond reasonable doubt that the planned order is still in an experimental stage, that it is lacking in precision and definiteness, that the process of industrialization has been extremely costly, and that the compulsory contribution by the poorer groups has been somewhat larger in proportion to their income than that of those with larger incomes. These criticisms, however, must appear captious and trivial to those who share the views of the Soviet leaders that the USSR is about to enter the stage of Communism, to be transformed into the classless and stateless community of the future. Nor should the fact be disregarded that while many parts of the plan have gone by default or have been drastically amended, its general objectives were never lost sight of and some of them have been definitely achieved

Its Achievements. Private ownership of the means of production has disappeared, and the collectivization of farming is an accomplished fact The industrialization of the country has made immense progress while the volume of industrial production has increased many fold. In 1937, according to Molotov, 80 per cent of industrial production in Russia came from enterprises established under the first and the second Five-Year Plans. The Chairman of the Council of People's Commissars pointed out with justifiable pride that 90 per cent of all the tractors employed in Soviet agriculture were of domestic manufacture while only a few years before none were made in Russia. This is certainly no mean achievement, even though one may believe not only that it might have been less costly to purchase the tractors abroad, for instance in the United States, but also that the American, British, and German machines are vastly superior to those manufactured in the Soviet Union The fact remains that the Soviet Government has decided to industrialize Russia and that it has nearly accomplished this purpose within a surprisingly short time.

A Mixed Performance. The volume of production which, it is claimed, increased between 1929 and 1937 by as much as 300 or 400 per cent and which, in spite of the ravages of the War, continues to increase rapidly under the fourth Five-Year Plan does not, however, tell the whole story. There are other elements in the industrial situation that are far less pleasing. The cost of production remains high and the quality is grievously unsatisfactory. Shortage of the most common goods even in Moscow is continuously reported in the Soviet press. The productivity of labor, official statements to the contrary notwithstanding, is extremely low and the Government has to use extraordinary measures to enforce labor discipline, which appears to be sadly lacking. The absence of adequate information, for which the Soviet Government itself is to blame, makes it impossible to reach a definite conclusion about the trend of real wages but it is abundantly clear that even if the standard of living has

improved—and this is often and rightly questioned—it continues to remain far below the accepted minimum in any other modern industrial country [25]

Difficulties Inherent in Planning. There is no indication yet that Soviet planned economy has found a solution of many of the difficulties that beset the capitalist world Communist economics has failed so far to produce an adequate substitute for private initiative and the mechanism of prices, and some of the fundamental aspects of planning are still enveloped in an impenetrable veil of mystery [26] The elimination of private enterprise has inevitably led to the enthronement of a huge bureaucracy and the creation of red tape entanglements which the Soviet leaders are the first to lament The office holders, both the lax and the overzealous, are publicly castigated, demoted, exiled to remote regions, and their place is taken by others. But the question naturally arises is the failure of the huge government machine to work properly due merely to the dishonesty, negligence, or inefficiency of this or that official, or is it inherent in the system itself? It is probably not unfair to say that while Soviet planned economy has eliminated some of the frictions existing under capitalism it is confronted with new and even more formidable difficulties for which no solution is in sight.

Comparison with the Capitalist Countries. What the Soviet Government has accomplished so far (leaving aside its political objectives) is to have traveled in record time a section of the long road toward industrialization on which it was preceded by other countries Time, however, is an essential element in every human endeavor, especially when the endeavor involves a revolutionary change in ways of living of some two hundred million human beings Viewing the situation from a purely economic standpoint it appears that the great capitalist countries—the United States, Great Britain, Germany, and France—were in 1939 far ahead of the Soviet Union in all the essential fields of production, a fact willingly admitted by Stalin and Molotov in their reports to the Eighteenth Congress of the Communist Party in March, 1939 In spite of the dislocation caused by war this statement still holds true in 1950 except perhaps in the case of Germany whose eclipse, however, is due to political causes It took those countries, no doubt, a much longer time to reach the position they occupy today, but the process of industrialization in those countries was also far less painful than it was under the dictatorship of the proletariat The Soviet Union is determined to eclipse the record of the capitalist nations within the next few years This desire for speed, the reasons for which

[25] The hazards involved in determining the trend of real wages in the absence of an index of the cost of living may be illustrated by the following example Molotov stated at the Eighteenth Congress of the Communist Party in March, 1939, that under the second Five-Year Plan, that is, from 1932 to 1937, the real wages of workers had increased by 101 per cent A careful analysis of the available data by Professor S N Prokopovich, a foremost authority on the subject, led him to the avowedly tentative conclusion that far from increasing, the real wages of industrial workers during this period actually declined by some 45 per cent Professor Prokopovich, however, believes that in 1927–1928 real wages in industry considerably exceeded the pre-War level S N Prokopovich (Prokopovicz), editor, *Quarterly Bulletin of Soviet-Russian Economics* (Geneva), Nos 1–2, November, 1939

[26] Maurice Dobb, an economist sympathetic to the Soviet point of view, rightly notes (*op. cit*, p 334) that "it is apparently true that so far little has emerged (at least in published form) in the way of . . generalised principles" of planning.

are not obvious, has undoubtedly added much to the difficulties of the Soviet leaders and to the hardships the process of industrialization imposes upon the people. The Soviet experiment has proved so far that a Socialist economy can exist, but it still remains to be proved that it is more equitable and more efficient than an organization based on private property and private initiative.

CHAPTER VI

THE STATE IN BUSINESS: I

ELIMINATION OF PRIVATE BUSINESS ENTERPRISE

At the end of 1937, the closing year of the second Five-Year Plan, 98 7 per cent of all the means of production in the Soviet Union were officially stated to be "Socialist property," that is, they were controlled either by the State or by the collective farms Of the gross production of industry, 99 8 per cent came from State-owned enterprises, 98 6 per cent of agricultural production was supplied by State farms or by collective farms, while commerce—except for the *kolkhoz* (collective farms) market[1]—was in the hands of Socialist distributing agencies This elimination of private business enterprise is the most striking and the most significant feature of the Soviet economic organization Under the political regime of the dictatorship of the proletariat the expropriation of the proprietary classes was a relatively simple, if painful, process Economic planning is avowedly the means for the achievement of a definite aim and not an objective in itself. In the final analysis the ability of the Communist leaders to operate smoothly and efficiently the complex mechanism of a great and rapidly industrialized modern State is the crucial test of the regime, and the success or failure of the economic controls will determine in the long run the ultimate fate of the Soviet experiment

AGENCIES FOR THE MANAGEMENT OF INDUSTRY

The Early Period. From the advent of the Bolsheviks to power up to the outbreak of World War II, the policy of the Soviet Government toward industry has gone through a number of important transformations which have been reflected in the administrative structure of the agencies in charge of industrial activities. It will be recalled that between November, 1917, and the summer of 1918 only a relatively few branches of industry and some of the larger enterprises in other branches were taken over by the Government The decree on Workers' Control of November 14, 1917, created (or rather sanctioned) the existence in industry of a regime of uneasy dualism, the management of

[1] See below, p 819

industrial enterprises being divided between the owners, on the one hand, and the committees of workers, on the other The committees of workers were organized spontaneously in many enterprises when the Provisional Government was still in office, that is, before the decree of November 14 It is uncertain whether the regime of Workers' Control was meant to be a program of lasting cooperation between capital and labor, or merely a manoeuvre for the "encirclement of capitalism." It was brought to an end by the decree of June 28, 1918, which ordered the wholesale nationalization of industrial enterprises and ushered in the period of War Communism The following months, until the inauguration of the New Economic Policy in March, 1921, were characterized by a policy of rigid centralization, industrial enterprises being deprived, at least in theory, of all independence The whole business of the country was administered from above by the Supreme Economic Council acting through purely bureaucratic agencies known as *glavki* and *tsentri* (Chief Administrations and Central Boards). This method, admittedly, was not a success. By 1921 the production of large-scale industry fell to 17 per cent of its pre-War level, a decline for which the general conditions prevailing during the Civil War were largely responsible

The Trusts The period of the New Economic Policy, with its sharp reaction against the methods of War Communism, brought into existence a new type of management of industrial activities through agencies known as trusts. A trust consisted of a number of industrial enterprises, such as factories, plants, mines, etc., grouped together under a board appointed by the Supreme Economic Council after consultation with the trade unions The position of the members of the board of a trust was analogous to that of the trustees of a public corporation under the American or English law. The trust received from the State definite properties which consisted of the physical equipment of enterprises that were members of the trust, buildings, machinery, stocks of fuel and raw materials, as well as appropriations from the budget The board of the trust appointed the managers of the enterprises, entered into collective labor agreements with the trade unions, and supervised the work of the enterprises under its jurisdiction, while it was itself responsible to the Supreme Economic Council Relative independence from the State was the chief feature distinguishing the trusts from the agencies of War Communism Within the provisions of their respective charters, the trusts enjoyed freedom of action. As the Congress of the Soviets in 1922 put it, "the struggle between Communist and individualistic economies is now being transferred to economic ground, the market, here nationalized industry controlled by the proletarian State must, following the competitive methods of the market, assert its unchallengeable superiority " The trusts were therefore to conduct their business on the "commercial principle," that is, they were to be run for profit According to the territorial scope of their activities the trusts were divided into three classes· national trusts, republican trusts, and local trusts

The Syndicates. The trustification of industry proceeded rapidly since the enterprises were anxious to escape the strait-jacket of War Communism con-

trols It proved, however, more difficult than had been imagined by Communist leaders to assert the "unchallengeable superiority" of nationalized industry The trusts often found themselves in competition with one another and this led to the creation of syndicates which performed many functions similar to those of syndicates in the capitalist world, with the important difference, however, that Soviet syndicates did not enjoy the power to limit the volume of production and had to accept the maximum prices determined by the Supreme Economic Council. The first syndicate (textile) was organized in February, 1922.

The Principle of "Economic (or Cost) Accounting" The relative economic freedom enjoyed by the trusts proved short-lived As planned economy was gradually encroaching on the New Economic Policy, the trusts found themselves in a rapidly increasing dependence on the higher government agencies—the Supreme Economic Council, the People's Commissariats, the State Planning Commission The Law ("model charter") of June 29, 1927, which redefined the position of the trusts, substituted for the "commercial principle," that is, business for profit, the principle of "economic (or cost) accounting" by which was meant the duty of the trusts to strive for the fulfillment of the provisions of the plan The degree of compliance with the plan was made the yardstick by which the efficiency of any economic agency was to be measured The interpretation of this principle, which became one of the pillars of Soviet planned economy, was somewhat illogical, since the overfulfillment of planned assignments was considered as a desirable goal, while failures to fill the quotas were sternly discouraged Another important change introduced by the Law of June, 1927, was the increased independence of the enterprises from the trusts In the earlier legislation the trust, and not the enterprise, was considered the basic unit of industrial organization The Fifteenth Congress of the Communist Party, held in December, 1927, voiced some sharp criticism of the stifling influence which the excessive centralization that developed inside the trusts had upon local initiative, it also emphasized the necessity of increasing both the rights and the responsibilities of the enterprises

Policy of Decentralization. The emancipation of the enterprises from the trust, a process inaugurated by the Law of 1927, was further advanced by the resolution of the Communist Party of December 5, 1929, and by subsequent legislation The resolution proclaimed that "the enterprise is the basic unit of industrial organization" and must be independent within the provisions of the plan. The directors of the enterprise must be given full authority and must accept full responsibility for the fulfillment by the enterprise of its assignment under the plan The resolution of December, 1929, moreover, introduced other important changes in the management of industry. The work of the departments of the Supreme Economic Council was declared to be unsatisfactory New organs of industrial control, the "combines" (*obedinenie*), took over the functions of the syndicates and of some of the departments of the Supreme Economic Council The "combines" consisted of groups of trusts and industrial enterprises united under an appointed board. The functions of the "com-

bines" comprised "the planning of production, planning of capital investment, technical guidance, organization of sales and supply, control of commercial and financial activities, questions of labor, training of workers, appointment and dismissal of the higher personnel." There were three types of "combines" those uniting trusts and enterprises working on a national scale, those uniting enterprises and trusts working on a national, republican, and local scale, and those uniting enterprises and trusts working on a republican and local scale. The chief duty of the "combines" was the technical guidance of the trusts and enterprises in matters of production They were to exercise their powers according to the "functional principle." The functions of the trusts, under the 1929 plan, were greatly curtailed The Supreme Economic Council, which lost some of its powers, was to concentrate on general planning and coordination, and on controlling the work of the "combines" whose boards it appointed

Reorganization on the Basis of Greater Specialization. The "combines" were duly organized, but the "functional" principle on which the 1929 plan was based proved unworkable It led, once more, to extreme centralization, the "combines" extending their authority to a very large number of enterprises, sometimes hundreds of them, scattered over the territory of the Union Stalin denounced the resulting organization of industry in a speech delivered on June 23, 1931, and he demanded its reconstruction on the basis of greater specialization There followed a hasty remodeling of the administrative structure The large "combines" were split into smaller units and in January, 1931, the Supreme Economic Council itself ceased to exist and was replaced by three People's Commissariats—that of Heavy Industry, of Light Industry, and of the Timber Industry. The move in the direction of greater specialization was accompanied by a number of measures increasing both the powers and the responsibilities of the higher personnel and substituting responsible officers for industrial boards.

The "Territorial-Productive" Principle. The anticipated improvement, however, failed to materialize and the Seventeenth Congress of the Communist Party in January, 1934, decided to liquidate all agencies based on the "functional" principle and to replace them with new ones organized on the "territorial-productive" principle The participation of local, regional, and republican bodies in the management of industry was increased "Combines" were abolished, the number of trusts was reduced, and the ties of the enterprises with the central departments were strengthened. The purpose of the reform was the elimination of bureaucratism and the substitution for it of personal contact and guidance The plan also provided for the abolition of executive boards in all institutions in charge of industry Their place was taken by appointed officers At the same time advisory councils were created in the Commissariats The councils, which were to meet twice a month, were composed of representatives from the factories, a measure that had for its purpose to keep the heads of the departments in close touch with local conditions

General Scheme of Industrial Controls. The resulting structure of the industrial administration is approximately as follows The highest administra-

ıch of industry ıs the Mınıstry (People's Commıssarıat) number of departments organızed on the "terrıtorıal- a somewhat mysterıous formula whıch would seem to nt ıs concerned not wıth an entıre ındustry, but only aged ın a defınıte lıne of productıon and located in a nited area Such departments have full powers ın deal- n of the trusts and enterprıses They provıde for them and financıal questıons and they control the sales of ıe supply of raw materıals Mınıstrıes have also specıal th technıcal and scıentıfic questıons The lower lınks ın atıve agencıes are the trusts and the enterprıses The controlled by the Mınıstrıes of the constıtuent republıcs organs Thıs scheme of ındustrıal admınıstratıon has ᷾ War [2]

ʼanagement of Industry Still Unsolved It wıll thus utıon of Socıalıst controls for prıvate enterprıse proved ınd sımple as Lenın had ımagıned ıt to be ın 1917 The ᷾ of the admınıstratıon of Sovıet ındustrıes, a process outlıned above, suggests that recent trends are ın the lıfferentıatıon and specıalızatıon [3] It would be rash to ıat the rıddle of ındustrıal management ın a Socıalıst ı The truly amazing ınstabılıty of the admınıstratıve he ındustrıalızatıon of the country merely ındıcates that ıt ıs proceeding by the tıme-honored method of trıal and ᷾ for the Sovıet cıtızens that thıs method ıs always costly, ᷾t State where the Government controls all the economıc

ʼENCY

ting from the Abolition of Private Enterprise. The of ındustrıal management ın a Socıalıst socıety lıes much ted by the verbose and confused dıscussıon ın the Sovıet ıerıts of the "terrıtorıal-productıve" and the "functıonal" ıon The root of the trouble ıs the necessıty of dıscover- ᷾tıtute for the mechanısm of prıces and of creatıng the ness effıcıency that ıs supplıed under capıtalısm by the

however, has been ın the dırectıon of strıcter controls A statute ʼ the Councıl of Mınısters on January 15, 1949, dırected that funds ratıve, and publıc ınstıtutıons should be kept at the State Bank or ɔy the authorıtıes The amount of cash an ınstıtutıon was permıtted ıned by the State Bank and was to be lımıted to ıts ımmedıate needs was to prevent the ınstıtutıons from usıng theır funds ın a manner of d not approve In case of ınfrıngement of the regulatıons the State ʼhıch the ınstıtutıon ıs requested to keep ıts funds) may (1) prohıbıt o use ıts cash receıpts for a perıod up to three months, and (2) deny, ɔunt of current expendıture to whıch the ınstıtutıon would otherwıse nauthorızed use of funds, moreover, became a crımınal offense The 9, dıd not apply to collectıve farms

competition of private interests. Nothing is more distasteful to a Communist than capitalist competition, yet its absence in the Soviet Union has created new and formidable problems which still await solution. It would be easy to fill pages with quotations from pronouncements of authoritative Soviet bodies and leaders denouncing the laxity, inefficiency, waste, and bureaucratic procrastination that infect every department of the country's economic life. The efforts of the Soviet Government are directed toward the eradication of these conditions.[4]

Price Policy. The prices of practically all goods in the USSR are fixed by the State. The method by which prices are computed is not disclosed, but presumably they are based on the "unchangeable prices of 1926–1927," that is, the price level in the last year of the New Economic Policy. Under Soviet conditions planned prices are largely in the nature of a bookkeeping device. They nevertheless play an extremely important part in the actual management of industry, especially in the attempts to reduce costs. Every industrial enterprise and every trust receives under the plan a definite assignment which specifies the volume of goods to be produced, the price and quality of the goods, and the cost of production. The last consists of the cost of raw materials and fuel supplied at fixed prices, labor costs, taxes, and other expenses incidental to the working of the enterprise. The planned cost of production of an enterprise is presumably arrived at by reducing its actual cost in the preceding year by the percentage prescribed in the plan. Every trust and every enterprise has its own balance sheet and is rated according to the principle of "economic (or cost) accounting"; that is, its actual performance is checked against the assignment of the plan. If the enterprise succeeds in producing the volume of goods demanded by the plan and maintains its costs within the prescribed limits without deterioration in the quality of the goods, the income and the outgo of the enterprise are so balanced as to produce a "planned profit."

Its Revision in 1936. It was customary in the early years of planned economy to price raw and building materials, machinery and equipment, below cost as a general measure for the encouragement of industrialization. The deficit was made good by budgetary appropriations. In 1936 this policy

[4] For instance, a decree of the Council of People's Commissars of April 5, 1940, stated that the organization of supply in the "economic" People's Commissariats was grievously defective. The chief flaw, according to the decree, was the multiplicity of supply agencies and their "enormous, totally unjustifiable staff." Twenty-six People's Commissariats of the USSR alone maintained 3,550 supply agencies employing 81,000 officials at the annual cost of 332 million rubles, while other economic organs (*otraslevye glavki*) maintained 1,370 supply agencies with a personnel of 23,000 and a payroll of 106 million rubles. The resulting situation was described by the decree as "wholly inexcusable," especially since the supply agencies "indulged freely in spurious purchases from one another, ignored State prices," and carried on other illegal activities. The decree ordered the immediate liquidation of the superfluous agencies. A decade later, in March, 1949, the Minister of Finance Zverev noted in his report to the Supreme Soviet that, although much had been accomplished in reorganizing administrative services and reducing their cost, a great deal remained to be done. "Our administrative apparatus," said Zverev, "has many unnecessary links and subdivisions, inflated personnel and waste of funds on administrative purposes." And he quoted as an example of wastefulness and inefficiency the supply and sale organs of the various ministries which have "many superfluous agencies maintained at a heavy cost to the State."

was abandoned as both uneconomic and demoralizing, and it became the aim of the Soviet Government to make every branch of industry self-supporting The method adopted consists of fixing the price of every commodity at a figure corresponding to the average cost of production The losses of some of the enterprises, under this plan, are to be compensated by the gains of others in the same industry In other words, the less efficient enterprises, which under capitalism would be forced out of business, continue to carry on at the expense of the more efficient enterprises producing similar goods Various methods are being devised, however, to make all the enterprises self-supporting within the provisions of the plan.

The Minister of Finance Zverev stated in the Supreme Soviet in March, 1949, that, in pursuance of a resolution adopted by the Central Committee of the Communist Party, budget appropriations for enterprises engaged in industry and transport were being "liquidated largely (*v osnovnom*) in 1949 and completely in 1950" What will happen under the new regime to enterprises with costs above the average was not explained

The "Director's Fund" The creation of direct incentives for the workers and managerial staff of an enterprise to strive for the fulfillment and overfulfillment of the plan is the theme around which revolves much of Soviet labor legislation One device used to attain this object is the "director's fund." Introduced by a decree of April 19, 1936, the "director's fund" seems not to have been in use during the War but was reinstated in 1946 and 1947[5] The object of the fund, as defined by a decree of the Council of Ministers "On the Director's Fund in Industrial Enterprises" of December 5, 1946, is "to strengthen the initiative and responsibility of directors of industrial enterprises in the fulfillment of production programs, reduction of costs, and fulfillment of the plan for profits." The source of the fund is profits or, in enterprises which under the plan are not working for profits, savings resulting from the reduction of costs All industries are arranged, for the purpose of the fund, into two groups Group I comprises heavy industries, building materials, rubber, paper, and textiles; group II includes food industries, most of the industries producing consumers' goods, as well as the enterprises working on a republican and local scale The "director's fund" consists of (1) contributions from "planned profits" (or planned reduction of costs), and (2) contributions from "surplus profits" (or surplus reduction of costs), that is, profits (or reduction of costs) in excess of those planned In enterprises of group I the "director's fund" benefits to the extent of 4 per cent of the "planned profits" and 50 per cent of the "surplus profits." However, "as an exception," the "director's fund" in specified industries in group I (metallurgy, coal, oil, certain branches of mining, cement, some of the chemical industries, and a few others) retains 10 per cent of the "planned profits" and 75 per cent of the "surplus profits." The "director's fund" of enterprises in group II retains

[5] The pre-War and post-War "director's funds" are similar in basic structure and objectives, although they differ in some not unessential details Nevertheless the post-War decrees speak of "establishing" the funds, a terminology which, presumably, implies that they did not exist at the time

2 per cent of the "planned profits" and 25 per cent of the "surplus profits." The greater incentive provided for the heavy industries, as compared with those producing consumers' goods, indicates that the primary concern of the Government remains the same as it was in the 1930's—the building up of industries regarded as essential from the point of view of industrialization, collectivization (agricultural machines), and rearmament.[6] The size of the "director's fund" in 1947 was limited to 5 per cent of the annual amount paid by the enterprise in salaries and wages. Half of the proceeds of the funds are spent on the expansion of production, construction, and housing, and the balance on amenities for the employees of the enterprise (expansion of "subsidiary farming" and vegetable gardens, rest homes, dining rooms, clubs, facilities for games and sports) and bonuses to individual employees.[7]

Position of Enterprises Unable to Fulfill Assignments. The ingenious device of the "director's fund" extends to the enterprise the principle of Article 12 of the Soviet Constitution "From each according to his ability, to each according to his work." It does nothing, however, to relieve the plight of those enterprises—and their number appears to be large—that prove unable to fulfill their assignments. Their directors and Communist leaders are likely to find themselves in the concentration camps in the Arctic region or in Siberia, or, if they are lucky, to be merely demoted. But since the enterprises are to continue in business their deficit in some form or other must be made good by appropriations from the budget. And this would seem to mean that the burden of taxation is likely to continue to increase.

Grave Consequences of the Absence of Adequate Price Policy. The price structure is probably one of the weakest points in Communist economics. It injects in the planned order an element of uncertainty and arbitrariness the importance of which cannot be exaggerated.

WAGES AND LABOR DISCIPLINE

Struggle for Higher Efficiency of Labor. Hardly less thorny has thus far been the problem of increasing the productivity of labor which, according to the Communists, is the cornerstone of the entire economic structure.[8] Greater productivity of labor is essential for the reduction of costs, the lowering of prices, the raising of the standards of living. Productivity of labor depends on the efficient organization of production, the adequate supply of skilled

[6] Under the 1936 legislation, however, the ratio of contributions to the fund was the same for all industries 4 per cent of the "planned profits" and 50 per cent of the "surplus profits."

[7] By a decree of the Council of Ministers of June 27, 1947, "director's funds" similar to those in industrial enterprises were established in public utility enterprises (street cars, buses, trucking concerns, water transportation of local destination, electricity, gas, water, sewerage, street cleaning, and illumination) and in the so-called communal enterprises (public baths, laundries, barbershops, hotels, and even pawnshops), and by a decree of the Council of Ministers of September 29, 1947, in railway enterprises and the Moscow subway. "Director's funds," as it will appear later, were also organized in the State farms and machine tractor stations. It will readily be seen that the administration of the funds must present in some instances truly baffling difficulties.

[8] The importance of industrial labor in the population of the Soviet Union is increasing. The number of workers and employees engaged in industry was 11.3 million in 1928, 22.8 million in 1932, 28 million in 1938, and, according to the fourth Five-Year Plan, was to reach 33.5 million in 1950.

workers, the maintenance of labor discipline, and, last but not least, on providing the workers with the proper incentive to do their jobs well The Soviet Government has given much attention to the training of engineers and skilled labor and to the study of methods of mass production. Nothing is more admired in the Soviet Union than Henry Ford and his assembly line But the training of highly qualified engineers and skilled mechanics is necessarily a slow process, especially in a country newly converted to methods of advanced industrialization Mammoth machine-building plants have only too often proved disappointing, a failure that was no doubt due to the novelty of the problems raised, the lack of experience and of skilled labor, and the record-breaking speed with which agricultural Russia is being transformed into a kind of gigantic Pittsburgh

Labor Discipline. Labor discipline has been one of the Government's chief concerns A factor that greatly interfered with the productivity of labor was the continuous wandering of the workingmen from one job to another, the so-called "fluidity" of labor which assumed alarming proportions about 1930. The Labor Code (Article 46) specifically provides that a worker who has not entered into a contract for a definite term shall be free to leave his employment after serving the prescribed notice (one to seven days) [9] This provision was presumably not always observed, since the Supreme Court of the USSR found it necessary to rule at least twice (September 8 and November 14, 1936) that Article 46 was still in force and needed no further interpretation Various measures to induce workers to stick to their jobs have been tried Workers who remained in the same enterprise for over two years were given longer vacations and the whole structure of social insurance was so reshaped as to confer special benefits on the employees in proportion to the length of their service with an enterprise The extra privileges thus acquired extended to bonuses, pensions, opportunities for staying at rest homes and sanatoria, and so on Other and sterner measures were applied to those workers who failed to appreciate the benefits mentioned The decree of March 4, 1933, providing that the reason for each change of employment and the date thereof should be entered on a special labor card issued to every worker, made it a criminal offense for the director of an enterprise to hire workers not in possession of such a document On the other hand, the communication of secret information about the character and political views of an employee was specifically prohibited and made a criminal offense by a decree of September 23, 1930 A decree of October 17, 1937, provided for the summary eviction of workers who voluntarily gave up their jobs or were dismissed for a breach of labor discipline or were convicted of a crime. The persons so evicted were not entitled to the allocation of "living space" elsewhere [10] Unemployment insurance was discontinued in October, 1930, and

[9] The decree of December 28, 1938, requires one month's advance notice from every worker or employee who desires to relinquish his employment

[10] The cities, towns, and new industrial centers in the Soviet Union are suffering from an acute, perennial housing shortage Every employed person is entitled to a definite "living space" the size of which varies with the locality Most of the dwelling houses are controlled by government-owned enterprises or by the municipalities An evicted person finds it practically impossible to obtain living quarters

the workers receive no benefit during the time they are looking for new employment

Wage Policy, 1919–1930. Although the program of the Russian Communist Party (1919) stated specifically that equalization of wages was a remote ideal and not an immediate objective, a tendency toward the leveling of earnings manifested itself during the early years of the Soviet regime and lingered until the late 1920's In 1920–1921 the Government adopted, allegedly at the request of the fourth All-Russian Congress of Trade Unions, a unified schedule of wages and salaries which provided for seventeen grades of pay covering all wage-earners and salaried employees. Wages of workers engaged in production were confined to the nine lower grades, those of clerical employees to grades below and including thirteen, while the salaries of technicians and the managerial staff were put in the upper grades fourteen to seventeen The top wage of a skilled worker was three and a half times as high as that of an unskilled worker, and earnings in grade seventeen were eight times as high as in grade one Since the increment in wages from grade to grade was uneven (for instance, it was 25 per cent between grades one and two and 10 5 per cent between grades seven and eight), the entire schedule came under severe criticism. It was revised in 1927–1928 but the amendments merely accentuated what came to be regarded as an excessive leveling tendency Increments between the upper grades were smaller than those between the lower grades, and piecework was discouraged "In a number of enterprises," Stalin said scornfully in 1928, "our wage schedules are so arranged that the difference between skilled and unskilled labor, between heavy and light labor, has almost disappeared " He argued that this unsound wage policy discouraged the workers from improving their qualifications and had an adverse effect upon the productivity of labor

Piecework. In 1931 the wage schedule was again revised, this time in such a manner as to increase substantially the rates in industries to which the Government wished to attract labor—coal, oil, electric power, metallurgy machine-building *Obezlichka* (literally "facelessness"), or work that cannot be traced to its performer, and *uravnilovka* (literally "leveling"), or equalization of earnings—two picturesque terms coined, with total disregard for grammar, by Stalin—were exorcized in a nation-wide campaign as the implacable enemies of labor productivity Strong emphasis was put on piecework a method that has traditionally been combated by the trade unions in the capitalist countries.[11] In the Soviet Union it found its place in the Constitution (Article 12) which proclaimed the principle "to each according to his work" as one of the pillars of the socialist order

Nominal and Real Wages. Monetary wages increased rapidly The average annual earnings of workers and employees rose from 708 rubles in 1928 to 1,427 rubles in 1932, 3,093 rubles in 1937, and 4,100 rubles in 1940 according to the fourth Five-Year Plan they should have reached 6,000 in

[11] Piecework accounted for 57 per cent of the total number of man-hours earned in 1928 for 64 per cent in 1932, and for about 75 per cent in 1938

1950 In the absence of indices of prices and of the cost of living these average figures covering both workers and employees (a confused and misleading notion) mean little and cannot be translated, with any degree of certainty, in terms of real wages It is clear, however, that the incentive of higher earnings cannot be effective unless the wage-earner has some assurance that additional remuneration will actually contribute to his welfare This assurance was lacking in the Soviet Union in the late 1920's and in the early 1930's With the introduction of planned economy the Government found it necessary to control distribution, first of foodstuffs and later of manufactured goods, by instituting rationing The ration cards entitled their holders to purchase, usually in a "closed" shop attached to the enterprise or institution in which they were employed, a limited amount of each commodity at prices considerably below those charged in Government-owned "commercial shops" (where no ration cards were required) or on the *kolkhoz* and the black market So long as this system existed, monetary wages meant relatively little since real wages were determined by the assortment of goods available in the "closed" shop and by the prices at which they were sold, which varied within a wide range. Walter Duranty, then Moscow correspondent of *The New York Times,* wrote in 1934 that the average monthly wage of a Russian industrial worker will buy in Moscow "on the open market no more than $3 will buy in America " [12] The resulting uncertainty as to the purchasing value of the ruble encouraged the "fluidity" of labor, the workers moving from factory to factory in search for a place of employment that would give them, through its "closed" shop, better value for their money The abolition of rationing, first applied to bread in January, 1935, was completed by the end of that year. From that date until the outbreak of the Soviet-German War all commodities were sold at State-fixed prices to whoever could afford to buy them. The abolition of rationing and of the multiple price system restored the equilibrium between monetary and real wages and was an important element in the drive for the higher productivity of labor Rationing was reintroduced during the War but was again abolished in December, 1947

Other Measures of Encouragement. Various methods have been employed to spur labor to greater exertion and to increase productivity The seven-hour working day was adopted in 1927 and was made effective in most industries in 1928 The "continuous" six-day or even five-day week (five or four workdays followed by a day of rest), designed to intensify the use of industrial equipment by employing three consecutive seven-hour shifts, was introduced in the early 1930's There came into being an elaborate system of bonuses and premiums which are paid to those workers who exceed the "norm," or standard performance prescribed for every type of work

Workers' "Spontaneous" Movement for Higher Productivity. A number of much-publicized devices to increase labor productivity originated, in

[12] *The New York Times,* February 4, 1934 The uncertainty of the purchasing power of the ruble during this period was probably in part responsible for discontinuance of the publication of the index of the cost of living

theory, in the workers' irrepressible enthusiasm for the building up of Socialism The beginnings of this movement are officially traced back to an article "How to Organize Emulation," written by Lenin two months after the Bolshevik revolution but first published in 1929 Its earliest practical manifestation, according to tradition, was a *subbotnik*—voluntary work on Saturday—organized by a group of Moscow railwaymen in April, 1919. Lenin acclaimed the innovation as a major revolutionary event, but the movement soon came to nothing and little was heard of it until the end of 1928 when, following an appeal of the Central Committee of the Communist Party for the mobilization of all the creative resources of the working class, the first "shock brigade" was formed A "shock brigade" consists of exemplary workers (*udarnik*) who undertake to fulfill their "norms," strictly observe labor discipline, eliminate truancy, take excellent care of machines and tools, and ensure the uninterrupted flow of production In January, 1929, *Komsomolskaia Pravda,* organ of the Organization of Communist Youth, launched a proposal for the organization of "Socialist emulation" (or competition—*sorevnovanie*) among the enterprises, and *Pravda* published, for the first time, Lenin's article mentioned above The hint was dutifully taken up by a few factories and at the end of April, 1929, the Sixteenth Conference of the Communist Party appealed to the workers and farmers to use their best endeavor toward the promotion of "Socialist emulation" The "spontaneous" movement was born "Emulation is the Communist method of building Socialism on the foundation of the maximum active participation (*aktivnost*) of the multi-million mass of the toilers . ," Stalin said in May, 1929. "Socialist emulation and [capitalist] competition (*konkurentsiia*) are two totally different principles. The principle of competition. defeat and death for some, victory and domination for others. The principle of Socialist emulation: comradely assistance to those who lag behind by those who are in the front ranks, in order to achieve higher standards for all " "The most remarkable aspect of emulation," Stalin told the Sixteenth Congress of the Communist Party in June, 1930, "is that it changes the attitude of men toward labor, for it transforms labor from a shameful and heavy burden, as it was formerly looked upon, into a deed of honor, a deed of glory, a deed of valor and heroism " In less exalted language "Socialist emulation" may be said to consist of contracts concluded between enterprises, shops, groups of workers, and individual workers pledging the parties to exceed their production quotas, eliminate defective production, cut down costs, maintain high levels of labor discipline, reduce absenteeism, improve technical qualifications, and train and rehabilitate indolent and inefficient workers. By the middle of 1931, 71 per cent of all industrial workers were enrolled in "shock brigades" or participated in "Socialist emulation." [13] Another feature of the movement is the practice of enterprises to demand the

[13] According to official data for 1944, participation in "Socialist emulation" in separate branches of industry was as follows oil, 82 per cent of the total number of workers employed, aircraft, 81 per cent, armament, 85 per cent, tanks, 81 per cent, munitions, 81 per cent; automobiles, 86 per cent, electrical appliances, 83 per cent, cotton textiles, 91 per cent, rubber, 83 per cent, shoes, 87 per cent

upward revision of planned assignments, the so-called counter-plan which has already been mentioned in an earlier chapter Finally, in May, 1932, came the "excellence movement" (*otlichnichestvo*) which takes the form of pledges by workers to improve their technical qualifications and to transmit their superior knowledge to their fellow workers

The Stakhanov Movement. In the night of August 31, 1935, the Ukrainian miner Alexis Stakhanov won national and international fame by knocking down, with the assistance of two timberers, 102 tons of coal (fourteen times the standard "norm") in a six-hour shift His remarkable achievement, which, it must be assumed, was contrived not without the assistance of the authorities, was given more than the usual amount of publicity and became the starting point of the Stakhanov movement or drive for more efficient methods of work devised by the workers themselves Stakhanov's example was emulated throughout the country, and soon practically every branch of industry and agriculture boasted of the breath-taking records of their own Stakhanovites Improvement of productive processes is, of course, eminently desirable but it is by no means certain that the spectacular methods of the Stakhanov movement succeeded in bringing about a real and lasting change for the better Maurice Dobb, who holds, quite wrongly in my opinion, that Stakhanov's performance "came as a definite surprise to the management" and "quickly found imitators in other industries almost before it had time to be publicized," admits that "the movement was not without weaknesses and exaggerations, and in certain directions it even became something of a mania "[14] The Communist Party, the real instigator and sponsor of the movement, came to realize that record-breaking performances by individual workers were a disorganizing factor inimical to the even flow of production and, in the last analysis, to labor efficiency A statement issued by the Central Committee of the Communist Party on December 28, 1937, roundly condemned the practice of high individual records and urged that the movement should be reorganized as a mass movement How this could be done without discarding the very principles of Stakhanovism remains uncertain[15] Meanwhile the rec-

[14] Dobb, *op cit*, pp 429, 430, 432

[15] Although by the middle of 1936 between a third and a half of the workers in the major industries were Stakhanovites, conditions in at least some branches of industry were not improved A decree of March 11, 1939, issued by the Economic Council, an agency of the Council of People's Commissars, reveals an instructive picture of the conditions prevailing in the building industry "The Economic Council ," says the decree, "hereby declares that compliance with the instructions of the Party and of the Government concerning the improvement in the organization of labor in the building industry continues to be unsatisfactory with the result that in a number of building projects the prescribed 'norms' remain unfulfilled Workers employed on building projects not infrequently work only five or six hours per day, the balance of their time is wasted chiefly because the ground is not prepared, building materials are not delivered on time, and coordination among various operations is lacking The Economic Council of the Council of People's Commissars considers as intolerable a situation when individual directors of building projects, instead of striving for the improvement in the organization of labor, the liquidation of enforced idleness, and the increase of the amount of work performed (*uplotnenie*), have entered the road of covering up the deficiencies by illegal payments for work not actually done (*namazki*) thus artificially raising wages and concealing the inadequate organization of labor at a heavy cost to the State" The decree quotes an instance when the illicit overpayment of wages in 1938 was as high as 101 per cent The Economic Council ordered the discontinuance of the illegal practice and directed the Procurator-General to institute legal proceedings against the guilty officials

ords of the Stakhanovites were used as the reason for the upward revision of the "norms." A general upward revision affecting every branch of economic activity was ordered on December 25, 1935, and revisions increasing the "norms" in separate industries followed from time to time [16] Since the standard wage is conditional on the fulfillment of the "norm" (which applies to both quantity and quality), those who fall below the "norm" receive less than the standard wage. It has been officially stated that the increase in "norms" has brought about a rise in earnings, but it is not made clear how this result could be achieved by paying the workers the same rates for doing more work.

Decorations and Titles. The Soviet Government confers upon diligent workers medals, decorations, and, as the highest reward, the somewhat awkward title of "Hero of Socialist Labor." The number of medals greatly increased during the War and post-War period and there are now few activities that would not carry the promise of a badge of some kind Prior to 1948 the holders of decorations were entitled to monthly payments (10 to 50 rubles), exemption from certain taxes, reduction of rent, free use of street cars, preferential treatment with reference to social insurance, pensions, and so on "Heroes of Socialist Labor" could not be evicted unless provided with adequate "living space" elsewhere and means for moving to new lodgings The passport regulations of September 10, 1940, entitled the holders of decorations to a "permanent" passport, that is, one that need not be renewed [17] By a decree issued in November, 1947, most of these privileges were revoked as of January 1, 1948, presumably because of the vast increase in the number of men and women holding decorations. Nevertheless, the material advantages attached to some awards have been retained and tend to become more substantial A decree of June 10, 1946, remitted the tuition fees of the "Heroes of Socialist Labor" and "Heroes of the Soviet Union" (whose number is relatively small) enrolled in secondary and higher schools and provided scholarships of 400 rubles per month for the students of that group attending colleges and higher technical schools

Punitive Measures. Soviet legislation supplies a long list of involved and often repetitious measures for the enforcement of labor discipline and the discouragement of laxity and negligence Only a few of them can be noted here A decree of November 15, 1932, provided that a one-day absence from work without good reason should be punishable by dismissal accompanied by eviction and the cancellation of the ration card The "malicious breach of labor discipline" brought immediate dismissal as well as criminal prosecution (decree of December 17, 1930). At the end of 1938 the drive for labor discipline was renewed with much force. A regulation was adopted stipu-

[16] For instance, by a decree of January 5, 1939, the "norms" in the machine-building industry were increased by 25 per cent while the standard piecework rates were decreased by 14 per cent

[17] Every Soviet citizen who has reached the age of sixteen and resides in an urban or other designated area must carry a passport which is valid for five years The passport must be registered with the police if its bearer stays away, for longer than twenty-four hours, from the locality where he is domiciled

lating that from January 15, 1939, every worker should be provided with a "labor booklet" containing a full record of his professional career, including statements of the reasons why he had left his previous place of employment, a measure designed further to discourage the migration of labor A decree of December 28, 1938, provided that a worker who was late three times in one month or four times in two consecutive months must be dismissed; that vacations should be given only to the workers who had been employed for eleven consecutive months in the same institution, and that the amount of social insurance received in case of temporary disability should depend on the length of employment Benefits to expectant mothers were drastically reduced to cut down abuses, which were reported to have been frequent On January 8, 1939, the Government issued an order to dismiss in the future any worker more than twenty minutes late on any working day A number of spectacular and much-publicized trials were staged in Moscow early in 1939. The defendants, workers who had committed offences against labor discipline and the supervisors and managers who had tolerated these infringements, were branded as enemies of the people and received heavy sentences.

LABOR LEGISLATION, 1940 AND AFTER

Position of Foremen. In 1940 the Kremlin embarked on a legislative program which wrought revolutionary changes in the position of labor On May 27 came the decree of the Council of People's Commissars and the Central Committee of the Communist Party establishing foremen as responsible and authoritative leaders of the men under their supervision The powers of foremen included the hiring and dismissal of workers, the assignment of workers to various jobs, the imposition of disciplinary punishments, and the granting of monetary rewards. Foremen were made responsible for the maintenance of tools and machines, for the enforcement of labor discipline, and for the efficient and smooth organization of production Their wages (550 to 1,100 rubles a month in the machine-building industry with which the decree dealt specifically) were substantially above the average earnings of workers and employees (342 rubles in 1940) Moreover, foremen who performed their duties to the satisfaction of the authorities were entitled to bonuses irrespective of whether the shop, as a whole, had or had not fulfilled its assignments.

The Eight-Hour Day and the Immobilization of Labor. The May ordinance was merely a straw in the wind On June 26, 1940, the Presidium of the Supreme Soviet issued a decree which opened a new chapter in the history of Soviet labor The eight-hour day was substituted for the seven-hour day which is guaranteed by Article 119 of the Constitution In dangerous and unhealthful occupations, formerly on the six-hour-day basis, the seven-hour day became the rule [18] The eight-hour day was set for young people of sixteen to eighteen who had formerly been permitted to work six hours The "con-

[18] These occupations were listed in separate decrees In a few industries the six-hour day was retained

tinuous" six- or five-day week was replaced by the conventional seven-day week, with Sunday as the general day of rest. Workers and employees were prohibited—and herein lies the real importance of the decree of June 26—from relinquishing their jobs and seeking other employment without a release from the director of the factory where they were employed. The decree specified two instances when such release must be granted (1) if the applicant is medically certified to be unfit for his job and there is no suitable employment for him in the enterprise, or when he is awarded an old-age pension and wishes to retire; and (2) if he has been admitted as a student in a secondary or higher school Abandonment of a job in contravention of the foregoing rules became an offense which is tried by a People's Court and is punishable by imprisonment for two to four months. Truancy is also dealt with by People's Courts, and the maximum penalty is six months of "corrective labor" and a fine of 25 per cent of the convicted worker's earnings. A sentence of "corrective labor" for a term not exceeding six months is served "as a rule" (Corrective-Labor Code, Article 9) in the enterprise where the worker is employed The decree of June 26 provided that dismissal, the former penalty for truancy, is no longer applicable and, presumably, the convicted worker, if he is sent to a penal institution, is returned after serving his sentence to the enterprise where he was formerly employed Directors failing to institute criminal proceedings against the violators of the decree, or hiring workers not properly discharged, are themselves liable to criminal prosecution The decree applied to "all State, cooperative, and public enterprises and institutions," that is, practically to every enterprise and public agency in the Soviet Union[19] According to the preamble, the decree was issued "at the request of the All-Union Central Council of Trade Unions."[20] Another decree of June 26, 1940, provided that the existing monthly wages should be retained and piecework rates scaled down in order to keep monthly earnings on the former level, in spite of longer hours The two decrees became effective at once

The Higher Technical Personnel The Principles of the June legislation were extended to the labor aristocracy—engineers, technicians, foremen, and

[19] The operation of the two decrees of June 26 was extended to the machine tractor stations, principal government agencies in the rural areas (decree of July 17), to cooperative associations of artisans, even though some of their members engaged in trade merely as a part-time occupation and carried on the work in their own cottages (decree of July 22); and to the wood-working shops of the Department of Forestry (decree of July 24) A somewhat different treatment was reserved for the few enterprises leased to concessionaires and other "private interests" The first decree of June 26 was applied to such enterprises only in those provisions dealing with longer hours and the seven-day week, but it was ordered that the wages of workers employed in these enterprises should be proportionally raised (decree of August 16)

[20] "Model regulations" for the enforcement of the provisions of the decree of June 26 were prepared by the All-Union Central Council of Trade Unions and confirmed by the Council of People's Commissars on January 18, 1941 The regulations laid down minute rules of labor discipline, directed the workers, among other things, "to execute speedily and precisely the orders of the administration," and supplied an impressive list of penalties (including transfer to a lower paid job for a period up to three months) which the administration might impose, at its discretion, upon the workers The "model regulations" bore the signature of N Shvernik, secretary of the All-Union Central Council of Trade Unions

highly skilled workers and employees Their individual labor contracts were abrogated, and the People's Commissars were given the power to assign them, in the public interest, to any enterprise, however remote (decree of October 19) Directors, engineers, and heads of technical departments became personally responsible for the quality of goods produced and any lowering of the prescribed standards was made an offense punishable by imprisonment for a term of five to eight years (decree of July 10)

Overtime and Revolutionary Holidays Overtime and night work, formerly prohibited for young people, were permitted for all who had reached the age of sixteen (decree of July 12) The number of revolutionary holidays was reduced to five per annum and it was specifically provided that work on Saturdays must not be shortened (decree of July 27)

Enforcement of Labor Regulations. Good care is taken to prevent excessive leniency on the part of the People's Courts which try labor cases A People's Court usually consists of an elected judge and two elected "assessors" who have equal rights with the judge in reaching a verdict. The labor cases growing out of the violation of the decree of June 26, however, are tried *without* the participation of the assessors (decree of August 10) and judges have been sternly warned that laxity on their part in dealing with breaches of labor discipline will make them subject to summary disciplinary action (decree of July 24)

The State Labor Reserve. The immobilization of employed persons was followed by the compulsory training of young workers A decree of the Presidium of the Supreme Soviet of October 2, 1940, called for the annual draft of 800,000 to 1,000,000 boys to be trained in trades and crafts Boys fourteen to fifteen are sent to trade schools and railway schools which offer a two-year course; boys sixteen to seventeen to factory training schools where instruction is limited to six months The graduates of these schools constitute the State Labor Reserves [21] They are under the obligation to work for four years wherever they are assigned, and are paid the same wage as the other workers On the expiration of the four-year term they are usually drafted into the army. Labor conscription applies to both the rural and the urban population. The collective farms contribute two recruits for each one hundred members of either sex aged fourteen to fifty-five In cities and towns the draft is administered by local Soviets according to quotas issued annually by the Government The students in the factory training schools need not have had any previous school training, but those sent to trade schools and railway schools are selected from boys who have completed four years in elementary schools Students in the trade and railway schools receive, in addition to professional instruction, preliminary military training During the War, labor conscription for the factory training schools was extended to girls aged sixteen

[21] The Central Administration of Labor Reserves, an agency of the Council of People's Commissars, was established by a decree of October 2, 1940 In May, 1946, it was reorganized as the Ministry of Labor Reserves

to eighteen, and the age limit for boys drafted into these schools was lowered to fifteen

Tuition Fees in Secondary and Higher Schools. It was probably no mere coincidence that on the same day, October 2, 1940, when the State Labor Reserves were created, the Council of People's Commissars issued a decree introducing tuition fees in the upper grades of the secondary schools and in all higher schools. It will be remembered that free education, including higher education, was guaranteed by Article 121 of the Constitution This provision had been generally regarded as one of the real achievements of the Soviet State The decree of October 2 imposed tuition fees of 150 to 200 rubles per year in the three upper grades of the secondary schools and of 300 to 500 rubles in the higher schools The decree was made retroactive to September 1, 1940; students who failed to pay their fees by November 1 were dropped [22] The official reasons for curtailment of free education were "the higher level of income of the toilers and the increasingly heavy burden" of school expenditure. Since the average monthly earnings of workers and employees in 1940 were 342 rubles and minimum wages slightly over 100 rubles, while incomes of the majority of the farmers were presumably below this modest level, it would seem that higher education—except in the case of exceptionally gifted children—became the preserve of those in the higher income brackets The Soviet press, characteristically, refrained from any comment on this momentous change

Reasons for the Legislation of 1940. The basic and obvious reason for the labor legislation of 1940 was the failure of the earlier policies to achieve their objectives—efficiency, high labor productivity, and stability of employment [23] Another reason which was given much prominence at the time was the rapidly worsening international situation and the danger of an attack on the Soviet Union It was ostensibly on this ground that the Central Council of Trade Unions lent its full support to the Government An editorial in *Izvestia* characterized the Labor Reserves decree as "a new measure for the strengthening of the economic and military power of the Soviet Union " The defense argument appealed to many foreign students of Russian affairs who still persist in treating the 1940 legislation as purely war measures [24]

[22] Scholarships are granted exclusively on the basis of merit (decree of October 2) and in the higher schools they are awarded only to those students whose records show two-thirds of "excellent" marks and the balance not below "good " Students taking correspondence courses (decree of October 2) or evening courses (decree of November 1) pay half of the regular fee. Instruction under the State Labor Reserves decree is free and students receive the whole, or part, of their maintenance from the State

[23] I had advanced this interpretation shortly after the 1940 measures were enacted See M T Florinsky, "Stalin's New Deal for Labor," *Political Science Quarterly*, March, 1941

[24] The reluctance to see the legislation of 1940 in its true light reflects the wartime attitude of Anglo-American opinion towards Russia In 1940–1941, as the tide of German victories mounted, anti-Soviet feelings provoked by the Stalin–Hitler pact of August, 1939, and the Soviet attack on Finland subsided markedly and gave place to an intense desire to win over the Kremlin to the side of the Western Powers. While prior to Pearl Harbor the United States was technically nonbelligerent, the exchange of American destroyers for British bases in the Western Atlantic (September, 1940) and the Lend-Lease Act (March, 1941), although represented at the time as measures to keep this country out of the War, made American participation practically a certainty When in June, 1941, Hitler invaded Russia, and the Soviet Union,

War and Post-War Labor Policies. Unfortunately for this interpretation, as these lines are being written five years after the end of the War and the dismemberment of Germany, the 1940 legislation is still in force. A wartime decree introducing obligatory overtime of one to three hours daily[25] was repealed in July, 1945, but the eight-hour day and the attachment of workers to their jobs remained. A decree of the Presidium of the Supreme Soviet of June 19, 1947, broadened the basis of labor conscription by extending the draft to boys aged fourteen to nineteen and to girls aged fifteen to eighteen. The fourth Five-Year Plan provided for the training under the State Labor Reserves scheme of 4.5 million young workers. In 1950 the number of students graduating from trade schools, railway schools, and factory training schools was to reach 1.2 million. The immobilization of industrial labor has, in a sense, its counterpart in agriculture in the obligatory participation of collective farmers in communal works ("obligatory labor days"), an obligation first introduced in May, 1939.[26] The elaborate system of incentives notwithstanding, and long before Hitler invaded Russia, the Kremlin was driven to resort to compulsion both on the farm and in the factory. Administrative direction of labor is fully consonant with the methods of Soviet planning, at least in its present stage, and this is why the 1940 legislation has remained in force for a decade and is still the law of the land. It is difficult, therefore, to agree with Maurice Dobb when he writes in 1948, three years after Hitler perished amid the smoldering ruins of the Chancellery and of the Third Reich, that the decrees of 1940 were merely measures "of preparations ... to resist Hitler's attack," or with Baykov when he argues (in 1947) that these regulations "are not the result of the normal evolution of the labor system."[27] On the contrary, high labor turnover which was the primary cause for the decree of June 26, 1940, is inherent in a situation where demand for labor exceeds supply, and wages and conditions of work vary widely from industry to industry and from enterprise to enterprise. In the Soviet Union of the 1940's immobilization of labor becomes "abnormal" and illogical only if one assumes (as Baykov does) that synthetic propaganda devices such as "shock brigades," "Socialist emulation" and Stakhanovism are genuine mass popular movements, which there are many reasons to believe they are not.

The Outlook. The foregoing account should not lead to the conclusion that the draft and authoritative direction of labor are inherent in Communist society even though today they dominate the Soviet scene. The attitude of the Kremlin toward the 1940 legislation is not uniform. The Labor Reserves

---

much against the wishes of its leaders, became a full-fledged member of the anti-German coalition, enthusiasm for the USSR knew no bounds. Any critical appraisal of Soviet conditions came to be looked upon not only as a mark of intellectual inferiority but also as something unpatriotic and almost subversive. Emotional bias breeds dangerous illusions which refuse to be dispelled by harsh and unpalatable facts.

[25] Decree of the Presidium of the Supreme Soviet promulgated on June 27, 1941, less than a week after Germany attacked Russia.

[26] See below, p. 825.

[27] Dobb, *op. cit.*, p. 448; Baykov, *The Development of the Soviet Economic System* (New York, 1947), p. 352.

program, as has already been noted, is being expanded Articles 119 ("right to rest and leisure") and 121 ("right to education") of the Constitution were amended in February, 1947, to bring them in line with the new policy of the Government and of the Party.[28] Presumably it is not intended to abandon these measures in the near future Immobilization of labor, however, is in a different class As far as I know, Article 46 of the Labor Code which guarantees the right of the workers to change employment has not been abrogated. Soviet economists, one may surmise, are under orders not to discuss this matter A lengthy survey of labor legislation by B. Markus in the 1948 supplementary volume on the USSR of the Large Soviet Encyclopedia makes a cursory reference to the substitution of the eight-hour for the seven-hour day but ignores the momentous provisions dealing with the attachment of workers to their jobs The reason for this reticence is probably the conflict between Soviet practice and Communist theory in accordance with which (to quote Lenin) each worker considers himself "part and parcel of the great army of free labor " Freedom of employment remains nevertheless the ultimate objective. Its attainment, however, depends on the establishment of a Communist society and the withering away of the State which, according to Stalin's doctrine, can be achieved only by eliminating the capitalist environment And the leading capitalist country today—and therefore, in Communist theory, the arch-enemy of the USSR—is the United States.

TRADE UNIONS

Soviet Labor Theory. The functions of the trade unions under the dictatorship of the proletariat differ considerably from those of labor organizations in the capitalist countries. The position and activities of Soviet unions are determined by the theory that the USSR is a State of peasants and workers and that therefore the interests of labor and its employer, the State, are identical.[29] Strikes, organized labor's chief weapon, are not prohibited by law and a few minor strikes occurred in the 1920's They are, however, incompatible with Soviet labor theory and are inimical to the smooth working of the planned economy Any incipient attempt at direct action by labor is, therefore, nipped in the bud as a counter-revolutionary activity instigated by the enemies of the regime

Organization. Soviet trade unions are industrial unions, that is, they include all persons employed in the same industry irrespective of craft and grade, from unskilled workers to engineers and managerial personnel The basic unit of trade union organization is the factory (shop) committee (*fabkom*) or local committee (*mestkom*), elected by the members employed in an enterprise On this foundation rests a pyramid of trade union agencies which follows the lines of the administrative structure of the Soviet Union The highest organs are the biennial Congress of Trade Unions and the Central

[28] See above, pp 753–754

[29] A similar theory underlay the organization of the *Arbeitsfront* in National-Socialist Germany and, in a somewhat modified form, that of the syndical structure in Mussolini's Corporate State

Council it elects The Council, a large body of some 200 members, appoints a Presidium and a Secretariat, the actual managers of the trade union movement In theory the trade union organization embodies the principles of democracy, each higher organ being freely elected by the lower one, but in practice the elections are controlled by the Communist Party[30] The trade union organization, like most other Soviet agencies, has undergone many structural changes In 1930 there were 23 trade unions, but as they were thought to be too large and unwieldy, their number was increased, by splitting the existing unions, to 45 in 1931, to 154 in 1934, to 168 in 1939, and to 176 in 1944 At the end of 1945 the Central Council of Trade Unions, revising itself, decreed the amalgamation of kindred unions in accordance with the "production" principle, a move designed to bring the trade union organization in line with the new setup of the Ministries in charge of economic affairs As a consequence of this decision the number of trade unions declined to 67 in 1949 The trade union revenue which in 1946 was 2 billion rubles is derived from membership fees levied at the rate of one per cent of the members' earnings

Membership. Trade union membership is voluntary but carries certain valuable advantages: sickness and disability benefits payable to members are twice as large as those payable to nonmembers, members may obtain loans and grants from mutual assistance funds maintained by the unions as well as grants from special appropriations provided in the trade union budget; members and their families enjoy priorities in such matters as the use of rest homes, sanatoria, and recreational and cultural facilities In spite of these privileges and strong political pressure, trade union membership, although very large, is not all-inclusive In the 1940's about one-sixth of the persons eligible for membership (members of producers' cooperative associations, including collective farmers, and individual peasants and handicraftsmen are not eligible) remained outside the fold of the trade union movement[31]

Functions. Lenin defined trade unions as "an organization of the governing, domineering, ruling class, of a class that enforces the dictatorship of the proletariat, of a class that exercises the function of State compulsion But it is not a State organization, . . it is a school, a school of government, husbandry, a school of Communism." But what is "a school of Communism"? Lenin did not explain, perhaps because the answer to him was self-evident, but he stated that "trade unions are becoming the principal creators of the new society because the creators of the new society can only be the multimillion masses " During the first decade of Soviet rule the question of the

[30] In April, 1949, the tenth All-Union Congress of Trade Unions was convened after an interval of seventeen years The Congress adopted a new statute which, however, retained practically unchanged the existing structure of trade union organization It elected a new Central Council of 175 members and 57 alternates The full text of the new statute is published in Isaac Deutscher, *Soviet Trade Unions* (London, 1950), pp 141–152.

[31] The growth of trade unionism will be seen from the following figures June, 1917, 1 5 million members, 1918, 2 5 million, 1919, 3 6 million, 1920, 4 3 million, 1921, 6 5 million, 1926, 9 5 million, 1928, 11 0 million, 1933, 17 1 million During the War, of the 30 million eligible workers and employees, 25 million were members of the unions, in 1947 the union membership was approximately 27 million, and in 1948, 28 5 million

rôle of the trade unions under Socialism was the cause of several controversies within the Party Immediately after the revolution and in the early 1920's there was a sharp conflict over the rôle of trade unionism The so-called "workers' opposition" held that the management of industry should be entrusted to the trade unions, while an influential group led by Trotsky denied the trade unions any independent part and advocated their absorption by the State. Both these extreme views were rejected and a compromise solution was worked out on the basis of Lenin's ambiguous formula. The resulting dual position of the trade unions as representatives of workers' interests, on the one hand, and as agencies for increasing productivity and for carrying out planned assignments, on the other, provoked confusion and friction and led in the late 1920's to the re-examination of the whole question by Party leaders The debate revolved around the familiar question of the place of trade unionism within the framework of a Socialist State Michael Tomsky, the veteran President of the Central Council of Trade Unions, came under severe criticism for his allegedly excessive zeal in defending trade union autonomy and for favoring the leveling of wages which Stalin had so sternly condemned (see above, p 796) Tomsky was dismissed in 1929; he then committed suicide and has since been denounced as a traitor He was succeeded, as President of the Central Council of Trade Unions by N. M. Shvernik, who proceeded to purge the trade unions of all elements suspected of sharing the aberrations of his predecessor It was under Shvernik's ruthless leadership, which lasted until 1944, when he became first deputy Chairman (and later Chairman) of the Presidium of the Supreme Soviet, that the relations between the State and the trade unions were definitely crystallized [32] The main functions of the trade unions in the USSR may be briefly summarized as follows The unions represent labor in various government agencies. The Central Council of Trade Unions drafts labor legislation which is then submitted to the Government It will be remembered that the decree of June 26, 1940, increasing the working day from seven to eight hours and immobilizing workers at their jobs, was ostensibly enacted at the request of the Central Council of Trade Unions In 1933 the People's Commissariat of Labor was abolished and its duties—enforcement of labor legislation and administration of social insurance (other than health insurance and the majority of old-age pensions)—were transferred to the Central Council of Trade Unions The trade unions negotiate collective labor agreements although the necessity for such agreements is not obvious since wages, hours, and conditions of work are not left to the free decision of the parties but are regulated by the State It appears that in practice trade unions have often neglected to negotiate labor agreements and that for a while they were discarded altogether [33] Trade unions provide for the educational, recreational, and cultural

[32] Shvernik was succeeded as President of the Central Council of Trade Unions by V V. Kuznetsov

[33] Deutscher's statement that "in February, 1933, collective agreements were formally abolished by governmental decree" and were not revived until 1947 (*op cit*, p. 125) is misleading and incomplete According to a Soviet text on labor law published by the People's Commis-

needs of the workers, strive to improve housing conditions; administer safety measures, and, above all, cooperate with the management and the Communist Party in promoting labor discipline, "Socialist emulation," Stakhanovism, and the fulfillment and overfulfillment of the plan. In other words, the principal function of trade unionism is the fostering of the general objectives of the Socialist State. The chief emphasis in recent years has been on their work in promoting high productivity, efficiency, and labor discipline.

Conditions in the Trade Unions, 1937. It is perhaps not surprising that the trade unions have shown a lack of enthusiasm for a policy which, whatever may be its benefits in the future, imposes no small hardship on their members at present. A resolution adopted by the sixth plenary session of the Central Council of Trade Unions in 1937 presents a bitter indictment of the conditions prevailing in the labor organizations. According to the resolution the trade unions have been invaded by the "enemies of the people" and the labor leaders have displayed "intolerable political blindness, tardiness and levity" in detecting the criminal activities of the "wreckers." The intra-trade union "democracy" has been neglected and all questions have been decided by the presidents and secretaries without consulting the members.

> The general meetings of the trade unions are summoned but seldom, they are poorly organized, are unbusinesslike and merely "formal-declarative" in their character. The decisions are frequently not carried out, there is no control over their execution. . . . The administration of social insurance is carried on by bureaucratic methods, the members of the trade unions do not participate in this work, have no control over the distribution and use of the social insurance funds. This situation has made it possible for all sorts of swindlers, chiselers, and enemies of the people to invade the administration of social insurance, to use the funds improperly, to squander and embezzle millions of rubles. . . . The trade unions have frequently paid no attention to the complaints of the workers, employees, engineers and technicians who pointed out criminal violations of labor legislation, and the non-observance of safety measures. . . . The trade unions have greatly weakened the drive for mass production, have failed to lead in the organization of "Socialist emulation" and the Stakhanov movement. . . . The Presidium of the All-Union Central Council of Trade Unions is proceeding by purely bureaucratic methods, is invariably late in deciding the most pressing questions of the trade union movement. . . . The majority of the members of the central committees of the trade unions are not familiar with the conditions in the enterprises, they do not know and do not try to learn what are the interests of the membership, show no desire to discuss the questions vital to the workers.

The resolution outlined a program directed to the improvement of the work of the trade unions and the democratization of their methods (new elections of trade union organs from below, secret ballot, voting for individual candidates instead of lists of candidates, responsibility of the elected officers to the bodies that elected them).

---

sariat of Justice, "the collective agreements concluded in 1933 were extended for 1934." In 1935, however, collective agreements were concluded in only four branches of economic activity and the sixth plenary session of the Central Council of Trade Unions directed (May 15, 1937) the trade unions "to resume the practice of negotiating labor agreements." [*Sovetskoe Trudovoe Pravo* (*Soviet Labor Law*) (Moscow, 1938), p. 32.] In Soviet texts on labor law published in the middle of 1947 collective agreements are not mentioned. Presumably, they were discontinued during the War, but Kuznetsov announced at the Tenth Congress that collective bargaining was resumed, on Stalin's order, in 1947.

Conditions in the Trade Unions, 1938. The seventh plenary session of the All-Union Council of Trade Unions held in September, 1938, passed a resolution dealing with the execution of the program of the sixth plenary session This resolution offers a typical example of official optimism and "self-criticism" which an outside observer finds it difficult to reconcile The resolution noted improvement in the work of the trade unions but then declared that "the trade unions have failed to carry into effect the most important decisions of the sixth plenary session," especially those dealing with the daily needs of the workers and the betterment of production. The conditions of workers' dining rooms, of housing, supply organizations, hospitals, day nurseries, kindergartens, etc , were reported to be highly unsatisfactory, with little progress shown in the field of labor protection and the promotion of safety. It was stated that bureaucratic procrastination and the personal rule of trade union presidents and secretaries had not been eradicated, and the resolution noted instances of "aloofness of the trade union leadership from the masses," of "a bureaucratic, heartless attitude toward the vital needs and requirements of the membership "

Conditions in the Trade Unions, 1939. The resolutions of the eighth plenary session of the All-Union Council of Trade Unions held in April, 1939, dealt largely with the promotion of efficiency and the strengthening of labor discipline It is the duty of the trade unions, a resolution declared, to see to it that every worker performs his "norm " The plenary session noted that "Socialist emulation" continued to be organized "from above," "by purely bureaucratic methods", that the organization of labor in a number of enterprises was highly unsatisfactory; that trade unions displayed a regrettable laxity in enforcing the rules laid down in the decree of December 28, 1938;[34] that they took little interest in settling questions of wages and in advancing the welfare of the workers.

> The trade unions are fully equipped to meet the cultural needs of the toilers and to provide them with recreation facilities (6,000 clubs, and "palaces of culture," 15,000 libraries, 100,000 "red corners," 1,800 radio sets, over 10,000 moving picture installations). These facilities, however, are only too often insufficiently used A number of clubs, "palaces of culture," and "red corners" are not properly taken care of, premises are uncomfortable, the necessary cultural atmosphere is lacking For instance, the "Palace of Culture" of the Union of Southern Railroads, in Kharkov, instead of being a model cultural institution and a favorite place for recreation, is sadly neglected and untidy.

The eighth plenary session reiterated the resolution of the sixth plenary session prohibiting the voting in trade union elections for lists instead of individual candidates It is characteristic of Soviet conditions that the resolutions strongly emphasized the necessity of studying Stalin's report to the Eighteenth Congress of the Communist Party and the *History of the Communist Party of the Soviet Union*[35] as the best method for improving the educational levels of the workers

[34] See above, p 801
[35] See below, p 844

Trade Unions After World War II. World War II had inevitably a profoundly disorganizing effect upon the work of Soviet trade unions and inflicted heavy damages upon their cultural institutions The number of trade union clubs and "palaces of culture" is officially said to have declined from the pre-War figure of 6,000 to 5,000 in 1946, and that of libraries from 15,000 to 3,000 (the disproportion in the ratio of destruction is surprising and inexplicable) War damages were to be fully repaired by the end of the fourth Five-Year Plan Trade union policies and conditions in the trade unions after the War remained—as far as can be judged from the meager information available—as they were before the German invasion The fifteenth plenary session of the Central Council of Trade Unions held in 1946 reiterated the all too familiar thesis that "the principal object of the trade unions is to organize the multi-million masses of workers, technicians and employees for the struggle for the fulfillment and overfulfillment of the plan . . . on the basis of 'Socialist emulation' " This uninspiring program was followed by the customary references to the proposed improvements in the other services administered by the unions That there is room for improvement is indicated by information scattered through the Soviet press For instance on August 7, 1946, three months after the Council's plenary session, the trade union newspaper *Trud* launched a vigorous attack on the conditions prevailing in some of the enterprises in the Don Basin According to *Trud*, wages in these enterprises were never paid on time, and in one instance workers were not paid for six months, bookkeeping and accounting were in a state of lamentable disorder; much waste of time was caused by the failure to supply the workers with proper tools; housing accommodations, both private and those provided by the administration, were so inadequate that workers had to sleep in corridors or were quartered in tents and lodgings lacking in elementary comforts The special correspondent of *Trud* found no trace of educational or cultural work, "not a single library, newspaper or table game in any hostel " Local trade union and Soviet authorities, according to *Trud*, were fully aware of these intolerable conditions but limited themselves to passing lengthy resolutions on which no action was taken The legitimate complaints of the workers were invariably defeated by the "heartless, bureaucratic attitude" of trade union officialdom, an ever-recurrent theme in organized labor's self-criticism It is not suggested that the conditions described in *Trud* are necessarily typical of the USSR, but that such conditions could have arisen at all in important enterprises in a major industrial region is a telling comment on Soviet trade unionism

Reasons for the Apathy of Organized Labor. The avowed apathy of organized labor in the Soviet Union is probably best explained by the subordinate position held by the trade unions among the agencies that share in the administration of industry There are three of them in every industrial enterprise (1) the appointed director who is personally responsible for the conduct of the enterprise, (2) the primary organ of the Communist Party whose duty it is to provide effective leadership in all "social, political, and economic

activities of the enterprise" and to ensure their conformity with the policies of the Party; and (3) the shop or factory committee elected by the workers affiliated with the trade unions.[30] The trade union leaders usually refrain from interfering with the local Communist organizations or with the decisions of the director who is either a Party member or a "non-Party Bolshevik," unless the desirability of criticism is hinted from above. The principal function of organized labor is to drive its members toward higher efficiency, a distasteful task for which, one may surmise, trade unions have as little enthusiasm under Socialism as they do under a system of private enterprise. The rapid increase in the number of industrial workers and the steady influx of men and women to whom the tradition of trade unionism, which has hardly any roots in Russia, is alien are other factors that help to an understanding of the inherent weakness of Soviet labor organizations.

Soviet Trade Unions and the International Labor Movement. The foregoing account indicates that Soviet trade unions have little in common with trade unionism as it is understood in Western Europe and in the United States. For this reason the pre-War International Federation of Trade Unions has repeatedly declined to admit Soviet trade unions to membership. After the German attack on Russia, when a tide of unreasoned emotional admiration for the USSR swept the Western world, Soviet labor organizations succeeded in establishing fraternal relations with the British and French trade unions and the American Congress of Industrial Organizations. At a session of the Anglo-Soviet trade union committee in 1942 the representatives of the Soviet Central Council of Trade Unions proposed the formation of a world-wide federation of trade unions. The proposal was well received, and at an international trade union congress held in London in February, 1945, the World Federation of Trade Unions was born. Its charter was formally approved at an international congress which met in Paris in September of the same year. The International Federation of Trade Unions was disbanded and the trade unions of the USSR, Great Britain, France, and other countries joined the World Federation. The United States was represented by the Congress of Industrial Organizations but the American Federation of Labor refused to be associated with Soviet and other Communist-dominated trade unions. The attempt at integrating Soviet trade unionism in the international labor movement proved short-lived. In 1949, exasperated by obstructive Communist tactics and ceaseless attacks on the Marshall Plan, capitalism, and so on, British trade unions, the Congress of Industrial Organizations, and other non-Communist labor groups withdrew from the World Federation and formed the International Confederation of Free Trade Unions, while the World Federation continued to function under purely Communist leadership. It did not take long for the trade unions of the Western world to learn the lesson that their objectives and methods were incompatible with those of Soviet labor organizations.

[30] Decree of September 5, 1929, reprinted in the collection of labor legislation published in 1938.

CHAPTER VII

THE STATE IN BUSINESS: II

EVOLUTION OF AGRICULTURAL POLICIES

Results of the Agrarian Revolution of 1917–1918. The evolution of Soviet agrarian policy has been relatively simple Private ownership in land was abolished by a decree issued by the Soviet Government immediately after it rose to power Having no agrarian program of their own the Bolsheviks borrowed from the Socialist Revolutionary Party its program of socialization of land This plan was soon to give place to an attempt to apply the rigid centralized control of agriculture inaugurated during the period of War Communism While the latter policy with its ruthless requisitions of grain and exploitation of the peasantry led to violent uprisings, the former achieved its political objectives the large landed estates of the Church and the nobility were divided among the peasants, thus fulfilling the secular dream of the down-trodden Russian farmer The immense driving force of the agrarian revolution had been effectively harnessed in the service of the newly born Socialist State The economic and social aspects of the agrarian revolution were far less satisfactory from the Marxian point of view The majority of the former private landed estates were parceled out among the peasants and were administered by the methods of the antiquated and primitive Russian land commune, or *obshchina* This form of tenure vested control of the land of a village in the general assembly of house elders who divided agricultural land among the households either on the basis of the labor power of the household or on that of the number of people deriving maintenance from it The inherent drawback of this form of tenure is the intermixture of strips [1] which leads to compulsory rotation of crops (usually the primitive free-field system) and makes extremely difficult the adoption of better methods of cultivation The equalitarian principle on which *obshchina* is based requires the periodical redistribution of land among the members of the community and this, again, weakens the

[1] Land being of unequal quality the entire holding of a village was divided into fields and the fields into strips of which each household received its allotted number In certain cases the number of strips farmed by a householder ran as high as 30 or 40

stimulus to take proper care of the land, since there is no assurance that any particular strip will not pass into other hands at the next redistribution. It was toward the abolition of this perverse form of tenure that the land reform of Stolypin was directed [2] By 1920 the old-fashioned communal land tenure was restored in the entire territory of the country. A certain leveling in the size of peasant holdings took place as a result of the revolutionary redistribution of land, and, as a Soviet economist put it, the whole of Russia became "the petty bourgeois realm of small peasants." Under the New Economic Policy the farmers were left more or less alone and were permitted to sell a large portion of their produce in the open market. The Government, true to the Marxian doctrine of class struggle, divided the farmers into "poor" peasants, "medium" peasants, and the *kulaks* [3] or well-to-do peasants The "poor" and the "medium" peasants were regarded as supporters of Socialism, while the *kulaks* were classed among its enemies This distinction, however, did not become of vital importance until the great drive for collectivization in 1929. The rural community being inherently conservative, the more enterprising farmers managed to hold their own and even to improve their economic status so long as they were free to sell much of their produce in the market

Socialist Reconstruction of Farming. The idea of reconstructing agriculture along Socialist lines, however, was never abandoned by the Soviet leaders Beginning in 1918 attempts in this direction were made with the establishment of the *sovkhoz* or State-owned agricultural enterprises, and the organization of the farmers into *kolkhoz* or collective farms, on a cooperative basis Two important advantages are claimed for large-scale Socialist agricultural enterprises. They make possible the use of intensive methods of farming and the employment of improved machinery, such as tractors and combines. They tend to minimize the psychological differences between industrial workers and farmers and especially to reverse the "petty bourgeois" attitude of the latter The failure of the early attempts to establish State and collective farms has since been explained by the lack of the necessary prerequisite—agricultural machines. The policy to be followed toward the farmers was a source of much dissension within the Communist Party in 1924–1928. The first Five-Year Plan provided for a comprehensive program of collectivization which, it will be recalled, was greatly exceeded [4] The very unsatisfactory results of the State grain collection in 1928 probably had something to do with the speeding up of collectivization The *kulaks* were held responsible for the failure of the collection program and they were "liquidated as a class," that is, they were deported to remote regions and put to work in the lumber camps and on the construction projects of the dreaded OGPU. The actual number of the deportees has not been disclosed but it is believed to have been somewhere between

[2] See above, pp 693–694

[3] *Kulak* means "fist" in Russian and was colloquially applied before the revolution to well-to-do peasants who exploited their weaker neighbors A *kulak* was usually the keeper of the village inn and the village money-lender No definition of a *kulak* was provided by Soviet law, except that a farmer employing hired labor must be classed as a *kulak* The village Soviets were given wide powers to determine for themselves who were the *kulaks*.

[4] See above, p 773

four and five millions After application of this coercive measure the collectivization of farming proceeded without much opposition, although not without considerable friction By the end of the second Five-Year Plan almost 100 per cent of the arable land was in the hands of the State farms or collective farms

STATE FARMS

Organization of the State Farms. The *sovkhoz* or State farm is a large State-owned and State-managed agricultural enterprise cultivated by hired labor In establishing State farms the Government had two objects in view (1) to increase agricultural production by using better methods of husbandry and by extending the area under crops; and (2) to create model agricultural centers which would provide the peasant farmers with an object lesson in the advantages of large-scale farming and thus lead them along the path of Socialism The State farms, which specialize in various branches of agriculture and animal husbandry, were in the earlier days fondly spoken of as "grain factories," "meat factories," etc Little progress was made with the organization of State farms until 1928 when a comprehensive and ambitious program for their development was adopted. The Soviet leaders were suffering at the time from what is today scornfully described in the USSR as "gigantomania," that is, the naive belief that the larger the size of an enterprise the greater are its advantages In 1930 the average area of a State grain farm reached the imposing figure of 116,000 hectares [5] The structure of the agencies in charge of the State farms has been altered several times, but since 1936 they have been under the control of the federal People's Commissariat (Ministry) State Farms and of the corresponding People's Commissariat (Ministries) of the constituent republics A State farm is managed by an appointed director clothed with full authority Labor is paid on a piecework basis Each laborer is permitted to keep, as his private property, one cow, one calf or goat, and one pig, but he is specifically debarred from owning draft animals—horses, oxen, camels (decree of September 30, 1938) The decree of February 7, 1937, provided for the establishment on the State farms of a "director's fund" similar to those of the industrial enterprises As in industry the "director's funds" were presumably discontinued during the War but were formally reinstated by a decree of May 10, 1947 The object of the fund is "to strengthen the initiative and responsibility of the directors of the State farms in carrying out production programs, obtaining higher yields of crops and livestock, and reducing costs" The fund retains 5 per cent of the "planned profits" and 50 per cent of profits in excess of those specified in the plan Half of the proceeds of the "director's fund" must be allocated to "expansion of production and construction and renovation of buildings, additional to the capital investments provided by the plan," and the balance to the improvement of "cultural and social amenities" for the staff of the farm and bonuses to individual employees Personal incentive is thus created for the directors and employees to strive for the fulfillment

[5] One hectare = 2 47 acres

of planned assignments, higher efficiency, and lower costs In 1946 and 1947 the proceeds of the "director's fund" were not to exceed 5 per cent of the planned outlay on wages, but the Minister had the power to raise the limit to 10 per cent of the farm's planned expenditure on wages

A Disappointing Experiment. The practical management by the State of huge agricultural enterprises presented difficulties which were both unforeseen and disappointing. The yield of crops on the State farms was consistently below the average for the country as a whole and the mortality among the livestock just as consistently high. There were frequent changes in the higher personnel and labor was in a state of flux Stalin admitted in his speech to the Seventeenth Congress of the Communist Party in 1934 that there was a "great discrepancy" between the results obtained and the vast investment engulfed by the State farms Beginning with 1935 the Government proceeded to disband many of the State farms, transferring the land to the collective farms. The sown area of the State grain farms declined from 16 million hectares, or 12.1 per cent of the total sown area in 1936, to 12 1 million hectares, or 8 9 per cent, in 1938 That is, it was reduced by 25 per cent Another important development was the breaking up of the State farms into smaller units The whole experiment belied expectations and admittedly failed to achieve its objectives.

Relative Unimportance of State Farms. The State farms hold a relatively unimportant place in Soviet agriculture. In 1928 they numbered 1,400 and employed 317,000 people; the corresponding figures were 4,337 and 1.9 million in 1932, and 3,992 and 1 3 million in 1938 The State farms would seem to have retained their subordinate position in the post-War Soviet Union The fourth Five-Year Plan devotes to them one brief uninformative paragraph which sets in most general terms the goals for 1950

COLLECTIVE FARMS AND THE "MODEL CHARTER"

Progress of Collectivization. The *kolkhoz* or collective farm is the prevailing form of agricultural enterprise in the Soviet Union In 1938 the sown area of the collective farms amounted to 99 5 per cent of the total sown area Collectivization, like everything else in the USSR, was carried on at record-breaking speed On July 1, 1927, there were fewer than 15,000 collective farms with a membership constituting less than 1 per cent of the peasant population By April 1, 1936, the number of collective farms had increased to 243,600 and included 89 per cent of the total number of peasant households By the end of 1938, 18 8 million peasant households, or 93 5 per cent of the total number, were members of the collective farms. According to the census of January, 1939, members of collective farms (and their families) numbered 75 6 million, or 44 6 per cent of the total population

What Is a Collective Farm? A collective farm is, in theory, a voluntary cooperative association for the cultivation of land. The legal status and organization of the collective farms and the basic rights and duties of their members

are determined by the "Model Charter" of the Agricultural *Artel*[6] of February 17, 1935, and by Articles 7 and 8 of the Constitution Each collective farm has its own "freely" adopted charter which invariably follows closely the "Model Charter." Although the land occupied by the collective farms is "public Socialist property" the farms have the use of land in perpetuity, that is, forever. This right is confirmed by Article 8 of the Constitution. Land cannot be sold or leased The land, buildings, livestock and implements of a collective farm are divided into two categories Agricultural land, buildings used for communal purposes, agricultural machines and the more important implements, draft animals, and stocks of seeds constitute the "public Socialist property" of the collective farm Members of a collective farm, however, retain under their individual control their homesteads with an adjoining plot the size of which varies from one-quarter to one hectare, small implements, and some livestock (usually one cow, two calves, one or two sows, up to ten sheep or goats, an unlimited number of poultry and rabbits, and up to twenty beehives). These items constitute the individual property of the collective farmer. The distinction between the two kinds of property is sanctioned by Article 7 of the Constitution.

Membership. Membership in a collective farm is open to all citizens, both male and female, who have reached the age of sixteen The descendants of disfranchised persons and *kulaks* and members of their families, who formerly were not eligible, have, since 1936, been permitted to join collective farms, provided they are in good standing with the Government Each member pays an admission fee which varies from 20 to 40 rubles From one-quarter to one-half of the property he brings to the collective farm (animals, implements, buildings, etc)—for he is usually a former local individual farmer—is added to the "indivisible fund" of the farm, while the balance is credited to him as his contribution to the share capital. The property absorbed in the "indivisible fund" is not returned to the member if he leaves the farm

Administration. The administration of a collective farm is based, in theory, on equality and democracy The chief administrative body is the general assembly of the members which elects the president, the executive board, and the control committee The president, who can be and in practice often is an outsider,[7] is the chief executive officer of the farm He is assisted by the executive board of five to nine members (according to the size of the farm) which is elected for two years and must meet at least twice a month The con-

[6] The Law of February 14, 1919, and the Land Code of December 1, 1922, which superseded it, recognized three types of collective farms the commune, the *artel*, and the association for the joint cultivation of land The difference between them is in the degree of collectivism which is strongest in the commune and weakest in the association In 1933, 96 per cent of the collective farms were of the *artel* type which is officially recognized as the most suitable at the present stage of development This study deals exclusively with the farms of the *artel* type

[7] It is customary for the local Communist and Soviet leaders to propose to the general assembly the candidate for the presidency The motion is invariably carried, the candidate—if he is not already a member of the farm—is admitted to membership, and is then duly elected by the general assembly to the presidency

trol committee is required to keep a close check on the financial and economic activities of the executive officers and especially to ensure the fulfillment of the plan and of the obligations of the farm toward the State. In view of the great importance attached to these functions the members of the control committee must be confirmed in office, after election by the general assembly, by the Presidium of the Executive Committee of the local Soviet

Organization of Labor. Cultivation of the collectivized sector of the farm is carried on jointly by the members who are organized into brigades under a brigade leader or brigadier, an official appointed by the executive board of the farm from among the members His appointment should be for a period of not less than two years and he cannot be removed before the expiration of his term except when he has proved unfit for the job. On the grain farms brigades are organized for the full period of the rotation of crops, are supplied with animals and implements, and are put in charge of a definite area of land The brigades, usually forty to sixty strong, are sometimes subdivided into smaller units, the "links" (*zveno*) which have their "link leaders" Brigadiers and link leaders assign their men to various tasks and are responsible for the work of their respective units. The collective farmers are paid in kind and also in money, their earnings being computed on the basis of "labor days" The labor day is an abstract unit which comprises the elements of physical exertion, skill, and the "social usefulness" of the work. The Government issued in 1933 elaborate lists in which various types of agricultural work were evaluated in terms of labor days. A decree of February 28, 1933, divided all types of farm work into seven classes A day's work in the highest class (president of a collective farm, tractor driver) was worth two labor days, while a day's work in the lowest class was counted as only one-half of a labor day. Each collective farm is free to devise its own scale of payments in labor days, but official models are invariably followed. In determining whether a labor day has been actually earned both the quality and the volume of the work must be taken into account There is an elaborate system of bonuses for the brigades, links, and individual laborers who exceed the standard requirement, and of deductions for those who fail The brigadiers and link leaders share in both and have good reasons to drive their men hard and fast The work of each member of a brigade is entered in terms of labor days at least once a week in his personal booklet by the brigadier or the link leader At the end of the year the net earnings of the farm (that is, the residue of the gross revenue after meeting the statutory obligations imposed on the farm by the Charter), both in kind and cash, are distributed to the members on the basis of labor days credited to them. This scheme of organization of labor and distribution of farm income has been in force since the early 1930's but, as will appear later, it has been elaborated upon and made more exacting by subsequent legislation [8]

[8] The organization of labor into brigades is also prevalent on State farms, in industry, trade, banking—indeed, in every field of endeavor where this is deemed feasible Even economists and historians are herded into brigades and toil under the watchful eye of a brigadier

The Kolkhoz Market. A portion of the produce retained by a collective farm after meeting its statutory obligations (to be discussed presently) is sold on the free market which is a major source of *kolkhoz* revenue, and the balance is distributed in kind to the members on the basis of labor days Direct sales of agricultural commodities by collective farms and their members to consumers were formerly prohibited but were legalized by decrees of the Council of People's Commissars and of the Central Committee of the Communist Party of May 6, May 10, and May 20, 1932, which established (or, rather, recognized the existence of) the so-called *kolkhoz* market The dispensation applied to the collective portion of the farm revenue as well as to the produce obtained by the members on the basis of labor days and that of their homestead allotments Prices on the *kolkhoz* market, unlike practically all other prices in the Soviet Union, are not directly regulated by the State, it is the only surviving competitive market of some importance in the USSR. As long as similar commodities are available in State and cooperative shops at fixed prices, disparity between free and controlled prices is not likely to be great In times of shortages, however—during the period of rationing in 1929–1935 and again during World War II—the free *kolkhoz* market prices were many times higher than the controlled prices and became a source of substantial revenue for the farming community According to official computations, 1940 sales on the *kolkhoz* market represented 19 1 per cent of the total commercial turnover

Strictness of Administrative and Judicial Controls The assignment of a collective farmer to any particular kind of work, a matter of the greatest importance from the point of view of his earnings, is entirely in the hands of the administration of the farm Negligence, laxity, or refusal to work brings summary punishment which varies from reprimands, fines, transfers to a lower pay group, or suspension from work to expulsion from the farm. If refusal to work is deemed to have been inspired by counter-revolutionary motives it falls under Article 58 of the Criminal Code In case of conviction the sentence may be anything from six months' imprisonment to death by shooting. Capital punishment was also the highest penalty for collective farmers convicted of crimes against "Socialist property" The death penalty, it will be remembered, was abolished in May, 1947, but was restored in January, 1950, "for traitors to the homeland, spies, and saboteurs" The more serious offenses mentioned above are likely to come within the purview of the January decree, although "confinement in corrective labor camps for twenty-five years," provided in 1947 as the maximum penalty, should be a sufficient deterrent to recalcitrant farmers

MACHINE TRACTOR STATIONS

Mechanization of Agriculture Mechanization of agriculture has always been considered by the Soviet leaders as one of the primary conditions of successful collectivization of farming, even though Stalin in a speech delivered on December 27, 1929, advanced the idea that the mere pooling of rudimentary

peasant implements and draft animals would result in a great increase in productivity and expansion of acreage under crops. In 1927 Soviet agriculture had fewer than 25,000 tractors of which 37 per cent were owned by the collective farms, 19 per cent by the State farms, 26 per cent by individual farmers, and 18 per cent by agricultural cooperative associations All tractors were of foreign make, the majority manufactured in the United States. In 1938 the number of tractors had increased to 483,500, while the number of combines increased from 25,000 in 1933 to 153,500 in 1938. Much of this equipment was destroyed during the German invasion The fourth Five-Year Plan provided for a minimum of 325,000 tractors and other agricultural machines to be built in 1946–1950 at a cost of 4.5 billion rubles (in prices of 1926–1927). The Soviet Union, moreover, no longer buys her agricultural machines abroad, they are all produced in Russian factories

Functions of the Machine Tractor Stations. Since 1930 the ownership of tractors, combines, and other large agricultural machinery has been concentrated in the hands of the State and in the late 1930's practically all of them belonged either to State farms or to the machine tractor stations (MTS), the latter having by far the larger share The machine tractor stations are the most important government agency for the control and direction of collective farms. Each station is headed by a director who has two groups of assistants: (1) engineers, mechanics, and agronomists whose duty it is to look after the mechanical equipment of the station, to assist the officials of the collective farms in drawing production plans, to carry out on the fields of the collective farms the work provided by the contracts entered into by the station and the farms, and to ensure the fulfillment and overfulfillment of the planned assignments of the farms which are serviced by the station; and (2) political officers who are the Party's "eye, ear, and arm" and concern themselves with the political education of the farming population and with the elimination of the enemies of collectivization and of the regime Early in 1933, when mass collectivization was still a novel phenomenon and opposition to it was strong, the political function was entrusted to specially organized "political sections" of the machine tractor stations, but these were disbanded at the end of 1934 and their duties were taken over by a new official—the assistant director of the station in charge of political work who is subordinated directly to the local agency of the Communist Party It is the intention of the Soviet Government that every collective farm shall be served by a machine tractor station The number of stations jumped from 158 in 1930 to 6,350 in 1938 The third Five-Year Plan appropriated 5 2 billion rubles for the development of the network of the machine tractor stations Nearly 3,000 stations were destroyed during the German invasion but, according to official reports, all resumed operation after the German retreat, even before the end of the War. The fourth Five-Year Plan provided for the establishment of 950 new stations by the end of 1950

Their Relations with the Collective Farms. The collective farms are under obligation to avail themselves of the services of the machine tractor

stations. They enter with the local station into contracts the terms of which are regulated by law, and, in return for the work done by the station, surrender to it a specified portion of their agricultural produce and also make payments in cash

Their Financial Status. Until 1938 the machine tractor stations appear to have enjoyed a degree of financial autonomy within the framework of the plan The decree of February 5, 1938, however, declared that their financial organization had been defective, had resulted in the "freezing" of State funds, and had encouraged squandering and laxity From January 1, 1938, the stations have been financed exclusively from budget appropriations The payments (both in kind and in cash) received by the stations from the collective farms are handed over to the Government [n] For the timely collection of these payments the director of the farm is held personally responsible The decree of February 5, 1938 (supplemented by the decrees of January 13, 1939, March 8, 1940, and May 9, 1942) established a complex system of bonuses for the stations' employees as rewards for efficiency, fulfillment and overfulfillment of the plan, and reduction of costs A further step in the same direction was the creation at the machine tractor stations of "director's funds" (decree of September 29, 1947) similar to, but even more difficult to administer than, the "director's funds" of industrial enterprises and State farms Bonuses paid to an employee of the station in the course of a year should not exceed his average earnings over a period of two months

TAXATION OF AGRICULTURE

Compulsory Deliveries in Kind. Farmers pay a variety of levies and taxes which provide the bulk of Soviet revenue One of them, payment in kind for the services of the machine tractor stations, has been noted above The most important and onerous levy, however, is the obligation to surrender a portion of agricultural produce to the State at prices far below those paid by the consumers Until 1933 the amount of agricultural commodities to be delivered was determined by "contracts" between the farmers and the State (the so-called "centralized purchases") The volume of obligatory sales and the price being fixed by the Government, the transaction amounted to requisition and destroyed incentive to higher production By a decree of January 13, 1933, this method was superseded by a levy which took the form of a specified amount of grain (potatoes, sunflower seed) per hectare of the sown area, or of a specified amount of meat, wool, and dairy products per head of cattle, sheep, camels, and hogs The new method had the advantage of fixing in ad-

[n] In his report to the Supreme Soviet on August 10, 1938, the People's Commissar for Finance, Zverev, stated that "the absence of [financial] control had as its consequence heavy losses suffered in 1937 by the machine tractor stations and the State farms" In his report to the same body on May 25, 1939, Zverev again deplored the inefficiency of the leaders of the machine tractor stations Their laxity, according to the Commissar for Finance, necessitated in 1938 outlays in excess of budgetary appropriations running into several hundred million rubles It was announced, nevertheless, that the machine tractor stations contributed 1 4 billion rubles to the State budget in 1938, and the anticipated receipts from this source were put at 2 3 billion rubles in 1939 and 2.6 billion rubles in 1940.

vance the obligations of the farmers, thus giving them the incentive to produce more since they were permitted to dispose of the balance of their produce at far more remunerative prices than those paid for compulsory deliveries.[10] Compulsory deliveries applied to grain, sunflower, potatoes, meat, milk, and wool The "centralized purchases" or "contract" method was retained for the so-called "technical crops"—cotton, flax, hemp, sugar beet, tobacco, and so on. Under this arrangement the entire produce of the acreage contracted for by the State is surrendered to the Government at low fixed prices Compulsory deliveries and "centralized purchases" are a primary charge on the produce of a collective farm, failure to make the deliveries on the prescribed date is a criminal offense for which the administration of the collective farm bears the responsibility Commodities of the same kind as those subject to compulsory deliveries and "centralized purchases" are also sold to State and cooperative purchasing agencies under a program of the so-called "decentralized purchases." "Decentralized purchase" prices are higher than compulsory delivery and "centralized purchase" prices but lower than retail and *kolkhoz* market prices. In theory "decentralized purchases" are the result of voluntary agreements between the collective farms and the purchasing agencies However, since the plan determines in advance the volume of "decentralized purchases" and each region and collective farm is allocated a quota thereof, the "voluntary" character of these transactions is obviously fictitious Experience was soon to show that the 1933 rules governing compulsory deliveries were a serious obstacle to the progress of Soviet agriculture The basis of assessment was accordingly revised in 1940.

Fiscal Burden of the Farmers. The actual burden imposed upon the farmers by the deliveries in kind will be gathered from the fact already mentioned that in 1937 the revenue of the Committee (now Ministry) of Agricultural Stocks, which is the purchasing agency, was 24 1 billion rubles, while another 20 4 billion rubles were earned by the People's Commissariat of Food Industry, that is, 46 per cent of the total State revenue came from these two sources The bulk of the deliveries in kind was supplied by the collective farms and their members The provision of Article 8 of the Constitution that collective farms shall enjoy the use of their land "without payment" is, therefore, only formally true officially they pay no rent, but for all practical purposes compulsory deliveries at nominal prices are equivalent to rent, a rent that is much higher than anything known in the capitalist countries. It is only fair to add that the financial sacrifices made by the farmers do not contribute to the revenue of capitalist landowners, but are invested in the vast program of economic development sponsored by the State

Other Taxes. In addition to the deliveries in kind the farmers pay several taxes in money The more important among them are the agricultural tax, the tax on the housing and cultural development in rural areas, and the in-

[10] Compulsory delivery prices receive little publicity and none have appeared in print for a number of years In 1932 *kolkhoz* market prices were twenty (beef), thirty (oats), and even ninety (wheat and wheat flour, which are not strictly comparable) times as high as those paid for compulsory deliveries Alexander Baykov, *op cit.*, pp 241 note, and 244 note

come tax on collective farms The yield of these taxes is relatively small but their rates in some instances are stiff Taxation in all its forms is blatantly discriminatory and is used as a method of fostering collectivization The tax burden of individual farmers has been consistently heavier than that of the collective farmers, and in the case of the *kulaks* it has been definitely confiscatory [11]

COLLECTIVE FARMS, 1938–1942

Difficulties of Collectivization. In view of the profound changes wrought by collectivization in the ways of life and customs of the Russian village, the conservative instincts of the farming community, the arbitrary and dictatorial nature of the regime established by the "Model Charter," the uncertainty of the advantages it conferred upon the peasantry, and the novelty and magnitude of the experiment, it would be unreasonable to expect that opposition to collectivization would end with the "liquidation of the *kulaks* as a class" in the early 1930's and that new and unforeseen difficulties would not arise Tangible evidence of the attitude of the peasantry was provided by the wholesale slaughter of domestic animals by prospective farmers, prior to joining a collective farm The consequences of the depletion of the herd were of utmost gravity to Russian agriculture [12] In spite of the vast expenditure on mechanization there was no immediate and striking increase in the yield of crops [13] Stalin admitted in his address before the Seventeenth Congress of the Communist Party in 1934 that tractors and combines had been hopelessly mishandled, but this was ascribed to failures to carry out official policies

[11] The Law of August 21, 1938, may serve as an illustration It provided for a tax on horses owned by the individual farmers The rate of the tax varies, according to the locality, from 275 rubles to 500 rubles on the first horse, and from 450 to 800 rubles each on all other horses The payment of the tax was due on October 15, 1938, and every individual farmer who owned a horse on August 21 was liable to the tax even if he had disposed of his horse at once But if he joined a collective farm before October 15 the payment was waived The reasons for this characteristic piece of legislation, according to the preamble to the law, were the complaints of unnamed collective farmers that individual farmers used their horses for "speculative purposes" The explanation may not seem convincing yet the tax largely achieved its object The number of "horses and households" liable to the tax declined from 356,600 in 1938 to 89,500 in 1940, that is, by about three quarters Curiously the yield of the tax (including "fines and overpayment," whatever this may mean) during the same period was merely halved (109 7 million rubles in 1938 and 54 5 million in 1940) [K N Plotnikov, *Budzhet sotsialistcheskago gosudarstva* (*Budget of the Socialist State*), Moscow, 1948, p 190] How individual farmers can survive at all is truly a mystery

[12] The effects upon the livestock of the drive for collectivization which started in 1929 and the degree of recovery achieved by 1938 will appear from the following official figures

	1916	*1928*	*1933*	*1938*
		(IN MILLIONS)		
Horses	35 8	33 5	16 6	17 5
Long-horned cattle	60 6	70 5	38 4	63 2
Sheep and goats	121.2	146 7	50 2	102 5
Pigs	20.9	26 0	12.1	30 6

[13] Stalin stated in his report to the Eighteenth Congress of the Communist Party that the total yield of grain in 1938 was 118 6 per cent of the yield in 1913, while the area under grain increased in 1938 to 108 5 per cent of the 1913 figure The improvement in the yield of grain crops therefore was anything but striking and the advantages claimed for the collective farms remain to be proved It must also be remembered that the size of the population has increased since 1913

Soviet pronouncements proclaim that collectivization is an unqualified success and that the Russian farming community is the most prosperous, carefree, and democratic in the world Documents emanating from the Communist Party and the Moscow Government, however, tell a different story.

Official Criticism, 1938. On April 19, 1938, the Council of People's Commissars and the Central Committee of the Communist Party issued jointly a decree which disclosed an amazing picture of the conditions prevailing on the collective farms The "Model Charter" specifically provided that no member of a collective farm could be expelled except by a decision of the general assembly attended by at least two-thirds of the members The decree pointed out that this rule had been frequently disregarded. Members had been expelled in large numbers and for no good reason

> Practice has proved that the executive boards and the presidents of the collective farms . are the chief perpetrators of illegal actions. . . The leading county (*raion*) Party and Soviet officials . display a heartless bureaucratic attitude toward the fate of the collective farmers, ignore the appeals of those who were illegally expelled, take no measures against officials guilty of violating the rights of the collective farmers. . Even more, these higher Party and Soviet officials themselves push the presidents and the executive boards of the collective farms into the road of illegal expulsion of the members under the banner of cleansing the collective farms of socially-alien and class-inimical elements

The decree rightly stated that such policies "foster discontent and bitterness among the expelled farmers, and make the members uncertain of their position on the farm " The decree also provided that the regulations of the "Model Charter" must be observed, that members must not be expelled for minor offenses, and it made the infringement of this rule a criminal offense Subsequent developments indicate that this and similar measures had little success in curbing the zeal of local bosses and in restoring the shattered morale of the collective farmers The amendment of the Communist Party charter which was adopted in 1939 extended the authority of the primary party organs and of the Organization of Communist Youth in the administration of the collective farms. There are good reasons to believe that this provision merely aggravated the conditions that the decree of April 19, 1938, so rightly deplored

Official Criticism, 1939 Another and perhaps even more important aspect of the situation was discussed in a revealing decree, "On Measures for the Protection from Spoliation (*razbazarivanie*) of the Publicly-Controlled Land of the Collective Farms," issued jointly by the Council of People's Commissars and the Central Committee of the Communist Party on May 27, 1939 According to the decree, collective farmers had frequently expanded their individual allotments far in excess of the norms stipulated by the "Model Charter" (see above, p 817).

"As a result of this practice directed against the collective farms and the State," said the decree, "the interests of the communal economy of the collective farms based on joint cultivation of land are being sacrificed to the interests of the property-minded, anti-social (*rvachi*) elements who use collective farms for speculation and personal enrichment." The decree com-

plained that in a number of collective farms the individual allotments of the members had become for all practical purposes their private property over which the administration of the farm exercised no control Abuses were facilitated by the hopeless state of confusion and disorder prevailing on such farms. parcels of land under individual and collective management were frequently intermixed; there were no clear boundaries, no proper supervision and registration "The homestead allotments," according to the decree, "thus lose their subsidiary character and occasionally prove to be the chief source of revenue of the collective farmers The collective farms therefore have a fairly considerable number of fictitious members who do not participate in the collective work of the farm, or only pretend to participate in it, but who actually devote most of their time to their individual allotments" These conditions, the decree maintained, "inevitably slow down the increase in the productivity of labor on the collectivized section of the farm, disorganize the honest collective farmers, and thus obstruct the further growth of the farms' revenue and the improvement in the standard of living" The responsibility for the violation of the provisions of the "Model Charter," according to the decree, rests largely with the local Soviet and Party officials

Compulsory Labor Days The decree provided a long list of measures designed to bring to an end the illegal practices Allotments in excess of the norms established by the "Model Charter" were to be returned to the collective farms by November 15, 1939 Responsible local officials were to be removed from office, expelled from the Party and committed for trial. While the annual earnings of the large majority of the collective farmers, according to the decree, were from 200 to 600 labor days, in a number of cases the figure was as low as 20 or 30 labor days The decree "advised" the collective farms to adopt the rule that every able-bodied member who had earned less than a definite number of labor days per year (the figure suggested varied from 60 to 100 according to the locality) should be expelled

The introduction of compulsory labor days (for the "advice" of the Communist Party and the Government is, *de factor*, mandatory) revolutionized the theory, although not necessarily the practice, of the organization of labor on the collecitve farms The fiction, which heretofore had been studiously maintained, of voluntary participation of the members in communal work was dropped and work on the socialized sector of the farm became a legal obligation enforceable by severe penalties Compulsory labor days, however, were not introduced at once in all collective farms and compliance with the decree of May, 1939, was fostered by linking the farmers' earnings with the minimum requirement of labor days In February, 1940, the yearly minimum of 60 labor days was made obligatory for the collective farmers of the Uzbek Soviet Socialist Republic, except on cotton- and tobacco-growing farms [14] In May of that year the requirement (100, 80, and 60 labor days, according

[14] Decree of the Central Committee of the Communist Party and of the Council of People's Commissars of the USSR of February 21, 1940, confirming the joint decision of the corresponding bodies in the Uzbek Republic,

to the locality) was extended to the collective farms engaged in fishing (co-operative associations of fishermen are rated as collective farms) [15] A decree of December, 1940, established a new scale of bonuses in kind but stipulated that it should apply only to those collective farmers who had earned, between March 1 and November 10, a minimum of 120 labor days on farms growing sugar beet, flax, hemp, and cotton, and a minimum of 100 labor days on all other farms For collective farmers enrolled in cattle-breeding brigades the minimum required to qualify for bonuses was 220 labor days per annum [16] By a decree of April 13, 1942, the yearly number of obligatory labor days was raised to 150 for the cotton-growing farms and to 120 for all other farms, except those situated in regions listed in the decree where the minimum requirement was set at 100 labor days A specified number of labor days must be earned by prescribed dates (prior to May 15, May 15 to September 1, and so on, the dates varying according to locality and the type of the farm) Members aged twelve to sixteen of the families of collective farmers are requested to work at least 50 labor days per annum The administration of the collective farm was to provide these juvenile workers with labor booklets and to keep a separate record of their performance Failure by able-bodied farmers to meet the labor day quota is an offense which is tried by People's Courts and is punishable by "corrective labor" for a term of no more than six months Sentences are served on collective farms which withhold 25 per cent of the earnings of the convicted persons The decree "invited" the collective farms to adopt the rule that their members, both male and female, who had not fulfilled the required minimum of labor days during the year should be expelled and deprived of their homestead allotments, that is, the imposition of the maximum penalty within the power of the general assembly.[17]

Revised Basis for Assessment of Compulsory Deliveries The tightening of the screw of administrative control and direction so typical of the mechanics of Soviet democracy made itself felt in still another area of vital interest to the farming community A joint resolution of the Central Committee of the Communist Party and of the Council of People's Commissars, undated but released to the press on April 8, 1940, proclaimed that the existing system of compulsory deliveries based on planned sowings and the size of the herd worked against the expansion of the cultivated area and the progress of animal husbandry, and was inimical to the interests of diligent farmers who were compelled to supply a disproportionally large share of the commodities levied by the State, it had therefore outlived its usefulness and was to be discarded. Beginning with 1940, quotas of compulsory deliveries were to be determined by the aggregate acreage of arable land held by agricultural enterprises. The

[15] Decree of the Council of People's Commissars of May 16, 1940

[16] Decree of the Central Committee of the Communist Party and of the Council of People's Commissars of December 31, 1940 Collective farmers who had failed to earn the full number of labor days stipulated in the decree but had to their credit a smaller number of labor days not below a specified limit (90, 75, and 170, respectively, for the three groups of collective farmers mentioned above) were eligible for bonuses of half the full amount

[17] Decree of the Central Committee of the Communist Party and of the Council of People's Commissars of April 13, 1942,

Government sets the amount of each commodity to be levied per hectare of arable land, the actual assessment is computed by multiplying this figure by the acreage of arable land held by collective farms, their members (homestead allotments), and individual farmers[18] The new method of assessment applied to grain, rice, potatoes, vegetables (cabbage, beets, carrots, onions, cucumbers, and tomatoes), oleiferous seed, grass seed, hay, milk, hides, skins, eggs, and meat[19] The resolution of April, 1940, was implemented by several decrees issued in 1940 and 1941 Under this legislation the assessment of individual farmers is higher than that of collective farmers, and in most cases the assessment of collective farms not serviced by the machine tractor stations is 15 per cent higher than that of the farms which avail themselves of the services of the stations Local authorities were given certain leeway in determining the quotas of agricultural enterprises, provided the aggregate amount of deliveries for the territorial subdivision was not diminished The revision of the method of assessment pursued two distinct yet closely interrelated purposes (1) to secure the agricultural commodities needed by the State, and (2) to force the farmers to expand their acreage under crops, to diversify the rotation of crops (even though substitution of one agricultural commodity for another was allowed at fixed ratios), and to increase the size of the herd

Incentives. The success of the intensification of Government intervention in the affairs of the collective farms depended on the ability to secure a degree of cooperation on the part of the collective farmers and, especially, on the part of the *kolkhoz* administration whose unenviable duty it is to enforce the rules devised by the Kremlin We know already that in 1939 both were notoriously wanting (see above, p 824) Ingenious regulations designed to give to the rank and file of the collective farmers and to farm officials—presidents, brigadiers, and link leaders—an immediate and tangible interest in the execution of official policies were enacted and received resounding publicity The principles of this legislation are simple and familiar elimination of *obezlichka* (work that cannot be traced to its performer) and *uravnilovka* (equality of remuneration), or, in less picturesque and more concrete terms, the implementation of the dictum laid down in Article 12 of the Constitution: "to each according to his work" But if the principles are trite and simple the adminis-

[18] According to the official definition "arable land" includes ploughland, vegetable gardens, and, in some instances, orchards, meadows, pastures, and wasteland scheduled for improvement under the plan

[19] A similar regime was applied earlier to wool under the terms of a decree issued by the Central Committee of the Communist Party and the Council of People's Commissars on January 30, 1940 Another decree of the Party and the Council of People's Commissars of April 4, 1942, extended compulsory deliveries to tobacco (which was formerly collected under the program of "centralized purchases", see above, p 822) but the method of assessment adopted was different from that used for other agricultural commodities The decree of April 4 set the quotas of tobacco to be delivered by the tobacco-growing republics and regions of the Union, these quotas were reapportioned by local authorities among the smaller administrative subdivisions, and finally among the collective farms, collective farmers (homestead allotments), and individual farmers Overfulfillment of the quota by 10 per cent brought a price increase of 50 per cent for the total amount delivered, and overfulfillment by 25 per cent a price increase of 200 per cent

trative and regulatory policies built round them are not, as will appear even from a cursory summary of pertinent legislation

Earnings Linked to Productivity. The earliest and most important enactment in this field is the decree "On Additional Remuneration of Labor of Collective Farmers for Increasing the Yield of Crops and Animal Husbandry" of December 31, 1940, issued by the Council of People's Commissars and the Central Committee of the Communist Party.[20] The decree noted that while some of the brigades and links had achieved a high level of production the record of many others working under similar conditions remained unsatisfactory The chief reason for the unevenness of the performance, according to the decree, was the unsound method of remuneration based exclusively on the number of labor days earned by each farmer, without taking into account the quality of the work and the results achieved.[21] The decree directed that beginning in 1941 collective farmers who had exceeded the standard norm of production should either retain a specified share (one-fifth for vegetable, one-fourth for grain, one-third for sunflower) of the produce in excess of the norm, or receive a cash bonus computed as percentage of the value of the produce in excess of the norm (cotton, sugar beet) A similar principle applied to workers engaged in animal husbandry For instance, a milkmaid, if she exceeds the assignment, receives 15 per cent of the "surplus" milk, and a farmer in charge of rabbit hutches receives 25 per cent of the animals six months old bred in excess of the norm. The decree seemingly overlooked no commodity produced on a farm Its provisions applied to the staple crops and the main produce of animal husbandry as well as to chickens, geese, turkeys, down, honey, and wax The foregoing bonuses in kind and cash payments are in addition to the earnings of the collective farmers on the basis of labor days The share of each in "additional" payments is equal to his share in the aggregate number of labor days earned by the link or the brigade The decree emphasized the importance of subdividing the brigades into links, a practice that appeared to have been neglected on many collective farms The link leader received a monthly bonus of 2 to 3 per cent of the number of labor days earned by his link, and the brigadier a bonus equivalent to one and a half times the average "additional" earnings of the members of his brigade The emoluments of *kolkhoz* presidents (including both the labor day allowance and the cash payment) are increased, roughly, in proportion to the overfulfillment of the plan If overfulfillment is less than 11 per cent, the earn-

[20] The decree of December 31, 1940, applied to Ukraine but its provisions were extended, with some minor modifications, to the other parts of the Union by decrees issued by the Government and the Party on January 31 and February 15 (three decrees under that date), 1941, and May 9, 1942 This last decree dealt specifically with "additional remuneration" of the employees of the machine tractor stations and of the collective farmers assisting them

[21] The decree quotes the following example On the collective farm "*Vtoraia Piatiletka*" ("The Second Five-Year Plan") the link led by S. Voitiuk harvested 136 centners (one centner = 220 lbs) per hectare and earned 370 labor days On a similar acreage (2 5 hectares) the link led by A Skrypnik harvested 211 5 centners per hectare and earned 350 labor days Because of the equal distribution of the produce per labor day the earnings of the Skrypnik link which had raised 56 per cent more sugar beet per hectare than the Voitiuk link were actually smaller than those of the latter

ings of the president are increased by 15 per cent, if overfulfillment is 11 to 25 per cent, by 25 per cent, if overfulfillment is over 25 per cent, by 40 per cent. The percentage of fulfillment, and the consequent increase in the president's emolument, are computed separately for (1) grain crops, (2) "technical crops" and vegetables, and (3) animal husbandry It would seem therefore that if there is a 25 per cent overfulfillment in each of these three groups of commodities, the bonus of the president amounts to 120 per cent of his basic earnings

Emoluments of Kolkhoz Presidents. The Government took particular care to improve the financial status of *kolkhoz* presidents In addition to the bonuses just mentioned they receive regular monthly emoluments of two kinds (1) an allowance of labor days which varies, according to the size of the sown area of the farm, from forty-five labor days if the sown area is less than 100 hectares, to ninety labor days if it is over 1,500 hectares; and (2) a cash payment which varies, according to the gross receipts of the farm, from 25 rubles if the receipts are less than 10,000 rubles, to 400 rubles if they exceed 1,000,000 rubles The monthly labor day allowance increases with the length of service on the same farm, a provision designed to discourage the turnover or so-called "fluidity" of farm presidents which has been extraordinarily great The increase is 5 per cent after two years of service, 10 per cent after three years; and 15 per cent after five years [24] The regulations just described added greatly to the status of *kolkhoz* presidents Their emoluments, especially on the larger farms, are far above the earnings of the rank and file of the collective farmers The position of *kolkhoz* presidents is comparable to that of the better-paid Government officials, and they should be regarded as representatives of the State rather than of farmers who obediently elect them to office.

A Tentative Appraisal. The complexities of *kolkhoz* administration were greatly increased by the legislation of the late 1930's and early 1940's The maze of minute rules aimed at keeping track of the yield of every few hectares under staple crops, of every patch of onions, cabbage, and cucumbers, of every steer, cow, sow, barn-yard fowl, rabbit, and beehive, and at rewarding every ploughman, gardener, shepherd, and milkmaid, as well as their betters —link leaders, brigadiers, *kolkhoz* presidents, tractor drivers, and other officials of the machine tractor stations—strictly in accordance with the results obtained would have taxed the resourcefulness and endurance of expert agronomists and statisticians Link leaders and brigadiers, fountains of the basic data, are not, however, trained specialists Bookkeepers and accountants, who are deservedly among the highest paid officials of the collective farms, toil hurriedly to meet immutable deadlines over the mass of imperfect data that pour incessantly into their dingy offices Official optimism to the contrary

[24] The rules governing the emoluments of *kolkhoz* presidents were first introduced in the eastern regions by a decree of the Council of People's Commissars and the Central Committee of the Communist Party of April 21, 1940, but were extended to the other parts of the Union by similar decrees of July 26, August 24, September 11, October 4, November 4, December 20, and December 31, 1940

notwithstanding, it is doubtful whether the objectives of the regulations have been attained, or indeed, whether they are attainable within the foreseeable future It is certain, however, that the whole system invites evasion, malfeasance, and favoritism and generates innumerable grievances, real and imaginary Scattered official reports of a factual nature (as distinct from equally official propaganda statements) offer little ground for optimism, but they throw some light on the actual conditions in the countryside It was officially stated that in 1940 only one-seventh (and in one instance—that of the Tartar Autonomous Soviet Socialist Republic—only 4 per cent) of rural homesteads, including those of the collective farmers, had orchards [23] In August, 1940, the Government and the Party sternly "warned Party, Soviet, and agricultural organs of the inadmissibility of repeating last year's mistakes when in a number of republics, regions, and districts, because of the careless attitude of the leaders of local organization, harvesting was unduly prolonged and resulted in heavy losses." Preliminary reports indicate, according to the statement, that the 1939 mistakes were being repeated in a number of regions In several regions enumerated in the statement "many Party and Soviet leaders found themselves [in 1939] prisoners of the anti-State tendencies of separate collective farms and collective farmers, with the result that the plan of compulsory deliveries of grain was underfulfilled and there were large arrears on account of compulsory deliveries and payments in kind for the work done [by the machine tractor stations]." [24] This statement was repeated almost verbatim in 1942, nearly two years after the supposedly remedial legislation outlined above had been enacted The Government and the Party again "warned Soviet and Party organizations of the inadmissibility of repeating last year's mistakes when in a number of districts, regions, and republics, as a consequence of inadequate preparation, harvesting was unduly prolonged which led to serious losses, the nonobservance of dates established by law for deliveries, and the worsening of the quality of the grain delivered to the collecting agencies" [25] This pathetic appeal, accompanied by the usual crop of promises of bonuses and threats of penalties, was issued at the time when the Soviet Union was engaged in a life-and-death struggle with the invading German troops It is not, perhaps, unreasonable to conclude that the legislation of the late 1930's and the early 1940's not only failed to improve conditions on the collective farms but probably made them worse.

FARM LEGISLATION AFTER WORLD WAR II

The Ravages of War The eastward sweep of German armies over more than one thousand miles of the fertile south-Russian plains, the stubborn resistance of Soviet troops, and the "scorched earth" policy proclaimed by Stalin

[23] Decree of the Council of People's Commissars and of the Central Committee of the Communist Party of February 21, 1940

[24] Resolution of the Council of People's Commissars and of the Central Committee of the Communist Party, undated but released to the press on August 1, 1940

[25] Resolution of the Council of People's Commissars and of the Central Committee of the Communist Party of July 11, 1942

inflicted frightful losses on Soviet agriculture Some 70,000 villages, 98,000 collective farms (roughly two-fifths of the total number), nearly 1,900 State farms (about half of the total), and 2,900 machine tractor stations (slightly less than half of the total) were burned or destroyed The invaded territory comprised 71 million hectares under crops and was the chief producer of sugar beet and sunflower, the principal oleiferous plant The official claim that 85,000 collective farms, 1,800 State farms, and some 3,000 motor tractor stations were restored and resumed operation before the War was over is not easily reconcilable with the equally official statements that the Germans destroyed or removed 7 million horses, 17 million heads of cattle, 20 million hogs, 27 million sheep and goats, 110 million fowl, 137,000 tractors, 49,000 combines, and a vast amount of other agricultural machinery These staggering losses could hardly have been made good, even in part, within a few months, especially since both manpower and industrial capacity were still being diverted to the gigantic war effort Agricultural enterprises in the devastated regions in 1945 were surely no more than a mere shadow of their former not too vigorous self

The Drought of 1946. The plight of farming was aggravated by the drought of 1946, said to be the most severe and widespread since 1891, the year of the great famine, and much worse than the drought of 1921, when the American Relief Mission headed by Herbert Hoover saved so many Russians from starvation

Official Criticism of Collective Farms, 1946. Soviet agrarian policy was an element in the dire predicament of the farming community The War revealed that after nearly two decades of collectivization the peasants were longing to escape the strait-jacket of the *kolkhoz,* and that Party and Soviet officials were unwilling or unable to control the situation A decree of the Council of Ministers and of the Central Committee of the Communist Party of September 19, 1946, stated that "information covering a number of regions" had disclosed "serious violations" of the "Model Charter " Illicit practices were listed under three main headings: wrongful allocation of labor days, spoliation of the publicly controlled land of the farm and other *kolkhoz* property, and disregard for the rules of *kolkhoz* democracy The irregular allocation of labor days caused an inflated administrative personnel harboring numerous antisocial elements (*rvachi*) and idlers (*darmoedy*) who lived in ease at the expense of genuine collective farmers, with the result that on many farms there developed an acute shortage of labor for work in the fields. Disregard for the rules of the "Model Charter" has produced a situation where some of the collective farmers receive far more than their legitimate share of the revenue of the farm, while others get considerably less In numerous cases farm revenue is distributed by presidents irrespective of the labor day earnings of the members. Collective farms are frequently compelled by local authorities to provide for officials unconnected with the farm and to render services which are not a part of their lawful obligations (deliveries of fire wood and building materials, construction work, haulage, and so on)

Many farms have on their payrolls barbers, shoemakers, tailors, and other artisans who cater to the private needs of the members and should be paid by them This wastage of labor days, according to the decree, "leads to the depreciation of the labor day, depletes the revenue distributed on the basis of labor days, and therefore weakens the interest of the farmers in collective endeavor" The decree complained that the warning sounded by the Government and the Party in May, 1939 (see above, p. 824), went unheeded and that "spoliation of the publicly controlled land of the farms has assumed the character of a mass phenomenon" It complained further of two more abuses: (1) enlargement of homestead allotments either by direct seizure of land by the members or by unlawful grants made by *kolkhoz* presidents and executive boards, and (2) appropriation of *kolkhoz* land, with the connivance of *kolkhoz* administration and local Soviet authorities, by local Soviets, government agricultural agencies, and "various organizations and persons" under the guise of creating "subsidiary farms" (*podsobnoe khoziastvo*) and vegetable gardens for workers and employees who are not collective farmers.[20] Other *kolkhoz* properties (cattle, grain, seed, fodder, meat, milk, butter, honey, vegetables, fruit) were disposed of in contravention of the rules "Some Party and Soviet officials and officers of government agricultural agencies," according to the decree, "instead of protecting the publicly owned properties, that foundation of the *kolkhoz* order, flagrantly violate Soviet laws and, abusing their official position, unlawfully dispose of *kolkhoz* property and revenue, both in kind and cash, by forcing the presidents and executive boards of the collective farms to supply them, freely or at nominal prices, with articles of equipment, cattle, and produce belonging to the farms." The decree held that these abuses undermined the morale of *kolkhoz* leaders and encouraged them to tread the path of wrongdoing Official agencies, moreover, neglected to pay the collective farms for goods delivered and services rendered, thus depriving them of legitimate revenue *Kolkhoz* democracy fared no better than *kolkhoz* finance. On many collective farms, according to the decree, general assemblies were not convoked, members were denied participation in the affairs of the farm which were administered exclusively by the executive boards or the presidents Elections of officials were no longer held and the tenure of those in office was extended beyond the prescribed term. "The situation has reached such extremes," said the decree, "that *kolkhoz* presidents are appointed and dismissed by Party and Soviet organs without even notifying the collective farms"

Its Effects. The decree ordered the elimination of abuses and strict adherence to the "Model Charter" Land of which the collective farms were unlawfully deprived was to be restored to them by November 15, 1946; general assemblies were to meet and election of officials to be held not later

[20] This practice was encouraged during the War by authorizing local authorities to grant permission to "industrial enterprises, agencies, organizations, and army units" to cultivate the waste land of the collective farms (Decree of the Council of People's Commissars and of the Central Committee of the Communist Party of April 7, 1942, revoked by the decree of September 19, 1946)

than February 15, 1947; spoliators of *kolkhoz* property and those responsible for other abuses were to be tried as "lawbreakers and enemies of collectivization", finally, the decree provided for a Council on the Affairs of the Collective Farms, a new supervisory agency attached to the Council of Ministers[27] There followed a brisk and searching investigation of the collective farms. By January 1, 1947, 140,000 head of cattle, 15 million rubles in cash, and 4 7 million hectares of land (including 521,000 hectares improperly acquired by *kolkhoz* members) were restored to the collective farms Four hundred and fifty-six thousand "superfluous" *kolkhoz* officials and 182,000 persons unconnected with the farms were removed from *kolkhoz* payrolls Those guilty of abuses were dismissed, tried, and given appropriate punishments Their number has not been disclosed but, judging by the magnitude of the figures just quoted, the 1946 campaign for the restoration of the true principles of collectivization amounted to a major purge

Farm Legislation, 1947. In February, 1947, a plenary session of the Central Committee of the Communist Party examined the agricultural situation and adopted a lengthy resolution "On Measures for the Advancement of Agriculture in the Postwar Period." The resolution revised upwards the production goals set by the fourth Five-Year Plan, outlined various measures of farm relief, and dealt with the perennial question of incentives and labor organization on the collective farms The latter part of the resolution was implemented by a decree of the Council of Ministers issued shortly after the plenary session[28] Acclaimed by Soviet leaders and the press as a major landmark on the road toward Communism, the farm legislation of 1947 strikes an outside observer as singularly stale and unimaginative It stemmed from the "Model Charter" of 1935 which, according to a Soviet economist (A Karavaev), "rests upon the granite foundation of scientific Communism " In 1947, as on previous occasions, the many admitted failings of the collective farms were explained away by reference to the laxity and wrongdoing of local officials and to the persistence of *obezlichka* and *urovnilovka* (see above, p 827), that is, lack of proper coordination between earnings and the work actually done Since the "Stalin" principles of collectivization enunciated in the 1930's were regarded as sacrosanct and immutable, and since little confidence was put in the willingness of the peasants to abide by them, the Party and the Government inevitably fell back on the familiar method of all-pervasive direction and control reinforced by bounties and penalties

[27] The Council on the Affairs of the Collective Farms was appointed on October 8, 1946 Of its thirty-eight members twenty were *kolkhoz* presidents, two *kolkhoz* officials (including one woman link leader), one director of a motor tractor station, and the balance high Party and Government officials The Council drew up its own statute which was confirmed by the Council of Ministers on October 22, 1946 The object of the new council is the promotion of collectivization in accordance with the principles of the "Model Charter" and the detection of violations of *kolkhoz* legislation Although primarily an advisory agency to the Council of Ministers, the Council on the Affairs of the Collective Farms is vested with certain administrative and even judicial powers (imposition of summary penalties for breaches of *kolkhoz* rules)

[28] The decree entitled "On Measures for the Improvement of the Organization, the Increase of Productivity, and the Betterment of the Methods of Remunerating Labor on the Collective Farms" was given wide publicity but did not appear in the official collection of decrees and decisions of the Government.

Indeed, many of the 1947 rules were but a recapitulation of those issued previously, although some went further along the beaten path. Strong emphasis was laid upon the permanent character of the brigades—the requirement that land, equipment, and animals assigned to a brigade should remain under its care for a period long enough to show results (full rotation of crops, in the case of field brigades) and that the personnel of a brigade should be kept together and should not be assigned to other tasks. *Kolkhoz* authorities were enjoined to do everything in their power to enhance the status and authority of the brigadier, who is regarded as the central figure in the drive for higher productivity. The subdivision of brigades into links was to receive wider application, and link leaders were given greater responsibilities and greater authority over the members of their links than heretofore. *Kolkhoz* executive boards were directed to check monthly on the participation of all able-bodied members in the collective work of the farm and to take appropriate measures against the laggards. Similar supervision was to be exercised by local Soviet authorities whose duty it became to ensure that every collective farmer earned the prescribed number of labor days. To prevent the wastage of labor days each *kolkhoz* was requested to prepare, simultaneously with the production plan, a plan of expenditure of labor days—a formidable assignment which is to be carried out in cooperation with, and under the direction of, local authorities. The "norms," or standard amount of work required to qualify for the basic pay, were raised by from 10 to 43 per cent, according to the type of work. All farm work was arranged in nine classes (instead of the seven classes provided in 1933), the rate of pay for the fulfillment of the "norm" rising gradually from 0.5 to 2.5 labor days. The new classification, unlike that of 1933, is supposed to cover every task performed on the farm. The linking of earnings to the yield of crops and animals which was applied to "additional" pay in 1940–1941 (see above, p. 828) was extended to the basic pay by increasing or reducing the number of labor days earned by each strictly in accordance with the results achieved.[20] Similar rules applied to the labor day allowance of *kolkhoz* presidents and to earnings of brigadiers; in both cases emoluments vary according to what may be termed the productivity index of the farm or brigade. *Kolkhoz* officials continue to receive the "additional" remuneration provided in 1940 for yields in excess of planned goals, and bonuses for length of service are paid not only to *kolkhoz* presidents but also to accountants, brigadiers, and heads of the animal husbandry division of the farm.

[20] If a brigade or link fulfills its assignment and obtains the prescribed yield per hectare it is credited with the full number of labor days earned. If, however, the yield per hectare exceeds (or falls short of) the goal, the number of labor days earned is increased (or reduced) by one per cent for each per cent of over- (or under-) fulfillment. Deduction in case of underfulfillment is limited, however, to 25 per cent of the nominal earnings. The earnings of collective farmers engaged in animal husbandry are determined by the yield and condition (weight) of the animals under their care and the breeding of stock. A barn-maid, for instance, serves from eight to fourteen cows. For each 100 litres (175 pints) of milk yielded by the cows under her care she earns from 1.2 to 1.8 labor days during the pasture season and 2.2 to 3.2 labor days during the barn season. A new-born calf earns for her 7 labor days and if the creature lives to be 15 to 20 days old, 12 labor days,

Farm Legislation, 1948 The 1946 and 1947 decrees did not bring about the anticipated improvement In the autumn of 1948 the Government issued a decree again directing the collective farms to purge their payrolls of "superfluous" officials. Commenting on the decree *Pravda* complained that in certain regions the number of administrative officers had actually increased since 1946 The decree established statutory limits for the number of labor days that may be assigned for the remuneration of administrative personnel The limits vary from 3 per cent for farms with an annual payroll of 100,000 labor days to 8 per cent for farms with a payroll of 20,000 labor days Strict control is to be exercised over the allocation of labor days to administrative officials, who, moreover, must participate in field work [30]

Titles and Decorations. The foregoing regulations appeal to the self-interest of the collective farmers, but the Soviet Government is aware that man does not live by bread alone The Kremlin has long followed the practice of conferring titles and decorations upon deserving workers Opportunities for earning such rewards by farmers and farm and machine tractor station officials were broadened and made more explicit by a decree of the Presidium of the Supreme Soviet of March 29, 1947, implemented by several decrees issued by the Council of Ministers in 1947, 1948, and 1949 Under these regulations a specified yield per hectare entitles the producer to this or that reward If official reports are to be trusted, Russian farmers are crazy about medals, badges, and honorary titles, odd as this may seem to their opposite numbers in western Europe, the American Middle West, and New England

Recovery and the Collective Farms. The power of agriculture to recover from even the severest ordeal is immense and unfathomable The Minister of Finance, Zverev, stated in his report to the Supreme Soviet in June, 1950, that the grain harvest in 1949 reached 7 6 billion puds (one pud = 36 lbs) and was higher than in 1940, and that the number of "productive" cattle owned by the collective farms was substantially above the pre-War level In spite of the studied vagueness of these remarks there is no reason to doubt that they correspond to reality. The process of recovery was presumably facilitated by various measures which, being of a technical nature and not bearing directly on the administrative methods of the Soviet Government, were not discussed in this chapter.[31] It is far less probable that the 1947 *kolkhoz* legislation succeeded in remedying the conditions so graphically depicted in the decrees of 1938, 1939, and 1946. The regulations enacted by the Party and the Government in 1947 were, to repeat, merely an elaboration of a pattern of administrative controls that past experience has shown to be singularly unworkable Unqualified success is, nevertheless, claimed by official spokesmen

[30] The *New York Times*, October 19, 1948 The 1948 decree, like its predecessor, did not appear in the official collection of decrees and decisions of the Government

[31] The most important among them were, perhaps, the resolution of the Council of Ministers and of the Central Committee of the Communist Party of October 20, 1948, on land reclamation and amelioration, and "The Three-Year Plan for the Development of Animal Husbandry on Collective and State Farms (1949-1951)" issued by the Government and the Party on April 18, 1949 In his report on the 1950 budget Zverev referred to the former measure as "the Stalin plan to reform [*preobrazovaniia*] nature."

In 1947, 1,931 farmers and farm officials were awarded the title of "Hero of Socialist Labor," 4,300 the order of Lenin, 12,500 the order of the Red Banner of Labor, and some 40,000 medals for "Labor Valor" and for "Labor Excellence" These awards may be interpreted as evidence that the farmers are behind the Government. Yet in the same year, according to a Soviet economist (A. Karavaev), "a considerable portion" of the collective farmers failed to earn the prescribed number of labor days and in some regions laggards represented 20 to 25 per cent of the total number of able-bodied farmers. Sporadic denunciations of violations of the "Model Charter" were as frequent and bitter in the late 1940's as they were a decade earlier

Farm Legislation, 1950. In April, 1950, the Communist Party and the Soviet Government launched a vigorous campaign for the amalgamation of the smaller collective farms into larger units The acreage of a farm, according to the prevalent view, should not be less than 1,200 hectares The process of amalgamation is said to be proceeding rapidly By the end of 1950 the number of collective farms in White Russia (Belorussia) declined from just under 10,000 to slightly over 3,250, and in Ukraine from over 26,000 to below 14,500. It is expected that the total number of collective farms in the USSR will be reduced from some 250,000 to about 100,000 or 110,000 The reasons for the new drive are complex but understandable in the light of past experience It is claimed that the consolidated farms will have the advantage of large-scale enterprises and will allow the more efficient use of modern agricultural machinery Amalgamations are expected to cut down *kolkhoz* bureaucracy which is said to account for some 30 per cent of the total manpower, and to release three to four million workers for employment in industry It is believed that the reduction in the number of farms and the increase in their size will facilitate the task of control by State and Party officials The status of the farm president will be further enhanced Amalgamations are to be followed by the resettlement of the collective farmers. *The Economist* quotes the following description of the "agro-town" of the future. "Two thousand beautiful houses along asphalted streets and avenues with lawns Two thousand two-, three-, and four-storey houses with electricity, radio, water supplies and bathrooms. A central square with a statue of Stalin. Next to each house a fruit garden" If this vision is ever realized it will mean a revolutionary change in the position of the collective farmers Many of them will be removed from the land they and their forefathers had once owned Household allotments will presumably disappear and be replaced by "fruit gardens," thus eliminating the opportunity for abuses of which the decrees of 1939 and 1946 so bitterly complained. *The Economist* rightly notes that the 1950 farm program would seem to be inspired by the desire "to reduce the collective farmer to the level of the agricultural labourer working in State farms" [32] However, only fifteen years ago many state farms, because of their poor performance were reorganized as collective farms Soviet agriculture, indeed, appears to be moving in a vicious circle.

[32] *The Economist* (London), January 27, 1951, pp 202–203,

THE RESULTS OF COLLECTIVIZATION

The Balance. The time has not yet arrived for a final appraisal of Soviet collectivization The experiment is too novel and many of its essential features are not yet sufficiently known to offer ground for a clear-cut verdict It may be plausibly argued that the substitution of large-scale mechanized farming for the tiny holdings, scattered strips, and primitive implements of pre-revolutionary Russia is a definite and important step forward Those critics of Communism who are bent on idealizing the conditions of the Russian village under the Tsars will do well to read Ivan Bunin's remarkable stories, "The Village" and "The Dry Valley" It is just as difficult, however, to condone the methods by which collectivization was brought about. The "liquidation of the *kulaks* as a class" is one of the most horrible persecutions in recent history, except perhaps the treatment of the Jews in National Socialist Germany The basic difficulty in agriculture is the same that we have observed in large-scale industry lack of organizing experience and of technical skill, stifling bureaucratic methods, and the vagaries of "planned economy" Of course it takes time to turn a Russian peasant lad, who has never seen a car, into a tractor driver Stalin declared, and his statement has become one of the nation's slogans, that it is the purpose of the Soviet Government to make every farmer "well-to-do" (*zazhutochnym*) Whether the standards of living of the peasantry are higher or lower than they were before the drive for collectivization is a controversial question to which no definite answer can be given, but it is certain that they are strikingly below those in western European countries and in the United States.[13] It may be argued with some justice that the defects just mentioned are merely "pangs of growth," that the Soviet experiment is still young and that, provided the organization of agriculture it has created is fundamentally sound, it will in due course prove its superiority over individual capitalist farming

Is Collective Farming Superior to Individual Farming? This brings up the most difficult question of all is a collective farm inherently superior to an average capitalist individual farm? The former has the advantage of a larger size and, if and when the Soviet mechanics and agronomists master the technique of intensive agricultural methods, it will probably have a better equipment That day, however, is still remote In the meantime the farm managers and brigadiers are struggling under the threat of heavy penalties for failure to meet the often exorbitant demands of the plan, and they are snowed under by a mass of reports, some of them very complex and most of them highly "urgent." The rank and file of the collective farmers are completely in the hands of local bosses on whose pleasure depends their livelihood, and sometimes their freedom and even their lives, for it will be remembered that prior to May, 1947, serious offenses against "Socialist property" were punishable by death and that the decree of January, 1950, restoring

[13] A careful statistical analysis of available data has led a recent American student to the conclusion that the productivity of farm labor and the standards of living of both the farmers and the urban population were not higher in 1938 than they were in 1928 See Naum Jasny *The Socialized Agriculture of the USSR* (Stanford, 1949)

capital punishment may be invoked against recalcitrant farmers. Great as may be the technical advantages of large-scale mechanized agriculture, the whole structure of collective farms appears to be fundamentally vicious. Whether farming can develop and prosper under a regime so arbitrary, capricious, and ruthless remains highly uncertain.

TRADE, BANKING, TRANSPORTATION, PUBLIC UTILITIES AND HOUSING

Foreign and Domestic Trade. State agencies for the administration of the main economic activities other than industry and agriculture must be mentioned, however briefly. The State monopoly of foreign trade, which was established in April, 1918, and has been maintained ever since, exercises exclusive control over all commercial transactions with foreign countries and is administered by the All-Union Ministry of Foreign Trade. The monopoly is properly regarded as one of the pillars of Soviet planned economy.[14] The history of domestic trade is more eventful. By the end of 1918 all private commercial establishments were nationalized, while the stores owned by the consumers' cooperative societies were taken over by the State (decree of March 16, 1919) and became the sole distributive agency. Under the New Economic Policy, restrictions on trade were loosened, consumers' cooperative societies recovered a degree of autonomy, and much of the retail trade was in the hands of small merchants, the so-called *nepmen*. With the advent of planned economy in the late 1920's private traders were squeezed out, consumers' cooperative societies lost most of their precarious independence, and a network of State-owned stores was gradually built. Under the regime of planned economy Soviet domestic commerce may be said to consist of two sectors: the controlled sector which comprises State-owned and cooperative stores, and the uncontrolled sector which is the *kolkhoz* (collective farm) market.[15] Soviet consumers' societies, like Soviet trade unions, have little in common with their namesakes in the Western world, their position being akin to that of a government agency. In 1935, cooperative stores in towns and cities were closed and the activities of consumers' societies were confined to rural districts. After the War, however, consumers' societies were directed to resume operation in urban areas (decree of November 9, 1946). General supervision over domestic trade is exercised by the Union-Republic Ministry of Trade.

Banking and Transportation. All private banks were nationalized in December, 1917, and their assets and functions were taken over by newly organized State-owned institutions of credit. The Soviet Union has a number of banks. The center of the financial system is the State Bank, which is a bank

[14] Although the State is the only importer, the Soviet Union has a high customs tariff which is frequently revised. One object of the tariff is, presumably, to discourage enterprises which are run on the principle of "cost accounting" from purchasing machines and other supplies from abroad. The monopoly, of course, can achieve the same result by vetoing imports considered undesirable. For the general trend of Soviet foreign trade see above, p. 774.

[15] See above, p. 819.

of issue The main functions of the other banks are the floating of Government loans and the financing, partly through budget appropriations, of the State-owned and cooperative enterprises In connection with the latter function the banks exercise what is known as "control by the ruble," that is, funds to which an enterprise is entitled are made available only after it has produced evidence of the fulfillment of its assignments under the plan There is an extensive network of State savings banks which was reorganized in November, 1948. Railways, shipping, the post, the telegraph, and the telephone are all under State management

Public Utilities and Housing. Public utilities—electric power, gas, water, street cars and buses—as well as most of the dwelling houses are administered by the municipalities (city and town Soviets) The cooperative societies for the building of dwelling houses, the last refuge of private investments (except for Government bonds), were liquidated in 1937 and their properties were taken over by the municipalities and Government agencies Individual citizens, however, may own houses (although not the sites on which they are built), a right guaranteed by Article 10 of the Constitution. The sale and purchase of dwelling houses is permitted under certain restrictive conditions [36] A decree of the Presidium of the Supreme Soviet of August 26, 1948 (implemented by a decree of the Council of Ministers of the same date), encouraged the building of individual dwelling houses by directing local authorities to allocate building sites for this purpose The size of the site varies from 300 to 1,200 square meters, land is granted in perpetuity, and the owner pays the rent "prescribed by the law " The houses are one or two stories high and may contain from one to five rooms. Bathrooms are not mentioned The dwelling houses are described as the personal property (*lichnaia sobstvennost*) of those who build them

Bureaucratic Nature of Controls. The administrative organs in charge of these varied activities are bureaucratic in their nature, that is, officials are appointed from above The trade unions have the same functions as in industry—to strive for the fulfillment and overfulfillment of the plan, for labor discipline, and for higher productivity The methods of encouragement are everywhere the same: premiums, bonuses, piecework wages, organization of workers into brigades, "Socialist emulation," fostering of the Stakhanov movement There is everywhere an elaborate system of penalties for those who lag behind and keep out of step. It will be remembered that the law on the Judiciary of August, 1938, established two special courts to deal with breaches of labor discipline and with disorganization of work on the railroads and in water transport

[36] Article 182 of the Civil Code of the RSFSR provides that the family group (married couple and children under age) may own only one dwelling house, and only one sale of a house is permitted every three years The corresponding article of the Ukrainian Civil Code provides that the family group may own as many as three houses.

SOCIALISM VS. PRIVATE ENTERPRISE

Tentative Conclusion. It will appear from this cursory survey that Soviet Socialism was established, not by proving in the process of market competition the "unchallengeable superiority" of nationalized industry over private enterprise,[17] but by the simpler method of Government fiat. The same is even more true of agriculture. The private entrepreneur is gone, but whether his disappearance has brought about the end of "the exploitation of man by man" is necessarily a matter of opinion. The rule of the huge and unwieldy bureaucracy, backed by an all-powerful Party, is stern, harsh, and often erratic. Its mistakes have been many and costly. The Soviet Union has undoubtedly succeeded in revolutionizing agriculture and in building up in a remarkably short time a huge machinery of production. The cost of the ambitious venture in terms of money and human suffering has been extraordinarily high. The uncertainties and difficulties confronting the managers of business under Socialism are at least as formidable as those under capitalism. There is no indication that the solution of these difficulties is in sight. The position of labor does not compare favorably with that of the workers in the United States, Great Britain, or France. The incentives to work, although similar to those in the capitalist countries—greater reward for those who do better work—are reinforced by a formidable array of penalties for those who fail and are therefore deemed inimical to the regime. Even when full allowance is made for the relatively short time the Soviet experiment has been in operation there is nothing in the record to justify its claim to superiority over a system based on private initiative and private enterprise.

[17] See above, p. 788.

CHAPTER VIII

SOVIET DEMOCRACY IN RELATION TO THE CITIZEN AND TO THE WORLD

THE WELFARE STATE

Betterment of Economic and Cultural Standards. The betterment of the economic and cultural standards of the masses is the avowed paramount aim of Socialism and Communism. In the USSR the Communist Party and the State control and direct not only social security, public health, and the schools but also all manifestations of spiritual and cultural life These activities will be briefly surveyed in the following pages

Social Security. The social security program includes a variety of measures which, because of the Soviet administrative setup and budget procedure, may be conveniently divided into three groups Sickness and disability insurance, maternity benefits, facilities for recreation ("parks of culture and rest," rest homes, sanatoria) and sports, and some of the disability and old-age pensions come under the heading of "social insurance" (*sotsialnoe strakhovanie*) and are administered (since 1933 when the People's Commissariat of Labor was abolished) by the All-Union Central Council of Trade Unions and its agencies The rehabilitation of disabled persons and the majority of old-age, disability, and other pensions (including pensions of war veterans) are classified as measures of "social security" or relief (*sotsialnoe obezpechenie*) and are administered by the republican Ministries of Social Security of the constituent and autonomous republics. Aid to mothers of more than two children comes within the category of "social security," but appears as a separate item in the federal budget. All wage-earners, but not the members of collective farms and other cooperative associations, are included in the social insurance schemes which are noncontributory, that is, the entire cost is borne by the enterprises or by the public treasury Sickness and disability benefits vary according to the length of continuous employment in the same enterprise from 100 per cent of the earnings (for those employed over six years) to 50 per cent (for those employed less than two years) Benefits payable to non-trade unionists are

half as much as those payable to trade union members [1] Unemployment insurance was abolished in 1930 when the USSR developed a shortage of labor. Expenditure on social insurance, which is an item in the federal budget, increased from 1 1 billion rubles in 1928–1929 to 5 2 billion in 1937, and to 7.4 billion in 1940, it declined to 5 0 billion in 1945, but rose to 9 3 billion in 1947 and to 18 1 billion in 1950 The growth of budget appropriations for social security (in the narrow meaning of the term, as indicated above) was even more striking. 107 million rubles in 1928 1929; 1 3 billion in 1937, 1.0 billion (a decline) in 1940; 17.7 billion in 1945, and 22.4 billion in 1950. War pensions were responsible for the manifold increase of expenditure under this heading in the last decade Aid to mothers of large families was first introduced in 1936, but was greatly extended by a decree of the Presidium of the Supreme Soviet of July 8, 1944 Under this enactment the birth of a third child entitled the mother to a bonus of 400 rubles, and the birth of a fourth child to a bonus of 1,300 rubles and a monthly allowance of 80 rubles There was a progressive scale of benefits every child in excess of ten brought a bonus of 5,000 rubles and a monthly allowance of 300 rubles Allowances are payable until the child has reached the age of five Unmarried mothers received a monthly allowance of 100 rubles for the first child, 150 rubles for the second, and 200 rubles for three or more children The same decree established the "Medal of Motherhood" (two classes, for mothers of five and six children), the decoration "Glory of Motherhood" (three classes, for mothers of seven, eight and nine children), and the title "Mother Heroine" (for matrons who "have given birth to and reared" ten children) A decree of November 25, 1947, however, cut all the pecuniary benefits payable to mothers by half, on the ground that the purchasing power of the ruble had risen Budget expenditure on aid to mothers was 956 million rubles in 1937, 2 1 billion in 1945, and 5.9 billion in 1947, but declined (after the benefits were cut by half) to 4 0 billion in 1950 [2] To complete the picture it may be added that appropriations for the Ministry of Public Health rose from 661 million rubles in 1928 to 8.6 billion in 1937, to 11 1 billion in 1945, and to 22.0 billion in 1950.

The Social Security Program Appraised. The mounting cost of the social security program suggests higher standards of welfare It would be hazardous, however, to assume that larger expenditure reflects with any degree of accuracy the actual improvement in social services The absence of an index of prices makes a comparison of monetary outlays in various years largely meaningless. Basic information on the essential features of the social security system is lacking The number of people drawing old-age (or any other) pensions is not disclosed although it was reported that in 1937 it was merely 125,000 in a population of some 170 million.[3] The minimum monthly rates of dis-

[1] Decree of December 28, 1938, issued jointly by the Council of People's Commissars, the Central Committee of the Communist Party, and the All-Union Central Council of Trade Unions

[2] The decree of November 25, 1947, estimated the annual cost of aid to mothers, after the reduction of benefits, at about 3 billion rubles

[3] Harold Denny in *The New York Times*, August 8, 1937

ability and old-age pensions provided by the decree of December 28, 1938, which is still in force, are almost ridiculously low 25 to 50 rubles for pensioners having no dependents, and 25 to 75 rubles for those with two or more dependents The minimum rates of pensions payable to dependents of a deceased wage-earner are 30 to 40 rubles per month, and those payable to dependents of a veteran of World War I as low as 7 5 to 22 5 rubles Disabled veterans of World War II fare better their pensions are either a specified percentage of their pre-War earnings (100, 75, or 50 per cent, according to the degree of disability) or 75 to 150 rubles per month A decree of January 28, 1946, increased the monthly pensions of totally disabled ("group I") veterans to 300 rubles (250 rubles if they are "connected with farming"), provided disability was incurred in active service at the front, in all other cases (accident, sickness) pensions of totally disabled veterans are lower by 20 per cent than the foregoing rates The upper limit of pensions payable to members of the academic profession is 300 rubles a month, but distinguished scientists, writers, composers, and others, as well as their families, are sometimes granted higher pensions by Government decrees The figures quoted above should be compared with those of the average monthly earnings of workers and employees which were 287 rubles in 1938 and 500 rubles in 1950 To turn to another field, 64,000 vacancies in sanatoria and 120,000 in rest homes were to be available in 1950,[4] a number hardly adequate to accommodate 33 5 million workers, to say nothing of their families Viewed from the standpoint of the benefits received by the citizens, the social security program is singularly unimpressive This may well explain why practically no factual information on social security is made available.

EDUCATION

Literacy and Growth of the School System. A study of Soviet school policies presents difficulties of a different order from those raised by the social security system The expansion of the network of schools and the increase in the size of the student body were steady until 1940, although both appear to have suffered a setback during the War and post-War years The percentage of literacy (for both males and females aged nine and over) rose from 24 0 in 1897, when the first Russian census was taken, to 81 2 in 1939 [5] On the eve of World War II most of the illiterates belonged, presumably, to the older generation (59 1 per cent in the age group 50 and over) [6] The fact that the Imperial Government enacted, as far back as 1908, a law aiming at compulsory

[4] These figures refer to rest homes and sanatoria managed by the Central Council of Trade Unions and are quoted by N Rytikov in *Bol'shaia Sovetskaia Entsiklopediia* (*Large Soviet Encyclopedia*), supplementary volume on the USSR (1948), p 1150 The fourth Five-Year Plan sets for 1950 the much higher goal of 250,000 vacancies in sanatoria and 200,000 in rest homes Whether the two sets of figures refer to the same group of institutions is uncertain

[5] If the lower age limit of literacy is put at seven, as was customary in Russian prerevolutionary school statistics, the picture would have been less favorable

[6] The 1940 decree on State Labor Reserves, however, provided that boys (sixteen to seventeen) drafted in the factory training schools need not have any previous school training (see above, p 803) Presumably the number of boys in that age group who never went to school was not negligible

school attendance, by 1922, of all children aged eight to eleven detracts nothing from the achievements of the Soviets. According to Stalin's report to the Eighteenth Congress of the Communist Party, 20,600 schools were built in 1933–1938, and the number of students increased from 23.8 million in 1933–1934 to 33.9 million in 1938–1939. In 1950, if the assignments of the fourth Five-Year Plan are carried out, the Soviet Union was to have 193,000 primary and secondary schools with 31.8 million students; the number of students in technical secondary schools was to reach 1,280,000, and those in higher schools 674,000. The total number of students in 1950, as estimated by the plan, was to be 33,754,000, or some 150,000 less than in 1938–1939.[7] The retrogression was presumably due to the ravages of war. It is not clear how under these conditions "compulsory school attendance for all children aged seven" could be made effective in 1950, as provided by the fourth Five-Year Plan, especially since the population of the USSR increased from 170 million in 1939 to some 200 million in 1950. Expenditure on schools rose from 21.0 billion rubles in 1939 to 59.5 billion in 1950, that is, it nearly trebled while school facilities expanded but slightly, if at all. A sizable portion of post-War school appropriations, however, was presumably spent on rebuilding the schools destroyed during the War.

Standards of Teaching. Advancement of education cannot be measured entirely in terms of the number of schools and the size of the student body. The standards of instruction are obviously a matter of paramount importance. The level of teaching of pure sciences is an unknown quantity, but there is ample evidence of the dire predicament of the social sciences. What became of the once honorable tradition of Russian learning may be gathered by glancing at the *History of the Communist Party of the Soviet Union* (1938), which has been officially ascribed to Stalin and is available in an English translation. Extolled by Soviet commentators as a revelation and an unfailing guide to Marxism-Leninism, the *History* is a dull, clumsy, and pedestrian compilation packed with gross distortions of familiar facts. Nevertheless, courses in the *History* are an immutable feature of school curricula, and Stalin's dogmatic platitudes and untruths are relentlessly hammered in in classrooms and innumerable study groups organized by the Party, trade unions, and so on. The *History*, indeed, is compulsory reading and a compulsory "source of inspiration" for every Soviet citizen, from farm hands and army privates to cabinet ministers and fellows of the Academy of Science.[8] Education under such auspices is not an unmixed blessing.

[7] It seems likely that the students trained under the State Labor Reserves scheme (about one million) were not included in these figures. Zverev, the Minister of Finance, stated in the Supreme Soviet in June, 1950, that in 1950 the number of students in primary and secondary schools, including technical schools, was to reach 37.9 million, and that of students in the higher schools (including students enrolled for correspondence courses), 1,194,000; that is, his estimates, although not strictly comparable, were higher than those of the fourth Five-Year Plan.

[8] By 1949 nearly 36 million copies of the *History* were printed. It was translated into sixty-six languages.

NATIONAL CULTURES

Local Languages. The official policy of the Soviet Government is to encourage local languages and national cultures. In 1938, newspapers and magazines appeared in some 70 languages, and books in nearly 100.[9] A scrutiny of available figures discloses that, of the 40,000 individual titles (books and, presumably, pamphlets), 1,800 journals, and 8,500 newspapers published in 1938, the Russian language accounted for 33,300 individual titles, 1,400 journals, and 6,400 newspapers. In twenty-eight of the ninety-three languages listed, less than ten titles in each language were published in 1938, and in seven languages only one title.[10] The lone title was not named, but one may surmise that it was the *Communist Manifesto* or an article by either Lenin or Stalin. Does official recognition of languages which provides so abundant a literature really contribute to the cultural advancement of national minorities?

Cultural Autonomy and Russian Nationalism. Much encouragement is given to the cultures of national minorities (literature, art, music, dancing, theatre, handicrafts), provided they do not conflict with Communist orthodoxy and resurgent Russian nationalism. Nationalism in its crudest form—glorification of army leaders and debatable historical figures (Ivan the Terrible, Peter I) and insistence on Russia's alleged superiority over other nations in every field of endeavor—made its appearance in the middle 1930's, probably as a by-product of Stalin's doctrine of "Socialism in one country" and of the worsening international situation. Nationalist exaltation reached a high pitch during the early part of the War when Soviet military fortunes were at low ebb. On November 6, 1941, as the German troops were nearing Moscow, Stalin closed a dramatic appeal to the nation by evoking "the manly images of our great ancestors—Alexander Nevsky, Dimitry Donskoy, Kuzma Minin, Dimitry Pozharsky, Alexander Suvorov, and Michael Kutuzov," a moot galaxy of princes and generals (except Minin), two of them unwisely canonized by the Russian Church. With the easing of the war situation the saints and princes lost some of their popularity in official circles, but the generals retained their high status. Stalin was now one of them. After 1945 nationalism was gradually remodeled as "Soviet patriotism," a philosophy which emphasizes primarily devotion to the Soviet Communist regime while still asserting Russia's past unperishable glories. The resurgence of Russian nationalism tends to narrow down the already limited scope assigned to cultural autonomies of national minorities. One example to illustrate this point will have to suffice. The Communist Party of Tartary, being somewhat short of national heroes, encouraged local talents to pay tribute to Khan Ugedei, son of Genghis Khan and ruler

[9] The *History of the Communist Party* asserts that in Imperial Russia "it was prohibited to publish newspapers and books in the languages of national minorities." This widely quoted statement is incorrect. A yearbook of Russian periodicals published in 1912 lists 2,167 newspapers and journals which appeared in thirty-three languages. See I. V. Volfson, editor, *Gazetnyi mir (The Newspaper World)*, St. Petersburg, 1912.

[10] *Tsyfry o pechati v SSSR (Figures of Publications in the USSR)*, published by the All-Union Book Chamber (*Vsesoiuznaia Knizhnaia Palata*), Moscow, 1939, pp. 4, 24–26.

in the thirteenth century of what is today the Tartar ASSR. Among the variations on this seemingly innocuous theme was an opera which was acclaimed by Soviet critics as a superb example of the national genius of Tartary. On second thought, however, the Kremlin decided that Tartar nationalism had gone too far. The matter was judged of sufficient importance to warrant a public rebuttal by the Central Committee of the All-Union Communist Party. A widely publicized decision of the Central Committee branded Ugedei as a reactionary feudal lord (so were, of course, Alexander Nevsky and Dimitry Donskoy) and leader of predatory raids into Russian territory. Admiration for Ugedei was held to be evidence of narrow sectional nationalism incompatible with Soviet ideology. Tributes to Ugedei were withdrawn from circulation, and the opera glorifying the hapless Khan was pronounced devoid of artistic merit and was dropped from the repertory. The Soviet writer who relates this curious episode states that "Comrade Stalin has given the classic formula for the advancement of culture and art of the peoples of the Soviet Union: culture national in form but Socialist in content; this is the path which will eventually lead to the creation of a universal Socialist culture." [11] Whether a work of art has merit is determined by its conformity with Stalin's rule.

INTELLECTUAL FREEDOM AND THE "PARTY LINE"

"Socialist Realism." The disgruntled Tartar authors and composers may find solace in the thought that, from the standpoint of freedom of creative self-expression, their Russian brethren fare no better than they do. Conformity with the "Party line," capricious yet rigid, is mandatory for every one in the USSR and prevails in every field of creative endeavor, from genetics and linguistics to literature, art, music, the theatre, architecture, and cinematography. There are few Soviet intellectuals of any prominence who, at some time or other, would not have found themselves on the horns of the dilemma: either to bow to Party dictation and recant their "errors," or to be deprived of the possibility of continuing their work. "Socialist realism," which is mandatory, is opposed to the deadly sin of "formalism," or "art for art's sake." The true contents of Soviet art, according to one authority, are "ideological chastity—Soviet patriotism, defense of the motherland, happiness of the free life of toil, love for the great leader Stalin", [12] or, in more prosaic terms, art is the mouthpiece of Soviet propaganda. It does not necessarily follow that no creative work of real value is done in the USSR. To take a familiar example, Sergei Prokofieff, whose professional career began in the prerevolutionary days, is among the leading contemporary composers, as is probably the much younger Dimitry Shostakovich. It would be easy to name Soviet scientists, artists, and writers prominent in their respective fields. Yet the fact remains that Communist orthodoxy, which extends to both the contents and the form or man-

[11] A. Solodovnikov, *"Za vysokuiu ideinost sovetskago iskusstva"* ("For a High Ideological Level in Soviet Art"), in *Bolshevik*, Moscow, October, 1944, pp. 55–57.

[12] *Bolshaia Sovetskaia Entsiklopediia (Large Soviet Encyclopedia)*, supplementary volume on the USSR (1948), p. 1570. The statement quoted refers to choral music, but it is equally applicable to any other field of creative work.

ner of works of art, is destructive of creative self-expression The ravages wrought by "Socialist realism" are particularly evident in literature and painting Since the death of Maxim Gorky (1936) Russian literature has produced no author of comparable stature It is not, however, the absence of great masters—no political or social system can produce them at will—but the uniform mediocrity of the general level that gives the measure of the decadence of Russian letters As to painting, an art in which the Russians had never excelled, it has sunk to a new low level.[13] But even in music, whose evasive medium tends to elude control, Communist orthodoxy has produced curious and unexpected results Instrumental music, by its very nature, is susceptible to a variety of interpretations, some of which may prove embarrassing or even fatal to the composer Vocal music obviates this danger, unless there is a serious ideological slip as in Tartary; hence the plethora of choral compositions and the truly amazing number of operas Lenin believed that "cultural revolution" would inexorably follow political revolution Contrary to his expectations the outstanding characteristic of Russian art after thirty years of Soviet rule is its stale and aggressive conservatism

The Press. Little need be said about the press For all the ruthlessness and stupidity of Imperial censorship, prior to the Revolution all shades of opinion —reactionary, conservative, liberal, social-democratic, and revolutionary— were represented by newspapers and journals. Even *Pravda* was openly and legally published in St Petersburg, although it had frequent difficulties with the authorities and was finally suspended No censorship is really needed in the USSR (although preliminary censorship is exercised by *Glavlit*) because only Communist papers are permitted to appear After one has glanced at the insipid and ponderous pages of *Pravda* or *Izvestia* it would be a waste of time to read the other 8,500 papers they all say the same thing

The Stalin Prizes. In 1939 the Government established Stalin Prizes to commemorate the sixtieth anniversary of the leader The prizes are conferred annually for the highest achievements in the field of literature, art, science, technology, and inventions, and the amount of individual awards ranged in 1948–1949 from 20,000 to 200,000 rubles The list of "Stalin laureates," whose number in 1949 reached the imposing figure of 3,544, contains few familiar names. Many of the awards went to specialists in the technical branches of knowledge whose contributions cannot be assessed by a layman With few exceptions (Fadeev, Sholokhov, Ehrenburg, Alexis Tolstoy) "laureates" in the division of *belles lettres* are unknown abroad. The roster of prize-winning composers, headed by Prokofieff and Shostakovich, is more impressive. The poorest showing is, probably, in the division of social sciences For instance, the *History of Diplomacy* edited by V P Potemkin (three vol-

[13] Roger Marvell, art critic of a left-wing English journal, wrote of an exhibition of Soviet graphic art at Burlington House, London "Those who believe in the importance of environment would expect from the U S S R an art remarkably unlike our own And what in fact we get is an art like that of our most academic and genteel practitioners, an art that, coming from anywhere else, would be labeled dismally bourgeois" *New Statesman and Nation*, February 10, 1945.

umes, 1941 and 1945), a third-rate textbook according to Western standards, was awarded two first prizes of 200,000 rubles each: in 1941, for volume I, and in 1945, for volumes II and III.

THE CHURCH

The Church and the State. Communism is an avowed enemy of religion. The inevitable predicament in which the Russian Orthodox Church found itself after the Bolshevik Revolution was aggravated by the close ties between the Church and the fallen regime and by the uncompromising anti-Communist attitude of Patriarch Tichon, the titular head of the Church Tichon died in 1926, and in 1927 the Acting Patriarch Sergius, Metropolitan of Moscow, issued jointly with the Synod (the governing body of the Church) a declaration of loyalty to the Soviet regime, but these advances met with no response. Antireligious propaganda was freely carried on by agencies sponsored by the Government while the activities of the Church were barely tolerated, closely watched, and narrowly circumscribed A new chapter in the relations between the Church and the State was opened with the German invasion of the USSR. From the first day of the War, Sergius, and in a lesser degree the bishops and the clergy, displayed militant patriotism. The Acting Patriarch exhorted the faithful to rally to the defense of the Soviet Union, unfrocked the clerics and excommunicated the laymen who collaborated with the enemy in the occupied territories, and organized, financed, and dispatched to the front a tank column and an air squadron named, respectively, after Dimitry Donskoy and Alexander Nevsky, the two warrior-saints evoked by Stalin in his address of November, 1941 Sergius, in his numerous messages, addressed Stalin in such terms as "divinely appointed leader of our armed and cultural forces" and invoked the blessing of the Lord upon his "great deeds" (message of November 7, 1942) These efforts brought their reward Antireligious propaganda was toned down, antireligious publications were suspended on the convenient pretext of shortage of paper, and in November, 1942, Nicholas, Metropolitan of Kiev, was appointed a member of a committee of ten to investigate the crimes of Fascist invaders, a body that showed no undue attachment to the Christian principles of mercy and forgiveness. At the end of August, 1943, the Acting Patriarch and the Metropolitans of Leningrad and Kiev were received by Stalin and Molotov, and early in September Sergius was elected Patriarch by a council of Russian bishops In October, 1943, the Council of People's Commissars established a five-man Council on the Affairs of the Orthodox Church, headed by a Communist official. The Church thus gained a degree of official recognition, the benefits of which were not slow in showing themselves Since 1943, the Patriarchate of Moscow has been publishing a journal, a theological seminary for the training of priests was opened in 1944, and although no religion is taught in the schools, religious propaganda and religious instruction of children would seem to be permitted Decorations and medals were conferred upon ecclesiastical dignitaries and clerics for their participation in the war efforts, especially in the guerrilla warfare.

Patriarch Alexis. Sergius died in May, 1944 Alexis, Metropolitan of Leningrad, was elected Patriarch of Moscow and All Russia by a large council attended by representatives of the Russian clergy and laymen and those of Orthodox Churches and communities abroad (January–February, 1945) Alexis continued the policy of cooperation with the Government inaugurated by his predecessor. Soviet victories were celebrated at solemn masses, and the part allegedly played in them by Stalin, "beloved supreme leader of our people, and of our own army" (message of May 2, 1945), was extolled by the Patriarch in appropriate messages. In agreement with the Kremlin, Alexis vehemently denounced the Vatican for its attempt to intervene on behalf of German war criminals, and Russian ecclesiastical dignitaries were active in the Near East and, especially, in southeastern Europe, lending to Soviet officials the support of the Church in the process of implanting Communist dictatorship in the guise of "people's democracies." The Moscow Patriarchate was also instrumental in the destruction of the Uniat Church which follows the Greek Orthodox rites but recognizes the supremacy of the Holy See, and which severed its relations with the Russian Church at the end of the sixteenth century The majority of the Uniats live in the districts annexed by the Soviet Union from Poland Early in 1946, after the Uniat Metropolitan and four bishops were arrested by Soviet authorities on charges of collaboration, the Uniat Church "spontaneously" repudiated the Pope and returned to the fold of Moscow This development meant, of course, the elimination, or an attempt at the elimination, of Roman Catholic influence in what the Kremlin regards as an important area.

An Appraisal. There is no reason to believe that Soviet leaders have renounced the antireligious doctrines of revolutionary Marxism [14] The position of the Kremlin is clear: it is using the Church, as it had used its Western democratic allies, as tools for the implementation of the grand strategy of Communism—the elimination of the capitalist environment and the consolidation of Soviet rule both at home and over the countries which came under its sway It is far less certain whether the Church acted wisely in assuming the part of a minor partner in the execution of Communist designs The concessions secured by the Patriarchate are niggardly and revocable at will, but the loss of moral authority is great. To put War and post-War developments in their proper setting it is well to remember that intolerance toward dissenters and other religious denominations, militant anti-Catholicism, aggressive nationalism, and subservience to the State are all part and parcel of the tradition of the Russian Church The one, but vital, difference between the prerevolutionary and the present position of the Church is that the Imperial regime was the patron of Orthodoxy while Communism is its deadly enemy

[14] "These measures [those enacted after the outbreak of the War] do not violate the basic decree of the Soviet power on the separation of the Church from the State and the Schools, and they in no way indicate that the Communist Party and the Soviet State have changed their attitude towards religion and religious prejudices which still command considerable following among the population" A Kolosov in *Bolshaia Sovetskaia Entsiklopediia* (*Large Soviet Encyclopedia*), Supplementary volume on the USSR (1948), p. 1780.

SOVIET DEMOCRACY

Is the Soviet Union a Dictatorship? Stalin was on solid ground when he told the Eighteenth Congress of the Communist Party that the Soviet Union was "an entirely novel Socialist State, unprecedented in history" But what is this novel State? The USSR is commonly referred to as a dictatorship, this practically self-evident interpretation, however, is not generally accepted In their monumental study of Soviet Communism published shortly before the 1936 Constitution was adopted, Sidney and Beatrice Webb maintained that the Soviet Union was "the very opposite of a dictatorship"[15] They based this conclusion on an examination of Soviet statutes in which they found nothing to justify the dictatorial powers of Stalin either in the State or in the Party The Party, too, they argued, cannot be an instrument of the dictatorship because it has no standing in law, a situation which has since been altered by Article 126 of the Constitution, although this article added nothing to the supremacy the Party had enjoyed from the early days of the Bolshevik regime. The Webbs' grievous misrepresentation of Soviet political institutions was due, in part, to their applying to the USSR British constitutional standards They appear to have overlooked the fact that, while England, in the apt phrase of the eminent Anglo-Russian jurist and historian Sir Paul Vinogradoff, is a country governed by "the rule of law and the manly spirit of freedom," both these elements are as alien to Soviet administrative practice as they are to Russia's historical tradition[16]

The Official Point of View. The Moscow leaders themselves are anything but helpful in clarifying the nature of the Soviet State. According to the Communist view the USSR is both a dictatorship of the proletariat and a democracy. Stalin's statement to the effect that the Constitution preserves intact the dictatorship of the working class and the leading position of the Communist Party has already been quoted.[17] Yet he insisted in his report to the Eighteenth Congress of the Party that "no one dares to question that our Constitution is the most democratic in the world" The contradiction of these two assertions, which are invariably coupled in Soviet pronouncements, suggests that the term "democracy" has in the USSR a meaning that differs from the one accepted in the United States and in the democratic countries of Western Europe

The One-Party State. The backbone of the political structure of the Soviet Union is the Communist Party The one-party State, the Soviet's contribution to political theory and to the practice of government, has been duplicated in Fascist Italy, National-Socialist Germany, and in the "people's democracies" established after the War in the countries under Soviet dominion. The

[15] Sidney and Beatrice Webb, *op cit*, p 434

[16] The Webbs were handicapped by their inability to use the Russian language and also, presumably, by their determination to find in the Soviet Union the promised land of the Fabian dream They made "the frank admission" that they did not understand what was meant by the phrase "dictatorship of the proletariat" (pp 440-441) and they quoted, seemingly with approval, the statement that "in the OGPU corrective camps they teach not only reading and writing, but also political wisdom" (p 590)

[17] See above, p 756

Party controls all the activities of the nation and is itself bound together by unfaltering adherence to the "Party line" and absolute obedience to the leader

Stalin's Position. Stalin's dictatorial powers rest on his uncanny control of the Party machine and his total ruthlessness in exterminating potential opposition. The turning point in his political fortunes (and in the history of the Soviet Union and of the world) was his appointment as Secretary-General of the Central Committee of the Communist Party on April 3, 1922 This office, which he has never relinquished, assured Stalin the extraordinary position he has held for nearly thirty years It was not until May, 1941, when he unexpectedly became Chairman of the Council of People's Commissars, that Stalin divested himself of the quasi-anonymity of *une eminence grise* Other public offices and titles followed one another in rapid succession: chairman of the State Defense Committee (June, 1941), People's Commissar for Defense (July, 1941), Marshal of the Soviet Union (March, 1943), Generalissimo (June, 1945) Since the autumn of 1941 Stalin has been officially referred to as Supreme Commander-in-Chief of the Soviet armies, but Soviet sources, including Stalin's official biography which lists his offices, decorations, and titles ("Hero of Socialist Labor," "Hero of the Soviet Union"), shed no light as to when he was appointed to this position These spectacular developments in Stalin's career added nothing to the power that was his in the days when he shunned public office, but they wrought a revolutionary change in his appearance: the unadorned tunic he invariably wore at public functions gave place to a snug, ornate uniform with rows of medals Otherwise things remained as they were before

The Stalin Cult. No other public figure in the Western world is the object of adulation such as surrounds Stalin He is invariably referred to as "the genius," "the leader of the peoples" (always in the plural), "the beloved," "our own" (*rodnoi*) His opinions are never questioned, his pronouncements, however trite and pedestrian, are treated as revelations He is protected from even a suspicion of criticism by the controlled press and by the denial to Soviet citizens of the right to travel abroad. Every official must see to it that the rules of the Stalin cult shall be strictly observed André Gide, the French novelist, visited the Soviet Union in 1936 as a guest of the Government. He delivered the valedictory at Maxim Gorky's funeral in the Moscow Red Square. While traveling in the Caucasus Gide passed through Gori, Stalin's birthplace, and as a matter of courtesy decided to send him a message of greeting The telegraph employee refused to accept his wire because he addressed Stalin as "you" This, Gide was told, could not be done. Stalin must be addressed as "you, leader of the workers" or "you, master of the peoples" or something to this effect.[18] Since 1936 the ritual has been revised in the sense that Stalin must be addressed in more intimate terms of personal endearment To love Stalin and to give vent to the feeling of affection is the duty of every Soviet citizen The obligation is even more stringent in the case of Party members Never was Stalin more enthusiastically acclaimed than at the Party congress in March,

[18] Andre Gide, *Return from the U S S R* (New York, 1937), pp 45–46

1939 The body of men and women who shouted themselves hoarse in proclaiming Comrade Stalin's imperishable glory (one of the delegates referred to him as "eternal," a fortunate inspiration that threw the Communist assembly into a paroxysm of delirious ovations) had only recently lost most of their leaders and an extraordinarily high percentage of their own number as a result of the purge. Innumerable instances of shocking abuses and mistreatment of the rank and file of the Party were cynically displayed in the report presented to the congress by Zhdanov. Yet not a single voice was raised to criticize the man who had ordered the purge and who alone had the power to stop it

An Illustration. The following list of accomplishments ascribed to Stalin by a widely circulated publication may serve as a fair sample of Soviet hierolatry "creator of scientific history of Bolshevism," "the greatest scientist of all time," "the greatest military genius of all time and all peoples," builder of "the scientific foundation of Soviet foreign policy," author "whose work constitutes an era in the history of science" Moreover, "the genius of the great Stalin inspires every branch of knowledge Stalin's directions are the guiding star that leads the work of our outstanding scientists Stalin's personal concern (*zabota*) with the advancement (literally, blossoming) of scientific and technical thought has brought remarkable results "[19] The front pages of Soviet papers are filled with "spontaneous" tributes to Stalin coming from individuals and groups in every station in life. "All my thoughts, all my feelings, are directed toward Comrade Stalin," V L. Komarov, president of the Academy of Science, declared on the occasion of his seventy-fifth anniversary "Joseph Vissarionovich—our friend, teacher, and leader helps every man and woman to live and to create Every one has many tales of what he owes in his life to the genius of Stalin"—(*Pravda,* October 15, 1945) It will be noted that restraint and understatement are not characteristics of Soviet tributes to the leader It is a wonder that this sort of thing could be kept going for over two decades.[20]

What Is Political Democracy? The monopolistic position of the Party in the Soviet State and the complete control of the Party by Stalin give a very definite and grim meaning to the phrase "dictatorship of the proletariat," which the Webbs found it impossible to comprehend Nevertheless, the Soviet leaders have a certain formal justification for describing the USSR as a democracy since the Constitution has introduced universal suffrage and the direct secret ballot How this dual system works in practice has already been explained.

[19] S I Kaftanov, *Vydaiushchaiasia rol laureatov stalinskoi premii v razvitii nauki i tekhniki v SSSR* (*The Outstanding Place of Stalin Prize Laureates in the Development of Science and Technology in the USSR*), verbatim report of a lecture delivered before the All-Union Society for the Propagation of Political and Scientific Knowledge (Moscow, 1949), pp 5 6

[20] Bad example is contagious According to Joseph E Davies, United States Ambassador to Moscow in 1936–1938, Stalin "gives the impression of a strong mind which is composed and wise His brown eyes are exceedingly kind and gentle A child would like to sit in his lap and a dog would sidle up to him" (Joseph E Davies, *Mission to Moscow*, New York, 1941, pp 356–357) These lines were written by Mr Davies in the midst of the great purge Presumably not without the approval of the Department of State, *Mission to Moscow* was made into a film in which Mr Davies, impersonated by a most engaging actor, modestly assumed the rôle of savior of the world

Universal suffrage and direct secret ballot, however, are merely the tools of democracy in the sense that the term is used outside the totalitarian countries The essence of political democracy is the right to hold and express freely views that do not agree with those of the group in power Organized opposition is a vital element of a modern democratic system, an element that is indispensable to the efficient and orderly conduct of the business of government Great Britain has officially recognized the importance of the dissenting minority by providing a salary for the leader of "His Majesty's Opposition" in the House of Commons The one-party State is the antithesis of political democracy in the accepted meaning of the term

The One-Party State and the Old-Fashioned Autocracies The methods of the one-party State are just as different from those of the old-fashioned autocracies, such as Imperial Russia, Royal Spain, or, perhaps some of the South and Central American republics, as they are from democratic procedure It will be recalled that in Imperial Russia the franchise was limited, the powers of the State Duma were parsimoniously measured out and frequently infringed by the Government The official slogan was "do not get together" (*ne skoplia-tsa*), that is, public gatherings were looked upon with suspicion as a potential source of danger to the regime Under the Soviet rule, on the contrary, "to get together" has become a duty, the masses are not only permitted but are forcibly encouraged to vote, and the elective assemblies enjoy in theory the widest powers On every conceivable occasion the tramping of millions of feet resounds in the streets of Moscow, just as it did in those of Rome and Berlin in the days of Mussolini and Hitler Nevertheless the assembled multitudes and their accredited representatives are far more obedient and docile than are public opinion and parliament under any other form of government The apparent paradox may be explained by paraphrasing the German adage "*Und der Konig absolut wenn er unsern Willen tut*"—the king has absolute power if he does what we want him to do. The reverse is true of the modern one-party State: the people have absolute power provided they do as they are told by the leader through the instrumentality of the Party This is the real meaning of democracy in the one-party State, whether Soviet, Fascist, or National Socialist On the other hand, through its rule by Government fiat, the Soviet regime is the continuation of a tradition that has been the curse of Russian history since the unification of the country under the Grand Dukes of Moscow and, perhaps, even earlier

THE TEST OF WAR

Victory. War is the supreme test of the stability of a political regime The Soviet Union withstood the strain and stress of unexampled defeats and the exaltation of victory, the dictatorship of Stalin and the Communist Party emerged unimpaired from the ordeal, and pre-War administrative and economic policies remained practically unchanged. As a consequence of the War the USSR has expanded its territory, extended its dominion over a number of formerly independent States, and for a year or two after the end of hostilities

held an extraordinary high place in the council of nations. Soviet historiography does not understate the part played by the USSR in victory and, indeed, interprets the defeat of Germany and Japan as conclusive evidence of the superiority of the Soviet system. The participation of the Western allies in the struggle is seldom mentioned, except to emphasize that delays in establishing a "second front" in Europe were responsible for the German advance into Russia.

Disaffection. There is, however, another side to the picture which is never mentioned in the Soviet Union and has received little attention abroad, the poor showing of the Red Army in the early stages of the War[21] and the powerful movement of disaffection among both troops and the population of the occupied territories, a movement that appeared to threaten the very foundation of the Communist rule.[22] During the first four months of the Soviet-German War, according to German data quoted by Nicolaevsky, 3.9 million Soviet soldiers surrendered to the enemy and by the spring of 1942 the number of Russian prisoners in German camps had risen to 5.5 or 6 million, a probably unprecedented record in the history of any war. Not less notable was the large proportion of prisoners who expressed the desire to bear arms against the Soviets. In one camp nearly half of the inmates (over 12,000 out of 26,000) signed a petition to this effect. It would be unwarranted to draw broad conclusions from fragmentary data, but the fact of widespread disaffection among the Soviet troops may be regarded as established.[23] Army units recruited among Russian *émigrés*, prisoners of war, and members of national minorities (Ukrainians, Armenians, and so on) were organized by the German command. By the autumn of 1942, according to Nicolaevsky, the number of men enrolled in, or affiliated with, these formations ran into "hundreds of thousands." By far

[21] According to Hopkins, at a dinner in Teheran (1943) Stalin "said that in the winter war against Finland the Soviet Army had shown itself to be very poorly organized and had done very badly, that as a result of the Finnish War the entire Soviet army had been reorganized, but even so, when the Germans attacked in 1941, it could not be said that the Red Army was a first-class fighting force. That during the war with Germany, the Red Army had become steadily better . . ." R. E. Sherwood, *Roosevelt and Hopkins* (Harper & Brothers, New York, 1948), p. 790.

[22] This section is largely based on a study by B. I. Nicolaevsky, *Porazhencheskoe dvizhenie 1941–1945 godov i General A. A. Vlasov* ("The Defeatist Movement of the Years 1941–1945 and General A. A. Vlasov"), in *Novyi Zhurnal* (*The New Review*), New York, 1948, vol. xviii, pp. 209–234, and vol. xix, pp. 211–247, and two articles by George Fischer, "The New Soviet Emigration," and "General Vlasov's Official Biography," in *The Russian Review*, New York, 1949, vol. 8, No. 1, pp. 6–19, and vol. 8, No. 4, pp. 284–311. Both Nicolaevsky and Fischer visited Russian "displaced-person" camps in Europe and interviewed their inmates. Nicolaevsky, a careful historian and journalist, has also drawn on Russian newspapers published during the War in occupied Europe, on the records of the Nuremberg trials, and on the archives of Alfred Rosenberg, German Minister for the Eastern Territories in 1941–1945. The documentation is avowedly incomplete and much of it appears to have been deliberately destroyed by Soviet authorities.

[23] This conclusion is corroborated by Stalin's frantic appeals to the Allies and by the state of dismay, bordering on despair, that prevailed in the Kremlin. On July 31, 1941, Stalin told Hopkins that "he would welcome the American troops on any part of the Russian front under the complete command of the American Army" (Sherwood, *op. cit.*, p. 343). In a message to Churchill of September 4, 1941, Stalin spoke of the "mortal menace" facing the Soviet Union. He asked the impossible: establishment of a "second front" in the Balkans or in France before the end of the year, delivery of 30,000 tons of aluminum by the beginning of October, and a monthly minimum aid of 400 airplanes and 500 tanks. "Without these two forms of help," Stalin wrote, "the Soviet Union will either suffer a defeat or be weakened to

the largest number of volunteers were prisoners of war. A plan for the amalgamation of the scattered Russian units into a "Russian Liberation Army" is said to have been approved by Field Marshal von Brauchitsch in November, 1941, but its execution was delayed by lack of agreement among the German authorities. It was not until the end of 1944, when the fortunes of war turned definitely against Hitler, that the Russian Liberation Army came into existence, and even then it did not include all Russian military formations. The army was commanded by A. A. Vlasov, a former lieutenant-general of the Red Army. Vlasov (1900–1945) was son of a peasant, a veteran of the Russian civil war, a member of the Communist Party, and an outstanding officer of the Soviet general staff. He took a prominent part in the defense of Moscow in 1941, but was made prisoner by the Germans a year later and almost immediately threw himself into the work of organizing an anti-Soviet Russian army under German auspices. According to Fischer, the Vlasov movement claimed a following of about 300,000, but its combatant effectives did not exceed one division which, moreover, took little active part in fighting. The disproportion between the number of Soviet nationals and Russian *émigrés* in occupied Europe (estimates vary from 8 to 15 million), on the one hand, and the actual size of the Russian Liberation Army, on the other, is partly (but not entirely) explained by the difficulties in obtaining equipment and the half-heartedness of the German command about the whole matter.

Repatriation. The tribulations of Russian nationals in occupied Europe did not end with the termination of the War. Under the terms of the Yalta agreement (February, 1945) the displaced nationals of the signatory powers were to be repatriated. The strict enforcement of this provision by Allied commanders led to suicides, disorders among the displaced persons, and mass flights of Russian inmates of the camps. Forced repatriation was discontinued in the American zone in 1946 and in the British zone in the spring of 1947. The number of Soviet nationals turned over to the Soviets, and the fate that befell them, are not known. Vlasov and the other leaders of the Russian Liberation Army ranked high in the Soviet list of "war criminals." They were handed to the Red Army, tried, and hanged in Moscow.

Significance of the Movement. It may be significant that in the human flotsam that gathered under Vlasov's banner were many ranking Red Army

---

such an extent that it will lose for a long period any capacity to render assistance to its Allies ...." (W. S. Churchill, *The Grand Alliance*, Houghton Mifflin, Boston, 1950, pp. 455–456.) A few days later, as an alternative for the "second front," Stalin advanced a different plan. "It seems to me," he wrote to Churchill on September 15, "that Great Britain could without risk land in Archangel twenty-five or thirty divisions, or transfer them across Iran to the southern regions of the USSR." Commenting on this proposal Churchill writes: "It was almost incredible that the head of the Russian Government with all the advice of their military experts could have committed himself to such absurdities. It seemed hopeless to argue with a man thinking in terms of utter unreality" (*ibid.*, pp. 462–463). The pressing requests for a "second front" and the dispatch of American and British troops to the USSR are characteristic of the limitations of Stalin's vision. Thinking in the familiar terms of masses of Russian soldiers plodding wearily through the mud and slosh of their roadless plains "the greatest military genius of all time and all peoples" was incapable of grasping the self-evident and immense difficulties involved in a major amphibious operation.

officers and men formerly holding responsible positions in the Communist Party and Soviet administration. The success of the Soviet Government in checking disaffection and in restoring the morale of the army may, perhaps, be explained by the utter ruthlessness of the Germans in the occupied territories, and by the equally ruthless measures employed by the Kremlin to restore order and obedience. It is also arguable that the generous flow of Lend-Lease (over $11 billion) helped to strengthen the hold of the Moscow Government by relieving shortages and by providing tangible proof of the close cooperation between Soviet Communism and the Western democracies. The fact that in 1943–1945 three autonomous republics and an autonomous region were wiped off the map and their population "resettled elsewhere" [21] is additional evidence that the disaffection movement was a factor of considerable magnitude and that the Government suppressed it with an iron hand.

MARXISM AND THE SOVIET REVOLUTION

Internal Developments. The Soviet revolution raises a host of nice problems of Marxian analysis. Some of them have already been mentioned. By a curious paradox the triumph of revolution in Russia and its subsequent course demonstrate the fallibility of the Marxian prognosis and, indeed, may be construed as its negation. Contrary to the expectations of Marx, based on his "scientific" analysis of the capitalist society, the revolution took place not in an advanced industrial State, but in the backward agricultural Empire of the Tsars, a country for which Marx had the greatest contempt. The establishment of the dictatorship of the proletariat was not brought about by the inexorable contradictions at work in a capitalist society; on the contrary, the Soviet Union has been industrialized because it is governed by a proletarian dictatorship. The State has not withered away, the army is huge, and the bureaucracy omnipresent and omnipotent.

Foreign Relations. The international doctrines of Marx, Lenin, and Stalin fit ill into the realities of the situation. The Soviet Union, especially since the acceptance of Stalin's theory of "Socialism in one country," has been in a dual position: on the one hand, it is the leader of the international proletariat in the struggle against capitalism; on the other hand, it is heir to the Empire of the Tsars and a great national and nationalistic power. These two elements have been often in conflict, but it would seem that from the middle of the 1920's to about 1943, when the defeat of Germany appeared imminent, national considerations (determination to build up the "Socialist homeland" which required peace and the cooperation of capitalist countries, and later the exigencies of the defense of the Union) were uppermost in Soviet foreign policy, the advancement of world revolution having been relegated to the background. Fascism, especially its German brand, had been invariably represented by Stalin and his lieutenants as the last stage of "decaying capitalism," and the chief aim of capitalism, of course, is the destruction of the Soviet Union. Yet Stalin aligned himself for a time with Hitler, and later was forced

[21] See above, p. 741

into an alliance with the capitalist Western democracies, an alliance that was instrumental in saving the Soviet Union from a "mortal menace" and probable defeat The emergence of Communist dictatorships ("people's democracies") in a number of countries in Eastern and Southeastern Europe, again, was the result not of the inner contradictions within the capitalist societies of Rumania, Yugoslavia, Czechoslovakia, *et al*, but of the relentless pressure of the Red Army which was imposed upon these unhappy countries not without the connivance of the Western capitalist powers, a situation that neither Marx nor Lenin had foreseen

Theory and Realities. It is not easy to force these bewildering and conflicting developments into the strait jacket of a dogmatic scheme This may well explain why the commission for the revision of the program of the Communist Party of the Soviet Union, appointed in 1939, has given no sign of life Whatever the qualms of the pundits of Marxism, practical-minded Communists have no ground for alarm If Socialism means the elimination of private enterprise and public ownership of means of production, the Soviet Union is definitely a Socialist State.[25] Communist influence throughout the world has immensely increased and the destruction of the capitalist environment, on which, according to Stalin, depend both the security and the future of the Communist commonwealth, is making steady progress both in Europe and in the East What, from the Western point of view, was a fantastic nightmare a decade ago is a reality today The theoretical predicament of Communism is due not to the course of world events but to the insistence, contrary to all evidence, on the infallibility of the Marxian dogma

SOVIET DEMOCRACY AND THE WORLD

The Comintern. The ebb and flow of the interest taken by the Kremlin in the promotion of world revolution, and the consequent fluctuations in Soviet foreign policy, are epitomized by the history of the Third (Communist) International, or Comintern The Third International, a world-wide alliance of the Communist parties, was established in Moscow in March, 1919 [26] Its charter provided that "The Communist International has for its purpose the struggle by all available means, including armed force, for the overthrow of the international bourgeoisie and the creation of an international Soviet republic as a transition stage to the complete abolition of the State" A manifesto issued by the Second Congress of the International amplified the foregoing statement by adding that the "international proletariat will not lay down its sword until Soviet Russia has become a link in the federation of the Soviet republics of the world." Officially there was no connection between the Soviet Government and the International, but the latter was entirely dominated by Soviet leaders,

[25] Since Tito's break with Moscow, the Yugoslav Communist Party has looked upon the Soviet system as a poor specimen of Socialism In 1950 the Yugoslav Party reached "the very important decision" that the Russian Soviet system is not Socialism

[26] The First International was organized by Marx and Engels and functioned from 1864 to 1872, the Second International was established in 1889 but was eventually repudiated by the Communists as lacking in revolutionary spirit, and became extinct after World War I.

had its headquarters in Moscow, and was, presumably, financed by the Soviets. No wonder, therefore, that the activities of the International closely reflected those of the Soviet Government. True to its charter and in agreement with the early militant attitude of Moscow, the International in the beginning held its congresses yearly in 1919, 1920, 1921, and 1922 The Fifth Congress met in 1924, the Sixth in 1928, and the Seventh and last, after several delays, in 1935 The decline of the interest taken by the Soviet leaders in world revolution is indicated by the growth of the intervals between the congresses Moreover, the Sixth Congress, held in 1928, produced the International's new program which was largely the work of Stalin and Bukharin, who was later executed during the great purge The program, while retaining the inflammatory phraseology of Marx's *Communist Manifesto* introduced some important modifications in the revolutionary doctrine The most significant among them was the strong emphasis on the duty of the world proletariat to defend the Soviet Union against the capitalist nations Although the International never repudiated the revolutionary theories of its founders, its character has suffered an unmistakable change: from the militant leader of the revolutionary world proletariat it became primarily an institution for the defense of the Soviet Union against capitalist "aggression" Moreover, the practical influence of the International both in Russia and abroad was negligible The "general staff of the world revolution" led in Moscow the obscure and uneventful existence of a minor government department Yet the very presence of the headquarters of the International in Moscow and its close although unofficial association with the Soviet Government not only indicated the dual nature of the Soviet State (as a national power and the leader of world revolution) but were also a source of embarrassment in matters of foreign policy

Litvinov's Pledges. The provisions of the charter of the International quoted above were obviously incompatible with some of the obligations entered into by the Soviet Government. For instance, Litvinov gave President Roosevelt on November 16, 1933, the pledge that it would be the fixed policy of the Soviet Government "not to permit the formation or residence on its territory of any organization or group—and to prevent the activity on its territory of any organization or group, or of representatives or officials of any organization or group—which has as an aim the overthrow of, or the preparation for the overthrow of, or bringing about by force of a change in, the political or social order of the whole or any part of the United States, its territories or possessions" This pledge was clearly inconsistent with the existence in Moscow of an organization such as the Comintern. The State Department, however, showed good judgment in not insisting on the fulfillment of a promise incompatible with the Communist doctrine and inserted in the agreement, presumably, to pacify a section of Congressional opinion What seemed impossible under peacetime conditions became feasible during the War As Lend-Lease supplies poured into the USSR and momentous international decisions bearing on the future of the world were in the making, the Kremlin, proceeding on the principle that *Paris vaut bien une messe*, ordered the Com-

intern to dissolve itself. The act of dissolution (May 22, 1943), a verbose, long-drawn-out and awkward document which few took the trouble to read, made it plain that the abolition of the Comintern was a purely organizational matter and in no way signified the repudiation of world revolution.[27] Western statesmen, newspaper editors, and news commentators inclined to take the opposite view. Enthusiasm for Soviet resistance ran high, and it was a pleasing thought that the great Eastern Ally had at last renounced its revolutionary eccentricities and had returned to the fold of "normalcy."

The Cominform. It was a rude awakening when on October 5, 1947, Moscow announced that at a conference held in Poland at the end of September the international organization of Communist parties had been revived. There is an essential difference in the position of the Comintern and that of the Cominform, as the new organization came to be known: in the 1920's and the 1930's the chances of international Communism were practically nil, this statement is no longer true in a world shattered by the War.

Coexistence with the Capitalist Nations. After the exhuberance of the early months of the revolution had subsided and the unwillingness of other countries to follow Russia along the path of revolution had become patent, the Soviet Union settled down to a protracted period of peaceful coexistence with the capitalist world. There were, of course, frictions and disturbing incidents, but Moscow did nothing to threaten even remotely international peace. Russian Communism remained strictly a domestic product. Prior to 1939 not a single country embraced the Communist creed. The Soviets withdrew into their shell and played but a minor part in international affairs. The fact that the USSR was not represented in Munich on the fateful day of September 29, 1938, was symbolic of Russia's eclipse as a great European power.

The Stalin-Hitler Pact. The Stalin-Hitler Pact of friendship and non-aggression (August 23, 1939) marked the dramatic reappearance of the Soviet Union on the stage of world politics. The Kremlin had negotiated simultaneously with Germany and with England and France, but the English and the French Governments did not go far enough in meeting Soviet wishes, there were particular difficulties about the border States which, suspecting what was in store for them, refused to allow the "temporary" occupation of their territory by the Red Army. It was easy for Hitler to outbid London and Paris. The

[27] The resolution of the Presidium of the Executive Committee of the Communist International of May 22, 1943, said in part: "The whole development of events in the last quarter of a century and the experience accumulated by the Communist International convincingly showed that the organizational form of uniting workers, chosen by the first congress of the Communist International, answered conditions of the first stages of the working class movement, but it has been outgrown by the growth of this movement and by the complications of its problems in separate countries and has even become a drag on the further strengthening of the national working-class parties. . . . Guided by the judgment of the founders of Marxism and Leninism, Communists have never been supporters of the conservation of organizational forms that have outlived themselves. They have always subordinated forms of organization of the working-class movement, and methods of working of such organization, to the fundamental political interests of the working-class movement as a whole, to the peculiarities in the concrete historical situation and to problems immediately resulting from this situation. . . . The Communist International, as the directing center of the international working-class movement, is to be dissolved, thus freeing the sections of the Communist International from the obligations arising from the statutes and resolutions of the congresses of the Communist International. . . ."

Soviet-German agreements sanctioned the annexation by the Soviet Union of Eastern Poland, Latvia, Estonia, Lithuania, and Bessarabia and gave Moscow a free hand in Finland. What were the motives behind Stalin's decision to side with Hitler? They were probably mixed: lack of confidence in the Western powers; fear of Germany; quest for security in the traditional meaning of the term; nationalistic ambitions to recover the territories lost by Russia in 1917–1918; desire to spread the Communist gospel in the annexed territories, security, in the Communist meaning of the term, by eliminating capitalist environment. Moreover, the Soviet-German pact made war in Europe a certainty and wars, according to Lenin, lead to revolutions. The German invasion was a terrible price to pay for the machinations and miscalculations of the Kremlin, yet at the end of the War which was fought under the banner of freedom and democracy the Soviet Union relinquished none of its ill-acquired gains and, indeed, expanded them. It is arguable, however, that since Hitler was clearly determined to fight the Soviets it might have been sound national policy for Moscow to let Western Europe bear the brunt of the German onslaught and to postpone Soviet participation until the German war machine had lost some of its driving power and cooperation of the Western nations was definitely assured. On the other hand, according to von Ribbentrop, deliveries under the Soviet-German trade agreements "were carried out by the Soviets according to schedule until the last day before the rupture,"[28] and Soviet historiography, which credits Stalin with unfailing foresight, makes one exception to this rule: according to the official view the German attack was both unprovoked and unforeseen.

Post-War Policies. The motives of Soviet post-War policies conform more closely than those of the earlier period to a definite pattern directed at the achievement of the central goal set by Stalin—the elimination of capitalist environment. By capitalist environment I mean not the "predatory" rule of "monopoly capital" or "Wall Street" but the sum total of the political, economic, and social institutions which form the common heritage of the Western world and which we call Western civilization. The Soviets strive to attain their objective through a variety of means: outright annexations; military occupations which led to the establishment of "people's democracies"; removal of capital equipment by way of reparations, a policy which not only undermined the capitalist structure of Germany but had profound and disastrous repercussions on the economic conditions of other countries, trials of "war criminals" and denazification which have shattered the social structure of the former totalitarian countries where affiliation, often nominal, with the ruling party was mandatory for everyone in any position of prominence; the veto power of the permanent members of the Security Council of the United Nations which reduced the international organization to impotence, finally, "war by proxy" in Korea. The passionate advocacy of many of these policies in the United States and in Western Europe (dismantling of German plants, trials of war criminals, denazification, the veto power) detracts nothing from the fact that in the final

[28] *The New York Times*, June 23, 1941

analysis these measures serve well the main object of Soviet Communism—the elimination of capitalist environment Fomentation of disaffection in the colonial empires and of extreme nationalism among the "under-developed" or "backward" peoples is another formidable weapon in the arsenal of Moscow

Lenin Again. Nearly fifty years ago, in the course of a seemingly futile controversy with the Mensheviks over the desirability of cooperation with the liberal bourgeois groups in the struggle against autocracy, Lenin laid down the rule that the revolutionary proletariat may use the bourgeoisie as a tool but should never support it as an ally This is the principle applied by the Kremlin in its relations with the Western powers Another principle traceable to Lenin may be helpful in understanding the essence of Soviet democracy *Iskra* (*The Spark*), a paper founded by Lenin in 1900, carried on its front page the proud device "From the spark—the conflagration" In 1900 the Russian Social-Democratic Party, precursor of the Communist Party, was a mere spark but from it came the conflagration which consumed the Empire and is spreading throughout the world From their experience the Soviet leaders have learned the lesson that sparks lead to conflagrations, and they take no chances The stamping out of sparks, that is, the destruction of any potential opposition, is the only branch of administration in which the Kremlin has achieved unrivaled efficiency A firm grasp of this principle which has been extended to "people's democracies" is essential to a comprehension of the mechanics of Soviet democracy

Theory and Practical Policies. It may be argued that in the interpretations offered in these pages undue prominence is given to Communist dogma Scholasticism is repugnant to the Western tradition "Marxism-Leninism," says the journal of the Central Committee of the Communist Party, "is a scientific world-theory of the Bolsheviks which guides the Party in all its practical activities" [20] One is tempted to discount such statements, but an examination of Soviet policies discloses their conformity with the "Party line." The Soviet system is, intrinsically, a godless theocracy governed by an order whose members are bound together by a mesh of closely interwoven personal interests and are committed to the Marxian revelation as interpreted by Lenin and Stalin

[20] *Bolshevik*, September, 1944, p 1.

BIBLIOGRAPHICAL NOTE ON THE USSR

SUGGESTED READINGS

The number of authoritative books on Russia available in the English language is surprisingly small. Those who desire to obtain a broader understanding of Russia should familiarize themselves with the Russian classics—Griboedov, Gogol, Turgenev, Dostoevsky, Chekhov, Tolstoy, Gorky, Bunin—whose works have been translated into English. The books listed below deal more directly with Russian government and politics.

Part I. Russia Before the Bolshevik Revolution

Badayev, A., *The Bolsheviks in the Tsarist Duma* (New York: International Publishers, 1929). An account of the activities of the Russian Social Democratic Party under the Imperial regime by a former Bolshevik member of the Duma.

Chamberlin, W. H., *The Russian Revolution, 1917–1921* (New York, Macmillan, two volumes, 1935). A good history of the revolution.

Curtiss, J. S., *Church and State in Russia. The Last Years of the Empire, 1900–1917* (New York, Columbia University Press, 1940). A sound and reliable survey of position of the Russian Church under the Empire.

Florinsky, M. T., *The End of the Russian Empire* (New Haven, Yale University Press, 1931). A historical explanation of the fall of the monarchy.

Gronsky, P. P., and Astrov, N. J., *The War and the Russian Government* (New Haven, Yale University Press, 1929). A useful discussion of the central and municipal government.

Kerensky, A., *The Catastrophe* (New York, Appleton, 1927). Kerensky's own story of the revolution of 1917.

Kokovtsov, Count V. N., *Out of My Past* (Stanford, Stanford University Press, 1935). Illuminating memoirs of the former Prime Minister and Minister of Finance of Imperial Russia.

Michelson, A. M., Apostol, P. N., and Bernatzky, M. W., *Russian Public Finance during the War* (New Haven, Yale University Press, 1928). A reliable account covering the War and the pre-War period.

Miller, Margaret S., *The Economic Development of Russia, 1905–1914* (London, P. S. King and Son, Ltd., 1926). A dependable historical survey.

Pares, Sir Bernard, *The Fall of the Russian Monarchy* (New York, Alfred A. Knopf, 1939). An attempt to explain the revolution by the influence of the Empress and Rasputin.

Polner, T. I., and others, *Russian Local Government during the War and the All-Russian Union of Zemstvos* (New Haven, Yale University Press, 1930). A useful study of the development and achievements of local government.

Robinson, G. T., *Rural Russia under the Old Regime* (New York, Longmans, Green and Company, 1932). A good account of rural conditions prior to the revolution.

Trotsky, L., *The History of the Russian Revolution* (New York, Simon and Schuster, three volumes, 1932) Trotsky's revolutionary classic

Zagorsky, S O, *State Control of Industry in Russia during the War* (New Haven, Yale University Press, 128) A careful and penetrating study

Part II The USSR

Arakelian, A., *Industrial Management in the U S S R* (Washington, Public Affairs Press, 1950) Translation of a study published by the Soviet Academy of Sciences in 1947

Arnold, A Z, *Banks, Credit, and Money in Soviet Russia* (New York, Columbia University Press, 1937) A well-documented and sound discussion of monetary and financial policies

Baykov, A, *Soviet Foreign Trade* (Princeton, Princeton University Press, 1946) A factual and statistical study

Baykov, A, *The Development of the Soviet Economic System* (New York, Cambridge University Press, 1947) A well-documented and thorough but uncritical and dull survey of Soviet economic conditions prior to World War II

Bergson, A, "The Fourth Five Year Plan," *Political Science Quarterly*, June, 1947 A useful statistical summary.

Berman, H J, *Justice in Russia* (Cambridge, Harvard University Press, 1950) Dr Berman provides some useful information on the Soviet judicial system Unfortunately he is unduly impressed by the "paternal" character of Soviet justice

Bienstock, G, Schwartz, S M, and Yugow, A, *Management in Russian Industry and Agriculture* (New York, Oxford University Press, 1944) A reasonable and accurate discussion of problems of management.

Bogolepov, M I, *The Soviet Financial System* (London, Lindsay Drummond, Ltd, 1945) A useful study by a Soviet authority

Carr, E H, *The Bolshevik Revolution, 1917–1923*, vol I (New York, Macmillan, 1951) A lucid but highly imaginative and personal account of the formative years of the Soviet rule interpreted exclusively in terms of the Bolshevik Party

Central Committee of the All-Union Communist Party, *History of the Communist Party of the Soviet Union* (New York, International Publishers, 1939) History of the Soviet Communist Party ascribed officially to Stalin

Chamberlin, W H, *Collectivism: A False Utopia* (New York, Macmillan, 1937)

Chamberlin, W H., *The Russian Enigma* (New York, Scribner's, 1943) Two highly critical accounts by the former Moscow correspondent of the *Christian Science Monitor*

Chamberlin, W H, *The Soviet Planned Economic Order* (Boston, World Peace Foundation, 1931). Useful discussion of the early stages of planning

Citrin, Sir Walter, *I Search for Truth in Russia* (New York, E P Dutton, 1937)

Citrin, Sir Walter, *In Russia Now* (London, R Hale, Ltd, 1942) Personal narratives by the former President of the International Federation of Trade Unions who was particularly interested in labor questions

Dallin, *The Real Soviet Russia* (New Haven, Yale University Press, 1944) A grim picture by a Russian émigré historian

Deutscher, I, *Soviet Trade Unions* (London, Royal Institute of International Affairs, 1950) A common-sense appraisal of Soviet trade unions which, unfortunately, contains several important errors and omissions of essential facts

Deutscher, I, *Stalin A Political Biography* (New York, Oxford University Press, 1949) An up-to-date but not very profound interpretation of Soviet history and the Communist leader

Dobb, M, *Soviet Economic Development since 1917* (New York, International Publishers, 1948) An evaluation of Soviet economic developments from the orthodox Socialist point of view

Florinsky, M T, *World Revolution and the U S S R* (New York, Macmillan, 1933) A study of the evolution of Communist theory and its repercussions

Grinko, G T, *The Five Year Plan* (New York, International Publishers, 1930) Official summary by a former Soviet Commissar.

Gsovski, V, *Soviet Civil Law* (Ann Arbor, University of Michigan Law School, two volumes, 1948–1949) A survey of the development of Soviet civil law and a collection of the principal enactments

Harper, S, and Thompson, R, *The Government of the Soviet Union* (New York, Van Nostrand, 1949). A reasonable study of the Soviet Government

Hubbard, L. E., *Soviet Money and Finance* (London, Macmillan, 1936).

Hubbard, L. E, *Soviet Trade and Distribution* (London, Macmillan, 1938).

Hubbard, L E, *The Economics of Soviet Agriculture* (London, Macmillan, 1939)

Hubbard, L E, *Soviet Labor and Industry* (London, Macmillan, 1942) Four concise, informative, and readable volumes which throw much light on Soviet economic development and policies

Jasny, N, *The Socialist Agriculture of the U S S R.: Plans and Performance* (Stanford, Stanford University Press, 1949) A monumental, critical statistical study of Soviet agriculture

The Land of Socialism Today and Tomorrow Reports and Speeches of the Eighteenth Congress of the Communist Party of the Soviet Union, March 10 21, 1939 (Moscow, Foreign Languages Publishing House, 1939) A most valuable official collection

Lenin, V I, *The State and the Revolution* (various editions). Lenin's celebrated discussion of the future of the Socialist commonwealth

Littlepage, J D, and Bess, D., *In Search of Soviet Gold* (New York, Harcourt, Brace, 1938) The fascinating story of an American engineer who spent ten years in the service of the Soviets.

Lozovsky, A *Handbook of Soviet Trade Unions* (Moscow, Cooperative Publishing Society of Foreign Workers in the U.S.S R, 1937) An official Soviet account

Petrov, V, *My Retreat from Russia* (New Haven, Yale University Press, 1950) Personal narrative of a former inmate of a Soviet labor camp

Popov, N., *Outline History of the Communist Party* (New York, International Publishers, 1934) An early official version of the history of the Soviet Communist Party

Rappard, W E, Sharp, W R, and others, *Source Book on European Governments* (New York, Van Nostrand, 1937) Some useful basic documents.

Schwartz, H., *Russia's Soviet Economy* (New York, Prentice-Hall, 1950) A useful array of up-to-date facts and figures

Smith, W B, *My Three Years in Moscow* (Philadelphia, Lippincott, 1950) A sound, reliable, and well-documented account by the United States ambassador to Moscow in 1946–1949

Souvarine, B, *Stalin, A Critical Survey of Bolshevism* (New York, Longmans Green, 1939) A good history of the Bolshevik movement by the founder of the French Communist Party The bibliography which appears in the French edition has been omitted in the English version

Stalin, J V, *Problems of Leninism* (Moscow, Foreign Languages Publishing House, 1940) A collection of Stalin's writings

Strong, Anne L, *The New Soviet Constitution* (New York, Henry Holt, 1937). A good translation of the 1936 Constitution and a useful but uncritical survey of earlier constitutional developments

Timasheff, N S, *The Great Retreat* (New York, E P Dutton, 1946) Some useful information on the social conditions in the USSR which, unhappily, Professor Timasheff interprets as a retreat from Communism

Towster, J, *Political Power in the U S S R, 1917-1947* (New York, Oxford University Press, 1948). A good account of the structure of the Soviet Government. Some of

the author's conclusions, however, are based on slight evidence or would seem to be contrary to the evidence he himself produces.

Trotsky, L., *The Revolution Betrayed* (Garden City, N. Y., Doubleday, Doran, 1937). A bitter indictment of Stalin's rule.

Trotsky, L., *Stalin. An Appraisal of the Man and His Influence* (New York, Harper and Brothers, 1946). A political biography the completion of which was interrupted by Trotsky's murder.

USSR, Council of People's Commissars, State Planning Commission, *The Soviet Union Looks Ahead. The Five-Year Plan for Economic Construction* (New York, Liveright, 1930). An official Soviet statement.

USSR, Council of People's Commissars, State Planning Commission, *Socialist Construction in the U.S.S.R.* (Moscow, Soyuzorgouchet, 1936). Another official Soviet statement.

USSR, Council of People's Commissars, State Planning Commission, *Summary of the Fulfillment of the Five-Year Plan* (New York, International Publishers, 1934). Official record of the fulfillment of the first Five-Year Plan.

Volin, L., *A Survey of Soviet Russian Agriculture* (Washington, D.C., Government Printing Office, 1951). A valuable up-to-date study prepared under the auspices of the United States Department of Agriculture.

Webb, S. and B., *Soviet Communism. A New Civilization?* (New York, Scribner's, 1936). An elaborate but highly imaginative and untrustworthy account of the social structure, government, and planning in the USSR prior to the adoption of the 1936 Constitution.

Werner, M. R., editor, *Stalin's Kampf* (New York, Harcourt, Brace, 1937). A useful, annotated collection of Stalin's writings.

LIST OF PRINCIPAL SOURCES

Books, Pamphlets, and Articles

Aksenenok, G. A., *Pravo gosudarstvennoi sobstvennosti na zemliu v SSSR* (*Law of State Ownership of Land in the U.S.S.R.*), edited by Professor N. D. Kazantsev (Moscow, 1950).

Aleksandrov, G. F., and others, *Iossif Vissarionovich Stalin* (*J. V. Stalin*), a short biography, second edition (Moscow, 1948).

Aleksandrov, N. G., and Moskalenko, G. K., *Sovetskoe trudovoe pravo* (*Soviet Labor Law*) (Moscow, 1947).

Andrianov, V., "*Za dalneishee uluchshenie organizatsii i oplaty truda v kolkhozakh*" ("For Further Improvement in the Organization and Remuneration of Labor on the Collective Farms") in *Bolshevik*, No. 12 (Moscow, 1948).

Arkhipov, K. A., editor, *Deistvuiushchee zakonodatelstvo po sovetskomu upravleniiu* (*Soviet Administrative Law*), arranged by Kuchkel, A. V., and Orlov, R. P. (Moscow, 1926).

Astrakhanov, S., and Brodovich, S., *Administrativnoe zakonodatelstvo* (*Administrative Legislation*) (Moscow, 1936).

Berdnikov, A. I., and Eidelman, B. I., editors, *Narodnoe khoziaistvo SSSR* (*National Economy of the USSR*), collection of articles published in Soviet journals (Moscow, 1948).

Bergson, A., *The Structure of Soviet Wages* (Cambridge, 1944).

Bolshaia Sovetskaia Entsiklopediia (*Large Soviet Encyclopedia*), especially the supplementary volume on the USSR (Moscow, 1948).

Bubnov, A., *VKP (b)* (*The All-Union Party of the Bolsheviks*) (Moscow, 1934).

Bulletins on Soviet Economic Development, Department of Economics and Institutions of the USSR, University of Birmingham, Nos. 1–4 (Birmingham, 1949–1950).

Davydov, N. V., and Polиansky, N. N., *Sudebnaia reforma* (*Reform of the Judiciary*), two volumes (Moscow, 1915)

Diachenko, V., editor, *Biudzhetnaia sistema SSSR* (*The Budget System of the USSR*) (Moscow, 1937)

Gorshenin, K. P., Orlov, R. P., and Karasev, Ya. A., editors, *Sovetskoe trudovoe pravo* (*Soviet Labor Legislation*) (Moscow, 1938).

Gosplan SSSR, *Piatiletnii plan narodno-khoziaistvennago stroitelstva SSSR* (State Planning Commission, *The Five-Year Plan for the Development of the USSR*, three volumes, third edition (Moscow, 1930)

Gosplan SSSR, *Itogi vypolneniia pervago piatiletnago plana razvitiia narodnago khoziaistva SSSR* (State Planning Commission, *Summary of Fulfillment of the First Five-Year Plan for the Development of the National Economy of the USSR*) (Moscow, 1933)

Gosplan SSSR, *Vtoroi piatiletnii plan razvitiia narodnago khoziaistva SSSR 1933–1937* (State Planning Commission, *The Second Five-Year Plan for the Development of the National Economy of the USSR, 1933–1937*), two volumes (Moscow, 1934).

Gosplan SSSR, *Dvadtsat let sovetskoi vlasti* (State Planning Commission, *Twenty Years of Soviet Power*), a statistical handbook (Moscow, 1938)

Gosplan SSSR, *Itogi vypolneniia vtorogo piatiletnago plana razvitiia narodnago khoziaista SSSR* (State Planning Commission, *Summary of Fulfillment of the Second Five-Year Plan for the Development of the National Economy of the USSR*) (Moscow, 1939)

Gosplan SSSR, *Tretii piatiletnii plan razvitiia narodnago khoziaistva SSSR, 1938–1942* (State Planning Commission, *The Third Five-Year Plan for the Development of the National Economy of the USSR, 1938–1942*) (Moscow, 1939)

Grazhdanskii kodeks (*Civil Code*) (Moscow, 1937)

Karavaev, A., "*O dalneishem ukreplenii selskokhoziaistvennoi arteli*" ("On the Further Strengthening of the Agricultural Artel"), in *Bolshevik*, No. 8 (Moscow, 1948).

Kiselev, Ya. L., and Malkin, S. F., *Sbornik vazhneishikh postanovlenii po trudu* (*Collection of Labor Laws*) (Moscow, 1938)

Kleinman, A. F. *Sovetskii grazhdanskii protsess* (*Procedure in Soviet Civil Courts*) (Moscow, 1938)

Knorin, V., editor, *Kratkaia istoriia VKP (b)* (*Short History of the Communist Party of the Soviet Union*) (Moscow, 1934)

Konstitutsiia SSSR (*Constitution of the USSR*), various editions amended through June, 1950

Konstitutsiia RSFSR (*Constitution of the RSFSR*), amended through March, 1948 (Moscow, 1948)

Korkunov, N. M., *Russkoe gosudarstvennoe pravo* (*Russian Constitutional Law*), two volumes, seventh edition (Moscow, 1909).

Lazarevskii, N. I., *Lektsii po russkomu gosudarstvennomu pravu* (*Lectures on Russian Constitutional Law*), two volumes, second edition (St. Petersburg, 1910)

Lazarevskii, N. I., *Russkoe gosudarstvennoe pravo* (*Russian Constitutional Law*), vol. I, second edition (St. Petersburg, 1913)

Malenkov, G. M., *O zadachakh partiinykh organizatsii v oblasti promyshlennosti i transporta* (*On the Tasks of Party Agencies in Industry and Transport*), report to the Eighteenth Conference of the Communist Party, February 15, 1941 (Moscow, 1941)

Marx-Engels-Lenin Institute, *Vladimir I. Lenin, A Political Biography* (New York, 1943).

Mikolenko, Ya. F., and Nikitin, A. N., *Kolkhoznoe pravo* (*Legislation on Collective Farms*) (Moscow, 1939)

Miliukov, P. N., *Istoriia vtoroi russkoi revoliutsii* (*History of the Second Russian Revolution*), Vol. I, parts 1–3 (Sofia, 1921, 1922, and 1924)

Nastolnyi kalendar kolkhoznika (*The Collective Farmer's Yearbook*) (Moscow, 1937).

Nolde, Baron B E, *Ocherki russkago gosudarstvennago prave* (*Studies in Russian Constitutional Law*) (St Petersburg, 1911)

Plotnikov, K. N, *Biudzhet sotsialisticheskago gosudarstva* (*Budget of the Socialist State*) (Moscow, 1948)

Popov, P, and Tirzbanurt, T, *Okhrana truda—zadacha professionalnikh soiuzov* (*Protection of Labor—A Task of the Trade Unions*) (Moscow, 1939)

Postanovleniia sedmogo plenuma VTsSPS (*Decisions of the Seventh Plenary Session of the All-Union Council of Trade Unions*) (Moscow, 1938)

Postanovleniia vosmogo plenuma VTsSPS (*Decisions of the Eighth Plenary Session of the All-Union Central Council of Trade Unions*) (Moscow, 1939)

Presidium Verkhovnago Soveta SSSR, Informatsionno-statisticheskii otdel *SSSR Administrativno-territorialnoe delenie soiuznikh respublik na 1 oktiabria 1938 goda* (Presidium of the Supreme Soviet of the USSR, Bureau of Information and Statistics. *The U S S R The Administrative-Territorial Subdivisions of the Constituent Republics on October 1, 1938*) (Moscow, 1938)

Programma i ustav Vsesoiuznoi Kommunisticheskoi Partii Bolshevikov (*The Program and the Charter of the All-Union Communist Party of the Bolsheviks*) (Moscow, 1938)

Prokopovicz (Prokopovich), S N, *Russlands Volkswirtschaft unter den Sowjets* (Zürich, 1944)

Prokopovicz, S. N, *Vierter Funfjahrplan der Sowjetunion, 1946–1950* (Zurich, 1948)

Rosenblum, D S, *Zemelnoe pravo RSFSR* (*Land Law of the RSFSR*) (Moscow, 1929)

Rovinsky, N N, *Financy SSSR za XXX let, 1917–1947* (*Thirty Years of Public Finance of the USSR, 1917–1947*) (Moscow, 1947).

Rovinsky, N N, *Gosudarstvennyi biudzhet SSSR* (*State Budget of the USSR*) (Moscow, 1944)

Rychkov, N, *O proekte polozheniia o sudoustroistve SSSR, soiuznikh i avtonomnikh respublik* (*Report on the Bill Dealing with the Judiciary of the U S S R, and That of the Constituent and Autonomous Republics*) (Moscow, 1938)

Shvernik, N, *O rabote profsoiuzov v sviazi s resheniiami vosemnadtsatago sezda VKP* (b) (*On the Work of the Trade Unions in Connection with the Decisions of the Eighteenth Congress of the Communist Party of the Soviet Union*) (Moscow, 1939)

Stalin, I V, *Marksism i natsionalnyi vopros* (*Marxism and the Question of Nationalities*) (Moscow, 1937)

Stalin, I V., *Sochineniia* (*Collected Works*), vols I–XII (Moscow, 1946–1949)

Stalin, I. V, *Voprosy leninisma* (*Questions of Leninism*), eleventh edition (Moscow, 1945)

Sverdlov, G M, *Sovetskoe zakonodatelstvo o brake i seme* (*Soviet Legislation on Marriage and the Family*) (Moscow, 1949)

Ugolovno-protsessualnyi kodeks (*Code of Criminal Procedure*) (Moscow, 1937)

Ugolovnyi kodeks (*Criminal Code*) (Moscow, 1937)

Vsesoiuznaia knizhnaia palata, *Tsifry o pechati* (The All-Union Book Chamber, *Figures of Publications*) (Moscow, 1939).

Vyshinsky, A Ya, editor, *Sovetskoe gosudarstvennoe pravo* (*Soviet Constitutional Law*) (Moscow, 1938)

Vyshinsky, A Ya, *Spravochnik sovetskago rabotnika* (*Soviet Worker's Manual*) (Moscow, 1939)

Vyshinsky, A Ya, editor, *Sezdy sovetov SSSR v postanovleniiakh i rezoliutsiiakh* (*Congresses of the Soviets of the USSR in Decisions and Resolutions*) (Moscow, 1939).

Zakon o piatiletnem plane vozstanovleniia i razvitiia narodnago khoziaistva SSSR na 1946–1950 gg (*Law on the Five-Year Plan for the Restoration and Development of the National Economy of the USSR in 1946–1950*) (Moscow, 1946).

Zverev, A. G., Reports on the State budget of the USSR (entitled *Gosudarstvennyi budzet* or *O gosudarstvennom budzhete*) submitted annually by the People's Commissar (later Minister) of Finance to the Supreme Soviet in 1938–1941 and 1945–1950 (Moscow, printed separately in the respective years).

Periodicals

Biulleten finansovago i khoziaistvennago zakonodatelstva (Moscow).
Bolshevik (Moscow).
Ekonomicheskaia zhizn (Moscow)
Izvestia (Moscow)
Plan (Moscow).
Planovoe khoziaistvo (Moscow)
Pravda (Moscow)
Sobranie postanovlenii i rasporiazhenii pravitelstva SSSR (Moscow)
Sobranie postanovlenii i rasporiazhenii soveta ministrov SSSR (Moscow)
Sobranie zakonov i rasporiazhenii raboche-krestianskago pravitelstva SSSR (Moscow).
Sotsialisticheskaia rekonstruktsiia selskogo khoziaistva (Moscow)
Trud (Moscow)
Vedomosti Verkhovnago Soveta (Moscow).

INDEX